

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

२०६

१९३७

संस्कृत

राजानक-रुय्यक-महकविरचितं

अलङ्कारसर्वस्वम्

जयरथकृत 'विमर्शिनी' समुपेतम्

एतदुभय-हिन्दीभाष्यानुवादभूषितं च

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी

एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यशास्त्राचार्यः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य

प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकाये साहित्यविभागाध्यक्षः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० सवत् २०२८
मूल्य : २५-००

© चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)
फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चीक, पो० बा० ६६, वाराणसी-१
फोन : ६३०७६

THE
KASHI SANSKRIT SERIES

206

संस्कृत

ALAMKĀRA SARVASVA

OF

ŚRĪ RĀJĀNAKA RUYYAKA & MAṆKHA

With the

Vimarśinī of Jayarath

And

*with the translation and explanation
of both in Hindi*

By

DR. REWĀ PRASĀDA DWIVEDĪ

M. A., Ph. D., Sāhityācārya

Head of the Department of Sāhityavidyā

Banaras Hindu University

Varanasi-5

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI-1

1971

© The Chowkhamba Sanskrit Series Office
Gopal Mandir Lane,
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1971
Phone : 63145

First Edition

1971

Price Rs. 25-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

Publishers and Oriental Book-Sellers

Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)

Phone : 63076

अलंकारोऽस्ति सर्वस्वमिदं यस्य महेशितुः ।
शक्तिं विमर्शिनीं तस्य वन्दे रत्नाकरोज्ज्वलाम् ॥

‘अलंकारसर्वस्व’ संस्कृत की साहित्यविद्या के प्रमुख अंग अलंकार पर आश्रित एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। भरत से जगन्नाथ तक हुए अलंकार चिन्तन की यह नामि है। सिद्धान्तभूत प्राचीन चिन्तन तो इसमें अपने स्वस्थ तथा वैज्ञानिक रूप में निहित^१ है ही, परवर्ती अनुवोक्षा और समीक्षा के लिए भी यह मेरुदण्ड रहा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुशीलन के बिना भारतीय अलंकार-बोध सुप्रतिष्ठ नहीं माना जा सकता।

१

[१] ग्रन्थ स्वरूप

अलंकारसर्वस्व ठीक वैसा ही नाम है जैसा ‘वक्रोक्तिजीवित’ या ‘मुक्तावली’। कुन्तक का मूलग्रन्थ कारिकावद्ध है और उसका नाम ‘कान्यालङ्कार’ है। वक्रोक्ति जीवित संज्ञा उसकी व्याख्या को दी गई है। विश्वनाथ का न्यायग्रन्थ भी मूलतः कारिकात्मक है और उसका नाम ‘कारिकावलि’ है। मुक्तावलि उसकी वृत्ति का नाम है। किन्तु ग्रन्थप्रसिद्धि वृत्ति के नाम से ही है। अलंकारसर्वस्व की भी यही स्थिति है। इसके तीन भाग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र भाग का नाम है ‘अलङ्कार-सूत्र’ और शेष दोनों भागों का नाम है ‘अलंकारसर्वस्व’। किन्तु स्थिति यह है कि शताब्दियों पहले से हम केवल ‘अलंकारसर्वस्व’ नाम से ही जानते आ रहे हैं।^२

[२] ग्रन्थ संस्करण

अलंकारसर्वस्व अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। इसके संस्करणों की तालिका यह है—

१. देखिए इसी भूमिका में दिया अलंकारों का इतिहास। रस आदि के लिए भी यह ग्रन्थ उत्तम सामग्री प्रस्तुत करता है।

२. जयरथ, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भट्टगोपाल, मञ्जिनाथ, कुमारस्वामी, अप्पयदीक्षित, वीरराघव आदि ने सूत्र और वृत्ति दोनों को अलंकारसर्वस्व नाम से पुकारा है। विशेष विवरण के लिए

द्रष्टव्य म० म० काणे तथा डॉ० सुशीलकुमार डे के History of Sanskrit Poetics तथा डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी की अलंकारमीमांसा।

प्रकाशक	संस्करण	सन्	स्वरूप	संपादक । संशोधक
१. निर्णयसागर, बम्बई	प्रथम	१८९३	विमर्शिनीसहित	म. म. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी
	द्वितीय	१९३६	"	पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी
२. अनन्तशयन प्रभा त्रिवेन्द्रम केरल	प्रथम	१९१५	समुद्रबंधी टी.स.	के. साम्बसिव साहू
	द्वितीय	१९२६	"	"
३. धारदा ग्रथमाला, काशी	प्रथम	१९२६	मूत्रमात्र	पं० गौरीनाथ पाठक
४. मोतीलाल बनारसीदास, काशी	प्रथम	१९६५	हिन्दी अनुवाद तथा संजीवनी	डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी
५. मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली	प्रथम	१९६५	संजीवनी	संपा० डा० कु० जानकी सशो० डा० वे० राघवन्

[३] ग्रन्थकार

इन सभी संस्करणों में त्रिवेन्द्रमसंस्करण को छोड़ अन्य किसी संस्करण में ग्रन्थकार का नाम नहीं मिलता । त्रिवेन्द्रम संस्करण में इन मंख की कृति बतलाया गया है ।

मंखपरम्परा—त्रिवेन्द्रम के इस संस्करण में छपी टीका में आरम्भ के मंगल पद्यों में—

कदाचिन्महसुकोपशं काश्यालंकारलक्षणम् ।
प्रदश्यं रविवर्मणं प्रार्थयन्त विपरिचतः ॥
गम्भीरं नस्तितीपूर्णां महसुकप्रन्यसागरम् ।
नौरस्तु भवतः प्रज्ञा स्थेयसी यदुनन्दन ॥

इस प्रकार मंख को ही ग्रन्थकार कहा गया है । ग्रन्थ के अन्त में भी वृत्ति की पुष्टिका में—

इति मंखको वितेने करमीरचितिपसान्धिविप्रहिकः ।
सुकविमुक्तालङ्कारं तदिदमलंकारसर्वस्वम् ॥

इस प्रकार मंख को ही सर्वस्वकार बतलाया गया है, और समुद्रबन्ध की अपनी व्याख्या के अन्त में भी—

‘महसुकनियन्धविदुती विहितायामिह समुद्रबन्धेन ।
गुणलेशमात्रमिग्रेभविपीष्टादोपदर्शिभिः सद्भिः ॥’

इस प्रकार ।

इस संस्करण में वृत्त्यनुप्रास के लिए उदाहृत ‘आटोपेन’ पद्य [पृ० ६२] के पहले ‘मदीये श्रीकण्ठचरिते’ भी लिखा मिलता है । श्रीकण्ठचरित के रचयिता मंख ही है और उनके इस काव्य में यह पद्य है [३० सर्ग २ पद्य ४९] ।

१. इस संस्करण के आधार पर १९०८ ई० में एच. जैकोबी ने अलंकारसर्वस्व का जर्मनी भाषा में अनुवाद भी किया था ।

ग्रन्थारम्भ-मंगल-पद्य 'नमस्कृत्य०' के उत्तरार्ध में इस संस्करण में 'गुर्वलंकार०' पाठ ही अपनाया गया है, यद्यपि टीका में युद्धशब्द की व्याख्या नहीं की गई है। स्मरणीय है जयरथ आदि ने यहाँ 'गुर्वलंकार' के स्थान पर 'निजालंकार०' पाठ माना है। इस प्रकार केरलीय पाठ के अनुसार अलंकारसर्वस्व के रचयिता मंजुक या मंख हैं।

रुच्यक-रुचक-परम्परा—जयरथ ने विमर्शिनी में 'गुर्वलंकार' के स्थान पर 'निजालंकार' पाठ माना है। उन्होंने काव्यप्रकाशसंकेत [पृ० ३७२] और अलंकारानुसरिणी (११८, १९२, १९९) को ग्रन्थकार की अन्य कृति कहा है। काव्यप्रकाशसंकेत के आरम्भ में—

'शात्वा श्रीतिलकात् सर्वालंकारोपनिपद्मसम् ।
काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते ॥'

इस प्रकार रुचक को उसका कर्ता माना गया है और स्तुतिकुसुमाञ्जलि ८।१९ पद्य की टीका में रत्नकण्ठ ने अलंकारानुसरिणी को रुचक की कृति कहा है। रुचक रुच्यक का ही दूसरा नाम है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अलंकारसर्वस्व पर जो संजीविनी टीका लिखी है उसमें—

'रुचकाचार्योपजे^१ सेयमलंकारसर्वस्वे ।
संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते ॥' [संजीविनीमंगल]
'इत्थं भूमना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्' [अन्त-मंगल]

इस प्रकार रुचक या रुच्यक को ही अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना है।

पिञ्जल द्वारा संपादित सहृदयलीला^२ में उसके रचयिता को—

कृतिः श्रीचिपक्षिद्वर-राजानक-तिलकात्मज-श्रीमदालंकारिक-समाजाग्रगण्य-
श्रीराजानक-रुच्यकस्य राजानक-रुचकापरनाम्नोऽलङ्कारसर्वस्वकृतः ।
इस प्रकार रुच्यक, रुचक और अलंकारसर्वस्वकार कहा गया है।

उभयपरम्परा—अप्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा के उपमाप्रकरण में श्लेष की अन्य अलंकारों का बाधक बतलाते हुए—

'उपमाप्रतिभातेऽपि तत्प्रतिभोरपत्तिहेतुः श्लेष एव, नोपमेति मङ्गलकादिभिरभ्युपेयते।'^३

इस प्रकार इस मत का उपस्थापक मंख को माना है। यह मत अलंकारसर्वस्व की वृत्ति में आता भी है। इसी के साथ अपह्नुति और व्याजोक्ति के अन्तर पर प्राचीन आचार्यों के मत उपस्थित करते हुए—

१. काव्यप्रकाश संकेत के लिए द्रष्टव्य—डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी का काव्यप्रकाश अंग्रेजी अनुवाद—'The Poetic Light'—भाग-२ परिशिष्ट-डी० ।

२. संजीविनी : डॉ० रामचन्द्रद्विवेदी तथा डॉ० जानकीद्वारा पृथक् पृथक् संपादित ।

३. सहृदयलीला नि० सा० पाठ के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट-१ ।

४. चित्रमीमांसा सं० पं० कालिकाप्रसाद शुक्ल पृ० ५६ ।

अत्रेदमपह्नतिकथनं व्याजोक्त्यलंकारं पृथगनङ्गीकृत्यताम् उद्गटादीनां मनमनुसृत्य ।
 ये तु—'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति' व्याजोक्त्यलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषा-
 मिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः ।^१

इस प्रकार वे अलंकारसर्वस्वकार को रुचक भी कहते हैं ।

स्पष्ट ही अलंकारसर्वस्व के कर्तृत्व के विषय में रुच्यक और मंल को छोड़ अन्य के नाम की परम्परा नहीं है । आगे आने वाले विवरण से स्पष्ट है कि रुच्यक और मंल दोनों ही कश्मीर के निवासी हैं ।

प्रश्न उठता है कि सर्वस्व का लेखक इन दोनों में से किसे स्वीकार किया जाए । उत्तर में विचारकों के दो दल बन जाते हैं । एक उनका जो केवल रुच्यक को सूत्र और वृत्ति दोनों का रचयिता मानते हैं और दूसरा उनका जो मंल को । इन दोनों में प्रथम का प्रवर्तन निर्णयसागरीय संस्करण से होता है और द्वितीय का त्रिवेन्द्रमसंस्करण से ।^२ डॉ० काणे, डॉ० डे, डॉ० राघवन्, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, डॉ० जानकी तथा अन्य अनेक विद्वान् रुच्यक के पक्ष में हैं । मंल का पक्ष त्रिवेन्द्रमसंस्करण के पश्चात् कदाचित् पहली धार हमने ही लिया है अपने व्यक्तिविवेक और उसके व्याख्यान के हिन्दीभाष्य की भूमिका में । इस प्रकार विद्वानों का बहुमत रुच्यक के पक्ष में है ।

रुच्यकवादी उक्त विद्वानों के भिन्न-भिन्न तर्कों का मूठ आधार जवरथ है और सार है यह—

स्थापना—कश्मीरी और दक्षिणी परम्परा में कश्मीरी-परम्परा ही मान्य है क्योंकि

१. अलंकारसर्वस्व व्याजोक्ति सूत्र—७७ पृ० ६५२ ।

२. चित्रमीमांसा—पृ० २४२ ।

आगे इस सूत्र पर कुछ और भी निष्कर्षों की कल्पना की गई है ।

३. 'काणे' तथा 'डे' History of Skt. Poetics, डॉ० राघवन्, कु० जानकी के अलंकारसर्वस्व का Forword, पोद्दार जी—संस्कृतसाहित्य का इतिहास भाग—१ पृ० १७१, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी अलंकारमीमांसा-परिचयखण्ड तथा संजीविनी सहित छपे उनके अलंकारसर्वस्व की भूमिका, डॉ० कु० जानकी—संजीविनी सहित छपे उनके अलंकारसर्वस्व की भूमिका पृ० ३ ।

इनमें से ग्रन्थकार के नाम की इस समस्या को पोद्दारजी ने बड़ी ही सफाई के साथ उपस्थित किया है किन्तु उन्होने यह भी लिख दिया है कि पण्डितराज जगन्नाथ भी रुच्यक का नाम लेते हैं, जबकि तथ्य यह है कि पण्डितराज केवल ग्रन्थ का नाम लेते हैं 'सर्वस्वकृत' अथवा 'अलंकारसर्वस्वकृत' आदि ।

तर्क—(१) कश्मीरी परम्परा कश्मीर की है जहाँ ग्रन्थ लिखा गया

(२) कश्मीरी; परम्परा पूर्ववर्ती है क्योंकि जयरथ समुद्रबन्ध से पूर्ववर्ती है ।

(३) कश्मीरी परम्परा में मतभेद नहीं है, जब कि दक्षिणी परम्परा में मतभेद है । दक्षिण के ही विद्यानाथ, कुमारस्वामी, मल्लिनाथ आदि सर्वस्वकार के रूप में रुचक या रुचक का नाम उद्धृत करते हैं । इस प्रकार दक्षिणी विद्वानों में भी बहुमत रुचक का ही है ।

सिद्धान्त—कश्मीरी परम्परा में रुचक ही ग्रन्थकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, वतः रुचक को ही अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना जाना चाहिए ।

इन्हीं तर्कों के समर्थन में इन विद्वानों ने सहृदयलीला की पूर्वोद्धृत पुष्पिका को भी उद्धृत किया है । इसमें स्पष्ट ही रुचक को अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना गया है ।

वस्तुतः अलंकारसर्वस्व के कर्तृत्व के विषय में मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि रुचक इसके कर्ता हैं या नहीं, क्योंकि उनके कर्तृत्व में विवाद नहीं है । मुख्य प्रश्न यह है कि इसके साथ मंख का नाम क्यों जुड़ा । सेठ कन्हैयालालजी, पोद्दार, डॉ० काणे और डॉ० द्विवेदी ने मंख के समर्थन में केवल इतना लिखा है कि मंख ने रुचक के बाद उनकी वृत्ति का परिष्कार किया होगा और उसमें अपने श्रीकण्ठचरित के पद्य भी मिला दिए होंगे । इसी आधार पर उनकी प्रसिद्धि हो गई होगी । प्रसिद्धि भी केवल कोलम्बो के राजपराने में हुई, क्योंकि मंख भी राजमन्त्री थे और समुद्रबन्ध भी । अवश्य ही कश्मीर के राजपरिवार का दक्षिणी राजपरिवारों से संबंध रहा होगा ।

हमारा मत—

वस्तुतः सूत्र के रचयिता रुचक हैं और वृत्ति के मंख । इसमें प्रमाण हैं अप्पयदीक्षित के वे दोनों वाक्य जिनमें से एक में उन्होंने रुचक का उल्लेख किया है और दूसरे में मंख का । ध्यान देने की बात यह है कि जिस संदर्भ में रुचक का नाम लिया है उसमें सूत्र भी दिया हुआ है और जिस संदर्भ में केवल मंख का नाम लिया है उसमें सूत्र का उद्धरण नहीं है । 'उद्भिन्नवस्तुनिग्रहणं व्याजोक्तिः' यह अलंकारसर्वस्व में ही

१. छपी चित्रमीमांसा में 'रुचकादयः' पद 'नापह्नुतिरिति रुचकादयः' इस प्रकार अन्त में छपा है ।

इस प्रकार के पाठ से ऐसा लगने लगता है कि 'उद्भिन्नवस्तु' सूत्र रुचक का नहीं है जब कि यह सूत्र है सर्वस्व का ही । इसकी टीका सुधा सूत्र को रुचक की ही कृति बतलाती है । प्रसंग भी ऐसा है जिसमें पहले उद्धृत का मत दिया है और बाद में दण्डी का मत । तदनुसार 'ये तु रुचकादयः' पाठ ही जगता है । यदि 'रुचकादयः' अन्त में आए तब भी यह तो उससे सिद्ध हो ही जाता है कि अप्पयदीक्षित सूत्रकार को वृत्तिकार से भिन्न मानते हैं ।

आया सूत्र है। अतः दीक्षित जी को सूत्र का उल्लेख करते समय रुचक का नाम लेना, जो आवश्यक दिखता है उसका रहस्य, और हो क्या सकता है इसके अतिरिक्त कि सूत्र के कर्तृत्व में संदेह न हो। श्लेष का विचार केवल वृत्ति में हुआ है और उसी में श्लेष को अन्य अलंकारों का बाधक माना गया है। दूसरे स्थल में श्लेष की यह स्थिति उपस्थित करते समय दीक्षित जी ने मंथ का नाम लिया इसका भी एकमात्र यही अर्थ हो सकता है कि वे वृत्ति का निर्माता मंथ को मानते हैं।^१

डॉ० टे० और म० म० काणे ने दक्षिण भारत के कुछ पाण्डुग्रन्थों का भी सदर्थ दिया है, जिनमें वृत्ति के मंगलपद्य के उत्तरार्ध के 'निजालंकारसूत्राणां' पाठ के स्थान पर 'गुणलंकारसूत्राणां' पाठ ही मिलता है, जैसा कि त्रिवेन्द्रमसस्करण में समुद्रबन्ध ने माना है।

श्रीविद्याचन्द्रवर्ती ने भी पुनरुक्तवदाभास के उदाहरणों को मंथ का माना है। वृत्ति में मंथ के निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत हैं^२ २।४९, ५।२३, ६।१६, ७०, १०।१०

मद्रास राजकीय संस्कृतपाण्डुग्रन्थागार में 'मंथुकसूत्रोदाहरण' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रक्षित है।^३

तुंगभद्र ने भी मंथ को ही सर्वस्वकार स्वीकार किया है।^४

इस प्रकार मंथ के पक्ष में भी दक्षिणी विद्वानों का मत अल्पमत नहीं है।

अलंकारसर्वस्व के जो सूत्र हैं उन्हें अवश्य ही ग्रन्थकार ने पहले ही बना लिया है। वृत्ति लिखने के पूर्व उनको भी ग्रन्थकार ने अवश्य ही कोई नाम दिया होगा। यह नाम अलंकारसूत्र ही होगा, क्योंकि वृत्ति के मंगलपद्य में 'अलंकारसूत्र' ही नाम आता है और स्वयं सूत्रकार अन्तिम सूत्र में 'अलंकारः सशेषतः सूत्रिताः' इस प्रकार 'अलंकार-सूत्र' नाम का संकेत देते हैं। समुद्रबन्ध की जो टीका मंथुक का नाम लेकर चलती है वह भी पाठान्तर में 'समाप्तं चेदमलंकारसर्वस्वम्, कृती राजानकथोरुचकस्य । धाम् । इति मंथुः' इस प्रकार मंथुक के साथ रुचक का भी नाम प्रस्तुत करती है। अवश्य ही इसमें सूत्रकार रुचक को और वृत्तिकार मंथ को मानने का अभिप्राय निहित है।

१. 'ये तु उद्भि० रुचकादयः' का 'रुचकादयः' शब्द 'ये तु रुचकादयः' होना चाहिए। लिपिकार से यह शब्द छूट गया होगा और उससे इसे पाण्डुप्रति में पादवर्षाग में लिख रखा होगा। संपादक ने इसे यथास्थान नहीं रखा। यदि इसे स्वयं अण्य ने ही इसी प्रकार लिखा हो तो उसमें भी स्पष्ट है कि वे वृत्तिकार को सूत्रकार से भिन्न मानते हैं।

२. देखिए इलोक सूची, अथवा पृ० ६२, ३१७, ३२७, ३२७, ३२७।

३. पाण्डुप्रति ऋ० २९७० द्र० कु० जानकी अलंकारसर्वस्व भूमिका पृ० २।

४. द्र० संजीविनी सं० डॉ० द्विवेदी पृ० २४ भूमिका।

जहाँ तक समुद्रबन्ध के समय का प्रश्न है वे भी उसी शती के हैं जिसके जयरय । दोनों में जयरय १३ वीं शती के आरम्भ के हैं और समुद्रबन्ध उसके मध्य के । अतः समय का भी अन्तर बहुत नहीं पड़ता ।

जहाँ तक कश्मीर का सम्बन्ध है कश्मीरी ग्रन्थों के विषय में उसी देश की परम्परा को महत्त्व देना अवश्य ही तर्कसंगत है, किन्तु यह तब संभव है जब कश्मीर के विद्वान् निष्पक्ष हों । उनमें परस्पर में अत्यन्त कलह है । जयरय के पहले शोभाकर ने, जो कश्मीर के ही हैं, अपने अलंकार-रत्नाकर में अलंकारसर्वरथ को उसके सूत्र और वृत्ति दोनों रूपों में पदे पदे उद्धृत किया, किन्तु ग्रन्थकार का नाम एक बार भूल से भी नहीं लिया । स्वयं जयरय ने रत्नाकर को पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया, किन्तु शोभाकर का या उनके ग्रन्थ रत्नाकर का नाम नहीं लिया । न केवल नाम का उल्लेख नहीं किया, आक्षेप भी किया है । कदाचित् उसी की छाप पण्डितराज पर पड़ी है और वे अप्पयदीक्षित पर वरसते दिखाई देते हैं ।

इन सबके परमगुह अभिनव भी गाली देकर बात करते और पूर्व पक्ष के साथ ही नहीं, भूलग्रन्थ के साथ भी अन्याय करते हैं । कहीं उनकी वृद्धि उलट भी जाती है ।^१

कश्मीरी परम्परा से अधिक दक्षिणात्य परंपरा ही मान्य है, क्योंकि दक्षिण में यह द्वेष नहीं था । क्या कारण है कि महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक कश्मीर में नहीं मिला और दक्षिण में ही मिला । क्या कारण है कि साहित्यमीमांसा की पाण्डुप्रति भी दक्षिण भारत में ही मिली । क्या कारण है कि कश्मीर भट्टनायक के ध्वनिविरोधी ग्रन्थों की रक्षा नहीं सका । हृदयदर्पण, ध्वनिनिर्णय अवश्य ही नष्ट करा दिए गए । हृदय-दर्पण तो महिमभट्ट को भी नहीं मिला था, जो मम्मट के पहले के हैं । स्वयं मम्मट ने यह चेष्टा की है कि यह समक्ष में न आए कि उनसे कुन्तक और महिमभट्ट से भी कुछ लिया है । जब कि उनका सप्तम उल्लास महिमभट्ट की ही देन है । क्या यह क्रम स्वस्थ क्रम है । अवश्य ही कश्मीर में महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श को मम्मट ने दफना दिया था । उसकी रक्षा का श्रेय दक्षिण को ही है । यह भी सोचने की बात है कि अलंकारों पर सर्वस्व, रत्नाकर और विमर्शिनी में बिखरी सामग्री को लेकर क्या कोई कार्य कश्मीर में नहीं हो सकता था, जिसे दक्षिणी आचार्य अप्पयदीक्षित ने पूरा किया जिनकी मूलविद्या मीमांसा थी । कश्मीरी शैब्याल्ल की शुद्धपरम्परा भी दक्षिण में ही रक्षित मिलती है । श्रीविद्याचक्रवर्ती, त्रिपुरारहस्य के टीकाकार दीक्षित श्रीनिवासबुध दक्षिण के ही हैं । इस प्रकार परम्परा की दृष्टि से कश्मीर की अपेक्षा दक्षिण ही अधिक मान्य है ।

यह भी एक महत्त्व की बात है कि अप्पयदीक्षित की परम्परा केवल दक्षिणी परम्परा नहीं है । वे काशी में भी रहे थे । अतः उनके संस्कारों में अन्तर्वेदी की

१. हमने अपने ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन' में इन सब दोनों का प्रतिपादन किया है ।

मध्यदेशीय परम्परा के संस्कार भी मिथित हैं। फलतः अप्यदीक्षित के उल्लेख को मध्यदेश से लेकर दक्षिण भारत तक का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

उपर कश्मीरी परम्परा में सर्वाधिक महत्त्व जयरथ को दिया जा रहा है, किन्तु उन्हें सर्वस्व की पुस्तक बहुत ही अव्यवस्थित रूप में प्राप्त हुई थी। वे स्वयं लिखते हैं कि 'उन्हें मिली प्रति बहुत अव्यवस्थित है'। क्या अव्यवस्थित आधार पर कोई निर्णय लिया जा सकता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि निर्णयसागरसंस्करण से लेकर डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी और डॉ० जानकी के सुसमीक्षित संस्करणों तक ह्य्यरूपपरम्परा के किसी भी संस्करण की पुष्पिका में ह्य्यक का नाम क्यों नहीं है। अवश्य ही इन विद्वानों को ह्य्यक के नाम की पुष्पिका बहुत ही कम पाण्डुप्रति में मिली है और वह भी अव्यवस्थित। पूना की चारदा लिपि की जिन दो प्रतियों में रुचक के नाम से पुष्पिका मिलती है उन दोनों में भी पाठभेद है। वे दोनों पुष्पिकाएँ ये हैं—

१— समापितमिदमलकारसर्वरथमिति श्रेयः ।

कृतिस्तप्रमगवदुराजानकरव्यकस्येति ।

२— सम्पूर्णमिदमलकारसर्वस्वमिति श्रेयो भवतु^१ ।

लेखकपाठकयो^२ । कृती-राजानकरव्यकस्येति ।

द्वितीय पाठ की प्रति भूजंपनप्रति है और प्राचीन है। उसमें ह्य्यक का नाम अवश्य ही प्रतिलिपिकार ने जोड़ा है। एक महत्त्व की बात यह भी है कि प्रथम पुष्पिका वाली प्रति में अलंकारसर्वस्व के सूत्रों को अलग से भी लिखा गया है और उनको नाम दिया गया है 'सर्वस्वालंकारसूत्राणि'^३। अवश्य ही लेखक ने सर्वस्व को सूत्रग्रन्थ से भिन्न ग्रन्थ माना है। इससे भी सूत्रग्रन्थ के 'अलंकारसूत्र' नाम से प्रसिद्ध होने का संकेत मिलता है। एकमात्र चारदालिपि की प्रतियों पर ही हम पूर्ण निर्भर नहीं रह सकते, क्योंकि दक्षिण भारत में जो प्रतियाँ बनी होंगी उनका मूल आधार भी अवश्य ही कश्मीरी लिपि की ही पुस्तकें रही होंगी क्योंकि कश्मीर में बना मूल ग्रन्थ कश्मीर की लिपि में ही लिखा गया होगा।

जहाँ तक सहृदयशैली की पुष्पिका का सम्बन्ध है उसमें अवश्य ही ह्य्यक को अलंकारसर्वस्व का प्रणेता बहा गया है परन्तु उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि मूल सर्वस्व के प्रणेता नहीं हैं। ह्य्यक अलंकारसर्वस्व के आधारभूत सूत्रों के प्रणेता होने से अलंकारसर्वस्व के प्रणेता माने ही जा सकते हैं क्योंकि यहाँ अलंकारसर्वस्व शब्द का अर्थ है वह पूरी ग्रन्थसंहिता जो सूत्र, वृत्ति और उदाहरण से बनती है। कहा जा चुका है कि चक्रोक्तिजीवित नाम केवल वृत्ति का है, किन्तु वह प्रयुक्त होता है उसके काव्यालंकार नामक मूल कारिकाग्रन्थ के लिए भी। जहाँ सूत्र और वृत्ति में मतभेद नहीं होता वहाँ सिद्धान्त को सूत्रकार के नाम पर ही व्यवहृत किया जाता है।

यह भी विचार करने की बात है कि पिथोलसंपादित सहृदयलीला की पुष्पिका में ग्रन्थक को जो 'रचकापरनामा' और 'अलंकारसर्वस्वकृत्' विशेषण दिए गए हैं, ये स्वयं ग्रन्थकार ने दिए हैं या लिपिकार ने जोड़े हैं। निर्णयसागरसंस्करण में विशेषणरहित पुष्पिका भी [काव्यमा० ५]। इससे स्पष्ट है कि इसमें प्रतिलिपिकार ने भी कुछ अन्तर किया है। यह अन्तर पुष्पिका की प्रामाणिकता को संदेह में डाल देता है। वृत्तिकार ने साहित्यमीमांसा और व्यक्तिविवेकन्यास्यान को अपनी कृति कहा, उनमें भी किसी ग्रन्थकार का नाम नहीं है। ऐसा क्यों ?

ये सब तर्क अपने स्थान पर हैं। इनसे जो भी सिद्ध हो। परन्तु स्वयं ग्रन्थ के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि सूत्रकार भिन्न हैं और वृत्तिकार भिन्न। जो वृत्ति अभी प्राप्त है वह सूत्रकार की नहीं कही जा सकती। प्रमाणार्थ 'पुनरुक्तवदाभास' प्रकरण को लीजिए। यह शब्दालंकार प्रकरण में पठित है, किन्तु वृत्तिकार ने इसे अर्थालंकार माना है। जब कि स्वयं वृत्तिकार, संजीविनीकार और सभी संस्कर्ताओं ने अर्थालंकारों का आरम्भ उपमा से माना है, क्योंकि प्रत्येक संस्करण में उपमा के आरम्भ में 'अर्थालंकारप्रकरणमिदम्' लिखा मिलता है। वृत्तिकार को यह भ्रम इसलिए हो गया कि सूत्र में इस अलंकार को अर्थपोनरुक्त्य पर आधित बतलाया गया है। वस्तुतः सूत्रकार का कहना यह है कि प्रतीत तो अर्थ ही होता है पुनः कथित रूप में, किन्तु उसका कारण है शब्द, अतः उसे माना जाना चाहिए शब्दालंकार ही, जैसा कि उसके प्रवर्तक उद्भट और उनके अनुयायी मम्मट ने माना है। पुनरुक्तवदाभास की इस स्थिति पर ध्यान देने से यह भी प्रतीत होता है कि आश्रयाश्रयिभाव और अन्वयव्यतिरेक के द्वन्द्व में सूत्रकार अवश्य ही अन्वयव्यतिरेक पक्ष के हैं। आश्रयाश्रयिभाव केवल वृत्तिकार का पक्ष है। यदि सूत्रकार भी इस पक्ष के होते तो पुनरुक्तवदाभास को अर्थालंकारों में ही गिनते शब्दालंकारों में नहीं, क्योंकि पोनरुक्त्य का आश्रय तो वस्तुतः अर्थ ही है, शब्द तो उसमें कारण है। इस प्रकार तो लाटानुप्रास को भी उभयालंकार मानकर किसी पृथक् प्रकरण में रखना चाहिए था क्योंकि वह उभयाधित है।

पुनरुक्तवदाभास शब्द को सूत्रकार ने नपुंसकलिङ्ग में रखा है। वृत्तिकार उसका आशय नहीं समझ पाए। वे जो हेतु देते हैं वह बहुत ही अवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि इसे नपुंसकलिङ्ग में इसलिए रखा है कि उससे लौकिक अलंकारों से काव्यालंकारों का अन्तर सिद्ध हो जाए। क्या काव्यगत पदार्थों को लौकिक पदार्थों से भिन्न दिखलाने के लिए नपुंसक बनाते हुए राम, युधिष्ठिर और अपने आश्रयदाता जयसिंह को मंजु नपुंसक लिख सकते हैं ? यह भी कोई तर्क है ? वस्तुतः सूत्रकार ने 'पोनरुक्त्यम्' पद को दृष्टि में रखकर उसके अनुसार इस शब्द को बहुव्रीहि समास के द्वारा नपुंसकलिङ्गान्त बनाया है। ऐसा ही उद्भट ने भी किया है। उन्होंने उसे पद का विशेषण माना है। पद शब्द नपुंसकलिङ्ग ही है।

सूत्रकार ने ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य के लिए कोई सूत्र नहीं लिखा, जब कि पौनरुक्त्य के अनेक सूत्र लिखे भूमिका रूप में ही। वृत्तिकार बड़ी लम्बी भूमिका रचते और वह भी सभी अलङ्कारों को चित्रकाव्य वर्ग में रखने के लिए। वस्तुतः वे मम्मट के चश्मे से सूत्रों को देख रहे हैं। सच यह है कि चित्रकाव्य नाम का कोई काव्य होता ही नहीं। ध्वनिकार ने यही कहा है। वे केवल ध्वनि को काव्य कहते और उसके नीचे अप्रधान व्यंग्य वाली उक्ति को भी काव्य कोटि में गिन लेते हैं गुणीभूतव्यंग्य नाम से। उसके बाद जो उक्तियाँ बच जाती हैं उन्हें वे अकारण कहते और उनमें काव्य जैसी स्थिति मानते हैं, काव्यत्व नहीं। सभी अलङ्कारों को उन्होंने गुणीभूतव्यंग्य वर्ग में ही अन्तर्भूत दिखलाया है। सूत्रकार अवश्य ही ध्वनिकार के इस पक्ष को जानते होंगे, इसलिए उन्होंने इस प्रकार के कोई भूमिका-सूत्र नहीं लिखे। सूत्रकार के समक्ष आनन्दवर्धन और मम्मट के मतभेद उपस्थित थे। वे मम्मट से आनन्दवर्धन की अधिक महत्त्व देते रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने काव्यप्रकाश पर बहुत बड़ी टीका नहीं लिखी और जो लिखी उसमें भी मम्मट का खण्डन किया। यहाँ सूत्रों में भी मम्मट के काव्यप्रकाश के साथ सिद्धान्तभेद है। इसके विरुद्ध वृत्तिकार मम्मट के ही भक्त प्रतीत होते हैं। ८३ तथा ८४ वें सूत्रों का मूलरूप भी वे समझ नहीं पाए। इस प्रकार सूत्रकार अवश्य ही इस वृत्ति के रचयिता से भिन्न हैं।

कदाचित् इसीलिए अप्पयदीक्षित ने वृत्ति की इय्यक के नाम से प्रस्तुत नहीं किया। पण्डितराज जगन्नाथ 'अलङ्कारसर्वस्व' की अपेक्षा 'इय्यक' या 'रसक' लिखना अधिक सुगम समझते, यदि उन्हें ग्रन्थकार के नाम का निश्चय होना। 'सोभाकर तो ग्रन्थ का भी नाम नहीं लेते। कदाचित् उन्हें उसमें भी संदेह था। इस प्रकार कश्मीर से दक्षिण-भारत तक एक परम्परा संदेह की भी दिखाई देती है। इसे सरलता के साथ इय्यक के विरोध में साधक प्रमाण माना जा सकता है।

हमें लगता है इय्यक ने भी कोई अत्यन्त संक्षिप्त वृत्ति अपने सूत्रों पर लिखी होगी जिसके मंगल पद्य में 'निजालङ्कार०' पाठ होगा। बाद में मंल ने और विस्तृत वृत्ति लिखी होगी और उसमें 'गुर्वलङ्कार०' के पाठान्तर के साथ इय्यक का ही पद्य अपना लिया होगा। प्रदीपकार ने काव्यप्रकाश पर नई वृत्ति लिखी ही है। इधर ध्वन्यालोक पर भी दीपिति नामक नई वृत्ति लिखी गई है। इस प्रकार मंल द्वारा नई वृत्ति का लिखा जाना अस्वाभाविक नहीं। इस दिशा में मंगल पद्य का 'तात्पर्य'—सद्द हमारी सहायता करता है। संप्रति जो वृत्ति प्राप्त है उसमें सूत्रों का तात्पर्य ही नहीं है, उनके प्रतिपादों पर विवाद विवेचन भी है और उदाहरणों द्वारा उनका समर्थन भी। यह तो वस्तुतः व्याख्या है। जिस वृत्ति में तात्पर्यमात्र दिया गया होगा उसे या तो मंल ने अपनी वृत्ति में अन्तर्भूत कर लिया होगा या उसका प्रचार मंल की वृत्ति के बाद

समाप्त हो गया होगा। जयरथ को मिली प्रति में कुछ अंश रय्यक की वृत्ति का और कुछ अंश मंल का मिला होगा, क्योंकि उसकी मूल प्रति अत्यन्त अव्यवस्थित थी।

इस प्रकार संप्रति प्राप्त वृत्ति के रचयिता मंल ही हैं और सूत्र के रचयिता उनके गुरु रय्यक। त्रिवेन्द्रम् संस्करण में भी सूत्रों को 'अलंकारसूत्र' ही कहा गया है और उनका रचयिता रय्यक को ही बतलाया गया है। वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण 'आटोपेन पटीपसा०' पद्य के पूर्व इसीलिए 'मदीये श्रीकण्ठचरिते' पाठ त्रिवेन्द्रम् की प्रति में मिलता है। इसीलिए मंल की कृति श्रीकण्ठचरित के ओर भी ४ पद्य वृत्ति में उद्धृत हैं। श्रीकण्ठस्तव के जो पद्य पुनरुक्तबदाभास में उदाहृत हैं उनके पहले भी 'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' यह अवतरणिका इस संस्करण में है। संभवतः श्रीकण्ठस्तव भी स्वयं मंल की कृति रही हो।

शिष्य और गुरु दोनों मिलकर कोई एक ग्रन्थ लिखते हैं तो लेखक के रूप में नाम गुरु का ही चलता है। पाणिनि का 'तद्विषयता' का सिद्धान्त इसके लिए प्रमाण है। डॉ० व्यामसुन्दरदास और आचार्य पद्मनारायण जी ने मिलकर भाषारहस्य लिखा, किन्तु नाम डॉ० व्यामसुन्दरदास जी का ही चल रहा है। हमने स्वयं कालिदास-शब्दानुक्रम डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के निर्देश में बनाया तो उसकी प्रसिद्धि अभी भी अग्रवाल जी के ही नाम से है। शताब्दियों तक बनते रहने वाले भरत-नाट्यशास्त्र, महाभारत और पुराण क्या किसी एक व्यक्ति की कृति हैं, किन्तु प्रसिद्ध केवल भरत और व्यास के नामसे है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इसीलिए कहा गया है। इसलिए भी मंल की कृति रय्यक के नाम से प्रसिद्धि पा सकती है।

[४] ग्रन्थकारपरिचय

सूत्रकार का परिचय—

सूत्रकार रय्यक को श्रीकण्ठचरितमें मंल ने अपना गुरु और सभी विद्याओं में निष्णात कहा है [सर्ग २५]। साहित्यशास्त्र रय्यक ने अपने पिता राजानक तिलक से ही पढ़ा था, जिनने स्रष्ट के काव्यलंकारसार पर विवरण नामक कोई व्याख्या लिखी थी, जिसका उल्लेख जयरथ कई बार करते हैं। मंल के अनुसार रय्यक ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनमें से केवल काव्यप्रकाशसंकेत^१ तथा सहृदयलीला^२ ही इस समय इनके नाम से प्राप्त हैं।

रय्यक रचक नाम से भी प्रसिद्ध हैं। सहृदयलीला में इसे इनका दूसरा नाम माना गया है। रचक संस्कृतशब्द है और रय्यक देशी। रचक का अर्थ अचर्फी होता है। रय्यक के व्यक्तिगत जीवन के विषय में इससे अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

अप्राप्त ग्रन्थों में अलंकारानुसारिणी [पृ० ११८, ११२, ११२, ११९ पर

१-२. काव्यप्रकाशसंकेत : काव्यप्रकाश के डॉ० रामचन्द्र द्विवेदीकृत अंग्रेजी अनुवाद The Poetic Light भाग-२ परिशिष्ट में पुनः प्रकाशित।

३. काव्यमाला ग्रन्थमाला में गुच्छक-५ तथा इसी ग्रन्थ परिशि० १ में।

विमर्शिनी में उद्धृत] जह्ण के सोमपालविलास की टीका मानी जाती है । रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमान्जलि की टीका में इसे रुय्यक की कृति कहा है ।

अलंकारमञ्जरी (वृत्ति में पृ० ३७) तथा 'अलंकारवातिक' (विम० में पृ० २३८) भी सर्वस्वकार की कृति माने गए हैं । दोनों अप्राप्त हैं । पता नहीं यह सूत्रकार की कृति हैं या वृत्तिकार की ।

वृत्तिकार का परिचय—

वृत्तिकार मख (१) मंख (२) मंखक तथा (३) मंखुक नाम से पुकारे जाते हैं । अपने श्रीकण्ठचरित में इन्होंने स्वयं को मखक (३६३, ७२, ७८, २५ सर्ग) अधिक बार और यत्र तत्र मंख (२५११२, १५२) भी कहा है । मखुक नाम कदाचित् दक्षिण के मृदुताप्रिय उच्चारण की देन है, क्योंकि यह 'समुद्रबन्ध' की टीका में ही मिलता है ।

श्रीकण्ठचरित^१ के अनुसार ये रुय्यक के निप्य तथा कश्मीरनरेश जयसिंह के आश्रित थे । राजतरंगिणी^२ इन्हे जयसिंह का सान्धिविग्रहिक भी कहती है । जयसिंह का समय ई० सं० ११२८-११४८ है, अतः मख और रुय्यक दोनों का समय १२ वीं शती सिद्ध होता है ।

^३शृङ्गार, भृङ्ग और अर्जकार (लंकक) इनके बड़े भाई थे । पिता थे श्रीविश्वामर्त^४ तथा पितामह श्रीमन्मथ^५ । सभी परम विद्वान् थे ।

कृतियां—

मंख की कृतियों में श्रीकण्ठचरित २५ सर्गों का एक प्रातिम महाकाव्य है जो काव्य-माला से छप चुका है । व्यक्तिविवेकव्याख्यान (विमर्शिनी में पृ० ३५ पर उद्धृत) का तीसरा संस्करण हमारे हिन्दी अनुवाद के साथ १९६४ में चौखम्भा से छप चुका है । इसके पहले भी यह चौखम्भा तथा त्रिवेन्द्र से छपा था । साहित्यमीमांसा^६, नाटकमीमांसा^७, वृहती^८, हर्षचरितवात्तिक^९ अन्य ग्रन्थ हैं जो अप्राप्त हैं ।

१. श्रीकण्ठचरित ३६६ तथा सर्ग २५ ।

२. सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलंकारसौदरः ।

३. मठस्थाभवत् प्रष्ट. श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठाया ॥१८॥३३५४ राज० ।

४-५. श्रीकण्ठचरित सर्ग-३, सभी भाइयों में मंख ने अलंकार की बड़ी प्रशंसा की है ।

६. त्रिवेन्द्रमुसकृतग्रन्थमाला से छपी साहित्यमीमांसा में 'अंगलेखा०' पद्य पर वह विवेचन नहीं मिलता जिसके लिए सर्वस्व पृ० २०१ में वह उल्लिखित है, अतः डॉ० रामवन् आदि इसे मंख की कृति में भिन्न मानते हैं । विमर्शिनी-४६७ में भी साहित्यमीमांसा का उल्लेख है और व्यक्तिविवेकव्याख्यान में भी ।

७-८. व्यक्तिविवेकव्याख्यान में उद्धृत ।

९. व्यक्तिविवेकव्याख्यान तथा सर्वस्व में उद्धृत पृ० २०१ ।

त्रिवेन्द्रमसंस्करण में 'श्रीकण्ठस्तव' को भी मदीय और मंतीय कहा गया है। यह प्रथमवृत्तिकार रुच्यक की भी कृति हो सकती है। विरुद्ध प्रमाण मिलने पर इन ग्रन्थों के निर्माता पर पुनर्विचार किया जा सकता है।

मम्मट से परवर्ती—

काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर और वामन अलकीकर आदि की यह धारणा है कि काव्यप्रकाश में श्लेष सम्बन्धी जो शास्त्रार्थ नवम उल्लास में मिलता है उसमें खण्डन सर्वस्व के मत का है। वस्तुतः सर्वस्व में काव्यप्रकाश की 'अलङ्कारोप्य वस्त्वैव०' कारिका श्लेष प्रकरण में उद्धृत है, साथ ही विभावना तथा संसृष्टि प्रकरण में मम्मट की ओर संकेत किया गया है। इस कारण मम्मट ही पूर्ववर्ती हैं। पण्डितराज के प्रथमोक्तकालंकार से भी संकेत मिलता है कि वे सर्वस्वकार को मम्मट के बाद का मानते हैं।

[५] टीका तथा टीकाकार

अभी तक सर्वस्व की तीन टीकाएँ ही प्रकाश में आई हैं विमर्शिनी, समुद्रवन्धी तथा संजीविनी, यद्यपि इसकी ओर भी कुछ टीकाएँ थीं। इनमें

(१) संजीविनी—

श्रीविद्याचक्रवर्ती की टीका है। कहा जा चुका है कि इसके १९६५ में दो संस्करण हुए हैं। श्रीविद्याचक्रवर्ती का पूरा नाम श्रीविद्याचक्रवर्ती ही है। श्रीचक्रवर्ती ने स्वयं को महान् विद्वान्, साधक और हासेल नरेश बल्लाल-३ का सभापण्डित कहा है। बल्लाल-३ का राज्यकाल १२९१-१३४२ ई० है। अतः श्रीचक्रवर्ती १४वीं शती के मध्यवर्ती सिद्ध होते हैं। श्रीचक्रवर्ती ने प्रत्येक अलङ्कार पर अन्त में संग्रहकारिका भी बनाई हैं। ये 'निष्कृष्टार्थकारिका' नाम से अल्प भी संगृहीत मिलती हैं।

(२) समुद्रवन्धी—

समुद्रवन्ध केरल प्रदेश के यदुर्वंशी महाराज रविवर्मा के सभापण्डित थे। रविवर्मा का समय १२६५ ई० है। अतः श्री समुद्रवन्ध को १३वीं शती के उत्तरार्ध का माना जाता है। ये उत्तम कवि थे। अपनी टीका, जिसका नाम कदाचित् विवरण है, के आरम्भ में इन्होंने जो मंगल पद्य दिए हैं उनसे लगता है कि इन्हें अभिव्यक्ति की उत्तम सुक्षमता, उत्तम सटीकता और उत्तम प्राञ्जलता लगभग शिग भूपाल के ही समान प्राप्त थी।

(३) अलक—

रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि की टीका में सर्वस्व के टीकाकार के रूप में अलकभट्ट का भी उल्लेख किया है। यह टीका प्राप्त नहीं होती अतः इसके रचयिता अलक के परिचय के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ये काव्यप्रकाश के दशम

उल्लास के प्रतिकर्ता अलरु से भिन्न हैं, क्योंकि इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखने वाले रुय्यक के इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है।

(४) विमर्शिनी—

इसके रचयिता जयरथ हैं। विमर्शिनी के अन्त में जयरथ ने अपना सक्षिप्त परिचय दिया है। ये सतीसर के समीपवर्ती कश्मीरनरेश राजराज के मन्त्री शृङ्गार के पुत्र थे। शृङ्गार का पूरा नाम शृङ्गाररथ था। शीतन्त्रालोक की स्वरचित टीका के अन्त में जयरथ ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

१-पूर्णमनोरथ^१ [९३० ई० के कश्मीरनरेश यशस्कर के मन्त्री]

२-उत्पलरथ^२ प्रथम

३-प्रकाशरथ^३

४-सूर्यरथ^४ [भाई धर्मरथ, उत्तमरथ, मनोरथ]

५-उत्पलरथ^५ द्वितीय [भाई अमृतरथ अन्य दो भाई अनुलिखितनामा, १०२८-१०६३ ई० तक के कश्मीरनरेश अनन्त के आविष्ट]

६-सम्भरथ^६ [भाई शिवरथ, धनरथ, नन्दिरथ, इनमें से शिवरथ विरक्त हुए]

७-गुणरथ^७ [भाई देवरथ]

८-राजानक गुह्यरथ^८ [भाई लङ्करथ पत्नी सत्त्वदासी]

९-शृङ्गाररथ^९ [शृङ्गार के जन्म के बाद गुंजरथ का शरीर यौवन में ही सूट गया]

१०-जयरथ^{१०} [भाई जयद्रथ]

राजतरंगिणी में प्राप्त कश्मीरी राजाओं की सूची में राजराज नाम का कोई राजा नहीं मिलता, अतः विद्वानों ने उसे राजदेव नामक राजा से अभिन्न माना है, जिसका समय १२०३-१२२६ ई० है। उधर जयरथ ने पृथिवीराजविजय का [पृ० २११] उल्लेख किया है जो ११९३ ई० में दिवंगत अन्तिम भारतीय हिन्दू सम्राट् पृथिवीराज पर लिखा गया संस्कृत महाकाव्य है। फलतः जयरथ का समय १२वीं शती के अन्त से लेकर १३वीं शती के मध्य तक स्थिर होता है।

१. तन्त्रालोक आह्निक ३७ उपसंहार—८

२-३. वही पद्य ९,

४ वही पद्य १०,

५. वही पद्य ११,

६ वही पद्य १९,

७. वही पद्य २३,

८. वही पद्य २५, ३६,

९ वही पद्य २६,

१०. वही पद्य ३८,

जयरथ के विद्यागुरु थे श्री शंखधर [तन्त्रालोक प्रथमाह्निक अन्तिम पद्य] तथा श्रीसंगरथ^१ और दीक्षागुरु श्री सुभटरत्न, जो^२ त्रिभुवनदत्त के पुत्र तथा श्री विश्वदत्त के पीत्र थे। सुभटरत्न इनके पिता श्रीशृङ्गाररथ के भी दीक्षागुरु^३ थे। जयरथ ने बहुत कुछ अपने पिता से पढ़ा था। शैवागम, क्रमदर्शन तथा कुलदर्शन के ये अद्वितीय विद्वान् और विशेषज्ञ थे, अन्य शास्त्रों में तो निष्णात थे ही। इन्होंने अभिनवगुप्त के आकरग्रन्थ श्रीतन्त्रालोक की व्याख्या लिखी है और अन्त में अपने परिचय में लिखा है—

‘पदे चावये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।
तथाप्यस्वामङ्ग स्वचनं भुवि नास्ति त्रिकटशि,
क्रमार्थं वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः ॥’^४

—‘यद्यपि मैं जयरथ, व्याकरण, मीमांसा और तर्कशास्त्र के साथ संपूर्ण शैवशास्त्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका हूँ तथापि त्रिकटशि और क्रमदर्शन में मुझ से अधिक कुशल पूरी पृथिवी में कोई नहीं है।’ क्या ही प्रगाढ़ आत्मविश्वास प्रकट किया है इस विद्वान् ने अपने वैदुष्य के प्रति। कभी कभी यह घातक भी बन जाता है। विद्वानों की राय है कि तन्त्रालोक की व्याख्या में भी जयरथ ने अनेक स्थानों पर प्रौढिवाद से काम लिया है और मूलविषय निष्कर्ष निकाले हैं। विमर्शिनी में भी वे इसी प्रकार कहीं से कहीं पहुँचते दिखाई देते हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि जयरथ एक महान् विद्वान् और परिश्रमी लेखक हैं।

जयरथ की दूसरी आलंकारिक कृति है अलंकारोदाहरण। इसका पाण्डुरग्रन्थ पूना में सुरक्षित है और उसके आधार पर इसका विवरण डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने अलंकार-मीमांसा में प्रस्तुत कर दिया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि जयरथ ने सर्वस्वकार और शोभाकर के झगड़े को निपटाते-निपटाते ठीक उसी प्रकार स्वयं भी एक अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ लिख डाला जिस प्रकार काव्यप्रकाश की टीका लिखते-लिखते रुय्यक ने अलंकारसूत्र, विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण और षण्ढितराज ने रसगंगाधर। जयरथ ने इस ग्रन्थ में शोभाकर के अनेक अलंकार स्वीकार कर लिए हैं। क्रियातिपत्ति, वितर्क, द्विपर्यय, उदाहरण, निश्चय, आदर, शृङ्खला, प्रसंग, समता, तुल्य, वैधर्म्य, परभाग, उद्रेक, विधि, प्रतिप्रसव, तन्त्र, प्रत्यूह, विवेक—इनमें उल्लेखनीय हैं। कुछ अलंकारों की कल्पना जयरथ ने स्वयं की है। तात्पर्य, अंग, अनंग, अपत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट, ऐसे ही हैं।

विमर्शिनी का पूर्ण नाम अलंकारविमर्शिनी है। इसे टीका न कहकर भाष्य कहना चाहिए। सैकड़ों नवीन ललित और उपयुक्त काव्य-पद्यों को उद्धृत करते हुए ग्रन्थ के

१. तन्त्रालोक ३७ आह्निक के अन्त के परिचयपद्य—४१

२-३. वही पद्य ३५

४. वही पद्य ४७

सकेतात्मना निद्रिष्ट अंशो को सोदाहरण विघ्न करना कम प्ररिथम का कार्य नहीं है। विमर्शिनीकार इस दृष्टि से एक आश्चर्यकारिणी मेधा के धनी है। ग्रन्थ के उदाहरण में जहाँ इन्हे अक्षमता दिखाई देती है वे तुरन्त अपनी ओर से कोई उदाहरण पद्य उपस्थित कर देते हैं। उन्हें साहित्य संप्रदाय का ज्ञान है, अतः वे मम्मट पर किए कटाक्षो को समझते और स्पष्टीकरण के लिए मम्मट का नाम प्रस्तुत करते हैं। विमर्शिनीकार को अपने व्याख्येय मूलग्रन्थ के प्रति आदरबुद्धि है [अतिशयोक्ति २२४-५] वे उसे प्रतिपक्ष के आक्रमणों से बचाते और अपने तर्कों से प्रतिपक्ष का उत्तर देने में पूरे संरम्भ के साथ जुटते हैं।

विमर्शिनी का चिन्तन ही वह मूल है जिससे अप्ययदीक्षित को चित्रनीमासा और कुवलयानन्द लिखने की प्रेरणा और ज्योति दोनो मिली तथा पण्डितराज जगन्नाथ को अपना अति प्रौढ़, रसगंगाधर। ये दोनो महान् विद्वान् सर्वस्व, विमर्शिनी और रत्नाकर को पदे-पदे उद्धृत करते चले हैं।

साहित्यशास्त्र बड़ा भाग्यशाली शास्त्र है जिसे इतने बड़े विद्वानों ने अपनी चतुरस्र विद्वत्ता के निर्मल चतुष्पथ पर चहुँओर दृष्टि फैलाकर अवधानपूर्वक बड़े परिश्रम में सीखा। उद्भट, घामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, भोज, मम्मट, रुच्यक, शोभाकर, जयरथ, अप्ययदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ—सभी शास्त्रों के अप्रतिम विद्वान् थे। विद्व के अन्य किसी वाङ्मय में काव्यशास्त्र की कदाचित् ही इतने बड़े विद्वानों का इतनी बड़ी संख्या में इनके लम्बे समय तक योगदान प्राप्त हुआ होगा।

विमर्शिनी ऐसी प्रासादिक रचना है कि अकेली यही अभ्यस्त हो जाए तो पाठक चतुरस्र पाण्डित्य का धनी बन सकता है। इसमें आए गम्भीर विवेचन यहाँ उद्धरण की अपेक्षा नहीं रखते। जहाँ बड़ी पुस्तक खोली जाएगी वह विशेषता प्रकट हो जाएगी।

अलंकारविमर्शिनी में जयरथ ने अलंकारभाष्य [११८, १५३] और अलंकारसार, [३६१, ७३७] नामक ऐसे दो ग्रन्थों को भी उद्धृत किया है जिनमें अलंकारों का और भी विघ्न विवेचन था, किन्तु जो इस समय प्राप्त नहीं हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी कारिकाएँ भी उद्धृत की हैं [पृ० २५] जो ध्वनिविरोधी तथ्य प्रस्तुत करती हैं। ये जिन ग्रन्थों की हैं वे अवश्य ही अतीव महत्त्व के ग्रन्थ रहे हैं। दुर्भाग्य है कि हमारे पूर्वजों ने, विशेषतः ध्वनिवादी आचार्यों और उनके अनुयायियों ने अपने विरोध को पनपने नहीं दिया। जो उदारतावादी थे उन्हें मर्यादावादी चिन्तकों ने उत्पथगामी माना और अपने श्रेष्ठ के विरुद्ध आदर देना उचित नहीं समझा।

अन्य टीका—

जयरथ ने 'अन्यै' [पृ० ६०३] कहकर किसी आदरणीय या अन्य किन्हीं सम्मान्य विद्वानों की ओर भी संकेत किया है। अवश्य ही जयरथ के समय तक वे सर्वस्व पर अनेक कार्य ही चुके होंगे।

हमारा संस्करण

हमारा यह संस्करण मुख्यतः निर्णयसागरीय संस्करण पर आधृत है। हमने इसमें मूल सर्वस्व [सूत्र तथा वृत्ति] तथा उसकी टीका विमर्शिनी दोनों का हिन्दी अनुवाद भी किया है। मूल का हिन्दी अनुवाद डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी भी कर चुके थे, किन्तु विमर्शिनी का अनुवाद अभी तक नहीं हुआ था। टीका का अनुवाद मूल के अनुवाद के बिना आधारहीन प्रतीत होता अतः हमने मूल का भी हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक समझा। यह भी सरल कार्य न था। अनेक स्थलों में संदिग्धता थी। हमने वहाँ पं० रामचन्द्र द्विवेदी का अनुवाद देखा। उससे कहीं हमें सहायता मिली, कहीं उनके संदेह दूर हुए।

अनुवाद के पहले विषय के अनुसार मूलपाठ का निर्धारण आवश्यक था। हमने यथासाध्य वह किया है और पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि उक्त पाठों संस्करणों में जो संशोधन छूट गये थे उन्हें हमने छूटने नहीं दिया है। उदाहरणार्थ चौथे सूत्र को लीजिए। इसे निर्णयसागरीय, त्रिवेन्द्रमीय और वाराणसेय संस्करणों में वृत्तिरूप में छपा गया था। १९६५ के दोनों नए संस्करणों में भी वह वृत्तिरूप में ही छपा रह गया। हमने उसे सूत्र रूप में ही छपवाया है, जब कि संजीविनी ने भी इसे सूत्र ही माना है। ग्रन्थसंगति भी उसके बिना संभव न थी। ५ तथा ६ सूत्रों में शब्दपीनहस्त्य के प्रथम भेद की चर्चा है। यदि उक्त सूत्र को सूत्र न माना जाए तो 'प्रथम' का अर्थ नहीं लगाया जा सकेगा। इसी प्रकार पर्यायालंकार के लिए निर्णयसागर तथा मोतीलालबनारसीदास दोनों के संस्करणों में दो-दो सूत्र छपे हैं। वस्तुतः उनमें से द्वितीय सूत्र, सूत्र नहीं, वृत्ति है। हमने उसे वृत्ति रूप में ही छपवाया है। उसे डॉ० राघवन् ने भी वृत्ति ही माना है, किन्तु चतुर्थ सूत्र को भी वृत्ति मान लेने से उनकी सूत्र संख्या ८६ ही रह गई है। डॉ० द्विवेदी के संस्करण में सूत्र संख्या ८७ ही है, जो सही है, किन्तु वह संख्या पर्याय के लिए दो सूत्र मानने से आई है। अपने संस्करण में हमने इसे ठीक कर दिया है। निर्णयसागरीय संस्करण में व्याघात के द्वितीय सूत्र के आगे व्याघातः सूत्र में ही छपा हुआ है। वस्तुतः वह वृत्ति है और उसके आगे अनुवृत्तिसूचक 'इत्येव' अन्य संस्करणों में प्राप्त है। हमने उसे वृत्ति ही माना है। सारालंकार के सूत्र में सार के स्थान पर 'उदार' पाठ निर्णयसागरीय संस्करण में छपा हुआ है। पाठान्तर में वहाँ सार ही पाठ था। अन्य संस्करणों के ही समान हमने भी इसे सार ही माना है।

वृत्ति में भी पर्याप्त संशोधन करना पड़ा है। निम्नलिखित तालिका से संशोधन का आभास मिल सकेगा—

पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
८	द्विविधमपि	त्रिविधमपि	६
९	प्राधान्यं च काव्यस्य	प्राधान्यं च [काव्यस्य]	२१

पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
१३	स्वरूपेण विदितत्वात्	स्वरूपेण विचार्यत्वा	२७
१५	लिङ्गितया	लिङ्गितया	३५
१९	शब्दस्माप्रतीता०	शब्दस्य प्रतीती	४४
"	इहेति शब्दप्रस्तावे	इहशब्द प्रस्थाने	४४
२४	'शब्दपोनरुत्वं'—इत्यादि वृत्ति	'शब्दपोनरुत्वं'—सूत्र	६०
	इति द्वैविध्यमेव स्वरव्यञ्जनसमुदायपोनरुत्वं च	इति द्वैविध्यमेव ।	६०
२८	ब्रूम'—इत्यवैहि अत्राञ्जपत्रनयने नयने निमील्येत्यादी	ब्रूम'—इत्यवे-इत्यादी	७१
५२	आतुरस्य	आतरस्य	१३६
६०	यदत्र वस्तुतस्तद्रूपतायां.	यत्र वस्तुत०	१५८
६१	पुपुप्सरसि	गुरुर्वचसि पृपुप्सरसि	१५९
७५	इत्यादाबुदाहुतस्य	इत्यप्रोदहृष्ठे	१९७
८०	लीक्यमानास्ता	सोप्यमानाशा	२०६
८८	अत्र चातिशया	अतश्चा	२२९
९१	०विचलित्वाद्	निर्वचित्वाद्	२४३
९४	वस्तुतः शब्दस्य	वस्तुशब्दस्य	२५५
१०६	भावोऽशोभनत्वम्	भावः शोभन०	३०६
"	च तदन्वनिवृत्ती	चान्यनिवृत्ती	३०६
१०९	तदन्व	तच्च	३१५
"	भावात् त्रिधा	भवत् त्रिधा	३१५
"	नायकनायिकास्यधर्मविशिष्टयो	नायकतास्यधर्मविशिष्टयो	३१५
११०	केदापाशाङ्गिवृन्देव	केदापाशाङ्गिवृन्देन	३१७
१११	स्त्रिव किल	विचिकल	३१७
११६	व्यापारविषयतो	व्यापारविषयीकृतो	३२८
११७	नायकर्तृ स्वरूपेण	नायक स्वरूपेण	
१३४	कि मामालय	कि मा नालय	३८४
१४८	सातिशयात् कोपजनकरवादिः	सातिशयो मरणसङ्क्षोप०	४३०
१७६	श्रीहर्षप्रस्थापने	श्रीहर्षप्रस्थाने	५१८
२२३	अभिमानेन सा योक्तिर्ज्ञान	अभिमाने च सा योग्या	६७४

प्रायः यही स्थिति विमर्शनी की रही है । उसमें भी पर्याप्त संशोधन करना पडा । इसके भी कुछ स्थल—

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से ५	२	विमर्शनीकारः	x x	

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से १	२	तात्पर्यमुच्छ्रत इति । अस्या- भिप्रायः-तथा च	तात्पर्यमुच्यत इत्यस्या-भिप्रायः । तथा च	२
९	१०	इत्युपचारवक्रतादीनां	इत्युपचारवक्रता यादि- पदेन क्रिया-वक्रता- दीनां	२३
१०	१४	त्रिविधस्तथापि त्रिन०० मुख्यत्वेन	त्रिविधस्तथापि [त्रिन००] मुख्यत्वेन	३२
९	२१	कार्यायने	कार्यायने	५२
२	२३	उपमितार्थादिवादि	उपमितार्थादिवादि	५६
७	"	तथात्वानुपपत्तेः	तथात्वोपपत्तेः	"
नीचे से १	"	धारण-रणरणिका०	धारण-रण-रणरणिका	५८
	३२	तत्सादृश्यत्व	सदृशत्व	६५
नीचे से १०	३६	उपमानत्वेनोपात्ता	उपमानत्वेन नोपा	९२
९	३९	कल्पितेनैव	कल्पितेन तेनैव	१००
३	४२	स्मृतुंदशायामनीतत्वाकर्तृ०	स्मृतुंदशायमतीतत्वात् कर्तृ	११०
१०	४४	युक्तम्	युक्तत्वम्	११६
११	"	अपह्नवे	अनपह्नवे	११८
५-६	५६	अन्तिसद्भाव	अन्तिमच्छब्द	१५२
३	५८	सादृश्यनिमित्तं	सादृश्यनिमित्तकत्वमेव	१५३
६	५९	स्वातन्त्र्येण	आक्षेपण्येन	१६१
३	६१	विभागत्य	विभागस्य	"
नीचे से १	६३	नापह्नुतेहि	अपह्नुतेहि	१७१
१	६७	चन्द्रादेर्वृत्त्यभावो	चन्द्रादेर्वृत्त्यभावाद्	१७५
नीचे से ८	"	ननु यद	ननु यद	१७८
"	५	लक्ष्मीसौंदर्या	लक्ष्मीसौंदर्या	१७९
"	४	स्फुटत्वे तत्कान्ता	स्फुटं त्वेतत्कान्ता	१७९
नीचे से ६	६८	० धिलेपात्सामान्यतर्कोऽपि	० विशेषात्संशयप्रकार- स्तकः	१८४
"	८	पक्षान्तर-संस्पृशं	पक्षान्तरासंस्पृशं	१८४

नीचे से	पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
"	४	"	सशयो ह्यतिशयितोभया०	संशयो ह्यनियतोभया	"
	१३	६९	निमित्तसामर्थ्यात्	निमित्त तत्सा०	१८६
	१४	"	विषयप्रतीते	विषयिप्रतीतेः	"
	१६	"	विषये प्रतीति	विषयिप्रती०	"
	१२	७०	विषयदाह्येन	विषयिदाह्येन	"
नीचे से	३	८६	लडहत्वादीनामित्यादि- शब्दाद्विषयानोच्छाया एव	लडहत्वादीनामिति । आदिशब्दाद् धर्तनच्छाया एव	२२७
	१	"	०नार्थमिति । एतत्प्र०	०नार्थमित्येतत्प्र०	"
	१	९२	प्रस्तुतस्य विनान्येन	प्रस्तुतस्य तु नान्येन	२४४
	५	९५	विशेषाभिहितमया	विशेषाभिहितमया	२५६
	४	९६	पाठान्तर-विशेषानभिधिरस्या पाठान्तरवक्तृप्रतिषेधो- क्तुप्रतिपत्तयोः	विशेषाभिधिरस्या वक्तृप्रतिपत्तयो	२५७
	५	९६	तस्यापीति	तस्यापीति [सामान्य- धर्मस्यापीत्यर्थं.]	२६४
नीचे से	३	९८	प्रतिपाद्येन, प्रतिपाद्य तेन (पाठान्तर)	प्रातिपद्येन	२७१
	४-५	१०४	कार्यकारणयो. प्रति नियमस्य विपर्ययस्तुल्यकालत्वादिनोक्तेः (अथ च कार्यकारणव्यति- नियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तु- ल्यकालत्वादिनोक्ते ।	कार्यकारणयो' प्रति- नियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तुल्यकाल- त्वादिनोक्ते ।	२९९
	६	"	तत्रेति निर्धारणे । अस्यामनु०	तत्रेति निर्धारणे । [कार्यकारणप्रतिनियम- विपर्ययरूपेति] अस्यामनु	२९९
	१२	"	विशेषणपरिहारेण	विशेषणपरिहारेण	३०२
नीचे से	८	११२	समासोक्तायुपमायां	समासोक्तायामुपमाया	३२०
		१२६	उत्थापनमिति	उत्थानमिति	३६१
		"	दुर्बलत्वादा (भावान्वा- न्य) बाध्यत्व०	दुर्बलत्वादा— बाध्यत्व०	३६१
		"	तत् सर्वजनविरुद्ध०	तत् स्ववचनविरुद्ध०	३६२



पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से	५	१२७ वाधोत्पत्तावपि	वाधोत्पत्तिः, अमितु	३६७
नीचे से	४	” पश्चाद्विरोधधीः	पश्चाद्विरोधधीः	”
	५	१२९ अतम्बद्धत्वा०	सम्बद्धत्वा०	३७२
नीचे से	२	” नायिकाशशिनीः	नायिकानिशयोः	”
	४	१३१ सादृश्यपर्यवसायापह्नव	सादृश्यापर्यवसायपह्नव	
नीचे से	३	” व्याजोक्ती चत्वारः प्रकारा विद्यन्ते	व्याजोक्ती चोत्तरः प्रकारो विद्यते	३७४
नीचे से	२	१३४ अप्रस्तुतात् कारणात् प्रस्तुतस्य कार्यस्य	अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतस्य कारणस्य	३८५
	२	१३५ कार्ये प्रस्तुते कारणस्या०	कारणे प्रस्तुते कार्यस्य	३८६
	१-२	१३७ सारूप्येण साधर्म्योदाहरणानां	सारूप्येण साधर्म्यो- दाहरणानां	३८९
	३	” वाक्येनेति निश्चिनुमः	वाक्येन [अतिदेश] इति निश्चिनुमः	३८९
नीचे से	२	१४० संपद्वरण	संपद्वरण	४०१
	८	१४९ निषेधस्यैव भासनात्	निषेधस्यावभासनात्	४३५
	३	१७६ तत्र रूपाय विशेषविबद्धा	तत्र पुनरूपायविशेष	५१९
	७	” प्रस्थापन	प्रस्थान	५१९
नीचे से	१	” विभावादीनां	विभावनादीनां	५२५
	९	१७७ कारणमालानां	कारणानां	५२५
	४	१८१ आधिक्यमुक्तम्	आधिक्यमिति वर्धमानमुक्तम्	
	६	” तस्मादस्मिन्वच वर्धमाने स्यारोपान्तर्भावमेति न पुनरिदमन्त- भूतं सारे परिमितविषये महाविषय मित्याद्युक्तमेवोक्तम्	तस्माद्-अस्मिन्वच वर्धमाने सारोपान्तर्भाव- मेति न पुनरिदमन्त- भूतं सारे परिमितविषये महाविषयमित्या- द्युक्तमेवोक्तम्	५३५
	१	१८२ दृक्त्वाभासैव	दृक् स्वाभासैव	५४०
नीचे से	६	१८२ तच्छब्दस्यापि	तच्छब्दस्यापि	५४०
नीचे से	१	१८३ वैचित्र्यावहृत्वाच्छब्दस्यापि	वैचित्र्यावहृत्वाच्छा- ब्दस्यापि	५४१
	७	१८४ त्रिरूपस्य साध्यस्य	त्रिरूपस्य साधनस्य	५५२

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृ०
३	१८६	समर्थतया	समर्थतया	५५३
४	१८८	भृतेर्दारुत्मजा०	भृतेर्दारुत्मजा०	५५८
		„ सूचितं तस्यैव	समुचितम् । तस्यैव	५६७
	१९१	शब्दोपात्तदधति(?)	शब्दोपात्तमेतद्भवति	५७२
नीचे से १	१९१	तदिति नियमस्य	तदिति विनियमस्य	५७२
६	१९२	लतासप्तत्वयोर्विम्बप्रति०	भतत्वासप्तत्वयोर्विम्बप्रति०	„
२०३	१९३	कविप्रतिभानिर्वृत्तितत्वा- भावाङ्गोको०	कविप्रतिभानिर्वृत्तितत्वा- ङ्गोको०	५७९
३	१९५	नियमविधि । पुनरज्ञातज्ञा०	नियमविधि । न पुनरज्ञातज्ञा०	„
४	„	तेन नियमे श्रीहि०० यित्वमेव दलनादे०	तेन नियमे श्रीही०० यित्वमेव न, दलनादे	„
४	२००	विकल्पोऽपि न भवति	विकल्पोऽपि भवति	५९४
	२०४	तत्कथं न भवत्यप्रभु०	तत्कथं न भवत्यप्रभु०	६०३
	२०६	निरासमानराकरणं	निरायासमाननिराकरणं	६०९
२	२०८	प्रतीपाख्यमलंकारद्वयं पुनः	प्रतीपाख्यमलंकारद्वयम्, न पुनः	६१८
४	२११	षट्पट्टवद्भेदेऽऽ	षट्पट्टवद् भेदेऽऽ	६२८
२	२१२	यत् समानगुणत्वे०	यत् समानगुणत्वे	„
नीचे से ३-१	२१४	अननुदाहरणीय०, अननुदा- हरणा०, अतिरिक्तत्व०	अननुहर०, अननुहर०, अतिरिक्त० ^१	६३८
नीचे से ४	२१९	लोकात्म	श्रोत्रात्म	६५३
नीचे से २	„	तस्य हि यथायोजनमात्रं लक्षणम्	तस्य हि अग्न्यायोर्ज०	६५३
	१	२२० वाक्याभिधेयमानोऽर्थो	वाक्येऽभिधीयमानोऽर्थो	६५८
नीचे से ६	„	प्रस्थानविशेषतया	प्रस्थाननियेऽकतया	६५९
नीचे से ५	२२१	मुख्यार्थमुपादनमिति भेदान्तरमप्य- वसानवाच्यम्	मुख्यार्थापादनमिति भेदा- न्तरमप्यस्या न वाच्यम्	„
	५	२२४ इह हि केचिदर्थान् कविवचसि सुस्पष्टमभिरुद्धाः वाच्यवाचकयोः	इह हि वाच्यवाचकयोः	६७२

१. यहाँ मूल में 'समुचितं तस्यैव' ऐसा ही छाया रह गया है ।

२. मूल में अतिरिक्त० ही छप गया है ।

३. मूल में यथायोजनमात्र ही छप गया है ।

	पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
	५	२२५	भाविना	भावना	६७३
	७	"	आदरश्च	आदराच्च	"
नीचे से	३	"	योगविद्भूत०	योगविद्भूत०	६७५
"	"	"	प्रत्यक्षतयैव तदभावभासनं	प्रत्यक्षतयैव [प्रतीतिस्तथापि] तदभाव [सं] भावनं	६७५
	६	२२६	परमाद्वैतज्ञान	परमाद्वैतिज्ञान	६७५
	७	"	ज्ञानामीति समानाधि	ज्ञानामीत्यसामा०	६७६
नीचे से	४	२२७	सीधेषु नीतं	सीधेषु मीतं	६७८
	१	२२८	स्वप्ने मोदित	स्वप्नान्तोदित	"
	४	२२९	कविसमर्पितधर्मत्वं	कविसमर्पितधर्माणं	६८२
	२	२३१	अङ्गभूतस्य	अङ्गिभूतस्य	६८९
	"	"	तत्र नायमलंकारः	तदत्र नायमलंकारः	"
नीचे से	५	२३२	रत्यात्मभावः	रत्यात्मा भावः	६९३
	१३	२३५	गुणीभावात्	गुणीभावाभावात्	६९५
नीचे से	२	२३६	पुष्पन्पुरारेः	पुष्णत् पुरारेः	७०३
नीचे से	९	२३८	रतेरभूत०	रतेरङ्गभूत	"
नीचे से	४	२४०	शङ्कासूयाधृतिस्मृत्यौत्सुक्य- दैन्यौत्सुक्यानां	शङ्कासूयाधृतिस्मृति- दैन्यौत्सुक्यानां	७१६
नीचे से	१	२४१	प्रकृतत्वाच्चारु०	प्रकृताच्चारु०	७१८
	३	२४३	सामग्रादेः	सामग्रपादेः	७१९
	११	"	बोधन्यायेन मानसबोधन्यायेन	बोधन्यायेन [मानसबो- धन्यायेन]	"
नीचे से	५	"	जिनाहंसमयास्तथा	जिनाहं हेममयास्तथा	७२०
	२	"	व्यक्तमेवं विधीयते	व्यक्तमेवं विधीयते	७२०
	३	२४४	इवेक्ष्यते	इवेक्षिते	"
	८	"	तस्मादेवा विषयत्वं	तस्मादेवाविषयत्वं	"
नीचे से	५	"	पूर्वहाराच्चास्त्वाभावाच्च	पूर्वहानाच्चास्त्वा- भावाच्च	"
	४	"	संसृष्टिसंकथने चलिते	संसृष्टिसंकरयुगे दलिते	"
	३	"	रसताम्	रसताम्	"
	७	२४५	निमित्तानिमित्तभावेन	निमित्तनिमित्तिभावेन	७२६
	५	२४६	अङ्गत्वे पुनरेषां संकरादी- नामङ्गा०	अङ्गत्वे पुनरेषां संकरधीनां०	७२७

पं०	पृष्ठ	निर्णयसार संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
६	२४६	यमकानुप्रासयोनिमित्तनि- मित्तिभाव'	यमकानुप्रासयोर्न निमित्त०	७२७
९	"	शब्दबहुपकार्योपकारकत्व- भावात्	शब्दबहुपकार्योपकारक- त्वाभावात्	७२७
१०	"	इयमेव हि समृष्टिद्वयो-	इयमेव हि समृष्टिर्द्वयो-	"
१४	"	दशदादिमाडियाक्यवचनयो.	दशदादिमाडिवाक्यवचनयो	"
१५	"	द्वयोरपि समृद्धत्वात्	द्वयोरपि संबद्धत्वात्	"
नीचे से	१	"	न चात्रोभयमप्य	"
	२	"	न संकरो नपि	"
	२	"	शक्तियोगात्	"
	३	२४८	अत्र च यथा	७३४
नीचे से	१	"	दावाप्ति(?)प्रदर्शन०	"
नीचे से	५	२५२	समासा	७३८
	२	२५३	संकरे	७४१
नीचे से	३	"	रूपकोपक्रमेणोपमानिर्वाहो दुष्ट इति साम्यलाघवेन	रूपको०० वाह । दुष्ट इति साम्यस्य लाघ०
	३	२५४	उपमाया बाधकत्व प्रतिगम्भी०	उपमाया बाधकत्वम् अतिग०
नीचे से	१	"	हेतुत्वेनैव गता	हेतुत्वेनैवागता
	"	"	तस्या अनुत्वानात्	तस्यानुत्वानात्
	३	२५५	हर्तुः	हन्तु
	४	"	वचने	वचने
	२	२५६	शब्दार्थवत्यलङ्कारवाक्य	शब्दार्थवत्यलङ्कारा वाक्य
नीचे से	४	"	०भयालङ्कारत्वे	०भयालङ्कारत्व
नीचे से	२	"	वर्णिता	वर्णिका
	२	२५७	०ष्टिः श्लेषाणामेवो०	०ष्टिश्लेषाणामेव
	९	"	तत्कार्यमेव	तत्कार्यत्वमेव

इम तालिका से स्पष्ट है कि निर्णयसारगीय संस्करण में भावात्मक वक्तव्य को अभावात्मक, अभावात्मक को भावात्मक, भावपूर्ण निर्देश को द्रव्यात्मक निर्देश कितनी ही बार छापा गया है। 'न्याय' के स्थान पर 'काल' और 'भरणशक्नोपजनकत्व' के स्थान पर 'कोपजनकत्व' का पाठ विपर्यय दुस्समाधेय विपर्यय है। पाठान्तर भी ऐसी जगह

नहीं मिलते। 'लतासमत्व' से 'भक्तत्वासमत्व' की कल्पना सरल नहीं। विराम, विरामाभाव, अनुच्छेद, प्रघट्टकपरिवर्तन और ऐसे ही लेखधर्म भी कहीं-कहीं भ्रामक स्थिति में मिले और उनको विषयसंगति के आधार पर ठीक किया गया।

संशोधन में हमने कल्पना को सबसे वाद में स्थान दिया है, पहले रत्नाकर और रसगंगाधर के उद्धरणों को। जो उद्धरण विमर्शिनी ने रत्नाकर से लिए हैं उन्हें रत्नाकर से मिलाकर ठीक किया, यद्यपि कहीं-कहीं स्वयं रत्नाकर में भी इस तुलना से संशोधन हुआ, और विमर्शिनी के जो उद्धरण पण्डितराज ने रसगंगाधर में दे रखे हैं उन्हें रसगंगाधर से मिलाकर। मूल का संशोधन भी पहले उद्धरणों के ही आधार पर किया है। १०९ पृ० का नायकतार्थ्यधर्म पाठ रसगंगाधर से ही लिया गया है। ये सब निर्देश विमर्श-नामक टिप्पणी में पाठान्तर-शीर्षक देकर कर दिये गये हैं। यद्यपि कहीं 'पाठान्तर'-शीर्षक छूट भी गया है।

विमर्शिनी की प्राकृत भाषाओं की संस्कृतच्छाया अपने संशोधन के साथ रत्नाकर से ली गई है यद्यपि एक दो स्थल बिना छाया के छोड़ दिए गए हैं। वे समझ में नहीं आए।

विमर्शिनी के अनुवाद में पूर्वपक्ष को समझने हेतु रत्नाकर के संबद्ध सभी उद्धरण हमने आगे या पीछे प्रस्तुत कर दिए हैं और पूना से छपे संस्करण के संदर्भ भी दे दिए हैं। ये संदर्भ भी कठिनाई से तैयार किए जा सके क्योंकि कुछ उद्धरण ऐसे हैं जो जिस अलंकार में दिए गए हैं उसमें न होकर रत्नाकर में, किसी अन्य अलंकार के प्रकरण में रहे हैं। इनमें भी कुछ कारिकाएँ गद्यात्मक रूप में छपी हैं, अतः उन्हें खोजना कठिन रहा है।

विमर्शिनी में 'प्रत्यक्षाद् विरलकरांगुलिप्रतीति' इत्यादि [५४० पृ०] ऐसे भी कुछ स्थल हैं जिनके मूल संदर्भ खोजे नहीं जा सके हैं और इसीलिए जिनके अर्थज्ञान में संदेह रह गया है। दिग्दिकारागः [पृ० ५३], बाहकैलि [१८४ पृ०], बाह्याली [१८४ पृ०] भी ऐसे ही शब्द हैं। बाह्याली का प्रयोग राजतरंगिणी में बाहरी बरामदे के लिए हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका यह अर्थ नहीं जमता था अतः हमने घुड़सवारी का मैदान अर्थ किया। इसका एक प्रयोग घुड़सवारी के लिए भी काव्यादर्श के पूना संस्करण [पृ० १८ की] टिप्पणी में मिल गया। राजगंज [६२८ पृ०] भी ऐसा ही शब्द है।

प्रत्येक अलंकार के अन्त में हमने भामह से लेकर विश्वेश्वर तक चली परम्परा उद्धृत कर दी है और प्रत्येक अलंकार का इतिहास दे दिया है। दण्डी को यत्र तत्र ही अपनाया गया है। कवमीरी अलंकार परम्परा उद्धृत की परम्परा है और उद्धृत भामह से ही प्रभावित हैं। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर टीका भी लिखी थी जिसका उल्लेख जयरथ ने असकृत् किया है। उस कारण भामह को ही हमने प्राधान्य दिया है यद्यपि हमें यह निश्चय हो गया है कि भामह दण्डी के बाद के हैं तथापि

हो सकता है हमने भी संस्कारवशात् कही भामह को पूर्ववर्ती लिख दिया हो। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण को भी हमने अधिक महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि उसका प्रभाव भी कश्मीरी परम्परा पर कम है यद्यपि जयरथ ने भोजदेव का भी [पृष्ठ ४४३, ७२०] उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार दण्डी से विश्वेश्वर तक की आवश्यक और ऐतिहासिक सामग्री प्रत्येक अलंकार के अन्त में इस ग्रन्थ में सुलभ है। आशेष, काव्य-लिङ्ग और समृष्टि सकर के इतिहास पर गवेषक विद्वान् ध्यान दे सकते हैं। इतिहास के अन्त में श्रीविद्याचर्यवर्ती की निष्कृष्टायं कारिकाएँ भी अनुवाद के साथ दे दी हैं।

१ → ४२४

अलङ्कारों का क्रमिक विकास स्पष्ट समझ में आ सके इसलिए हम दण्डी से सर्वस्व तक के अलङ्कारों के इतिवृत्त पर दृष्टि डालें—

अलङ्कारों का इतिवृत्त

अलंकार—शब्द का पूर्वपद 'अलम्' ऋषिसहिता में 'अरम्' के रूप में मिलता है। अरम् 'ऋ'—धातु से निष्पन्न शब्द है। 'ऋ' का अर्थ है गति। 'गति'—शब्द बोध, मुक्ति और गमनव्यापार का भी बोधक शब्द है। अर्थ यह कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीन शक्तियों से बने विश्व की दो तिहाई तक व्याप्त है गति शब्द की शक्ति। वेद-विज्ञान 'गति'—तत्त्व को 'प्राण' और 'अग्नि' कहता तथा उसे 'इन्द्र' से अभिन्न मानता है। ऋषिमहिता के ऋषि वसिष्ठ, इन्द्र से ही पूछते हैं 'का से अस्त्वरङ्कृतिः सूक्तैः=" हे इन्द्र, सूक्तों में ऐसी कौन सी अलंकृति, कौन सी प्राणयत्ता, कौन सी आपूर्ति, कौन सी उपलब्धि रहती है जो उनसे तुम्हें प्राप्त होती है।' अवश्य ही इस वाच्य में सूक्तात्मक उक्ति के अन्तर्गत रहने वाले अतिशय-तत्त्व की जिज्ञासा प्रकट हो रही है। मानो ऋषि यानी कवि, अलंकार से उसके उक्तिलभ्य अलंकार के विषय में प्रश्न कर रहा है। इस प्रकार

१ द्रष्टव्य—An Etymological note on the word Alamkara By Dr. G. C. Tripathi in 'Principles of Literary Criticism in Sanskrit' Ed Prof. Dr R. C. Dwivedi, Udaipur University.

२-३ द्र० (१) वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति म० म०

पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ।

(२) आत्मविज्ञानोपनिषद् आदि : पं० मोतीलाल शारदा ।

(३) सहस्राक्षरा वाक् : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ।

(४) विज्ञानचिन्तु : म० म० प० मधुसूदनशोभा ।

(५) वैदिकवाक्यकोष : श्रीभगवद्दत्त शारदा ।

श्रुवसंहिता में अर्थात् मानव-इतिहास के प्रथम ग्रन्थ या आदिकाव्य में हम परवर्ती अलंकार के लिए 'अरंक्ति' शब्द पाते हैं, किन्तु यहाँ यह शब्द उपमा आदि के लिए प्रयुक्त नहीं बताया जाता। दूसरी ओर

यास्क के निरुक्त में हम 'उपमा' शब्द और उसकी वही व्याख्या पाते हैं जो हमें परवर्ती अलंकारिकों में मिलती है। गार्ग्य का मत उद्धृत करते हुए यास्क लिखते हैं—'उपमा अतत् तत्सदृशम्'। यहीं उपमाओं की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

'तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वा उपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम् ।'

दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते और लिखते हैं—

'ज्यायसा उत्कृष्टेन गुणेन यो यस्मिन् द्रव्ये उत्कृष्टो गुणस्तेन, कनीयांसम् अनुकृष्टं गुणम् उपसीयते, तथाया 'सिंहो माणवक' इति। सिंहे शौर्यमुत्कृष्टम्, माणवकमेतेन उपमिमीते सिंह इव माणवकां विक्रान्त इति। प्रख्याततमेन वा अप्रख्यातमुपमीयते। प्रख्यातश्चन्द्रमा, अप्रख्यातो माणवकः, तं तेनोपमिमीते 'चन्द्र इव कान्तो माणवक' इति। अथापि क्वचित्, 'कनीयसा गुणेन ज्यायांसमपि सन्तमुपमिमीते।' अर्थात्—'अनुकृष्ट की उत्कृष्ट के साथ तुलना ही उपमा है'।

यास्क ऐसी उपमाओं के १२ स्थल^(१) प्रस्तुत करते और उनमें से कुछ स्थलों को कर्मोपमा^(२) भूतोपमा^(३) रूपोपमा^(४) सिद्धोपमा^(५) छुप्तोपमा^(६) अर्थोपमा^(७) भी कहते हैं। किन्तु इन्हें अलंकार नहीं कहते, यद्यपि इनमें भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और छुप्तोपमा जिसका दूसरा नाम अर्थोपमा है एसी उपमाएँ हैं जिन्हें अलंकार कहा जा सकता है।

'पाणिनि जी उपमा, सादृश्य, सामान्य, उपमान, सदृश, प्रतिरूप, उपमित शब्दों का

१. (१) History of Samskrit Poetics By. Dr. S. K. De. Page. 3.

(२) निरुक्त : नैघण्टुककाण्ड पाद-३ आरम्भ, मोरसंस्करण भाग-२ पृ० २८३ ।

२. निरुक्त प्रथम भाग पृष्ठ ३३४ मोरसंस्करण.

३-७. निरुक्त भाग-२ पृ० २९१-३०८ मोरसंस्करण.

८. उपमा (१) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां [२।३।७२],

(२) विदित्युपमाथै प्रयुज्यमाने [८।२।१०]

औपम्य (१) जीविकोपनिषदावौपम्ये : [१।४।७९], (२) ऊहत्तरपदा-
दौपम्ये [४।१।६९] (३) संज्ञोपम्ययोश्च [६।२।११३]

सादृश्य (१) अन्ययं विभक्तिं [२।१।६] (२) यथाऽसादृश्ये [२।१।७]

(३) सदृशप्रतिरूपयोश्च सादृश्ये [६।२।११]

असकृत् प्रयोग करते तथा 'पुरुषव्याघ्र' आदि ऐसे स्थलों पर दृष्टि रखते हैं जिनमें आई उपमा स्पष्ट रूप से अलंकार है, तथापि वे इन्हें उपमालंकार नहीं कहते, यद्यपि उन्हें अपने शास्त्र में वैसा कहने का कोई अवसर भी नहीं था।

पतञ्जलि 'उपमान' शब्द का निर्वचन करते और कहते हैं—

'मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थम्,

उप आदीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ह्यस्यामीति।

तत्समीपे यत्प्रत्ययान्नाय निमित्ते तद् उपमानम्।'

अर्थात्—'उप यानी पास में अर्थात् अज्ञात वस्तु के, से जाने वाला अर्थ उपमात्'।

किन्तु वे इसे अलंकारत्व से अस्पष्ट रखते और इसके स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण 'गवय गो जैसा' इस लोकावय का देते हैं जिसमें उपमा तो है किन्तु चमत्कार नहीं, अतः जो अलंकार नहीं है।

Amal

किन्तु पतञ्जलि के समय में ही 'अलंकारत्व' और 'उपमा' आदि दोनों समानान्तर गंगा यमुना को सिखा दिया जाता है (एहं कार्यं भरतमुनि करते हैं। वे 'उपमा, रूपक, दीपक और यमक' को अलंकार मानते और लक्षण नामक तत्त्व के रूप में अन्य ३६ गुणों का भी निरूपण करते हैं जिनसे अलंकारों की दिशा में चिन्तन को विद्युद्गति प्राप्त हो जाती है) और दण्डी तक के अनेक मनीषी उस दिशा में लगभग सात सौ वर्षों तक निरन्तर चिन्तन करते हैं। इस महान् अन्तराल के पश्चात् हम दण्डी तक पहुँचते और उनमें अलंकारों की संख्या ३७ पाते हैं। वे निम्नलिखित हैं—

सामान्य—(१) उपमानानि सामान्यवचनैः [२।१।५५]

(२) उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे [२।१।५६]

(३) नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् [२।१।७३]--

उपमित-उपमितं व्याघ्रादिभिः० [२।१।५६]

उपमान—(१) उपमानानि सा० [२।१।५५] (२) उपमानादाचारे [३।१।१०] (३) कर्तयुपमाने [३।२।७९] (४) उपमाने कर्मणि च [३।४।४५], (५) उपमानादप्राणिषु [५।४।९७] (६) उपमानाच्च [५।४।३७], (७) संज्ञायामुपमानम् [६।१।२०४], (८) तत्पुरुषे तुत्यायंकतृतीयासप्तम्युपमाना० [६।२।२], (९) गोविडालसिंहसैन्यवैपुपमाने [६।२।७२], (१०) उपमान वन्दार्थ-प्रकृतावेव [६।२।८०], (११) चौरमुपमानम् [६।२।१२७], (१२) मूपमानात् कः [६।२।१४५] (१३) निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् [६।२।१६९]

१ Dr. S. K. De. History of Skt. Poetics

२. 'उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।

अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाध्यायः ॥—भरतनाट्यशास्त्र १०।४३

दण्डी [६६०-६८० ई०]

१. स्वभावोक्ति २. उपमा ३. रूपक ४. दीपक ५. आवृत्ति ६. आक्षेप
 ७. अर्थान्तरन्यास ८. व्यतिरेक ९. विभावना १०. समासोक्ति ११. अतिशयोक्ति
 १२. उत्प्रेक्षा १३. हेतु १४. सूक्ष्म १५. लेश १६. क्रम १७. प्रेयः १८. रसवद्
 १९. ऊर्जस्वि २०. पर्यायोक्ति २१. समाहित २२. उदात्त २३. अपहृति २४. श्लेष
 २५. विज्ञेयोक्ति २६. तुल्ययोगिता २७. विरोध २८. अप्रस्तुतप्रशंसा २९. व्याजस्तुति
 ३०. निदर्शना ३१. सहोक्ति ३२. परिवृत्ति ३३. आशीः ३४. संसृष्टि ३५. भाविक
 ३६. यमक तथा ३७. चित्र ।

दण्डी ने दक्षिण भारत में जो अलंकारदर्शन प्रस्तुत किया वह उत्तर भारत के भामह को बहुत ही छोटा सुलभ हो गया । भले ही वह दण्डी के अपने ग्रन्थ के द्वारा सुलभ हुआ हो अथवा साक्षात् उसी माध्यम से जिससे ये तख्त दण्डी तक पहुंचे हों । स्वयं दण्डी के ग्रन्थ से ही भामह को अलंकार प्रेरणा का पक्ष अधिक स्वस्थ प्रतीत होता है । ऐसा लगता है कि भामह किसी पक्ष को पूर्व पक्ष बना रहे हैं और उसे उसी की मूल पदावली में उद्धृत कर रहे हैं । यह पदावली दण्डी से अक्षरशः मिलती है । ऐसी स्थिति में दण्डी को पूर्ववर्ती होने का श्रेय न देना तर्कविरुद्ध है ।

१. (१) यहाँ आचार्यों के समय का आश्वार हैं डॉ० काणे

(२) म० म० काणे आदि कहते हैं कि दण्डी के पूर्व भट्टिकाव्य में अलंकारों का विवेचन हुआ है । वस्तुतः उसमें अलंकारों के प्रयोगमात्र हैं । अलंकारों के नाम नहीं । नामों की कल्पना ज्यमंगलाकार ने की है, जो बहुत अंश में अशुद्ध है । 'वार्ता' को भामह के अनुसार अलंकार बतलाना उसका प्रमाण है । देखिए यहीं आगे—

२. ऐसे अनेक स्थल डॉ० डे०, म० म० काणे, श्रीपोद्दार जी आदि ने उद्धृत किए हैं । इनमें प्रसिद्ध है हेतु सूक्ष्म आदि अलंकारों से सम्बद्ध स्थल । दण्डी कहते हैं—
 'हेतुश्च सूक्ष्मलेशो वाचामुत्तमभूषणम्' और इनका निरूपण ६७ कारिकाओं में करते हैं । वहाँ ये—
 "गतोऽस्तमको भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥"—यह उदाहरण देते हैं ।

भामह कहते हैं—'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः ।

समुदायाभिधानस्य चक्रोक्त्वनभिधानतः ॥

गतोऽस्तमको भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामितां प्रचक्षते ॥' २१६-८७ ॥

जो इन कारिकाओं को भाषा की दृष्टि से पढ़ेगा वह समझ जाएगा कि अवश्य ही दण्डी की कारिका पहले की है । दण्डी नाम लेते हैं तीन अलंकारों का किन्तु उनके लिए प्रयोग करते हैं 'भूषणम्' इस प्रकार एकवचन का । चाहिए या 'भूषणानि' । भामह इसका सुधार करते और 'मतः' में एकवचन ही रखते हुए यह बतलाते हैं कि यदि 'भूषणम्' ही लिखना है तो 'सूक्ष्मलेशो' न लिखकर 'सूक्ष्मो लेशोऽथ' इस प्रकार अलग अलग लिखना

[भामह [७००-७२५ ई०]

भामह ने अपने काव्यालङ्कार में दण्डी के कुछ अलङ्कारों को माना, कुछ को नहीं और कुछ अलङ्कारों को अपनी ओर से नवीन अलङ्कारों के रूप में प्रस्तुत किया। इनका विवरण—

(१) अमान्य अलङ्कार—आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा चित्र । ५

(२) मान्य अलङ्कार—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दोषक, आशेष, अर्पण-न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, कम (प्रयाससंख्य नाम से) प्रेष, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपहृति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, प्रस्तुतप्रसंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहेक्ति, परिवृत्ति, आशी, संसृष्टि, भाविक तथा यमक ।'

(३) स्वकल्पित— (१) अनुप्रास (२) उपमा रूपक (३) उत्प्रेक्षावयव (४) उपमेयोपमा (५) सन्देश (६) अनन्वय-।

इस प्रकार भामह तक कुल अलङ्कारों की संख्या ५३ ही जाती है। उनमें से भामह दण्डी के ३२ तथा अपने ६ इस प्रकार कुल ३८ अलङ्कार स्वीकार करते हैं। हेतु, चाङ्गि। यदि भामह स्वयं इसे लिखते तो हेतु सूक्ष्मश्च लेशश्च—ऐसा लिखते। हेतुश्च—लिखना भी दण्डी की ही उक्ति को उद्धृत करना है। यहाँ—

यह कहना कि दोनों ने किसी एक अन्य स्रोत से ये अथ अपनाए हैं—संस्कृतभाषा की अभिव्यक्ति से अनभिज्ञता प्रकट करता है। आनन्दवर्धन और महिमभट्ट की नौकशोक पर उनका ध्यान जाना चाहिए। इतने पर भी डॉ० डे, पोद्दार, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी आदि भामह को ही पूर्ववर्ती मानते हैं। म० म० काणे ने हमारे इस भाषा सम्बन्धी तर्क पर तो ध्यान नहीं दिया है, परन्तु माना दण्डी को ही पूर्ववर्ती है, [इ० History of Skt. Poetics M. M. Kane, P. 124, 1951.]

दण्डी का अलङ्कारविवेचन भी बतलाता है कि वे उस समय के आचार्य हैं जब अलङ्कारों के विवेचन में अधिक सूक्ष्मता नहीं थी। भामह इसके विपरीत अधिक सूक्ष्मता के साथ अलङ्कारों का निरूपण करते दिखाई देते हैं। क्या सूक्ष्मता स्पष्टता को जन्म देती है जो दण्डी को परवर्ती माना जाता है? अवश्य ही भामह दण्डी के कृणो हैं भले ही वे दण्डी का नाम नहीं लेते। अलङ्कारविमर्शिनी में क्या रत्नाकर का नाम विमर्शिनीकार ने एक बार भी लिया? तो क्या यह कह दिया जाए कि विमर्शिनी रत्नाकर से पहले की है और रत्नाकर ने ही विमर्शिनी से प्रेरणा पाई है?

१. (१) S. K. De. History of Sanskrit Poetics. P. 49-50

(२) P.V. Kane. " " " 1951. P. 124.

सूक्ष्म और लेश का तो भामह ने खण्डन भी किया है। उनके संदेह और उपमेयोपमा दण्डी की संज्ञापोपमा तथा अन्योन्योपमा की ही पीठिका पर आधृत है। दण्डी ने इन्हें उपमा से प्रयुक्त नहीं माना था। भामह ने इनमें प्रयुक्त अलंकारस्व देखा। उत्प्रेक्षावयव उत्प्रेक्षा तथा उपमारूपक रूपक के चिन्तन का ही आशिक परिवर्तन है, जो प्रयुक्त अलंकारस्व के लिए अपर्याप्त है और इसीलिए जिसे परवर्ती आचार्यों ने मान्यता नहीं दी।

उद्भट [७५०-८०० ई०]

उद्भट ने अपने काव्यालंकारसंग्रह में दण्डी की अपेक्षा भामह को अधिक महत्त्व दिया यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन से काम लिया। उन्होंने दण्डी और भामह दोनों के कुछ अलंकारों को अलंकार न मानते हुए अपनी ओर से भी कुछ अलंकारों की कल्पना की। उनके अनुसार अलंकारों का विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशीः, यमक तथा चित्र ४

(ख) भामह के—उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव २

(२) मान्य (क) दण्डी के—उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, बतिसंज्ञोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्ध्वस्वि, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, विलुप्त, अपहृति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना [विदर्शना नाम से], सहोक्ति, परिवृत्ति, संसृष्टि, तथा भाविक

३०

(ख) भामह के—अनुप्रास, उपमेयोपमा, सन्देह तथा अनन्वय

(३) स्वकल्पित (१) पुनरुक्तवदाभास (२) छेकानुप्रास (३) लाटानुप्रास

३१

(४) प्रतिवस्तूपमा (५) काव्यालम्ब (६) दृष्टान्त तथा (७) संकर।

इन स्वकल्पित अलंकारों में से उद्भट की अत्यन्त मीलिकृता केवल पुनरुक्तवदाभास में है। अनुप्रासों में लाटानुप्रास भामह ने अनुप्रास के अन्तर्गत मान लिया था, उद्भट ने उसे केवल स्वतन्त्र अलंकार के रूप में गिन दिया है। छेकानुप्रास उनकी भामह के ग्राम्यानुप्रास की कल्पना पर एक विरोधी कल्पना है। ग्राम्य के विरुद्ध छेक का अर्थ विदग्ध किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा को दण्डी उपमा के अन्तर्गत गिना चुके थे। काव्यालम्ब भी हेतु के दो भेदों में से एक का स्वतन्त्रोत्प्रेक्षण है, किन्तु यह अनुमान के अधिक समीप है। दृष्टान्त प्रतिवस्तूपमा की छाया पर एक स्वतन्त्र कल्पना है और संकर संसृष्टि की छाया पर तीनों अनुप्रासों को एक अनुप्रास के तीन भेद न मानकर तीन स्वतन्त्र अलंकार मानता हुआ उद्भट को इसलिए माना जाता है कि उन्होंने प्रत्येक अलंकार के भेद उस अलंकार के लक्षण के वाद दिए हैं, वर्ग के आरम्भ में सबके नाम की तालिका में नहीं। अनुप्रास के भेद नाम-तालिका में ही दे दिये हैं।

३१

इस प्रकार दण्डी से लेकर उद्भट के समय तक अलंकारों की संख्या ५० हो जाती

है।^१ इनमें वे दण्डी के ३७ अलंकारों में से केवल ३०, भामह के अलंकारों के स्वकल्पित ६ में से केवल ४ अपना कर केवल ३४ अलंकार प्राचीन आचार्यों से अपनाते हैं तथा ७ अलंकारों की कल्पना अपनी ओर से करते हैं। फलतः वे कुल ४१ अलंकार मानते हैं। वस्तुतः तीनों अनुप्रासों को एक अलंकार मान लेने पर उद्भट की मान्य अलंकारों की संख्या केवल ३९ रहती है।

वामन [८०० ई०]

उद्भट के समकालीन आचार्य वामन ने भी अपनी 'काव्यलङ्कारसूत्रवृत्ति' में भामह को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार अलंकारों का विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, रसवत्, प्रेय,
 १ ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, उदात्त, भाविक, भाषी, चित्र

(२) मान्य (क) दण्डी के—उपमा, समासोक्ति, अपस्तुनप्रशंसा, अपहृति, रूपक, इलेप, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थांतरग्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहिन, सप्तृष्टि तथा यमक।

(३) भामह के—सन्देश, अनन्वय, अनुप्रास तथा उपमेयोपमा।

(३) स्थकल्पित (१) वक्रोक्ति (२) व्याजोक्ति (३) प्रतिवस्तूपमा

इस प्रकार वामन तक अलंकारों की संख्या ५३ हो जाती है।^२ इसमें से वामन स्वयं २ अलंकारों की कल्पना करते हैं। वे ५ अलंकार भामह के तथा ३४ अलंकार दण्डी के अपनाते और इस प्रकार कुल मिलाकर ३९ अलंकार स्वीकार करते हैं।^३ अर्थ यह हुआ कि दण्डी ने वामन तक २१ अलंकार, विवादास्पद थे। यदि उद्भट की स्वकल्पित वक्रोक्ति और व्याजोक्ति को नवीन मानकर इन विवादास्पद अलंकारों में अभी न गिनें तो उनकी संख्या १९ बचती है।

उद्भट [८२५-८७५ ई०]

उद्भट और वामन के पश्चात् अलङ्कारचिन्तन में अधिक स्वस्थता और अधिक वैज्ञानिकता आई। चिन्तकों ने अलङ्कारों का वर्गीकरण सत्रातीयता तथा विजातीयता

१ डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने 'चित्र' को गणना छोड़ दी है अतः वे दण्डी से उद्भट तक अलङ्कारों की संख्या ४९ बतलाते हैं। द्रष्टव्य/डा० त्रिपाठी की काव्यालङ्कार सारसंग्रह की भूमिका पृ० २८-२९

२ प्रतिवस्तूपमा की कल्पना उद्भट ने की है, अतः वामन तक कुल अलंकारों की संख्या ५२ ही होती है, ५३ नहीं। यद्यपि डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने ५५ सहजा लिख दी है। देखिए—अलङ्कारमीमांसा पृ० १५५।

के आधार पर ठीक उसी प्रकार करना आरम्भ किया जिस प्रकार वैशेषिक सूत्रों में पदार्थों का वर्गीकरण महर्षि कणाद ने किया था। यिह वर्गीकरण सबसे पहले रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' में मिलता है।

रुद्रट ने अलङ्कारों को पहले तो 'शब्द' और 'अर्थ' के दो खण्डों में विभाजित किया, फिर अर्थालङ्कारों को (१) वास्तव (२) औपम्य (३) अतिशय तथा (४) श्लेष नामक चार वर्गों में।

इन दोनों खण्डों और वर्गों में रुद्रट ने ६२ अलङ्कारों का निरूपण किया। इनमें से रुद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के केवल २७ अलङ्कार ही लिए, शेष ३५ अलङ्कारों की कल्पना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में उन्होंने स्वयं की है। इनमें से ५ अलङ्कारों को एक ही नाम से दो-दो बार गिनाया अतः कुछ विद्वानों ने उनके द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या सत्तावन मानी है। इनका विवरण इस प्रकार है—

- (१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, आश्लीः, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, भाविक, पर्यायोक्त, समग्रहित, विशेषोक्ति, हेतु, संसृष्टि।
- (५) (ख) भामह के—उपमेयोपमा, अनन्वय, उपमासूक्त, उपप्रेक्षावयव।
- (ग) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यालिंग, संकर [पृथगलङ्कार के रूप में]
- (६) (घ) वामन की—वक्रोक्ति, व्याजोक्ति
- (२) मान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति [जाति नाम से], उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभाजना, समासोक्ति, उपप्रेक्षा, सूक्ष्म, लेश, क्रम [यथासंख्य नाम से], उदात्त [अवसर नाम से], अपहृति, श्लेष, विरोध, अप्रस्तुतप्रवृत्ता [अन्योक्ति नाम से], व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, यमक, चित्र
- (२५) (ख) भामह के—अनुप्रास, सन्देह [संशय नाम से]
- (१) (ग) उद्भट के—दृष्टान्त, [वामन से कुछ नहीं]

१. अतिशयोक्ति नाम से रुद्रट ने कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं माना। उसके प्रायः वे सभी भेद जो दण्डी ने माने थे रुद्रट ने अतिशय-वर्ग के अलङ्कारों में गिन लिए हैं।

२. रुद्रट ने संकर पर विचार किया है, किन्तु उनके प्रतिपादन से यह स्पष्ट नहीं है कि वे उसे पृथक् अलङ्कार मानते हैं।

३. रुद्रट ने वक्रोक्ति नामक एक अलङ्कार माना है, किन्तु वह स्वरूपतः वामन की वक्रोक्ति से भिन्न है।

- (३) म्यकल्पित १-२. समुच्चय, ३ भाव, ४ पर्याय, ५ विषय, ६ अनुमान, ७ परिकर, ८ परिसंख्या, ९ हेतु [नवीन], १० कारणमाला, ११ अन्योन्य, १२-१३. उत्तर, १४ सार, १५ मीलित, १६ एकावली, १७. मत, १८. प्रतीप, १९ उभयन्यास, २० आन्तिमान्, २१ प्रत्यनीक, २२-२३ पूर्व, २४ साम्य, २५ स्मरण, २६ विशेष, २७. तद्गुण, २८. पिहित, २९ असगति, ३० व्याघात, ३१. अहेतु, ३२. अधिक, ३३. वक्रोक्ति ३४ सहोक्ति, ३५. श्लेष [तीनों नवीन] ।

(35)

इस प्रकार रुद्रट ने अलङ्कारों की संख्या ६२ मानी है ।

इन सब अलङ्कारों का वर्गीकरण रुद्रट ने इस प्रकार से किया है—

[क] शब्दालङ्कार

१. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३ यमक, ४ श्लेष, ५ चित्र ।

[ख] अर्थालङ्कार

१. वान्तयवर्गं सहोक्ति, २. समुच्चय, ३. जाति [स्वभावोक्ति], ४. यथासंख्य, ५. भाव, ६ पर्याय, ७ विषय, ८ अनुमान, ९. दीपक, १० परिकर, ११ परिवृत्ति, १२ परिसंख्या, १३ हेतु, १४ कारणमाला, १५ व्यतिरेक, १६ अन्योन्य, १७ उत्तर, १८. सार, १९ सूक्ष्म, २०. क्लेश, २१. अवसर, २२ मीलित, २३ एकावली ।
२. औपम्यवर्गं १. उपमा, २ उत्प्रेक्षा, ३ रूपक, ४ अपहृति, ५. संघय, ६. समासोक्ति, ७. मत, ८ उत्तर, ९ अन्योक्ति, १० प्रतीप, ११. अर्थान्तरन्यास, १२. उभयन्यास, १३ आन्तिमान्, १४. आक्षेप, १५ प्रत्यनीक, १६. इष्टान्त, १७ पूर्व, १८. सहोक्ति, १९ समुच्चय, २० साम्य, २१ स्मरण ।
- ३ अतिशयवर्गं १ पूर्व, २ विशेष, ३. उत्प्रेक्षा, ४ विभावना, ५ तद्गुण, ६ अधिक, ७ विरोध, ८ विषय, ९. असगति, १०. पिहित, ११. व्याघात, १२ अहेतु ।
४. श्लेषवर्गं १ श्लेष

१ पोद्दार जी ने रुद्रट के अलङ्कारों की संख्या ५५ बतलाई है । वे अहेतु तथा वक्रोक्ति की गणना करना भूल गए हैं । इन्होंने रुद्रट में उदात्त का भी अभाव माना है, वस्तुतः रुद्रट ने इसे 'अवसर' नाम से अपना किया है । पोद्दार जी ने अवसर की गणना कर ली है । द्रष्टव्य स्व० कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' पृ० ९३

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, पूर्व, श्लेष तथा उत्तर इत पाँच की गणना दो-दो बार की है। उद्भट में अनुप्रासभेदों को स्वतंत्र अलङ्कार माना गया है, अतः रुद्रट के अनुसार अलंकारों की संख्या ६२ ही मानी जानी चाहिए।

उक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि अलङ्कारों की संख्या दण्डी से रुद्रट तक ८७ (सत्तासी) तक पहुँच जाती है।

रुद्रट का महत्व हमें तब विदित होता है जब हम भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' और मम्मट के काव्यप्रकाश पर ध्यान देते हैं।

भोज [१०००-१०२० ई०]

भोज ने अपने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में अलंकारों का विभाजन शब्दालङ्कार, अर्थात्-लङ्कार तथा उभयालङ्कार के रूप में किया। उन्होंने प्रत्येक वर्ग के २४, २४ अलङ्कार माने फलतः उनके अलङ्कारों की संख्या ७२ हो जाती है। विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, प्रेष, रसवृत्त, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, उदात्त, व्याजस्तुति, आशी;

(ख) भामह के—उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव, उपमेयोपमा (उपमा में), अनन्वय (उपमा में ही),

(ग) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, ऐकानुप्रास, लार्थानुप्रास, प्रतिवर्त्तूपमा (उपमा में), दृष्टान्त (उपमा में), संकुर (संसृष्टि में)

(घ) वामन के—वशोक्ति, व्याजोक्ति,

(ङ) रुद्रट के—अभयन्यास, प्रतीप (साम्य में), प्रत्यनीक, पूर्व, [दोनों]

(२) ग्रिहित, प्रत, त्रिपम, उपाधात, विशेष, स्मर, अधिक, अलंगति, प्रकाशली, कारुणमाला, हेतु, तद्गुण, परिसंख्या, सहोक्ति, (१), उत्तर (१), समुच्चय (१)

(२) मान्य (क) दण्डी के—यमक, श्लेष, चित्र, जाति, विभाजना, हेतु (काव्य-

लिग सहित), सूक्ष्म, विरोध, परिचरित, जिह्वाक्षा, व्यतिरेक (भिद नाम से), समाहित, रूपमा, रूपक, अपहृति, सम्रासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेख, सहोक्ति, व्याख्येय, अर्थानु-न्यास, विशेषोक्ति, दीप्ति, क्रम, वचिशयोक्ति, भाविक, संसृष्टि,

(ख) भामह के—अनुप्रास, सन्देह (संशय नाम से),

(ग) उद्भट का—काव्यलिग [हेतु में]

(घ) रुद्रट के—अहेतु, उत्तर (१), अन्यान्य, भ्रान्ति, भोक्ति, भाव,

(ङ) संसृष्टि [स्मरण], शब्दश्लेष, अनुमान, साम्य, समुच्चय, परिकर, पर्याय, वक्रोक्ति [वाकोवाच्य में]

(३) स्वकल्पित १. जाति (शब्दालङ्कार), २. गति, ३. रीति, ४. वृत्ति,

५ छाया, ६ मुद्रा, ७ उक्ति, = युक्ति, ९ भणिति, १० गुम्फना,
११ शय्या, १२ पठिति, १३ वाकोवाक्य, १४ प्रहेलिका,
१५ गूढ, १६ प्रबनोत्तर, १७ अध्येय, १८ श्रव्य, १९ प्रेक्ष्य,
२० अभिनीति, २१ सभव, २२ वितर्क, २३ प्रत्यक्ष, २४ आगम,
२५ उपमान, २६ अर्थापत्ति, २७ अभाव, २८ समाधि ।

इन अलङ्कारों का वर्गीकरण शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थयुग्म दोनों के तीन वर्गों में भोजराज ने इस प्रकार किया है—

(१) शब्दवर्ग जाति, गति, रीति वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रबनोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति ।

(२) अर्थवर्ग जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सभव, अम्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव ।

(३) उभयवर्ग उपमा, रूपक, साम्य, सशय, अपहृति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेखं, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विद्येयोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, समृष्टि ।

इनमें जाति और श्लेष दो-दो बार आए हैं । इनमें से श्लेष तो दो रूपों में छद्म ने भी माना था, जाति का अर्थान्तरगत रूप स्वभावोक्ति में अभिन्न है । इस प्रकार केवल शब्दजाति की कल्पना भोज की अभिव्यक्त कल्पना उद्हरती है ।

इस प्रकार भोजराज तक अलङ्कारों की संख्या ११५ हो जाती है अर्थात् ८७ प्राचीन तथा २८ भोज के स्वोपज्ञ नवीन । इनमें से भोज ने दण्डी के परचात् छद्म से ही सबसे अधिक आपूर्ति की है । छद्म के काव्यालंकार से भोज ने १६ उदाहरणपद्य भी लिए हैं ।

१. (१) सरस्वतीकृष्णभरण उदाहरण २।८, काव्यालंकार उदाहरण ४।१९,
(२) स. क. उ. ३।६६, का. ७।५५, (३) स. क. उ. ३।१५२, का. ७।५७,
(४) स. क. उ. ३।१५१, का. ७।६०, (५) स. क. उ. ३।९३, का. ७।८७,
(६) स. क. उ. ३।५७, का. ७।९७, (७) स. क. उ. ४।२०४, का. ७।११०,
(८) स. क. उ. ४।९, का. ८।६, (९) स. क. उ. ४।१, का. ८।१८,
(१०) स. क. उ. ४।४, का. ८।२०, (११) स. क. उ. ४।१७, का. ८।३०,
(१२) स. क. उ. ४।१८, का. ८।३१, (१३) स. क. उ. ४।३०, का. ८।५०,
(१४) स. क. उ. ४।१८, का. ८।७८, (१५) स. क. उ. ४।६३, का. ८।१०८,
(१६) स. क. उ. १।५९, का. १।११३.

यद्यपि भोजराज का अलंकारविशेष अपने आप में एक विशाल विषय है तथापि उनकी स्थापनाएं अपनी मीलिकता में इतनी स्पष्ट हैं कि विचार केवल उनके द्वारा अमान्य अलंकारों के अन्तर्भाव या सर्वथा प्रत्याख्यान के अनुसंधान में करना होता है। हमने यहां जो विवरण दिया है उससे इस अनुसंधान में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

मम्मट [१०५०-११०० ई०]

मम्मट ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से मधुकरो ली और काव्यप्रकाश में उन सबका समन्वय करना चाहा। यद्यपि यह भी सत्य है कि मम्मट अलङ्कारचिन्तन में उतनी व्यवस्था नहीं ला सके हैं जितनी व्यवस्था वे रस, ध्वनि और दोषों के चिन्तन में लाते दिखाई देते हैं। अलंकारों में वे लड़खड़ाते दिखाई देते हैं, विशेषतः अर्थालंकारों में। इसका कारण उनका धार्ढ्य या अस्वास्थ्य हो सकता है। यह तो प्रसिद्ध है कि वे 'परिकरालंकार' के आगे अर्थालंकारों का विवेचन नहीं कर पाए थे। अवशिष्ट अंश की पूर्ति किसी अलक, अलट या अललट ने की है।

मम्मट ने अलंकारों को भोज की ही नाई शब्द, अर्थ और दोनों के तीन वर्गों में विभक्त किया। विवरण—

१. अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, आशीः, प्रेय, ऊर्जस्वि, रसवत्, हेतु, लेश,
- (ख) भामह के—उपमालङ्कार [भोज द्वारा लघ्वित], उत्प्रेक्षासूचक [भोज द्वारा लघ्वित]
- (ग) उद्भट के—छेकानुप्रास, लाटानुप्रास [पृथक् अलंकार के रूप में]
- (घ) वामन—बन्धोक्ति
- (ङ) रुद्रट के—भाज, हेतु, मत, उभयन्यास [भोज द्वारा लघ्वित], प्रवृत्ति [दोनों भेद अतिशयोक्ति में], साम्य, अहेतु, सहोक्ति (१) समुच्चय (१) [दीपक में]
- (च) भोज के—जाति [शब्दगत], गति, रीति, वृत्ति, छम्पा, मुद्रा, स्फुटि, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, चाक्रोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति, संभव, वितर्क, प्रत्यक्ष, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, समाधि (१)

१. इस पर सागरिका ९१२ में देखिए हमारा—'मम्मटाभिमतं लक्षणतयाः पङ्क्तिधत्वं हेत्वलंकारश्च' लेख, इसमें हमने बतलाया है कि हेत्वलंकार और काव्यालंकार में से हेतु ही अलंकार है तथा काव्यालंकार ही अलंकार नहीं है।

२. मम्मट ने जिसे समाधि कहा है वह भोज के अनुसार समाहित है। भोज की समाधि मम्मट के सामान्य से मिलती है।

२. मान्य (क) ढण्डी के—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तर-
न्यय, व्यतिरेक, विभाषणा, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा,
सूत्र्य, यथासंख्य, पर्यायोक्त, समाह्वय [समाधि नाम से], उदात्त,
अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा,
व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति परिवृत्ति, भाविक, संसृष्टि,
यमक, चित्र ।
- (ख) भामह के—अनुप्रास [किन्तु उद्भट के ढंग पर], अनन्वय,
उपमेयोपमा, सन्देह ।
- (ग) उद्भट के—[छेकानुप्रास किन्तु अपृथक्] पुनरुक्तवदाभास, प्रति-
वस्तूपमा, काव्यालिंग, दृष्टान्त, संकर ।
- (घ) वामन की—व्याजोक्ति ।
- (ङ) रुद्र के—वक्रोक्ति, श्लेष [शब्दगत], समुच्चय, पर्याय, विषय,
अनुमान, प्रतिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर [दोनो],
सार, मौलिक, एकावली, प्रतीप, भ्रान्तिमान, प्रत्यनीक, स्मरण,
विशेष, तद्गुण, पिहित [सामान्य नाम से], असंगति,
व्याघात, अधिक ।
- (च) भोज का—मालादीपक [दीपक से अलग कर]

३ स्वकारूपत १. विनोक्ति (२) सम (३) अतद्गुण ।

इस प्रकार मम्मट एक अलंकारो की संख्या ११८ हो जाती है अर्थात् ११५ भोज
तक के तथा ३ स्वयं मम्मट के । इनमे से मम्मट ने केवल ११५ अलंकारो को अलंकाररूप
मे स्वीकार किया, शेष ५० को नहीं ।

मानिक तथ्य यह है कि मम्मट ने भोज को सर्वथा अमान्य कर दिया, जबकि रुद्र
से उन्होंने २४ अलंकार अपनाए । इन २४ अलंकारो का अनुक्रम भी प्रायः वही है
जो रुद्र में पाया जाता है । अनेक उदाहरण भी उन्होंने ज्यो के त्यों अपना लिए हैं ।
शब्दश्लेष तो रुद्र की पूर्ण प्रतिरूपि है ।

स्पष्ट ही मम्मट ने ढण्डी और रुद्र को अधिक महत्त्व दिया और उनके अलंकारों
को विपुत्र भाषो मे अपनाया । बीच के आचार्यों से भी उन्होंने ग्राह्य विच्छित्तियों का
ध्यान किया । किन्तु यहाँ यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि मम्मट ने जो

१ अतद्गुण नाम से एक भेद भोज ने भी प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे उन्होंने
मौलिक के अन्तर्गत गिना है और उसका जो उदाहरण दिया है वह मम्मट के अतद्गुण से
सदैव भिन्न है ।

अलंकार दण्डी से लिए हैं उनके लक्षणरूपी उस जल को उन्होंने अपने प्रतिभा पट से छान कर अपनाया है, जिसे भामह और उद्भट अपनी वृद्धिचालनी से छान चुके थे।

मम्मट ने इन अलंकारों को निम्नलिखित वर्गों में निम्नलिखित क्रम से विभक्त किया—

१. शब्दालंकारवर्ग चक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास।
२. अर्थालंकारवर्ग उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक, अपहृति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिबन्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषय, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, संकर।

३. उभयालंकार पुनरुक्तवदाभास^३

मम्मट के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि उन्होंने रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन वर्गों और उनके उक्त क्रम को महत्त्व नहीं दिया। केवल सादृश्यमूलक अलंकारों को भी एक साथ नहीं गिनाया। उनमें गिने जाने योग्य स्मरण और भ्रान्तिमान् को उल्लास समाप्त करते-करते याद किया। यदि उन्होंने परिकर तक ही दशम उल्लास का निर्माण किया हो, तब भी सादृश्यमूलक अलंकारों के बाद वे १८ अलंकारों का निबन्धन करने का अवसर पाए हुए हैं। इतना अवसर स्मरण को स्मरण करने और भ्रान्तिमान् के प्रति भ्रान्तिमान् बनने के लिए पर्याप्त था। सादृश्यमूलक अलंकारों में मम्मट ने सादृश्येतर-सम्बन्धमूलक विच्छित्तियों को मिश्रित कर दिया, इसलिए अतिशयोक्ति में कार्यकारणभाव के पूर्वोपर्यं के विपर्यय से होने वाली अतिशयोक्ति को भी गिन लिया और प्रस्तुतान्यता तथा यथार्थोक्ति से होने वाली अतिशयोक्ति को भी। रुद्रट ने पूर्वनाम के दो अलंकार मानकर इस दिशा में सावधानी बरती थी, परन्तु मम्मट को

१. यद्यपि कहीं-कहीं मम्मट की वृद्धि चालनी सिद्ध हुई है और भामह तथा उद्भट की प्रतिभा-ही पट।

२. मम्मट ने रुद्रट और भोज की यह स्थापना स्वीकार की है कि अन्य अलंकार भी उभयालंकार हो सकते हैं। उनमें इन्हें उभयालंकारों में यह कहकर नहीं गिनाया कि प्राचीन आचार्यों [भामह, उद्भट] ने वैसा नहीं किया है।

दोनों अतिशय अभिन्न ही समझ में आए, गोष्ठन और वनस्पति में उन्हें कोई फरक नहीं लगा ।^१

रुच्यक [११००-११५० ई०]

रुच्यक या रुचक को यह और ऐसी ही अन्य कमियाँ खटकी। इनके परिहार के लिए उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के सूत्रों का 'अलंकारसूत्र' नाम से निर्माण किया। इनमें उन्होंने अलंकारों को उनकी सजातीयता के आधार पर यथाशक्य वर्गीकृत किया। पहले उन्होंने मम्मट के ही अनुसार अलंकारों को मुख्यतः शब्द और अर्थ के दो भागों में बाँटा, फिर उनमें से प्रत्येक भाग के अलंकारों का वर्गीकरण किया। दण्डी से मम्मट तक ११० अलंकारों में से रुच्यक ने ७५ अलंकार अपनाए और ७ अलंकारों की कल्पना अपनी ओर से की। इनका विवरण यह है—

- (१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति हेतु, ऐश, भाषा; ।
 (ख) भामह के—उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक ।
 (ग) वामन की—वनोक्ति ।
 (घ) भोज के—अर्थापत्ति और समाहित को छोड़कर दोष २५ छो।
 (ङ) रुद्रट के—भार्व, हेतु, मत्त, उभयप्रास, पुञ्ज [दोनो], अहेतु, सहोक्ति (१), उत्तर (३) समुच्चय (१) अर्थश्लेष
- (२) मान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, अश्लेष, अर्थांतर-प्रास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति (१), अतिप्रयोक्ति (२), उत्प्रेक्षा, मूक्य, पुञ्ज (यथासंख्य), रसवैत, प्रेय, ऊर्जस्वी, समग्रहित (समाधि), पर्यायान्त, उदात्त, अपहृष्टि, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिकृति, संसृष्टि, भाविक, यमक, चित्र ।
 (ख) भामह के—अनुप्रास, उपमेयोपमा, अनन्वय, सदेह ।
 (ग) रुद्रट के—पुनस्तवदाभास, द्वैकानुप्रास, स्यादनुप्रास, प्रति-
 वस्तूपमा, काव्याङ्ग, दृष्टान्त, सकृत् ।
 (घ) वामन की—व्याजोक्ति ।
 (ङ) रुद्रट के—समुच्चय, पर्याय, विपण, अनुमान, परिक्रम, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार/भोलिख, एकावधि, प्रतीप, अन्तिमान्, प्रत्यनीक, स्मरण, क्रोध, तद्गुण, पिहित [सामान्य], असंगत, व्याघात, अधिक, वनोक्ति ।

१. हम यहाँ मम्मट के केवल उन्ही दोषों का उल्लेख कर रहे हैं जिनका परिहार अलंकारसर्वस्वकार ने कर दिया है।

① (च) भोज की—अर्थापत्ति ✓

⑤ (छ) मम्मट के—विनोक्ति, समू, अतद्गुण, मालादीपक, समाहित
[भावशान्त्यङ्गतात्मक] ।

(३) स्वकल्पित १. परिणाम, २. उल्लेख, ३. विचित्र, ४. विकल्प, ५. भावोदय,
⑦ ६. भावसन्धि, ७. भावशबलता ।

इस प्रकार स्य्यक तक अलंकारों की संख्या १२५ हो जाती है । इनमें से ४३ अलंकार छोड़कर शेष ८२ अलंकार स्य्यक ने स्वीकार किए । इनमें से छट्ट के पूर्व-नामक अलंकार को यदि अतिशयोक्ति में गिन लें, जो उचित है, तो कुल अलंकारों की संख्या १२४ रहेगी और यदि स्य्यक की दोनों अतिशयोक्तियों को मम्मट के समान एक अलंकार मान लिया जाए तो स्य्यक के द्वारा स्वीकृत अलंकारों की संख्या ८१ रह जाएगी । इनमें यदि भावोदय आदि तीन अलंकारों को घटा दिया जाए तो स्य्यक द्वारा सूचित अलंकारों की संख्या ७८ रहेगी ।

वस्तुतः स्य्यक को भी भावोदय आदि अलंकार रूप से अभीष्ट नहीं हैं । अतएव उनके लक्षण स्य्यक ने नहीं दिए और उन्हें 'पृथगलंकार' कहा अर्थात् इनमें अलंकाररत्न रहता अवश्य है, किन्तु वह और ही ढंग का अलंकाररत्न रहता है । वस्तुतः रसवत्, प्रेम, ऊर्जस्वी और समाहित को भी स्य्यक अलंकार रूप से मानते प्रतीत नहीं होते । हमें लगता है कि अन्त अन्त में जो ८३ और ८४ सूत्र आए हैं उन्हें इस प्रकार पढ़ना चाहिए—

[सू० ८३] रसभावतदाभासुत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेयलर्जस्विसमाहितानि,
भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च ॥

[सू० ८४] एते पृथगलंकाराः ॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुनरुक्तवदाभास से उदात्त तक जो अलंकार बतलाए गए वे ऐसे अलंकार थे जो अपने आपमें परिपूर्ण थे । आये जो संसृष्टि और संकर आने वाले हैं वे ऐसे न होकर अन्यसापेक्ष हैं, अर्थात् उनका स्वरूप अपने आप में कुछ नहीं है । वे जो कुछ हैं अन्य अलंकारों की चिन्धियों के जोड़ से बनी कपड़ी हैं । सूत्रों का जो पाठ काशी और त्रिवेन्द्रम् के संस्करणों में मिलता है उसमें 'एते' शब्द है भी । निर्णय-सागर, मोतीलाल तथा मेहरचन्द वाले संस्करणों में इसे किसी कारण छोड़ दिया गया है । हमारी भी दृष्टि इस ओर अब जाकर गई है ।

इस प्रकार के सूत्रपाठ से स्पष्ट होगा कि स्य्यक ने रसवत् से लेकर भावशबलता तक के ७ अलंकारों को अलंकार रूप से प्रसिद्धि के कारण गिना भर दिया है, उन्हें वे उपमा आदि जैसे अलंकार मानने को तैयार नहीं हैं । वृत्तिकार की बुद्धि पर आश्चर्य होता है कि वे ग्रन्थारम्भ की भूमिका में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को पृथक् कर केवल चित्रकाव्य के लिए सूत्रों का निर्माण बतलाते हैं और अन्त में रसवदादि को भी अलंकार मान बैठते हैं । ये भी सब गुणीभूतव्यंग्य ही हैं । अवश्य ही सूत्रकार से वृत्तिकार भिन्न हैं ।

इस प्रकार वस्तुतः रय्यक के मत में ७५ अलंकार ही अलंकार रूप में मान्य हैं । उनमें से वे ७१ प्राचीन आचार्यों से लेते और ४ अपनी ओर से उपस्थित करते हैं ।

सूत्रकार रय्यक ने इन अलंकारों को जिन (सण्डों) वर्गों और अनुच्छेदों में विभाजित किया है उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है—

१. शुद्ध खण्ड

वर्ग (१) अर्थालंकारवर्ग या पौनरुक्त्यवर्ग -

पौनरुक्त्यविच्छिन्ति (१) अर्थपौनरुक्त्य	पुनरुक्त्यवदाभास
(२) व्यञ्जन पौनरुक्त्य	छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास
(३) स्वरव्यञ्जनसमुदायपी०	यमक
(४) वन्दार्थोभयपीन०	छादानुप्रास
(५) स्मानविशेषश्लिष्टवर्णपीन०	चित्र

वर्ग (२) अर्थालंकारवर्ग

(१) सादृश्यविच्छिन्ति	
(क) भेदाभेदतुल्यतामूलक	उपमा, अनन्वय, उपमे-
(ख) अभेदप्राधान्यमूलक	योपमा, स्मरण
(ग) आरोपाश्रित	रूपक, परिणाम, सन्देह,
(घ) अध्यवसायाश्रित	भ्रान्तिमान, उल्लेख, अपह्नुनि
(ङ) गम्योपम्यमूलक	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति (१)
(च) भेदप्राधान्यमूलक	तुल्ययोगिता, दीपक, प्रति-
(२) विशेषणविच्छिन्ति	वस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना
(क) केवल विशेषणविच्छिन्ति	व्यतिरेक, सहोक्ति
(ख) सविशेष्य विशेषणविच्छिन्ति	
(३) गम्यार्थताविच्छिन्ति	समासोक्ति, परिकर
(४) विरोधविच्छिन्ति	श्लेष
(क) शुद्धविरोध	पर्यायोक्त, व्याजस्तुति,
(ख) कार्यकारणभावाश्रित	वाक्षेप
विरोधमूलक	
	विरोध
	विभावना, अतिशयोक्ति(२)
	असंगति, विषम, विचित्र,
	व्याघात

(ग) आश्रयाश्रयित्वमू०	अधिक, विशेष
(घ) व्यतिहारमूलक	अन्योन्य
(५) शृङ्खलाविच्छिन्ति	कारणमाला, एकावली, मालदीपक, सार
(६) न्यायविच्छिन्ति	काव्यलिङ्ग, अनुमान यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, त्वापिति, विकल्प समुच्चय, सभाधि प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर
(क) तर्कन्यायमूलक	
(ख) वाक्यन्यायमूलक	
(ग) लोकन्यायमूलक	
(७) गूढार्थपरताविच्छिन्ति	
(क) शुद्ध	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति
(ख) स्फुटार्थता	भाविक
(ग) उदात्तता	उदात्त
(घ) चित्तवृत्त्याश्रित	रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समा- हित, भावोदय, भावसन्धि, भावस्रवलता

२. मिश्र खण्ड

(१) संसृष्टि	(क) शब्दालंकार संसृष्टि
	(ख) अर्थालंकार संसृष्टि
	(ग) उभयालंकार संसृष्टि
(२) संकर.	

शेष पाँच में चार अलंकारों को वृत्तिकार ने इनमें से कुछ अलंकारों के वैपरीत्य के आधार पर तत् तत् संदर्भों में प्रस्तुत बतलाया है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) वक्रोक्ति	सहोक्ति—विपरीत
(२) अप्रस्तुतप्रशंसा	समासोक्ति—विपरीत
(३) विशेषोक्ति	विभावना—विपरीत
(४) सम	विषम—विपरीत

शेष वचता है अर्थान्तरन्यास। इसको अप्रस्तुतप्रशंसा के संदर्भ में रखने का कारण वृत्तिकार ने सामान्यविशेषभाव और उस पर आश्रित समर्थ्यसमर्थकभाव माना है।

इस प्रकार ख्यक ने अलंकारों का विभाजन केवल दो खण्डों में किया (१) शब्द खण्ड और (२) अर्थ खण्ड। उन्होंने शब्दार्थोभय-खण्ड की कल्पना को उन्मेष तो

दिया है परन्तु उसे मम्मट के ही समान अंकुरमात्रता तक सीमित रखा है, भोज के समान पल्लवित नहीं किया।

ऐसा लगता है कि—

जिन पत्रिकाओं पर अलंकार सूत्र लिखे गये थे उनमें से तुल्ययोगिता से लेकर निदर्शना तक की पत्रिका व्यतिरेक और सहोक्ति की पत्रिका के पहले रख दी गई। अन्यथा अभेदप्राधान्य के बाद भेदप्राधान्य को स्थान दिए बिना गम्योपम्य को स्थान न दिया जाता।

उक्त वर्गीकरण में समासोक्ति, प्रतीप, सामान्य और मीलित भी सादृश्यमूलक अलंकार हैं जिन्हें गम्योपम्य में गिना जा सकता था, परन्तु समासोक्ति को परिकर और श्लेष के साथ गिन दिया गया है, जिनमें श्लेष तो सादृश्यमूलक माना जा सकता है परन्तु परिकर नहीं। विकल्पालकार भी सादृश्य की विच्छिन्न अपने गर्भ में छिपाए है। अतिशयोक्ति के समान अप्रस्तुतप्रकाशा को दो भागों में विभक्त कर उसके सादृश्यमूलक भेद को भी रथ्यकाचार्य पृषक् रख सकते थे, अन्योक्ति नाम से, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने किया था, परन्तु उन्होंने उस पर कृपा नहीं की।^१

३

अलंकारतत्त्व

भारतीय चिन्तन ने काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाले जिन तत्त्वों का अनुसन्धान किया, संस्कृत के काव्यशास्त्र ने उनके नामकरण का अताबिदयो व्यापी एक रोचक इतिहास प्रस्तुत किया है। यह इतिहास वैज्ञानिक भी है।

‘चित्र निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धे प्रथमावतारम्।’

कहने वाले अभिनवगुप्त ने साक्षात्कार की मानस प्रक्रिया में वस्तु के प्रथम प्रतिबिम्ब को जो पार्श्ववर्ती अन्य पदार्थों के प्रतिबिम्बों से अस्पष्ट और ‘स्व’-भाव सीमित किन्तु परिपूर्ण या समग्र माना था, उसका ठीक उदाहरण हमारा उपर्युक्त काव्य-चिन्तन है। हमने सबसे पहले भरतमुनि के शब्दों में कहा ‘रस काव्यार्थ’। काव्य की मूलभूत वस्तु रस है। दूसरे शब्दों में काव्य ऐसी वस्तुओं को प्रस्तुत करता है जिनमें हमारा

१ अलंकारों के वर्गीकरण पर द्रष्टव्य ग्रन्थ—पं० मधुसूदनजी का ‘साहित्य-शास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन’ पृ० १२५-२८, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी की ‘अलंकारमीमांसा’ पृ० १८०-१६, श्रीकन्हैयालालपोद्दारकृत ‘संस्कृतसाहित्य का इतिहास’ भाग २, पृ० १०३, पं० पुरयोत्तमशर्मा अनुबेदी का ‘अलंकारों का प्रामिक विकास’ पृ० १०९-११६। इन सबमें महत्त्व रथ्यकसूत्रों को ही दिया गया है।

चित्त रमता है, जो हमें प्रिय हैं और उनके द्वारा वह हमारे संवेदन को जगा देता है। हम हमारी प्रिय वस्तुओं का मानस और अभीतिक संभोग करने लगते हैं। कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन भी रस की बात करते हैं, किन्तु उनका रस काव्यरस से भिन्न है। उनका रस रति-परिणति में प्राप्त होने वाली वेदनामुक्ति है, जिसका अधिकांश परित्यागात्मक है। काव्यरस परिणति नहीं, उसके पहले की चर्चणा है। ताम्बूलवीटिका रसिक के मुख में छिपी बैठी रहती और किसी रस को सृष्टि करती रहती है। ऐसा नहीं कि उसका रस उसकी परिसमाप्ति की प्रतीक्षा करता हो। वस्तुप्रतिबिम्ब हमारी चेतना पर अंकित होता और बिम्बगत असाधारण्य से मुक्त हो वह हमारे लिए एकमात्र प्रयोज्य ही बनकर उपस्थित होता है। इस प्रयोज्यविषयी प्रतियोग्य-धन के सुदीर्घ अंकन को काव्य प्रस्तुत करता और हमें इन प्रतिबिम्बों को गोपिकाओं से रास करते रहने का उत्तम अवसर देता है। वस, इसी रास-रस के कारण वह अकाव्य से भिन्न है।

यह रस अपने भीतर उन भावों को भी समेटे रहता है जिन्हें लोक में रति, शोक, हास आदि कहा जाता है। अन्य समस्त सामग्री में इन भावों की सामग्री वरिष्ठ और श्रेष्ठ होती है। बाद में रसशब्द केवल इसी सामग्री तक सीमित हो जाता है।

सौन्दर्यवाद—वामन 'रस'-शब्द को छोड़ते और 'सौन्दर्य'-शब्द को अपनाते हैं। वे काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाले तत्त्व को 'सौन्दर्य' की संज्ञा देते हैं। अवश्य ही सौन्दर्य रसकी अपेक्षा एक व्यापक संज्ञा है। सौन्दर्य प्रमातृसापेक्ष होने की अपेक्षा प्रमेयसापेक्ष अधिक है। रस इसके विपरीत प्रमातृसापेक्ष अधिक था। इस प्रकार रसवाद के प्रमातृत्व से काव्यचिन्तन की धारा सौन्दर्य तक आते-आते प्रमेय-त्व की ओर अधिक झुक गई। फलतः कला के 'स्व' की सीमांसा ने जोर पकड़ा और उसका प्रहीनृपक्ष दुर्बल हो गया। इस प्रकार रस और सौन्दर्य दोनों की उपलब्धियाँ एकाङ्गी रहीं।

चारुत्ववाद—आनन्दवर्धन ने रस और सौन्दर्य दोनों की अन्विति और उसके लिए एक मध्यम मार्ग की खोज की। उन्होंने 'चारुत्व' को स्वीकार किया। चारुत्व प्रमातृपक्ष और प्रमेयपक्ष के मध्य का बिन्दु है। वह जिसना व्यक्तिसापेक्ष है उतना ही वस्तुसापेक्ष भी। न वह मायावाद है, न भूतवाद। वह परमशिववाद है। उसमें जितना सत्य शिव है उतना ही यह संसारात्मक भैरव भी। दोनों एक ही हैं। चाहे इस छोर से देखा जाए चाहे उस छोर से। तथ्य एक ही है। 'चारुत्व' की इस समन्वय भूमिका में कला के 'स्व' का भी महत्त्व रक्षित था और प्रमाता के संवेदन का भी। इसमें रस की रक्षा भी थी और सौन्दर्य की भी। इसे कहा जाए तो 'सौन्दर्य-रस' या 'स्वसंवेदन' कहा जा सकता है।

आनन्दवर्धन तक आते-आते काव्यरूपी पुष्पवीचिका के विषय में यह स्थिर हो गया कि उसका सर्वस्व चारुत्वरूपी 'शौरभ' है। अब केवल पुष्पों की गवेषणा शेष रह गई।

यह भी कोई नई बात न थी। यह भी भरतमुनि से ही होनी आ रही थी। परन्तु आचार्यों ने उसी पर कुछ नए परिवेष में विचार किया।

अलङ्कार—भरतमुनि ने अनुभविता को प्रभावित करने वाले तत्त्वों के रूप में लक्षण और अलङ्कारों के नाम से पुकारी जाने वाली कुछ विनोपताओं की खोज की। इन विनोपताओं में अलङ्कारों को अधिक महत्त्व दिया गया। दण्डी और भामह ने इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन किया। उन्होंने अलङ्कारों की अनेक विच्छित्तियों की खोज। अलङ्कारों के ही साथ इन आचार्यों ने गुणनामक तत्त्व की भी खोज की और कुछ काव्यशैलियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। वामन ने इन शैलियों को सर्वाधिक महत्त्व दिया और इन्हें 'रीति' के नाम से पुकारकर काव्यात्मा स्वीकार किया। वामन ने दो कार्य और किए। एक तो गुणों को रीतिगत विशेष धर्म स्वीकार किया और दूसरे अलङ्कार शब्दा की शाल्यचिकित्सा वैशेष्य ही की जैसे परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अर्थ'संज्ञा की। आनन्दवर्धन ने काव्यगत अर्थ को वाच्य और प्रतीयमान नामक दो भागों में विभक्त माना। वामन ने भी अलङ्कार तत्त्व को सौन्दर्य और उपमा आदि की विच्छित्ति के रूप में प्रविभक्त करवाया। इन दोनों भागों में भी वामन ने 'सौन्दर्य' भाग को प्रधान माना। यस्तुतः इन्हें दो भाग न कहकर व्यङ्ग्य और व्यञ्जक कहना चाहिए और मानना चाहिए कि आनन्दवर्धन को व्यञ्जना की प्रेरणा वामन से ही मिली। वामन भी वैयकरण थे ही।

सौन्दर्य की इस व्याप्ति और भीमा को वामन के समकालीन आचार्य उद्भट ने नहीं पहचाना। उन्होंने केवल विच्छित्तिपक्ष की महत्त्व दिया और काव्यालङ्कारसारसंग्रह नामक ग्रन्थ में रूपक आदि के रूप में ही अलङ्कार को स्वीकार किया।

ध्वनि—आनन्दवर्धन ने इन दोनों धाराओं में उद्भट की धारा को अतीव स्थूल और अकिञ्चन धोपित किया। वामन की सौन्दर्य-धारा को स्वीकार करके भी उन्होंने उसके लिए उपादान के रूप में विविध प्रकार की सामग्री उपस्थित की। व्यञ्जना की विद्युच्छक्ति का आशय है उन्होंने एक नवीन लोक की ही सृष्टि कर डाली, जिसमें न रूपक आदि अलङ्कारों का ही महत्त्व था, न गुणों का और न रीति या वृत्ति का। उसमें महत्त्व केवल चारुवनिपत्ति का था और या उसके लिए अपेक्षित उन सम्पूर्ण काव्य-घटकों का जो, गुण और अलङ्कार, रीति और वृत्ति भी थे और उनसे परे भी। आनन्दवर्धन ने गुण आदि से परे व्यङ्ग्यनामक एक प्रतीयमान अर्थ का अन्वेषण किया और प्रधानता के आधार पर उसे ध्वनिसंज्ञा देकाव्यात्मा स्वीकार किया। उन्होंने अलङ्कारादि को वाग्विरूप कहा और उन्हें गुणीभूतव्यङ्ग्यनामक वाच्यभेद के अन्तर्गत अन्नभूत माना। अलङ्कारों को आनन्दवर्धन ने बहुत ही उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखा। अभिनवगुप्त और मम्मट ने आनन्दवर्धन के इस पक्ष को तूट दिया और उन्हें काव्यत्व की निष्पत्ति के लिए वैकल्पिक महत्त्व का तत्त्व स्वीकार किया। इन आचार्यों ने अलङ्कार के साथ

ही अलंकारों की भी कल्पना की और अलंकारों के रूप में रस आदि को ही स्वीकार किया इनने यह भी स्वीकार किया कि अलंकार कभी-कभी रसविरोधी भी बन बैठता है ।

वक्रोक्ति—इसी बीच एक और समर्थ आचार्य हुए—कुन्तक । इनने अलंकार पक्ष को व्यापक परिवेप में देखा और उसे वक्रोक्ति के अतीव विस्तृत क्षेत्र तक फैलाया । इस भंगिमा में उन्होंने ध्वनि, अलंकार, मुणों और रीतियों को वैसे ही समाविष्ट माना जैसे महोर्वध में भिन्न तरंगों को अथवा मधुमास में पुष्पों को समाविष्ट माना जाता है । इस चिन्तन ने काव्य की उन अनेक विधाओं को भी अपनाने का अवसर दे दिया जो अन्य चिन्तनों में अपनाई नहीं गई थीं । कथन के उस प्रत्येक प्रकार को इस भाग ने अपने परिवेप में समेटा जिससे चमत्कार का अनुभव होता था और उक्ति में विच्छिन्ति आती थी । वक्रोक्ति अपने आपमें एक अलंकार ही है ।

इस विवरण से स्पष्ट है कि उपादानमीमांसा में भी अलंकार को अधिक आचार्यों ने महत्त्व दिया । उसके ऊपर काव्यात्ममीमांसा में तो सौन्दर्य के रूप में अलंकार को स्थान मिल ही चुका था । इस प्रकार काव्यशास्त्र के चुनावी मैदान में जीत किसी की भी हो परन्तु इतना निश्चित है कि चिन्तन का वास्तविक बहुमत 'अलंकार'-तत्त्व पर अधिक टिका था ।

अलंकारशब्द को रूढ़ि से बाहर निकालकर और केवल उपमा-रूपक आदि तक निरवृत्त न मानकर यदि अपने विराट् रूप में देखा जाए तो लगेगा कि शबेयकों के अन्तर्मन में उसके प्रति जो एक समादर छिपा हुआ है, वह तथ्याधित और आदरणीय है ।

वस्तुतः जो अतिशय तत्त्व है वही 'अलं'-तत्त्व है । अतिशय-शब्दवाकारबृहत्त्व का अभिलापक न होकर 'विशेषता' का अभिलापक है । सामान्य को विशिष्ट बनानेवाला तत्त्व ही 'अतिशय'-तत्त्व है । जो वाङ्मय लोक-साधारण और वक्तव्यमात्र तक, सूचनामात्र तक सीमित रहता है वही अतिशय के आते ही रसनीयता, आस्वाद्यता और स्पृहणीयता तक पहुंच जाता है । रसनीयता, आस्वाद्यता या स्पृहणीयता ही हैं वे 'विशेष' जिनसे उक्ति में काव्यत्व का आधान होता है । इस प्रकार अतिशय तत्त्व या विशेष तत्त्व काव्यत्व के उत्स हैं और ये ही हैं 'अलं'-तत्त्व । अलंभाव या 'अलंत्व' ही है अलंकार । हम इसे संक्षिप्त के विस्तार और विस्तृत के संक्षेप में देख सकते हैं । वीज का शतशत शाखाओं वाले वृक्ष के रूप में परिणत होना यदि उसका अलंभाव है तो विशाल वनश्री का फोटू या चित्र में प्रतिबिम्बनद्वारा संक्षेपीकरण भी अलंभाव है । अतिशय दोनों में है । [द्र० हमारा लेख साहित्यतत्त्वविमर्शः]

इस प्रकार के अलंभाव को अलंकार मानकर क्या हम उसे काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व नहीं कह सकते ?

जहाँ तक उपमा-रूपक आदि विच्छिन्तियों का सम्बन्ध है और सम्बन्ध है तदितर समस्त काव्यरवाधायक तत्त्वों का वे इस 'अतिशय'-तत्त्व-रूपी परिमल के लिए

विविध पुष्प माने जा सकते हैं। वाक्य में अतिशय का आधान यदि उपमा आदि के द्वारा होता है तो विभावादि की रससामग्री के द्वारा भी होता ही है। वस्तुतः रससामग्री का संयोजन भी एक उक्तिधर्म है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों में भोज आदि का मस्तिष्क इस ओर भी पहुँचा। वे विभावादि योजना को 'रसोक्ति' कहते, गुणयोजना को स्वभावोक्ति और उपमा आदि की योजना को वनोक्ति। यानी उक्ति विशेष ही है काव्य, और उक्तिगत जो 'विशेष' है अर्थात् रस, गुण और स्वभावपद-वाच्य तदतिरिक्त शेष सब, वे अलंकार ही हैं, क्योंकि वे ही काव्यशोभा के जनक धर्म हैं।

इस प्रकार वस्तुवादी दृष्टिकोण से या प्रमेयनिष्ठ चिन्तन से रस और गुण भी अलंभाव के जनक तत्त्व ही हैं और दूसरे शब्दों में अलंकार ही हैं। भरत के बाद दण्डी ही काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है और रसों को अलंकारों में ही सन्निविष्ट किया है। क्या कला का कोई स्वगत धर्म नहीं माना जा सकता ?

कला एक संरचना भी तो है, माना कि वह स्वयं के अन्तिम रूप में विशानघन और 'अनङ्ग' है। क्या अनङ्ग अङ्गना [उत्तम अङ्गों वाली नारी मूर्ति] की अपेक्षा नहीं रखता। अनङ्ग का स्थूल अङ्ग यानी धारीर भले ही न हो, स्वयं में वह अत्यन्त नीरूप हो तथापि क्या उसका कोई मानस रूप नहीं होता। यदि होता है तो क्या उसे सर्वथा अनङ्ग कहा जा सकता है ? क्या मन अङ्ग नहीं है ? आखिर सूक्ष्म धारीर भी तो धारीर ही है। अवश्य ही जो तत्त्व मनोभव है, जो आश्मभू है वह अनङ्ग होते हुए भी अङ्गी है, धारीर ही और धारीरसापेक्ष है। उसका एक पक्ष धारीरपक्ष भी है। कला का विज्ञान विषयनिरपेक्ष नहीं। विषय का अस्तित्व भी यहाँ केवल प्रतिभास नहीं। उसका बहुलाद्य यहाँ अपने आप में भले ही प्रतिबिम्बात्मक और इसीलिए प्रतिभासारमक हो, वह लोकरूप विम्ब की अपेक्षा अवश्य ही रखता है। द्वैत-कला का तद् दाम्पर्य ही यहाँ सर्वस्व है; और ऐक्य नहीं, साहित्य ही यहाँ की प्रधान विभूति है। साहित्य क्या किसी एक छोर के असत्य होने पर सम्भव है। निश्चित ही कला का कोई 'स्व' भी है और उस स्व में रहनेवाली उसकी अद्भुत विशेषतायें भी हैं। इन समस्त विशेषताओं की एक ही संज्ञा है 'अलंकार'।

खजुराहो की अप्सरोभूतिया अङ्गप्रत्यङ्गों में जो संतुलित मासलता या उभार लिए हुए हैं, क्या वह उनका कोई 'अलंकार' नहीं है ? क्या वह उभार कोई प्रातिभासिक धर्म है ? क्या उससे उत्पापित मानस शृङ्ग ही सब कुछ है ? इसलिए क्या उस उभार को प्रमातृनिष्ठ रस-भाव कहकर चिन्तक स्वयं को कृतकृत्य मान सकता है ? यदि उसे रसजनक कहा जाए तो रस के लिए उसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। तब यह सोचना होगा कि - यह सामग्री जहाँ नहीं रहती वहाँ रसनीयता क्यों नहीं आती ?

यदि वहाँ रसनीयता नहीं आ पाती और इस सामग्री के रहते ही वह भाती है तो अवश्य ही यह सामग्री रस के प्रति कोई असाधारणता है और यदि असाधारणता है तो क्यों न उसे उसके आश्रय का 'अतिशय' माना जाए, उसे उसकी विशेषता स्वीकार किया जाए, और अन्ततः उसे क्यों न अलंभाव का जन्मक अलंकारतत्त्व स्वीकार किया जाए ।

सांकेतिक, प्रतीयमान, अप्राकरणीक या अन्य अर्थ की विभूति, उसका इन्द्रजाल ध्वनि-शब्द से पुकार भले ही लिया जाए, किन्तु वस्तुपक्ष की दृष्टि से अवश्य ही वह भी कला की 'स्व'-गत विशेषता भी है और इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर वह भी अतिशय और अलंभाव की सीमा के भीतर है । इसीलिए उसकी संज्ञा अलंकार की जा सकती है । आखिर अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में ध्वनि को शब्द-शक्ति के छूट से बांधा चञ्चल बरस माना ही जाता है । क्यों ? शब्दशक्ति से उसे क्यों बांधा जा रहा है ? इसीलिए न, कि वहाँ शब्द का 'अतिशय' भेदा नहीं जा सकता । उसे स्वीकार करने हेतु चिन्तक बाध्य है । आखिर ध्वनि का बृहत् कृष्माण्ड उस शब्दशक्ति की तन्वी छटा में ही न अटका हुआ है, भले ही प्रमातृचेतना की छत भी उसे साधे हुए हो । कहना न होगा कि ध्वनि का घटोत्कच कितना ही विशाल क्यों न बन जाए वह है किसी हिडिम्बा का प्रसाद । वह उस माता का स्तनंधय बरस है, उसके जांचल में मुँह लगाकर चुस्की दावता उसके उत्सर्ग का मांगलिक अलंकार है । निश्चित ही ध्वनिभूमिका भी कला-क्षेत्र से आत्यन्तिक पृथक्ता नहीं रखती । वह उसमें 'अलंस्व' का निष्पादन करती और इसीलिए उसका अलंकार बनती है ।

औचित्य—कला जिन प्रतिविम्बों को हमारी चेतना पर अंकित करती है, हम उन्हें अपनी रचि और अपने संस्कारों के अनुरूप सजा हुआ देखना चाहते हैं । उनको इस सजावट के साथ प्रस्तुत करने का जो औचित्य है वह भी कला के 'स्व' का, उसके 'आपे' का अतिशय है । अवश्य ही वह वैसा न हो तो हमें रुचेगा नहीं और यह उसका दोष होगा । इस दोष की मुक्ति यदि दोषाभाव है अथवा परित्यक्त-परित्याग है तो औचित्य नामक तत्त्व दोषाभाव से अधिक कुछ नहीं है । इसे हम उपादेयता में कारण मानेंगे ही, और अनुपादेयता में इसके अभाव को कारण मान इसे एक अस्तित्वसंपन्न वस्तु भी मानेंगे, और उस रूप में यह कला के स्वगत धर्मों में ही गिना जाएगा तथा 'अलंकार'-सीमा का उल्लंघन न कर सकेगा ।

इस प्रकार रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वश्रोक्ति और औचित्य के परिक्षेत्रों में विभक्त काव्यचिन्तन मूलतः एक ही धुरी पर घूमता दिखाई देता है । वह है अतिशय की धुरी, अलंभाव की धुरी, अतएव अलंकृतितत्त्व की धुरी । एवं, अलंकृतितत्त्व एक सामान्य और व्यापक तत्त्व है काव्यात्मा का । काव्य एक कला है और क्योंकि वह स्वयम्भवी सृष्टि है, संकल्पयोनि, मनोमवा या प्रज्ञानघनीय सृष्टि है, प्रतिविन्द्यारिभका है अतः वह उसकी समग्रता में वैसी है, आंशिकता में नहीं । अभिप्राय

यह कि विम्ब में लगा तिलक भले ही बाह्य हो, विम्ब से भिन्न हो, किन्तु प्रतिविम्ब में लगा तिलक जिस प्रकार प्रतिविम्बात्मा की सृष्टि, निर्मिति, अभिव्यक्ति, प्रतिभा या प्रज्ञप्ति के साथ ही कर्ण के साथ उसके कवचकुण्डल के समान निष्पन्न होता है उसी प्रकार लोकभूमि पर वस्तु और वस्तु के अतिशयाधायक तत्त्व भले ही भिन्न हो किन्तु कलाभूमि पर वस्तु और उसके अतिशयाधायक तत्त्व वैसे नहीं होते । ऐसा नहीं कि दर्पण में वनमालाविभूषित श्रीकृष्ण [परमात्मा] प्रतिविम्बित हो तो उस प्रतिविम्ब में वे स्वयं ही प्रतिविम्बित होकर रह जायें, उनकी वनमाला प्रतिविम्बित न हो और वह उनके प्रतिविम्ब में अलग से संयोजित की जाय । श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह और उनका अलंकरण वनमाला, दोनों एक साथ प्रतिविम्बित होते हैं । कला में, प्रतिविम्ब में, चित्र में, अलंकार्य और अलंकृति दोनों सहजात होते हैं, क्रमोत्पन्न नहीं । इस स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार अलंकार्य से भिन्न और उसकी घटकता से रहित रहते हैं ।

अलंकार की बाह्यता की आन्ति घरीर के दृष्टान्त के कारण हुई है । कटक कुण्डल आदि घरीर से अवश्य ही भिन्न रहते और आहार्य हुआ करते हैं । घरीर में वे अवश्य ही ऊपरी वस्तु हैं, घरीर स्वयं नहीं, उसकी आत्मा भी नहीं । किन्तु यह सादृश्य एक विबलाग सादृश्य है । सोचना यह होगा कि भले ही सामान्य घरीर के घटक न हों अलंकार, किन्तु क्या सुन्दर घरीर के भी वे घटक नहीं होते ? सौन्दर्य अपने उपादानों के बिना क्या घरीर में आ सकेगा ? यदि नहीं तो उसके उपादानों को उसकी निष्पत्ति के पूर्व घरीर में मान ही लेना होगा । काव्य केवल घरीर नहीं, सुन्दर घरीर है । केवल शब्दार्थयुग्म काव्य नहीं, अपितु रमणीय शब्दार्थ काव्य है, सुन्दर शब्दार्थ काव्य है । निश्चित ही शब्दार्थ की आत्मा यदि सौन्दर्य के बिना काव्यत्वशून्य है और सौन्दर्य केवल घरीर से निष्पन्न नहीं, तो उसके उपादान काव्यत्व की निष्पत्ति के पहले से शब्दार्थ के रोम-रोम में सन्निविष्ट है । जीवन के साथ घरीर, किसी के सीभाग्य का पात्र बनता है । ऐसा नहीं कि सीभाग्य पहले आकर बैठ जाए, जीवन बाद में आए । क्या सिन्दूरदान बाद में होता और बधु कोहबर में पहले ही पहुँच जाती है ? अलंकार और अलंकार्य के बीच लोक में भले ही संयोगसम्बन्ध हो, कलाभूमिका पर तो उनके बीच एक ही संबन्ध संभव होगा—समवाय । इस प्रकार कला और काव्य का अलंकार, एक आन्तर, अबाह्य और आत्मीभूत धर्म है । धर्मों से उसका अभेद है । उसमें भेद ही एक प्रातिभासिक तथ्य है । ठीक ही कहा गया है 'सालंकारस्य काव्यता, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग' [कुन्तक १।६] ।

उक्त 'आधार पर अलंकार अपने उपादा आदि के रूप में भी काव्य की आत्मा है, काव्य है, काव्यनिष्ठ अन्वूनानतिरिक्त धर्म है, इसीलिए और काव्यनिष्ठ अलंकार्यता का अवच्छेदक भी है यानी काव्यत्वरूप ही है ।

हम अशोक का अर्थ कर लें केवल वृक्ष और फिर कहें कि उसकी आत्मा सौरभ है तो कह ही सकते हैं, किन्तु यह हमारा दोष होगा। वस्तुतः अशोक ऐसे एक समग्र व्यक्तित्व की संज्ञा है जिसका एक घटक सौरभ भी है। सौरभ उस व्यक्तित्व की विभूषा है, उसका अलंकार है, यद्यपि अशोक का चारा व्यक्तित्व उसी के लिए उपादेय है। हमने काव्यात्मक अशोक को सौरभ से पृथक् कर देखा कैसे? हम मनुष्य का अर्थ सद्योजात बच्चा कर लें और कहें कि वह तो अलंकारमात्र है, अलंकार्य है सुवासिनी और सोभाग्यवती मां का उत्सव जिसमें वह समाया रहता है तो ऐसा कह ही सकते हैं। किन्तु क्या सद्योजात शिशु मनुष्य नहीं होता। 'गो' का अर्थ गोविन्द कर हम उसके यथार्थ को समझाते हुए 'गोमाता' के दैवत बिग्रह को भी गो-पद का अर्थ कहें और कहें कि यह हमारी नई सूझ है, नूतन स्थापना है तो हमारा मुँह कोई नहीं पकड़ेगा और ऐसा हम कह ही सकेंगे, परन्तु इन कथन में नूतनता की डींग कोरा दम्भ होगी। प्रथम दृष्टि गोमाता पर ही जानी चाहिए थी। हमने गोविन्द को 'गोमाता' समझ कैसे लिया? यह हमारी दृष्टि का दोष है; न अशोक का, न मनुष्य का और न गोशब्द का। 'अलंकार' के विषय में भी हमारे चिन्तन और व्यपदेश-विधान की यही स्थिति है। हमने अलङ्कार-शब्द को उपमा आदि तक सीमित समझा ही क्यों? यदि समझा, तो यह भी समझना चाहिए था कि अलङ्कारशब्द से अभिप्रेत समस्त तत्त्वों में कदाचित् उपमा आदि अधिक प्रभावी और अधिक चमत्कारी हैं। फिर हमें अन्य तत्त्वों की ओर उन्मुख न होना था। और यदि रुचिभेद के कारण हम उन्मुख हुए भी तो हमें अपने चिन्तन की स्वस्थता नहीं खोनी चाहिए थी, उसमें संतुलन बनाए रखना चाहिए था। इतिहास साक्षी है—'हमने वैसा नहीं किया। प्रमानृच्छि चिन्तन की प्रधानता ने हमें व्यक्तिवादी बना दिया, हमने वस्तुपक्ष से अपनी आँखें बहुत दूर तक फेर लीं और हम असंतुलन के उपालम्भ में आ पड़े। आनन्दवर्धन का था यह प्रसाद।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य की आत्मा अर्थात् काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाला तत्त्व या काव्य की उपादेयता, ग्राह्यता का बीज, एक ही है और उसका एक ही नाम है 'अलङ्कार'।

'काव्यालङ्कार'—नाम से जितने ग्रन्थ लिखे उनमें भामह, उद्भट, वामन और उद्भट ने अलङ्कारों का विवेचन अवश्य प्रचुर मात्रा में किया परन्तु उनमें से किसी ने 'अलङ्कार को काव्य की आत्मा' भी कहा हो ऐसी बात नहीं है। उक्त चारों आचार्यों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती कुन्तक ने अपने ग्रन्थ की कारिकाओं को काव्यालङ्कार कहा और उनमें वक्रोक्ति को काव्यजीवातु स्वीकार किया, किन्तु यह स्वीकृति आनन्दवर्धन के वाद की थी और इसके आधार पर अलंकार को काव्यात्मा कहने का पक्ष समर्थन नहीं पाता, क्योंकि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्यात्मा स्वीकार किया, जो एक पृथक् संप्रदाय है, जिसकी काव्यात्मवाद में अलंकार संप्रदाय से अलग गणना की जाती है।

- इस प्रकार (१) रस काव्यायं (२) रीतिरात्मा काव्यस्य
 (३) काव्यस्यात्मा ध्वनिः (४) वश्रोक्ति काव्यजीवितम् तथा
 (५) औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्

के समान कोई वाक्य 'अलंकार' से सम्बन्धित नहीं मिलता, जिसमें अलंकार को काव्यात्मा या काव्यजीवात्तु कहा गया हो। वामन रीतिवादी आचार्य हैं। उन्होंने 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकार' कहकर जिस 'अलंकारतत्त्व' को कुछ महत्त्व दिया है उससे भी उपमा आदि की काव्यात्मता का कोई पक्ष सामने नहीं आता, क्योंकि यहाँ जिसे अलंकार कहा गया वह उपमादि नहीं अपितु सौन्दर्य है। फिर वामन स्वयं ही 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर अलंकार-पक्ष से अलग हट जाते हैं। इस प्रकार यह जो प्रसिद्धि है कि साहित्यशास्त्र के ६ संप्रदाय हैं और उनमें एक संप्रदाय 'अलंकार' को काव्य की आत्मा मानने वाला है न जाने इसका क्या आधार है। इसका आधार कदाचित् 'काव्यालंकार' इस प्रकार अलंकार के नाम पर ग्रन्थों का नामकरण है। वस्तुतः अलंकार को काव्यात्मा मानने की प्रसिद्धि अलंकार की उस छाप पर आश्रित है जो आलोचक या काव्यकलाविद् के अचेतन मन पर पड़ी हुई थी और जिसके अनुसार अलंकार परिभोगयोग्य परिधान नहीं, अपितु प्रणम्य दैवतरूपाकित रत्न था। उदयन के अवरोध में अज्ञातवास कर रही या अग्निमित्र के अन्त पुर में द्वापसेविका के क्षण व्यतीत कर रही दिव्यकन्या सागरिका और मालविका के समान अलंकृतितत्त्व का अतिशय भी द्रष्टा को प्रभावित किए हुए था और वह मन ही मन सोच रहा था कि यह कोई असाधारण महत्त्व की वस्तु है, जिसे काव्यात्मा भी कहा जाए तो अनुचित नहीं। वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर अन्ततः सागरिका और मालविका उदयन और अग्निमित्र को राजरानी बन ही जाती हैं।

चित्रकाव्य—यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने वाक्य के रस आदि से रहित और एकमात्र उक्तिवैधिय से युक्त स्वरूप को काव्य न मानकर काव्यानुकार, काव्याभास या काव्य की नकल यानी काव्यचित्र माना था और कहा था कि वस्तुतः कोई अलंकार ऐसा नहीं होता जो गुणीभूतव्यंग्य वर्ग में न गिना जा सके अथवा जिसे व्यंग्यांश का अनुग्रह प्राप्त न हो। ये दोनों ऐसे वक्तव्य थे जो परस्पर विरोधी न होकर समन्वयमूत्र से सम्बद्ध थे। किन्तु परवर्ती भम्मट ने ध्वनि का पाठ दुहराते समय इस समन्वयमूत्र को तोड़ दिया और अलंकार की प्रधानता से युक्त काव्य को चित्र नामक काव्य मान लिया तथा व्यंग्यप्रधान या व्यङ्ग्यबहुत काव्य को अलग वर्ग में गिना दिया। यह क्या हुआ ? यह वस्तुतः अलंकार की प्रतिष्ठा हुई। अलंकार नाम से पुकारे गए उपमा आदि को भी स्वतन्त्र महत्त्व दिया गया और उनमें भी व्यंग्य के बिना भी वाक्यत्व का उत्स स्वीकारा गया। यह अपने आपमें जो भी हो, अलंकार के महत्त्व की अभिस्वीकृति में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है, परिपुष्ट साक्ष्य है और उसके द्वारा दिया गया साक्ष्य है जो अलंकारों को काव्यसरीर का अनिवार्य

नहीं, वैकल्पिक धर्म कहने की घृष्टता करता आ रहा था। अन्त में मम्मट ने भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन की अनुभूति को आदर दिया और कहा कि अलंकार भी दिना रस आदि व्यंग्यांश के निर्जोव होते हैं। अभिप्राय यह कि अलंकार का उपमा आदि स्वरूप भी वहि से धूम के समान रस आदि व्यंग्यविभूति से ऐकान्तिक और अव्यभिचरित सम्बन्ध रखता है। यानी इन्हें मिट्टी और पानी की नाई पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। जो जल अत्यन्त स्वच्छ है, अधामच्छद या पारदर्शी है, वह भी किसी झूप, तडाग, नदी या निझर के ऐसे स्रोत का एकांश है जो मिट्टी-मॉ का अचल पकड़े हुए है। क्या उसे अपाथिव माना जा सकता है? क्या केवल बरसाती पानी ही पाथिव कणों से मिश्रित कहा जा सकता है? केवल बरसाती जल को माटी से मिश्रित द्रव कहना हमारी दृष्टि की स्थूलता होगी, दोष होगा। वस्तुतः उस द्रव में भी मिट्टी छिपी हुई है जिसे हम सर्वथा स्वच्छ कह रहे हैं, अत्यन्त निर्मल समझ रहे हैं। दार्शनिकों का पञ्चीकरण और औपनिषदों का त्रिवृत्करण तो निर्मल जल के भूतपिण्ड की बरीकी में भी जलैतत्तरत्त्वों के अष्टमांश का वैज्ञानिक मिश्रण मानता है। अलङ्कार का निर्मल जल भी व्यंग्य की मिट्टी का सीगन्ध्य छिपाए हुए है। व्यंग्य की सरस मिट्टी तो जल के स्थूल स्पर्श की तरलता स्वयं ही स्वीकार करती आ रही है। मम्मट का यह मानना कि अलङ्कार को काव्य से यदि हटाया जा सकता है तो उसके व्यक्त रूप में ही हटाया जा सकता है, अव्यक्त रूप में नहीं, उस रूप में वह काव्य का अविभाज्य, अयुतसिद्ध और समवायी धर्म है, इस दिशा में सटीकता की सूचना देता है। यही न वह विवशता है जिससे अलङ्कारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और पूर्ववर्ती आलोचक जहाँ कोई अलङ्कार नहीं देखता था परवर्ती ने वहाँ अनेक नवीन अलङ्कारों की स्वस्य खोज कर डाली और जिन स्थलों में पूर्ववर्ती आचार्यों ने कोई एक अलङ्कार माना था, परवर्ती आचार्यों ने उन्हीं स्थलों का विशकलन कर उनमें अनेक अलङ्कारों की प्रच्छन्न संसृष्टि और अव्यक्त संकीर्णता प्रमाणित की। आनन्दवर्धन ने अलंकारों को वाग्विकल्प कहकर अनन्त बतलाते हुए उनकी उपेक्षा का जो शापवाक्य बोला था वह दशरथ के लिए श्रवण-पिता के शापवाक्य के समान अनुग्रह मन्त्र बन गया और उपेक्षा के भीतर से आदर की समुद्रगा स्रोतस्थिनी को जन्म मिल गया। अलंकार तत्त्व की गवेषणा परिपूर्ति तक न पहुँच सकी, उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। स्वयं पण्डितराज ने लिखा तो ग्रन्थ 'रस' के नाम पर—'रसगंगाधर'; किन्तु उसका प्रधान अंश बन गया अलंकार ही। वह भी अपूर्ण हो रहा। वे उसे पूर्ण नहीं ही कर पाए। ठीक ही है। भला सन्ध भाषा अलंकार से रहित हो ही कैसे सकती है।

इस प्रकार अलंकार काव्य का अयुतसिद्ध, अपृथग्विषयत और वैसा ही धर्म है जैसा पृथिवी का गन्ध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का

शब्द । काव्यरूपी पञ्चभूत का तन्मात्र अलंकार ही है और अलंकार ही है काव्यरूपी अक्षय्य और महान् बट वृक्ष का अण्डिष्ठ बीज ।

कहा जाता है अलंकार को शब्दों में समझा जा सकता है, यानी वह वाच्य हो सकता है और रस किसी भी स्थिति में वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'रस' या 'शृङ्गार' आदि कहने में रसात्मक आस्वाद अनुभव में नहीं आता । वह तभी अनुभव में आता है जब विभावादि सामग्री का समुचित, ललित और चाफ संनिवेश उपस्थित हो । ठीक है । रस अवाच्य ही है, केवल व्यंग्य है, ध्वनि है । परन्तु अलंकार को वाच्य कैसे कहा जाता है ? क्या केवल 'इव' या 'जैसे' शब्द का प्रयोग करने से उपमा का अलंकाररत्न या चमत्कार अनुभव में आ सकता है ? क्या उपमा को अलंकारभाव तक पहुँचाने के लिए उपमान आदि की सामग्री अपेक्षित नहीं । उपमान, उपमेय और साधारण धर्म के साथ क्या 'इव' आदि उपमाप्रतिपादक शब्दों का प्रयोग रहता ही है ? तब लुप्तोपमा के भेदों की संख्या १९ क्यों मानी जाती है ? क्या 'अभेद' या 'आटोप' कहने से रूपकालंकार या 'सभावना' या 'संक्षय' कह देने से उत्प्रेक्षा या संदेहालंकार का अनुभव संभव है । अवश्य ही अलंकार भी शब्दों में नहीं जकड़ा जा सकता । फिर रस भी तो ऊपर किए विवेचन के अनुसार अलंकार ही है । क्या जरूरी है कि अलंकाररत्न केवल उपमादि विच्छित्तियों की चितकवरी बकरियों के गले की घण्टी रहे । उसे रसरूपी दिव्य रस की सुवर्ण-किकिणी भी क्यों न माना जाए ?

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि—'अलंकार-तत्त्व काव्य का असाधारण तत्त्व है, वही काव्य की वास्तविक आत्मा है । 'तस्यैव मानामुपजीवन्ति सर्वे' उसी के किसी अंग से वे सब तत्त्व निष्पन्न हैं जिन्हें रस आदि नामों से पुकारा जाता है । 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—उस एक तत्त्व को ही अनुस्यूषयिता जन अनेक रूपों में विभक्त देखते और भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं । यदि यह विषय किमी असीम ब्रह्मान्, मायावीत भूमन् और अनन्त विराट् पर अंकित है तो इस विश्व का चित्र भी, इसका प्रतिबिम्ब भी किसी तरफ पर यदि अंकित हो सकता है तो एकमात्र 'अलंकार'-तरफ पर ही । सृष्टि में जो ब्रह्मतत्त्व है काव्य में वही 'अलं'-तत्त्व है । इस अतिशयित, जनन्त, भूमा और विराट् रस को जो अपनी-अपनी कटोरियों में हमने समेटा वह हमारे यानी 'मिति' के भीतर ही अपनी सम्पूर्ण इयत्ता के द्रष्टा जीवों के अनुरूप ही है ।'

'यो यो यं यमवाप्नुयादवयवोद्देशं सृशन् पाणिना
तत्तन्मात्रकमेव तत्र स स ते रूपं परं मन्यते ।
तग्जात्यन्धपुरे ह हा करिपते नीतोऽसि दुर्वेषसा
को नामात्र भवेद् यताखिलभवन्माहात्म्यवेदी जनः ॥'

के अनुसार 'अलंभाव' को अनुवीक्षक के एकांगी दृष्टिकोण में या कहना चाहिए कि स्फूर्त चिन्तन में जिस-जिस रूप में बाधा, जिस-जिस रूप में आका वह अवश्य ही

आंशिक तथ्यता लिए हुए था, किन्तु उस तत्त्व की समग्रता और उसकी परिपूर्ति उनमें से किसी दृष्टिकोण और किसी चिन्तन में न थी ।

ब्रह्म से माया में उतरने पर वैषम्य और भेद का जो प्रतिभास होता है तदनुसार रस आदि से अलङ्कार को भिन्न केवल उपमा आदि को लेकर किया जाएगा, किन्तु अलङ्कार की महत्ता इतने पर भी घटेगी नहीं । क्योंकि रस यदि कहीं रहता है तो दोनों केवल सामाजिक या प्रमाता में रहता है, काव्य में नहीं । क्या काव्य और प्रमाता एक हैं ? काव्य में यदि कुछ रह सकता है तो उपमादि अलङ्कार ही रह सकता है । गुण भी रसवाद के अनुसार रसधर्म हैं, अतः वे भी प्रमातृगत सिद्ध होते हैं, काव्यगत नहीं । दोषाभाव कोई Possitivity नहीं है । रसवादी के यहाँ रीति और वृत्ति का कोई पृथक् अस्तित्व होता नहीं । इनके अतिरिक्त किसी काव्यधर्म की कल्पना रसवादियों ने की ही नहीं है । उनका काव्यलक्षण तो इतना पंगु है, विशेषतः मम्मट का, कि वह उन्हीं के अनुसार वस्तु से वस्तु की ध्वनि वाली उक्ति में लागू ही नहीं होता, क्योंकि न वहाँ अलङ्कार रहता, न गुण । यदि कहा जाए कि मम्मट के अनुसार वहाँ भी अस्फुट अलङ्कार तो रहता ही है, तो उस ध्वनि को अलङ्कारमूलक कहना होगा । फिर मम्मट के द्वारा ही स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु की ध्वनि के लिए उदाहृत 'अलसशिरोमणिः०' इत्यादि गाथा का व्यञ्जक वाच्य अर्थ किस प्रकार के अलङ्कार से युक्त है ? क्या उसमें अस्फुट भी अलङ्कार है ? स्फुट की तो बात ही अलग है । तब कैसे जाएगा इस स्थल में काव्य लक्षण, यानी मम्मट द्वारा अभिमत काव्यलक्षण । हन्त ।

द्वैतदृष्टि और रसवाद के अनुसार काव्य का 'स्व' उसका अपना रूप यानी प्रमाता से पृथक् उसका प्रमेयरूप अवश्य ही रसहीन, गुणहीन, ध्वनिहीन और एकमात्र अलंकार-युक्त है । और कुछ उसमें माना जाए तो केवल दोषाभाव माना जा सकता है, जिसे काव्यत्व की उत्पान-भूमि कहा जाना चाहिए । दूध यदि खुद होगा तो उसकी खीर में हलायची की सुगन्ध तथा केसर-वर्ण भी खिलेंगे । इन दो विशेषताओं के अतिरिक्त द्वैतवादी दृष्टि से काव्य की अपनी काया में अन्य कोई धर्म कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता । इनमें भी दोषाभाव अभावात्मक ही है, वास्तविक केवल अलंकार ठहरता है । फलतः काव्यशरीर का वास्तविक धर्म और उसमें उपादेयता लाने वाली चारुता, सुन्दरता, रमणीयता, चमत्कारिता या असाधारणता का उत्स अलंकार ही ठहरता है । जहाँ कहीं अलंकार का उपमा आदि स्थूल रूप नहीं दिखाई देता और काव्यत्व माना जाता है वहाँ ध्वनिवादी या वे द्वैतवादी आलोचक दोषाभाव के अतिरिक्त काव्य शरीर में कोई धर्म सिद्ध नहीं कर सकते, फलतः वे अकाव्य से उस काव्य की अनुभवसिद्ध भिन्नता का कोई कारण नहीं बतला सकते, विशेषतः काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट ।

निष्कर्ष यह कि अद्वैत दृष्टि से काव्यशरीर के भीतर रस आदि भी अलंकार ही और द्वैत दृष्टि से भी काव्यशरीर का एकमात्र धर्म अलंकार ही है, निदान काव्य की अकाव्य से पृथक् करने वाला उच्च एकमात्र अलंकार है, इसलिए 'अलंकार ही काव्य की उपादेयता का प्रथम और चरम निदान है, अलंकार ही काव्य की आत्मा' है। प्रमातृपक्ष में हम काव्य के परिणाम पर विचार करते हैं, जिसे काव्य से सम्बन्धित वस्तुओं का विचार कहा जा सकता है, स्वयं काव्य का विचार नहीं।

काव्यस्वरूप—

प्रश्न : काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाला स्वगत धर्म तो 'अलंकार' हुआ। यह जो काव्य नामक धर्म है यानी अलंकार का जो आशय है, माने अलंकार जिसमें रहता है, वह क्या है ?

उत्तर : कहा जाता है वह 'शब्द' और 'अर्थ' का जोड़ा है। ठीक है, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द और अर्थ काव्यरूप में परिणत होते समय क्या उसी रूप में रहते हैं जिस रूप में वे सप्ताह में दिखाई देते हैं या उससे भिन्न किसी अन्य रूप में। प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर एक बहुत ही भीषण आपत्ति सामने सुरसा बनकर खड़ी दिखाई देगी। वह आपत्ति होगी अर्थ के विषय में। कालिदास ने कुमारसंभव के प्रथम पद्य में 'हिमालय' कहा। क्या यह वही हिमालय है जिसके शिखर पर हम आज भी चन्द्रने का अभिमान कर रहे हैं और जिसे बहुरंग रंगा आज भी भूलोक का प्रह्लाद बनती हुई है। हिमालय का वह स्थावर रूप जिसमें शिला, वृक्ष और जल के घन और सरल रूपों का संघात है, जो पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक उत्तर दिशा में एक निश्चित स्थान में खड़ा हुआ है, यदि कुमारसंभव काव्य का हिमालय यही हिमालय है तो उसे हम अन्यत्र सर्वत्र कैसे प्राप्त करते हैं। कुमारसंभव तो विश्व के हर कोने में पड़ा जा रहा है। क्या उसमें अर्थरूप से पृथीत हिमालय वही है जो किसी एक भूखण्ड और किसी एक दिशा का विशेषत्व है, शिलाभित्ति है, उन्नत प्राचीर है, सीमा प्रहरी है, दुर्ग है। यदि वही, तो वह यहाँ काशी में और इसी समय जिन अनेक स्थानों पर कुमारसंभव पड़ा जा रहा होगा उन सभी स्थानों पर कैसे पहुँच रहा है ? यदि पहुँच रहा है तो क्यों नहीं हम उससे दब जाते और क्यों नहीं वह अपने मूलस्थान पर अनुपस्थित मिलता। वह अपने स्थान पर उपस्थित रहता और एक ही रहता है किन्तु हम काव्य में उसे सर्वत्र अनेक स्थानों पर उपस्थित पाते हैं। क्या है यह बात ? निश्चित ही वह हिमालय काव्य का हिमालय नहीं है जो उत्तर दिशा में भित्ति बनकर पड़ा हुआ है।

यही प्रश्न शब्द के विषय में उपस्थित होता है। कालिदास ने जिन शब्दों का उच्चारण किया होगा वे तो उच्चारण समाप्त होते ही समाप्त हो चुके होंगे। फिर हमें उनके शताब्दियों प्राचीन शब्द आज तक कैसे उपलब्ध हैं ? लिपि या अनुकरण के द्वारा

हम उन्हें जिलाए हुए हैं और वे सांकेतिक रूप में हमें प्राप्त होते जा रहे हैं' यह उत्तर ठीक है, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है उन शब्दों की बोधकता का। वे हमें अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यदि वे शब्द अपने मूलरूप में ही काव्य हैं तो हमें किसी भी अज्ञात भाषा का काव्य अविदित प्रतीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि शब्द तो किसी भी भाषा में बदलते नहीं। वर्णमाला और ध्वनियाँ प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। उनका उपयोग और विनियोग हम जैसा चाहें कर सकते हैं, किन्तु उतने से उनके भौतिक और प्राकृतिक स्वरूप की हानि नहीं होती। शब्द यदि वही है जो लोक में प्राप्त है तो एक ही वाक्य के अनेक और विविध अर्थ नहीं होने चाहिए, क्योंकि सूर्य किसी को भिन्न प्रतीत नहीं होता। चन्द्र और अग्नि या समस्त प्रपञ्च प्रत्येक बौद्ध को एक ही स्वरूप में प्रतीत होते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो चन्द्र को अंधकार समझता हो या अंधकार को वज्र। रात सब के लिए रात है और दिन सब के लिए दिन ही। फिर एक ही वाक्य का अर्थ बौद्ध के भेद से भिन्न क्यों हो जाता है ?

शब्द और अर्थ के 'जोड़े' की बात भी अस्वाभाविक-सी है। शब्द हमारे मुखाकाश या श्रोत्राकाश में है और अर्थ यदि है तो सँकड़ों कोस दूर। फिर ऐसे कितने अर्थ हैं जो वर्तमानकालिक हैं ? युधिष्ठिर आदि अब कहाँ ? कल्पितोपमा में चन्द्र से सर्प के लटकने की कल्पना में चन्द्र और सर्प के सम्बन्ध की बात तो आत्यन्तिक रूप से असत्य है। उसका तद्वाचक शब्दों से सम्बन्ध कैसे होगा ? सम्बन्ध के लिए अस्तित्व तो कम से कम, अपेक्षित होता ही है। वन्यापुत्र, शबशृङ्ग, खपुष्प, कच्छपीपय और अन्धकार आदि जो त्रिकालबाधित तथ्य हैं, क्या इनके साथ सम्बन्ध बन सकेगा ? जब विद्यमान अर्थों के साथ भी शब्द का सम्बन्ध संभव नहीं, तब अविद्यमान और कल्पित अर्थों के साथ शब्द का सम्बन्ध संभव कैसे ?

इस प्रकार शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों अपने भौतिक और वैज्ञानिक रूप में अनुपपन्न और असिद्ध सिद्ध होते हैं। क्या इसी उलटवासी का नाम है काव्य ? यदि असंगति ही काव्य है, तो दोष किसे कहा जाएगा ? यदि उसी असंगति के पीछे शिष्ट और विशिष्ट सभी छुटे हुए हैं, समर्पित हैं, व्यामुग्ध हैं तो उनका और सिरफिरे व्यक्ति का अन्तर किस बात में है ? तब असम्बद्ध प्रलाप और रामायण, गाली और महाभारत में फरक ही क्या ? क्यों वेद को ही पूजा जाए, अवेद को भी क्यों नहीं।

वस्तुतः न शब्द काव्य है, न अर्थ और न इन दोनों का युग्म। काव्य है शब्द के माध्यम से होने वाला अर्थज्ञान। अर्थज्ञान के लिए शब्द स्वरूपमात्र से कारण नहीं होता, उसके साथ अर्थ का एक बौद्ध संबन्ध अपेक्षित होता है। यह सम्बन्ध संवेदात्मक होता है। संकेत व्यक्तिसापेक्ष है, अतः उसमें अन्तर भी रहता है और भाषाएँ बदलती रहती हैं। शब्द भी अर्थ ही है अपने मूल और प्राकृतिक रूप में। मस्तिष्क के किसी कोने में हम शब्द का संस्कार दिखाएँ रहते हैं और किसी कोने में तदितर वस्तुओं

का । हम इन दोनों सकारो का एक सम्बन्धसूत्र भी बना लेते हैं, व्यवहार के लिए तय कर लेते हैं कि सूर्य कहने से अमुक वस्तु का ज्ञान हो और चन्द्र कहने से अमुक वस्तु का । अर्थात् हम शब्दस्वरूप या ध्वनिसमुदाय के ज्ञान तथा अर्थ के ज्ञानों में एक ज्ञान ही गाँठ बाँध लेते हैं । यह गाँठ ही शक्तितत्त्व है, यही वृत्ति है, यही व्यापार है, यही संकेत है और यही सम्बन्ध । अब हमारे मस्तिष्क के सम्बद्ध तन्तुओं में से कोई एक सकृत् होता है तो दूसरा भी सकृत् हो उठता है । हमारी बोधशक्ती धरं चूँ करती आगे बढ़ने लगती है । याद में उसमें गति आ जाती है और वह शक्ती हेमपर्णा हसिनी बनकर हमें न जाने किन-किन लोकों की सैर कराती रहती है । सारा खेल, सारी लीला, सारा इन्द्रजाल हमारी बुद्धि का है । यही बुद्धि काव्य भी बन जाती है । शब्द और अर्थ उसमें सहायक ही बनते हैं । ये तो दो अरणियाँ हैं जो अपने सघर्ष से काव्याग्नि को जगाती और उसे अभिव्यक्त करती हैं । इसीलिए हमने कला को सकल्प चोनि और अनङ्ग कहा है ।

इस भूमिका पर आरूढ़ चिन्तन व्यवस्थ ही पूर्वोक्त समस्याओं के समाधान की दिशा पा लेता है । उत्तर देने की आवश्यकता नहीं रहती । 'कुमारसम्भव' का 'हिमालय' अपने भौतिक रूप में जहाँ का वहाँ है, वह अपने ज्ञानरूप को शब्द के गढ़ पर बिठा देता है और वह देश तथा काल की परिधि को अतिक्रान्त कर सत्प्रातीत रूप में एक लीलालोक में प्रविष्ट हो जाता है । शीघ्रमहत्त सा यह लीलालोक, यह भावलोक, यह कल्पनालोक या बुद्धिलोक एक को अनेक मूर्तियों में अंकित और प्रकाशित करता रहता है । कोई असंगति उपस्थित नहीं होती । क्यों न ऐसा हो ? असंगति जिन स्थूत्र प्रतिमानों की ह्यत्ताओं पर निर्भर है वे प्रतिमान अपनी स्थूत्रता से मुक्त हो ह्यत्तातीत जो हो जाते हैं, मिति और माया की सीमा से ऊपर उठ ब्रह्मीभूत जो हो जाते हैं । पूर्वाह्न की सीमा टूट जाती है और परार्ध की निस्सीमता छा जाती है । मानो हमारे चन्द्र की सोलहवीं कला शिव के मस्तिष्क पर आ बैठी है ।

अब अर्थ ही नहीं अर्थान्तर भी काव्यसीमा में चले आते हैं और अर्थों का आग्राम दीर्घ से दीर्घतर और दीर्घतर से दीर्घतम बनवा जाता है । किन्तु 'रस' इन अर्थों का परिणाम ही रहता है, अर्थ नहीं । अलंकार इस कल्पनालोक और सवित्ति के इस परमधाम में अर्थों का ही धर्म रहता है । अलंकार ज्ञानात्मक होना है जब कि इस संवेदनात्मक, चर्वणाप्रसूत रसनात्मक । किन्तु हमें यह सब कहते हुए यह नहीं भूटना है कि रस की यह स्थिति, उसका अलंकार के साथ अन्तर प्रमाता के अन्तर्गमन में बैठकर किया गया चिन्तन है । प्रमेय के वस्तुपक्ष की दृष्टि से स्थिति भिन्न होगी । किन्तु स्थिति रस की ही भिन्न होगी, अलंकार की नहीं । अलंकार दोनों भूमिकाओं में यथावत् बना रहेगा । अलंकार यानी उपमादि । सौन्दर्यात्मक अलंकार की स्थिति तो और भी अच्छी रहेगी ।

उक्त परिकल्पना से हमने यह देखा कि काव्य एक ज्ञान है और इसलिए वह केवल प्रमेय नहीं, प्रमातृगत, प्रमातृचेतना में प्रतिबिम्बित प्रमेय है यानी प्रमित है, बुद्ध है, प्रतिपक्ष है। फलतः हमने वस्तु और व्यक्ति के दोनों पक्षों में समन्वय और सापेक्षता का अनुभव किया। किन्तु यह एक वस्तुस्थिति है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रमेयपक्षः कुछ है ही नहीं। कारण कि ज्ञान-जगत् भी द्वैतमुक्त नहीं रहता और उसमें भी द्वन्द्व, प्रपञ्च, अवयव, खण्ड, वंश रहते हैं। हम उन्हीं अवयवों और अंशों का स्वगत वैशिष्ट्य आंकते और तदनुरूप प्रमेयव्यवस्था करते हैं। फलतः काव्य प्रमातृ-व्योम के बीच उड़ने वाला सुपर्ण होकर भी उस व्योम से अभिन्न नहीं, और 'उसके प्रत्येक पंख, उन पंखों के प्रत्येक लोम उनमें से प्रत्येक की चित्रता' यह जो सब है यह भी स्वयं उसकी ही विभूति है व्योम की नहीं। कविता तो प्रमातृरूप दाशरथि के महल की सीता है। वह वहाँ आई है, पैदा नहीं हुई। जब चाहती है पुनः निकल जाती और अपनी मूल-भूमिका में विलीन हो जाती है। उसे कभी रावण भी छुरा ले जाता है किन्तु वह भी उसे प्रतिष्ठित करता 'अशोकवाटी' में ही है और वहाँ प्रतिष्ठित करके भी अपने दौरात्म्य से उसे ठनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता। वस्तुतः रावण को अपने यहाँ की अशोक-भूमिका की वास्तविकता का ज्ञान ही नहीं, किन्तु कविता की सीता उस भूमिका से अलग कहीं रह सकती ही नहीं। वह तो ऐसी शक्ती है जो केवल चके नहीं, मार्ग-भूमि भी अपने साथ लिए रहती है और चलती है तो केवल उसी मार्ग पर, नहीं तो चलती ही नहीं।

अब हमें अपने चिन्तन के धरातल का ध्यान रखना है और प्रमाता या प्रमेय, किसी के भी धरातल से विचार करते समय अपने धरातल को छोड़ना या उससे भटकना नहीं है।

इस प्रकार अलङ्काररूपी जो धर्म है उसका धर्मो है ज्ञान। अर्थात् अलङ्कार ज्ञान में रहता है। वह स्वयं भी ज्ञानात्मक है। इन दोनों ज्ञानों का धर्मधर्मिभाव ज्ञान और अनुव्यवसाय के धर्मधर्मिभाव सा माना जा सकता है। अनुव्यवसाय में विषयभूत ज्ञान धर्मरूप से निविष्ट रहता है अतः अनुव्यवसाय धर्मो होता है। इनमें सम्बन्ध विषयविषयिभावात्मक ही हो सकता है, या तो हो सकता है 'स्वरूपात्मक'। लौकिक अलङ्कारों के समान इनका अपने धर्मो से संयोग सम्बन्ध मानना कविता के स्वरूप के विषय में अपना व्यामोह प्रकट करना है। काव्यात्मक ज्ञान को अनलङ्कित कहना भी शब को विवाहयोग्य दुल्ह कहना है अथवा कालिदास के शब्दों में 'श्मशानशूल को यज्ञयूप बनाना है। काव्य में अलङ्कार का अस्तित्व उतना ही अनिवार्य है जितना किसी श्रोत्रिय के कन्धे पर यज्ञोपवीत का अस्तित्व या किसी सुहागिन की माँग में सिन्दूर का।



इन विचारों के साथ हमारा अलंकारसर्वस्व साहित्यजगत की सेवा में प्रस्तुत है । इसके मुद्रण में अनेक दोष रह गए हैं । कुछ स्थलों के निर्देश हमने पीछे की संशोधन-तात्रिका में किए हैं । अन्य कुछ ये हैं—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	५	कपनानव	कपनेऽनव
१४	'भीम०' इत्यादि श्लोक	कायस्य	कामस्य
१७	'महिला' इत्यादि श्लोक	अन्तीमा	अमान्ती
१७	विमर्शिनीदी अन्तिम पं०	सचमरकार	सचमत्कारं
२०	विम० की प्रथम पंक्ति 'वामनेनतु—वामनेनेत्यादि		१८ पृष्ठ की विमर्शिनी के साथ पठें
५१	नीचे से ८	उत्तर	अन्तर
५१	नीचे से ९	नहीं	वही
५८	विम० ८	कवाटविभ्रममु०	कवाटविभ्रमममु
६४	२२	रण	रंग
७०	११	नहीं मिलता	द्र० २।१७ ^१
७५	शीर्षक	पञ्चालद्वार	लाटानुप्रास ^२
१५७	शीर्षक	उल्लेखालद्वार	श्रान्तिमदलद्वारः
१६७	शीर्षक	समासोत्पलद्वार	श्लेषालद्वार
४४८	१४	मन्यते	मन्वते
५२९	शीर्षक	विशेषोक्त्य०	एकावत्य०
५३१	शीर्षक	समालद्वार	मालादीपका०
५४०	नीचे से २	कण्ठागज	कण्ठागत०
६५३	नीचे से ३	तस्य यथा	तस्यान्यथा०
७२०	६	चन्द्रपादपान्	जन्मपादपान्
३०६, ३४४, ५३३ पर छपी		सूत्रसं० २८, २३, ५० की	क्रमशः ३१, ३३, ५७ मानें ।

१. 'तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् । वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते ।
[काव्यालंकार २।१७] छट्ट ने इसी लक्षण को अपने लक्षण का आधार बनाया है ।

अपेक्षाएँ—विमर्शिनी तथा सर्वस्व में प्राप्त नवीन स्थापनाओं पर भूमिका में विचार करना आवश्यक है, किन्तु हम उसे छोड़ रहे हैं, कारण कि वह प्रायः मूल में ही अपने स्थान पर किया जा चुका है। कुछ अवशिष्ट भी है। जैसे—

(क) वृत्तिकार का भट्टनायक के विषय में यह कहना कि वे ही व्यापार-प्राधान्यवादी हैं, जब कि व्यञ्जनावादी भी उस क्षेत्र में गिना जा सकता है। जैसे—

(ख) व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार स्वीकार किया जाए या नहीं। लक्षणा को भी क्यों स्वीकार किया जाए। केवल अभिधा से ही पूर्ण बोध क्यों न मान लिया जाए। अभिधा भी क्यों मानी जाए, क्योंकि शब्द तो मूलतः जड़ है और व्यापार चेतन में रहा करता है।

(ग) 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' आदि वाक्यों के जो प्रयोग मम्मट आदि में प्राप्त शब्दों से हटकर भिन्न शब्दों में यहाँ मिलते हैं उनके स्रोतों की गवेषणा। आदि ॥

इनमें से शब्द की जड़ता का परिहार हम इसी भूमिका में कर चुके हैं। व्यञ्जना-व्यञ्जन के लिए हमने 'साहित्यदर्पणे तात्पर्यस्वरूपम्' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख दिया है। 'स्वसिद्धये' आदि वाक्यों के शब्दभ्रंशनाकर से खोजकर यथास्थान मूल में ही दे दिए हैं। व्यापार-प्राधान्यवाद को भट्टनायक तक सीमित मानना या केवल उन्हीं के सिर पर धोपना भट्टनायक की स्थापनाओं में व्यापारों की बहुलता पर निर्भर है। भावकत्व और भोजकत्व दो ऐसे व्यापार हैं जिनकी कल्पना शब्दव्यापार के रूप में की गई है और कदाचित् केवल भट्टनायक द्वारा ही की गई है। अधिक विचार स्वतन्त्र-रूप से किया जा सकता है।

विमर्शिनी के पाठ-संशोधन में हमने पाण्डुग्रन्थों की सहायता लेनी चाही तो उसमें बहुत विवाद पाया। उदाहरणार्थ काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में विमर्शिनी की दो शारदा प्रतियाँ हैं। उनमें और डॉ० रामचन्द्रद्विवेदी द्वारा देखी प्रतियों में वृत्तिके 'प्रणम्य०' इत्यादि मंगल पद्य की विमर्शिनी 'निजेति' प्रतीक से आरम्भ होती है। उसके पहले की जो व्याख्या निर्णयसागरसंस्करण में छपी है वह उन्हें किसी एक प्रति में ही प्राप्त हुई है, किन्तु है मूल ही, क्योंकि ऐसा संभव नहीं कि टीकाकार मंगलपद्य की व्याख्या उसके उत्तरार्ध से आरम्भ करे, वह भी तब जब पूर्वार्ध में 'परा बाणी' और उसके 'त्रिविध विग्रह' की गूढ ग्रन्थि उपस्थित हो। फिर पराबाणी तो काश्मीरियों की सोमलता है। उसीके रस में विभोर रह वे अपना चिन्तन स्थिर रखते हैं। जयरथ उसे कैसे छोड़ सकते हैं? तत्रापि इसकी जो व्याख्या यहाँ दी गई है उसकी गंभीरता, उसकी पदावली, उसकी प्रमाणसंपत्ति काष्ठागत वैदुष्य की अपेक्षा रखती है, वह जयरथ जैसे सर्वशास्त्रवेत्ता के ही अनुरूप है। इसके अतिरिक्त 'देवी' शब्द की ऐसी ही व्याख्या जयरथ ने तन्त्रालोक आदि की टीका में भी की है। फलतः एक प्रति में मिलने पर भी उसे प्रामाणिक मूल मानकर अपनाना उचित है। हमने अपना लिया भी है।

सूत्रों का पाठ विमर्शिनी की काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में प्राप्त एक शारदा प्रति में भी 'अलङ्कारसूत्र' नाम से पृथक् दिया मिलता है, अतः हम भी उसे यहाँ पृथक् दे रहे हैं। जो चतुर्थ सूत्र वृत्ति मान लिया गया था इस प्रति में वह भी सूत्रों में ही पठित है, किन्तु उसमें आगे पठित सूत्रपाठ के ८३, ८४ तथा ८५ सूत्रों को एक ही सूत्र माना गया है। उसमें 'एते' शब्द नहीं है।

सूत्रपाठ अधिस्तः विमर्शिनी के अनुरूप ही दिया है, किन्तु जहाँ उचित लगा है उसके विपरीत नवीन पाठ भी अपनाया गया है।

यह कार्य मध्यप्रदेशशासन सेवा में रहते हुए किया गया है। मैं उस शासन के प्रति आभारी हूँ।

अन्त में मैं काशी के विश्वविश्रुत प्रकाशनसंस्थान चौखम्बा संस्कृत क्षीरीज आफिस तथा श्रीलम्बा विद्याभवन के अधिस्तरी श्रीमान् मोहनदास जी गुप्त तथा श्रीमान् बिट्टुदास जी गुप्त को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस बड़े कार्य को यत्नीकार किया और साहित्यसेवियों के लिए गुलब बनाया। मुझे दुःख है कि इस ग्रन्थ की प्रुति के पूर्व ही इस महान् संस्थान के कर्णधार श्रीमान् सेठ जयकृष्णदास जी गुप्त तथा श्रीमान् सेठ श्रीकृष्णदासजी गुप्त कुछ ही दिनों के अन्तर में अकालमृत्यु में योग्य सिधार गए।

यदाकदा मैंने सदिग्ध अंगों पर अपने परमगुरु काशी-सुमेरुनीशधीश्वर शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमहेश्वरानन्द जी सरस्वती, उसी भूमिका के विदेहराज महामाहेश्वर आचार्य प० रामेश्वर जी झा तथा अपने पितृगुरु गुरु प० रामकुवेर जी मालवीय से परामर्श किया है। उनकी प्रणामार्जुन अर्पित करता हूँ।

मैं इस दिशा में कार्य करने वाले अपने पूर्व सुरियों के प्रति भी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ, जिनसे मेरे चिन्तन को बल मिला है।

इस ग्रन्थ के वृत्तिगत उदाहरणों तथा विमर्शिनीपद्यों की सूची विद्वद्गुरु श्री सातकडि मुखोपाध्याय बङ्गीय ने बनाई है। वे एतदर्थं धृतघ्नः साधुवाद के पात्र हैं। किमधिकेन।

नेमः सुमेधसे तस्मै सुश्रेयाय च कोटिशः।

बोध बोध प्रबन्धश्च सत्सर्था यत्र जाग्रति ॥

श्रीगुरुपूणिमा,

सं० २०२८, वाराणसी

— रेवाप्रसाद द्विवेदी

राजानक-श्रीस्यकस्य कृतिः

अलङ्कारसूत्रम्^१

- १ इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः ।
- २ तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ।
- ३ आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदाभासम् ।
- ४ शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदाय—पौनरुक्त्यं च ।
- ५ संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ।
- ६ अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः ।
- ७ स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ।
- ८ शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ।
- ९ तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः ।
- १० तदेवं पौनरुक्त्ये पञ्चालंकाराः ।
- ११ वर्णानां सङ्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ।
- १२ उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा ।
- १३ एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ।
- १४ द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ।
- १५ सहशानुमवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् ।
- १६ अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविपयानपह्वे रूपकम् ।
- १७ आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।
- १८ विषयस्य सन्दिग्धमानत्वे सन्देहः ।

१. अलङ्कारसूत्रमिति वृत्तिरहितो रुच्यवैकरचितः सूत्रमात्रात्मा स्वतन्त्रो ग्रन्थः ।

२. इहेति पदं प्रतिसूत्रम् आग्रन्थमनुवर्तनीयम् ।

- १९ सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिप्रार्थितान् ।
 २० एकस्यापि निमित्तवशादनैकधा ग्रहणमुत्प्लेखः ।
 २१ विषयस्यापह्नवेऽपह्नतिः ।
 २२ अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा ।
 २३ अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिसयोक्तिः ।
 २४ औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुताना वा समान-
 धर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता ।
 २५ प्रस्तुताप्रस्तुताना तु दीपकम् ।
 २६ वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाच्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।
 २७ तस्यापि विषयप्रतिविम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः ।
 २८ सभयताऽसभयता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिविम्बकरण
 निदर्शना ।
 २९ भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।
 ३० उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे
 सहोक्तिः ।
 ३१ विना' किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।
 ३२ विशेषणाना साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः ।
 ३३ विशेषणसामिप्रायत्वं परिकरः ।
 ३४ विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः ।
 ३५ अप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य सामान्यविशेषभावे कार्यकरणभावे वा
 सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।
 ३६ सामान्यविशेषकार्यकरणभावाम्ब्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तर-
 न्यासः ।
 ३७ गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधान पर्यायोक्तम् ।
 ३८ स्तुतिनिन्दाभ्या निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः ।
 ३९ उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधामास
 आक्षेपः ।

- ४० अनिष्टविध्यामासश्च ।
 ४१ विरुद्धामासत्वं विरोधः ।
 ४२ कारणभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना ।
 ४३ कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः ।
 ४४ कार्यकारणयोः समकालत्वे पूर्वापर्यविपर्यये चातिशयोक्तिः ।
 ४५ तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः ।
 ४६ विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।
 ४७ तद्विपर्ययः समम् ।
 ४८ स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रथमो विचित्रम् ।
 ४९ आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यम् अधिकम् ।
 ५० परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।
 ५१ अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।
 ५२ यथा साधितस्य तथैवान्यथाकरणं व्याघातः ।
 ५३ सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।
 ५४ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ।
 ५५ यथापूर्वं परस्य विशेषणतथा स्थापनापोहने एकवली ।
 ५६ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ।
 ५७ 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः ।
 ५८ हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम् ।
 ५९ साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम् ।
 ६० उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् ।
 ६१ एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः ।
 ६२ समन्यूनधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।
 ६३ एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या ।
 ६४ दण्डापूपिकयाऽर्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।
 ६५ तुल्यवलविरोधो विकल्पः ।
 ६६ गुणक्रिया-योगपदं समुच्चयः ।

- ६७ एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च ।
 ६८ कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः ।
 ६९ प्रतिपक्षतिरस्माराशकौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम् ।
 ७० उपमानस्याक्षेप उपमेयताकरूपेण वा प्रतीपम् ।
 ७१ वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहन मीलितम् ।
 ७२ प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादेवात्म्य सामान्यम् ।
 ७३ स्वगुणत्यागादत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः ।
 ७४ सति हेतो तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः ।
 ७५ उत्तरात् प्रज्ञोन्नयनमसद्वदसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम् ।
 ७६ सलक्षितसूक्ष्मार्थप्रक्षरानं सूक्ष्मम् ।
 ७७ उद्भिन्नवस्तुनिगूहन व्याजोक्तिः ।
 ७८ अन्ययोक्तस्य चान्यस्य काकुरत्तेपाभ्यामन्यथा योजनं यकोक्तिः ।
 ७९ सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथानुदर्शनं स्वभावोक्तिः ।
 ८० अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्व भाविकम् ।
 ८१ सद्यद्धिमद्-वस्तु-वर्णनमुदात्तम् ।
 ८२ अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च ।
 ८३ रसमान-तदाभास-तत्प्रशमानां निबन्धेन रसरत्येय-ऊर्जस्विसमाहि-
 तानि ।
 ८४ भावादयो भावसन्धिर्भावशबलता च ।
 ८५ एते पृथगलङ्काराः ।
 ८६ एषा तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः ।
 ८७ क्षीरनीर-न्यायेन तु सङ्करः ।
 ८८ एवमेते शब्दार्थोमयालङ्काराः संक्षेपतः सूत्रिताः ।

॥ कृतिः श्रीराजानकरुय्यकस्य ॥



१ सवृत्तिमूलग्रन्थं सूत्रमिदं पूर्ववर्तिनि सूत्रेऽनुसृज्यतया मुद्रितम्, तदानीमप्रति-
 मानात् । काशीहिन्दूविश्वविद्यालयशास्त्रदापाण्डुग्रन्थे ८३-८५ सूत्राण्येकसूत्रत्वेनैव
 लिखितानि ।

विषयानुक्रम

	पृ०		पृ०
भूमिका	१	२४ व्यतिरेक ✓	२८५
शब्दालंकार-प्रकरणारम्भ	४४	२५ सहोक्ति	२९८
१ पुनरुक्तवदाभास ✓	४६	२६ विनोक्ति	३०६
२ छेकानुप्रास ✓	६०	२७ समासोक्ति ✓	३१२
३ वृत्त्यनुप्रास ✓	६१	२८ परिकर	३४४
४ यमक ✓	६७	२९ इलेप	३५०
५ लाटानुप्रास ✓	७१	३० अप्रस्तुतप्रशंसा	३८१
६ चित्र	७७	३१ अर्थान्तरन्यास ✓	३९९
शब्दालंकार-प्रकरणारम्भ	८०	३२ पर्यायोक्त	४१०
७ उपमा ✓	८०	३३ व्याजस्तुति	४१९
८ अलम्बय	९८	३४ आक्षेप	४२६
९ उपमेयोपमा	१०३	३५ विरोध	४५२
१० स्मरण	१०८	३६ विभावना	४६२
११ रूपक ✓	११५	३७ विक्रपोक्ति	४७६
१२ परिणाम	१३५	३८ अतिशयोक्ति (२)	४८३
१३ सन्देह ✓	१४०	३९ असङ्गति	४८४
१४ भ्रान्तिमान् ✓	१५१	४० विपम	४८८
१५ उल्लेख	१५८	४१ सम	४९४
१६ अपह्नुति ✓	१६८	४२ विचित्र	४९८
१७ उत्प्रेक्षा ✓	१८२	४३ अधिक	५०१
१८ अतिशयोक्ति (१)	२१९	४४ अन्योन्य	५०५
१९ तुल्ययोगिता ✓	२३६	४५ विशेष	५०८
२० दीपक ✓	२४३	४६ व्याघात (१)	५१४
२१ प्रतिवस्तूपमा ✓	२५५	व्याघात (२)	५१७
२२ हृष्टान्त ✓	२६३	४७ कारणमाला	५२३
२३ निदर्शना ✓	२६९	४८ एकावली	५२८

॥ श्रीः ॥

अलङ्कारसर्वस्वम्

नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम् ।
गुर्वलङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते ॥

सविमर्श अनुवाद

भद्रां मन्ये मातरं लोकमार्गं सा वै सर्वा ओपर्धाः संप्रसूते ।
भान्दीक्षिक्यां किन्तु मे भावबन्धः सा ता एता नित्तुषाः संविभक्त ॥
आर्घं गुरुं पितरमेव पुरा नतोऽहमाद्यां च लेखजननीं जननीं मयि स्वाम् ।
एकं तयोस्तदनु विग्रहमाद्वितीयं काश्यां महेश्वरयतीन्द्रकवि श्रितोऽस्मि ॥
यत्राम तत्त्वगुरुभिर्गुरुभिर्गारांचो ज्योतिर्मयि प्रतिनवं प्रकटीकृतं तत् ।
कल्याणकोशमुपजांभ्य मया सटीक-सर्वस्व-शोधन-विधौ क्रियते प्रयत्नः ॥

रुच्यकमुञ्जं, महोः सर्वत्वास्था च तत्र या वृत्तिः ।
ते शोधयते रत्नाकारे, विमर्शिनी तस्यपि ॥
एतात्त्विककृतमार्गे दत्तधिया दीक्षितेन यद् वर्त्म ।
धुण्णं, क्षोदयते तत् पण्डितराजो महारम्भः ॥
विश्वेश्वर इति नामा विद्वन्मान्यः पराक्रमते ।
नव्यन्यायनदीप्यः पण्डितराजं निरालुङ्गम् ॥
सर्वमितां विदुषां, परम्परां बोध्य, बोध्य दण्ड्यादीन् ।
जरतः कान्वालकृतिकतून् रेवाप्रसादनामादम् ॥
अनुवादेन सन्दृष्टां व्याख्यां कुर्वे यथायथं विज्ञदाम् ।
रुच्यकमहत्सुकजयरथकान्वालकृतिसुनित्रवीकृतिषु ॥

‘तीन प्रकार के शरीर से युक्त भगवती परा वाणी को प्रणाम कर गुरुकृत अलङ्कारसूत्रों का तात्पर्य वृत्ति द्वारा यत्नपूर्वक जा रहा है ॥’

श्रीजयरथकृतालङ्कारविमर्शिनी

मङ्गलकामनया ग्रन्थकृत्रिजेष्टदेवताप्रणामपुरःसरमभिधेयं तात्पर्यं चैकेनैव वाक्येन परामृशति—नमस्कृत्येति । परां वाङ्मयाधिदेवतां पराख्यां शब्दद्वयज्ञानोऽपृथग्भूतां शक्तिं परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहां बहिरुल्लिख्यसयिषया पर्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेण प्रकारत्रयेणाधिष्ठितशरीरां नमस्कृत्य निर्विघ्नचिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये तां प्रति कायवाङ्मनोभिः प्रह्वीभूय

निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या ज्ञातव्यमुच्यते इति मङ्गलान्वययोजना । तथा चात्रोक्तलक्षणार्थ-
विस्तरः—

‘येन विमशंरूपैव परमार्थचमत्कृति । सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते ॥
नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता । अनादिनिघना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥
अनादिनिघनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
वैखरी शब्दनिःपत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा । द्योतिःकार्यस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम् ॥’

इत्यादिशास्त्रोक्तिरुमेण सर्वत्र सदोदितायाः सूक्ष्मायाः परायाः शब्दब्रह्मणः शक्तेर्वह्नि-
रुन्मिपन्त्याः प्रथमो विवर्तः पश्यन्ती नाम । तथा चोक्तम्—

‘अविभागा तु परयन्ती सर्वेण सहृदक्रमा । स्वरूपज्योतिरेषान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी ॥’
इति । अस्यार्थः—अविभागा स्थानकरणप्रयत्नप्रकारेण वर्णानां विभागहीना अत एव
सहृदक्रमा तथैवान्तःस्वरूपज्योति स्वयंप्रकाशा स्वस्यात्मनो रूप ज्योतिश्च सर्वत्र हि
सर्वविधायिनी शक्तिरेवेति वान्तःसूक्ष्मवीजादङ्कुरमित्य वह्निरुन्मिपन्ती किञ्चिदुच्छ्रिता
पराया मध्यमायाश्चावस्थां तदस्था पश्यतीति पश्यन्तीऽप्युच्यते । तत्र पर तु—

‘अन्तःसंकरपरुपा या क्रमरूपानुपातिनी । प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥’

प्राणवृत्तिसंज्ञायां विमशंरूपा अन्तःसंस्वरूपा प्राणवृत्तिमतिक्रम्य श्रोत्रप्राणवर्ण-
भिव्यक्तिरहिता क्रमरूपानुपातिनी मानसिषवर्णोच्चारणक्रमेण द्वितीयो विवर्तो मध्यमारूपो
जायते । मध्यमा किञ्च द्वयोर्वाग्विवर्तयोः पश्यन्तीवैखरीसंज्ञयोर्मध्ये वर्तमानमध्यमे-
स्युच्यते । तदनन्तरं च—

‘स्थानेषु विद्युते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा । वैखरी वाक् प्रयोक्त्वा प्राणवृत्तिमिवन्धना ॥’

इति लक्षणस्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यवस्थानः श्रोत्रप्राणदुन्दुभिर्वीणादिनादपरिचयो गङ्ग-
दान्यक्तगकारादियिलाससमुच्चयपददान्यारम्भस्तृतीयो विवर्तो वैखरीस्युच्यते । विशिष्टं
समाक्रान्तं सुपरूपं राति गृह्णातीति विखरः प्राणवायुसंचारविशिष्टो वर्णोच्चारस्तेनाभिव्यक्ता
वैखरीति । विखरे खरीरे भया वैखरीति वा शेषित् । सिद्धो मङ्गलार्थः । तथा चात्र पृथार्थं
एव पुनरावृत्त्याभिधेयपदार्थान्वययोजना—यथा परां वाचमुत्तमकाव्यरूपतया काव्यात्म-
धनिसंज्ञाम् अभिधातात्पर्यलक्षणेतीर्णामुत्कृष्टाम् । देवीम् ‘दिवु क्रीडाविजिगीषाघुनिस्तु-
तिप्यवहारमोदमदकान्तिस्वप्नगतिषु’ इति यथायथं धार्यार्थानामनुस्मरणात् शक्तिमता
देवीनां श्रोतणा च स्वभावात्स्वेच्छया समुच्छ्रलन्तीं श्रीदन्तीम् । तथा देवीं विजिगीषु
शब्दं तत्संकीर्तितं चार्थमुपसर्जनीकृत्य वर्तमानाम् । तथा देवीं द्योतमाना द्योतनध्वनयोः
पर्यायत्वाद् ध्वनिसंज्ञाम् । तथा देवीं स्तुत्यां सर्वैः काव्यात्स्वादिभिवन्ध्याम् । तथा देवीं
व्यवहरन्तीं सर्वत्र प्रचरितां ॥ तुष्ठापि स्थलिताम् । तथा देवीं मोदमानां युतिमात्रेणैव
परमानन्ददायिनीम् । तथा देवीं माद्यन्तीं कवे सहृदयस्य च यथायथं करणावधोधाभ्यां
कमप्यहंकारं जनयन्तीम् । तथा देवीं कमनीया सर्वैरभिलषणीयाम् । त्रिविधविग्रहां
त्रिविधस्त्रिप्रकारो विग्रहो व्यतिरेकेण ग्रहो व्यतिरेकमूलः प्रमाकरणप्रकारो यस्यास्ताम् ।
तथा हि ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादिवाक्येषु घोषस्य यच्छब्दत्वावन्त्वादिकं प्रतीयते तत्र
नाभिधा । गङ्गादिशब्दानां शैत्याद्यर्थस्यावाचकत्वात् । न तात्पर्यात्मा । तात्पर्यशक्त्या
ह्याधाराधेयभावावगमार्थं परस्परमन्वयमात्र एव लीणत्वात् । न लक्षणा । सुत्यार्थवाधा-
दिहेतुप्रिनयामावात् । तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तचतुर्थकषयानिश्चितो ध्वज-
स्यापार इत्यादि सोऽयमेवाग्रे विमृष्यति । अथ च व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयमूलत्वेन प्रसि-

द्वन्विधो विग्रहो विशेषणानां भेदानां ग्रहो यस्या इति वा । एतादृशीं तां नमस्कृत्य मङ्गलाचरणरूपत्वेन मनानुद्दिश्य न तु सूत्रवृत्तिभ्यां तात्पर्यकथनादिलक्षणपरीक्षाविस्तारेण निर्णयं निजालंकारसूत्राणां धृत्या तात्पर्यमुच्यते इति । अस्याभिप्रायः—तथा च ध्वनेर्मानानुद्देशमात्रमेव करोति 'इह हि वाचद्वयमह—' इत्यादिना । तदेतत्तावदास्ताम् । निजेति । परकीयाणां सूत्राणां तात्पर्यकथनानवबोधोऽपि स्यादिति भावः । तथा न कैश्चिदपि परैरीदंशि सूत्राणि कृतानित्यपि ध्वनितम् । तात्पर्यमिति । संचिन्तार्थप्रकाशनमित्यर्थः । अन्यथा हि कथनमेपां ब्रह्मनापि ग्रन्थेन पारं न यायात् । ननु—

'आदिवाक्ये प्रयोक्तव्यमभिधेयप्रयोजने । प्रतिपाद्यितुं श्रोतृप्रवाहोस्ताहसिद्धये ॥'

इति नीत्या श्रोतृप्रवृत्त्यर्थं सर्वत्रैवादिवाक्येऽभिधेयप्रयोजनाद्यभिधीयते । तच्चेह नोक्तमिति कथमत्र श्रोतृणां प्रवृत्तिः स्यात् । मैवम् । अलंकारा ह्यत्राभिधेयाः । तेषामत्र साक्षादेवाभिधानात् । तदभिधायकं चेदमलंकारसर्वत्वानर्थं प्रकरणमित्यभिधानाभिधेययोर्निघमगार्भाकारेणार्थाक्षिप्तो वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धः । नहोवविधमेतदभिधायकं प्रकरणान्तरमस्ति । तस्यान्विध्यमाणस्याप्युपलम्भयोग्यस्थानुपलम्भात् । अत एवात्रान्यालंकारग्रन्थवैलक्षण्योद्घोषगाय 'तात्पर्यमुच्यते' इत्याद्युक्तम् । अभिधेयाश्चात्रालंकाराः कान्यालंकारा न लौकिका इत्येतेषां कान्योपस्कृतिद्वारेण पारम्पर्येण—

'कान्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शियेतरत्तये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततथोपदेशयुजे ॥

इत्याद्युक्तनीत्या तद्विनाभावस्वभावत्वाद्यार्थसर्वपुरुषार्थसिद्धिरूपा चतुर्गणावाप्तिः प्रयोजनम् । तयोश्चाध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धः । इति स्थितमेवादिवाक्यस्य श्रोतृश्रवणश्रद्धाविर्भावनिबन्धनत्वम् ।

सचिदर्श अनुवाद

ग्रन्थकार मंगल करने की इच्छा से अपनी इष्टदेवी को प्रणाम करते हुए [ग्रन्थ के] प्रतिपाद्य विषय का परामर्श भी एक ही वाक्य में करते हुए कहते हैं—नमस्कृत्य ० । 'परा अर्थात् वाङ्मयमात्र की अधिष्ठात्री देवी और शब्दब्रह्म की उससे अत्युच्च परानामक शक्ति, जो बाहर उल्लसित होने की इच्छा से पश्यन्ती, मध्वमा और बैखरी इन तीन शरीरों में अधिष्ठित होती है, उसको नमस्कार कर विकीर्णित ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए उसके प्रति काय, वचन और मन से नम्र होकर अपने [गुरु रुच्यकाचार्य के] अलंकार सूत्रों का तात्पर्य धृति लिख कर [सुअ मन्त्र के द्वारा] बतलावा जा रहा है' यह हुई मंगलवाक्य की पदार्थयोजना ।

उक्त मंगल पद्य में आए पदार्थों का लक्षणसहित विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—“वह जो विमर्श रूप से ही विद्यमान परम अर्थ का चमत्कार है वही सभी पदार्थों का सार है । उसी को परा वाणी कहा जाता है ।”

“उसी (परा वाणी) का नाम नाद है । वही सभी भूतों में जीव रूप से अवस्थित है । न उसका आदि है और न अन्त । वह अत्यन्त सूक्ष्म और अनन्तर है ।”

“आदि और अन्त से परे जो ब्रह्म है वही शब्दतत्त्व है । उसी का नाम अक्षर है । अर्थतत्त्व इसी अक्षर तत्त्व का विवर्त है । वही संसार की विचित्र रचना की जड़ है ॥

“निष्पन्न शब्द (कान्याग्नि द्वारा प्रेरित प्राणवायु का मूर्धा से उभराकर कण्ठद्वारा शब्दरूप से निकल जाना) बैखरी वाणी है [जो कर्णमोचर होती है], मध्वमा (कान से नहीं सुनाई देकर केवल) स्मृति का विषय बनती है । पश्यन्ती अर्थ को चोतित करती है और जो अत्यन्त सूक्ष्म पर वाक् है वह तो केवल ब्रह्मरूप ही है ।”

—इत्यादि शास्त्रवचनों के अनुसार सर्वत्र और सदा उदित (कथित अथवा उदय को प्राप्त) जो शब्दब्रह्म की सूक्ष्म परा वाणी नामक शक्ति है उमत्त बाहर उन्मिषित होते समय जो प्रथम विवर्त होना है उसे पश्यन्ती कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—“पश्यन्ती अविभागा = विभागरहित होती है, उसमें क्रम विलक्षण नहीं रहता। वह (पश्यन्ती) आत्मज्योति रूप ही है, अन्न सूक्ष्मा और अनपायिनी (अविनश्वर) है।” —इसका अर्थ है—अविभागा = अर्थात् (कण्ठ सात्त्व आदि) स्थान तथा इन्द्रियों के (आन्त्यन्तर और बाह्य) प्रयत्नों से वर्णों में जो भेद आ जाता है उसमें रहित, और इसीलिए कमरहित, अन्नज्योति स्वरूप अर्थात् भव्यप्रकाश, स्वरूप = अपना अर्थात् आत्मा का जो रूप वहीं ज्योति अथवा सर्वत्र सर्वविशायिनी शक्ति, जिसका अन्तराल अत्यन्त सूक्ष्म रहता है ऐसे बाज में अक्षर के समान बाहर उन्मिषित होती अर्थात् कुञ्ज-कुञ्ज व्यक्तता की ओर उन्मुख होती तथा एक ओर परा और दूसरी ओर मध्यमा की स्थिति का तदव्यय से दर्शन करना हुई जो वाणी है वही पश्यन्ती कहा जाती है। इस पश्यन्ती के बाद (आती है मध्यमा, उमका लक्षण है) “जो वाणी अन्नमकरूप रूप है, जिसमें क्रम और रूप (अर्थात् वर्ण भेद) रहने हैं विन्तु जो प्राणवृत्ति से परे रहती है उसे मध्यमा वाणी कहा जाता है।” इसका अर्थ है—“मै यह फूटू” ऐसा जो मानस-विचार तत्त्वरूप और इसीलिए अन्न-मकरूपस्वरूप, प्राणवृत्ति से परे अर्थात् कानों से सुनाई पकने वाले वर्णों की अभिव्यक्ति से रहित, क्रमरूपानुपातिनी = मानसिक जो वर्णोच्चारण उसके अनुसार विवर्तित होने वाली वाणी मध्यमा कही जाती है। यह हुआ शब्द ब्रह्म का द्वितीय विवर्त। इसका नाम मध्यमा इति शब्द है कि यह, वाणी के जो दोष दो विवर्त बैररी और पश्यन्ती हैं इनके बीच रहती है। इसके पश्चात्—“स्थानों में वायु के विवृत होने पर वर्णरूप से व्यक्त वाणी बैररी वाणी होती है। यह उच्चार-यिता के प्राणव्यापार पर निर्भर रहती है।” —इस लक्षण के अनुसार स्थान और इन्द्रियों के प्रयत्न द्वारा क्रमपूर्वक व्यक्त होने वाली वाणी बैररी वाणी होती है। यह कानों से सुनने योग्य दुन्दुभि, बीणा आदि के नाद के समान होती है। इसमें गद्यदादि कल्पन रहने हैं और गकारादि वर्णों के द्वारा बनने वाले वर्ण, पद तथा वाक्य भी। यह वाग्मज का तीमरा विवर्त होना है। इस वाणी के लिए प्रयुक्त होने वाले ‘बैररी’—शब्द की निरक्ति कुञ्ज विद्वानों के अनुसार इस प्रकार है—‘वि = विशिष्ट, उ = मुररूप आकाश को र = ग्रहण करने वाला हुआ—‘विरर’ अर्थात् शरीर, उसमें उत्पन्न होने वाली हुई—‘बैररी’। यह हुआ मगल पक्ष का स्तुतिपरक अर्थ। इसी संगोपन के पूर्वार्ध के पदों की आवृत्ति करने पर यह तथ्य भी व्यक्त होना है जो प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपाद्य है। यथा—परावाणी = उत्तम काव्य की आत्मा ध्वनि जो अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति से परे रहती है। देवी = $\sqrt{\text{दिव्}}$ भातुक्य अर्थ है क्रीटा, विजयेच्छा, घुनि, स्तुति, व्यवहार, मोद, मद, कान्ति, स्वप्न तथा गति। देवी शब्द में इन सभी अर्थों की योजना यथासम्भव की जा सकती है। क्रीटा अर्थ में देवी = शक्तिमान् कवियों तथा श्रोताओं में स्वभाव में वेच्छया समुच्छलित होती हुई अर्थात् क्रीटा करता हुई, विजिगोपा अर्थ में देवी = विजयेच्छा रमणी हुई अर्थात् शब्द और उससे प्रकट अर्थको शीघ्र बनाकर अवस्थित। घुति अर्थ में देवी = चोदित अर्थात् ध्वनित होती हुई, चोदन और ध्वनन दोनों के पर्यायवाचक होने में चोदमान का अर्थ हुआ ध्वनिसञ्चक। स्तुति अर्थ में देवी = स्तुत्य, (ध्वनि रूपसे) काव्यात्मा होने के कारण सभी महद्दर्या द्वारा अभिगन्धित। व्यवहार अर्थ में देवी = सभी क्षेत्र में चलने वाला, कहीं भी स्थलित न होने वाली। मोद अर्थ में देवी = सुनने मात्र से परम आनन्द देने वाली। मद अर्थ में देवी = नवि और सहृदय में क्रम से निर्माण और अनुशीलन द्वारा एक विचित्र अङ्कार पैदा करने वाली, कान्ति अर्थ में देवी = सभी व्यक्तियों द्वारा अभिलषणीय

(वाचन्ति = श्रद्धा) । त्रिविधविग्रहा = त्रिविध अर्थात् तीन प्रकार का है विग्रह अर्थात् व्यतिरेकी ग्रह यानी व्यतिरेकद्वारा प्रमात्मक ज्ञान कराने का प्रकार विसर्ग; जैसे “गंगा पर घोष है” इत्यादि वाक्यों में घोष में जो शैत्यपावनत्वादि धर्मों का ज्ञान होता है उसमें अभिधा कारण नहीं होती क्योंकि शैत्य आदि अर्थों में गंगाशब्द की वाचकता (संकेतग्रह) नहीं रहती, न तात्पर्यशक्ति ही क्योंकि तात्पर्यशक्ति गंगा और घोष आदि में आधाराधेयभाव आदि संबन्धमात्र का ज्ञान कराकर नष्ट हो जाती है, न लक्षणा ही, क्योंकि लक्षणा के हेतु मुख्यार्थवाध आदि यहाँ नहीं रहते । फलतः अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चतुर्थ कक्षा में निहित व्यञ्जनाव्यापार से शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान हो पाना है । [इससे स्वयं विमञ्चिनीकार ही आगे विचार करेंगे] । दूसरे प्रकार से (त्रिविधविग्रहा) शब्दमूलक, अर्थमूलक और उभयमूलक, अतः तीन प्रकार का है विग्रह अर्थात् त्रि = विशेषणों भेदों का ग्रह=ज्ञान विसर्ग । ऐसों उस उत्तम कान्वरूपा परा (शक्ति) की नमस्कार करने का अर्थ है मंगलाचरण के माध्यम से सूत्रात्मक ढंग से कुछ निर्देश करना, न कि सूत्र द्वारा तात्पर्य कथन और वृत्ति द्वारा लक्षणपरीक्षा आदि के विस्तार के साथ । अपने अलंकारसूत्रों का तात्पर्य वृत्ति द्वारा बतलाने का अभिप्राय है कि यहाँ ध्वनि का तो केवल शोभा सा नामकथन मात्र रहेगा, अर्थात् “इह हि तावद् आमहम्” इत्यादि द्वारा [इस पर अधिक विचार नहीं होगा] इस विषय की चर्चा इतने में ही समाप्त हो जावेगी ।

निज = निज इसलिए कहा कि किसी को यह ज्ञान न हो कि किसी अन्य के बनाए सूत्रों का तात्पर्य बतलाया जा रहा है । इससे यह भी ध्वनित हुआ कि अन्य आचार्यों ने ऐसे सूत्र नहीं बनाए हैं । तात्पर्यम् = तात्पर्य=संक्षिप्त अर्थ का प्रकाशन । अन्यथा यदि इन अलंकारसूत्रों का तात्पर्य विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जाए तो बहुत बड़ा ग्रन्थ रचकर भी उसका पार पाना संभव न होगा । शंका होती है कि—“आदि वाक्य का प्रयोग अभिधेय और प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए किया जाना चाहिए जितसे श्रोताओं में उत्साह बना रहे—इस निबन्ध के अनुसार श्रोता की प्रवृत्ति के लिए सभी ग्रन्थों में प्रथम वाक्य में अभिधेय तथा प्रयोजन आदि का प्रतिपादन किया जाता है । यहाँ वह नहीं बतलाया गया । फलतः इसकी ओर श्रोताओं [या पाठकों] की प्रवृत्ति कैसे होगी ?” [उत्तर] ऐसा नहीं है । यहाँ अभिधेय है अलंकार, क्योंकि यहाँ उन्हीं का साक्षात् नामोल्लेख है । उनका अभिधायक है ग्रन्थनाम—‘अलंकारसर्वस्व’ । अभिधान और अभिधेय का वाच्यवाचकभाव संबन्ध रहता ही है, अतः उसका ज्ञान अपने आप हो जाता है । इन [अलंकारों] का अभिधायक इस प्रकार का कोई और ग्रन्थ नहीं है क्योंकि वह मिलता नहीं है । यदि [ऐसा कोई ग्रन्थ] होता तो खोजने पर मिलता ही । इसीलिए अन्य अलंकार ग्रन्थों से इसके अन्तर की घोषणा करने के लिए कहा—‘तात्पर्यमुच्यते’ । अभिधेय है यहाँ अलंकार अर्थात् कान्व के अलंकार न कि लौकिक अलंकार । इस प्रकार अलंकार शोभा बढ़ाते हैं कान्व की ओर—‘कान्व यज्ञ प्राप्त कराता है, धन दिलाता है, न्वह्वार का ज्ञान कराता है, अमंगल का ज्ञान करता है, तल्लाल पर शान्ति देता है तथा कान्तासम्मित [माधुर्य-भूमिका द्वारा] उपदेश भी देता है ।’ [कान्वप्रकाश के] इस वचन के ‘अर्थ’ शब्द से गृहीत [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन] चारों पुरुषार्थों की जो प्राप्ति तदरूपी प्रयोजन सिद्ध करते हैं, क्योंकि अलंकार कान्व से पृथक् नहीं होते । इन दोनों [पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन तथा अलंकार] का संबन्ध है साध्यसाधनसावात्मक । [अलंकार साधन हैं और पुरुषार्थ साध्य] इस प्रकार यदि वाक्य में श्रोता में श्रवण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की क्षमता सिद्ध ही है ।

विमर्शिनी

ननु यदीहालंकारा अभिधेयास्तर्हि तदलंकाराणांऽप्यभिधेयः। 'अलंकारा अलंकारापेक्षा' इति नीत्या स एवैषा को नाम यदुपस्कारकत्वेनैतत्स्वरूपमभिधीयत इत्यादाङ्ग्य तदवतरणिकामेव वक्तुमुपक्रमते—इत्यादिना ।

शका होनी है कि यदि इस ग्रन्थ में अलंकारों का प्रतिपादन करना है तो उनमें जो तत्त्व अलङ्कार होने हैं उन अलंकारों का भी प्रतिपादन होगा चाहिए। जय यह कि 'अलंकार अलंकार्यतापेक्ष होते हैं—इस नियम के अनुसार प्रथम इस तत्त्व के विषय में है जिसका उपस्कार करने वाले तत्त्व के रूप में अलंकार का निरूपण किया जा रहा है। इसके उत्तर में कहते हैं—

[सर्वस्व]

इह हि तावद् भामहोऽङ्गप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिश्चितं मन्यन्ते । तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुत-प्रशंसात्ममासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ धस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेप- परार्थं न्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः ।

रुद्रदेनापि भावालंकारो द्विषोक्तः । रूपकदीपिकापल्लवितुल्ययोगितादा-द्युपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः । उत्प्रेक्षा तु स्थयमेव प्रतीयमाना कथिता । रसवत्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः । तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव ।

इत (अलंकारशास्त्र) में (ध्वनिवादी आचार्यों से) प्राचीन आचार्य भामह और उद्भट आदि के जो आरम्भिक सिद्धान्त हैं उनमें (ध्वनिवादी द्वारा प्रधानरूप से स्थापित) प्रतीयमान अर्थ को वाच्य अर्थ का शोभापायक अतएव (व्यप्रधान) अलंकार स्वरूप माना गया है । इन आचार्यों के अनुसार पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलंकारों में वस्तु की (ध्वजना या अनुमान से) प्रतीति होती है किन्तु यह वाच्यार्थ की शोभापायक होता है । इस गन्थ को उन्होंने दो प्रकार से स्पष्ट किया है (१) "अपनी सिद्धि के लिए (वाच्यार्थ द्वारा) दूसरे अर्थ का आक्षेप", (२) "दूसरे के प्रति (वाच्यार्थ द्वारा) अपना समर्पण" । रुद्र ने भी (वस्तुध्वनि को वाच्य की शोभा बढ़ाने वाला जनलाने वाला) भावनामक अलंकार माना है और उसके दो भेद बतलाए हैं ।

(इस वर्ग के आचार्यों ने) रूपक अपहृति, तुल्ययोगिता आदि में उपमादि अलंकारों को वाच्यार्थ का उपस्कारक कहा है । (उद्भट ने तो) उत्प्रेक्षा (के एकभेद) को प्रतीयमान ही कहा है । (भामह और उद्भट ने) रसवत् और प्रेय आदि अलंकारों में रस और भाव आदि को वाच्यार्थ का शोभाहेतु बतलाया है । इस प्रकार (वस्तु, अङ्कार और रस के) तीनों ही प्रकार के प्रतीयमान अर्थ को इन आचार्यों ने अलंकारस्वरूप ही बतलाया है ।

विमर्शिनी

प्रभृतिना दण्ड्यादयः । तावच्छब्दो विप्रतिपर्यभाष्योत्तकः । चिरंतनेत्यादि । ध्वनि-कारमसमेभिर्न दृष्टमिति भावः । प्रतीयमानमिति । वाच्यव्यतिरिक्तत्वेन स्वयमेव न सिद्धमपी-त्यर्थः । जयमिति । विप्रान्तिस्थानतया परमोपादेयतालक्षणम् । वाच्योपस्कारकत्वेन । वाच्यो-पस्कारकत्वं शलंकाराणामात्मभूतम् । अलंकारपक्षनिश्चितमिति । सममालकारान्तभूतं न

पुनस्तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः । मन्यन्त इति । तथात्वेन मन्यन्ते न पुनस्तथा संभवतीत्यर्थः । नद्यभिमननमात्रेणैव भावानामन्ययाभावो भवतीति भावः । एतदेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना । तैर्वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपादितमिति संबन्धः । वस्तुमात्रं न पुनरलंकारा रसश्च । स्वसिद्धय इति । 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तैरात्मनः प्रवेशसिद्धयर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा वाचिष्यन्ते । तैर्विना तेषां प्रवेशासिद्धेः । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तु गङ्गाशब्दः परत्र तटे घोषाधिकरणतासिद्धये स्वात्मानमर्पयति । स्वयं तस्य घोषाधिकरणत्वासंभवात् । यथायोगमिति । क्वचिद्दि वाच्योऽर्थः स्वसिद्धये परं प्रतीयमानमर्थमाचिपति । क्वचिच्च स्वयमनुपपन्नमानः सन्प्रतीयमान एवार्थं त्वं समर्पयति । तेन यत्र यादृक्त्र तादृगेव योज्यमित्यर्थः ।

प्रभृति शब्द से दण्डों आदि की ओर संकेत है । तादृक् = आरम्भिक—शब्द द्वारा उन सिद्धान्तों में विप्रतिपत्ति न होना संकेतित किया गया । चिरंतन = प्राचीन कहकर यह बतलाया गया कि इन आचार्यों ने ध्वनिकार का मत नहीं देखा है । प्रतीयमान = वाच्य से भिन्न रूप से सबको अनुभव में आने वाला । अर्थ = उसी में तात्पर्य को विश्रान्त रहती है अतः वहाँ परमोपादेय होता है । वाच्योपस्कारक = वाच्य की शोभा बढ़ाने वाला होना ही अलंकारों की अलंकारता है । अलंकारपक्ष निश्चित = पूरे के पूरे को अलंकार के अन्तर्गत मानना, उससे भिन्न नहीं । मन्यन्ते = ऐसा उनको मान्यता है, परन्तु ऐसा होता नहीं है । अर्थ यह कि किसी को धारणानात्र से किसी वस्तु का बदल जाना संभव नहीं । वस्तुमात्र = केवल वस्तु, अलंकार और रस नहीं । स्वसिद्धये = अपनी सिद्धि के लिए । "भाले भीतर जा रहे हैं" (कुन्ताः प्रविशन्ति) इत्यादि वाक्यों में भाले आदि शब्द भीतर जाने रूपी क्रिया में (जब होने के कारण अलंभव) अपना कर्तृत्व सिद्ध करने के लिए स्वयं का धारण करने वाले (चेतन) पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं । क्योंकि उन (पुरुषों) के बिना उन (भालों) का भीतर जाना संभव नहीं । (यह हुआ अपनी सिद्धि के लिए अपना अर्थ बिना छोड़े दूसरे अर्थों का ग्रहण) 'गंगा जी पर घोष' इत्यादि उदाहरणों में (स्थिति भिन्न है, यहाँ) गंगा का अर्थ है विशिष्ट जलप्रवाह, वह घोष का आशय नहीं वन सक्रता, अतः उस—(आश्रयता) की सिद्धि के लिए गंगा शब्द प्रवाहरूपी अर्थ को सर्वथा छोड़ देता है और तत्तत्पक्ष अर्थ को अपना लेता है क्योंकि वह घोष का आशय वन सकता है । यहाँ उसका स्वसनर्पण कहलाता है । यथायोगम् अर्थात् वाच्य अर्थ कहीं तो दूसरे प्रतीयमान अर्थ का आक्षेप अपनी सिद्धि के लिए करता है और कहीं अपने आप असिद्ध रहने के कारण अपने आपका प्रतीयमान अर्थ को समर्पण कर देता है । अतः वाच्य अर्थ को कहीं जैसी स्थिति हो वहाँ वैसी ही स्थिति समझ लेनी चाहिए ।

विमर्शिनी

तत्र पर्यायोक्तं यथा—

'अथाहोक्षो लङ्कामयमयमुद्वन्तमतरद्विशल्यां सौमित्रैरयमुपनिनायापधिवनात् ।

इति स्मारं स्मारं स्वदस्त्रिजलमोचित्रलिखितं हनूमन्तं दन्तैर्वैशति कुपितो राक्षसगणः ॥'

अत्र राक्षसगणवृत्तान्तो वाच्यः सन् स्वसिद्धये परं कारणरूपमरिपलायनाशाचिपति ।

तत्पलायनाद्यन्तरेण राक्षसवृत्तान्तस्यासंगतेः । अप्रस्तुतग्रन्थांसा यथा—

'प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः

स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यासपि ।

तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन्प्राणापहारक्रियां

आतः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेताललीलायसे ॥'

अत्र वेतालचरितमप्रस्तुतं प्रकरणादिवशेन स्वयमनुपपद्यमानं सत् प्रस्तुते कृतप्रवृत्तान्ते स्वं समर्पयति । समासोक्तिर्यथा—

‘दन्तद्वयानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्धिन्नसान्द्रपुलके भवत’ शरीरे ।

दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोक्तानि ॥’

अत्र बोधिसत्त्वे नायकव्यवहारो न सम्भवतीति स्वसिद्धयर्थं नायकत्वमाक्षिपति । आक्षेपो यथा—

किं भगिमो भग्गद् क्विन्ति अथ किं वा इमेण भणिण्ण ।

भणिण्हिसि तद्द्वि अह्वि भगामि किं वा ण भणिओमि ॥’

अत्र षडयमाणविषयो भणननिषेधो वाच्यः सन् बक्तुमेवोपपन्नस्य निषेधात्तुपपत्तेः स्वयमविधायक्यन् स्वान्प्रसमर्पणेन त्वां प्रति भरिष्यामि अथवा म्रिये यद्वा मृता यावद्दहमिति विधिप्रयमयान्तरमाक्षिपति । यत्त्वन्नान्यै, ‘वाच्योऽर्थः स्वसिद्धयेऽर्थान्तरमाक्षिपति’ इत्युक्तं तदुक्तमेव । तथात्वे हि निषेध एव पर्यवसितः स्यान्न निषेधाभास इत्याक्षेपालंकार एव न स्यात् । ‘आमुत्पावभासमानो हि निषेध’ आक्षेपलक्षणम् । न च विधिनिषेधयोर्विरोधात्साध्यसाधनभायो युक्तः । न्याजस्तुतिर्यथा—

‘इह्णिण पडुणोपडुणो पडुत्तणं किं चिरंतनपडुण ।

गुणदोसा दोसगुणा एहिं कआ णहु कआ तेहिं ॥’

अत्र चिरंतनानां निन्दा वाच्या सती स्वयमनुपपद्यमाना स्तुतायाः मानमर्पयति । तत्रतत्वेन वस्तुवर्तिताया निन्दाया अर्थभवात् । एवमद्यतनानामपि स्तुतिनिन्दायामात्मानमर्पयति । तस्या अपि विपरीततया तत्रतत्वेनाप्यभवात् । यत्पुनरत्रान्यै, स्वसिद्धये पराक्षेपो व्याख्यातस्तदुपेक्ष्यमेव । यतोऽथ चिरंतनानां श्रुत्याक्षेपेण निषिद्धा निन्दैव प्रतीयेत, अद्यतनानां च निन्दाक्षेपेण निषिद्धा स्तुतिरेवेति वाक्यार्थविप्रलोक एव पर्यवसितः न्यादिति नैतद्युक्तम् । किं च लक्षणायामपि स्वसिद्धये पराक्षेपो न युक्तः । तथात्वे हि लक्षणायाः स्वरूपहानिः स्यात् । वाच्यलक्षणस्यैव स्वस्य सिद्धत्वान्मुण्यार्थवाचाभावात् । न चैकत्रा एकस्य वाच्यः सिद्धिश्चेति वक्तुं युक्तम् । विप्रतिषिद्धं ह्येतत् । वाच्यस्यैव यद्यत्रसिद्धिस्तदभिधेयं स्यात् लक्षणा । तस्या हि मुर्यार्थवाच्य एव जीवितम् । ‘कुन्ता प्रविशन्ति’ इत्यादी च कुन्ताना स्वयं प्रवेष्टुमसंभवान्मुर्यार्थवाच्य एवेति परस्य कुन्तवद्रूपस्य लक्ष्यस्यैवार्थस्य प्राधान्यम् । अतश्च लक्षणार्थां वाधितः सम्मुख्योऽर्थ परत्र लक्ष्य एव स्वं समर्पयतीत्येव युक्तम् । ननु यद्येवं तत्पर्यायोक्तादी वाच्यसिध्यर्थं परस्य लक्ष्यस्याक्षेप प्रतीयत इति तत्र किं प्रतिपत्तव्यम् । इदं प्रतिपत्तव्यम्—अत्र हि लक्षणाया एव नावकात् । तत्र हि कथमहं स्वामिति वाच्यं सत् कार्यं तद्विनाभावत्परं कारणमाक्षिपतीत्याक्षेपेणैव सिद्धेस्तस्या अनुपयोगः । ‘गौरनुबन्ध्यः’ इत्यत्र यथा कथं मे श्रुतिचोदितमनुबन्धनं स्यादिति जात्या व्यङ्ग्यविनाभावाद्बद्धिच्छिराक्षिप्यते न ॥ लक्ष्यते तयैत्रात्रापि कार्यकारणयोर्ज्ञेयम् । एवं समासोच्छ्रवणं नायकव्यवहारस्तद्विनाभावित्वादेव नायकत्वमाक्षिपतीत्यत्रापि लक्षणा मूलत्वं नाशङ्कनीयम् । ग्रन्थकृता पुनरेतच्चिरंतनमतानुवादापरनयोक्तम् । अस्माभिस्तु प्रमद्वाद्स्तु पर्यालोचितमित्यलं बहुना ।

पर्यायोत्पत्त्यकार जैसे [कोई कवि अपने आश्रवदाता की स्तुति में कह रहा है कि “हे देव] श्मने श्मारी रका को जला डाला, दसने समुद्र को भी पार कर लिया, दसने औपधि के वन में से विशाल्या नामक औपधि लक्षण के लिए लावहुँचार्द—रेमा स्मरण कर करके कुपित हुए राक्षस लोग आपके शत्रुओं की बल्मी (चन्द्रशाला) में चित्रलिखित हनुमान् को दौर्तों से टंसने लगते हैं ।”

यहाँ अभिधावृत्ति से तो कथित है राक्षसों का व्यवहार, पर वह व्यंजना से प्रतीत "राजा के शत्रुओं का भागना आदि" अर्थ के बिना संभव नहीं है, अतः वह (वाच्य राक्षस वृत्तान्त) उस (प्रतीकमान शत्रुपलायन आदि) का आक्षेप कर लेता है । उस (प्रतीकमान) का आक्षेप इसलिए संभव भी है कि वह उस (वाच्य) का कारण है (अर्थात् स्तूयमान राजा के शत्रुराजाओं के भक्तों में राक्षसों का रहना और चित्रलिखित हनुमान् जी को दौताँ से डँसना तब संभव है जब वे राजा भवन छोड़ कर भाग गए हों) । बिना राजाओं के मागे राक्षसों का चित्रित हनुमान् को डँसना आदि व्यापार संभव नहीं ।

अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे—“हि भार्ये वेताल [जगाया हुआ श्रव] केवल तुम्हीं प्रत्युपकारी व्यक्तियों में बरिष्ठ हो, क्योंकि तुमने उस व्यक्ति को भी केवल मुसकुराहट भर में निश्चाय कर दिया जिसने अपने उद्योग से तुम्हारे भीतर बलाव प्राण डाले, [मृत पड़े] तुम्हें [जगाकार] खड़ा किया, जिसके कर्ण पर भी तुम काफी समय तक चढ़े रहे और न केवल इतना ही, जितने तुम्हारी पूजा भी की ।” यहाँ वेताल का चरित [किसी भी व्यक्ति द्वारा वेताल को ऐसा उपालम्भ देना] अपने आपमें अनुपपन्न है, फलतः वह किसी कृत्य के वृत्तान्त के रूप में पर्यवसित हो जाता है, और प्रतीत होता है कि वक्ता का लक्ष्य कोई कृत्य व्यक्त है ।

[अप्रस्तुत प्रशंसा में अभिधा द्वारा अप्रस्तुत और प्रस्तुत व्यंजना द्वारा प्रतिपादित होता है । यहाँ कृत्य प्रस्तुत या वर्ण्य है किन्तु शब्दों द्वारा वर्णन किया जा रहा है तत्सदृश वेताल का । अतः यह सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है ।

वेताल को उपालम्भ देना इसलिए अव्यवहार्य है कि वेताल उपालम्भकर्ता को भी चढ़ कर सकता है ।]

“रक्तचित्त (सिंही = खून की इच्छा, नायिका = अनुरागयुक्त चित्त से) सिंहीनी ने (हे बोधिसत्व) पर्याप्तमात्रा और सपनता के साथ उभरे पुलक से युक्त आपके शरीर में जो दन्तक्षत और नखक्षत किए हैं उन्हें निःस्पृह मुनिवों ने भी स्पृह होकर देखा ।” इस पद्य में (दो व्यवहार प्रतीत हो रहे हैं एक नायिका द्वारा अनुरक्तचित्त से नायक के सात्त्विकभाव रोमांचादि से युक्त शरीर में दन्तनखक्षत की प्रणयलीला और दूसरा—रक्तयानेच्छु सिंहीद्वारा बोधिसत्व के वेदना से रोमांचित शरीर पर दाँत तथा नखों से घाव करना । इनमें से जो) नायिका नायक व्यवहार है वह (वातराग) बोधिसत्व में संभव नहीं अतः उसका आक्षेप करना पड़ता है ।

[समासोक्ति के विषय में सामान्य मत यह है कि उसमें वाच्यार्थ के अनुपपन्न हुए बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है । यहाँ यह नवीन तथ्य स्वीकार किया जा रहा है कि “वाच्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है ।” जो बोधिसत्व है उसमें रति के सात्त्विक अनुभाव रोमांच आदि सचमुच संभव नहीं अतः उसमें नायकत्व का आक्षेप विवश होकर करना है ।]

आक्षेप जैसे—“कि भणामो भण्यते किलदिवाथ किं वानेन मणितेन ।

मणिव्यते तथाप्यथवा भणामि किंवा न मणितोऽसि ॥

‘क्या कहें ? कहा भी कितना जाय ? कहने से भी लाभ क्या ? तब भी कहा तो जाएगा ही । तब भी अन्ततः कहेंगी क्या, और [तुमसे] कुछ कहा नहीं गया है क्या ? ।’ यहाँ उस वक्तव्य के कथन का निषेध अभिधाद्वारा बतलाया जा रहा है जो अभी कहा जाने वाला है, कहा गया नहीं है । परन्तु वह एक असंभव बात है कि जिसका अस्तित्व ही नहीं उसका अभाव बतलाया जाए, अतः यह निषेध संभव नहीं होता, फलतः वह अपने आपको—“तुम्हारे लिए मर जाऊँगी, मर रही हूँ अथवा वह मरी”—इन तीन प्रकार के विध्यर्थों के रूप में बलकर इन अर्थों

का आशेष करना है। अन्य [वाच्य] का यह कहना अमान्य है कि 'यहाँ [निषेधरूपी] वाच्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आशेष करता है', क्योंकि ऐसा मानने पर वाच्यारूप निषेध ही प्रशस्त रहता है, उसका आशेष नहीं। फलत आशेष अलङ्कारता को ही प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आशेषालङ्कार का लक्षण है—'आरम्भ मात्र म शान्ति होने वाला निषेध (सर्व०)'। विधि और निषेध परस्पर विरोधी होने हैं अतः यह समझ नहीं है कि इनमें परस्पर साध्यमाधनभाव है।

[विमर्शिनोकार का यह मन यहाँ अमान्य है कि विधিনিषेध में साध्यमाधनभाव नहीं होता। "भ्रम यामिक " आदि उदाहरणों में विधि में निषेध और "गतामि न पुनस्तस्याधमस्यान्निके" आदि उदाहरणों में निषेध से विधि का ज्ञान साहित्य में बहुत चर्चित है। जहाँ साध्यमाधनभाव साध्यज्ञापकभावरूप होता है वहाँ विधিনিषेध का परस्पर विरोध उभरता विरोधी नहीं होता।]

व्याजस्तुति जैसे—“अधुना प्रभव प्रभव प्रभुत्व किं चिरनलप्रभुगाम् ।

गुणदोषा दोषगुणा एभि कृता न खनु कृतान् ॥”

“जाज के जो प्रभु हैं वे ही वस्तुतः प्रभु कहने योग्य हैं, प्राचीन प्रभुओं में प्रभुत्व काहेता। गुणों को दोष और दोषों को गुण वे (नवीन प्रभु) ही जो बना सकते हैं, प्राचीन नहीं।

यहाँ प्राचीनों की निन्दा अभिधा में कथित है किन्तु वह अपने आप में अनुपपन्न है और स्तुति के रूप में बदल जाती है। क्योंकि प्राचीनों में गुणों को दोष और दोषों को गुण न करने की जो बात कही गई है उससे उन्नी निन्दा निन्दा नहीं रह पाती। इसी प्रकार आधुनिक या नवीनों की अभिधा में कथित स्तुति निन्दा के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि गुणों को दोष और दोषों को गुण मिट्ट करने की बात स्तुति के विपरीत है। यहाँ अभिधेयार्थ का न बदलना और अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को अपना भर लेना जिन्हें मान्य है वे [अलङ्काररत्नाकर आदि] उपेक्षणीय हैं, क्योंकि वैसा मानने पर चिरतनों के प्रति स्तुति में आक्षिप्त निन्दा ही प्रतीत होती और नवीनों के प्रति निन्दा में आक्षिप्त स्तुति ही। और ऐसा होने पर वाच्यवाच्य का तात्पर्यभूत अर्थ (प्राचीनों की स्तुति और नवीनों की निन्दा) निष्पन्न नहीं होता। अतः 'स्वसिद्धये पराशेष' मन यहाँ अमान्य ही है। एक यह भी आपत्ति है कि यहाँ लक्षणा द्वारा स्वसिद्धि के लिए दूसरे का आशेष होता है क्योंकि वैसा मानने पर लक्षणा की नहीं बनती। क्योंकि वाच्यार्थ के वाच्यार्थ रूप में ही बने रहने से उसमें कोई आपत्ति नहीं उठती जिससे लक्षणा हो (अर्थात् नवीनों की स्तुति और प्राचीनों की निन्दा में कोई आपत्ति न होने पर उन्हें बदलने और तद्विपरान्तार्थ का आशेष करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा।) यह भी नहीं कहा जा सकता कि वाच्य की सिद्धि होती है जन्म में और वाध होता है आरम्भ में अतः वाच्य भी अममन नहीं फलतः लक्षणा होना भी समझ है। क्योंकि यह मानना परस्पर विरुद्ध है क्योंकि यदि अन्तर्लोकत्वा वाच्य का ही सिद्धि जगती है तो उसका वाध आरम्भ में ही उपेक्षणीय हो होगा और तब अभिधा ही वाच्य में मानी जायगी लक्षणा नहीं। जहाँ तक लक्षणा का सम्बन्ध है उभरता वाच्य ही है। "माले मीनर जानं है" आदि वाक्यों में (अचेतन) माले आदि का भोगर जाना समझ नहीं लग. सुख या अमिषेय अर्थ वाच्य ही रहता है और "मालेवाले पुष्प"—रूपी अर्थ लक्ष्य और प्रधान रहता है। इसलिए (व्याजस्तुति का) लक्षणा में मुख्य अर्थ वाच्य होकर अपने से भिन्न लक्ष्य अर्थ में अपने आपको मिला देता है यही मानना उचित है।

प्रश्न उठता है यदि (व्याजस्तुति में) ऐसा है तो पर्यायोक्त आदि में भी जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उसमें भिन्न लक्ष्य अर्थ का आशेष होता हुआ प्रतीत होता है वहाँ क्या मानना होगा। यह मानना होगा = पर्यायोक्त में लक्षणा का कोई अस्मर नहीं है। क्योंकि वहाँ वाच्य और

व्यंघ्य में कार्यकारणभाव रहता है अतः वाच्य "मि वैसे निष्पन्न होजे" ऐसा सूत्रकर अपने कारण व्यंघ्य का आक्षेप या अनुमान कर लेता है और उसी से उस (वाच्य) का निष्पत्ति हो जाती है, फलतः (यहाँ पर्यायोक्तमें) लक्षणा का कोई उपयोग ही नहीं रहता। जैसे "वैल का अनुबन्धन किया जाय" इस श्रुति वाच्य में (गोत्व जातिस्वरूप) अर्थ का वाचक वैल शब्द जातिरूप अपने अर्थ का अनुबन्धन संभव हो इसलिए उससे नित्य सन्बद्ध व्यक्तित्व (शरीररूप) अर्थ का आक्षेप कर लेता है जैसे ही यहाँ (पर्यायोक्त के) कार्यकारणभाव त्पों संबन्ध में भी संभव जानना चाहिए। इसी प्रकार समासोक्ति में भी नायक का व्यवहार नायक से कदापि अलग न होने वाले नायकत्व का आक्षेप कर लेना है, अतः वहाँ भी 'लक्षणा से वह अर्थ प्रनात होता है' ऐसी शंका नहीं का जा सकती। ग्रन्थकार ने (स्वसिद्धये पराक्षेप) यह बात प्राचीन के मत का अनुवाद करने के लिए कह दो और इनने भी अवसर पाकर उसका आवश्यक पर्यालोचन कर दिया, अतः अधिक विस्तार आवश्यक नहीं। ग्रन्थकार ने पर्यायोक्तादि में वस्तुध्वनि को वाच्य का उपस्कारक बतलाकर अन्त में "स्वसिद्धये पराक्षेपः" और "परार्थ स्वतन्मर्षणम्" ये दो सूत्र दे दिए हैं जो क्रमशः उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा के लक्षण बतलाए गए हैं। इससे सामान्यतः यह धारणा बनती है कि ग्रन्थकार पर्यायोक्त आदि सभी अलंकारों में लक्षणा मानते हैं, परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। ग्रन्थकार ने वे सूत्र केवल प्राचीन मत प्रस्तुत करने के लिए दे दिए हैं। उन्हें सभी अलंकारों में लक्षणा मान्य नहीं है।

[ऐसा लगता है कि "स्वसिद्धये०" इत्यादि वाक्य प्राचीन आलंकारिकों में लक्षणा लक्षण के रूप में प्रचलित नहीं थे। केवल मम्मट ने काव्यप्रकाश में इन्हें लक्षणा लक्षण के रूप में दे दिया है। मूल ग्रन्थ और टीका दोनों के रचयिता मम्मट के बाद हुए हैं अतः यहाँ लक्षणा का विवेचन प्रस्तुत करना आवश्यक था। व्याख्येयता में भी टीकाकार के अनुसार ग्रन्थकार को लक्षणा मान्य नहीं है। सूत्र अलंकारों में लक्षणा को सो प्रक्रिया प्रतीत होती है अतः लक्षणा का भ्रम नहीं होना चाहिए। इन अलंकारों में 'अन्य' शब्द से जिस आचार्य का खण्डन किया गया है वे कदाचिद् अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरनिबन्ध हैं। उद्धृत अलंकारों के आगे आ रहे प्रकरणों में उनके मत देखे जा सकते हैं।]

विमर्शनी

उपमेवोपमा यथा—

'रजोभिः स्थन्दमोद्धृतैर्गजैश्च धनसंनिभैः। भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥'

अत्र द्वयोः परस्परमुपमानोपमेयत्वं वाच्यं सत् स्वयमनुपपद्यमानमुपमानान्तरविरह-
लक्षणो परत्र वस्त्यन्तरे स्वं समर्पयति। अनन्वयो यथा—

'भवानिव भवानेव भवेद् यदि परं भव। स्वशक्तिव्यूहसंब्यूहत्रैलोक्यारम्भसंहतिः ॥'

अत्रैकैक्यैवोपमानोपमेयभावो वाच्यः सन्निहृतीयस्रग्गह्यचार्यभावे परत्र वस्त्यन्तरे स्वं
समर्पयति। आदिशब्दः प्रकारे। तेनानिष्टविध्यामासाक्षेपादेर्ग्रहणम्। यथा—

'भवतु विदितं व्यर्थालापैरलं प्रिय गम्यतां तनुरपि न ते दोषोऽस्माकं निधिस्तु पराङ्मुखः।
तव यदि तथा रूढं प्रेम अपन्नमिमां दशां प्रकृतितरले का नो झीडा गते हतजीविते ॥'

अत्र कान्तप्रस्थानविधिवर्वाच्यः सन्निपेद्भुमेवोपशान्तस्य विधानानुपपत्तेः स्वयम-
विश्रान्तः स्वसमर्पणेन निषेधमाक्षिपति। एवं द्विविधया भङ्ग्या गम्यमानं वस्तुमात्रं
वाच्योपस्कारकमेवेत्युक्तम्।

एवमपि प्रतीयमानस्यार्थस्य विविक्तविषयान्तरोपालम्भादलंकारान्तर्भावो न सिध्य-
तीत्याशङ्क्याह—रूढेनेत्यादि। द्विषति। गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थः। यदाह—

‘यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
 गमयति तदभिप्राय तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ ॥
 प्रामनकणं तरुण्या नववज्जलमज्जरीसनायकरम् ।
 पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरा मलिना सुखच्छाया ॥
 अभिधेयमभिदधान तदेव तदसदृशगुणदोषम् ।
 अर्थांतरमवगमयति यद्वात्य सोऽपरो भाव ॥

एकाकिनी यद्वला तरुणी तथाहमस्मद्गृहे गृहपति स गतो विदेशम् ।

क याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वधूममान्धवधिरा ननु मूढ पान्थ ॥’ इति ।

यद्वा त्रिषेति पूर्ववदेव लक्षणाद्व्याप्येण व्याख्येयम् । तेनाद्ये स्वसिद्धये पराद्यैप’,
 परत्र ॥ अपरायं स्वसमर्पणम् । यथैवान्यैर्भावैर्निर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमान-
 स्त्वेन द्विविधा भावालंकारो व्याख्यातस्तदुत्सृज्यमेव । रुद्रटेन तथास्त्वेन तस्याप्रतिपादनात् ।
 तत्रापि च वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वाभिधानसमये चरतुमुचितत्वात् । तदर्थं गुणीभू-
 तागुणीभूतत्वेन द्विप्रकारं चरतु सावद्व्याच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपादितम् ।

उपमेयोपमा जैसे—“रथों से उटारं धूल और मेघोपम हाथियों से भूतल को आकाश और
 आकाश को भूतल मानना हुआ (रजु दिम्बिजय के लिए चला)।” यहाँ दोनों (भूतल और
 आकाश) की एक दूसरे के साथ की गई उपमा अभिभावृत्ति से प्रतिपादित है किन्तु यह अपने
 आपमें चमत्कारकारक नहीं बन पायी फलतः तीसरे किमी अन्य उपमान के अभाव या निषेध-
 रूपी अर्थ में अपना समर्पण कर देती है ।

[उपमेयोपमा में चमत्कार माना जाता है तृतीयमदृशव्यवच्छेद अर्थात् किमी तृतीय समान
 वस्तु के निराकरण में । प्रस्तुत पद्य में भूतल और आकाश की करस्पर उपमा अपने आपमें नहीं
 बननी ऐसी बात नहीं है केवल परस्परोपमा में कोई चमत्कार नहीं है, चमत्कार तृतीयमदृशव्य-
 वच्छेद में है । अतः हमने अनुपपद्यमान का अर्थ “अचमत्कारक” किया है ।]

अनन्वय त्रैमे = (हे मगवन्) अपनी शक्ति के ब्यूह से तीनों लोकोँ का निर्माण और महार
 का चक्र चलाने वाले आप यदि किमी के समान हो सकते हैं तो केवल आपके हाँ समान ।” यहाँ
 एक ही पदार्थ का उपमेय और उपमान होना वाच्य है किन्तु वह पर्यवसित होता है किमी दूसरे
 समान पदार्थ के अभाव में ।

[अनन्वय में चमत्कार का कारण किमी द्वितीय अन्य पदार्थ के अभाव की प्रतीति है ।
 उपमानोपमेयभावरूपी अनन्वय (भङ्ग्य) का (उपमान और उपमेय दोनों एक ही पदार्थ के रहने
 में) निष्पन्न न होना (अनन्वय) इस प्रतीति को जन्म देता है । यहाँ भी वाच्यार्थ के
 व्यर्थार्थ (द्वितीयमदृशव्यवच्छेद) में पर्यवसित होने का अर्थ है चमत्कार के लिए उसका
 जाक्षेप करना ।]

जादि शब्द का अर्थ है प्रकार । उम्मे अनिट विध्यामासात्मक [द्वितीय] जाक्षेप आदि लिख
 जा सकते हैं । यथा—“हो जाय तो हो जाय विद्वान्, हे प्रिय, व्यर्थ की बरताम छोटी और जानों,
 हममें आपका जरा भी दोष नहीं, विधान तो हमारा हीन पराव्युत्त है । यदि तुम्हारा प्रकृत
 प्रेम इस दशा को प्राप्त हो गया है तो अच्छा है, यदि हमारे ये स्वभाव से चंचल (अस्थिर) दुष्ट
 प्राण निकल भी जाए तो लाज क्या ।”

यहाँ अनचाहों “प्रियगमन”—रूपी वस्तु का विधान “जाओ” इस प्रकार किया गया है जो
 वस्तुतः आमासात्मक ही है, पारमार्थिक नहीं, अतः वह निषेध का विधान सम्वन होने के कारण

अपने आपमें उलझा हुआ सा लगता है, और इसलिए अपना पर्यवसान निषेध में कर उलझा आश्रय करता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार से गन्धमान वस्तु वाच्य के प्रति उपस्कारक ही होती है ऐसा कहा।

ऐसा मानने पर प्रतीयमान अर्थ के लिए अलंकारवाले स्थलों से मित्र स्वतन्त्र स्थल भी मिल जाते हैं, अतः उसका अलंकार में अन्तर्भाव सिद्ध नहीं होता—'ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—रुद्रटेन इत्यादि।

द्विधा = दो प्रकारका, एक वह जिसमें वस्तु अप्रधान [गुणोभूत] रहती है और दूसरा वह जिसमें वह प्रधान रहता है। जैसे कि [रुद्रट ने काव्यालंकार ५।३८ में] कहा है—'किता व्यक्ति में कोई विकार [भाव या चित्तवृत्तिलय कार्य] किसी ऐसे कारण से उत्पन्न हो जिसके साथ उस [कार्य] का [कार्यकारणभावस्वरूप] संबन्ध निश्चित न हो [अतः जो कारण, कार्य के साथ अप्रतिबद्ध या अनैकान्तिक हो], फिर वह विकार एक ओर उल्लेख युक्त व्यक्ति का कोई अभिप्राय व्यक्त करे और दूसरी ओर अपने कारण के साथ अपना [कार्यकारणभाव] संबन्ध निश्चित कर दे तो एक प्रकार का भावालंकार होता है। उदाहरणार्थ—'तर्णी जब ग्रामतरुण [गाँव के सबसे हुन्दर और अपने प्रेमी युवक] को मौलसिरी को तावी मंजरी हाथ में लिए देखती है तो उसकी उसकी मुखकान्ति अत्यन्त मलिन हो जाती है।'

[दूसरा भावालंकार] कोई वाक्य अपने शब्दों का अभिप्रेयाध वतलाने के पश्चात् अभिप्रेय से मित्र प्रकार का दूसरा अर्थ [अर्थात् अभिप्रेय यदि विधिरूप हो तो निषेधादिरूप] व्यक्त करता है तो वह भी भावालंकार माना जाता है। उदाहरणार्थ—[कोई प्रोपितपतिका द्वारा गत निवासार्थी तदण पथिक से कह रही है] 'इस घर में मैं अकेली हूँ और अक्ल हूँ। इस घर का जो स्वामी है वह परदेश गया है। वह जो मेरी सात है उसे भी न आँसों से सूझता और न कानों से सुनाता। इसलिए हे वान्ध तुम बास की याचना कर ही क्यों रहे हो। तुम सचसुच भोले और नासमझ हो।'

अथवा (रुद्रट ने भावालंकार दो प्रकार का माना है—इत वाक्य में) "दो प्रकार"—का अर्थ उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा नामक (स्वसिद्धये० इस प्रकार) पूर्वचर्चित दो लक्षणाओं के आधार पर दो प्रकार का किया जाना चाहिए। इससे प्रथम उदाहरण में स्वसिद्धि के लिए पराक्षेप (उपादान लक्षणा) मानना होगा और दूसरे उदाहरण में परार्थ स्वसमर्पण (लक्षणलक्षणा)।

कुछ लोगों ने भावालंकार में भावशब्द का अर्थ निर्बेदादि किया है और दो भेदों में एक में वाच्य को निर्बेदादि संचारी भावों से उपलक्षित माना है और दूसरे में प्रतीयमान को। किन्तु व्याख्या मूलविरुद्ध है, क्योंकि त्वयं रुद्रट ने भावालंकार का प्रतिपादन इस प्रकार से नहीं किया। रुद्रट यदि ऐसा प्रतिपादन करना भी चाहते तो उन्हें इसे वहाँ प्रतिपादित करना चाहिए था जहाँ उन्होंने केवल वस्तु का वाच्य के प्रति उपस्कारकत्व प्रतिपादित किया था। इसलिए वस्तुतः भावालंकार में द्वैविध्य का मानदण्ड व्यवहृत की गुणोभूतता तथा प्रधानता ही मानी जानी चाहिए। इन दोनों भेदों में अप्रधान और प्रधान दो प्रकार की वस्तु व्यंग्य होकर भी वाच्य का सौन्दर्य वर्धन करती हुई वतलाई गई है।

विमर्श—यहाँ भावालंकार के प्रथम उदाहरण में नायिका में मुखमालिन्यरूपी विकार उत्पन्न हुआ। उसका कारण है मौलसिरी की मंजरी को देखना उस देखने के साथ उस मालिन्य का कोई निश्चित कार्यकारणभावस्वरूपी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उस मंजरी को देखने से सद्मा ही मुख-मालिन्य नहीं होता। यह मुखमालिन्य नायिका का भाव व्यक्त कर देता है। यह वतल्य देता है कि निश्चित ही नायिका ने तरुण को मौलसिरी को वगैरह में मिलने बुलावा था किन्तु अन्य कार्य में

लग जाने से यह स्वयं वहाँ नहीं पहुँच सका किन्तु मौलमिरी को नवीन मञ्जरी हाथ में लेकर जाने में तरंग के विषय में उठे यह विदित हो गया कि वह मौलमिरी के बर्माचे जा कर जा रहा है फगन नादिका को यह सोचकर दुःख हुआ कि 'मैं सुप्त से बचि रह गई'। ऐसा भाव मन में जाने ही जो मुक्तमालिन्य हुआ उमका और मञ्जरीदर्शन का कार्यकारणभाव भी निश्चित हो गया क्योंकि यदि वह मञ्जरी न होती तो कदानिह नायिका का नग्न के मौलमिरी उपवन जाने का अनक्षय न होना। यहाँ वाच्य अर्थ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारा है अतः काव्यप्रकाश-कार ने इसे गुणाभूत वाच्य या मध्यमकाव्य का उदाहरण माना है।

द्वितीय पद्य में 'वाम की याचना क्यों करने हो' इस प्रकार के प्रश्नशङ्क से बतलाया जा रहा है कि "याचना नहीं करनी चाहिए" परन्तु पूरे वक्तव्य में स्थिति ऐसी बतलाई जा रही है कि पान्थ की वाम करने के लिए याचना भा अनावश्यक है, उसे तो स्थिति समझकर बिना पूछे उतर जाना चाहिए। यह है वाच्य और व्यंग्य का मिश्र प्रकार का होना। इसीलिए यह भावात्मक है, क्योंकि व्यंग्यार्थ नायिका के हृदय का भाव है। यहाँ निपेक्षरूपी वाच्यार्थ से जो विगनरूपी व्यंग्यार्थ निकलता है वही अधिक चमत्कारकारी हो तो इस काव्य को उत्तम काव्य माना जा सकता है। विमर्शनाकार ने माना भी है। हमें यहाँ व्यंग्यार्थगत वैचित्र्य का अपेक्षा उत्तिवैचित्र्य में अधिक चमत्कार प्रतीत होना है अतः वस्तुतः यह उदाहरण भी गुणाभूत व्यंग्य का ही उदाहरण होना चाहिए। विमर्शनाकारका मन्थन्य केवल शब्दा ही हैं कि प्रथम उदाहरण गुणाभूतव्यंग्य के उदाहरण के रूप में काव्यप्रकाश आदि में प्रसिद्ध है द्वितीय उदाहरण का उससे अन्तर करने के लिए उसे ध्वनिकाव्य का उदाहरण मानना चाहिए। यदि "दृशाकिनी" यह उदाहरण ध्वनिकाव्य न भी सिद्ध हो तो कोई दूसरा उदाहरण अपना लेना चाहिए। सर्वथा विमर्शनाकार का कहना है अलङ्कारसर्वस्वकार के मउ में उक्त गुणाभूतव्यंग्य और ध्वनि दोनों को भावात्मक रूप मानते हैं।

विमर्शनी

इदानीमलङ्कारस्यापि प्रतीयमानस्य वाच्योपस्कारकत्वं प्रतिपादयति—रूपकैत्यादिना ।

तत्र रूपकं यथा—

भीमभ्रुकुटिपद्मगीफगमणि कायस्य बग्धं चिता-

पुण्डं कुण्डलितेन्दुनालबलयप्रभंशिरक्षोरपलम् ।

शागरुक्ताटिकमसिकापरिचिते भालाप्रक्षालाजिरे

दीप्रा दीपशिखा शिवस्य नयन कान्तानवं पानु न. ॥'

अत्र नयनादीनां भगिप्रमृतीनां चोपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते । तां विना सादृश्या-
प्रतिपत्ते ।

[जमी प्रतीयमान वस्तु की वाच्योपस्कारकता बतलाई] अत्र प्रतीयमान अलङ्कार की भी वाच्योपस्कारकता बतलाई हुए कहते हैं—'रूपकं'। इसमें रूपक का उदाहरण पत्ते—'भगवान् शिव का लंकाय आग्नेयमंत्रम मन्त्रों रखा करे वो ब्रह्मदेवर्षीमकर नागिन की फगनगि है, काम का प्रवण्ट चित्तकुण्ड है, चन्द्ररुषी [कमल] नालनिमित्त गोल बलय में गिरा हुआ लाटकमल पुप है, [या] नासिकारुषी दावट से युक्त लज्जतस्त्रां आंगन में चमकती दीपशिखा है।' यहाँ नेत्रादि और मणि आदि की उपमा व्यंजनासे प्रतीत होती है और उससे वाच्य (रूपक) का उपस्कार होता हुआ विदित होता है। क्योंकि (रूपक सादृश्यमूलक अलङ्कार है और) सादृश्य का ज्ञान उन् (उपमा) के बिना समझ नहीं।

विमर्श—यहाँ उपमा तो व्यक्त होती है किन्तु वह उपमाभाव है। अलंकार नहीं। वह अलंकार तब होती जब उसमें चमत्कार होता। चमत्कार यहाँ रूपक में ही है अतः वही यहाँ अलंकार है। विमर्शानांकार यहाँ जो उपमालंकार को वाच्योपस्कारक कतलाना चाहते हैं उसके पीछे प्राज्ञगन्धमन्यान्वय छिपा मानना चाहिए। ब्राह्मण जब तक शिखासूत्रादि से युक्त ब्राह्मण था जब तक वह शिखासूत्रादि बिहीन श्रमण (जैन वा बौद्ध भिक्षु) नहीं था और जब शिखासूत्रादि को तोड़ताइकर वह श्रमण बन गया तब वह ब्राह्मण नहीं रहता, इतने पर भी क्योंकि वह पहले ब्राह्मण था इसलिए श्रमण बने अन्य ब्राह्मण व्यक्तियों से उसका अन्तर बतलाने के लिए उसे “ब्राह्मणश्रमण” कह दिया जाता है ठीक इसी प्रकार उपमा रूपक आदि जब व्यंग्य होते हैं तब अलंकार नहीं रहते क्योंकि उनसे किसी अन्य की शोभा नहीं बढ़ती फलतः वे अलंकार्य हो जाते हैं और जब अलंकार रहने हैं तब व्यंग्य नहीं रहते, तथापि वाच्यानुस्था में उपमादि अलंकार रहते हैं तत्सदृश कोई उपमादि व्यंग्य हो जाती है तो व्यंग्योपमादि को भी अलंकार न रहने पर भी अलंकारभूत वाच्योपमादि की नई उपमालंकारादि कह दिया जाता है। रुद्रट ने उनसे वाच्य का उपस्कार माना है।

विमर्शनी

दीपकं यथा—

‘पाउभवंधं पठितुं वंधेउं तहअ कुज्जकुसुमाइ । पोटमहिलं अ रमिउं विरलच्छिअ के वि जागन्ति ॥’
अत्र प्राकृतबन्धपादादेरुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते । प्रकृतस्य प्रौढमहिलारमणादेः सादृश्योपादानार्थं बोधयोरुपनिबन्धनात् । अपहूर्तिर्यथा—

‘अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतकृचः शैलतनये कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि ।

अमुप्येयं मन्थे त्रिगलदम्भतस्यन्दृशिशिरे रतिध्राम्ना शेते रजनिरमणी गाढमुरसि’ ॥

अत्र कलङ्कस्य रजनिसादृश्यप्रतीतेरुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यत एव । तुल्ययोगिता यथा—

‘द्विगुणिताहुपधानभुजाच्छिरः पुलकितहुरसः स्तनमण्डलम् ।

अधरमर्धसमर्पितमाननाद् व्यवटयन्त कथंचन योपितः ॥’

अत्र भुजादीनां सादृश्यावगमादुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते । तुल्ययोगितादाबिस्त्यादिशब्दात्रिदर्शनादेर्ग्रहणम् । उपमादीत्यादिशब्दादुपमेयोपमादीनाम् । तनु यथा—

‘प्रवातनीलौत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताप्या ।

तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥’

अत्र वाच्याया निदर्शनाया उपस्कारत्वेनोपमेयोपमा गम्यते । तानन्तरेणासंभवद्वस्तुसंबन्धत्वेन वाच्यस्याविश्रान्तेः । अतश्चात्रालंकारो गम्यमानः स्थितो न वस्तुमात्रम् । तेन पूर्वत्र यदादिग्रहणं सफलचितुमन्वैरेतदुदाहृतं तदयुक्तमेव । तत्र वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपिपादविपितत्वात् । वाच्योपस्कारकत्वेनोत्प्रेक्षा कथितेति समन्वयः । सा तु—

‘महिलासहस्सभरिणं तुय हिवए सुहअ सा अमायन्ती ।

दिअहं अणण्णअम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥’ इति ।

तद्विद्यमलंकारोऽपि प्रतीयमानो वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः ।

दीपकं यथा =

‘प्राकृतबन्धं पठितुं यदधुं तया कुब्जकुसुमानि ।

प्रौढमहिलं च रन्तुं विरला एव केऽपि जानन्ति ॥’

‘प्राकृत बन्ध पढ़ना, कुब्ज (?) कुसुमों को सूँघना तथा प्रौढमहिलाओं को भोगना विरले ही कोई जानते हैं ।’ यहाँ भी प्राकृतबन्ध आदि की उपमा प्रतीत होती है और उससे वाच्य का

उपस्कारक होता है। क्योंकि इस वाक्य में वर्गनीयत्वेन प्रकृत है प्रौढमहिला उमके अतिरिक्त प्राट्टनवन्धादि अप्रस्तुत पदार्थों का जो उपादान किया गया है वह 'प्रौढमहिला' के साथ उनका सादृश्य बनाने के लिए ।

[दोषक में प्रकृत और अप्रकृतों का किमी एक धर्म वा किमी एक क्रिया में मन्व दिखलाया जाना है जिसमें सादृश्य व्यक्त होता है ।]

अपह्नुति जैसे—[भगवान् शिव पार्वतीजी से कह रहे हैं] "हे पार्वती ! पर्याप्त मात्रा में दिलों कान्ति के इस चन्द्रमा के शरीर में [पिता की गोद में शिशु के समान] प्रगल्भता के साथ यह जो इ मो कण्ठ बिलम्बित नहीं हो रहा है, अपितु मैं समझता हूँ कि इसके शरत्ता अमृतधारा में अत्यन्त शीतल बद्धस्थल पर इसके प्रिया रात रति से शान्त होकर गहरी नींद में मो रहो है ।" यहाँ कण्ठ का रात के साथ सादृश्य प्रतीत होता है वहाँ उपमालकार है और उमने वाच्यार्थ अपह्नुति का उपस्कार प्रतीत होता ही है ।

[अपह्नुति का अर्थ होता है छिपाना । इस अलङ्कार में चमत्कारकारी तत्त्व यही छिपाना है । प्रस्तुत पद्य में कलक का कण्ठकत्व "यह कलक नहीं है" इस निषेधोक्ति में छिपाया जा रहा है । यह छिपाया जाना सादृश्य के आधार पर हो समभव है अनपव यहाँ सादृश्य की व्यञ्जना होती है और सादृश्य ही है उपमालकार । उसके द्वारा वाच्य (शब्दत कथित) अपह्नुति अलङ्कार का उपस्कार वा पौषण होता है ।]

तुल्ययोगिता यथा =

'क्षियों ने द्विगुणित उपधानभूत मुजा से सिरको, पुलकित बद्धस्थल से स्तनों को, मुप मे अर्धसमपित्त अथर को किमी प्रकार विनटित किया' ? यहाँ मुजा आदि का सादृश्य प्रतीत होता है इसमें उपमालकार प्रतीत होता है और उससे वाच्य (तुल्ययोगिता) का उपस्कार होता है ।

[जहाँ एक ही धर्म में अनेक ऐसे पदार्थों का अन्वय हो जिनमें प्रत्येक प्रस्तुत ही हो या प्रत्येक अप्रस्तुत ही वहाँ तुल्ययोगिता होती है । प्रस्तुत पद्य में नायिका के सभी अंग प्रस्तुत हैं और एक विनटन क्रिया में अन्वित होने हैं । एकधर्मान्वित्वरूपी साधर्म्य के आधार पर उन सभी अंगों में सादृश्य को प्रतीति होती है । सादृश्य उपमालकाररूप है अतः यहाँ उपमालकार की व्यञ्जना मानी जायगी और क्योंकि उमसे वाच्य तुल्ययोगिता का उपस्कार होता है अतः वह भी अलङ्कार ही है ।]

मूल में जो "तुल्ययोगिता आदि में" इस प्रकार आदि शब्द का प्रयोग किया गया है उसमें निदर्शनालङ्कार आदि किए जा सकते हैं और इसी प्रकार "उपमा आदि का" इस प्रकार जो आदि पद का ग्रहण किया गया है उममें उपमेयोपमा आदि । उदाहरणार्थ (निदर्शना में उपमेयोपमा का उपस्कारकत्व) यथा—"पर्याप्त पवन वाले स्थान (प्रवात) में लगे हुए (अतपव हवा की शंशोर में झूलने हुए) नील कमल में तनिक भी अन्तर न रहने वाली अधीर चितवन या तो उस विशालनेत्रा (पार्वती) ने हिरनियों से ली होगी या (वैसी ही विशालनेत्रा) हिरनियों ने उम (पार्वती) से ।" यहाँ (पदार्थ) निदर्शना वाच्य है, उसका उपस्कारक के रूप में यहाँ उपमेयोपमा प्रतीयमान है, क्योंकि यदि उपमेयोपमा प्रतीत न हो तो वाच्य, जिसमें यहाँ पदार्थों का मन्व नहीं बनता, असंगत ही रहा आया । इसलिए इस पद्य में भी अलङ्कार ही प्रतीयमान है, वस्तु नहीं । निदर्शना में वाच्यार्थ केमा रहना है जिसमें पदार्थों का सबन्ध समभव नहीं होता, बाद में उपमा द्वारा उसमें सप्रति ल्याई जाती है । प्रस्तुत पद्य में मृगागनाओं की चितवन उन्हीं मृगागनाओं के पास है उसे पार्वती नहीं ले सकती और पार्वतीजी की चितवन पार्वतीजी के ही पास है, उसे मृगागनाओं नहीं ले सकती, फलतः एक दूसरे की चितवन का एक दूसरे द्वारा कहा या राई आदान समभव नहीं । 'बाद में वे दोनों ही इन दोनों के समान हैं । ऐसी सादृश्यप्रतीति होती

है तो उत्तरे वाच्यार्थ संगत प्रतीत होता है। उपमेयोपना इतलए व्यनय है कि यहाँ यह भी प्रतीति होती है कि इन दो चितवनो के संगान कोर तीसरी चितवन नहीं है फलतः इस प्रकार के पूर्व "उपमेयोपनानन्यार्था" इस पद में जो आदि शब्द आवा है उसके उदाहरण के रूप में लोगों ने जो इस "प्रवातनोलो०" आदि पद्य को उद्धृत किया वह ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रकरण में तो केवल वस्तुमात्र की व्यंजना का प्रतिपादन करना अभीष्ट रहा है, अलंकार की व्यंजना का नहीं। "वाच्योपस्कारकत्व"—इस विशेषण को वागे भी जोड़ना चाहिए। ऐसा करने पर इस प्रकार का अर्थ निकलगा—“उत्प्रेक्षा को जो वाच्योपस्कारक कहा गया है” इत्यादि।

वाच्योपस्कारक उत्प्रेक्षा का उदाहरण है—

“महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अन्तीमा ।

दिवसमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकम्पि तनूकरोति” ॥

अर्थात् “हे सुभग (जिसे कामिनियाँ चाहती हों) तुम्हारा हृदय सहस्र महिलाओं से भरा है अतः वह वैचारो उसमें वन नहीं पाती, फलतः दिन भर अन्य कोर कार्य नहीं करती, केवल पहले से ही दुबले अपने आँग को और दुबल बनाती जा रही है।” यहाँ काव्यलिङ्गालंकार वाच्य है क्योंकि हृदय में नायिका के न बनने का कारण यहाँ उक्त है। वह है हृदय का सहस्र महिलाओं से घिरा होना। उससे उत्प्रेक्षा को व्यंजना होती है। वह इस प्रकार कि नायिका के नायक के चित्त में न इन पाने का मूलकारण तो है नायिका के प्रति नायक की रागशून्यता, किन्तु उससे भिन्न “महिलासहस्रभरित्व” रूपा अन्य कारण वैसा होता बतलावा जा रहा है। यह हुई है उत्प्रेक्षा। इससे वाच्य काव्यलिङ्ग का उपस्कार होता है। इसप्रकार अलंकार भी प्रतीयमान होकर वाच्य का उपस्कारक (वाच्यशोभापायक) स्वीकार किया गया है।

विमर्शिनी

अधुना रसस्यापि वाच्योपस्कारकत्वं दर्शयितुमाह—रसवदित्यादि । प्रश्रुतिशब्दाद्दर्श-
स्यादयः । आविशब्दाच्च तदाभासादयः । तत्र रसवदलंकारो यथा—

‘कृच्छ्रे गौहयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले

मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविपने निस्पन्दतामागता ।

मद्दृष्टिस्तुपितेव संग्रति शनैराल्ल तुङ्गै स्तनौ

साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी श्लोचने ॥’

अत्र वत्सराजस्य परस्परस्थावन्धरूपो रत्याख्यः स्वायिभावो विभावानुभावव्यभि-
चारिसंयोगाद् रसीभूतः सन् वाच्योपस्कारकः । तत्संवलितत्वेन वाच्यस्य सचमरकार
प्रतिपत्तेः ।

अब रस को भी वाच्यार्थ का शोभावर्धक बतलाने के लिए लिखते हैं—रसवदित्यादि । प्रश्रुति शब्द से ऊर्ध्वदी आदि का ग्रहण अनिप्रेत है और आदि शब्द से उनके आभास आदि । उनमें से रसवदलंकार का उदाहरण है—“मेरी दृष्टि बड़ी कठिनार्थ से दोनों ऊरु पार कर और नितम्ब-स्थल में चक्कर खाकर ज्योंही इस (सुन्दरी वासवदत्ता) के त्रिवलीतरंग से जबड़ खावड़ मध्यभाग में पहुँची तो निस्पन्द हो गई । फिर जिस किन्ता प्रकार वह धीरे-धीरे करके उत्तुंग स्तनों पर चढ़ी तो अब मानों पिचासी होकर जललव बहा रही औँछें बार-बार देख रही है ।” यहाँ वत्स-राज का परस्पर में प्रेमरूपी रति जानक स्थायी भाव विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से रसरूपता को प्राप्त होकर वाच्य की शोभा बढ़ाता है, क्योंकि उक्तें युक्त शोकर प्रतीत होने पर ही वाच्य में चमत्कार प्रतीत होता है।

विमर्शिनी

प्रेयोऽलङ्कारो यथा—

‘तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भाजार्द्रमस्या मनः ।
तां हर्तुं विद्युर्धृष्टिपोऽपि न च मे द्रक्ता पुरोवर्तिनी
सा चात्यन्तमगोचर नयनयोयांतेऽि कोऽयं विधिः ॥’

अत्र वितर्काल्यो ध्यभिचारिभावो वाच्यशोभाघायक एव ।

प्रेयोऽलङ्कार जैने—(उर्वशी के स्वरूप से परिणत हो जाने पर पुरूरवा विवर्क करता है) हो सकता है वह (उर्वशी अपने) प्रभाव (देवी होने के कारण निरन्करिणी विद्या) में कहीं स्थिती हो, किन्तु वह अधिक देर तक तो कुपित रहती नहीं। मभव है वह (अपने मूलस्थान) स्वर्ग के लिए चट गई हो, किन्तु उसका मन तो सानुराग है मुझ पर। मेरे देखते-देखने उमे राक्षस भोग भी नहीं हर सकते। इतने पर भी वह आँसों में पकड़म ओझल हो गई है। आरिषर यह पटना क्या है।” यहाँ वितर्कनामक मचारी भाव व्यञ्जित होकर वाच्य की शोभा बढ़ाता है।

विमर्शिनी

ऊर्जस्वीलङ्कारो यथा—

‘दृग्लीलासु सकौतुक यदि ममस्तन्मे दृशा विंशति-
निःसधौ परिरम्भणे रतिरथो दोर्मण्डली हरयताम् ।
प्रीतिश्चेत्परिचुम्बने दक्षमुत्सी बँदेहि । सञ्जा पुर
पीलस्यस्य च शघवस्य च महत्पश्योपचारान्तरम् ॥’

अत्र सीतां प्रति रावणस्य रतिरर्नाचित्येन प्रवृत्तेति रसाभासो वाच्योत्पत्कारकः ।
अन्यत् स्वयमभ्युद्धम् ।

ऊर्जस्वी अलङ्कार जैने—(रावण की भगवती सीता के प्रति दुष्टोक्ति)—“हे सीता, यदि तेरा मन आँसों की चेटाण पसन्द करना है तो मेरे पास बीस आँसों हैं, यदि तुझे गाड़ आलिंगन पसन्द है तो देख मेरी बीस मुजाय है और यदि तुझे चुम्बन पसन्द हो तो उसके लिए भी मेरे पास दस मुझ हैं। इस प्रकार तेरे उपचार की दृष्टि में भी मेरे और राम के बीच, देर, कितना भारी अन्तर है।” यहाँ (अनुरक्त परम्बी) सीता के प्रति रावण का रतिनामक श्वायो-भाव व्यञ्जित होता है फलतः यह रसाभास हुआ और (क्योंकि) यह यहाँ वाच्यार्थ की शोभा बढ़ा रहा है इसलिए ऊर्जस्वी अलङ्कार हुआ। अन्य (समाहितादि अलङ्कार) के उदाहरण (कान्य-प्रकाश आदि में) स्वयं योग्य जा सकते हैं।

विमर्शिनी

एतद्वोपसंहरति—तदित्यमित्यादिना । त्रिविधमिति । पर्यायोक्तादौ वस्तु, रूपकादान-
लङ्कारः, रसवदादौ रसः । तद्व्यं चिरंतनैः प्रतीयमानस्यालङ्कारान्तर्भाव एव तावदुक्तः ।
तदुपस्कार्यं पुनरात्मा कैश्चिदपि नाम्युपगतः ।

“तदित्यम् = तो इस प्रकार” इत्यादि द्वारा इस प्रकारका उपसंहार करते हैं। तीनों प्रकार का अर्थ (प्राचीनों में) पर्यायोक्तादि में वस्तु, रूपकादि में अलङ्कार और रसवदादि अलङ्कारों में रस (वाच्योपस्कारक स्वीकार किया है) इस प्रकार (वस्तु अलङ्कार और रस तीनों

प्रकार का प्रतीयमान अर्थ) प्राचीनों ने अलंकार के ही बीच अन्तर्भूत वतलाया है क्योंकि उनके मत में तीनों ही प्रकार का वह अर्थ (रूपक, उपमादि के ही समान) वाच्य का शोभावाचक होता है । (ध्वनिवादी आचार्यों के समान) इन प्राचीन आचार्यों में से किसी ने भी वाच्य को उपस्कारक और प्रतीयमान को प्रधान (आत्मभूत) स्वीकार नहीं किया है ।

[अच्छा होता कि विमर्शिनीकार रसवत् आदि के वे ही उदाहरण प्रस्तुत करते जो रुद्रट आदि ने दिए हैं जैसा कि उन्होंने भावालंकार के प्रकरण में किया है । श्री रामचन्द्र द्विवेदी ने “रुद्रटेन तु” इस प्रसंग पर एक टिप्पणी देते हुए लिखा है—“प्रतीयमान अर्थ वस्तु अलंकार तथा रसरूप से तीन प्रकार का होता है । प्रतीयमान वस्तु-रूप अर्थ कहीं शुभीभूत होता है और कहीं प्रधान । इन दोनों प्रकार के अर्थों का भावालंकार में, उपमा आदि प्रतीयमान अलंकार का रूपक दीपक आदि अलंकारों में तथा रस, भाव आदि का रसवत् प्रेय आदि में अन्तर्भाव रुद्रट ने किया है ।”

इसमें “रुद्रट” के स्थान पर “रुद्रटादि” पद चाहिए । रुद्रट ने केवल भावालंकार के दो भेद अवश्य प्रस्तुत किए हैं किन्तु रस, भाव का रसवत् प्रेय आदि में अन्तर्भाव नहीं दिखलाया । भामह और उद्भट ने अवश्य इनका प्रतिपादन किया है ।

वस्तुतः “इह हि०” से लेकर “त्रिविधमपि प्रतीयमानतया (स्यापितमेव)” यहाँ तक वक्तव्य और प्रयत्नक एक ही हैं । श्री द्विवेदी ने “रुद्रटेन” से उसमें अन्तर कर दिया है । उन्होंने पाठ भी इसलिए स्वतन्त्र वाक्य के ही अनुरूप “रुद्रटेन ■ द्विषैवोक्तः” ऐसा स्वीकार किया है ।]

वामन [पूर्वोक्त आचार्यों से कुछ आगे हैं उन्होंने] प्रतीयमान को अलंकार में अन्तर्भूत दिखलाते हुए भी उससे उपस्कार्य (अलंकार्य) भूत एक आत्मा भी स्वीकार की है” इत तथ्य को स्पष्ट करते हुये आगे कहते हैं—“वामनेनेत्यादि”—

[सर्वस्व]

वामनेन तु सादृश्यनियन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं द्रुवता काश्चिद्बन्धनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः । केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मकत्वेनोक्ता ।

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम् । विषय-मात्रेण भेदप्रतिपादनात् । संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः । तदेवमलंकारा एव कान्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।

(काव्यालंकारसूत्रचर्त्तिकार) वामन ने तो [‘सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः’ इस प्रकार] सादृश्य-मूलक लक्षणा को वक्रोक्तिनामक अलंकार कहते हुए ध्वनि का एक [अविश्वसितवाच्य] भेद [स्वीकार किया है किन्तु उसे भी उन्होंने] अलंकाररूप ही वतलाया है [क्योंकि वक्रोक्ति एक अलंकार ही है] कान्यकी आत्मा उन्होंने गुणविशिष्ट-पदरचनास्वरूप रीति को ही कहा है ।

उद्भट ने गुण और अलंकारों का प्रायः साम्य ही वतलाया है [उनके मत में दोनों ही, कान्य में समवायसम्बन्ध ने ही रहते हैं, अलंकार संयोगसंबन्ध से और केवल गुण समवाय संबन्ध से नहीं, वह तो लौकिक पदार्थों की स्थिति है द्रष्टव्य = काव्यप्रकाशजल्लस ८] भेद उनमें केवल इसलिए माना गया है कि दोनों के विषय में भेद है और गुण संघटना का धर्म माना गया है । इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मत में कान्य में अलंकार ही प्रधान है ।

विमर्शिनी

वामनेन प्रतीयमानस्यालङ्कारान्तर्भावमभिदधतापि तदुपस्कार्य धाम्ना कश्चिदुक्त इत्याह—वामनेनेत्यादि । तुल्यत्वं पूर्वभ्यो व्यतिरेकयोतक । अन्तर्भावोऽपि प्रतिपादकत्वात् । श्रुतेति । यदाह—‘सादृश्याल्लक्षणा बक्रोक्ति’ इति । एतदेवोदाहरणं च ‘उन्मिर्माल-कमलं सरसीना कैरवं च निमिर्मालं सुहृत्सम्’ इति । कश्चिदध्वानभेद इति । ‘अविवक्षित-वाच्यादि’ । नेतलमिति । यदि परमित्यर्थः । गुणेति । यदाह—‘निशिष्टा पद-रचना रीति’ इति । काव्यात्मवत्त्वेनेति । यदाह—‘रीतिराग्ना काव्यस्ये’ति काव्यस्ये-भ्युपगताया रीते. ‘तद्विदायहेतवस्त्वंलङ्कारा.’ इत्याद्युक्त्यान्तर्भावितध्वनयोऽलङ्कारा उपस्कारका इत्येतन्मसम् ।

यहाँ तु (तो) शब्द पूर्वाक्ष आचार्यों ने अनुर का चोक्त है । क्योंकि वामन ने काव्याग्ना का भी प्रतिपादन किया है । कहते हुए—जैसा कि कहा है “सदृश्यं होने वाली लक्षणा बक्रोक्ति है । रीति पर उदाहरण भी दिया है—“तल्लंघो के कमल उन्मोक्ति हों गप और कुमुद निर्मोक्ति ।” [यहाँ उन्मोक्ति और निर्मोक्ति लक्षणिक है] ध्वनि का एक कोह भेद = अविवक्षितवाच्यरूप । कैवल्य का अर्थ है यदि परम=किन्तु । गुण इत्यादि जैसा कि कहा है—“विशिष्ट पद रचना रीति है” । काव्यात्मरूपेण—जैसा कि कहा है—“रीति काव्य की आत्मा है” इस प्रकार वामनका मत है कि “विशिष्ट पदरचनारूप रीति काव्य की आत्मा है, और [गुणों से उत्पन्न] काव्यशोभा में अनि-शय होने वाले तत्त्व अलङ्कार कहलाते हैं” इस प्रकार से लक्षित अलङ्कार उम (रीति) के उपस्कारक (शोभावर्धक) होते हैं” ।

विमर्शिनी

अर्थः पुनरेतदपि प्रायुक्तमित्याह—उद्भटादिभिरित्यादिना । प्रायश इति । घातुष्येने षर्धः । विषयमात्रेणेति । भिन्नकक्ष्याणा ह्युपस्कार्योपस्कारकत्वस्यानुपपत्तेः । तथात्वे धालंनारागामपि गुणोपस्कार्यत्व प्रसज्यते । समानभ्यापन्त्वात् । तद्गुणालङ्काराणां तुल्य-त्ववादिन एवाद्भटा । इत्यमनेन वाच्याश्रयागमालङ्काराणां मध्य पक्ष ध्वनेरन्तर्भावा-दभिधाव्यापारगोचर एव ध्वनि, न पुनस्तद्व्यतिरिक्त कश्चिदध्वनिर्नामेति चिरंतनानां मतमित्युक्तम् ।

इदानीं यदध्यन्तैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह—‘बक्रोक्तोत्यादि ।

‘दूतरो ने तो इतना भी स्वीकार नही किया’ इस बातको बतलाने के लिए लिखते हैं—“उद्भट” भादि । प्रायश. अर्थात् बहुधा । विषयमेवमात्रेण विषयमात्र का भेद [गुणों का विषय ही शोभा-जनकता और अलङ्कारों का शोभावर्धकता, किन्तु इन दोनों की प्रतीति एक ही साध होती है] अलग-अलग समय में प्रतीति होने पर [गुण ही उपस्कार्य और अलङ्कार ही उपस्कारक ऐसा] उपस्कार्योपस्कारकभाव सम्बन्ध नहीं बनेगा, वैसा मानने पर [गुण भी अलङ्कारों के उपस्कारक और] अलङ्कार भी गुणों के उपस्कार्य माने जा सकेंगे । क्योंकि स्थिति दोनों में समान है [अर्थात् पूर्ववत्ता जैसे परवत्ता का उपस्कारक माना जाता है वैसे ही परवत्ता या पूर्ववत्ता का । उदाहरण यथा गुणोभूतव्यय में प्रतीयमान का वाच्यार्थ के प्रति उपस्कारक होना] । इस कारण उद्भटानुयायी गुण और जन्तारो में समानता ही मानने है ।

इस प्रकार यहाँ तक के ग्रन्थ द्वारा यह प्रमाण दिया गया कि प्राचीन आलोचक प्रतीयमान

अर्थ को अभिधावृत्ति का विषय ही मान लेते हैं, उससे भिन्न नहीं, क्योंकि उनके अनुसार उपमादि अन्य अलंकारों के ही समान ध्वनि भी अर्थ का ही एक अलंकार है ।

, अब "वक्रोक्तिः" इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ में आचार्यों ने जो प्रतीयमानार्थ को भक्ति (उपचार-वक्रता) में अन्तर्भूत माना है उसे बतलाते हैं—

[सर्वस्व]

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यमङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्ति-
मेव प्राधान्यात्कान्यजीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्यं च [काव्यस्य]
प्रतिषेदे । अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीय-
माने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः । उपचारवक्रतादिभिः
समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न
व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति नदीयं दर्शनं व्यवस्थितम् ।

वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना है । वक्रोक्ति को उन्होंने "वैदग्ध्यमङ्गीभणिति"—स्वरूप कहा है और उनके अनेक भेद बतलाए हैं । (वक्रोक्ति को काव्य का प्रधानतत्त्व मानने के लिए) उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि काव्य में व्यापार तत्त्व भी प्रधानतत्त्व है । (उनके मत में) अलंकार अभिधान (कथन, उक्ति) के ही विशिष्ट-विशिष्ट भेद हैं (साथ ही) काव्य में (यत्तु, अलंकार और रस) ये हीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थ रहते अवश्य हैं किन्तु कवि का संरम्भ (जोर, अधिक ध्यान) व्यापारस्वरूप भणिति (उक्ति) पर ही रहता है । ध्वनि के अन्य अवान्तर भेदों को भी [उन्होंने] उपचारवक्रता के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है । [इस प्रकार संक्षेप में] उन [वक्रोक्तिजीवितकार] का सिद्धान्त केवल इतना ही है कि "काव्य का प्राण (प्रधानतत्त्व) उक्तिवैचित्र्य ही है, व्यंग्यार्थ नहीं ।"

विमर्शिनी

वैदग्ध्यमेन वक्रोक्तेः स्वरूपमुक्तम् । यदाह—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमङ्गीभणितिरुच्यते'
इति । एवकारोऽन्यस्य काव्यजीवितत्वमवच्छेदकः । काव्यजीवितमिति काव्यस्यानु-
प्राणकम् । जां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः । यदाह—विष्विन्नो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं
जीवितायते' इति । व्यापारस्येति कविप्रतिभोद्धिखितस्य कर्मणः । कविप्रतिभानिर्वसित-
त्वमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यादिति कस्य जीवितत्वं घटत इति तदनुपक्तमेवाभ्या-
स्यात्र प्राधान्यं विधकितम् । अतश्च द्वयोः प्राधान्यस्य दुर्योजत्वमत्र नाशङ्कनीयम् ।

"वैदग्ध्यमङ्गीभणिति" वह वक्रोक्ति का लक्षण है, जैसा कि (कुन्तक ने कारिका में) कहा है—

"उभावेतावलंकार्या तयोः पुनरलङ्कृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमङ्गीभणितिरुच्यते ॥" १।१० कारिका ॥

शब्द और अर्थ अलंकार हैं, और उन दोनों का अलंकार है केवल वक्रोक्ति जिसका स्वरूप है "वैदग्ध्यमङ्गीभणिति" = अर्थात् वैदग्ध्य के कारण भंगिमा (वक्रपन) के साथ बोलना । "केवल वक्रोक्ति" इस प्रकार केवल शब्द के प्रयोग का अर्थ है कि अन्य कोई तत्त्व काव्य का जीवानु नहीं हो सकता । काव्यजीवित शब्द का अर्थ है वह तत्त्व जो काव्य को (अकाव्य से भिन्न कर) काव्यत्व प्रदान करे । फलतः आशय यह हुआ कि वक्रोक्तिके बिना काव्य काव्य ही नहीं हो सकेगा । जैसा कि (कारिका में कुन्तक ने) कहा भी है—"विचित्र [मार्ग] वह है जिसमें वक्रोक्ति की

विचित्रता जीवन (या प्राण) का काम करती है ॥” [कारिका १४२] व्यापार अर्थात् कवि-प्रतिमा से उल्लिखित कर्म । वक्रोक्ति तब तक वक्रोक्ति हो नहीं हो सकती जब तक वह कविप्रतिमा से निष्पन्न न हो और जब वह वक्रोक्ति ही सिद्ध नहीं हो सकेगी तब उसमें काव्यजीवित्व वैसा मभव होगा । इसलिए यहाँ जो व्यापार की प्रधानता की बात कही जा रही है वह वक्रोक्ति की प्रधानता की बात को ध्यान में रखकर ही कही गई है, “इसलिए एक ही काव्य में दो की प्रधानता कठिन है”—ऐसी शक्य नहीं करनी चाहिए ।

विमर्श—निर्गयसागर और भोतोलालबनारसीदाससंस्करण में यह मूल छपा है “व्यापारस्य प्राधान्य च काव्यस्य प्रतिपेदे” । हमें या तो “व्यापारप्राधान्य च काव्यस्य प्रतिपेदे” ऐसा पाठ होना चाहिए जैसा कि सजीविनीकार ने स्वीकार किया है, या फिर “व्यापारस्य प्राधान्य च प्रतिपेदे” ऐसा । अर्थात् या तो व्यापार शब्द से पट्टीविभक्ति हटाई जानी चाहिए या “काव्यस्य” यह पद । विमर्शनी में “व्यापारस्येति” ऐसा प्रतीक दिया हुआ है अतः उसके अनुसार “काव्यस्य” शब्द ही अधिक है । इसलिए हमने उसे कोष्ठक में डाल दिया है ।

वक्रोक्तिजीवनकार ने एक बार वक्रोक्ति को प्रधान बनवाया और एक बार व्यापार को । इसकी संगति लगाने हुए विमर्शनीकार ने लिखा कि इ व्यापार का अर्थ कविप्रतिभाग्य व्यापार है । यदि वह न हो तो वक्रोक्ति में वक्रोक्तिव ही निष्पन्न न हो क्योंकि कविप्रतिभा जितमें नहीं रहती उसकी उक्ति में वक्रता नहीं आती । फलन साध्यमापनभाव होने से दोनों की प्रधानता मानी जा सकती है, वस्तुतः रहती तो प्रधानता केवल वक्रोक्ति की ही है ।

हमारी समझ में टीकाकार की ऐसी संगति निरापद नहीं । वक्रोक्ति ‘उक्ति’रूप है और उक्ति कथन व्यापार है, फलन काव्य में यदि वक्रोक्ति प्रधान है तो हमका निषेध नहीं किया जा सकता कि व्यापार भी प्रधान है । व्यक्तिविवेककार आदि के अनुसार कुन्तक को व्यापार का अर्थ अभिभावृत्ति जैसी वृत्ति ही यहाँ मान्य है । मसुद्रक ने भी भट्टनायक और वक्रोक्तिजीवनकार को व्यापारप्राधान्यवादी आचार्य माना है । यहाँ व्यापार को अभिधारिरूप व्यापार स्वीकार करने पर ही उसका स्पष्टन भी किया जा सकता है क्योंकि ‘कविप्रतिभाव्यापार’ की प्रधानता काव्य में अस्वीकार नहीं की जा सकती । आनन्दवर्दनाचार्य हमारे लिए प्रयोगमान अर्थ की व्यञ्जक पदावली (सरस्वती) में अलंकार और विशिष्ट प्रतिभा का परिस्फरण स्वीकार करते हैं—

मरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महता कवीनाम् ।

अलोकमामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन् प्रतिभाविशेषम् ॥ उद्योत ? ।

“प्रतिभा का उन्मेष ही विश्व का उन्मेष है”—ऐसा अभिनव गुप्त भी मानते हैं—

‘यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात् ।’

प्रत्येक आचार्य ने काव्य के प्रति प्रतिभा को प्रधान कारण माना ही है ।

विमर्शनीकार के मत में व्यापार शब्द का अभिधा अर्थ करने में जो आपत्ति है वह यही है कि कथनव्यापार कण्ठतात्वादि के अभिधान से होने वाला उच्चारणरूपी व्यापार है और वक्रोक्ति अलंकाररूप है । अलंकार उच्चारणरूप नहीं है, फलन कथनव्यापार या उक्ति भी उन्हें नहीं कहा जा सकता । किन्तु ग्रन्थकार अलंकार को व्यापारस्वरूप और उक्तिरूपव्यापारस्वरूप ही बतला रहा है, फलनः उन्होंने व्यापार को कविप्रतिभाव्यापारपरक माना और शक्यता को निर्मूल किया । परन्तु ऐसा करते हुए वे यह गूल गये कि उन्हें पूर्वपक्ष पर विचार करना है जो स्पष्टनाय है ।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि कुन्तक ने अलंकार का अभिधाव्यापार स्वरूप माना है या नहीं । हमें वक्रोक्तिजीवन में एक भी ऐसा स्थल नहीं मिला जहाँ अलंकार को अभिधात्मक कहा

गया हो। उन्हें अभिधेय अवश्य कहा गया है। किन्तु व्यक्तिविवेकार ने ध्वनिलक्षण का खण्डन करते हुए ध्वनिकारिका में शब्द और अर्थ के ही समान अभिधा को भी उच्चतः उपादेय बतलाया है और लिखा है—

“किञ्च यथा अभिधेवोऽर्थः तद्विधेयं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्वेव, अन्यथा यत्र दीपकादेरलंकारादलंकारान्तरस्योपमादेः प्रतीतित्वात् ध्वनित्वमिदं न स्यात्, तत्त्वक्षणेनाव्याप्तेः। अलंकाराणां चाभिधात्मत्वमुपगतं तेषां भङ्गाभिधिति-भेदरूपत्वात्” [हिन्दीव्यक्तिविवेक पृष्ठ २२]

व्यक्तिविवेक के टीकाकार जो अलंकारसर्वस्वकार से अभिन्न हैं ने इस प्रकरण पर भी अलंकारों की अभिधानकता पर व्यञ्जनाविही की ओर से आक्षेप किया है। हमने चौखम्बा से प्रकाशित अपने हिन्दीव्यक्तिविवेक में यह अंश भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है। उसे वहाँ से देख लेना चाहिए।

विमर्शिनी

अलंकारा इति। तेनोक्त इति शेषः। एषकारश्चिरंतनोक्तध्वनिप्रकारविशेषव्यवच्छेदकः। सत्यपीति। सद्यपि प्रतीयमानमनादत्येत्यर्थः। व्यापाररूपेति वक्रत्वभावेत्यर्थः। भणिति-रिर्युक्तिः। क्वचिती। तत्रैव क्वचिः संरब्ध इत्यर्थः। तत्संभ्रमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यात्। ननु च प्रतीयमानस्यानादरः किमभावमुखेनान्यथा वा कृत इत्याशङ्क्याह—उपचारत्यादि। उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूत इति तात्पर्यार्थः। यदाह—

‘यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवेत्कर्तुं किञ्चिद्द्रुत्तित्वात् ॥
यन्मूला सरसोएलेखा रूपकादिरलंकृतिः। उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदिष्यते ॥’ इति।

एतामेवोवाजहार च—

‘गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअञ्जुणाइं अ वणाइं।

निरहंकारमिअङ्को हरन्ति नीलाओं अ णिसाओ ॥’

अत्र मदनिरहंकारत्वे औपचारिके द्रुत्युपचारवक्रता। आदिपदेन क्रियावक्रतादीनामपि ग्रहणम्। एवं सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृतः सम्स्थित एव। यदि परं तस्य प्राधान्यमेव नास्तीत्याह—केवलमित्यादि। तदीयमिति। वक्रोक्तिजीवितकारसंयन्धी-त्यर्थः। तदित्यं लक्षणामूलवक्रोक्तिमध्यान्तर्भावाद्ध्वनेरेव तत्त्वं प्रतिपादितम्।

अलंकार = वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा प्रतिपादित अलंकार। “अलंकार अभिधारूप ही हैं” यहाँ “ही” शब्द द्वारा इसका खण्डन किया गया कि अलंकार भेदप्रभेदरूप से ध्वनि में अन्तर्भूत हो सकते हैं। सत्यपि अर्थात् भले ही तीनों ही प्रकारका प्रतीयमान अर्थ स्वीकार कर लिया तब भी कवि का आदर उसमें नहीं रहता है। व्यापाररूपा = वक्रत्वभावा। भणिति = उक्ति। क्वचिसं० = अर्थ यह कि कवि मुख्यतः व्यापाररूप वक्रमणिति में ही प्रयत्नशील रहता है। क्योंकि क्वचिसं० के बिना कोई भी उक्ति वक्रोक्ति ही नहीं बन सकती ?

प्रश्न उठता है कि प्रतीयमान अर्थ का अनादर वक्रोक्तिकार ने किस प्रकार से किया है ? उसका अभाव मानकर अर्थात् और किसी प्रकार से ? इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—उपचार आदि। इसका तात्पर्य यह कि ध्वनि को उपचारवक्रता आदि में ही अन्तर्भूत मान लिया है। जैसा कि वक्रोक्तिकार ने कहा है—“वहाँ (अन्य गुणों के कारण) अत्यन्त भिन्न (प्रस्तुत) पदार्थ में किसी भिन्न (अप्रस्तुत) पदार्थ का सामान्य (साधारण) धर्म मले ही वह बहुत ही छोटा क्यों न हो, इसलिये प्रतिपादित किया जाता है कि उस वर्धनीय प्रस्तुत पदार्थ में अतिशय या सके, उसे

उपचारवक्रता कदा जाना है। अत्यन्त सरम रूपकादि अन्कार का मूल यही उपचारवक्रता होती है।" [१।१३, १४ कारिका वक्रोक्तिजीविन] और उदाहरण भी दिया है—

‘गगन च मत्तमेघ धारातुष्टिताजुंनानि च वनानि ।
निरहकारमुग्धा इरन्ति नीलाश्र निशा ॥’

अर्थात् मत्त मेघों से युक्त आकाश, [मेघमुक्त] अलधाराओं से धुले अजुंन वृक्षगलं वन, तथा अहंकाररून्य चन्द्रमावाश्री नीलां निशाणं भी चित्त आकृष्ट करता है।" [गउडवह] यहाँ मैनों में 'मद' और चन्द्रमा में "अहंकाररून्यना" उपचरित (अर्थात् मेघ तथा चन्द्र में नदी में युक्त और हतप्रभ व्यक्तियों के मादृश्य के कारण प्रयुक्त) है। अन. यहाँ उपचारवक्रता (ई। आदि शब्द से क्रियावक्रता) आदि भेद लिए जा सकते हैं (क्रियावक्रता में भी कुन्तक ने 'उपचारम-नोहता-' नामक भेद बनवाया है। (द्रष्टव्य-वक्रोक्तिजीविन पृष्ठ २६६ विशेषर सम्करण) इस प्रकार ध्वनि का सपूर्ण प्रपञ्च भिन्न-भिन्न वक्रोक्तियों के नाम से अपना लिया गया है, परन्तु उसका प्राधान्यमात्र स्वीकार नहीं किया गया है। इस तथ्य को कहने के लिए लिखा = "हेषल" रम्यादि। तृतीय = अर्थात् वक्रोक्तिजीविनकार का। इस प्रकार कुन्तक ने बनवाया तो ध्वनि-रस ही किन्तु स्वतन्त्ररूप से नहीं अपितु लक्ष्यामूलकवक्रोक्ति के भेदों में अन्तर्भूत करके।

विमर्श.—विमर्शिनी के निर्णयसागर सम्करण में "मदनिरहकारत्वे औपचारिक दस्तुपचारवक्रतादीनामपि ग्रहणम्"—ऐसी पंक्ति छपा है। यहाँ "उपचारवक्रता" के पश्चात् "आदिपदेन वक्रता-दीनामपि ग्रहणम्" यह अक्ष अवश्य ही रहा है। कदाचित् मुद्रण में छूट गया है। उपचारवक्रता के बाद कुन्तक ने "विशेषणवक्रता" का निरूपण किया है किन्तु उन्में उपचार (लक्षणा) ज्ञान में नहीं आता। आगे क्रियावक्रता के "उपचारमनोहता" आदि भेदों में ही वह काम में आती है अतः हमने "वक्रतादीना" की पूर्ति 'क्रियावक्रतादीना' इस प्रकार कर दी है। इस विषय में मञ्जीविनी से शोध प्रकाश नहीं मिलता।

विमर्शिनी

कैश्चिद्व्यस्य वागविषयत्वादलक्षणीयत्वमुक्तमित्याह—भट्टनायकेत्यादि।

"कुछ आचार्यों ने ध्वनि को वाणी का अविषय = अनिर्वचनीय और इसलिए अलक्षणीय कहा है" उम विषय को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—भट्टनायक आदि।

[सर्वस्व]

भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं श्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम् । तत्राप्यभिधामावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विधान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः ।

भट्टनायक ने न्यग्भवाव्यापार की स्वीकार तो किया है किन्तु उमका लक्ष्य नहीं किया और उने (स्वरूपः स्वीकार करके भी) काव्य का अक्ष (ही) बनवाया है, (उन्होंने) प्राधान्य माना है व्यापार का ही तथा शब्द और अर्थ दोनों को उस (व्यापार) की अपेक्षा गुणभूत और अप्रधान (दबा हुआ) बनवाया है। व्यापारों में भी (इन्होंने) अभिधा और भावकता नामक दो व्यापारों में उनके आगे जाने वाला भोगनामक रसचर्वणात्वरूप व्यापार ही प्रमुख रूप से हृदयविश्रान्तिकारो माना है।

विमर्शिनी

प्रौढोक्त्येति । न पुनर्लक्षणकरणेन । अत एवोक्तेः प्रौढत्वं यल्लक्षयितुमशक्यैस्तस्याप्यभ्युपगमः । कान्यांशत्वमिति न पुनः कान्यात्मत्वम् । यदाह—

‘ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्कान्यांशत्वं न रूपिता ॥’ इति ।

व्यापारस्येति । कविकर्मणः । अन्यथा शब्दप्रधानेभ्यो वेदादिभ्योऽर्धप्रधानेभ्यश्चेति-हासादिभ्यः कार्यस्य वैलक्षण्यं न स्यात् । यदुक्तम्—

‘शब्दप्रधान्यमाश्रित्य तत्र शब्दं पृथग्विदुः ।

अर्थतत्त्वेन युक्तं तु त्रदन्त्याख्यानमेतयोः ॥

द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्’ ॥ इति ।

तत्रापीति । कविकर्मरूपस्य व्यापारस्य प्राधान्ये सत्यपीत्यर्थः । ‘अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च’ इति काव्यं तावत् न्यंशं तेनोक्तम् । तत्रापि—

‘अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंङ्कृती ततः ।

भावनाभान्य एपोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः ॥’

दृश्यंशद्वयस्य विषयं प्रतिपाद्य ‘तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमात्सरः’ इति मृती-योऽशः सहृदयगतस्तदंशद्वयस्वर्चणात्मा ‘दृश्यमानायथा मौढ्ये घात्यङ्गत्वमियं स्फुटम्’ इत्युक्त्या परमह्लास्वादसविधवर्ती विश्रान्तिधामतयाभ्युपगतः । तदेवं यद्यपि

‘तात्पर्याशक्तिरभिधा लक्षणात्मिती, द्विधा ।

अर्थापत्तिः कश्चित्त्रन्त्रं समासोक्त्याद्यलंङ्कृतिः ॥’

‘रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरवाधनम् ।

द्वादशोत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः ॥’ इति

नीत्या बहवो विप्रतिपत्तिप्रकाराः संभवन्ति, तथापि

‘काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाप्तातपूर्व-

स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।

केचिद्वाचां स्थितमविषये तच्चमूढुस्तदीयम्’-

इत्युक्तनीत्यैव ध्वनेर्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयमिह प्राधान्येनोक्तम् ।

प्रौढोक्तिद्वारा, न किं लक्षणनिर्वचन के द्वारा । रसलिपि उक्ति को प्रौढ कहा गया क्योंकि जिसका लक्षण नहीं किया जा सकता उसको भी त्वीकार किया जा रहा है । कान्यांशत्व, कान्यात्मत्व नहीं । जैसा कि (भट्टनावक ने) कहा भी है—“ध्वनि नामक जो एक और व्यंजनात्मक व्यापार है, उसकी वधि (अभिधा भावना, भोग-इन तीन व्यापारों से) भिन्नता भी सिद्ध हो जाय तब भी उसे काव्य का एक अंश ही माना जायगा, आत्मतत्त्व नहीं ।” व्यापारस्यैव के व्यापारशब्द का अर्थ है कविकर्म । वहीं तो शब्दप्रधान वेद आदि से तथा अर्थप्रधान पुराणआदि से काव्य की भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकेगी, जैसा कि कहा है—“शास्त्र (कान्यादि से) भिन्न होता है क्योंकि उसमें शब्दकी प्रधानता रहती है । (पुराण आदि) आख्यानो में अर्थ की प्रधानता रहती है । ये दोनों (शब्द और अर्थ) काव्य तब कहल्यते हैं जब वे दोनों अप्रधान रहते हैं और व्यापार प्रधान । तत्रापि उत्तमों में अर्थात् व्यापार को प्रधानता रहने पर भी । भट्टनावक काव्य के तीन अंश माने हैं (१) अभिधा (२) भावना और (३) भोग । इनमें भी अभिधा का विषय

माना है शब्द और अर्थों के अलङ्कारों को तथा भावना का विषय माना है शृङ्गारादि के साधारणीकरण को। इस (रस) की भोगीकृति, भोग या भोजकत्व को सिद्धिमान् (सहृदय) जन के हृदय को व्याप्त कर देने वाला बतलाया है। इस प्रकार यह तृतीय व्यापार सहृदय में रहता है और इसमें पूर्वोक्त (अभिजा अर्थात् उसके विषय अलङ्कार तथा भावना अर्थात् उसका विषय साधारणीभूत विभागादि सामग्री) दोनों भाँ प्रतीत होते हैं। यह (भोगीकृति) मोक्ष का भी अंग बनती देखी जाती है (२) ।” इस प्रकार तृतीय व्यापार को ब्रह्मास्वादतुल्य माना गया है इसलिए कि इसमें भी वैसा ही विश्राम मिलता है जैसा ब्रह्मास्वाद में।

इस प्रकार यद्यपि (१) तात्पर्यांशक (२) अभिजा (३) लक्षणा (४-५) (स्वार्थ और परार्थ को प्रकार की) अनुमिति (६-७)—(धुनार्थापत्ति और अर्थापत्ति इस प्रकार) दो प्रकार की अर्थापत्ति (८) तन्त्र (अनेकार्थक शब्द प्रयोग) (९) समामोक्ति आदि अलङ्कार (१०) रस की कार्यता (११) रस का भोग (१२) (व्यञ्जनात्स्य) अन्वय व्यापार का बाध ‘इस प्रकार ध्वनि पर बारह विप्रतिपत्तियाँ हैं।’ इस कथन के अनुसार और भाँ विप्रतिपत्तियाँ उठारि जा सकती हैं तथापि उपर्युक्त प्रसंग में केवल उन्हीं तीन विप्रतिपत्तिर्माँ को प्रस्तुत किया गया है जो निम्नलिखित ध्वनिकाविका म प्रस्तुत की हैं—“काव्यस्यात्मा” अर्थात् ‘जिम ध्वनि को अनेक विद्वानों ने मिलकर काव्य की आत्मा ठहराया उनके विषय में कुछ लोग यह कहने सुने गए हैं कि वह ‘है ही नहीं’, कुछ लोग उसे लक्षणास्वरूप मानते सुने जा रहे हैं और यह कि वह कोर न कोरि तत्र है तो अवश्य किन्तु बागी से परे है।’ ये ही आपत्तियाँ वस्तुतः प्रधान हैं।

विमर्श — (१) भट्टनायक का मिथिल उर्ध्व के शब्दों में यहाँ जितना प्रस्तुत किया गया है उतना लोचन और अभिनवभारती में भाँ नही। इस प्रसंग में “दृश्यमानाधवा मोक्षे” का अभिप्राय पूर्वप्रसंग के विना स्पष्टिष्ठ है। भोगीकृति का देया जाना और तब इसका मोक्ष में अंग बनाना विचित्र तो स्थापना है। लोचन और अभिनवभारती में यह अंग उद्धृत नहीं है। सजीविनी टीका में इस पूरे ही प्रसंग पर कोरि विस्तृत विचार नही है। ‘भोगीकृति’-भी यदि कर्मकारिणी के परमेश्वर का या सविद्व्यारिका की कोरि कल्पा है तो उसका दर्शन स्पर्शरूप या परामर्शरूप होगा तब दृश्यमाना की अपेक्षा ‘दृश्यमाना’ शब्द अधिक उपयुक्त होगा। मोक्ष का अर्थ यहाँ विमर्शरूप समाधारणत्व से छुटकारा नहीं किया जा सकता क्योंकि असाधारणत्व के निराकरण अर्थात् साधारणकरण में अंग अर्थात् कारण माना गया है भावनाव्यापार, योगव्यापार नहीं। अंग शब्द का अर्थ अंश किया जाय तो भावना ही भोग का अंग मानी गयी है, भावना का भोग नहीं। मोक्ष का अर्थ चतुर्थपुरुषार्थ सुक्ति ही यहाँ अभिप्रेत है यह तन्त्र ब्रह्मास्वाद की चर्चा से भी पुष्ट होता है।

(२) यहाँ जो बारह आपत्तियाँ ध्वनि के विषय में उठारि गई हैं वे साहित्यशास्त्र में प्रायः प्रसिद्ध हैं। तात्पर्यांशक दशरूपक ४-प्रकाश, काव्यप्रकाश ५-उल्लाम और लोचन में चर्चित हैं, अभिजा और लक्षणा ध्वन्यालोक १, २ उचोत, काव्यप्रकाश-२, ५ उल्लाम, साहित्यदर्पण आदि में, अनुमिति और अर्थापत्ति व्यक्तिविवेक, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि में तन्त्र और अलङ्कार उद्धृत, कुल्लक आदि के ग्रन्थों में और रस की कार्यता लोहट के रसोत्पत्तिनादप्रसंग प्रस्तुत करने वाले लोचन, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में, तथा भोग—रमणीमासा वाले सभी ग्रन्थों में। भट्टनायक के मत के निरूपण में व्यञ्जना का पृथक् शब्दव्यापार न माना जाना उक्त सभी आपत्तियों का मूल है। यहाँ तन्त्र शब्द से शब्दालंकार और समासोक्ति आदि अर्थालंकार में ध्वनि के अन्वय का म्प्रेत है। इन्हीं यहाँ अनेकार्थक शब्दों का बदलना

संभव न हो शब्दालंकार माना जाता है। शब्दशक्ति मूलक ध्वनि का उसी में अन्तर्भाव दिखलाया जा सकता है।

यद्यपि उक्त सभी आपत्तियों सुविदित हैं तथापि द्वादश दोष प्रस्तुत करने वाली "तात्पर्या शक्तिः" इत्यादि कारिका पहिली बार यहाँ विमर्शनी में ही मिली है अतः यह कितनी ही यह विचारणीय है। महिममट्ट ने व्यक्तिविवेक में ध्वनि पर जो दस दोष दिखलाए हैं उनकी संघ-कारिकाओं से यह कारिका सर्वथा भिन्न है। लोचन और अभिनवभारती में यह कारिका हमें नहीं मिली। संभवतः यह भी भट्टनायक की ही हो। भट्टनायक का हृदयदर्पण या उसके अधिकांश संभवतः विमर्शनीकार को उपलब्ध रहे।

विमर्शनी

एवमिदानीमेतद्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयं निराकुर्वन् ध्वनेरेव काव्यात्मत्वं साधयति—ध्वनि-कार इत्यादिना।

इस प्रकार उक्त तीनों विप्रतिपत्तियों का निराकरण करते हुए एवं ध्वनि को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए लिखते हैं—ध्वनिकार इत्यादि—

[सर्वस्व]

ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोस्तीर्णस्य ध्वनन-द्योतनाविशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्त-व्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिवामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्।

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विचार्यत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसद्विष्णुत्वम्। तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः, यस्य गुणालंकारकृतचारुत्व-परिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्, रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थभूतः काव्यजीवितमित्येव एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामवर्जकः। व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरनपह्युतत्वात् तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात्।

इन सब मतों के विरुद्ध ध्वनिकार (आनन्दवर्धनचार्य) ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि काव्य का वाक्यार्थ (अन्तिम अतः तात्पर्यविषयीभूत प्रधान अर्थ) व्यंग्यरूप अर्थ ही है क्योंकि उसी में विश्रान्ति (विज्ञासा की शान्ति) होती है और गुण तथा अलंकार उसी अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं अतः वही अर्थ प्रधान और (काव्य का) आत्मभूत अर्थ होता है। (इस अर्थ को उन्होंने व्यंग्य इसलिये कहा है कि इसकी प्रतीति अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनों व्यापारों से नहीं हो पाती, उसके लिए इन तीनों के वाद काम में आने वाला और ध्वनन, द्योतन आदि दृष्टियों से पुकारा जाने वाला व्यञ्जननामक एक अतिरिक्त व्यापार मानना पड़ता है, क्योंकि व्यञ्जना एक व्यापार है और व्यापार वाक्यार्थ नहीं हो सकता (यह अर्थप्रतीति का साधनमात्र है) अतः उसके अर्थ व्यंग्य को ही वाक्यार्थ और प्रवान माना जाता है।

(और यह ठीक भी है क्योंकि) व्यापार को व्यापारता नर्मा प्राप्त होती है जब वह अपने विषय को निष्पन्न करता है अनपव उम (व्यापार) में प्रधानता भी उस (विषय) की प्रधानता के कारण (उपचार द्वारा) आती है । इस प्रकार क्योंकि व्यापार का विचार (विषयान्तर-पेशनया) केवल व्यापाररूप से नहीं किया जा सकता (विषयमापेशनया ही किया जा सकता है) अतः (विचार का) ममस्त मार केवल विषय ही उठा सकता है । इमलिष्ट (व्यञ्जनाव्यापार नहीं अपितु उसका) व्यञ्जनात्मक विषय ही (काव्य का) जीविन (प्रधानतर) कहा जाना चाहिए और (पूर्वाचार्यो द्वारा काव्यात्मरूप से सिद्धान्तिन) गुण तथा अलङ्कार जो शोभा उत्पन्न करने हैं उसकी प्राप्ति का एच्छत्र अधिहार भी उर्मा (विषयरूप व्यंग्यार्थ) की है । व्यंग्यार्थ रमादिस्वरूप होता है अतः जो अर्थ रमादिरूप में (काव्य की) आत्मा है (वह तो जलकार्य है) उसे जलकाय नहीं कहा जा सकता । क्योंकि अलङ्कार का धर्म है शोभा बढ़ाना और रमादि का धर्म है शोभित होना, क्योंकि वे प्रधान हैं । इमलिष्ट वान्यार्थ को ममाने वाले महदर्थों को यही पक्ष रचना है कि “(स्वयं व्यञ्जना नहीं अपितु) व्यञ्जना द्वारा प्रतिपाद्य (व्यंग्य) अर्थ ही (काव्यवाक्य का) प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ है और वहाँ काव्य की आत्मा है ।” (व्यञ्जनाविरोधी) मन्त्रे मव (आचार्य) व्यञ्जना का सण्टन नहीं कर सके और उम (व्यञ्जना) के आधार पर दूसरा कोई पक्ष प्रतिष्ठित नहीं हो सकता (अर्थात् व्यापार का नाम यदि व्यञ्जना है तो तत्प्रतिपाद्य अर्थ को व्यंग्य में मित्त कुछ नहीं कहा जा सकता) ।

विमर्शिनी

समयापेक्षार्थावगमशक्तिरभिधा । सामान्यानां परस्परान्वितत्वेन त्रिशोषार्थान्योधन-
शक्तिस्त्वापर्यम् । मुख्यार्थवाधादिमहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणा । एतद्व्यापार-
प्रयादुत्तीर्णस्य तदतिरिक्तस्वैत्यर्थः । तथा च 'गङ्गाया घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दो घोष-
पदश्च सामान्यात्मके जलप्रवाहे गृहनिवृत्तौ च संकेतितौ । सामान्य एवोद्योगात् ।
त्रिशोषस्य हि संकेतकरणे आनन्दं व्यभिचारश्च स्यात् । ततश्चाभिधया जलप्रवाहमात्रं
गृहनिवृत्तमव्ययं च प्रतीतमित्येका कथ्या । एतत्प्रतिपाद्यान्यप्रतिपादनायाप्यभिधा न
समर्था । 'विशेष्य नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्याद्युक्तदुस्वभा तस्या विरम्य
व्यापारासम्भवात् । 'सामान्यान्यन्ययासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्तापर्य-
धान्त्या सामान्यान्याधाराधेयभावेनावस्थितं विशिष्टं गङ्गाघोषायागूरयन्तीति तापर्येण
परस्परान्वितत्वमात्रमेव प्रतीयत इति द्वितीया । जलप्रवाहस्य च घोषाधिकरणत्वमनुक्त-
मिति प्रमाणान्तरवाधितं मन् गङ्गाशब्दस्त्वधिकरणयोग्यं तद लक्षयतीति तृतीया ।
तत्र तावत्

‘मुख्यार्थवाधे तद्योगे रूढितोऽय प्रयोजनात् ।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्ष्याऽऽरोपिता क्रिया ॥’ इति

नीत्या लक्ष्या त्रितयसंनिधावेव भरति । तत्र मुख्यार्थवाधा 'तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणा-
न्तरमूला । यश्च सामीप्यादिसवन्धः स च प्रमागान्तरावगम्य एव । यस्तुनरिद घोषस्य
शैत्यपावनत्वादिलक्ष्य प्रयोजनं प्रतीयते तच्छब्दान्तरानुवर्तं प्रमागान्तराप्रतिपन्नं च
कुन भागतम् । न नाप्रत्यक्षादेव तत्प्रतीतिः, अस्मादेव शब्दादवगमामिदे- । दाद्वार्थं
च तस्याप्रवृत्ते । नाप्यनुमानात् । सामीप्येऽपि शैत्यपावनत्वादेरसंभवादनैकान्तिक-
त्वात् । न स्मृतिः । तदनुभवमावात् । सत्यामपि वा तस्या नियतस्मरणं न स्यात् ।
अस्मादेव च शब्दादेतदेव बुध्यत इति को हेतुः । तस्मादस्यैव शब्दस्यैव व्यापारोऽ-

भ्युपगन्तव्यः । निर्व्यापारस्यार्थप्रतीतिकारिस्वाभावात् । स तावच्चाभिधात्मा । समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा । तस्यान्वयप्रतीतावेव परिचयात् । न लक्षणात्मा । मुख्यार्थवाधाद्यभावात् । तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यक्तिरिक्तत्वतुर्थक्यनित्तित्तो व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनाव्यापारोऽभिहितान्वयवादिनावश्याभ्युपगन्तव्यः । अन्विताभिधानवादिनापि यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घनिच्छ्रुतापि नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्पन्त इति निमित्तपरिकल्पनेऽपि समप्रवेद्यं प्रक्रियानुसरणीयैवेत्युभयथापि सिद्ध एव व्यञ्जनव्यापारः । एतच्च गहनगहनमिति मनागेव सिद्धरसभ्यायेनेहोक्तम् ।

जो शक्ति [इस शब्द से यह अर्थ विदित हो ऐसे] संकेत के संघे अर्थ का ज्ञान कराता है उसे अभिधा कहा जाता है । सामान्य (स्वत्व-) रूप से (अलग-अलग) उपरिधत अर्थों का (कर्तृकर्तृत्वादिरूप से) परस्पर अन्वित स्थिति में विशेष (कर्तृत्वादि का आश्रयता आदि रूप) अर्थ का ज्ञान कराने वाला शक्ति तात्पर्य कहलाता है । लक्षणा वह शक्ति है जो मुख्य अर्थ के बोध आदि सहकारी कारणों के आधार पर अर्थ का ज्ञान कराती है । इन तीनों से उत्तीर्ण अर्थात् तीनों से भिन्न । उदाहरणार्थ जैसे "गंगा पर घोष" यह वाक्य । इसमें गंगाशब्द और घोषशब्द क्रमशः सामान्य (अर्थवद्) जल प्रवाह और गृहसमुदाय रूपी अर्थों में संकेतित हैं, क्योंकि शब्द को प्रवृत्ति सामान्य अर्थ को ही ओर होता है । यदि विशेष (संबद्ध) अर्थ में संकेत माना जाय तो अनन्त संकेत मानने होंगे (क्योंकि संबन्ध अनन्त होते हैं) और उतने संकेत मानने पर भी कुछ (नष्ट, दूरत्व और अनुत्पन्न) अर्थ अविदित ही रह जावेंगे (क्योंकि संकेत केवल समाने विद्यमान अर्थ में ही किया जा सकता है) । इस प्रकार अभिधा के द्वारा केवल जलप्रवाह और गृहसमुदाय का ज्ञान हुआ । यह हुई ज्ञान की प्रथम कक्षा । अभिधा स्वना अर्थ बतलाकर और कोई अर्थ नहीं बतला सकती । "अभिधा यदि विशेषण का ज्ञान करा देती है तो फिर वह विशेष्य का ज्ञान नहीं करा पाती क्योंकि (वह एक व्यापार है अतः) इसके एक बार रुक जाने के बाद उसको पुनः प्रवृत्ति संभव नहीं ।" सामान्य विशेष से रहित नहीं रहते अतः वे विशेष का ज्ञान कराते ही हैं ।" यह एक माना हुआ सिद्धान्त है । इसके आधार पर (अर्थवद् और) साधारणरूप से उपस्थित गंगा और घोष आदि तात्पर्यशक्ति के द्वारा परस्पर में संबद्ध गंगा और घोष आदि का ज्ञान कराते हैं । यह हुई (संबद्ध अर्थों के ज्ञान की) दूसरी कक्षा, किन्तु (गंगा का अर्थ) जल-प्रवाह घोष का आधार बन नहीं सकता, वह प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है, इसलिये गंगाशब्द (घोष) के अधिकरण बनने योग्य तदरूपी अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रस्तुत कराता है, यह हुई तीसरी कक्षा इनमें जो लक्षणा है वह "मुख्यार्थवाच, मुख्यार्थसंबन्ध तथा रूढि और प्रयोजन में से कोई एक, इस प्रकार तीन की सहायता से जो शक्ति दूसरे अर्थ का ज्ञान कराती है उसे लक्षणा कहा जाता है यह वस्तुतः है तो मुख्यार्थका व्यापार किन्तु माना जाता है मुख्यार्थवाचक शब्द में" (काव्यप्रकाश. २ उ०) । इस नियम के अनुसार मुख्यार्थवाधादि तीनों के जुटने पर ही अर्थज्ञान कराती है । इन तीनों में जो मुख्यार्थवाच है वह शब्दप्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षप्रमाण से प्राप्त है । इस प्रकार (गंगाप्रवाह और तट आदि का सामीप्यादि संबन्ध भी प्रत्यक्षादि प्रमाणा-न्तरो से ही जान लिया जाता है । किन्तु वह जो (गंगान्त) शैत्यपावनत्व का घोष में प्रतीति होती है वह न तो किसी शब्द से ही कही जा रही है और न किसी अन्य प्रमाण से ही जाना जा सकता, अतः प्रश्न उठता है कि उसको प्रतीति कैसे होती है । प्रत्यक्ष से ही उसको प्रतीति नहीं मानी जा सकती । क्योंकि यह नहीं माना जा सकता कि [गंगा आदि] से ही उसको

प्रतीति हो रही है [जो कि अनुभव सिद्ध है]। साथ ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शब्द प्रमाण से विदित होने वाले अर्थ में नहीं होती (क्योंकि शब्दप्रमाण से तर्कों अर्थज्ञान कराया जाता है जब वह अन्य किर्मा प्रमाण से संभव नहीं होता = अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थ । उसकी प्रतीति अनुमान से भी नहीं होती क्योंकि गणाप्रवाह का तट से या घोष से जो स्रवण है वह सामीप्यरूपी सदन्ध है और सामीप्यसदन्ध में गणाप्रवाहगत शैत्यपावनत्व या तट या घोष में पहुचना संभव नहीं, अतः तट, घोष और शैत्यपावनत्वादि में ऐकान्तिकता (व्याप्तिमन्ध) नहीं है (फलतः अनुमान से शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति संभव नहीं) घोष में शैत्यपावनत्वादि का स्मृति रूप ज्ञान भी नहीं है क्योंकि (स्मृति अनुभूतपदार्थ की होनी है और सुनने वाले व्यक्ति को घोष में) उस शैत्यपावनत्व) का अनुभव नहीं रहता । यदि शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान स्मृतिरूप भी होता तो कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गणादिशब्दों को सुनने से शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान कर्मा नहीं भी होता (क्योंकि स्मृति सदा हो ही ऐसा नहीं, वह कभी नहीं भी होती, अब कि शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति नियमत होती ही है) फिर वह क्या बात है कि किसी शब्द से कोई ही अर्थ विदित होता है (अर्थात् गणाशब्द में शैत्यपावनत्व ही और 'कुन्ना प्रविशन्ति'—में कुन्तशब्द से पुत्र्य में तीक्ष्ण ही)। इसलिये यही मानना उचित है कि शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनीभूत अर्थ के ज्ञान में गणादिशब्द ही कारण हैं और जहाँ के किसी व्यापार से उस अर्थ का ज्ञान होता है क्योंकि शब्द बिना व्यापार के अर्थ का ज्ञान नहीं करा पाता । (जहाँ तक उक्त व्यापार का स्रवण है) वह अभिधा नहीं कहा जा सकता क्योंकि (गणादि) शब्द का उक्त (शैत्यादि) अर्थ में संकेत नहीं रहता, न वह तात्पर्यरूप है क्योंकि तात्पर्य केवल पदार्थमन्ध का ज्ञान कराना और उतने में ही समाप्त हो जाता है (आगे नहीं बढ़ता)। न वह व्यापार श्रुणुषारूप ही है क्योंकि इस अर्थ-ज्ञान में (लक्षणा के हेतु) मुख्यार्थवाधादि नहीं होते। इसलिये (प्रयोजनस्वरूप यह अर्थ व्यर्थ होता है और) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चतुर्थ कक्षा में अवस्थित (इस) व्यर्थ अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जनानामक व्यापार अभिहितान्वयवादी को जवदप ही मानना पटना है [उक्त क्रम के अनुसार जो पहले वाक्य के प्रत्येक शब्द से अभिधा द्वारा उनके भवद अर्थ का ज्ञान मानता है और बाद में तात्पर्यद्वारा उन सब अर्थों का स्रवण]। जो अन्वितान्वय-भिधानवादी है (अर्थात् पदार्थों का स्रवण पहले और उनमें से प्रत्येक का अभिधा द्वारा ज्ञान बाद में मानता है अर्थात् जिसके मन में परस्पर सबद अर्थों में ही अभिधा होती है फलतः जो वाक्य में अभिधा मानता और वाक्यार्थ को वाच्य अर्थ मानता है) उसे भी अभिहितान्वयवादियों के लक्षण में प्रस्तुत मारा आश्रितियों स्वीकार करनी होगी, (उनका उत्तर उसके पाम भी नहीं है, फलतः उमे भी व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार मानना पड़ेगा । क्योंकि वह यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि अन्तिम अर्थ तक शब्द की (अभिधा श्लेषवसी नहीं, अपितु विवक्षित अर्थ की प्रतीति के क्षण तक प्रवृत्त रहती है और वह इष्टान्त देता है (किर्मा बन्धान् व्यक्ति के द्वारा शब्द पर छोड़े गए उस) वाच्य का (जो अपनी एक ही गति में शब्द के कवच का भेद, त्वचा का विदारण, हृदय का छेदन और प्राणों का हरण, ये सब कार्य करता है । उमे उपर्युक्त आपत्तियों इसलिये स्वीकार करनी होंगी कि वह यह मानता है कि) "नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है" (यहाँ नैमित्तिक है शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान, उसकी प्रतीति निश्चिन्त ही गणाशब्द से होती है और गणाशब्द तात्पर्य या अभिधा, किर्मा भी अन्य व्यापार के द्वारा उपर्युक्त कठिनार्यों के कारण उस शैत्यादि प्रयोजन का ज्ञान नहीं करा सकता फलतः उसे तदर्थ व्यञ्जना ही स्वीकार करनी पटती है ।) इस प्रकार अभिहितान्वय की प्रक्रिया से शब्दबोध

माना जाने या अभिन्ताभिधान की प्रक्रिया से, लक्षणा में प्रयोजनज्ञान के लिए व्यञ्जनाव्यापार मानना ही पड़ता है। यह विषय (अर्थात् व्यञ्जना की सिद्धि) अत्यन्त ही गहन और गंभीर है— ठीक वैसे ही जैसे (आचुर्वेद में पारद आदि को मूर्च्छित कर रसका) रस बनाना (किन्तु जैसे कोई किसी अन्य के द्वारा बना बनाया रस किसी के लिए सुलभ करदे उसी प्रकार हमने भी यहाँ सरलता के साथ व्यञ्जनासिद्धि की प्रक्रिया प्रस्तुत कर दी है, क्योंकि ध्वनिवादी आचार्यों (आनन्द-वर्द्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट) ने इस विषय को पर्याप्त स्पष्ट कर दिया है।

विमर्शः—इस संपूर्ण प्रकरण के लिए कान्यप्रकाश के द्वितीय तथा पंचम उद्दास देख लेने चाहिए। हमने इन्हीं के आधार पर कोष्ठक में स्पर्शकरण कर दिया है।

विमर्शनी

आदिशब्दाप्रत्याखनावगमनादीनामपि ग्रहणम् । अवश्येति । तेन विना व्यङ्ग्यस्यार्थ-
स्यासंग्रहणात् । व्यापारस्येति । व्यञ्जनात्मिकायाः क्रियाया इत्यर्थः । सा खलु साध्यमान-
त्वेन पूर्वापरीभृतावयवत्वात् स्वरूपेणोपलभ्यत इति विचारपदवीमेव स्वयमुपारोहं
नोत्सहत इति कथं नाम तस्या वाक्यार्थत्वं स्यादिति भावः । यद् बधयति—'व्यापारस्य
विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यास्वरूपेण विचार्यत्वाभावाद् विषय-
स्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्' इति । उपकर्तव्यत्वेनेति । तत्परतयावस्थानेनेत्यर्थः । यदुक्तम्—

'वाच्यवाचकचास्वहेतूनां विविधात्मनाम् ।

रसादिपरता यत्र स ध्वनेविषयो मतः ॥' इति ।

अत एव विश्रांतिधामत्वादित्युक्तम् । आत्मत्वमिति । सारभूतत्वमित्यर्थः । अतश्च
तेन विना कान्धं कान्यमेव न स्यादिति तात्पर्यम् । नहि निर्जीवं शरीरं क्षान्त्युपयुक्तम् ।
ननु यद्येवं तर्हि 'शङ्कायां घोषः' इत्यत्रापि व्यङ्ग्यस्य सद्भावात् कान्धत्वं प्रसज्यते । नैतत् ।
इह यद्द्वारमनो व्यापकत्वाच्छरीरे घटादौ वर्तमानत्वेऽपि करणादिविशिष्टे शरीर एव
जीवव्यवहारो न घटादौ, तद्गदस्यापि विविधगुणालंकारोचित्यचाहशब्दार्थशरीरगतत्वेनै-
वात्मत्वव्यवहारो नान्यत्रेति न कश्चिद्घोषः । ननु च सर्वत्र क्रियाया एव प्राधान्यं प्रसिद्धम्,
इह पुनर्विषयस्योक्तमिति किमेतदित्याशङ्क्याह—'व्यापारत्वेत्यादि । विषयमुखेनेति ।
यथा ह्योदनादेर्विक्रियादिमुखेन पाकादेः क्रियायाः स्वरूपोपलम्भः । तत्प्राधान्येनेति ।
विषयप्रधानत्वेनेत्यर्थः । तेन व्यापारस्य प्राधान्यमुपचरितमिति भावः । स्वल्पेणेति ।
स्वरूपं हि तस्य साध्यमानत्वाद् विचारयितुमशक्यम् । सिद्धस्य हि विचारो भवतीति
भावः । एवकारो व्यञ्जनव्यापारव्यवच्छेदकः । समग्रेति । समग्रस्य भरस्यात्मेति
व्यवहारादेः सहनशीलत्वमित्यर्थः । एतदेवोपसंहरति—'तस्मादित्यादिना । यस्येति । व्यङ्ग्य-
नाम्नो रसाधात्मनो विषयस्य । गुणालंकारकृतचास्त्विति । गुणानां-

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्ते स्थिरचलस्थितयो गुणाः ॥' [का० प्र० ८]

इत्यादिनीत्या साक्षादेव तद्दर्मत्वात् । अलंकाराणामपि—

'उपकुर्वन्ति तं सम्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचिद् ।

हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥' [का० प्र० ८]

इत्यादिनीत्या शब्दार्थलक्षणाङ्गातिशयद्वारेण तदुपस्कारकत्वात् । अलंकाराणां च
रसादिरूपं व्यङ्ग्यस्यमलंकुर्वतां मुख्यया नृत्यालंकारत्वम्, अलंकार्यसद्भावनिबन्धन-

त्वात् तस्य, रसाद्यात्मन एव च व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेन प्रतिष्ठानात् । अत एव च यत्र स्फुट-
व्यङ्ग्यार्थरहितत्वं तत्र 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्ति शब्दार्थयोर्मता' [क।०प्र०८] इत्यादिनीत्या
शब्दार्थमात्रनियन्धनत्वेनोक्तिर्वचिन्यमात्रपर्यवसितत्वाटेषा गौणमलंकारत्वम् । यदभि-
प्रायेणैव च चित्रारथकाव्यमेदप्रकारत्वमलंकाराणां निरूपयिष्यते । अत एवानुपमादयो-
ऽलंकाराश्चित्रमित्याचर्यं क्तम् । स च प्रतीयमानोऽर्थो यद्यपि वरुवलकाररसत्वेन त्रिविधः,
तथापि [तेन विना काव्यात्मत्वाभावात्] मुख्यत्वेन रसस्यैवात्मत्वं युक्तम् । अतश्च
वरुणलंकारयोर्दलंकारपक्षनिहितत्वमन्यैकत नचावदास्ताम्, काव्यात्मनो रसस्य
पुनरलंकाररथमत्यन्तमेवावाच्यमित्याह—रमादय इत्यादि । आदिप्रहणाद् भावतदाभासा-
दीनां प्रहणम् । न वाच्या इति । वक्तुमयुक्ता एवेत्यर्थः । अलङ्कार्यस्यालङ्कारत्वानुपपत्तेः ।
तस्य चालंकारत्वकथनेऽलङ्कारान्तरं प्रसज्यते । तेन विनालंकाराणामनुपपत्तेः । एतद्बो-
धमंहरति—तस्मादित्यादिना । व्यङ्ग्य इति रसादिरूपः । तस्यैवोपक्रान्तत्वात् । वाक्यार्थीभूत
इति । अवाक्यार्थीभूतस्तु रसादिरलङ्कारोऽपि स्यात् । यदुक्तम्—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थं यत्राह तु रमादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥' इति ।

एतस्य रसवदावलङ्कारप्रस्ताव एव निर्णेष्याम । इतिशब्दः प्रमेयपरिसमाप्ती ।
एतदेव युक्तमित्याह—एव एवेत्यादि । सर्भरिति । अवाक्यार्थविद्विरसद्वयप्रार्थरित्यर्थः ।
पक्षान्तरमेति । तत्र तावद्वाच्यनाचकमात्राप्रयिगामलंकाराणां मध्ये व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-
समाश्रयेण व्यवस्थितत्वाद्वास्यान्तर्भावो न युक्तः । यदुक्तम्—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसन्धनियन्धनतया ध्वने ।

वाच्यवाचकृषालुवहेत्वन्तःपनिता कुतः ॥' इति ।

लक्षणायामप्यस्यान्तर्भावो न युक्तः । तदसन्नावेऽस्य सन्नावान् तत्सन्नावे चास्यासन्ना-
वात् । यदुक्तम्—'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चायी लघयते तथा' इति । नाप्यस्यालङ्गणीयत्वं
युक्तम्—

'यत्रार्थं शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतम्बायी ।

व्यङ्ग्य' काव्यविशेष' स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥' इति ।

तद्विषयमेतद्धिप्रतिपत्तित्रयस्याप्रतिष्ठानमुपपादितम् ।

('ध्वननद्योतनादि०' में जाय) आदि शब्द से प्रत्यवायन, अलगमन आदि नाम लिए जा
सकते हैं । अवश्य अर्थात् व्यजनव्यापार के बिना व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं । व्यापार
(व्यापार ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात्) व्यजनारूप जो क्रिया है (वह प्रधान नहीं हो सकता) ।
क्योंकि क्रिया का अर्थ यहा मान्यमान क्रिया है (पाकशब्दादिप्रतिपाद्य सिद्ध क्रिया नहीं) और
साध्य क्रिया एक के बाद एक करके अनेक क्रयव होतें हैं (जैसे पचन क्रिया में (१) आग
जलाना (२) अन्न चूल्हें पर चढाना और (३) उतारना आदि) इसलिए इसको अपने
आपमें टुट नहीं जा सकता, (अन्न पकता है इसलिए उमके आधार पर हुए सारे
अवयव अनुदाय को पचन क्रिया कहना सम्भव है) ऐसा भिन्नि (अन्नादि विषयों से
निरपेक्ष होकर पातादि क्रिया) अपने आप में वाक्यार्थ कैसे कही जा सकता ? इसी
बान को यही कहेंगे भी कि व्यापार विषय के द्वारा स्वरूपलाम करता है, और उम
[विषय] के प्रगद होने पर, ही प्रधानता प्राप्त करता है, अलग से उस [व्यापार] पर विचार

करना संभव नहीं होता, इसलिए सारा दारमदार विषय पर ही निर्भर रहता है।" उपरकर्तव्य = (व्यंग्य उपस्कार्य होता है और गुण तथा अलंकार उपस्कारक वहाँ) उपस्कार्य का अर्थ है गुण तथा अलंकारों का व्यंग्य के लिए होना, जैसा कि (आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोककारिका में कहा है) — "ध्वनि वहाँ होती है वहाँ अर्थ और शब्द की सुन्दरता के (गुण अलंकार आदि) विविध हेतु इसके लिए होते हैं (न कि यह उनके लिए)। इती लिए उस (व्यंग्य) अर्थ को ही विश्रान्तिधाम कहा। आत्मत्व = सारभूतत्व, और इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि उस (व्यंग्य) अर्थ के बिना काव्य काव्य ही नहीं हो पाता। ऐसा कहीं नहीं देखा गया कि जीवात्मा से रहित शरीर का उपयोग (व्यक्ति के रूप में) किया जाता हो। प्रश्न यदि ऐसा है तो 'गंगा पर घोष' वाक्य भी काव्य होना चाहिए, क्योंकि यहाँ भी शैल्यपावनत्वादि व्यंग्यार्थ है। उत्तर = जी नहीं। जिस प्रकार पटादिरूप शरीर में आत्मा का अस्तित्व (माना जाता है क्योंकि आत्मा न्यायक है तथापि जीव केवल उसी शरीर को कहा जाता है जिसमें आत्मा के अतिरिक्त इन्द्रिय प्राण आदि भी हों, घट आदि को नहीं, उसी प्रकार व्यंग्य भी (जीवात्मा के समान काव्य की) आत्मा तभी माना जाता है जब वह विविध गुण और अलंकार के औचित्यपूर्ण, अत एव सुन्दर शब्दार्थरूपी (काव्य) शरीर में प्राप्त हो, अन्यत्र (गुणादिशून्य 'गंगा में घोष आदि लौकिक वाक्यों में) नहीं। इसलिए (व्यंग्यार्थयुक्त लौकिक वाक्य और उसके अर्थ को भी काव्य मानने का कोई श्रेय नहीं आता।

'व्यापारस्य विषयमुत्तेन' इत्यादि = इस शंका के उत्तर में कहा जा रहा कि "व्याकरण शास्त्र आदि में सर्वत्र व्यापार का ही प्रधान माना जाना प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ विषय की प्रधानता बतलाई जा रही है—"यह विषय मान्यता क्यों? विषयमुत्तेन जैसे पाकादि किया पाकादि शब्द से तब पुकारो जाती है जब वह भाव आदि विषय में विकल्पित (बहु विकृति जिसमें चावल भात रूप प्राप्त करता है) उत्पन्न करता है। तत्प्राधान्य = उसका अर्थात् विषय का प्राधान्य। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार की प्रधानता औपचारिक है। स्वरूपेण = व्यापार (क्रिया) का स्वरूप तो साध्यमान है, सिद्ध नहीं, अतः उस पर कोई निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता? क्योंकि विचार सिद्ध वस्तु का होता है। "विषयस्यैव" में "एव" शब्द के द्वारा ध्वंजना = व्यापार का निराकरण किया गया। समग्र = सारा भाव अर्थात् आत्मा जीवित, जीवात्मा आदि सारे व्यवहारों को पचाने की क्षमता। इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—तस्मात् इत्यादि। यस्य अर्थात् व्यंग्यनामक-रसादिरूप विषय का। गुणांलंकारकृतचारुत्व = गुण (काव्यप्रकाशकारिका ८—) "आत्मा के शौर्य आदि धर्मों के समान जो प्रधान रस के धर्म हैं, जो सदैव (रस में चमत्कार का) उत्कर्ष ही करते हैं और (रस को छोड़) अन्यत्र नहीं रहते वे गुण कहलाते हैं" इसके अनुसार साक्षात् (न कि परन्वया) रसधर्म हैं। अलंकार भी (काव्यप्रकाशकारिका ८—) "रस यदि काव्यवाक्य से प्रतीत हो रहा हो तो जो (साक्षात् नहीं अपितु) अंग (वाच्य आदि) के द्वारा उसका चमत्कार कदाचिद् (सदा नहीं) बढ़ाते हैं वे अनुप्रास उपमा आदि तत्त्व द्वार आदि के समान अलंकार कहलाते हैं—" के अनुसार शब्द और अर्थ रूपी अंगों में विशेषता लेकर उनके द्वारा (न कि साक्षात्) रसका उपस्कार कहते हैं। अलंकार तभी अलंकार कहलाते हैं जब वे रस आदि व्यंग्य अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं, क्योंकि अलंकारों का अलंकाररत्न तभी संभव है जब कोई अलंकार्य हो और अलंकार्य केवल रसादि व्यंग्य अर्थ ही माने जाते हैं इसलिए जहाँ कोई स्पष्ट व्यंग्य अर्थ नहीं रहता वहाँ अनुप्रास उपमा आदि शब्द और अर्थ तब सीमित रहते हैं, इसलिए उनसे जक्ति में ही वैचित्र्य संपादित हो पाता है फलतः उनमें अलंकाररत्न ठीक उसी प्रकार औपचारिक ही रहता है जिस प्रकार (काव्यप्रकाशकारिका

८। ७१ “गुणवृत्त्या-इत्यादि के अनुसार) रसैकधर्मं गुणों का नीरस काव्य में गुणत्व। और इसी अभिप्राय से अलङ्कारों को चित्र नामक (अधम) काव्य का भेद बतलाया जावेगा। और अन्य (ध्वनिकार आदि) आचार्यों ने भी अनुप्रास आदि को “चित्र” कहा है।

वह जो प्रतीयमान अर्थ है वह वस्तु, अलङ्कार और रस हम प्रकार यद्यपि माना तो तीन प्रकार का गया है तथापि वस्तु रस को ही काव्यात्मा मानना उचित है क्योंकि रस ही तीनों प्रतीयमानों में प्रमुख है। इसलिये वस्तु और अलङ्कार को जो अलङ्कार कोटि में रखने का प्रयास अन्य आचार्यों ने किया है (हे तो वह भी अनुचित किन्तु यदि) उसे छोड़ भी दिया जाय तब भी रस को तो अलङ्कार बिल्कुल ही नहीं कहा जा सकता। इस अभिप्राय से कहते हैं = “रसादि” इत्यादि। आदि पद भाव और रसमास तथा भावामास आदि का समाह्वय है। न वाक्याः = वाच्य कहना अनुचित है क्योंकि अलङ्कार अलङ्कार नहीं हो सकता। यदि उसे अलङ्कार कह दिया जाय तो अलङ्कार कोरं और पदार्थ को मानना होगा, क्योंकि उसके बिना अलङ्कार अलङ्कार नहीं कहे जा सकेंगे। इसी का उपसंहार करते कुछ कहते हैं—“तस्मात्” इत्यादि। ध्वन्य अर्थात् रसादिरूप क्योंकि विचार उसी का चल रहा है। वाक्यार्थोभूत अर्थात् जो रस आदि वाक्यार्थोभूत नहीं होते वे कदाचित् अलङ्कार भी हो सकते हैं जैसा कि (ध्वनिकारिका २।५) कहा है—जहाँ प्रधान और वाक्यार्थोभूत कोई अन्य तत्त्व हो और रस आदि अग था अप्रधान हों। हमारे मन में उस काव्य में रसादि को अलङ्कार मानना उचित है।” हम विषय को हम रसवद् आदि अलङ्कारों के प्रसंग में तय करेंगे। इति-शब्द है प्रमेय (सिद्धान्त) तत्त्व की पूर्णता का घटक। यही पक्ष ठीक है ऐसा कहते हैं—“एष एव” इत्यादि द्वारा। सर्वे = सबों ने अर्थात् उन सबने जो वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं रखते उन जो प्राय बहुदयताशून्य हैं। पक्षान्तरस्य दूसरे पक्ष (प्रतिष्ठित नहीं हो पाने क्योंकि उन पक्षों) में प्रधानता है अलङ्कार की जो अर्थ और शब्द तक सीमित रहते हैं जब कि व्यंग्यपक्ष व्यंग्यव्यञ्जकभाव पर निर्भर है अतः उनमें व्यंग्यपक्ष का अन्तर्भाव सम्भव नहीं। जैसा कि (ध्वनिकारिका १। में) कहा है—“ध्वनि व्यंग्यव्यञ्जकमन्व्य पर निर्भर है। उसका वाक्यावाचकों के शोभाधायक धर्म अलङ्कार आदि में अन्तर्भाव हो कैसे सकता है।” लक्षणा में भी इसका अन्तर्भाव मानना ठीक नहीं क्योंकि (रस आदि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में) लक्षणा नहीं रहती किन्तु ध्वनि रहती है और (लावण्य आदि रुचिलक्षणावाले जिन स्थलों में) लक्षणा रहती है वहाँ ध्वनि नहीं रहती। जैसा कि (ध्वनिकारिका १। १५) में कहा है—“लक्षणा ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती क्योंकि वैसा मानने पर (उपसृक्त-द्वय से) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आते हैं।” किन्तु इसका यह अर्थ नहीं किया जाना चाहिए कि ध्वनि का लक्षण ही नहीं किया जा सकता क्योंकि (ध्वनिकार आनन्दवर्धन “जिममें शब्द द्वारा उसका लक्षण) उपसर्गनी-कृतार्थ होकर तथा अर्थ उपसर्गनीकृत होकर उस प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन व्यञ्जनापार से करते हैं उस विशिष्ट काव्य को विद्वाज्जनों ने ध्वनि कहा है।”—इस प्रकार (कर दिया गया है)। इस प्रकार इन तीनों (अर्थात् ध्वनि का अभाव, उमका लक्षणा आदि में अन्तर्भाव और उमकी अलक्षणीयता) अनुपपत्तियाँ का निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

विमर्शनी

इदानीमन्योऽपि यः कश्चिद्विप्रतिपत्तिप्रकारः कैश्चिदुक्तः सोऽपि नोपपद्यते इत्याह—
यस्त्रित्यादि।

अब और भी जो विप्रतिपत्तियाँ अन्य आलङ्कारिकों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं वे भी सिद्ध नहीं होती इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए अगला ग्रन्थ “यत्” आदि प्रस्तुत करते हैं।

[सर्वस्व]

यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्य-
ञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्य-
तदुत्पत्त्यभावाद्विचारिताभिधानम् । तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीय-
मतिगहनमिति नेह प्रतन्यते ।

व्यक्तिविवेककार (महिमगट्ट) ने जो वाच्य अर्थ को हेतु और प्रतीयमान अर्थ को साध्य
मानकर व्यञ्जनाभ्यापार का अन्तर्भाव अनुमान में बतलाया है वह विचार कर कहीं गई बात नहीं
है क्योंकि वाच्यका प्रतीयमान के साथ न तो तादात्म्य संबन्ध ही है और उत्पाद्योत्पादकभाव
संबन्ध । इस विषय पर अत्यन्त सूक्ष्म प्रश्ना वाले सहृदयों को विचार करना चाहिए क्योंकि यह
विषय अत्यन्त गहन है । इसी लिए हम इसका विस्तार यहाँ (जहाँ ध्वनि और उसके विरोध
का आनुषंगिकमात्र है) नहीं करते ।

विमर्शिनी

ध्वनिकारानन्तरभाषी व्यक्तिविवेककार इति तन्मतमिह पश्चान्निर्दिष्टम् यद्यपि ध्वनोक्ति-
जीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारान्तरभाविनावेव, तथापि तौ चिरन्तरमतानुयायि-
नावेति तन्मतं पूर्वमेवोद्धिष्टम् । अनेन पुनरेतत्स्वोपज्ञमेवोक्तम् । अनुमानान्तर्भावमिति ।
अनुमानरूपत्वमेवेत्यर्थः । आख्यदिति । यदाह—

‘वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
संबन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता’ ॥ इति ।

अविचारिताभिधानमिति । इह लिङ्गलिङ्गिनोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव तावत्प्रतिबन्धो
निश्चीयते । तन्निश्चयेनैव च साध्यसिद्धिः । अन्यथा हि साध्यसिद्धिर्न स्याद्ध्यभिचारात् ।
तत्र तादात्म्यं यथा कृतकत्वानित्यत्ययोः । तदुत्पत्तिर्यथा बह्विधूमयोः । वाच्यप्रतीय-
मानयोः पुनस्तादात्म्यतदुत्पत्ती न स्तः । तथाहि—

‘निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तथेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा
वार्षी स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥’

इत्यत्र विधिना निषेधो निषेधेन वा विधिः प्रतीयते । न तस्य वाच्येन सह तादा-
त्म्यम् । विरुद्धत्वात् । नह्यभावो भावात्मा भावोऽप्यभावात्मा । नापि तदुत्पत्तिः ।
अभावस्य जन्यजनकत्वानुपपत्तेः । नापि निःशेषच्युतचन्दनादीनां विशेषणानां तदन्तिक-
गमनानुमापकत्वं युक्तम्, तेषां स्नानादावपि सनावादनैकान्तिकत्वात् । एतच्च ध्वनि-
कारेणादूषितत्वाद्ग्रन्थकृता स्वकण्ठेन दूषितम् । अत एवानेनान्या विप्रतिपत्तयो न
दूषिताः । एतदिति । वाच्यस्य प्रतीयमानेन तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यत इति
व्यक्तिविवेकविचारे हि भयैवैतद्वितरस्य निर्णेतमिति भावः ।

व्यक्तिविवेककार ध्वनिकार (जानन्दवर्धन) के वाद हुए हैं इसलिये उनका मत यहाँ (ध्वनि-
कार के मत के) वाद में बतलाया जा रहा है । यद्यपि बक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) तथा हृदय-

दर्पणकार (मृदनायक) भी ध्वनिकार के बाद के ही हैं तथापि वे प्राचीन आलंकारिकों के मतों के ही अनुयायी हैं इसलिए उनके मत (अभिमत के) पहले ही बतला दिए गए। इन्होंने (व्यक्तिविवेककार ने) जो पूर्वोक्त मत प्रस्तुत किया है वह उनकी अपनी ही सूझ है। [यद्यपि ध्वन्यालोक के तृतीय उचोत में भी अनुमान और व्यञ्जना के अन्वय की चर्चा है, तथापि स्वप्नग्रन्थ के रूप में पहिली बार प्रस्तुत करने के कारण व्यक्तिविवेककार ही इस मत के प्रवर्तक मान लिए जाते हैं]

अनुमानान्तर्भाव = व्यञ्जना को अनुमानरूप ही, आस्यत्—बनलाया है जैसा कि कहा है—
“वाच्य या उससे अनुमित अर्थ जहाँ दूसरे अर्थ का अनुमान किमी भी सबन्ध से कराते हैं उसे काव्यानुमिति कहते हैं।” (व्यक्तिविवेक—पृ० १११, चौखमा संस्करण-२)। अविचारिणा-
विधानम् = बिना विचार कही गई बात। हेतु और साध्य का जो व्याप्तिसबन्ध है वह केवल दो ही सबन्धों से निर्गोत होता है (१) तादात्म्य और (२) उत्पाद्योत्पादकत्व। व्याप्तिनिश्चय से ही साध्य की सिद्धि होती है। व्याप्तिनिश्चय के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वहाँ जहाँ व्याप्तिनिश्चय नहीं रहता हेतु स्वभिवरित (साध्य से अभाव भी) रहता है। दोनों सबन्धों में से तादात्म्य जैसे—कृतकत्व (निर्मितत्व) और अनित्यत्व का। (जो बनाया जाता है वह निश्चित ही अनित्य होता है जैसे घड़ा)। (और) उत्पाद्योत्पादकत्व जैसे—धूम और अग्नि में (धूम = उत्पाद्य, ज्वल्य, कार्य और अग्नि उसका उत्पादक, जनक, कारण)। वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में न तादात्म्य है और न उत्पाद्योत्पादकभाव। जैसे—“हि दूति तू झूठ बोलनी है। तुझे अपने की पीर नहीं। तू उस अधम के पास थोटे ही गई थी। तू तो यहाँ से वावड़ी नहाने गई थी। देर मेरे आँचरों के उतार का अन्दन पूरी तरह शट गया है, तरे अन्धर की गुरु बिलकुल पुष्ट गई है, आँसों का काजल आमपास से एकदम मिट गया है और तेरा पूरा-अंग पुलकित हो रहा है।” यहाँ इस (नायकमनुक्ता दूति के प्रति पित्र नायिका की) उक्ति में (वायीमान के) विधान (रूपी वाच्य अर्थ) से निषेध और (नायक के पास जाने के) निषेध (रूपी वाच्य अर्थ) से विधान (व्यञ्जना से) प्रतीत होता है। उस (व्यग्य निषेध या विधान) का वाच्य (विधान या निषेध) ने तादात्म्य नहीं है क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसा थोटे ही होता है कि अभाव भावरूप हो जाय और भाव अभावरूप। न तो (वाच्य में) उस (व्यग्य) की उत्पत्ति ही होती (अतः उनका उत्पाद्योत्पादकत्व सबन्ध ही है; परस्पर विरुद्ध (अन्योन्याभाव वाले) पदार्थों में (उत्पाद्योत्पादकत्वरूप) अन्यजनकत्व नहीं रहता। न तो ‘निर्देशोपच्युत-चन्दनत्वादि विशेषणों में “नायकान्तिक गमन” आदि का अनुमान ही हो सकता क्योंकि वे विशेषण-पदार्थ (नायकान्तिकगमनादि से मित्र) वायीमान आदि से भी समव हैं अतः (नायकान्तिक-गमनादिसाध्यों से) शकान्तिरूप से संबन्ध नहीं है। परबतों होने से) इस मत को ध्वनिकार ने स्वयं दूषित नहीं ठहराया शक्य है अन्यकार ने अपनी ओर से उसे दूषित ठहराया। यह शक्य है कि अन्यकार ने अन्य मतों पर अपनी ओर से दोष प्रस्तुत नहीं किए। एतद् = वाच्य का प्रतीयमान के साथ तादात्म्यतदुत्पत्त्यादि सबन्धों पर यहाँ कोई विस्तार नहीं करते क्योंकि उसे हमने अपनी व्यक्तिविवेकटीका में विस्तारपूर्वक तय कर दिया है।’

विमर्श—व्यक्तिविवेक पर संस्कृतटीका ‘व्यक्तिविवेकव्याख्यान’ मिलती है जो अलंकारसर्वस्वकार की ही रचना है। त्रिवेन्द्रम् तथा चौखमा से छपे व्यक्तिविवेकों में यह टीका दी हुई है। हमने व्यक्ति-विवेक के साथ इस टीका का भी विमर्शनी के ही समान हिन्दी अनुवाद कर दिया है। शक्य है व्यक्ति-विवेककार ने ध्वनिकार का मत जहाँ-जहाँ सन्देह बतलाया है वहाँ ध्वनिकार की ओर से स्पष्टीकरण

देते हुए व्यक्तिविवेककार के मत का खण्डन किया गया है। किन्तु वह टीका अपूर्ण ही छनी है। "वाच्यस्तदनुमितो वा" इत्यादि जो कारिका ऊपर उद्धृत है उस पर यह टीका प्राप्त नहीं है। वह प्रथम विमर्श में उसके पहिले ही खण्डित हो गई है।

विमर्शिनी

तदित्यं परपरिकल्पितसमारोपापसारप्रत्याख्यानेन प्राप्तप्रतिष्ठानो ध्वनिरित्याह—
अस्तीत्यादि ।

इस प्रकार विरोधी आचार्यों द्वारा उपस्थित आरोपों का निराकरण होने से ध्वनिसिद्धान्त प्रतिष्ठित हो जाता है। यह बतलाने हुए लिखते हैं—

[सर्वस्य]

अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनव्यापारः । तत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ । व्यङ्ग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारवत्त्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः । तन्नोत्तमो ध्वनिः । तस्य लक्षणाभिधामूलत्वेनाविषक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्याख्यौ द्वौ भेदौ । आद्योऽप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विविधः । द्वितीयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतया द्विविधः । लक्षणामूलः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलो रसादिध्वनिः । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दार्थोभयशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति । तत्र रसादिध्वनिरलंकारभङ्ग्यां दर्शितः, काव्यस्य शृङ्गारप्रधानत्वात् । शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः । गुणीभूतव्यङ्ग्यो वाच्याङ्गत्वादिभेदैर्यथासंभवं समासोक्त्यादौ दर्शितः ।

यह मानने में अब कोई आपत्ति नहीं कि व्यञ्जना (भी काव्य का एक स्वतन्त्र) व्यापार है जिसका प्रतिपाद्य विषय है (प्रतीयमान) व्यंग्य अर्थ है। यह जो व्यंग्य अर्थ है वह (=उसका चमत्कार कहीं) प्रधान होता है और (कहीं) अप्रधान फलतः (व्यंग्यार्थयुक्त) काव्य के दो भेद हो जाते हैं (प्रधान होने पर) ध्वनि और (अप्रधान होने पर) गुणीभूतव्यंग्य । जिस काव्य में व्यंग्य अस्फुट (चमत्कारशून्य) होता है वह एक तीसरा भेद भी होता है । उसे चित्र कहा जाता है क्योंकि उसमें अलंकार की ही छया रहती है । इन तीनों में ध्वनिनामक काव्य उत्तमकाव्य होता है । उसके लक्षण और अभिधा के आधार पर क्रमशः दो भेद होते हैं (लक्षणा के आधार पर) अदिवक्षितवाच्य (जिसमें वाच्य अपने स्वरूप से उपयोगी नहीं रहता) और अभिधायानी अभिधेयार्थ के आधार पर) विवक्षितान्वपरवाच्य (जिसमें वाच्य अर्थ बदलता तो नहीं किन्तु वह प्रधान नहीं रहता) । इनमें से दूसरा (विवक्षितान्वपरवाच्य नामक भेद) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (जिसमें वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति होती तो एक के बाद एक करके है किन्तु लगती देसी नहीं) और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य (जिसमें वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति एक के बाद एक होती हुई ही प्रतीत होती है) इस प्रकार दो प्रकार का होता है । (प्रथम : जो लक्षणामूलक ध्वनि है वह शब्दशक्तिमूलक ही होती है और उसमें ध्वनि वस्तुरूप ही रहती है (रस या अलंकाररूप नहीं) । (द्वितीय का प्रथम) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (नामक जो भेद है वह), अर्थशक्तिमूलक

होता है और (वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस आदि स्वरूप ही होता है, (तथा द्वितीय) सत्य्यक्रम-
व्यग्य (नामक भेद) शब्दशक्तिमूलक भी होता है और अर्थशक्तिमूलक भी तथा उसमें व्यग्यार्थ
वस्तरूप भी होता है और अलङ्काररूप भी । इनमें से रसादिध्वनि अलङ्कारमञ्जरी में दिखला
दिया है क्योंकि काव्य में प्रधानता शृंगार की है । शेष (वस्तुध्वनि अलङ्कारध्वनि भी) जहान्तादा
वहीं विभक्त कर दिया है । (यह हुई ध्वनिनामक उत्तमकाव्य के भेदों की उर्चा, जहा तक) गुणीभू-
तव्यग्य (का सवन्ध है उसके) 'वाच्याग' आदि (अनेक) भेद (होते हैं उन्हें) समासोक्ति
आदि (अर्थालङ्कारों) में (ध्वनिकार आदि ने) समासोक्ति आदि में यथासम्भव दरसा दिया है ।"

विमर्शिनी

तावच्छब्दो विमर्तिपर्यभाषद्योतकः । अस्यैव भेदनिर्देशं कर्तुमाह—तत्रेत्यादि । इयङ्ग-
निष्ठे व्यञ्जनव्यापारे सत्यपीत्यर्थः । प्राधान्याप्राधान्येति । यदुक्तम्—

'तत्परानेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।

ध्वने. स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्जितः ॥' इति ।

तथा—

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

तत्र व्यङ्ग्यवान्वये वाच्यचारुव स्यात् प्रकल्पवत् ॥' इति ।

अस्फुटत्व इति । इयङ्गस्याविवक्षितत्वे सतीत्यर्थः । यदुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति । अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥'

इति । तत्रेति । अयनिर्धारणे । तत्त्वेति, उत्तमस्य ध्वनेः । आद्य इति अविवक्षितवाच्यः ।

न केवलं ध्वनिद्विविधं धावत्प्रभेदोऽप्ययं द्विविध इत्यपिशब्दार्थः । यदुक्तम्—

'अर्थान्तरे संग्रहितमयन्तं वा तिरस्कृतम् ।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम् ॥' इति ।

'वाच्य' शब्द विप्रतिपत्ति के अभाव का चोतक है । ध्वनि के ही भेद बनाने के लिए कहते
हैं—'तत्र' अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ व्यञ्जनाव्यापार के रहने पर भी । प्राधान्याप्राधान्य = जहा कि
(ध्वनिकार ने) कहा है—"शब्द और अर्थ जहा व्यग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों उसी
(काव्य) को ध्वनि का शुद्ध स्थल माना जाना चाहिए ।" (ध्वन्यालोक—संग्रहकारिका उद्योत-
१ पृ० १३१ चौखंडा संस्करण), तथा "काव्य का एक और भेद होता है जिसमें व्यग्य (का
चमत्कार) गुणीभूत रहता है और जहा व्यग्य के सवन्ध से वाच्य की चारता बंद जाया करती
है ।" [ध्वन्यालोक ३।४० कारिका] । अस्फुटत्व = अर्थात् व्यग्य की विवक्षा का अभाव । जैसा
कि कहा है—"रस, भाव आदि विषयों की विवक्षा न रख कर जहा अलङ्कार का निवेश किया जाय
वह काव्य चित्रकाव्य कहलाता है । (४९७ पृ० ध्वन्यालोक संग्रहकारिका) । तत्र यह पद काव्य
के तीन भेदों के निर्धारण के लिए है । तस्य अर्थात् उत्तम ध्वनि का । आद्य = प्रथम अर्थात् अविव-
क्षितवाच्य । अपि (भी) शब्द का अर्थ है कि केवल ध्वनि ही दो प्रकार की नहीं है अपितु उसके
प्रभेद (भेद के भेद) भी दो प्रकार के हैं । जैसा कि कहा है—"अविवक्षितवाच्यनामक ध्वनि
का वाच्यार्थ दो प्रकार का रहता है अर्थान्तरसक्रामित (उपादानलक्षणा द्वारा अपना रूप रक्षित
रखते हुए दूसरे अर्थ का परिग्रह करने वाला जैसे "कमल तो कमल ही है" वाक्य में द्वितीय
कमल) और अत्यन्त तिरस्कृत (लक्षणलक्षणा द्वारा अपना स्वरूप विलकुल छोड़कर दूसरे का
रूप अपना लेने वाला, जैसे शत्रु से कथित "तुमने मेरा बहुत उपकार किया"—वाक्य में उपकार,

जो अपकार अर्थ में बदल जाता है। अथवा "निःश्वरः सम्यते। इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ।
अन्य शब्द का अर्थ" - ध्वन्यालोक-२।२)।

विमर्शिनी

द्वितीय इति विवक्षितान्धपरवाच्यः। यदुक्तम्—

‘असंलक्ष्यक्रमोद्घोतः क्रमेण घोतितः परः।

विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥’

“नं दर्शयितु-

इति। अत्रैव वस्तुरसालंकाराणां ध्वन्यमानत्वं दर्शयितुमाह—लक्षणेत्यादि। लक्षणा-
मूल इत्यविवक्षितवाच्यः। शब्दशक्तिमूल इति न पुनरर्थशक्तिमूलः। यद्यपि शब्दशक्ति-
मूलेऽर्थशक्तिरप्यस्ति तथापि तत्र तस्याः सहकारितया व्यवस्थानमिति प्राधान्यात्लक्ष्य-
शक्तिमूलत्वमुक्तम्। पञ्चमर्थशक्तिमूलत्वेऽपि ज्ञेयम्। वस्तुध्वनिरिति। रसालंकारव्यति-
रिक्तस्य वस्तुमात्रस्य ध्वन्यमानत्वात्। तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो वस्तुध्वनिर्यथा—

‘स्निग्धरयामलकान्तिलिप्तविद्यतो वेद्धद्वलका घना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।

कामं सन्तु ह्यं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥’

द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्धपरवाच्य। जैसा कि कहा है—“विवक्षितवाच्य” ध्वनि का स्वरूप दो प्रकार का दिखाई देता है एक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।” (ध्वन्यालोक २।२)। वहाँ वस्तु, रस और अलंकारों की ध्वन्यमानता बतलाने के लिए लिखते हैं—“लक्षणा” इत्यादि। लक्षणामूल = अर्थात् अविवक्षितवाच्य। शब्दशक्तिमूलक अर्थात् अर्थशक्तिमूलक नहीं। यद्यपि यहाँ शब्दशक्ति से ध्वनि प्रतीति होती है वहाँ अर्थशक्ति भी रहती ही है तथापि वहाँ उत्त (अर्थ शक्ति) का सहयोगमात्र रहता है अतः प्रधान होती है शब्द शक्ति ही, फलतः नाम ‘शब्दशक्तिमूलक’ रखा गया है। वही स्थिति अर्थशब्दशक्तिमूलक ध्वनि के नामकरण में भी है (वहाँ शब्दशक्ति अप्रधान रहती है और नाम प्रधान के आधार पर विद्या जाता है = “प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति”)। वस्तुध्वनि अर्थात् वहाँ रस और अलंकार की नहीं, केवल वस्तु की ही ध्वनि होती है। उनमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य वस्तुध्वनि यथा—(विद्युक्त भगवान् राम प्राण्डू का मेषालम्बर देख कर रहे हैं) “स्निग्ध और श्यामल कान्ति से आकाश को लीप रहे तथा वक्रभक्तियों के नृत्य से युक्त (श्यामश्वेतवर्णयोग से झुहावने) मेघ उमड़ते आये, फुहार लेकर (शीतल। पवन वहेँ और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दपूर्ण सुन्दर केका (ध्वनि) उठें, उठती रहें, मैं तो अन्यत्प कठोर हृदय वाला हूँ, राम जो ठहरा, सब सहता जाऊँगा, सहूँ लूँगा, सहूँ ही रहा हूँ; परन्तु इस समय (सुकुमारचित्त) सीता की स्थिति क्या होगी। ह हा हा देवि, तुम धारज रखना, (चल न बसना।।” वहाँ रामशब्द “राज्यनिर्वासन आदि असंलक्ष्य दुःख का पात्र होना” ध्वनित करता है जो (न रसरूप है और न अलंकाररूप सामान्य वात (Statement) है अतः) वस्तुरूप है।

विमर्शिनी

अत्र रामशब्दो राज्यनिर्वासनाद्यसंलक्ष्येयदुःखभाजनत्वस्वरूपं वस्तु ध्वनति। अत्यन्त-
तिरस्कृतवाच्योऽपि यथा—

‘रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुपारावृतमण्डलः।

निःश्वासान्ध इवादर्जश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥’

होता है और (वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस अर्द्धनसाधारणविच्छायाख्यादिधर्मजातं वस्त्ररूपं व्यंग्य (नामक भेद) शब्दिशक्तिमूलावितदाभासादयः । तत्र रसध्वनिर्यथा—

वस्त्ररूपं भी होता है और प्रणयकृपितां धातुरागैः शिलाया-
दिया है क्योंकि काव्य-मान ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

वहाँ विभक्त कर स्तावन्मुहुरुपचितं दंष्ट्रालिप्यते मे क्रूरस्त-
तव्यम् / स्मिन्नपि न सहते सगमं भी कृतान्तः ॥'

अत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्त एव रसः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यथा—(हेमन्तवर्णन) चन्द्रमा, जिम्ने अपनी सुहावनी कान्ति मूर्ध में ढाल दी है और जिसका मण्डल ओस से पिर गया है, ऐसा लग रहा है जैसे फूँक से अन्धा वर्षण ।" अन्ध शब्द (का अर्थ है 'देख न सकना' और जहा यह रहता है वहा मलिनता भी रहती ही है फलन) अन्ध शब्द (अपने अर्थ अदर्शन से लगी मलिनता और ऐसी ही अन्य धर्मों को ध्वनित करता है जो न रसरूप है और न अलङ्काररूप अतः) वस्त्ररूप है ।

रसादि = आदि शब्द से भाव, रसामान भावाभास भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता और भावोदय की ओर सकेत है इनमें से रसध्वनि जैसे—(यज्ञ का मेघदूत में लदेश) "मैं तुम्हारी तो प्रणयकृपित मुद्रा गुरु आदि से शिखाखण्ड पर बना लेना हूँ किन्तु जब अपनी स्वय की चरणपतित मुद्रा बनाने चलना हूँ तो बार बार ठमडते आँसू मेरी दृष्टि छीप देते हैं । विधाता इतना क्रूर है कि चित्रलेख में भी वह हम दोनों का समायम नहीं सहता" । यहाँ (यज्ञ तथा भावाहित यज्ञी) विभाव, (चित्रलेख, अक्षुपात, विद्याप) अनुभाव (क्रूरशब्द से विधाता के प्रति व्यक्त अमर्ष आदि) व्यभिचारी भावों से रस अभिव्यक्त हुआ है ।

विमर्शिनी

भावध्वनिर्यथा—

'जाने कोपपराहमुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति हृदती गन्तुं प्रवृत्ता तत' ।
नो यावत् परिरम्य चाटुकशतैराधासयामि प्रियां
आतस्तावद्दहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृत' ॥'

अत्र विधिं प्रत्यसूयाख्यो व्यभिचारिभावः । रसाभासध्वनिर्यथा—

'स्तुमाः कं वामाशि चणमपि विना य न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमस्त्रमुखे य मृगयसे ।
मुलम्ने को जात' शशिमुखि यमालिङ्गसि वलस्र
तपःश्री कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि ॥ यम् ॥'

अत्रानेककामुकविषयोऽभिलाष इति रसामासः ।

भावध्वनि यथा—“मुझे स्मरण आ रहा है, मैंने सपने में प्रियतमा को देखा है वह कोप से मुँह फेरे हुए थी, वह बार बार मुझे हाथ में रोक कर रोनी हुई कह रही थी मुझे न छूना, न छूना और ऐसा कहती हुई मेरे सामने से हटने लगी थी । उस समय मुझे उसे अपनी छाती से चिपका कर अनेक मौठी और चूरी वार्नों से मनाना था किन्तु वह कर ही नहीं पाया और शठ विधाता ने मेरी नाँद छीन ली, उसने कभी मैं दरिद्र ही रहा ।" यहाँ विधाता के प्रति असूया नामक संचारी (शठ-शब्द से) व्यभिचारी भावों से रस अभिव्यक्त हुआ है ।

रसाभासध्वनि, यथा—(किसी पुंश्रुली से करें) श्रम्यते । इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ । प्रशंसा करें जिसके बिना तेरा चित्त क्षण भर नहीं लगती, प्राप्यन्यतो योजयति—गुणीभूतत्या- है (जो यद्य में प्राणाहुति देता है वही इतना बड़भागी होता कि)
 है) जिसे तू खोजती रहती है । अच्छी लग्न में किसका जन्म हुआ
 चन्द्रमुखि ! तू बलाव करती है । हे कामनगरि ! किसको इतनी तपोभद्रिमा है .
 किया करती है ।¹² यहाँ एक नायिका का अनेक नायकों के प्रति अभुराग व्यक्त हो-
 यहाँ (शृंगार) रसाभास है (क्योंकि यहाँ शृङ्गार शृङ्गाररस जैसी स्थिति तक ही पहुँचता है,
 नहीं बन पाता) ।

भावाभासध्वनि यथा—(परस्त्री पर आसक्त कामुक चिन्ता कर रहा है)—“वह (उसकी स्त्री)
 कितनी सुन्दर है । उसका चेहरा पूर्णिमा के चन्द्र को नारंग लुडकी, गौर और दमदमाती कान्ति
 लिए है) उसकी आँखें चंचल हैं, मुसकुराते यौवन के अनेक विभ्रम उसके अंग अंग में तरंगित हो
 रहे हैं । तो क्या कलें किस प्रकार उससे मैत्री कलें । वह कौन सा उपाय हो सकता है कि वह
 मुझे अपना ले ।” यहाँ परस्त्रीविषयक चिन्ता अनुचित है अतः यहाँ चिन्तारूपी भावाभास
 ध्वनि है ।

विमर्शिनी

भावाभासध्वनिर्यथा—

‘शकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
 तर्किकरोमि विदधे कथमत्र मैत्रिं तरस्वीकृतिव्यतिकरे क इषाम्युपायः ॥’

अन्नानौचित्यप्रवृत्ता चिन्तेति भावाभासः । भावप्रशंसो यथा—

‘एकस्मिच्छयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्-
 तोरन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरघतोर्गौरिवम् ।
 दंपत्योः शनकैरपङ्गवलयामिश्रीभवधनुषो-
 भंगो मानकलिः सहासरभसभ्यावृत्तकण्ठग्रहः ॥’

अश्रासूयायाः प्रशंस इति भावप्रशंसध्वनिः । वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति । तत्र शब्द-
 शक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्यथा—

‘निर्वाणवैरदहताः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
 रक्तप्रसाधितभ्रुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सन्मृत्याः ॥’

अत्र कौरवाणां क्षतशरीरादिकत्वं वस्तुरूपं शब्दशक्त्यैव प्रतीयते । स एवार्थशक्ति-
 मूलो यथा—

‘अलससिरोमणि धुत्तार्णं अग्निमो पुत्ति धणसमिद्धिमभो ।
 इह भणिष्ण णअंगी पप्फुह्विलोअण्ण जाआ ॥’

अर्थार्थशक्त्या ममैवोपभोग्योऽयमिति वस्तु व्यज्यते । स एवोभयशक्तिमूलो यथा—

‘पंथिअ ण पत्य सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
 उग्गाअपओहरं पेविस्सअण जइ वससि ता वससु ॥’

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्वेति वस्तु वक्रौचित्यमाश्रित्य शब्दार्थशक्त्याभि-
 व्यज्यत इत्युभयशक्तिमूलत्वम् ।

भावप्रशंस यथा—“एक ही शय्या पर एक दूसरे की ओर पीठ करके सो रहे, एक दूसरे का
 उत्तर देते हुए मुँह फुलते जा रहे, साथ ही चित्तमें दूसरे को मनाने की इच्छा रहने पर भी अपना

होता है और (वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस छुई टेडी कर धीरे में एक दूसरे को देखना चाहा तो व्यंग्य (नामक भेद) शब्दशक्ति मानकलह टूट गया और दोनों के तिरछे कण्ठ हँसी के वस्तुरूप भी होता है और, अमूया नामक सचारी भाव का प्रथम (अन्न) ध्वनित है अतः यह दिया है क्योंकि कान्दरण है ।

यहाँ विभक्त कर, ई अलङ्कारध्वनि । दोनों में शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण तन्व्यग्यु भी (कौरवों) के विकास से वैराग्नि जिनकी शान्त हो गई है ऐसे पाण्डव शीकृष्ण के आनन्द करें तथा कौरव पृथ्वी को रक्तप्रसाधित बना चतुर्विग्रह हो अपने सभी मृत्यों के साथ स्वस्थ हो जावें । (यहाँ रक्तप्रसाधित, क्षतविग्रह और स्वस्थ शब्द अर्थक है । [रक्त अर्थात् खून से सँवार ली है पृथिवी जिन्होंने तथा अनुरूप और मजी सँवरी है पृथिवी जिनकी, क्षत है विग्रह = युद्ध या शरीर जिनका तथा स्वस्थ = स्वर्गस्थ या शरीर में ठीक) यहाँ शरीर की क्षति आदि अर्थ वस्तुरूप ही है और वे शब्दशक्ति में ही प्रतीत होते हैं (क्योंकि यहाँ शब्द बदले नहीं जा सकते) । अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यथा—

अलसशिरोमणिधूतानामप्रगीर्धनसमृद्धिमयः ।

इति भगिनेन नतागी प्रपुल्लविलोचना जाता ॥'

अर्थात् (उपमाना ने जब लडकी से कहा कि) वह (तुम्हारे लिए निर्धारित लडका आलसियों में शिरोमणि है, धूतों (जुआड़ी या भोखेबाजों) में अगुआ है और धनसमृद्धि से भरपूर है "तो इस क्षण से उस नतागी की आँखें टिप उठी ।" यहाँ यह बात (वस्तु) ध्वनित होती है कि वह पुराने एकमात्र उली नतागी तक सीमित रहेगा ।

उभयशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यथा—

'पथिक नात्र क्षत्तरमस्ति मनाम् प्रस्तारस्थले प्राप्ते ।

उत्प्रातिपयोधर प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥'

अर्थात् (स्वयं दूती की उक्ति) है पथिक । यहाँ विछीना थोटा भी नहीं है और गाँव की जानन भी पथरीली है । उठे पयोधरों को देखकर टहरना चाहा तो टहर जाओ" यहाँ यह बात (वस्तु) ध्वनित होती है कि 'यदि तुम (पथिक) उपमोगसुभ हों तो यहाँ ठहरों "यह ध्वनि बोलने वाले के विषय में यह विदित होने से होती है कि वह चपल है और यहाँ न तो 'पयोधर' शब्द बदला जा सकता और न अन्य सभी अर्थ अतः यह ध्वनि शब्दायोंभयशक्तिमूलक है ।

विमर्शिनी

शब्दशक्तिमूलोऽलङ्कारध्वनिर्यथा—

'उद्यतः प्रोक्षसदार. कालागुरुमलीमसः ।

पयोधरभरस्तन्व्या कं न चक्रेऽमिलापिणम् ॥'

अत्र शब्दशक्त्या मेघलक्षणमर्थान्तरं प्रतीयते । प्रकृताप्रकृतयोश्चार्थयोरसंबन्धाभिधायित्वं मा प्रसाङ्गीदिति तयोरौपम्यं कल्प्यत इत्यलङ्कारध्वनिः । स प्वार्थशक्तिमूलो यथा—

'तं ताण सिरिसहोभररजगाहरणम्मि हिअभमेकरसं ।

धिवाहरे पिआणं पिण्वेसिअं कुसुमवाणेन ॥'

अत्र कौस्तुभविम्बाधरयो केवल्यैवार्थशक्त्यौपम्यं गम्यत इत्यर्थशक्तिमूलोऽलङ्कारध्वनिः । उभयशक्तिमूलो यथा—

'जगहिअविदारणप्प धारासलिललुलिप्प ण रमइ तद्दा ।

तव दिट्ठी चित्तरभरे पिआण जह वैरिखग्गम्मि ॥'

अत्रोभयशक्त्या चिकुरभरखहृगयोरोपम्यं गम्यते । इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ । एवं ध्वनेः प्रभेदजातं प्रदर्श्य क्रमप्राप्तं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याप्यन्यतो योजयति—गुणीभूतव्यङ्ग्यदिना । दर्शित इति ध्वनिकारेण । यदाह—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।

समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः ॥ इति ॥

पूर्वं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याप्यन्यतो भेदजातं योजयित्वा चित्रस्यापि प्रभेदजातं दर्शयितुमाह—चित्रमित्यादि ।

शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि यथा—‘उस तन्वी के खूब उमरे पयोधरों ने किसे साभिलाप नहीं बना दिया । पयोधर उन्नत, प्रोत्ससद्धार और कालागुरुमलीमस जो हैं । (पयोधर = स्तन तथा मेघ, प्रोत्ससद्धार = प्रोत्ससित हो रहे हैं हार जिनपर ऐसे-स्तन, प्रोत्ससित हो रही हैं धाराएँ जिनमें ऐसे = मेघ; कालागुरु से कृष्ण = स्तन, कालागुरुतुल्य कृष्ण = मेघ । यहाँ स्तन प्रस्तुत हैं मेघ अप्रस्तुत और पयोधर आदि शब्द बदल देने पर मेघपक्ष की प्रतीति नहीं होती अतः यहाँ) शब्दशक्ति से ((ही) मेघरूप अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है और स्तन तथा मेघों में उपमानोपमेयभाव मानना पड़ता है अन्यथा दोनों अर्थ असंबद्ध पड़े रह सकते हैं जिससे वाक्यभेदनामक दोष हो सकता है । वाच्यस्थिति में अलंकार माना जाने वाला यह) उपमानोपमेयभाव व्यंजना द्वारा प्रधानरूप से ध्वनित होता है अतः यहाँ अलंकारध्वनि है ।

अलंकारध्वनि ही जो अर्थशक्ति से ध्वनित होती है यथा—

“तत् तेषां श्रीसहोदररानाहरणे हृदयमेकरसम् ।

विम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमवाप्येन ॥”

अर्थात् = “उन (राक्षसों) का (समुद्रमन्थव से उत्पन्न रत्नों में से) श्रीसहोदर (श्री = लक्ष्मी के साथ उत्पन्न होने से उसका सहोदर और सुन्दर होने से भी श्री = शोभामयी लक्ष्मी का सहोदर) रत्न (कौस्तुभ) किसी भी प्रकार हृदय लेने में सर्वात्मना सन्मद्ध हृदय कुसुमवाप्येन प्रियाओं के विम्बाधर पर लगा दिया ।” यहाँ कौस्तुभमणि और अधरोष्ठ का तुल्यता अपरिवर्तनीय अर्थ से प्रकट होती है अतः यहाँ अर्थशक्तिमूलक ही अलंकारध्वनि है (शब्द तो यहाँ कौरे भी रहे जा सकते हैं) ।

उभय—(शब्दार्थ) शक्तिमूलक यथा—

‘अनहृदयविदारणके धारासलिललुलिते न रमते तथा ।

तव दृष्टिचिकुरभरे प्रियाणां, यथा वैरिखड्गे ॥”

अर्थात् तुम्हारी दृष्टि जनो के हृदय विदारित करने वाले तथा धारासलिल से लुलित (केशपाशपक्ष में धारासलिल = नदी आदि को धारा का जल, खड्गपक्ष में—उसकी धार का पानी—प्रियाओं के केशपाशों में उतनी नहीं रमती जितनी वैरियों के खड्गों में ।” यहाँ (धाराशब्द अपरिवर्तनीय है, श्रेय बदले जा सकते हैं अतः) शब्द और अर्थ दोनों को शक्तियों से खड्ग तथा प्रियाकेशों की तुलना शोधित होती है ।

इसके बाद जो इति शब्द है उसका अर्थ है प्रतिपाद्य तत्त्व के प्रतिपादन की समाप्ति ।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद दिखलाकर उसके बाद आने वाले गुणीभूतव्यङ्ग्य के भी भेदों का अन्य ग्रन्थों में संकेत देते हुए लिखते हैं—गुणीभूतव्यङ्ग्य आदि । दर्शितः दिखला दिया है अर्थात् ध्वनिकार ने । जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है—

“जहाँ व्यंग्य अप्रधान रहता है, अर्थात् वह केवल वाच्य के पीछे चलता है वहाँ समासोक्ति अतिअर्थालंकार ही होते हैं।” (ध्वन्या० समूहकारिका उच्यते-१ पृष्ठ० १३० चौ० सं० १) इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के भेद भी अन्यत्र दिखला दिए।

अब चित्रकाव्य के भेद भी दिखलाने के लिए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

चित्रं तु शब्दार्थालंकारस्वभावतया बहुतरप्रभेदम् । तथा हि—

[सूत्रम् १] इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः ॥ १ ॥

आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचनं वक्ष्यमाणालंकाराणां कक्षाविभागघटना-
र्थम् । अर्थापेक्षया शब्दस्य प्रतीतावन्तरङ्गत्वेऽपि प्रथममर्थगतधर्मनिर्देश-
ध्विरंतनप्रसिद्धया पुनरुक्तवदाभासस्य पूर्वं लक्षणार्थः । इहशब्दः प्रस्थाने ।
इतिशब्दः प्रकारे, त्रिशब्दादेश संख्यापरिसमाप्तिसिद्धेः ।

चित्रनामक जो काव्यभेद है वह तीन प्रकार का है शब्दालंकारस्वरूप, अर्थालंकारस्वरूप तथा उभयालंकारस्वरूप । इनके प्रभेदों की संख्या बहुत अधिक है । जैसे—

[सूत्र] “यहाँ (काव्य में) पौनरुक्त्य के तीन भेद होते हैं—(१) अर्थपौनरुक्त्य (२) शब्दपौनरुक्त्य तथा (३) शब्दार्थ (उभय) पौनरुक्त्य ॥ १ ॥

[वृत्ति] (अलंकारों के निरूपण के) आरम्भ में पौनरुक्त्य के भेदों के निरूपण का प्रयोजन है— (इनके) आगे निरूपित किए जाने वाले (पुनरुक्तवदाभास आदि पाँच पौनरुक्त्यमूलक) अलंकारों का कक्षाविभाग (अर्थ, शब्द और उभयगत रूप से विभाजन) करना है ।

प्रतीति में शब्द अर्थ की अपेक्षा अन्तरग है (काव्य में शब्द का ज्ञान पहिले होता है और अर्थ का बाद में) इसलिये शब्दगत पौनरुक्त्य का उल्लेख पहिले होना चाहिए तथापि (अर्थगत धर्म (पौनरुक्त्य) का (पहिले) निर्देश प्राचीन (उद्गादि) आलंकारिक आचार्यों के समान (अर्थगत पौनरुक्त्य पर निर्भर) पुनरुक्तवदाभास का लक्षण (शब्दालंकारों की अपेक्षा) पहिले करने के लिए किया गया है ।

इह-(यहाँ-) शब्द (काव्य-) प्रस्थान के लिए प्रयुक्त है (क्योंकि अलंकार काव्य के ही धर्म हैं) । इति (इस प्रकार-) शब्द (समाप्तिवाचक नहीं) प्रकार-(भेद-) वाचक है, क्योंकि संख्या की समाप्ति (पूर्ति) त्रि-(तीन-) शब्द से ही बली आती है ।

चिमांशिनी

तुशब्दः काव्यप्रकारद्वयादस्य वैलक्षण्यस्रोतकः । अत एव बहुतरप्रभेदमित्युक्तम् । शब्दार्थैक्येक शेषः । तेनोभयालंकाराणामपि ग्रहणम् । तदेव दर्शयितुमाह—तथाहीत्यादि । चित्राख्यकाव्यभेदनिरूपणावसरे किं पौनरुक्त्यप्रकारवचनेनेत्याशङ्क्याह—आदावित्यादि । वक्ष्यमाणालंकारा पुनरुक्तवदाभासादयः पञ्च । शब्दप्रतीतिपुरःसरकारणार्थप्रतीतिरिति प्रथमं शब्दगत एव धर्मनिर्देशो न्याय्यो नार्थगत इत्याशङ्क्याह—अर्थेत्यादि । चित्रंतन प्रसिद्धेति । न पुनर्युज्यमानत्वमिति भावः । ‘पुनरुक्तवदाभास उक्तानुप्रास एव च’ इति चित्रंतनप्रसिद्धिः । अर्थालंकारत्वादर्थालंकारप्रकरणे पुनरस्य युज्यमानत्वम् । नन्वादौ शब्दगतो, धर्मनिर्देशः कार्यः पश्चादर्थगत इति क्रमस्य न किंचित्प्रयोजनमुत्परयाम इति किं तेनेति यदन्यैरुक्तं

तद्युक्तम् । शब्दार्थयोः क्रमेणैव प्रतीताववभासनात्तथात्वेनैव धर्मनिर्देशस्योपपत्तेः किं च 'वर्धमानोऽर्कपाणि शास्त्राणि प्रथन्ते' इति नीत्या परिमितचमत्काराणामर्थालंकाराणां पश्चान्निर्देशः कार्य इति सप्रयोजन एव क्रमः । चिरंतनमतामुल्लङ्घनेन च वयं प्रवृत्ता इत्ययुक्तमपि ग्रन्थकृता तन्मतमाश्रितम् । अग्रेऽप्यनेनाशयेन तन्मताश्रयणं करिष्यत्येव । तेन वयं यच्चिरंतनमताश्रयणं न्यात्यास्यामस्तद्युक्तमेव ।

पुनराब्ध (ध्वनि और गुणीभूतत्वंग्य इन) दोनों काव्यप्रकारों से इस (चित्र काव्यप्रकार) की विलक्षणता (विशेषता) का चोतक है । इसीलिए कहा कि इस (चित्रकाव्य) के भेदों की संख्या अधिक है । शब्दार्थपौनरुक्त्य में 'शब्दार्थशब्द' में एकशेष समास है [अर्थात् इसका विग्रह इस प्रकार होगा शब्दार्थार्थचेति शब्दार्थों, शब्दार्थ (उत्सहितः) अर्थश्चेति शब्दार्थों, शब्दार्थों च शब्दार्थों चेति शब्दार्थों, अर्थात् एकवार अलग अलग शब्दार्थ का समासमागगत जोड़ा = शब्दार्थों, दूसरी बार मिले हुए शब्दार्थ का जोड़ा, दोनों जोड़ों के वाचक दो "शब्दार्थशब्दों" का पुनः समास और उसमें एकमात्र का वचना] उस (एकशेष समास) से उभयालंकारों का ग्रहण भी हो जाता है । उसी को दिखलाने के लिए लिखना आरम्भ करने है "तथा हि = जैसे"—इत्यादि । (सूत्रकार ने तीन प्रकार के पौनरुक्त्य का निरूपण पहले किया उस पर प्रश्न उठा कि-) प्रकरण तो था चित्रनामक काव्य के भेदों के निरूपण का, उसमें पौनरुक्त्य के भेदों की चर्चा क्यों ? इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं आदौ = पहले, आरम्भ में इत्यादि । वक्ष्यमाण अलंकार अर्थात् पुनरुक्तवदाभास आदि पाँच अलंकार । शंकाः—अर्थ की प्रतीति शब्द की प्रतीति को आगे करके होता है इस लिए पहले शब्दगत धर्मों का ही निर्देश उचित था, न कि अर्थगत धर्मों का, वसर = अर्थः इत्यादि । चिरंतनप्रसिद्धि = भाव यह कि प्राचीन आलंकारिकों में पुनरुक्तवदाभास का ही निरूपण पहले किया जाता रहा है इसलिये हम भी यहाँ उसी का निरूपण पहले कह कर रहे हैं इसलिये नहीं कि उसी का निरूपण पहले किया जाना उचित है । चिरंतनप्रसिद्धि के लिए (उद्गट के काव्यालंकार-सारसंग्रह की प्रथम कारिका =) "पुनरुक्तवदाभासं ऐकानुभास एव च" (ली जा सकती है) । वस्तुतः पुनरुक्तवदाभास अर्थ का अलंकार है इसलिये इसका निरूपण अर्थालंकारप्रकरण में होना उचित था ।

बुद्ध लोग ऐसा कहते हैं कि 'शब्द के धर्मों' का ही निर्देश पहले होना चाहिए, अर्थ के धर्मों का बाद में, यह जो क्रम है वह निरर्थक है, उल्टा क्रम भी अपनाया जा सकता है, उसमें भी कोई हानि नहीं दीखती । किन्तु उनका यह कहना तथ्यशून्य है । क्योंकि शब्द और अर्थ की प्रतीति क्रम से ही होती है (और उसमें शब्द की ही प्रतीति पहले होती है) अतः उसी क्रम से धर्मनिर्देश करना ठीक रहता है । और क्रम सार्थकभी है क्योंकि "शास्त्र वे प्रसिद्ध होते हैं जिनमें उत्कर्ष बढ़ता जाय" (उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करने वाले शास्त्र बढ़ते और प्रसिद्ध होते हैं) इस व्यवहार के अनुसार अर्थालंकारों का ही निरूपण बाद में किया जाना चाहिए क्योंकि उन्हीं में (अपेक्षाकृत अधिक) चमत्कार होता है । जहाँ तक हमारा संबन्ध है हम (अलंकारसर्वत्वकार) 'प्राचीन (उद्गटादि) के मत का उल्लंघन निवादा किए ही अपना ग्रन्थ बना रहे हैं" इस भावना से ग्रन्थकार युक्तिविरुद्ध होने पर भी प्राचीनों का क्रम ही यहाँ दे रहे हैं । इसी भावना से प्रेरित हो वे आगे भी प्राचीनों के मत अपना कर ही चलेंगे । इसलिये आगे भी हम जो प्राचीनों के मत के ही अनुसार व्याख्या प्रस्तुत करेंगे वह गलत नहीं होगा ।

विमर्शिनो

एतदेव यद्योद्देशं निर्णेतुमाह—त्रयेत्यादि ।

[त्रयं]

अब इसी (पौनरुक्त्य) को नामनिर्देशक्रम से एक एक करके बतलाना आरम्भ करते हैं, सारे

[सू० २] तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ॥

प्ररूढाप्ररूढत्वेन द्वैविध्यम् । प्रथमं हेयवचनमुपादेये विश्रान्त्यर्थम् । तत्रेति प्रयनिर्धारणे । यथावभासनविश्रान्तिः प्ररोहः ।

[नू० २] उन [तीनों पौनरुक्त्य] में प्ररूढ अर्थपौनरुक्त्य दोष होता है ॥

[वृत्ति] = (अर्थपौनरुक्त्य) दो प्रकार का होता है प्ररूढ और अप्ररूढ । [इनमें से] आरम्भ में त्याग्य [दोषस्वरूप प्ररूढ पौनरुक्त्य] का कवन उपादेय [अलङ्कारस्वरूप अप्ररूढ पौनरुक्त्य] से [निरूपण को] समाप्ति करने के लिए किया गया । 'तत्र'-शब्द तीन [पौनरुक्त्य] में से [एक प्ररूढ के] निर्धारण के लिए है । [प्ररूढ में] प्ररोह का अर्थ है 'आरम्भिक प्रतीति के समान ही अन्तिम प्रतीति का होना' [अर्थात् पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों की प्रतीतिओं का एकरूप होना] ।

विमर्शिनी

किमलङ्कारप्रस्तावे दोषकथनेनैत्याशङ्क्याह—प्रथममित्यादि । उपादेय इत्यलङ्कारस्वरूपे । यथेति । यथैव दृष्टस्तथैव पर्यवसित इत्यर्थः । यथा—

'हरिणनयनां सारगाक्षीं कुरङ्गविलोचना कमलवदनां राजीवास्या सरोजसमाननाम् । विलुलितकक्षा चञ्चलकेशीं चञ्चिकुरोत्करा मुरतविश्रान्ते सभोगान्ते विलोक्य कामिनीम् ॥'

अत्र सारगाक्षीमित्यादिषु पुनर्बचनं प्ररूढम् । अप्ररूढं पुनरलङ्कारः ।

न चैतावतैव दोषाभावमात्रेणालङ्कारत्वमस्याशङ्क्यम् , वच्यमाणनीत्यालङ्कारवोचितस्य विच्छिन्नविशेषस्यापि भाग्यत् । तदेवाह—आमुदेत्यादि ।

"अलङ्कार के प्रसंग में दोष (प्ररूढ अर्थपौनरुक्त्य) का कवन क्यों किया जा रहा है"—इस शंका का उत्तर देने हुए कहते हैं—प्रथम = आरम्भ में इत्यादि । उपादेय अर्थात् अलङ्कार । 'यथा' "जैसा जना वैसा ही ठहरा" । उदाहरण—

मुरतपूर्ति और सभोगसमाप्ति में कामिनी को देखो । उस समय वह हरिण-नयना, सारगाक्षी और कुरङ्गविलोचना, कमलवदना, राजीवास्या और सरोजसमानना तथा विलुलितकक्षा, चञ्चलकेशी और चञ्चिकुरोत्करा प्रतीत होती हैं । [यहाँ हरिण, सारग और कुरङ्ग, नयन, अक्षि और विलोचना, कमल, राजीव और सरोज, वदन, आस्य और आनन, विलुलित, चञ्चल और चञ्चल तथा कक्ष, केश और चिकुर शब्द श्कार्थक हैं] यहाँ सारगाक्षी इत्यादि पदों में पौनरुक्त्य प्ररूढ [आरम्भ से अन्त तक एक सा बना रहता] है । जो पौनरुक्त्य अप्ररूढ रहता है वह अलङ्कार माना जाता है ।

किन्तु इनके [अप्ररूढ होने] मात्र में यह नहीं मानना चाहिए कि "वह (अर्थपौनरुक्त्य) दोषाभावमात्र है और यही इसका अलङ्कारत्व है" क्योंकि इसमें अलङ्कारोचित विशिष्ट सौन्दर्य भी अभी यही बतलाया जाने वाला है । उसी को बतलाने है—

[सर्वस्व]

न पुन

अर्थालंकार [सू० ३] आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदामासम् ॥

कार्यः पश्चाद्—खप्रह्वणं पर्यवसानेऽन्यथात्वप्रतिपत्त्यर्थम् । लक्ष्यनिर्देशे नापुंसकः

संस्कारो लौकिकालंकारवैधर्म्येण काव्यालंकाराणामलंकार्यपारतन्त्र्यध्वन-
नार्थः । अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम् ।

प्रभेदास्तु विस्तरभयान्नोच्यन्ते । उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे यथा—

‘अहीनभुजगाधीशिवपुर्वलयकङ्कणम् ।

शैलादिनन्दिचरितं क्षतकन्दर्पदर्पकम् ॥

वृषपुंगवलक्ष्माणं शिखिपावकलोचनम् ।

ससर्वमङ्गलं नौमि पार्वतीसखमीश्वरम् ॥’

‘दारुणः काष्ठतो जातो भस्मभूतिकरः परः ।

रक्तशोणाच्चिरुचण्डः पातु वः पावकः शिखी ॥’

‘भुजंगकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।

जगन्त्यपि सदापायादव्याच्येतोहरः शिवः ॥’

[सूत्र-३] किन्तु [केवल] आरम्भ [मात्र] में भासित होने वाले [अर्थ-पौनरुक्त्य-
तो पुनरुक्तवदाभास [अलंकारभूत पुनरुक्त पद] हैं ।

[वृत्ति] [सूत्र में] आमुख शब्द का ग्रहण पर्यवसान [अन्त] में भिन्नता [पुनरुक्त के
अभाव] का ज्ञान कराने के लिए किया गया । लक्ष्य [पुनरुक्तवदाभास के नाम] निर्देश में
[पुनरुक्तवदाभासशब्द के साथ पुल्लिङ्ग न होकर] नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग इस तथ्य को ध्वनित
करने के लिए है कि काव्य के अलंकार अलंकार्य [काव्य] से बंधे होते हैं, लौकिक अलंकार [हार
आदि] के समान [अलंकार्य से स्वतन्त्र] नहीं । यह अलंकार अर्थ के पौनरुक्त्य पर निर्भर है
अतः स्वयं भी अर्थ पर निर्भर है और इसीलिए इस अलंकार को अर्थालंकार समझना चाहिए ।
[इसके] प्रभेद नहीं बतलाए जा रहे क्योंकि [हमें] विस्तार में नहीं जाना है । उदाहरण जैसे
मेरे श्रीकण्ठस्तव में—मैं भगवान् शंकर को प्रणाम करता हूँ जो अहीन [अहि-सर्प, इन = स्वामी,
अ-हीन = पुष्ट] भुजगाधीश [वासुकिनाम] के शरीर के वलय [मण्डलीकृत शरीरी का कंकण
पहने हैं, जो शैलादिनन्दिचरित [शिलादि पुत्र = शैलादि अर्थात् नन्दी, शैलादि नन्दी, पुनरुक्त,
शैलादि को नन्दित प्रवृद्ध करने वाला चरित] जो क्षतकन्दर्प-दर्पक हैं—[कन्दर्प और दर्पक =
काम = पुन०, कन्दर्प का दर्प] निमका निशान है वृष पुंगव [वृष = बैल नन्दी, पुंगव = बैल
नन्दी, वृषों में पुंगव श्रेष्ठ], जो शिखिपावक से युक्त नेत्र वाले हैं शिखी = अग्नि और अग्नि-
पुन०, शिखायुक्त अग्नि जो ससर्वमंगल और पार्वतीतहित हैं [सर्वमंगला-पार्वती, उनसे युक्त,
तथा सबके मंगल से युक्त] ।

‘दारुणः काष्ठ से उत्पन्न [दारुणः = दारुण शब्द का पंचमी एकवचन, अतः दारु से और
काष्ठ से = पुनरुक्ति; दारुण = दारु] भस्मभूतिकर [भस्म और भूति = भस्म पैदा करने वाले,
भस्म की भूति = ढेर पैदा करने वाला] तथा रक्तशोणाच्चि [रक्त = खून, शोण = खून, के समान
लपट वाले शोण = लाल] शिखी [शिखा = लपट वाला अग्नि] उच्ये च पावक [अग्नि और
पवित्र करने वाला] आपकी रक्षा करे ।’

—ये स्थल हैं सुवन्त [नाम पदों] के पौनरुक्त्य के । तिष्ठन्त [क्रियापदों] का पौनरुक्त्य
भी उसी प्रकार वही [मेरे श्रीकण्ठस्तव में]—

भुजंगकुण्डली [कुण्डली = सर्प, कुण्डल वाले,] व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः [व्यक्त है, शशी =
चन्द्र, शुभांशुचन्द्रशीतगु = चन्द्र जिसमें, शश = खरगोश से युक्त, शुभ्र किरणों वाला चन्द्र जिसमें]
चेतोहर [चेतः चित्त को, हरः = शिव, चेतोहरः चित्त को हरण करने वाले] शंकर भगवान् सारे

महाशब्दों को सदापायात् अव्यात् [सदा पायात् = रक्षा करे, अन्यात् = रक्षा करे "सदापायात् = अपाय हानि से रक्षा करे]" । [यहा पायात् और अव्यात् पुनरुक्त में लगने हैं] ।

विमर्शिनी

अन्यथावन्ति । यथावभातस्यार्थस्य पर्यवसाने तथात्वेनैवाविश्रान्तिरित्यर्थः । अन्यथा ह्युक्तनीत्या दोष स्यात् । ननु पुनरुक्तवदामासशब्दस्यालङ्कारशब्दसामानाधिकरण्यादुप-
मादिवदजहद्विद्वत्त्वयोगाच्च पुलिङ्गत्वे किमितीह नापुंसक- संस्कारः कृत इत्यादाङ्गवाह-
लक्ष्येत्यादि । लक्ष्यस्य लक्षणीयस्य पुनरुक्तवदामासस्य पुनःशब्दापेक्षया निर्देशो वचन-
मित्यर्थः । अलङ्कारपारतन्त्र्येति । काव्यसामानाधिकरण्येन निर्देशात् । लौकिका हारावयः ।
एषां अलङ्कार्येण सह सयोगः संबन्धः । अत एवैषां तत्परतन्त्रतापि न स्यात् । काव्या-
लङ्काराणां पुनरलङ्कार्येण सह समवायः संबन्धः । अत एवैषामप्युतसिद्धत्वाद् अलङ्कार्य-
पारतन्त्र्यमेवेति लौकिकालङ्कारवैधर्म्यमेव न्याय्यम् । आश्रयाश्रयिभावेनालङ्कार्यालङ्कारण-
भावोपपत्तेः । किमाश्रयमस्यालङ्कारस्वमित्याशङ्क्याह—अर्थत्यादि । एवकारः शब्दपौनरु-
क्त्यावच्छेदघोतकः ।

अन्यथावत् = मित्रता अर्थात् अर्थ का ज्ञान आरम्भ में जैसा हुआ अन्त में उसका वैसा ही न
ठहरना, ऐसा न होने से उभयुक्त ढग से [पौनरुक्त्य प्रकृत होकर] दोष बन सकता है ।

प्रश्न उठता है कि 'पुनरुक्तवदामास-' शब्द [मूलतः पुलिङ्ग शब्द है और वह ठीक उसी
प्रकार] अलङ्कार का वाचक है जिम प्रकार अलङ्कारशब्द और इसलिये "उपमा" आदि शब्दों
में लैङ्गे लिंग नहीं बदलता उसमें भी लिंग नहीं बदल सकता फलतः उसमें पुलिङ्ग ही रहना
चाहिये, तब उसके साथ नपुमकलिंग का प्रयोग क्यों किया गया"—इस पर उत्तर देते हुए लिखा
"लक्ष्य"—आदि । लक्ष्य अर्थात् लक्षणीय यानी पुनरुक्तवदामास का पुनःशब्दापेक्षया निर्देश
अर्थात् कथन । अलङ्कार्यपारतन्त्र्य, अलङ्कार्य = काव्य, उमके लिंग (नपुंसक लिंग) के साथ
निर्देश करने से [पुनरुक्तवदामास शब्द में नपुंसक लिंग का प्रयोग] लौकिक [अलङ्कार] =
हार आदि । इनका अलङ्कार्य (शरीर) से सयोग सम्बन्ध रहता है । इसलिये ये शरीर के गुणधर्म
अपनाने के लिए विवश नहीं रहने । काव्य के अलङ्कारों की स्थिति भिन्न है । [उद्धृत आदि
के अनुसार] इनका अलङ्कार्य के साथ समवाय सम्बन्ध रहता है । इन्हें काव्य से अलग नहीं किया
जा सकता इसीलिए इन्हें काव्य के (लिंग आदि) गुण धर्म अपनाने पड़ते हैं । अतः इनका
लौकिक अलङ्कारों से वैधर्म्य ठीक ही है । अब एक प्रश्न यह उठता है कि अलङ्कार और अलङ्कार्य
में आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध देखा गया है अतः इन (उपमादि) अलङ्कारों का भी कोई न कोई
आश्रय होना ही चाहिये । वह कौन तत्त्व है ?" इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—"अर्थपौनरुक्त्य"
आदि । यहाँ एव (ही) शब्द से पौनरुक्त्य का ग्रहण नहीं होता ।

विमर्शाः—(१) आमासशब्द मस्कृत में पुलिङ्ग शब्द है । "पुनरुक्तवदामास"—शब्द का अर्थ है
"फिर से कहे गए जैसा लगना" । इस अर्थ में आमासशब्द स्वतन्त्रशब्द है किसी के लिए विशेषण
शब्द नहीं, फलतः यहा इसका प्रयोग पुलिङ्ग में ही होना चाहिये, किन्तु सूत्र में उमने नपुंसकलिंग
में रखा गया है "पुनरुक्तवदामासम्" इस प्रकार । यह क्यों ? वस्तुतः इस शब्द का नपुंसकलिंगान्त
प्रयोग पहली बार उद्धृत ने किया है । उनकी कारिका विमर्शिनी में उद्धृत है [पुनरुक्तवदामास छेका-
नुप्रास एव च] [दण्डी, आमाह और वामन में यह अलङ्कार नहीं मिलता ।] श्रुतिकार ने यहा जो
उत्तर दिया है उसका भी मूल कदाचित् उद्धृत के काव्यलङ्कारसारग्रन्थ की लघुवृत्ति है । उसमें
प्रतीहारेन्दुराज ने नपुंसकलिंगान्त पुनरुक्तवदामास शब्द में बहुव्रीहि प्रतिपादित किया है, और

शब्द को काव्यपरक माना है अर्थात् उन्होंने इस शब्द का अर्थ किया है ऐसा काव्य जिससे पुनरुक्त (पुनरुक्ति) जैसा आभास हो। पुनरुक्तवदाभास की उद्भूतकृत परिभाषा "पुनरुक्ताभासम् अभिन्नवस्तु इव उद्भासति भिन्नरूपं पदम्" "उस काव्य को पुनरुक्तवदाभासयुक्त काव्य कहते हैं जिसमें स्वरूपतः भिन्न पद अर्थतः अभिन्न लगते हों"—पर वृत्ति लिखते हुए प्रतीहार-न्दुराज ने लिखा—“पुनरुक्ताभासम् अत्र काव्यमलंकार्यं निर्दिष्टम्, पुनरुक्तवद् आभासमाने च पदे तस्यालंकारः। अत्र अलंकार्यं यत् काव्यं तद्धर्मत्वेन पुनरुक्तवद् आभासमानयोः पदयोः अलंकारत्वम् उक्तम्, न तु स्वतन्त्रतया। फलं चैवमभिधानस्य पुनरुक्तवदाभासमानपदसमन्वयस्य अलंकारताख्यापनम्। अलंकारस्य खलु अलंकार्यपरतन्त्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति, स्वात्मन्वयस्थितस्य तस्यानलंकारत्वात् समुद्राकस्थितहार-केयूर-पारिदार्यालंकारवत्। अतः पुनरुक्तवदाभासत्वस्य अलंकारताख्यापनाय काव्यपरतन्त्रतया निर्देशो युक्त एव।”

इस पूरे सन्दर्भ का कुल मिलाकर केवल इतना ही अर्थ है कि नपुंसकलिङ्गान्त पुनरुक्तवदाभास में बहुव्रीहि हैं और उससे युक्त वह शब्द अलंकार का वाचक न होकर काव्य का वाचक है। और काव्यशब्द नपुंसकलिङ्गान्त होता है। काव्यवाचकरूप से इस शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि काव्य में प्रयुक्त होने पर ही पुनरुक्त जैसे लगते पद अलंकार बनते हैं।

यहां अलंकारसर्वस्वसूत्र के वृत्तिकार भी इसी बात को दोहरा रहे हैं। टीकाकार के अनुसार वृत्तिकार प्राचीन आचार्यों की मान्यता का अनुसरण कर रहे हैं। उनका खण्डन नहीं।

किन्तु इस तथ्य का इन दोनों वृत्तिकारों के पास उत्तर नहीं है कि उद्भट ने जहाँ पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख—

“पुनरुक्तवदाभासं ऐकानुप्रास एव च।
अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥
उपमा दोषकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥”

—इस कारिका में किया है, वहाँ तो केवल अलंकारों का ही उल्लेख है। वहाँ तो काव्य के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं है। यदि 'पुनरुक्तवदाभास' शब्द काव्य के लिए है तो ऐकानुप्रास आदि शब्दों को भी काव्य के लिए भी होना था, और इसीलिए उनमें भी नपुंसकलिङ्ग होना चाहिए था।

यहाँ 'पुनरुक्तवदाभास'-शब्द 'पद' के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। 'पद' नपुंसकलिङ्ग शब्द है। "नहं पद जिसका आभास पुनरुक्त सा हो"—काव्य का अलंकार होता है ऐसा अर्थ करने पर उपर्युक्त कारिका में भी नपुंसकलिङ्ग उचित सिद्ध होता है। अलंकाररत्नाकरकार ने सूत्र में 'आमुल्लेकार्थपदं पुनरुक्तवदाभासम्' इस प्रकार 'पद'-शब्द का प्रयोग किया भी है। ऐकानुप्रास आदि पद के धर्म नहीं, वृत्ति के धर्म हैं, अतः उन्हें स्वतन्त्ररूप से उनके अपने-अपने लिङ्गों में ही रखा उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास का जो लक्षण किया है उसमें तो "पुनरुक्ताभासं.....पदम्" इस प्रकार पदशब्द का प्रयोग है ही।

वस्तुतः अलंकारसर्वस्वकार ने अपने सूत्र में उद्भट के शब्द को दोहरा दिया है। उसके अनुसार अर्थ यह होगा कि "जो पौनरुक्त्य आरम्भमात्र में प्रतीत होता है वह तो वही तत्त्व है जिते उद्भट ने पुनरुक्तवदाभासम् कहा है।" दोनों में अन्तर यह है कि उद्भट ने पुनरुक्त जैसे लग रहे 'पद'को अलंकार कहा है और अलंकारसर्वस्वकार ने पदगत 'पौनरुक्त्य' को जो अधिक वैज्ञानिक है। पद

तो काव्यशरीर का घटक है अलङ्कार नहीं। पदगत पौनरुक्त्य अंगगत हार आदि अथवा मुद्गील-पन आदि के समान शोभापायक अलङ्कार माना जा सकता है।

यह भी समावना की जा सकती है कि सूत्र में जिस प्रकार उद्देश्य में “आमुखावभासन” इस प्रकार अवभासन शब्द है उसी प्रकार विषय में भी “पुनरुक्तवदाभासनम्” इस प्रकार “अव-भासन” शब्द रहा हो। ‘अवभासन’ शब्द नपुमकालिङ्ग होता ही है। किन्तु ऐसा साँचना संभव नहीं, कारण कि वृत्तिकार सूत्रकार के शिष्य हैं, उन्हें मूल पाठ में इस प्रकार भ्रम नहीं हो सकता। यदि सूत्रकार और वृत्तिकार अभिन्न हैं तब तो पाठभेद का प्रश्न ही नहीं बठता।

यह भी नहीं माना जा सकता कि सूत्रकार ने लघुवृत्तिकार की मान्यता को दोहरा दिया हो, क्योंकि एक तो प्रतीहारेन्दुराज सूत्रकार से पहले के हैं यह निश्चित नहीं दूसरे प्रतीहारेन्दुराज का यह कथन कि “पुनरुक्तवदाभासनम्” पद काव्य के लिए है, पौनरुक्त्य और काव्य में अभेद सिद्ध करता है, जो निरती भाषुकता है। पौनरुक्त्य काव्य धर्म हो सकता है काव्य नहीं। इसीलिए हमें यहाँ भी वृत्तिकार और सूत्रकार उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के ही समान भिन्न छन रहे हैं।

यह भी सोचा जा सकता है कि—“पौनरुक्त्य तीन प्रकार के होते हैं—अर्धगत, शब्दगत, उभय-गत, इनमें अर्धगत पौनरुक्त्य यदि प्ररुद्ध हो जाय तो दोष माना जाता है, किन्तु यदि वह केवल आरम्भमात्र में प्रतीत हो, तो पुनरुक्तवदाभास होता है अर्थात् उसमें पद पुनरुक्त जैसे प्रतीत होते हैं। ‘इस प्रकार सदर्म के क्रम से ‘पुनरुक्तवदाभास’ शब्द पौनरुक्त्य के लिए बहुव्रीहि युक्त है, अतः ननुसकल्लिगान्त है।’ किन्तु यह भी अशैथिलिक है, क्योंकि जब प्ररुद्ध पौनरुक्त्य दोष कहा जा रहा है तो अप्ररुद्ध को दोषविह्वल अलङ्कार कहना ही स्वाभाविक है, और निरूपण भी अलङ्कारोंका ही करने जा रहे हैं।

उद्भट ने पद को ‘पुनरुक्तवदाभास’ कहा और पद को ही अलङ्कार माना। उनकी यह स्थापना स्थूल है अतः कदाचित् उनके इस दोष पर कटाक्ष करने के लिए सूत्रकार ने उनका पद उन्हीं के अनुसार प्रस्तुत कर दिया हो।

सर्वथा है यहाँ उद्भट के “पुनरुक्तवदाभास”शब्द का अनुवाद। उद्भट के पश्चात् पुनरुक्तवदाभास का निरूपण मम्मट में मिलता है। उद्भट ने इसे छोड़ दिया है। मम्मट का पुनरुक्तवदाभास विवे-चन इस प्रकार है—

[का०] पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशुभ्रगा।

एकार्थत्वे शब्दस्य तथा शब्दायंयोरथम् ॥ [९ । ८६ काव्यप्रकाश]

[५०] मित्ररूप—‘सार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः। स च शब्दस्य समझामङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठः।’ अर्थात्-मित्र मित्र आकार के सार्थक और निरर्थक शब्दों का आरम्भ में एकार्थक भासित होना पुनरुक्तवदाभास होता है। शब्द में वह समझ और अमङ्ग दोनों प्रकार के शब्दों में रहता है।

(२) वृत्तिकार सूत्रकार से भिन्न है यह तथ्यइससे भी प्रमाणित होता है कि सूत्रकार ने पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कार नहीं कहा। पुनरुक्तवदाभास में केवल पौनरुक्त्य को अर्धगत स्वीकार किया है। अर्थात् “अहीन” का अर्थ भी ‘मर्षों का राजा’ होता है और “मुजगाधीश” का भी। एक ही पद्य में दो बार एक ही अर्थ का कथन दोषतुल्य रहता है, किन्तु ‘अहीन’ शब्द का अर्थ ‘पुष्ट’ है ऐसा समझ में आते ही अर्थ भिन्न हो जाते हैं। पौनरुक्त्य नहीं रहता। इस प्रकार मुछावे में टालना एक शब्दच्छल सिद्ध होता है जो विरोधाभास के समान चमत्कारी है। किन्तु अर्थ में

पौनरुक्त्य कदापि न आता यदि 'अहीन' शब्द के स्थान पर पुष्ट शब्द का प्रयोग किया गया होता। इसलिए, पौनरुक्त्य अर्थ में भले ही हो किन्तु उसका प्रत्यायक है, पद। फलतः अलंकार पद मेंही है। काव्यप्रकाशकार ने इतीलिष्ट अन्वयव्यतिरेक को गुण अलंकार और दोषों को शब्दार्थ-निष्ठता का मानदण्ड बतलाया है। यहाँ शब्द के रहने पर ही अलंकार रहता है। काव्यप्रकाशकार को इस स्थापना का पण्डितराज जगन्नाथने खण्डन किया है; किन्तु वह अवैज्ञानिक है। अलंकार-सर्वस्वकार ने अलंकारनिरूपण का जो क्रम अपनाया है उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पुनरुक्तवदामास को शब्दालंकार मानते हैं। उन्होंने शब्दालंकारों के निरूपण के पश्चात् अर्था-लंकारों का निरूपण किया है। फलतः सूत्रकार के अनुसार पुनरुक्तवदामास शब्दालंकार ही है। उद्भट ने जो उपर्युक्त कारिकाओं में अलंकारों का नामोल्लेख किया है उसमें से भी प्रतापद्वारे-न्दुराज ने पुनरुक्तवदामास आदि प्रथम चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है और शेष चार को अर्थालंकार। "तत्र चादौ चत्वारः शब्दालंकारा निरूपिताः, रूपकादीनां तु चतुर्णांमर्था-लंकारता"। यद्यपि मम्मट ने पुनरुक्तवदामास को शब्दालंकार मानकर उभयालंकार भी माना है तथापि उन्होंने, शब्दालंकारों में ही गिनाया है। काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में शब्दालंकारों का ही निरूपण है। इसी प्रकार छिष्टपरम्परितरूपक आदि को भी उभयालंकार मानते हैं किन्तु गिनाते अर्थालंकारों में ही। कारण देते हुए कहते हैं कि उन अलंकारों की प्रसिद्धि वैसी ही है। उभयालंकार नाम से वे प्रसिद्ध नहीं हैं। वस्तुतः पुनरुक्तवदामास में अर्थ की अपेक्षा शब्द का अलंकार-निष्पादकत्व प्रधान है, और छिष्टपरम्परितरूपक आदि में शब्द की अपेक्षा अर्थ का। फलतः उनकी प्रसिद्धि शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में ही है। मम्मट ने इनमें यदि एक एक की प्रधानता न देखी होती तो वे पुनरुक्तवदामास, परम्परितरूपक आदि के लिए एकादश उल्लास लिखते और नवम में शब्दालंकार, दशम में अर्थालंकार का निरूपण कर उसमें उभयालंकार का निरूपण करते। वस्तुतः मम्मट को भी पुनरुक्तवदामास में शब्दालंकारत्व ही अधिक मान्य है।

इस प्रकार यह सत्य है कि पुनरुक्तवदामास में पौनरुक्त्य अर्थगत ही है; किन्तु यह भी सत्य है कि अलंकार शब्दगत ही है। यहाँ अर्थ में पौनरुक्त्य का दोष आता है। उसे उन्मेष मिलता है शब्द से। किन्तु शब्द का शिल्प उसे आभासात्मक ठहरा देता है। अतः चमत्कार शब्द के शिल्प में है। फलतः पुनरुक्तवदामास शब्द का ही अलंकार है। वृत्तिकार ने इसे अर्थालंकार कहा है और टीकाकार भी उसका समर्थन करेंगे। किन्तु यह सव मूलविरुद्ध है।

(३) मम्मट ने आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकारों को काव्यांग का धर्म माना है, काव्या-त्मा का धर्म नहीं; और उन्होंने उसे हार आदि के समाव कहा है। इससे इस भ्रम को जन्म मिलता है कि वे अलंकार और काव्य में सम्बन्ध भी नहीं स्वीकार करते हैं जो हार और शरीर में स्वीकार किया जाता है अर्थात् संयोग सम्बन्ध। किन्तु मम्मट ने ऐसा कहीं नहीं कहा। उन्होंने संयोग और समवाय के आधार पर गुण और अलंकार का उच्चर प्रस्तुत करनेवाले उद्भटादि के मत का खण्डन अवश्य किया है किन्तु उनका वह खण्डन यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि अलंकारों का सम्बन्ध काव्य में संयोगरूप ही है, और गुणों का समवायरूप ही। उनका खण्डन इसलिए है कि वे गुण और अलंकारों में संयोग और समवाय को भेदक नहीं मानना चाहते। वे उनके साक्षात् और परम्परया उपस्कारकत्व को ही भेदक मानना चाहते हैं। यह भी इसलिए कि संयोग और समवाय दार्शनिक शब्द हैं और वे विवादास्पद हैं। समवाय के लिए सम्बन्ध का एक छोर (अनुयोगी) अवश्य ही भौतिक होना चाहिए। संयोग तो केवल भौतिक पदार्थों में ही होता है। काव्य इसके विरुद्ध सर्वथा अमौतिक है। उसमें संयोगादि की चर्चा प्ररुद्ध नहीं हो सकती।

यह सिद्धान्त बिल्कुल मान्य है कि जिस प्रकार काव्यगुण काव्य से अलग करके नहीं पाए जा सकते उसी प्रकार काव्यालंकार भी काव्य से अलग करके नहीं पाए जा सकते, जब कि द्वार आदि पाए जा सकते हैं। निश्चय यह कि गुणों को जो शौर्य आदि के समान कहा वह जितना संगत है उतना अलंकारों को जो द्वार आदि के समान कहा वह नहीं। उद्गटादि की मयोग और समवाय आदि की चर्चा का यही सार है। टीकाकार ने जो "काव्यालंकाराणां पुन अन्वयार्थेण सह समवायः संबन्ध" कहा उसमें समवाय का अर्थ 'अयुतसिद्धत्व' ही है। अयुत शब्द में यु धातु का अर्थ मिश्रण नहीं अमिश्रण है, अमिश्रण यानी पार्थक्य। फलतः उसका अर्थ है अपृथक्। जो वस्तुएँ एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकतीं उन्हें अयुतसिद्ध कहा जाना है। जैसे गुण और द्रव्य। यहा अलंकार भी काव्य से पृथक् नहीं मिलते। न्यायशास्त्र समवाय संबन्ध को द्रव्य में ही मानता है और काव्य द्रव्य नहीं है। अतः समवाय का अर्थ वही नहीं लिया जा सकता जो न्यायशास्त्र में लिया जाता है।

(४) टीका में यहा एक पंक्ति है "लक्ष्यस्य लक्षणीयस्य पुनरुक्तवदामास्य पुन शब्दापेक्षया निर्देशो वचनमित्यर्थ"। इसमें निर्णयसागर संस्करण के अनुसार "पुन शब्दा०" देसा, और "निर्देशो" देसा पाठ है। पुन-शब्दापेक्षया का उक्ते कदाचित् सूत्रस्य 'पुन- पुनरुक्त०' हम प्रकार आर प्रथम पुन शब्द की ओर है। निर्णयसागर संस्करण में यह सूत्र केवल "आमुखावभासन पुनरुक्तवदामासम्" इतना ही है। इसमें प्रथम 'पुन'-शब्द नहीं है। इसमें हमने टीका की हनी पंक्ति के आधार पर 'पुन-' शब्द जोड़ दिया है यद्यपि संजीविनीकार ने यहा 'पु' शब्द दिया है। प्रकृत पौनरुक्त्य से अप्रकृत का अन्तर बनाने समय व्यावर्तकता बैलक्षण्ययोक्त ऐसे किसी शब्द का सूत्र में होना आवश्यक था। 'निर्देशो' यह सतमी अवश्य ही मुद्रादोष है।

संगति = आगे आरही विमर्शिनी जिन विकल्पों का खण्डन कर रही है वे अलंकाररत्ना-कारकार द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। एतदर्थं अलंकाररत्नाकर के प्रथम सूत्र की वृत्ति देख लेनी चाहिए। यहाँ थोडा सा अंश आगे उद्धृत कर दिया गया है।

विमर्शिनी

तेन शब्दस्यापौनरुक्त्याश्च शब्दालंकारो नाप्युभयालंकारोऽप्यभिधर्थः। पर्य-
वसाने वस्तुतोऽर्थस्यासत्त्वात् धर्मभावे च धर्मस्य निविषयत्वापौनरुक्त्यं कस्य
धर्म इत्यादिति न वाच्यम्। आमुखेऽर्थस्यावभासमानत्वेन सत्त्वाद्धर्मिधर्मभावस्य
नैवानिष्टैर्यंगतयोः सत्त्वासत्त्वयोरनुपयोगात्। आमुखावगतैव च प्रतीतिरलंकारवीजं न
पार्यवसानिकी। तथात्वे ह्युपमारूपकादीनामप्यविशेषः स्यात्। पर्यवसानेऽप्यर्थस्य
'दाहणः काष्ठतो जातः' इत्यादाविन्धनार्थस्य सत्त्वादनैकान्तिकत्वाभावाच्छब्दशब्दवद्भावो
न वाच्यः। पर्यवसानेऽप्यन्वयार्थं सन्नपि नालंकारत्वप्रयोजक इति 'अरिवधदेहद्वारिणः'
[काव्यप्रकाश १।३८९] इत्यादावप्यसत्ता कायार्थानाविशेषात्समानः। किं च ह्यतो न पर्य-
वसानेऽर्थस्यासत्त्वम्। इह हि प्रतीतिमात्रसारत्वान्काव्यस्य यद्यथैव प्रतीयते तत्तथैव
भवतीत्यविवादः। तद्वाधोऽपचावपि तैमिरिकद्विचन्द्रप्रतीतिवत् पुनरुक्ततयावभासत्त्वात्
स्यावभासमानत्वात्सत्त्वमेव। नहि शतशोपि क्रूराद्यर्थोपलम्भे काष्ठादेरर्थस्यापुनरुक्ततया
मानमस्ति। चाधोऽपत्तेः पुनरुक्तद्विचन्द्रप्रतीतित्वस्यौनरुक्त्यप्रतीतिरनुपपद्यमानत्वं भवति, ननु
शुक्तिकायामिव रजतप्रलयस्य स्वरूपत एवाभावः। अत एवाभासपौनरुक्त्यापि प्रतीतिर-
पौनरुक्त्यपर्यवसायिन्यस्य स्वरूपम्। एवमपि वस्तुतः कायात्तर्याभावस्तद्वस्य इति चेत्,

सःवम् । किं तु तथा वस्तुतो वहिरसंभवन्नपि द्वितीयश्चन्द्रः प्रतीतौ कंचन विशेषमाधातुं नोत्सहते तथेहापि वस्तुवृत्तेन कायादेरर्थस्यासंभवेऽपि प्रतीतौ न कश्चिद्विशेष इति दिण्डि-काराग एव वास्तवत्वान्वेषणम् । तस्माद्भावभासमानत्वमेवार्थस्य सत्त्वप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् ।

क्योंकि [पुनरुक्तवदाभास में] पौनरुक्त्य [अर्थ में रहता है] शब्द में नहीं रहता, इसलिए न तो यह शब्दालंकार है और न उभयालंकार । (शंका) “जिस अर्थ में पौनरुक्त्य रहता है वह मिथ्या है क्योंकि वह अन्त में तो रहता नहीं है अतः पौनरुक्त्य किसमें रहेगा ? इसलिए कि धर्म बिना धर्मों के नहीं रह सकता” यह शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वह अर्थ आरम्भ में तो रहता ही है । अतः धर्मधर्मिभाव का कुछ नहीं बिगड़ता [यहाँ वस्तुतः “जिनैवेष्टेः” पाठ होना चाहिए, अर्थात् वास्तविकता और अवास्तविकता का यहाँ प्रतीतिपर-मार्थ काव्य में कोई उपयोग नहीं । यहाँ पुनपुनरुक्तवदाभास में आरम्भिक प्रतीति ही अलं-कार का बीज है, अन्तिम नहीं । यदि वैसा होता [अन्तिम प्रतीति को अलंकार-बीज माना जाता] तो उपमा और रूपक आदि में कोई अन्तर न होता [क्योंकि अन्त में तो दोनों ही सादृश्य में पर्यवसित होते हैं] ।

[सच तो यह है कि] अर्थ पर्यवसान में भी रहता ही है [उदाहरणार्थ] “दारुणः काष्ठतो जातः” में इन्धनरूपी अर्थ अन्त में भी (व्यंजना द्वारा) प्रतीत होता ही है । अतः जब उसकी सत्ता में संदेह नहीं (अनैकान्तिकत्वाभाव) है तब उसका शशशृङ्ग (खरगोश के सींग) के समान अत्यन्ताभाव नहीं माना जा सकता । इतना है कि यहाँ इन्धनरूपी अर्थ पर्यवसान में भी प्रतीत तो होता है किन्तु वह अलंकारत्व का कारण नहीं बन पाता (उसमें आरम्भ के समान चमत्कार नहीं रहता) इसलिए “अरिवधदेह शरीर” [शत्रु को बध देनेवाली अरिवधदा ईहा है जिनकी पेटे शरीर = बाण वाले वीरों को ‘ईर’ = प्रेरित करने वाला, काव्यप्रकाश में पुनरुक्तवदाभास का उदा-हरण] इत्यादि में [देह और शरीर दोनों का अर्थ] कायरूपी अर्थ और इस (इन्धनरूपी) अर्थ की स्थिति एक सी है, दोनों में कोई भेद नहीं है । (यहाँ निर्णवसागर संस्करण में ‘काय’ की जगह ‘कार्य’ छप गया है) । वस्तुतः इन सब हेतुओं से भी पुनरुक्तवदाभास में अर्थ असत्य (अवास्तविक) नहीं रहता । काव्य में सारा खेल प्रतीति का है अतः इसमें जो जैसा प्रतीत होता है वह निर्विवाद रूप से वैसा ही मान लिया जाता है । वाद में उसका बाध भी हो जाता है तब भी जैसे तैमिरिक रोग से पीड़ित को एक को जगह दो चन्द्र दिखलाई देते हैं, और उनमें से एक के बाधित होने पर भी दोनों का दिखाई देना बन्द नहीं होता उसी प्रकार पुनरुक्त अर्थ प्रतीत हो जाता है तो फिर प्रतीत होता ही रहता है । फलतः द्वितीय असत्य अर्थ भी प्रतीति में सत्य ही रहता है । ऐसा नहीं है कि (दारुणः काष्ठतः) में दारुण का अर्थ क्रूर प्रतीत हो जाने पर काष्ठरूपी अर्थ को प्रतीति बन्द हो जाती हो या उसमें पौनरुक्त्य को प्रतीति न होती हो । बाध होने से द्विचन्द्र प्रतीति के समान पुनरुक्तप्रतीति में केवल अनुपपद्यमानता असमर्थनोपता-मात्र की प्रतीति होती है, न कि सीमा में रजतधान के समान उसका स्वरूपतः अभाव प्रतीत होता है । इतलिए पुनरुक्तवदाभास का स्वरूप अपौनरुक्त्य में पर्यवसित होनेवाला वह प्रतीति है जिसमें आरम्भ में पौनरुक्त्य आभासित होता हो । (शंका) “किन्तु ऐसा मानने पर भी (“अरि-वधदेहशरीर” इत्यादि में) काय आदि अर्थ का अभाव बना ही रहता है, काय आदि वास्तविक तो ही नहीं जाते” ? ऐसा कहना ठीक है किन्तु यहाँ वास्तविकता का अन्वेषण दिण्डिकाराग ही है, क्योंकि जिस प्रकार द्वितीय चन्द्रमा भौतिक रूप से बाहर उभलबल नहीं रहता तथापि उसके इस

अभाव से द्विचन्द्रप्रतीति में कोई फरक नहीं पड़ता, उसी प्रकार यहाँ काय आदि अर्थ के भौतिक-रूप से वस्तुतः न रहने पर भी पुनरुक्तत्वेन हुई उनकी प्रतीति में कोई फरक नहीं पड़ता । इस-लिए यहाँ (काव्यज्ञेय में) पदार्थ की सत्ता का प्रमाणक उसकी प्रतीति या उसका अभाव ही है, (अर्थात् जिसका आभास हो रहा हो वह काव्य में सत्य ही है, लोक में भले ही न हो) ।

चिमांशिनी

ननु अवभासमानत्वं प्रमातृधर्म इति कथं तदाश्रयो धर्मं काव्यालंकार इति चेत्, असदेतत् । अवभासमानत्वस्यावभास्यनिष्ठतया प्रतीतेरर्थधर्मत्वात् । तथा हि केषाचन प्रतीतिवादिनां—

‘तथाहि वेद्यता नाम भावस्यैव निजं वपुः ।

सैत्रेण वेद्य वेदीति किं ह्यत्र प्रतिभासते ॥’

इत्याद्युक्तयुक्त्या कौमारिलवघ्निलताया इव वेद्यताया अप्यर्थधर्मत्वमेवेष्टम् । इह च तदुपक्रम एवेति न वस्तुवादसत्पक्षो न्याय्यः । आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारत्वं यद्यस्योच्यते तथापि पर्यवसाने वस्तुतस्तुल्यार्थत्वस्यासंभवात् शब्दाश्रयत्वधर्मनिभावे दुष्टं स्यात् । सत्त्वेऽपि दोष एवेत्यस्मात्पक्षोक्तसमप्रचोद्यावकाशः । अत्रापि यद्यामुक्त पूर्वकार्यत्वेनावभासन समाधिस्तदास्मात्पक्षेण किमपराद्धम् । एवं च विरोधेऽपि वस्तुतो विरुद्धस्यार्थस्यासंभवाद्विरुद्धार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वात् शब्दालंकारत्वं प्रसज्यते । अत्र विरुद्धस्यार्थस्यासंभवेऽपि कर्त्रादिभिर्वाच्यतयाच्यवसायः, इह तु पौनरुक्त्याश्रयस्यानन्यतरत्वेन न वाच्यतेति चेत्, नैतत्, यतः ‘दारुणः काष्ठतो जातः’ इत्यादौ तावत्पौनरुक्त्याश्रयस्य काष्ठदेशरथस्य जातत्वादिना सहाश्रितत्वावगमादस्यैव मुख्यया वृत्त्या वाच्यत्वम् । ‘अरिबधदेहशरीरः’ इत्यादौ तु वस्तुनः कायादेशरथस्यैव भावतापौनरुक्त्याश्रयत्वाद्कृत्रिमार्थशोभापर्यवसायित्वेन वाच्यतयास्यैव त्रिवर्चितत्वम् । अत्र ह्यकृत्रिमोऽर्थोऽलंकारकृत्रिमार्थोपस्कृतो यथा अमरकारकृत् न तथा तदुपस्कृततपोच्यमानः स्यात् । ‘स्त्रीणां हि कण्ठाभरणानि हाराः पयोधरानप्यभिभूयन्ति’ इत्यादिदृशा च हारस्य कण्ठालंकारत्वेऽपि सामीप्यात्तावतिशोभातिशयाधायकत्वाद्यथा पयोधरादावप्यलंकारत्वं तथैव कृत्रिमार्थाश्रयत्वेऽप्यवभासमानस्य पौनरुक्त्यस्याकृत्रिमार्थोपस्कारकत्वमपि प्रतीयत एवेति नानुभवापह्नवः कार्यः । एवं च पौनरुक्त्याश्रयस्यार्थस्य यत्रैव वाच्यत्वेन विवक्षितत्वं तत्रैवास्यालंकारत्वं नान्यत्र ।

‘अकृष्णापत्तेन्दुमुखी वन्धुजीवाधरघुतिः ।

इयं विलासिनी कस्य न नेत्रोत्सवकारिणी ॥’

‘अत्राकृष्णोत्सवपौनरुक्त्यस्य संभवेऽपि वाच्यत्वेनाविवक्षितत्वान्नायमलंकारः । एवं वक्ष्यमाणानामप्यलंकाराणां कत्रिविषयैव स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणं ज्ञेयम् । किं बहुना, सर्वेषामप्यलंकाराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालंकारत्वं स्यात् । तदर्थालंकारत्वमस्य ज्यायः, यावता ह्यर्थस्यामुप एव पुनरुक्तनयावभासोऽस्य जीवितम् । अत एव पुनरुक्तवदाभासमित्यन्वर्थसंज्ञा । अर्थस्य च पौनरुक्त्यप्रतीती न कस्यचिद्विवादः, तामेवाश्रित्य शब्दालंकारस्य भवद्विरुक्तत्वात् । एवं च प्रत्यासत्तेस्तदाश्रयत्वमेवास्यालंकारत्वं युक्तम् । अन्यथा तुल्यार्थशब्दतापि वाक्यधर्म इति तदाश्रयोऽपि स्यादित्यमवस्थाप्रसङ्गः ।

शंका होती है कि 'अवभासमानता तो वस्तुतः प्रमाता = अनुभविता (सहृदय सामाजिक) का धर्म है अतः उस (अनुभविता) में रहने वाले धर्म को काव्य का धर्म अलंकार कैसे कह सकते हैं ?' उत्तर—यह कथन गलत है। अवभासमानता धर्म है अवभास्य वस्तु का, अतः प्रतीति भी वस्तुतः अर्थ का ही धर्म है। जैसी कि कुछ प्रतीतिवादियों को "विद्यता । ज्ञेयता" जो है सो पदार्थ का ही अपना रूप है, मैं जानता हूँ कि 'चैत्र को क्या विदित है"—इस उक्ति में क्या भासित होता है ? [अर्थात् यहाँ वक्ता के ज्ञान में चैत्र का ज्ञान ही विषय है, अतः वह यहाँ वस्तुरूप है ।] इत्यादि युक्तियों से वेद्यता भी ठीक उसी प्रकार अर्थधर्म है जिस प्रकार कौमारिक संप्रदाय (भट्ट मत, पूर्वमीमांसा) में नीलता (भट्टमत में नीलादि वस्तुओं में जिस प्रकार नीलता आदि रहती है उसी प्रकार वेद्यता = शास्त्रता भी)। यहाँ (पुनरुक्तवदाभास में) वह (अवभासमानत्व = वैषय) आरम्भनात्र में रहता है (अन्त में नहीं) इसलिए यहाँ वस्तुवाद (वास्तविकता की चर्चा) का संस्पर्श भी करना उचित नहीं है।

(शंका) "यह जो आरम्भ-आरम्भ में तुल्य (एक से दो) अर्थों को प्रतीति है इससे आह्वय-तुल्यार्थत्व (आमुत्र = आरम्भ में है तुल्य = एक सा अर्थ जिसका = ऐसा शब्द, तद्धर्म, इस प्रकार से) धर्म शब्द में रहेगा और जब वह शब्द में रहेगा तब इस (पुनरुक्तवदाभास) को शब्दालंकार माना जाना चाहिए", ऐसा शंका उठारें जा सकती है (किन्तु क्योंकि यह शंका धर्मधर्मिभाव (आनुखतुल्यार्थत्व धर्म, शब्द धर्म) के आधार पर की जा रही है और धर्मधर्मिभाव आरम्भमात्र में बनता है अन्त में नहीं, क्योंकि अन्त में अर्थ नहीं रहता, अतः) इस शंका के धर्मधर्मिभाव में शशशय्य के समान दोष जा जावेगा। (पूर्वपक्ष) यह और ऐसे सभी दोष तो आपके उस पक्ष में भी आवेंगे जिसमें अर्थ का प्रातिभासिक या प्रातीतिक अस्तित्व माना गया है। और यदि अपने पक्ष के उत्तर में आप यह तर्क प्रस्तुत करते हों कि पुनरुक्तवदाभास में शब्द आरम्भ में एकार्थक भासित होते हैं, तो हमारे पक्ष ने क्या अपराध किया है ? ऐसे तो विरोध में भी विरुद्ध अर्थ वास्तविक नहीं होता और विरुद्धार्थता धर्म होता है शब्द का, अतः उसमें भी शब्दालंकारत्व की प्राप्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विरोध में विरुद्ध अर्थ मिथ्या होते हुए भी कर्ता आदि से अन्वित रहने के कारण वाच्यरूप से स्वीकार किया जाता है (यद्यपि मिथ्या होने के कारण उसका वाच्यत्व भी रहता झूठा ही है (इसके विपरीत पुनरुक्तवदाभास में पौनरुक्त्य का आश्रयीभूत अर्थ अन्वित नहीं रहता अतः वह वाच्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'धारणः काष्ठतो जातः' इत्यादि स्थलों में पौनरुक्त्य के आश्रय काष्ठ आदि अर्थ का जातत्व आदि के साथ अन्वय प्रतीत होता है फलतः वह (पुनरुक्त अर्थ) भी यहाँ सच्चे अर्थों में वाच्य है। यद्यपि "अरिवधदेहशरीरः" आदि में जहाँ पुनरुक्त्यार्थक शब्द अंगश्लेष द्वारा बना रहता है (यथा शरीर-शब्द 'शरीरः ईरयति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से बना है) वहाँ (पौनरुक्त्याश्रय शरीर आदि शब्दों के) काय आदि अर्थ वाच्य नहीं होते (क्योंकि यहाँ वाचकशब्द का ही अस्तित्व अवास्तविक होता है) किन्तु पौनरुक्त्य के आश्रयरूप से प्रतीत यह वनावटी अर्थ स्वाभाविक और मूलभूत अर्थ की शोभा वृद्धता है अतः वह वाच्यरूप से अवश्य ही निवक्षित है। यहाँ जितना चमत्कार अलंकार और वनावटी अर्थ के द्वारा स्वाभाविक अर्थ के उपस्कार से होता है उतना उस (कृत्रिमार्थ) के द्वारा उपस्कृत रूप से इसके अभिधा द्वारा कथन से नहीं होता। "स्त्रियों के कण्ठधारण इतर स्तनों को भी भूषित करते हैं"—इस उक्ति के अनुसार जैसे द्वार आभरण ने कण्ठ के होते हैं तब भी शोभा समीपवर्ती (होने के कारण) स्तनों की भी बढ़ा दिया करते हैं ऐसे ही पौनरुक्त्य रहता तो कृत्रिम अर्थ में ही है किन्तु वह अकृत्रिम (स्वाभाविक) अर्थ की भी शोभा

बढाता ही है। यह अनुभवसिद्ध भी है अतः इसको छिपाया नहीं जा सकता। इस प्रकार पौन-
रुक्त्य का आशय अर्थ जहाँ वाच्यरूप से विवक्षित होता है वहीं यह अलंकार होता है, अन्यत्र नहीं।

“अङ्गुगपक्षेन्दुमुखो, वन्पुञ्जीव के समान अधरकान्ति वाली यह विलासिनी किसकी आसो को
आनन्द नहीं देती”।

यहाँ (“अकारो वामुदेवे स्यात्”, ‘अक्षराणामकारोऽस्मि’ इत्यादि वचनों के अनुसार ‘अ का
अर्थ है विष्णु और वही कृष्ण का भी फलतः) “अकृष्ण” शब्द में पौनरुक्त हो सकता है तथापि
वह वाच्यत्वेन विवक्षित नहीं है (कवि उसको बगलगा नहीं चाहता) अतः उसे (पुनरुक्तवदा-
भास) अलंकार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले अलंकार भी सभी
अलंकार होंगे जब वे कवि को अलंकाररूप से विक्षित होंगे। अधिक तो क्या ? (रूपक दीपक
आदि साहृदयमूलक) सभी अलंकार शब्दालंकार कहे जा सकते हैं क्योंकि उनके शब्दों में उप-
नितार्थत्व रहता है। इसलिए इस पुनरुक्तवदाभास) को अर्थालंकार मानना ही अधिक श्रेष्ठ है।
क्योंकि वह अर्थ ही है जिसकी आरम्भ में पुनरुक्तरूप से प्रतीति होने के कारण इस अलंकार में
प्राग आते हैं। हनीकिए “पुनरुक्तवदाभासम्” यह अर्थानुरूप नाम सार्थक सिद्ध होता है।
अर्थ में जो पुनरुक्ति की प्रतीति है उसमें तो किसी को विवाद है नहीं क्योंकि उसी के आधार पर
आपने भी इस अलंकार को शब्दालंकार माना है। प्रतीति का निकटवर्ती है अर्थ ही अतः उन्हीं को
अलंकार का आशय मानना ठीक है। यदि दूरस्थ (शब्दों को भी आप अलंकाराशय मानना
चाहें तो फिर वाक्य को भी अलंकाराशय मानिए क्योंकि वाक्य में भी तुल्यार्थकशब्दसुक्तता
रहती ही है। इस प्रकार यदि दूरस्थ सम्बन्ध के आधार पर भी अलंकार की आशयता का निश्चय
किया जाने लगेगा तो अनवस्था दोष आपणा।

विमर्शिनी

अथात्र शब्दस्वरूपवैशिष्ट्यनिघन्धनं चमत्कारकारित्वमिति तदलंकारत्वमिति चेत्,
किं नाम शब्दस्य स्वरूपे वैशिष्ट्यम्, किं पौनरुक्त्यम्, उत पुनरुक्तार्थवाचित्वम्, उत
सम्भ्रामरूपदेन रिष्टत्वम्। तत्र न तावदाद्यं पक्षः। शब्दस्य द्विरुच्चारणाभावात्तथावा-
प्रतिभासनात्। भाषि द्वितीयः। वाच्यवाचकभावेनालंकार्यालंकरणभावात्तस्याश्रयाश्रयिभावे,
भोपपत्तेः। अत एव सर्वेषामेवायालंकाराणामुपमितार्थाद्विवाचित्वात्पुष्टस्य तदलंकारत्वं
स्यादित्युक्तम्। नापि तृतीयः। पुनरुक्तवदाभासमित्यन्वयसंज्ञाश्रयणात्। पौनरुक्त्याख्य-
धर्मप्रयोजकीकारेणालंकारस्योपक्रान्तत्वात् छिष्टत्वस्येहानौपयिकत्वात्। तच्च पुनरुक्ता-
र्थपौनरुक्त्यावगमे निमित्तमात्रम्। निमित्तनिमित्तभावश्च नालंकारत्वप्रयोजक इत्यवि-
षाद्। तस्मादुपार्थाश्रयत्वात्पौनरुक्त्यस्य तदलंकारत्वमेवेति युक्तम्। एवं चत्रलंकारतापि
निरस्ता। सर्वेषामपि चत्रतिशयरूपत्वात् तथात्वोपपत्तेः।

यदि यह कहे कि “शब्द के स्वरूप में वह वैशिष्ट्य है जिससे चमत्कार होता है अतः अलंकार
की शब्दाश्रित ही मानना ठीक है “तो हम पूछने हैं शब्द के स्वरूप में क्या वैशिष्ट्य है ? क्या वह
वैशिष्ट्य पौनरुक्त्यस्वरूप है, अथवा पुनरुक्तार्थवाचक-स्वरूप, अथवा समंग और अमंग इत्ये से
सुक्त होता। इनमें से प्रथम पक्ष अमान्य है क्योंकि (पौनरुक्त्य में शब्द का दूसरी बार उच्चारण
आवश्यक होता है और शब्द का) दूसरी बार उच्चारण यहाँ होना नहीं है। दूसरा पक्ष भी
मान्य नहीं, क्योंकि (यहाँ पुनरुक्तवदाभास में) एक को अलंकारता और दूसरे को अलंकार्यता
वाच्यवाचकभाव पर निर्भर है आश्रयाश्रयिभाव पर नहीं। (यदि पुनरुक्तवदाभास शब्दस्वरूपनिष्ठ

माना जाय तो उसमें वाच्यार्थज्ञान के विना भी अलंकारत्व मानना पड़ेगा जो अनुभवविरुद्ध होगा। वस्तुतः जब अर्थों का ज्ञान होता है तब उनमें पौनरुक्त्य का ज्ञान होता है और तब चमत्कार इसीलिए स्वयं पूर्वपक्षी ने भी 'पुनरुक्तार्थवाचित्व' इस प्रकार वाच्यवाचकभाव को अपने पक्ष में प्रस्तुत किया है। इसीलिए, वैसा कि हमने पहले कहा है, अर्थ के (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) सभी अलंकार शब्दालंकार माने जा सकते हैं क्योंकि उपमितार्थवाचित्व (आरोपितार्थवाचित्व, उत्प्रेक्षितार्थवाचित्व) इत्यादि धर्म शब्द में रहते ही हैं।

तीसरा पक्ष भी अमान्य है क्योंकि 'पुनरुक्तवदाभास' यह संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है (इसमें स्वयं शब्द ही अपना प्रतिपाद्य अर्थ प्रतिपादित कर देता है क्योंकि वह यौगिक शब्द है) इसके अतिरिक्त यहाँ जो अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है वे पौनरुक्त्य-जमित अलंकार ही हैं अतः यहाँ आगे आने वाले श्लेष की चर्चा अप्रासंगिक और अनुपयुक्त है। वह (श्लेष) तो यहाँ एक निमित्त भर है जिससे अर्थपौनरुक्त्य प्रतीत हो सके। और निमित्तनिमित्तभाव तो अलंकारत्व का प्रयोजक होता है नहीं। इस प्रकार (तीनों पक्ष अमान्य ठहरते हैं और पुनरुक्तवदाभास से 'शब्दस्वरूपाधितत्व या शब्दालंकारत्व का) कोई विवाद शेष नहीं रहता।

उक्त हेतुओं से यही मानना उचित है कि पुनरुक्तवदाभास अर्थालंकार ही है क्योंकि यहाँ पौनरुक्त्य का आश्रय अर्थ ही है।

इसी प्रकार (पुनरुक्तवदाभास) की वक्त्रलंकारता (वक्त्रा = कवि, तद्गत अलंकारता ?) भी निरस्त ही जाती है क्योंकि वक्त्रलंकार तो सभी अलंकारों को कहा जा सकता है क्योंकि वे सब वक्त्रतिशयस्वरूप होते हैं। [वक्त्रलंकार से संबन्धित यह पंक्ति रत्नाकर के पुनरुक्तवदाभास प्रकरण की परिकर कारिका के बाद की पंक्ति पर निर्भर प्रतीत होती है, जिसमें अलंकार को कविप्रतीतिरूप धर्म माना है]

विमर्श—अलंकारसर्वस्वकार के विरुद्ध रत्नाकरकार ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार माना है। उन्होंने इसके समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ जो अर्थ पुनरुक्त प्रतीत होता है वह अपने आप में असत्य है और उसका जो आभास होता है वह भी उसका धर्म न होकर प्रमाता का धर्म है जबकि अलंकार प्रमाता का धर्म नहीं हो सकता। संश्लेष में उनका मूलविवेचन इस प्रकार है—

सू० आमुखैकार्यपदं पुनरुक्तवदाभासम् ॥ १ ॥

वृ०.....आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वाच्छब्दालंकारोऽयम् । न स्वार्थधर्मःपौनरुक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या, अर्थस्यादिशमानत्वात् । न च वाच्यं पारमार्थिकत्वमर्थस्यानुपयोगि, प्रतीतिमात्रसारत्वात् काव्यस्येति, अवभासमानत्वमपि न शब्दस्यार्थस्य वा धर्मः, किन्तु प्रमातुः, तस्य तथा संविदुत्पत्तेः । न च प्रमात्राश्रयो धर्मः काव्यस्यालंकारः । न च कृत्रिमस्यार्थस्य पौनरुक्त्यादेर्धर्मत्वार्योपस्कारकत्वं युक्तम्, अस्तत् उपस्कारहेतुत्वासंभवात् । न चावभासमानपौनरुक्त्यालङ्कृतेन 'कृत्रिमैणार्थैनाकृत्रिमस्य अरिबधदेश्चरीर' इत्यादौ रिपुस्युत्पदचेष्टादेरतिशयः कश्चिद् प्रतीयते, येन तदुपस्कारकता स्यात् । चमत्कारित्वं तु शब्दस्य रूपवैशिष्ट्यनिबन्धनम् ।'

अनन्वितत्वात् कार्यादेर्वाच्यत्वं न प्रकल्प्यते ।

मुख्यार्थवाचसंबन्धफलाभावान्च लक्ष्यता ।

असंबन्धाभिधायित्वप्रसंगाद् व्यंग्यतापि वा ।

अकृत्रिमस्या चार्थस्य न धर्मः पुनरुक्तता ।

पुनरुक्तोऽपि वा तत्त्वे स एव स्यादलङ्कृतिः ।
पौनरुक्त्यमलङ्कारस्तेनार्थस्य न कस्यचित् ॥

इति परिकरदर्शोक्ताः ।

तस्यात् सर्वत्र काव्यम्य वस्तुतः, कविप्रतिपादनया वा, समवी कश्चित् तत्पतीतिरूपो धर्मविशेषः
शब्दागतोऽर्थगतो वाऽलङ्कारतया वाच्यः । इह स्वर्थालङ्कारत्वे पूर्वोक्तनीत्या विरोधादिवत् कवि-
प्रतिपादनया वा न समवी कश्चिदर्थगतोऽपि धर्मविशेषः, इति 'अरिवधदेहशरीरे'—त्यादौ कात्यादि-
वाचकदेहशरीरादिशब्दसाधारण विशिष्ट रूपमेकार्थत्वेनावामाममान तदधर्मत्वेऽलङ्कार इति साधु ।
पदमत्र अर्थप्रतीतिकृत, न तु मुद्रितन्तमेव । 'इस प्रकार रत्नाकरकार ने सभी प्रकार की पद
सन्वन्धी मान्यता का भी रण्डन किया है। पद का अर्थ केवल अर्थ प्रतीति कराने वाला शब्द
करते हैं जब कि सर्वस्वकार ने पद को सुबन् और विबन्त शब्द में विभक्त किया था ।

विमर्दिनी

विस्तरभयादिति । न तु चित्रत्वाभावात् । नोध्यन्त इति । वस्तुतस्तु संभवन्वयेधेयर्थः ।
धत्तश्चायं प्रायो वाक्यार्थपदायांशयत्वात्प्रथम द्विधामवन् समस्तासमस्तपदत्वेन चतुर्विधः ।
क्रमेण यथा—

'तुहिनश्चितिमृद्युष्मान्पातात्सर्वत्र[-]सर्वदा[-]ख्यातः ।

हिमवानवतु सदा वो विश्वत्र समागतः ख्यातिम् ॥'

'नदीप्रकरमुल्लिङ्गितवन्त मनोहरहस्तमन्यजन्तं च, सपर्याणा रचिं वहन्तं सर्वत्र पूज-
नीयं च, सकुम्भं सकलशायरन्त च, सदानदन्त मदपर्यायिलदशनं च, करट कमपि विभ्रतं
कवादिभिन्नमुद्गन्तं च, कुल्लराजिवधितरचि वारणरणरणणिकाकुलितं च, राजमानवि-
संधायिनं विराजमानं च, शारीभूतं मदसलिलेन शबलीभूतं च, इति पुनरक्ताश्रयम्'
इत्यनङ्गलेखायां हस्तिवर्णने ।

'यतहन्तामितः कालो गोविभावसुदीधितिः ।

धिपास्य रक्षावसितश्चेतराजयज्ञोभय ॥'

असमस्तपदं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् ।

विस्तरभयादिति = विस्तर के भय से, न कि चित्रत्व के अभाव से । नोध्यन्त इति = नहीं
बनलाए जा रहे यमपि हो सकते हैं । भेद की दृष्टि से इस पुनरुक्तवदामालङ्कार को पहले दो
भागों में बाँटो जा सकता है वाक्यार्थगत और पदार्थगत । तदनन्तर प्रत्येक के समस्तपदगत और
असमस्तपदगत इस प्रकार दो दो भेद करके चार प्रकार का माना जा सकता है । इनमें से एक
एक के क्रमशः उदाहरण (वाक्यार्थगत समस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदामालङ्कार—)

[इसमें पुनरुक्तार्थ इस प्रकार है—

सर्वदा और सदा, सर्वत्र और विश्वत्र (विश्वशब्द भी सर्ववाचक है) ख्यातः और
ख्याति को समागत प्राप्त, तुहिनश्चितिमृद्युष्मान् = कफली स्थली से युक्त और हिमवान् हिम से
युक्त (पर्वतराज हिमालय) युष्मान् तुम्हारी और वः = तुम्हारी पातात्—रक्षा करे और
अवतु = रक्षा करे ।

परिहार = तुहिन = बर्फ तथा क्षिति = पृथ्वी को धारण करने वाला, सर्वत्र सर्वदा ख्यात =
सर्व = सबकी त्र = रक्षा करने वाला, सर्व = सब कुछ द = देने वाला आख्यात = कहा जाने वाला

वः = (नाम प्रथमाक्षर श्रवण करके) विष्णु स्वरूप, विश्व = विश्व भर में सर्वत्र, सदा = सब कालों में ख्याति को प्राप्त समागत हिमवान्) = पर्वतराज हिमाचल युष्मान् = तुम सबको पाताव = अथः-पतन से अवसृ = वचावे । यहाँ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाच्यार्थ प्रथम पक्ष में एकार्थ हैं और 'सर्वत्र सर्वदा ख्यात में समास है अतः वह उदाहरण वाक्यार्थगत समस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास का हुआ ।

वाक्यार्थगत असमस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास यथा अनंगलेखा में "नदी प्रफरसुलिंग-तवन्तम्" इत्यादि हस्तिवर्णन ।

इस में पुनरुक्तार्थ =

द्वीप = चमकने हुए कर = शुण्डादण्ड को न उल्लिखितवन्तम् = न छोड़ते हुए मनोहर = सुन्दर इत = शुण्डादण्ड को अत्यन्तम् = न छोड़ते हुए (तो) सपर्याणां = सपर्याओं = पूजाओं की रवि शोभा को धारण किए हुए तथा सर्वत्र पूजा पा रहे, सकुम्भ = कुम्भ (मस्तक) से युक्त तथा सफल्य = कुम्भ के साथ चरन्तं = चलने वाले सदान = दान = मदजल से युक्त दौत वाले तथा मद = मदजल से पर्याविल = भीने हुए हैं दशन दौत जिसके कमपि किसी एक करट = कौए को धारण किए हुए और कवाटवि = फव = कुरिमतद्रव्य = मल आदि पर अट = घूमने वाला वि = पक्षी = कौआ, उसको भ्रम = घूमने को अमुचन्तम् = न छोड़ता हुआ (?), कुंजर = हाथी उसके साथ आजि = युद्ध उसमें वड़ी है रवि = इच्छा जिसकी ओर धारण = हाथी उसके साथ जो रण = युद्ध उसके लिए रणरगिका = इच्छा, ऐसे आकुलित, राजा के मान के विसंभायी = दूर करने वाला वि = विगत है दूर है राज = राजकोय मान जिससे मदजल से शारीभूतः अनेक वर्णमय, और शबलीभूत = अनेक वर्णमय इस प्रकार पुनरुक्त के आशय हाथी को "..." ।

परिहार = नदी प्रकर = नदी समुदाय को उल्लिखितवन्तम् = पार करते हुए सकल प्यक्तियों का शं = कल्याण, चरन्तं करते हुए (हाथी का दर्शन शुभ माना जाता है) । सपर्याणां पर्याण = कुथ पालकी या हीदे से युक्त, सदानदन्त = सदा नदन्तम् = चिधादते, करटं = गण्ड को, कुआराजि = कुओं की राजि, पौत, विराजमान = शोभित हो रहे, शबल (श्लेष में स-श-के अनेद से) = सबल = बलशाली ।

[यहाँ पूरे वाक्य में पुनरुक्तार्थता है किन्तु वैसे अर्थ प्रतिपादक पदों में समास नहीं है अतः यह वाक्यार्थगत असमस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण हुआ ।]

पदार्थगत समस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास यथा— "वतहन्तादि" पद्यार्थ ।

पुनरुक्तार्थ = वत = खेद, हन्त = खेद, असितः = कृष्ण वर्ण का कालः = कृष्ण वर्ण का, गो = किरण, विभा = किरण, वसु = किरण, दीधित = किरण; क्षिप = फेंको अस्य = फेंको; रक्ष = रक्षा करो; सित = सफेद, श्वेत = सफेद; राजथ = विराजित होओ, शोभय = विराजित होओ ।

परिहार = दुःख की बात है कि असित काल कृष्ण पक्ष गो = चन्द्रमा (गौः स्वर्ग वृषभे रश्मी वने चन्द्रमसि स्मृतिः = विश्व प्रकाश) और असित काल = वर्षा ऋतु अथवा दक्षिणायन सूर्य = (विभावसुर्दिग्मणी हारभेदे च पावके = विश्वप्रकाश) की दीधिति = किरणों को हन्ता = नूर्थ समास करता । हे अमय और रक्षा में अवहित = लगे श्वेतराज अस्य = इसके पक्ष को क्षिप = हटाओ ।"

यहाँ पदार्थमात्र में पुनरुक्ति है । और चिन पदार्थों में वह है उनके वाचक पदों में समास है अतः यहाँ पदार्थगत समस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास है ।

पदार्थगत असमस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रस्तुत कर दिए हैं।

यहाँ तक अर्थगत पौनरुक्त्य का विचार कर अब शब्दगत पौनरुक्त्य पर विचार करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ४] शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं च ॥

अलङ्कारप्रस्तावे केवलं स्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वात्त गण्यते इति द्वैविध्य-मेव ।

[सू० ४] शब्दपौनरुक्त्य [केवल दो प्रकार का होता] व्यञ्जनमात्र का पौनरुक्त्य तथा स्वरव्यञ्जन दोनों के समुदाय का पौनरुक्त्य ॥”

[सू०] अलङ्कारप्रकरण में केवल स्वर का पौनरुक्त्य चमत्कारकारी नहीं होना इसलिए दो ही भेद बनाए।

विमर्शनी

केवलस्वरपौनरुक्त्यं किं न गणितमित्याशङ्क्याह—अलङ्कारेत्यादि । यथा—

इंदीवरम्मि इंदमि इंदआलम्मि इदिअगणम्मि ।

इंदिविरम्मि इंदमि जोइण्णो सरिससंक्कप्पो ॥”

अत्र स्वरपौनरुक्त्यस्य चारुत्वाभावात्प्रालङ्कारत्वम् ।

तत्र केवलव्यञ्जनस्वरव्यञ्जनसमुदायाश्रितमलङ्कारद्वयं लक्ष्यति—मख्येत्यादिना ।

“केवल स्वर का पौनरुक्त्य [एक तीसरा भेद हो सकता था उसे] क्यों नहीं गिना” इस शक्ति पर उत्तर देते हुए लिखा “अलङ्कार” इत्यादि । [केवल स्वर के पौनरुक्त्य का उदाहरण] यथा—इंदीवरम्मि...” इत्यादि पद्य । यहाँ स्वर (इकार) का पौनरुक्त्य तो है किन्तु उससे कोई चमत्कार नहीं हो रहा अतः उसे अलङ्कार नहीं कहा जा सकता [अलङ्कार है यहाँ तुल्ययोगिता या दीपक] ।

उक्त दोनों शब्दपौनरुक्त्यों में से केवल व्यञ्जनगत पौनरुक्त्य और स्वरव्यञ्जनगत पौनरुक्त्य, इन दोनों में जो जो अलङ्कार होते हैं उनका लक्षण करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ५] संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ॥

द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः । पूर्वं व्यञ्जनसमुदायाश्रितं यथा—

‘किं नाम दर्दुरं दुरध्यवसाय सायं

कायं निपीड्य निनदं कुरूपे रूपेव ।

पतानि केलिरसितानि सितच्छदाना-

माकर्ण्य कर्णमधुराणि न लज्जितोऽसि ॥”

अत्र सायंशब्देनास्यालङ्कारस्य यकारमात्रसादृश्यापेक्षया वृत्त्यनुप्रासेन सदैकामिधानलक्षणः संकरः । छेका विदग्धाः ।

[सू० ५] “संख्या यदि नियत हो तो प्रथम [व्यञ्जनपौनरुक्त्य] छेकानुप्रास [कह-
लाता] ॥”

[वृ०] व्यञ्जनों के दो समुदायों में एकाधिक बार सादृश्य का होना संख्यानियम [या संख्या का नियत होना] है। प्रथम अर्थात् व्यञ्जनसमुदायाश्रित [पौनरुक्त्य, उसका उदाहरण] यथा—
“कि नाम ददुरं” इत्यादि संस्कृतपद्य । [इसका अर्थ इस प्रकार है] ‘अरे नासमझ मूर्ख ?
शुत्ता सा होकर इस समय शाम को पूरा शरीर कँपा कर इतनी टर्-टर् क्यों कर रहा है ?
इन उज्ज्वल पंख वाले हंसों की श्रुतिमुखद क्रीडामयी सरस वाणी सुनकर तुझे लज्जा नहीं
आती ?’ यहाँ [दुर दुर और साय साय” इस प्रकार दो दो व्यञ्जनों की नियत संख्या में आवृत्ति
है अतः छेकानुप्रास है, और ‘सायं कायं’ इन दो पदों में केवल] यकार की आवृत्ति है अतः [यह
वृत्त्यनुप्रास है फलतः] सायं शब्द में [दुरध्यवसाय के साथ छेकानुप्रास और काय के
साथ वृत्त्यनुप्रास होने से] वृत्त्यनुप्रास के साथ [छेकानुप्रास का] एकवचनानुपवेश संकर है।
छेक का अर्थ है विदम्ब ।

विमर्श—प्रतीहारन्दुराज ने छेक को घोंसलों में रहने वाले पक्षियों का भी वाचक माना है—
‘एकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिपानम्, तदुक्तम्—‘छेकान् गृह्येभिरतानुशन्ति मृगपक्षिणः’
इति । जो पक्षी घोंसलों में रहते हैं वे दूसरों से सताए नहीं जाते, अतः उनकी बोली इसी अनुप्रास
के समान स्वभावतः मधुर होती है—‘तिपां कुलायाभिरतत्वादन्येन केनचिद् अनायास्यनानत्वमने-
नानुप्रासेन सदृशां मधुरा वागुच्चरति ।’

विमर्शिनी

एकवचनस्य आर्या बहुत्वप्रसङ्गाद्बहुवचनस्य च त्र्यादीनां स्वयमेव बहुवचनस्य
नियमो द्विवचनस्य एव संभवतीति द्वयोरित्युक्तम् । द्वयोरप्येकधा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रास एव-
त्याशङ्क्याह—अनेकथेति । यकारमात्रेण्यनेन द्वयोरेव सादृश्यमस्य जीवितमिति ध्वनितम् ।
यद्यपि चार्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्य संभवाद्बहुवचनस्य एवान्यै-
रन्तर्भावितः तथान्यस्य ग्रन्थकृता उद्भटमतानुरोधादिह लक्षणं कृतम्—अन्यथेत्यादि ।

द्वयोः इस प्रकार जो द्विवचन का प्रयोग किया गया उसका अर्थ यह है कि संख्यानियम
केवल द्विवचन में ही संभव है, जहाँ तक एक वचन का संबन्ध है उसे जाति परक मानकर बहुत्व-
परक मानना होगा और बहुवचन में बहुत्व के कारण संख्यानियम ही नहीं सकेगा। दो व्यञ्जन-
समुदायों का सादृश्य भी यदि केवल एक बार ही घटित हो तो वह वृत्त्यनुप्रास होता है। इसी
लिए छेकानुप्रास में “अनेकधा” शब्द का प्रयोग किया गया। यकारमात्र कहने का अभिप्राय यह
है कि छेकानुप्रास विना दो व्यञ्जनों के सादृश्य के संभव नहीं (यहाँ केवल एक ही व्यञ्जन का
सादृश्य है) ।

यद्यपि यह छेकानुप्रास अन्य आचार्यों द्वारा सामान्य अनुप्रास में ही गिन लिया गया है
क्योंकि इसमें सामान्य लक्षण व्यञ्जनमात्र पौनरुक्त्य समन्वित हो जाता है, तथापि ग्रन्थकार ने
उद्भट के अनुसार यहाँ [छेकानुप्रास का] लक्षण अलग किया [इस तथ्य का निर्देश करते हुए
अगला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—]

[सर्वस्व]

[सू० ६] अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः ॥

केवलव्यञ्जनमात्रसादृश्यमेकधा समुदायसादृश्यं त्र्यादीनां च परस्पर-
सादृश्यमन्यथाभावः । वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः । तद्वती पुनर्वर्णरचनेह-

वृत्तिः । सा च परुषकोमलमध्यमवर्णारब्धत्वात्त्रिधा । तदुपलक्षितोऽयमनुप्रासः । यथा—

‘आटोपेन पटीयसा यदपि सा वाणी कवेरामुखे
खेलन्ती प्रयते तथापि कुरुते नो सन्मनोरञ्जनम् ।
न स्याद्यावदमन्दसुन्दरगुणालंकारज्ञांकारितः
सप्रस्यन्दिलसद्रसायनरसासारानुसारी रसः ॥’

यथा धा—

‘सहाः पञ्चगफूत्कृतानलशिखा नाराचपाल्योऽपि धा
राकेन्दोः किरणा विपद्रवमुचो वर्षासु वा धाययः ।
न त्वेताः सरलाः सितासितरुचः सार्चीकृताः सालसाः
साकृताः समदाः कुरङ्गकदशां मानानुविद्धा दृशाः ॥’

[सू० ६] और महीं [यदि संख्या नियम न हो] तो [व्यञ्जनपौनरुक्त्य]
वृत्त्यनुप्रास [कहलाता है] ।

[वृ०] (१) केवल [एक] व्यञ्जनमात्र का सादृश्य, (२) केवल एकतर समुदायसादृश्य तथा (३) तीन [चार] आदि [मख्या वाले व्यञ्जनों का] परस्पर सादृश्य यह ही अन्यथाभाव [अर्थात् एकानुप्रास की स्थिति से वृत्त्यनुप्रास की स्थिति का अन्तर] [वृत्त्यनुप्रास शब्द में] वृत्ति का [मूलभूत] अर्थ तो है रमविषयक व्यापार किन्तु यहाँ वृत्ति है उस [रस विषयक-व्यापार] से युक्त वर्णरचना । वह [रचना] परुष, कोमल और मध्यम इन तीव्र प्रकार के वर्णों से युक्त होने के कारण तीन प्रकार की होती है । यह अनुप्रास उससे उपलक्षित होता है । उदाहरण है—“आटोपेन पटीयसा०” इत्यादि [संस्कृत पद्य] । [इसका अर्थ है] “बड़े भारी आटोप से यद्यपि बड़े वाणी (वाग्देवी और कविता) कवि के आमुख (आरम्भ और मुर में) खेलती रहती है और विस्तार को भी प्राप्त होती है किन्तु उतने पर भी मेरे चित्त को वह तब तक मुग्ध नहीं कर पाती जब तक उज्ज्वल और सुन्दर गुणों तथा अलंकारों से सहन, पव छरछलाते रसायनरस की बौछार जैसा वह रस न हो ।” अथवा जैसे—“सहाः पञ्चगफूत्कृता०” इत्यादि संस्कृतपद्य । [इसका अर्थ है—

“सर्प की कुफकार से उत्पन्न अग्निशिखा हो या वाणों की पौलें, पूर्वचन्द्र की तरल गरल जुआनी विरणें हों या पवन के [विपतुद्रव] पानी की फुहार [विपद्रव] लिए हुए बरसाती झौंके, सब सद्य हैं । किन्तु ये जो मृगनयनियों की मानमरी सरल श्वेतश्याम, तिरछी, अलसारं, भावभरी, और मदभाती चितवर्णें हैं ये कथमपि सद्य नहीं ।”

विमर्श—सजीविनीकार के अनुसार दोनों उदाहरणों में से प्रथम के चारों चरणों में केवल व्यञ्जनसाम्य है । उसमें भी “अलंकारज्ञाकारित” इममें एकतर समुदायसादृश्य है और “रसायनरसासारानुसारी रस” में तीन व्यञ्जन समुदायों का सादृश्य है । इसी प्रकार “आटोपेन पटीयसा” में गौडो रीति है, ‘अमन्दसुन्दर’ इत्यादि में वैदर्भी रीति और “गुणालंकारज्ञाकारित” में पाचाली रीति है । इसका निर्णय उन्न-उन्न पदों से निकलने वाले अर्थों से होता है ।

इतो प्रकार द्वितीय पद्य में संजीविनीकार के अनुसार केवल व्यञ्जनपौनरुक्त्य ही । वृत्ति परुषा है क्योंकि वहां रोप का वर्णन है । संजीविनीकार ने ही 'सालस' और 'मानानुविद्ध' पर इस प्रकार टिप्पणी की है—

सालस = पश्चात्तापपूर्वक लौटती हुई चितवर्ने, जैसा कि भावप्रकाश में [शारदातनय] ने कहा है—'आलस्य वह भाव है जिसमें लज्जादि अभोष्ट विषयों से विमुखता आवे' = 'आलस्यं तदमी-ष्टार्थाद् व्रीडादेर्यन्निवर्तनम् ।'

मानानुविद्ध = रोगारुण, मान अर्थात् देखे या सुने किसी अपराध से उत्पन्न रोप, उससे जलती हुई चितवर्ने । 'दृष्टश्रुतापराधवन्मा रोपो मानः, तेन समुच्छ्रिताः ज्वलन्कल्पा इत्यर्थः ।'

इन दोनों भेदों को संजीविनीकार ने वर्णालंकार कहा है और आगे जाने वाले यमक को शब्दालंकार ।

चिमशिनी

एतदेव भेदनिर्देशं कुर्वन्भ्याचष्टे केवलेत्यादि । समुदायः पारिशेष्याद् व्यञ्जनद्वयरूपः । एकधेति चात्रैव संबद्धव्यम् । केवलस्य श्यादीनां चानेकधापि सादृश्यस्यानेन व्याप्त-
श्वाद् । एतच्च समस्तासमस्ताक्षरत्वेन संभवतीत्यस्य प्रायः षट् प्रकाराः । क्रमेण यथा—

'यया यायाय्यया यूयं यो यो यं येययायया ।
ययुयायि ययेयाय ययेयायाय याययुक् ॥'

असमस्ताक्षरं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् ।

'दीनादीनां ददौ दानं निननाद दिने दिने ।
निदिन्द नन्दनानन्दानन्दुनोदिननन्दनम् ॥'
रुष्याभिः प्रचुराभिस्तरुक्षिरापाचिताभिरुचितभिः ।
अचिररुचिरुचिरुचिभिश्चिराच्चिराभिश्चमस्कृतं चेतः ॥'
'ततः सोमसिते मासि सततं संमतं सताम् ।
अतामसोत्तममतिः सती सुतमसूत सा ॥'
'कमलदशः कमलामलकमलकमनीयकान्तिवपुरमलम् ।
कमलंकुक्षते तावत्कमलापतितोऽपि यो विमलः ॥'

आदिशब्दाच्चतुरक्षरादेर्यहणम् । यथा—

'स ददातु वासवादिदेवतासंस्तवस्तुतः ।
सदा सद्सर्गति देवः सविता विततां सताम् ॥'

वर्णरचनेह वृत्तिरिति । उपचारादिति भावः । त्रियेति । यदुक्तम्—

'शपाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गं च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्बहुह्रस्वाद्यैश्च संयुता ॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्वगान्तिव्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ॥
शेषवर्णैर्यथायोगं रचितां कोमलाख्यया ।

आभ्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वाहतबुद्धयः ॥ [उद्भट काव्या. सं. ११४-६]

यथा—

निरगलविनिर्गलद्रुल्लुगुलाकरालैर्गलैरमी तदिति ताडितोद्गमरडिण्डिमोद्गमराः ।
मदाचमनचञ्चुरप्रचुरधञ्चरीकोच्चया पण. परिणतिचणचतततान्तरा दन्तितनः ॥

अत्र लकाराद्यावृत्त्या मन्वमत्वमिति वृत्तित्रैविध्यम् ।

[छेकानुप्रासक से वृत्त्यनुप्रास के] इमी [अन्तर] की व्याख्या भेद का निर्देश करने हुए कहते हैं—केवल इत्यादि । समुदाय—अर्थात् दो व्यञ्जनों का, क्योंकि वही शेष वचना है [एक और तीन व्यञ्जनों का सादृश्य यहाँ आगे और पीछे बतला दिया गया है] 'एकघा=एकवार' इमका भी संबन्ध इमी [दो व्यञ्जनों के समुदाय से करना चाहिए । एक और तीन चार आदि [अर्थात् दो से अधिक सब] व्यञ्जनों का अनेकवार हुए सादृश्य भी इसी [वृत्त्यनुप्रास] में आ जाते हैं । यह अनुप्रास समरत (सभी) अक्षरों में और असमस्त (कृतिपयमात्र) अक्षरों में हो सकता है इसलिए इसके [एकव्यञ्जनगतानेकमादृश्य, द्वयधिकव्यञ्जनगतानेकमादृश्य तथा व्यञ्जन-द्वयगतैकमादृश्य इन तीन भेदों को समस्ताक्षर और और असमस्ताक्षर इस प्रकार दो-दो प्रभेदों में विभक्त करने से] प्रायः छ भेद होते हैं । एकएकका क्रमशः उदाहरण यथा

(१) एकव्यञ्जन समस्ताक्षर—“यया यायाव्यया०” इत्यादि पूर्ण पद्य ।

(२) इसी के असमस्ताक्षर का उदाहरण स्वय प्रन्वक्षर द्वारा प्रस्तुत है ।

(३) व्यञ्जनसमुदायद्वय समस्ताक्षर—“दीर्घादीना ददी दानम्” इत्यादि पद्य ।

[अर्थ है—उसके] दान आदि को (मप्रदान में पड़ी) दान दिया, प्रतिदिन निनाद किया, नन्दन (स्वर्गोदान) के आनन्दों की निन्दा की और इस-नन्दन = सूर्यपुत्र = यम को हुरी किया” ।

(४) इसी में असमस्ताक्षर = “ग्व्याभि प्रचुराभि.” इत्यादिपद्यरत्न । [अर्थ है—स्विर मात्रा में प्रचुर, टाल की पकौ, छक छरुकर पारं हुई और रण में विजली के समान चिरा [निर्णय-सागर सस्करण की टिप्पणी के अनुमार कर्मीर के खूतानि] नामक फलों से चित्त बहुत दिनों से छका है ।

(५) अनेकव्यञ्जनगत० समस्ताक्षर = “तत सीमसिते मासि०” इत्यादि पद्य । [अर्थ है—“उसके पश्चात् तामसीवृत्ति से रहित और उत्तम मति वाली उस सती ने शुक्ल पक्ष में सत्युत्पत्तों में समाहित पुत्र को जन्म दिया ।”]

(६) इसी का असमस्ताक्षर = “कमलदृशम्द०” इत्यादि पद्य । [अर्थ है—“विष्णु से भी अधिक सुन्दर मा भाग्यशाली ऐसा कौन सीमाप्य शाली पुरुष है जिसे कमलनयनी का निर्मल और कमला [लक्ष्मी] या कमल के समान अमल और कमनीय कान्ति वाला शरीर अलङ्कृत करता है ? यहाँ केवल कमल' इन तीन व्यञ्जनों का अनेकवार सादृश्य है]

आदि शब्द में चतुराक्षर आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है उदाहरण यथा—“स ददानु०” पद्य [अर्थ—“इन्द्र आदि देवताओं द्वारा संस्तवों में जिसकी स्तुति की गई है, वह सूर्यदेव सत्यरूपों को सदा सद्ब्रह्मनि प्रदान करें ।” यहाँ 'द, स, व त' इन वर्णों की अनेकवार आवृत्ति है]

वर्णरचनेह वृत्तिः शब्दालङ्कारप्रकरण में वृत्ति का अर्थ वर्णरचना है अर्थात् = उपचार [लक्षणा] से । त्रिधा तीन प्रकार की, जैसा कि [उद्धृत ने] कहा है—“श, य, रेफ, सयोग, टवर्ग तथा छ, ह, झ आदि से, युक्त [जो वर्ण विन्याम होता है उम] को परुषा वृत्ति कहा जाता है ।” काव्याल० सा० म० १ । ४]

[क् क्, प् प् आदि] 'सरूपवर्णों के संयोग से युक्त, तथा स्पर्श ['क' से लेकर 'म' तक के] वर्णों में से प्रथम वर्ण के माथे पर अन्तिम वर्ण के संयोग से युक्त वृत्ति को विद्वज्जन उपनागरिका कहते हैं ।' [काव्यालं०, सा० सं० १ । ५]

[उपयुक्त दोनों वृत्तियों में उपयुक्त वर्णों से] 'शेष [लकार आदि] वर्णों से वधायोग रचित ग्राम्या नामक वृत्ति को कान्यप्रेमी जन कोमलावृत्ति कहते हैं ।' [काव्यालं० सा० सं० १।६]

[इस तृतीय वृत्ति का उदाहरण] यथा "निरयल्ल-विनिर्गलद०" इत्यादि पद्य ।

[इसका अर्थ है—"अप, बेरुकावट पढ़ रहे और गड़-गड़ आवाज कर रहे गर्दों के द्वारा तड़-तड़ ताड़ित वस्तु से विशाल डिब्बों के कारण हलबद्वाय, मदजल के आचमन में निरत झुण्ड के झुण्ड भौरो से घिरे तथा परिणति [तिर्थगन्तप्रहार] के क्षण [उहास] में पर्वत-तटों को टूक-टूक करने वाले ये हाथी हैं पण [घूट पर चढ़ा धन] ।" यहाँ लकार आदि: वर्णों की आवृत्ति है अतः यहाँ की वृत्ति मध्यम है—इस प्रकार वृत्तियाँ तीन होती हैं ।

विमर्श—वृत्त्यनुप्रास के लिए इन तीनों वृत्तियों के उदाहरण उद्धृत ने इस प्रकार दिए हैं—

(१) परया = "तत्र तोषाशयाशेषव्याकोशतकुशैश्या ।

चकाशे काश-किंशक-कपिशशासुखा शरय ॥"

(२) [उपनागरिका मध्यमा] = "सान्द्ररविन्दवृन्दोत्थमकरन्दान्बुविन्दुभिः ।

स्यन्दिभिः सुन्दरस्यम् नन्दितेन्द्रिन्द्रा कचिद् ॥"

(३) कोमला = "केलिलोलालिमालानां फलैः कोलाहलैः कचिद् ।

कुर्वती क्षान्दारुक्षीनूपुर-रव-भ्रमम् ॥"

संजीविनीकार ने अनुप्रास के उक्त विवेचन पर निम्नलिखित संग्रहकारिकाएँ बनाई हैं—

१—'प्रकृष्टो वर्णविन्यासो रसायनगतस्तु यः । सोऽनुप्रासः स च च्छेकवृत्तुपाधिवशाद् द्विधा ॥'

२—'समुदायद्वयं यत्र विविधं साम्यवृच्छति । स च्छेकालानाद् प्राप्तेः छेकानुप्रास ईरितः ॥

३—'व्यञ्जनव्यावृत्तिवृत्तिवर्णानां रसगोचरा । तत्संयोगादियं वर्णरचना वृत्तिरिष्यते ॥'

४—'सा वैदव्यादिभेदेन त्रिधा पूर्वेतिरूपिता । तयोपलक्षितत्वाच्च वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥'

दृष्टवी—ने अनुप्रास का विवेचन माधुर्य गुण के प्रसंग में किया है । उन्होंने अनुप्रास को विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति से इस प्रकार किया है—

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।

पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥ १ । ५५ ॥

अर्थात् पादों और पदों में वर्णों की ऐसी पुनरुक्ति जिससे प्रथमोक्त वर्ण का संस्कार जाग सके अनुप्रास कहलाती है । यह तब होता है जब पादों या पदों में अदूरता रहती है । इस तथ्य का दृष्टवी ने एकत्रार पुनः दुहराते हुए लिखा—'अनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरवृत्तिम् ।' इनके पाद-यमक में लाटानुप्रास का अन्तर्भाव हो सकता है ।

मामह—ने अनुप्रास का सामान्य लक्षण इस प्रकार किया है—'सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते ।' मेदों को उन्होंने दो नाम दिए हैं—ग्रामानुप्रास तथा लाटानुप्रास । ग्रामानुप्रास वही है । जिसे ललितानुप्रास या कोमलानुप्रास कहा जाता है । इनके लक्षण मामह ने नहीं बनाए केवल नामोल्लेख कर उदाहरणमात्र दिए हैं । वामन ने अनुप्रास को 'वर्णसाम्यरूप माना है—'शेषः सरूपोऽनुप्रासः' । शेष का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—

'पदमेकाधमनेकार्थं च स्थानानियतं तदधमश्वरं च शेषः । सरूपोऽन्येन प्रशुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः ।'

सारूप्य की आवृत्ति से भिन्न बन जाते हुए भी उन्होंने लिखा है—‘कारस्त्वेनैवावृत्ति, कास्त्वेनैकदेशान्या
॥ मारूप्यम्’ अर्थात् आवृत्ति में पूरे के पूरे पद को पुनः कटना पड़ता है जब कि मारूप्य में इनके
साथ उस पद के अंश का भी पुनः कथन रहता है। अनुप्रास के विषय में अत्यन्त रचिपूर्ण
टिप्पणी देते हुए वामन लिखते हैं—‘अनुत्वगो वर्णानुप्रासः श्रेयान्’ वर्णानुप्रास वह अच्छा होता है जो
अधिक उत्कट नहीं होता। जो उत्कट होता है वह अच्छा नहीं ‘उत्वास्तु न श्रेयान्’। छानुप्रास
का उल्लेख वामन में नहीं मिलता किन्तु उसका स्वरूप उनमें स्पष्ट है। वे उसे पादानुप्रास कहते
हैं। छेक और वृत्ति नाम भी वामन में नहीं मिलते।

उद्धट—अनुप्रास का छेक, वृत्ति तथा छानुप्रास अनुच्छेदों में प्रचलित वर्णोत्तरण प्रथमतः उद्धट
में मिलता है। इसीलिए वृत्तिकार ने लिखा कि—‘छेकानुप्रास प्राचीन आलंकारिकों द्वारा सामान्य
अनुप्रास में गिन लिया गया है।’ उद्धट का विवेचन इस प्रकार है—

‘छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः शुभदृष्टोक्तिवृत्तौ।’ यथा ‘गरिष्ठगोष्ठौ०’। उनका वृत्त्यनुप्रास का
विवेचन पिछले पृष्ठ पर दिया जा चुका है। छानुप्रास पर उनका विवेचन इस प्रकार है—

‘स्वरूपाथोविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।

शब्दानां वा पदानां वा छानुप्रास इत्येते ॥’

अर्थात्—‘शब्द’ अथवा पदों में, स्वरूप और अर्थ में अन्तर न रहने पर भी तात्पर्य में अन्तर
होने मात्र से कौं गरी पुनरुक्ति छानुप्रास मानी जाती है।’ इसके भेद पाच माने हैं (१)
स्वतन्त्रपदावृत्ति, (२) परतन्त्रपदावृत्ति, (३) स्वतन्त्रपदावृत्ति, (४) परतन्त्रपदावृत्ति तथा (५)
स्वतन्त्र-परतन्त्रोभयात्मकपदावृत्ति। उद्धट ने इनमें से प्रत्येक के उदाहरण भी दिए हैं। सर्वस्वकार ने
‘काशः काशा इव’ पद्य उद्धट से ही लिया है। उन्होंने इन स्वतन्त्रपदावृत्ति के उदाहरण के रूप में
दिया था। सर्वस्वकार के सभी उदाहरण इसी एक भेद तक सीमित हैं।

रुद्रट—ने अनुप्रास का केवल वृत्त्यनुप्रास तक सीमित रखा है। उन्होंने छेकानुप्रास तथा
छानुप्रास को अपने कान्याङ्कार में स्थान नहीं दिया। अनुप्राससामान्य का लक्षण उन्होंने इस
प्रकार दिया है—

‘एकदिशान्तरित व्यञ्जनमविवक्षितस्वर बहुधा।

आवर्त्येन निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः’ ॥ २।१८ ॥

यद्य अनुप्रास का नाम तो वृत्त्यनुप्रास नहीं मिलना, परन्तु इस मदर्भ में रुद्रट द्वारा किए
गए पाच वृत्तियों के निरूपण से यह अमान्य नहीं रह जाता कि वे अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रासात्मक
ही मानते हैं। पाच वृत्तियों के नाम उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

‘अपुरा, प्रौढा परया, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पञ्च।

वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफलाः’ ॥ ३।१९ ॥

इन सबके पृथक्-पृथक् लक्षण बनाकर रुद्रट ने इनके उदाहरण भी दिए हैं।

मम्मट—ने उद्धट के ही अनुसार ‘छेक, वृत्ति और छानुप्रास’ इन भेदों में अनुप्रास का विभाजन
करते हुए वृत्ति को व्यञ्जनारूप माना है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

‘वर्णसाम्यमनुप्रास, छेकवृत्तिगणो दिधा।

सौञ्जेकस्य सकृत्पूर्वं ध्वन्याप्यसकृत् परतः।

‘शब्दरतु आद्यनुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥

अर्थात् ‘वर्णसाम्य’ है अनुप्रास। वह ‘छेक और वृत्ति’—इस प्रकार दो भेदों में प्रकृत वर्णगत
रहता है। इनमें छेकानुप्रास में अनेक वर्णों की एकता आवृत्ति होती है और वृत्त्यनुप्रास में एक

या अनेक वर्णों को अनेकवार । जो अनुप्रास शब्दगत होता है वह लक्षणप्रास कहलाता है । इसके पांच भेद होते हैं—

‘पदानां स पदस्यापि वृत्तवन्व्यत्र तत्र वा ।

मान्नः स वृत्तवृत्त्योश्च तदेवं पंचधा स्मृतः ॥’

प्रथमतः वह दो भागों में विभक्त रहता है पदगत तथा नामगत या प्राप्तिपदिकगत । इनमें पदगत दो प्रकार का होता है अनेकपदगत और एकपदगत । नामगत तीन प्रकार का होता है एकसमासगत, अनेकसमासगत और एकानेकसमासगत । इस प्रकार कुल भेद पांच होते हैं ।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने अनुप्रास का विवेचन उक्त भेदों में ही इस प्रकार किया है—

१—‘द्वयोर्द्वयोः समुदाययोः साम्यं छेकानुप्रासः ।’ ३ ।

२—अन्यथा तु वृत्तनुप्रासः । ४ ।

३—तुल्याभिषेध-भिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लक्षणानुप्रासः ॥ ५ ॥

तीनों अनुप्रासों तथा यमक का अन्तर बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—‘व्यंजनमात्रसमुदायमध्यगतं स्वरव्यंजनसमुदायसाम्यमेकाक्षरव्यापि छेकानुप्रासः । शुद्धं बहुक्षरमस्याक्षरं वा नियतस्थानं यमकम् । अनेकद्विधाभावे नियतस्थानगतमपि वृत्तनुप्रास इति भेदः ।’

अप्यदाक्षित, पण्डितराल तथा विश्वेश्वर ने शब्दालंकारों का निरूपण नहीं किया ।

चिमांशिनी

एवं व्यंजनमात्राश्रयमलंकारद्वयं लक्षयित्वा स्वरव्यंजनाश्रयं यमकं लक्षयति—
स्वरेत्यादि ।

इस प्रकार व्यंजनमात्र पर निर्भर दोनों अलंकारों के लक्षण निश्चित किए । अब स्वरव्यंजनाश्रित यमक का लक्षण करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ७] स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम् ॥

अत्र क्वचिद्भिन्नार्थत्वं क्वचिदभिन्नार्थत्वं क्वचिदेकस्थानार्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम् । यथा—

यो यः पश्यति तन्नेत्रे रुचिरे वनजायते ।

तस्य तस्यान्यनेत्रेषु रुचिरेव न जायते ॥’

इदं सार्थकत्वे । एवमन्यज्ज्ञेयम् ।

[सू० ७] “स्वर [और] व्यंजन [दोनों का] पौनरुक्त्यं यमक [कहलाता है] ।”

[वृत्ति] इसमें [पुनरुक्त पदों के] अर्थ कहीं भिन्न-भिन्न होते हैं, कहीं अभिन्न और कहीं एक [पद] अर्थरहित रहता है तथा दूसरा सार्थक, इस प्रकार संक्षेप में तीन भेद होते हैं । उदाहरण जैसे—‘यो यः पश्यति’ इत्यादि पं. । [अर्थः—‘जो जो व्यक्ति तुम्हारे वनज (कमल) के समान विशाल और रुचिर नेत्र देखता है उस प्रत्येक में अन्य (घृग आदि अथवा अन्य नायिका) के नेत्रों पर कोई रुचि ही नहीं जागती ।’] यहाँ [‘रुचिरे वनजायते’ पदों की पूर्वाहं और उत्तराहं में आवृत्ति है और दोनों जगह प्रत्येक पद सार्थक है अतः यमक हुआ] सार्थक पदों में । इसी प्रकार अन्य [यमक भी] जान लेने चाहिए ।

विमर्शिनी

एकस्येऽप्युपलक्षणपरम् । अतो धृष्टानां यमकानां क्वचित्सार्धकत्वं निरर्थकत्वं च स्थितं संगृहीतमेव । 'क्वचित्सार्धकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्' इति तु पाठे प्रथममेव भेदद्वयमुक्तं स्याद्य तृतीयः प्रकारः । अतश्च भेदनिर्देशग्रन्थो यथास्थित एव ज्ञेयान् । मञ्जुपत इति । एतच्च कान्यात्मभूतरसचर्वणप्रस्थूहकारित्वाद्यप्रसङ्गयितु न योग्यमिति चिरंतनालंकारवद्य विमज्य छदितमिति भावः । एवं चित्रेऽपि ज्ञेयम् । अन्यदिति । प्रफारद्वयम् । तत्रानर्थकं यथा—

'सरसमन्थरतामरसादरभ्रमरसज्जलया नलिनी मघी ।

जलधिदेवतया सहस्रीं श्रिय स्फुटतरागनरागहृदिर्घी ॥'

अत्र तरागोत्पन्नार्थकम् । अनर्थकत्वसार्धकत्वयोर्यथा—

'साहार साहारं साहारं मुण्ड सज्जमाहारम् ।

सं ताणं सताणं संताणं मोहसतागम् ॥'

अत्र सज्जसाहारमित्यनर्थकम् । अन्यानि तु सार्धकानीनि न कश्चिदोपः ॥

इदं च स्थाननियममन्तरेण न भवति । यदुक्तम्—'पदमनेकार्थमन्तर चावृत्त स्थाननियमे यमकम्' इति । अत एव स्थाननियमाद्यमकमित्यस्यान्वर्थमभिधानम् । स च स्थाननियमो वैचिकी न वास्तवः । यथा—

'मधुपराजिपराजितमानिनीजनमन सुमन सुरभि श्रियम् ।

अमृत चारितवारिजविष्णुर्वा स्फुटितताम्रतसात्रवण जगत् ॥'

अत्राक्षरद्वयानन्तरं यमकविश्यासात्स्थानस्य नियतत्वम् । यथा वा—

'द्विद्याद्भ्याति तव कार्तिकेयः क्षी जितो येन स कार्तिके यः ।

उत्प्रातदन्तो गणनायकस्य स्वामी यदन्यो गणनाय कस्य ॥'

अत्र चार्थद्वये यमकद्वयमिति स्थाननियमो द्विधेवेति भास्यालंकारस्य इति क्वचित् ।

अतश्च—

'श्रु' तरसिकलितरुक्तरसिकलितरुज्जालहरिजालहरिणतमः ।

हरिणतमश्च ततस्तव ततस्तव. श्याघतोराशि' ॥'

इत्यत्र सार्धेऽपि स्वरन्वजनसमुदायपौनरुक्त्यस्य स्थाननियमाभावाद्यमकाभासोऽर्थ घृत्यनुप्रासः ।

एक की अर्थरहिता उपलक्षणमात्र है । उससे बहुत से यमकों में जो किसी की सार्धकता और किसी की अर्थरहिता मिलनी है उसका भी उपादान हो जाना है । 'क्वचित् सार्धक और क्वचित् निरर्थक [यमक]' इस पाठ में प्रारम्भ के दो ही भेद कहे जा सकते हैं [क्योंकि तब सार्धकता और निरर्थकता ये दो भेद उन्हीं के प्रभेद सिद्ध होंगे] तीसरा नहीं, अतः भेदनिर्देश प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थालय का वैसा का वैसा मानना ही अधिक अच्छा है । संक्षेप—मंशिरूप से, अमिप्राय यह कि यमक कान्यात्मा रम की चर्वणा में विन्ध उत्पन्न करना है इसलिये इसका अधिक विस्तार करना उचित नहीं है इसलिये हमको प्राचीन अन्य अलंकारों के समान भेद-प्रभेद करके नहीं बनलाया । चित्र (खड्गवन्धादि) के विषय में भी यही जानना चाहिए । अन्यत् अर्थात् शेष दो प्रकार । इनमें से अर्थरहित का उदाहरण यथा—'सरसमन्थर०' इत्यादि पद्य में 'तराग नराग' शब्द । वह अर्थरहित है [प्रथम तराग शब्द स्फुटतर के 'तर' और आगत के 'आग' के मिश्रण से बना है तथा द्वितीय तराग शब्द आगत के 'त' तथा 'राग' शब्द के

मिलने से । वे सब शब्दांश हैं उनमें अभिधा नहीं, अतः उनका कोई अर्थ नहीं] । [इस पद्य का अर्थ है—'मधुनास में कमलिनी ने जलधिदेवता—समुद्र की देवी के समान शोभा धारण की । वे दोनों 'सरसमन्थरतामरसादरभ्रमरसज्जलया और स्फुटरागतरागरुचि थीं । जलधिदेवता = सरस-मन्थ-रत-अमर-सादर-भ्रम-रसज्-जला (तृतीया एक्वचन में '००जलया') थी अर्थात् सरस = समुद्र का मन्थ = मन्थ अथवा सरस = प्रलयन में पड़े तथा मन्थ = मंथन में रत अमर = देवता, उनके द्वारा सादर = आदरपूर्वक (व्यक्तिविवेक में पाठ है सोदर उसका अर्थ होगा देवताओं के मार्ग = असुर) जो भ्रम = धुमाना सससे रसत् = आवाज करता हुआ है जल जिसका उसकी तृतीया का एक्वचन] ; नलिनी = सरस-मन्थर-तामरस-आदर-भ्रमर-सज्ज-जला अर्थात् सरस = मकरन्द युक्त, मन्थर = कुल-कुल हिल रहे, तामरस = कमल पर है आदर जिसका ऐसे भ्रमरों से, सज्ज = आया हुआ है, जय = राग जिसमें अथवा भ्रमरों में सज्ज है जय जिसके द्वारा । (सोदरपाठ होने पर अर्थ होगा तामरस के उद्गार में) । स्फुटरागतरागरुचि [शब्द यहाँ और मूल हरविजय में प्रथमान्त है और व्यक्तिविवेक में द्वितीयान्त । द्वितीयान्त होने पर यह श्री का विशेषण बनता है तथापि विभक्तिविपर्यय द्वारा नलिनी तथा जलधिदेवता में भी अभिवृत्त हो सकता है] नलिनीपद्म में स्फुटर आगत है रागरुचि (ललौई) जिसमें जलधिदेवतापद्म में स्फुटर आगत है राग (पदारग) रुचि जिनमें श्रीपद्म में स्फुटर आगत है राग (अनुराग, लालरंग की) रुचि जिसमें । अर्धरहित और सार्थक यमकों के योग का उदाहरण यथा—'साहारं साहारम्' इत्यादि प्राकृतगाथा । [इसका संस्कृतछाया निर्णवसागरीय संस्करण में भी नहीं है । गाथा अव्यक्त है]

यहाँ 'सज्जसाहार' यह निरर्थक = अर्धरहित है और शेष सब सार्थक हैं अतः कोई दोष नहीं ।

यह स्थाननियम के विना नहीं होता । जैसा कि [वामन ने] कहा है—'अनेकार्थक [भिन्नार्थक] पदों या केवल अक्षरों की आशुति यमक कहलाती है, यदि स्थाननियम हो—' [का० सू० ४।१।१] । इसीलिए इस अलंकार का नाम भी यमक है क्योंकि इसमें स्थान (चरणों के आदि, मध्य, अन्त भाग] का नियम रहता है, वह अन्वर्थ संज्ञा है । स्थान का यह नियम वास्तविक नहीं, विवक्षाधीन होता है । उदाहरणार्थ—[हरविजय का १।२] 'मधुपराजि०' इत्यादि पद्य । [इसका अर्थ है—'मधुपरी की राजि (पाँतों) द्वारा पराजित कर दिए हैं मानिनी नायिकाओं के मन जिन्होंने ऐसे पुष्पो से सुरभि = सुगन्धित और तिले तथा लालवर्ण की विस्तृत अमराहओं से युक्त जगद ने कमल-विन्दुओं से मुक्त शोभा को धारण किया ।] यहाँ प्रत्येक चरण में प्रथम दो अक्षरों के वाद ही यमक रखा गया है । इस प्रकार यहाँ उसका स्थान निश्चित है । दूसरा उदाहरण जैसे 'छिन्याद् भयात्ति०' इत्यादि पद्य [इसका अर्थः—'तुन्दारी मयात्ति (संभवतः भयात्ति) को वे कार्तिकेय भगवान् नष्ट करें जिन्होंने कार्तिक का चन्द्रमा जीत लिया है और जिससे भिन्न ऐसा स्वामी किसकी गणना में आपणा जिसने गणनायकः (गणेश) का दौत उच्चाट लिया हो ।] इस पद्य में दो यमक हैं (१ कार्तिकेयः कार्तिकेयः तथा २ गणनायकस्य गणनायकस्य) दोनों में स्थाननियम भिन्न है [प्रथम सात वर्णों के बाद आने वाला है और द्वितीय पाँच वर्णों के बाद] अतः [यह समझकर कि इस पद्य में एक ही यमक है] यह नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ [द्वितीय यमक में प्रथम से-दो] अक्षरों की कमी है । इसीलिए 'शुतरसि०' इत्यादि पद्य में स्वरान्वजनसमुदायपौनरुक्त्य [शु-तरसिकलित-रुक्—तरसिकलितरु, जालहरि-जालहरि, हरिणतम-हरिणतम, ततस्तव—ततस्तव] इस प्रकार प्रथम यमक एक अक्षर के बाद आता है किन्तु अन्य सब विना व्यवधान के स्थित हैं । प्रथम ततस्तव के पहिले एक 'व' अवश्य है किन्तु जैसा कोई वर्ण द्वितीय 'ततस्तव' के पहिले नहीं है ।

इस प्रकार यहाँ [आवृत्ति में] स्थाननियम नहीं है यह यमक जैसा प्रतीत होने वाला वस्तुतः वृत्त्यनुप्रास है । [इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ स्पष्ट है, उत्तरार्ध का अर्थ है—इस कारण हे तत = विरतवृत्, स्तव = स्तुतिवाले, जिसकी स्तुति पुष्कलमात्रा में हो रही है, आपका यशोराशि ताम्रगाम् हरिण हो ।]

विमर्श—यमक दण्डी, मामह, वामन, उदमट, रद्रट और मम्मट इन सभी आचार्यों में विविधता के साथ मिलता है । इसका विस्तार मट्टिकान्य आदि में भी द्रष्टव्य है । यह इनका व्यापक है कि इसके लिए उक्त आचार्यों के मूल ग्रन्थ ही देखना चाहिए ।

उक्त आचार्यों के यमक सामान्य लक्षण ये हैं—

दण्डी—आवृत्तिमेव सघातगोचरा यमकं विदुः ।

मामह—ये काल्याणकार में यमकसामान्य का उद्योग नहीं मिलता ।

वामन—पद्मनेकाधर्मशर आद्युक्त स्थाननियमे यमकम् ॥ ३ । १ । १ ।

उदमट—उदमट ने यमक नामक किमी भी अङ्कार का निरूपण नहीं किया । कदाचित् वे यमक को छानुप्रास से अभिन्न मान बैठे हैं ।

रद्रट—तुल्यकृतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम् । पुनरावृत्तिर्यमकम् । [३ । १ । १ ।]

मम्मट—अथै सत्यधर्मिन्नाजा वर्णानां सा पुन इति, यमकम् ।

[सर्वस्व]

[सू० ८] “शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररुढं दोषः ॥”

प्ररुढग्रहणं धक्ष्यमाणप्रभेदधैलक्षण्यार्थम् । यदाहुः—‘शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ।’ इति ।

[सू० ८] शब्द [और] अर्थ [दोनों] का प्ररुढ पौनरुक्त्य दोष होता है ।

[सू०] प्ररुढ शब्द आगे कथित प्रभेद से [इस पौनरुक्त्य का] अन्तर बनलाने के लिए अपनाया गया । जैसा कि [महानुनि अक्षपाद के सप्रदाय में] कहा जाता है—‘शब्द और अर्थ का पुनः फयन पुनरुक्ताख्य दोष होता है अनुवादा को छोड़कर ।’

विमर्दिनी

प्ररुढमिति । यथामासनं विश्रान्ते । यथा—

‘तदन्वये शुद्धमति प्रसूत शुद्धिमधमः ।

दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः शीरनिघातिव ॥’

अत्रेन्दुरिति । अत्रिनेत्रशीरोद्गन्मत्वादिन्दोर्द्वित्वान्नैतत्प्ररुढमिति न कार्यम्, कति समये तथात्वस्याप्रतीतिः । आहुरित्याद्यपादा । अन्यत्रानुवादादिनि । अनुवादे हि शब्दार्थयोः पुनर्वचनं क्रियमाणं न दोषाय । अक्रियमाणं पुनर्दोषाय भवतीति भावः । यथा—

‘उदंति रक्तं सविता रक्त एवास्नमेनि च ।

सपत्नी च विपत्नी च महतामेकरूपता ॥’

अत्र रक्त इति ।

‘शिर शार्व स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः चितिधरं । महीध्रादुच्छ्रितादग्निमधमेश्वापि जलधिम् ।
साधो धो गद्गावद्वयमुपगता नूनमथवा विवेकप्रधानां भवति विनिपातः शतमुत्तः ॥

अत्रार्थपौनरुक्त्येऽपि शब्दस्यापुनर्वचनं प्रतीत्यन्तरजनकत्वाद्दोषः ।

तदेवाप्ररूढमलंकार इत्याह—तात्पर्येत्यादि ।

प्ररूढ अर्थात् जैसा आरम्भ में प्रतीत हो वैसा ही अन्त में भी । उदाहरण [कालिदास का पद्य] उस (वैश्वन्त मनु) के शुद्धियुक्त वंश में अत्यन्त शुद्धियुक्त दिलीप नामक राजेन्दु हुआ जैसे क्षीरसमुद्र में इन्दु । [रघु० १] । यहाँ 'इन्दु' [शब्द और उसका अर्थ दोनों ही पुनरुक्त हैं क्योंकि उनमें आरम्भ से अन्त तक एकरूपता बनी रहती है] इसे यह कहकर अप्ररूढ नहीं बतलाया जा सकता कि चन्द्रमा दो हैं, एक अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न और दूसरा क्षीरसागर से उत्पन्न, क्योंकि कविसमय में चन्द्रमा एक ही प्रसिद्ध है दो नहीं । आहुः = कहा है अर्थात् अक्षपाद मुनि ने । अन्यशानुवादात् = अनुवाद को छोड़कर; अर्थात् अनुवाद में यदि शब्द और अर्थ पुनः कहे जाएँ तो उसमें दोष नहीं; वहाँ पुनः न कहना ही दोष होता है । उदाहरणार्थ—'वदेति सविता०' इत्यादि पद्य में रक्तशब्द [पद्य का अर्थः—दूर्य रक्त हाँ बदेत होता है और रक्त ही इवता है । जो महान् होते हैं वे संपाति और विपत्ति दोनों में एक से रहते हैं।] 'त्वयं से भगवान् शंकर के सिर पर, पशुपति के सिर से पर्वत (हिमाचल) पर, उत्तुङ्ग शैल (हिमालय) से पृथिवी पर, पृथिवी से जलधि में, इस प्रकार नीचे ही नीचे गंगा के समान हम पहुँचते गये, कारण यह कि जो विवेक-ब्रह्म होते हैं उनका सँकटों प्रकार से पतन होता है ।' यहाँ अर्थ तो अवश्य दुबारा (एक ही शिव आदि अर्थ मूल में शब्द और पशुपति आदि तथा अनुवाद में शंकर और पशुपति आदि इन शब्दों से) कहे गए हैं किन्तु शब्द दुबारा नहीं कहे गए, उन्हें बदल दिया गया । इससे आरम्भ में ऐसा कुछ लगता है कि जैसे कोई दूसरा अर्थ बतलाया जा रहा है फलतः यह दोष है । [अनुवाद का उद्देश्य अर्थ तो है ही किसी के शब्दों का अक्षरशः उच्चारण या अनुकरण भी है, किन्तु टीकाकार का उक्त ओर ध्यान नहीं गया । व्यक्तिविवेककार ने इस पर अच्छा विवेचन किया है, यतदर्भ देखिए हमारे हिन्दी अनुवाद के साथ व्यक्तिविवेक पृष्ठ. १६, चौखम्बा संस्करण ।]

'वही [शब्दार्थ पौनरुक्त्य ही] यदि अप्ररूढ होता है तो अलंकार बन जाता है' इसका प्रतिपादन करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ९] 'तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुग्रासः ॥'

तात्पर्यमन्यपरत्वम् । तदेव भिद्यते, न शब्दार्थ-स्वरूपम् । यथा—

ताला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिँ वेपंति ।

रइकिरणाणुगादिआइँ होंति कमलाइँ कमलाइँ ॥'

'द्रूमः कियन्नय कथंचन कालमल्प-

मत्रावजपन्नयने नयने निमील्य ।

हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरसापहत्य

देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥'

इत्यादौ विभक्त्यादेरपौनरुक्त्येऽपि बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्याल्लाटानु-
ग्रासत्वमेव ।

१. हिन्दी का यह वाक्य मूल संस्कृत वाक्य की छाया है अतः इसमें वे सब दोष हैं जो मूल में प्रतीत होते हैं ।

‘काशाः काशा श्यामान्ति सरांसीव सरांसि च ।
चेतांस्याचिक्षिपुर्वूनां निम्नगा निम्नगा इव ॥’

इत्यादायनन्वयेन सद्वास्त्यैकाभिधानलक्षणो न संकरः । अन्योन्यापेक्षया शब्दार्थगतत्वेनार्थमात्रगतत्वेन च व्यवस्थितेर्मिन्नविषयत्वात् ।

‘अनन्वये च शब्दैष्यमौचित्यादानुपपन्निकम् ।
अस्मिस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥’

[सू० १०] तदेवं पौनरुक्त्ये पञ्चालंकाराः ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ।

[सू० ९] ‘किन्तु तारपर्यं के भेद से युक्त [शब्दार्थ पौनरुक्त्य] लाटानुप्रास [नामक अलंकार होता है] ।

[५०] तारपर्यं का अर्थ है अन्यपरता [यहाँ] भेद केवल उसी में रहता है, शब्दार्थ-स्वरूप में नहीं । यथा—

‘तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गुण्यन्ते ।

रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥’

[गुण] गुण तब होते हैं जब वे सहृदयों द्वारा माने जाने हैं । कमल कमल तब बन पाते हैं जब वे सूर्य-किरणों से अनुगृहीत होते हैं ।’

‘किनना कहें, हे कमलपद्मस्तुत्य नयन-वाली ! तुम अपने नयन मींच कर यही थोड़ा समय बिताओ और यह समझो कि—हे तरुण ! देवों का शत्रु मैं उस हेमाम्बुज को बलाघ छिनाकर यह भाया ।’

इत्यादि में [००नयने नयने आदि स्थलों में] विभक्ति आदि का तो पौनरुक्त्य नहीं है [क्योंकि प्रथम नयन बहुव्रीहि के कारण स्त्रीलिंग में है और सरोधन के कारण प्रथमा के एकवचन में जब कि द्वितीय नयन नपुंसकलिंग द्वितीया के द्विवचन में है] तथापि शब्द [विभक्ति आदि की मूल प्रकृति नयन] तथा उनके अर्थों का अधिकांश पुनरुक्त ही है अतः यहाँ लाटानुप्रासत्व ही [मान्य] है ।

[शरत् में] काश काश से ही ध्य रहे हैं और सरोवर सरोवर से । [वर्षा में निम्नगाएँ [नदियाँ] निम्नगामो [नौचों से लगी किरणों] के [ही] समान युवकों के चित्त विगाड रही थीं ।

इत्यादि में लाटानुप्रास का अनन्वय के माय एकनाचक्रानुपवेश स्वर नहीं है क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं । लाटानुप्रास का क्षेत्र है अन्योन्यापेक्षी शब्दार्थयुग्म और अनन्वय का क्षेत्र है केवल अर्थ ।

‘अनन्वय में जो शब्द की पुनरुक्ति होगी है वह इसलिए कि उसके बिना अनन्वय समभव नहीं, अतः वहाँ शब्दपुनरुक्ति [अलंकारत्वप्रयोजक, चमत्कारककारी नहीं] आनुपपन्निक है । जहाँ तक लाटानुप्रासका मन्व्य है इसमें शब्दपुनरुक्ति ही अलंकारत्व-प्रयोजक है ।’

[सू० १०] इस प्रकार पौनरुक्त्य में पाँच अलंकार होते हैं ।

[५०] सुननेमात्र से इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है ।

विमर्शिनी

अन्यपरत्वमिति । एकस्य वाच्यविश्रान्तत्वेऽन्यस्य लक्ष्ये व्यङ्ग्ये वार्थे वाच्य-
विश्रान्तिरित्यर्थः । भिद्यत इति पर्यवसाने । आमुखे हि शब्दवदर्थस्याप्येकत्वेनैवाव-
भासः । अत एवाह—न शब्दार्थत्वरूपमिति । एवं च नायं द्वयोर्वाच्यविश्रान्तत्वेऽनुवाद-
मात्रमलंकारः । नहि दोषाभावमात्रमलंकारस्वरूपम् । एवं हि सत्यपशब्दाद्यभावस्थाप्य-
लंकारत्वप्रसङ्गः । यत्परमादाखुक्तं तत्परमेव पुनर्नोच्यते इत्येव सामान्येन यद्यन्यपरत्व-
मुच्यते तद्विरोधादिवत् 'उदेति रक्तः सविता—' इत्यादौ दोषाभावमात्रत्वेऽप्यलंकारत्वो-
चितस्यान्यपरत्वाख्यस्यातिशयस्यापि भावालंकारत्वप्रसङ्गः । न चैतावतैव कश्चिदतिशयः
प्रतीयत इति यद्योक्तमेव युक्तम् । एकः कमलशब्दो वाच्यपर्यवसितः अन्यश्च सौरभवन्धु-
रत्वाद्यनेकधर्मनिष्ठ इति तापर्यभेदः ।

अन्यपरत्व = अर्थात् एक शब्द के अर्थ को वाच्यरूप में ही विश्रान्ति और दूसरे के अर्थ की लक्ष्य या व्यङ्ग्य अर्थ में । भिद्यते = भिन्न होता है अर्थात् पर्यवसान (अन्त) में । आरम्भ में तो शब्द के समान अर्थ भी एक से ही प्रतीत होते हैं । इसीलिए कहा 'न शब्दार्थस्वरूपम्' । इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि यदि दोनों वाच्यार्थों में ही ठहर जाएँ तो वह अनुवादमात्र (उद्देश्यमात्र या पुनःकथनमात्र) होता है अलंकार नहीं । [वहाँ पुनः कथन न करना दोष होता है अतः पुनः कथन दोषाभावस्वरूप और] दोषाभावमात्र को अलंकार नहीं माना जा सकता । यदि दोषाभाव को ही अलंकार माना जाय तो अपशब्द भादि के अभाव को भी अलंकार मानना पड़ेगा । जो शब्द जिस अर्थ के लिए एक बार बोला जाता है वह दूसरी बार भी उसी अर्थ के लिए नहीं बोला जाता, इसी को यदि सामान्यतः अन्यपरता कहा जाता है तो विरोध भादि अलंकारों के समान 'उदेति रक्तः सविता' इत्यादि त्थलों में पुनरुक्ति को दोषाभावमात्र मानने पर भी और उसमें अलंकारत्वनिष्पादक अन्यपरत्वरूप विशिष्ट तत्त्व का अस्तित्व मानने पर भी भावनामक अलंकार होगा, लाटानुप्रास नहीं [अतः लाटानुप्रास में अन्यपरत्व के साथ शब्दार्थस्वरूप में अभेद भी रहना आवश्यक है] । केवल इतने [अन्यपरत्वमात्र] से ही कोई अतिशय (वैशिष्ट्य) प्रतीत नहीं होता अतः [ग्रन्थकार ने] जो कहा है [अन्यपरत्व और शब्दार्थस्वरूपाभेद से दो विशेषताएँ लाटानुप्रास के लिए आवश्यक बतलाई हैं] वह [उसी रूप में] ठीक है । 'कमलानि कमलानि' में एक [प्रथम] कमलशब्द वाच्यरूप में ही पर्यवसित होता है और दूसरा [द्वितीय] सौरभ, सौन्दर्य या खिली पंखुड़ियों की उतार-चढ़ावदार शोभा भादि अनेक धर्मों का प्रतिपादन करता है । अतः वहाँ दोनों कमलशब्दों के तात्पर्यमात्र में भेद है । [इसीको ध्वनिवादियों ने अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि कहा है] ।

विमर्श—इस प्रकरण में 'त्रुमः कियत्' इत्यादि पूर्ण पद्य मूल न मानकर डॉ० रामबन्धु द्विवेदी ने अनेक पाण्डुग्रन्थों के आधार पर इसके केवल द्वितीय चरण 'अत्राञ्ज' इत्यादि को ही मूल माना है । निर्णयसागरीय संस्करण में पूर्ण पद्य के साथ अन्त में यह द्वितीयचरण भी 'त्रुमः-हम्'अत्राञ्जपत्रनयने नयने निर्मित्य इत्यादी—इस प्रकार दिया हुआ है । डॉ० द्विवेदी ने 'काशाः काशा इव' इत्यादि पद्य का भी 'काशाः काशा इव' इतना ही अंश मूल माना है । निर्णयसागरीय संस्करण में वह भी पूर्ण है किन्तु वहाँ भी पादटिप्पणियों में एक प्रति में 'काशाः काशा इव' इतना ही मिलने का उल्लेख है । विमर्शिनोकार ने 'त्रुम' इत्यादि पद्य के चारों चरण नहीं तो कम से कम प्रथम दो चरण तो मूल अवश्य माने हैं क्योंकि उन्होंने प्रतीक दिया है प्रथम चरण का 'त्रुमः कियदिति' इस प्रकार । हमने इसी टीका के अनुसार मूल रखकर निर्णयसागरीय संस्करण में पुनः आप द्वितीय चरण को हटा दिया है । वह आवश्यक था ।

यद्यपि लाटानुप्रास के लिए द्वितीय और तृतीय पद्य के उपादेय अंश केवल 'अञ्जपन्ननयने नयने' और 'काशा. काशा इव' ये ही हैं और ग्रन्थकार को भी केवल इतना ही प्रतिपादित करना है, माना जाय या नहीं, विशिष्टस्थिति में लाटानुप्रास उदर्यं उनसे अधिक पूर्ण श्लोकों की आवश्यकता नहीं है, तथापि काव्य के भीतर लाटानुप्रास किना चमत्कार लाता यह जानने के लिए यहाँ पूर्ण पद्य ही उपादेय है। टीकाकार यदि उनकी व्याख्या न करें तो उससे मूल में पूर्ण पद्य का अभाव नहीं माना जा सकता। टीकाकार श्लोक को व्याख्या भी कर यह आवश्यक नहीं है। सर्जाविनी और विमर्शिनी दोनों में श्लोकों का व्याख्या नहीं के बराबर है।

शृङ्गार ने अनन्वय और लाटानुप्रास के क्षेत्रभेद पर जो प्रश्न प्रस्तुत किया है उसका समाधान इतना ही है कि अनन्वय में पदों की आवृत्तिमात्र आवश्यक है, यह नहीं कि दोनों पद एक साथ रखे जावें। 'काशा भान्ति यथा काशा' ऐसा कहने पर भी अनन्वय की निष्पत्ति समभव है। लाटानुप्रास केवल नमी हो सकेगा जब दोनों काशपदों को एक साथ रखा जाय। अनन्वय में यह आवश्यक नहीं है कि पुनः कश्चिन् पद में अनिश्चय भी प्रणीत हो। लाटानुप्रास में वही प्रधान है। उसके बिना लाटानुप्रास में अल्पाकारत्व नहीं आता। अनन्वय में चमत्कार का कारण है द्वितीयमदृश्यवच्छेद। 'अमुक के समान अमुक ही है' कहने से प्रणीत होना है कि उसके समान दूसरा और नहीं है। यही है द्वितीयमदृश्यवच्छेद। इसी को लेकर अनन्वय उपमा और उपमेयोपमा से अङ्ग होना है। लाटानुप्रास में तात्पर्यनेदानुगत पदपुनरुक्ति ही चमत्कारकारक होता है। 'काशा काशा इव' पद्य में लाटानुप्रास मानना चाहिए या अनन्वय इस प्रश्न का समाधान केवल यह देखकर करना उचित है कि क्या यहाँ द्वितीय काशादि शब्द उसी प्रकार अतिशययुक्त काशादि अर्थ के वाचक हैं जिन प्रकार 'कमलानि कमलानि' में द्वितीय कमल। यदि नहीं तो यहाँ अनन्वय ही है। दो दो काश आदि पदों के एकसाथ प्रयुक्त हो जाने मात्र से यहाँ लाटानुप्रास समभव नहीं है।

विमर्शिनी

ममः कियदिति । अत्र अञ्जपन्ननयने लाटानुप्रासस्त्वमेवेति शिष्यम् । अत्र हि द्वयोरपि नयनशब्दयोर्वाच्यविश्रान्तरवाङ्मयपरत्वात्तावाप्राप्ति तात्पर्यभेदः । स एव हास्य जीवितम् । अग्न्याया ह्यनुप्रासमात्रत्वं स्यात्प्रालंकारत्वम् । अद्यापि केवलनयनशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तिः संसर्गपदान्तर्गतस्य पुनः स्वार्थमुपसर्जनीयस्य संज्ञितमिदधतश्च स्वार्थस्याप्राप्त्यर्थे च शृङ्गारस्यैव लक्ष्यनिष्ठत्वमिति चेत्, नैतत् । लक्षणासामप्रयभावात् । अत्र हास्यपदार्थप्रधानत्वाद्नयनशब्दस्य गुणीभावः, न मुख्यार्थयाधः । स्वार्थ एव विश्रान्तेः । न च गुणीभावमुख्यार्थयाधयोरेकत्वम् । संतो हि मुख्यार्थस्य कंचिदपेक्ष्य गुणीभावः । वाच्यं पुन स्वस्मिन्नेवाविश्रान्तिरित्यनयोर्महान् भेदः । नाप्यत्र किंचिन्प्रयोजनं न वा रुढिरियमित्येतत्पौनरुक्त्यभावात् । एवम् ।

'सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार घर्णिघर कीर्ति ।

पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम् । चमत्कारस्त्वत्रानुप्रासरूपोऽप्रसेयः । नचनन्वयेऽपि शब्दपौनरुक्त्यं द्रव्यत इति तत्रापि क्रियमेवालंकारः क्रिमु स एतेत्यादाङ्ग्याह—अनन्वय इत्यादि । आनुप्रासिकमिति । न पुनः साक्षात्प्रयोजकमित्यर्थः । शब्दैक्यं विनाप्यनन्वयस्य प्रतिपादनात् । अत्र हि शब्दैक्यं द्विचिदक्रियमागमनौचित्यमावहति क्वचिन्नेति भावः । तत्त यथा—

‘यच्चतुर्जगतां सहस्रकरवद्धाम्नां च धामार्कव-

न्मोच्छारमपावृतं च रविवद् ध्वान्तान्तकृत् सूर्यवत् ।

आत्मा सर्वशरीरिणां सवितृवत् तिग्मांशुवत् कालकृत्

सार्ध्यां नः स गिरं ददातु विनकृद् योन्वैरतुल्योपमः ॥’

अत्र सहस्रकरादयोऽन्य इवाभासमाना अनन्वयप्रतीतिं विघ्नयन्तीति शब्दैक्या-
भावोऽनौचित्यमावहति, न पुनरनन्वयस्याभावम् ।

‘स्थैर्याद् भूर्व्यापकत्वाद् विद्यदखिलजगत्प्राणभावात्तमस्वान्

भास्वान् विश्वप्रकाशाद्युगपदपि तुधामूतिराह्लादनाच्च ।

घङ्किः संहारकर्त्ताऽऽलम्बितलज्जनाप्यायनाञ्चोपमानं

सत्यात्मत्वेऽपि यस्य प्रभवतु भवतां खोऽष्टमूर्तिः शिषाय ॥’

अत्र निर्विघ्नमेवानन्वयस्य प्रतीतेः शब्दैक्यभावो नानौचित्यावहः । तुशब्दो घृति-
रेके । साहाय्यिति । शब्दैक्यं विनास्थानुत्थानात् ।

एतदेवोपसंहरति—तदेवमित्यादि । पुन र्कवदाभासमर्थपौनरुक्त्याश्रितं, छेकानुप्रासा-
द्यत्यस्यः शब्दपौनरुक्त्याश्रयाः । लाटानुप्रासस्त्वभयाश्रित इति पञ्च पौनरुक्त्याश्रिता अलं-
काराः । यद्यप्युक्तेः शब्दार्थगतत्वेनोच्चरणाभिधानतया भेदात् सामान्याभावात् कस्य पञ्च-
प्रकारस्यं तथापि तस्या ह्ययोरप्यनुगमादेः फल्येन प्रतीतेरुक्तिसामान्यनियन्धनमेव प्रकारि-
प्रकारभाववचनम् । यद्यार्थभेदेन शब्दस्यापि भिन्नत्वं तद्वास्तवम् । प्रतीतावेकतयैवा-
वभासात् । अत एवानेकार्थवर्गादिष्वपि तथात्वेनैव व्यवहारः ।

‘श्रमः कियत्’ इति [पद्य] में (अथ शब्द भी पुनरुक्त नहीं है अतः यहाँ अलंकार में)
लाटानुप्रासत्व ही है’ यह विचारणीय है । यहाँ दोनों ही नयन शब्द अन्ततः वाक्यार्थमात्र तक
ही सीमित रहते हैं । उनमें तात्पर्यभेद नहीं है । और वही [तात्पर्य भेद] तो लाटानुप्रास का
प्राण है । उसके बिना यह ‘ लाटानुप्रास) अनुप्रासमात्र होगा, अलंकार नहीं । इतने पर भी यह
कहा जा सकता है कि यहाँ जो नयनशब्द स्वतन्त्ररूप से (समास से अलग) प्रयुक्त है वह अपने
वाच्य अर्थ तक ही सीमित रहता है, किन्तु जो नयनशब्द ‘अञ्जनयने’ इस प्रकार बहुव्रीहि समास
में आए पद के साथ है उसमें उसका वाक्यार्थ अप्रधान है और प्रधान है (बहुव्रीहि का अन्य
पुरुष) नायिकारूपी अर्थ । इस प्रकार यह नयनशब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरे नायिकारूपी
अर्थ में पर्यवसित होता, फलतः इस नयनशब्द में तो [वाच्येतर] लक्ष्य अर्थ के प्रति परायणता
दिखलाई देती है । किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ लक्षणा के लिए अपेक्षित (मुख्यार्थ-
बाध आदि कारण—) सामग्री नहीं है । यहाँ बहुव्रीहि में अन्यपुरुष की प्रधानता रहती है
इसलिए नयनशब्द अप्रधान अवश्य है किन्तु उसके वाच्य अर्थ का बाध नहीं है इसलिए वह
(नयनशब्द) अपने (वाच्य) अर्थ में ही पर्यवसित होता है । ऐसा थोड़े ही है कि अप्रधानता
और मुख्यार्थबाध अभिन्न हों । जो मुख्य अर्थ बदलता नहीं उसमें किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा
अप्रधानता आती है । बाध कहलाता है उसका अपने अर्थ में पर्यवसित न होना (अपने अर्थ का
वाक्यार्थबोध तक अपरिवर्तित न रह सकना) इस प्रकार, अप्रधानता और बाध में बहुत अन्तर है ।
फिर यहाँ न तो लक्षणा के लिए अपेक्षित प्रयोजन ही है और न रूढि ही । अतः ‘नयने नयने’ यह
पौनरुक्त्यमात्र है (अलंकार नहीं) । यही बात ‘हि विभाकर [सूत्र] के समान, है धरणिधर
सितकर-कर-रुचिर-विमा (सितकर = चन्द्र उसके कर = किरण उनके समान रुचिर = सुन्दर
विमा=कान्तिबाला] कीर्ति तथा पौरुषकमला (पौरुष ही है कमल = वास्तव्यमान जित-वे लहरती)

कमला (लक्ष्मी) भी तुम्हारे ही पास है अन्य किन्हीं के पास नहीं !' इत्यादि स्थलों में भी है ।
यहाँ जो चमत्कार है उसका कारण अनुप्रास ही मानना चाहिए ।

प्रश्न उठता कि 'शब्दपौनरुक्त्य अनन्वय में भी रहना है, वहाँ छायानुप्रास मानना चाहिए या अनन्वय 'इस पर उत्तर देने हुए कहा अनन्वय इत्यादि' आनुषंगिक अर्थात् माशाव प्रयोजक नहीं । क्योंकि अनन्वय शब्दैक्य के बिना भी प्रतिपादित किया गया है । हम (अनन्वय) में कहीं तो शब्दैक्य न रखने से दोष आ जाता है कहीं नहीं । यथा 'बह दिनट्टव सूर्य' हमें साधु-बाणी प्रदान करे जो सहस्रकर (सूर्य) के समान जगत् का चक्षु है, अर्क (सूर्य) के समान धाम (प्रकाश, तेज) का धाम है, रवि (सूर्य) के समान सुम्ना हुआ मोक्षद्वार है, सूर्य के समान ध्वान्त (अन्धकार, अज्ञान) का अन्त करने वाला है, सविता (सूर्य) के समान सभी शरीरधारियों के लिए आत्मा है [और] तिग्माशु [नाह्य किरणों वाले सूर्य] के समान काल [समय] का निर्माता है' । यहाँ [एक ही सूर्य के लिए] जो सहस्रकर आदि (भिन्न-भिन्न) शब्दों का प्रयोग किया गया है, जमें ऐसा प्रतीत होना कि कदाचित् उपमान और उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं फलतः वे अनन्वय के चमत्कार में विघ्न बन जाते हैं, इसलिए यहाँ शब्दैक्य के अभाव से अनौचित्यभात्र आता है अनन्वय का अभाव नहीं ।

'वे भगवान् अष्टमूर्ति [पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा चैतन्य] आपका कल्याण करें जिनके लिए स्वयं उन्हीं की सातों मूर्तियों एकमात्र उपमान हैं, स्वयं के कारण पृथिवी (तनका उपमान है), व्यापकता के कारण आकाश, निम्निल जगत् के प्राण होने के कारण वायु, विश्वमात्र को प्रकाशित करने के कारण सूर्य [विश्वमात्र को] आह्लादिन करने के कारण चन्द्रमा (सुधामूर्ति), महारक होने के कारण बहि और अस्मिन्न जगत् को आन्वयित करने के कारण जल ।' यहाँ अनन्वय की प्रतीति बिना विघ्न के ही जाती है अतः यहाँ शब्दैक्य का अभाव दोषावह नहीं है ।

तु-शब्द भेदप्रत्यायक है । साक्षात् अर्थात् हम [सायानुप्रास] का अलङ्कारत्व ही शब्दैक्य के बिना संभव नहीं होगा ।

हर्माका उपमहार करते हैं—तदेवम् पुनरुक्तवदाभाम अर्थपौनरुक्त्य पर निर्भर है और छेका-नुप्रास आदि तीन [आदि पद से वृत्त्यनुप्रास और वचक] शब्दपौनरुक्त्य पर । छायानुप्रास जो है सो दोनों (३-व्याप्यभय) के पौनरुक्त्य पर निर्भर रहता है । इस प्रकार पौनरुक्त्य पर निर्भर रहने वाले पाँच अलङ्कार हुए ।

यद्यपि [पुनरुक्ति में जो] उक्ति तत्त्व [है वह] शब्द में उच्चारणस्वरूप होता है और अर्थ में अभिधान—[अभिगृहीत द्वारा प्रतिपादन]—स्वरूप, इसलिए दोनों में भेद रहता है, स्वरूपना नहीं, इसलिए पाँचों स्वतन्त्र अलङ्कार ही सकते हैं [किसी एक के पाँच भेद नहीं हो सकते] तथापि उक्ति उक्तिवत् दोनों प्रकार की उक्तियों में समान है अतः उन दोनों उक्तियों में प्रतीति अभेद की ही होनी है फलतः यह जो प्रकारप्रकारिभाव [प्रकार-भेद, प्रकारी = भेदवाला] सन्ध है वह केवल भामान्य उक्ति पर निर्भर है । यह जो कहा जाता है कि अर्थ में भेद होने से शब्द में भी भेद ही जाता है, अवास्तविक है, क्योंकि प्रतीति में तो स्वरूपना ही भागिन होती है । इसलिए कोषों के अनेकार्थ वर्ग आदि अर्थों में (अर्थ अनेक होने पर भी शब्द को) वैना (एक और अभिन्न) ही मानने का प्रचलन है ।

विमर्श—'स्यैवाद् भू०' इत्यादि पद्य में टोकाकार ने जो अनन्वय माना है वह विचारणीय है । पद्य में अष्टमूर्ति भगवान् की सात मूर्तियों का उनकी अष्टमूर्ति के साथ उपमानोपमेयभाव बनलाया गया है । अतः अष्टमूर्तिस्वरूप शिव उद्देश्य मित्र होने हैं और अन्यमूर्तिस्वरूप शिव उपमान । इस प्रकार 'अनुहरति शुभ्र तस्या वामार्थं दक्षिणार्थं' = 'उस सुन्दरी का वामार्थ उन्नी के दक्षिणार्थ का अनुकरण करता है' इस पद्य में वैने नायिका के एक ही होने पर भी अर्थों में

वामत्व और दक्षिणत्व का भेद हो जाने से उपमान और उपमेय दोनों में अभेद की प्रतीति नहीं होती और उससे अनन्वय सिद्ध नहीं हो पाता उसी प्रकार यहाँ भी शिव के अभिन्न होने पर भी उनकी मूर्तियों में परस्पर भेद होने से उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति नहीं होती, फलतः यहाँ भी अनन्वय सिद्ध नहीं होता ।

यदि यह कहा जाय कि यहाँ अष्टम यजमान या चैतन्यमूर्ति उपमेय न होकर अष्टमूर्ति ही उपमेय है और प्रत्येक मूर्ति उसकी ही एक-एक इकाई है, फलतः उनसे अभेद की प्रतीति और ततः अनन्वय असंभव नहीं, तब भी निर्वाह नहीं क्योंकि अष्टमूर्ति सामान्यस्वरूप का वाचक शब्द है और भू आदि विशेषस्वरूप के वाचक । सामान्य और विशेष अभिन्न भवद्वय होते हैं किन्तु उनमें भेदप्रतीति नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ अनन्वय की ध्वनि कदाचित् संभव है क्योंकि केवल साठ मूर्तियों में अपना-अपना औपम्य बतलाने से यह प्रतीति होता है कि अष्टम आत्ममूर्ति का कोई उपमान नहीं है । [सूक्ष्म विवेचन के लिए देखिए रससंग्राह्य का अनन्वय प्रकरण] । सब कुछ के बाद यहाँ यदि अभेद-प्रतीति मान ली जाय तो यह तो नहीं माना जा सकता कि यहाँ भिन्न शब्द प्रयोग से जनितभेदप्रतीति अनन्वयनिष्पत्ति में बाधा नहीं डालता । 'आत्मा होने पर भू आदि ही उपमान बन पाते हैं' इस प्रकार आत्मत्व के प्रतिपादन से भेदप्रतीति अवश्य ही दुर्बल हो जाती है । संजीविनीकार ने लाटानुप्रास और अनन्वय का भेद इस प्रकार संगृहीत किया है—

‘यत्र सावेव शब्दार्थौ तात्पर्यं तु विभिद्यते ।
तत् पौनरुक्त्यमाचार्यैर्लाटानुप्रास इच्यते ॥
दोषोपात्तिमयादेव शब्दैक्यं स्यादनन्वये ।
अस्मिन्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम् ॥’

अर्थात् जहाँ शब्द और अर्थ वे ही हों किन्तु तात्पर्य में भेद हो उस पौनरुक्त्य को आचार्य-गण लाटानुप्रास मानते हैं । अनन्वय में शब्द की एकता दोषोपात्ति के भय से होती है, जबकि लाटानुप्रास में वह लक्षण ही है ।

संजीविनीकार ने 'अव्ययनयने नयने' में प्रथम नयनशब्द को बहुव्रीहि के कारण अन्य पदार्थपरक मानकर लाटानुप्रास मान लिया है ।

[सर्वस्व]

[सू० ११] वर्णानां खङ्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम् ॥

पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रचयनम् । यद्यपि लिप्यक्षराणां खङ्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत-वर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारोऽयम् । आदि-ग्रहणाद् यथाव्युत्पत्तिसंभवं पञ्चवन्धादिपरिग्रहः । यथा—

‘भासते प्रतिभासार रसाभावा ह्वाविभा ।

भावितात्माशुभावादे देवाभा वत ते समा ॥’

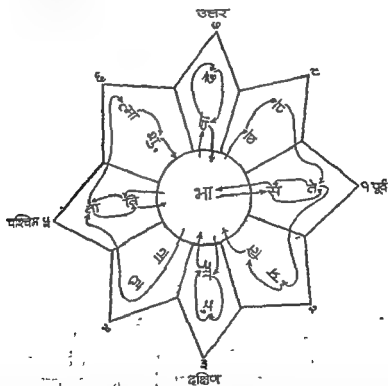
एषोऽष्टदलपद्मबन्धः । अत्र दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां श्लिष्टाक्षर-
त्वम् । विदिग्दलेषु त्वन्यथा । कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव ।

[सू० ११] 'जहाँ वर्ण खट्ग आदि के आकार को जन्म दें उमे धिन्न [अलंकार] कहते हैं ।'

[वृ०] पौनरुच्य के प्रथम में [उमड़े तुरत बाद] चित्रालंकार का निरूपण इसलिये किया जा रहा है कि इसमें भी [गजन, कपालिका, कुण्डिका आदि] विशिष्ट-विशिष्ट स्थानों में श्लिष्ट वर्णों का पौनरुच्य रहना है ।

यद्यपि यद् आदि के आकार से तुक केवल लिपे में लिखे अक्षर होते हैं तथापि हम अलंकार को वाचक शब्दों का अलंकार मान लिया जाता है कारण कि लिप्यक्षरों का शोभाकाश में समवेत [सनवाय सवन्ध से विद्यमान] वर्णात्मक शब्दों से अमंद प्रतीत होता है ।

आदि शब्द के ग्रहण से चुरपत्ति के अनुसार वयासंभव पद्यव-धादि का मय्यह हो जाता है । यथा—'भामते प्रतिभासार०' इत्यादि पद्य अष्टदलपद्यवन्ध का उदाहरण है ।



[रहोकार्य] [प्रतिभासार] प्रतिभा ही है सार = बल विमका ऐसे हे राजन् [ते] आपको समा [वन] भली भाँति [भासते] भासिन हो रही है । वह [रसागाता शृंगार आदि रसों से सुशोभित है, उसने [हताप्रविभा] अविभा = व्यामोह को [हत] दूर कर दिया है, [भावित्वात्मा] उसका स्वरूप परिवर्तित है, वह [वादे शुभा] वादों में शुभ है अतः [देवामा] देव [समा] सुख्य है ।'

यहाँ दिग्दलों में प्रवेश तथा निर्गम के क्रम से अक्षर दिग्दल है । विदिग्दलों में स्थिति उत्तरे, दक्षिणे, पश्चिमे, पूर्वमे है ।

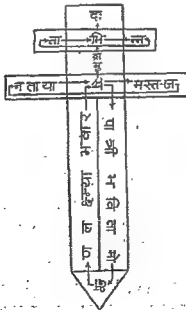
विमर्शिनी

वर्णानामित्यादि । उच्चारणकाले स्थानविशेषश्लिष्टवर्णात्मकसङ्घादिसंनिवेशस्याभावात्-
पौनरुक्त्यप्रतीतिनात्रेति किमाश्रयोऽयमलंकार इत्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादि । लिप्युच्चारणं
मपीन्द्रिरूपानां श्रूयमाणतासतत्त्ववर्णशब्दाभेदप्रतिपत्त्या औपचारिकोऽयं शब्दालंकार
इति तात्पर्यार्थः । आदिग्रहणं सफलयितुं पञ्चवन्धेनोदाहरति—भासतेत्यादि । खड्गवन्धः
पुनर्यथा—

‘स पात्रीभविता मोघच्छणलक्ष्म्या भवारसः ।
समस्तजनतायाससमुद्राभिन्नताभिदः ॥’

दिलष्टमेवेति । भष्टदिक्षमपि निर्गमप्रवेशयोः ।

उच्चारण के समय विशिष्ट स्थानों में श्लिष्ट जो वर्ण तत्त्वस्वर खड्ग आदि के आकार का
अभाव रहता है अतः यहाँ पौनरुक्त्य की प्रतीति नहीं होती अतः यह जिज्ञासा होती है कि यह
अलंकार किसके आसरे रहता है । [इस जिज्ञासा और] इस [के उत्तर] के लिए लिखा ‘यद्यपि०’
इत्यादि । तात्पर्य यह कि लिपि के अक्षर स्याहों को बूंद होते हैं । उनके साथ सुनार्ह देने वाले
वर्णों से अभिन्न शब्दों को अभेदप्रतीति होती है । उसी के आधार पर इस [विश] को लाक्षणिक
रूप से शब्दालंकार कहा जाता है । आदिशब्द को सफल करने के लिए [नीचे के] उदाहरण
के रूप में पञ्चवन्ध प्रस्तुत करते हैं ‘भासते०’ इत्यादि । खड्गवन्ध का उदाहरण यह है ‘स
पात्रीभविता०’ ॥



[श्लोकार्थः =] [भवारस] भव = [संसार, वस] के रस से रहित [अरस] वह समस्त
जनता के आयासरूपी समुद्र को अभिन्नता छोड़ने वाली गोलक्षेत्र की लक्ष्मी का पात्र बनेगा ।

श्लिष्टमेव अर्थात् आठों दिशाओं में प्रवेश करते और निकलते समय भी ।

विमर्श—श्रीविद्याचक्रवर्ती ने सजीविनी में पद्यबन्ध और राङ्गबन्धों का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—

‘अथाय निष्कर्ष —

‘कर्णिकाया लिपिरेक द्वा द्वौ दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु पद्यबन्धो भवेदयम् ॥
आरोप्य लिपिवर्णाना साम्याद् वाचकवर्णतान् ।
राङ्गबन्धादिरु चित्रं कान्द्यालङ्कार इष्यते ॥’ इति ।

अर्थात् = कर्णिका में प्रथम एक अक्षर लिखाकर दिशाओं और विदिशाओं में दो-दो अक्षर लिखे जायें और प्रवेश तथा निर्गम केवल दिशाओं में रहें तो उनसे पद्यबन्ध बनता है ।

‘साम्य के आधार पर लिपिवर्णों के ऊपर वाचकवर्णों का आरोप करने से काव्य में राङ्गबन्ध आदि [चित्र] को अलङ्कार मान लिया जाता है ।

सजीविनीकार ने यहाँ तक के सभी अलङ्कारों को शब्दालङ्कार कहा है । इस प्रकार के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की पुष्पिका दी है—‘इति श्रीविद्याचक्रवर्तिनः कृमौ अलङ्कारसर्वस्वसंजीविन्या शब्दालङ्कारप्रकरणम् ।’

अगले प्रकरण का आरम्भ उन्होंने इन शब्दों से किया है ‘अथ अर्थालङ्काराः ।’ हमने स्पष्ट है कि सजीविनीकार पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालङ्कार ही मानने हैं । वृत्तिकार से पुनरुक्तवदाभास को जहाँ अर्थालङ्कार कहा है वहाँ सजीविनीकार ने ऊपर कोई विचार नहीं किया है । मद्राचिद ने उसे उपेक्षणीय मानने हैं ।

इतिहास—चित्रबन्ध का समग्र प्रथम दृष्टी ने किया है । इनके पश्चात् चित्रबन्ध रदट और मन्दत में ही मिलने हैं । मध्यवर्ती भामह, वामन और उद्भट के काव्यालङ्कारों में इनका अभाव है ।

[सर्वस्व]

[सू० १२] उपमानोपमेययोः साधर्म्यं भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा ॥

अर्थालङ्कारप्रकरणमिदम् । उपमानोपमेययोरित्यप्रतीतोपमानोपमेयनि-
पेधार्यम् । साधर्म्यं त्रयः प्रकाराः । भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत् । अभेदप्रा-
धान्यं रूपकादिवत् । द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् । यदाहुः—‘यत्र किञ्चित्सा-
मान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः’ इति । उपमैवानेकप्रकार-
वैचित्र्येणानेकालङ्कारवीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टम् । अस्याश्च पूर्णालुप्तात्व-
भेदाधिरन्तर्नैर्यद्विधत्त्वमुक्तम् । तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितयैक-
रूप्येण निर्देशः, क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः । पृथङ्निर्देशो च
संबन्धिभेदमात्रं प्रतिवस्तूपमावत्, विम्बप्रतिविम्बभावो वा दृष्टान्तवत् ।
क्रमेणोदाहरणम्—

‘प्रमामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तथा स पूतश्च धिभूपितश्च ॥’

‘यान्या मुहुर्वलितकंधरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विपेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥’

अत्र वलितत्वावृत्तत्वे संचन्धिभेदाद्भिचे । घर्म्यभिप्रायेण तु विम्वप्रति-
विम्वत्वमेव ।

‘पाण्ड्योऽयमंसार्षितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन ।

आभाति चालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥’

अत्र हाराङ्गरागयोर्निर्झरचालातपौ प्रतिविम्वत्वेन निर्दिष्टौ ।

[सू० १२] ‘उपमान और उपमेय का समानधर्म के साथ ऐसा संबन्ध जिसमें भेद और
अभेद [प्रधान या अग्रधान न होकर] समान हों उपमा [नामक अलंकार],
कहलाता है ।’

[६०] यह प्रकरण अर्थालंकार का है । [साधर्म्य केवल उपमानोपमेय का ही होता है
कार्यकारण आदि का नहीं तथापि सूत्र में उपमानोपमेय का शब्दतः कथन अप्रतीत उपमान और
वैसे ही उपमेय के निषेध के लिए किया गया है । साधर्म्य में तीन भेद होते हैं [एक वह] जिसमें
भेद की प्रधानता रहती है जैसे व्यतिरेक आदि में, [दूसरा वह] जिसमें अभेद की प्रधानता रहती
है जैसे रूपकादि में [तीसरा वह] जिसमें दोनों की समानता रहती है जैसे इसी उपमा में । जैसा कि.
[भाष्यकार आदि ने] कहा है—‘सदृशता = उपमा का विषय [स्थल] वह होता है जहां कुछ
[सामान्य—] समानता [साधर्म्य अभेद] और कुछ [विशेष—] असमानता [वैधर्म्य-
भेद] रहे ।’

[यद्यपि प्राचीन आचार्यों में भामह और उद्भट ने अर्थालंकार का निरूपण रूपक से आरम्भ
किया है और रुद्रट ने सहोक्ति से तथापि] ग्रंथकार ने (वामन के समान) उपमा का ही निरू-
पण पहले किया यह इसलिए कि [वामन के ही समान उर्ध्वाने भी यह माना है कि] उपमा ही
थोड़े थोड़े से अन्तर को लेकर अनेक अलंकारों में बीच का काम करती है ।

[वामन, उद्भट और मम्मट] ने इसे पूर्ण और लुप्ता इन दो भागों में बाँटा है और उनके
भी अनेक [उद्भट ने १७, मम्मट ने २५] भेद बतलाये हैं, [भामह और रुद्रट में वे भेद नहीं
हैं] तथापि [कुछ और भी मार्मिक भेद किए जा सकते हैं तथा] कहीं साधारण धर्म [एक शब्द से
कहे जाने पर भी] अनुगामी (उपमेय और उपमान दोनों में वे-रूपावट छागू होने वाला) होता
है अतः उसे एक ही रूप में [एक ही शब्द से] प्रस्तुत किया जाता है किन्तु कहीं (वह अनुगामी
नहीं होता एक शब्द से नहीं कहा जाता और) नस्तुप्रतिवस्तु-स्वरूप (एक होने पर भी भिन्न-
भिन्न शब्दों से पृथक् पृथक् प्रतिपादित फलतः भिन्न प्रतीत होने वाला) रहता है अतः भिन्न-
भिन्न रूपों में (पृथक् पृथक् शब्दों से) प्रस्तुत किया जाता है । जहाँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रति-
पादित किया जाता है वहाँ भेद केवल सम्बन्धियों (उपमानोपमेयों) में रहता है (धर्म में नहीं)
या तो (वहाँ साधारणधर्म में) निव्वप्रतिविन्वभाव (भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण
(अभेदज्ञान) रहता है । (दोनों के) एक-एक करके उदाहरण— (साधारण धर्म का उपमान और
उपमेय दोनों के लिए एक ही वार उपयोग अर्थात् अनुगामी साधारण धर्म का उदाहरण)—
‘वह पर्वतराज (हिमाचल) उच (नक्वात) कन्या (पार्वती) ने ठीक उसी प्रकार पवित्र भी
दुहा और विभूषित भी जिस प्रकार पर्याप्त प्रकाशवाली (अग्नि) शिला से दौप, (मन्दाकिनी)

गंगा से स्वर्ग-मार्ग (अन्तरिक्ष) (अथवा) ससृज्ज भाषा से विद्वान् (पवित्र और विभूषित होना है) (कुमारसम्भव-१ सर्ग) ।

[यहाँ पूनत्व और विभूषितत्व दोनों धर्म साधारण धर्म हैं । इन्हें श्लोक में एक ही बार कहा गया है किन्तु ये उपमानभूत दीपक, स्वर्गमार्ग और विद्वान् तथा उपमेयभूत हिमाचल दोनों में समन्वित हो जाते हैं अतः इन्हें अनुगामी कहा जा सकता है]

[वस्तुप्रतिवस्त्ररूप से पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा पृथक् पृथक् रूप से प्रस्तुत अतः अननुगामी साधारणधर्म का उदाहरण]—

['अब वह [मालनीमाधव की नायिका मालती] जा रही थी तो उसने अपनी धीवा के साथ अपना चेहरा (मेरी ओर) घुमाया । (उस समय) वह ऐसा लग रहा था जैसे वृन् (डंठल) के साथ तिरछा किया गया सौ पंसड़ी का कमलपुष्प हो । उस स्थिति में घनी बरौनी वाला आँसू से जो फटाश किया मेरे (माधव के) हृदय में बहुत ही गहराई से गड़ गया है । ऐसा लगता है कि वह असुत और विष दोनों से बुझाया गया है ।' (यहाँ अनुवाद में उपमान और उपमेय दोनों के लिए दो वाक्य हों गए हैं, मूल पद्य में वाक्य एक ही है वही होना भी चाहिये, अनुवाद में बँसा करने पर काव्यशिल्प मटियामेट हो जाता)

यहा [वलितत्व] घुमाव और आवृत्तत्व [तिरछापन] केवल सबन्धियों [आनन = चेहरा और शनपत्र = कमल] के मिला होने से भिन्न हैं न्वत् तो ये एक ही है] यदि इन धर्मों से युक्त [आनन और धीवा तथा शनपत्र और वृन्] वस्तुओं को लेकर उपमा मानी जाय तो उनमें तो [यहा भी विन्व प्रतिविन्वभाव । सादृश्य के आधार पर प्रार्थनिक अभेद] ही मानना होगा ।

[मूलतः भिन्न साधारण धर्मों के अलग अलग शब्दों से अलग-अलग रूप में प्रस्तुत किए जाने पर भी सादृश्य के आधार पर अभेद अर्थात् विन्वप्रतिविन्वभाव का उदाहरण]—

'पाण्डव देश का [विशालकाय] यह राजा कर्णों पर हार लटकाए हुए है और लाल-सन्धन का अंगराग (लेव) लगाए हुए है अतः ऐसा सुशोभित हो रहा है जैसे कोई पर्वतराज हो निमपर झरने बंद रहे हों और जिसकी चोटियों पर सबेरे की लाली आरंभ हो ।'—(रघुवज ६ सर्ग) ।

यहाँ [विन्वभूत] हार और राग के लिए निर्झर वाक्यात्प प्रतिविन्वरूप से प्रस्तुत किए गए हैं । [हार और निर्झर में हन्यायमानत्व तथा शुक्लत्व की समानता है अतः उनमें अभेद प्रतीत होता है । इसी प्रकार अंगराग तथा बालानप में विरलुतत्व तथा रक्तगन्ध की समानता है निमित्त इनमें भी अभेद की प्रतीति होती है । इस प्रकार इत स्वगन साधारणधर्मों के कारण अभिन्न हुए हार + निर्झर अंगराग + बालानप राजा और पर्वत की उपमा में साधारणधर्म का काम कर देने हैं, अतः यहाँ विन्वप्रतिविन्वभाव मान्य है] ।

विमर्शिनी

उपमानेत्यादि । अर्थेति । शब्दालंकारनिर्णयान्तरमवसरप्राप्तमित्यर्थः । ननूपमानोप-मेययोरेष साधर्म्यं संभवति न कार्यकारणादिकयोरिति किं तदुपादानेनेत्याशङ्क्याह—उप-मानेत्यादि । तत्रोपमानस्याप्रतीतत्वं लिङ्गभेदादिना प्राच्यैरुक्तम् । यथा—

'कटु ऋगन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्यलं बन्धनश्रद्धला इव ।

मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव ॥'

अत्र ऋगनादेर्धर्मस्योपमानेऽन्यतां करोतीति लिङ्गभेदो दुष्टः । यद्यपि साधारणधर्मस्यो-भयसंबन्धसंबन्धेऽपि सिद्धत्वादुपमाने तत्संबन्धस्य स्वयमेवावगमात् तस्य न शब्दता

युक्तेत्युपमानपारतन्व्येण लिङ्गादिविपरिणामो न कार्य इति न लिङ्गभेदादेर्दुष्टत्वम्, तथाप्युपमानवाक्यस्य साकाङ्क्षत्वात्प्रतीतिविश्रान्तेः शब्दस्तत्संबन्ध उपयुक्त एव । नहि प्रभामहत्यादाद्युपमानवाक्ये पूतत्वादिर्संबन्धं विना समन्वयविश्रान्तिः स्यात् । केवलं समानधर्मस्योपमेये विधीयमानत्वमुपमाने चानूद्यमानत्वमितीयानेव विशेषः । तदुभयत्रापि तत्संबन्धस्यावश्योपयोगाद्दुपपद्यत एव समानधर्मस्यानुगामित्वम् । तल्लिङ्गभेदादेरपि दुष्टत्वं युक्तम् । उपमेयस्याप्रतीतत्वमवर्णनीयस्यापि वर्णनीयत्वम् । यथा—

‘गौरः सुपीवराभोगो रण्डाया मुण्डितो भगः ।

मेरोरर्कहयोस्त्रीढ-शप्प-हेम-तटायते ॥’

अत्र तन्वङ्गथा रूपवर्णने भगवर्णसमनौषित्यावहमित्युपमेयस्याप्रतीतत्वम् ।

उपमानेत्थादि । अथेति अभिप्राय यह है कि अर्थालंकार का निरूपण शब्दालंकार निरूपण के पश्चात् अवसर प्राप्त है ।

शंका = [मम्मट ने उपमा लक्षण में उपमानोपमेय का निवेशन कर कहा है कि] साधर्म्यं उपमान उपमेय में ही रहता है कार्यकारण आदि में नहीं [इसलिए उन्होंने अपने उपमालक्षण “साधर्म्यमुपमा भेदे” में उपमान उपमेय का निवेश नहीं किया] तब यहाँ उनका उपादान क्यों किया जा रहा है । ‘इसके उत्तर में कहते हैं’—उपमानेत्थादि । वहाँ जो उपमान का अग्रतीतत्व है उसमें [वामन आदि] प्राचीनों ने लिङ्गभेद आदि को कारण माना है । यथा—

‘फट्ट वोलते और फालिख ल्याते खल लोग बन्धनशृङ्खला के समान बहुत अधिक सत्ताते हैं । इसके विरुद्ध सत्यरूप मीठी वाणी से मणिनूपुर के समान पद पद में चित्तको हर लेते हैं । [कादम्बरी आमुल] ।’

यहाँ [उपमानभूत शृङ्खला खोलिग है और वक्वणतः पुंलिङ्ग । इस प्रकार विशेषण विशेष्यों में] लिङ्गभेद^१ है और वह वक्वणन आदि धर्म को उपमान में अन्वित नहीं होते देता इसलिए दोष भी है । यद्यपि साधारणधर्म का संबन्ध दोनों से होता है [अतः उसमें एकमात्र से संबन्ध रखने वाला दोष नहीं होना चाहिए] किन्तु उपमान के साथ उस [साधारण धर्म] का संबन्ध स्वतः विदित हो जाता है क्योंकि उपमान में वह [धर्म लोकप्रमाण से] सिद्ध रहता है [शृङ्खला आदि में फट्टवक्वणादि धर्म लोकप्रसिद्ध हैं] निदान उसे शब्द द्वारा कहना युक्त या आवश्यक नहीं होता, फलतः उपमेयगत धर्म लिङ्ग विपरिणाम द्वारा उपमान में भी लागू किया जाय वह भी आवश्यक नहीं है और इस स्थिति में लिङ्गभेद दोष नहीं उठरता, तथापि उपमानवाक्य उसको ध्यान तक साक्षात् रहता है इसलिए प्रतीति अटकी न रहे, वह शीघ्र पर्ववसित हो सके इसलिए साधारणधर्म का सम्बन्ध उपमान के साथ भी सूक्ष्मतः कथित ही होना चाहिए । “प्रमामहत्या०” इत्यादि पद्यां में जयक उपमानवाक्य में पूतत्वादि के संबन्ध प्रतीत नहीं हो जाते, समन्वय

१. ‘स्तन्वेरमा नुसरशृङ्खलकपिणस्ते’ [रघु० ५] आदि में शृङ्खलशब्द भी है । अनेकार्थ संग्रह में हेमचन्द्र ने इसे लोहरञ्जुवाक्य माना है और नपुंसकलिङ्गान्त । अमरकोष ने इसे पुरुष को करधनी का वाक्य माना है किन्तु तीनों किंगों में । यद्यपि रत्नवंश के उक्त पद में हेमाद्रि और मल्लिनाथ ने शृङ्खलशब्द को नपुंसकलिङ्गान्त ही माना है तथापि लोहरञ्जु के भी अर्थ में इसका प्रयोग पुंलिङ्गान्त संभव है सभी वाणमट्ट ने विदोषणवाची शब्द में पुंलिङ्गीय शक्तप्रत्ययदिया है अतः यहाँ लिङ्गभेद मिटाया भी जा सकता है ।

[पदार्थों का सन्ध] तब नहीं हो पाता । अन्तर इतना ही रहता है कि साधारणधर्म उपमेय में विधेय रहता है और उपमान में उद्देश्य । इस प्रकार उपमान और [उपमेय] दोनों के साथ उपयोग आवश्यक होने से साधारण धर्म का अनुयायी [उभयान्वयी] होने पर उपयुक्त ही है । इसलिए लिंगभेद आदि को दुष्ट मानना भी ठीक है ।

उपमेय तब भी अप्रतीति होता है जब किसी अवर्णनीय का भी वर्णन कर दिया जाय । यथा—
 'रौद्र स्त्री का गौरा, चौड़ा चक्रवा और मुष्टित भग [योनिवेदित्रा] मेरु के उस सुवर्ण तट के समान लगता है जिसकी पास सूर्य के घोड़ों ने चर ली हो ।')

यहाँ किसी तन्वगी के रूप का वर्णन करने करते उसके भग का वर्णन करना अनौचित्यकारि है इसलिए यहाँ उपमेय अप्रतीति है ।

[सूत्रकार ने सूत्र में उपमान और उपमेय को स्थान देकर ऐसे उपमान उपमेय का परिहार आवश्यक माना है, अतः उनका मूत्रमें इन दोनों का उपयोग करना उचित है]

चिमर्शिनी

भेदाभेदतुल्यात्वं व्याख्यातुं साधर्म्यस्य विषयविभागेण व्यवस्थितिं दर्शयति—साधर्म्यं इत्यादिना । एतैरेव च त्रिभिः प्रकारैः साधर्म्याश्रय. समग्र एवालंकारवर्ग. संगृहीतः । तेन व्यतिरेकवदित्यनेन सहोक्त्याद्यः संगृहीताः रूपकवदित्यनेन परिणामात्प्रेक्षाद्यः । किन्तु रूपकोत्प्रेक्षयोरभेदप्राधान्यसद्भावेऽप्यारोपाध्यवसायकृत एव विशेषः । यद्वचयति—'आरोपाद्भेदेऽध्यवसाय प्रकृत्यते' इति । अतश्चाध्यवसायगर्भेष्वलंकारेषु शुद्धाभेदरूपकतुर्थाः प्रकारो न कश्चिदाज्ञानीयः । तत्राप्यभेदप्राधान्यस्यैव भावात् । अनयाप्युपमेयोपमादयः संगृहीताः । सामान्यमित्यभेदहेतुकम् । विशेष इति भेदहेतुकः । एवं च भेदाभेदतुल्याव-विषये च सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम् । ननु च सास्वप्यनेकेष्वर्था-लंकारेषु प्रथममित्येव किं निर्दिष्टेभ्यः सादृश्याह—उपमेवेत्यादि । अनेकेऽलंकाराः साधर्म्या-श्रयाः तत्रैवास्य चीजत्वात् । उक्तमिति ।

'साधर्म्यमुपमा भेदे पूर्णा लुप्ता च साग्रिमा ।

श्रीरथार्या च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥' इत्यादिना ।

अतश्च किमस्माकं तदाविष्करणेनेति भावः । एव च तेषां गणने तथा न वैचिन्त्य किंचि-दिति सूचितम् ।

भेदाभेदतुल्यता की व्याख्या करने के लिए विषय विभाग द्वारा साधर्म्य की व्यवस्था दितलाने हुए लिए रहे हैं—'साधर्म्यं' इत्यादि । इन्हीं तीन भेदों में साधर्म्याश्रित सभी अलंकारों का समग्र हो जाता है, इसलिए व्यतिरेक के समान ऐसा करने में सहोक्ति आदि का समग्र हो जाता है और रूपक के समान करने से परिणाम, उत्प्रेक्षा आदि का । रूपक और उत्प्रेक्षा में अभेद प्राधान्य रहने पर भी अन्तर आरोप [रूपक] और अध्यवसाय [उत्प्रेक्षा] को लेकर होता है । जैसा कि कहेंगे—अभेद में आरोप की अपेक्षा अध्यवसाय उत्कृष्ट होता है । इसलिए अध्यवसायवाले अलंकारों में 'शुद्ध अभेद' नामक किसी चतुर्थ भेद की समावृत्ति नहीं की जानी चाहिए । वहाँ भी अभेद की ही प्रधानता रहती है । इस [उपमा] के द्वारा उपमेयोपमा आदि का समग्र किया गया ।

सामान्य अभेद के आधार पर, विशेष भेद के आधार पर । इस प्रकार वहाँ भेद और अभेद दोनों की बराबरी रहती है वहाँ जो सादृश्य की प्रतीति होती है उसे उपमा का विषय

माना गया। [प्रदत्त] “अर्थ के अलंकार तो और भी अनेक हैं, अर्थालंकारनिरूपण उनसे आरम्भ न कर उपमा से ही आरम्भ क्यों किया?” इसपर उत्तर देते हुए लिखा—उपमैव इत्यादि। अनेक अलंकार कहने का अर्थ है वे अलंकार जो साधर्म्य पर आश्रित हैं क्योंकि उपमा केवल उन्हीं में दीजभूत होती है।

उक्तम् [पूर्णा लुप्ता आदि अनेक भेद कहे हैं] अर्थात् “साधर्म्यमुपमा भेदे पूर्णा लुप्ता०” [काव्य-प्रकाश ७० १०] “भेद रहने पर समानधर्म का जो सम्बन्ध उसे उपमा कहा जाता है। वह दो प्रकार की होती है पूर्णा और लुप्ता। इनमें से प्रथम [पूर्णा] वाच्य, समास तथा तद्धित में श्रौती और आर्थी [इस प्रकार छ प्रकार की] होती है। यहाँ से लेकर आगे लुप्ता के १९ भेदों के निरूपण तक। अभिप्राय यह कि प्राचीन आचार्यों-द्वारा निरूपण कर दिए जाने से पुनः उनका निरूपण करना आवश्यक नहीं है। इससे यह भी ध्वनित हुआ कि प्राचीनों के इन भेदों में कोई चमत्कार नहीं है [रसगंगाधरकाव्य ने भी यहाँ कहा है ‘अस्याश्रयमायाः प्राचामनुरोधेन केचिद् भेदा उदाहियन्ते’ ४० २१३ निर्णयसा० सं० ६]

विमर्शनी

तत्रापीति । शिरंतनोक्ते पूर्णत्वादिभेदनिर्देशे साधारणधर्मस्येति । साधारणधर्मस्येति । धर्मः पराश्रितः, तस्य च तदतद्गामित्वात् साधारणत्वम् । तदेव चोपमाद्युत्थाने निमित्तम् । स च चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इति महामाण्यप्रक्रियया जातिगुणक्रिया-द्रव्यात्मकेषु धर्मिण्वेवरूप एव भवति । न चैतद्विरूप्यते । धर्मिधर्मभावस्य न वास्तवत्वम् । जात्याधात्मनो धर्मिणोऽपि कदाचिद्व्याश्रितस्ये धर्मत्वात् । एवं च तदतिरिक्तं धर्ममात्रमपि साधारणं न किञ्चिद्वाच्यम् । चतुष्टय्या एव शब्दानां प्रवृत्तेरुक्त्वात् ।

‘सदयं बुभुजे महामुजः सहसोद्वेगमियं यज्ञेदिति ।

अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां बधूमिव ॥’

इत्यादावुपमानादीं क्रियारूपत्वादेयोजयितुं शक्यत्वात् तस्य एव च समप्रविपयावगा-हनसहिष्णुत्वात् । ननु जातेः साधारणधर्मत्वे तज्जातीयत्वात् तत्त्वं न स्यात्, न सदृशत्व-मिति कथमुपमाद्भेदमस्याः स्यादिति चेत्, न । विम्वप्रतिविम्बभावाध्रयेण तथात्वा-भावात् । तत्र ह्यसकृन्निरदेशाद् द्वयोर्हारादिकयोर्जात्योः श्वैत्याद्यभेदनिमित्तावलम्बनेनैकत्व-माश्रित्य सादृश्यनिमित्तं साधारण्यं स्यात् । एतच्च सविस्तरमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः ।

तत्रापि = तब भी अर्थात् प्राचीनों के द्वारा निर्दिष्ट पूर्णा आदि २५ भेदों के रहने पर भी ।

साधारणधर्मस्य = धर्म का अर्थ है जो दूसरे में रहे। वह जब दो भिन्न-भिन्न [तद् अतद्] वस्तुओं में रहता है तो साधारण कहलाता है। यहाँ साधारण धर्म उपमादि अलंकारों के अलंकारत्व का कारण होता है। धर्म चार प्रकार के होते हैं जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य, जैसा कि महामाण्यकार ने कहा है “चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः”। इन धर्मियों में ये ही चारों साधारण धर्मरूप भी होते हैं। [वह धर्मों का धर्मरूप होना] कोई निरुद्ध बात नहीं है, क्योंकि [काव्य में] धर्मधर्मिभाव [विवक्षाधीन अतः काल्पनिक, न कि भौतिक स्तर पर सत्य] आश्रयवाश्रयिभावरूप से रहता है। इसलिए धर्मधर्मिभाव वास्तविक नहीं होता। जाति आदि धर्मों में यदि अन्याश्रित [रूप से प्रतिपादित] होते हैं तो धर्म मान लिए जाते हैं। इससे यह बात आती है कि इन [चार] के अतिरिक्त अन्य विधियों को भी साधारण धर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्दों के अर्थ केवल चार ही (जाति आदि) नतलाए गए हैं”। “उक्त महामाण्ड (अज) ने तुरन्त प्राप्त

पृथिवी का भोग नवोदा मधु के समान यह सोचकर दया के साथ किया कि कहीं यह उद्वेजित न हो जाए।" यहाँ उपमान आदि में क्रियास्वरूपादि की योजना की जा सकती है और वही [क्रिया ही] यहाँ समग्रविषयावगाहमसहित्थु है [अर्थात् क्रिया ही यहाँ उपमालकार निम्नादक है]। (प्रद्वन) जाति उपमा का अर्थ कैसे मानी जा सकती है क्योंकि न तो [उपमानोपमेयगत भिन्न-भिन्न] वे [जातियों] अमिन्न हो सकती क्योंकि वे अधिक वे अधिक तन्मातीय ही हो सकती है और न वनमें परस्पर का सादृश्य ही रह सकता [क्योंकि दोनों सर्वथा भिन्न होंगे]। [उत्तर] ऐसा नहीं। जातियों के भेद की प्रतीति विन्वप्रतिविम्बभाव से मिट जाती है। 'पाण्डुरोऽप्यामंस्तापितलम्बहारः' आदि में, उपमान और उपमेय के साथ [बार-बार कथित हारत्वादि जातियों का शैत्य आदि के आधार पर ऐक्य हो जाएगा और उस [शैत्यादिजनित] मादृश्य के आधार पर वन [जातियों] का साधारणत्व भी निष्पन्न हो सकेगा। यह विषय और भी अधिक विस्तार में हम आगे बतलावेंगे।

विमर्शिनी

तत्र धर्मिणो जात्यादिरूपता यथा—

'धनोद्यानच्छायामिव मरुपयाद्, दाबदहनात्
तुपाराम्भोवापीमिव विपविपाकादिव सुधाम् ।
प्रवृद्धादुन्मादाद् प्रकृतिमिव निस्तार्यविरहा-
हमेय स्वज्ञकिं निरुपमरसा शंकर कदा ॥'

अत्र द्यायावापीसुधाप्रकृतीनामुपमानानां जातिगुणद्रव्यक्रियारवम् । द्यायायास्तु जाति-
रूपत्वाद् गुणत्वं नाशङ्कनीयम् । उपमेयस्य पुनरंतस्त्वयमेवाम्युद्धम् ।

जात्यादि की धर्मरूपता का उदाहरण—

"मरुपय से धनोद्यानछाया के समान, दाबासि से शीतलजलवापी के समान, विपविपाक से सुधा के समान, प्रवृद्ध उन्माद से प्रकृति [स्वस्थचितता] के समान दुस्तर विरह से आपकी भक्ति को हे भगवान् शंकर मैं कब पाऊँगा ॥"

यहाँ छाया, वापी, सुधा और प्रकृति क्रमशः जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया रूप हैं (१)। छाया जातिरूप है। उसमें गुणत्व की शंका नहीं करना चाहिए। उपमेय में ये [जाति आदि] स्वयमेव समझ लेना चाहिए। [इसी श्लोक में विरह और भक्ति उपमेय हैं इनमें विरह जातिवाचक शब्द हो सकता है क्योंकि वह अभाव पदार्थ है और विरह अनेक हो सकते हैं, जिनमें विरहत्व जाति रह सकती है, भक्ति रागात्मक भावतत्त्व है जो स्पर्शरूप से गुण है। द्रव्य के रूप में यहाँ शंकर भगवान् को उपमेय माना जा सकता है। प्राप्तक्रिया यदि छाया आदि प्रत्येक के साथ लागू की जाए तो वह भी भक्ति के साथ उपमेय बन सकती है।

विमर्शिनी

धर्माणां तु यथा—

'वदेहि पश्या मलयाद् विभक्त.भस्मेतुना फेनिलमम्बुराशिम ।
द्यायापयंनेव शरथसन्नमानाशामाविष्कृतचास्तारम् ॥'

अत्र विभक्तमित्यस्य क्रियात्वं रामसेनुच्छायापययोर्द्रव्यत्वं फेनतारकाणां जातित्वं प्रसादस्य च गुणत्वं द्रव्यामकानाशाम्बुराशिमत्त्वेनोपनिबद्धम् । पृथं प्रकृतामेव महाभाष्यप्रक्रियामपहाय निनिमित्तमेव प्रक्रियान्तरभाषित्य यदन्यैद्वतं तदयुक्तमेवे-

त्यलं बहुना । एवंविधस्य चास्य भावाभावरूपतया द्वैविध्यम् । एतच्च न तथा वैचिन्त्यावहमिति ग्रन्थकृता नोक्तम् ।

धर्मो को जाल्यादिरूपता यथा—

‘हे वैदेहि ! देखो फेन से युक्त यह अम्बुराशि मेरे सेतु से मलयान्चल पर्यन्त दो भागों में बँट गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे आकाशगंगा से सुन्दरतारों मरा शरत्कालीन निर्मल आकाश ।’

यहाँ विभक्त होना [बँटना] क्रियारूप है, रामसेतु और छायापथ (आकाशगंगा) द्रव्यरूप हैं, फेन और तारे जातिरूप हैं तथा प्रसन्नता (निर्मलता) गुणरूप । ये सब आकाश और अम्बुराशि में विघनान इतलाय गए हैं जो द्रव्यात्मक हैं। इस प्रकार महामान्य की प्रकृत [प्रसिद्ध] प्रक्रिया को छोड़कर [उद्धट, नम्य, और रक्षाकरकार] अन्य आचार्यों ने अकारण ही [पूर्ण उदा आदि की] जो, दूसरी प्रक्रियाएँ अपनाई हैं वह ठीक नहीं हैं। हम इस प्रसंग को यहाँ समाप्त करते हैं। इस प्रकार [चार प्रकार] का यह [साधारण धर्म] भावात्मक भी होता है और अभावात्मक भी किन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं है इसलिए ग्रन्थकार ने इसका प्रतिपादन नहीं किया।

विमर्शिनी

प्रेकरुण्येणेति । सकृत् । यद्वच्यति—‘तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देश उपमा’ इति । पृथक्निर्देश इति । असकृदित्यर्थः । यद्वच्यति—‘वस्तुप्रतिवस्तुभावेनासकृन्निर्देशोऽपि सैव’ इति । साधारणधर्मस्येत्यत्रापि संबन्धनीयम् । वस्तुप्रतिवस्तुभावेऽपि द्वैविध्यमित्याह—पृथक्निर्देश इत्यादि । सम्बन्धिभेदमात्रमिति । न पुनः स्वरूपभेदः कश्चिदित्यर्थः । यद्वच्यति—‘असकृन्निर्देशे शुद्धसामान्यरूपत्वं चिन्मप्रतिविम्बभावो वा’ इति । एतच्च भेदत्रयं प्रायः सर्वपानेध सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां जीवितभूतत्वेन संभवतीत्यत्रत एव तत्र तत्रोदाहरिष्यामः । क्रमेणेति ययोद्देशम् । सम्बन्धिभेदादिति । संबन्धिनोः कंधरावृन्तयोर्भेदात् । न तु हारनिर्झराधिवत्स्वरूपतो भेदः । वस्तुत एकरावृत्तित्वावृत्तत्वयोरभेदः । ननु यदि वलितत्वावृत्तरवाक्यो धर्म भावनशतपत्रयोः शुद्धसामान्यरूपतयोपात्तस्तद्धर्मो कंधरावृन्तरूपः पुनः किरूपतयेत्याशङ्क्याह—धर्मभिप्रायेणेत्यादि । एवकारः शुद्धसामान्यरूपत्वव्यवच्छेदकः । कंधरावृन्तयोश्च यथोक्ते धर्मित्वेऽप्याननशतपत्रापेक्षया धर्मत्वमेव युक्तम् । आश्रयाश्रयिभावेन धर्मिधर्मभावस्य भावात् । अत एवास्यावास्तवत्वं पूर्वमुक्तम् । अतश्चाननशतपत्रापेक्षया इति न व्याख्येयम् । तयोरुपमानोपमेयभावबाधोयुक्तरेव युक्तत्वात् । एवं च सति कंधरावृन्तयोः स्वरूपमनभिमतं स्यात् । अनेनैव च चिन्मप्रतिविम्बभावस्य स्वरूपे दर्शितेऽप्यसंकीर्णप्रकटनाशयेन पुनः ‘पाण्डवोऽथम्’ इत्याद्युदाहृतम् ।

सकृत् एक वार [निर्देश] जैसा कि कहेंगे—‘उनमें सामान्यधर्म का, इत्यादि शब्दों का उपादान होने पर यदि एक ही वार निर्देश हो तो उसे उपमा कहा जाता है।’ पृथक् निर्देश अर्थात् अनेक वार निर्देश, जैसा कि कहेंगे—‘वस्तुप्रतिवस्तुभावपूर्वक [साधारणधर्म का] एकाधिक वार निर्देश होने पर मां वहाँ [उपमा ही] होती है।’ इस वाक्य में “साधारण धर्म का” इतना और जोड़ देना चाहिए [हमने जोड़ दिया है]। वस्तुप्रतिवस्तु भाव जहाँ होता है वहाँ भी दो भेद होते हैं इस बात को पृथक् निर्देश इत्यादि के द्वारा बतलाया। सम्बन्धिभेदमात्र न कि किसी प्रकार का स्वरूपभेद, जैसा कि कहेंगे—“[साधारण के] अनेक वार कहे जाने पर या तो वह शुद्ध सामान्यरूप रहता है वा उसमें विन्मप्रतिविम्बभाव रहता है।” ये तीन भेद सादृश्यमूलक प्रायः सभी अलंकारों में प्राण का काम करते हैं इसलिए इन्हें जहाँ तहाँ शुरू शुरू में ही बतलाते रहेंगे। क्रमेण = क्रम से अर्थात् जिस क्रम से नामोल्लेख किया गया है। संबन्धिभेद से

मन्विष्यो अर्थात् कन्धरा और वृन्त के भेद से। वस्तुतः [वलितत्व और आवृत्तत्व में] वैसा स्वरूपभेद नहीं है जैसा हार और निहंर में है। मूलतः एक होने से वलितत्व और आवृत्तत्व [शब्दभेद होने पर भी] अभिन्न ही है। यदि वलितत्व और आवृत्तत्व आनन तथा शतपत्र में शुद्धसामान्यरूप से उपात्त है तो प्रश्न उठता है कि उनके धर्मों कन्धरा (ग्रीवा) और वृन्त (बँट) किस रूप से उपात्त हैं। इस पर उत्तर देते हैं—“धर्ममिप्रायेण०” एव शब्द यहाँ शुद्धसामान्यरूपता का निवर्तक है। कन्धरा और वृन्त यहाँ उपयुक्त क्रम से धर्मों ही हैं तथापि आनन और शतपत्र की अपेक्षा वे धर्मरूप भो हो सकते हैं। क्योंकि (काव्य में) धर्मधर्मिभाव आश्रयाश्रयिभावसे व्यवस्थित होता है। इमीलिए [अभी कुछ ही] पहले इसे अवास्तविक भी कहा है। इसीलिए व्याख्या में “आनन और शतपत्र की अपेक्षा” ऐसा कहना भी ठीक नहीं है [वस्तुतः यद् सञ्चोधन वृत्ति द्वारा प्रस्तुत “धर्म्यपेक्षया”—इम विचार पर है] उपमानोपमेयभाव की वाच्योक्ति ही उनमें उपयुक्त और उचित है। [अर्थात् कन्धरा और वृन्त में उपमानोपमेयभाव ही मानना पर्याप्त तथा उचित है, विन्वप्रतिविन्वभाव द्वारा अभेद नहीं] येने। धर्मरूप मान लेने पर] तो कन्धरा और वृन्त के अपने स्वरूप अनभिमत [व्यर्थ] सिद्ध हो जावेंगे। [इसीलिए इनमें विन्वप्रतिविन्वभाव नहीं मानना चाहिए] और इसी अभिप्राय से “पाण्डवोऽयमसापितलम्बहारः” यह पृथक् उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल विन्वप्रतिविन्वभाव ही है वन्नुप्रतिवस्तुभाव नहीं। वस्तुप्रतिवस्तुभाव से स्वीकृत विन्वप्रतिविन्वभाव तो इसी “यान्त्या मुष्ट०” पद्य से [कन्धरावृन्त में उपयुक्त क्रम से विन्वप्रतिविन्वभाव मानने के कारण] स्पष्ट हो सकता था।

धर्मशिनी

हाराङ्गरागयोरिति । स्वरूपयोरिति श्लेषः । न चात्र विन्वप्रतिविन्वभावस्य विषयान्तरं प्रदर्श्य वाच्यार्थगतामुपमासाक्षय्य गुणसाम्यनामा चतुर्थ प्रकारो वाच्यः । धावता हि साधारणधर्मनिघन्धनमुपमास्वरूपम्, न चात्र धर्मो निर्दिष्टानिर्दिष्टत्वेन द्विविधः । निर्दिष्टापत्ते चास्य धैविष्यमुक्तम् । अनिर्दिष्टापत्ते चास्य न वैचिन्त्यं किंचिदिति न तदाश्रयं भेदजातमुक्तम् । अतश्चात्र निर्दिष्ट, साधारणधर्मो व्यवस्थित इति का नाम चतुर्थप्रकाररूपना । वाच्यार्थोपमागन्धोऽप्यत्र नास्ति । स ह्यनेकेषां धर्मिणां परस्परवच्छिन्नानां तादृशीरेव धर्मिभिः साम्ये भवति । यथा—

‘जनयिभ्याः कुलाख्याश्च रक्षिभ्या विदितोऽभवत् ।।

राजसूतेर्मुजंगयाश्च प्रच्छन्न इव शेषधिः ॥’

अत्र जनयिभ्यादीनां रससूत्यादीन्युपमानान्युपात्तानि । एतेषां धर्मित्वं च स्फुटमेव । विन्वप्रतिविन्वभावः पुनर्धर्मिविज्ञेपप्रतिपादनोन्मुखानां धर्माणां भवति । परस्परवच्छिन्नत्वं यथाश्रेयः । अत्र हि हाराङ्गरागयोः पाण्डवस्य विदिष्टतापादानार्थोपादानम् । इन्दुमतीं प्रति तस्य विदिष्टालम्बनविभावत्वेन विवक्षितत्वात् । अतश्च तयोः परस्परोन्मुखत्वात्स्वात्मन्येवाविधान्तिरिति का कथोपमेयतायाः । एवं पाण्डवस्याद्रिाराजेन हारनिर्हरादिधर्मनिमित्तोपमा, तावन्मात्रेणैव सादृश्यपर्यवसानात् । तच्च हारादेः साधारणधर्मस्य विन्वप्रतिविन्वत्वात् दृष्टान्तन्यायस्यैतत्सूदाहरणमेव ।

—हाराङ्गरागयोः हार और अंगराग के अर्थात् उनके स्वरूप के [न कि उनमें विद्यमान जाति के प्रतिविन्व] । [वामन ने ‘पाण्डवोऽयमसापित०’ पद्य में वान्यार्थोपमा मानो है द्रष्टव्य ४।१।३-कान्याकारसूत्रवृत्ति, टीकाकार इसपर सञ्चोधन करते हुए लिख रहे हैं—] “यद् कहा जा सकता

हे कि यहाँ विन्दप्रतिविम्बभाव का विचार विषयान्तर है, क्योंकि विचार प्रस्तुत है उपमा का, फलतः यहाँ वाक्यार्थोपमा माननी चाहिए और उसे उपमा का गुण साम्यमूलक एक चौथा प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिए ।' किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि उपमा का जो स्वरूप है वह निर्भर है साधारणधर्म के ऊपर, और जो साधारणधर्म है वह दो प्रकार का होता है निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट । निर्देशपक्ष में उसके तीन प्रकार बतलाए हैं । अनिर्देशपक्ष में उसमें कोई चमत्कार नहीं रहता अतः उससे संभव भेदों का निरूपण नहीं किया है । इस प्रकार इस प्रसंग में क्योंकि केवल निर्दिष्ट साधारण धर्म का ही विचार किया गया है अतः (अनिर्दिष्ट साधारणधर्मरूप गुण-साम्यमूलक) चतुर्थ भेद का प्रदन ही नहीं उठता । जहां तक वाक्यार्थोपमा का संबन्ध है यहां उसको गन्ध भी नहीं है । वह तो तब होती है जब परस्पर संबन्ध अनेक धर्मियों का वैसे ही धर्मियों से साम्य दिखलाया जाता है । जैसे—'वह केवल जन्म देने वाली माँ और रक्षा करने वाली कुलाली = कुन्दारिन ही जानती या उसी प्रकार जिसप्रकार छिपे हुए कोप को रत्नगर्भा पृथिवी और सार्पिणी [रत्नसूति = रत्न उपजानेवाली भूमि पर प्रायः सर्पिणी या सर्प रहते हैं]) यहाँ माँ आदि [आदि पद से कुलाली और 'स' इस पद से कथित व्यक्ति के लिए रत्नसूति आदि [आदि-पद से बुजुगी और शेषि या कोप] उपमानरूप से अपनाए गए हैं । इनका धर्मित्व और परस्पर में संबन्धत्व स्पष्ट ही है । विम्बप्रतिविम्बत्व जो होता है वह उन धर्मों में होता है जो किसी विशिष्ट धर्मों का प्रतिपादन करने के लिए होते हैं । जैसे इत्थं [पाण्डुर्योऽयमंसा०] पक्ष में ही । इसमें हार और अंगराग का जो उपादान है वह पाण्डुरराज में विशेषता लाने के लिए ही । यह भी इस-लिए कि कवि उसे शत्रुमती के प्रति विशिष्ट [असामान्य] आत्मन विभाव के रूप में चित्रित करना चाहता है । इसीलिए वे [हार और अंगराग] परस्पर के प्रति उन्मुख हैं इसलिये वे अपने आप में दिशान्त तक नहीं हो पाते, उनमें उपमेयता की यात ही कैसे की जा सकती है । इस प्रकार पाण्डुर और अदिराज की उपमा हार और निर्झर आदि धर्मों पर ही निर्भर है । उन दोनों में सादृश्य का बोध केवल इन्हीं धर्मों से होता है । और वह [सादृश्य] शत होता है हार आदि धर्मों के विम्बप्रतिविम्बभाव से अतः इनमें उद्घात जैसी स्थिति का बतलाया जाना उचित ही है ।

विमर्शिनी

ननु हारनिर्झरयोस्तद्वत्त्वामिवाभावात्कथं साधारणधर्मतेति चेत्, उच्यते—

अस्यास्तावद्धर्मस्य साधारण्यं जीवितम् । तच्च धर्मस्यैकत्वे भवति । न च वस्तुतोऽत्र धर्मस्यैकत्वम् । नहि य एव मुखनातो लावण्यादिधर्मः स एव चन्द्रादौ, तस्यान्वयासंभवात् । अपि तु तज्जातीयोऽत्रान्योऽस्ति धर्मः । एवं धर्मयोर्मेवासाधारण्यभावादुपमायाः स्वरूपनिष्पत्तिरेव न स्यात् । अथ धर्मयोरपि सादृश्यमनुपगम्यते तत्तत्रापि सादृश्य-निमित्तमन्यदन्वेप्यम् । तत्राप्यन्यदित्यनवस्था स्यात् । तत्तत्र धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि प्रतीतावेकतावसायान्नेदेऽप्यभेद इत्येतन्निमित्तमेकत्वमाश्रयणीयम् । अन्यथा ह्युपमाया उत्थानमेव न स्यात् । एवमिहापि हारनिर्झरादीनां वस्तुप्रतिवस्तुतयोपात्तानां वस्तुतो भेदेऽप्यभेदविवेकत्वेकत्वं ग्राह्यम् । अन्यथा ह्येषां पाण्डुरादिराजयोरौपम्यसमुत्थाने निमित्तत्वमेव न स्यात् । न चैपामौपम्यं युक्तमिति समनन्तरमेवोक्तम् । अत एवात्र विम्ब-प्रतिविम्बभावव्यपदेशः । लोको हि दर्पणादौ विम्बत्प्रतिविम्बस्य भेदेऽपि मदीयमेवात्र वदन् संक्रान्तमित्यभेदेनाभिमुख्यते । अन्यथा हि प्रतिविम्बदर्शने क्लृप्तोऽहं सृष्टोऽहमित्याद्यभिमानो नोदिष्यात् भूपणविन्यासादौ च नायिका नाद्विवेरन् । प्राच्यैरपि—

‘म मुनिर्लान्द्रितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन् ।

व्यराजन्नीलजीमूतमामरिष्ट इवांशुमान् ॥’ इति,

तथा—स पीतवाम्नाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञमीमं वपुराप कृष्णः ।

शतहृदेन्द्रायुधगन्निद्यायां ससृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥’

इत्यत्र मौञ्जीतडितोः शङ्खशशिनेश्च वस्तुतो भेदेऽप्यभेदविवक्षामेवाश्रित्य साधारण-धर्मस्य हीनत्वमाधिक्यं चोक्तम् । अत एव चात्र पूर्वं ग्रन्थकृता वस्तुप्रतिवस्तुभाववद् वस्तु-द्वयस्य प्राच्योक्तमेव व्यवहारं दर्शयितुं प्रतिवस्तूपमावद् दृष्टान्तवच्चेति तदुक्तमेव दृष्टान्त-द्वयं दत्तम् । एवं चाग्रामेदविवक्षैव जीवितम् ।

प्रश्न उठना है कि [जिसमें (पाण्डव में) हार है उसमें निर्झर नहीं और जिसमें (पर्वत में) निर्झर है उसमें हार नहीं इस प्रकार] हार और निर्झर दोनों में से कोर भी परस्पर मिश्र दोनों वस्तुओं [पाण्डव और पर्वत] में रहने वाला नहीं है [दोनों एकही एक में रहते हैं] अतः ये साधारण धर्म कैसे माने जा सकते हैं । उचर में कहा जाता है कि इम [उपमा] का प्राण है धर्म का साधारण्य । वह [साधारण्य] तभी होता है जब धर्म एक हो [मिश्र नहीं और धर्म यहाँ वस्तुतः एक नहीं है । ऐसा नहीं कि जो लावण्य आदि धर्म सुख [आदि] में रहना है वही चन्द्र आदि में रहना हो क्योंकि उम [सुरागन धर्म] का [चन्द्रादि से] सम्बन्ध [ही] समब नहीं । चन्द्रादि में जो धर्म रहता है वह सुरादिगत लावण्यादिकर्म का सजातीय और उससे कोरें मिश्र धर्म होता है । इम प्रकार धर्मों के मिश्र होने से साधारण्य नष्ट बनेगी फलतः उपमा का स्वरूप ही निरपन्न नहीं होगा ।

यदि धर्मों में भी अभेद के लिए सादृश्य स्वीकार किया जाता हो तो वह सादृश्य अपनी सिद्धि के लिए किनी अन्य सादृश्य की अपेक्षा रखेगा और वह [तीसरा सादृश्य] भी [अपनी सिद्धि के लिए] अन्य [किसी चीजे] सादृश्य की । इम प्रकार अनवस्था आ पड़ेगी । इसलिये धर्मों में वस्तुतः भेद रहने पर भी प्रतीति में एकता ही भासित होती है अतः “अतः भिन्नता होने पर भी अभेद” इम तथ्य को निमित्त मानकर [चन्द्रादिगत और सुरादिगत] मिश्र मिश्र धर्मों में अभेद मान लेना पड़ता है । ऐसा न मानने पर [सुप और चन्द्र आदि में] उपमा लक्ष्मी ही नहीं हो सकेगी । इसी प्रकार यहाँ [पाण्डवोऽवममार्पित० में] भी हार और निर्झर आदि वस्तुप्रतिवस्तु रूप से (?) उपात्त है, इनमें वस्तुतः भेद है तथापि विवक्षा अभेद की है इसलिये एकता मान लेनी चाहिए । नहीं तो ये [हार निर्झर] पाण्डव तथा पर्वत की उपमा में निमित्त ही नहीं बन सकेंगे । इनमें उपमा तो बननी ही नहीं [क्योंकि ये तो परस्परोन्मुख रहते हैं, आत्मविश्रान्त नहीं] ऐसा अभी कुछ ही पहिले कहा है । इसीलिए यहाँ विष्वप्रतिविष्वभाव [शब्द] का व्यवहार होता है । कोरें भी व्यक्ति विष्व से [स्थानभेद आकारभेद आदि के कारण] प्रतिविष्व का भेद रहने पर भी “प्रेरा ही मुख दर्पण में सक्रान्त हुआ है” इम प्रकार दोनों में अभेद ही मानता है । नहीं तो प्रतिविष्व देगकर ‘म दुबला हूँ या मोटा हूँ’ यह भाव उसमें उदित नहीं हो सकता और क्षियों भी [दर्पण में देखकर अंग प्रत्यंग में] भूषण का विन्यास करने में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं । प्राचीन आल्कारिकों ने भी—“मौञ्जी मेखला बांधे तथा कृष्णशृगचर्म पहने वे मुनि नीलमेघ के डुकटे से घिरे मूर्ख जैसे लग रहे थे” इस पद्य में [वामन तथा मम्मट ने] तथा—“कृष्ण मगवान् पीताम्बर पहने थे और शार्ङ्ग धनुष लिये हुए थे । उनका स्वयं का शरीर श्याममुन्दर और विशाल था । इस प्रकार वे विजली, इन्द्रधनुष और चन्द्रमा ने सुक्त हो रहे रात्रिकालीन मेघ जैसे लग रहे थे”/इस पद्य में [मम्मट ने] मौञ्जी और विजली तथा शंख और

चन्द्र का वस्तुतः भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा को ही लेकर साधारणधर्मत्व माना है और उनमें हीनता [प्रथम उपमा में उदित को] और अधिकता [द्वितीय उपमा में चन्द्र की] बतलाई है और इसी कारण वहाँ ग्रन्थकार ने भी [उदाहरण देने के] पहिले वस्तुतः वस्तुप्रतिबस्तुभाव से युक्त दो वस्तुओं में प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया व्यवहार दिखलाने के उद्देश्य से दो उदाहरण दिए, एक प्रतिवस्तुपमा का और दूसरा दृष्टान्त का । इस प्रकार यहाँ [पाण्डयों० इत्यादि स्थलों को उपमा में] अभेद की विवक्षा ही प्राण है ।

विमर्श—टीकाकार ने इस मार्मिक विवेचन के अन्त में यहाँ तो विन्वप्रतिविन्वभाव को प्राचीन-भिन्नत बतलाकर “पाण्डयोऽयम०” इत्यादि स्थलों की उपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव को ही ग्रन्थकाराभिन्नत बतलाया है, किन्तु पहिले उसी प्रकरण में वे इन स्थलों में कन्धरा-वृन्त आदि के बीच उपमा स्वीकार कर आए हैं और आगे भी विन्वप्रतिविन्वभाव ही स्वीकार करेंगे । उनके इस बौद्धिक पलायन में कोई ठोस आधार नहीं है । विन्वप्रतिविन्वभाव और वस्तुप्रति-वस्तुभाव दोनों में एक तथ्य सामान्य है । वह है भेद और अभेद भी समष्टि । वस्तुप्रतिवस्तुभाव में ज्ञानधारा प्रातिभासिक भेद से पारमार्थिक अभेद की ओर बढ़ती है जब कि विन्वप्रतिविन्वभाव में पारमार्थिक भेद से प्रातिभासिक अभेद की ओर । इस प्रकार ज्ञानधारा की प्रवृत्ति भी दोनों एक ही है भेद से अभेद की ओर । अन्तर केवल भेद तथा अभेद में दोनों भावों की विपरीत स्थिति का है । इस प्रकार “यान्या नुहुर्लित०” में कन्धरा और वृन्त दोनों ‘पाण्डयोऽयम्०’ के हार और निहार के समान ही वस्तुतः मित्र और निन्धया अमित्र होने से विन्वप्रतिविन्वभावयुक्त ही हैं । चाहे तो टीकाकार प्रथम पद्य में आवृत्तत्व और बलितत्व के वस्तुप्रतिवस्तुभाव को प्रधान मान सकते हैं और कन्धरावृन्त के विन्वप्रतिविन्वभाव को अप्रधान, किन्तु उसे वे अनान्य नहीं ठहरा सकते । परस्परानुखता से उनका अर्थ नहीं बदल जाता जो उन्हें आत्मविश्रान्त न माना जा सके ।

विमर्शिनी

पुषा च लक्ष्मि सुप्रसुरैव । यथा—

‘चिद्युत्सन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः

संगीताय प्रहतमुरजाः सिन्धुधगम्भीरघोषम् ।

अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः

प्रासादास्त्वां तुलनितुमलं यत्र तैस्तेर्विशेषैः॥’

अत्र विद्युद्द्वनितादीनां मेघप्रासादविशिष्टाधायकतया धर्मत्वेनैवोपादानम् । अत एव तैस्तेर्विशेषैरिस्तुक्तम् । तेषां सङ्गन्निर्देशाभावात्प्रानुगामिता । एकार्थत्वाभावात्प्रानुगामित्वात् । एतेषां चाभेदेनैव प्रतीतेः साधारणत्वम् । एवं हारादेरपि ज्ञेयम् । अभेदप्रतीतिश्चात्र सादृश्यनिमित्ता । न चैतावतैवैवासुपमानोपमेयत्वं वाच्यम् । तथात्वाविवक्षणात् । सादृश्यस्य च सितत्वादिगुणयोगित्वं नाम निमित्तम् । एवमभेदप्रतीतिसुत्तेनात्र हारादेः समानधर्मत्वम् । क्वचिन्नमित्तान्तरेणाभ्यभेदप्रतीतिर्भवति । यथा—

‘द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथोपघनम् ।

त्यास्यो दृष्टः प्रिवोऽप्यासीद् दष्टोऽङ्गुष्ठं द्वाहिना ॥’

अत्रोत्तरार्धे दष्टदृष्टयोर्दोषकारित्वादिना एककार्यकारित्वमभेदकारणमित्यलं बहुना ।

[विन्वप्रतिविम्बभावमूलक] यह [उपमा] कान्यों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। यथा—'हे मेघ ! [अलका के] प्रासाद उन उन विशेषणों से तुम्हारी समानता मलीर्मांति कर सकते हैं। तुम्हारे पास विद्युत् है उनमें ललितवनिताएँ हैं, तुम इन्द्रचाप से युक्त हो उनमें चित्र बने हैं, तुममें ग्निग्ध और गम्भीर घोष है उनमें संगति के लिए मृदग बजने रहते हैं, तुम्हारे भीतर जल है वे भी मणिमय भूमि से युक्त हैं, तुम बहुत ऊँचे हो और उनके शिरसर भी गगनचुंबी हैं।' यहाँ विद्युत् और वनिता आदि का उपादान मेघ और प्रासाद में विशिष्टता खाने वाले धर्म के रूप में ही किया गया है; इसीलिए [स्वयं कविने] 'उन-उन विशेषों द्वारा, इस प्रकार उन्हें विशेष अर्थात् धर्म कहा है। किन्तु ये अनुगामी धर्म नहीं हैं क्योंकि उनका निर्देश अलग-अलग किया गया है। न वे शुद्धसामान्य स्वरूप हैं क्योंकि उनमें प्रकार्यका नहीं है। इसलिए अब उनमें विन्वप्रतिविम्बभाव ही शेष बचना है। इन्हें जा मापारण धर्म कहा है वह केवल इसलिए कि इनकी प्रतीति अभिन्नरूप से होती है। हार आदि के विषय में भी यही समझना चाहिए। और अभेद का जो प्रतीति है वह यहाँ सादृश्यमूलक है। किन्तु इतने भर से [सादृश्यमात्र होने से] इनमें उपमानोपमेयभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि इनकी उस रूप में यहाँ विवक्षा नहीं है। सादृश्य का निमित्त [हार निर्जर आदि में] एकैदो रूपी गुण से युक्त होता है। इस प्रकार अभेद प्रतीति के द्वारा यहाँ हार आदि साधारण धर्म बन जाते हैं।

कहाँ दूसरे निमित्तों से भी अभेद प्रतीति होती है। यथा—'उस [दिलीप] को इव्य व्यक्ति भी यदि शिट होता था तो मान्य होता या जैसे बीमार को औषधि। इसने विरह प्रिय व्यक्ति भी यदि दुष्ट होता था तो त्याज्य होता या जैसे सर्पदृष्ट अंगुठा।' [रघुवश—१, रघुवश में चतुर्थचरण 'अगुलीवोरगङ्गना' है। टीकाकार ने यह पाठ कदाचिद् उपमानोपमेय में पूर्वाह्न के समान लिंगैक्य के लिए पसन्द किया या स्वयं बनाया हो] यहाँ [सर्प] दष्ट [अगुष्ठ] और दुष्ट इनमें अभेद एक कार्यकारित्व के आधार पर है दोषकारित्वादि गुण दोनों में ही रहते हैं। अस्तु, अधिक विस्तार से लाभ नहीं।

चिमर्शिनी

इयं च हृद्योरपि प्रकृतघोरप्रकृतयोर्ध्वान्मये समुच्चिता भवति । क्रमेण यथा—

'सदय ह्युभुजे महाभुज' इत्यादि । अत्र ध्रुमेदिन्योरधिरोपनत्वात्प्रकृतत्वेन सद-योपभोगे समुच्चितत्वम् यथा—

'स्वरेण तस्याममृतमृतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।

अप्यन्यपुष्टा प्रतिमूलशब्दा श्रोतुर्वितन्दीरिव तादवमाना ॥'

अत्र भगवत्पर्येषयान्यपुष्टावितन्द्योरप्रकृतयो' प्रतिमूलशब्दत्वे समुच्चितत्वम् ।

इयमेकदेशविवर्तिन्यपि । यथा—

'कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते ।

अलिबल्यैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्याः ॥'

अत्र नलिनीनां नायिका उपमानत्वेन नोपात्ता इत्येकदेशविवर्तित्वम् । इयं च सादृश्य-दाढर्थाय कविप्रतिभाकरूपते साधर्म्यं कल्पिता भवति । तस्य कथंचिद्रुपमेयगतत्वेन कवचि-द्रुपमानेनापि कल्पितमिति द्विधात्वमस्या । यदुक्तम्—

'उपमेयस्य वैशिष्ट्यमुपमानस्य वा क्वचित्' इति । वैधर्म्येणापि साधर्म्यमिति तृतीयः प्रकारः पुनरस्या न वाच्यः । अस्योपमायामेव संभवादाढर्थाप्रतिपादनप्रतीतिश्च ।

यह [उपमा] ऐसे दो पदार्थों के साधर्म्य में भी होती है जिनमें से दोनों ही प्रकृत होते हैं या दोनों ही अप्रकृत । क्रम से उदाहरण यथा [दोनों प्रकृत की उपमा] “सदयं बुभुजे महाभुजः०” इत्यादि [पूर्वोदाहृत पथ में] यहाँ बधू और भेदिनी दोनों ही अचरोपनत [तुरन्त पाप्त आर्द्र प्राप्त] हैं । अतः दोनों ही प्रकृत है फलतः सद्य उपमेय में दोनों का ही समुच्चय है । [अप्रकृतों की ही उपमा] यथा—“उस [पार्वती] को नाणों बढ़ी ही अग्निजात थी । जब वह बोलती थी तो उसका स्वर अमृत सा बरसाता था । तब कोकिला को क्रूक भी सुनने वाले को जैसे ही प्रतिकूल लगती थी जैसे [वीणा की] शून्यकारी गई कोई उलटी तन्वी [तार] ॥ [कुमार-१] । यहाँ भगवती पार्वती [प्रकृत हैं, उन] की अपेक्षा कोयल और वितन्वी दोनों ही अप्रकृत हैं । इन दोनों का एक ही प्रतिकूल शब्दत्वरूपी धर्म में समुच्चय कर दिया गया है ।

यह [उपमा रूपक के समान] एकदेशविवर्तिनी भी होती है [अर्थात् इसमें आरम्भ से अन्त तक उपमानोपमेयभाव का निर्वाह शब्दतः करते करते किसी एक अंश में उठे अर्थ बनाकर छोड़ दिया जाता है] उदाहरणार्थ—“अधर के समान कमल की पंखुडियों से; दौतों के समान केसरो से अलकों के समान अलकवलय से और केसरो के समान कमलपुष्पों से कमलिनी सुशोभित हो रही है ॥” इसमें कमलिनी के उपमान के रूप में [विवक्षित होने पर भी] नायिका का उपादान शब्दतः नहीं किया गया [उसे वाक्यार्थ सामर्थ्य से आक्षेप्य रहने दिया इसलिये यह एकदेश विवर्तिनी है [विवर्त्त का अर्थ पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अभाव किया है] उसका स्रोत कदाचिद विमर्शिनी का यही स्थल है । काव्यप्रकाशकार की ‘एकदेश में विशेषरूप से वर्णन रहना’ इस पदावली में विशेषशब्द कदाचिद ‘अन्तर या मिनन्ता’ का वाचक है । टीकाकारों ने उठे स्फुटता का वाचक माना है जो विरुद्ध है । अन्तर अर्थ करने पर अभाव अर्थ चला जाता है, अभाव का अर्थ है शब्दानुपादान । यही उपमा तब कल्पित उपमा कहलाती है जब सादृश्य की दृढ़ता के लिये साधर्म्य कल्पितप्रतिभाकल्पित होता है । वह साधर्म्य कहीं तो उपमेय में कल्पित किया जाता है और कहीं उपमान में, अतः यह [कल्पितोपमा] दो प्रकार की हो जाती है । जैसा कि कहा है “कहीं उपमेय का वैशिष्ट्य बतलाया जाता है और कहीं उपमान का” ॥ १ ॥

“वैधर्म्य से साधर्म्य” नामक एक तृतीय भेद भी होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह भेद केवल सामान्य उपमा में ही हो सकता है और [कल्पितोपमा में यह भेद मानने पर उपयुक्त] दृढ़ता का प्रतिपादन नहीं हो सकता ।

विमर्शिनी

क्रमेण यथा—

तं णमह णाहिणलिनं हरिणो गअणङ्गगाहिरामस्स ।
लुप्पअल्लुम्पिणगत्तो मल्लो न्व चन्दम्मि जत्थ विही ॥’

अत्रोपमेयस्य पटुपदाच्छादितत्वं कल्पितम् ।

“आवर्जिता किंचिद्विद्य स्तनाभ्यां वासो वसानाऽतरुणाकर्कराम् ।

संजातपुष्पस्तवकाभिनन्ना संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥’

अत्रोपमानगतत्वेन संचारिणीत्वं कल्पितम् । न चास्याः पृथग्लक्षणं वाच्यम्, द्वयो-
रौपम्यप्रतीतिः । सामान्यलक्षणस्यात्राप्यनुगमात् । अथात्र कल्पनास्तीति चेत्, न । एवं
हि प्रतिभेदं लक्षणकरणप्रसङ्गः । समुच्चितत्वादेर्विशेषान्तरस्यापि भावात् । अयोपमानगुण-

विशिष्टोपमेयावगमफलत्वेनोपमायाः प्रतिभट्टयूनवस्वन्तराभावप्रयोजनत्वेन चास्याः पृथ-
गलंकारत्वमिति चेत्, न । अत्रोपमेयस्योपमानगुणविशिष्टतयैव प्रतीतेः फलभेदाभावात् ।
तथा हि 'आवर्जिता' इत्यादौ भगवत्या लताया सादृश्यस्य संचारिणीत्वेनाभावो मा
प्रसाङ्गोदिति तयोः साधर्म्यमेव द्रष्टव्यं कविना लतायाः संचारिणीत्वं कल्पितम् ।
नन्वत्र भगवत्या अन्यदुपमानं भास्तीति प्रतीयते । अनन्वयादिवदुपमानान्तरनिषेधस्य
वाक्यार्थत्वात् । मैवम् । एवमुपमेयस्यापि वैशिष्ट्यरूपेण उपमेयान्तरनिषेधफलत्वं
वाच्यम् । समानन्यायत्वात् । तद्यथा दृढारोपे रूपके विषयविषयिणोरभेदमेव द्रष्टव्यं
कस्यचिद्धर्मस्य हानिराधिभ्यं वा कल्प्यते, तथेहापि सामान्यदाढ्यायैव कल्पितत्वं ज्ञेयम् ।
अत्राप्यभेदालंकारालंकारान्तरत्व न वाच्यम् । रूपकेणैवास्या विशिष्टतेः सगृही-
तत्वात् । विषयविषयिणोरभेदो हि रूपकसतत्वम् । स एव चात्र दाढ्येन प्रतीयत इति
को नामास्य रूपकालंकारभावः । अभेदमात्रप्रतीतौ रूपकम्, नियतधर्महानावन्वयतः
सर्वतोऽप्यभेदप्रतीतावभेद इति प्रतीतिभेदोऽप्यस्तीति चेत्, न । एवं ह्यस्ति तावदभेद-
प्रतीतिरनुगता । यस्तु विशेषः स पृथग्भेदत्वं न्यवस्थापकोऽस्तु न पृथगलंकारत्वे । नहि
शाबलेयतामात्रेण गोश्वमच्छावस्यपदेरथ भवति । एव च—

'गृहीतविग्रह कामो घसन्तः सार्वकालिकः ।

जहार हृदय कामी निरत्यपूर्गं सुधाकरः ॥'

इत्यादौ गृहीतविग्रहत्वादेर्नियतस्य धर्मस्याधिक्येऽप्यलंकारान्तरप्रसङ्गः । इयं च
मालावादिमानन्तभेदेति तद्ग्रन्थविस्तरभयाच्च प्रपञ्चितम् ।

क्रम से उदाहरण—

'तत्रमत नाभिनलिन हरेगंगागनाभिरामस्य ।

पदपदाच्छादितगात्रो मल इव चन्द्रे यत्र विधि ॥'

'गंगनागु के समान अभिराम भगवान् विष्णु के उस नामिकमल को प्रणाम कीजिए जिसमें
अमूर्तों से ढँके मक्काजी चन्द्र में कल्प से प्रतीत होत हैं ॥' यहाँ उपमेय [विधि मक्का] का भ्रमरों
से ढँकना कल्पित है ।

'स्ननों से थोड़ी सी झुकी हुई तथा लूनरुण [बाल] सूर्य के समान बल धारण की हुई
[पार्वती जी] निकले पुण्य के स्नकों में झुकी पल्लवों से ढँकी और चलनी फिरती लता सी
[दिपलार्ज दी] यहाँ उपमान [लता] ने संचारिणीत्व कल्पित है ।

पेसा नहीं कि इसका लक्षण [सामान्य उपमा से] अलग किया जाए क्योंकि अन्तर्नोगत्वा
इसमें भी प्रतीति सादृश्य की ही [चमत्कारकारिणी] होती है । अतः सामान्यलक्षण इसमें भी
लागू होता है । यदि कहा जाय कि यहाँ कल्पना [तत्र अधिक] है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि
पेसा करने पर प्रत्येक भेद का पृथक् पृथक् लक्षण करना पड़ जायगा । क्योंकि मनुष्यचिन्तत्व आदि
भी नदीन भेद हैं । यदि कहा जाय कि उपमा का फल है उपमान के गुणों का उपमेय में ज्ञान
तथा इस [कल्पितोपमा] का फल है अन्य किमी समान वस्तु के अभाव का ज्ञान । इस प्रकार
फलभेद के कारण इस (कल्पितोपमा) का लक्षण अन्य किया जाना चाहिये तो वह भी ठीक
नहीं, क्योंकि यहाँ [कल्पितोपमा में] भी उपमानगुणों का उपमेय में ज्ञान नियमन होता है ।
अतः फलभेद भी नहीं है । स्पष्टीकरण के लिए "आवर्जिता" इत्यादि पद्य ही लीजिए । इसमें
लता स्थावर है और मयवती पार्वती जगम [संचारिणी] अतः पार्वती में लता का सादृश्य
[संचारिणीत्व को लेकर] घटना नहीं है । पेसा न हो इसके लिए उनके साधर्म्य को दृष्ट करने
हेतु कवि ने लता में भी संचारिणीत्व की कल्पना की । शका = यहाँ [कल्पितोपमा में] लता

को छोड़] अन्य कोई वस्तु भगवती पार्वती का उपमान नहीं है यह प्रतीति भी होती है, क्योंकि वहाँ जो वाच्यार्थ है उसका स्वरूप अनन्वय आदि के समान ही अन्य उपमान का निषेध है ! किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे तो जहाँ उपमेय में वैशिष्ट्य की कल्पना की जाती है वहाँ भी अन्य उदमेय के निषेध की प्रतीति मानी जा सकती है, क्योंकि बात बराबर है । इसलिए जैसे दृढारोप रूपक में विषय और विषयी के अभेद को दृढ करने के लिए किसी धर्म की हानि या अधिकता की कल्पना की जाती है उसी प्रकार यहाँ [कल्पितोपमा में] भी सामान्य [साधर्म्य] की दृढ़ता के लिए कल्पितत्व को जानना चाहिए । यहाँ [कल्पित रूपक में] भी अभेदनामक भिन्न कोई अलंकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस विच्छिन्नि का संग्रह भी रूपक में ही हो जाता है । रूपक का रूपकत्व है विषय और विषयी का अभेद । यहाँ वह केवल दृढ़ता के साथ प्रतीति होता है इसलिए इसे रूपक से पृथक् कैंते माना जा सकता है । यदि वह कहा जाय कि रूपक वहाँ माना जाना चाहिए जहाँ केवल अभेद की प्रतीति होती हो और अभेद वहाँ जहाँ किसी निश्चित धर्म की हानि होने पर अन्य सबसे अभेद, इस प्रकार इन दोनों की प्रतीतियों में भी भेद है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर भी अभेदप्रतीति तो अभेदालंकार में रहेगी ही और वही रूपक में भी रहेगी । अतः वह दोनों में ही रहता है । सामान्य रूपक से [कल्पित रूपक] का जो अन्तर है इसे रूपक का स्वतन्त्र भेद तो माना जा सकता है किन्तु पृथगलंकार नहीं, केवल चितकवरेपन से गोत्व को अन्वय नाम से थोड़े ही पुकारा जाता है । यदि ऐसा मानों तो “वह कामी पुरुष शरीरधारी काम है, सर्वदा रहने वाला बसन्त है और सदा पूर्ण रहने वाला चन्द्रमा । उसने हृदय हर लिया है ।” इत्यादि में निश्चय धर्म गृहीतविग्रहत्व आदि की अधिकता है । यहाँ भी भिन्न अलंकार की कल्पना करना पड़ जायगी ।

यह [उपमा] मालत्व, कल्पितत्व आदि के क्रम से इतने भेदवाली हो जा सकती है कि जिनका अन्त नहीं, अतः ग्रन्थविस्तार के भय से उनका निरूपण विस्तारपूर्वक नहीं किया ।

विमर्शः— कल्पितोपमा भरतमुनिने भी दिखलाई है । “मतंगजा विराजन्ते जंगमाश्च पर्वताः” — में जंगमपर्वत कविकल्पित है अतः उपमान के कविकल्पित होने से उपमा कल्पित है । विमर्शनांकार की कल्पितोपमा का कदाचिदपि यही मूल है । वामन ने भी मानी है । किन्तु उनकी कल्पितोपमा विमर्शनांकार की कल्पितोपमा से भिन्न है । विमर्शनांकार ने भी इसमें कविकल्पना का भरितत्व स्वीकार किया है किन्तु इनकी कविकल्पना सादृश्य में आ रहे विष्णु को दूर करने के लिए अनिवार्य है । वामन ने कल्पना को प्रसिद्ध उपमानातिरिक्त उपमानकल्पना तक सीमित रखा है यथा “नारंगी कैसी है ? जैसे मत्स हूण (पठान) को तुरंत मुझी दादी” । “शिरौष पुष्प कैसा है ? जैसा तुरत फूटा कुशाग्रमान” स्पष्ट ही यहाँ सादृश्य में काई विष्णु नहीं आ रहा जिसका निवारण करने के लिए कवि ने प्रसिद्ध उपमानों को छोड़ नवीन उपमानों की चोखना की है । मृच्छकटिक में भी “मेघो जलार्द्रमहिषोदरचक्रनीलः” “मेघ पानी से सींगे जैसे के पेट और भ्रूंग सा नीला है” इत्यादि अनेक नवीन उपमान मिलते हैं । काव्यमीमांसा में “अग्निवक्त्रोपस्थादुः करौपतनूनपाद”० इत्यादि पद्य इसका अच्छा उदाहरण है । इसमें भी कृते की आग को ठंड के दिनों में नवोला के कोप की उपमा ली गई है । नवीन उपमानों की कल्पना भवभूति, राजशेखर और श्रौडपं आदि परवर्ती कवियों ने पर्याप्त मात्रा में की है ।

उपमा के लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों में इस प्रकार मिलते हैं—

भामह—“विरुद्धोपमानेन देशकालक्रियादिभिः ।

उपमेयस्य यद् साम्यं गुणलक्षणेन सोपमा ॥ २ । ३० ॥

देश, काल, क्रिया आदि [अनेक तत्वों] में परस्पर असमान रहने पर भी उपमान और उपमेय का जो किसी गुण में समान होना बतलाया जाता है वह उपमान है ।' [देशकालक्रियादिभिः विरुद्धेन अमानेन उपमानेन देशकालक्रियादिभिः विरुद्धस्य असमानस्य यत् गुणलेशेन केनचिद् गुणेन साम्य समानत्वं तदेव उपमा' इति भावार्थ ।]

धामन—'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशेन साम्यमुपमा' ॥ ४।२।२॥

'उपमान के साथ गुणलेश में जो उपमेय का साम्य बही उपमा'

निश्चिन ही यह आमह के लक्ष्म का संशोधन है ।

उद्धट = 'यच्चेतोद्धारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो ।

मियो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ॥ २।२।५

'विभिन्नकालादिवाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादित उपमान तथा उपमेय का परस्पर में जा विचारार्थक साधर्म्य बही उपमा है ।'

रुद्धट = 'उभयो समानभेदो गुणादि सिद्ध भवेद् यथेकत्र ।

अर्थेऽन्यत्र तथा तस्माध्यन इति सोपमा ॥' ८।६॥

'गुण आदि ऐसा क्षेत्र धर्म जो दो वस्तुओं में समानरूप से प्रसिद्ध हो तो [दोनों वस्तुओं में ने] एक की ही भाँति दूसरे में भी जो उसकी सिद्धि की जाती है उसीको उपमा कहते हैं ।'

मम्मट = 'साधर्म्यमुपमा भेदे ।'

'भेद रहते हुए जो समानधर्मनवन्व उसीको उपमा कहा जाता है ।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि अलङ्कारसर्वस्वकार ने उद्धट और मम्मट का अनुसरण किया है । साधर्म्य और सादृश्य में प्राचीन आचार्यों ने [मम्मट के समान महिममट्ट ने भी] उतना अन्तर नहीं देखा जितना परवर्ती पण्डितराज आदि ने साधर्म्य और सादृश्य में, जो समान के कारण "सा"—शब्द के रूप में परिणत समान शब्द है वह इन दोनों का एकमात्र बुद्धिपरमत्व सिद्ध करता है । जो कुछ भी समानता या साम्य है वह द्रष्टृसापेक्ष है, वस्तुसापेक्ष नहीं । 'समानो धर्मो-ययोन्मी सधर्मो तयोर्भावः साधर्म्यम्,' 'समाना इक् [दर्शनं] ययोस्ती सद्रशी तयोर्भावः सादृश्यम्' इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से दोनों ही प्रतीतिरूप पर निर्भर लगते हैं । वस्तुन- जो साम्य विषयगत दृष्टि से साधर्म्य है वहाँ विषयगत दृष्टि से सादृश्य है । प्रतीतिरूपराज की इस पक्ति से यह तथ्य अधिक स्पष्ट है—'उपमानोपमेययोः यत् साधर्म्यं समानो धर्मः तेन सवन्वो यः सा उपमानोपमेययोः सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदेतुत्वादुपमा'—समानधर्म-सबन्धरूप साधर्म्य वस्तु को सादृश्य के द्वारा महदय के पास पहुंचता है अर्थात् साम्यज्ञान में वस्तु को उपादानरूप से प्रस्तुत करता है ।' यह विचारमात्र का क्रम है । चमत्कारानुभव जो अलङ्कार का बीज है प्रतीतिरूप ही है फलतः महत्त्व साम्यप्रतीति को ही मिलना चाहिए । करिगतोपमा का जो रूप विमर्शिनोत्तर ने प्रस्तुत किया है और जिसका अनुसरण पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है वह हम मान्यता में और भी सबल प्रमाण है । वहाँ तो उपमान या तद्गत धर्म एकमात्र प्रातीतिक ही है । लना में संचारिणीत्व धर्म केवल बौद्धिक या प्रातीतिक है । इसीप्रकार

"स्तनामोगे पतन् माति कपोलात् कुटिलोऽय्यकः ।

शशाकविम्बो मेरो लम्बमान श्वोरग ॥" रसगंगा० ॥

मुन्दरी का कुटिल अर्थक कपोल पर से होना हुआ विपुल स्तनों पर पड़ता हुआ ऐसा लग रहा है जैसे चन्द्रकिम्ब से मेरु पर लटका हुआ कोई सर्प ।'—यहाँ चन्द्रकिम्ब में सर्प का अस्तित्व उमके

नेत्र पर लटकने के ही समान काल्पनिक या प्रातीतिक है। इस तथ्य का विशदोकरण का श्रेय एकमात्र विनिर्देशीकार जयरथ को है। व्यक्तिविवेकतार महिमभट्ट ने लक्षणा के खण्डन में सादृश्य और साधर्म्यशब्दों का पर्यायशब्दों के रूप में ही प्रयोग किया है—

‘न हि अनुन्मत्तः कश्चित् कश्चित् किञ्चित् कथञ्चित् साधर्म्यम् अनुत्पश्यन्नेव अकस्मात् तत्त्वमारोपयति’ इति परिशालितवक्तृस्वरूपः प्रतिपत्ता ‘तत्तारोपनिमित्तं सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तुमर्हति ।’ [द्रष्टव्य = इसपर हमारा हिन्दोविमर्श पृ० ११४-१६]

उपमान और उपमेय के लक्षण भी आचार्यों ने दिए हैं। वामन ने—

“उपमीयते सादृश्यमानोयते येनोत्कृष्टगुणेन अन्यत् तदुपमानम्”

“यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्”

अर्थात्—“उत्कृष्ट गुणवाली जिन वस्तु से अन्य वस्तु सादृश्य को पहुँचाया जाता है वह उपमान कहलाती है और न्यूनगुणवाली जो वस्तु उपमित होती है वह उपमेय कहलाती है”—इस प्रकार उपमान और उपमेय में गुणगत अधिकता और न्यूनता को भी महत्त्व दिया है।

उद्भट्टकृत काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकार प्रतापहरेन्दुराज ने इनका विवेचन इस प्रकार किया है—

“सादृश्यसम्बन्धित्वेनोपादायते यत् प्राकरणिकं तत् उपमेयम् ।”

जो प्राकरणिक पदार्थ सादृश्यसंकर्धारूप से वाक्य में अपनाया जाता है वह उपमेय होता है।

इसके स्पष्टीकरण में एक एक विशेषण पर बल देने हुए उन्होंने अत्यन्त सहृदयता के साथ लिखा है—

‘न खलु प्राकरणिकत्वापि सादृश्यसम्बन्धित्वेन अनुपादीयमानस्य उपमेयता। यथा ‘राज्ञः पुरुषमानस्य’ इत्यत्र पुरुषस्य । पुरुषो हि अत्र आनीयमानत्वेन चोद्यमानत्वात् सत्यपि प्राकरणिकत्वे सादृश्यसम्बन्धित्वेनानुपादीयमानत्वान्नोपमेयः। सत्यपि च सादृश्यसंबन्धित्वेनोपादाने यस्य प्राकरणिकत्वं नास्ति तस्योपमानत्वम् न उपमेयत्वमिति प्राकरणिकमित्युक्तम् । नदेवं सादृश्यसंबन्धित्वेनोपादीयमानं यत् प्राकरणिकं तदुपमेयम् । तद्वि उपमानेन सादृश्यप्रतिपादनद्वारेण समीपे क्षिप्यते तस्मादुपमेयम् । अप्राकरणिकं तु तथाविधमेवोपमानम् ।’

जो प्राकरणिक भी हो किन्तु सादृश्य सम्बन्धी के रूप से उपात्त न हो वह उपमेय नहीं होता। जैसे ‘राजा के आदमी को लोभी’ में आदमी। आदमी जो है वह यहाँ आनीयमानरूप से कथित है न कि सादृश्यसम्बन्धिरूप से। अतः प्राकरणिक होने पर भी वह उपमेय नहीं है। इसी प्रकार सादृश्यसंबन्धिरूप से उपात्त होने पर जो प्राकरणिक नहीं होता वह उपमान होता है, उपमेय नहीं। इसलिए जो प्राकरणिक भी हो और सादृश्यसम्बन्धी भी वहीं उपमेय होता है। वह उपमान के द्वारा सादृश्यप्रतिपादन द्वारा उप = समीप में फेंका जाता है [मेव] इतलिए उपमेय नाम से पुकारा जाता है। जो अप्राकरणिक हो और सादृश्यसम्बन्धी भी वह उपमान कहलाता है।

इस प्रकार प्रतापहरेन्दुराज उपमान और उपमेय में गुणगत न्यूनताधिकभाव पर निर्भर न रह उनके प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व पर बल देते हैं।

अर्थालंकारों का विवेचन भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न अलंकार से आरम्भ किया है। भरत मुनि ने उपमा से ही आरम्भ किया है। दिग्गुणमोत्तरपुराण ने रूपक से। भामह और उद्भट्ट ने रूपक से आरम्भ किया है। रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है। इनमें प्रथम है वास्तव्य, द्वितीय है औपम्य, तृतीय है अतिशय्य और चतुर्थ है श्लेष। उपमा की गुणना औपम्य के अन्तर्गत की गई है। यद्यपि अपने इस वर्ग में प्रथम स्थान उपमा को ही दिया गया है, तथापि

अर्थालङ्कारों का विवेचन वास्तव वर्ण से कर और वाग्वच में प्रथम स्थान सहोक्ति को दे उमें वाछित गौरव से दूर रखा है। दण्डी वामन और मम्मट ने उपमा में ही अर्थालङ्कार का विवेचन आरम्भ किया है, किन्तु दण्डी को ग्रन्थकार ने कम आदर दिया है। इस प्रकार अलङ्कारसर्वस्वकार ने मम्मट और वामन के अनुकरण पर उपमालङ्कार से अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार ने उपमा के विवेचन में वामन का अनुकरण करने हुए भी उन्हें आक्षिप्त मद्दत ही दिया है। वे उद्धृत के अलङ्कारमारसग्रह पर अधिक निर्भर रहे हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारसर्वस्व के उपमा लक्षण को अतृणा छोड़ दिया — यह आश्चर्य की वान है। आश्चर्य की एक बात यह भी है कि वृत्ति और विमर्शिनो दोनों के रचयिताओं ने सूत्र में उल्लिखित 'भेदाभेदतुल्यत्व' का एक भी उदाहरण नहीं दिया। विन्वप्रतिविन्वभाव और वस्तुप्रति-वस्तुभाव पर उन्होंने अधिक बल दिया।

वस्तु-चमत्कार का कारण ही अलङ्कारों का विभाजक होना है। उपमा में वह सामर्थ्य का मादृश्य है। व्यतिरेक आदि में व्यतिरेक आदि चमत्कार के कारण । अतः भेदाभेदतुल्यत्व विशेषण छोड़ा जा सकता है। 'उपमानोपमेय' शब्द भी अधिक आवश्यक नहीं। साधर्म्य एकमात्र उपमानो-पमेय में ही होता है। इमोलि- मम्मट ने उन्हें लक्ष्य में स्थान नहीं दिया। अप्रतीति या अवर्गनी-यता का निराकरण साधर्म्यगत चमत्कारकारित्व में ही हो जाता है। ये दोष रहने हुए चमत्कार निःपन्न नहीं होगा। "चमत्कारि साधर्म्यमुपमा" चमत्कारकारक साधर्म्य उपमा है—इतना लक्षण ही उपमा के लिए पर्याप्त है। उपमाज्वनि में चमत्कार ज्वनि में होता है, अतः पण्डितराज द्वारा प्रदत्त विशेषण 'वास्तवार्थोपस्कारत्व' भी व्यर्थ है। जहाँ केवल शब्दार्थ रहते हैं वहाँ उन्हीं का उप-स्कार होता है। पण्डितराज जगन्नाथ के उपमा लक्षण में 'उपमाहृति' यह जो अलङ्कृति शब्द है यह भी अनपेक्षित है, क्योंकि प्रकरण अलङ्कार निरूपण का है। अतः अलङ्कारभूत उपमा का ही लक्षण होने से लौकिक अलङ्कारभूत उपमा का लक्षण प्राप्त ही नहीं होता। अस्तु, यह स्वतन्त्र विवेचन का विषय है।

मजाविनीकार ने उपमा का लक्षण कारिकाारूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

भेदाभेदतुल्यवृत्तौ साधर्म्यमुपमोच्यते ।

धर्मविच्छिन्नवस्तुत्वैविध्यमुपयाति सा ॥'

[सर्वस्व]

[सू० १३] एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ॥

वाच्यामिप्रायेण पूर्वरूपानुगम । एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गो द्वितीय-
सत्रह्यचारिनिवृत्त्यर्थः । अत एवाऽनन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति । यथा—

'युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथितप्रतापो

भीमोऽपि भीम इव वैरिषु भीमकर्मा ।

न्यग्रोधवर्तिनमथाधिपतिं कुरूणा-

मुत्प्रासनायमिव जग्मतुरादरेण ॥'

[सू० १३] 'एक ही [पदार्थ] का उपमान [और] उपमेय [दोनों] होना अनन्वय [कहलाता है] ।'

विमर्शिनी

एकस्वेवेत्यादि । ननु सादृश्याश्रयणामलंकाराणां लक्ष्यितुं प्रस्तुतत्वात्सादृश्यस्योभय-
निष्ठत्वेनैव संभवादेकस्य च तदभावसक्यमिहातदाश्रयस्याप्यस्य वचनमित्याशङ्क्याह—
वाच्याभिप्रायेणेत्यादि ।

शंका होती है कि प्रकरण है सादृश्यमूलक अलंकारों के लक्षण का और अनन्वय में सादृश्य-
मूलता है नहीं, क्योंकि सादृश्य दो भिन्न पदार्थों में रहता और अनन्वय पदार्थ केवल एक ही होता
है, ऐसी स्थिति में इसका लक्षण यहाँ क्यों किया जा रहा है । इसके उत्तर में कहते हैं—
वाच्याभिप्रायेण आदि ।

[वृ०] वाच्य को लेकर [यहाँ] पूर्वरूप [सादृश्याश्रयत्व = उपमात्व] की प्रतीति होती है ।
वस्तुतः तो [उपमानत्व और उपमेयत्व इन परस्पर] विरुद्ध धर्मों का एक ही [पदार्थ] के साथ
सम्बन्ध का प्रयोजन है [व्यंग्य के रूप में] द्वितीय उपमान की निवृत्ति । इसी [विरुद्ध धर्मों के
एक के साथ संबन्ध के] कारण यह अनन्वय इस शब्द का [“अनन्वय” = [अनन्वय = उपमानोपमेय-
संबन्ध का अभाव] यह योग [शक्तिलन्वय अर्थ] में यहाँ हो सकता है । उदाहरण—

शुद्ध में प्रताप फैलाने में जो अर्जुन अर्जुन के ही समान है और शत्रुओं के बीच भयंकरता
वरतने में भीम भीमके ही समान है, वे दोनों बटवृक्ष के नीचे बैठे कुहनों के स्वामी [धृतराष्ट्र]
के पास उसे मानों और भी अधिक लज्जित करने के लिए आदर पूर्वक पहुँचे ।”

विमर्शिनी

पूर्वरूपेति । सादृश्याश्रयत्वस्येत्यर्थः । अस्त्येव ह्यत्र शाब्दी सादृश्यप्रतीतिः । मुखं चन्द्र
श्वेत्स्यादिवदेवात्रोपमानोपमेयत्वस्य वाच्यतयोपनिबन्धनात् । अत एवाह—वाच्याभिप्रा-
येणेति । न पुनर्वस्वभिप्रायेणेत्यर्थः । वस्तुतो ह्येकस्यैव साध्यसिद्धधर्मरूपत्वात्संभवाद्दुप-
मानोपमेयत्वेऽपि विरोधः स्यात् । इत्थं शाब्दमेव सादृश्यानुगममाश्रित्वेहास्य लक्षणम् ।

ननु यथेवमेकस्योपमानोपमेयत्वं विवक्ष्यते तर्हि वस्तुविरुद्धेन निष्फलेन चैतेनेत्याश-
ङ्क्याह—एकस्येत्यादि ।

पूर्वरूप = सादृश्याश्रयत्व = सादृश्यमूलरूप । वहाँ भी सादृश्य का ज्ञान शब्द से तो होता
ही है । क्योंकि ‘मुख चन्द्र के जैसा है’ इत्यादि वाक्य के समान यहाँ भी उपमानोपमेयभाव वाच्य-
रूप से उपनिबन्ध रहता है । इसीलिए कहा “वाच्य को लेकर” । अर्थ यह कि वास्तविकरूप से
नहीं । वास्तविक रूप से तो यह संभव नहीं कि एक ही वस्तु साध्य भी हो और सिद्ध भी । अतः
एक ही वस्तु में उपमानत्व (साध्य) और उपमेयत्व (सिद्ध) का होना विरुद्ध है । इसलिये
केवल शाब्दिक सादृश्य की प्रतीति देखकर यहाँ (सादृश्य के प्रकरण में) इस [अनन्वय] का लक्षण
किया जा रहा है ।

शंका होती है कि यदि एक ही पदार्थ का उपमान और उपमेय होना विरुद्ध है तो वास्तविक
रूप से विरुद्ध होने के कारण [कान्य में] इस [प्रकार के] निरर्थक [लिखने] से क्या लाभ ।
इत्तर उत्तर देते हुए [श्रुतिकार] लिख रहे हैं—‘एकस्य इत्यादि’ ।

विमर्शिनी

एवं चास्य द्वितीयसत्रस्यचारिनिवृत्तिरेवालंकारत्वप्रतिष्ठापकं ग्रमाणम् । अन्यथा
पुनर्नास्थालंकारत्वम् । यथा—

‘तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजा मे कर्णोपकण्ठपलितं करिणी जरेयम् ।

यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सोऽयमद्यापि तन्मयि गुरोर्गुरुपक्षपातः ॥’

अत्र यथैव गर्भरूप मा गुरुन्वशात्तथैवाद्याप्यनुशास्तीति सत्यप्येकस्योपमानोपमेयत्वे द्वितीयसव्यह्यचारिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यमानान्नायमलङ्कार । एकस्यैवावस्थामेदेन च सिद्धसाध्यधर्मसमवायोपमानोपमेयत्वरूपविरुद्धधर्मसंसर्गः । अत एवेति । विरुद्धधर्मसंयोगात् । एकस्यैव सिद्धसाध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वयः मचन्धो यत्र स तयोक्तः । अर्जुनादन्यो युद्धे प्रथितप्रतापो नास्तीति द्वितीयसव्यह्यचारिनिवृत्तिरत्र जीवितमृता प्रनीयत एव । अत एव कार्तवीर्यहिंस्रसत्त्वयोरुपमानरूपयोरप्रतीतेः शुद्धमेवैतदुदाहरणम् ।

‘इत्तिअमेतुम्मि अए सुन्दरमहिलासहस्सभरिअम्मि ।

अणुहरह णवरं तिस्पा, अमाअं दाहिणद्धस्स ॥’

हृत्पादौ चानन्वयोदाहरणत्वं न वाच्यम् । अप्रान्यायार्थान्यायस्योपमीयमानत्वेनोपमाया अभिवीच्यमानत्वात् । अस्य ह्युपमानान्तरनिषेधपर्यवसाय्यभिधीयमानमेकस्यैवोपमानोपमेयत्व इवरूपम् । न च तत्र शब्देनाभिधीयतेऽपि तु स्वयज्यत इति प्रतीयमानत्वं युक्तेति न वाच्यत्वमस्येति वाच्यम् । एवं अलङ्कारचरनेर्दिपयापहारः स्यात् । एवम्

‘गन्धेन मिनुरधुरधर वक्त्रमेग्रोमैरायणप्रमृतयोऽपि न दिदिनास्ते ।

तस्यं कचिग्रनयनाचलरत्नभित्तिस्वीयप्रतिच्छुनिपु यूथपतिरवमेपि ॥’

हृत्प्राप्यनन्वयो न वाच्यः । स्वीयप्रतिषिध्यैव सादर्यप्रतीतेस्तद्गन्धस्याप्यभावात् । यदि नाम चतुःप्रतीयेत तदप्यस्य प्रतीयमानत्व स्यान्न वाच्यत्वम् । धधोक्तव्यायात् । एवं च नदेकदेशोनाशितभेदेन धेयपास्य उपमानतया कल्पितेन सेनेव सादश्यमनन्वय इत्येव त्वया सूत्रणीयम् ।

‘प्रसमानमिषीजांसि सदस्यैर्गौरवेरितम् ।

नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विपोऽपि स पुमान्पुमान् ॥’

हृत्पत्र पुंसु पुस्वकारोपादनन्वयरूपकमिति यदर्थ्यश्नत तदयुक्तम् । एकस्यैव विष्यनुवादमावेनावश्यानाश्रयोपामावात् ।

इस प्रकार द्वितीय समान की निवृत्ति ही हमें [अनन्वय] का अलङ्कारत्व प्रतिष्ठापक प्रमाण है । इसने बिना हमने अलङ्कारत्व सम्व नहीं । यथा—

‘उमीकी आशा से’ प्रजा का परिपालन करते हुए मेरी यह जरावस्था आ गज जिसने, मेरे कान के पास के जेठ पका दिए हैं । क्योंकि आज भी मुझे नवजान शिशु के समान समझाने हैं, अन. गुरुजीया मेरे ऊपर वही महान् अनुग्रह है ।”

इसने “जिम प्रकार गुरु जी मुझे तन समझाने मे जब मैं नवजान शिशु तुम्हें अवोध था उमी प्रकार आज भी मुझे समझाने हैं” इस वाक्य में यद्यपि उपमान और उपमेय एक ही तत्त्व है तथापि यहाँ द्वितीय समान की निवृत्ति नहीं होता, अत यहाँ यह अलङ्कार नहीं होता । यदि अवस्थागत भेद ही तो एक ही वस्तु में सिद्धसाध्यमान बन जाता है तब ‘उपमानत्व’ और ‘उपमेयत्व’ इन विरुद्धधर्मों का संसर्ग नहीं होता [दोनों पृथक्-पृथक् रहे आते हैं । एक दूसरे से मिल नहीं पाते] । अतएव = इमील्लिप अर्थात् विरुद्धधर्म संसर्ग के कारण । एक ही वस्तु के सिद्ध और साध्यरूप उपमानत्व और उपमेयत्व रूपसे नहीं होना ॥ अन्वय = सवन्व विमर्श ऐसा । ‘अनु’ न से भिन्न अन्य कोई शुद्ध से प्रथितप्रताप नहीं है’ इस प्रकार द्वितीय समान की निवृत्ति ही यहाँ प्राणस्वरूप

प्रतीत होती है। इसलिए [अनुचन का अर्थ] कार्तवीर्य और [भीम शब्द का अर्थ] हिंसक प्राणी उपमानरूप से यहाँ प्रतीत नहीं होते, फलतः यह [अनन्वय का] सर्वथा शुद्ध [निर्दोष] उदाहरण है।

‘पताबन्माने जगति सुन्दरमहिलासहस्रभरितेषु ।

अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥’

‘यह संसार इतना बड़ा है और सहस्रों सुन्दर महिलाओं से भरा हुआ है, तथापि उसका चामांग केवल उसीके दक्षिणार्ध की वनावट का है।’ इत्यादि को अनन्वय का उदाहरण नहीं मानना चाहिए [जैसाकि शोभाकर मित्र ने अपने अलंकाररत्नाकर में माना है]। यह इसलिए कि यहाँ एक अंग से दूसरे अंग की उपमा है और वह स्वयं अभिधावृत्ति के द्वारा यहाँ प्रतिष्ठित है [पर्यवसान में अभावात्मक सिद्ध नहीं होती]। यह जो अनन्वय है इसका स्वरूप है एक ही वस्तु का अभिधा द्वारा प्रतिपादित ऐसा उपमानोपमेवभाव जो अन्य उपमान के अभाव में परिणत हो। शंका—वह अभाव यहाँ शब्द से नहीं कहा जाता। उसकी प्रतीति तो श्रृंखला से होती है। इसलिए उसका व्यंग्य होना ही उचित है वाच्य होना नहीं। समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से तो अलंकारध्वनि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार—

‘हे सिन्धुरधुरंधर [गनदात्त = गणेश] तुम्हारे गन्ध के कारण ऐरावत आदि को भी तुम्हारे चेहरे की समानता पाने का अभ्यास नहीं है। इसलिए तुम कैलाश की दीप्त रत्नभित्तियों पर प्रति-
फलित होती अपनी ही अनेक प्रतिच्छविओं के बीच धूपतिपद प्राप्त करते हो।’ यहाँ भी [शोभाकरने जो] अनन्वय [माना है वह] नहीं मानना चाहिए। प्रतिबिम्ब भले ही स्वयं के ही हों किन्तु उनके साथ सादृश्य प्रतीत हो ही जाता है। अतः यहाँ उस [अनन्वय] की गन्ध भी नहीं है। यदि वह [अनन्वय] यहाँ प्रतीत भी होता तो व्यंग्यरूप में ही होता होगा, वाच्यरूप में नहीं। हेतु ऊपर दिया जा चुका है। इसलिए [शोभाकर मित्रजी] आपको [तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन वा उपमानतया कल्पितेन अनन्वयः = एक ही पदार्थ या उसका एकदेश यदि उपमानरूप से कल्पित किया जाय तो वह अनन्वय होता है—ऐसा सूत्र न बनाकर केवल “उपमानतया कल्पितेन तेनैव सादृश्यमनन्दयः = उपमान रूप से कल्पित उसी (उपमेयभूत) पदार्थ के साथ सादृश्य अनन्वय” इतना ही सूत्र बनाना चाहिए।

“समासदो द्वारा गौरवपूर्वक उच्चारित और मानीं ओज को पांता हुआ सा जिसका नाम शशु द्वारा भी अभिनन्दित हो वही पुरुष है।” यहाँ पुरुष पर पुरुषत्व के आरोप के कारण जो कुछ लोगों ने अनन्वयरूपक माना है वह ठीक नहीं है। यहाँ आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ जो पदार्थ उद्देश्य है वही विधेय है।

. विमर्शः—(१) निर्णयसागरीय संस्करण में ‘वाच्याभिप्रायेण’ इत्यादि वृत्थंश इस प्रकार का है—‘वाच्याभिप्रायेण पूर्वस्मावगमः।’ विनाशिनोकार ने “सादृश्यानुयममाश्रित्य” लिखा है अतः हमने अवगम को अनुगम बना दिया है। संजीविनी में भी यही पाठ है उस में ‘अत्र’-शब्द और जुड़ा हुआ है ‘वाच्याभिप्रायेणात्र’ इस प्रकार।

संजीविनीकार ने पूर्वरूप का अर्थ किया है, पूर्व = पूर्वतः सिद्ध उपमेव तद्रूप और इसके आधार पर उपमान को अपूर्व कहा है। “पूर्वं रूपमुपमेयत्वम् अपूर्वं रूपमुपमानत्वम्।” अनुगम का अर्थ किया है उपमेयत्व का अनुगम।

(२) डॉ० रामचन्द्र दिवेदी ने ‘विरुद्ध धर्म’ का अर्थ किया है ‘अपने से विरोधी धर्म।’

इन दोनों के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि उपमेय भिन्न उपमानसे अन्वित होता है न कि एक ही पदार्थ [अर्जुन आदि] का [परस्पर विरुद्ध] उपमानत्व और उपमेयत्व से अन्वय होता है ।

(३) निर्णयसागरसंस्कारण में “एकस्यैव अवस्थाभेदेन च सिद्ध-साध्यधर्मसमवायोरुपमानोपमेयत्वस्य विरुद्धधर्मभ्रमः” ऐसी पक्ति है [यहाँ पृष्ठ १०० पर पक्ति ४-५] । हमने अर्थ स्वारस्य की दृष्टि से पद्यी के स्थान पर ‘रूप’ शब्द जोड़ दिया है ।

(४) अवस्थाभेद से व्यक्तिभेद होने पर भी शोभाकरमित्र ने अलङ्काररत्नाकर में अनन्वय माना है और उसके वे ही उदाहरण दिये हैं जो यहाँ विमर्शिनीकार ने । विमर्शिनीकार रत्नाकर का उपर्युक्त रूप भी उद्धृत करते और उसका परिष्कार करते हैं । रत्नाकर की इस मान्यता का खण्डन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है । वस्तुतः शोभाकर ऐसे स्थलों पर अनन्वयध्वनि की ओर सकेत करने हैं जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता ।

सजीविनीकार ने इस प्रकरण को इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

“विरुद्धधर्मसर्गस्तुल्यान्तरनिवृत्तये ।

ततस्तदन्वयाभावाद् भवेदयमनन्वयः ॥”

विरुद्ध धर्म संसर्ग का अर्थ उन्होंने भी “एकस्यैवोपमानोपमेयकल्पिते” एक ही को उपमान और उपमेय बनाना, किया है ।

अन्य भाचार्यों ने अनन्वय के लक्षण इस प्रकार किए हैं—

भरतमुनि = भरतमुनि ने अनन्वय को ‘सदृशी उपमा’ नामक उपमाका भेद माना है ।

उनके

यत्त्वयाद्य कृत् कर्म परिचक्षानुरोधिना ।

सदृश तद्य तवैव स्यादिति मानुषकर्मणः ॥ [१६।५० नाट्यशास्त्र बर्हीदा स.]

इस उदाहरण से बहू तथ्य स्पष्ट है । अभिनवगुप्त ने इसका सदृशी के स्थान पर ‘असदृशी’ नाम भी बल्लया है । असादृश्य और अनन्वय एक ही हैं ।

भामहू तथा उद्भट = ‘यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता ।

असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ ४।४५ काव्याल०

सादृश्य का अभाव बतलाने के लिए नहीं जो उपमेय ही वही उपमान ही तो हमे अनन्वय कहते हैं ।’

वामन = विरोधप्रसंगेनानन्वयं दर्शयितुमाह—

‘एकस्योपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ॥’

अन्यासादृश्यमेतेन प्रतिपद्यते ।

विरोध के प्रसंग में अनन्वय दिखलाते हुए लिखते हैं कि “एक ही पदार्थ यदि उपमान और उपमेय दोनों हो तो अनन्वय होता है ।” इसमें अन्य के साथ उसका सादृश्य नहीं है ऐसा प्रतीत होता है ।

रुद्रट = रुद्रट में अनन्वय नहीं मिलना ।

मम्मट = ‘उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकताऽन्यगे । अनन्वयः ।’

एक ही पदार्थ यदि एक ही वाक्य में उपमान और उपमेय दोनों ही हो तो उसे अनन्वय कहते हैं ।

शोभाकर = ‘तेनैव तदेकदेशेनावसितभेदेन योपमानतया कल्पितेन अनन्वयः ।’ अर्थ विमर्शिनी में किया जा चुका है । . . .

इससे स्पष्ट है कि अनन्वय में 'द्वितीयसदृश निवृत्ति' पर आचार्यों का ध्यान भारन्म से ही था। विरोधमूलक कहकर वामन ने उसमें विरुद्ध धर्मसंसर्ग को भी आँक लिया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन सभी अभिप्रायों को चालनोन्याय से चीन बटोर कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“द्वितीयसदृशव्यवच्छेदनुद्धिफलकं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः ।”

‘ऐसा सादृश्य अनन्वय होता है जिसमें उगमान और उपमेय दोनों एक ही पदार्थ हो तथा जिससे किमों संभावित द्वितीय सदृश का निराकरण फलित हो ।’

पण्डितराज जगन्नाथ ने जरूर के इस मत पर कि ‘पुनमात्रे०’ तथा ‘गन्धेन०’ इत्यादि पदों में अनन्वय ध्वनि हो सकती है—आक्षेप करते हुए लिखा है कि द्वितीयसदृशव्यवच्छेदमात्र की ध्वनि को अनन्वय की ध्वनि नहीं कह सकते, क्योंकि वह कल्पितोपमा में भी होती है और अति-शयोक्ति में भी। असमालंकार में भी उसका अस्तित्व रहता है। कल्पितोपमा में विमर्शनीकार भी इसे स्वीकार कर चुके हैं।

वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ ने विमर्शनी को ठीक से नहीं देखा। पण्डितराज ने उसका मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘यद्यपि चालंकारसर्वस्वकृता अनन्वयध्वनित्वमत्र भविष्यति, अन्यथाऽलंकारध्वनेर्विप-
धापहारः स्यात् इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम् ।’

यहाँ एक तो उन्हें यह विदित नहीं है कि यह मत अलंकारसर्वस्वकार का नहीं विमर्शनीकार का है, जिसका आधार अलंकारसर्वस्व के बाद बना अलंकाररत्नाकर है। दूसरे उन्हें यह विदित नहीं कि विमर्शनीकार भी दनी जवान से ही यहाँ अनन्वयध्वनित्व की बात करते हैं। पण्डितराज ने या तो केवल खण्डन के लिए ही इसे तूल दे दिया है या उन्हें पाण्डुलिपियों गलत मिली हैं। हो सकता है रसगंगाधर की ही पाण्डुप्रतियों में दोष रहा हो और संपादक उसे सुधार न पाए हों।

[सर्वस्व]

[सू० १४] द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ॥

तच्छब्देनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्शः । पर्यायो यौगपद्याभावः । अत-
एवात्र वाक्यभेदः । इयं च धर्मस्य साधारण्ये वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देशे च
द्विधा ।

आद्ये यथा—

‘समिव जलं जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः ।

कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥’

द्वितीये यथा—

‘सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाभ्युजा ।

वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गनाः ॥

[सू० १४] दो का वह [उपमानोपमेयभाव] यदि क्रम से हो तो उपमेयोपमा
[कहलाता है] ।

[वृ०] [तस्मिन् के] तद् = वह = शब्द से यहाँ उपमानोपमेयत्व का परामर्श किया गया है [सन्निकित्त अनन्वय का नहीं] । पर्याय=क्रम का अर्थ है एक साथ [होकर, न कि भिन्न भिन्न वान्यों में एक के बाद एक इस क्रम से] होना । इसीलिए इसमें वाक्य बदल जाते हैं । यह दो प्रकार की होनी है एक जहाँ धर्म साधारण होता है और दूसरी जहाँ वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देश होता है । प्रथम का उदाहरण—

‘आकाश के समान जल है और आकाश जल के समान, इस चन्द्र के समान है और चन्द्र इस के समान, तारे कुमुद के समान हैं और कुमुद तारों के समान ।’

द्वितीय का उदाहरण—

‘बापियों अगनाओं के समान प्रतीत होती है और अगनाएँ बापियों के समान । एक [बापियों] मुखमुख्य शोभायुक्त कमल वाली हैं और दूसरी [अगनाएँ] कमल तुर्य शोभायुक्त मुख वाली ।’

विमर्शिनी

द्वयोरित्यादि । द्वयोरियुपमानोपमेययो , न पुनर्द्विस्परयाकयो । तेन,

‘कान्ताननस्य कमलस्य सुधाकरस्य पूर्वं परस्परमभूदुपमातभावः ।

सद्यो जरातुहिनराहुपराहतानामन्य परस्परमसावरस प्रसूतः ॥’

इत्यत्र प्रयाणामनुपमानोपमेयत्व स्थितमस्या एवाङ्गम् । तच्छब्देनेति तस्मिश्चिर्य-
नेन । योगपद्याभाव इति क्रमरूपत्वात् । अत इति योगपद्याभावात् । स च वाक्यभेद-
शब्दो धार्यश्च । तत्र शब्दो यथा—

‘रजोभि स्यन्दनोद्धर्तुंगंजैश्च घनसनिभैः ।

मुवस्तलमिव ध्योम कुवेन्ध्योमेर भूतलम् ॥’

अत्र मुवस्तलं ध्योमेव कुर्वन्निति वाक्यपरिनिष्पत्ते स्फुट एव शब्दो वाक्यभेदः ।
आद्यो यथा—

‘भवत्पादाधयादेव गङ्गा भक्तिश्च शाश्वती ।

इतरेतरसादर्यसुभगामेति वन्द्यताम् ॥’

अत्र स्फुटेषुपि शाब्दे एकवाक्यत्वे गङ्गा भक्तिवद्भक्तिश्च गङ्गावद् वन्द्योपमेयत्वाद्यो वाक्य-
भेदः । अस्याश्चोपमानान्तरतिरस्कार एव फलम् । अत एवोपमेयेनोपमा इत्यस्या
अन्वयार्थाभिधानम् । यत्र पुनरुपमानान्तरतिरस्कारो न प्रतीयते तत्र नापमलंकारः । यथा—

‘सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनमि यासिन्यः ।

यामिनवन्ति दिनानि च सुसुदुःखवशीकृते मनसि ॥’

न ह्यत्र विधुसविधादीनामुपमानान्तरतिरस्कारं विवक्षितं किं तु सुसुदुःखवशीकृत-
मनमामेव त्रिपरीतं भवतीति ।

दो का अर्थ हैं उपमान और उपमेय । दो सख्यावाले नहीं । इसमें—

‘कान्तानन, कमल और चन्द्र का पहले परस्पर में उपमानभाव सवन्ध था । बहुत शीघ्र ही
जरावस्था, ओस तथा राहु से आक्रान्त इन सबने फिर भी यह सवन्ध बन पडा है यद्यपि यह
[प्रथम की अपेक्षा] नारस है ।’

यहाँ जो तीन पदार्थों में उपमानोपमेयभाव है यह भी शरी [उपमेयोपमा] का जग है ।
तद् शब्द अर्थात् ‘तस्मिन्’ इस पद की प्रकृति के रूप में आया तद् शब्द । योगपद्याभाव

साधन होना अर्थात् क्रम के कारण अतः अर्थात् यौगपच के ही कारण वह वाक्यभेद दो प्रकार का होता है शब्द और अर्थ । इनमें प्रथम शब्द यथा—

‘दुर्घों से ऊपर उड़ाई गई धूली से और मेघ के समान हाथियों से आकाश को पृथिवीतल के समान और पृथिवीतल को आकाश के समान बनाता हुआ [रघु दिग्विजय के लिए पूर्व दिशा की ओर बढ़ा] यहाँ पृथिवीतल को आकाश के समान बनाता हुआ—इस प्रकार वाक्य की पूर्ति हो जाने के कारण शब्द वाक्यभेद स्पष्ट ही दिखाई देता है । अर्थ यथा—

‘गंगा और शाश्वत भक्ति आपके चरणों के आश्रय से ही परस्पर सादृश्य से सुभग बनता को प्राप्त होती है ।’

यहाँ शब्दतः तो वाक्य में एकता ही प्रतीत होती है, किन्तु गंगा भक्ति के समान बन्य है और भक्ति गंगा के समान बन्य है, इस प्रकार यहाँ अर्थतः वाक्यभेद है ही । इसका फल है उपमानान्तर [अन्य किसी उपमान] का निराकरण । उसलिये ‘उपमेय से उपमा’ इस प्रकार इसका नाम भी सार्थक है । जहाँ कहीं अन्य उपमान का निराकरण प्रतीत नहीं होता वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता । यथा—

‘चित्त जब सुख और दुःख में डूबा रहता है तब सूर्य चन्द्र सा लगता और चन्द्र सूर्य सा । इसी प्रकार रातों भी दिन सी लगती है और दिन भी रात से ।’

यहाँ कवि की सूर्य और चन्द्र आदि के अन्य उपमानों की संभावना निरस्त करने की कोई इच्छा नहीं है । केवल इतना ही बतलाने की इच्छा है कि जिसका चित्त सुख और दुःख से आक्रान्त होता है उन्हें ऐसी विपरीत अनुभूति होने लगती है ।

विमर्शिनी

साधारण्य इति । एतच्च धर्मस्य निर्देशानिर्देशरूपपक्षद्वयागूरुकरवेनोक्तम् । तत्र निर्देश-पक्षेसाधारण्यमस्ति तथाप्यत्र सकृन्निर्देशेनैवानुगतत्वात्तदुपलम्भः स्फुट इत्यत्र भावः । अनिर्देशपक्षे तु वास्तवमेव साधारण्यम् । यदनुसारं खमिव जलमित्याद्यदाहृतम् । धर्मस्यानुगामित्वे तु यथा—

‘कमलैव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः ।

धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति वत यश्य ॥’

अत्र विभातीति सकृन्निर्दिष्टम् । वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देशश्च पूर्ववदिहापि शुद्धसामान्य-रूपत्वविश्वप्रतिविम्बभावान्यां द्विधा । तत्र विम्बप्रतिविम्बभावो ग्रन्थकृतैवोदाहृतः । तत्र ह्यम्भोजवदनयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

‘तद्दृग्गुणा युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे ।

प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रलचितभ्रमरं च पश्य ॥’

(अत्र) प्रस्पन्दमानप्रचलितत्वेन शुद्धसामान्यरूपत्वम् । तारकभ्रमरयोस्तु विम्ब-प्रतिविम्बभावः । उन्मेषाभिप्रायेण चानुगामितेति भेदत्रयस्याप्येतदुदाहरणम् ।

साधारण्य इति यह इस बात को बतलाने के लिए लिखा कि साधारण धर्म [यहाँ] दो प्रकार का होता है १-निर्दिष्ट और २-अनिर्दिष्ट । जहाँ साधारण धर्म का निर्देश रहता है वहाँ को विशेषता यह रहती है कि उसका उल्लेख एक ही बार होत है अतः वह अनुगामी रूप से श्रात होता है । जहाँ निर्देश नहीं रहता वहाँ साधारण धर्म वास्तव = वस्तु से आश्रित अर्थ होता है, जिसके अनुसार ‘आकाश के समान बल’ इत्यादि उदाहरण दिया । अनुगामी धर्म के लिए उदाहरण—

“जिसको मति लक्ष्मी के समान प्रतीत होती है और लक्ष्मी मति के समान, शरीर के समान कान्ति प्रसन्न होती है और कान्ति के समान शरीर । इसी प्रकार जिसको धृति धरणी के समान लगती है और धरणी धृति के समान ।”

यहाँ विमानि = खगली या प्रवीण होनी है यह धर्म एक ही बार उल्लिखित है ।

वस्तु प्रतिवस्तु का निर्देश भी पहले के ही समान यहाँ भी शुद्ध सामान्य स्वरूप तथा विम्ब-प्रतिविम्बभाव युक्त इस प्रकार दो प्रकार का होता है । इनमें से विम्बप्रतिविम्बभाव का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है । वहाँ कमल और सुप्त का विम्बप्रतिविम्बभाव है । शुद्धसामान्य स्वरूप का उदाहरण यह है—

‘ये तुम्हारे मुचन जिनमें स्निग्ध कोमल पुनलियाँ चल ।

ये कमल जो कोप में बन्दी बनाए भ्रमर चंचल ।

नाम ही सुल आपें तो उपमान बन जाए परस्पर ।’

[महादेवीजी]

‘तो एक साथ सुन्दर उन्मेष से दो वस्तुएँ परस्पर तुला पर शीघ्र ही चढ़ जायें, एक तो भीतर ही भीतर निश्चिद घूमनी और कोमल पुनली से युक्त तुम्हारा चक्षु और दूसरा भ्रमरसभार युक्त पक्ष ।’

यहाँ जो प्रसन्नमानता अर्थात् घूमना है वहाँ प्रचलितत्व अर्थात् संचरण है । अतः यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धसामान्यस्वरूप है । तारा और भ्रमर में यहाँ भी विम्बप्रतिविम्बभाव है । ऊपर उन्मेष की दृष्टि से इसमें अनुगामिधर्मत्व भी है । इस प्रकार यह पद्य तीनों भेदों का उदाहरण है ।

विमर्श—उपमेयोपमा के प्राचीन लक्षण—

भामह = उपमानोपमेयत्व यत्र पर्यायतो भवेत् ।

उपमेयोपमा नाम युक्ते ता यथोद्विताम् ॥ ३।३७ ॥

‘वहाँ क्रम से [बारी बारी से] उपमानोपमेयत्व हो उसे अपने अर्थ के ही अनुरूप उपमेयो-पमा कहते हैं ।’

वामन = क्रमेण एकन्यैशोपमानोपमेयत्व उपमेयोपमा । ‘एक ही पदार्थ यदि क्रम से [एक वाक्य में] उपमान और [एक वाक्य में] उपमेय बनाकर प्रस्तुत किया जाए तो वहाँ उपमेयो-पमा होती है ।

उद्धट = अन्योन्यमेष यत्र स्वदुपमानोपमेयता ।

उपमेयोपमामादुस्तां पक्षान्तरद्वानिगाम् ॥

जहाँ एक दूसरे के ही साथ दो के बीच उपमानोपमेयता हो उसे उपमेयोपमा कहते हैं । इसका तात्पर्य होता है पक्षान्तर [अन्य के उपमात्त्व] का निराकरण ।’

रुद्धट = मे अपात् ।

भम्मट = ‘विपर्याय उपमेयोपमा तयोः ॥’

तयोः उपमानोपमेययोः परिवृत्ति [विमर्शात्] अर्थात् वाक्यद्वये । स्वरूपमानव्यवच्छेदपरा ।

उपमेयेन उपमा इति उपमेयोपमा ॥

उपमान और उपमेय का परस्पर में एक दूसरे के रूप में आना । यह दो वाक्यों में ही संभव है । तभी इसका नाम है उपमेयोपमा अर्थात् उपमेय के द्वारा [उसे उपमान बनाकर]

पना ।

शोभाकर = परस्परसुपमानोपमेयत्वसुपमेयोपमा !'

उपमानत्व उपनेवतापि, उपनेवत्वापि उपमानत्वम् इति उपनेयोपमालङ्कारः, स चोपमानान्तर-
निर्पेक्षार्थः ।

परस्पर में उपमानोपमेय भाव उपमेयोपमा कहलाता है । यहाँ उपमान भी उपनेव बना दिया जाता है और उपनेव भी उपमान । इस अलङ्कार का प्रयोजन है अन्य किसी उपमान का निराकरण ।

इस ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट है कि उपनेयोपमालङ्कार के निम्नलिखित चारों तत्त्वों पर प्राचीन सभी आचार्यों की दृष्टि थी १ = मित्र मित्र पदार्थों में परस्पर उपमानोपमेयभाव, २ = एतदर्थ वाक्यभेद, ३ = इसका उद्देश्य वाक्योपात्तपदार्थातिरिक्त पदार्थ की उपमानता का निरास तथा ३ = इसकी अन्वर्थता ।

परवर्ती शोभाकर और पूर्ववर्ती वामन ने अलङ्कारसर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'लुमिव जलम्' पद्य ही उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया है । शोभाकर ने मम्मट द्वारा अभ्यान्वयोपमा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत "सविता विषवति" पद्य को भी उपमेयोपमा का उदाहरण माना है । उन्होंने 'सूर्य और चन्द्र का परस्पर उपमानोपमेयभाव विरोध को लेकर माना है । सुख और दुःख में सूर्य के विकट चन्द्र ही हैं और चन्द्रके विरुद्ध सूर्य । इस प्रकार दोनों में परस्परविरुद्धत्वेन उपमानोपमेयभाव माना है । वस्तुतः "यहाँ चिच के दुःखी होने पर सुखकारी चन्द्र भी सूर्य सा संतापकारी बन जाता है और सुखी होने पर संतापकारी सूर्य भी चन्द्रमा सा सुखकारी बन जाता है । इस प्रकार सूर्य चन्द्र की उपमा में एक बार सुखकारित्व और दूसरी बार दुःखकारित्व साधारण धर्म हैं । साधारण धर्म के भिन्न होने पर उतौयसदृशव्यवच्छेदप्रतीति नहीं हो पाती । विमर्शनीकार ने जो विवेचन किया है वह बड़ा ही हृद्य है । पण्डितराज ने भी उते नाम लिया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारसर्वस्वकार, अलङ्काररत्नाकरकार तथा विमर्शनीकार तीनों की उपमेयोपमाविषयक समस्त मान्यताओं का अक्षरशः खण्डन किया है । उनके खण्डन का केन्द्र केवल एक ही तत्त्व है । वह है उपमेयोपमा में वाक्य मित्र हो जाने पर भी साधारण धर्म का एक होना । उपमानान्तरनियेय की प्रतीति साधारणधर्म के दोनों वाक्यों में एक न होने से नहीं हो सकती । उन्होंने 'रजोभिः' इत्यादि पद्य को 'सविता विष' पद्य के ही समान अभ्यान्वयोपमा का उदाहरण माना है । उनका कहना है कि यहाँ उपमानान्तरनियेय की प्रतीति नहीं होती । कारण कि यहाँ दोनों उपमाओं में साधारण धर्म एक नहीं है । 'भूतल तुल्य न्योम' इस उपमा में रजोल्प साधारण धर्म अनुगामी है किन्तु 'न्योम'तुल्य भूतल' इस उपमा में वह विन्यप्रति-
विभ्रात्मक है । वहाँ हाथी और भेड़ों का ऐक्य आकार और वर्ण के आधार पर भासित होता है ।' हमारा समझ में यदि 'रजोमज' और 'रजोमेघ' ऐसे दो वर्ण बनाकर इनमें विन्यप्रतिविन्य और वस्तुप्रतिवस्तुभाव मानकर ऐक्य मान लिया जाय तो धर्म में एकत्व हो सकता है, किन्तु उतौय-
सदृशव्यवच्छेद की प्रतीति तब भी होगी या नहीं यह नहीं कहा जा सकता । अलङ्कारकौस्तुभ-
कार विश्वेश्वर पण्डित ने भी इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है । द्र० ज० कौ० पृ० १७९ काव्य-
माला श्लोक ५) ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार के 'द्वयोः' इस विशेषण पर आशेष करते हुए कहा कि वह न्यर्थ है । उन्होंने कारण यह बतलाया है कि 'वाक्यभेद' शब्द अपना लेने पर 'द्वयोः' का कार्य हो जाता है । ठीक भी है । किन्तु पण्डितराज यह नहीं सोच पाए कि 'द्वयोः' सूत्र का अंश है और 'वाक्यभेद' वृत्ति का ।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उपमेयोपमा का लक्षण हम प्रकार किया गया है—

‘तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलवर्णनविषयीभूत

परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयो सादृश्य सुन्दरमुपमेयोपमा ।’

‘ऐसे पदार्थों का सुन्दर सादृश्य उपमेयोपमा होना है जो परस्पर में ऐसे उपमानोपमेयभाव में युक्त हों जिसके वर्णन का फल तृतीयसदृशव्यवच्छेद हो ।’

वृत्ति द्वारा इमी का स्पष्टीकरण उन्होंने हम प्रकार किया है—‘एकेन धर्मेण एकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपिते अपरप्रतियोगिकस्य एकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्य अर्थेन सिद्धतया शब्देन पुनरतदुक्ति स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति ।’

अर्थात्—एक ही धर्म के आधार पर किसी एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ में सादृश्य बनना देने पर उसी धर्म के आधार पर दूसरे पदार्थ का प्रथम पदार्थ में सादृश्य भी स्वतः ही विदित हो जाता है, तथापि उसे जो पुन शब्दतः कहा जाना है वह अपनी निरर्थकता के परिहार के लिए दोनों से मित्र तृतीय सृष्टि के निराकरण का आशेष करता है ।

उपमेयोपमा में पण्डितराज ने जिस साधारणमन्त्र पर बल दिया है उसकी ओर पहिली बार अप्पयदोक्षित ते ध्यान दिया है । बिजमीमासा में उनका वाक्य है—“एकधर्माश्रयेण परस्परसाम्ये वर्णमाने क्षनयोरभिन्नु विषये तृतीय समझावारी नास्तीति फलति । कस्यचिद् केनचिद् सादृश्ये वर्णने तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमान तृतीयसदृशव्यवच्छेदार्थं भवतीति हि तरकलकत्वे बीजम् ।”

अर्थ वही है जो पण्डितराज के उपर्युक्त वाक्य का है ।

हम प्रकार तृतीयसदृशव्यवच्छेद के लिए साधारणधर्म की एकता भी उपमेयोपमा में अश्लेष है ।

यहाँ एक बात यह ध्यान देने की है कि निर्माशिनोकार ने “कालाननस्य कमलस्य सुपाकरस्य, “यह जो उदाहरण दिया है हममें दो से अधिक पदार्थों का परस्पर में उपमानोपमेयभाव है । फलतः पण्डितराज का ‘तृतीयसदृशव्यवच्छेद’ यह विदोषण लक्षण में अभ्यासि दोष उठाता है ।

मज्जीविनीकार ने उपमेयोपमा का लक्षण कारिका में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘उपमानोपभेदव्यव्यत्ययो न क्रम विना ।

उपमेयोपमा तेन वाक्यभेदैकगोचरा ॥’

—‘उपमान और उपमेय में परिवर्तन हो किन्तु उसमें क्रम का अभाव न हो तो वह उपमेयोपमा होती है । यह नियमता भिन्न वाक्यों में ही होती है ।

मज्जीविनीकार के अनुसार यहाँ विन्वप्रतिविन्वभाव नहीं होता । इसका कारण उन्होंने वाक्यभेद बतलाया है । वाक्यभेद होने से विन्वप्रतिविन्वभाव का चमत्कार, उनकी दृष्टि से, प्रतीत नहीं हो पाता ।

[सर्वस्व]

[सू० १५] सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् ॥

वस्त्वन्तरं सदृशमेव । अविनाभावामावाद्यानुमानम् । यथा—

‘अतिशयितसुरासुरप्रभावं शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम् ।

कुशिकसुतमखद्विपां प्रमाये घृतघनुपं रघुनन्दनं स्मरामि ॥’

सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः । यथा —

'अज्ञानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गचातेन विनीतखेदः ।

रहस्तवदुत्सङ्गनिपण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः ॥'

अत्र च कर्तृविशेषणानां स्मर्तव्यदशाभावित्वे स्मृतृदशाभावित्वम-
समीचीनम् ।

[सू० १५] समान [वस्तु] के अनुभव से दूसरी वस्तु की स्मृति स्मरण नामक
अलंकार कहलाती है ।

[६०] दूसरी वस्तु अर्थात् दूसरी सदृश वस्तु हो । यह अनुमान नहीं है क्योंकि यहाँ
व्याप्ति का अभाव है ।

[उत्तररामचरित में सारथि सुमन्त्र लव को लक्षित कर चन्द्रकेतु के प्रति] 'देव और दानवों
के प्रभाव से मैं अधिक प्रभाव वाले उन्हीं से [राम के ही समान] शरीर वाले तुम्हा हमारी
सेना पर धनुष ताने हुए दश शिशु [लव] को देखकर मुझे विश्वामित्र के वश के विनाशक राक्षसों
को मर्द करने लिए धनुष खींचे हुए राम का स्मरण हो रहा है ।'

जो स्मृति सादृश्य के बिना होती है वह वह अलंकार नहीं बन पाती । यथा—

[रघुवंश में पुष्पकालक्ष राम की ननवती सीता से उक्ति] मुझे स्मरण आ रहा है कि गोदावरी
के किनारे इसी पंचवटी में मृगया करके लौटता और बच्चों के बने इन परों के पशुनाथ स्थान में
तुम्हारी गोद में सिर रख कर लेटा करता था । उस समय गोदावरी की तरंगों से क्षीतर
पवन द्वारा मेरी थकावट दूर होती थी । }

यहाँ एक [आनुपंगिक] बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि [मूल में स्मरण क्रिया के]
कर्त्ता के जो विशेषण हैं [मृगयानिवृत्त, विनीतखेद, स्वदुस्संगनिपण्णमूर्धा, सुप्त] उन्हें
उस दशा का विशेषण बनाना चाहिए जिसका स्मरण किया जा रहा है । अतः उन्हें जो स्मरण
कर्त्ता का विशेषण बनाकर प्रस्तुत किया गया वह ठीक नहीं ।

विमर्शिनी

सादृश्येति । वस्त्वन्तरमिति स्मर्यमाणम् । सदृशमेवेति । सादृश्यस्योभयनिष्ठत्वात् ।
अतश्च स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य, अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमय-
मलंकारः ।

यदुक्तम्—

यथा दृश्येन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणगा ।

स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेयं दृश्यगामिनी ॥' इति ।

तत्राद्यः प्रकारो ग्रन्थकृदुदाहरणे । तत्र हि शिशोरेव रघुनन्दनेन सादृश्यं विवक्षितम् ।
द्वितीयस्तु यथा—

'तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः क्रीडाशैलः कमककदलीवैष्टनप्रेक्षणीयः ।

मङ्गेहिण्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि ॥'

अत्रानुभूयमानेन मेघेन स्मर्यमाणस्य क्रीडाशैलस्य सादृश्यपरिकल्पनम् । एवं चात्र
सादृश्यस्योभयसंबन्धेष्वप्यनुभूयमानेनैव पुनः स्मर्यमाणप्रतीतिर्भवतीत्यवमेयम् ।

ननु यद्येवं तत्परस्मात्परप्रतिपत्तेः किं नेदमनुमानमित्याशङ्क्याह—अविनाभावेत्यादि ।
अविनाभावस्तादात्म्यान्नित्यसाहचर्याद्वा । अनुभूयमानस्मर्यमाणयोश्च तदभावः । शिशु-

रघुनन्दनयोः सादृश्यपरिकल्पने चातिशयितसुरासुरप्रभावत्वादिधर्मोऽनुगामितया निर्दिष्टः । वस्तुप्रतिवस्तुभावेनापि धर्मस्यायं भवति । तत्र श्रुतसामान्यरूपत्वेन यथा—

‘सान्द्रां मुद यच्छतु नन्दको व सोफलासलक्ष्मीप्रतिविम्बगर्भः ।

कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहमलीलाधास्मरण सुरारे ॥’

अत्र सोफलासललीलाखयोरेकत्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावेनापि यथा—

‘पूर्वेन्दुना मेघलवाङ्कितेन चां मुद्रिता सुन्दरि वीक्षमाण ।

विवाहहोमानलघुमलेरामिलरकपोलां भवतीं स्मरामि ॥’

अत्र मेघलवधुमलेस्तादीनां विम्बप्रतिविम्बभावः । एतदेव सादृश्यनिमित्तत्वं द्रव्यितुं प्रयुक्ताहरणि—सादृश्यमित्यादिना । सदृशानुभवामावात्तरमृतेर्न सादृश्यहेतुकावम् । स्मरन्व्यदशमावित्त्व इति । स्मरन्व्यदशमावित्त्व वाच्य सदृशादयेत्यर्थः । अत एव वाच्य-स्यावचनम् । स्मरन्वृदशमावित्त्वमित्यवाच्यस्य वचनम् । यद्यपि स्मरन्वृदशायामतीतावात् कर्तृविशेषणानां मृगयानिमृत्त्वादीनामप्यतीतकालावच्छिन्नानां तत्रावित्त्व तथापि वर्तमानकालावच्छिन्नस्य स्मरन्विशेषणभावेनोपनिबन्धात्तेषां सदवच्छिन्नतये प्रतीयत इति यथोक्तमेव दूषणद्वय युक्तमिति सहृदया एव प्रमाणम् ।

सदृशोक्तिः । वस्तुवन्तरम् = दूसरा वस्तु अर्थात् स्मर्यमाण वस्तु । सदृशमेवेति = सदृश ही = क्योंकि सादृश्य दोनों में रहता है इसीलिए स्मर्यमाण [याद किये जा रहे] से अनुभूयमान का अर्थवा अनुभूयमान से स्मर्यमाण का सादृश्य बोध होना यह अलंकार है । जैसा कि कहा है— ‘जिस प्रकार दृश्य = द्रियार्थ दे रही वस्तु से उत्पन्न साम्यज्ञान में स्मर्यमाण वस्तु भी विषय बननी है उसी प्रकार स्मर्यमाण वस्तु से उत्पन्न हम [साम्यज्ञान] में दृश्य वस्तु (१) ।’ इनमें से प्रथम प्रकार [दृश्यसाम्य का स्मर्यमाण तक पहुँचना] ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट है । वहाँ शिशु (लव) का राम से सादृश्य विवक्षित है । दूसरा प्रकार [मेघदूत के] हम पद्य में है—

‘[मेरे भवत में वनी] उम [बायीं] के तट पर सुवर्णकदली की वृत्ति [पेरे] से अधिक दर्शनीय और लुभावने इन्द्रनील खण्डों से रचित शिखर का क्रीडाशैल है । जूह-मेरी-गँधिनी, [= ठेठ घरवाली, प्रभो] को प्रिय है । इसलिए है मित्र [मेघ] आसपास चमकी विडली से युक्त तुम्हें देखकर कानर चित्त में मैं उसी का स्मरण कर रहा हूँ ।’

यहाँ अनुभूयमान मेघ से स्मर्यमाण क्रीडाशैल का सादृश्य बतलाया गया है ।

यहाँ सादृश्य का सम्बन्ध दोनों के साथ रहने पर भा मानना बड़ी ठीक है कि अनुभूयमान से ही स्मर्यमाण का [सादृश्य] बोध होता है ।

यदि ऐसा है तो मित्र पदार्थ में मित्र पदार्थ का ज्ञान होने के कारण हम अनुमान क्यों न माना जाय । इस त्रुटि पर उत्तर देते हैं—“अविनाभाव” = व्याप्ति । अविनाभाव = पृथक् पृथक् न रहना, या तो तादात्म्य से होना है या नित्यसाहचर्य से । अनुभूयमान और स्मर्यमाण में ये (तादात्म्य या साहचर्य) नहीं रहते ।

शिशु और रघुनन्दन में जो सादृश्य की कल्पना है उसमें ‘अतिशयितसुरासुरप्रभावत्वं’ आदि धर्म अनुगामी [समानरूप से उभयनिष्ठ] रूप से निर्दिष्ट है, किन्तु यह धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न होने पर भी होता है । उससे भी शुद्ध सामान्यरूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव यथा—

नन्दक [भगवान् विष्णु का सदृश] आपको धना आनन्द प्रदान करे, जिसके बीच उदात्त-युक्त लक्ष्मी का प्रतिविम्ब पटना है तो विष्णु भगवान् को यमुना प्रवाह में लीलायुक्त राधिकानी

का स्मरण आ जाता है। [विक्रमाकरेव चरित मञ्जुलपथ]। वहाँ सोल्लासत्व और सल्ललत्व एक ही हैं। विन्वप्रतिविन्वभाव के साथ भी यह होता है। यथा—मेघखण्ड से अंकित पूर्णन्दु से चौं [अन्तरीक्ष] को सुदृष्ट देख रहा हूँ तो हे सुन्दरि ! विवाहहोमानि की धूमलेखा से सृष्ट कपोल वाली तुन्दारा स्मरण का रहा हूँ (?)। वहाँ मेघखण्ड और धूमलेखा आदि का विन्व-प्रतिविन्वभाव है [वस्तुतः छव और लेखा में वस्तुप्रतिवस्तुत्व ही है क्योंकि दोनों वस्तुतः एक हैं]।

सादृश्यनिमित्तता को दृढ करने के लिए इसी [स्मरण] का प्रस्तुदाहरण देते हैं—सादृश्यम् [इस अत्रानुगोदं पथ में] चन्द्रशेखरस्तु का अनुभव नहीं है, अतः उसकी सृष्टि सादृश्य जनित नहीं है।

स्मर्तव्यदृश्याभि अर्थात् (विशेषणों को) स्मरण की जा रही दृश्या के विशेषणरूप से प्रस्तुत करना उचित था। वैसा नहीं किया। इसीलिए वाच्यावचन नामक दोष हुआ। [वाच्या-वचन के लिए द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक विनर्श-२, पृष्ठ-३८७ हिन्दी अनुवाद] स्मर्तृदृशा के विशेषण-रूप से प्रस्तुत किया इससे अवाच्यवचन दोष हुआ [अवाच्यवचन के लिए द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक विनर्श-२ पृ० ४३६ हि. अ.] यद्यपि स्मरणकर्त्ता [राम] को दृशा [गोद में सिर रखकर सोना आदि]। श्रौती दृश्याएँ हैं अतः [स्मरण] कर्त्ता के नृगय-निवृत्तत्व आदि सभी विशेषण भी श्रौते सम्य अर्थात् भूतकाल के ही हैं, अतः दलोक में भी इन्हें वैसा ह कतलाया जाना चाहिए था, किन्तु [उन्हें स्मरणकर्त्ता को दृशा का विशेषण न बनाकर स्मरणकर्त्ता का ही विशेषण बनाया गया है और] स्मरणकर्त्ता अतोत्काल का नहीं, वर्तमानकाल का ही है। अतः उसके विशेषणों में भी वर्तमानकालिकता प्रतीत होती है। फलतः [हनारी दृष्टि से] वाच्यावचन तथा अवाच्यवचन दोनों दोष वहाँ ठीक ही हैं। आगे इस विषय में सहृदय ही प्रमाण हैं।

[सर्वस्व]

प्रेयोल्ंकारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः। यथा 'अहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्' इति। तत्रापि विभावाद्यागूरितत्वेन स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे यथा—'अत्रानुगोदम्' इत्यादि।

यैर्हृष्टोऽस्ति तदा ललाटपतितप्रासप्रहारः युधि

स्फोतासृक्कृतिपाटलीकृतपुरोभागः परान् पातयन्।

तेषां दुःसहकामदेहदहनप्रोद्गतनेवानल-

ज्वालालीभरभास्वरे स्मररिपावस्तं गतं कौतुकम् ॥'

इत्यादौ सहृदयस्त्वन्तरानुभवोऽशक्यवस्त्वन्तरकरणत्वात् विशेषा-लंकारः, करणस्य क्रियासामान्यात्मनो दर्शनोऽपि संभवात्। अतान्तरे काव्य-लिङ्गमेतत्। तदेते सादृश्याश्रयेण भेदाभेदतुल्यत्वेनालंकारा निर्णीताः।

[वृत्ति] प्रेयोल्ंकार का विषय वह सृष्टि है जो सादृश्य से भिन्न कारण से उत्पन्न होती है। यथा—'अहो, कौप में भी मुझ कमजोब था।' किन्तु [सादृश्येतरनिमित्त से उत्पन्न होने पर] इस [सृष्टि] में निमावादि द्वारा व्यंग्यता रहनी चाहिए। केवल [स्मरण आदि] स्व [वाचक] शब्द मात्र से कह देना मात्र नहीं; वैसा कि "अत्रानुगोदम्" आदि में कहा गया है।

‘युद्ध में आपके माल पर भाले का प्रहार पटा । उससे वह पड़े पर्याप्त रक्त प्रवाह से आपका अगला भाग लाल हो गया । उस समय भी युद्ध में [एक नहीं] अनेक शत्रुओं को दहाने हुए आप जिम किसी को भी दिखाएँ दिष्ट उसका दुःसह कामचारी को जग्ने के लिए भयंकरता के के साथ उद्भूत नेत्राग्नि की ज्वालावली समुदाय से जगमगान कामान्तक मगवान् शंकर के विषय में जो कौतूहल था वह ज्ञान हो गया ।’

इत्यादि रत्नों में [स्व] मित्र [किन्तु स्व] समान किर्मा वस्तु के अनुभव में अन्य अक्षय वस्तु का जो निर्माण है तद्रूप विशेषालङ्कार है । क्योंकि निर्माण = अर्थात् करना [विशेषालङ्कार के लक्ष्य में ‘करना’ ही उपात्त] एक सामान्य क्रिया [जैसे भू और अम्] है अतः वह दर्शनम्यरूप भी माना जा सकता है । दूसरे मन में वह काव्यार्थि ५ ।

जो इन प्रकार सादृश्यमूलक किन्तु भेद और अभेद दोनों को बराबरी में दोनों वाले अलङ्कारों का [लक्षण] निर्णय किया गया ।

विमर्शिनी

प्रयुद्धाहरणान्तरमपि दर्शयति—प्रेयोलङ्कारस्येत्यादिना । तुशब्दश्चापि । सादृश्यमिति-रिक्तं स्मकारादिनिमित्तम् । नत्रापीति । पृथं स्थितेऽपि सतीत्यर्थः । विभावाद्यागूरित्वात् प्रेयोलङ्कारस्य सादृश्यम्यनिरिक्तनिमित्तनोपस्थापिता स्मृतिर्विषयो न स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यं स्मृतिर्विषय इति मयम्य । तत्र विभावाद्यागूरित्वात् स्मृतिर्विषयः—‘अहो कोपेऽपि क्षान्तं मुखम्’ इति । स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे यथादाहृतम् ‘अत्रानुगोदम्’—इत्यादी । अत्र च यथा प्रेयोलङ्कारो भावध्वनेश्चास्य यथा मित्रविषयत्वं तयात्र पृथं वक्ष्यामः । एव च प्रयुद्धाहरणद्वयस्यापि प्रयोजन भिन्नविषयत्वात् ।

एच्च सादृश्यनिमित्तापि स्मृतिरवधार्यतेऽज्ञास्मिन्पर्यवस्यतीत्याह—‘वैर्दृष्टोऽसि-’ इत्यादि । वस्तुत्र जयापीडदर्शनम् । वस्तुवन्तरं तु भगवत्सङ्गम् । अत्र त्वदर्शनमभिलषतां जनानां न त्वदर्शनावाप्तिरेवाभ्युपगच्छेत्पामसभाष्यं भगवद्दर्शनमपि जातमिश्यशक्य-वस्तुवन्तरकरणम् ।

विशेषालङ्कारस्य सादृश्यम्यन्तरकरण रूपम्, इह पुनरक्षयप्रसवन्तरदर्शनं स्थित-मिति फयमत्र विशेषालङ्कार इत्यादाह—करणस्येत्वादि । एतच्च गम्यगमकभाष्य-माधिरागम्यैः काव्यलिङ्गवेनाभ्युपगतमिति दर्शयितुमाह—मतान्तर इत्यादि । एतदिति स्मरणम् । मतान्तर इत्यभिज्ञे । यदुक्तम्—

‘श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।

हेतुतां प्रतिपद्येत् काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥’ इति ।

इह पुनर्गम्यगमकभावाद्नुभूयमानस्मर्यमाणव्यवहारोऽपि विशिष्यत इति पृथगलं-कारणयतदुक्तम् । एतदुपसहरन्न्यद्वनारयति—तदेत इत्यादि । एत इत्युपमाद्याध-स्वारोऽलङ्काराः ।

दूसरा प्रयुद्धाहरण भी बनाने है—प्रेयोलङ्कार इत्यादि । तुशब्द ‘व’ शब्द के अर्थ = [और या समुच्चय] में प्रयुक्त है । सादृश्य मित्र अर्थात् सम्कारादि जमित । तत्रापि देना होने पर भी [‘प्रेयोलङ्कारस्य—स्वशब्दप्रतिपाद्यत्वे] इतने अर्थ का अर्थ इस प्रकार है—‘विभावादि से व्यंग्य होकर यदि स्मृति सादृश्यातिरिक्त निमित्त से हुई हो तो प्रेयोलङ्कार बनता है, न कि केवल स्मरामि, स्मरति, स्मरण आदि स्मृतिवाचक शब्दों द्वारा उसके उल्लेखमात्र से । इनमें

से विभावानुभावव्यभिचारी से व्यंग्य स्मृति का उदाहरण दिया "अहो कोप में भी मुख की कमनीयता" । स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यता का उदाहरण दिया—"अत्रानुगोदम्"—यहाँ इन [दोनों] में प्रयोल्कार और भावध्वनि जिस प्रकार है वह आगे चलकर बतलावेंगे । इस प्रकार जो दो प्रत्युदाहरण दिये उन दोनों के विषय भिन्न भिन्न हैं [नहीं तो एक ही प्रत्युदाहरण पर्याप्त होता] ।

कहाँ कहीं स्मृति सादृश्यमूलक होकर भाँ वाक्यार्थरूप न होने के कारण स्मरणालंकार नहीं बनती । इसी के लिए उदाहरण दिया = यैर्दृष्टोऽसि । यहाँ वस्तु है जयाधीश का दर्शन, वस्त्वन्तर है भगवान् शिवरूप । यहाँ, तुम्हारा दर्शन चाहने वाले व्यक्तियों को केवल तुम्हारे ही दर्शन का काम नहीं हुआ, अपितु जो सर्वथा असंभव था वह भगवान् शिव का दर्शन भी हो गया । इस प्रकार अशक्यवस्त्वन्तरकरण [अन्य अशक्य वस्तु का कर देना = बना देना] यहाँ हुआ [जो विशेषालंकार का लक्षण है ।]

विशेषालंकार जो है वह अशक्यवस्त्वन्तरकरणरूप है, और यहाँ ("यैर्दृष्टोऽसि" पद्य में) है अशक्यवस्त्वन्तर दर्शन । अतः यहाँ विशेषालंकार कैसे है इस शंका पर लिखते हैं—"करणस्य" । यहाँ गन्धगमकभाव मानकर कुछ आचार्यों ने काव्यलिङ्ग माना है । इस बात को बतलाने के लिए कहा—'मतान्तर' इति । एतत् = यह = अर्थात् स्मरण । मतान्तरे = अर्थात् उद्भट के मत में, जैसा कि कहा है एक सुनी वस्तु—यदि स्मृति या अनुभव का हेतु बने तो उसे काव्यलिङ्ग कहा जाता है [उद्भट, काव्या. सा. सं. ६।७] ।

यहाँ गन्धगमकभाव से अनुभूयमान और स्मर्यमाण का व्यवहार भी विशेषता को प्राप्त होता है, इसलिये इसे अलग अलंकाररूप से कहा ।

अब इसका उपसंहार करते हुए अन्य अलंकार की प्रस्तावना करते हैं तदेतव् इति । एते = ये अर्थात् उपमा आदि [अनन्वय, उपमेयोपना और स्मरण] चार अलंकार ।

विनर्शाः—'करण और दर्शन' को अभिन्नता पर संजीविनीकार ने अपनी प्रयोगदीपिका में निम्नलिखित विवेचन किया है—

"तैऽस्त्यर्थां धातवो देवा य उदासीनकर्तृकाः ।

विक्रुर्वाणप्रयुज्जानकर्तृका भूकृष्णर्षकाः ॥"

'जिनके कर्ता उदासीन रहते हैं वे पातुएँ अस्ति धातु के अर्थ की होती हैं, जिनके कर्ता विकृति को प्राप्त होते हैं वे भूधातु के अर्थ की और जिनके कर्ता प्रयोग में आते हैं वे कृधातु के अर्थ की होती हैं ।' इशधातु का कर्ता प्रयुक्त होता है अतः वह कृधातु [करण शब्द की प्रकृति] से अभिन्न अर्थवाली है ।

उदासीन = जिसका प्रयोग अनिवार्य न हो । विकृति को प्राप्त = अवस्थामेद को प्राप्त । प्रयुज्जान—जिसका प्रयोग अवश्य ही किया जाय ।

'यैर्दृष्टोऽसि' पद्य में स्मरणालंकार न होने पर संजीविनीकार का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—
'अत्र योऽयं सद्दृशवस्त्वन्तरानुभवो यैर्दृष्टोऽस्तीति निर्दिष्टः नास्ती स्मररिपुस्मरणजननात् स्मरणालंकारः, किन्तु अशक्यस्मररिपुदर्शनकौतुकास्तमयत्वाभ्यान्तरकरणात्वा विशेषालंकारः । एतद्दर्शनेन तदपि सिद्धमिति प्रतीतिः ।

—यहाँ जो यह सद्दृशवस्त्वन्तर का निर्देश "यैर्दृष्टोऽसि" इस प्रकार किया गया है वह स्मरणालंकार नहीं है बल्कि उससे स्मरणीय (शंकर) रूपी वस्त्वन्तर का स्मरण होता है, अपितु यह विशेषालंकाररूप है, क्योंकि यहाँ अशक्य जो शंकर दर्शन के कौतुक का शमनरूप दूसरी वस्तु

है उसका किया जाना बनलया जा रहा है जो विशेषालङ्कार है। क्योंकि यहाँ 'इसके दीखने में वह भी सिद्ध हो गया' ऐसी प्रतीति होती है।

संजीविनीकार ने स्मरणालङ्कार का विवेचन कारिकास्व में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

“स्मृति सा स्मर्यते यत्र सदृशात् मद्दशान्तरम् ।

अमाश्रयाद्वाच्यत्वादिन प्रेषान् विभिजते ॥”

‘उसे स्मरणालङ्कार कहते हैं जिसमें समान वस्तु से समान वस्तु का स्मरण किया जाय।

प्रेयोऽलङ्कार भाव को अप्रधान व्यञ्जना का नाम है। भावों में जिम प्रकार रतिनामक भाव प्रयोऽलङ्कार बनता है उसी प्रकार स्मृतिनामक भाव भी बन सकता है, फिर स्मृति को प्रयोऽलङ्कार न मानकर स्मरणालङ्कार क्यों माना गया इसका उत्तर भी संजीविनीकार ने उक्त कारिका के उत्तरार्ध में इस प्रकार दिया है—

इससे प्रयोऽलङ्कार इसलिए भिन्न हो जाना है कि यह न तो सादृश्यमूलक होना और न वाच्य ही।

स्मरणालङ्कार पर पूर्ववर्ती आचार्य भामह, वामन, उद्भट तथा रुद्र ने इस अलङ्कार का विवेचन नहीं किया है। इन आचार्यों ने कदाचित् स्मृति को भा भावालङ्कार माना है इसीलिए ग्रन्थकार ने उसका पक्ष उठाया और अन्तर किया है।

भामहट = “यथानुभवमर्थस्य दृष्टे सत्प्रदृशे स्मृतिः स्मरणम्” सदृश वस्तु के दिखाई देने पर अनुभव के अनुरूप सदृश वस्तु की स्मृति स्मरणालङ्कार।

उदाहरण = ‘पूर्वोन्मुना मे३००’ इत्यादि पद्य को विमर्शिनो में उद्धृत है।

स्मरणालङ्कार, भावध्वनि प्रेषान् नामक भावालङ्कार तथा स्मृतिभाव में अन्तर दिखलाने हुए पण्डितराज ने लिखा है—

‘अथ चालङ्कारिकाणां सप्रदायो यत् सादृश्यमूलकार्थे स्मरणं निदर्शनादिवदलङ्कारः, तस्याभावे स्मरणताया भावः, तयोरभावे तु वस्तुमात्रम् । भावस्य हि भावापहताया प्रयोऽलङ्काररत्नम् ।

अर्थात् आलंकारिक आचार्यों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि स्मृति यदि सादृश्यमूलक होती है तो निदर्शनादि के समान अलंकार होती है, यदि नहीं [सादृश्यमूलक नहीं होती] किन्तु यदि व्यंग्य होती है तो वह भाव कहलानी है। यदि सादृश्यमूलक और व्यंग्य दोनों नहीं होती तो वस्तुमात्र कहलानी है। प्रयोऽलङ्कार वह भाव होता है जो भावादि का अंग बनकर आता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रयोऽलङ्कार और स्मरणालङ्कार पर जो अन्तर अलंकारसर्वस्वकार ने प्रस्तुत किया है उसे प्रामाणिक माना है और अप्यथ्यदोषिन के सङ्केत में उसे साक्ष्यरूप में प्रस्तुत किया है। स्मरणालङ्कार के लक्षण में उन्होंने न केवल सर्वस्वकार अपितु रत्नाकरकार का भी सङ्केत किया है। उनका कहना है कि स्मरणालङ्कार को श्रान्ति उस स्मृति तक भी है जिसका स्मरण स्मर्यमान सदृश वस्तु से होता है।

उदाहरण के रूप में उन्होंने अपना यह पद्य प्रस्तुत किया है—

‘सन्त्येवारिमन् जगति बहव पक्षिणो रम्यरूपा-

स्नेहा मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु ।

वैरभ्यक्षैरथ निजसख नीरद स्मारयन्ति-

स्मृत्यास्तु भवति किमपि ब्रह्म कृणामिधानम् ॥’

—'इस संसार में बहुत से सुन्दर सुन्दर पक्षी हैं किन्तु चातक उनमें मुझे सर्वाधिक प्रिय है, क्योंकि उन्हें देखते ही स्मरण आ जाता है उनके मित्र मेरों का और उनसे स्मृति में आ जाता है कोई एक कृष्ण नामक मछल' यहाँ [कृष्ण सदृश] चातक द्वारा सन्बन्धित्वेन स्मर्यमाण है। इससे स्वसदृश-आकृष्य का स्मरण सादृश्य द्वारा होता है। पण्डितराज का कहना है कि 'सदृशानुभव' शब्द के स्थान पर यहाँ 'सदृशज्ञान'—शब्द अधिक उपयुक्त है। इससे उपयुक्त स्थल में भी लक्षण संगत हो सकता है। मेघ का अनुभव मले ही न हो ज्ञान अवश्य हो रहा है।

पण्डितराज ने स्वयं इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रबोध्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः।

'सादृश्यज्ञान से आने संस्कार से जनित स्मरण स्मरणालङ्कार कहलाता है।' पण्डितराज जगन्नाथ के आलोचक विश्वेश्वर पण्डित ने अपने अलंकारकौस्तुभ में पण्डितराज के उपर्युक्त संशोधन को अक्षरशः स्वीकार किया है—

'सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारमवा स्मृतिः स्मरणम्' अनुभवे व्यभिचारवारणाय भवान्तं ज्ञान-विशेषणम् । उद्बोधकान्तरसमवधानजन्यस्मरणवारणाय सदृशज्ञानेति । ज्ञानवर्धं च स्मृत्यनुभवो-भयसाधारणम् । अतः स्मरणस्यैवोद्बोधकत्वस्थले नाव्याप्तिः ।'

अब अभेदप्राधान्य से होने वाले अलंकार कहे जा रहे हैं—

[सर्वस्व]

[सू० १६] अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्वये रूपकम् ।

अभेदस्य प्राधान्याद्भेदस्य वस्तुतः सद्भावः । अन्यत्रान्यावाप आरोपः । तस्य विषयविषयवदृग्बन्धत्वाद्धिपयस्यापह्वयेऽपह्वुतिः । अन्यथा तु विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकम् । साधर्म्यं त्वनुगतमेव । यदाहुः—'उपमैव तिरोभूतमेवा रूपकमिष्यते' इति आरोपाद्भेदेऽध्यवसायः प्रकृत्यते इति पश्चात्तन्मूलकालंकारविभागः ।

[सू० १६] अभेद की प्रधानता होने पर आरोप हो किन्तु आरोपविषय छिपा न हो तो रूपक [होता है] ।

[सू०] अभेद की प्रधानता कहने का अर्थ है कि इस अलंकार में भेद का भी अस्तित्व रहता है। आरोप कहलाता है दूसरे पर दूसरे का आवाप [अध्यास, ओपना]। यह [आरोप] विषय और विषयी से बंधा रहता है। तब यदि विषय [जिस पर आरोप किया जाता है] छिपा दिया जाय [शब्दतः न कहा जाय] तो अपह्वुति अलंकार होता है। अन्यथा [यदि विषय छिपाया न जाय उसे शब्दतः कहा जाय तो] रूपक होता है। क्योंकि तब विषय विषयों के द्वारा [उसके] रूप से युक्त बनाया जाता है। [क्योंकि यह अलंकार साधर्म्यमूलक अलंकारों के सन्दर्भ में बतलाया जा रहा है इसलिए] साधर्म्यं तो [इस अलंकार में प्रकरण से ही] चला आता है। जैसा कि कहा है—'उपमा ही भेद को छिपाकर रूपक मानो जाती है'—[दण्डी कान्वादर्श—२।६६]

अभेद में आरोप की अपेक्षा अध्यवसाय अधिक उत्कृष्ट होता है, इसलिए तन्मूलक [अध्यवसाय-मूलक] अलंकारों का विभाजन बाद में किया जायगा।

विमर्शिनी

संप्रतीति । भेदाभेदतुल्यत्वाश्रयालंकारानन्तरमभेदप्रधानं लक्षयितुमुचितत्वादवसर-
प्रासादित्यर्थः । तत्र सावत्प्रथम रूपकं लक्षयति—अभेदप्राधान्य इत्यादि । वस्तुत इति । न तु
प्रतीतितः । सद्भाव इति । प्रधानाप्रधानयोः संबन्धिशब्दत्वात् । अन्यत्रान्यायाप आरोप
इति । अन्यत्रेति प्रकृते मुखादौ । अन्यस्येत्यप्रकृतस्य चन्द्रादेः । स च सामानाधिकरण्येन
वैयाधिकरण्येन च निर्देशे भवति । न तु सामानाधिकरण्येन निर्देश एव सः । एवं हि—
'याताः कणादतां केचित्' इत्यादावारोपसद्भावेऽपि न सामानाधिकरण्यमस्तीत्यभ्यासिः
इत्यात् । आर्थ सामानाधिकरण्यमस्तीति नाभ्यासिरिति चेत्, न । भिन्नयोः सामानाधिक-
रण्येन निर्देशो [अ० २० सू० २६] आरोपलक्षणम् । न च तदत्र निर्दिष्टम् । वैयाधिकरण्येन
निर्देशात्तरयार्थावसेयत्वात् । अर्थावसायो निर्देशश्च नैकं रूपम् । विप्रतिपेधात् । नील-
मुत्पलमित्यादावपि गुणजातिरूपत्वेन भिन्नयोर्मौलोरपलयोः सामानाधिकरण्येन निर्देशादा-
रोपः प्रसज्यत इत्यतिस्यासि' स्यात् । न चारोपे भिन्नयोः सामानाधिकरण्येन निर्देश
लक्ष्यत इत्यसम्भवेऽपि । इति न निरवयमेतवारोपलक्षणम् । यद्येवं तर्हि शब्दे शब्दान्तर-
मर्थे वार्थान्तरमारोप्यत इति चेद् द्रमः । तत्र न शब्दे शब्दान्तरारोपः । मुखशब्दादेःशब्द-
शब्दादिरूपत्वेनाप्रतीतिरभ्योन्यविविक्तस्वविधान्तरूपोपलम्भादिति भवतिरेयोक्तत्वात् ।
किं त्वर्थेऽर्थान्तरारोपः । स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्राम्यता । अत एव
दृक्किंकायामिव रजतारोपो न मुपे चन्द्रारोपः । तस्य स्वरसत एवोत्थानेन भ्रमरूप-
त्वात् । अत एव तत्रारोपविषयस्यारोप्यमाणेनाच्छादितत्वेन प्रतीतिः । इह पुनर्ज्ञानान एव
कश्चिच्छब्दविविक्तं मुखं तत्र प्रयोजनपरतया चन्द्रार्थमारोपयति । अत एवोक्तमारोपविष-
यानपह्वव इति । भवतिरप्यनेनैवाप्रायेण 'प्रतिपादनभ्रमोऽर्थं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिरित्या-
द्युक्तम् । तस्यैवारोपस्य त्रिषय प्रकृतः विषयी चाप्रकृतः । साम्यामपष्टम्भत् युक्तवम् ।
यदुक्तम्—'सारोपान्या तु यत्रोक्ती विषयी विषयस्तथा' इति ।

संप्रति अर्थाद भेदाभेद की तुल्यता वाले अलङ्कारों के निरूपण के पश्चात् अभेदप्रधान अलङ्कारों
का लक्ष्य करना उचित होने के कारण अवसर आ जाने पर । उनमें पहले रूपक का लक्षण करने
हैं—अभेदप्राधान्य इत्यादि । वस्तुतः वास्तविक रूप से न कि केवल प्रतीतिमान मे । सद्भाव
इसलिए कि प्रधान और अप्रधान सम्बन्धिवाचक शब्द हैं । अन्यत्रान्यायाप आरोप अन्यत्र =
दूसरे में अर्थात् मुख आदि प्रकृत वस्तुओं में । अन्यस्य = दूसरे का अर्थात् चन्द्र आदि
अप्रकृत वस्तुओं में ।

यह आरोप दोनों ही प्रकार के निर्देशों से होना है सामानाधिकरण्यपूर्वक [सामानाधिकरण्य]=
उपमानोपमेय या विषय विषयी के एक ही विभक्ति में रहने से और वैयधिकरण्यपूर्वक [वैयध-
करण्य] = उनको भिन्न-भिन्न विभक्तियों में रहने से ऐसा नहीं कि केवल सामानाधिकरण्यपूर्वक ही
निर्देश से यह हो [जैसा कि अर्थ्याररत्नाकरकार ने माना है] । ऐसा मानने पर [कि केवल
सामानाधिकरण्य में ही आरोप होता है] "कुठ लोम कणादता को प्राप्त हुए" इत्यादि में आरोप
रहने पर भी सामानाधिकरण्य न होने से [आरोप का लक्षण लागू नहीं होगा फलतः] अभ्यासि
दोष आवेगा । 'अर्थगत सामानाधिकरण्य [एकार्थकत्व] यहाँ है ही अत अभ्यासि नहीं होनी'
यदि ऐसा कहें यह भी ठीक नहीं, क्योंकि [जापने अलङ्काररत्नाकर में] आरोप का रूप ही
भिन्न-भिन्न अर्थों का सामानाधिकरण्यपूर्वक [एक विभक्ति के साथ] निर्देश [बतलाया] है । वह
[सामानाधिकरण्य] यहाँ [कणादता केचित् = कुठ कणादता को प्राप्त हुए में] निर्दिष्ट नहीं है ।

वैयर्थिकरूपपूर्वक निर्देश होने पर उस [सामानाधिकरण्य] का ज्ञान अर्थात् होता है। अर्थात् ज्ञान होना और [शब्दतः] ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है।

[आपके आरोप लक्षण के अनन्तर] “नील उत्पल” इत्यादि [विशेष्यविशेषणभाव के स्थलों] में भी आरोप मानना होगा क्योंकि यहाँ एक [नील] गुणरूप है और दूसरा [उत्पल] जातिरूप है; अतः दोनों भिन्न हैं और दोनों का सामानाधिकरण्यपूर्वक शब्दतः निर्देश भी है। इस प्रकार नहीं [जो कि आरोप का स्थल नहीं है आरोप का लक्षण लगू होना अतः] अतिव्याप्ति दोष होगा। आरोप में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का [सामानाधिकरण्य तो शब्दतः कथित रहता है पर उनका] सामानाधिकरण्यपूर्वक निर्देश शब्दतः कथित नहीं रहता [किसी भी आरोप में आरोप लक्षण लगू नहीं होता] अतः असंभव [नामक दोष] भी [आरोप लक्षण में होगा]। इस प्रकार आरोप का [अलंकाररत्नाकर में] उक्त लक्षण निर्दोष नहीं है।

यदि ऐसा है तो क्या शब्द पर दूसरे शब्द का आरोप होता है या अर्थ पर दूसरे अर्थ का ? यदि ऐसा पृच्छते है तो मुनिह इन कहे हैं—शब्द पर शब्द का आरोप नहीं होता क्योंकि रूपक या आरोप ऐसी प्रतीति नहीं होती कि मुख वादि शब्द चन्द्र वादि शब्द रूप हैं। उन [शब्दो] की प्रतीति प्लदम पृथक्-पृथक् रूप से होती है और वे अपने आप तक ही सीमित हैं। यह अपने ही स्वयं कहा है। आरोप अर्थ पर अर्थ का होता है। और वह किसी प्रयोजन से होता है भ्रान्ति से नहीं। इसीलिये मुख पर चन्द्र का आरोप सीप पर चाँदी के आरोप जैसा नहीं होता। क्योंकि वह सीप पर चाँदी का आरोप स्वभावतः होता है अतः उसे कहा भी, भ्रम जाता है। इसीलिये यहाँ [सीप और चाँदी में] आरोपविषयीभूत वस्तु [सीप] आरोप्य-भाग [चाँदी] से आच्छादित प्रतीत होता है। यहाँ [मुखचन्द्र वादि स्थलों में] तो कोई भी व्यक्ति जानते हुए कि मुख चन्द्र से भिन्न है उस [मुख] पर प्रयोजनविशेष से चन्द्ररूपी अर्थ का आरोप करता है। इसीलिये कहा कि आरोप विषय का अनपहव = प्रकटत्व, शब्दतः कथन रहना चाहिए। आप [शोभाकरमिश्र अर्थात् अलंकाररत्नाकरकार] ने भी इसी आशय से—“यह प्रतिपादन का भ्रम है कि प्रतीति भ्रान्तिपूर्ण है” ऐसा कहा है।

तस्य = वस्तुका = अर्थात् आरोप का विषय = प्रस्तुत और विषयी = अप्रस्तुत वस्तु। उन दोनों से अवष्टम्भ होता अर्थात् युक्त होना। जैसा कि [मम्मट ने] कहा है—“वह लक्षणा सारोपा कइलाता है जहाँ विषय और विषयी दोनों कथित हैं [कान्यप्रकाश—२]।

विमर्शः—अलंकाररत्नाकरकार ने रूपक के विषय में जो लिखा है वह इस प्रकार है—

‘आरोपो रूपकम्’। भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देश आरोपः। दत्तम्यत्रान्यारोपः। नक्षर्ये अर्थान्तरं वस्तुत आरोप्यते, नापि प्रतीकितः। नखनुन्मत्तेन ‘मुखं चन्द्र’ इत्यादौ शुभत्या इव रत्नेन मुखस्य चन्द्रेणाच्छादितत्वं प्रतीकते, मुखस्य पृथगुपात्तस्य स्वरूपेणैव नात्मानत्वम्। नापि द्विचन्द्रादिवद् वाध्यमानैव प्रतीतिः, वायोत्पत्तावपि तत्र तत्त्वा अनिवृत्तेः। इह स्वगतचन्द्रविधेिकेमुखस्वरूपस्य निश्चितशुक्तिरूपस्यैव प्रमातृशुद्धोर्जं रजतमितिवच्छतशो-धुच्यमाने न तद्रूपतया प्रकृतिः। किन्तु नालमुत्पलमित्यादिवद् सामानाधिकरण्यदर्शनात् प्रतिपादनभ्रमोर्जं न भ्रान्ता प्रतीकितः। द्विचन्द्रादिवद् वाध्यमानाया अपि नत्वा जमावात्। नापि शब्दे शब्दान्तरारोपः, मुक्तादेश्चन्द्रादिरूपतयाऽप्रतीतिः। अन्योन्यविवेकित्वविभ्रान्तरूपोपलम्भात्। तस्मात् तदधर्मत्वादिप्रतिपत्त्यर्थः सामानाधिकरण्यनिर्देश एवारोपः।—‘आरोप रूपक कइलाता है। आरोप है दो भिन्न वस्तुओं का सामानाधिकरण्यनिर्देश [शब्दतः सामानाधिकरण्य वतलाना]। न कि दूसरे पर दूसरे का आरोप। क्योंकि एक पदार्थ पर दूसरे पदार्थ का आरोप

न तो वस्तुन. होता और न प्रतीति. ही । स्वस्थचित्त वाले किसी भी व्यक्ति को 'गुण चन्द्र' है इत्यादि में मुख का चन्द्र द्वारा बैसा आच्छादन प्रतीति नहीं होता जैसा शुक्तिका वा रजत के द्वारा प्रतीति होता है । मुख तो अलग कथित रहता है [जब कि शुक्तिका का बोधक बोरे प्रमाण नहीं रहता] अतः उसका भान अपने रूप में ही होता है [जब कि शुक्तिका का भान सर्वथा रजतरूप से ही होता है] यह प्रतीति "दो चन्द्र"—इस प्रतीति के समान [उत्तरकाल में गिठने वाली अतः] बाधित भी नहीं है, क्योंकि बाध की प्रतीति हो जाने पर भी यह प्रतीति इतनी नहीं [होती ही रहती है] । यहाँ जिस प्रमाता [ज्ञाना] को मुख की प्रतीति चन्द्रभिव्रत्वन हो जाती है उससे यदि सौ बार भी कहा जाय कि यह चन्द्र है तो ताद्रूप्य की प्रतीति नहीं होती बल्कि उसी प्रकार जिस प्रकार शुक्ति का शुक्तित्वेन ज्ञान हो जाने पर उन्मत्त रजत की प्रतीति । यह तो 'नील उत्पल' इत्यादि के समान सामानाधिकरण्य देखने में हुआ प्रतिपादन भ्रम है, न कि भ्रान्त प्रतिपत्ति । क्योंकि "दो चन्द्र" आदि के समान वह बाधित नही पाए जायगी ।

न तो शब्द पर ही शब्द का आरोप होना क्योंकि मुद्रादि [शब्द] चन्द्रादि [शब्द] रूप से प्रतीति नहीं होते । उनका [दोनों शब्दों का] स्वरूप परस्पर भिन्न रूप से प्रतीति होता है । वे [दोनों] तो अपने तक ही सीमित रहने हैं ।

इस लिए 'तदुभयै' आदि की प्रतीति के लिए सामानाधिकरण्यनिर्देश ही आरोप होता है ।

स्पष्ट है कि विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार की उपयुक्त पक्तियों को अश्रुतः उद्धृत किया है और रत्नाकरकार ने जिन 'अर्थ पर अर्थ के आरोप' का उल्लेख किया है उन्हीं ही उन्हीं सिद्धान्त बतलाया है । रत्नाकरकार का कहना इतना ही है कि जब तक दो वस्तुओं को शब्दन-कहकर उनमें से एक पर दूसरे को न बोधा जाय, आरोप नहीं होता ।

विमर्शिनी

अन्यथेति । अनपह्वे । एवमनेनापह्वितरूपरुयोर्भेदोऽप्युक्तः । आहुरिति दण्ड्यादयः । अतश्च साधर्म्यसद्भावात्तदनुयायिभेदत्रयानुप्राणितत्वमप्यस्य ज्ञेयम् । यथा—

'कंदर्पद्विपकणकम्बुमसितैर्दानाम्बुमिलोन्निद्धनं

संलग्नाङ्गनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रते ।

ष्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभिः संलघामानोदरं

पश्यैतच्छशिनाः सुधासहचरं विष्यं कलङ्काङ्कितम् ॥'

अत्र कलङ्कस्य दानाम्भादिभिः प्रतिविम्बनम् । लान्छितत्वाङ्कितस्थयोः शुद्धसामान्य-रूपत्वम् । सुधासहचरस्वरयानुगतत्वाद्गुणामितेति भेदत्रयानुप्राणितत्वम् । अनेन च सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकमित्युक्तं भवति । केषांचिदपि संबन्धान्तरहेतुरप्यारोपो रूपकाभेदेति मतम् । यदाहालकारभाष्यकारः—'लघुणापरमार्थं यावता रूपरुत्वरूपम्' इत्युपक्रम्य 'सारोपान्या च सादृश्याद्वा संबन्धान्तराद्वा' इत्यादि । स ॥ यथा—

'अमृतकवलः शोभाशशि प्रमोदरसप्रपा

सितिमशकटं अयोत्तजानापी तुपारधरट्टिका ।

मनसिजगृसी शृङ्गारधीविमानमहो नु भो

निरवधिसुप्तश्रद्धा दृष्टे हृती मृगकेतनः ॥

अत्रेन्दुरूपे कारणे कार्यरूपायाः श्रद्धाया आरोपः । ग्रन्थकृताप्यलंकारानुसारिण्या-मत्र 'श्रद्धाहेतुत्वाच्छ्रद्धे'त्यभिधाय 'विशेषणैकस्मिन्ननेकवसारोपान्मालारूपकमित्यभि-

दधतायमेव पत्तः कटाचितः । ननु चाध्ववसायवर्भाणामप्यलंकाराणामभेदप्राधान्ये सति प्रथमारोपवर्गा अलंकाराः किमिति लपिता इत्याशङ्कवाह—आरोपादित्यादि ।

अन्वया अर्थात् अपह्व होने पर । ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने अपह्वृति और रूपक का भेद भी बतला दिया । आहुः=कहा है अर्थात् दण्डी आदि ने । [रूपक में] साधर्म्य का सद्भाव बतलाने से उस [साधर्म्य] के साथ चलने वाले [विन्वप्रतिविन्वभावमूलक वस्तुप्रतिवस्तुभाव, शुद्ध सामान्य रूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा अनुगामी धर्म-इनके आधार पर होने वाले] तीनों भेद भी रूपक में आ जाते हैं । यथा—

‘इतिो यह चन्द्रमा का विन्व, इसमें सुवासहचरत्व [सुवासयुक्त होना तथा सुवासदृश सफेद होना दोनों का एक ही शब्द से कथन होने के कारण अभेद है] भी है और कलंक भी इसलिए यह कामरूपी गज के कान का शब्द है जिस पर मटमैले मदनल का धब्बा पड़ गया है; यह रति का गण्डोपधान [गाल का तकिया] है जिसने काजल की कालिख छग गई है; यह ‘आकाश-वृक्ष का पुष्पशुच्छ है जिसके बीच भोरे भर गए हैं ।’

यहां [विन्वभूत] कलंक के मदनल, काजल, भोरे प्रतिविन्व हैं । लंछितम् = धब्बा पड़ना और अंकित होगा = लगाना शुद्ध सामान्य वस्तु प्रतिवस्तु हैं और सुवासहचरत्व अनुगत धर्म है अतः यह अनुगामी साधारण धर्म हुआ ।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि साहृदयमूलक आरोप ही रूपक होता है ।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि [साहृदय से भिन्न] अन्य संबन्ध से होने वाला आरोप भी रूपक का ही अंग होता है । जैसा कि अलंकारभाष्यकार ने कहा है—‘रूपक का जो स्वरूप है उसमें सार है लक्षणा’—यहां से लेकर ‘दूसरो जो सारोपा है वह या तो साहृदय से होती है या दूसरे सम्बन्ध से ।’ यहाँ तक ।’ [साहृदयभिन्नसम्बन्धमूलक] इस दूसरे रूपक का उदाहरण यह है—

‘यह कृती चन्द्र अमृतग्रास है, शोभा की राशि है, प्रमोदरस की प्याऊ है, सफेदी का छकड़ा है, ज्योत्स्ना की वावड़ी है, गुपार की घड़ी है, काम की आसन है, शृङ्गारशी का विमान है, और कितना कहें, निरवधि सुख की श्रद्धा है ।’ [सोमपाल विजय]

यहाँ चन्द्ररूपी कारण पर कार्यरूपी श्रद्धा का आरोप है । ग्रन्थकार ने भी ‘अलंकारानुसारिणी’ में उक्त श्लोक की टीका में इस श्लोक पर श्रद्धाहेतु होने से श्रद्धा” ऐसा कहकर यह कहते हुए कि ‘खासकर एक में अनेक वस्तुओं के आरोप से यहाँ मालारूपक है’ इसी पक्ष की ओर संकेत किया है ।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने भी साहृदयातिरिक्तसम्बन्धमूलक आरोप को रूपक माना है । उन्होंने विस्तारपूर्वक लिखा है—

‘इह अन्ये साहृदयनिमित्त एव आरोपो रूपकं न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि, तेन सम्बन्धान्तर-पूर्वक आरोपो वैचित्र्यमात्रं न स्वलङ्कार कश्चिदिति मन्यन्ते, तत्र नयनिपुणहृदयावर्जकम् । तथाहि इह द्विविधा लक्षणा (१) प्रयोजनरहिता रूढा, (२) तदयुता च कार्यौ । तत्र रूढायां प्रयोजन-रूपव्यन्यायार्थान्वाद् अभिधानद् वैचित्र्यचारुताविरहान्न सहृदय-हृदयाह्लादकारितया रसपरिपोष-कत्वमिति नालंकारता । कार्यौ पुनस्तद्वैलक्षण्येन काव्यजायितायगमना सर्वथा कविभिरादरणीयेति सर्वेषां ध्वनिकारादीनामभिप्रतिपत्तिः । न च तस्याः साहृदये सम्बन्धान्तरे वा कश्चिद् विशेषः येनैकत्र अलंकारता अपरत्र तदभाव इति स्यात् । न च सम्बन्धान्तरनिमित्त आरोपोऽलंकारतया लक्षितः,

नापि तद् युज्यते । रूपकसागत्यात् तदन्तर्भावस्यैवोचितत्वात् । अत एव 'आरोपो रूपकमिति सामान्येनैवेह सूचितम्, न सादृश्यमित्यनुपपन्नम् ।

सादृश्यमन्वन्वनिवन्वनाया अलङ्कृतित्वं यदि लक्षणाया ।

साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतोः सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्तं ॥' इति सप्रसङ्गः ।

'यदा कुछ आचार्यों को मान्यता है कि "सादृश्यमूलक आरोप ही रूपक है, सम्बन्धान्तरनिमित्तक नहीं। इसलिए सम्बन्धान्तरमूलक आरोप वैचित्र्यमात्र है कोई अलंकार नहीं, जैसा कि कहते हैं—'तपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिभ्यते" इत्यादि [अर्थ अभी आचुका है]।" यह मत नीति-निपुण सज्जनों का हृदय आकृष्ट नहीं कर पाता । क्योंकि लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) प्रयोजनरहित निरुद्धा और (२) प्रयोजनमहित कार्या । दोनों में भिन्ना प्रयोजनरूप व्यापार्य से रहित रहता है अतः वह अभिधा जैसी ही होती है, उसमें वैचित्र्य तो रहता है पर उनकी चारुता नहीं रहती । इसलिए वह सहृदयहृदयाकादकारो होकर रम्यपरिपोषक नहीं बन पाती अतः उसे अलंकार नहीं माना जाता । कार्या लक्षणा उससे विलक्षण होती है अतः वह कान्य का प्राण नानी जाती है । कवियों के लिए वह सर्वथा आदरणीय होता है । इन तन्म्य में सब के सब ध्वनिवादी भी अविनष्ट हैं । वह सादृश्यमूलक ही या सम्बन्धान्तरमूलक उसमें कोई अन्तर नहीं आता जिससे एक को अलंकार माना जाए और दूसरी को नहीं । सम्बन्धान्तरमूलक आरोप को अलंकाररूप में जो लक्षित नहीं किया गया है वह भी अनुचित है । जैसा रूपकत्व सादृश्यमूलक आरोप में रहता है वैसा ही सम्बन्धान्तरमूलक आरोप में, अतः उसका भी रूपक में गिना जाना उचित है । इसलिए [हमने] "आरोप रूपक कहलाना है" इन प्रकार सामान्य आरोप को ही रूपक लक्षण में रूपक कहा है । उसमें सादृश्य की अनुवृत्ति नहीं की । निष्कर्ष यह कि—

यदि सादृश्यमन्वन्वमूलक लक्षणा को अलंकार माना जाता है तो अन्य सब हेतुओं के समान-रूप से विद्यमान रहने पर केवल सम्बन्धभेदमात्र से [सादृश्येतर-सम्बन्धमूलक आरोप को रूपक न मानना अनुचित है उसमें] भी अलंकारता स्वीकार करना ही उचित है ।

रुद्रट ने इसे हेतु नामक अलंकार बतलाया है—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र ।

सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्वेभ्यः पृथग्भूतः ॥" ७८२ ॥

जहाँ कार्य के साथ कारण का इस प्रकार का फलन हो जिससे उनमें अभेद हो रहा हो तो उस अलंकार को हेतुनामक अलंकार माना जाता है । यह अन्य सब अलंकारों से भिन्न होगा है । उदाहरण दिया है—

'अविरलकमलविकासः स्रज्जल्लिम्बदक्ष कोकिलानन्दः ।

रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः काळ ॥'

'अब वह ऐसा रम्य समय था रहा है जो लोगों में उत्कण्ठा जगाने वाला है, कमलों का पना विकास है, ममो मारों का मद है और बयलों का आनन्द ।'

रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस उदाहरण को उदाहरणों की दिशा कदा है और उदाहरण के रूप में अपनी ओर से यह पद्य प्रस्तुत किया है—

'आयुर्धृत नदी पुण्य मय चौरः सुख प्रिया ।

बैर दनं गुणज्ञान श्रेयो ब्राह्मणजनम् ॥'

— 'धो आयु है, नदी प्रणय है, और भय चोर है, प्रिया सुख है, लुआ बेर है, गुरु ज्ञान है, ब्राह्मण पूजन श्रेय है ।'

मम्मट ने रुद्र के इस मत का खण्डन किया है और हेतु को कान्वयिगात्मक रूप से ही मान्य बतलाया है, तद्भिन्न उपर्युक्त रूप से उसमें कोई चमत्कार नहीं माना । कहा है कि "अविरल" आदि पद्य में कान्वयत्व का कारण कोमल अनुप्रास है । भामह ने भी हेतु को अलंकारत्व योग्य नहीं माना है । उन्होंने—

'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽप्य नालंकारतया मतः ।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥ २।८६ ॥

अर्थात् हेतु सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं माना कारण कि इनमें वाक्यायं (समुदायाभिधान) वक्रोक्तिरूप होता है । भामह के मत में वक्रोक्ति ही अलंकारों का मूल है ।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।

यत्नोऽस्यां कश्चेना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥'

यद्यपि सूक्ष्म को मम्मट ने अलंकार मान लिया है । उद्भट ने भी हेतुअलंकार की चर्चा नहीं की । आचार्य दण्डों ने भामह के विरुद्ध हेतु सूक्ष्म और लेश इन तीनों को वाणी का भूषण ही नहीं उत्तम भूषण कहा है—

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचानुत्तमभूषणम् [२।२३५ कान्वादर्श] उसके बहुत से भेद भी बतलाए हैं । किन्तु उनका हेतु रुद्र के हेतु से सर्वथा भिन्न है । शोभाकर, अप्पयदीक्षित और पण्डितरान ने अलंकाररत्नाकर, विप्रमीमांसा और रसगंगाधर में हेतु को अलंकार नहीं माना । यद्यपि पण्डितरान जगन्नाथ ने 'उल्लासः फुल्ल०' पद्य में हेतुअलंकार की संभावना व्यक्त की है ।

प्रश्न उठता है कार्यकारणभावादिसम्बन्धमूलक आरोप को अलंकार माना जाय या नहीं । हमारा दृष्टि से अलंकाररत्नाकरकार का यह कथन संगत है कि इसे अलंकार न मानना सहृदयता के साथ अन्याय है । इसमें चमत्कार का अनुभव कित्ने नहीं होता । केवल ध्यान देने की बात इतनी है कि यहाँ चमत्कार का कारण क्या है । यदि घृत आदि कारण पर आयु आदि कार्य का आरोप चमत्कारकारों है तो यहाँ अवश्य ही रूपक होगा । किन्तु हमें यहाँ आरोप में नहीं अतिशय में चमत्कारकारणता लगती है । अतिशयोक्ति का एक भेद मम्मट ने भी कार्यकारणों के बीच पीर्वापर्य का विपर्यय माना है और उसमें वे सादृश्य भी स्वीकार नहीं करते । कार्यकारणके पीर्वापर्यविपर्यय के समान मम्मट को उनके अभेद में भी अतिशयोक्ति स्वीकार करनी चाहिए । कार्यकारण का अभेद भी वस्तुतः पीर्वापर्यविपर्यय ही है । क्योंकि कार्य और करण में कारण को पूर्ववर्ती और कार्य को परवर्ती प्रत्येक दार्शनिक मानता है । रुद्र ने अहेतुनामक अलंकार की अतिशय वर्ग के भीतर गिना है वस्तुतः हेतु को अतिशय वर्ग में गिनना था । उन्होंने उक्त वास्तव के भीतर गिना यही एक अरुचि का कार्य किया ।

अनुभव के आधार पर कार्यकारणभावसम्बन्धयुक्त वस्तुओं का अभेद अतिशय को जन्म देता है और सादृश्ययुक्त वस्तुओं का अभेद आरोप को अतः दोनों अलंकारों में भेद मानना भी उचित है । रत्नाकर के समान अभेद नहीं । वस्तुतः कान्यों में प्रयोग सादृश्यमूलक अभेद का ही अधिक है, अतः उर्सी के आधार पर रूपक को व्याख्या त्व ने की है । इस विषय पर देखिए हमारा लेख 'मम्मटाभिनतं लक्षणायाः पद्धिपत्तं हेतुअलंकारश्च' । [उदयपुरविश्वविद्यालय से १९६८ में प्रकाशित]

[सर्घस्व]

इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम् । आद्यं केवलं मालारूपकञ्चेति द्विधा । द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविचर्ति चेति

द्विवैव । तृतीयं शिल्पशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं सत्प्रत्येकं केवलमालारूप-
कत्वाच्चतुर्विधम् । तदेवमष्टौ रूपकभेदाः । अन्ये तु प्रत्येकं वाक्योक्तसमा-
सोक्तादिभेदाः संभवन्ति तेऽन्यतो द्रष्टव्याः ।

[वृत्ति] यह [रूपक] निरवयव, सावयव तथा परंपरित दस प्रकार तीन प्रकार का होता है ।
से] प्रथम केवल [शुद्ध] तथा मालारूपक इस प्रकार दो प्रकार का होता है । द्वितीय [भी]
समस्तवस्तुविषय और एकदेशविषयिण इस प्रकार दो ही प्रकार का होता है । तृतीय शिल्प-
[इनमें शब्दमूलक और अशिल्प शब्दमूलक होकर केवल और मालारूपक होने से चार
प्रकार का होता है । तो इस प्रकार रूपक के भेद आठ होने हैं । प्रत्येक में वाक्योक्त
समासोक्त आदि [जो] कुछ और भी भेद होते हैं उन्हें अन्य ग्रन्थों में देखा जा सकता है ।

विमर्शिनी

अशब्दोऽभ्यालङ्कारापेक्षया भेदसमुच्चयार्थः । विषयद्योतकस्तुशब्दः । अवयवेष्व्यो
निष्क्रान्त आरोप्यमाणो यत्र तत्तथोक्तम् । सहावयवैरारोप्यमाणो वर्तते यत्र तत्तथोक्तम् ।
परंपरयैकस्य महात्म्याद्परस्यारूपणत्वमायात यत्र तत्तथोक्तम् । आद्यमिति निरवयवम् ।
माला चैत्रस्थानेकस्य यानेवारोपाह्वयति । एव परम्परितत्वेन मालारूपकं ज्ञेयम् ।
द्वितीयमिति सावयवम् । समस्तमारोप्यमाणगत्मकं वस्त्वभिधाया विषयो यत्र तत्तथोक्तम् ।
एकदेश आरोपविषयाणाम्, अर्धस्तदात्मक एवारोप्यमाणप्रयोजनप्रतिपादनाय तद्रूपतया
विवर्तते परिणमति यत्र तत्तथोक्तम् । तृतीयमिति परम्परितम् । यद्यपि श्लेषनिबन्धनेऽ
स्मिन्गुणक्रियात्मकधर्मनिबन्धनस्य सादृश्यस्वात्मभव एव तथापि शब्दमात्रकृतमेवा
भेदाध्यवसायतः सादृश्य आह्वयम् । अन्य इति एतच्चेदाट्क्यतिरिक्ता । संभवन्तीति
चिरंतनालङ्कारग्रन्थेष्वेव । न पुनर्लक्ष्यन्त इति भावः । तत्र हि तेषां तस्येऽप्येतच्चेदाट्क-
कृतमेव वैचिन्त्यं प्रतीयते । तथा च—

‘पाद कूर्मोऽत्र यष्टिर्मुजगपतिरयं भाजनं भूतधात्री
तैलापूरा समुद्राः कनकगिरिरयं घृत्तवर्तिप्ररोहः ।
अर्चिश्रण्डांशुरुच्यैर्गंगनमलिनिमा कज्जलं दह्यमाना
वैरिश्रेणी पंगुवा ज्वलति नरपते स्वत्प्रतापप्रदीपः ॥’

इत्यत्र साद्यपि वाक्यार्थोक्तस्य समस्तवस्तुविषयकृतमेव वैचिन्त्यम् ।

‘च’ [और]—शब्द अन्य अलङ्कारों के अनेक भेद का समुच्चायक है । ‘तु’ शब्द विषय
का चोत्तर है [निरवयव =] अवयवों से निष्क्रान्त है । आरोप्यमाण जिसमें ऐसा [सावयव]
जहाँ आरोप्यमाण अवयवों से युक्त हो । [परम्परित =] परम्परा अर्थात् एक के प्रभाव से
दूसरे का आरोपण समक हुआ हो जिसमें ऐसा । माला = प्रथम = निरवयव । माला एक या अनेक
के आरोप से होता है । इस प्रकार का और परम्परितत्व से युक्त होने के कारण [रूपक को]
मालारूपक माना जा है । द्वितीय = अर्थात् सावयव । [समस्तवस्तु विषय =] समस्त आरोप्य-
माणगत्मक वस्तु जहाँ अभिप्राय का विषय [शब्दत कथित] हो वैसा । [एकदेशविषयिण =] एक-
देश = अर्थात् आरोपविषयों का, जहाँ अर्थ अपने ही रूप में बना रहे और आरोप्यमाण का प्रयो-
जन बनाने के लिए आरोप्यमाण रूप से निर्वर्तित = अर्थात् परिणत हो । तृतीय अर्थात्
परम्परित । यद्यपि जहाँ यद् श्लेषमूलक होता है वहाँ शुद्धक्रियात्मक सादृश्य मभव नहीं होता
तथापि शब्दमात्र से अनित्य अनेकाध्यवसाय से वहाँ सादृश्य बन जाता है । अन्य इन आठ भेदों

से भिन्न । संभवन्ति = हो सकते । अर्थात् प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में ही । हम उसका लक्षण नहीं करेंगे । वहाँ उन भेदों के रहने पर भी इन आठ भेदों से होने वाला चमत्कार ही अनुभव में आता है [अतः चमत्कारकारण्यं किञ्च न होने से उन भेदों से भिन्न नहीं माना जायगा] । जैसे—

“हे राजनन् ! आपके प्रताप का प्रदीप जल रहा है, इसमें पाद कर्म है, मञ्जरापति = शैपनांग यष्टि है, पृथ्वी पात्र है, समुद्र तैल का भराव है, यह (सोने का शैल) समेह गोलाकार बर्तन है, तूले लक्ष्मी गौचि है, आकाश की नीलिमा कावल है, [तथा] दक्षिण वैरिचों की पाँत है पतंग ।”

वद्यपि यहाँ रूपक वाक्यार्थ में व्याप्त है तथापि यहाँ चमत्कार समस्तवस्तुविषयत्वकृत ही है ।
चिनर्शः—समासगत और वाक्यगत भेद रुद्र ने बतलाए है । दण्डी और वाग्भट ने भी इसको बर्ता की है ।

[सर्वस्य]

क्रमेण यथा—

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दृये ।

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-

र्यस्त्रिघते तव पदं ननु सा व्यथा मे ॥’

‘पीयूषप्रसृतिर्नवा मखभुजां दात्रं तमोलूनये
स्वर्गङ्गाचिमनस्ककोकत्रदनक्षस्ता मृणालीलता ।

द्विर्भावः स्मरकांमुंकस्य किमपि प्राणेश्वरीसागसा-
माशातन्तुरुदञ्चति प्रतिपदि प्रालेयभानोस्तनुः ॥’

‘विस्तारशालिनि नभस्तलपत्रपात्रे
कुन्दोज्ज्वलप्रभ-भं संबयभूरिभक्तम् ।

गङ्गातरङ्गधनमाहिपदुग्घदिग्घं
जग्धं मया नरपते कलिकालकर्णं ॥’

‘आभाति ते क्षितिभृतः क्षणदाप्रभेयं
निस्त्रिशामांसलतमालवनान्तलेषा ।

इन्दुत्विपो युधि हठेन तवारिकीर्ती-
रानीय यत्र रमते तरुणः प्रतापः ॥’

क्षितिभृत इत्यत्र श्लिष्टं पदम् । परम्परितम्—

‘किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं त्रिधत्ते न या
वृद्धिं वा झपक्तेनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम् ।

वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव विम्व्यधरे ॥’

यत्र वक्त्रेन्दुरूपणहेतुकमधरासृतस्य पीयूषेण श्लिष्टशब्द-रूपणम् ।

‘विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तघुते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर ।

सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो

साम्राज्यं चरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥'

अत्र त्वमेव हंस इत्यारोपणपूर्वको मानसमेव मानसमित्याद्यारोप इति शिल्पशब्दं मालापरम्परितम् ।

'यामि मनोवाक्कायैः शरणं करुणात्मकं जगन्नाथम् ।

जन्मजरामरणार्णवतरणतरण्डं हराड्घ्रियुगम् ॥'

'पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गो

भग्नप्रत्यर्धिबंधोल्बणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः ।

सङ्ग्रामत्रासताम्यम्पुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः

खड्गः क्षमासौविद्धः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥'

अत्र क्षमासौविद्ध इति परम्परितमप्येकदेशविवर्ति । एवमाद्योऽभ्ये-
ऽपि भेदा लेशतः सूचिता एव ।

[वृत्ति] क्रम से उदाहरण—

[१ = निरवयव शुद्ध]—"अक्षय्य करने पर स्वामी का सेवक पर पादप्रहार उचित ही होता है इत्युक्ति है मूल्ये ! [तुम्हारे मन्दप्रहार करने पर भी] मूले कोई छेद नहीं है, व्यथा मूले इसको है कि 'तुम्हारे मुकोमन्द चरण में मेरा गडोर 'रोमकण्टक' न डूब गया हो ।"

[यहाँ पूरे वाक्यार्थ में एकमात्र रोम पर एकमात्र कण्टक का आरोप है अतः उसमें अवयवावयव-विभाव न होने से निरवयवत्व तथा शुद्धरूपत्व भी है,] ।

[वृत्ति] [२ = निरवयव मालारूप यथा]—"प्रतिपद तिथि को ज्ञानकिरण चन्द्रमा का विन्दु उदित हो रहा है । यह देवप्रार्थना के लिए नवीन अग्रजमरी पत्नी (अञ्जलि) है, अन्धकार काटने के लिए यह दाँतरा है, स्वर्ग की गंगा में उदाम बड़े चक्रवाक की चोंच से टपकी मृगाल लता है, काम का वृद्ध-भनुष है, और प्राणेश्वरी के प्रति सापराध व्यक्तियों के लिए यह आघात का मूल्य है ।"

[यहाँ न तो आरोपविषय चन्द्र में उसके अंग चन्द्रिका आदि का वर्णन है और न आरोप्य-माण धीमूपप्रसृति आदि में ही । अतः यह निरवयव है । साथ ही यहाँ आरोप का विषय एक ही है चन्द्र । जब कि आरोप्यमाण अनेक हैं धीमूपप्रसृति आदि, अतः यह मालारूप है । फलतः निरवयव मालारूपक यहाँ संगत है] । अनेक आरोपविषयों में से एक एक पर अनेक के आरोप का उदाहरण टीका में देखिए]

[३ = सावयव समस्तवस्तुविषय रूपक यथा किसी मूल विद्वान् की सहायता के लिए राजा से उक्ति] ।

[[इलरूपी भंसों
या है ।"

१, गगानरग का आरोप है । वे भी आकाश सभ्या के अंग हैं । अतः विषय और विषयी (आरोप्यमाण) दोनों सांग हैं और उनके समी अगों का अनेक बतलाने में यहाँ समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक हुआ ।]

[४ = सावयव एकदेशविवर्ती रूपक =]

[वृत्ति] 'आप क्षितिभृत् [राजा, पर्वत] हैं। आप को जो तलवार है वह 'रात्रि तुल्य श्याम-कान्ति की मांसल (घनी) तमालद्रुमरात्रि है, जहाँ आपका तरुण प्रताप शत्रुओं की चन्द्रतुल्यकान्ति वालों कीर्तियों को बलात् ले आता है और उनके साथ रमण करता है।' यहाँ 'क्षितिभृत्' यह पद दिल्लट है।

[यहाँ राजा पर पर्वत का और राजा की तलवार पर पर्वत की तमालमाला का तो आरोप शब्द है किन्तु शत्रुओं की कीर्ति पर अपहृत सुन्दरियों का आरोप शब्द नहीं है वह अर्थात् प्रतीत होता है। अतः यहाँ एकदेशविवर्त्ता सावयव रूपक है। वस्तुतः यहाँ समासोक्ति है। सावयव रूपक केवल राजा और पर्वत तक सीमित है उसमें एकदेशविवर्त्तता नहीं है। जिस कीर्ति में वह है वह समासोक्तिस्थल है। 'तरुण' शब्द में श्लेष समासोक्ति में शिथिलता ला देता है। उभर 'क्षणदा-प्रभा' और 'इन्धुत्विपः' में उपमा भी है। अतः यह उदाहरण संकरालंकार का माना जाना उचित है। विमर्शनीकार ने इसीछिप सावयव एकदेशविवर्त्ता रूपक के लिये नवीन उदाहरण दिया है—“भवसंविदः”]

[वृत्ति] [५ =] परम्परित =

“तुन्दारा मुखरूपी चन्द्र] क्या पक्ष की कान्ति नष्ट नहीं करता और क्या आँखों को आनन्द नहीं देता, या आलोक [दर्शन = प्रकाश] मात्र से कायदेव को नहीं बड़ा देता ? जो तुन्दारे मुख-रूपी चन्द्रमा के रहते हुए यह दूसरा चन्द्र उदित हो रहा है, यदि [इसे] अमृत का दर्प हो तो वह भी तो विन्वफलतुल्य अथरयुक्त इस [मुख] में है ही।” यहाँ मुख पर चन्द्र के रूपण [आरोप] के आधार पर अथरानृत पर धौव्य का [अमृत-रस] श्लिष्ट पद द्वारा रूपण किया गया है।

[यहाँ अमृत शब्द अथर का भी वाचक है ऐसा मानकर श्लेष स्वीकार किया गया है, किन्तु कोषों में अमृत का अथर अर्थ नहीं मिलता। मुख पर चन्द्र का आरोप न होता तो अथर पर अमृत का आरोप न हो सकता, अतः एक रूपक दूसरे का कारण होने से यहाँ श्लिष्ट परम्परित है किन्तु आरोप्यमाण की संख्या जनेक नहीं है अतः यहाँ केवल श्लिष्ट परम्परित रूपक हुआ]

[६ = माला श्लिष्टपरम्परित =]—

[वृ०] “हे प्रभो ! आप मद्रा के सौ वर्षों तक उच्च साम्राज्य करें। आप विद्वन्मानस के हंस हैं, वैरिकमलासंकोच के लिये सूर्य हैं, दुर्गामार्गण के लिये शंकर हैं, समित्स्वीकार के लिये अग्नि हैं। सत्यप्रीति में दक्ष हैं, विजयप्राग्भाव के लिये भीम हैं और उत्कृष्ट वीर हैं।”

यहाँ 'तुन्दी हंस हो' इत्यादि जो आरोपण [आरोप, रूपक] हैं उन्हीं के आधार पर “मानस ही मानस है” इत्यादि आरोप होते हैं, अतः श्लिष्ट शब्दों से युक्त माला-परम्परित [रूपक] है।

[मानस = मन तथा मानस सरोवर; कमलासंकोच = शत्रुपक्ष में कमला = लक्ष्मी का संकोच और सूर्य पक्ष में कमल का असंकोच। दुर्गामार्गण = राजपक्ष में दुर्गों का अमार्गण = न खोजना, शिवपक्ष में दुर्गा = सती का मार्गण खोजना, समित् = युद्ध और समिधा; सत्यप्रीति = राजपक्ष में सत्य पर प्रीति और दक्षप्रजापति के पक्ष में सती की अप्रीति; विजयप्राग्भाव = राजपक्ष में = विजय = जीत उसका प्राग्भाव पहले से ही रहना; भीमसेन पक्ष में विजय = अर्जुन उससे प्राग्भाव = प्राक् पहले हुआ है भाव = उत्पत्ति जिसकी, भीम अर्जुन से बड़ा था। इस प्रकार विद्वानों के चित्तरूपी मानस पर मानस-सरोवररूपी मानस का आरोप किया गया, तब राजा पर हंस का आरोप हो सका। इसी प्रकार वैरिकों की कमला का जो संकोच एतत्स्वरूप जो कमलासंकोच उस पर 'कमलों का असंकोच' एतत्स्वरूप कमलासंकोच का आरोप होने पर राजा पर सूर्य का आरोप हो सका, दुर्ग का अमार्गण एतत्स्वरूप दुर्गामार्गण पर दुर्गा का मार्गण एतत्स्वरूप दुर्गामार्गण का आरोप

होनेसे राजा पर शिव का आरोप हुआ, युद्धरूपी समिध पर समिधारूपी समिध का आरोप करने पर राजा पर अग्नि का आरोप हुआ, 'सत्य पर प्रीति' एतत्स्वरूप सत्यप्रीति पर 'सर्ता पर अग्रानि' एतत्स्वरूप सत्यप्रीति का आरोप करने पर राजा पर दक्षप्रजापति का आरोप हुआ तथा जीत रूपा विजय के ऊपर अर्जुन रूपा विजय का आरोप होने से राजा पर भीम का आरोप मम्मव हुआ। इनमें हेतुभूत आरोपों में विषय और विषयों का सादृश्य 'एकशब्दवाच्यत्व'-रूपी भाषाण धर्म से हुआ। एकशब्दता का अर्थ है शब्दों की वर्णानुपूर्वी का अभिन्न होना। मानस, कमलासकोच दुर्गामार्ग, समिध, सत्यप्रीति, विजय ऐसे ही शब्द हैं जिनमें 'मू+आ+नू+अ+मू+अ' इस प्रकार वर्णानुपूर्वी एक हैं और जो चिह्न और तल्लवविशेष आदि ऊपर निर्दिष्ट विभिन्न अर्थों के वाचक हैं। एक ही शब्द जिन अनेक अर्थों का ज्ञान कराना है उनमें एक शून्य में लगे फलों के समान अथवा एक आवरण में छिपी दो टाणों के समान अभेद माना जाता है। इस श्लेष को एकशून्यगतफलदयन्यायेन हुआ श्लेष कहते हैं। वस्तुतः एकबीजगतदलदयन्यायेन श्लेष कहा जाना चाहिये। यहाँ आरोप विषय एक ही है राजा, किन्तु आरोप के विषयों आरोप्यमाण अनेक हैं इस, सूर्य आदि, अतः यह रूपक मालास्वरूप हुआ। फलतः इसे मालाश्लेष परम्परितरूपक कहना ठीक है] [७ = अश्लेष = केवल परम्परित =]—

[वृत्ति] 'मै मन, वाणी और शरार से भगवान् उकर के चरण सुगल को शरण में जाना है जो करणात्मक है, जगत् के प्रभु है और जन्म, जरा, मृत्यु रूपी समुद्र से पार उगारने वाले तरण्ट = नौका है।'

[यहाँ जन्म जरा मृत्यु पर समुद्र का आरोप शिव चरणों पर नौका के आरोप का कारण है, आरोप की संख्या एक ही है और यहाँ श्लेष नहीं है अतः अश्लेष केवल परम्परित हुआ]
[८ = अश्लेष मालापरम्परित =]—

[वृत्ति] "मालवेन्द्र का घट्ट्य युद्धमूक में सर्वोत्कृष्ट है। वह राजलक्ष्मी का मरकत या हन्द्र-मणि का बना पल्लव है, पीरपसमुद्र का तरण है, वह दशरुद्र पर विजय रूपी हाथी की [मद से] सराबोर यत्नपट्टी [दानाम्नु पट्ट] है, युद्धभय से परराज मुरल देश के स्वामी के यशस्वी इस के लिए नीलमेघ है और पृथिवीरूपी पट रानी के लिए ककुबी है।"

यहाँ "क्षमामौविदल्ल" पद में रूपक परम्परित होते हुए भी एकदेशविवर्ति है [क्षमा पर रानी का आरोप शब्द नहीं आर्थ है] ऐसे और भा भेद अंशतः सूचित कर ही दिए गए हैं। [यह श्लेष्य में भी होता है, उसके उदाहरण आगे दिए जायेंगे]।

विमर्शिनी

कमेनेनि ययोद्देशम् । द्विर्भावः स्मरकामुंक्षयेत्यत्र च वाक्यार्थपर्यालोचनयेन्द्रो-
मरकामुंक्षारोपप्रतीतेः कुटिलवाचनेकधर्मनिमित्त सादरयमेव संबन्धः । इन्द्रोश्चैकरस्य
शब्द आरोपा इति मालारूपकम् । अनेकरस्य तु यथा—

'वाहू धालभृणालिके कुचतटी मागिवयहर्भ्यं रते-
मुंक्षाशैलशिला नितम्बफलक हासः सुवानिर्भरः ।
वाचः कोकिलहृजितानि चिकुराश्रेणोभ्वश्चामरं
तस्यास्त्रस्तपुरद्वशावकदश किं किं न लोकोत्तरम् ॥'

अत्रानेकेषामनेकारोपाद्गुणकमाला । इयं च श्लेषनिबन्धभाविं दर्शयते । यथा—
'नेत्रे पुष्करसोदरे मधुमती चागी विपाशा मति-
श्चेतो याति नदीनता कलयते शोणत्वमस्याधरः ।

चारित्रं ननु पापसूदनमहो मामेप तीर्थाश्रयः

स्नातुं वाञ्छति भूपतिः परमितीवोष्णोदकं वल्गति ॥'

अत्रानेकेषां श्लिष्टा अनेक आरोपिता इति श्लिष्टार्थरूपकमाला ।

आभातीत्यत्र समासोक्तिमन्ये मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते । यथा—

'भवत्संविदुपपश्रियमनुपमामोदमधुरां समुच्चिन्वन्नानाविषयवनराजीविकसिताम् ।

भवोद्याने भक्त्या तव सह विशेषोल्लसितया विहृतुं न्यग्रः स्यामनुस्तविवेकप्रियसखः ॥'

भवतेर्नायिकारोपस्याशाब्दत्वादेकदेशविचर्तित्वम् ।

'पीयूषस्याधरामृतेन श्लिष्टशब्दनिरूपणम्' इति लेखककविरतोऽयमपपाठो ज्ञेयः ।

अधरामृतस्य हि पीयूषेण निरूपणमत्र स्थितम् । अतश्च 'अधरामृतस्य पीयूषेण श्लिष्ट-

शब्दनिरूपणम्' इति पाठो ग्राह्यः । अत्र च पीयूषवदमृतशब्दस्याधररसावाचकत्वमन्ये

मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरमुदाह्रियते । यथा—

'अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रय । स्तूयते देव सद्दंशमुक्त्वास्त्वं न कैर्भवान् ॥'

अत्र मुक्त्वास्त्वंमिथ्यारोपपूर्वको वंश एव वंश इत्यारोप इति श्लिष्टशब्दं केवल-
परम्परितम् ।

विद्वदिष्यादो हंसरूपगामाहात्म्यान्मानसरूपेणेति परम्परितम् । एवमर्णवरूपणा

तरणहारोपस्य हेतुरिति परम्परितम् । पर्यङ्क इत्यत्रैकस्य चहव आरोपा इति मालापरम्परि-

तम् । अनेकस्य तु यथा—

'श्रीः श्रीधरोरःस्थललेन्दुलेखा श्रीकण्ठकण्ठाभ्रतटिच्च गौरी ।

शक्राक्षिपत्राकरराजहंसी शची च यो यच्छ्रुतु मङ्गलानि ॥'

अत्र बहुनामनेकारोपात्परम्परितमाला । एवमादय इति । परम्परितमप्येकदेशविचर्तित्वेध-

प्रकाराः । सूचिता इति । एतत्प्रदर्शनादेव । तत्र च सावयवं द्विविधमपि श्लिष्टं दृश्यते ।

तत्र समस्तवस्तुविषयं यथा—

'विह्वन्तोठ्ठवलडडं फुरन्तदन्ताकारवहलकेसरपभरम् ।

पहरिसचन्वालोए हसिभं कुमुपण सुरहिगन्धोगारम् ॥' [सेतुबन्धे ४६]

अत्र कुमुदस्य श्लिष्टत्वम् । एकदेशविचर्तित्वं यथा—

'पञ्चारामौक्तिः शर्वप्रकरपुलकितं चन्द्रिकाचन्दनाम्भो-

दिग्धं सप्तपिहस्तस्थितकरकपयोधौतमाकाशलिङ्गम् ।

तोयाधारे प्रतीचि च्युतवति दिनकृद्धिग्वनिर्माव्यपद्मे

तस्याचांपुण्डरीकं व्यधित हिमकरं सत्वरं मूर्ध्नि कालः ॥'

अत्र कालविषये पूजकादिरारोप्यमाणो न शाब्द इत्येकदेशविचर्तित्वम् । तोया-
धारस्य समुद्रनिर्मावयोद्गमोण्डवाचकत्वाच्छ्लिष्टत्वम् ।

कनेग = कम से अर्थात् जिस क्रम से नाम लिये गए हैं उसी क्रम से । "दिर्भावः स्पर्का-
मुंक्त्य" = इस स्थल में वाक्यार्थ का विचार करने पर चन्द्रमा पर स्पर्कामुंक्त्य के आरोप की

प्रतीति होती है । उससे कुटिलता आदि अनेक धर्म पर आवृत्त सादृश्य हो संभव है । और एक
इन्दु पर अनेक का आरोप है इत्यादि यह मालारूपक भी है । अनेक [पर अनेक के आरोप] का

उदाहरण यथा— "हरिण के डरे हुए छीने को ली आँखों वाली उस जन्दरी का क्या लोकोत्तर नहीं
है—उसकी बाहें गोमल बाल गुणाल हैं, कुवत्थल रत्न-का-माणित्यहर्ष्य है, नितम्ब मुञ्जाशैलशिला

है, हाथ सुधानिर्जर है, बोली कोयल की कूक है और केश काम के चँवर हैं ।" यहाँ अनेकों का
अनेकों पर आरोप होने से श्लिष्टरूपकमाला कहना चाहिए । यह रूपकमाला नहीं श्लेषमूलक भी

होती है। यथा—“यद् भूपति तोर्षो [पुण्यस्थान और गुरु, शास्त्र, प्राडिक्वाक आदि] का आश्रय है। इसके नेत्र पुष्कर [पुष्करनाम तीर्थ और कमल] के महोदर हैं, इसकी वागी मधुमती [ममय है कदमीर में इस नाम का कोई तीर्थ हो, सामान्य अर्थ मिठासयुक्त] है, इसकी मति विपाशा [इम नाम की नदी और पाश = उलझ या कुण्ठा से रहित] है, चित्त नदीनता [नदी का इन स्वामी = समुद्र तद्भाव तथा अदीनता को प्राप्त होता है, इसका अपर शोणत्व [शोणनद तद्रूपता और लज्जारे] को धारण करता है, इसका चारित्र्य पापमूदन [पापनाशक] है। परन्तु आश्चर्य है कि यह नहाने के लिए मेरे पास आ रहा है, केवल इसीलिए यह उष्ण जल निकल रहा है।” इसमें अनेक पर अनेक श्लेषों का आरोप है इसलिए यह श्लेषार्थरूपकमाला है।

‘आभाति ते’ इस पद्य में दूसरे लोग समासोक्ति मानते हैं। इसलिए इसके लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया जाना है—“ससाररूपी उषान में विवेकरूपी प्रियमित्र को साथ ले मैं जाना-विषयरूपी वनरानि में विकसित और अद्वितीय आमोद [सुगन्ध तथा आनन्द] से मधुर आपकी सविदरूपी पुण्यश्री का चयन करते हुए भक्ति के सग विहार करने हेतु कब व्यग्र होऊँगा।” यहाँ भक्ति के ऊपर नायिका का आरोप शब्दत न हो कर अर्थत हुआ है। अतः रूपक में यहाँ एक-देशविवर्तित हुआ।

[‘अत्र वषट्केन्दु०’ इत्यादि पक्ति में] ‘पीयूषस्य अपराभृतेन श्लिष्टशब्दनिरूपणम्’ यह पाठ [इस ग्रन्थ के] लिपिकार ने अपने मन से गट लिया समझना चाहिए। यहाँ अपराभृत पर पीयूष [रूपा अमृत] का निरूपण किया जा रहा है इसलिए “अपराभृतस्य पीयूषेण श्लिष्टशब्दनिरूपणम्” यह पाठ ग्राह्य है। इस पद्य में कुछ लोग अमृत शब्द को पीयूष अर्थ का वाचक तो मानते हैं, परन्तु अपररस का वाचक नहीं। अतः हम दूसरा उदाहरण देते हैं—“हे देव, आप सद्बन्ध [कुल और बान] के मुक्तामणि हैं और अलौकिक महान् आलोक से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले हैं। अतः आपकी श्रुति कौन नहीं करता।” यहाँ राजा पर मुक्तामणि का जो आरोप है उससे “कुलरूपी बन्ध ही नौसरूपी बन्ध” इस प्रकार के बन्ध पर बन्ध का आरोप ममय होता है, अतः यहाँ श्लिष्ट शब्दपूर्वक हुआ केवल [अमाला] परम्परित रूपक है।

‘विद्वन्मानसार्त्त’ इत्यादि पद्य में इस के आरोप के माहात्म्य से [विद्वानों के चित्तरूपी मानस पर] मानस का आरोप हुआ है, अतः यहाँ भी परम्परितरूपक है [वस्तुतः मानसरूपक कारण है और हंसरूपक कार्य रूपक है—उद्देश्यविषयभाव ऐसा मानने पर हो रक्षित रह सकता है] इसी प्रकार [यामि० इत्यादि पद्य में] अर्णव का आरोप [शकरचरणा पर] तरण्ट के आरोप का हेतु है, इसलिए वहाँ भी परम्परितरूपक है। ‘पर्यङ्को राजलक्ष्म्या ०’ पद्य में एक पर अनेक आरोप है, अतः मालापरम्परित हुआ। अनेक पर अनेक के आरोप का उदाहरण यथा—“विष्णु के बभ्रुरूपी आकाश की चन्द्रलेखा लक्ष्मी, शिव के कण्ठरूपी मेघ की तडित्ति गौरी तथा इन्द्र के नेत्ररूपी पद्म-सरोवर की राजहंसो शचा आपका मंगल करे।” यहाँ अनेक पर अनेक के आरोप से परम्परित-माला हुई।

एवमादयः अर्थात् परम्परित भी एकदेश-विवर्ती होता है, इस प्रकार के अन्यभेद।

सूचिता अर्थात् पूर्वोक्त भेदों को दिखलाने दिखलाने ही। इस प्रकार विचार करने पर दोनों प्रकार का सावयव रूपक भी श्लिष्ट होता है। दोनों में से समस्तवस्तुविषय यथा—

[सेतुवन्ध में कुमुदवानर का वर्णन ३१६]—

“विषटमानौष्ठदलपुट स्फुरदहन्तावगवहलकेसरप्रकरम् ।

प्रहर्षचन्द्रालोके इक्षित कुमुदेन मुरमिगन्धोद्गारम् ॥”

ग्रहर्ष की चांदनी में कुमुद हंस पड़ा, उसके पंखुदियोंरूपी मोठ खल गए, दन्त के आकार के बहुल से केसर (रेसे) साफ-साफ दिखाई देने लगे तथा मृगव्य पूर्ण अलेख (उद्धार) भी इष्टि-गोचर होने लगा । यहाँ कुमुद शब्द श्लिष्ट है [यहाँ कुमुदवानर के ऊपर कुमुदपुष्प का आरोप किया जा रहा है] एकवेशविवर्ती में श्लेष —

“तारारूपी मुक्तामय अर्घ्य से पुलकित, चांदनीरूपी चन्द्रनरस से लिप्त तथा सप्तमिण्डल के दृष्टी में रखे करक (कमण्डलु और ओले) के जल से भीत जो आकाशरूपी शिवलिंग है ‘उत्सर्प’ ‘काल’ में चन्द्ररूपी पूजापुण्डरीक कटाया जब सूर्यरूपी निर्मात्यपत्र पश्चिम दिशा में स्थित तोया-धार (समुद्र जलपात्र) में जा पड़ा ।

यहां कालरूपी विषय के ऊपर पूजा करने वाले आदि (?) का आरोप शब्दतः नहीं हुआ अतः यह एकदेशविवर्ती हुआ । तोयाधार शब्द समुद्र और निर्मात्य के लिए निश्चित जलपात्र का वाचक होने से श्लिष्ट है [करक शब्द भी श्लिष्ट है । ‘करको दाहिमे पश्चिमेदे हस्ते कमण्डली । लट्वाकरंजयोर्मेषोपले च’—अनेकार्थसंग्रह के इस वाक्य के अनुसार उसका अर्थ कमण्डलु भी है । इसी पद में हाथ के लिए हस्त शब्द का प्रयोग होने से यत्नका दूसरा अर्थ बर्षोपल = अर्थात् ओले लेना होगा । तब करक शब्दवाच्यत्वेन अभिन्न ‘कमण्डलु रूपी ओले के जल से’ ऐसा अर्थ निकाला जावेगा] ।

विमर्शनी

अचिञ्चाभेदमेव द्रढयितुं विषयिणो निषेधपूर्वमारोप्यमाणत्वेन तदीयस्थ वा भेद-हेतोर्धर्मस्य हानिकल्पनेनाधिक्येन वा द्दारोपत्वेनापीव इत्यते । क्रमेण यथा—

‘कलिप्रिया शश्वदपालिताज्ञावशां गुरुज्ञातिपु दर्शयन्ती ।

जाया निजा या ननु सैव कृत्या कृत्या न कृत्या सरलस्य धार्मिः ॥’

अत्र कृत्या निषेधपूर्वं जायायामारोपिता । तन्निषेधेन हि जायाया कृत्यया दाढ्येन साम्यं प्रतीयते । कृत्या स्या न स्वकर्मणि व्याप्रियते यथेयं तत्कर्मणीति द्यन्न वाक्यार्थः । अत्र च यद्यन्वे विशेषालंकारमाहुस्तदभेदालंकारनिराकरणदेव निराकृतमिति न पुनराय-स्यते । हान्या यथा—

‘बनेचराणां धनितासखानां दरीगृहोरसङ्गनिपक्तभासः ।

भवन्ति यत्रौपधयो रत्नान्यामर्तलपूराः सुरतप्रदीपाः ॥’

अत्रार्तलपूरेः हानिकल्पनम् । आधिक्येन यथा—

‘तुरीयो ह्येष मेध्योऽग्निराम्नायः पञ्चमोऽपि वा ।

अपि वा जंगमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसंचरः ॥’

अत्र तुरीयत्वादेर्धर्मस्याधिक्यम् ।

‘दृढतरनिवद्धसुष्टेः कोपनिपणग्रस्य सहजमलिनस्य ।

कृपाणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥’

इत्यत्रापि द्दारोपमेव रूपकं ज्ञेयम् । अत्र हि कृपाणस्येति समुच्चयमानत्वेन निर्वेशाच्छब्दश्यारोपस्याप्रतीतेरप्याकारमात्रेण भेदस्योक्तेर्वक्त्यार्थपर्यालोचनमाहात्म्या-त्परिशिष्टमस्तधर्मान्तरसद्भावम्यनुज्ञानात्पर्यवसाने दाढ्येन विषयत्रिपयिणोरभेदप्रति-पत्तिः । सैव च रूपकसत्त्वमिति पूर्वमेवोक्तम् । अन्येऽपि भेदाः स्वयमेवाभ्युह्योदाहार्याः ।

कहाँ कहीं केवल अभेद का ही इद करने के लिए विषयों का आरोप निषेधपूर्वक किया जाता है । कहीं कहीं उसी विषयों के उस धर्म को हानि या अधिकता दिखलाकर आरोप किया जाता

हे जो [अभेद के विरुद्ध] भेदक होता है । क्रम से उदाहरण यथा—संधि और धर्मप्रिय व्यक्ति को कलहप्रिय, कमीकमी आशा न पालने वाली, बलोंकी सदा अवज्ञा करने वाली अपनों जो स्त्री हो वही वस्तुन कृत्या है, कृत्या कृत्या नहीं। यहाँ जाया पर कृत्या का आरोप निषेधपूर्वक किया गया है । उमके निषेध मे जाया पर कृत्या का अभेद और अधिक दृढता के माध प्रतीत होना है । इस पद्य का वाक्यार्थ है कि 'अपने कार्य में कृत्या उतनी तत्परता नहा दिखलाती जितनी उमके कार्य में कर्कशा पत्नी। यहाँ [शोभाकर आदि] अन्य विद्वानों ने वो एक विशेष अलङ्कार माना है उसका निराकरण हमने [उपमा के प्रकरण में] अभेदालंकार के निराकरण द्वारा ही कर दिया है, अत अब पुन. परिधम नहीं करते । [भेदक धर्म की] हानि के द्वारा [अभेदपुष्टि का उदाहरण] यथा—“जिम [हिम-गिरि] पर शुक्राग्रहों की मोद में लगी रोशनी वाली ओपधियाँ ही मपत्नीक बनेचरों के लिये रनि में तैलापेक्षारहित सुरतप्रदीप का काम किया करती है ।” यहाँ 'अनेलपूर' तैलापेक्षारहित कहकर हानि को कल्पना की गई है । भेदकधर्म की अधिकता के द्वारा [अभेदपुष्टि का उदाहरण] यथा—“यह था तो सतुर्थ यज्ञाग्नि है, या पौंचवा वेद है, या फिर जगम तीर्थ है अथवा शरीर-धारी धर्म !” यहाँ सतुर्थत्व आदि विशेषणों की अधिकता बनलाकर अभेद दिखलाया गया है । “कृपण और कृपाण में केवल आकार [स्वरूप तथा 'आ' अक्षर] मान का भेद रहता है, दोनों ही दृढतरनिषेधपुष्टि [पुष्टि = मूठ, मुठो] होने हैं, कोपनिषण [कोप = ग्यान, सजाना] रहने हैं और स्वभावतः मलिन [कृष्णवर्ण का, गन्दा] होने हैं ।” यहाँ भी दृढारोप रूपक ही है । यहाँ कृपाण का निर्देश समुचीयमान पदार्थ के रूपमें हुआ है, अत [कृपण पर] उसका आरोप शब्दतः प्रतीत नहीं होता, इनने पर भेद केवल आकार मात्र को लेकर बदलाया गया है अतः वाक्यार्थ की विवेचना करने पर दोनों का शेष समी धर्मों से युक्त होना प्रतीत होना है । इस प्रकार विषय-विषयी का अभेद अन्त में दृढता द्वारा ही होना है । यह अभेद प्रतीति ही वस्तुतः रूपक का स्वरूप है यह पहले ही कह दिया गया है । येमे ही अन्य भेद भी स्वयं आँके जा सकते हैं । [व्यक्तिविवेकार ने इन पद्य में अभेद को अममव बदलाया है, द्रष्टव्य हिन्दोव्यक्तिविवेक पृष्ठ-४१९, अवाच्यवचन दोष] । ['बनेचरागा०' तथा 'दृढतरनि०' में अल० ररनाकरकार ने अभेद नामक एक स्वतन्त्र जलक्षार माना था]

[सर्वस्व]

इदं वैधर्म्येणापि दृश्यते । यथा -

‘सौजन्याम्बुमदस्थली सुचरितालेत्यधुमिसिर्गुण-

ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगध्वपुच्छच्छटा ।

यैरेपापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता

तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥’

अत्र चारोप्यमाणस्य धर्मित्वादाविष्टलिङ्गसंख्यात्वेऽपि क्वचित्स्वतोऽसंभ-
वत्संख्यायोगम्यापि विषयसंख्यात्वम् प्रत्येकरमारोपात् । यथा—‘क्वचिज्जटा-
वल्कलावलम्बिनः कपिल्ला दावाग्रयः’ इत्यादौ । न हि कपिलमुनेर्वहुत्वम् ।

‘ध्रिमिरतमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तम. शरीरसाद्म् ।

मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुर्वते विपं वियोगिनीनाम् ॥’

इत्यत्र नियतसंख्याककार्यविशेषोत्थापितो गरलार्थप्रभाषितो विपशब्दे
श्लेष एव । जलदभुजगजमिति रूपकसाधकमिति पूर्वं सिद्धत्वाभावात् तद्वि-
यन्वनं विपशब्दे श्लेषशब्दं परम्परितमिति श्लेष एवात्रेत्याहुः ।

[वृत्ति] यह [रूपक] वैधर्म्य से भी देखा जाता है । यथा—'जो सौजन्यरूपी जल के लिए मरुस्थलों है, सुचरितरूपी चित्र के लिए आम्बुशक्ति है, गुणरूपी चन्द्रिका के लिए अंधेरे पाख की चौदस है, [तथा] सरलता [सीधेपन] के लिए कुत्ते की पूँछ है ऐसी इस अत्यन्त दुष्ट चित्तवाली राजावली को भी कलियुग में जिन्होंने कित्ती भी दुरोपणा में पड़कर सेवा कर ली उनके लिए केवल भक्तिमात्र से सुलभ भगवान् शूली (शिव) की सेवा कितना बड़ा कौशल है ।'

इस [रूपक] में आरोग्यमाण वदार्थ धर्मों होता है इस कारण उसमें [विषय का] लिंग और संख्या अद्यय ही रखे जाने हैं किन्तु विषय की संख्या भी जो उसमें कमी-कमी स्वभावतः नहीं रहती, उसमें रखी जाती है क्योंकि आरोप करते समय प्रत्येक धर्म का आरोप किया जाता है । जैसे 'कहाँ जटावस्कुल का अवलम्बन करने वाली दावाग्निर्षो कपिल है ।'—इत्यादि स्थलों में । [यहाँ 'कपिला'—इस प्रकार] कपिल [मुनि पक्ष] में जो बहुत्व है वह स्वाम्भाविक नहीं है । [वह केवल विषय दावाग्नि के अनुरोध से लाया गया है] ।

"जलद-भुजग से उत्पन्न विष भियोगियों में भ्रम [चक्र] मरुचि आलस्य, शून्यता (प्रलय), मूर्च्छा, विषाद, शरीरशैथिल्य तथा शृत्यु वरवश उत्पन्न कर रहा है ।"

—यहाँ उन उन गिने गिनाए कार्य [भ्रम आदि] से कुछ कुछ प्रतीति विषय बनाया गया तथा गरल अर्थ में अधिक प्रभावपूर्ण बनाया गया विषशब्द में जो श्लेष है उसमें 'जलद-भुजग'—में रूपक की सिद्धि होती है अतः [रूपक के श्लेष से] पहले न रहने के कारण यहाँ उस [रूपक] के आधार पर विष शब्द में श्लेष पद परम्परित रूपक नहीं माना जा सकता, अतः यहाँ श्लेष ही है ऐसा कहा गया है ।

विमर्शिनी

वैधर्म्यणापीति । न केवल साधर्म्येणेत्यर्थः । अस्य च विश्लिष्टविशेषाम्तरं दर्शयितुमाह—अत्रेत्यादि । आविष्टलिङ्गस्वेऽपीत्यनेन धर्मिणः स्वरूपमात्रपर्यवसितस्वेऽपि धर्म्यन्तरसंबन्धिनः संख्यात्मनो धर्मान्तरस्यापि स्वीकार इत्यावेदितम् । असंभवत्संख्यायोगस्येति । यद्यप्येकादिव्यवहारहेतुः संख्येति नीत्या एकस्मिन्नपि द्रव्ये तद्योगः संभवति तथाप्यनेकद्रव्यवर्तिस्वाद्यभिप्रायेणैतदुक्तम् । प्रत्येकमारोगादिति अथमग्निः कपिलोऽयमग्निः कपिल इत्येवंरूपात् । अतश्चारोग्यमागस्य कपिलमुनेर्बहुत्वायोगाद्विषयसंख्यसंबन्ध । श्लेषतानि-यन्धनस्य परम्परितस्य श्लेषाद्वैलक्षण्यं द्योतयितुमाह—अभिमिति । प्रमायित इति । प्रथममेव प्रतीतिगोचरीकृत इत्यर्थः ।

वैधर्म्य से भी अर्थात् केवल साधर्म्य से ही नहीं । इस [रूपक] के अन्य प्रकार दिखलाने के लिए कहते हैं—'अत्र' इत्यादि । आविष्टलिङ्गस्वेऽपि ऐसा कहकर ग्रन्थकार यह बतलाना चाहते हैं कि [आरोग्यमाण] धर्मों यद्यपि अपने ही रूप में रहता है तथापि उसमें दूसरे धर्मों से सम्बन्धित संख्यारूपी धर्म भी आ जाता है । असंभवत्संख्यायोगस्य 'संख्या एक दो आदि व्यवहार का हेतु धर्म है' इस नियम के अनुसार एक द्रव्य में भी संख्या रह सकती है तब भी अनेक द्रव्यों में रहने आदि के अभिप्राय से यह कहा । प्रत्येकमारोपात् अर्थात् 'यह अग्नि कपिल है' 'यह अग्नि कपिल है' इस प्रकार के आरोप से । इसी कारण आरोग्यमाण कपिलमुनि में बहुत्व न होने पर भी उसमें विषय (दवाग्नि) की संख्या लेकर बहुत्व दिखलाया गया ।

श्लेषमूलक परम्परित रूपकों का दृष्टेय से भेद दिखाने के लिए कहते हैं—'अभिमरतिम्' । प्रमायित अर्थात् पहले ही प्रतीतिपथ में अवतीर्ण ।

विमर्शनी

पूर्व सिद्धत्वाभावादिति । रूपरश्च श्लेषहेतुत्वात् । तन्निबन्धनमिति रूपकनिबन्धनम् । इति शब्दो हेतौ । अतश्च श्लेष एवात्रालंकारो न परम्परितं रूपकमित्यत्र तात्पर्यम् । चिन्त्यं चैतत् । यतः श्लेषस्तावद्वाच्ययोर्द्वयोः प्रकृतयोरप्रकृतयोः प्रकृताप्रकृतयोश्च भवति । अत्र च न द्वयोः प्रकृतत्वं नाप्यप्रकृतत्वम् । वर्षासमये जलदस्येव जलस्य वर्णनीयत्वात् । प्रकृताप्रकृतयोश्च विशेषणसाम्य एव श्लेषो भवति इह तु विशेष्यस्यापि साम्यमिति शब्दशाक्युत्पितरय ध्वनेरय विषयो न श्लेषस्य । अतश्च नात्र श्लेषालंकारः । नापि ध्वनिः । जलदमुजगजमिति रूपकमाहात्म्याच्छब्दस्यैव गारुडार्थस्याभिधानात् । एवमत्र श्लेषशब्दनियन्धनं [रूपकमेवालंकारः] जलदमुजगजमिति रूपकान्तरेणापि गारुडार्थो यदि प्रतीयते तस्य ध्वनेर्विषयः स्यादित्युक्तम् । स्थिते तु जलदमुजगजमिति रूपके सम्माहात्म्यादेव विपक्षे श्लेषशब्दनियन्धनं रूपकम् । अन्यथा हि जलदमुजगजमिति रूपकं व्यर्थं स्यात् । तेन विना हि गारुडार्थं प्रतीयत इत्यल बहुता ।

पूर्व सिद्धत्वाभावात् = पहले से सिद्ध न होने के कारण अर्थात् क्योंकि यहाँ रूपक श्लेषमूलक है । तद्विषयध्वनमिति रूपकमूलक । इति शब्द यहाँ हेतुर्थक है । इसलिये तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ श्लेष ही अलंकार है, श्लेषपरंपरित रूपक नहीं ।

किन्तु यह मान्यता शोचनीय है, क्योंकि श्लेष होता है केवल दो वाच्य अर्थों में चाहे वे केवल प्रकृत ही या केवल अप्रकृत अथवा प्रकृताप्रकृत दोनों । हम [भ्रमिमरनि०] पद्य में न तो दोनों प्रकृत ही हैं न अप्रकृत ही, क्योंकि वर्षा काल में जैसे बादलों का वर्णन किया जाता है वैसे ही पानी का भी [अतः यदि एक प्रकृत है तो दूसरा अप्रकृत और यदि एक अप्रकृत है तो दूसरा प्रकृत] प्रकृत और अप्रकृत दोनों का श्लेष केवल यही होता है जहाँ केवल विशेषणों में समानता होती है [यथा समासोक्ति में] किन्तु इस पद्य में विशेष्यों में भी समानता है । इसलिये यह पद्य शब्दशक्ति मूलक ध्वनि का श्लेष [हो सकता है कि सम्मत् ने भी माना है] है, श्लेष का नहीं । इसलिये यहाँ श्लेषालंकार नहीं है । [वस्तुतः] यहाँ ध्वनि भा नहीं है । इसलिये कि 'जलद-मुजग-क' पद में जो रूपक हुआ है उसके दल से गारुड-रूपी अर्थ शब्दशक्ति [अभिधा] से ही प्रतीत हो जाता है । इस प्रकार यहाँ श्लेष शब्दमूलक रूपक ही अलंकार है । हाँ यदि यहाँ 'जलद-मुजगज' के रूपक के द्वारा भी गारुड रूपी अर्थ [अभिधा द्वारा कथित न होकर] व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत हो तो उसे ध्वनि का विषय कहा जा सकेगा । किन्तु जब यहाँ जलदमुजगज-पद में रूपक ही रहा है तब उसी के आधार पर विपक्ष में भी श्लेषशब्दमूलक रूपक ही मान्य होगा । ऐसा न मानने पर 'जलदमुजगज' का रूपक निरर्थक ठहरेगा । क्योंकि गारुड-रूपी अर्थ की प्रतीति उस रूपक के विना भी [व्यञ्जन द्वारा] प्रतीत हो जाती है । अस्तु,—अधिक विवेचन से कोर लाम नहीं ।

विमर्श.—प्रकृताप्रकृतनिष्ठ श्लेष भी श्लेषालंकार होता है यदि यह मान लिया जाय तो समासोक्ति का उच्छेद हो जाता है । उसी में केवल विशेषणों की उभयार्थकता के कारण अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है । अप्रकृतार्थ की प्रतीति भी विशेषणशब्द व्यञ्जना द्वारा कराने हैं, अतः यहाँ दोनों अर्थ वाच्य नहीं होने । इस प्रकार दो वाच्य अर्थों में ही श्लेष मानकर प्रकृताप्रकृतोभय में भी एक साथ श्लेष मान लेना अस्मभव है, क्योंकि अप्रकृत अर्थ यहाँ कभी भी वाच्य नहीं होगा जहाँ उसके साथ प्रकृत अर्थ रहेगा । यहाँ अभिधा केवल प्रकृत अर्थ में सीमित रहेगा । यदि दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाने पर प्रकृतत्व और अप्रकृतत्व की प्रतीति मानी जाय और प्रकृतत्व की प्रतीति को अप्रकृतार्थ की अभिधा में वाचक न माना जाय तो उस प्राथमिक प्रतीति

में श्लेष तो माना जा सकेगा, किन्तु उसे अलंकार नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि वहाँ चमत्कार समासोक्ति से ही होगा, अतः उसी में अलंकारत्व माना जायगा। टीकाकार ने प्रकृताप्रकृतोभय में कदाचित् श्लेषालंकार स्वीकार न कर केवल श्लेष स्वीकार किया है। यदि ऐसा है तो वह मान्य है।

दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'उदामोक्तलिकान्' इत्यादि उपमापद्य में समासोक्ति स्वीकार का है और अप्रस्तुतप्रशंसा के 'विनात्यम्युदितेन' पद्य में मम्मट ने भी। वहाँ समासोक्तिपद केवल तुल्यविशेषणमात्र के लिए प्रयुक्त किया गया माना जाता है। अलंकारत्व उपमा और अप्रस्तुतप्रशंसा में ही माना जाता है। इस प्रकार समासोक्ति में भी श्लेष का अर्थ यहाँ पूर्व-विश्लेषित एकद्वन्द्वगतफलद्वयन्यायेन द्वयर्थकत्वात् या दोअर्थों का आपस में चिपटे रहना ही मानना होगा। प्राचीन आचार्यों ने श्लेष को महत्त्व दिया है और अलंकारान्तरस्थलों में भी उसी को अलंकार माना है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि विमर्शिनीकार उन्हीं के अनुसार विवेचन कर रहे हैं, क्योंकि प्राचीनों के इस मत का मम्मट ने नवम उल्लास में भलीभाँति खण्डन कर दिया है और विमर्शिनीकार उन्हीं के अनुयायी हैं, किन्तु आगे स्वयं अलंकारसर्वस्वकार ने भी प्रकृताप्रकृतोभयगत श्लेष स्वीकार किया है। टीकाकार ने उन्हीं के अनुसार वहाँ श्लेषविवेचन किया है।

रूपक का इतिहास :-

भरतमुनि = "स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलयणम् ।

किञ्चित्सादृश्यसंपन्नं यद् रूपं रूपकं तु तत्र ॥ १६ ॥ ५६ ॥

अपने [उपमान के] रूप से निरूपित जो उपमेय का रूप वही रूपक होता है। उसके दो भेद होते हैं सांग [तुल्यावयव] और एकदेशविर्ती [किञ्चित्सादृश्य] ।

उदाहरण = "पदमाननास्ताः कुमुदप्रभासा विकासनीलोत्पलचारुनेत्राः ।

वापीस्त्रियो हंसकुलैः स्वनङ्गिर्विरजुरन्योन्यमिवालपन्त्यः ॥'

भामह = 'उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते ।

गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २ । २१ ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविर्त्ति च ।

द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत् ॥ २ । २२ ॥'

गुणों की समता देखकर उपमेय का जो उपमान के साथ अभेद या सादृश्य बतलाया जाता है उसे रूपक कहा गया है। यह दो प्रकार का होता है १—समस्त वस्तुविषय और २—एकदेश-विषयी।

वामन = 'उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्वारोपो रूपकम्' । ४ । ३ । ६ ।

'गुणों के साम्य से उपमेय का जो उपमान के साथ अभेद वही रूपक ।'

उद्भट = 'श्रुत्या सन्नन्धविरहात् यत् पदेन पदान्तरम् ।

गुणश्रुतिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्र' ॥ १ । ११ ॥

अभिधाद्वारा सन्नन्ध न हो सकने पर लक्षणाद्वारा पद का दूसरे पद के जो संबन्धित होता है वही रूपक है। भेद =

"बन्धस्तस्य भक्तः श्रुत्या श्रुत्वर्थान्यां च तेन तत्र ।

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविर्त्ति च ॥ १ । १२ ॥

समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते ।

यद् एकदेशश्रुति स्यात् पररूपेण रूपयात्" ॥ १३ ॥

यह या तो पूरा का पूरा शब्द द्वारा ही प्रतिपादित रहता है या तो अशूनः शब्द और अशतः अर्थ द्वारा इस कारण इसके क्रमशः दो भेद हो जाने हैं । समस्तवस्तु विषय तथा एकदेशविरत्ता । समस्तवस्तुविषय को मालारूपक भी कहा जाता है । एकदेशविरत्ता रूपक केवल एक स्थान में उपमान के स्पष्ट उल्लेख न होने से होता है । कारिका में आप "एकदेशवृत्ति"—शब्द का विग्रह प्रतीहारन्दुराज ने इस प्रकार किया है—“एकदा अन्यदा ईश. प्रभविष्णुर्वीज्मी वाक्यार्थः तदवृत्तित्वं रूपकस्याभिमतम् ।”

अर्थात् एकदा = एकवार ईश = प्रभावपूर्ण जी वाक्यार्थ उसमें वृत्ति = रहने वाला रूपक । यह एक विचित्र व्याख्या है । यहा जो गुणवृत्ति शब्द आया है उसका अर्थ गीर्णा सारोपा लक्षणा है । [३० काव्यप्रकाश उल्लास-२] ।

द्वन्द्व = 'यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा ।

अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम् ॥ ८ । ३८ ॥

उपसर्जनोपमेय कृत्वा तु समासमेतयोश्मयो ।

यत्तु प्रयुज्यते तद् रूपकमन्यत् समासोक्तम् ॥ ८ । ४० ॥

सावयव निरवयव सकोर्णं चेति भिद्यते भूत् ।

द्वयमपि पुनर्द्विभेदतः समन्तविषयैकदेशिनया ॥ ४१ ॥

अहाँ साम्य हो और उसके आधार पर उपमान तथा उपमेय का जानिनिरेपेक्ष [अविवक्षित सामान्य] अभेद वही रूपक कहलाता है । जहाँ उपमान और उपमेय दोनों का समास होना है और उसमें उपमेय अप्रधान रहता है वह रूपक समासरूपक कहलाता है । इसके सावयव, निरवयव और सकोर्ण ये तीन भेद होते हैं । यह दोनों प्रकार का रूपक समस्तवस्तुविषय और एकदेशी इस प्रकार से पुनः दो दो प्रकार का होता है :

सम्मट = 'तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।'

समस्तवस्तुविषय श्रौता आरोपिता यत्र ॥

श्रौता अपार्थक्यं ते यस्मिन्नेकदेशविरत्तितत् ।

साङ्गमेतन्निरगं तु शुद्धं माला तु पूर्ववत् ॥

नियतारोपणोपायः स्वादारोपः परस्व यत् ।

'' '' तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदमात्रि वा ॥

उपमान और उपमेय का अभेद रूपक होता है । वह तीन प्रकार का होता है साङ्ग (सावयव), निरग (निरवयव) तथा परम्परित । इनमें से साङ्ग दो प्रकार का होता है समस्तवस्तु विषय अर्थात् जिसमें सभी आरोपित पदार्थ शब्दतः कथित होते हैं और एकदेशविरत्ता—अर्थात् जिसमें कुछ आरोपित पदार्थ शब्दतः कथित और कुछ अर्थतः प्रतीतिमोचर होने हैं । यह निरग रूपक या तो मालारूप होता है या केवल या शुद्ध परम्परित में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है । इसमें कहीं दो उपमान और उपमेय दोनों का कथन किमा एक ही श्लिष्ट पद से होता है, कहीं-कहीं दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख रहता है । दोनों प्रकार का यह या तो मालारूप होता है या केवल या शुद्ध । इस प्रकार रूपक आठ प्रकार का होता है ।

शोभाकर का रूपकनिरूपण विमर्दिनी में आप आरोप के सदर्भ में दिया जा चुका है ।

इस प्रकार सम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार दोनों का रूपकनिरूपण सिद्धान्त एक और अभिन्न है । दण्डी की "उपमेव निरोमृतयेदा रूपकमिष्यते" यह एक धृति यहाँ किमी भी प्रकार से आ गई है । वैसे दण्डी का कोई प्रभाव अलङ्कारसर्वस्व में नहीं दिखता ।

संजीविनीकार ने रूपक का विवेचन संयहकारिकाओं में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

“यत् त्वभेदप्रधानं स्यात् साधर्म्यं तद् द्विधा मतम् ।
 आरोपाध्यवसानाभ्यामारोपे रूपकं भवेत् ॥
 वस्तुतो भेदसद्भावाद् शक्यया नातिशयोक्तिता ।
 विषयस्यानपह्नव्या न चैतत् स्यादपह्नविति ॥
 ततो विषयिरूपेण रूपवान् विषयो यतः ।
 आरोपणेन क्विवते तेनैतद् रूपकं मतम् ॥
 भेदस्तृतीयो यस्त्वत्र परम्परितसंशक्तः ।
 साधर्म्येणैव तस्तिद्धिर्नैषधर्म्येणापि दृश्यते ॥
 विषय्यारोप्यते येन प्रतिस्त्वं विषयेषु तत् ।
 भवेद् विषयसंख्यात्वं संख्याभेदे विधर्मिणः ॥
 रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि ।
 तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इत्यते ॥”

अभेदप्रधान साधर्म्य दो प्रकार से होता है आरोप और अध्यवसान से । इनमें से आरोप होने पर रूपक होता है । इसमें भेद वस्तुतः रहता है इसलिए इसे अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता और न अपह्नविति ही, क्योंकि इसमें विषय छिपाया नहीं जाता । इसलिए क्योंकि इसमें विषयी विषय को आरोप के द्वारा अपने रूप से रूपित करता है अतः यह रूपक माना जाता है । इसका जो तीसरा भेद परम्परित रूपक है उसका निष्पत्ति साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य से भी होती है । इसमें [विषयों में से एक-एक करके] प्रत्येक विषय पर विषयी का आरोप होता है अतः उस [विषयी] में विषय की संख्या चली आती है और निम्न धर्म से युक्त होने पर भी उस [विषयी] में विषय-लिङ्गता का समावेश भी कर दिया जाता है । पहले से निष्पन्न होकर यदि रूपक श्लेष की उद्भावना को जन्म दे तो वहाँ अलंकार रूपक ही माना जावे, इसके विपरीत श्लेष ही अलंकार माना जाता है ।

[सर्वस्व]

[सू० १७] आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।

आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात्प्रकृतोपरलक्षित्वेनैव केवलान्वयं भजते परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति । आगमानुगमविगमख्यात्यभावात्सांख्यीयपरिणामवैलक्षण्यम् । तस्य सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यप्रयोगाद् द्वैविध्यम् । आद्यो यथा—

‘तीर्त्वा भूतेशमौलिकजममरघुनीमात्मनासौ तृतीय-
 स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानावरं नाविकाय ।

व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्जदक्षं
 कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे ॥’

अत्र सौमित्रमैत्र्यौ प्रकृता आरोप्यमाणसमानाधिकरणातररूपत्वेन परिणता । आतरस्य मैत्र्योरूपतया प्रकृते उपयोगात् । तदत्र यथा समासांकाधारोप्यमाणं प्रकृतोपयोगि तच्चारोपविषयात्मतया तत्र स्थितम्, अत एव तत्र तद्व्यवहारसमारोपः एवमिहापि श्रेयम्, केवलं तत्र विषयस्यैव प्रयोगः, विषयिणो गम्यमानत्वात् । इह तु द्वयोरप्यभिधानम्, तादात्म्यात् तु तयोः परिणामित्वम् । द्वितीयो यथा—

अथ पक्वित्रमतामुपेयिवद्भिः मरसैर्वकपथाश्रितैर्वचोभिः ।

क्षितिमर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरंगमाद्यैः ॥'

राजसंघटने तूपायनमुचितम् । तच्चात्र वचोरूपमिति घबसां ध्यधिकरणोपायनरूपत्वेन परिणामः ।

[वृत्ति] रूपक में आरोप्यमाण केवल प्रकृत अर्थ का उपरजक [शोभावर्षक] होता है, क्योंकि वह प्रकृतोपयोगी नहीं होता । परिणाम में आरोप्यमाण का प्रकृतरूप से उपयोग भी होता है इसलिये प्रकृत यहाँ आरोप्यमाणरूप से परिणत होना है । माख्यशास्त्र के परिणाम ने वह [अलंकारभूत] परिणाम भिन्न होता है, इसलिये कि इसमें आद्यम, अनुपम तथा विगम की रूपाति [शान] का अभाव रहता है ।

उम [परिणाम] के दो भेद होने हैं । एक वह जिसमें सामानाधिकरण्य का उपयोग किया जाता है और दूसरा वह जिसमें वैयधिकरण्य का । इनमें प्रथम का उदाहरण—

[एक लक्ष्मण और दूमरी सीताजी इनके अतिरिक्त] तीसरे स्वयं [भगवान् राम] ने शकरजी की मौलिकाला देवनदी [गंगा जी] को पार किया तथा नाविक [निपाद गुह] को लक्ष्मण की मैत्री वतरार्थ के रूप में ही । इसके पश्चात् वे अतिशय विचित्र गिरि की ओर चले । उस समय उनके पीछे वे कौन-कौनसे आँसे उठाकर शबर प्रमदाई कठितार्थ से बल रही थी जिनके स्नान दोनों जुजाएँ फैलाने पर पूरी तरह से पकड़े जा सकने थे । [न्याम = व्यामो दाहो सफरयोस्त-घोस्तिर्गन्तरम् = अमरकोष, १औं सहित बाजू की ओर फैले हाथों का फँसला न्याम] ।

यहाँ लक्ष्मण की मैत्री प्रकृत है और वह (आतरम् इस प्रकार) उमी की कारकविभक्ति [द्वितीया] के साथ प्रयुक्त तथा अभिन्नरूप से विवक्षित आतर के रूप में परिणत हो रही है, क्योंकि आतर का प्रकृत में उपयोग मैत्रोरूप से ही हो सकता है । इस प्रकार जैसे समामोक्ति में आरोप्यमाण [अप्रकृत] प्रकृतोपयोगी होता है और वह वहाँ आरोपविषयरूप से ही अवस्थित रहता है जिस कारण उम [आरोप्यमाण अप्रकृत] के केवल व्यवहार का ही [प्रकृत व्यवहार पर] आरोप होता है यही स्थिति यहाँ भी समझनी चाहिए । [अन्तर] केवल [इतना ही रहता है कि] वहाँ [समामोक्ति में] केवल विषयमात्र शब्दत [अभिप्रायसे] कथित होता है क्योंकि वहाँ विषयो न्यग्य [न्यञ्जनाश्रुति से कथित] रहता है, और यहाँ [परिणाम में] दोनों ही अभिग द्वारा ही कहे जाते हैं । परिणाम इनमें इसलिये माना जाता कि इनमें तादात्म्य रहता है ।

दूसरा यथा—

'इसके पश्चात् पड़ते तो परिनाक को प्राप्त तथा सरस किन्तु बहोकिरूर्ण बचनों से राजा का उपायन [उपहार] किया उसके पश्चात् घोड़ों आदि से ।'

यहाँ राजा के मिलने पर उपायन [भेंट] देना आवश्यक [उचित] होता है । यहाँ वह वचन-रूप है इसलिए यहाँ वचनों का भिन्नविभक्तिक उपायन के रूप से परिणाम है ।

विमर्शिनी

आरोप्यमाणस्येत्यादि । आरोप्यारोपविषयभावसाम्येऽपि रूपकाद्वैलक्षण्यं दर्शयन्नेतदेव व्याचष्टे—आरोप्यमाणमित्यादिना । प्रकृतोपरजकत्वेनेति । यदुक्तम्—विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकमिति । प्रकृतात्मतयेति । प्रकृताङ्गतयेत्यर्थः । उपयोग इति । तेन विना प्रकृतार्थस्यानिष्पत्तेः । परिणमतीति । प्रकृतमप्रकृतव्यवहारविशिष्टतयावतिष्ठते । प्रकृतस्वरूपमात्रावस्थाने प्रकरणाथानिष्पत्तेः । एवमत्र प्रकरणोपयोगित्वाभावादित्यारोप्यमाणस्योपयोग इति चान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतोपयोगित्वस्यासाधारणत्वं दर्शितम् । असाधारणत्वस्य हि धर्मस्य तत्त्वव्यवस्थापकत्वाच्चक्षणत्वम् । अतश्च नास्त्येवालंकारान्तरेषु प्रकृतोपयोगित्वम् । एवम्—

‘आशास्यमन्यपुनरुक्तमृतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुपस्ते ।

पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्समीह्यं भवतः पितेव ॥’

इत्यत्रोपमायाम्, ‘अत्रान्तरे सरस्वत्यवतरणवार्तामिव कथयितुमवततार मध्यमं लोकमंशुमाली’ इत्यादाद्युत्प्रेसायाम्,

‘मन्दरमेहकलोहिथससिकलहंसपरिज(मु)कसलिलोच्छङ्गम् ।

मरगलसेबालोवरिणिगण्णतु हिकमीणचक्राभ्रुवम् ॥’

इत्यत्र च रूपके तथान्यालंकारेश्चौचित्यमेव नोपयोगः । औचित्यं हि सिद्धस्य सतः प्रकृतार्थापलम्भकं भवति । उपयोगः पुनः सिद्धत्वेव प्रकृतार्थहेतुतां भजते इत्यनयोर्महान्भेदः । तथा हि—

‘अनन्वये च शब्दैक्यस्यौचित्यादानुपङ्क्तिम् ।

अस्मिन्स्तु छाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥’

इत्यत्रैकस्यैव शब्दैक्यस्यौचित्योपयोगाभ्यां भेद उक्तः । अतश्चौचित्योपयोगयोर्भेद-मजानन्निः सर्वत्रैव प्रकृतोपयोगित्वमन्यैर्यदुक्तं तदयुक्तम् । तस्माद्रूपकादन्य एव परिणामः । इह पुनः अप्रकृतार्थस्य प्रकृतार्थारोपमन्तरं सिद्धिरेव न भवतीति प्रकृतोपयोगित्वैव जीवितम् ।

‘दाहोऽग्निः प्रसृतिपचः प्रचयवान् वाप्यः प्रणालोचितः

श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिनि मनं वपुः ।

किं वान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने

हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वसेते ॥’

अत्र हि च्छत्रारोपमन्तरेण चन्द्रात्परोध एव न भवतीति तस्य प्रकृतोपयोगित्वम् । अतश्च प्रकृतमप्रकृततया परिणमतीति परिणामः । यद्येवं तर्हि सांख्यीयपरिणामादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—जागमेत्यादि ।

‘जहद्दमन्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा ह्ययम् ।

तत्त्वादप्रच्युतो धर्मो परिणामः स उच्यते ॥’

इति सांख्यीयपरिणामलक्षणम् । मैत्रीरूपतयेति । मैत्र्यात्मतयेत्यर्थः । उपयोगादिति । आतरमन्तरेण तरणायोगात् । अतश्च प्रकृते यत् आतरस्योपयोगस्ततश्च प्रकृताया एव

मैत्र्यास्तरकार्यकारित्वात्तद्व्यवहारारोप । एतदेव दृष्टान्तमुखेनापि प्रतिपादयति—तदत्रे-
त्यादिना । अत्रंति परिणामे । सामानोक्तौ चारोप्यमाणस्य प्रकृतोपयुक्तत्वम् । प्रकृत-
सिद्धार्थमेवाप्रकृतस्याक्षेपात् । आरोप्यमाणमपि तत्र प्रकृतावस्थेदकरत्वेन स्थितं न पुन-
राच्छादकरत्वेनेत्याह—तच्चेत्यादि । अत एवेति । आरोपविषयामकरत्वादेव । तत्रेति
समासोक्तौ । एतदेव प्रकृते योजयति—एवमित्यादि । यद्येवं तर्हि समासोक्तिपरिणामयोः
को विशेष इत्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि । तयोरित्यामिधीयमानयोर्द्वयोः । उचितमिति ।
उपयुक्तयति शेषः ।

आरोप्य-आरोपविषयस्वरूपी सम्बन्ध का साम्य रहने पर भी रूपक से भिन्नता दिखलाने हुए
हसी [परिणाम] की व्याख्या करते हैं = आरोप्यमाणम्० आदि के द्वारा ।

प्रकृतोपरलक्ष्य जैसा कि [स्वयं ग्रन्थकार ने ही] कहा है—'विषयी के द्वारा विषय का
अपने रूप से युक्त बनाए जाने के कारण रूपक कहलाना है ।'

प्रकृतान्ततया प्रकृत के अग के रूप से = उपयोग क्योंकि उसके बिना प्रकृत अर्थ की निरूपति
नहीं होगी । परिणामति प्रकृत अप्रकृत के व्यवहार से विशिष्ट होकर प्रस्तुत होता है । यदि
केवल प्रकृतस्वरूपमात्र से प्रस्तुत हो तो प्राकरणिक अर्थ की निरूपति न हो । इस प्रकार यहाँ
'प्रकरणोपयोगित्वाभाव' तथा 'आरोप्यमाणोपयोग' दो पदों के द्वारा अन्वयव्यतिरेक दिखलाने
[परिणाम में विषयी के] प्रकृतोपयोगित्व की [अकारणत्वर से] असाधारणता दिखलाई । यह
इसलिए कि जो धर्म असाधारण होता है वह वस्तु का मूलभूत रूप [तत्त्व] स्थापित करने वाला
होता है, अतः उसे उम वस्तु का लक्षण कहा जाता है । इससे यह निश्चय हुआ कि अन्य अलंकारों
में प्रकृतोपयोगित्व नहीं रहता । इस प्रकार—[कौत्स की रथ के प्रति उक्ति = रघुवश भर्ग-५]
'समी श्रेय प्राप्त कर चुके आपके लिए अन्य कोई चाहने योग्य वस्तु [उसकी प्राप्ति का आशीर्वाद]
निरर्थक होगा । आप आत्मगुणों [आपके अपने गुण तथा राजा के व्यक्तित्व के लिए 'आत्ममन्वत्'
नाम से राजशास्त्रों में निर्दिष्ट गुण] के अनुरूप पुत्र उठा प्रकार पाएँ जिस प्रकार आप के
पिता ने आप जैसे स्तुत्य पुत्र को पाया है ।' यहाँ उपमा में, "इमं शीघ्र सरस्वती के अवतार की
बात कहने के लिए मानों, सूर्य मगधान् मत्स्यलोक में अवतीर्ण हुए ।" इत्यादि व्यप्रेक्षा में, तथा—

"मन्दरमेनशोभिन-शशि-कलइसपरिमुक्तसलिलोत्सहम् ।

मरकत-दौबालोपरि-निघण्णमीनषक्रवाकयुगम् ॥"

'मन्दरावल्लरी मेघ से शोभित चन्द्रमास्त्री राजहंस छोड़ चुका है जलरूपी गोद भिन्का
तथा मरकत [हरितमणि] रूपी देवाल पर बैठे हुए हैं चुपचाप मूँज और चक्रवाक के जोड़े
जिसमें १]—इम रूपक में और इन्हीं प्रकार अन्य अलंकारों में भी औचित्यमात्र है उपयोग नहीं ।
औचित्य जो है वह उसी पदार्थ को प्रकृत पदार्थरूप बनाने में सहायक होना है जो पहले से
सिद्ध रहता है [जिसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती] और जो उदाहरण है वह तो
प्रकृतपदार्थरूप बनने के लिए [अप्रकृतपदार्थ की] सिद्धि [प्रकृत कियान्वय] में हेतु बनाता है ।
इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद होता है । जैसा कि पहले—"अन्वय में शब्दों की
आवृत्ति [ऐश्वर्य] औचित्य के [अर्थात् होनी ही चाहिए इम] कारण होनी है अतः वह आनुबन्धिक
होता है । लाटानुप्रास में वह स्वरूप निरूपिका होती है ।"—इम शब्द में एक ही शब्दत्व में
औचित्य तथा उपयोग के आधार पर भेद बतलाया गया है । इस कारण औचित्य और उपयोग का
भेद न जानने वाले विद्वान् लोगों ने सभी स्थलों में जो प्रकृतोपयोग बतलाया गया है वह ठीक नहीं
है । इसलिए परिणाम रूपक से भिन्न ही है । यहाँ [परिणाम में] प्रकृतार्थ पर [अप्रकृतार्थ के] आरोप

के विना अप्रकृत अर्थ की सिद्धि [मुख्यवाक्यार्थ में गन्वय] नहीं होती, अतः यहाँ प्रकृतोपयोगिता ही सर्वत्र है।

“दाह इतना है कि पसो [अञ्जलि] भर पानी तक को सुखा दे, आँसू इतने उमड़ रहे हैं कि पनाले से बहाए जा सके, सांते डोल रहे और टिमटिमाते दिप की ली बन गई है, सारी काया पीले-पन में डूब गई है। और क्या कहूँ हाथ के छत्ते से चाँदनी रोक रोक कर तुम्हारे रास्ते की खिड़की में बह रात भर बैठों हो रह जाते हैं।”—यहाँ छत्र के आरोप के विना चाँदनी का निरोध बनता ही नहीं इसलिए वह प्रकृतोपयोगी है। इसलिए इसे परिणाम कहा जाता है। क्योंकि इसमें प्रकृत अप्रकृत रूप से परिणत होता है।

“यदि ऐसा है तो सांख्यशास्त्र के परिणाम से इस परिणाम का क्या अन्तर है?”—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—आगम इत्यादि। सांख्यों के परिणाम का लक्षण यह है—“धर्मा जहाँ पूर्ववर्ती धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को अपना ले किन्तु उसका स्वरूप [तत्त्व] नष्ट न हो तो उसे परिणाम कहा जाता है।”

मैत्रीरूपतया मैत्री रूप से उपयोगात् क्योंकि ‘आतर’ [तरण शुल्क] के विना तरना [पार करना] संभव नहीं है। इस कारण क्योंकि प्रकृत में आतर उपयोग है इसलिए प्रकृत मैत्री पर उसके उसके व्यवहार का आरोप हो रहा है कारण कि वह [मैत्री] उस [आतर] का कार्य कर रही है। इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा भी बतलाते हैं—‘तद् अन्न’ इत्यादि द्वारा। अन्न = इसमें अर्थात् परिणाम में समासोक्ति में भी आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग होता है। क्योंकि अप्रकृत का आक्षेप प्रकृत की सिद्धि के ही लिये किया जाता है ‘उसमें भी जो आरोप्यमाण होता है वह प्रकृत का अवच्छेदक [धर्म] होकर ही स्थित रहता है आच्छादक होकर नहीं’ तथ्य को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—‘तच्च इत्यादि। अत एव इसी कारण अर्थात् आरोप-विषयात्मता के कारण। तत्र त्समें अर्थात् समासोक्ति में। इसी को प्रकृत प्रसंग में सम्बन्धित करने के लिये कहा—एवम् इत्यादि। ‘यदि ऐसा है तो समासोक्ति और परिणाम में अन्तर क्या होगा’ इस शंका पर लिखते हैं—‘केवलम्’ इत्यादि। तयोः = उनका अर्थात् जो दो अभिधा द्वारा प्रतिपादित होते हैं उनका। उचितम् अर्थात् उपयुक्त रूप से।

विमर्शः—विमर्शिनोकार ने अन्य अन्य अलंकारों में अप्रकृत के प्रकृतरूप होने की जो बात कही है वही रत्नाकरकार ने भी कही है किन्तु उन्होंने इसे दूसरों का मत कहा है। संभव है यह मत अलंकारभाष्यकार ने प्रस्तुत किया हो जो अप्राप्य है। इतिहास—पूर्ववर्ती आचार्यों में से भरत, मामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट तथा मम्मट—इन सभी आचार्यों में परिणाम नामक अलंकार नहीं मिलता। उसका प्रतिपादन ही नहीं खण्डन भी इनके ग्रन्थों में नहीं है। स्पष्ट ही यह स्वयं अलंकारसर्वस्वकार की ही सूझ है। परवर्ती शोभाकर के ही समान पण्डितराज अण्नाय ने रसगंगाधर में परिणाम को अलंकार माना है, किन्तु उन्होंने ने अलंकारसर्वस्वकार के परिणाम-निर्वचन में वाञ्छित स्पष्टता की कमी बतलाई है। उन्होंने “आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः” इस सूत्र से लेकर “प्रकृतमारोप्यमाणतया परिणमति” इस वृत्ति तक का अंश अविकलरूप से उद्धृत कर लिखा है कि “आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोग” का अभिप्राय यदि प्रकृत कार्य में उपयोग हो तो अलंकारसर्वस्वकार द्वारा ही उद्धृत “दासे कृतागसि०” इस रूपक के उदाहरण में खेदरूपी प्रकृत कार्य के कौटों का उपयोग का ही स्थल मानना होगा और यदि ‘प्रकृत = विषय तद्रूप से उपयोग’ ऐसा अभिप्राय हो तो व्यधिकरण-परिणाम के उदाहरण के रूप में उद्धृत “अथ पन्त्रिमता०” इस पद्य में परिणाम नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि यहाँ वचन आरोप विषय है और उपावन आरोप्यमाण और वह आरोप्यमाण उपायन स्वरूप से

ही राजा से भेट करने रूपा अर्थ में उपयुक्त होना है, वचनरूप से परिणत होकर नहीं। बल्कि उल्टे वचनों का ही उपयोग तब सम्भव हो पाता है जब वे उपायनरूप से विदित होते हैं। इस लिए इस "अथ पक्वमना०" पद्य को वस्तुतः व्यधिकरण रूपक का उदाहरण माना जाना चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक तथ्य को ओर आर ध्यान आकृष्ट किया है। वह यह कि परिणाम में यह मानना वास्तविकता के विरुद्ध है और उसमें उल्टे रूपक की मिथि होता है कि "परिणाम में प्रकृतपदार्थ अप्रकृतपदार्थ रूप से परिणत होना है।" उनके अनुसार माना यह जाना चाहिए कि परिणाम में अप्रकृत प्रकृतरूप से परिणत होता है। अलङ्कारसर्वस्वज्ञार और विमर्शिनीकार दोनों ने प्रकृत को ही अप्रकृत रूप से परिणत होता हुआ माना है। दोनों के बीच हुए अलङ्कार-रत्नाकरकार ने 'प्रकृतमप्रकृतरूपत्वा परिणमतीति परिणामालङ्कार' इस प्रकार प्रकृत को ही अप्रकृतरूप से परिणत होता माना है। पण्डितराज का ही मत यहाँ मान्य है।

हमारी दृष्टि से परिणाम अलङ्कार नहीं दोष है। जिमका उपयोग न हो सके उसका काव्य-प्रयोग निर्दोष होना है जो अपुष्टार्थस्व दोष है। कदाचिद् इसी कारण पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने परिणाम नामका कोई भी अलङ्कार नहीं माना। उन्होंने किर्मा अन्य नाम में भी इस या ऐसे अलङ्कार का निर्वचन नहीं किया।

मञ्जीविनीकार ने परिणाम का पूर्ण विवेचन समग्रकारिकाओं में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘आरोप्यमाण प्रकृते यदासात्तुपयुज्यते ।
परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य मिश्रता ॥
रूपमात्रसमारोपाद् रूपके व्यक्तो ससौ ।
व्यहारसमारोपादिह स्वात् प्रकृतान्वयः ॥
भवेदप्रस्तुतत्वेन रूपके प्रकृतस्थितिः ।
परिणामममामांक्त्योर्गानव्योऽस्माद् विपर्ययः ॥
उपादानानुपादानरूपा भेदन्तयोर्मिथः ।’

आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग ही तो वह आरोपण होता है। इसीमें परिणाम रूपक से मिश्र होता है। रूपक में तो रूपमात्र का आरोप [अभिधावृत्तिद्वारा] होता है जब कि परिणाम में व्यवहार का, और वह भी व्यंजना द्वारा। रूपक में प्रकृत अप्रकृतरूप से स्थित रहता है और परिणाम में समासोक्ति के समान इसके विपरीत प्रकृत अप्रकृतरूप से। उन दोनों [समासोक्ति और परिणाम] में परस्पर में भेद यह है कि परिणाम में आरोप्यमाण भी शब्दत कथित रहता है जब कि समासोक्ति में नहीं।

[सर्वस्व]

[सू० १८] विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः ।

‘अमेदप्राधान्ये आरोप इत्येव । विषयः प्रकृतोऽर्थः, यद्भिन्नचित्त्वेनाप्रकृतः संदिह्यते । अप्रकृते संदेहे विषयोऽपि संदिह्यत एव । तेन प्रकृताप्रकृतगत-त्वेन कविप्रतिभोत्थापिते संदेहे संदेहालंकारः ।

[सू० १८] ‘विषय यदि संदेहास्पद वतलाया जाय तो संदेह [नामरु अर्थालंकार होता है] ।’

[वृ०] 'आरोप जिसमें अभेद की प्रधानता हो' इतना यहाँ [रूपकलक्षण से] प्राप्त ही है विषय का अर्थ [यहाँ भी] प्रकृत अर्थ है जिसको भित्ति बनाकर अप्रकृत अर्थ का संदेह किया जाता है। अप्रकृत पर संदेह होने पर [प्रकृत] विषय भी संदेह का विषय बन ही जाता है। इस प्रकार संदेहालङ्कार [का निष्कृत लक्षण] है—“प्रकृत और अप्रकृत दोनों [पदार्थों] पर कविप्रतिभा द्वारा उद्भावित संदेह”।

विमर्शिनी

विषयस्येत्यादि । विषयविषयिणोः संवन्धिशब्दत्वाद्विषयस्योत्तेर्विषयिणोऽप्याक्षेपाद्ब्रह्मणम् । तेन विषयस्य विषयिणश्च संदेहप्रतीतिविषयत्वं सूत्रार्थः । ननु विषयशब्देन विषयिशब्दस्य संवन्धिशब्दत्वादाक्षेपेऽपि विना चचनमाक्षेपमात्राद्विषयिणः कथं संदिह्यमानता लभ्यत इति चेत्, न । अनियतोभयांशावलम्बिविमर्शरूपत्वाद्विषयमात्रगतत्वेनासंभवात्संदेहस्यान्यथानुपपत्त्या विषयिणस्तत्संवन्धित्वं लभ्यत एवेति यथासूत्रितमेव ज्ञायः । एतदेव विभज्य व्याचष्टे—विषय इत्यादिना । यद्भित्तिस्त्वेनेति । अन्यथा ह्यप्रकृतस्य निर्विषयत्वमप्रस्तुताभिधानलक्षणो वा दोषः स्यादिति भावः । तेन विषयभित्तितया विषयिणामेव तथाभावो भवतीत्याशङ्क्याह—अप्रकृत्यादि । विषयोऽर्पाति । न केवलं विषयिण एव संदिह्यमानत्वं यावद्विषयस्यापात्यपिशब्दाथः । तेन क्वचिद्विषयिणामेव संदिह्यमानत्वे क्वचित्क विषयविषयिणोरप्यलङ्कारो भवेत् । उभयत्रापि सामान्यलक्षणानुगमात् । अनियतोभयांशावलम्बी हि विमर्शः संशयः । स च विषयिणामेव भवति । विषयविषयिणोरिव संदिह्यमानत्वात् । अत एव च प्रकृतप्रकृतगतत्वेनेति यथासंभवं योज्यम् । प्रतिभोत्थापित इति । न पुनः स्वरसोत्थापितः, स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येवमादिरूप इत्यर्थः ।

विषयस्येत्यादि । विषय और विषयी दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित शब्द हैं, अतः केवल 'विषय' के कहने से विषयी का ज्ञान भी यहाँ आक्षेप से हो जाता है। इस कारण सूत्र का अर्थ होगा 'विषय और विषयी दोनों का संदेहात्मक प्रतीति का विषय बनना।' यहाँ शंका होती है कि 'माना कि विषयिशब्द सम्बन्धिशब्द है, इसलिए विषयशब्द से उसका आक्षेपद्वारा लाभ संभव है तथापि विना शब्दतः कहे केवल आक्षेपमात्र से प्रतीति विषयी का संदेहविषय होना कैसे संभव है।' किन्तु ऐसी शंका ठीक नहीं। इसलिए कि संदेह सदा ही दो अनियत अंशों पर निर्भर ज्ञान का नाम है। अतः उसका केवल विषयमात्रगत होना संभव नहीं। इस कारण अन्यथानुपपत्ति प्रमाण द्वारा विषयी का विषयसंबन्धता विदित हो ही जाती है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने जैसा सूत्र बनाया वैसा ही कहना अधिक उपयुक्त है। इसी तथ्य को प्रकट करने के हेतु सूत्रगत अर्थों की विवेचना अलग अलग करते हैं—विषय इत्यादि । यद्भित्तिस्त्वेन अर्थात् यदि विषय की भित्ति [आधार] न हो तो व्यप्रकृत अर्थ निराधार हो जाए अथवा अप्रस्तुताभिधान रूप दोष यहाँ चला आवे। 'यदि ऐसा है तो विषय की भित्ति पर विषयी ही वैसा [संदेहविषय] बनता है ऐसा ही क्यों न मान लिया जाए'—इस शंका पर कहते हैं—अप्रकृत इत्यादि । विषयोऽपि विषय भी, अर्थात् न केवल विषयी ही संदेहविषय बनता, विषय भी संदेहविषय बनता है यह है अपि = शब्द भी-शब्द का अभिप्राय, इससे निष्कर्ष यह निकला कि कहीं तो केवल 'विषयी' के ही संदेह—विषय होने पर संदेहालङ्कार होता है और कहीं विषय और विषयी दोनों के ही संदेहविषय होने पर। कारण कि दोनों ही दशा में संदेह का सामान्य लक्षण लागू होता है। संशय जो है वह ऐसा ज्ञान है जो दो अनिश्चित अंशों पर निर्भर हो। यह ज्ञान केवल विषयी के विषयमें ही होता है क्योंकि संदेह विषय विषय और विषयी दोनों ही होते हैं। और इसीलिए 'प्रकृतप्रकृतगत'

का अर्थ जहाँ जैसा हो वैसा लगा लेना चाहिये । प्रतिभोत्थापित अर्थात् साधारणरूप में उत्थापित नहीं । जैसा कि 'यह ठूँठ है या आदमी' में होता है ।

विमर्शः—सूत्र में केवल विषय का उल्लेख है । वृत्ति विषयो को भी जोड़ती है । टीकाकार विषय की अपेक्षा विषयो को ही अधिक महत्त्व दे रहे हैं । वृत्तिकार ने मदेह का दो दो बार 'अनियतोभयाश्रयिषयक' विमर्श = ज्ञान कहा है । पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके आधार पर "माहृदयमूला भाममानविरोधका समवत्ता नानाकोटजववाहिनी धी रमणीया ममदेशालङ्कृति" = अर्थात् साहृदयमूल ऐसे सुन्दर ज्ञान को ममदेशालङ्कार माना जाता है जिसमें विरोध भासित हो रहा हो, जिसके विषय प्काधिक पदार्थ ॥ तथा उन सब पदार्थों में में किमो एक पर अधिक श्रुकाव न हो—इस प्रकार ममदेशालङ्कार में विषय और विषयो को स्थान देकर ज्ञान में प्काधिक-विषयकतामात्र को स्थान दिया है । विचारना यह है कि इनमें मान्य क्या है । हम ऐसा मीचते हैं कि मदेह में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अनिश्चय और उमका विषय एकमात्र यही होता है जिसका विचार चटता है अर्थात् प्रस्तुत । इस प्रकार वस्तुतः चमत्कार का कारण विषय का अनिश्चय है । अन्य पदार्थ उमपर विकसित रहते हैं । वे आगमापायी होने हैं । उनके ज्ञानचक्र को धुरी प्रस्तुत या वर्तनीय पदार्थ ही होता है । अतः अलङ्कारसर्वस्वकार का सूत्र ही इस दिशा में अधिक मान्य है । यह तथ्य और सत्य है कि मदेह में ज्ञान नानाविषयक ही होना है और उममें भी ज्ञान की सविस्तिधारा का मोड़ समावना के समान किसी एक दिशा में प्रवृत्तता से नहीं होना, तथापि मदेहालङ्कार से चमत्कार का कारण विषय का विषयत्वेन अनिश्चय ही होता है । अतः उसी पर अधिक बल देना वैज्ञानिक और उचित है ।

[सर्वस्व]

स च त्रिविधः । शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च । शुद्धो यत्र संशय एव पर्यवसानम् । यथा—

'किं तादृष्यतरोरियं रसमरोद्धिज्ञा नया चल्हरी
लौलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यचारान्वितेः ।

उद्गुणाढोत्कलिकायतां स्वसमयोपन्यासविस्रम्भिणः ।

किं साक्षादुपदेशयधिरथया देवस्य शृङ्गारिणः ॥'

निश्चयगर्भो यः संशयोपक्रमो निश्चयमध्यः संशयान्तश्च । स यथा--

'धयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सतभिरितः

कृशानुः किं साक्षात्प्रसरति दिशो नैप नियतम् ।

कृतान्तः किं साक्षान्मद्विपवह्नोऽसाविति चिरात्

समालोक्ययाजौ त्वां विदधति विरूपान्प्रतिमदाः ॥'

निश्चयान्तो यत्र संशय उपक्रमो निश्चये पर्यवसानम् । यथा--

'इन्दुः किं क फलङ्कः सरमिजमेतत्किमभ्यु कुत्र गतम् ।

ललितसविलासवचनैर्मुग्धमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः ॥'

कचिदारोप्यमाणानां मित्राश्रयत्वेन दृश्यते । यथा—

'रञ्जिता नु विविधास्तदुशीला नामितं तु गगनं म्यगितं नु ।

पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥'

अत्रारोपविषये तिमिरे रागादि तर्वादिभिन्नाश्रयत्वेनारोपितम् । के-
चित्त्वध्यवसायाश्रयत्वेन संदेहप्रकारमाहुः । अन्ये तु नुशब्दस्य संभा-
वनाद्योतकत्वादुत्प्रेक्षाप्रकारमिममाचक्षते ।

[वृत्ति] वह [संदेहालङ्कार] तीन प्रकार का होता है (१) शुद्ध (२) निश्चयगर्भ और
(३) निश्चयान्त । [इनमें से]—(१) शुद्ध वह होता है जिसका पर्यवसान संशय में ही हो
जाता हो । यथा—

‘यह क्या तारुण्यतरु की पर्याप्त रस लेकर खिली नई मंजरी है ? या लाला से उल्लसते छावप्य-
जरुदिधि की नन्हीं सी लहर या कि [उत्फण्ठित जनों में] अपने अनुरूप प्रवृत्ति का आरम्भ
देवने से आशस्त शूद्रारी देव [काम] के द्वारा देने के लिए गालवम उत्फण्ठा (हूक) से भरे [कामि-]
जनों को उपवेश देने के लिए गृहीत शङ्की ? (२) निश्चयगर्भ संदेहालङ्कार वह होता है । जिसमें
आरम्भ और अन्त दोनों में संशय रहे किन्तु मध्य में निश्चय हो । उसका उदाहरण—

‘यह क्या सूर्य है, किन्तु वह [सूर्य] तो सदा सात घोड़ों से युक्त रहता है, क्या यह साक्षात्
अग्नि है, किन्तु वह एक एक धरके दिशाओं में योजनायद्धरूप से [सब दिशाओं में एक ही साथ]
नहीं फैलता; तो क्या यह साक्षात् यमराज है, पर वह तो भैंसें पर सवार रहता है’—आपको
शुद्ध में सामने देखते हैं तो शत्रुयोजा ऐसे विकल्प करते हैं ।’

[यहाँ सूर्य आदि के संशय का निराकरण हो जाता है उतने ही अंश में यहाँ निश्चय है
अर्थात् यहाँ सूर्यादि के अभाव का निश्चय बीच बीच में आता गया है, निश्चयगर्भ का अर्थ यह
नहीं इसमें बीच में विषय का निश्चय हो जाए ।]

(३) निश्चयान्त संदेहालङ्कार में यहाँ होता है जहाँ आरम्भ में संशय हो और अन्त में निश्चय ।
उदाहरण—

‘चन्द्रमा है क्या, पर कलंक कहीं गया ? क्या कमल है परन्तु जल कहीं गया ? [ऐसे कल्प-
विकल्प करने के] पश्चात्, हे मृगाक्षि ! ललित और विलसपूर्ण वचनों से विदित हुआ कि यह
मुल्ल है ।’ कहीं कहीं आरोग्यमाण का आश्रय [आरोप विषय से] भिन्न होने से भी [यह
अलङ्कार] देखा जाता है । यथा—‘अन्धकार ने विविध [रंग के] वृक्ष और पर्वतों को रंग सा
दिया; आसमान को लुका-सा या ढँक-सा दिया है, ऊबड़ खाबड़ स्थलों पर पृथिवी को सरवा दिया
है [और] दिशार्ध [नीरक्षारवत] मिला-सी दी है ।’

यहाँ आरोप का विषय जो अन्धकार है उसपर राग आदि का आरोप किया तो गया किन्तु
उन [राग आदि] को तरु आदि पर आश्रित बतलाया गया है ।

कुछ लोग [इस स्थल में] संदेह का अध्यवसायमूलक [न कि आरोपमूलक नहीं] भेद
मानते हैं और कुछ लोग इस स्थल को उत्प्रेक्षा का अंग मानते हैं, क्योंकि ‘सु’ = ‘सा’ या ‘मानों’
शब्द [उत्प्रेक्षा वीज] संभावना का चोतक होता है ।

विमर्शिनी

एतदेव भेदक्यं विवृण्वन्नुदाहरति—शुद्ध इत्यादि । अत्र प्रकृतान्यास्तन्व्याः संदेहप्रती-
तिविषयत्वाभावाद्द्विपत्रिणां मञ्जर्यादीनामेव संदेहः । विषयविषयिणोर्यथा—

‘किं पङ्कजं किमु सुधाकरविन्वमेतर्किं वा मुखं क्लमहरं मदिरेक्षणायाः ।

यद्दृश्यते मधुकराभकुरङ्कान्तिनेत्रहृदयासुकृति कार्ण्यममुष्य मध्ये ॥’

अत्र क्लमहरत्वादिः समानो धर्मोऽनुगामित्वेनोपात्तः । न्वचिद्वस्तुप्रतिबस्तुभावेनापि
भवति यथा—

‘किमिदमसितालिकलितं कमलं किं वा मुखं सुनीलकचम् ।

इति संशेते लोकस्त्वपि सुतनु सरोवतीर्णायाम् ॥’

अप्रासितत्वसुनीलत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । अलङ्कचानां च विम्बप्रतिविम्ब-
भावः । एवं चास्य सादृश्यनिमित्तात्सात्समानधर्मानिकधर्मनिमित्तत्वेन द्विभेदार्थं न व्या-
कार्यम् । सादृश्यनिमित्तत्वेनैवास्य सग्रहसिद्धेः । विप्रतिपत्त्यादिनिमित्तान्तरवच्छास्वा-
भावाच्च । भिन्नाश्रयत्वेनेति वैयधिकरण्येन ।

इन्हीं तीनों भेदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उदाहरण देने हैं—शुद्ध इत्यादि । यहाँ [शुद्ध
के उदाहरण—“कि तारण्यतरो.” में] तन्वी प्रकृत है किन्तु वह सदेह प्रतीति का
विषय नहीं, अतः यहाँ मञ्जरी अदि जो विषयी, है उन्हीं का सदेह है । विषय और
विषयी दोनों के सदेह का उदाहरण—दुःख दूर करने वाला क्या यह कमल है,
या चन्द्र बिन्दु है अथवा किसी मदिरेखणा का मुद्र, जिसमें मीरि ने ममान, हरिण के तुष्य
धीर दो नेशों का अनुकरण करने वाली यह कालिभा द्विसारं दे रही है । [यहाँ चन्द्रमा रूपी
विषय और अन्य सब विषयी है । इन दोनों का सन्देह किया जा रहा है । यहाँ, जो साधारण धर्म
‘दुःख दूर करना है वह अनुगामी धर्म है’ । कहां वस्तुप्रतिवस्तुभावात्मक साधारण धर्म से म
[सदेहालंकार निष्पन्न होता है । यथा—“हे सुननु अब तुम ताराव में उतरनी हो तो ह्योग
यह सदेह करते हैं कि अस्तित भीरो से डेंका हुआ यह कमल है या सुनील केशों से घिरा मुद्र ।’
[यहाँ भी मुद्र जो कि विषय है उसका और कमलरूपी विषयी का साथ-साथ सदेह है] यहाँ ‘अमि-
तत्व और ‘सुनीलाव’ एक और अभिन्न हैं, अतः इनका यह जो साधारण धर्म है यह शुद्ध सामा-
न्यात्मक वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारणधर्म है । और जो भीरों तथा केशों का साधारणत्व
है वह विम्बप्रतिविम्बभाव से निष्पन्न होता है [भीरे तथा केश दोनों कृष्णवर्ण—रूपी साधारण
धर्म के कारण अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं] इस प्रकार इस [सदेहालंकार] में समान धर्म तथा अनेक
धर्म, इस प्रकार धर्म के आधार पर दो भेद नहीं जाने चाहिए [जैसा कि अलंकारशास्त्रकार
ने बतलाया है क्योंकि यह अलंकार एक सादृश्यमूलक अलंकार है इसलिये उक्त
दोनों भेद सादृश्यनिमित्तता में ही अन्तर्भूत हो जावेंगे । दूसरे इसमें चारत्व भी नहीं रहना
कैसे कि [रत्नाकरकार के ही अनुसार] विप्रतिपत्ति—आदि अन्य निमित्तों में चारत्व नहीं रहता ।
भिन्नाश्रयत्व का अर्थ है वैयधिकरण्य ।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने सदेहालंकार के भेद बतलाने हुए लिखा है—‘कमल का
बदन वा हृदि वाऽर्धमभ्र प्रतीति सदेहः । स च यद्यपि समानधर्मानिकधर्म—विप्रतिपत्तुपलब्ध्य
व्यवधान इत्यनेकशोक्तः तथापि निमित्तान्तरोत्थापितस्य तस्य चारुत्वभावात् समानधर्मानिकधर्म-
निमित्तत्वेनेह द्विविध एव ।’ अर्थात् ‘या तो कमल है या सुख है’—इस प्रकार वा—(या)—शब्द
के अर्थ से मिश्रित प्रतीति का नाम सदेह है । वह यद्यपि—समानधर्म, अनेकधर्म, विप्रतिपत्ति,
उपलब्धि और अन्यवत्त्वा इन तत्त्वों के आधार पर अनेक प्रकार का बतलाया गया है किन्तु अन्य
तत्त्वों के आधार पर होने वाले सदेह में चारत्व नहीं होता । अतः केवल उमे दो ही प्रकार का
मानना चाहिए एक समान धर्मनिमित्तक तथा दूसरा अनेकधर्मनिमित्तक । इन दोनों में से प्रथम
के उदाहरण के रूप में उन्होंने ‘हिं पद्मजम्०’ पद्य ही प्रस्तुत किया है तथा द्वितीय के उदाहरण
के रूप में कालिदास के विक्रमोर्वशीय का “अत्या सर्गविधौ०” वह प्रसिद्ध पद्य । प्रथम पद्य में
सर्गों के बीच ‘कलमदरत्व’ यह एक ही समान धर्म है । द्वितीय पद्य में कान्ति, शृङ्गार आदि अनेक
धर्म । विमर्शिनीकार ने कहा है कि धर्म की सरत्या में भेद होने से चमत्कार की अनुभूति नहीं होती
‘अतः उक्त दो भेद भी पूर्ववर्षी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अन्य भेदों के समान अमान्य
हैं । अलंकाररत्नाकर द्वारा प्रतिपादित ये दो भेद भरत, मायह, दण्डो, वासन, उद्भट, रुद्रट
तथा मम्मट में नहीं मिलते । कदाचिद् ‘अलंकारमाभ्य’ में ये भेद रहे हों]

विमर्शिनी

अथैऽपदान्तरमाह—केचित्वादि । अनेन च संदेहस्याध्यवसायमूलत्वमपि ग्रन्थकृतै-
वोक्तम् । तेनाध्यवसायाश्रयोऽप्ययं स्वरूपहेतुफलानां संदिह्यमानत्वेन त्रिधा भवति ।
तत्र स्वरूपसंदेहो यथा—‘रञ्जिता’ इत्याद्येव । यथा वा—

पुतत्तर्क्य कौरवकलमहरे शृङ्गारदोषागुरौ
दिक्कान्तामुकुरे चकोरसुहृदि प्रौढे तुपारत्वपि ।
कर्पूरैः किमपूरि किं मलयजैरालेपि किं पारदै-
रचालि स्फटिकोपलैः किमघटि धावापृथिव्योर्बपुः ॥’

अत्र कौसुदीधवलम्बनः कर्पूरपूरणादिनाध्यवसितत्वाद्यध्यवसायमूलत्वम् । हेतुसंदेहो
यथा—

‘दिवि स्वचरणाम्बुजस्मृतिविधौ गाढावधानशृशां
धन्यानां प्रसरन्ति संतततया ये वाष्पधाराभराः ।
किं ते स्युश्चिरकालभावितभवाप्ररनक्रियावेगतः
किं वासादितसुकुचिच्चन्द्रवदनासदर्शानानन्दतः ॥’

अत्राश्रुहेतोरानन्दस्य संसारविद्योगो मुक्तिसांमुख्यं चेति हेतुद्वयमध्यवसितम् । फल-
संदेहो यथा—

‘नृत्तान्ते पारिजातं किमु विघटयितुं स्पष्टुमाकाशगङ्गां
किंरिंहद्वा चन्द्रसूर्यौ किमु विदलयितुं श्वेतरक्ताब्जदुह्या ।
लघुं नक्षत्रमालाभरणभरमुत स्वर्गजं वाभियोदपुं
दूरोदस्तः समस्तस्तव गणपतिना स्वस्तये सोऽस्तु हस्तः ॥’

अत्र करिणो निष्पादनस्य विघटनादिफलमध्यवसितम् । अत्रैवादिशब्दबन्धुशब्दस्य
संभावनाद्योतकत्वात्पदान्तरमपि दर्शयितुमाह—अन्य इत्यादि । अतश्च रञ्जिता इवेत्यर्थः ।
पूर्वश्रायं तु शुशब्दो वितर्कमात्र एव न्याख्येयः ।

विमर्शिनी—इसी [रञ्जिता तु०] पर दूसरे पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—‘केचित्’—
‘कोरै’—इत्यादि । इससे यह बात आई कि ग्रन्थकार स्वयं संदेह को अध्यवसायमूलक भी मानते
हैं । इस कारण [हम इसके भी भेद बतलाए देते हैं] अध्यवसायमूलक संदेह भी तीन प्रकार का
होता है—(१) जिसमें स्वरूप का संदेह होता है (२) जिसमें हेतु का संदेह होता है और
(३) जिसमें संदेह होता है फल का । इनमें से प्रथम स्वरूपसंदेह यथा—‘रञ्जितानु०’ इत्यादि
मूल में उद्धृत पद्य ही । अथवा—‘कुसुम का कलम हरने वाले, शृङ्गारदोषा के गुरु, दिशारूपी
सुन्दरी के दर्पण, चकोरों के मित्र (इस) शीतरश्मि [चन्द्र] के प्रौढ होने पर, थोड़ा यह तो
तोचिए कि धावापृथिवी का संपूर्ण शरीर क्या कपूर से भर गया है, या फल चन्दन से छिप गया
है, या पारदरस (पारे) से ढो दिया गया है या स्फटिकमणि से जड़ दिया गया है ।’ यहाँ चाँदनी
की भवलता [का स्वरूप ही] कर्पूरपूर आदि द्वारा अध्यवसित है [चाँदनी स्वशब्दतः अनुक्त
है], अतः यह भेद अध्यवसायमूलक [स्वरूप संदेह का] भेद हुआ ।

हेतुसन्देह यथा—

‘हि भगवति ! आपके चरणारविन्द का ध्यान करने में गाढ समाधि तक पहुँचने पन्थ महात्मार्यों
में जो अविरल रूप से अनेकानेक अश्रुपाराएँ बह निकलती हैं वे चिरकाल तक सेवित संतार-

का प्रश्न न रहने के वेग से निकलती हैं अथवा मुक्तिरूपी चन्द्रमुखी के सदृश से प्राप्त आनन्द से ।

—यहाँ अश्रुपात का कारण आनन्द है । उस [आनन्द] की उत्पत्ति में दो हेतुओं का संदेह किया जा रहा है एक समार से छुट्टी और दूसरा मुक्ति का आमिमुख्य । ये दोनों हेतु अश्रुवसित हैं । [देखिए—इस प्रकार के अन्त का विमर्श]

फलसंदेह यथा—

‘गणपति जी का वह हाथ आपके लिए कल्याणकारी हो जिस पूर्ण हाथ को उन्होंने या तो इसलिए दूरतक फैलाया है कि उन्हें स्वर्ग का पारिभाष उखाड़ खाना है, या इसलिए कि उन्हें आकाश में गंगा का स्पर्श करना है, या इसलिए कि सफेद और लाल कमल समस्त वे चन्द्र और और सूर्य को ले लेना चाहते हैं, या इसलिए कि वे नक्षत्र माला [इक्ष्वांस रत्नों या गुरियों की माला तथा प्रह नक्षत्रों की माला] के आभूषण पहना चाहते हैं या तो वे स्वर्ग के हाथी से जूझना चाहते हैं ।’—यहाँ हाथी का ओ निष्पादन (गणपति पर आरोप है) उसका फल विषट-नादि गणपतिगत विषटनादि से अश्रुवसित है ।

यहाँ [काव्य में] इव-आदि, [आदिपद से मन्वे, शके, भुवम्, प्राय, नूनम् आदि] शब्द के ही समान ‘नु’—शब्द भी [उपेक्षाबीज] अभावना का बोधक होता है इसलिए [रजिता नु०-पद्य में] एक दूसरा भी पक्ष दिखलाते हैं—अन्य इत्यादि द्वारा । हम [उपेक्षा] पद्य में ‘रजिता नु’ का अर्थ हुआ ‘रजिता इव’ [मानों रजित = रगे हुए] पहले अर्थ में ‘नु’—शब्द की व्याख्या केवल वितर्क ही को जाना चाहिए ।

विमर्श—अश्रुवसायमूलक प्रस्तुत सीनों जैदों में से प्रथम के उदाहरण ‘यत्त तर्क्य०’ में तो संदेह सादृश्यमूलक है, किन्तु दूसरे तथा तीसरे के उदाहरण सादृश्यमूलक नहीं हैं, इनने पर भी इनमें संदेहालंकार माना जा रहा है । यह विचारणीय है । अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्येतर-मूलक संदेह को भी उसी प्रकार अलंकार माना है जिस प्रकार आयुर्धनम् = ‘धृत आयु है’ आदि सादृश्येतरसम्बन्धमूलक रूपक को रूपकालंकार । उनकी पक्ति है—

‘श्यागुर्वा पुरुषा वेति न स्वारसिक. संदेहोऽलंकार, अपि ॥ कविप्रतिमोत्थापित. । तेन साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य कविप्रतिमोत्थापित संदेहोऽलंकार एव । उदाहरणम्—“देवि त्वच्चरणारविन्द०” । अप्राशुभारारूपस्य कार्यस्य ससारवियोगो मुक्तिनाम्मुख्य चेति हेतुद्वयं संघटितम् ।’

‘टूठ है या आदमी’—यह लौकिक [स्वारसिक] संदेह है । यह संदेहालंकार नहीं हो सकता, क्योंकि वही संदेहालंकार होगा है जो कविप्रतिमोत्थापित होगा है । यहाँ तक कि संदेह यदि कवि-प्रतिमोत्थापित हो और सादृश्यमूलक न हो तब भी यह अलंकार माना जा सकता है । उदाहरण—‘देवि त्वच्चरणारविन्द०’ पद्य । यहाँ जो अश्रुभारारूपी कार्य है उसके हेतुरूप से दो तथ्यों का संदेह किया गया है—एक ससारवियोग० और दूसरा मुक्ति-साम्मुख्य ।’

निश्चित ही विमर्शनीकार ने असादृश्यनिमित्तक संदेह को भी संदेहालंकार मान लिया है जो मूलविह्वल है । मूलकार सादृश्यमूलक संदेह को ही संदेहालंकार मानते हैं ।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि “देवित्वच्चरण०” पद्य में अलंकाररत्नाकरकार ने ‘अश्रुभारारूप कार्य’ के प्रति दो कारणों का संदेह मतलया है अब कि विमर्शनीकार ने “अश्रुहेतो आनन्दस्य ससारवियोगो मुक्तिनाम्मुख्य चेति०” इस प्रकार “अश्रु के कारण आनन्द को कार्य मान कर उसके प्रति दो हेतु का संदेह बनवाया है । वस्तुतः कथन अलंकाररत्नाकरकार का ही

मान्य है। क्योंकि यहाँ “आसादितभक्तिचन्द्रवदनासंदर्शनावन्दतः” इस प्रकार जिस आनन्द को कारण बतलाया जा रहा है वह कार्य नहीं माना जा सकता है। दूसरे अलंकाररत्नाकरकार के पाठ से “चिरकालमावितमवाप्रश्नक्रियावेगतः” का अर्थ ‘चिरकाल तक भावित संसार पर विचार न करने या उसके छूटने के आवेग से’ करना होगा तभी संसारवियोग में ‘वियोग’—शब्द का स्वारस्य ठीक बैठेगा, नहीं तो संसारत्याग अर्थ करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वाच्यार्थ की दृष्टि से भी यह अर्थ अधिक रुचिर है। इसलिए कि ऐसा मानने पर हेतु रूप से विशुद्ध पदार्थ गृहीत होते हैं “आवेग और आनन्द।” फिर अशुभात् होता भी आवेग या आनन्द से ही है। ‘आवेग’ अर्थ निकालने में पाठान्तर से भी सहायता मिलती है। यहाँ अलंकाररत्नाकर में “आवेशितः” पाठान्तर दिया गया है। उसे ‘आवेशतः’ होना चाहिए। संस्कृतग्रन्थों में आवेग और आवेश का यह हीर फेर प्रायः सार्वत्रिक ही है।

संदेहालंकार का इतिहास—

भामहः—

‘उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः । ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्वया ॥

किमयं शशी न स दिवा विराजते कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुमम् ।

इति विस्मयाद् विमृशतोऽपि मे मतिस्त्वयि वीक्षिते च लभतेऽर्पनिश्चयम् ॥’

—उपमान के साथ उपमेय का अभेद और तन्पश्चात् भेद उपमेय की प्रशंसा के लिए जिन शब्दों में बतलाया जाय वे शब्द ससन्देह शब्द होते हैं। वही को ससन्देहालंकार कहा जाता है। उदाहरण यथा—“तुन्हारे दिखाई देने पर क्या यह चन्द्रमा है, पर वह दिन में शोभित नहीं होता, क्या यह कुसुमायुध = काम है, किन्तु इसका धनुष कुसुम का नहीं है :—ऐसा आश्चर्यपूर्वक विचार करता रहता हूँ, किन्तु वास्तविकता का निश्चय नहीं कर पाता।”

वामन = “उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः—” ४।३ ११।

उपमानोपमेययोरतिशयार्थं यः क्रियते संशयः स सन्देहः । यथा—

‘इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनी । न निश्चिनोति हृदये किन्तु दोलायते मनः ॥’

—उपमानोपमेय का संशय संदेह होता है। अर्थात् उपमानोपमेय में अतिशय अतलाने के लिए जो संशय किया जाता है वह संदेहालंकार कहलाता है। यथा “हे विलासिनी ! चित्त को कर्णोत्पल है या चक्षु है” ऐसा निश्चय नहीं हो पाता। चित्त केवल दोलायित ही रहा जाता है।

उद्धटः—उद्धटने संदेहालंकार के दो लक्षण दिए हैं। प्रथम में उन्होंने भामह की ऊपर उद्धृत संदेहलक्षणकारिका ज्यों की त्यों अपना ली है। केवल उसमें अन्तिम पद ‘यथा’ के स्थान पर ‘युथाः’ कर दिया है। दूसरा लक्षण इस प्रकार है—

‘अलंकारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीपु बन्धनम् । असन्देहेऽपि संदेहरूपं संदेहनाम तत्र ॥’

—दूसरे किसी अलंकार की छाया (शोभा) चित्त में रखकर संदेह होने पर भी जो संदेह का निरूपण उसे भी संदेह कहा जाता है। यथा—

‘नीलाब्धः किमयं नेरौ धूमोऽथ प्रलयानले । इति यः शब्दव्यते श्यामः पद्मोन्द्रेऽर्कतिवपि स्थितः ॥

—‘भगवान् स्वयं श्याम है और वे जिस पक्षिराज गरुड पर विराजमान हैं वह ही सूर्य के समान लाल। अतः उन्हें देखकर संदेह होता कि क्या यह मेरु पर्वत पर कोई नील मेघ है या प्रलयाग्नि पर धूम।’ यहाँ उपमानोपमेयभाव को मन में रखकर संदेह प्रस्तुत किया गया है।

रुद्रटः—(१) 'वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति सदेहः ।

प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्रयः संशयः स इति ॥' ८।५९ ॥

उदाहरण = 'किमिदं नीलालिकुलं कमलं किंवा मुपुं मुनीलकचम् ।

इति संशयेने लोकस्त्वयि सुतनुं सरोज्वतीर्णायाम् ॥'

(२) 'उपमेये सदसमवि विपरीतं वा तथोपमानेऽपि ।

यत्र स निश्चयगर्मस्नगोऽपरो निश्चयान्तोऽन्यः ॥

—जहाँ एक वस्तु में अनेक वस्तु का संदेह होता है, इसलिये कि छाता सादृश्य के कारण निश्चय नहीं कर पाता उस संदेह को संदेहालंकार कहा जाता है। उदाहरण विमर्शिनी में उद्धृत 'विमिदम्' ।

—जहाँ उपमेय में सम्यक् वस्तु भी असम्यक् बतलाई जाए तथा असम्यक् भी संभव और इसी प्रकार उपमान में भी, तो वह भी मदेहालंकार होता है। वह एक तो निश्चयगर्म होना है और दूसरा निश्चयान्त। उदाहरण उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के स्वयं ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किए हैं यद्यपि पद्य मित्र हैं।

मम्मट = 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ।'

संशय का नाम ससंदेहालंकार है। वह भेदोक्ति और भेदानुक्ति में होता है। भेदोक्ति का उदाहरण = 'अयं मार्गण्ड' तथा भेदानुक्ति का 'अस्या सर्गाविधौ' ।

रसाकरकार = अलंकाररसाकरकार शोभाकरने तक उदाहरणों के आचार पर संदेहालंकार से मित्र एक वितर्कांकार भी खोज निकाला है। उनका संदेहालंकार का लक्षण इस प्रकार है—

[सूत्र] "तस्यापि सदृष्टमानत्वे संदेहः ।"

[वृत्ति] विषयस्यैव तच्छब्देनारोप्यमाणप्रत्यवमर्द्धः । 'कमलं वा वदनं वा' [इत्यादि पूर्वोद्धृत] ।

—विषय के साथ साथ यदि विषयी भी संदेह का विषय बने तो संदेहालंकार होता है।

इसके पश्चात् उन्होंने संदेह के भेद इस प्रकार किए हैं। (१) सादृश्यमूलक तथा सादृश्यैतर सम्बन्ध मूलक। इनमें से सादृश्यमूलक के भेद इस प्रकार किए हैं— १ = विषय और विषयी दोनों का संदेह २ = केवल विषयी का संदेह। इनमें से प्रथम आरोपगमित होना है और दूसरा दो प्रकार का १ = जहाँ विषय का शब्दतः कथन हो और २ = जहाँ न हो। इनमें से प्रथम, जिसमें विषय का उपादान रहता है—

१ = जिसमें विषय का अपह्व (छिपाव) रहता है और २ = जिसमें नहीं रहता है। ये दोनों ही भेद आरोपगमित ही होते हैं। दूसरा जहाँ विषय का शब्दतः उपादान नहीं रहता अन्य-वसायमूलक संदेह माना जाता है। उदाहरण—

१ = आरोपगमित उभय संशय—'किं पकजं किन्तु' उदाहरण ।

—यहाँ भर्म केवल एक है क्लमहरत्व ।

२ = आरोपगमित विषयिसंशय में विषय का उपादानपूर्वक अपह्व—'अस्या मार्गाविधौ' ।

इसमें पुराणमुनि को उर्वशी महिष से हटाया गया है यही उसका अपह्व है।

३ = इसी में अपह्वभाव तथा—

'चिरं चित्तोयानि धरसि च ध्रुवाब्जं पिवसि च क्षणदेणाशीर्णां विरहपिपेतां हरसि च ।

नृप त्वं मानादिं दलयसि च किं कौतुककरः कुरङ्ग किं शृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनि' ॥'

—हे मृग ! तुम (१) चित्तोपान में धिरकाल तक विचरण करते हो (२) सुन्दरियों के सुख कमल का पान करते हो, (३) सुन्दरियों के विरहविषमग्न को क्षणभर में दूर करते हो और मानादि का भेदन करते हो । इसलिए तुम क्या आश्चर्यकारी (१) कुरंग हो (२) क्या मृग हो (३) क्या मरकतमणि हो या कि (४) वज्र हो ? । इन दोनों पक्षों में धर्म अनेक हैं । प्रथममें शृंगार कान्ति आदि तथा द्वितीय में उद्यानचार पान आदि ।

४ = विषय का उपादान करने पर विषयिसंदेह — 'किं तारुण्यतरोः०' । सादृश्येतर संबन्धमूलक का उदाहरण इस संदर्भ में उद्धृत किया जा चुका है — 'देवि त्वचरणविन्द०' इत्यादि ।

शोभाकार ने इसके पश्चात् वितर्कालंकार का निरूपण इस प्रकार किया है—

[सूत्र] 'सन्भावितसन्भाव्यमानापोहो वितर्कः ।'

[वृत्ति] सामान्येन दृष्टे वस्तुनि आशङ्कितस्य आशङ्क्यमानस्य वा विशेषस्य बाधकेनोत्पुंसनं वितर्कः । अतएव बाधकसद्भावात् साधक-बाधक-प्रमाणाभावनिमित्तात् संदेहादस्य भेदः । किंच तत्र सन्दिग्धमानानां 'वा'-र्थसम्भिन्नैकप्रतीतिवर्षयोक्तत्वं, इह पुनः अनेकविकल्पेन सन्भावितस्य बाधकेनोत्पुंसितस्य अपरविकल्पोदयसमयेऽनुसन्धानामावाद् भिन्नप्रत्ययवर्णचरत्वं ।

—अर्थात् संभावित अथवा सन्भाव्यमान का निराकरण वितर्क कहलाता है । अर्थात् सामान्य रूप से प्रतीत वस्तु में यदि विशेषकी संभावना की जा चुकी हो या की जा रही हो और यदि उसका किसी बाधक को बीच में लाकर निराकरण कर दिया जाय तो उसे वितर्क कहा जाता है । इसमें बाधक उपस्थित किया जाता है, इसलिए इसका संदेहालंकार से भेद है, क्योंकि संदेह में न तो साधक ही उपस्थित किया जाता, न बाधक ही । संदेह में एक विशेषता यह भी रहती है कि वहाँ जिन जिनका संदेह किया जाता है वे सब 'वा' अर्थात् "अथवा" शब्द के अर्थ की प्रतीति से मिश्रित प्रतीति में साथ साथ विषय बनते हैं, जबकि वितर्क में अनेक विकल्प रहते हैं और इसमें संभावित वस्तु का बाधक द्वारा निराकरण कर दिया जाता है । फलतः दूसरे विकल्प में होने वाले ज्ञान में वह सम्मिलित नहीं हो पाता, अतः प्रत्येक संभावित पदार्थ का ज्ञान अलग अलग पूर्वापरभाव के साथ होता है । इस पूरे विषय का संक्षेप शोभाकार ने इस प्रकार का दिया है—

“अर्थद्वयोस्तेष्ववती मतिर्या स संशयः, केवलवस्तुनिष्ठा ।

संभावना बाधकबाधनीया यत्र स्फुटस्तात्र भवेद् वितर्कः ॥”

‘जिस ज्ञान में एकाधिक पदार्थ भासित हो वह संशय, और केवल एक पदार्थ की ऐसी संभावना वितर्क जो बाधक द्वारा बाध्य हो ।’

उन्होंने संदेह के प्रसिद्ध उदाहरण—‘अर्थं मार्तण्डः किम्०’ को वितर्क का उदाहरण बतलाया है । इनमें रागः वा मार्तण्ड की संभावना की जाती है फिर उसका बाध प्रस्तुत कर दिया जाता है यह कह कर कि सूर्य सात घोड़ों से युक्त रहता है और राजा बैसा नहीं है । इसके पश्चात् दूसरा विकल्प किया जाता है अग्नि का और उसका भी बाध कर दिया जाता है । इसी प्रकार तीसरा विकल्प यमराज का किया जाता है और उसका भी बाध प्रस्तुत कर दिया जाता है । इस प्रकार अग्नि आदि की परवर्ती विकल्पबुद्धि में पूर्ववर्ती संभावित पदार्थ मार्तण्ड आदि का समावेश नहीं रहता अर्थात् वे पूर्ववर्ती पदार्थ के ज्ञान के विषय नहीं बनते । उनमें परवर्ती ज्ञान की विषयता का अभाव रहता है । इसलिए वितर्क का लक्षण इसमें पूर्णरूप से जानूँ होता है ।

आश्चर्य है कि पण्डितराज अण्नाथ इस गार्भिक भोमांसा पर चुप हैं । न तो उन्होंने संदेह के प्रकरण में इसका खण्डन किया है न इसे स्वीकार ही ।

वहाँ तक इस अलङ्कार के नाम का संन्य है उद्धृत लक्षणों के अनुसार इसे पूर्ववर्ती मामद, चन्द्र और मम्मट ने 'ससन्देह' नाम दिया है तथा परवर्ती पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसका अनुकरण किया है। मामद के लक्षण से स्पष्ट है कि ससन्देहपद सन्देहप्रतिपादक पदों के लिए आया है। वे पद ही काव्य में अलङ्कार मान लिए जाएँ तो यह नाम अलङ्कार के लिए भी उपयुक्त माना जा सकता है। पण्डितराज ने पद को मन्देहयुक्त न मानकर 'ज्ञान' को सदेहयुक्त माना है। ससन्देह जैसा ही एक नाम 'भ्रान्तिमान्' भी है। हम सोचते हैं यदि सन्देहयुक्त अर्थ या भ्रान्तियुक्त अर्थ या ज्ञान को अलङ्कार माना जाता है तो उपमा रूपक आदि में भी उपमा रूपक से युक्त अर्थ या ज्ञान को ही अलङ्कार मानना चाहिए। और इसीलिए उन्हें भी 'उपमावान्' 'रूपकवान्' ऐसे कुछ नाम दिए जाने चाहिए। फिर यह एक अत्यन्त स्थूल तथ्य है कि अर्थ और अलङ्कार में अगाधिभाव है। अभेद नहीं। पद को ससन्देहादि नाम देने पर अलङ्कार में शब्दा-लङ्कारत्व मानना होगा जबकि है वे अर्थालङ्कार। ज्ञान को अलङ्कार मानना कुछ समझ में आने की बात है किन्तु सदेह और भ्रान्ति भी अपने आप में ज्ञान ही हैं। अतः 'ज्ञानवान् ज्ञान' कहने के समान ससन्देह या भ्रान्तिमान् कथन अन्योन्याग्रयत्व या पौनरुक्त्य दोष से युक्त ठहरता है। वस्तुतः विरोधामास में जैसे विरोधज्ञान की आभासारमक्षता अथवा प्रातिमासिक विरोधज्ञान ही अलङ्कार है और इसी कारण 'विरोध' को 'विरोधवान्' नाम नहीं दिया जाता वैसे ही सदेहारमक या भ्रान्त्याभक्त ज्ञान ही वस्तुतः अलङ्कार है, अतः उसका नाम भी सन्देह या भ्रान्ति-मान् न होकर सन्देह तथा भ्रान्ति ही होना चाहिए। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अलङ्कारों में नाम का मिश्रण चमत्कारकारी तत्त्व के आधार पर होता है। इसीलिए सादृश्य की चारों विशेषताएँ रहने पर भी अनन्वय उपमेयोपमा और प्रतीप को मिश्र अलङ्कार माना जाता है। उपमेक्षा, अपहृति, अतिशयोक्ति और रूपक में अभेद की समानता रहने पर भी मभावना, अपहृष, अतिशय तथा आरोप इन चमत्कार हेतुओं में भेद होने से उन अलङ्कारों में स्वरूपतः तथा नामतः भेद माना गया है। प्रस्तुत सन्देह में चमत्कार का कारण सन्देह ही है। इसी प्रकार भ्रान्तिमान् में भी भ्रान्ति ही। अतः इन अलङ्कारों के नाम भी केवल सदेह और भ्रान्ति ही होने चाहिए।

श्रुति की अन्तिम पंक्ति में 'नुशब्दस्य समाधनाद्योतकत्वात्' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'नुशब्दस्य संभावनाद्योतकसत्त्वात्' छपा है तथा संजीविनीसहित छपे संस्करण में डा० राम-चन्द्र दिवेदी ने 'नुशब्दस्य योतकत्व मत्वा' पाठ दिया है। हमारा पाठ विमर्शिनी पर आधृत है और—

“मन्ये शब्दे प्रुवं प्रायो नूनमित्यैवमादिभिः।

उपमेक्षा व्यग्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥”—२१२३४ काव्यादर्श.

इसमें आप आदि पद के अनुसार 'नु'-शब्द उपमेक्षा का वाचक माना भी जा सकता है। इसी प्रमाण के अनुसार 'श्व'-शब्द भी उपमेक्षावाचक होता है। अतः निर्णयसागरीय विमर्शिनी में 'अत्रेवादि०' के स्थान पर छपा 'अत्रेवादि०'—पाठ असम्भल है। वहाँ इस अश का 'पाठान्तर' शत्रैव चेवादि भी दिया है।

संजीविनीकार ने सन्देहालङ्कार का कारिकाबद्ध निरूपण इस प्रकार किया है—

'मन्देहोऽप्रकृतद्वारा प्रकृतं सत्येद् यदि।

प्रतिभोत्थापितः सोऽयं सन्देहालङ्कृतिर्मतः ॥'

'संदेह अप्रकृत के द्वारा यदि प्रकृत का स्पर्श करे और यदि वह सदेह प्रतिभोत्थापित हो तो वह सन्देहालङ्कृति माना जाता है।'

[सर्वस्व]

[सू० १९] सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिभ्रान्तिमान् ।

असम्यग्ज्ञानत्वसाधर्म्यात्संदेहानन्तरमस्य लक्षणम् । भ्रान्तिश्चित्त-
धर्मः । स विद्यते यस्मिन्भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान् । सादृश्यप्रयुक्ता
च भ्रान्तिरस्य विषयः । यथा—

'ओष्ठे विन्म्वफलाशयालमलकेपूपाकजम्बूधिया
कर्णालंकृतिभाजि दाडिमफलभ्रान्त्या च शोणे मणौ ।
निष्पत्या सरुदुत्पलच्छददशामात्तकलमानां मरौ
राजन्गुर्जरराजपञ्जरशुकैः सद्यस्तूपा मूर्च्छितम् ॥'

गाढमर्मप्रहारादिना तु भ्रान्तिर्नास्यालंकारस्य विषयः । यथा—

'दामोदरकराघातचूर्णिताशेषवक्षसा ।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥'

सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छिद्यर्थं क्वचिप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते, यथो-
दाहृतम्, न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत् । एवं स्थाणुर्वा स्यात्पुरुषो
वा स्यादिति संशयेऽपि बोद्धव्यम् ।

[सूत्र १९] सादृश्य के कारण [एक वस्तु पर] दूसरी वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान्
[अलंकार कहलाती है] ।

[शक्ति] सम्यक् ज्ञान के अभाव की समानता के आधार पर संदेह के [तुरन्त] पश्चात्
इसका लक्षण दिया जा रहा है । भ्रान्ति चित्त का एक धर्म है । वह रहता है जिस उक्ति प्रकार में
बढ़ होता है भ्रान्तिमान् । [किन्तु] इस भ्रान्तिमान् उक्तिप्रकार = अलंकार का क्षेत्र [केवल] सादृ-
श्यमूलक भ्रान्ति है । जैसे—

हे राजन् ! एकाएक ज्यों ही यह विदित हुआ [निष्पत्ति] कि ये नीलकमल की पंखुड़ी से
नेत्रों वाली धकी धकारें सुन्दरियाँ ही तो [निराश होकर] गुर्जरराज के पञ्जरबद्ध शुक मरुस्थल में
पिपासा से तत्काल मूर्च्छित हो गय; क्योंकि [इसके पहिले] वे [उन सुन्दरियों के] ओठों
को विन्म्वफल समझ बैठे थे, नीले केशों पर तो उन्हें परिपक्व जामुन का आत्यन्तिक निक्षेप
ही हो गया था और कर्णमूल के लाल (माणिक्यमणि) को वे मान बैठे थे अनार ।'

इसके विरुद्ध जो भ्रान्ति [चकराना] गर्भस्थान पर गहरी चोट आदि से होती है वह इस
अलंकार का क्षेत्र नहीं होती । जैसे—

'श्रीकृष्ण की मुट्ठी की चोट से विसकी पूरी छाती चूर चूर हो गई थी ऐसे चाणूर नामक
प्रहलवान ने देखा कि आकाश में सँकड़ो चन्द्र निकले हैं ।'

[साथ ही] जो भ्रान्ति सादृश्यमूलक भी होती है वह भी तभी अलंकार बनती है जब वह
क्वचिकल्पित होती है, जैसा कि पूर्वदत्त उदाहरण ['ओष्ठे' इत्यादि] से स्पष्ट है न कि लौकिक भ्रान्ति
यथा छिपनी में चौंकी की भ्रान्ति । इसी प्रकार 'थातो यह दूँठ होगा या आदमी होगा'—इत्यादि
लौकिक संशय में भी समझना चाहिए [कि वह क्वचिकल्पित न होने से अलंकार नहीं है] ।

विमर्शिनी

सादृश्यादित्यादि । असम्यग्ज्ञानत्वसाधर्म्यादिति न पुनरारोपगर्भत्वसाजायाह्वयित-
मिति भावः । आरोपो हि विषयविषयिणोर्युगपदेकप्रमातृविषयीकृतत्वे भवतीति नारोप-
गर्भो भ्रमः क्वचिदपि सभवति, शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमाना-
भावात् ।

ननु भ्रान्तिश्चित्तधर्मः स यस्यास्ति स भ्रान्तिमानिति वक्षुं न्याय्यं तत्कथमलङ्कारस्यै-
तदभिधानमित्याशङ्क्याह—भ्रान्तिरित्यादि । स एते भ्रान्तिप्रकारः अलङ्कारे भ्रान्ति-
मन्त्रवद् उपचरित इति भावः । सादृश्यप्रयुक्तेति । न तु

‘कामशोकभयोन्माद्चौरस्वनाद्युपप्लुताः ।

अभूतानपि परपन्थि पुरतोऽवस्थितानिव ॥’

इत्याद्यभिहितावान्तरनिमित्तोत्थापितोत्तरार्थः । अतश्च सादृश्यनिमित्तैव भ्रान्तिरलङ्कार-
विषय इति साप्यर्थः । एवं च—

‘प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठनः सा पुरा सा
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगानुरस्य ।
हृदो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादा ॥’

इत्यत्रैकस्या एव परिमिताया अपि योपितो गाढानुरागहेतुकं तन्मयतानुभवात्
प्रासादादावनेकत्र युगपत्प्रतीती निमित्तमिति न भ्रान्तिमदलङ्कारः । स हि प्रासादादेर्वल्ल-
भारूपत्वेन प्रतीती स्यात् । अन्यस्यान्यरूपत्वेन सम्यग्भिधानात्मा निश्चयो हि भ्रान्ति-
मन्त्रलक्षणम् । न च प्रासादादिर्वल्लभावेन प्रतीयत इति स्फुट एवाय विशेषालङ्कारस्य
विषयः । अथ प्रासादादावभूताया अपि वल्लभाया दशनाद् भ्रान्तिरिति चेत्, नैतत् । एवं
ह्यत्र भ्रान्तिमात्रं स्यात्प्रकारः । गाढानुरागात्मकनिमित्तसामर्थ्यास्वरसत एव प्रासादा-
दावसाया अपि युवस्याः प्रतीतिसमुत्पत्ताः । कविप्रतिभानिर्वर्तित्वाभावात् । ‘देवमपि
हृषं पितृशोकविह्वलीकृतं श्रियं साप इति महीं महापातकमिति राज्य रोग इति भोगान्-
भुजगा इति निलपं निरय इत्यादि मन्यमानम्’ इत्यादावपि न भ्रान्तिमदलङ्कारः । तत्र
हि विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यास्वरसत एव विषयप्रतीतिरुल्लेखः । शुक्तिकादीनां
शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानालुदयादिति समनन्तरमेवोच्छ्रयात् । इह
पुनर्विषयरूपा श्रियमवगम्यापि श्रीहर्षेण पितृशोकविह्वलीकृतवाच्यापत्वेन भाष्यत इति
विषयमालङ्कारो ज्ञायान् ।

‘दातुं वान्छति दृष्टिणोऽपि नयने वामः करः कञ्चलं
भौजंगं च भुजोऽङ्गदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः ।
इत्थं स्वं स्वमशिधितं भगवतोरर्थं वपु परयतोः
साधारस्मिन्लान्छितं दिशतु नो चक्र मनोवान्छितम् ॥’

इत्यत्रापि संस्कार एवालङ्कारो न भ्रान्तिमान् । अत्र हि भगवत्या नेत्रद्वयाञ्जनदान-
सतताभ्यासाद्दामनेत्राञ्जनदानानन्तरं दक्षिणनेत्राञ्जनदानवासनानुरोधो जायत इति
संस्कारस्यैव वाक्यार्थत्वम् । अथात्र संस्कारप्रबोधं विना तदभावाद्दञ्जनदान-
संस्कारहेतुका भगवदर्थस्य स्वार्थत्वेनाभिमानरूपा भगवत्या भ्रान्तिरेवेति चेत्-
नैतत् । प्रयुतात्र हि भगवदर्थस्य तथात्वेनैवावगमाद्दञ्जनदानसंस्कारो न प्ररोह-

मुपागत इति कारणस्यैव स्वलङ्कृतेस्वात्कार्यस्य भ्रमस्योत्पाद एव न संभवतीति न भ्रान्तिमतोऽवकाशः । प्ररूढ एव हि संस्कारो भ्रमः । स्वात्ममात्रावस्थितस्तु संस्कारालंकारः । अत एव दातुं वाञ्छतीत्युक्तम् । एवं चात्र नेत्रद्वयान्जनदानसतताभ्यासहेतुकः संस्कार एव प्रतीयते न तु तन्निमित्तकोऽपि भ्रमः परमः । परमेश्वरार्थस्य तथात्वेनैवावगमात्तद्बन्धस्याप्यभावात् । अत एवाशिक्षितं स्मितलान्छितं चेत्युक्तम् । भवान्तर एवानयोर्विशेषोऽलंकारभाष्य एवोक्त इति तत एवानुसर्तव्य इति । एवं च सादृश्यनिमित्तैव भ्रान्तिरलंकारविषयो न निमित्तान्तरोत्थापितेति न लक्षणस्याव्यापकत्वं वाच्यम् ।

एवं सादृश्यनिमित्तकत्वादस्य साधारणधर्मस्यापि प्रथी गतिः । तत्रानुगामिता यथा—
नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या विकसितविलोचनम् ।

अनुधावति मुग्धाच्च परस्य मुग्धो मधुवतः ॥'

अत्र विकासीत्यनुगामित्वेन निर्दिष्टो धर्मः । शुद्धसामान्यरूपत्वं तु यथा—

'अयमहिमहचिर्भजन्प्रतीर्षीं कृपितवलीमुखतुण्डताम्रविम्बः ।

जलनिधिमकरैरुदीपयते द्राक्षन्वहधिरारुणमांसपिण्डलोभात् ॥'

अत्र ताम्रस्वारुणत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावो यथा—

'पुसिधा कृष्णाहरणेन्दुनीलकिरणाहजा ससिमऊहा ।

भाणिणिवक्षणमि सकज्जलं सुसङ्गाए दृष्टेण ॥'

अत्र सकजलत्वेन्द्रनीलकिरणाहत्त्वयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । सादृश्यनिमित्तकत्वमेव चास्य द्रष्टव्यं प्रत्युदाहरति—गाढेत्यादिना । सादृश्यनिमित्तकत्वेऽपि कविप्रतिभोऽर्थापितैव भ्रान्तिरस्यैव विषयो न पुनर्वास्तवोऽस्याह—सादृश्येत्यादि । उदाहृतमिति । ओष्ठे विम्बफलाशयेत्यादि । एतदेव संदेहेऽपि योजयति—एवमित्यादि । संशय इति । अर्थादारोपार्थ एव । तत्रैव ह्यस्य सादृश्यं निमित्तम् । अध्यवसायमूले हि संवेदे सादृष्यात्स्वबन्धान्तराद्वा विषयविषयिणोः संदिह्यमानत्वं स्यात् यथोदाहृतं प्राक् । एवमारोपार्थत्व एव सादृश्यं विना नायमलंकार इत्यवगन्तव्यम् । तस्माद्विशेषेणैव साधर्म्यं विहायपि निमित्तान्तरमवलम्ब्य नास्यालंकारत्वं वाच्यम् । सादृश्येऽपि कविप्रतिभोऽर्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकमेति ।

विमर्शिनी—असम्यग्ज्ञानत्व के साधर्म्य से न कि आरोपार्थत्व के साधर्म्य से भ्रान्तिमान् का लक्षण संदेह के वाद तुरन्त किया । आरोप जो है तव होता है वह जब विषय और विषयी दोनों किसी एक ही शता के ज्ञान का विषय धर्ने इसलिये भ्रम कमी भी आरोपाश्रित नहीं हो सकता क्योंकि कि शक्ति आदि का ज्ञान यदि शक्ति आदि के रूप में ही होता है तो उसमें रवत आदि का विपर्ययात्मक ज्ञान नहीं होता ।

'भ्रान्ति एक चित्त धर्म है अतः भ्रान्तिमान् जिसे भ्रान्ति ही उस व्यक्ति को कहा जाना चाहिए; अलंकार को भ्रान्तिमान् क्यों कहा जा रहा है'—येसी संका कर उसका उत्तर देने हेतु लिखते हैं—'भ्रान्तिः' इत्यादि । 'स'—'वह' अर्थात् भाषितप्रकार । इस प्रकार अलंकार के लिए 'भ्रान्तिमान्' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है [मूलतः वाचक है वह भ्रान्तियुक्त व्यक्ति का] ।

सादृश्यप्रयुक्त न कि—'काम, शोक, भय, उन्माद चौर स्वप्न आदि से उद्विग्न व्यक्ति असत्य वस्तुओं को भी सामने धरस्थित सा देखते हैं—' इत्यादि वानियों में प्रतिपादित अन्य निमित्तों से प्रयुक्त । इसलिये तात्पर्य यह निकला कि सादृश्यनिमित्ता भ्रान्ति ही भ्रान्तिमदलंकार का विषय होती है । [अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्येतरकारणमूलक भ्रान्ति को भी भ्रान्तिमदलंकार

माना है और 'प्रासादे सा०' आदि पद्य ही उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया है। इसके उल्टे में विमर्शिनीकार लिखने हैं] इम प्रकार—

‘उमङ्गे वियोग में आतुर मुझे प्रासाद में वही दिखाई देती है और रास्ते रास्ते में वही, पीछे बढ़ो, सामने वही और दिशा दिशा में वही, अरे निश्च तुझे कुछ और सूझता ही नहीं। सपूर्ण विश्व में केवल वह वह वह वह। आतुर यह कैसा अर्धवेनवाद है ?

—यहाँ नायिका एक ही है और उसकी अवस्थिति भी कहीं एक ही स्थान पर है तथापि प्रासाद आदि अनेक स्थानों में एक साथ उसकी प्रतीति हो रही है। इम प्रतीति में कारण है गाढ़ अनुराग से जनित तन्मयता का बोध। अतः यह भ्रान्ति भ्रान्तिमदलकार नहीं है। वह तब होता जब प्रासाद आदिका ज्ञान बलभारूप से होता क्योंकि ऐसे निश्चयकी ही तो भ्रान्तिमान् माना जाता है जिसमें मित्र वस्तु का मित्ररूप से कथन हो किन्तु वक्ता समझे कि वह ठीक कह रहा है। किन्तु यहाँ प्रासाद आदि का बलभारूप से प्रतीति नहीं हो रहे हैं इसलिये स्पष्ट रूप से यहाँ विघ्नकार है। यदि यह कहा जाय कि प्रासाद आदि में अविद्यमान होने पर भी बलभा के दिखाई देने से भ्रान्ति है तो वह भी निरर्थक है। क्योंकि ऐसा मानने पर यहाँ भ्रान्तिमात्र सिद्ध होगी भ्रान्तिमदलकार नहीं। ऐसा इसलिए कि यहाँ प्रासाद आदि में अविद्यमान होने पर भी बलभा की जो भ्रान्ति हो रही है वह कविप्रतिभाप्रसूत नहीं है। उसका कारण है गाढ़ अनुराग। अतः वह लौकिक भ्रान्ति ही है। इसी प्रकार [रत्नाकरकार ने] ‘महाराज हर्ष भी पितृशोक से विह्वल होकर भी को शाप, नहीं को महापातक, राज्य को रोग भोगों को भुजग, प्रासाद को नरक आदि मान रहे थे।’—[इस स्थल में भी भ्रान्तिमदलकार माना है किन्तु] यहाँ और अन्य स्थलों में भी भ्रान्तिमदलकार नहीं है। क्योंकि उस [भ्रान्ति] के [वास्तविक] विषय [भ्रान्ति के आधार] की प्रतीति नहीं होती [अपितु किसी] निमित्त [जिसे दोष कहा जाता है] के बल पर [अन्य किसी] विषय की प्रतीति हो उठती है। यह अभी अभी कहा गया है कि ‘शुक्ति आदि का शुक्ति आदि के रूप से ज्ञान ही जाने पर उसके ऊपर रजत आदि की भ्रान्ति नहीं हो पाती। प्रस्तुत [देव. हर्ष०] उदाहरण में भी विषय है और शीर्ष्य को उसकी प्रतीति भी होती है। उसे वह शाप रूप इस कारण मानता है कि वह पितृशोक से विह्वल है। अतः यहाँ विघ्नकार ही अधिक प्रबल है। [इसी प्रकार अलङ्काररत्नाकरकार मद्भोग्यकार ने—] ‘बापों हाथ दाहिनी ओख में भी काजल लगाने लगाना है और दाहिना हाथ भी बाएँ हाथ में सर्प-का कंकण पहनाने लगता है। इस प्रकार नवीन अभ्यास से रहित अपने-अपने अर्ध भाग को देखकर भगवान् शिव तथा पार्वती जी का एकसाथ समानरूप [साधार = साधारण = समान] से या सकारण-स्मित युक्त हुआ मुख इमें हमारा मन चाहा लाभ प्रदान करे।’ यहाँ भी [भ्रान्तिमान् अलङ्कार माना है किन्तु यहाँ भी] केवल मस्कारालङ्कार ही है भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं। यहाँ भगवती पार्वती को दोनों नेत्रों में अंजन लगाने का जो सदा का अभ्यास है उसी से उन्हें बाएँ नेत्र में भी काजल लगाने के शब्द दाहिने नेत्र में भी काजल लगाने की वासना बाध्य कर देती है। इस कारण यहाँ सस्कार ही वाक्यार्थ और इत्यलिये प्रधान है। यदि कहा जाय कि ‘सस्कारप्रबोध के बिना वैसा होना संभव न होने से शिवरूप अर्धभाग को नित्ररूप अर्ध समझ बैठने का अजनदानाभ्यासमूलक भ्रान्ति ही भगवती पार्वती को हुई’ तो यह ठीक नहीं है। वस्तुतः स्थिति उल्टी है। यहाँ भगवती पार्वती द्वारा भगवान् शिवरूपी अर्धभाग को शिवरूपी अर्धभाग ही समझा जा रहा है। इसीलिये अजनदानमस्कार पूरा उभर नहीं पाता [उनके उदित होते ही उसका बोध भी हो जाता है। इसीलिये अंजन लगाने की मिथित चेष्टा संग्रह नहीं हो पाती अतः उसके आधार पर सिद्ध होने वाला भ्रम भी उत्पन्न नहीं हो पाता अतः यहाँ

भ्रान्तिमान् नामक अलंकार संभव नहीं है। जो संस्कार प्रकृत हो जाता है वही भ्रम होता है। यहाँ तो संस्कार अपने तक ही सीमित है अतः संस्कार नामक ही अलंकार है। इसीलिए स्वयं कवि ने भी कहा है—'दिना चाहता है' [न कि देता है]। इस प्रकार यहाँ दोनों आँखों में अज्ञान लगाने के सतत अभ्यास से बना केवल संस्कार ही प्रतीत होता है, न कि उस संस्कार से होने वाला भ्रम भी। न तो यह भ्रम यहाँ ऐकान्तिक रूप से भ्रम ही सिद्ध हो पाता क्योंकि शिव का अर्धशरीर वहाँ उत्ती रूप में अर्थात् शिव के अर्ध शरीर के रूप में ही मासित होता है। इस कारण भ्रम का यहाँ गन्ध भी संभव नहीं है। इसीलिए श्लोक में भी 'अशिक्षित' और 'स्मितलम्बित' ये विशेषण रखे गए हैं। इस प्रकार इनमें थोड़ा सा ही अन्तर है। वह अलंकार-भाष्य में बतलाया जा चुका है, अतः उसे वहाँ से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार सादृश्य निमित्ता भ्रान्ति ही भ्रान्तिमान् नामक अलंकार का विषय है, अन्य निमित्त से हुई भ्रान्ति नहीं। इसलिये [सर्वस्वकार के भ्रान्तिमान् के] लक्षण में अभ्यासि दोष नहीं निकाला जा सकता।

इसी प्रकार सादृश्यमूलक होने से इसमें भी साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है। उसमें अनुगामी साधारण धर्म का उदाहरण यथा—

'हे सुधाक्षि ! देख, तेरे खिले हुए नेत्र को नीले कमल समझकर भ्रम में पड़ा भोला मधुकर उसकी ओर दौड़ रहा है।'

यहाँ 'विकासी' = 'खिले हुए' यह धर्म अनुगामी धर्म के रूप में कथित है। शुद्ध सामान्यरूप धर्म का उदाहरण यथा—

'कुपित बानर के मुख सा ताम्रवर्ण का यह प्रतीची में पहुँचा सूर्य समुद्र के षडिवालों द्वारा मांस के षडिराद्रं नदीन पिण्ड के लीम से बड़ी तत्परता के साथ देखा जा रहा है।'

—यहाँ ताम्रत्व और अरुणत्व शुद्धसामान्य धर्म हैं। विन्वप्रतिविम्बभाव का उदाहरण यथा—

'प्रोम्बिताः कर्णाभरगेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः।

मानिनीवदने सकञ्जलाश्रुश्रुत्या दयितेन ॥'

'करनमूल के नीलम की किरणों से चन्द्रकिरणों को प्रिय ने मानिनी के चेहरे से यह समझ कर पौछ दिया कि ये कञ्जलमिश्रित आँसू हैं।'

—यहाँ सकञ्जलत्व [अर्थात् कञ्जल] तथा 'इन्द्रनीलकिरणाहतत्व' [अर्थात् इन्द्रनीलमणिकिरण] में विन्वप्रतिविम्बभाव है।

इसकी सादृश्यनिमित्तकता को ही और अधिक श्रद्धा से सिद्ध करने के लिए विपरीत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—गाढ इत्थादि अर्थात् द्वारा। 'सादृश्यनिमित्तक होने पर भी कनिकल्पित भ्रान्ति ही भ्रान्तिमदलंकार का विषय बनती है, वास्तविक नहीं—इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं—सादृश्य इत्थादि द्वारा। उदाहरण अर्थात् 'ओष्ठे विम्बफलाशया' इत्यादि पद्य के रूप में। यही सिद्धान्त संदेह में भी लागू करते हुए कहते हैं—पुत्रम्०। संशय = अर्थात् आरोपगमित संशय ही। वहाँ जो संशय का कारण सादृश्य बन पाता है। संदेह को यदि अभ्यवसायमूलक भी मान लिया जाए तो उसमें विषय तथा विषयी सादृश्य तथा तदितर अन्य संबन्ध से भी संदेह विषय बनने लगेंगे। जैसा कि पहले उदाहरण देकर बताया जा चुका है। इसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि आरोपगमित भी हो किन्तु यदि सादृश्यमूलक न हो तो संदेह नहीं बनता। अतः इसी प्रकार भ्रान्तिमान् को भी सादृश्य छोड़कर अन्य कारण से जनित होने पर अलंकार नहीं मानना चाहिए। सादृश्यमूलक होने पर भी कविकल्पित होने पर ही यह अलंकार अलंकार होता है, न कि वास्तविक, लौकिक या त्वारसिक होने से।

विमर्शः—अलङ्काररत्नाकरकार ने भ्रान्ति को सादृश्यमूलक न होने पर भी अलङ्कार माना है, और 'प्रासादे सा०' 'देवमपि हर्षम्०' 'दातुं वाञ्छति०'—ये तीनों पद्य भी प्रस्तुत किए हैं। विमर्शिनीकार ने उन्हें एक एक कर उद्धृत किया है और उनका स्पष्टन किया है। स्पष्टन में विशेषता यह है अलङ्काररत्नाकरकार की पदावली का किञ्चित् हेर फेर के साथ उसी प्रकार प्रयोग किया गया है जिस प्रकार व्यक्तिविवेक में ध्वन्यालोक की पदावली का विमर्शिनीकार 'प्रासादे सा०' पद्य में 'प्रासाद' आदि का प्रतीति बलभा के अधिकरण के रूप में मानते हैं और कहते हैं कि यदि प्रासाद आदि का प्रतीति बलभा न होनी तो भ्रान्ति सम्भव थी। रत्नाकर प्रासाद आदि में बलभारूपत्व ही मानते हैं। उनकी पक्ति है—'प्रासादे सा०'—अत्र गार्ढरागानुभवहेतुक तन्मय-तानुमयान प्रासादादेर्बलभारूपत्वेन प्रतीती निमित्तम् ।' विमर्शिनीकार ने अनुभव की दुहाई देकर इसका स्पष्टन इसी पदावली में जिस प्रकार किया है वह—'इत्यत्रैकस्या एव परमिताया अपि योपितो गार्ढरागहेतुक विशेषालकारस्य विषय'—इस पक्ति से स्पष्ट है। इसी प्रकार रत्नाकरकारने 'देवमपि हर्षम्' में माना है कि यहाँ 'श्री'—आदि का शान कविनिष्ठ है और 'ज्ञाप' आदि का हर्षनिष्ठ। अतः प्रमातृभेद होने से यहाँ वे भ्रान्तिमान् स्वीकार करते हैं। उनकी पक्ति है—'मिषम् इत्यादि हि कवेरुक्ति ज्ञाप-इत्यादि भ्रान्तस्य श्रीहर्षस्य भ्रान्तिप्रतीत्यनुकरणमिति मित्रप्रमातृपत्यविषयीकृतत्वेनारोपसमशब्दव्यवसायभूत एव भ्रम ।' पृ० ५३। विमर्शिनीकार इसके विरुद्ध यहाँ 'श्री और ज्ञाप' दोनों का उदात्त केवल हर्ष को ही मानकर प्रमातृभेदाभाव के कारण भ्रान्तिमान् को असम्भव बतलाते और विषमालकार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पक्ष विमर्शिनीकार का ही ठीक है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पक्तियों की पदावली भी विमर्शिनी पदावली से तुलनीय है—

१ = एकप्रमातृविषयोऽन्तरे विषयविषयिणोरारोपा मत् । न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति । शुक्तिकादीनां शुक्तिकदिरूपतयाऽङ्गमे रजताभमिमानानुदयात् ।

२ = "दातुं वाञ्छति०" = इत्यत्र मत्तान्वासप्रवृद्धमस्कारहेतुका भ्रान्तिरेव । सस्कारबोधं विना तत्र भ्रान्त्यभावात् । न च सस्कारस्य प्रवृद्धत्वे प्रबोधत्वे वा कश्चिद् विशेषो भ्रान्तौ । तेनैवमादौ भ्रान्तिरेव ।

३ = यदि च "सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीति भ्रान्तिमान्" इत्यभ्यापक लक्षणं तर्हि लक्षणात्तरं विधेयम् ।

अलङ्काररत्नाकरकार का यह सिद्धान्त ध्यान देने योग्य है—

"प्रतीतिभेदे हि अलङ्कारभेदो युक्तो न निमित्तभेदे, अलङ्कारानन्त्यप्रसंगात् । तद्भेदे तु कवि-प्रतिभोत्थापितविच्छित्तिसद्भावे अन्तर्भाव एव न्याय्यः ।"

—अर्थात् अलङ्कारों में भेद माना जाना चाहिए बोध में भेद न होने पर, न कि कारण में भेद होने पर, कारणभेद में अलङ्कारभेद मानने पर तो अलङ्कार होने मानने पढ़ेंगे कि उनकी गिनती तक संभव न होगी। अतः कारण भेद रहने पर भी उसमें यदि कविप्रतिभोत्थापित विच्छित्त का सद्भाव हो तो उसको भी एक ही भेद में मगूहीत कर लेना चाहिए।

भ्रान्तिमान् के विषय में उनकी कहना है—

'सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिताया च भ्रान्तौ विच्छित्तविशेषसंभवे कथं नाम अनलङ्कारता ।' जो भ्रान्ति सादृश्यातिरिक्त निमित्त से जनित हो यदि उसमें भी विच्छित्तविशेष का सद्भाव हो तो उसे अलङ्कारत्वहीन कैसे कहा जा सकता है।

संपूर्ण विवेचन का संक्षेप अलङ्काररत्नाकरकार ने इस प्रकार किया है—

'संदेहसमावनयोर्व्याप्ति प्रतीतिभेदः स्फुट एव, तद्वत् ।

सादृश्यत्वेत्वन्तरयोर्भेदेषु न लेशतः कापि विशेषबुद्धिः ॥

प्रतीतिभेदेन विना न वाच्यः कुत्राप्यलङ्कारगतश्च भेदः ।

निमित्तभेदेन च भिन्नतायां प्रसज्यते सा चतु संशयादी ॥'

अर्थात् जैसे सन्देह और संभावना में प्रतीतिगत भेद स्पष्ट रूप से लक्षित होता है सादृश्य तथा तद्विभ्र हेतु से होने वाली भ्रान्ति में वैसा लेशमात्र भी नहीं। अतः प्रतीति में भेद न हो अलङ्कार में भेद नहीं मानना चाहिए। यदि निमित्त भेद से भी भेद माना जाने लगे तो फिर संशय आदि में भी अवान्तर भेदों को भिन्न भिन्न अलङ्कार मानने की नीवत आ खड़ी होगी।'

भ्रान्तिमान् का इतिहासः—

भामहः—	+	+	+
बामनः—	+	+	+
उद्भटः—	+	+	+

उद्भटः—'अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम् ।

निःसन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति ॥' ८।८७।

शाता यदि [उपमेयरूप] पदार्थ विशेष को देखकर उसके सदृश किसी अन्य ही पदार्थ का निश्चय कर बैठे तो उसे भ्रान्तिमान् कहते हैं। उदाहरण—

'पालयति त्वयि यक्षुषां विविधाध्वरधूममालिनीः कुकुमः ।

पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसाः ॥' ८।८८

'आप के पृथ्वी की रक्षा करते रहते दिखाएँ विविध यक्ष के धूम से युक्त रहती हैं। उन्हें देखकर हंसों का चित्त दुखता है क्योंकि वे उन्हें वादल समझकर बरसात आने के भ्रम में पड़ जाते हैं।'

मम्मटः—'भ्रान्तिमानन्यसंविद तत्तुल्यदर्शने ।'

प्राकरणिक (उपमेय) के समान [अप्राकरणिक = उपमानभूत] वस्तु के दिखाई देने से प्राकरणिक (उपमेय) में उसी समान वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान् ।

उदाहरण—'कपाले मार्जारः पय शति काराल्लेदि शशिनः' । = कसौरे में पड़ रही चन्द्र-किरणों को विहरी दूध समझकर चादने लगती है।'

इस विवरण से स्पष्ट है कि भ्रान्तिमान् के प्रवर्तक उद्भट ही हैं। मम्मट ने भी कदाचित् भ्रान्तिमान् को अलङ्कारों में नहीं विना, क्योंकि यह अलङ्कार परिकरालङ्कार के बाद के अलङ्कारों में है। ऐसी प्रसिद्धि है कि काव्यप्रकाश का निर्माण मम्मट ने परिकर तक ही किया है। शेषांश की पूर्ति हरविजय के टीकाकार अलक अथवा किसी अल्लटनामक विद्वान् ने की है। अन्तरंग प्रमाणों से यह तथ्य वास्तविक भी प्रतीत होता है। परिकर के बाद काव्यप्रकाश की पंक्तियों में वैसी कत्तावट नहीं है। दूसरा प्रमाण यह है कि काव्यप्रकाश में जैसा कि उद्धृत प्रमाण से स्पष्ट है, भ्रान्तिमान् को सादृश्यमूलक अलङ्कार माना गया है किन्तु उसकी गणना फुटकल अलङ्कारों में बहुत आगे जाकर की गई है।

आचार्य दण्डी ने भ्रान्तिमान् को उपमालङ्कार के अन्तर्गत मोहोपमा नाम से स्वीकार किया है—

'शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वञ्चि त्वन्मुखं, त्वन्मुखाशया ।

इन्दुमप्यनुधावामोत्पेया मोहोपमा स्मृता ॥ २।२५

मैं तुम्हारे चेहरे को चन्द्रमा समझ बैठता हूँ, अतः तुम्हारे विरह में चन्द्र को तुम्हारा मुख समझ पकड़ने दौड़ता हूँ।

अग्निपुराण में मोहोपमा को भ्रान्तिमान् कहा भी है—

‘प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्त्तनम् ।

उपमेयस्य यन्मोहोपमासौ भ्रान्तिमद् वच ॥’

लगभग २२ वीं शती में ही हुए वाग्भट ने भ्रान्तिमान् स्वीकार किया है—

‘वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः ।

निश्चयो यत्र भावेन भ्रान्तिमान् स स्मृतो यथा’ ॥ ४।७३॥

‘हिमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसूताक्षि ।

कुसुममिति त्वहसिते निपतति भ्रमराणां श्रेणि ॥’

जहाँ अन्य वस्तु में तत्तुल्य अन्य किसी वस्तु का निश्चय हो जाय उसी को भ्रान्तिमान् कहा जाता है । यथा—‘हे आयनाक्षि । मौरों की पाँच तुन्दारे चेहरे पर उसे हेमाम्बोज समझकर दूट पड़ती है, नेत्र पर नीलकमल समझ तथा ईंसों पर पुष्प समझकर ।’ सञ्जीविनीकार ने इस अलंकार को साक्षितरूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

‘सादृश्योत्पाप्ता भ्रान्तिर्यत्र स भ्रान्तिमान् मठः ।

अर्थात् भ्रान्ति जहाँ सादृश्यजनित हो वह भ्रान्तिमान् ।

[सर्वस्व]

[सू० २०] एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।

यत्रैकं वस्तुनेकधा गृह्यते स रूपवाहुल्योल्लेखनाहुल्लेखः । न चेदं निर्निमित्तमुल्लेखमात्रम्, अपि तु नानाविधधर्मयोगित्वात्प्यनिमित्तवशादेत-
द्विक्रियते । तत्र रुच्यर्थित्वव्युत्पत्तयो यथायोगं प्रयोजिकाः । तदुक्तम्—

‘यथावच्चि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।

आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते ॥’ इति ॥

यथा—‘यस्तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वैश्याभिः संगीतशा-
लेति लासकैः’ इत्यादि हर्षधारिते श्रीकण्ठाख्यजनपदवर्णने । अत्र ह्येक एव
श्रीकण्ठाख्यो जनपदस्तत्तद्गुणयोगात्तपोवनाद्यनेकरूपतया निरूपितः । रुच्य-
र्थित्वव्युत्पत्तयश्च प्रायदाः समस्तव्यस्ता योजयितुं शक्यन्ते । नन्वेतन्मध्ये
‘यत्र उज्ज्वलमिति शरणागतैरसुरविवरमिति वातिकैः’ इत्यादौ रूपकालंकार-
योग इति कथमयमुल्लेखालंकारविषयः । सत्यम् । अस्ति तावत् ‘तपोवनम्’
इत्यादौ रूपकविधिकोऽस्य विषयः । यत्र वस्तुतस्तद्रूपतायाः संभवः । यत्र
रूपकं व्यथस्वित्तत्र चेदियमपि भङ्गिः संभाषिनी तत्संक्रोऽस्तु । न
त्वेतावतास्याभायः शक्यते वक्तुम् । ततश्च न दोषः कश्चित् । एवं हि तत्र
विषये भ्रान्तिमद्वलंकारोऽस्तु अतद्रूपस्य तद्रूपताप्रतीतिनिवन्धनत्वात् । नैतत् ।
अनेकधाग्रहणाद्यस्यापूर्वस्यानिशयस्यामात्रात्, तद्धेतुकत्वाच्चास्यालंकार-
स्य । संक्रोऽस्तु तत्स्वङ्गीकृतैव । यद्येवम्, अमेदे मेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिरत्रा-
स्तु । नैव दोषः । प्रदीप्तमेदाख्येन विषयविभागेनानेकधात्व्योद्वङ्गनात्तस्य च

विच्छिद्यन्तररूपत्वात् सर्वथा नास्यान्तर्भावः शक्यक्रिय इति निश्चयः ।
यथा वा—

‘णाराधणो चि परिणववथाहिं सिरिवल्लहो चि तरुणीहिं ।

‘वालार्हि उण कोदूहलेण एमे अ सच्चवित्रो ॥’

एवम् ‘शुरुर्वचसि पृथुरसि अर्जुनो यशसि’ इत्यादाववसेयम् । इयांस्तु विशेषः—पूर्वत्र अद्वीतभेदेनानैकधात्वोल्लेखः, इह तु विषयभेदेन । नन्वनेकधात्वोल्लेखने गुर्वादिरूपतया श्लेष इति कथमलंकारान्तरमत्र स्थाप्यते । सत्यम् । अनेकधात्वनिमित्तं तु विच्छिद्यन्तरमत्र दृश्यते इति तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषोऽत्र स्यात् । न तु सर्वथा तदभावः । अतश्चालंकारान्तरं यदेवंविधे विषये श्लेषाभावेऽपि विच्छित्तिसद्भावः । तस्मादेवमादाबुल्लेख एव श्रेयान् । एवमलंकारान्तरविच्छिद्यत्याशयेणाप्ययमलंकारो निदर्शनीयः ।

[सू० २०] कारणवशाद् एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से ज्ञान उल्लेख ।

[३०] जहाँ एक ही वस्तु अनेक प्रकार से जानी जाती है वह अलङ्कार उल्लेख कहलाता है । उल्लेख इसलिए कि उसमें रूपवाहुत्व का उल्लेखन [अवगम ज्ञान] रहता है । यह यूँ ही हो जाने वाला सामान्य उल्लेखन नहीं होता, अपितु [यह अलंकाररूप होता है और] इसका [पत्नपूर्वक] निष्पादन किया जाता है जिसमें उपाय बनता है [पदार्थ की] विविधधर्मयुक्तता नामक तत्त्व । इस [विविधधर्मयुक्तता] में कारण बनते हैं (१) रुचि, (२) अर्थिता तथा (३) व्युत्पत्ति, किन्तु योग्यता के अनुसार । जैसा कि [श्रीमान् उत्पद्येवाचार्य ने] कहा है—‘पदार्थ एक ही हो और उत्पत्ता ज्ञान भी यत्न-पूर्वक ठीक ढँग से किया गया हो तथापि वह ज्ञान उसी रूप में बदल जाता है जैसी श्राता को रुचि रहती है, जैसी उसकी गरज रहती है और जैसी व्युत्पत्ति ।’ जैसे—इपंचरित के अन्तर्गत श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन में [निर्णयसागरीय पृष्ठ १७ पर] ‘जिसे मुनिओं ने तपोवन, वैश्याओं ने कामायतन, नदों ने संगीतशाला [समझा]—’ इत्यादि । यहाँ श्रीकण्ठ नामक एक ही जनपद तपोवन आदि अनेक रूप से निरूपित है, क्योंकि उस [जनपद] में वन [तपोवन आदि] के गुण थे । ये जो रुचि, अर्थित्व और व्युत्पत्ति हैं इनकी योजनाएँ एक साथ और पृथक्-पृथक् भी की जा सकती हैं । इस [श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन] में ‘शरणागत व्यक्तियों ने वन का पिबरा, वादिकों [भूमर्र्म में छिपकर साधना करने वालों] ने अमुरविकर [पाताल माना]’ इत्यादि स्थलों में रूपकालङ्कार का पुट भी है तब यह उल्लेखालङ्कार का विषय कैसे हो सकता है ? [उत्तर] ठीक है [किन्तु] ‘तपोवन’ इत्यादि स्थलों में उल्लेख रूपक से पृथक् भी विद्यमान है, जहाँ वस्तुतः तद्रूपता है । हाँ ! अहाँ रूपक होता है वहाँ यदि इस अलंकार को भी छिया या जाए तो उसे संकरालङ्कार माना जा सकता है । किन्तु इतने [सांकर्य] भर से इस [उल्लेख] का अभाव नहीं माना जा सकता । इसलिए यहाँ कोई दोष नहीं आता । शंका होती है—कि ‘यहाँ [तपोवनम्० इत्यादि स्थल में यदि संकरालङ्कार नहीं है तो] भ्रान्तिमदलंकार क्यों न माना जाए, क्योंकि यहाँ अलंकारत्व का मूल है भिन्न में भिन्न वस्तु के अभेद का ज्ञान [जो भ्रान्तिमान् का जनक है], [उत्तर] ऐसा नहीं [अर्थात् भ्रान्तिमान् नहीं माना जा सकता] क्योंकि [उसमें] ‘अनेक प्रकार से ग्रहण (ज्ञान)’ रूनी नवीन और विचित्र विशेषता नहीं रहती और यह [उल्लेख] अलंकार इसी विशेषता पर. निर्भर रहता है । जहाँ तक सांकर्य की प्रतीति का प्रश्न है उसे तो स्वीकार कर ही लिया गया है ।

[शका] यदि ऐसा है [यहाँ भ्रान्तिमान् और सकर नहीं मानना है] तो यहाँ 'अभेद में भेद'-नामक अतिशयोक्ति यहाँ मान ली जाए [उल्लेख ही क्यों माना जा रहा है], [उत्तर] यह दोष भी नहीं ठहरता क्योंकि एक तो यहाँ [अनिवार्य रूप से] शाता अनेक होते हैं [जब कि अतिशयोक्ति में शाता की अनेकता अनिवार्य नहीं रहती] इसलिए इन दोनों के विषय भिन्न हो जाते हैं,] दूसरे यहाँ एक ही वस्तु का ज्ञान [नियमन] अनेक प्रकार से होता है [अतिशयोक्ति के समान केवल भिन्नरूपमात्र में नहीं] जो एक स्वतन्त्र हो विच्छिद्य है [अतः विच्छिद्य में भी भेद पठ जाता है] ।

सर्वथा, इस [उल्लेख] का अन्तर्भाव करना समव नहीं है [हमारा] यही निश्चय है ।

[उल्लेखका] अन्य उदाहरण क्या—

'नारायण इति परिणतवयोभिः श्रीवह्म इति तरुणीभिः ।

शालाभिः पुन कौतूहलेन एवमेव सत्यापित- ॥'

—[श्रीकृष्ण भगवान् को] 'बृह महिलाओं ने नारायण, युवतियों ने लक्ष्मीपति तथा शक्तिओं ने कुन्तूलपूर्वक ऐसा ही समझा' इसी प्रकार—वाणी में गुरु [बृहस्पति तथा गनीर] वक्ष'स्थल में पृथु, [पृथुनामक राजा तथा विस्तारण], वक्ष में अर्जुन [अर्जुननाम पाण्डव तथा धवल] इत्यादि में भी जानना चाहिए । [इन दोनों में] भेद इतना ही है कि प्रथम में छातृगत अनेकता के कारण शेषगत अनेकता है और दूसरे में [पृथु तथा अर्जुन के आरोप के] विषय [वक्ष' स्थल तथा वक्ष] की अनेकता के कारण ।

[शका] यहाँ 'गुरु' [बृहस्पति तथा गम्भीरता] आदि रूप से [एक ही पुष्पभूति का] अनेक रूप से ज्ञान होने पर [यहाँ] श्लेष मानना चाहिए, यहाँ दूसरा अर्थकार [उल्लेख] क्यों घोषा जा रहा है । [उत्तर] ठीक है [आप की शका किन्तु] यहाँ जो [विषयगत] अनेकता का भाव है उससे एक नए धमत्कार की जन्म मिलता है, अन. [यहाँ एक नया उल्लेख नामक अर्थकार है, अधिक से अधिक] श्लेष को यहाँ उस [उल्लेख] की झलक [प्रतिमा] भर शेष रहने देने वाला [उसे दया देने वाला मात्र] माना जा सकता है, यहाँ उस [उल्लेख] का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता । इसलिए भी यह एक भिन्न अर्थकार है कि इस प्रकार के [उपरिदत्त] स्थलों में अहाँ श्लेष नहीं भी रहना वहाँ भी यह विशिष्ट धमत्कार अनुभव में आना है । इस कारण ऐसे स्थलों में [श्लेष रहने पर भी] उल्लेख ही मानना अधिक अच्छा है । इसी प्रकार अन्य अर्थकारों की विच्छिद्य के सहारे भी इस अर्थकार की निष्पत्ति दिखाई जा सकती है ।

विमर्शिनी

। एकस्यापीति । अनेकधा ग्रहणमिति । न पुनरनेकधा कल्पनम् । ग्रहणं हि स्वारसि-
क्यामुत्पादितार्था च प्रतिपत्तौ संभवति न तु स्वारसिक्यमेव । यदाहुः—

'अतः शब्दानुसंधानवर्ण्यं तदनुवन्धि वा ।

जात्यादिविषयग्राहि सर्वं प्रत्यक्षमिष्यते ॥' इति ।

कल्पनं पुनरुक्त्वाद्य प्रतिपत्त्येकगामीति स्वारसिक्यां प्रतिपत्तौ न सम्भवती-
त्युभयत्रापि न्यापकत्वाप्यासूत्रितमेव युक्तम् । रूपवाहुत्येति । अत एवामुपे वसवन्तर-
प्रतीतिरस्त्येव । अन्यथा श्लोकस्यानेकधाग्रहणमेव न स्यात् । अत एव चास्य भ्रान्तिमद्-
नन्तरमेव लक्षणम् । एकस्य च न स्वातन्त्र्येणानेकधाग्रहणम्, अपि तु तत्प्रयोजन-
घशादित्याह—न चेदमित्यादि । एतदिति । अनेकधा ग्रहणम् एकस्यैव वानाविधधर्मयोगिन

आखण्डधेन प्रतीतिगोचरीभावात्कथमेकैकधर्मविषयमनेकधाग्रहणं युक्तमित्याशङ्क्याह—
 तत्रेत्यादि । तत्रेत्यनेकधाग्रहणे । स्वातन्त्र्येण विकल्पनं रुचिः । अर्थक्रियाभिलाषपरत्वमर्थि-
 त्वम् । वृद्धस्य बहुराकरणता न्युत्पत्तिः । उक्तमिति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम् । तत्तद्गुणयोगा-
 दिति विविक्तत्वादिनानाविधधर्मसंबन्धात् । मुनीनां तपोवनविषयमर्थित्वम् । वेश्यानां
 च कामायतनविषयमर्थित्वम् । एवं लासकानां तु संगीतशालाविषया न्युत्पत्तिरर्थित्वं च ।
 प्रायश इति, अनेन रुचिरत्र नास्तीति सूचितम् । ननु योऽयं श्रीकण्ठाख्यजनपदवर्णन-
 ग्रन्थखण्ड उदाहरणत्वेनानीतस्तत्रालंकारान्तरसंबन्धोऽप्यस्तीति कथमेतद्विषय एवेत्याह—
 नन्वित्यादिना । एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—सत्यमित्यादिना । तावच्छब्दो रूपकाभाव-
 विप्रतिपत्तिद्योतनार्थम् । तद्रूपताया इति तपोवनादिरूपतायाः । अत्रापि यदन्यैरवयवा-
 वयविभाषसंबन्धास्तारोपाया लक्षणायाः सत्त्वाद्रूपकालंकारमाशङ्क्य विविक्तत्वस्य चिन्त्य-
 त्वमुक्तं तदयुक्तम् । अवयवावयविभावसंबन्धाभावात्लक्षणाया एवास्तरत्वात् । न हि
 श्रीकण्ठाख्ये जनपदे तपोवनमवयवव्यायेन कुत्राप्येकदेशेऽस्ति यत्तत्रावयविनि मुनिभिरा-
 रोपितम् । किं तु तत्तद्गुणयोगिनः श्रीकण्ठस्य विविक्तत्वादितपोवनादिगुणमुखेन निज-
 निजवासनानुसारेणार्थित्वादिना मुनिप्रभृतीनामीदृयाभासः । अत्रापि यद्यस्यवयवावयव-
 विभावविवक्षा तल्लक्षणमात्रं न रूपकम् । तस्य लक्षणापरमार्थत्वेऽपि विषयस्य रूपवतः
 करणादलंकारत्वम् । अन्यथा तु लक्षणामात्रमेव । नहि लक्षणापि रूपकपरमार्था । इह च
 तपोवनाद्यारोपेणारोपविषयस्य नातिशयः कश्चित् । वस्तुत एव तद्रूपतायाः संभवात् ।
 अतश्च स्थित एवात्र रूपकविविक्तोऽस्य विषयः । न केवलमन्यालंकारविविक्तोऽयमेवास्य
 विषयो यावद् यत्रापि रूपकालंकारयोगोऽस्ति तत्राप्ययं संभवत्येवेति दर्शयितुमाह—यत्रे-
 त्यादि । इयमपि भङ्गिरिति एकस्यानेकधाग्रहणरूपा । एतावतेति रूपकप्रयोगमात्रेण ।
 तत्तश्चेति रूपकोल्लेखयोः संकरात् । ननु यत्र रूपकयोगो नास्ति तदलंकारान्तरयोगः
 संभवतीत्याह—एवं हीत्यादि । अतद्रूपत्वेति । अतपोवनरूपस्यापि तपोवनरूपत्वोपनिबन्ध-
 नात् । अतस्मिंस्तद्वग्रहो भ्रम इत्येतदेव हि भ्रमसतरत्वम् । अपूर्वस्येति आग्निमदसंभ-
 विनः । तद्धेतुकत्यादिति अनेकधाग्रहणाख्यातिशयनिमित्तकत्वात् । यदि चात्र आग्नि-
 मान्प्यस्ति तत्तेन सहास्य संकर एवास्तिवत्याह—संकरेत्यादि । यदेवमिति । आग्निमंतो-
 ऽस्य विशेषस्तेन सहास्य संकरो वैश्वर्यः । एष इति अतिशयोक्तिस्त्रयः । तस्येति प्रहीतृ-
 भेदाख्यस्य विभागस्य । विच्छिन्नन्तरत्वमेव हि सर्वेषामलंकाराणां भेदहेतुः । तदेवं तत्त-
 च्छङ्कानिरासपूर्वममुमेव सिद्धान्तीकृत्य पुनरप्युदाहरति—पारागणो सीति । अत्र च नारा-
 यणस्यापुत्रलेखने वृद्धाप्रभृतीनां यथाक्रमं न्युत्पत्त्यर्थित्वरूपयः । एतदेवान्यत्रापि योज-
 यति—एवमित्यादि । विशेष इति पूर्वस्मात् । विषयभेदेनेति वचनादिभिन्नत्वेन । अनेकधात्वो-
 ल्लेखे गुर्वादिरूपतया श्लेष इति गुर्वादीनामुभयार्थवाचित्वात् । तत्रप्रतिपत्तिहेतुरिति ।
 श्लेषमन्तरेणात्रोल्लेखान्निपत्तेः । तदभाव इति, उल्लेखाभावः । अतश्चेति, श्लेषाभावेऽप्ये-
 तद्विच्छिन्नसंभवात् । एवंविध इति विषयभेदरूपे । तत्तु यथा—

‘सवीडा दयितानने सकरुणा मातद्रुचमाम्बरे
 सत्रासा मुज्यो सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि ।
 सेष्या जहसुतांवलोकनविधौ दीना कपालोदरे
 पार्वत्या नचसंगमप्रगयिनी दृष्टिः शिवायस्तु वः ॥’

अत्रैकस्या एव दृष्टेस्तच्चद्विषयभेदेनानानात्वोल्लेखनम् ।

एकस्यापि = एक का भाँ अनेकधा ग्रहण = अनेक प्रकार से ग्रहण न कि अनेक प्रकार से

कल्पना करना [जैसा कि रत्नाकरकार ने माना है]। ग्रहण जो है वह तभी संभव है जब प्रतीति स्वारसिक [= लौकिक सामान्य] भी हो और [केवल कविद्वारा] उत्पादित भी। प्रतीति केवल स्वारसिक = लौकिक हो तो वह संभव नहीं होगा। जैसा कि कहा है—'सर्वा प्रकार का प्रत्यक्ष जाति आदि [गुण, क्रिया, सत्ता] को विषय बनानेवाला माना जाता है, मन्त्रे ही शब्दानुसंधान से रहित हो या मिश्रित।' कल्पना पौनस्वत्य आदि रूप है और वह एकमात्र शानात्मक ही है। इसलिए स्वारसिक = लौकिक प्रतीति में वह संभव नहीं है। इमटिए [उल्लेख का] जैसा लक्षण मूठ- [सर्वत्र] का ने किया है वैसा ही ठीक है क्योंकि जसमें [ग्रहण शब्द के प्रयोग से स्वारसिक तथा कल्पना] दोनों प्रकार के ज्ञान का संग्रह हो जाता है। अतः 'एकस्वार्थकथा कल्पनमुल्लेख' इस प्रकार रत्नाकरकार द्वारा ग्रहण शब्द को बदल कर 'कल्पन'-शब्द का प्रयोग करना अनुचित है]।

[यहाँ यह ज्ञानव्य है कि रत्नाकरकार ने स्वारसिक तथा उत्पादित दोनों को परस्पर निरपेक्षभाव में उल्लेख का कारण बनवाया है। उन्होंने 'प्रथम का उदाहरण "नारायण इति०" यह पद्य माना है और द्वितीय का श्री कृष्ण को मङ्गों ने पर्वतराज, इंसों ने शिशु, सुन्दरिओं ने काम० समझा'-यह]।

रूपमयुक्तय इतील्लि आरम्भ में अन्य वस्तुओं की प्रतीति रहता ही है। ऐसा न हो तो एक का अनेक प्रकार से ग्रहण ही न हो। इतील्लि इस अलङ्कार का लक्षण भ्रान्तिमान् अलङ्कार के तुरन्त पश्चात् किया गया है। 'एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण ऐसे ही (स्वातन्त्र्येण) नहीं क्वि तु प्रयोजन के आधार पर होता है—इस तथ्य पर लिखा—'न वेदन्०' इत्यादि। पृत्तु अर्थात् अनेक प्रकार से ज्ञान। एक ही वस्तु में अनेक प्रकार के धर्म होंगे तो केवल एक एक धर्म लेकर अनेक प्रकार से ज्ञान होना संभव कैसे होगा—'क्योंकि उस वस्तु का ज्ञान तो अखण्डरूप में होगा—' इस शका पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—'तत्र' इत्यादि। तत्र = अर्थात् अनेक प्रकार से ग्रहण में। रचि नाम है स्वान्त्रतापूर्वक विकल्प करने का, अर्थात् काम की इच्छा का नाम है अर्थित्व तथा व्युत्पत्ति नाम है वृद्ध व्यवहार का आश्रय होना। उक्तम् = कहा है अर्थात् उत्पादक ने श्रीप्रत्यभिज्ञा में [द्रष्टव्य = ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी २।१।३ कारिका, यहाँ रचि आदि के अर्थ अभिनवगुप्त की विमर्शिनी से ही लिए गए हैं। विमर्शिनी में इनका अर्थ है—'रचि स्वान्त्र्य वा, अर्थक्रियाधित्व वा वृद्धव्यवहारं वा, अनतिक्रम्य आभासा भिद्यन्त इति 'सूत्रार्थः।] सत्तद्गुण-योग विविक्तत्व = पक्षान्तत्व आदि माना प्रकार के धर्मों के सम्बन्ध से। मुनिओं में तपोवन विषयक अर्थित्व है, वेद्याओं को कामायतनविषयक अर्थित्व है और मर्तों को सगीतशालाविषयक व्युत्पत्ति भी है और अर्थित्व भी। प्रायशः इसमें यह सूचिा किया कि यहाँ रचि नहीं है।

[शका] यह जो श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन का अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है इसमें दूसरे अलङ्कार भी हो सकते हैं, केवल उल्लेख का ही विषय इसे क्यों माना जा रहा है—इस पर [उत्तर देते हुए] कहते हैं—'ननु० इत्यादि। इसी का स्वीकार कर उल्लेख करते हुए कहते हैं—'सत्यम्'-इत्यादि। 'तावत्'-शब्द रूपकभावरूपी अनुपपत्ति का सूचक है। तद्रूपता का अर्थात् तपोवनादिरूपता का। इस स्थल में भी अन्य विद्वानों ने [शोभाकर ने नहीं] जो अवयवविषयविभावसम्बन्ध से सारोपा लक्षणा का अस्तित्व स्वीकार कर रूपकालङ्कार माना है। और कहा है कि 'यहाँ केवल उल्लेख का अस्तित्व मानना ठीक नहीं है—वह अमान्य है। न यहाँ अवयवविषयविभावसम्बन्ध है और न लक्षणा ही। श्रीकण्ठजनपद में तपोवन का अस्तित्व किसी एक अर्थ या अवयव में थोड़े ही है। जिससे मुनिओं ने उसे अवयवी मानकर उस पर तपोवन का आरोप किया है। यहाँ तो उन-उन गुणों से शुद्ध श्रीकण्ठजनपद में तपोवन आदि के पक्षान्तता

[विविक्तत्व] आदिगुणों के द्वारा अपनी-अपनी वासना के अनुसार गुणिआदि को प्रयोजनवशात् ऐसा आभास हो रहा है। इतने पर भी यदि अवयवान्वयविभाज की विवक्षा ही भी तब भी यहाँ लक्षणा-मात्र हो सकती है, रूपक नहीं। क्योंकि यद्यपि रूपक लक्षणा के बिना नहीं होता; वह नहीं अलंकार होता है जहाँ विषयी के द्वारा विषय को अपने रूप से रूपित किया जाता है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ लक्षणा मर होकर रह जाती है। ऐसा नहीं है कि लक्षणा रूपकपरमार्था हो अर्थात् उसका स्वारस्य केवल रूपक में हो। फिर यहाँ तपोवन आदि के आरोप से आरोप के विषय (श्रीकण्ठजनपद) में कोई अतिशय नहीं आता। क्योंकि यहां तद्रूपता वस्तुतः ही विद्यमान है (रूपक तो कल्पित या आहार्य तद्रूपता में होता है।) इसलिए यहाँ रूपक से सर्वथा स्वतन्त्र ही है उल्लेख।

इस प्रकार 'इस (उल्लेख) का स्थल केवल वहाँ नहीं होता जहाँ अन्य किसी अलंकार का स्पर्श नहीं रहता यथा यह तपोवनम् इत्यादि, अपि तु उन स्थलों में भी यही अलंकार होता है जहाँ अन्य अलंकारों का स्पर्श भी रहता है'—इतो तस्य के लिए लिखते हैं—'पूर्व हि' इत्यादि। अतद्रूपस्य = जो तद्रूप अर्थात् तपोवनरूप नहीं है उसे भी तपोवनरूप से बदलाया गया है। भिन्न (अतद्) में भिन्न (तद्) रूप से बोध भ्रम होता है—और यही भ्रम का सर्वमान्य रूप है। अपूर्व = नवीन अर्थात् जो भ्रान्तिमान् में नहीं होता। तद्वेषुत्कर्षात् = अनेकधा ग्रहण नामक जो अतिशय (विशेषता) तन्निमित्तक। 'यदि वहाँ भ्रान्तिमान् भी है तो उसके साथ हुए उल्लेख का संकर ही माना जाय'—इस शंका को मन में रखकर स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए कहते हैं—'संकर' इत्यादि। यद्येवम् = यदि ऐसा है अर्थात् यदि भ्रान्तिमान् से इसका अन्तर ही अपना उसके साथ इसका संकर है तो। घुष = यह अर्थात् अतिशयोक्ति का सदभाव। तस्य = उसका अर्थात् ग्रहीता के भेद नामक विभाग का। सभी अलंकारों का भेदक विच्छित्तिगत भेद ही होता है। इस प्रकार विभिन्न शंकाओं का निराकरण करके फिर से उल्लेख का ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'गाराभयो = नारायण' इत्यादि। यहाँ जो 'नारायणत्व' आदि का उल्लेख है उसमें दृढा आदि का क्रम से व्युत्पत्ति, अर्थत्व और रचि निहित है। इसी को दूसरे स्थलों में भी लागू करते हुए कहते हैं—'एवम्'। विशेष = अन्तर अर्थात् पहले से। विषयभेदेन अर्थात् वाणी आदि की निवृत्ता से। 'अनेकधात्वोल्लेख'०० श्लेषः० गुरु आदि के रूप में अनेक प्रकार से उल्लेख होने पर श्लेष होना = कारण कि गुरु आदि शब्द अर्थद्वय के वाचक हैं। तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः क्योंकि यहाँ श्लेष के बिना उल्लेख की निष्पत्ति नहीं होती। तदभाव = उल्लेख का अभाव। अतश्च अर्थात् श्लेष के न होने पर भी इस उल्लेख की विच्छित्ति की निष्पत्ति संभव होने से। पूर्वविध = ऐसे = विषय-भेदरूप स्थलों में। इसका उदाहरण—'पार्वती की शिवजी का नवीन समागम चाह रही (प्रणयः = याञ्छां) दृष्टि आप के शिव = कल्याण के लिए हो, जो (दृष्टि) प्रियमुख पर सलज्ज, नज्जर्म पर सकरण, सर्म पर समय, अमृतवर्षी चन्द्र पर सविस्मय, गंगा पर ईर्ष्यायुक्त, कपाल पर दीन हो जाती है [अर्थात्—वह जन-जन भावों को व्यक्त करने वाली मुद्रा से युक्त हो जाती है] यहाँ एक ही दृष्टि का (प्रियमुख आदि) विषयों के भेद से अनेकत्व उल्लिखित है।

विमर्शः—'एवंविधे विषये' इस प्रकार के विषय में' इस मूल का अर्थ जयरथ और श्रीविद्या-चक्रवर्ती इन दोनों टीकाकारों ने 'विषयभेदरूप विषय' किया है, किन्तु किया जाना चाहिए 'एक वस्तु के अनेक प्रकार से ज्ञान वाले स्थलों में'। इस पंक्ति के तुरन्त पूर्व 'विषयभेदरूप' उल्लेख भेद का ही निरूपण है किन्तु श्लेष का अभाव 'ग्रहीतृभेद से अनेक प्रकार का ज्ञान—' इस भेद में भी होता ही है। खण्डन श्लेषयुक्त विषयभेद वाले अंश का चल रहा है अतः 'एवंविध' का

परामर्शविषय उसी को मानना चाहिए—यह तब मान्य होता जब 'तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतु'—००० अन्वयालंकारान्तरम्—इतने अन्य को अलग मान कर इसमें साध्यसाधकभाव माना जाता अर्थात् 'क्योंकि इत्ये उल्लेख को शक्य कर रहने देता है, उसका यहा अभाव नहीं हो जाता। इस अंश को हेतु मानकर 'इसलिए उल्लेख भिन्न ही अलंकार है'—इसे साध्य माना जाता। किन्तु ऐसा होना समभव नहीं है। 'अलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्व को अन्य अलंकार के निराकरण का हेतु माना गया है न कि सिद्धि का। फिर 'अतश्च' में 'च' = 'और'—यह पदार्थ व्यर्थ हो जाता है। हमने इस ग्रन्थ की जैसी सगति अर्थात् है उसमें ऐसा कोई दोष नहीं रहता। हम 'तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्व'—'धेयान्' को पूरे विवेचन का उपसंहारभूत सिद्धान्त वाक्य मानते हैं। इसके पश्चात् जो 'एवमलंकाराणां निदर्शनाय' कहा गया है वह इसलिए कि ऊपर केवल कुछ ही अलंकारों का निराकरण किया गया है।

एक यह तथ्य भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि उल्लेख में न केवल धेयगत अनेकत्व, अपितु शायतन अनेकत्व भी अपेक्षित होता है।

विमर्शिणी

सदयं द्विप्रकारोऽपि रूपकाधायकध्वन्यालंकाराश्रयोऽपि संभवतीत्याह—एवमलंकारान्तरेत्यादि। तत्राद्यः प्रकारः संदेहाश्रयो यथा—

किं भानु किमु चित्रभानुरिति य निश्चिन्वते वैरिणः।

किं चिन्तामणिरपि कल्पविटपी किं वेति चाशामता।

किं पुष्पाकर एष पुष्पचिह्निर किं वेति रामाजनः।

किं रामः किमु जामदग्न्य इति वा य धन्विनो मन्वते ॥'

अत्रैकस्यैव सविद्यामानत्वेनानेकधात्वोक्तेखनम्। अतिशयोक्त्याश्रयधायमेव यथा—

'वशं सौराज्यसाक्षी परिकल्पितमहाः शक्तिमार्द्रापराधो

दण्डं खड्गं रिपुस्त्रीप्रसमहरणचिःपुष्पाद्यादिदृष्टा।

पाशं पाशोपपरश्वजंमपि बलविकोपवेदी गदां च

स्वाच्छन्धश्चिह्नशूलं लिखति करतले देव चित्राकृतेस्ते ॥'

अत्र 'वमेवे' इत्याद्यतिशयोक्त्या लोकापलाभेदो राज्ञ उपलभ्यते इत्येकस्यानेकधात्वोक्तेखनम्। विषयभेदेन च रूपकाधयो यथा—

मृष्यं द्वैर्धातुरागस्तरुपु किंसलयं विदुमौघः समुद्रे

दिङ्मातङ्गोत्तमाद्भेभिनवनिहित' सान्द्रसिन्धुरेषु।

सोमिन् व्योमश्च हेमनः सुरक्षितरिभुवो जायते यः प्रकाशः

शोणिगनासाँ पराशोरुपसि दिशतु वः शर्म ररिमप्रतान ॥'

अत्रैकस्यैव विषयभेदेन रूपकाधय नानात्वम्। 'कारकान्तर' इत्यपपाठः। प्रकृत-कारकविच्छिन्नाश्रयस्यैवानुक्तत्वात्। अयं स्वरूपहेतुफलोक्तेखनरूपवात्प्रिया। तत्र स्वरूपोक्तेखनं समनन्तरमेवोदाहृतः। हेतुक्तेखनस्तु यथा—

'सगहितोः सदा धर्म' स्थितिहेतोरपि प्रजाः।

द्विप संहारहेतोश्च विदुस्त्वा जातमारामनः ॥'

अत्रैकस्यैव जन्मनो हेतुनामनेकधात्वोक्तेखनम्। फलोक्तेखनस्तु यथा—

'धर्मोयैव विदन्ति पार्थिव यथाशोचं प्रजाः पालिता

अर्थायैव च जानतेऽन्तरविदः कोपैरुदेशस्य ये।

कामार्थैव कृतार्थतामुपगता नार्यश्च निश्चिन्वते

मोक्षार्थैव च वेद जन्म भवतः कश्चिद्विपश्चिञ्जनः ॥

अत्रैकस्यैव जन्मनः फलानामनेकधात्वोल्लेखनम् ।

‘दोनों ही प्रकार का यह उल्लेख जिस प्रकार रूपक आदि उक्त अलंकारों के स्थलों में होता है उसी प्रकार अन्य अलंकारों के स्थलों में—यही बतलते हैं—‘एवमलंकारान्तर०’ इत्यादि द्वारा दोनों प्रकारों में प्रथम प्रकार [गृहीतगतानेकत्वजनित अनेकविध उल्लेख] संदेह के स्थल में होता है, यथा—‘जिसके विषय में बैरी लोग सोचते हैं—‘यह सूर्य है क्या और यह अग्नि है क्या ? आस बांध कर थाए लोग जिसके धारे में देखते हैं—‘क्या यह चिन्तामणि है और क्या यह कल्पवृक्ष है ? सुन्दरियाँ सोचती है—‘क्या यह मधुमास है या कामदेव ? और जिसे धनुषधारी लोग समझते हैं कि क्या यह राम है या परशुराम ।’ यहाँ एक ही का अनेक प्रकार से संदेह-विषयरूप से ग्रहण किया जा रहा है। यही भेद अतिशयोक्ति पर आश्रित इस उदाहरण में देखिए—

‘हे राजन् ! जब आपका चित्र लिखा जाता है तो आपके राज्य में सुख समृद्धि देखने वाले आप के हथ में बज्र की रेखा बना देते हैं; तेज देखने वाले शक्ति की रेखा; अपराधी दण्ड की रेखा; रिपुक्रियों का बलाह हरण देखने वाले खड्ग की रेखा; कृप, वापी आदि देखने वाले पाश की रेखा; बलको जानने वाले ध्वज की रेखा; क्रोध जानने वाले गदा की रेखा और स्वच्छन्दता जानने वाले त्रिशूल की रेखा ।’

—यहाँ ‘तुन्हीं इन्द्र हो’—इत्यादि क्रम से लोकपालों का अमेद राजा पर प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति का अनेक प्रकार से उल्लेख है।

विषयभेद से होने वाला रूपकाश्रित उल्लेख यथा—

‘भगवान् सूर्य की किरणों का समुदाय सबेरे की ललौरी में आपको श्रेय प्रदान करे, यह अपनी ललौरी से पर्वत शिखर पर पातुराम लगता है, वृक्षां पर किसलय, समुद्र में बूंगे का ढेर, दिग्गजों के माथे पर तुरत लगाई गई सिन्दूर की धूल और क्षितिज में सुवर्ण पर्वत [देवपर्वत सुमेरु] की स्थलियाँ ।’

—यहाँ एक ही रश्मिप्रदान रूपी वस्तु पर (पर्वत शृंग आदि) विषयभेद से रूपकाश्रित उल्लेख है।

यहाँ [अलंकारान्तरविच्छिन्ति०] में आप अलंकारान्तर शब्द के स्थान पर] ‘कारकान्तर’ पाठ अशुद्ध पाठ है क्योंकि प्रकृत में कारककृत विच्छिन्ति का कोई उल्लेख नहीं है।

यह उल्लेख स्वरूपोल्लेख, हेतुल्लेख तथा फलोल्लेख इस प्रकार से तीन प्रकार का होता है। इनमें स्वरूपोल्लेख तो जन्म-जन्मा बतला ही दिया गया, हेतुल्लेख का उदाहरण इस प्रकार है—

‘हे ब्रह्मन्, प्रजाएँ आपको सृष्टि तथा धर्मस्थिति के लिए स्वयं से उत्पन्न मानती हैं और शत्रुलोग संसार के लिए ।’

—यहाँ जन्म (उत्पत्ति) एक ही है किन्तु उसने हेतु अनेक बतलाए गए हैं [सृष्टि, धर्मस्था तथा संहार]।

फलोल्लेख का उदाहरण यथा—

‘हे राजन् शास्त्रानुसार पालित प्रजा आपका जन्म धर्म के लिए ही मानती है, क्रोध का एक अंश जानने वाले अर्थ के ही लिए, कृतार्थता को प्राप्त नारियाँ केवल काम के ही लिए तथा कुछ विद्वान् केवल मोक्ष के ही लिए ।’

—यहां जन्म एक ही है और उसके फल अनेक बतलाए गए हैं ।

विमर्श—इतिहास—उल्लेख—‘आमह, वामन, दण्डी, चन्द्रट, रुद्रट, मम्मट’—इन पूर्ववर्ती सर्वा आलंकारिकों में नहीं मिलता । प्राप्त ग्रन्थों में अलंकारसर्वस्व में ही यह पहली बार मिलता है । पदादिप्र इति अलंकार का इदं प्रथमता के साथ विवेचन अलंकार सर्वस्वकार ने ही किया है ।

परवर्ती अप्यप्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में और पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में उल्लेख में ग्रहीतृगत अनेकत्व पर भी उतना ही बल दिया है जितना एक ही वस्तु की ग्रहणगत अनेकता पर । ऐसा करने का उद्देश्य उन्होंने मान्यरूपक से उल्लेख का अन्तर माना है । अप्यप्यदीक्षित का लक्षण इस प्रकार है—

“निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा । उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते ॥”

यत्र नानाविधधर्मयोगि एक वस्तु तत्तुधर्मरूपनिमित्तभेदादनेकेन ग्रहीत्रा अनेकधा उल्लिख्यते स उल्लेखः ।

‘कौत्सिगंगा हिमह्माश्रुदोजःसूर्योदयाचल । शत्रुसेनाभिमन्याद्रिगुणरत्नैकरोहण ॥’

—इति मालारूपके एकस्य राशो यद्यभित्यादिधर्मयोगरूपनिमित्तभेदात् तुषारादित्वाधनेक-प्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिन्यासिनिरासायानेकेत्युक्तम् । तत्र ग्रहीतृभेदनिबन्धन न भवत्यनेक-धोऽल्लेखनमिति नातिन्यासिः ।^१ [चित्रमीमांसा काशी सं० पृ० २९५]

पण्डितराज जगन्नाथकृत उल्लेखलक्षण इस प्रकार है—

‘एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद् अनेकेग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः ।’ धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमायाः । इत्यादिमालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकेग्रहीतृभिरित्येविवक्षितवहुत्वकं ग्रहण-विशेषणम् ।’

विषयभेदमूलक उल्लेख और मालारूपक में अन्तर भी विचारणीय है । इसी ग्रन्थ में मालारूपक का उदाहरण दिया गया है “पीयूषप्रसूतिर्नवा मरुभुजा दात्र तमोखलये०” इत्यादि और विषयभेदमूलक उल्लेख का—“शुरुर्वचसि, पृथुररसि०” इत्यादि । इन दोनों उदाहरणों में कोई अन्तर नहीं है । कारण कि उल्लेख के इस उदाहरण में किया ‘दिखाई देता था, प्रतीत होता था’ ऐसी कुछ न होकर ‘बभूव’-‘या’ यह अस्तित्वमात्राचक (क्रिया) ही है । ऐसी स्थिति में यहाँ भी ‘वचनादि’ को साधारणधर्म मानकर राजा पर ‘शुरु’ आदि का आरोप ही प्रतीत होता है और चमत्कार भी उसी आरोप में है, अनेक प्रकार से ज्ञान में नहीं । अर्थ यह कि यहाँ अभेद के ज्ञान में चमत्कार है अनेकत्व के ज्ञान में नहीं । अनेकत्व यहाँ केवल मालात्व का जनक है । यदि केवल इतना भी कह दिया जाता कि ‘प्रत्यपचत पृथुर्हृदयेऽस्तावतुंनो यद्यसि वाचि शुरुष्व’ ‘यद् राजा वक्षत्यथ में पृथु, यद्य में अर्जुन, वाणी में शुरु प्रतीत होता था’ तो यहाँ शानगत अनेकत्व द्वारा चमत्कार आ जाता और रूपक न होकर उल्लेख ही होता । यहाँ ज्ञाता की एकता या अनेकता का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह शब्दन कथित नहीं है । शानगत अनेकत्व से चमत्कार की प्रतीति ही उल्लेख का प्राण है । मालारूपक में आरोपकृत चमत्कार ही प्रधान होता है, अनेकत्व उसका सहायकभाव रहता है । इस कारण ग्रन्थकार द्वारा ‘ग्रहीतृगत अनेकत्व’ का अनुपादान हानिकार नहीं है । पण्डितराज और अप्यप्यदीक्षितद्वारा उसका उपादान करना ही अनावश्यक है ।

अलंकाररनाकरकार ने उल्लेख का लक्षण ‘एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेखः’—इस प्रकार किया है । ‘कल्पन’ का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—‘कल्पनं’—‘वैकल्पिकः अत्ययः’—अर्थात् विकल्प पूर्ण ज्ञान का नाम ‘कल्पन’ है । इसे उन्होंने स्वारसिक = लौकिक तथा कल्पित दोनों प्रकार का

माना है किन्तु स्वारसिक को स्वतन्त्र मान कर कल्पित = उत्पाद्य को स्वारसिक मिश्रित मान लिया है।

विमर्शिनीकार केवल मिश्रित को ही उल्लेख-जनक मानते हैं। मूल के 'ग्रहण'-शब्द का वे यही अर्थ करते हैं। सोचना यह है कि क्या वे दोनों विकल्प उल्लेख के प्रत्येक स्थल में वस्तुतः मिश्रित ही रहते हैं। उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। 'णाराभणो' उदाहरण में अलंकारसर्वत्वकार के ही समान अलंकाररत्नाकरकार को भी उल्लेख मान्य है विमर्शिनीकार को भी इस उदाहरण में कोई आपत्ति नहीं है। इसमें वृद्ध, बवान और नवेलो क्षियों द्वारा एक ही कृष्ण का जिन जिन रूपों का ज्ञान किया गया है वे सब स्वारसिक ही हैं कल्पित नहीं। कृष्ण को किसने क्या माना इसे कविने सोचा तो स्वयं ही है, अतः इसमें कल्पना तो अवश्य है किन्तु यह कल्पना तो काव्यमात्र का असाधारण आधार है। देखना यह है कि कल्पित वस्तु लौकिक है या केवल कल्पनाप्रसूत। केवल कल्पनाप्रसूत वस्तु 'गुरुर्वचसि, धृष्टुरसि' है। यहाँ अंगभूत श्लेषद्वारा राजा में वृहस्पति आदि का बोध केवल कार्यात्मक है, जिसका आधार वाणी आदि का लाभ है।

अप्यव्यदोक्षित ओर पण्डितरान जगन्नाथ दोनों ने उल्लेखालंकार के विषय में अलंकारः सर्वस्व, अलंकाररत्नाकर तथा विमर्शिनी दोनों को समस्त उपस्थापनायें अपना ली हैं। उन्होंने शास्त्रगत अनेकत्व को महत्त्व देकर उसको एकाङ्कितता का भी अनुभव किया है। इसीलिए विषय-भेदमूलक उल्लेख का लक्षण अलग करना पड़ा है—

'ग्रहीतुभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः।

एकस्यानेकधोऽल्लेखमभ्युल्लेखं प्रचक्षते ॥' चित्रमौ० पृ० २३० काशी सं० १९९५

'प्रकारान्तरेणाप्युल्लेखो दृश्यते यत्रासस्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसामानाधिकरण्यादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकावप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम् ।'

रसगं० पृ० ३६१ नि० सा० सं० ६, सं० १९४७

किन्तु अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित उल्लेख को अतिशयोक्तिरूप ही मानते हैं, उसका अलग अस्तित्व नहीं। संजीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अलंकारसर्वस्व के उल्लेख सम्बन्धी संपूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'नानाधर्मवलादेकं यदि नानैव गृह्यते।

नानारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः ॥ १ ॥

यदेकं तदि नानेति गृह्यते रूपभेदतः।

रुच्यादिवशतो लोके नानात्वं चेद्रुचिभम् ॥ २ ॥

अतद्रूपस्य तादरूप्यान्न ह्यसौ त्रान्तिरिच्यते।

न चाप्यतित्रयोक्तिः स्यादभेदे भेदरूपिणी ॥ ३ ॥

आद्ये नानेकनात्वं स्यात् ज्ञातुभेदो न भ्रान्तिमे।

विषयज्ञातुभेदाभ्यां विना नोल्लेखसंभवः ॥ ४ ॥

यपि श्लेषतो वाचो न तथाप्यस्य निहतः।

अनपेक्ष्यापि अल्लेखं तत्रैव स्यात्तुमर्हसि ॥ ५ ॥

धर्मगत अनेकता के कारण एक ही वस्तु जो अनेक प्रकार से भासित होती है वही उल्लेख नामक अलंकार है। यद्यपि एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं तथापि रूपगत भेद को लेकर वे एक ही वस्तु में संभव हैं। रूपभेद होना ही रूचि आदि के कारण। यही अनेकत्व यदि लोक में होता है तो अकृत्रिम अनेकत्व कहलाता है।

इसमें भिन्न वस्तु को भिन्न वस्तु के साथ तादात्म्यप्रतीति रहने मात्र से इसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता और न अभेद में भेद प्रतीति को शलक में अतिशयोक्ति ही। क्योंकि प्रथम (भ्रान्ति) में चमत्कार अनेकधात्व पर निर्भर नहीं रहता और द्वितीय में हातुगत अनेकता पर-जब कि उल्लेख में चमत्कार विषय या इयत्ता दोनों में से किसी एक के अनेकत्व के विना सम्भव नहीं होता।

यद्यपि यह अलङ्कार श्लेष से बाधित ही ज्ञाना है। तथापि इसका अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि विना श्लेष के भी यह अलङ्कार तत् तत् स्थलों में अनुभवगोचर होता है।

सूचना— इस अलङ्कार के मूल और टीका दोनों को ही अनेक स्थलों में हमने ठीक किया है। मूल में 'विच्छिन्नरूपत्वात्' सर्वथा—पक्षि निर्णयसागरीय संस्करण के ही समान मोतीलाल बनारसीदास संस्करण में भी 'विच्छिन्नरूपत्वामर्षथा' इसी प्रकार छपा रह गई है।

वही प्रकार उक्त दोनों संस्करणों में 'गुरुर्वचसि' नहीं है। डॉ० रा० च० द्विवेदी ने इस कमी पर ध्यान दिया है और 'पृथुरसि' के स्थान पर इसी पाठ को स्वीकार किया है तथापि छपा 'पृथुरसि' ही है 'गुरुर्वचसि' नहीं। हमने इन दोनों को स्वीकार कर लिया है कारण कि रत्नाकरकार ने और उनके अनुसरण पर अप्पय्यदीक्षित ने भी इन दोनों ही को अपनाया है। केवल दो ही अपेक्षा तीन का उल्लेख अधिक चमत्कारक भी होता है।

[सर्वस्व]

[छ० २१] विषयस्यापह्ववेऽपहुतिः ।

घस्त्यन्तरप्रतीतिरित्येष । प्रकान्तापह्वयवैधर्म्येणेदमुच्यते । आरोपप्रस्ता-
घादारोपविषयापहुतावारोप्यमाणप्रतीतावपहुत्याखयोऽलंकारः । तस्य घ
अयी बन्धच्छाया, अपह्वयपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्वयः । छलादि-
शब्दैरसःस्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्वयनिर्देशः । पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः । तृतीय-
भेदे त्वेकवाक्यत्वम् । आद्यो यथा—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुण्ठते

तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।

अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिधिरहाक्रान्ततरुणी-

कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥'

अत्रैन्दवस्य शशस्यापह्ववे उपक्षिते शशकप्रतिबस्तुकिणवत् इन्दोरातोपो
नान्वयघटनां पुप्यतीति न निरवद्यम् । तत्तु यथा -

। 'पूर्णेन्दोः परिपोषकान्तघपुपः स्फारप्रमामास्वरं

नेदं मण्डलमभ्युदेति गगनाभोगे जिगीषोर्जगत् ।

मारस्योच्छ्रितमातपत्रमधुना पाण्डुप्रदोपधिया

मानोन्नद्धजनामिमानदलनोद्योगैरुद्देवाकिनः ॥'

द्वितीयो यथा—

'विलसद्मरनारीनेत्रनीलाभ्रपण्डा-

न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि ।

न तु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्याश्रियं वः ॥'

तृतीयो यथा—

'उद्भ्रान्तोज्झितगेहगूर्जरसधूकम्पाकुलोच्चैःकुच-
प्रेङ्खोलामलहारवल्लिविगलन्मुक्ताफलच्छन्नाना ।
सार्धं त्वद्रिपुभिस्त्वदीययशसां शून्ये मरौ धावतां
भ्रष्टं राजसृगाङ्क ! कुन्दमुकुलस्थूलैः श्रमाम्भःकणैः ॥'

अत्र शून्य इत्यस्य स्थाने मन्येशब्दप्रयोगे सापह्नवोत्प्रेक्षा इत्यपि स्था-
पयिष्यते, 'अहं त्विन्दुं मन्ये' इति तु वाक्यभेदे मन्येशब्दप्रयोगेनोत्प्रेक्षेति च
चक्षयते । एतस्मिन्नपि भेदोऽपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यप्रयोगव्यतिरिक्तये भेदद्वयं
सदपि न पूर्ववच्चिन्नतावहमिति न भेदत्वेन गणितम् । तत्रापह्नवपूर्वके आरोपे
निरन्तरमुदाहृतम् । आरोपपूर्वके त्वपह्नवे यथा—

'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधधला विश्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाजनपरिमलं लारुच्छनस्य च्छलेन ॥'

क्वचित्पुनरसत्यत्वं वस्त्वन्तररूपताभिवायि-वपुः—शब्दादिनिबन्धनं यथा—

'अमुष्मिह्लावण्यामृतसरसि नूनं सृगहशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येर्यं वरिणमति रोमावलिबपुः ॥' इति ।

[सूत्र २१] विषय का अपह्नव हो तो [अलंकार] अपहृति [कहलाता है] ।

[वृत्ति] [सूत्र में—] 'मिन्न वस्तु की प्रतीति'—इतना [आन्तिमान् के लक्षण से ही] चला
आता है । प्रस्तुत का जो अपह्नव, तद्रूपी वैषम्य के कारण यह [अपहृतिलक्षण उल्लेख आन्ति-
मान् आदि से पृथक्] बतलाया जा रहा है । प्रकरण आरोप का है, अतः 'विषय' का अर्थ है आरोप
का विषय । उसका अपह्नव [तिरोवान] बतलाया जाय और आरोप्यमाण अर्थ का ध्यान कराया
जाय तो अलंकार का नाम अपहृति होता है । उस [अपहृति] का वाक्य विन्यास तीन प्रकार
से होता है (१) जिसमें अपह्नव पूर्वक आरोप होता है, (२) जिसमें आरोपपूर्वक अपह्नव होता है
और (३) जिसमें असत्यत्वप्रतिपादक 'छल'—आदि शब्दों में अपह्नव का निर्देश रहता है ।
प्रथम दो भेदों में [से प्रत्येक में] वाक्य बदल जाते हैं [एक वाक्य नहीं रहता] किन्तु तृतीय
भेद में वाक्य एक ही रहता है । प्रथम का उदाहरण यथा—

'यद् जो चन्द्रमा के मध्य मेघसण्ड की लीला विखेर रहा है इसे लोग खरगोश कहते हैं परन्तु
मुझे बैसा नहीं लगता । मैं तो चन्द्रमा को आफकी शङ्खुखियों के कटाक्ष को उल्का से दगा अत-
एव पाव की कालिखे से युक्त मानता हूँ ।'

किन्तु यह उदाहरण सर्वथा निर्दोष नहीं है, क्योंकि इसमें अपह्व भो हो रहा है चन्द्र के खरगोष्ठ का और आशेष किया जा रहा है खरगोष्ठ के समान कर्क से युक्त चन्द्रमा का [जब कि किना जाना चाहिए था केवल कर्क का ही] अतः इस वाक्य में अर्थसंगति बैठती नहीं है। निर्दोष उदाहरण यह है—

'आकाश मण्डल में पर्याप्त मात्रा से विखरती धमा से चमचमाता यह परिपोष से कान्त शरीर के पूर्ण चन्द्र का विन्व उदित नहीं हो रहा, अनितु मान गर्वित व्यक्तियों का गर्व चूर्ण करने का उद्यम हो जिसको प्रधान लीला है ऐसे सपूर्ण विश्व को जोनने के श्च्युक्त कामदेव का प्रत्योपलक्ष्नी (सध्याशा) से घोटा पडा आनपत्र [राजबिह्व = श्वेतछत्र] फेलाशा जा रहा है ।'

द्वितीय का उदाहरण यथा—

'ओ सविकास अप्मराओं के नेत्ररूपी नोळकमलों को अपने स्रम से नीचा कर सदैव उन्हीं पर बैठता है, न कि सुन्दर पिच्छ वाले मयूर पर वह कुमार [कार्तिकेय] आपको ब्रह्मचर्यश्री प्रदान करे ।'

तृतीय का उदाहरण—

'हे रात्रेन्द्र ! पर छोडकर भागे गुजरदेशाधिपति की बरबारी हुईं बधुओं के कौपते हुए तथा तदन नहन उन्नत पयोधरों पर श्रुती विमल हारलताओं से टपकने मोतियों के बहाने आपके शत्रुओं के साथ शून्य महस्थल में भाग रहे आपके यशों से कुन्दकली सी शूल, पर्दाने की बूँदें टपक रही थी ।'

—इसी पद्य में 'शून्य' शब्द के स्थान पर 'मन्ये'-शब्द प्रयोग हो तो 'सापह्व उपप्रेक्षा'-होती है ऐसा तय किया जावेगा, किन्तु यह भी बनलाया जावेगा कि भले ही 'मन्ये'-शब्द का प्रयोग हो किन्तु यदि 'भं तो चन्द्र को मानता हूँ—इत्यादि [पूर्वांक क्रम से] वाक्य बदल जावे तो उपप्रेक्षा नहीं होती। इस [तृतीय भेद] में भं शो भेद ही सकने है यदि अपह्व और आरोप का पूर्वपश्चाद्भाव (आगे पीछे रखने) का जो प्रयोग होता है उसे उलट दिया जाय। किन्तु इन भेदों में पहले बनलाय भेदों के समान कोई चमत्कार नहीं रहता अतः इन्हें भेदरूप से नहीं गिना। उदाहरणार्थ इन [दोनों भेदों] में से अपह्वपूर्वक आरोप का उदाहरण अभी यहीं दिया गया [उद्भ्रान्तो०] पद्य। आरोपपूर्वक अपह्व का उदाहरण यह पद्य हो सकता है—

[काली कुल्ब होने पर भी] 'बौदनीरूपी मसमी धोन सफेद अकर बनी तारकरूपी अस्थियाँ लिए हुए [तथा] अन्तर्हित होने की आदत में डूबी, यह रात्रि रूपी कापालिकी चन्द्र-विन्वरूपी मुद्राकपाल में सिद्धान्जन का औञ्जन लाञ्छन के बहाने धारण कर एक द्वीप से दूसरे द्वीप फिरा करती है ।'

कहीं कहीं अमत्यत्व 'बपु' 'शरीर' आदि शब्द के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है, जो वस्तुन्तर के वाचक होते हैं। यथा—

'शिनवी ने कामदेव के शरीर में आग लगाई तो निश्चिन् ही वह [मृगशी] के इस विशाल जपन माग [तरेट]—रूपी लावण्यामृत सरोवर में आ कूदा है। नाभिकुहर में उर्मा के अग रूपी अंगारों के प्रदाने की सूचना देने वाली यह धूमशिखा है जो रोमावली के आकार में में परिणत होती जा रही है ।'

विमर्शिनी

विषयस्येत्यादि । वस्त्वन्तरेति । भ्रान्तिमत्तांऽनुवर्तत इति शेषः । अत एव केचन मण्डूक-
प्लुतिन्यायेनानुवर्तनस्यानुचितत्वाद् भ्रान्तिमदनन्तरमपह्नुतिर्ग्रन्थकृता लक्षिता उल्लेखश्चा-
तिशयोक्त्यनन्तरमिति ग्रन्थं विपर्यासितवन्तः । न चैतत् । यत् उल्लेखस्तावदतिशयोक्त्य-
नन्तरं ग्रन्थकृता न लक्षितः । यद्वक्ष्यति—‘एवमध्यवसायाश्रयेणालंकारद्वयमुक्त्वा गम्य-
मानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते । तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्विविधे-
ऽपि पदार्थगतमलंकारद्वयं क्रमेणोच्यते’ इति । तस्माद्द्वस्वन्तरप्रतीतेर्भावाद्भ्रान्तिमद-
नन्तरमेवास्य ग्रन्थकृता लक्षणं कृतम् । अत एव चोल्लेखेऽपि तस्संभवाद्द्वस्वन्तरप्रतीते-
र्निरन्तरमेवानुवर्तनाविहैवास्या लक्षणमुचितमिति ययास्थित एष ग्रन्थः साधुः । यद्येवं
तर्ह्यल्लेखापह्नुत्योरिहैव विपर्ययेण किं न लक्षणं कृतमित्याशङ्क्याह—प्रक्रान्तेत्यादि । इद-
मित्यपह्नुतिलक्षणम् । तदेव न्याचष्टे—आरोपेत्यादिना । विषयस्यापह्नुते विषयिणोऽन्यस्य
विधिरित्यर्थः । तेन

‘न विषं विपमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विपमुच्यते ।

विपमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससंततिम् ॥’

इत्यत्र विपस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषय आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोपं रूपक-
मेव नापह्नुतिः । अपह्नुतेर्हि निषेध्यविषयभित्तितर्यैवान्यस्य विपयिणो विधानं लक्षणम् ।
अत्र तु निषेध्यस्यैव विपस्य ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वाद्बिधानम् । अथ ‘अत्र मुख्यस्य
विपस्य निषेधे आरोप्यमाणत्वाद् ब्रह्मस्वविपस्य गौणस्य विधानम्’—[अलंकाररत्नाकरे
पृ० ४२] इति चेत्, तत्र ब्रह्मस्वविपस्य गौणस्य विधानमिति भणितेः कोऽर्थः । किं ब्रह्म-
स्वविपस्य विधानं, किं वा ब्रह्मस्वपदार्थवद्ब्रह्मस्वस्य च विपस्य च, ब्रह्मस्वे वा विपस्येति ।
तत्र नाद्यः पक्षः । विपादिन्यायेन ब्रह्मस्वविषयत्वनः कस्यचिद्ब्रह्मस्वनो यद्विरसंभवात् । तत्रा-
प्यस्य ब्रह्मस्वं विषं चेति न भेदेनोक्तिः स्यात् । नापि गौणता स्वार्थ एव प्रकृतेः । अन्य-
दन्यत्र वर्तमानं गौणमित्युच्यते । न चात्र ब्रह्मस्वविपमन्यत्र कुत्रचिद्वर्तते येनास्य गौणता
स्यात् । एवं द्वितीयेऽपि पक्षे न गौणत्वं युक्तम् । नाप्यत्रोभयविधिः । ब्रह्मस्वविषये विपस्यैव
विधीयमानत्वात् । तृतीयेऽपि न गौणस्य सतो विपस्य विधानम् । ब्रह्मस्ववृत्त्यभावान्मु-
ख्यार्थवाधाद्गुणेषु वर्तनात् विहितस्य तस्य गौणत्वात् । एवं ब्रह्मस्वस्य दाढयेन विपसा-
न्यप्रतीतिप्रतिपिपादविषया तत्र निषेधपूर्वं विपमारोपितमिति दृढारोपमेव रूपकं युक्तम् । न
ब्रह्मस्वं विपमिदमिति पुनरुच्यमानेऽपह्नुतिः स्यात् । तस्माद् ‘मुख्यस्य वेत्स्यपास्य विषयस्या-
पह्नुतेऽन्यविधिरपह्नुतिरित्येव लक्षणं कार्यम् ।

‘वस्त्वन्तर’— इसकी अनुवृत्ति होती है अर्थात् भ्रान्तिमान् अलंकार से । इस प्रकार यहाँ
जो अनुवृत्ति है वह बीच के उल्लेख को छोड़कर हुई है जैसे ही जैसे मेढ़क की जूद होती है ।
कुछ टीकाकार ऐसी अनुवृत्ति को अनुचित मान टीका करते हैं कि अपह्नुति को ग्रन्थकार ने भ्रा-
न्तिमान् के बाद और उल्लेख को अतिशयोक्ति के बाद बतलाया है । और ऐसा मान उन्होंने ग्रन्थ
में उलट फेर कर दिया है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उल्लेख को ग्रन्थकार ने अतिशयोक्ति
के पश्चात् नहीं बतलाया है । यह तथ्य उनकी अतिशयोक्ति के इस उपसंहार वाक्य से स्पष्ट है—
—‘एवमध्यवसायाश्रयेण—क्रमेणोच्यते’ । इसलिये [उल्लेख में भी] वस्त्वन्तरप्रतीति के रहने
से वही मानना ठीक है कि ग्रन्थकार ने इसका लक्षणा भ्रान्तिमान् के ही बाद किया है । इस
प्रकार उल्लेख में वस्त्वन्तरप्रतीति का सद्भाव सिद्ध हो जाने पर अनुवर्तन में कोई व्यवधान नहीं

आता, अतः इसका लक्षण यहाँ ठीक है और इसलिङ्ग ग्रन्थ जिस स्थिति में वहाँ है उसी स्थिति में उसका रहा जाना ठीक है। (शंका) 'यदि ऐसा है तो यहाँ भी अपद्धति को ही उल्लेख के बाद निरूपित किया, क्यों नहीं [इसके विपरीत] उल्लेख को अपद्धति के बाद निरूपित किया गया'—इस पर [उत्तर देने हुए] कहते हैं—'प्रक्रान्त०' इत्यादि। इदम् = अर्थात् अपद्धति का लक्षण। उसा की व्याख्या करते हैं—आरोप इत्यादि द्वारा। अर्थ यह कि 'विषय का अपद्धव होने पर तद्विन्न विषयों का विधान'—[यह अपद्धति का निष्पट्ट लक्षण हुआ]। इमलिङ्ग—

'विषय को विषय नहीं कहा जाता, विषय कहा जाता है ब्राह्मणधन को। विषय केवल अकेले एक व्यक्ति को मारता है किन्तु ब्राह्मणधन व्यक्ति और उसको सन्तान को भी।'

—यहाँ वृद्धारोप रूपक ही है क्योंकि यहाँ ब्रह्मस्व-[ब्राह्मणधन] पर विषयका निषेधपूर्वक आरोप किया जा रहा है, अपद्धति नहीं [जैसा कि अलङ्काररत्नाकर ने माना है]। अपद्धति वहाँ होती है जहाँ विधान विषयों का होता है और वह भी उसी विषय पर जिमका निषेध किया गया हो। यहाँ जिस विषय का निषेध किया जा रहा है उसीका ब्राह्मणधन पर आरोप किया गया है अतः उसीका विधान है [अर्थात् विषय ही निषेध विषय है और विषय ही ब्राह्मणधन पर आरोपित होने वाला विषय]। यदि [आप = अलङ्काररत्नाकरकार शोभाकर] यह कहें कि—'यहाँ निषेध विषयशब्द के मुख्य अर्थ का किया जा रहा है और विधान उसके गौण अर्थ ब्राह्मणविषय का क्योंकि आरोप उसीका किया जा रहा है'—तो [बलदास्य कि आपके] 'विषयशब्द के गौण अर्थ ब्रह्मस्वविषय का विधान किया जा रहा है'। इस कथन का क्या अर्थ है—यहाँ 'ब्रह्मस्वविषय' इस शब्द का अर्थ (१) 'ब्रह्मस्वरूपो विषयका विधान' यह है या (-) ब्रह्मस्व का और विषय का विधान जैसा कि इन्द्र समान होने पर होता है अथवा (३) ब्रह्मस्व पर विषय का। इन तीनों में प्रथम पक्ष अमान्य है क्योंकि विषयादि (१) न्याय से ब्रह्मस्वविषयरूप किमी वस्तु की [करणता से] पृथक् उपलब्धि संभव नहीं। यदि ऐसा होता भा 'ब्रह्मस्व विषय है' इस प्रकार [ब्रह्मस्व को विषय से] भिन्न करके नहीं कहा जा सकता। यहाँ गौणता भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वशब्द और विषयशब्द यहाँ अपने प्रथम अर्थ के ही वाचक बन रहे हैं। गौण तो अन्य अर्थ में प्रयुक्त अन्यायार्थवाचक को कहते हैं।

ब्रह्मस्व-विषय शब्द किमी भी अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जिससे उसे गौण माना जावे। इस प्रकार द्वितीय पक्ष में भी गौणता संभव नहीं है। यहाँ [ब्रह्मस्व = ब्राह्मण और] दोनों का ही विधान हो ऐसा भी नहीं, क्योंकि ब्रह्मस्व को विषय बनाकर विषय का ही यहाँ विधान किया जा रहा है। तृतीय पक्ष में भी यदि विषय गौण है तो उसका विधान संभव नहीं है [ब्रह्मस्व में विषयशब्द की] कृत्ति [अग्निवा] नहीं है, अतः [वहाँ विषयशब्द का] मुख्य अर्थ वाचित हो जाता है फलतः वह [धानकत्व, मारकत्व आदि] गुणों का प्रतिपादक बन जाता है। और इसलिङ्ग इसका अर्थ विधेय होने पर भी गौण होता है। इस प्रकार ब्रह्मस्व को वृद्धतापूर्वक विषय के समान प्रतिपादित करने की इच्छा से उस [विषय] पर निषेधपूर्वक विषयका ही आरोप किया गया है, इमलिङ्ग इने वृद्धारोप रूपक ही मानना उचित है। अपद्धति तब होती जब यह कहा जाता कि 'यह ब्रह्मस्व नहीं, विषय है'। इस कारण 'मुख्यस्य वा' = अथवा मुख्य अर्थ का यह अर्थ हटाकर केवल 'विषयस्य = विषय का अपद्धव होने पर अर्थ का विधान अपद्धति'—केवल इतना ही लक्षण बनाया जाना चाहिए [न कि अलङ्काररत्नाकर के समान—'विषयस्य मुख्यस्य वा अपद्धवे अन्य-विधिरपद्धति'—इतना]।

विमर्श—(१) पण्डितराज जगन्नाथ ने इस विषय में विमर्शनाकार का अनुमोदन किया है और उनके मनको प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हुए यहाँ वृद्धारोपरूपक ही स्वीकार किया है।

(२) मूल में 'प्रक्रान्तापहृत्ववैधर्म्येण'—के स्थान पर निर्णयसागरीयसंस्करण के पाठान्तर में 'विषयानपहृत्ववै०' यह पाठान्तर दिया है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसीको मूल पाठ माना है। तदनुसार डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने भी यही स्वीकार किया है। विमर्शिनी में इसपर कोई विवेचन नहीं है। हमें 'प्रक्रान्तापहृत्व०' भी ठीक जैचता है। वैधर्म्य प्रकृत अलंकार में दिखाया जाना उचित है। अपहृति में अपहृत्व से ही रूपक, उल्लेख और भ्रान्तिमदलंकार का वैधर्म्य आता है। अन्य अलंकारों में अन्तपहृत्व रहता है, इसलिए उनमें अपहृति का अथवा अपहृति में उनका वैधर्म्य रहता है ऐसा कहना तब संभव है जब अपहृत्व का ज्ञान हो जावे; अतः जब अपहृत्व का वाक्य आवश्यक हो है तब उसी के आधार पर सीधे-सीधे वैधर्म्य का प्रतिपादन कहीं अधिक अच्छा है।

(३) 'इदमुच्यते'—का तात्पर्य टीकाकारों ने अलग-अलग बतलाया है। संजीविनीकार 'इदम्' को क्रियाविशेषण मानकर 'उच्यते' से अन्वित करते हैं और विमर्शिनीकार उसे 'लक्षण' के लिए प्रयुक्त मानते हैं। संजीविनीकार इस पंक्ति का अभिप्राय अपहृति का भ्रान्तिमान् से पार्थक्य बतलाना मानते हैं और विमर्शिनीकार उल्लेख तथा अपहृति में अपहृति का प्रतिपादन उल्लेख के पहिले न कर बाद में करने का कारण प्रतिपादन करना। वस्तुतः संजीविनीकार का ही पक्ष अधिक सारपूर्ण है। उल्लेख और अपहृति के पौर्वापर्यमात्र की अपेक्षा अन्य अलंकारों से अपहृति का स्वतन्त्र अस्तित्व बतलाना अधिक महत्त्व रखता है।

(४) अलंकाररत्नाकरकार ने अपहृति का विवेचन इस प्रकार किया है—

[सू०] 'विषयस्य मुख्यस्य वाऽपहृत्वे अन्यविधिरपहृतिः ।'

[वृ०] 'आरोपविषयस्य निषेधे विषयिणो विधानमेका, मुख्यस्य चन्द्रादेरन्यस्य मुखचन्द्रादेर्गौणस्य विधिरपरापहृतिः ।

—[सू०] विषयका अथवा मुख्य का अपहृत्व हो और अन्य का विधान हो वहाँ अपहृति होती है। अर्थात्

[वृ०]—'आरोप विषय का निषेध हो और विषयों का विधान'—यह एक प्रकार की अपहृति होती है। इसके अतिरिक्त 'मुख्य [अभिवेद्यार्थ] चन्द्र आदि से भिन्न गौण मुख—चन्द्र आदि का विधान' दूसरी अपहृति। इनमें से प्रथम का उदाहरण डॉ० कान्धप्रकाश आदि में प्रसिद्ध 'अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणत०' इत्यादि पद्य माना है किन्तु द्वितीय का 'न वपं विषम्'० इत्यादि पद्य ही। इसी पर उनकी पंक्ति है—'अत्र मुख्यस्य विषयस्य निषेधे प्रकृत-विषयस्य विधानम्' जिसे विमर्शिनीकार ने उद्धृत किया है। यहाँ परिसंख्या सी प्रतीत होती है। वस्तुतः इस पद्य में इद्वारोप, अपहृत्व, परिसंख्या तथा न्यतिरेक का सन्धिपाठ है।

(५) नि० सा० संस्करण में—अपहृतेर्हि निषेध० के स्थान पर 'नापहृतेर्हि निषेध०' इति इस प्रकार उच्यते पाठ छपा है। इसी प्रकार 'मुख्यस्य वेत्व०' के स्थान पर 'मुख्यस्यवेत्व०'।

विमर्शिनी

तस्येत्यपहृत्याख्यस्यालंकारस्य । वान्वमेद इति एकवाक्यमिति चानेन यथासंभवं मेदद्रयस्य स्वरूपनिर्देशः कृतः । न निरवयवमिति । यद्योक्तक्रमनिर्वाहाभावात् । अत एवोदाहरणान्तरमाह—पूर्णेन्दोरित्यादि । मन्येशब्दस्य प्रयोग इति संभावनाद्योतकत्वात् । नोत्प्रेक्षेति । साध्यवसायाद्युत्प्रेक्षासामग्र्यभावात् । वक्ष्यत इति । उत्प्रेक्षायाम् । तथा चास्या इवादिशब्दवन्मन्वेक्षब्दोऽपि प्रतिपादकः । किन्तुत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्येशब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयतीति । अतश्चात्र 'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्—इत्यादावपहृत्युदाहरणत्वमभिदधतः समानेऽपि न्याये 'नो मां प्रति तथा'

हृद्यनेन शशकपक्षस्य निराकृतत्वादन्वयस्यान्यरूपतया संभावनाया अभावान् मन्ये-
हृद्यनेन क्रिणपक्षस्यैव निश्चितत्वादतिशयोक्तित्वमेवेति मन्यन्ते (अलङ्काररत्नाकर-
कारादयः) । तेषां पूर्वापरविचारकुशलानां किमभिदध्मः । एवमन्यैरान्यत्र चोदा-
हरणादौ बहुप्रकार स्तलितं तत् पुनर्ग्रन्थविस्तरभयाद्, अस्मद्दर्शनदत्तदूपणोद्धरणस्यैव
प्रतिज्ञातवान्, अस्माभिः प्रातिपद्येन न दूषितम् ।

तस्य = उसका = अपहृति-अल्कार का वाक्यभेद तथा एकवाक्य ऐसा कहकर तीनों भेदों
का स्वरूप यथासंभव बतलाया गया । 'न निरवधम्' = 'निर्दोष नहीं है' इसलिए कि यथोक्त
क्रम का निर्वाह नहीं हुआ [निषेधविषय पर आरोपविषयमात्र का आरोप न कर उससे युक्त
पदार्थ का आरोप करने से ऐसा हुआ] इसीलिए एक अन्य उदाहरण दिया — 'पूर्णेन्द्रो' ।
'मन्ये'-शब्दस्य प्रयोगे' = 'म-ये-शब्द का प्रयोग होने पर' क्योंकि ['मन्ये'-शब्द] समावना
का शोचक होता है । नोत्प्रेक्षा = उत्प्रेक्षा नहीं होती क्योंकि 'साप्यवसायत्व' आदि उत्प्रेक्षा-
सामग्री का अभाव रहता है । 'वक्ष्यते' = 'कहा जा रहा' अर्थात् उत्प्रेक्षा के प्रकरण में । अर्थ
यह हुआ कि इव आदि शब्दों के समान उस [अपहृति] का वाक्य 'मन्ये'-शब्द भी—होता
है । किन्तु यदि उत्प्रेक्षासामग्री का अभाव हो तो 'मन्ये'-शब्द का ही प्रतिपादक होता है ।
इसलिए 'अवास प्रागल्भ्यन्'-इत्यादि पदों को जो [अलङ्काररत्नाकरकार आदि] समाश्रयक
अपहृति का उदाहरण बतलाने हैं वे ही 'यदेतच्छन्द्रा'० पद्य में स्थिति समान रहने पर भी अति-
शयोक्ति मानने हैं और कहते हैं कि यहाँ 'नो मा प्रति तथा' = 'मुझे ऐसा नहीं लगता'—यह कहकर
'शशक' का निराकरण कर दिया गया है और अन्यपदार्थ का अन्यपदार्थ के रूप से समावना न
होने के कारण 'मन्ये = मानता हूँ'—ऐसा कहकर क्रिण-पक्ष को ही निश्चित किया गया है । [६०
अलङ्कारसर्वस्व] उत्प्रेक्षा प्रकरण का अन्त वे समीक्षक सचमुच पूर्वापर विचार में बहुत कुशल
हैं (न्यून्योक्ति) इनमें हम क्या करें ?

इसी प्रकार अन्य समीक्षकोंने भी यहाँ और अन्य अलङ्कारों में भी अनेक प्रकार की गलतिया
की हैं किन्तु हम एक एक करके उन सब में दोष नहीं दिखला रहे हैं क्योंकि हमें ग्रन्थ विस्तार
का भय है और हमने केवल उन्हीं पदों पर विचार करने की प्रतिज्ञा की है जो इनारे दर्शन
[अलङ्कारसर्वस्व] में आए हैं ।

विमर्श.—अलङ्काररत्नाकरकार ने 'यदेतच्छन्द्रान्तर्गत'० इस पद्य में अतिशयोक्ति मानने हुए जो
विवेचन दिया है उसको विमर्शनीकार ने—'नो मां प्रति तथा इत्यनेन—निश्चितत्वादतिशयो-
क्तित्वमेव'—इन शब्दों में जैसा का तैसा उद्धार दिया है । निर्णयमागरीय सस्करण में 'अतिशयो-
क्तित्वमेवेति'—के स्थान पर 'अतिशयोक्तिरेव' मूल में छपा गया है और पाठान्तर में 'अतिश-
योक्तिन्' इस द्वितीयान्त पद का निर्देश कर दिया गया है । वस्तुतः वह 'अतिशयोक्तिरम्' का
ही अग्रसूत्र लेता है, क्योंकि द्वितीयान्त पद मानने पर या तो आगे प्रयुक्त 'इति' इदानी पदती
है क्योंकि उसके योग में कर्म में प्रथमा विमर्श ही होती है या 'अतिशयोक्तिन्' को द्वितीया को
प्रथमा बनाना पड़ता है, और निर्णयमागरीय सस्करण के सहायक उसे वैसा बना दिया हों—
अलङ्काररत्नाकर जिसके सामने न हो वह प्रत्येक विद्वान् ऐसा ही कर सकता है ।

'अवास प्रागल्भ्य परि'—अरुच- शैलतनये कलङ्को नैवायं विलसति शशाकस्य वपुषि ।

अमुष्येयं मन्ये निगलदशृतस्यन्दशिशिरे रतिश्रान्ता शेते रञ्जिरमणी गाढमुरसि ॥'

—हे पार्वति ! परिपक्व कान्तिवाले [इस पूर्ण] चन्द्र के शरीर में यह कलक नहीं है ।
मुझे लगता है कि इसके अमृतसावी अतएव शिशिर वक्ष पर इसकी रतिश्रान्त प्रिया राशि गहरी

नांद में सोई हुई है'।—इस स्थल में रत्नाकरकार ने अपहृति स्वीकार की है। विमर्शिनीकार का कथन है कि इस स्थल में भी अभिव्यक्ति वही है जो 'यदेतच्चन्द्रा०' स्थल में है। अर्थात् दोनों स्थलों में कलंक का निषेध किया गया है और उस पर तद्विद्व [रात्रि तथा व्रणकिण] को 'मन्ये'—शब्द के प्रयोग के साथ प्रतिपादित किया गया है। रत्नाकरकार के अनुसार 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत' पद्य में संभावना का सर्वथा निराकरण कर दिया गया है 'ओ मां प्रति तथा'—कहकर। [उनके अनुसार अपहृति में भी संभावना की पीठिका आवश्यक होती है] उनके इस कथन का अर्थ केवल इतना ही लगाया जा सकता है कि जहाँ संभावना का आत्यन्तिक निरास हो वहाँ उत्प्रेक्षा तो होती ही नहीं है अपहृति भी नहीं होती। 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत०' पद्य में विमर्शिनीकार के अनुसार यदि 'अवाप्तः प्रागस्म्यन्' जैसी ही स्थिति हो तो वहाँ भी अपहृति ही माननी होगी। वस्तुतः संभावना की आवश्यकता अपहृति में रहती नहीं है। यहाँ निषेध द्वारा संभावना के बाध से ही बचकार होता है। निषेध भी संभावना का नहीं अपितु संभावना के विषय [मुख आदि] रहता है।

विमर्शिनी

एतस्मिन्निति छलादिशब्दप्रतिपाद्ये। संभवमात्रं पुनर्दर्शयितुमेतदुदाहृतम्। वस्त्वन्तर-
रूपताभिवाचीति। वपुःशब्दस्य शरीरार्थाभिधायिवात्। अत्र पुनरुपमानस्योपमेयरूपता-
परिगतौ परिणाम इति परिणामालंकारत्वं यदन्यैरुक्तं तदयुक्तम्। तस्ये हि धूमशिक्षान्य-
ग्भावे तत्परिणतिरूपरोमावलीप्राधान्यं स्यात्। इह पुनः शर्वप्लुष्टमदननिपतनानु-
मापकत्वेन रोमावलयपह्लवे धूमशिक्षाया एवं प्राधान्यं विवक्षितमिति न परिणामः नापि
रूपकम्। न्यायार्थपर्यवसायिवपुःशब्दवलादारोपविषयापह्लुतावारोप्यमाणस्य प्रतीतेः।
आरोपविषयानपह्लवे हि रूपकमिति पूर्वमेवोक्तम्। अथात्रापि भिन्नयोः सामानाधिकरण्या-
योगादेकतरस्य निषेधप्राप्तावारोप्यमाणस्य च निषेधानुपपत्तेरारोपविषयस्यैव पर्यवसाने
निषेधः प्रतीयत इति चेत्, नैतत्। अत्र हि मुक्तादौ चन्द्रादेर्बुल्यभावाद् बाधितः संश्रन्त्रार्थः
स्वात्मसहचारिणो गुणाह्वयति न तु मुक्तादेर्विषयस्य निषेधः प्रतीयते। मुखशब्दादेः
स्वार्थ एव प्रवृत्तेः। पर्यवसाने ह्यत्र मुक्तादि चन्द्रादिगुणविशिष्टं प्रतीयते। न तु मुक्तादे-
र्बाधः। न मुखमित्येवमादेः प्रत्यक्षमर्शाभावात्। नापि निदर्शना। संबन्धविघटनाद्यभावात्।

एतस्मिन् = इसमें अर्थात् छलादिशब्द से प्रतिपाद्य [अपहृत् निर्वेश] में। यह जो
[यदेतच्चन्द्र०] उदाहरण दिया है वह केवल संभवमात्र दिखलाने के लिए। 'वस्त्वन्तररूप-
ताभिधायी = 'अन्यवस्तुत्वल्प होने का अभिधायक' = इसलिये कि वपुःशब्द शरीरार्थ का
अभिधायक है। [अपहृति प्रसंग में अलंकाररत्नाकरकार ने 'अनुभिर्भलावण्यासृत०' पद्य में
अपहृत् नहीं माना है। उन्होंने यहाँ परिणाम रूपक या निदर्शना स्वीकार करने का संकेत
दिया है। इस पर विमर्शिनीकार आपत्ति देते हुए लिखते हैं—] इस [अनुभिर्भलावण्यासृत०
पद्य] में उपमान के उपमेयरूप से परिणत होने के कारण अन्य कुछ सज्जनों ने परिणाम माना
है। वह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि यदि वैसा होता [परिणाम होता] तो धूमशिक्षा अप्रधान
हो जाती और तत्परिणति रूप रोमावली ही प्रधान रहती। किन्तु यहाँ रोमावली शिवदम्ब
कामदेव के दृवने का अनुमापक बतलाई गई है। यह तर्मा संभव है जब रोमावली रूप से उसका
अपहृत् हो और उसमें धूमशिक्षात्व स्वीकार किया जाय। इस प्रकार यहाँ धूमशिक्षा ही प्रधान
है अतः यहाँ परिणाम नहीं है।

यहाँ रूपक भी नहीं है। यहाँ वपु शब्द व्याज- (बहाना) रूपी अर्थ का प्रतिपादन है। उसके आधार पर आरोप विषय [रोमावली] का अपह्व [निषेध] हो जाता है और उसपर आरोप्यमाण [भ्रमशिला] की प्रतीति होती है। जबकि रूपक आरोपविषय का अपह्व न होने पर ही होता है जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है। [अलङ्काररत्नाकरकार ने रूपक के विषय में जो यह कहा है कि]—‘यहाँ [रूपक में] भी भिन्न भिन्न दो वस्तुओं का ऐक्य प्रतिपादित तो रहता है परन्तु वास्तविकरूप से वह बनता नहीं है अतः यहाँ भी किसी एक का निषेध आवश्यक होता है और क्योंकि आरोप्यमाण पदार्थ [विषय होता है अतः उभय] का निषेध संभव नहीं होगा फलतः वह आरोपविषय विषयक ही अन्त में ठहरता है—[द्रष्टव्य अ र अपह्वति प्रकरण पृ० ४१]—यह भी ऐसा नहीं है। यहाँ [‘मुल चन्द्र है’—इत्यादि रूपक में] चन्द्र आदि शब्दों को वृत्ति [अभिधा] मुख आदि पदार्थों में नहीं रहनी अतः ‘चन्द्र’ आदि अर्थ बाधित हो जाते हैं। बाधित होकर वे अपने साथ के अन्य गुणों को लक्षित [लक्षण द्वारा प्रतिपादित] करते हैं। वहाँ मुख आदि विषयों का निषेध प्रतीत नहीं होता क्योंकि वहाँ के [विषय वाचक] मुख आदि शब्द अपने मुख्य अर्थों का ही बोध कराते हैं। अन्त में वाक्यार्थ बोध के समय प्रतीति होती है कि—‘मुख आदि चन्द्रादि के गुणों से युक्त हैं’। इसमें मुख आदि [भी प्रतीत होने रहते हैं, उन] का वाच प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसी कोर प्रतीति उस समय नहीं होती कि—‘यह मुख नहीं है’।

यहाँ निदर्शना भी नहीं है क्योंकि सन्ध्य के समाव आदि यहाँ नहीं हैं।

विमर्श—इस पूरे प्रश्न का आधार अलङ्काररत्नाकर का निम्नलिखित विवेचन है -

‘अस्या सर्गविधौ०’ इत्यादी०० पुराणस्य प्रजापतेर००० निषेधपर्यवसानादार्थ एवपह्व । न तु ‘अमुष्मिन् लावण्यामृतसरांसि०’ इत्यादी वपुःशब्दमुखेन निषेधप्रगीतः। आर्थोऽपह्व इति वाच्यम्, वपुरादिशब्दतुल्यार्थ-मयादि (शब्द) प्रयोगे ‘उस्मि सौमित्रिमैत्रोमयमुपहतवानातर नाविकाय—’ इत्यादावपह्वप्राप्ती परिणामादावप्यपहुतिप्रसङ्गात् । तेनात्र रूपकं निदर्शना वा । रूपकं च मित-रूपतया प्रतिबन्धो सामानाधिकरण्यायोगे फलतरस्य निषेधप्राप्ती अर्थात् आरोपविषयस्य पार्यवसानिकः प्रतीयमानो निषेधोऽप्युपगन्तव्यः । आरोप्यमाणस्य निषेधे आरोपविषयप्रसङ्गात् । तत्र प्रतीयमाननिषेधनिमित्त एवमादावपह्वप्रमः । न च निषेधस्य शब्दस्वार्थत्वकृत् दवापह्वतिरूपक-बोर्भेदः, अपि तस्या निषेधगर्भत्वादावप्यवसायतुल्यत्वम् । [अल० रत्ना० अपह्वति पृ० ४१]

अर्थात्—‘अस्या सर्गविधौ०’ इत्यादि स्थलों में पुराण प्रजापति निषेध में पर्यवसित होता है। अतः वहाँ अपह्व अर्थ है। किन्तु ‘अमुष्मिन् ला०’ में अपह्व अर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ ‘वपुःशब्द’ के द्वारा निषेध का छान करा दिया जाना है [अतः यहाँ निषेध शब्द हो जाता है]। यदि यहाँ भी अर्थ अपह्व मान लिया गया तो ‘तस्मै सौमित्रिमैत्रोमयमुपहतवानातर नाविकाय’ = ‘उस नाविक को लक्ष्मणमैत्रीरूप उतराई दो—’ इत्यादि स्थलों में भी अपह्व माना जाने लगेगा क्योंकि यहाँ भी वपुःशब्द का समानार्थक ‘मय’—शब्द प्रयुक्त है और तब परिणामालंकार के सभी स्थलों में अनहुति अलंकार मानने की बात उठ खड़ी होगी। इसलिये यहाँ [अमुष्मिन्० पव में] रूपक या निदर्शना माननी चाहिए। रूपक जो है वह भी आरोप विषय का पार्यवसानिक निषेध ही है क्योंकि उसमें जो भिन्न भिन्न दो पदार्थों का सामानाधिकरण्य—[अन्वेषात्मक] निर्देश रहता है वह वस्तुतः बनता नहीं। फलतः [आरोपविषय और आरोप्यमाण दोनों में से] किसी एक का निषेध होता ही है। यह निषेध यदि आरोप्यमाण का हो तो आरोप ही व्यर्थ हो जाए। इस प्रकार प्रतीयमान निषेध को लेकर ही यहाँ [अमुष्मिन् ला० में] अपह्व का अर्थ हो

गया है। ऐसा नहीं है कि अपहृति और रूपक में निषेध के शब्दत्व और आर्भत्वमात्र का अन्तर हो। यहाँ अपहृति में निषेध गर्भित रहने से आरोप अध्येवसायतुल्य हो जाता है।

विमर्शिनीकार ने रूपक में आरोप विषय में निषेध प्रतीति स्वीकार नहीं की। उन्होंने वहाँ आरोपविषय को सर्वथा अविच्छिन्न स्वीकार किया है। साथ ही आरोप्यमाण को ही बदलता हुआ बतलाया। उन्होंने आरोप्यमाण चन्द्र आदि के शब्दों को लक्षणिक माना और उन्हें समान-गुणपर्यवसायी बतलाया। यहाँ एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व पर ध्यान देना आवश्यक है। विमर्शिनीकार ने लिखा है कि 'चन्द्र आदि आरोप्यमाण पदार्थ वाचित होकर अपने साथ रहने वाले गुणों को लक्षित करते हैं।' यहाँ 'लक्षित'—शब्द का अर्थ निश्चित ही लक्षणाद्वारा प्रतिपादित करना अभिप्रेत है। फलतः यह अर्थ निकलता है कि लक्षणा का आरम्भ शब्द से नहीं अर्थ से होता है। यह तथ्य मम्मटाचार्य को भी मान्य है। उन्होंने भी 'लक्षणाारोपिता क्रिया'—कहकर लक्षणा को अर्थनिष्ठ ही स्वीकार किया है। कुमारिलमठ, मुकुलभट्ट तथा परवर्ती वैयाकरणों का भी वही सिद्धान्त है। किन्तु मुखवार्ध के साथ रहने वाले गुणों में लक्षणा मानना विचारणीय है। असाधारण धर्म मुखत्व और चन्द्रत्व को छोड़ने पर—

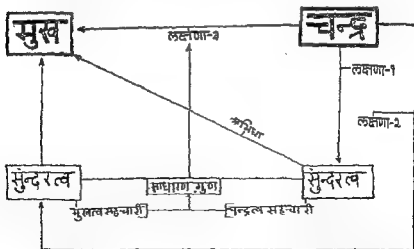
मुख	चन्द्र
सुन्दरत्व	सुन्दरत्व

--इस प्रकार आरोपविषय और आरोप्यमाण के पक्षों में जो दो दो शब्द हैं उनमें से आरोप्यमाण चन्द्र को लक्षण का विषय नहीं माना जा सकता, वरसे तो लक्षणा का आरम्भ होता है। शेष तीन में से एक एक में लक्षणा मानने पर तीन ही एक प्रस्तुत होते हैं। मम्मट के अनुसार इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१ = चन्द्र शब्द को लक्षणा अपने चन्द्रत्व के साथ रहने वाले सुन्दरत्व में अथवा—

२ = मुख के मुखत्व के साथ रहने वाले सुन्दरत्व में, अथवा—

३ = सुन्दरत्वादि साधारण धर्मों के आधार पर स्वयं मुख में। यह तथ्य निम्न चित्र से स्पष्ट है—



इनमें से प्रथम और द्वितीय को अमान्य और तृतीय को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया जाता है।

निदर्शना का अर्थ यहाँ पदार्थनिदर्शना हो सकता है। उसीमें दूसरे का धर्म दूसरे में स्थित बतलाया जाता है। उदाहरणार्थ—'रैवतक गिरि गजराज की शोभा धारण करता है'—यह

स्थल । इसमें गजराज की शोभा गजराज में ही रह सकती है और पर्वत की केवल पर्वत में । फलतः उक्त कथन का अर्थ निकलता है—'गिरि गज की शोभा जैसी शोभा को धारण करना है ।' यहाँ पर्वतशोभा का गिरि के साथ संबन्ध समझ न होने पर सादृश्ययोजन्य द्वारा उसे समझ बनाया जाता है । इसीलिए निदर्शना का लक्षण है—'अमवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः' । प्रस्तुत 'रोमावलिबपु धूमशिक्षा' में यह समझ नहीं कि धूमशिक्षा रोमावली का शरीर अपना ले । वह तत्सदृश शरीर ही अपना सकती है । अतः पदार्थनिदर्शना समझ है । विमर्शिनोकार यहाँ निदर्शना का अर्थोपमात्र स्वीकार करते हैं । वे सादृश्य तो मान लेते हैं किन्तु शेष अर्थोप 'संबन्धीभाव' स्वीकार नहीं करते । उन्हें 'अमुग्निहावण्यामृत०' में ऐसा अनुभव नहीं होता कि यहाँ एक के शरीर का दूसरे में अस्तित्व बतलाया जा रहा है । उनका पक्ष कुछ दूर तक ठीक भी है । 'किञ्च अलंकार में किञ्च किञ्च तत्त्वों की प्रतीति समझ है'—यह न सोचकर अलंकार निर्णय के लिए सोचना यह चाहिए कि उन तत्त्वों में चमत्कार का जनक नरय कौन-सा है । उसी के आधार पर अलंकार को नाम दिया जाना चाहिए । हमारी दृष्टि से 'अमुग्निहावण्यामृत०' पक्ष में अलङ्कार ही चमत्कारकारी है । अतः यहाँ अपदुति ही मानी जानी चाहिए ।

विमर्शिणी

आदिशब्दार्थच तृतीययापि क्वचिदस्यैव प्रतिपाद्यते । यथा—

'मद्वाङ्मोर्णवहारमुभयतु लता कण्ठस्थले तावके

मा कार्यरतिसाहसं प्रियतमे दासस्तव प्राणिति ।

मीता वृद्धिमयी स्वयैव कुसुमैर्याप्यायभाणा नुमा

गृह्णन्ति क्षुरिकामिवालिपटलव्यात्रेण पाशच्छिदे ॥'

अत्र कुसुमैरिति तृतीययापहवनिवन्धनम् । आरोपगर्भत्वाच्चेय सादृश्याद्वा भवति संबन्धान्तराद्वा । सादृश्येऽप्यस्याः साधारणधर्मस्य त्रयी गतिः । तत्रानुगामिता यथा—

'तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति भुवते ।

तद्वन्तमेव निर्दयविधुतुददन्तपदमणविचरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः ॥'

अत्र तमालमलीमसस्वमनुगामित्वेनोपात्तम् । शुद्धसामान्यरूपार्थं यथा—

'अथ सुरेन्द्रोपवनाद्दुरित्रीं स पारिजातो हरिणोपनीतः ।

न प्रापितोऽयं सुमनःप्रवर्हः करमीरदेशोद्भवतामिमानम् ॥'

अथोपनयनप्रापणयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विषयप्रतिविम्बभावो यथा—

'न ज्योत्स्नाभरण नमो न मिलितच्छायापयो बाम्बुरो

नो ताराप्रकरो न चेदममृतज्योतिष्मतो मण्डलम् ।

श्रीरघोभमयोऽप्यपांनिधिरसौ नेत्रादिना मन्दरः

पृष्ठोऽयं मणिपूग एष कलशश्चायं मुचानिर्हरः ॥'

अत्र ज्योत्स्नाभरणत्वस्य श्रीरघोभमयस्त्वं प्रतिविम्बत्वेन निर्दिष्टम् । संबन्धान्तराद्यथा—

'हेलोदञ्जन्मलयपवनाहम्बरेणाजुलामु

प्रेङ्गाकेलि कमपि भजतां चतशाखाकृतामु ।

वाचाळस्वं ननु यदभ्रत् कानने कोकिलानां

मौनित्वं तत्पथिकहरिणीलोचनानां चवत्सव ॥'

अत्र कोकिलवाचाळस्वस्य कारणस्य निषेधे पथिकलोमौनित्वस्य कार्यस्य विधिः ।

एवमारोपगर्भस्य सप्रपञ्चं दर्शिता । अप्यवसायगर्भो पुनर्दूर्यते यथा—

‘न उचमीसौदर्याच्च च सुरशरणीकृतसुरा-

सुधादिज्येष्ठत्वाच्च मुकुटमणित्वाद्भवतः ।

यदेवं चालेन्दोर्दिशि विदिशि वन्द्यत्वमुदितं

स्फुटं त्वेतत्कान्तामुस्रकमलदास्यादुपनतम् ॥’

अत्र वन्द्यत्वस्य प्रमावादिहेतुकत्वे निर्गीर्य हेत्वन्तरमध्यवसितम् । यथा वा—

‘कलाभिस्तृप्त्यर्थं सुरपितृनृणां पञ्चदशभिः

सुधासूतिर्देवः प्रतिदिनमुदेतीत्यसदिदम् ।

परिभ्रान्त्येप प्रतिफलनमासाद्य भवती-

कपोलान्तर्युक्त्या स्वधरसुधासंग्रहपरः ॥’

अत्रोदयादौ सत्तद्वाश्रयभोगलक्षणं निमित्तं निर्गीर्य सत्फलभूतं निमित्तान्तरमध्य-
वसितम् ।

[‘वस्त्वन्तररूपताभिधायिवपुःशब्दादिनिबन्धनम्-’ पद में प्रयुक्त] आदि-शब्द से कहीं
तृतीया के द्वारा भी असत्यता का प्रतिपादन होता है । यथा-[उतापाश से फाँसी लगाकर
आणान्त का प्रयत्न कर रही नायिका से नायक कह रहा है—]

‘हे प्रियतमे ! कता तुम्हारे कण्ठस्थल में वह कार्य न करे ओ मेरी मुजाएँ करती हैं, अतिसाहस
न करो, यह तुम्हारा दास जीवित है । पुष्पों से आँसू बहा रहे ये शूद्र भी अमरावली के बहाने
तुम्हारी फाँस काटने हेतु छुरी सी लिए हुए हैं । इन्हें तुम्हीं ने जो बढ़ाया है ।’

यहाँ ‘कुपुमैः—पुष्पों से’ इस तृतीया विभक्ति के द्वारा अपहव- [नियेष] का उपनिबन्धन
किया गया है ।

यह अलंकार आरोगमिति अलंकार है इसलिये वा तो यह सादृश्यमूलक होता है वा सादृश्ये-
तरसम्बन्धमूलक भी । सादृश्य में भी इसमें [पूर्ववर्चित] तीनों प्रकार की स्थिति रहती है ।
तीनों में से [सादृश्य की] अनुगामिता का उदाहरण यथा—

—‘यह चन्द्रमा जरठ तमालपत्र के समान कोमल तथा कुण्वर्ण की यह जो वस्तु लिए हुए
है इसे लोग ‘फलङ्ग’ कहते हैं । वह सर्वथा मिथ्या है । यह तो निर्दय विधुनुद [राहु] के दाँत
के धाव से बने विवर में से दिखाई देता आकाश है ।’

—यहाँ तमालमल्लोभसत्व अनुगामी धर्म के रूप में उपयुक्त है । शुद्धतामान्य [वस्तुप्रति-
वस्तुभावरूप] सादृश्य का उदाहरण यथा—

‘इन्द्र के नन्दनवन से यह पारिजात श्रीकृष्ण द्वारा पृथ्वी पर नहीं लाया गया है, यह तो पुष्प
का प्रवर्द्ध है जिसे कश्मीरदेश में उत्पन्न होने के अभिमान को प्राप्त करा दिया गया है ।’

—यहाँ लाना तथा प्राप्त कराना शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव है । विन्वप्रतिविन्वभाव का
उदाहरण यथा—

‘न तो यह चाँदनी से अलंकृत आकाश है, न तो आकाशगंगा से संस्पृष्ट मेघखण्ड है, न
नक्षत्रों का पुत्र है और न चन्द्रमा का मण्डल । यह तो तरंगित दूध वाला समुद्र है, और यह
नेती बने सर्पराज ने मन्दर को लपेट रखा है, यह रत्नों का समुदाय है और यह अमृतलावी
सुधाकलश है ।’

—यहाँ ज्योत्स्नाभरणत्व = चाँदनी से विभूषित होने के लिए क्षीरक्षोममयत्व = तरंगित
दूध वाला होना प्रतिविम्बरूप से निर्दिष्ट है ।

दूसरे [सादृश्येतर] संबन्ध के आधार पर होने वाला—यथा—

‘लीलापूर्वक गतिशील मलयपवन के आढम्बर से आनुल्लित आग्रशाखावृताओं में अतिमनोश प्रेक्षावेलि [शूलाशूलना] कर रहे कोकिलों में ओ वाचालता आई वह पथिक-[पुरुषों की] वनिताओं के लोचनों में मौन का जागना था ।’

—यहा कोकिन्वाचालता कारण है और पथिकवनिताओं का मौन कार्य । इनमें से कारण का निवेद्य कर कार्य का विधान किया गया है । यह आरोपणमा अपहृति दिखलाई गई ।

अब अध्यवनायगर्मा अपहृति दिखलाते हैं -

‘प्रत्येक दिशा और प्रत्येक विदिशा में ओ यह बालेन्दु को प्रणाम किया जाता है यह इसलिए नहीं कि यह लक्ष्मीजी का सगा भाई (सोदर्य) है, न इसलिए कि देव तथा दानवों द्वारा अपनारं सुरा और सुधा आदि का बटा भाई है और न इसलिए कि यह भगवान् शंकर का मुकुटमणि है । स्पष्टरूप में यह बन्धत्व केवल इसलिए है कि यह कान्तामुत्तमल को गुलामी करता है ।’

—यहा बन्धना के वास्तविक हेतु प्रभाव [या प्रमा] आदि का निगरण [अनुक्ति] कर उस पर अन्य हेतु [तादृश दास्य] का अध्यवसाय किया गया है । दूसरा उदाहरण यथा—

‘सुधानिधि देव [चन्द्र] प्रतिदिन इसलिए उदित होते हैं कि-‘उ-हैं देवों, पितरों और मनुष्यों को तुल्य करना होना है-’ यह असत्य है । ये तो तुम्हारे अघर की सुधा बतोरने के लिए घूम रहे हैं और उसके लिए इन्होंने युक्ति सोची है तुम्हारे कपोल पर प्रतिबिम्बित होना ।’

—यहा उदय आदि में हेतु है उन-उन [मेष वृष आदि] राशियों का जो उपभोग उसे निगल कर [शब्दन न कहकर] अन्य निमित्त अध्यवसित किया गया है जो वस्तुतः पूर्वोक्त कारण का फल है ।

विमर्श—अपहृति का इतिहास =

भासह—‘अपहृतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा ।

भूतार्थापहृत्वादास्याः क्रियते चाभिना यथा ॥

नेयं विरोति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहु ।

अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥’ १।२१, २२ ॥

—उपमा यदि कुछ-कुछ छिपारं जावे ता अपहृति अलंकार मानी जाती है । इसका अपहृतिनाम इसलिए रखा जाता है कि इसमें भूतार्थ = वास्तविक अर्थ का अपहृत् = छिपाव रहता है । उदाहरण = ‘मद से मुखर वह भृङ्गाली नहीं बोल रही । यह तो काम के स्वार्थे जा रहे धनुष की ध्वनि है ।’

शामन—[सूत्र] समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपहृति ॥१११५॥

[वृत्ति] समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेनान्यस्य वाक्यार्थत्वापलापो निहवो यस्त-
त्वाध्यारोपणाय जसावपहृति । यथा—

‘न केतक्रीना विलसन्ति सूचय’ प्रवासिनो हन्त इत्यन्यथ विधि ।

तद्विलस्येन चकास्ति चञ्चला पुर. स्मरज्योतिरिद विवर्तते ॥’

वाक्यार्थयोस्तापस्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम् ॥’

—समान वस्तु से अन्य का अपलाप = अपहृति । सम = तुल्य वस्तु = वाक्यार्थ से अन्य = वाक्यार्थ का जो अपलाप = निहव = छिपाव, जिसका उद्देश्य तत्त्व का आरोप हो अपहृति कहलाता है । उदाहरण यथा—[वर्णों में] ये केमंड के पुष्प की नोक दिखाई नहीं दे रही यह तो विधाता प्रवासियों पर ईस रहा है । सामने यह चंचल बिजली नहीं चमक रही यह तो

काम को ज्योति प्रतिफलित हो रही है। यहाँ रूपक नहीं क्योंकि यहाँ दो वाक्यार्थों में अभेद बतलाया गया है [रूपक पदार्थों के अभेद में होता है]।

उद्धट = अपहृतिरग्रीष्ठा च किंचिदन्तर्गतोपमा ।

भूतार्थापह्वेनास्या निबन्धः क्रियते पुषैः ॥

— [प्रतोहारेन्दुराजं कृतं लघु विवृति—] यत्र भूतं विद्यमानम् उपमेयलक्षणम् अर्थम् अपहृत्य उपमानरूपारोपेण उपमानोपमेयभावो [ऽगम्यते सोपहृति—] तिरलङ्कारः । अत्र च००० अस्फुटेन रूपेणोपमानोपमेयभावश्चकास्ति ।

— 'जहाँ भूत = विद्यमान उपमेयस्वरूप वस्तु को छिपाकर उपमानस्वरूप का आरोप करने से उपमानोपमेयभाव प्रतिपादित हो उसे अपहृति अलङ्कार कहते हैं। इसमें.....'उपमानोपमेय-भाव अस्फुट रूप से प्रतीत होता है।'— यहाँ मूलकारिका भामह की है। वृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने भूतार्थ-शब्द का अर्थ विद्यमान अर्थ किया है यहाँ एक नवीन तथ्य है। 'भूतार्थव्यावृत्तिः सा तु न स्तुतिः परमेष्ठिनः [र. १०] कथयामि ते भूतार्थम्, इन प्रयोगों में भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ या वास्तविक अर्थ होता है। मीमांसा में जो तीन अर्थवाद माने जाते हैं उनमें से एक का नाम 'भूतार्थवाद' ही है। 'किंचिदन्तर्गतोपमा'-शब्द का अर्थ प्रतोहारेन्दुराज ने अपेक्षाकृत अच्छा बतलाया है।

उद्धट—'अतिसाम्यादुपमेयं यत्यामसदेव कथ्यते सदपि ।

उपमानमेव सदिति च विक्षेपापहृतिः सेयन् ॥ ८१७

— जिसमें अत्यन्त साम्य के कारण उपमेय का उदाहरण होने पर भी उसे असद्भावामक विहित किया जावे और उपमान को सद्भावामक उसे अपहृति कहते हैं। उदाहरण—

'नवसिक्तसिलयकोमलसफलावयवा विलासिनी नैषा ।

आनन्दमति अनानां नयनानि सितांशुलेखैव ॥ ८१८ ॥

— नवीन वित्तिकर के समान सपूर्ण अवयवों में कौनक यह विलासिनी नहीं है जो ज्यों के नेत्रों को आनन्दित कर रही है, वह तो चन्द्रलेखा ही है। निर्णयसागरीय संस्करण में 'नैषा' का 'सैषा' तथा 'लेखैव' का 'लेखेव' छप गया है।

मगमट—'प्रकृतं यत्रिपिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपहृतिः।' उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत् त्साध्यते सा तु अपहृतिः । उदाहरण—'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्० ।'

— उपमेय को असत्य बतलाकर उपमान का सत्यरूप से जो स्थापन उसी का नाम है अपहृति० । उदाहरण—'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्० ।

इससे स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने अपहृति को साहचर्यमूलक अलङ्कार माना है और हममें उपमेय का छिपाया जाना अनिवार्य स्वीकार किया है। जगन् ने उसका रूपक से भेद भी बतलाना चाहा है। वस्तुतः भेदकतत्त्व चमत्कार है। अपहृति में गणहन का ही चमत्कार होता है।

संजीविनीकार श्री श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपहृति के संपूर्ण निरूपण को इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

'प्रकृतं यत्रिपिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपहृतिः ।

नवा छलादिशब्दैश्च सा शब्दान्तरतक्षिपा ॥

स्याद् भेदाभेदतुल्या विच्छित्तिरूपमादिका ।

रूपकादिस्त्वभेदांशे मुख्ये त्वारोपसंभवात् ।

उत्प्रेक्षादिरभेदेन कथ्यतेऽध्यवसायभाक् ॥'

—प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत उपमान का विधान अपद्धति कहलाता है। यह तीन प्रकार की होती है (१) 'ओ नभ्-' द्वारा प्रतिपादित हो, (२) ओ छलादि शब्दों से प्रतिपादित हो और (३) जो अन्य 'वपु' आदि शब्दों से प्रतिपादित हो।

—'उपमादि वहां होते हैं जहां भेद और अभेद दोनों बराबर होते हैं। रूपकादि वहां होते हैं जहां आरोप के आधार पर अभेदाद्य प्रधान हो। उत्प्रेक्षादि वहां होंगे जहाँ अभेद होगा किन्तु उसमें अध्यवसाय रहेगा।'

श्री श्रीविद्याचक्रवर्ती के इस संग्रह से विदित है कि उन्होंने मम्मट के अपद्धतिलक्षण को अधिक महत्त्व दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपद्धति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणसुपमानतादात्म्यमपद्धतिः।

[मुखत्व आदि] उपमेय धर्म का निषेध दिखाने हुए उपमान के तादात्म्य का आरोप अपद्धति कहलाता है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरणम्यदवतारयति। श्वमित्यादि।

इस [अभेदप्रधान अलंकारों के] प्रकरण का उपसंहार करते हुए अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भानलंकाराँल्लक्षयित्वा अध्यवसायगर्भा-
ल्लक्षयति—

तत्र

[सू० २२] अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः।

[वृत्ति] इस प्रकार अभेद की प्रधानता होने पर होने वाले आरोपगर्भित अलंकारों के लक्षण किए, अब अध्यवसायगर्भित अलंकारों के लक्षण करते हैं। उनमें—

[सूत्र] अध्यवसाय में यदि व्यापार की प्रधानता हो तो उत्प्रेक्षा [अलंकार होता है]।

[वृत्ति] [विषय के] निगरण द्वारा विषय के साथ विषयी का अभेदबोध अध्यवसाय होता है।

विमर्शिनी

आरोपगर्भानिति। अत्राध्यवसायगर्भत्वस्यापि विद्यमानत्वान्महत्प्राम इत्यादि-
वदारोपगर्भस्य प्राधान्यादेवं व्यपदेशः। तत्र तावदुत्प्रेक्षा लक्षयति—अध्यवसाय इत्यादि।

'आरोपगर्भ'—कयन प्रसिद्ध मह के नाम पर गाँव को मल्लगाँव कहने के समान आरोप की प्रधानता पर निर्भर है, वस्तुन. अध्यवसाय भी इनमें रहता है।

अध्यवसायगर्भित अलंकारों में उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हैं अध्यवसाय इति—

विमर्शः—अलंकारसर्वस्व के इस उत्प्रेक्षालक्षण को अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने

सदोप ठहराया है और विमर्शिनीकार अथर्व ने शोभाकर का खण्डन कर उसका समर्थन किया है। शोभाकर का विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र] विपरित्वेन संभावनमुत्प्रेक्षा ।

[वृत्ति] विपरित्वेन अर्थाद् विषयस्य सम्भावनं=‘भवितव्यमनेन स्थाणुना’ इत्यादि अनिश्चयात्मक-वितर्कादि-शब्दानभिधेय-संभावनाप्रत्ययविपर्याकृतत्वञ्च उत्प्रेक्षा । अतश्चानिश्चयात्मकतया संभावनायाः संदेहमूलत्वम्, न त्वध्यवसायगम्यता । यत्रापि [धर्मोत्प्रेक्षायां धर्मरूपविषयस्य शब्दतोऽनुपादाने ‘लिन्पतीव इमोऽद्भानि’-इत्यादी] अंशेनाध्यवसायस्तत्रापि सन्देहानिवृत्तिः । तथाहि संदेहनिश्चयरूपत्वेन प्रत्ययानां द्वैविध्यम् । निश्चयश्च यथार्थोऽन्यभिचारी सम्यक्प्रत्ययः, अन्यभिचारी त्वसम्यक् । तत्र तावदुत्प्रेक्षा न सम्यक्त्वम्, अर्थादन्यभिचाराम्भावात् । नाप्यसम्यक्प्रत्ययरूपो विपर्यासः, तस्य निश्चयरूपत्वात् । अस्यां च शाब्देनापि वृत्तेन भ्रान्तिमद्दृष्टियोक्त्यादिबद् विपरिणो निश्चयाभावात् । अनिश्चिते च संदिग्धमेवैत्यविवादः । अत एव नाध्यवसायमूलत्वमस्याः । तस्य विपर्ययनिर्गारणं विपर्ययनिश्चयरूपत्वम् । न चात्रैकमपि संभवति विपर्ययोपादानात् निश्चयाभावाच्च । तेन ‘अध्यवसाये व्यापार-प्राधान्ये उत्प्रेक्षा’-इति लक्षणमपर्यालोचिताभिधानमेव । [उत्प्रेक्षा पृ० ४७ पूना संस्करण-१९४२] ।

[सूत्र] विपर्यय विपर्ययरूप से संभावन उत्प्रेक्षा ।

[वृत्ति] विपर्ययरूप से विषय का संभावन अर्थात् ‘इसे स्थाणु (टूँठ) होना चाहिए’-इत्यादि अनिश्चयात्मक तथा वितर्क आदि शब्दों से पुकारा जाने वाला जो संभावनात्मक ज्ञान उसका विषय बनाया जाना उत्प्रेक्षा कहलाता है । और इसलिये अनिश्चयात्मक होने के कारण संभावना संदेह-मूलक होती है, अध्यवसायगमित नहीं । जहाँ [धर्मोत्प्रेक्षा में विपर्ययभूत धर्म का शब्दतः कथन नहीं रहता जैसे ‘अन्धकार अंग-अंग को लीपता-सा जा रहा है’—यहाँ अन्धकार के फैलने का आंशिक अध्यवसाय भी होता है वहाँ ही संदेह दृढ नहीं जाता । क्योंकि ज्ञान दो प्रकार के होते हैं संदेहात्मक तथा निश्चयात्मक । इनमें से निश्चय सम्यग्ज्ञान = ठीक ज्ञान का नाम है जो यथार्थ अर्थात् पदार्थ के वास्तविक रूप के ही आकार का होता है, तद्विरुद्ध नहीं । जो वैसा नहीं होता उसे असम्यक् ज्ञान = अयथार्थ = गलत ज्ञान कहा जाता है । इनमें से उत्प्रेक्षा सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें ज्ञान-त्वरूप वैसा ही नहीं रहता जैसा पदार्थस्वरूप रहता है । न तो यह असम्यग्ज्ञानस्वरूप विपर्यय = विपरीतज्ञान ही है क्योंकि यह [विपरीतज्ञान या विपर्यय] निश्चयरूप होता है [रज्जु में सर्प का निश्चय ही भ्रान्ति है वही विपर्यय है] इस [उत्प्रेक्षा] में भ्रान्तिमान् अतिशयोक्ति आदि के समान विपर्यय का निश्चय शब्दतः भी नहीं होता [वाक्यार्थबोध में उसके निश्चय की बात तो बहुत दूर है] और यह सर्वमान्य है कि अनिश्चित पदार्थ संदिग्ध ही माना जाता है । इसीलिए इस [उत्प्रेक्षा] को अध्यवसायमूलक नहीं माना जा सकता । क्योंकि उस [अध्यवसाय] का स्वरूप है विषय का निगला जाना और विपर्यय का निश्चय होना । यहाँ [उत्प्रेक्षा में] इन दोनों में एक भी संभव नहीं है क्योंकि यहाँ विषय का शब्दतः कथन रहता है [शब्दतः अकथनरूप निगला जाना नहीं] तथा निश्चय नहीं रहता । इस कारण ‘अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा’ = ‘अध्यवसाय में व्यापार को प्रधानता होने पर ‘उत्प्रेक्षा’ यह [अलंकारसर्वस्वकार द्वारा निर्मित] लक्षण निपट पर्यालोचनशून्य उक्ति है । विमर्शिनीकार इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

विमर्शिनी

अध्यवसाय इति न पुनः संदेह इति । इह हि निश्चयानिश्चयरूपत्वेन प्रत्ययानां द्वैविध्यम् । निश्चयश्चार्थान्यभिचारी सम्यक्, अन्यथा त्वसम्यगिति

भेदो न प्राह्यः । प्रतीतिवृत्तिमात्रस्यैवेह विचारयितुमुपक्रान्तत्वात् । तस्य च प्रामाण्यविचारे उपयोगात् । अनिश्चयश्च सशयतर्करूपत्वेन द्विविधः । अतश्चानिश्चितं च संदिग्धमेवेति न वाच्यम् । तर्करामन' सभावनाप्रत्ययस्याप्यनिश्चयात्मकत्वे संदिग्धत्वाभावात् । उपेक्षा सभावनादिशब्दाभिधेयतर्कप्रतीतिमूलेति नास्याः सदेहमूलत्वम् । तस्य भिन्नलक्षणत्वात् । अयानवधारणज्ञान सशय इत्यनवधारणज्ञानत्वाविशेषात्संशयान्तराभावस्तर्कस्येत्यस्याः सशयमूलत्वमिति चेत्, नैतत् । अनवधारणज्ञानत्वाविशेषेऽपि सशयतर्कयोर्भिन्नरूपत्वात् । तथाहि—स्याणुर्वा पुरुषः वेति सामान्येन पक्षद्वयोर्हेतुः संशयः । पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येकतरपक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरवाधनमिव तर्कः । पुरुष एवावमिति पक्षान्तरासस्पष्टनैकतरपक्षनिर्णयो निश्चय इत्यमिति स्पष्टद्वयसाधिक प्रत्ययानां त्रैविध्यम् ।

बाह्यमस्येव प्रत्ययानां त्रैविध्यम्, किं एतन्नवधारणज्ञानत्वाविशेषात् सशयप्रकारस्तर्क इति चेत्, नैतत् । एवं ससम्बन्धज्ञानत्वाविशेषात् भ्रमोऽपि संशयप्रकारः स्यात् । अर्थ-निश्चयानिश्चयस्वभावत्वादिना अस्यनयोर्विधेय इति चेत्, इह पुनर्नास्त्यत्र किं प्रमाणम् । सशयो ह्यनियतोभयाज्ञावलम्बित्वेनोदेति, तर्कं पुनरंशान्तरवाधनेनेव बाह्यहेलिदर्शनाद्यनु-मूलकारणौचित्याद्देशान्तरावलम्बनेन चेत्यस्यनयोर्विधेयः । देशान्तरे हि यथा स्पर्धमान एव स्थाणुपक्ष भास्ते न तथा बाह्यहेलिभूमौ, अपि तु शिथिलीभवति, समयाप्रमादत्वाच्च सर्वात्मना न निवर्तत इति अत एव निश्चयः साधकप्रमाणाभावेऽप्यस्योपपत्तः । नहि प्रतिपक्षवाधादेव निश्चयो भवति । साधकवाधकप्रमाणसंज्ञावनं तदुत्पादात् । तेनानियतो-भयपक्षावलम्बी किंस्त्रिवृत्ति विमर्शः सदेहः । एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति ।

अथ 'काऽस्य फलस्थोपायविशेषः' इत्येकतरपक्षावलम्बेनापि सदेहः सम्भवतीति चेत्, नैतत् । किमर्थनानियतपक्षान्तरस्वीकारादेकतरपक्षावलम्बनस्याप्रतिष्ठानात् । बाह्याली-दर्शनाच्च यथा पुरुषविशेषाः स्मरणपर्यं समवतरन्ति न तथा स्थाणुविशेषा इत्युभयविशेष-स्मरणजन्मनः सदेहादेकतरविशेषस्मरणजग्भा विशिष्यते तर्क इत्याद्यवन्तरमतिगहनमन-घोरमित् भेदसाधन तत्पुनः प्रकृतानुपयोगादिह नोक्तम् । तेन सदेहनिश्चयान्तरालवर्ती त्राहलक्षण' सभावनाप्रत्ययस्त्रिशङ्कुरिव लम्बमानोऽवरयाम्युपगन्तव्यः ।

अध्यसाय न किं सदेहः । यद्वा, जो है सो, समस्त ज्ञान दो वर्गों में बंटा जाते हैं (१) निश्चय तथा (२) अनिश्चय । इनमें निश्चयज्ञान दो प्रकार का होगा है (१) सन्त्यक् और (२) असन्त्यक् । इन दोनों का अन्तर यह है कि सन्त्यक् निश्चय अर्थात्निश्चयारी अर्थात् पदार्थ के स्वरूप के विरुद्ध नहीं होता और असन्त्यक् ठीक इसके विपरीत अर्थव्यभिचारी अर्थात् पदार्थस्वरूप के विरुद्ध । किन्तु यह अन्तर लौकिक अन्तर है । यद्वा [कान्यक्षेत्र की अलंकारमोमात्ता में] इसे नहीं अपनाया जाना चाहिए । क्योंकि यहाँ तो केवल प्रतीतिवृत्ति [प्रतीति रूप वृत्ति = अन्त करण वृत्ति, जिते कदमीरीदर्शन सर्वाचित कहते हैं] पर ही विचार किया जा रहा है । उपर्युक्त जो भेद बतलाया गया है उसका उपयोग केवल प्रामाण्यविचार में होता है [जहाँ वास्तविकता अथवा अवास्तविकता का न्याय किया जाता है] । जहाँ तक अनिश्चयज्ञान का संबंध है वह दो प्रकार का होगा है सशयात्मक और तर्कात्मक । इसीलिए 'अनिश्चित जो है वह संदिग्ध ही होता है' ऐसा नहीं कहना चाहिए । तर्कात्मक वो सभावनाज्ञान होता है उसे भी अनिश्चयात्मक कहा जा सकता है, जब कि वह सदेहात्मक नहीं होता । उपेक्षा जो है यह सभावना-आदि शब्दों में कही जाने वाली तर्कात्मक प्रतीति पर निर्भर है, अतः इसे सदेहमूलक नहीं कहा जा सकता । उस [सदेह] का स्वरूप और दो प्रकार का होता है ।

और—'अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय होता है, तथा यह अनिश्चयात्मकता तर्कों में भी रहती है अतः वह संशय से भिन्न नहीं है, फलतः उपप्रेक्षा संशयमूलक मानी जा सकती है'—यदि ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनिश्चयात्मकता से युक्त होने पर भी तर्कों और संशय में अन्तर है। अन्तर इस प्रकार है कि 'टूँठ है या पुरुष' इस प्रकार दोनों पक्षों का समानरूप से ज्ञान संशय कहलाता है जब कि तर्क कहलाता है—'यह पुरुष होना चाहिए'—यह, जिसमें किसी एक ही पक्ष की ओर झुकाव दिखलाकर दूसरे पक्ष का मौन निराकरण-सा रहता है। निश्चयज्ञान वह ज्ञान कहलाता है जिसमें 'यह पुरुष ही है'—इस प्रकार दूसरे पक्ष का स्पर्श भी नहीं रहता और केवल एक ही पक्ष का निर्णय कर लिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानों के तीन वर्ग होते हैं। इसमें साक्षी है सङ्ख्य जन।

यदि यह कहें कि—'ज्ञान के ये गीनों प्रकार, हैं तो अनुभवसिद्ध' किन्तु इनमें जो तर्क है वह संशय का ही एक भेद है, क्योंकि संशय और तर्क दोनों में ही ज्ञान की अनिश्चयात्मकता समान रूप से रहती है।'—तो यह भी ठीक नहीं, तब तो भ्रम को भी संशय का भेद कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान की असत्यता (अवधारिता) संशय के ही समान भ्रम में भी रहती है। यदि कहें कि भ्रम में पदार्थ का निश्चय रहता है और संशय में अनिश्चय, इस प्रकार दोनों में अन्तर है तो इसमें क्या प्रमाण है कि ऐसा अन्तर संशय और तर्क में नहीं है। संशय जो है उसमें विषय बनते हैं ऐसे दो अंश जो दोनों ही अनिश्चित, रहते हैं जब कि तर्क में एक अंश का बाध-सा रहता है और बाहकौलि [संभवतः घुड़सवारी का क्षेत्र=Race ground] आदि के दिखाने देने आदिअनुकूल (साधक) कारणों के औचित्य से दूसरे अंश का साधन। इस प्रकार अन्तर इन दोनों में भी है ही। अन्य स्थानों में जिस प्रकार स्थाणुपक्ष का ज्ञान बराबरी के साथ होता रहता है उस प्रकार बाहकौलि भूमि [घुड़सवारी के मैदान] में नहीं, वहाँ वह शिथिल हो जाता है, किन्तु जब तक उसमें प्रमाद की संभावना रहनी है वह सर्वात्मना दृट नहीं जाता। इसीलिए यह ज्ञान निश्चयस्वरूप है क्योंकि यह [निश्चय] साधक-प्रमाण के अभाव में भी माना जा सकता है। [बाहकौलि भूमि आदि एकता पक्ष के समर्थक साधन तो हैं किन्तु उसे सर्वथा सिद्ध ही कर देने वाले नहीं हैं अतः वे साधक-प्रमाण नहीं हैं]। ऐसा नहीं कि प्रतिपक्ष (Counterpart) का सर्वथा बाध होने पर ही निश्चय माना जाता हो, वह साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाणों के रहने पर भी माना जा सकता है। इसीलिए संदेह दो अनिश्चित पक्षों पर निर्भर ज्ञान का नाम है जिसमें 'ऐसा है या कि ऐसा'—इस प्रकार के विकल्प का बोध होता है, और तर्क किसी एक पक्ष पर निर्भर ज्ञान का, जिसे शिथिल निश्चयात्मक कहा जा सकता है। यद्यपि भ्रान्ति में निश्चय रहता है किन्तु उसमें निश्चय दृढ़ रहता है क्योंकि उसमें पक्षान्तर का ज्ञान नहीं रहता। संदेह में दृढ़ या शिथिल किसी भी प्रकार का निश्चय नहीं रहता इसीलिए उसे संदेह ही माना जाता है और इसीलिए तर्क उससे प्रतीतितः भिन्न है।

यदि यह कहें कि— संदेह भी एकतरपक्ष पर निर्भर होता है जैसे [अनेक कारणों में से किसी एक कारण की विशिष्ट कारणता का निश्चय कर चुका व्यक्ति बड़े—] 'आखिर इस कार्य का विशिष्ट कारण क्या है' [इस कथन में विशिष्ट कारणता पर प्रश्न है अतः है तो वह संदिग्ध किन्तु वक्ता किसी एक कारणमूल पदार्थ की विशिष्ट कारणता को मन में रख कर प्रश्न कर रहा है इसलिए उसका झुकाव उसी की ओर है अतः यह एकतरपक्षावलम्बी संशय है], तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस वाक्य में जो 'कः' इस प्रकार किमर्थक = 'कौन'-अर्थ का वाचक पद है उससे एकतरपक्ष का अपत्या जाना सिद्ध नहीं हो पाता। और बाह्याली [घुड़सवारी का

मैदान अथवा बाहरी राजपथ] देखने से जैसे पुरुषविशेष याद आते हैं वैसे स्थाणुविशेष नहीं, अतः दोनों विशिष्ट वस्तुओं के स्मरण से जो संदेह हुआ उसकी अपेक्षा किसी एक विशिष्ट के स्मरण से हुआ तर्क अवश्य ही मित्र है'—इत्यादि और भी बहुत से तत्त्व इन दोनों में अन्तर सिद्ध करते हैं जो अत्यन्त गहन हैं । उन सबकी चर्चा प्रस्तुत प्रकरण में निरर्थक है अतः उन्हें यहाँ नहीं बनलाया जा रहा । निष्कर्ष यह कि उक्त हेतुओं से संदेह और निश्चय के बीच का किन्तु इन दोनों से मित्र [इन दोनों के बीच] त्रिशकु के समान लटका हुआ समावनात्मक बोध अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए ।

विमर्शिनी

एवमप्यनिश्चयात्मकसंभावनाप्रत्ययमूलत्वाद्दुप्रेषायाः कथमप्यवसायमूलत्वम् । तस्य हि विषयनिर्गणनं विषयनिश्चयश्च स्वरूपम् । न चात्रैकमपि सम्भवति । विषयोपादानाग्निश्चयाभावाच्चेति । अगोच्यते—इह द्विधाऽप्यवसायः—स्वारसिक उपादितश्च । तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तम् तत्सामर्थ्यास्वरसत एव विषयप्रतीतेरुत्पत्त्यात् । न ह्यवगतशुक्तिकास्वरूपस्य प्रमातुः कदाचिदपि रजतमिदमिति प्रत्ययोरुपाद स्यात् । इतरत्र तु विषयभवगम्यापि तदन्तःकारेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरत्तन्प्रविकल्पबलाद् विषयप्रतिपत्तिमुत्पादयेत् । जानान एव हि विषयविविक्तं विषयं तत्र प्रयोजनपरतया विषयिणमप्यवस्येत् । तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषयः । तत्र हि प्रमात्रन्तरगता स्वारसिकत्वेन तयाविधा प्रतिपत्तिर्विक्रान्त्युद्यते न उत्पाद्यते । यदाहुः—'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्नूद्यते । स भ्रान्तिमान्' इति । स्वारसिकत्वं पुनरत्र कविप्रतिभानिर्वर्तितमेवेष्टम् । अन्यथा हि भ्रान्तिमात्रं स्यादिति पूर्वमेवोक्तम् । इतरस्तुप्रेषाविषयः । ॥ च द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निर्गोर्णत्वाद्ध्यवसितप्राधान्यम् । साध्यो यत्रेवानुपादानात्संभावनाप्रत्ययारम्भत्वाद्द्विषयस्य निर्गोर्णत्वात्साध्यवसायक्रियाया एव प्राधान्यम् । अत एवाहुः—'स्यापारप्राधान्य' इति । अत एव चात्र कश्चिद्विषयानुपादानम् । वाच्योपयोग्यवसायस्य साध्यमान वेनोपक्रान्तात्त्वान् । कश्चिच्च विषयस्यानुपादानेऽपि न सिद्धत्वम् । इवाद्युपादानाग्निर्गोर्णत्वात्प्राधान्यात्संभावनाप्रत्ययस्यैवोद्रेकात् । अत एव चात्र विषयस्य निर्गोर्णत्वात्प्राधान्यात्संभावनाप्रत्ययस्यैवोद्रेकात् । अत एव चात्र विषयस्य विषयितया प्रतीतिः । इह पुनर्विषयस्य निर्गोर्णत्वात्वेन विषयिण एव प्रतीतिः । ननु विषयनिर्गणनमप्यवसायस्य लक्षणम् । इह पुनर्विषयस्य निर्गोर्णत्वात्वेन कथमत्राप्यवसायतेति चेत्, नैतत् । 'विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याप्यवसायस्य विषयिणा विषयस्यान्तःकरणं लक्षणम् । तच्च विषयस्य निर्गणनेन निर्गोर्णत्वात्वेन वा भवतीति ॥ कश्चिद्विशेषः । निर्गोर्णत्वात्वेनपि पूर्वोक्तनीत्या विषयस्योपात्तस्यानुपात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेषः । एव मिद्रेऽप्यवसायेऽप्यवमितप्राधान्यं साध्ये च स्वरूपप्राधान्यमिति सिद्धम् । एतच्च ग्रन्थद्वये विमज्याग्रे वक्ष्यतीति तत् एवावधार्यम् । यदेव साध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावनात्मकत्वम् । संभावना ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पश्चान्तरदाह्येन च प्रादुर्भरतीत्यस्या साध्याप्यवसायतुल्यत्वस्य । तस्यापि विषयशिथिलीकारेण विषयिदाहर्षेण चोरपत्तेः । अत एव विषयिगोऽपि शाब्देन वृत्तेन सत्यत्वम् । विषयिदाहर्षेणैव साध्याप्यवसायस्वरूपप्रादुर्भावात् । यदुक्तं मरद्भिरेव 'संभावनायां च संभाव्यमानस्य दाहर्षादपरस्य च शैथिल्यात्' इति । इह संभाव्यमानस्य विषयिणो दाहर्षादत्र संशया-

हैलक्षण्यम् । तस्य दानियतोभयांशावलम्बी किंस्विदिति विमर्शो लक्षणम् संभावना-
विषयस्य च शैथिल्यान्निश्चयादपि भेदः । विषये हि वाचकसद्भावादेकस्य शैथिल्येन वा
साधकसद्भावाच्च पक्षान्तरस्य सिद्धिः स्यात् । अतिशयोक्तिश्च निश्चयारम्भेति ततोऽस्या
भेदः । यस्तु 'साध्यो यत्र विषयिणोऽस्तस्यतया प्रतीतिः' इत्यादि ग्रन्थकृद्ब्रूयति तद् वस्तु-
वृत्ताभिप्रायेणावगन्तव्यम् । तदेवं विषयस्य निगोर्धमाणत्वाद्विषयिणश्च निश्चयारम्भेऽस्मिन्-
वसायमूलत्वमस्या इति यथोक्तमेव लक्षणं पर्यालोचिताभिधानम् । तस्मात्

‘इवादी निश्चयामावाद्दिपयस्य परिग्रहात् ।

कचिदध्यवसायेन नोत्प्रेषापि तु संशयात् ॥’

इत्याद्युक्तमयुक्तमेवेत्यलं बहुना ।

[शंका] 'पेसा होने पर भी [संभावना को संदेह से भिन्न मान लेने पर भी] उत्प्रेक्षा होती
तो अनिश्चयात्मक संभावना-प्रतीति पर ही निर्भर, उसे अध्यवसायमूलक [अध्यवसाय पर निर्भर]
क्यों बतलाया जा रहा है' । उस [अध्यवसाय] का स्वरूप तो 'विषय का निगरण = निगला
जाना [शब्दतः अकपन] तथा [उत्सका] विषयीरूप से निश्चय' होता है । यहाँ [उत्प्रेक्षा में]
इन दोनों में से एक भी नहीं है । यहाँ तो उल्टे विषय का उपादान ही है और [विषयीरूप से
उसके] निश्चय का अभाव ।—[समाधान] इत पर हमारा कहना है—'यहाँ अध्यवसाय दो
प्रकार का होता है (१) स्वारसिक तथा (२) उत्पादित । इनमें से स्वारसिक अध्यवसाय में
कारण रहता है विषय का अज्ञान ही क्योंकि उस [अज्ञान] के आधार पर विषयी की प्रतीति स्वाभा-
विकरूप से ही हो जाती है । [यथा शुक्ति में रजत की प्रतीति] । ऐसा नहीं देखा जाता कि जिस
व्यक्ति को शुक्ति [सीप, छिपनी] का शुक्तिरूप से ज्ञान होता रहता हो उसे उसमें कभी भी यह
प्रतीति होती हो कि 'यह रजत है' । किन्तु द्वितीय [उत्पादित] अध्यवसाय में व्यक्ति विषय को
जानता ही रहता है तब भी उसे छिपा देना चाहता है [= अन्तःकार] और उस पर [वास्तविक कारण
के बिना भी] केवल अपनी इच्छा से जनित विकल्प के द्वारा विषयी की प्रतीति पैदा करता
है । वह विषय को विषयी से भिन्न समझता रहता है तथापि प्रयोजनविशेष से उस पर विषयी
को अध्यवसित कर देता है ।

इनमें से प्रथम अध्यवसाय भ्रान्तिमात्र आदि में होता है । उनमें [पशु-पक्षी आदि] अन्य
प्रमाता व्यक्तियों में स्वभावतः हो रही वैसी [भ्रमपूर्ण] प्रतीति का वक्ता अनुवादमात्र करता है
उसे उत्पन्न नहीं करता । जैसा कि कहा है—'अन्य प्रमाता का भ्रान्तिरूप ज्ञान जहाँ अनुदित
किया जाता है वह है भ्रान्तिमात्र' [] । किन्तु वहाँ जो स्वारसिकत्व है वह भी कवि-
प्रतिभासंपादितस्वरूप ही है क्योंकि ऐसा न मानने पर [अर्थात् स्वारसिकत्व को शुक्तिरजत
दृष्टान्त के समान केवल लौकिक मानने पर] भ्रान्ति केवल भ्रान्ति ही हो सकेगी भ्रान्तिमात्र
अर्थकार नहीं । यह तथ्य पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है ।

दूसरा जो [उत्पादित] अध्यवसाय है वह उत्प्रेक्षा में होता है । वह भी दो प्रकार का
होता है (१) सिद्ध तथा (२) साध्य । सिद्ध वह होता है जिसमें विषय उपात्त नहीं रहता,
निर्गोर्ध (Understood) रहता है फलतः जिसमें अध्यवसित अर्थ (विषयी) ही प्रधान रहता है ।
इसके अतिरिक्त साध्य वहाँ होता है जहाँ 'इव' 'यथा' [अथवा गानों] आदि शब्द रहते हैं अतः ज्ञान
संभावनात्मक रहता है अतः विषय [शब्दतः उपात्त रहने पर भी] निर्गोर्ध ही रहता है और इसलिए
जहाँ अध्यवसाय किया की प्रधानता रहती है । इसीलिए लक्षण में ग्रन्थकार ने भी कहा - 'व्यापार, की
प्रधानता रहने पर' । [अभिप्राय यह कि जहाँ विषय का उपादान रहता है इसलिए 'इव' आदि

शब्दों के प्रयोग के कारण बुद्धिधारा वहाँ अध्यवसायात्मक ज्ञान की ओर बढती तो है किन्तु वह अध्यवसायात्मक ज्ञान में परिणत नहीं हो पाती। अध्यवसायप्रयत्नमात्र तक सीमित रह जाती है।] और इसीलिए कहीं कहीं विषय का उपादान नहीं भी रहता। यह इसलिये कि यहाँ उनी अध्यवसाय को साध्यरूप में प्रस्तुत किया जाता है जो वाच्योपयोगी होता है। किन्तु जहाँ कहीं विषय का उपादान नहीं भी रहना वहाँ अध्यवसाय मित्र अध्यवसाय नहीं होता क्योंकि वहाँ 'इव'-'मानों' आदि शब्दों का उपादान रहता है इसलिए निर्गौर्यमाणता प्रधान हो जाती है और सभावनात्मक ज्ञान ही उद्विक्त हो जाता है। और इसलिये क्योंकि यहाँ विषय निर्गौर्यमाण रहता है उत्प्रेक्षा आरोपगमिन नहीं होती [अलङ्काररत्ना० में आरोपगमि ही माना है द्र० पृ० ४८]। आरोप में विषय की प्रतीति विषयी रूप से होगी है। अध्यवसाय में विषय निर्गौर्यमाण होता है इसलिए केवल विषयी की ही प्रतीति होती है।

यहाँ यह शका की जा सकता है कि 'अध्यवसाय का स्वरूप है विषय का निगरण [अर्थात् इसमें निगरण की ही प्रधानता रहती है] और यहाँ बनलायी जा रही है विषय की निर्गौर्यमाणता [जिसमें निगरण अप्रधान है प्रधानता विषय को है] अतः इसे अध्यवसाय रूप कैसे माना जाय ।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अध्यवसाय का स्वरूप है विषयी के द्वारा विषय का अपने भीतर छिपा लेना जैसा कि [मम्मटमट्ट ने कान्यप्रकाश द्वितीय प्रकाश में] कहा है 'साध्यवमाना लक्षणा वह हाँती है जिसमें विषय विषयी के द्वारा अन्तःकृत [= अपने भीतर छिपा हुआ] रहता है ।' यह अन्तःकृति चाहे विषय के निगरण से हाँ या विषय की निर्गौर्यमाणता में उसमें कोई अन्तर नहीं आता। निर्गौर्यमाणता भी उपाय विषय की भी होती है और अनुपात विषय की भी। इसलिए उनमें भी कोई फरक नहीं पडना।

इस प्रकार यह मित्र हुआ कि मित्र अध्यवसाय में प्रधानता अध्यवसिन (विषय) का रहनी है और साध्य अध्यवसाय में स्वय अध्यवसाय की ही। इसे स्वय ग्रन्थकार ही अलग-अलग करके आगे मळामौलि बनलायेंगे। अतः इसे वहाँ से समझ लेना चाहिए। हाँ। यहाँ जो अध्यवसाय की साधना है वही सभावनात्मकता हाँती है। संभावना जो है वह किसी एक पक्ष को शिथिल करके और अन्य पक्ष को दृढ़ करके ही होती है अतः वह साध्य अध्यवसाय के बराबर हाँती है। क्योंकि साध्य अध्यवसाय भी विषय को शिथिल कर विषयी की दृढ़ता से निष्पन्न होता है। इसलिये विषयी भी शाब्दबोध में सत्य ही रहता है क्योंकि साध्य अध्यवसाय विषयी की दृढ़ता से ही निष्पन्न होता है। जैसा कि आपने भी [अलङ्काररत्नाकर के पृ० ४८ पर उत्प्रेक्षा प्रकरण में ही] कहा है—'सभावना में सभाव्यमान [विषयी] की दृढ़ता रहती है और विषय की शिथिलता।' यहाँ सभाव्यमान विषयी की दृढ़ता रहती है अतः यहाँ मंशय से मिश्रता रहती है। क्योंकि सशय दो अनिश्चित अक्षर पर निर्भर रहता है जिसका स्वरूप 'क्या'-'अथवा' इस प्रकार का विमर्श होता है। इसी प्रकार सभाव्यमान-विषय को शिथिलता के कारण यह निश्चय से भी मिश्र रहता है।

जहाँ निश्चय होता है वहाँ एक ओर तो एक पक्ष दृढ़ जाता या शिथिल हो जाता है क्योंकि वाचक उपस्थित रहना है और दूसरी ओर दूसरे पक्ष को सिद्ध हो जाता है क्योंकि साधक भी उपस्थित रहा करना है। अतिसूचक निश्चयात्मिका होती है इसलिये उससे भी यह [उत्प्रेक्षा] मिश्र है। ग्रन्थकार जो यह कहेंगे कि 'वह साध्य होता है जिसमें विषयी की प्रतीति असत्य रूप से होती है' वह वास्तविक स्थिति को मन में रखकर [न कि व्यापनिक अथवा प्राणिम स्थिति को] ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार विषय के निगोर्वमाण होने तथा विषयी का निश्चय होने से यही सिद्ध होता है कि यह = उत्प्रेक्षा आध्यवसायमूलक है, इसलिए ग्रन्थकारोक्त लक्षण ही सोच-समझकर बनाया गया लक्षण है— [पर्यालोचिताभिधान] । इस कारण अधिक नया इतना कहना पर्याप्त है कि—

‘उत्प्रेक्षा सर्वत्र संशय से ही होती है, अध्यवसाय से कही भी नहीं, क्योंकि इसमें ‘इव’-आदि का प्रयोग रहता है, अतः निश्चय नहीं रहता तथा विषय का उपादान शब्दतः रहता है’— [अलंकाररत्ना० पृ० ५१]

—इत्यादि कथन सर्वथा युक्तिशून्य है ।

विमर्शः—विमर्शनी के अनुपदोक्त विवेचन का आधार अलंकाररत्नाकर का पूर्वाद्धृत विवेचन से लगातार आगे का यह विवेचन है—

‘न च ‘यथा स्थली०’ इत्यादावशब्दत्वादेः मौनित्वादिना अभ्यवसितत्वाद् निमित्तविषयोऽध्यवसाय’ इति वाच्यम् । सर्वत्र निमित्तविषये अध्यवसायस्य सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावात्प्रतिष्ठापेक्षया चाध्यवसायादीकारे उपमादीनामध्यवसाय एव लक्षणं स्यात्, तेन आरोपगर्भवैयम् । क्वचित्तु विषयानुपादान आरोपगर्भत्वाभावात्प्रतिष्ठापेक्षया अध्यवसायगर्भोत्प्रेक्षेति वाचोयुक्तिरुचितैव तद्गर्भसन्देहवत् । विषयनिर्गणारूपस्य मुख्यस्य तद्गर्भस्य सिद्धत्वात् । संभावनायां च संभाव्यमानस्य दाह्यात् अपरस्य च शैथिल्याद् इह संभाव्यमानस्य विषयिणः शब्देन वृत्तेन सत्यत्वं न वितरस्य । वस्तुतस्तु विषयिणः सत्यतातिशयोक्तौ अपि नास्तीति तत्रापि विषयिणः सत्यतेति न वाच्यं स्यात् । अत एव सापह्ववायां विषयस्यैवासत्यत्वात् अपह्ववः अन्यथेतरस्यैव स्यात् । इयं च धर्मी वा धर्म्यन्तरत्वेनोत्प्रेक्ष्यते धर्मां वा धर्मान्तरत्वेनेति प्रथमं द्विभेदा । आया शब्दत्वात्त्वभेदाद् आरोपस्य द्विविधैव । द्वितीयापि धर्मरूपविषयोपादाने आरोपगर्भा । अत्र च प्रधानभूतधर्म्युपसर्जनात्मकविशेषणीमूतानां धर्माणां परस्परं विशेष्यविशेषणभावानुपपत्तौ सामानाधिकरण्याभावादार्थ एवारोपः । अनुपादाने तु अध्यवसायगर्भा । आरोपगर्भे तु भेदत्रये विषयापह्ववानपह्ववाम्नां द्वैविध्यम् ।

‘इवादी निश्चयान्नावाद् विषयस्य परिग्रहात् । क्वचिदध्यवसायेन नोत्प्रेक्षापि तु संशयात् ॥’

— इति संग्रहः ।

—ऐसा नहीं कह सकते कि ‘यथा स्थली’ पद्य में अशब्दत्व आदि मौनित्व आदि के द्वारा अध्यवसित हैं अतः यहाँ निमित्तविषयक अध्यवसाय है, क्योंकि एक तो जहाँ-जहाँ निमित्त के रूपर अध्यवसाय होता है वहाँ अध्यवसाय सदा सिद्ध ही होता है, साध्य नहीं; दूसरे यदि निमित्त को लेकर अध्यवसाय मान लिया जावे तो उपमा आदि में भी अध्यवसाय को ही लक्षण मानना होगा । इस कारण उत्प्रेक्षा को आरोप से ही युक्त मानना चाहिए । हाँ, कहीं-कहीं जब विषय का कथन नहीं रहता वहाँ उत्प्रेक्षा को आरोप से युक्त नहीं माना जा सकता, साथ ही वहाँ निश्चयांश भी रहता है अतः वहाँ उत्प्रेक्षा को अध्यवसाय से युक्त माना जा सकता है, जैसे कि उसे संदेह से युक्त माना जाता है । यह इसलिए कि ऐसे स्थल में ‘विषयनिर्गण’-रूप उस [अध्यवसाय] का मुख्य अंश सिद्धरूप से विषयमान रहता है । किन्तु संभावना में संभाव्यमान ही दृढ़ बनाया जाता है और दूसरे को शिथिल कर दिया जाता है फलतः इसमें संभाव्यमान विषयो ही शब्दतः सत्य प्रतीत होता है, न कि दूसरा [विषय] । परमार्थतः तो सच यह है कि विषयी की सत्यता स्वयं अतिशयोक्ति में ही नहीं रहती [जिसका प्राण ही है अध्यवसाय] इसलिए उत्प्रेक्षा में भी विषयी की सत्यता रहती है ऐसा नहीं कहना चाहिए । इसीलिए सापह्ववा उत्प्रेक्षा में विषय ही असत्य माना जाता है और उसी का अपह्वव स्वीकार किया जाता है । ऐसा न हो तो दूसरे [विषयी] का ही अपह्वव स्वीकार किया जाचे छे ।

यह [उत्प्रेक्षा] प्रधानरूप से दो प्रकार की होती है । एक तो वह जिसमें धर्मों किसी अन्य धर्मों के रूप में उत्प्रेक्षित रहता है और दूसरी वह जिसमें धर्म किसी अन्य धर्म के रूप में । इनमें से प्रधान दो प्रकार की होती है शब्द और आर्थ, क्योंकि आरोप भी दो ही प्रकार का होता है । दूसरी जो है वह भी धर्म का उपादान होने पर तो आरोपयुक्त होती है और यह आरोप आर्थ ही होता है क्योंकि इसमें प्रधान रहता है धर्मों और धर्मों में से सब उसी धर्मों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त रहने है फलतः उनका परस्पर में ऐक्य नहीं हो पाता । और यदि विषय का उपादान नहीं रहता तो यही उत्प्रेक्षा अध्ववसाय से युक्त मान ली जाती है । जो भेद आरोप से युक्त होने है वे भी दो प्रकार के होते हैं सापेक्ष तथा निरपेक्ष । इस मूल्याविवेचन का सार यह है कि -

'उत्प्रेक्षा मंत्रं सद्य से हो होता है, अध्ववसाय से कहीं भी नहीं, क्योंकि इसमें 'द्व'—'मानों' आदि का प्रयोग रहता है । अतः निश्चय नहीं रह पाता और विषय का उपादान शब्दतः रहा करता है ।' [अल० रत्ना० पृ० ४८, ५१] ।

[सर्वस्व]

स च द्विविधः—साध्यः सिद्धश्च । साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः । असत्यत्वं च विषयिगतस्य धर्मस्य विषय उपनियन्वे विषयि-संभधित्वेन विषयासंभधित्वेन च प्रतीतेः । धर्मो, गुणक्रियारूपः तस्य संभ-धासंभधप्रतीतौ संभधाध्ययस्य तत्रापरमार्थतया असत्यत्वं प्रतीयते, इतरस्य तु परमार्थतया सत्यत्वम् । यन्यासत्यत्वं, तस्य सत्यत्वप्रतीताध्ववसायः साध्यः । अतश्च व्यापारमाधान्यम् । सिद्धो यत्र विषयिणो धस्तुतोऽसत्य-स्यापि सत्यताप्रतीतिः । सत्यत्वं च पूर्वकस्यासत्यत्वनिमित्तस्याभावात् । अतश्चाध्ययसितमाधान्यम् । तत्र साध्यत्वप्रतीतौ व्यापारमाधान्येऽध्यय-सायः संभावनमभिमानस्पर्क ऊह उत्प्रेक्षेत्यादिशब्दैरुच्यते । तदेवमप्रकृतगत-गुणक्रियामिसंयन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावनमुत्प्रेक्षा । सा च घाच्या इवादिभिः प्रदर्श्यते । प्रतीयमानायां पुनरिवाद्यप्रयोगः । सा च जानिक्रिया-गुणद्रव्याणामप्रकृतानामध्ययसेवत्वेन चतुर्था । प्रकृतस्यैतद्भेदयोगेऽपि न वैचिध्यमिति न नै गणिताः । प्रत्येकं च भावामाद्याभिमानरूपतया द्वैविध्येऽष्ट-धित्वम् । भेदाष्टकस्य च प्रत्येकं निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे षोडश भेदाः । तेषां च प्रत्येकं निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वारत्रिंशत्प्रभेदाः, तेषु च प्रत्येकं हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपत्वेन षण्णवतिर्भेदाः । एषा गतिर्या-च्योत्प्रेक्षाया । तत्रापि द्रव्यस्य प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलो-त्प्रेक्षाभेदास्तत्तत् पातनीयाः । प्रतीयमानायास्तु यद्यप्युद्देशत एतावन्तो भेदाः, तथापि निमित्तस्यानुपादानं तस्यां न संभवतीति तैर्भेदैर्युनोऽयं प्रकारः । इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य निष्प्रमाण-त्वात् । प्रायश्च स्वरूपोत्प्रेक्षाया यथासंभवं भेदनिर्देशः ।

पपा चार्थाश्रयापि धर्मविषये शिल्पशब्दहेतुका क्वचित्पदार्थान्वयवेला-
यां सादृश्याभिधानादुपक्रान्ताप्युपमावाक्यार्थतात्पर्यसामर्थ्याभिमानवृत्त्या-
पारोपारोहक्रमेणोत्प्रेक्षायां पर्यवस्यति । क्वचिच्छलादिशब्दप्रयोगे साप-
ह्वोत्प्रेक्षा भवति । अतश्चोक्तवक्ष्यमाणप्रकारवैचित्र्येणानन्त्यमस्याः ।

[५०] वह [अध्यवसाय] दो प्रकार का होता है (१) सिद्ध और (२) साध्य । साध्य वह जिसमें विषयी असत्यरूप से मासित होता है । असत्यता इसलिए कि विषय में अस्तित्व दिखलाने पर विषयिगत धर्म की ऐसी प्रतीति होती है जिसमें वह विषयी में तो संभव प्रतीत होता है किन्तु विषय में असंभव । धर्म होता है गुणरूप और क्रियारूप । इसकी जो संभवात्मक और असंभवात्मक प्रतीति होती है । उसमें संभवात्मक में धर्म अपारमार्थिक अर्थात् काल्पनिक और इसीलिए असत्य प्रतीत होता है । ठीक इसी प्रकार दूसरा पारमार्थिक = वास्तविक और सत्य । अब जो असत्य होता है उसको सत्यरूप से प्रतीति हो तो अध्यवसाय साध्य होता है । इसीलिए उसमें प्रधानता व्यापार की मानी जाती है । सिद्ध अध्यवसाय वह होता है जिसमें विषयी होता तो वस्तुतः असत्य है किन्तु उसमें प्रतीति होती है सत्यता की । यहाँ सत्यता का अर्थ है पूर्वप्रतीत असत्यत्व प्रतिपादक हेतु का अभाव । इसीलिए इसमें प्रधानता अध्यवसित [विषयी] की रहती है । इनमें जिस अध्यवसाय में साध्यता और व्यापारप्रधानता रहती है उसमें संभावनात्व का कथन तर्क, ऊह, उत्प्रेक्षा आदि शब्दों से होता है । इस प्रकार अप्रकृतगत गुण और क्रिया के संबन्ध से अप्रकृतरूप से प्रकृत की संभावना उत्प्रेक्षा कहलाती है । यह जब वाक्य रहती है तब इवादि शब्दों का प्रयोग रहता है और जब प्रतीयमान तब इवादि का प्रयोग नहीं रहता ।

यह उत्प्रेक्षा चार प्रकार की होती है क्योंकि इसमें जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य ये चार अप्रकृत अर्थ अध्यवसेय [संभाव्य] होते हैं । ये चारों भेद प्रकृत पदार्थ में भी हो सकते हैं किन्तु उनमें कोई चमत्कार नहीं होता इसलिए उन्हें छोड़ दिया गया है ।

उत्प्रेक्षा के ये चारों भेद भावरूप होते हैं और अभावरूप भी । अतः इनकी संख्या आठ हो जाती है । इन आठों भेदों में निमित्त गुणरूप होता है या क्रियारूप अतः सोलह हो जाते हैं । इन सभी भेदों में निमित्त दो प्रकार का होता है (१) उपात्त और (२) अनुपात्त । अतः ये ही १६ भेद ३२ हो जाते हैं । इन वृत्तियों में उत्प्रेक्षणीय पदार्थ के हेतुरूप, स्वरूप रूप तथा फलरूप होने से भेदों की संख्या छियान्नवे हो जाती है । यह संपूर्ण प्रपंच वाक्य उत्प्रेक्षा का है । इन भेदों में भी जो द्रव्योत्प्रेक्षा है उसमें उत्प्रेक्षा केवल स्वरूप की ही होती है, अतः उसमें से शेष दो हेतुत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा पर आभित भेद घटा दिए जाने चाहिए । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में भी इतने भेद होते हैं किन्तु केवल नामतः क्योंकि उसमें निमित्त का उपादान नहीं रहता । अतः उत्प्रेक्षा के इस प्रकार में उतने भेदों की कमी आ जाती है क्योंकि 'इव' आदि का उपादान न होने तथा निमित्त का भी उल्लेख न रहने से उत्प्रेक्षा माननेका कोई आधार शेष नहीं रह जाता । इसके अतिरिक्त प्रायः इस उत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा संभव नहीं होती । इस प्रकार प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के ये ही भेद बतलाए जाने चाहिए जो संभव हैं । [जागे उपसंहार विमर्श में ये सब भेद स्पष्ट कर दिए गए हैं] ।

यह [उत्प्रेक्षा] है तो अर्थालंकार अतः होना तो चाहिए इसका आधार केवल अर्थ ही तथापि इसमें जब कभी धर्म विषय वनता है तब इसका आधार शिल्प शब्द भी बन जाता है ।

कहीं-कहीं सादृश्य का शब्दत्व कम्य रहता है अतः आरम्भ में वहाँ पदार्थों का परस्पर में संबन्ध होता है वहाँ उपमा की ही प्रतीति होती है तथापि पर्यवसान उत्प्रेक्षा में ही होता है,

कारण कि वाक्यार्थ का तात्पर्य उसी में रहता है और इसका बोध होता है वक्ता [अभिमन्ता] की मानस प्रवृत्ति [व्यापार] की अन्तिम सीडी पर [बोधा के चित्त द्वारा] चढ़ने पर [उपारोह करने पर] ।

कहीं यही उत्प्रेक्षा अपह्नव से भी युक्त होनी है जहाँ छल आदि शब्दों का प्रयोग रहता है । इन कारणों से पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले भेदों के आधार पर इस [उत्प्रेक्षा] के भेदों की सख्या अनन्त हो जाती है ।

चिन्मर्शिनी

एतदेव व्याचष्टे—विषयेत्यादिना । अमेदप्रतिपत्तिरिति विषयान्त-करणात् । संभावना-
प्राप्यधारनकरवेऽपि साध्यव्यवसायस्य वसवमिप्रायेण तद्द्वैलक्षण्यं प्रदर्शयितुमाह—साध्य
इत्यादि । विषयपरिसोधनद्वारेण प्रमाणानुग्राहकत्वासंभावनाप्राप्यवस्य पुरुषेणानेन
मथितव्यमित्यत्र वस्तुवृत्तेन पुरुषस्य सत्यत्वम् । इह पुनस्तत्र तस्य प्रयोजनपरतयाध्य-
वसीयमानत्वासंभावनाविषये समाध्यमानस्य वस्तुतो न सत्यत्वमित्याह—असत्यतया
प्रतीतिरिति । अग्रैव निमित्तमाह—असत्यत्वं चेत्यादि । विषय उपनिबन्ध इति । तद्गतधर्मा-
भेदेनाध्यवसित इत्यर्थः । अनेन समयोजनत्वमेवोपोद्धृष्टम् । धर्म इति विषयिगतः । स
एव चोत्प्रेक्षणे निमित्तम् । तस्येति धर्मस्य । समाध्यानाश्रयस्येति विषयिणः । तत्रेति संभाव-
नाश्रये विषयः । इतरस्येति असमवाश्रयस्य विषयस्य । यस्येति विषयिणः । अतश्चेति ।
अध्यवसायस्य साध्यमानत्वात् । असत्यस्यापीति । वस्तुतो विषयिणस्तत्रासम्भवात् । सत्य-
ताप्रतीतिरिति । निश्चयस्वभावत्वादतिशयोक्तेः । असत्यत्वनिमित्तत्वेति धर्मसचारात्रेः ।
अतश्चेति धर्मसचाराश्रयीयमाणतायाः प्राधान्याभावात् । अध्यवसितप्राधान्यमिति । विषय-
स्य निगीर्णत्वाद्द्विषयिण एव प्राधान्यमित्यर्थः । साध्यत्वमित्युक्तत्वात् समनन्तरमेव
स्वरूपमुपवादितमितीह न पुनरावस्तम् । तत्रेति द्वयनिर्धारणे । अध्यवसाय इत्यादि-
शब्द्वत्त्वमिति सवन्धः । एतदेवोपसंहरति—तदेवमित्यादि । यद्वाहुः—‘विषयित्वेन
संभावनमुत्प्रेक्षा’ इति । प्रतीयमानायामिति । इवाद्यप्रयोगाच्छब्दानुक्तत्वाद्द्वयार्थानां न व्य-
ङ्ग्यायाम्, अलंकारप्रभेदानां प्रतिपिपादयित्वात् इत्यङ्गभेदाभिधानस्याप्रस्तुतत्वात् ।
एवं वाच्या प्रतीयमाना चांप्रेक्षा भवतीत्यनुवादद्वारेण विधिः । सा चेति । वैचिन्मिति ।
तस्य निगीर्णत्वात्प्राधान्यात् । प्रत्येकमिति आशयादीनाम् । निमित्तत्वेति धर्मस्य ।
तद्वादादेव हि प्रकृतगतत्वेनाप्रकृतोपनिबन्धः । हेतुस्वरूपफललक्षणमेवाभ्यां भेदप्रप-
ञ्चितमूलमिति तदेव विभ्रान्तिघामतया पश्चादुद्दिष्टम् । आशयादिभेदगणनं पुनरवैचिन्म्या-
वहमपि चिरंतनानुरोधोपाकृतम् । अत एव ग्रन्थकृता प्रतिपद्येन नोदाहृतम् । अस्माभिश्च
नोदाहरिष्यते । एतेति । समनन्तरोक्तम् । तत्रापीति । सरयामपि समनन्तरोद्दिष्टाया भेद-
गणनायाम् । प्रायःशब्देन च हेतुफलयोः कुत्रापि समवोऽस्तीति दर्शितम् । अत एवा-
लंकारानुसारिण्यां ग्रन्थकृतानयोरपि संभवो दर्शितः । तदेव द्रव्यस्य हेतुफलयोः मध्ये
प्रागुक्तं सख्या ज्यायसी । अन्यथा त्वेतद्भेदोदशकस्याभावादशोक्तिर्भेदाः । अस्याश्च
वष्यमागनीरया हेतुफलयोर्निमित्तानुपादानासंभवाच्चतु पट्टिरेव भेदा संभवन्ति । एतावन्त
इति पणवति । अय प्रकार इति । प्रतीयमानोत्प्रेक्षालक्षणः । प्राय इति । वाच्या यथा
स्वरूपोत्प्रेक्षा लक्ष्येषु प्रचुरा तथैव न भवतीत्यर्थः । न पुनरत्यन्तमेवास्या अभावे
व्याख्येयः । क्वचिदपि लक्ष्येऽस्या दृष्टे । यथासंभवमिति लक्ष्ये भेदनिर्देशः कार्यः । तस्या-
श्चाष्टत्वारिंशद्भेदाः संभवन्ति । तदुक्तमलंकारानुसारिण्याम्—‘प्रतीयमानोत्प्रेक्षाभेदाः

अष्टत्वारिंशत्' इति । अर्थाश्रयापीति । अर्थाश्रयस्य यद्यपि शब्दहेतुकत्वं न क्वाप्युपयुक्तं तथापि श्लिष्टशब्दहेतुकत्वमस्याः क्वचिद्वैचित्र्यमावहतीत्यर्थः । उपमा उत्प्रेक्षायां पर्यवस्यतीति संबन्धः । आनन्त्यमिति बहुप्रकारत्वम् ।

इत्तां [उत्प्रेक्षासूत्र] की व्याख्या करते हैं—विषय—[निगरणेन] इत्यादि के द्वारा । अभेदप्रतीति = अभेदप्रतीति क्योंकि विषय [विषयों के] भीतर छिप जाता है । (सिद्ध अध्यवसाय के ही समान) साध्य अध्यवसाय भी संभावनाज्ञानात्मक होता है तथापि वस्तु = ज्ञान के विषय की दृष्टि से उस [सिद्ध अध्यवसाय] से इस [साध्यअध्य०] का भेद बतलाने के लिए लिखा—'साध्य' इत्यादि । जो संभावनाज्ञान प्रमाण = यथार्थज्ञान के कारण को [यथार्थ-ज्ञान कराने में] सहायता देता है उसमें [संभावना के] विषय का विवेक निहित रहता है । विवेक का स्वरूप रहता है—[पुरोवर्त्ती] इस पदार्थ को [स्थाणु नहीं] पुरुष होना चाहिए यह । इसमें पुरुष की सत्यता वास्तविक होती है । [जहाँ तक साध्य अध्यवसाय का सम्बन्ध है] इसमें उस [पुरोवर्त्ती पदार्थ] पर इस [पुरुष] का अध्यवसाय प्रयोजनवशात् प्रतिपादित किया जाता है इसलिए संभावना के विषय पर संभाव्यमान वस्तु की वस्तुतः सत्यता नहीं रहती । इसी का प्रतिपादन करते हुए लिखा—'असत्यत्वा' प्रतीतिः = 'असत्यरूप से प्रतीति' इत्यादि । असत्यता में कारण बतलाते हुए लिखा—'असत्यत्वं च' = 'और असत्यत्व'—इत्यादि । 'विषय उप-निबन्धः' = 'विषय में उपनिबन्ध' = अस्तित्व दिखलाना = अर्थात् विषयगत धर्म का अभेद कर अध्यवसित करना । इससे सप्रयोजनत्व को पुष्टि की गई । धर्म अर्थात् विषयगत धर्म । उत्प्रेक्षा में निमित्त वही बनता है । 'तस्य = उसका' अर्थात् धर्म का । संभावनाश्रयत्व = संभावना के आधार अर्थात् विषयों का । तत्र = उसमें अर्थात् संभावनाश्रय विषय में । इतरस्य = अन्य का अर्थात् असंभवाश्रय विषय का । यस्य = जिसका अर्थात् विषयों का । अतश्च = और इसलिए = क्योंकि अध्यवसाय साध्य है इसलिए । असत्यस्यापि वस्तुनः = वस्तु के असत्य होने पर भी—क्योंकि विषयों का अस्तित्व वहाँ वास्तविक नहीं केवल कार्यात्मिक होता है । सत्यता-प्रतीति = क्योंकि अतिशयोक्ति निश्चय पर निर्भर रहती है । असत्यत्वनिमित्तस्य = असत्यत्व पर निर्भर = इसलिए कि इसमें [अन्य के] धर्म का [अन्य में] संचार रहता है । अतश्च = और इसलिए = धर्मसंचार के कारण निर्धार्यमाणता की प्रधानता न रहने के कारण 'अध्यवसित-प्राधान्यम्' = अध्यवसित की प्रधानता = अर्थ यह कि विषय के निर्धार्यमाण रहने से प्राधान्य विषयों का ही रहता है । साध्यत्व और सिद्धत्व का भेद अभी-अभी बतला आर है, इसलिए प्रत्येक भेद उसके लिए पुनः यहाँ आयास नहीं किया । 'तत्र = उनमें' यह दोनों के क्षेत्र अलग-अलग करने के लिए लिखा । इसका संबन्ध है 'अध्ववास०००० इत्यादि शब्दों से कहा जाता है' इस अंश से । इसी का उपसंहार करते हुए लिखा—'तदेवम्=तो इस प्रकार' । जैसा कि कहा है 'विषयित्वरूप से संभावना उत्प्रेक्षा—[अलंकाररत्नाकर०] । 'प्रतीयमानायाश्च = प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में' इत्यादि का प्रयोग न रहने से शब्दतः कथन न रहने के कारण ऊँच = [ऊँचा = तर्क = तद्विषय] में, न कि व्यंग्य में, क्योंकि यहाँ प्रतिपादन अभीष्ट है अलंकारों के भेदों का, अतः यदि प्रतीयमान का अर्थ व्यंग्य किया गया तो वह अप्रस्तुत होगा । इस प्रकार 'उत्प्रेक्षा वाच्य और प्रतीयमान होती है'—इस प्रकार उत्प्रेक्षा के वाच्यत्व और प्रतीयमानत्व का विधान इत्यादि के प्रयोगाप्रयोग के विधान के द्वारा किया गया । 'सा च = और वह' । 'न वैचित्र्यम्' = 'कोई वैचित्र्य = चमत्कार नहीं होता' क्योंकि वह [विषय] निर्धार्यमाण होने से अप्रधान रहता है । 'प्रत्येकम् = प्रत्येक का' = जाति आदि में से प्रत्येक का । 'निमित्तस्य = निमित्त का' = धर्म का क्योंकि उसी के आधार

पर प्रकृत पर अपकृत का उपनिबन्ध रहता है। 'हितु, स्वरूप तथा फल' ये ही तीन भेद इस [उत्प्रेक्षा] के प्रधान भेद हैं इसलिए ये ही विश्रान्तिस्थान = वाक्यार्थपर्ययमान विषय हैं, अतः पुनः जो भेद किए उनमें इन्हीं तीन भेदों को दोहराया गया। चमत्कार तो जात्यादि भेदों की गणना में भी नहीं है तथापि प्राचीन आलंकारिकों ने इनकी गणना की है इसलिए इन्हें यहाँ उल्लेखित किया गया है। इसीलिए ग्रन्थकार ने उनमें से प्रत्येक का उदाहरण नहीं दिया, और हम मा प्रत्येक का उदाहरण नहीं देंगे। 'यथा = यह' = अर्थात् अमी कथित उत्प्रेक्षा। 'तत्रापिन्तने पर भी'—अर्थात् उदात्त भेदगणना के रहने पर भी। प्रायः शब्द के प्रयोग से यह बनलाया कि उत्प्रेक्षा के इस प्रकार में हेतुप्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा भी कहीं सम्भव होती है। इसीलिए 'अलंकारानुसारिणी' में ग्रन्थकार ने इन दोनों भेदों का भी सम्भव लिखलाया है। तो इस प्रकार द्वयोत्प्रेक्षा में भी हेतु और फल के सम्भव होने से वही मर्यादा अधिक उपयुक्त है जो अमी-अमी बनलाई गई है। नहीं तो इन सोलह भेदों की कमी हो जाने से उत्प्रेक्षा की कुछ भेदगणना केवल अस्मी तक पहुँच सकेगी। इस उत्प्रेक्षा के केवल चौंसठ भेद होने हैं क्योंकि इसमें होने वाले हेतुप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में, जैसा कि आगे बनलाया जाने वाला है, निमित्तानुपपत्ति सम्भव नहीं होता। 'यथावन्त एव = इनने ही' शिवात्तवे हा। 'अर्थ प्रकार = यह प्रकार' = प्रतीयमानोत्प्रेक्षा रूप प्रकार। 'प्रायः' = अर्थ यह कि जिस प्रकार वाच्य स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल अधिक मिलने हैं उनके इन [प्रतीयमाना] के नहीं। यह नहीं कि इसके स्थल कितने ही नहीं मिलने। क्योंकि कहीं-कहीं यह भी दियाई देती है। 'यथा-सम्भवम् = यथासम्भव' = अर्थात् लक्ष्य में कितने भेद हो सकें उनमें ही भेदों का निर्देश किया जाना चाहिए। ऐसा करने पर इसके केवल ४८ भेद ही होते हैं। जैसा कि 'अलंकारानुसारिणी'—में कहा है—'प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के भेद ४८ ही होते हैं।' 'अर्थात्प्रायः = अर्थ पर आश्रित होने पर भी' = जो अर्थ पर आश्रित वा निर्भर रहता है उसमें शब्दहेतुकता कहीं भी उपयुक्त नहीं तथापि रसमें द्रष्टृशब्दहेतुकता भी कहीं कहीं चमत्कारकारिणी होती है। 'उपमा उत्प्रेक्षा में पर्यवसित हो जाती है'—इस प्रकार की पदार्थोपमेया यहाँ [अथिद पदार्थान्वय ०० वाक्य में] विवक्षित है। 'आनन्दधम् = अनन्तता' = प्रकारों की बहुतायत।

[सर्पम्ब]

साप्रतं स्थियं दिङ्मात्रेणोदाह्रियते । तत्र जात्युत्प्रेक्षा यथा—

'स षः पायादिन्दुर्नयसिलताकोटिकुटिलः

म्मारैर्यो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशो भाति निहितः ।

स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा

कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलनाङ्कुर इव ॥'

अत्राङ्कुरशब्दस्य जातिशब्दत्वाज्जातिरुत्प्रेक्ष्यते ।

[५०] अब इन [उत्प्रेक्षा] के दिग्दर्शन के लिए कनिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाने हैं। पहिले उक्त भेदों में से जात्युत्प्रेक्षा का उदाहरण, यथा—

'आपकी रक्षा वह चन्द्र करे, नवीन कमलकण्ठी [मिसलना] की नौक सा कुटिल, कामारि [शिव] के माथे पर निहित, अत एव [तुपीय-नेत्र की] अग्नि से पीला होने से जो ऐमा लगना है जैसे [शिव के ही] निरन्तर बहती मन्दाकिनो से प्रतिदिन सिक्क स्फटिकधवल ललाट [कराल, न कि सप्पर] से फूट पडा कोई अंकुर हो ।'

—यहाँ अंकुरशब्द वातिवाचक शब्द है इसलिए उत्प्रेक्षा जाति की ही हो रही है।

विमर्शः—संज्ञाविनी के अनुसार यहाँ कुटिलत्वरूपी गुण कारण है। अंकुरशब्द जाति का वाचक है। इसलिये यह उत्प्रेक्षा उपात्तगुणनिमित्ता भावाभिमानरूपिणी जात्युत्प्रेक्षा हुई। यहाँ स्वरूपमात्र की उत्प्रेक्षा है, न हेतु की और न फल की, जब कि भेद प्रतिपादन में पहले हेतु की उत्प्रेक्षा बतलाई गई है उसके बाद स्वरूप की। इस प्रकार यहाँ गणनाक्रम का विरोध है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य दो भेदों के जहाहरण देना ग्रन्थकार को अमोघ नहीं है।

यहाँ 'ज्वलनकपिशो' के स्थान पर नि० सा० संस्करण और मोतीमाल बना० संस्करण में 'ज्वलनकपिशो' छग है। वामन की कान्यालंकारसूत्ररुचि तथा चित्रमीमांसा में भी यही पाठ मिलता है। इस पाठ में इस विशेषण को 'मूर्धा' का विशेषण माना गया है। किन्तु 'चन्द्रकला' की अंकुररूप से प्रतिपादित करके के लिए उसी में पीलापन बतलाया जाना उचित है। माल के पीलेपन का यहाँ कोई उपयोग नहीं है। अतः हमने इसे 'ज्वलनकपिशो' बना दिया है। इसी प्रकार 'कपाल' का अर्थ शिव के गले को मुण्डमाला का कपाल या खप्पर करना भी गलत है क्योंकि गंगा द्वारा अभिषेक शिव के ललाट का ही प्रसिद्ध है, अन्य कपाल का नहीं। फिर सिर पर स्थित चन्द्रमा पर अंकुर की कल्पना करने के लिए उसका उत्पत्तिस्थान सिर के पास का ललाट ही माना जा सकता है गले में पड़ा मुण्ड अथवा हाथ में रखा खप्पर नहीं। यहाँ अंकुर के तीन धर्म, चन्द्रकला में बतलाए गए हैं—सफेदी, पीलापन तथा टेढ़ापन। इसमें के सफेदी और टेढ़ेपन के लिए उड़े कमलिनो की जड़ से मिलाया गया है और पीलेपन के लिए ज्वलनकपिश बतलाया गया है। अंकुर भी सफेदी, पीलेपन तथा टेढ़ेपन से युक्त रहता है।

यहाँ निहित का अर्थ गड़ा हुआ करना व्यर्थ है। यद्यपि निहित, निवान, निधि आदि शब्द मूलतः गड़े हुए पदार्थ के ही प्रतिपादक शब्द हैं। यहाँ निहित के स्थान पर विधृत भी कहा जा सकता है। विस का अर्थ कमल की नाल नहीं कमल की जड़ होता है। डॉ वासुदेवशरणजी ने 'कादम्बरी : एक संस्कृतिक अध्ययन' में कमलकड़ी संबंध उचित कहा है। नाल तो हरी होती है। इसी प्रकार अंकुर शब्द फल और पुष्प के ही उद्भेद के लिए प्रयुक्त होता है, न कि नवीन पत्ते के लिए। तदर्थ 'किसलय' शब्द का प्रयोग होता है। फिर चन्द्रमा की सोलहवीं कला कौपल के समान ही भी नहीं सकती। किसलय भी लहोई के लिए प्रसिद्ध होता है पीलेपन के लिए नहीं। इसमें वक्रता भी नहीं रहती। अंकुर सामान्यतः पीलेपन के लिए ही प्रसिद्ध होता है। लहोई के लिए बहुत कम। उसमें वक्रता भी अप्रसिद्ध नहीं।

[सर्वस्व]

क्रियोत्प्रेक्षा यथा—

'लिम्पतीव तमोङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नमः ।'

अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभोगतत्त्वेनोत्प्रेक्ष्येते । उत्तरार्धे तु

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥'

इत्यत्रोपमैव नोत्प्रेक्षा ।

गुणोत्प्रेक्षा यथा—

'सैपा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।

अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव चद्रमौनम् ॥'

अत्र दस्वं गणः ।

द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

पातालमेतप्रयनोत्सवेन विलोक्य शून्यं मृगलाञ्छनेन ।

इहाङ्गनाभिः स्वमुखच्छलेन कृताम्यरे चन्द्रमयीव सृष्टिः ॥'

अथ चन्द्रस्यैकत्वाद् द्रव्यत्वम् । एतानि भावाभिमाने उदाहरणानि ।

[वृत्ति] कियोत्प्रेक्षा यथा—

'अन्धकार अग अग को लीप सा रहा है ।

[आकाश कज्जलवृष्टि सी कर रहा है ।'—मृष्टकटिक]

—यहाँ तम और नभ [रूपी धर्म] में क्रमशः लेपनक्रिया तथा वर्णनक्रिया [रूपी धर्म] की उपप्रेक्षा की जा रही है । [इस पद्य के]—

'इष्टि असद पुरुष की सेवा की नार्थ विफल हो गई है ।'

—इस उत्तरार्ध में उपमा ही है, उपप्रेक्षा नहीं । [सामान्यतः क्रियापद के साथ प्रयुक्त 'इव' पद उपप्रेक्षावाचक होता है । उत्तरार्ध में वैसा नहीं है । वस्तुतः 'वर्षतीवाशन नभ'—में भी द्रव्योत्प्रेक्षा ही है क्योंकि वहाँ कज्जल की ही उपप्रेक्षा में कविसरम्भ है ।]

शुभोत्प्रेक्षा यथा—

['हे वैदेहि !] यह वह स्थल है जहाँ शुभेँ खोजने हुए मुझे भूमि पर पडा [दुन्दारा] एक नूपुर दिया था जो मानों शुभारे अणारबिन्द के वियोग के डर से चुपी साधे था ।'
[रघुवश-१३]

—यहाँ [जिसकी उपप्रेक्षा हो रही है वह] हुए शून्य है ।

द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

'इस पाताल को नेत्रोत्सव शृगाक से शून्य देख सुन्दर बनिताओं ने यहाँ अपने मुखों के बहाने आकाश में मानों चन्द्र ही चन्द्र की सृष्टि कर डाली है ।' [श्रीरामचन्द्र दिवेदी ने इसके अनुवाद में एक ताँ आकाश को छोट दिवा है दूसरे उनके अनुवाद में मभावना का विषय सृष्टि मित्र होती है, चन्द्र नहीं फलन वह क्रियोत्प्रेक्षा सिद्ध होती है द्रव्योत्प्रेक्षा नहीं ।]

—'यहाँ चन्द्रचन्द्र द्रव्यवाचक है क्योंकि चन्द्रमा केवल एक ही होता है ।'

ये सब उदाहरण हैं माहात्मक [Positive पदों की] उपप्रेक्षा के ।

चिमर्शिनी

सांप्रतमिति प्रासात्रसरम् । दिङ्मात्रेणेति । अनेन आत्वादिभेदानामनवकृत्स्निर्घनिता । तमोगतत्वेनेति । तमोगतभ्यापनादिधर्मनिर्गणेनेत्यर्थं । अत्र हि तमयो घमिगोऽन्यधर्म-घमिर्त्वं निर्गीर्यान्यधर्मधर्मित्वमवस्थापितमित्यप्र एव चक्ष्याम । द्रव्योत्प्रेक्षेति । द्रव्यस्थ स्वरूपेणोत्प्रेक्षणम् । तस्यैव हि हेतुप्रेक्षा यथा—

'जयति शिशिरतायाः कारणं सा हिमाद्रे-

खिपुरहरकिरीटादापतन्ती घुसिन्धुः ।

सतनसहनिवामी शीरसिन्धोः प्रसूतो

हिमकर इव हेतुः शैत्यशैत्यस्य यस्याः ॥'

अग्नेन्दोर्द्वयस्य हेतुस्त्वेनोत्प्रेक्षणम् । फलोत्प्रेक्षा यथा—

'मध्येसलिलमादित्यसंमुखं धूलिधूसराः ।

कुमुदिन्यस्तपस्यन्ति चन्द्रायेव दिने दिने ॥'

अत्र चन्द्रस्य द्रव्यत्वम् । मृषामेव भावाभिमानोद्गाहरणत्वमितिदिशति—यतान्तर्यामिना ।

साम्प्रतम् = अब अक्सर आ जाने पर । द्विदमात्रेण = दिन्दर्शनमात्र, इससे यह संकेत दे दिया गया कि जाति आदि भेदों के अवान्तर भेदों के उदाहरण नहीं दिए जावेंगे । तमोगतत्वधेन = तम में = अर्थ यह कि तमोगत व्यापन आदि धर्म के निगरण के द्वारा । हम यह अभी आगे चलकर बतलावेंगे कि तमरूपी धर्मों में अन्य धर्म से युक्त होना छिपाकर [निगोर्ण कर] अन्य धर्म से युक्त होना ठहराया गया है । द्रव्योत्प्रेक्षा द्रव्य की अपने रूप से उत्प्रेक्षा [स्वरूपोत्प्रेक्षा] । द्रव्य की ही हेतुरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण—

'हिमाद्रि में जो क्षिश्चिरता है उसका कारण है शिव के शिर से गिरती गंगा, जो [गंगा] मानों चन्द्रमा की सफेदी और शीतलता से सफेद और शीतल है क्योंकि वह चन्द्र सदा गंगा के समीप ही [हरजयजुट में] रहता है । वह [त्वयं सफेद इसलिये है कि वह] क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ है, उसकी किरणें शीतल होती हैं ।

—यहाँ जो द्रव्यरूप चन्द्रमा है उसकी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की जा रही है । द्रव्य की ही फलरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण यथा—

'कुमुदिनियों जो प्रतिदिन सूर्य की ओर मुँह करके और धूलि [-पराग-] धूसर होकर पानी के बीच तप करती हैं वह मानों चन्द्रमा के ही लिए ।'

—यह चन्द्रमा द्रव्य है [और उसे फलरूप से बतलाया गया है] ।

इन्हीं उदाहरणों को भावाभिमान के उदाहरण बतलाने हुए लिखते हैं—पुत्रानि ।

[सर्वस्व]

अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।

अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥'

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावाभिमानः । एवं जात्यादावप्युहाम् । गुणस्य निमित्तत्वं यथा—'नवविसलताकोटिकुटिलः' इत्यग्नोद्गाहते कुटिलत्वस्य । क्रियाया यथा—'ईदृक्षां क्षामतां गतौ' इत्यत्र क्षामतागमनस्य । निमित्तोपादानस्यैते उदाहरणे । अनुपादाने 'लिम्पतीच तमोऽह्वानि' इत्याद्युदाहरणम् ।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'विश्लेषदुःखादिव वद्धमौनम्' इत्यादौ ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'कुबेरजुष्टं दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घय ।

दिग् दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिबोत्ससर्ज ॥'

फलोत्प्रेक्षा यथा—

‘चोलस्य यद्गीतिपलायितस्य मालत्ववं कण्टकिनो वनान्ताः ।

अद्यापि किं घानुभविष्यतीति व्यपाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥’

एवं चाच्योत्प्रेक्षाया उदाहरणदिग् दत्ता । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

‘मद्विलासहम्सभरिप तुह्य द्विष्य सुहृत् सा अमावन्ती ।

अणुदिणमण्णमम्मा अंगं तणुअं पि तणुपइ ॥’

अत्र—अमावन्तीत्यर्थतमानेवेति तनूकरणहेतुत्येनोत्प्रेक्षितम् ।

एवं भेदान्तरेष्वपि प्रेयम् ।

[वृत्ति] अभाव [Negative पदार्थों की] उत्प्रेक्षा यथा—‘बटे रंग की बात है कि इस [पार्वती] के बड़े बड़े कपड़े हैं, ऐसी क्षामता [दुर्बलता] को प्राप्त हो गए । ऐसा कदाचिद् इस लिए हुआ कि वे एक दूसरे को देख नहीं पा रहे हैं [जैसे दो महान्दर भाई परस्पर के आत्यन्तिक वियोग से प्रेमवश सूख जाते हैं] ।

—यहाँ ‘अपश्यन्ती = न देख पाने’—इस प्रकार [दर्शन =] क्रिया के अभाव की उत्प्रेक्षा है ।

इसी प्रकार जाति आदि [की उत्प्रेक्षाओं] में भी [अभाव के उदाहरण] समझे जा सकते हैं ।

[उत्प्रेक्षा का] निमित्त जहाँ गुणरूप होता है ऐसा स्थल यथा—[‘स व पाया-दिन्दुः’ पद्य से—] ‘नवविमललक्ष्मिदुटिल = नवीन कमलकटौ की नोंक सा कुटिल’—इस [अशु] में [अभी अभी] निर्दिष्ट कुटिलता ।

निमित्त जहाँ क्रियारूप होता है यथा—‘ईदृशा क्षामता गती = ऐसी कुशला को प्राप्त’—इस अंश में कुशला को प्राप्त होना ।

उक्त दोनों ऐसे उदाहरण हैं जिनमें निमित्त का उपादान [शब्दतः कथन] है । [निमित्त के] अनुपादान के उदाहरण हैं ‘तत्र अग-अग को छीप सा रहा है’—इत्यादि ।

हेतुत्प्रेक्षा यथा—[‘सैषा स्वली वनः’-पद्य में—]

‘मानो वियोगदुग्ध से लुप्पी साधे’—इत्यादि में ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—[शिव के तपोवन में सहसा वसन्त ऋतु के आरम्भ होने लगने पर]

‘सूर्य, अत्र समय [दक्षिणावर्त काल तथा निश्चित मिलनकाल] का उल्लेखन कर कुवेरसेविन [उत्तर] दिशा की ओर चलने लगा तो दक्षिणादिशा ने अपने मुख [दिग्-भाग तथा मुँह] से मलयमारुत छोटना शुरू किया, मानो वह उसकी विप्रियजनित उत्सोग हो । [कुमार-संभव सर्ग-३]

फलोत्प्रेक्षा यथा—

‘जिसके मय से मागे चोलप्रेक्षापि के माल की त्वना को कौट्यार जगल मानो यह देखने के लिए फाट रहे थे कि ‘अब इसे और क्या भोगना है’ ।

इस प्रकार वाच्य उत्प्रेक्षा के उदाहरणों का दिग्दर्शन किया ।

प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के उदाहरण ये हैं—

‘महिलासहस्रमरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ता ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तवकमपि तनयति ॥’

—‘हे सुभग [सुन्दरियों के प्रेमेपात्र] ! वह बेचारी सहस्रों महिलाओं से भरे तुन्दार हृदय में जगह नहीं पा सक रही है, अतः वह और कुल नहीं करती, केवल अपनी स्वभावतः दुवली काया को और भी दुवली बनाती जा रही है ।’

—यहाँ ‘जगह नहीं पा सक रही है’ इत्ते काया को दुवली बनाने में हेतुरूप से उत्प्रेक्षित किया जा रहा है अर्थात् ‘मानों तुन्दारे हृदय में स्थान न पा सकने से वह अपनी स्वतः दुवली काया को और भी दुवली करती जा रही है ।’

इसी प्रकार अन्य भेदों में भी समझ लेना चाहिए ।

विमर्शिनी

अभ्युद्यमिति अभावाभिमानोदाहरणम् । निमित्तोपादानत्वेति । कुटिलत्वस्य धामता-
गमनस्य च साक्षाग्निर्देशात् । अनुपादान इति । तिरोधायकत्वादेर्निमित्तस्य गम्यमान-
त्वात् । भेदान्तरेष्विति स्वरूपफलादिकेषु । ज्ञेयमिति प्रतीयमानत्वात् । तत्र स्वरूपो-
ध्पेक्षा यथा—

‘मलजसमीरसमागमसंतोत्पणिव्चाराभिसन्वले ।

विध्याद्गृह चलकिसलयकराहि साहाहि बहुलच्छ्दी ॥’

अत्र मधुलक्ष्मीगतत्वेन चलकिसलयकरत्वादि निर्गौर्य व्याहरणक्रिया स्वरूपेणोत्प्रेक्षि-
ता । तदौन्मुख्योत्पादकत्वादि च निमित्तमनुपात्तम् । यत्पुनरुद्देशे प्रतीयमानोत्प्रेक्षोपां नि-
मित्तानुपादानं न संभवतीत्युक्तं तत्र प्रायस्तस्याः स्वरूपोत्प्रेक्षणस्यासंभवो निमित्तम् ।
अन्यकृतो हि प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हेतुफलरूपेण भवतीत्यभिप्रायः । हेतुफलोत्प्रेक्षणयोश्च
वच्यमाननीत्या निमित्तानुपादानं न संभवतीत्याशयेनैतदुक्तम् । तेन प्रतीयमानापि स्व-
रूपोत्प्रेक्षा निमित्तोपादानानुपादानभ्यामेव भवति । तत्र निमित्तानुपादाने उदाहृता ।
उपादाने तु यथा—

‘प्रसारि सर्वतो विश्वं तिरोदधद्विदं तमः ।

सर्वाङ्गं लिम्पति जनं सान्द्रैरसृतकृच्छकैः ॥’

अत्र प्रसारित्वादि निर्गौर्य तमागतत्वेन लेपनक्रिया स्वरूपेणोत्प्रेक्षिता तिरोधाय-
कत्वादि च निमित्तम् ।

‘तुरीयो ह्येव मेघोऽग्निराग्नायः पञ्चमोऽपि वा ।

अपि वा जङ्गमं तीर्थं घर्मो वा मूर्तिसंचरः ॥’

इत्यादौ तु वामनमते विशेषोक्तिः—‘भूतलकार्तिकेयः’ इतिवत् । अन्यकृन्मते तु दृढा-
रोपं रूपकम् । यद्वच्यति—या त्वेकहानिकल्पनायां साम्यदाढ्यं विशेषोक्तिरिति
विशेषोक्तिर्लक्षिता सास्मदर्शने रूपकभेद एवेति । अत एवात्र तत्सामप्रथभावा-
दुत्प्रेक्षोदाहरणत्वं न वाच्यम् । एवं ‘अपरः पाकशासनो राजा’ इत्यत्रापि दृढारोपमेव
रूपकम् । एतच्चालंकारानुसारिण्यामुत्प्रेक्षाविचारे अन्यकृतैव दर्शितम् । फलोत्प्रेक्षा यथा—

‘गिञ्जंते मंगलगाहिजाहि वरगोचदत्तकण्णाय ।

सोत्तं विणिग्गओ उअह होंतवहुआहि रोसंचो ॥’

अत्र श्रोतुमिवेति फलमुत्प्रेक्षितम् ।

'अभ्युद्यम् = समझ लेना कल्पना का लेना चाहिए'—अर्थात् अभावगतक उत्प्रेक्षा की।
 'निमित्तोपादानस्य = निमित्त के उपादान के' [उदाहरण, इत्यर्थ कि = उक्त उदाहरणों में]
 दुष्टिर्ता और क्षामना को प्राप्त होना इन दोनों का साक्षात् शब्दत निर्देश है, 'अनुपादान =
 निमित्त का उपादान न रहने पर' क्योंकि, लिम्पनीय तमोऽज्ञानि० आदि में] निमित्तभूत जो
 निरोधायकत्वादि धर्म हैं वे प्रतीयमान हैं। 'भेदान्तरेषु = अन्य भेदों में' = स्वरूपोत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा
 आदि भेदों में। 'शेषम् = जानना चाहिए'—क्योंकि उनमें भी उत्प्रेक्षा प्रतीयमान ही होती है।
 इनमें स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'मलयमयीर समागम-मनोप-पाटघराभि सर्षथ ।

विभ्याहरति चककिमल्यकरामि श्यापामिर्मुलङ्गी ॥

—'मधुलक्ष्मी मलयपवन के समागम के स्नोप को नुरा लेने वाला किमलयों के चकल हाथों
 वाली शाखाओं से जहाँ तहाँ, सब कहीं बोल रही है।'

—यहाँ मधुलक्ष्मी में चककिमलयकरत्व का निगरण कर स्याहरण = बोलना = क्रिया के स्वरूप
 की उत्प्रेक्षा है। इसमें कारण है उम्की ओर उन्मुखाता उपपन्न करना आदि। वह अनुपात्त है।
 उत्प्रेक्षा गिनाते समय यह भी कहा है कि 'प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान संभव
 नहीं होता' इसका कारण यह है कि इस प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में प्रायः स्वरूप की उत्प्रेक्षा संभव
 नहीं होती। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान उत्प्रेक्षा केवल हेतुत्प्रेक्षारूप और फलो-
 उत्प्रेक्षारूप ही होती है। अर्थात् उक्त क्रयन का अभिप्राय यह है कि हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में
 भागे बतलाए क्रम से निमित्त का अनुपादान संभव नहीं होता। इसका निश्चय यह निकला कि
 स्वरूपोत्प्रेक्षा प्रतीयमान होने पर भी दो प्रकार की होती है। एक वह जिसमें निमित्त का उपादान
 रहता है और दूसरी वह जिसमें नहीं रहता। दोनों में से निमित्त के अनुपादान से होने वाली
 स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण दे दिया गया है। उपादान में होने वाली स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण
 यह है—

'यह अन्धकार सब ओर फैल रहा है और विश्व भर को छिपाता जा रहा है। यह प्रत्येक
 व्यक्ति के अंग अंग को अमृत की बनी कूचियों से छीपता जा रहा है।

—यहाँ प्रसारित = फैलने वाला होना निगल कर लेपन क्रिया के स्वरूप की अन्धकार के
 ऊपर उत्प्रेक्षा की जा रही है। उसमें निमित्त है तिरोबाधकत्वादि [जो कि शब्दतः कथित =
 उपात्त है]।

'यह [आवर्तनीय, दीर्घनीय तथा गार्हपत्य इन तीन यज्ञाग्निषों से भिन्न] चतुर्थ यज्ञाग्नि है
 अथवा पौंचवा वेद है, अथवा चल्ता फिरता तीर्थ है या तो मूर्तिभ्रान् होकर घूमना फिरता धर्म है।'

—इत्यादि में [काव्यालंकार सूत्रकार] वामन के अनुमार विशेषोक्ति अलंकार है जैसे 'भूत-
 ल्कात्तिनेय = पृथिवी पर उतरा स्कन्द या कात्तिकमास अथवा कात्तिक पूर्णिमा का चन्द्र'—एक स्थल में
 माना जाता है। ग्रन्थकार के मन में यहाँ इन्द्रारोप रूपक ही है। जैसा कि आगे चलकर कहेंगे—
 'विशेषोक्ति का 'एक [गुण की] हानि कथित कर साम्य की दृढता विशेषोक्ति होती है'—यह जो
 लक्षण [वामन ने] किया है, यह हमारे अनुमार एक का ही एक भेद है। हमीलिए इसे उत्प्रेक्षा
 का उदाहरण नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री नहीं है। इसी प्रकार
 'यह राजा दूसरा इन्द्र है'—यहाँ भी इन्द्रारोप रूपक ही मान्य है। यह सब अलंकारानुसारिणी में
 उत्प्रेक्षा पर विचार करने समय स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रतिपादित किया है।

फलोत्प्रेक्षा यथा—

गुह्यान्ते महलप्राहिकाभिर्दरभौद्रदत्तकर्णायाः ।

श्रोतुं विनिर्गन्तः पश्यत भविष्यद्वध्वा दि रोमांचः ॥

गूढकर्म के बाद मंगलप्राहिकाबौं द्वारा लिए गये वर के नाम पर दत्तकर्णा भविष्य वधू का रोमांच देखो जो मानों [उसी नाम को] सुनने के लिए निकली है ।

—यहाँ 'मानों सुनने के लिए' इस प्रकार फल की उत्प्रेक्षा की गई है ।

[सर्वस्व]

शिल्लष्टशब्दहेतुर्यथा—

'अनन्यत्सामान्यतया प्रसिद्धस्त्यागीति गीतो जगतीतले यः ।

अभूद्दहंपूर्विकया गतानामतीव भूमिः स्मरमार्गणानाम् ॥'

अत्र धर्मविषये मार्गणशब्दः शिल्लष्टः ।

[वृत्ति] शिल्लष्टशब्दहेतुक [उत्प्रेक्षा] यथा—

"अन्य [त्यागियों] जैसा [छुद्र] न होने से 'प्रसिद्ध त्यागी, प्रसिद्ध त्यागी' इस प्रकार गाया जाने वाला जो काम के होड़ लगाकर पहुँचने वाले मार्गणों [बाण तथा याचकों] का बहुत ही अधिक लक्ष्य बना हुआ था ।"

—यहाँ [वर्णनीय व्यक्ति में मार्गण अर्थात् याचकस्वरूप कामबाणों का विषय बनना] धर्म उत्प्रेक्षित किया जा रहा है तद्वाचकशब्द 'मार्गण' यहाँ [याचक तथा बाण इन दो अर्थों का प्रतिपादक होने से] शिल्लष्ट है ।

विमर्शिनी

शिल्लष्ट हृत्पथिधारवाचकत्वात् ।

शिल्लष्ट इसलिये कि वह [मार्गण शब्द] याचक तथा बाण दोनों अर्थों का वाचक है ।

[सर्वस्व]

उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके देव्या मुखाभोरुहे

रोलम्बन्ति तमालवालमुकुलोत्सन्ति श्रौलावपि ।

याः कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरङ्गे च कालागुरु-

स्थासन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिवं श्रीकण्ठकण्ठत्विपः ॥'

अत्र यद्यपि 'सर्वप्रतिपदिकेभ्यः क्विप्' इत्युपमानात्किञ्चिद्वाचामुखे उपमाप्रतीतिस्तथाप्युपमानस्य प्रकृते संभवौचित्यात्संभावनोत्पाने उत्प्रेक्षायां पर्यवसानम् । यथा वा विरहवर्णने 'केयूरयितमङ्गदैः' इत्यादौ । एषापि समस्तोपमाप्रतिपादकविषयेऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु प्रदेशेषु द्राहृता, इह तु ग्रन्थविस्तरमयान्न पपञ्चिता ।

[७०] ऐसी उत्प्रेक्षा का उदाहरण जिसके आरम्भ में उपमा प्रतीत हो—'नीलकण्ठ भगवान् शिव के कण्ठ की वे किरणें आपकी कल्याणवृद्धि करें जो भगवती पार्वती के ललाट पट्ट पर कस्तूरी

तिलक का काम करती हैं, उनके मुग्न कमल पर अमर का, सिर पर तमाल की नन्दी नन्दी कल्पियों के उत्तम वर, कान में खिले हुए नीलकमल का और आँचर के ऊपर काले अमर के धागे का ।

—यहाँ यद्यपि आरम्भिक वाक्यार्थप्रतीति में प्रतीत होती है उपमा; क्योंकि कस्तुरीतिलकान्ति आदि नामधातु पदों में प्रकृतिरूप से प्रयुक्त 'कस्तुरीतिलक' आदि नामशब्द तमी क्रियाशब्द बनने हैं जब वे उपमानार्थक होते हैं, एतदर्थ पाणिनिन्याकरण के नियम 'समो प्रातिपदिको सं किप्' [वाचिक ३।२।१२] के अनुसार उनमें किप् प्रत्यय लगता है और वह लगना है केवल उपमानार्थक शब्द के साथ ही, तथापि अन्तिम वाक्यार्थ प्रतीति में प्रतीत होती है उत्प्रेक्षा ही, क्योंकि [इस वाक्यार्थ में आए] कस्तुरीतिलक आदि उपमानों का इसी प्रसंग में वर्णित ललाट आदि में होना भी समझ है, अतः यहाँ [उत्प्रेक्षा का बीज] संभावना उठ सही होती है। [अलङ्काररत्नाकरकारने यहाँ परिणामगर्भोपमा माने हैं] और जैसे विरहवर्णन में 'अंगदों ने केयूर का काम किया' इत्यादि स्थलों में [देखा जाना है] ;

[उत्प्रेक्षा के आरम्भ में प्रतीत होने वाली] यह उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वहाँ भी होती है जहाँ उपमा का प्रतिपादक शब्द भी विद्यमान रहना है किन्तु मयास में। इसके उदाहरण हर्षचरित वाचिक और साहित्यमीमांसा में तो उन उन स्थलों में अनेक बार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया केवल ग्रन्थविस्तार के मय से [टीकाकार ने उदाहरण दे दिया है] ;

विमर्शनी

आमुख इति न पुनः पर्यवसाने । उपमाप्रतीतिरिति । तदर्थमेव किप् प्रयुक्ते । अत एवात्र वाचकाभावात्प्रोपेक्षावमिति न वाच्यम् । नहि वाचकसमवामभ्रमाश्रमेवालकाराणां भावाभावप्रयोजकम् । एवं हि श्याजस्तुती निन्दादेवत्वत्वेऽप्यवाच्यस्य स्तुर्यादेः प्रतीतिरलङ्कारव्यपयवसायिनी न स्यात् । तस्माद्वाक्यार्थे एव प्रकृतोऽलङ्काराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । वाक्यार्थस्य च पदार्थान्वयवेलातोऽभ्येव प्रतिपत्तिः । समकौचित्यादिति । कस्तुरीतिलकादेर्विषयिणो भालफलकादौ संभवे यथोचित्यं न तथा कण्ठस्त्रिंशदादेर्विषयस्येत्थं । अत एवात्रोपमाया प्रकृतस्याप्रकृतकस्तुरीतिलकादिरूपतया परिणामापरिणामगर्भत्वं यद्यन्येद्वत्तं तत्तेषां परिणामस्वरूपानभिज्ञत्वम् । न हीचित्यमेव तस्य स्वरूपं किं ॥ यथोक्तं प्रकृतोपयोगित्वम् । औचित्यं च नोत्प्रेक्षायां विरहम् । तस्य सर्वत्रैव भावात् । उपेक्षायां पर्यवसानमिति । कण्ठस्त्रिंशदादेव कस्तुरीतिलकादिप्रतीतेर्विषयिणो विषयनिर्गमनात्प्रतीतिः सादर्यावगमाभावात् । सादर्यं ह्युभयनिष्ठम् । न चात्र प्रकृतान्तरयोः संपघितया प्रतीतिः । यथा वस्यनेनास्या लभ्ये प्राचुर्यं दक्षितम् । समरतोपमाप्रतिपादकविषये दृश्यमाना । सा तु यथा—

॥ दण्डपादो भवदण्डपादमुख्यण्डयन्रक्षतु चण्डिकायाः ।

यस्येन्दुलेखा पुरतः स्फुरन्ती वृष्यत्तुलाकोटितुलासुपैति ॥

अत्र सःयपि तुलाशब्दे चन्द्रलेखाया एव तुलाकोटिवप्रतीतेरुत्प्रेक्षावम् ।

आमुख = आरम्भ में अर्थात् पर्यवसान = अन्त में नहीं । उपमाप्रतीति क्योंकि किप् प्रत्यय होता है उसी अर्थ में है । इसलिये यह कथन कि 'यहाँ वाचक नहीं है अतः उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती,' ठीक नहीं । वाचक का होना या न होना मात्र अलङ्कारों के होने या न होने में कारण

नहीं माना जाता। यदि ऐसा माना जाय तो न्यायस्तुति में निन्दा या स्तुति के किसी एक पक्ष के वाच्य रहने पर भी तद्विरुद्ध स्तुति या निन्दा का द्वितीय पक्ष अवाच्य रहता है और उस [द्वितीय पक्ष] का ज्ञान ही वहाँ अलंकाररूप में पर्यवसित होता हुआ माना जाता है, वह संभव न होगा। इसलिए निष्पन्न वाच्यार्थ को ही अलंकारों के स्वरूप का प्रतिष्ठापक प्रमाण मानना उचित है। जहाँ तक वाच्यार्थज्ञान का सम्बन्ध है उसका स्वरूप पदार्थों के सम्बन्ध के सम्यक् होने वाले ज्ञान से भिन्न ही होता है।

संभ्रमोच्चरिथात् अर्थ यह कि जितना औचित्य कस्तूरौतिलक आदि विषयों के ललाटपट्ट आदि में संभव होने में है उतना कण्ठकान्ति आदि विषय के संभव होने में नहीं। और इसीलिए [अलंकाररत्नाकरकार आदि] अन्य आलंकारिकों ने जो इस पद्य में उपमा मानी है और उसे भी जो प्रकृत कण्ठकान्ति को अप्रकृत कस्तूरौतिलक आदि रूप से परिणत मान परिणामगमित उपमा बतलाई है वह उनसे अपना परिणाम के स्वरूप का अज्ञान ही जाहिर किया है। केवल औचित्य से ही परिणामालंकार निष्पन्न नहीं होता, उसकी निष्पत्ति प्रकृतोपयोग से होती है। और केवल औचित्य उत्प्रेक्षा में विरोधी नहीं होता, क्योंकि वह तो सर्वत्र ही रहता है।

उत्प्रेक्षायां पयवसानम् = उत्प्रेक्षा में पर्यवसान अर्थात् वहाँ कण्ठकान्ति कस्तूरौतिलक आदि के अभिन्न प्रतीत होती है; इसलिए क्योंकि यहाँ विषयों विषय से अभिन्नरूप से प्रतीत होता है अर्थात् वह विषय को अपने आप में निगले रहता है फलतः [उपमा का बीज] सादृश्य यहाँ पर्यवसान में प्रतीत नहीं होगा। सादृश्य जो है वह सदा ही में रहता है और इस पद्य में प्रकृत और अप्रकृत अलग अलग बराबरी के साथ प्रतीत नहीं हो रहे हैं। [दोनों में अमेद प्रतीत हो रहा है। दोनों अलग प्रतीत होते तो उनमें सादृश्य बनता]।

[यहाँ अलंकाररत्नाकरकार ने परिणाममुखी उपमा की सिद्धि कर खण्डन 'रूपकमुखी उत्प्रेक्षा' का किया है, उपमामुखी उत्प्रेक्षा का नहीं। कदाचित् ४० रत्नाकरकार को सर्वस्व की कोर्ष ऐसी प्रति मिली होगी जिसमें उपमा की जगह रूपक पाठ होगा।]

'यथा वा = और जैसे' इस प्रकार एक और उदाहरण देकर यह बतलाया कि यह उपमामुखी उत्प्रेक्षा कान्धों में पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

पुषा = यह अर्थात् समस्तोपनाप्रतिपादक विषय में अर्थात् ऐसे स्थलों में जहाँ उपमा का प्रतिपादक शब्द रहता है और समास में रहता है, दिखाई देने वाली। उदाहरण—

उसका उदाहरण—'मगवान् शंकर के दण्डपाद [नृत्य में पीछे पीठ की ओर से जाकर सिर की ओर ऊपर उठाए गए पैर] से बाजी मार ले जाने वाला भगवती पार्श्वती का दण्डपाद [हम लक्ष्मी] रक्षा करे जिसके सामने चमकती [भगवती पार्श्वती के झुंडे पर बैठी] चन्द्रलेखा दृष्टते नूपुर की तुलना प्राप्त कर लेती है'। इस पद्य में [उपमा के प्रतिपादक] 'तुला'—शब्द का [समास के भीतर] प्रयोग है तब भी चन्द्रलेखा में नूपुरत्व की संभावनामूलक प्रतीति होने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा है।

[सर्वस्व]

सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा—

'गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीपु ।

यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्तादृहासेव विभाति सिप्रा ।'

अत्रेवशब्दमाद्वात्म्यात्संभावनं छलशब्दप्रयोगाच्चापह्नवो गम्यते । एवं

छद्मादिशब्दप्रयोगेऽपि ज्ञेयम् । 'अपर इव पाकशासनः' इत्यादावपरशब्दा-
प्रयोगे उपमैवेयम् । तत्प्रयोगे तु प्रकृतस्य राज्ञः पाकशासनत्वप्रतीतावध्य-
वसायसंभवादिशब्देन च तस्य साध्यत्वप्रतीतेरुत्प्रेक्षैवेयम् । इयं शब्दा-
प्रयोगे सिद्धत्वाद्ध्यवसायस्यातिशयोक्तिः । इवापरशब्दयोरप्रयोगे तु
रूपकम् । तदेवं प्रकारवेचित्येणावस्थिताया उत्प्रेक्षाया हेतूत्प्रेक्षायां
यस्य प्रकृतसंबन्धिनो धर्मस्य हेतुरुत्प्रेक्ष्यते स धर्मोऽध्यवसायवशादभिन्न
उत्प्रेक्षायां निमित्तत्वेनाधीयते । स च वाच्य एव नियमेन भवति । अथ यथा
कं प्रति हेतुः स्यात् । यथा—'अपश्यन्ताविद्यान्योन्यम्' इत्यादौ । अप्र कपो-
लयोः प्रकृतयोः संबन्धित्वेनोपास्यस्य क्षामतागमनस्य हेतुरदशनमुत्प्रेक्षि-
तम् । हेतुफलं च क्षामतागमनं तत्र निमित्तम् । एयम् 'अदृश्यत स्थचरणार-
विश्वविह्लेषुःखादिषु यज्ञमौनम्' इत्यत्र नूपुरगतस्य मौनियस्य हेतु-
दुःखित्वम् । तदुत्प्रेक्षणे मौनित्वमेव निमित्तं ज्ञेयम् । एवं सर्वत्र ।

'अपह्व से युक्त उत्प्रेक्षा यथा—

'जहा उल्लती फेनराजि के बहाने सिप्रा अट्टहाम विपेरती-सी प्रतीत होती है जब नगर-
बनिता' [स्नान के समय] मछली के टकरा जाने से घबराकर किनारे पर पहुंचती है ।'

यहां 'इव = सी' शब्द का प्रयोग है इसलिये समावना और 'छल' शब्द का प्रयोग है इसलिये
अपकृति की प्रतीति होती है । इसी प्रकार 'छछ' आदि शब्दों के प्रयोग रहने पर भी [उत्प्रेक्षा
होती है ऐसा] जानना चाहिए ।

'दूसरा ना इन्द्र' इत्यादि स्थलों में यदि 'अपर = दूसरा' शब्द का प्रयोग न होता तो यहाँ
उपमा ही होती, उमका प्रयोग हो जाने से प्रकृत राजा में इन्द्रत्व की प्रतीति होने लगी फलतः
यहाँ अध्यवसाय होना समभव हो गया और 'इव = सा' शब्द द्वारा उस [अध्यवसाय] में साध्यत्व
की प्रतीति करा दी, इसलिये यहाँ उत्प्रेक्षा ही हुई । यदि इव शब्द का प्रयोग न होता तो यहाँ
सिद्ध अध्यवसाय प्रतीत होता और तब अनिशयोक्ति होती । और यदि, न इव शब्द का प्रयोग
होता और न अपर शब्द का तो यहा रूपक होता ।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा के भेदों में अनेक विचित्रताएँ मिलती हैं, अतः इसका जो हेतूत्प्रेक्षाभेद है
इसमें प्रकृत के जिस धर्म का हेतु उत्प्रेक्षित किया जाता है वह धर्म [अपकृत के धर्म से] अध्य-
वसाय के आधार पर अभिन्न प्रतीत होना है और वही उत्प्रेक्षा का निमित्त स्वीकार किया जाना
है । और वह सदैव केवल वाच्य ही रहता है । ऐसा [वाच्य] न हो तो उत्प्रेक्षित हेतु किमके
प्रति हेतु सिद्ध होगा ? यथा—'मानों एक दूमरे की न देखने हुए' इत्यादि [पूर्वाद्भूत] स्थल में ।
यहा प्रकृत है कपोल । उनमें धर्मरूप में दुर्बलता बनलाई जा रहा है और उस [दुर्बलता] में हेतु
बनलाया जा रहा है अदर्शन—न दिखाने देना । इस प्रकार हम [उत्प्रेक्षा] में निमित्त है [न
दिखाने देने रूप] हेतु का फल = दुर्बल होना । इसी प्रकार—[राम की सीता के प्रति उक्ति—
तुम्हारा नूपुर] 'मानों तुम्हारे चरणारविन्द में विडुडने से नुप्पी साधे दिखाई दिया था'—
इत्यादि स्थलों में नूपुरगत मौनित्व = नुप्पी का हेतु है दुःखित्व । उसकी उत्प्रेक्षा में निमित्त माना
जाना चाहिए मौनित्व ही और इसी प्रकार [हेतूत्प्रेक्षा के] सभी स्थलों में जानना चाहिए ।

विमर्शिनी

छुन्नशब्दप्रयोगेण यथा—

स्वेदोद्विन्दुसंदोहच्छट्मना तव राजते ।

स्मरेणोवैम्यनर्घापि दत्तार्धेव कुचस्थली ॥'

अस्याश्च तत्तच्छब्दप्रयोगाप्रयोगाभ्यां प्रतीतिभेदादलंकारैः सह विभागं दर्शयितुमाह—
अपर इत्यादि । तत्प्रयोग इत्यपरशब्दप्रयोगे । इवशब्दस्य संभावनाद्योतकस्याप्रयोगात्
सिद्धत्वम् । अत एव चात्र विषयस्वानुपादानमेव । तदुपादाने हि द्वारोपं रूपकमिति
समनन्तरमेवोक्तम् । अन्यत्र पुनः सर्वत्र विषयोपादानमेव न्याय्यम् ।

तद्विषयं भेदवैचित्र्येणावस्थिताया उत्प्रेक्षाया हेतुस्वरूपफलानां यथासंभवं स्वरूपं
दर्शयति—तदेवान्त्यादिना । स धर्म इति यं प्रत्येव हेतुस्त्वप्रेष्यते । अध्यवसायवशादिति
भेदेऽप्यभेदाश्रयणात् । अभिन्न इत्यप्रकृतसंबन्धिना धर्मेण । स इति निमित्तत्वेनाश्रितो
धर्मः । नियमेनेति । अत्राच्यः पुननं कदाचिद्भवतीत्यर्थः । अन्ययेति अत्राच्यत्वे । कं प्रति-
हेतुरिति । तस्यैव फलरूपत्वात् । नहि य प्रत्येव हेतुस्त्वप्रेष्यते तस्यैवावाच्यत्वं युक्तम् ।
साध्यमन्तरेण साधनस्य निर्विषयत्वापत्तेः । यदि चास्य निमित्तमाश्रयमेव स्यात्-
द्वाच्यत्वमवाच्यत्वं स्यात् । एवमेक एव धर्मो हेतोरप्रेष्यमाणस्य निमित्तं फलं
चेति सिद्धम् । एतद्वंश दर्शयति—अपश्यन्तावित्यादिना । तत्रेति हेतुप्रेषणे । निमित्त-
मिति तद्विनोत्प्रेषणस्थानिपत्तेः । द्विविधमत्र सामतागमन तपोजनितमदर्शनजनितं
च । तयोरव्यवसायवशाद्भिन्नत्वेनाश्रयणम् । अतश्च हेतोरक एव धर्मो निमित्तं फलं
च । वस्तुतस्तु तपोजनितस्य निमित्तत्वमन्यस्य तु हेतुफलरूपत्वम् । अत एव नेतरेत-
राश्रयद्योपः । द्वयोरपि भिन्नत्वात् । मौनित्वमेवेति । न पुनरन्यैकचित्त्वित्यर्थः । अतश्च
निश्चलत्वादिजनितस्य दुःखजनितस्य च मौनित्वस्याभेदेनाश्रयणम् । सर्वत्रेत्यनेन समस्त-
लक्षणाविरुद्धत्वं हेतुप्रेक्षास्वरूपकथनस्योक्तम् ।

पुंशं हेतुप्रेक्षाया यथासंभवं स्वरूपं प्रदर्श्य स्वरूपोत्प्रेक्षाया अपि दर्शयति—
स्वरूपोत्प्रेक्षायामित्यादिना ।

छम शब्द का प्रयोग होने पर यथा—‘तुम्हारी कुचस्थली है तो अनर्घ [अमूल्य] तथापि
मैं सोचता हूँ कि कामदेव ने पत्नीने की पुँजीभूत वृत्तों के वहाने इसे अर्घ्ययुक्त [अर्घ्य = पूजा में
अर्पण तथा मूल्य से युक्त] सा बना दिया है ।’ इस उत्प्रेक्षा में उन-उन शब्दों के प्रयोग रहने
और न रहने के कारण अन्य अलंकारों का भ्रम होने लगता है, अतः अन्य अलंकारों से भेद
दिखलाने के लिये ग्रन्थकार लिखते हैं—

तत्प्रयोग—उस अपरशब्द का प्रयोग [अध्यवसाय की] सिद्धता इसलिए कि संभावनाद्योतक
इव शब्द का प्रयोग नहीं रहता, और इसीलिए वहाँ सर्वदा विषय का अनुपादान ही रहता है ।
उपादान हो जाने पर द्वारोप रूपक हो जाता है जैसा कि यहाँ कुछ आगे कहा गया है । अन्य
समी स्थलों में विषय का उपादान ही उचित है ।

इस प्रकार अनेक प्रकार के भेदों से युक्त इस उत्प्रेक्षा के हेतु, स्वरूप तथा फल नामक मुख्य
वर्गों में संभावित भेदों के स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—तदेवम् इत्यादि । स धर्मः = वह
धर्म अर्थात् जिसके लिए हेतु की उत्प्रेक्षा की जाती है । अध्यवसायवशात् = अध्यवसाय के
कारण अर्थात् भेद रहने पर भी अभेद मानने से । अभिन्न अर्थात् अप्रकृत से संबन्धित धर्म से ।
स = वह अर्थात् निमित्तरूप से आश्रित धर्म । नियमेन = नियमतः सदा ही = अर्थात् वह अवाच्य

कभी भी नहीं होना। अन्यथा वाच्य न होने पर। कं प्रति हेतुः = हेतु किमका होगा क्योंकि वही फलरूप रहता है। ऐसा ठीक नहीं कि जिसके लिए हेतु की उत्प्रेक्षा की जा रही है वही जवाब्य हो क्योंकि भव साध्य के अभाव में साधन निरर्थक हो जाएगा। यदि वह केवल निमित्त ही होना तो वह वाच्य और अवाच्य दोनों हो सकता था। इस प्रकार वह मित्र हुआ कि एक ही धर्म उत्प्रेक्ष्यमाण हेतु का निमित्त भी होगा और फल भी। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा समझाने हैं—अदृश्यन्ती० न देयते दुःखे। तत्र हेतु-प्रेक्षा में। निमित्त क्योंकि उसके बिना उत्प्रेक्षा की निष्पत्ति नहीं होती। यहाँ दुर्बलता दो प्रकार से आती है तपस्वा से अर्थ अदर्शन से। इन दोनों को अभ्यवसाय के आधार पर अभिन्नरूप से अपनाए गए हैं। इसीलिए एक ही धर्म हेतु का निमित्त भी है और फल भी। वस्तुतः तपोजनित दुर्बलता निमित्त है और दूसरी दुर्बलता हेतुफलरूप। इसलिए यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि दोनों ही मित्र हैं।

मौनित्वम्—अन्य कुछ नहीं। इसीलिए यहाँ निश्चलता आदि से अनित्य तथा दुःख से अनित्य मौनित्व अभिन्न मान लिए गए हैं। सर्वत्र ऐसा कहकर हेतुप्रेक्षा के कविन स्वरूप का समस्त लक्ष्यों में अविरोध बननाया।

इस प्रकार हेतुप्रेक्षा का स्वरूप यथाभव दिखनाया। अब स्वरूपोप्रेक्षा का स्वरूप भी बतलाने हैं—

[सर्वस्थ]

स्वरूपोप्रेक्षायां यत्र धर्मा धर्म्यन्तरगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तत्रापि निमित्त-भूतो धर्मः क्वचिन्निर्दिश्यते। यथा—‘स यः पायादिन्दुः’ इत्यादौ। अत्र कुटिलत्वादि निर्दिष्टमेव। ‘वैलेष रागसागरस्य’ इत्यादौ संक्षोभकारित्वादि गम्यमानम्। यत्र च धर्म एव धर्मिगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तत्रापि निमित्तस्यो-पादानानुपादानाभ्यां द्वैविध्यम्। उपादाने यथा—

‘प्राप्यामिपेकमेतस्मिन्प्रतितिष्ठासति द्विपाम्।

चकम्पे लाप्यमानाश्चा भयविह्वलितेव भूः॥’

अत्र भूगतत्वेन भयविह्वलितत्वाद्यधर्मोत्प्रेक्षायां कम्पादिनिमित्त-मुपात्तम्। अनुपादाने यथा—‘लिम्पतीव तमोऽहानि’ इत्यादौ। अत्र तमो-गतत्वेन लेपनक्रियाकर्तृत्वोपेक्षायां व्यापनादि निमित्तं गम्यमानम्। व्याप-नादौ तूत्प्रेक्षाविषये निमित्तमन्यद्वेष्यं स्यात्। न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्। तस्योत्प्रेक्षिताधारत्वेन प्रस्तुतस्याभिधातुमुचितत्वात्। तस्माद् ययोक्तमेव साधु।

स्वरूपोप्रेक्षा में जहाँ धर्मा दूसरे धर्मा के भीतर उत्प्रेक्षित होना है वहाँ भी निमित्तभूत धर्म कहीं निर्दिष्ट रहता है; यथा—‘वह चन्द्र आप की रक्षा करे’ इत्यादि में, यहाँ कुटिलत्वादि निर्दिष्ट ही है। ‘रागसमुद्र की वेला = तटभूमि सी’—में वह गम्यमान अर्थात् अनिर्दिष्ट है।

जहाँ कहीं धर्म ही धर्मा के भीतर उत्प्रेक्षित होता है वहाँ भी दो विधायें रहती हैं क्योंकि वहाँ निमित्त का कहीं उपादान रहता है और कहीं अनुपादान। उपादान यथा—

अभिपेक प्राप्त कर जब वह अपनी प्रतिष्ठा चाहने लगा तो शत्रुओं की भूमि जिस पर [शत्रुओं की] आजा हुआ होने वाली थी मानी भयविह्वल होकर काँप उठी।

--यहाँ भूमिरूपी धर्मों के भीतर मयविह्वलितारूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है और उसमें कल्प आदि का निमित्तरूप से उपादान किया गया है । अनुपादान यथा--'अन्वकार अर्गों को मानों लोप रहा है'-इत्यादि में । यहाँ जो तम के भीतर लेपन-क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है उसका निमित्त है व्यापन और वह गम्यमान = अनुपात्त है । यदि व्यापनादि को उत्प्रेक्षा का विषय माना जाय तो उसमें निमित्त कौर्द और ही खोजना होगा [यह एक दोष होगा और दूसरा दोष यह होगा कि यहाँ] विषय [व्यापन] गम्यमान है जो अनुचित है क्योंकि विषय ही तो प्रस्तुत होकर उत्प्रेक्षा का आधार होता है अतः उसका शब्दतः कथन आवश्यक होता है । इसलिए पहले जो [तम में लेपन] की उत्प्रेक्षा की जा रही है वही ठीक है ।

विमर्शिनी

यद्यप्युद्देशत एतैस्त्वस्वरूपोत्प्रेक्षायां निमित्तोपादानस्यानुपादानत्वमवगम्यते तथापि हेतुप्रेक्षायां यथा निमित्तोपादानमेव संभवति तथात्रापि न संभाव्यमित्याशयेन पुनरिहै-
तदुक्तम् ।

यदा चात्र धर्मो धर्म्यन्तरगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तदा तत्र निमित्तस्य कीदृश्रूपत्वं भवतीत्या-
शङ्कयाह—यत्रेत्यादि । धर्म एवेति । न पुनर्धर्मो धर्मिगतत्वेनेति । धर्मिभित्तितयेत्यर्थः ।
अत्र हि धर्मिणोऽन्यधर्मधर्मिणं निगीर्यन्यधर्मधर्मित्वमवस्थाप्यते । अत एवात्र धर्मो
भित्तितया विषयः । धर्मिण विना केवलस्यैव धर्मस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वाद्भव-
स्थाप्यमानत्वे वा धर्मत्वमेव स्यात् । वस्तुतस्तु धर्म एवोत्प्रेक्षाविषयः । यन्निरगणे-
नाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽवसीयते । स च निगीर्यमाणो धर्मः क्वचिदुपात्तो भवति क्वचि-
च्चानुपात्तः ।

'प्राप्याभिपेकम्' इत्यादावन्ये हेतुप्रेक्षात्वं-मन्यन्ते ह्यस्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते—
नचरोसद्वलिभ-घणनिरवलंब-संघडिभ-तडिकलङ्घपश्व ।
मरहरिणो जभह कडारकेसरे कंधरायंधो ॥'

अत्र कंधरायंधधर्मिणि सकेसरत्वं निगीर्य सतद्विकटप्रखमुत्प्रेक्षितम् । कडारत्वं च
निमित्तमुपात्तम् । निगीर्यमाणश्च धर्मो धर्मिगतत्वेनोपात्तः । लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षाया-
मिति, अर्थादाशङ्कितायाम् । एवं हि तमोलेपनमिवेति प्रतीतिः स्यात् । न चात्र तथेत्या-
शङ्कयाह—व्यापनादावित्यादि । निमित्तमन्यदिति तिरोधायकत्वादि । तेन तमसि धर्मिणि
व्यापनाद्विधर्मं निगीर्य लेपनक्रियाकर्तृत्वरूपो धर्मो उत्प्रेक्षित इत्यर्थः । यदाह श्रीमम्मटः—
'व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितम्' इति । यत्र न धर्म्यन्तरनिरगणेन धर्म एव
धर्मिभित्तितयोत्प्रेक्ष्यते तत्र भित्तितत्वाद्द्विषयरूपस्य धर्मिणः समनन्तरोक्तनीत्या गम्य-
मानत्वं न युज्यत इत्याह—न चेत्यादि । विषयत्वेति । निगीर्यमाणोत्प्रेक्ष्यमाणयोर्धर्मयो-
भित्तित्वस्य धर्मिण इत्यर्थः । न तु निगीर्यमाणस्येति व्याख्येयम् । तस्य ह्युपादानानु-
पादानाभ्यां द्वैविध्यं भवतीति समनन्तरमेवोक्तम् । तच्चोदाहृतम् । यथा वा—

यत्पुण्डरीक इव पावणं एव वेन्द्राविन्दीवरद्वयमिवोदितमेकनालम् ।

तत्पद्मारागनिधिमूलमिवाधिगम्य सम्यग्जितं नयनयोर्मम भाग्यशक्त्या ॥'

अत्र मुख्यादीनामुत्प्रेक्षाविषयाणामनुपादानाद्गम्यमानत्वम् । तस्येति धर्मिरूपस्य
विषयस्य । उत्प्रेक्षिताधारत्वेनेति । उत्प्रेक्षितस्य लेपनादेर्धर्मस्य व्यापनाद्विधर्म्यन्तरगणे-
नोत्प्रेक्षाविषयीकृतस्याधारत्वेन भित्तित्वस्येत्यर्थः । धर्मिणमन्तरेण धर्मस्याविश्रान्तेः ।
प्रस्तुतस्येति । अवश्याभिधेयस्येत्यर्थः ।

एवं हेतुफलोपेक्षयोरपि धर्मिगतधर्मैवान्यधर्महेतुकत्वं निर्गीर्यान्वधर्महेतुत्वमन्य-
धर्मफलत्वं चाप्यवसोयते । अतश्च न धर्मो वाच्य एव भवति । यथोक्तोपपत्तेः । निर्गीर्य-
माणः पुनर्धर्मं एवोपादानानुपादानाभ्यां द्विषा । तत्तु यथा—एषा स्थलीत्यादि । अत्र
नूपुरस्य धर्मिणो बद्धमीनत्वे निश्चलत्वादि धर्महेतुकत्वं निर्गीर्यमाणश्रानुपातो धर्मः । उपा-
चस्तु यथा—

मृणालसूत्रं निजवदलभायाः समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः ।

अन्योन्यविरलेषजयन्त्रसूत्रश्रान्तयेव चञ्चुरित्यतमाचक्यर्षः ॥

अत्र चक्रवाकरयाकण्ठे चाटुसमुत्सुकहेतुत्वं निर्गीर्य आन्तिहेतुत्वमप्यवसितम् ।
निर्गीर्यमाणश्च धर्म उपाच । अनुपाचस्तु यथा—

'कुमुदिन्य प्रमोदिन्यस्तदानीमुद्यमीमिलन् ।

नलिन्या मर्तुविरहान्भलानिमानमिवेचितुम् ॥'

अत्र कुमुदिनीनामुन्मीलने चन्द्रोदयहेतुकत्वं निर्गीर्य दर्शनं फलोपेक्षोपेक्षितम् ।
निर्गीर्यमाणश्च धर्मोऽनुपाच ।

तत्रैव हेतुस्वरूपयोर्यथासंभव स्वरूप दर्शयिष्या फलोपेक्षाया अपि दर्शयति—
फलोपेक्षायामित्यादिना ।

यद्यपि स्वरूपोपेक्षा में निमित्त के उपादान और अनुपादान दोनों ही स्वयं प्रतिपादित हो
जाते हैं क्योंकि जहाँ वे भेद गिनाए गए हैं वहाँ निमित्त के उपादान अनुपादान को चर्चा की
जा चुकी है तथापि यहाँ इन विषय का उल्लेख जो पुन किया गया उसका तारक्य यह है कि
जैसे हेतुप्रेक्षा में सर्वत्र निमित्त का उपादान ही रहता है अनुपादान नहीं वैसे स्वरूपोपेक्षा में
नहीं रहता [अर्थात् यहाँ निमित्त का अनुपादान भी समझ होता है] ।

शुद्धा होगी है कि जब कोई धर्म किसी अन्य धर्मों के भीतर उत्प्रेक्षित होता है तब निमित्त
कैसा होता है [उपाच अथवा अनुपाच] । इस पर उत्तर देने हैं—यत्र इत्यादि । धर्म पृथ =
धर्म ही न कि धर्मों भी धर्मों के भीतर । धर्मिगत अर्थात् धर्मों को मित्ति बनाकर । यहाँ धर्मों में
अन्य धर्म से आने वाला धर्मित्व छिपाकर अन्य ही धर्म से आने वाला धर्मित्व स्थापित किया
जाता है । इसलिए यहाँ धर्मों मित्ति के रूप में उपस्थित रहता है इसलिए वही विषय होता है,
क्योंकि धर्मों के बिना केवल धर्म की स्थापना समझ नहीं होती, और यदि उसकी स्थापना की भी
जाय तो वहाँ धर्मित्व ही सिद्ध होता है, जबकि उत्प्रेक्षा का विषय वस्तुतः धर्म ही होता है ।
जिस [धर्म] के निगरण [छिपाने] से विषयों में भेद प्रतीति होती है । वह जो निर्गीर्यमाण
[छिपाया जाने वाला] धर्म है वह कहीं उपाच होता है और कहीं अनुपाच ।

'प्राप्याभिपेकं' इत्यादि पद्य में कुछ लोग हेतुप्रेक्षा मानते हैं इसलिए हम इसके लिए दूसरा
उदाहरण प्रस्तुत करने हैं—

"नवरोजदलित-धननिरवलम्ब-सुषटित-नदित्कटप्र ।

नरहरोर्जयति कडारकेसरः कन्धरावन्ध ॥"

यहाँ कन्धरावन्ध है धर्मों । उसमें सकेसरत्व को छिपाकर स्फटितनदित्कटप्रत्व की उत्प्रेक्षा की
गई है । इसमें निमित्त है कडारत्व, जो उपाच है । और निर्गीर्यमाण (छिपाया जा रहा) धर्म
धर्मों के भीतर प्रतिपादित किया गया है ।

लेपनक्रियाकर्तृत्वोपेक्षायाश्च = 'लेपनत्व क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा भी यहाँ मानो जा
सकती है । तब 'तम का लेपन सा' ऐसी प्रतीति होगी । किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है'—ऐसी शुद्धा

कर समाधान प्रस्तुत करते हैं—व्यापनादी । निमित्तमन्यत् = अन्य निमित्त अर्थात् तिरोधायकत्व आदि । इस पक्ष में तम को धर्मो माना गया और उसमें व्यापनादि धर्म को छिपाकर लेपन-क्रियाकर्तृत्वरूप धर्म की उत्प्रेक्षा की गई । जैसा कि श्री भम्मट ने कहा है—‘व्यापन आदि लेपन आदि रूप से उत्प्रेक्षित किया गया ।’

‘जहाँ कहीं दूसरे धर्म को छिपाकर किसी दूसरे धर्म को ही धर्मों के ऊपर उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ आधारभूत धर्मों का गम्यमान होना = शब्दतः न कहा जाना उक्त रीति से ठीक नहीं होता’—इस अभिप्राय से लिखते हैं—‘न च’ इत्यादि । विषयस्य = विषय का अर्थात् निर्गौर्यमाण [छिपाया जाता] तथा उत्प्रेक्ष्यमाण [जिसकी उत्प्रेक्षा की जा रही है] इन दोनों धर्मों की भिन्न बने हुए धर्मों का । न कि निर्गौर्यमाण का । क्योंकि निर्गौर्यमाण के विषय में कहा जा चुका है कि कहीं उसका उपादान रहता है और कहीं अनुपादान । इस प्रकार वह दो प्रकार का होता है । और उसके उदाहरण भी दिए जा चुके हैं । यह भी उसका एक उदाहरण है—‘पुण्डरीक- [श्वेतपद्म] अपथा पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल ‘चेहरे’ के बीच मानों पसरारामणि की निधि (अमर) से निकल कर जो एक ही नाल (नासिका) में दो नीलकमल (नेत्र) निकले हुए हैं उन्हें पाकर मेरे नेत्रों की भाग्यशक्ति सब से बढ़ गई’ । यहाँ मुख आदि उत्प्रेक्षा के विषय हैं किन्तु वे गम्यमान अर्थात् शब्दतः अनुपात्त हैं ।

तस्य = उसके अर्थात् धर्मरूप विषय के । उत्प्रेक्षाधारणेन = उत्प्रेक्षा के आधार के रूप से अर्थात् व्यापनादि धर्म को छिपाकर उत्प्रेक्षा की वस्तु बनाए गए लेपनादि धर्म के आधार के रूप से अर्थात् भित्तिरूप से । ऐसा इसलिए कि धर्मों के बिना धर्मों की विश्रान्ति नहीं होती । प्रस्तुतस्य = प्रस्तुत अर्थात् अवश्य अभिषेय का ।

इस प्रकार हेतूप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में भी अन्यधर्महेतुकता को छिपाकर अन्य-धर्महेतुकता का अध्यवसाय धर्मों के भीतर किया जाता है । इसी कारण वह धर्मों नियमतः वाच्य ही होता है । कारण ऊपर बतलाया जा चुका है । निर्गौर्यमाण अर्थात् छिपाया जाने वाला होता है केवल धर्म, और वह भी उपादान तथा अनुपादान के आधार पर दो प्रकार का होता है । यथा—‘यथा स्थली’ इत्यादि । इस पक्ष में नूपुररूपी धर्मों में जो बद्ध-मीनत्वरूपी धर्म हैं उसका वास्तविक कारण है निश्चलत्व किन्तु उसे छिपा दिया गया है और उसके स्थान पर कारणरूप से दुःखहेतुकत्व की उत्प्रेक्षा की गई है । इस प्रकार यहाँ जो निर्गौर्यमाण है वह अनुपात्त है और वह धर्म ही है [धर्मों नहीं] । उपात्तधर्म यथा—‘चाड में सजुस्सक-चक्रवाक ने अपनी प्रिया की बोंब में रखे मृणालसूत्र को मानों एक दूसरे के वियोग के जनक यन्त्र के सूत्र के भ्रम से खींच लिया [विक्रमांकदेवचरित]’ यहाँ चक्रवाक द्वारा किए गए मृणालसूत्र के खींचनेरूपी कार्य में, है तो हेतु चाडसमुत्सुकता, किन्तु उसे उस रूप से प्रस्तुत न कर यहाँ श्रान्ति को हेतुरूप से उत्प्रेक्षित किया गया । और जो धर्म निर्गौर्यमाण है अर्थात् कारण होने पर भी कारणरूप से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा वह [चाडसमुत्सुकता] यहाँ उपात्त ही है । अनुपात्त धर्म यथा—

‘उस (चन्द्रोदय के) समय प्रसन्न कुमुदिनी मानो कमलिनी की प्रिय (सूर्य) के विरह से उत्पन्न ग्लानि को देखने के लिए सिल उठी ।’

—यहाँ कुमुदिनी के खिलने में चन्द्रोदय हेतु है किन्तु उसे हेतुरूप से प्रस्तुत न कर दर्शन-क्रिया को हेतुरूप से प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार कुमुदिनी के विकास में चन्द्रोदयहेतुकत्वरूपी वास्तविक धर्म को छिपा दिया गया है और उसे शब्दतः कहा भी नहीं गया है ।

इस प्रकार (उत्प्रेक्षा के दो भेद) हेतूप्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्वरूप यथासंभव बतला दिए गए। अब फलोत्प्रेक्षा का स्वरूप 'फलोत्प्रेक्षायाम्' इत्यादि अगले ग्रन्थ द्वारा बतलाने हैं—

[सर्वस्व]

फलोत्प्रेक्षायां यदेव तस्य कारणं तदेव निमित्तम् । तस्यानुपादाने कस्य तत्फलत्वेनोक्तं स्यात् । तस्मात्तत्र तस्य निमित्तस्योपादानमेव न प्रकाश-
न्तरम् । यथा—

'रथस्थितानां परिवर्तनाय पुरातनानामिव वाहनानाम् ।

उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्ये रविरुत्तरस्याम् ॥'

अत्राभ्यपरिवर्तनस्य फलस्योत्तरदिग्गमनं कारणमेव निमित्तमुपात्तम् ।

फलोत्प्रेक्षा में उस (फल) का जो कारण होता है वही उसका निमित्त होता है। यदि उस (निमित्त) का उपादान न किया जाय तो वह (फल) किमका फल सिद्ध होगा? इस कारण फलोत्प्रेक्षा में फल के निमित्त का उपादान ही होता है, अन्य अनुपादान नहीं। यथा—

[वसन्त के समय] सूर्य, मानों रथ में जुते पुराने घोड़ों को बदलने के लिए उत्तरदिशा की ओर चला जाईं उत्तम घोड़े उत्पन्न होते हैं ['विक्रमाकदेवचरित'] ।

—यहाँ घोड़ों का बदलना फल है और उसका कारण है उत्तरदिशा में जाना। यहाँ यहाँ निमित्तरूप से उपात्त है।

विमर्शिनो

तस्येति फलस्य । एतच्च हेतूप्रेक्षाविचारग्रन्थविवृतेरवगतार्थमिति ग्रन्थविस्तरभयान्न पुनरावस्यते । तदेवं ग्रन्थद्वयसामन श्लोकां कटाक्षयन्नेतदुपसंहरति—

तस्य = उसका अर्थात् फल का। यह सब विचार हमारी टीका में हेतूप्रेक्षा पर किए गए विचार से गतार्थ हो जाता है अतः ग्रन्थविस्तार के भय से अब पुनः विचार नहीं करते।

इस प्रकार विवेचन कर ग्रन्थकार अपनी प्रशंसा व्यक्त करने हुए उत्प्रेक्षा प्रकरण का उरणहार करते हैं।

[सर्वस्व]

तदसाङ्गुत्प्रेक्षायाः फक्ष्याविभागः प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये तुरचध्वार-
स्थादिह न प्रपञ्चितः । तस्याश्लेषादिशब्दव्यन्म-येशब्दोऽपि प्रतिपादकः ।
किं तूप्रेक्षासामग्र्यभावे मन्येशब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयति । यथो-
दाहृतं प्राक् 'अहं त्विन्दुं मन्ये त्वद्वरिविरह' इत्यादि ।

तो इस प्रकार उत्प्रेक्षा का वर्गीकरण प्रचुररूप से किया जा सकता है, तथापि (उदाहरण-
रूप) श्लोकों में इनका समझा जाना कठिन है फलतः [हमने वर्गीकरण को] सामग्र्यरूप से प्रस्तुत नहीं किया।

इस [उत्प्रेक्षा] का प्रतिपादन जैसे श्वादि शब्दों द्वारा होता है उसी प्रकार 'मन्ये'-शब्द-
द्वारा भी, किन्तु यदि उत्प्रेक्षा की सामग्री नहीं रहती तो 'मन्ये'-शब्द का प्रयोग केवल वितर्क-
मात्र का ही प्रतिपादन कर पाता है। जैसा कि पहले (अपद्धुति प्रकरण में) उदाहरण दिया
जा चुका है—'मैं तो चन्द्रमा को मानता हूँ तुम्हारे शत्रुओं के विरह'—इत्यादि।

विमर्शिनी

तदसावित्यादि । अस्याश्च वाचकव्यवस्थां दर्शयति—तस्याश्चेत्यादि । उत्प्रेक्षासामग्र्य-
भाव इति संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाभावात् । प्रागिति, अपह्नुती ।

एवमिवशब्दोऽपि क्वचिद्वितर्कमेव प्रतिपादयति । यथा—

‘वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।

शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लवण्य उपाथ ह्र्वास यत्नः ॥’

इयं च भेदेऽभेद इत्याद्यतिशयोक्तिभेदमप्यपि दृश्यते । तत्र भेदेऽभेदो यथा—पृथ्वी-
राजविजये—

शुद्धिः परया भक्त्या वागलिङ्गपरम्पराः ।

अनर्मदेव यत्सैभ्यैर्निरमीयत् नर्मदा ॥’

अत्र नर्मदाया अभेदेऽपि भेदः । संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

अद्वैतं तद्भवतु भवतां संविद्वैतपुष्टये यमाभृत्पुत्रीपरिवृढरमाकान्तवेहङ्गयस्य ।

यत्राकाण्ड्यं निज इव विद्वन्दक्षिगार्धप्रभाभिर्देहेऽन्येषामपि पुररिपुः काण्ड्यमन्तः प्रमाष्टिं ॥’

अत्र काण्ड्यसंबन्धेऽप्यसंबन्धः । असंबन्धे संबन्धो यथा—

शीरक्षालितचन्द्रेव नीलीधौताम्बरेव च ।

दङ्गोल्लिखितसूर्येव वसन्तश्रीरज्जुभ्रत ॥’

अत्र शीरक्षालितस्वायसंबन्धेऽपि संबन्धः । कार्यकारणयोस्तुल्यकालत्वे यथा—

यशसेव सहोद्भूतः श्रियेव सह वर्धितः ।

तैजसेव सहोद्भूतस्यागेनेव सहोत्थितः ।’

पौर्वापर्यविपर्यये यथा—

शराः पुरस्तादिव निष्पतन्ति कोदण्डमारोपयतीव पश्चात् ।

अन्वक्प्रहारा इव संघटन्ते प्राणान्निह्यः पूर्वमिव त्यजन्ति ॥’

कार्यकारणयोर्विपर्ययेऽपीवं दृश्यते यथा—

‘स्यैवं संततवर्तमानभगवद्वागार्चनैकाग्रप्रताप्यप्रोपान्तलताविमुक्तकुसुमा चन्द्रप्रसूतिर्नदी ।

यस्याः पाण्डुरपुण्डरोकपट उग्याजेन तीरद्वये शश्वत्पावणचन्द्रमण्डलशतानीव प्रसूते जलम् ॥’

अत्र नर्मदातश्चन्द्रस्वोत्पत्तिप्रतीतेः कार्यकारणविपर्ययः । क्रमिकविपर्ययेणापीवं
दृश्यते यथा—

अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन ।

समुद्भिस्तः शीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विपतां यशांसि ॥’

अत्र समुत्पानान्तरभाविनो यशःपानस्य पूर्वनिर्देशात्क्रमिकविपर्ययः । अत्रैव
‘विवन्निवोच्चैः’ इति पाठे तु क्रमिकयोः समकालभाविष्यम् ।

इत् [उत्प्रेक्षा] के वाचक पदों की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं—‘तस्याश्च’ = इत्का ।
उत्प्रेक्षासामग्र्यभाव = अर्थात् ज्ञान का संभावनात्मक न होना । प्राक्=पहले अर्थात् अपह्नुति
प्रकरण में ।

[जिस प्रकार मन्थे शब्द वितर्कमात्र का प्रतिपादन करता है] इसी प्रकार इव शब्द भी
वितर्कमात्र का प्रतिपादक होकर रह जाता है । यथा—

‘उत् [भगवती पार्वती] की श्रुय, ऊपर से नीचे तक बतुलकाकार तथा अनधिक लम्बी पिड-
रियाँ बना लेने पर अन्य अंगों का निर्माण विवाता ने कदाचित् नवीन लवण्य शकटा कर किया
होगा [कुमार-१] ।’

[यहाँ नवीन छावण्य की कल्पना मात्र की गई है। उसका किसी पर संभावनात्मक आरोप नहीं किया जैसे 'मेरी समझ में तो मुख चन्द्र है'—इत्यादि उक्तिओं में किया जाता है]।

यह उत्प्रेक्षा भेद और अभेद इत्यादि अतिशयोक्ति के जो भेद हैं उनसे भी युक्त रहती है। यथा भेद में अभेद का उदाहरण पृथ्वीराजविजय कान्य में—

जिसके अत्यन्त भक्ति के साथ नाग—लिङ्गों [भगवान् शिव के लिङ्गों कदाचिद् वाणासुर द्वारा स्थापित शिवलिंगों] का स्पर्श कर रहे सैनिकों ने नर्मदा को अनर्मदा सा बना दिया ।'

—यहाँ नर्मदा एक ही है तथापि उसमें भेद की कल्पना की गई है।

संबन्ध में असम्बन्ध का उदाहरण यथा—

भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णु के दो (क्रमशः गौर तथा श्याम) शरीरों का अद्वैत हमारी अद्वैत बुद्धि का पोषक हो, जिस (देहदयाद्वैत) में (विष्णुरूप) दाहिने देहार्ध की (श्याम) कान्ति को अपने शरीर में कालीच समझ भगवान् उकर (न केवल उसे ही पोंछते हैं अपितु) अन्य लोगों (भक्तों) को मानस कालीच भी पोंछ देते हैं ।'

—यहाँ कालीच का शिव से सम्बन्ध न होने पर भी सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। अमबन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण यथा—

'वसन्त श्री भगवार्ह ले रही थी, उसका चन्द्रमण्डल मानों दूध से भी दिया गया था, आकाश मानों नील से नहला दिया गया था और सूर्यमण्डल मानों टक (छेनी) से झुझी बना दिया गया था ।'

—यहाँ दूध से धोना आदि चन्द्रमण्डल आदि में नहीं था तथापि उसकी वहाँ कल्पना कर ली गई है ।'

कार्यकारण का एक साथ उत्पन्न होना यथा—

'मानों यश के साथ उत्पन्न हुआ, मानों भी के साथ बुद्धिगत हुआ, मानों नेत्र के साथ अनमा, मानों त्याग के साथ उठा ।'

—[यहाँ वक्तव्य यह है कि वर्तमान व्यक्ति के जन्म, बुद्धि, उत्थान यश आदि के कारण हुए, किन्तु वे इतने शीघ्र हो गए कि कारण और कार्य में कालक्रम प्रतीत नहीं हुआ]

कार्यकारण के वैपरीत्य में वैपरीत्य यथा—

'वाग पहिले ही निकल पड़ते हैं [यह वीर] मानों धनुष बाद में चढ़ता है, [और बाणों के] प्रहार बाद में होते हैं शत्रु प्राण पहिले ही छोड़ देते हैं ।'

कारण का कार्य और कार्य का कारण बनना यथा—

'—यह है वह चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाली नदी [नर्मदाजी] जो तीर लताओं से पुष्प बरसा बरसा कर नदा ही भगवान् शिव के लिंग की पूजा में शक्तिप्रसिद्ध रहे जाने में व्यग्र है और जिसका जल दोनों तटों पर निकले द्रवत पथों के बहाने मानों सदा ही पूर्णिमा के मैकड़ों चन्द्रमण्डल पैदा किया करता है ।'

—यहाँ नर्मदा से चन्द्रमा की उत्पत्ति प्रतीत होगी है इसलिए कार्य कारण में विपर्यय हुआ [क्योंकि कार्य = नर्मदाजी से उनके कारण = चन्द्र की उत्पत्ति बतलाई गई ।]

क्रमिक वस्तुओं में क्रम का वैपरीत्य होने पर भी यह [उत्प्रेक्षा] होती है,

'[विक्रमांकदेवचरित, १।५० में विषाणा की चुल्हू से एक अदम्य पुष्प उत्पन्न हुआ] जो अत्यन्त गवीले रिमन से उद्भासित अधर से विराजमान था अतः मानों तत्काल शत्रुओं का दुग्धवत् यश पीकर पैदा हुआ था ।'

--यहाँ यज्ञ का पान उत्पन्न होने के बाद संभव है किन्तु उसका वर्णन उत्पन्न होने के पूर्व कर दिया गया। इसलिए यहाँ [क्रमिक वस्तुओं में विद्यमान स्वभाविक] क्रम का विपर्यय हुआ। यदि इसी पद्य में 'पीतवेव सवः' के स्थान पर 'पिबन्निवोच्चैः'--'पीता हुआ सा' पाठ कर दिया जाय तो यही उदाहरण क्रमिक पदार्थों को एक साथ उत्पत्ति का उदाहरण बन सकता है।

विमर्श--उत्प्रेक्षा का पूर्वतिहास--

भामह --अविवक्षितसामान्या किञ्चिच्चोपमया सह ।

अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ २१९१ काव्यालं० ।

किञ्चुकन्यपदेशेन तत्त्वमाख्या सर्जतः ।

दृग्पादध्वमरप्यान्याः पश्वतीव विभावशुः ॥' २१९२ ॥

--'जिसमें सादृश्य बतलाना असोष्ट न हो तथापि उपमा की आंशिक सामग्री हो साथ ही अतिशय द्वारा भिन्न वस्तु के गुण और क्रिया रूप धर्मों का संकष्व भिन्न वस्तु में बतलाया वह उत्प्रेक्षा होती है। यथा--'सूते टेनु के बहाने मानों अग्नि वृश्च पर चढ़ कर जंगल के जले-भनजले स्थान देख रहा है।'

वामन--[सूत्र] "अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा ।"

[वृत्ति] अतद्रूपस्य अतस्त्वभावस्य, अन्यथा तत्त्वभावतया अध्यवसानमध्यवसायः, न पुनरध्वारोपो लक्षणा वा, अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम् । सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति ।

--जिस वस्तु का [गुण क्रियादि रूप जो स्वभाव है उसे छिपाकर उसमें] जैसा नहीं है उसमें वैसे स्वभाव का अध्यवसाय = ज्ञान कराना है उत्प्रेक्षा। इसमें आरोप या लक्षणा नहीं होती। इसमें अतिशय रहता है भ्रान्ति नहीं। यह अलंकार सादृश्यमूलक होता है। उदाहरण--
'स वः पायादिन्दुर्नवविसलताकोटिकुटिलः ।'

उद्भट = 'सान्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाचात्मभिः पदैः ।

अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ ३१३ ॥

लौकातिक्रान्तविषया भावाभावामिमानतः ।

संभावनेपमुरप्रेक्षा वाच्येवादिभिरिष्यते ॥३१४॥ --अलंकारसारसंग्रह ।

--'यत्रेवादिपदनिवन्वः साम्यस्य च रूपं न विवक्ष्यते तत्रोत्प्रेक्षाख्योलह्वारः । ०००० । अत्र असः अमरकृतो योऽर्थस्तस्य ये गुणक्रियाः तद्योगाद् साम्यरूपाविवक्षायामपि इवादिशब्दप्रवृत्तिरविरुद्धा । ०००० । तेन अतद्गुणक्रियायोगादस्या इवादिवाच्यत्वम् । ०००० । पुराणप्रजापतिविहितरूपविषयस्यैव कविबोधसा पदार्थस्य गुणातिशयविवक्षया रूपान्तरमप्यासक्तुं शक्यते । इयं चोत्प्रेक्षा वदिरसंभवतः पदार्थस्य संभ्रदरूपत्रयोपवर्णनास्लोकौक्यक्रान्तविषया संभावना ।' --उज्ज्वलितः ।

--जहाँ इवादि शब्द तो प्रयुक्त रहते हैं। परन्तु उपमा की विवक्षा नहीं रहती अर्थात् प्रकृत से भिन्न जो अमरकृत अर्थ उसके धर्म गुण क्रिया का प्रकृत में अस्तित्व बतलाए जाने से इवादि उपमा वाचक पदों का प्रयोग तो होता है किन्तु उपमा तात्पर्यविषयोभूत नहीं रहती। इस लिए यह इवादि पदों से वाच्य होती है। भिन्न वस्तु के गुण भिन्न वस्तु में भले ही विधाता को सृष्टि में न जा सकें किन्तु कवि की सृष्टि में यह असंभव नहीं है। इसलिए यह उत्प्रेक्षा जिन विषयों को लेकर चलती है वह प्रायः अलौकिक = लोकभूमिका से ऊपर उठे हुए होते हैं अत एव वे संभावनाश्रित होते हैं। यह सम्भावना भावात्मक पदार्थों की भी होती है और अभावात्मक पदार्थों की भी। इसी प्रकार जब 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग रहता है तो, यह वाच्य होती है।'

उदाहरण यथा भावात्मक विषय की संभावना—

“अस्यां सदार्कविम्बस्वदृष्टिपीठातपैर्वर्षैः ।

श्यामिकाङ्गेन पतित गुणे चन्द्रभ्रमादिषु ॥ १ ॥

—‘पावती जो ने जो जप किया उसमें ने सदा ही सूर्यविम्ब पर दृष्टि लगाए रही और नेत्रों द्वारा सूर्यांतप का पान करती रही, [और चन्द्रमण्डल भी ऐसा ही करता है] इसलिए उनके मुखमण्डल पर जो सौवलापन आया है सो चन्द्रके भ्रम से माना [चन्द्रमण्डल शत] कलक यहाँ जा पहुँचा है ।’ अभावात्मक विषय की संभावना—

‘कपोलफल्कावस्या. कष्ट मूला तथाविधी ।

अपद्मन्ताविवाङ्मोन्मयीदृष्ट्या क्षामता गतौ ॥ ३ ॥

हृदय = (१) अतिसारूप्यादेक्य विधाय सिद्धोपमानसदभावम् ।

आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति स्रोतश्रेष्ठा ॥

‘चम्पकनरशिखरमिदं कुसुमसमूहच्छलेन मदनाक्षिणी ।

अयमुच्चैरास्वः पश्यति पथिकान् दिशश्चुरिव ॥ ८१३३ ॥

(२) सान्नेत्युपमेयगत यस्या समाख्यतेऽप्युपमेयम् ।

उपमानप्रतिबन्धापरोपमानस्य तत्त्वेन ॥ ८१३४ ॥

आपाङ्गुण्यण्डपालीविरचितमृगनामिपन्नरूपेण ।

शुश्रिशुहृयेव पतिन लान्छनमस्या मुखे सुवनो. ॥ ८१३५ ॥

(३) यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते स्रम तस्य ।

वस्वन्तरमुपपत्त्या समान्य सापरोत्प्रेक्षा ॥ ८१३६ ॥

अतिषनकुङ्कुमरागा पुर पठादेव दृश्यते सन्ध्या ।

उदयतदान्तरितस्य प्रथयत्वात्स्रजतां भानो ॥ ८१३७ ॥

—(१) ‘जहाँ पहले तो उपमान तथा उपमेय का अत्यन्त सादृश्य के आधार पर अभेद बतलाया जाय फिर उपमान का सद्भाव सिद्ध बतला कर उपमेय में उपमान [गुणक्रिया रूप] धर्मों का आरोप किया जाय—वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।’ यथा—

‘कामरूपी अग्नि फूलों के बहाने चम्पक तरह की खोटी पर चढकर पथिकों को देख रहा है मानों बड़े उन्हें बलाना चाहता है ।’

—(२) दूसरी उत्प्रेक्षा वह होती है जहाँ प्रसिद्ध उपमेय में एक अन्य उपमेय की करपना की जाय और इस कल्पित उपमेय में प्रसिद्ध उपमान पर आरोपित एक अन्य उपमान के अभेद की संभावना की जाय । यथा—

‘पीले कपोलों पर बनी कस्तूरी की पत्रलेटा के रूप से इस सुवनु के मुखमण्डल के भीतर चन्द्रमा की शंका से मानों लान्छन आ पटा है ।’

[—स्पष्ट ही दोनों लक्षण और दोनों उदाहरण भामह तथा उद्भट के लक्षण और उदाहरण के भावानुवादमात्र हैं ।]

—(३) एक उत्प्रेक्षा वह भी होती है जिसमें शोभनत्व अशोभनत्व आदिगुणों से युक्त वास्तविक पदार्थ में उसी जैसे किसी अवास्तविक पदार्थ की युक्ति के आधार पर संभावना की जाती है । यथा—

‘मेरों पर घना कुकुमराग लिय हुआ वह प्रातः सन्ध्या दूर से दिखाई दे रही मानों पताका है, जो बतला रही है कि सूर्य [का रथ] उदयगिरि के पीछे छिपा है और उसका उदय आसन्न है ।’

[—यहाँ रागविशिष्ट संध्यारूपी वास्तविक पदार्थ पर पताकारूपी एक अत्यन्त कल्पित पदार्थ लोकोत्तरी की समानता पर संभावित किया गया। पताका की संभावना युक्तियुक्त है क्योंकि रवि यदि आ रहा है तो उसके साथ रथ का होना आवश्यक है और रथ है तो उसके ऊपर पताका। नमिसाधु ने भी उत्प्रेक्षा के कुछ भेद प्रस्तुत किए हैं]

रुद्र ने अतिशयनामक वर्ग में भी एक उत्प्रेक्षा स्वीकार की है। उसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

यत्रातितथाभूते संभाव्येत क्रियावसंभाव्यम् ।

संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ॥ ११११ ॥

अन्यनिमित्तवशाद् यद् यथा भवेद् वस्तु तस्य तु तथात्वे ।

हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्ध्येयम् ॥ १११४ ॥

अर्थात्—किसी पदार्थ में असंभाव्य क्रिया आदि को संभावना करना अथवा किसी पदार्थ में असंभूत क्रियादि को संभूत बतलाना। यथा चाँदनी अंग अंग को छीप ली रही है और राज-प्रासाद नीलमणि के फर्श पर पड़ती चाँदनी से परावृत्त और प्रतिबिम्बित तारों से पुष्पित था।

--अर्थात् वस्तु की निष्पत्ति में प्रसिद्ध कारण को छोड़ अन्य ही कोई कारण बतलाया जाना। यथा--बरसा में जब तालाब पानी से खूब भर गया तब नार्ना नील हंस के विछौह से दुःखी होकर कमलनी पानी में डूब गई।

मम्मट = 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्' ।

--उपमेय का उपमानरूप से संभावन उत्प्रेक्षा है। यहाँ मम्मट ने संभावन-शब्द आलंकारिक-परम्परा से अपनाया है किन्तु टीकाकारों ने उसे अपने मन से इस प्रकार स्पष्ट किया है-- 'उत्कटोपमानैककोटिकः संशयः संभावनम्' अर्थात् उस संशय को संभावन कहते हैं जिसमें उपमान की ओर बुद्धि का झुकाव अधिक हो। 'दिष्ट्या धूमाद्बुलितदृष्टेरपि यजमानस्याहुतिरग्नावेव पतिता ॥'

शोभाकर = अलंकाररत्नाकरकार शोभाकर मिश्र का उत्प्रेक्षा लक्षण पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

परवर्ती अप्पद्यवीक्षित = 'यथान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम् ।

प्रकृतं हि भवेत् प्राचास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥

--जहाँ प्रकृत (उपमेय) अपने से भिन्न पदार्थ (उपमान) के धर्मों के संबन्ध से तत्परूप से तर्कित किया जाय वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। [यहाँ संभावन के स्थान पर उपतर्कित शब्द महत्त्वपूर्ण है] इसी प्रकार—

रत्नगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ = 'तन्निवृत्तेन तद्भाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्बुत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्दर्घमसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्बत्त्वेन वा संभावनमुत्प्रेक्षा' ।

इस लक्षण में धर्मों तथा धर्म इन दोनों की उत्प्रेक्षा के लक्षण मिला दिए गए हैं। उनके पृथक् रूप ये हैं—

धर्मों = 'सुन्दर साधारण धर्म के आधार पर भिन्न पदार्थ की अमेदसंभावना उत्प्रेक्षा होती है।

धर्म = 'अपने साथ रहने वाले सुन्दर साधारण धर्म के आधार किसी ऐसे धर्म की किसी पदार्थ में संभावना उत्प्रेक्षा होती है जो धर्म उस पदार्थ में वस्तुतः न रहता हो।'

इस प्रकार उत्प्रेक्षा प्रत्येक आलंकारिक को अलंकाररूप से तो मान्य है किन्तु उसके स्वरूप में उनकी मान्यताएँ भिन्न हैं। साम्प्रदायिक और वामन इति अतिशय और अध्यवसाय पर निर्भर मानते हैं। उद्भट इसमें पहिली बार अतिशय के साथ संभावना को भी स्थान देते हैं। रुद्र

अतिशय को छोड़ समावना के साथ आरोप को अपनाते हैं। यद्यपि उनका आरोप अतिशय से भिन्न प्रतीत नहीं होता किन्तु वे ऐतिहासिक अतिशय शब्द को छोड़ देने हैं। मम्मट अतिशय और आरोप दोनों को छोड़ एकमात्र समावना को उत्प्रेक्षा मानते हैं। अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में से मामह और वामन को मान्यता प्रदान करने और अध्यवसाय को उत्प्रेक्षावीज मानते हैं। शोभाकर मित्र इसके विरुद्ध उद्भट द्वारा प्रवर्तित, रुद्रट द्वारा अनुमोदित तथा मम्मट द्वारा सिद्धान्तित एकमात्र समावना को उत्प्रेक्षावीज मानने हैं। विशेषता यह है कि सर्वस्वकार समावनापक्ष का खण्डन नहीं करते जब कि रत्नाकरकार शोभाकर अतिशय अथवा अध्यवसायपक्ष का खण्डन करते हैं। विमिश्रितोकार जयरथ रत्नाकरकार को उच्चर देने और सर्वस्व का समर्थन करते हैं। अप्यव्यदीक्षित लक्षण में तो समावना या अध्यवसाय शब्द को छोड़ उपतर्क शब्द को स्थान देते हैं किन्तु वे वृत्ति में 'तर्क समावनामात्रम्, न स्व-भारणम्, तदीयधर्मो हि तत्तत्प्रदात्म्यसमावनामात्रहेतु, न न्यासिपक्षधर्मगावहिहृवद् भवभारणहेतु'—अर्थात्—'तर्क का अर्थ यहाँ केवल समावनामात्र है, निश्चय नहीं। एक में दूसरे के धर्म का अस्तित्व दोनों की अभिन्नता की समावनामात्र कराता है, न्यासि और पक्षधर्मनामयुक्त हेतु के समान निश्चय नहीं।'—इस प्रकार तर्क को समावनारूप मान समावनापक्ष के अनुयायी हैं। रुद्रट के आरोपपक्ष का समर्थन कोई नहीं करता, अग प्रथम और अन्तिमरूप ने यह पक्ष रुद्रट तक ही सीमित है। इस प्रकार उत्प्रेक्षालक्षण में दो ही प्रधान पक्ष ठहरते हैं एक अध्यवसाय या अतिशय का और दूसरा समावना का। पण्डितराज जगन्नाथ के उत्प्रेक्षाविवेचन से इन दोनों पक्षों का ठीक से समन्वय हो जाता है। उन्होंने ठीक उसी प्रकार उत्प्रेक्षा में विषयभूत धर्म का अध्यवसाय माना है जिस प्रकार विमिश्रितोकार तथा मूल सर्वस्वकार ने। 'छिन्पतीव तमोऽज्ञानि' इसका उच्चम उदाहरण है। यहाँ 'न्यापन'—अनुक्त ई अग. निर्णीत है। यही दूसरे शब्दों में न्यापन का अध्यवसाय है। विमिश्रितोकार ने उक्त धर्म को भी अध्यवमित माना है और अध्यवसाय का अर्थ केवल इतना ही किया है कि उस धर्म पर अन्य धर्म की समावना न कर उस धर्म से युक्त धर्मों पर उस धर्म की समावना करना। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मृगालसूत्र निजवह्म-भाषा'—इत्यादि पद्य प्रस्तुत किया है। यह अध्यवसाय समावना का अग बन जाता है, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगगाधर में—'तनयमैनाक-गवेषण-लम्बीकृत-अलपिञ्जल-प्रविष्ट-हिमगिरिमुञ्जायमानाया भगवत्या भागीरथ्या सखी'—'पुत्र मैनाक की खोज के लिए फैलाई अत एव समुद्र में प्रविष्ट हिमाचल की मुला सी जो भगवती भागीरथी उसकी सखी यमुना'—इस उदाहरण में विषयी मुजा की लम्बाई और समुद्रप्रवेश के द्वारा गगारूपी विषय की स्वाभाविक लम्बाई और समुद्र प्रवेश को 'अभेदाध्यवसानातिशयोक्ति' द्वारा अभिन्न मानकर उभय साधारण बतलाया है।—'एवं च विषयि-गततादृशगवेषणफलक—लम्बावजल-धिञ्जलप्रविष्टत्वान्या विषयगतयो. साहसिकलम्बत्व-अलपिञ्जलप्रविष्टत्वयो अभेदाध्यवसानातिशयोक्त्या साधारण्यसपत्तौ निमित्तता'—[पृ० ३७७ निर्णयसागरीय सस्करण-६]। उनके उत्प्रेक्षा-प्रकरण से ऐसे अनेक उद्घरण जुने जा सकते हैं।

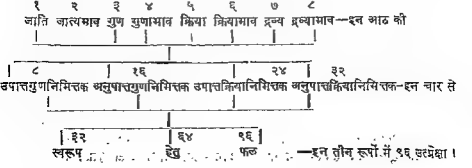
प्रश्न यह है कि उत्प्रेक्षान्त्रोप में वस्तुतः प्रधानता किम तत्त्व की है अतिशयतत्त्व की अथवा समावनतत्त्व की। अतिशयतत्त्व बुद्धिधारा को अभेद की ओर ले जाता है और समावनतत्त्व सशय को ओर। मैं तो मुख को चन्द्र मानता हूँ—यह बोध वक्ता के—'मुख और चन्द्र' दोनों भिन्न हैं अथवा अभिन्न'—इस भेदाभेदविषयक सशय पर मैं निर्भर माना जा सकता है और 'यह मुख है अथवा चन्द्र' इस सशय पर भी। इसी प्रकार 'चन्द्रमा कौन सा है यह (मुख) अथवा यह (चन्द्र)'—इस सशय पर भी। इन सब सशयों में मूल प्रश्न एक

ही है अमेद का । किन्तु चमत्कार अमेद प्रतीति में नहीं है । चमत्कार अमेद के संशय में मुख पक्ष को प्रबल बताने में है । इसलिए प्रबल अमेद से उठता और संशय में पर्यवसित हो संशय को ही प्रधान बना देता है । यदि अमेद ही प्रधान हो चमत्कार का कारण बन जाता तो यहाँ अलंकार रूपक होता है । संशय चमत्कारकारी है इसलिए यहाँ ससन्देहालंकार की भी शंका की जा सकती है, किन्तु वह भी यहाँ नहीं हो सकता क्योंकि ससन्देहालंकार के संदेह बोध में दोनों पक्ष बराबर रहते हैं अर्थात् यहाँ चमत्कार संदेह या संदेहनिषयीभूत पदार्थों के बोध की बराबरी पर निर्भर रहता है, जब कि उत्प्रेक्षा में उपमानपक्ष की प्रबलता पर । अध्यवसाय, अतिशय या निगरण का अर्थ है साध्यवसाना गौणी लक्षणा द्वारा और रत्नाकरकार के अनुसार केवल साध्यवसाना लक्षणा द्वारा किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ के रूप में प्रतिपादन । अर्थ यह कि उस पदार्थ में अपना असाधारण धर्म भासित न कराकर अन्य पदार्थ का असाधारण धर्म भासित कराना । ऐसा करने के लिए उस पदार्थ को उसके अपने वाचक शब्द से न कहकर जिस पदार्थ का असाधारण धर्म उसमें भासित कराना होता है उसके वाचक शब्द से कह देना । यथा 'चन्द्रः' । बतलाया जा रहा है मुख, किन्तु शब्द बोला जा रहा है चन्द्र । परिणाम यह कि व्यक्तिरूप से भासित हो रहा है मुख, किन्तु उसमें धर्म प्रतिपादित हो रहा है 'चन्द्रत्व', मुखत्व नहीं । मुखत्व तब भासित होता जब मुख के लिए मुख शब्द का ही प्रयोग होता । इस प्रकार मुख का चन्द्रत्व-धर्म के साथ ज्ञान ही अध्यवसाय या अतिशय है । क्योंकि यहाँ मुखत्व को चन्द्रत्व ने दवा दिया है इसलिए उसे चन्द्रत्व के द्वारा निगला हुआ = निगोर्ण कह दिया जाता है । यही है निगरण । उत्प्रेक्षाबोध में 'मुख' आदि का मुखत्व आदि भी भासित होता रहता है क्योंकि यहाँ मुख आदि का 'मुख' आदि शब्दों से भी बोध होता रहता है । उनमें चन्द्रत्व के विधान से मुखत्व छोड़ा जाता सा प्रतीत होता है । इतने भर से उसे पूरी तरह अध्यवसित नहीं कहा जा सकता । ऐसा आंशिक अध्यवसाय तो अपहृति आदि में भी रहता है । किन्तु उनका अर्थबोध अतिशयोक्ति सा नहीं रहता ।

ग्रन्थकार ने अध्यवसाय को साध्य और सिद्ध इन दो भागों में विभक्त कर उत्प्रेक्षा को साध्य अध्यवसाय पर निर्भर बतला उसे अतिशयोक्ति से भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है । किन्तु यदि उनके अनुसार उत्प्रेक्षा में भी चमत्कार अतिशय पर ही आश्रित है तो साध्यत्व या सिद्धत्व केवल अवान्तरतामात्र के साथक होंगे अलंकारान्तरता के नहीं । अलंकार में भिन्नता चमत्कारक-तत्त्व के भेद से आती है । वह तो साध्य तथा सिद्ध दोनों ही स्थितियों में एक ही है अतिशय ।

वस्तुतः उपतर्क या वितर्क की ओर ले जाकर अप्पम्यदीक्षित ने अधिक स्पष्टता से काम लिया है ।

उत्प्रेक्षा के जो भेद सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किए हैं उन्हें चित्रमीमांसा में अप्पम्यदीक्षित ने अधिक स्पष्ट किया है । उनके अनुसार वाच्य उत्प्रेक्षा के संभावित भेद ये हैं—



इनके नाम 'उपात्तगुणनिमित्तकजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, उपात्तगुणनिमित्तकजात्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षा'— इत्यादि बनाए जा सकते हैं। इन १६ समाहित भेदों का एक सूत्र सस्कृत में इस प्रकार बनाया जा सकता है—'उपात्तानुपात्तान्यतर-गुणक्रियान्तर-निमित्तक-जातिगुणक्रियाद्रव्य-तद्भावान्यतर-स्वरूपहेतुफलान्यतरमोत्प्रेक्षा'। इन समाहित भेदों में से शक्यता के आधार पर कुछ भेद कम हो जाते हैं। यथा द्रव्योत्प्रेक्षा और द्रव्यामानोत्प्रेक्षा स्वरूपात्मक ही होती हैं, हेतुफलात्मक नहीं। हम प्रकार उसके २४ भेदों में से १६ भेद कम हो जाते हैं, केवल आठ ही भेद शेष रहते हैं। आर्यादि ६ तत्त्वों की उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान समब नहीं होता। फलतः उनके केवल २४ ही भेद शेष रहेंगे। हम प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा में तो ३२ के ३२ ही प्रकार रहेंगे किन्तु हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में केवल १२, १२ भेद होंगे। फलतः उन दोनों के प्रकार मिलकर २४ होंगे। और इस प्रकार स्वरूप, हेतु तथा फल तीनों की उत्प्रेक्षाओं के कुल मिठाकर ५६ प्रकार होंगे। किन्तु ये प्रकार केवल वाच्य उत्प्रेक्षा में ही होंगे। प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान स्वरूपोत्प्रेक्षा में भी नहीं होगा। फलतः स्वरूपोत्प्रेक्षा ३२ भेदों में से केवल १६ भेद ही बचेंगे। इस प्रकार १६ स्वरूपोत्प्रेक्षा, १२ हेतुत्प्रेक्षा और १२ फलोत्प्रेक्षा मिलकर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के कुल ४० ही भेद होंगे। वाच्य उत्प्रेक्षा के ५६ भेदों में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के ४० भेद मिटा देने पर पुन उत्प्रेक्षासामान्य के भेद १६ ही हो जाते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक ऐसा उदाहरण भी बना दिया जिसमें द्रव्य की भी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा निकल आती है। वह उदाहरण है—

'बराका यं राकारमग इति क्वाग्नि सहसा सर स्वच्छ मन्ये मिल्दमृतमेतन्मज्जुजाम् ।

अमुग्निन् या कापि पुतिरतिघना भाति मिपतामिव नीलच्छायादुपरि निरपायाद् गगनत ॥'

—जिसे नासमझ लोग चन्द्र कहते हैं मैं इसे देवताओं का अमृतपूर्ण सरोवर मानता हूँ, और इसके बीच में जो आत्यन्त घनी नीली छाया दिखाई दे रही है इसे ऊपर के आकाश की छाया।'

—यहाँ अमृत सरोवर रूप से उत्प्रेक्षित चन्द्रमा में विद्यमान किन्तु यहाँ शब्दतः अकथित जो कलक है उसका कारण आकाश बनलाया जा रहा है। आकाश एक द्रव्य ही है, जाति, गुण, क्रिया नहीं। अन उसकी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा द्रव्यहेतुत्प्रेक्षा का अस्तित्व सिद्ध कर देती है। किन्तु यह पण्डितराज जगन्नाथ ने अपना सामर्थ्य मात्र दिखाया है। वे स्वयं मानते हैं कि ऐसे उदाहरण सामान्यतः मिलते नहीं हैं। इसीलिए उन्होंने स्वयं फलोत्प्रेक्षा के प्रसंग में द्रव्याफलोत्प्रेक्षा नहीं दिखाई। और यह कह दिया कि आर्यादि भेद में कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार केवल स्वरूप, हेतु तथा फल भेद में ही है। मम्मट ने तो इन भेदों को भी छोड़ दिया। स्वरूपादि भेदों को कवरना पहिली बार अलङ्कारसर्वस्व में ही मिलती है।

गमन ने एक उत्प्रेक्षावचन नामक अलङ्कार भी माना है और उसका लक्षण—'उत्प्रेक्षाहेतुररत्प्रेक्षावचन'—ऐसा किया है, किन्तु इसका हेतुत्प्रेक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सजीविनांकार शीविदाचक्रवर्ती ने उत्प्रेक्षा के सपूर्ण विवेचन का समग्र इस प्रकार किया है—

'गुणक्रियाभिसम्बन्धात् प्रकृतेऽप्रकृतात्मना । सभावन स्यादुत्प्रेक्षा वाच्येवाथे परान्यथा ॥

जातिक्रियागुणद्रव्योरत्प्रेक्षात् सा चतुर्विधा । भावाभावाभिमानत्वे आर्यादेः साष्टया पुनः ॥

गुणक्रियानिमित्तत्वे श्रेया षोडश्या तथा । दार्ष्टिक्ये निमित्तस्योपादानादन्यथा स्थिते ॥

हेतौ स्वरूपे चोत्प्रेक्ष्ये फले षण्णवतिः पुनः । द्रव्ये हेतुफलात्मतासम्भवात् तदिभर्ता च्युति ॥

तथा प्रतीयमानाया निमित्तत्वात्तुप्रसङ्गः । नापि स्वरूपं तैर्भेदैस्तस्मान्म्यूना भवेदियम् ॥

कचिच्छ्लेषेण धर्माश्रितेनैवा न वाच्यते । उपगोपकमाप्येषा भवेत् सापह्वापि च ॥

—गुण या क्रिया के सम्बन्ध से प्रकृत में अप्रकृत को संभावना उत्प्रेक्षा होती है। यह तब वाच्य होती है जब श्व आदि का प्रयोग रहता है जब नहीं रहता तब प्रतीयमान। उत्प्रेक्षा जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य को होती है अतः उसके चार भेद हो जाते हैं। ये चारों भावात्मक तथा अभावात्मक होते हैं, अतः उक्त चार भेद आठ हो जाते हैं। ये आठों भेद गुण को निमित्त बनाकर होते हैं अथवा क्रिया को अतः सोलह हो जाते हैं। ये सोलह भेद निमित्त के उपादान और अनुपादान के आधार पर बर्तीस हो जाते हैं। ये बर्तीसों भेद स्वरूप, हेतु और फल रूप होते हैं अतः ९६ हो जाते हैं। किन्तु द्रव्योत्प्रेक्षा हेतु तथा फल रूप नहीं होती अतः उनके भेदों की कर्मा हो जाती है। इसी प्रकार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान नहीं रहता न स्वरूपोत्प्रेक्षा ही, अतः उन्ने भेद और कम हो जाते हैं। उत्प्रेक्षा में कहीं कहीं धर्माद्य में दलेप रहता है किन्तु उससे यह बाधित नहीं होती। यह उपमोपक्रमा तथा उपह्वोपक्रमा भी होती है।

—इस प्रकार स्पष्ट है कि संजीविवीकार ने उत्प्रेक्षा को संभावनस्वरूप माना अथवसाय-स्वरूप नहीं, जो मम्मटादि के अनुरूप होने पर भी मूलग्रन्थ सर्वत्व के विशद है।

स्वरूप हेतु और फल तीनों में ठीक वैसा अन्तर है जैसा गौणी लक्षणा और शुद्ध लक्षणा में होता है। संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों की विशेषता है कि वे भेद करते समय किसी विशिष्ट भेद को एक नाम दे देते हैं। और शेष बचे सामान्य भेदों को शुद्ध भेद कह देते हैं। उत्प्रेक्षा में भी हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं को हेतुत्व और फलत्व के आधार पर विशिष्ट नाम दे दिया और जिस भेद में कोई असाधारण विशेषता नहीं देखी उसे अलग गिना दिया। किन्तु यहाँ उसे शुद्धोत्प्रेक्षा न कहकर स्वरूपोत्प्रेक्षा कह दिया। कुछ आचार्यों ने इसी को वस्तुत्प्रेक्षा कहा है। जो 'वस्तु, अलंकार और रस' इस प्रकार पसिद्ध भेदप्रक्रिया के अनुसार ठीक है। स्वरूपोत्प्रेक्षा जहाँ द्रव्यगत होती है वहाँ वह धर्मोत्प्रेक्षा कहलाती है क्योंकि द्रव्य धर्म से युक्त होता है, इसीलिए रसगंगाधरकार ने उसका लक्षण स्वतन्त्र रूप से दर्शाया है। किन्तु वह सर्वैव धर्मगत ही नहीं होती धर्मगत भी होती है और रसगंगाधरकार ने 'धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा' शीर्षक से उसका उदाहरण स्वतन्त्र रूप से अलग दिया है। इस प्रकार कुछ लोग स्वरूपोत्प्रेक्षा को केवल धर्मोत्प्रेक्षा मान बैठते हैं वह भ्रम है।

उत्प्रेक्षा के विकास में जो जो अंग जिस क्रम से छुड़े हैं वह क्रम ऊपर उद्धृत सभी आचार्यों के उत्प्रेक्षा लक्षणों से स्पष्ट है।

[सर्वस्व]

पद्यमध्यवसायस्य साध्यतायामुत्प्रेक्षां निर्णाय सिद्धत्वेऽतिशयोक्तिं लक्षयति—

[सू० २३] अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः ।

अध्यवसाने त्रयं संभवति—स्वरूपं विषयो विषयो च । विषयस्य हि विषयिणान्तर्निर्णीतत्वेऽध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम् । तत्र साध्यत्वे स्वरूपप्राधान्यम् । सिद्धत्वे त्वध्यवसितप्राधान्यम् । विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव संभवति । अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः । अस्याश्च पञ्च प्रकाराः । भेदेऽभेदः । अभेदे भेदः । संबन्धेऽसंबन्धः । असंबन्धे संबन्धः । कार्यकारणपूर्वापर्यविध्वंसश्च ।

[वृत्ति] २३ प्रकार [उपर्युक्त क्रम से] अध्यवसाय के साध्य होने पर संभव उत्प्रेक्षा का निर्णय किया अब [उस अध्यवसाय के] साध्य होने पर समव अतिशयोक्ति का लक्षण करने हैं—

[सूत्र] किन्तु [अध्यवसाय में] अध्यवसित की प्रधानता हो तो अतिशयोक्ति [नाम अलंकार होता है] ॥ २३ ॥

[वृत्ति] अध्यवसान में तीन पदार्थ रहते हैं, स्वरूप, विषय और विषयी । अध्यवसाय के स्वरूप की निष्पत्ति होती है तब अब विषय विषयी के द्वारा उसके अपने भीतर निगल लिया जाता है । इस [निगलने] में यदि साध्यता रहती है तो प्रधान रहता है स्वरूप [निगलना = अध्यवसाय हो] और यदि भिन्नता तो प्रधान होना है अध्यवसित [विषयी] । विषय की प्रधानता अध्यवसाय में हो ही नहीं सकती । वही अध्यवसित [विषयी] की प्रधानता नौ वह अतिशयोक्ति रूप से मान्य ही है । इस [अतिशयोक्ति] के पांच भेद होते हैं । (१) भेद में अभेद (२) अभेद में भेद (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध तथा (५) कारण तथा कार्य के पूर्वापरत्व रूप क्रम का उलटना ।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्मन्मद्वतारयति—

प्रथमित्यादि । तामेव लक्षयितुमाह—अध्यवसितेत्यादि । एतदेव श्याययानुमध्यवसायस्य तावद्यथात्मभवं स्वरूपं दर्शयति—अध्यवसान इति । परस्परनिष्ठवानुपपत्तेरध्यवसायस्य किं विषयविषयिभ्यामिवासाङ्गवाह—विषयस्य हीरयादि । विषयविषयिभ्यामन्तरेणाध्यवसाय एव न भवतीत्यर्थः । एवामेव विषयविभागं दर्शयति—तत्रेत्यादिना । तत्रेति प्रयतिर्धारणे । स्वरूपप्राधान्यमिति अध्यवसायप्राधान्यम् । अध्यवसितप्राधान्यमिति विषयिप्राधान्यम् । साध्यत्वं सिद्धत्वं चोत्प्रेक्षायामेव निर्गतम् । नैव संभवतीति—अध्यवसायस्वरूपानुदयात् । तदेवं विषयिगः प्राधान्यविषयिवायामलंकारो भवतीत्याह—अध्यवसितेत्यादि । उक्तं चान्यत्र—

‘अध्यवसायसाध्यत्वप्रतीताविषयिभ्यस्ते ।

तसिद्धताप्रतीती तु भवेदतिशयोक्तिषीः ॥’ इति ।

पञ्चेति न्यूनाधिकसंख्यानिरासार्थम् । अत एव कार्यकारणपौर्वापर्यविष्वस्य चतुर्थभेदान्तर्भावो न वाच्यः । एवं हि भेदान्तराणामपि तदन्तर्भाव एव स्यात् । अभेदाद्यसंबन्धेऽपि संबन्धोपनिबन्धनात् । अथ भवत्येतदिति चेत् । न । ‘अत्र च यद्यपि सर्वत्र भेदेऽभेदादौ वस्तुतोऽसंबन्धे संबन्ध एव वर्णयितुं शक्यते तथाप्यन्तर्भेदविषयान्यैर्लक्षितत्वाद्भिविषयस्यासंबन्धे संबन्धस्य दर्शित्वाच्च विभागेन निर्देशः कृत्’ इति भवद्भिरोक्तत्वात् । तत्समानन्यायत्वाकरुणमस्यापि चतुर्थभेदान्तर्भावो न्याय्यः । अथ ‘यदि कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविष्वसत्समानकालताद्यभावोऽपि तथोपनिबन्धे पञ्चमोऽत्र प्रकार इष्यते तद्देशकालयोः पदार्थसंबन्धे विशेषामावाञ्जित्तद्देशत्वामात्रेऽपि तथोपनिबन्धे पछोऽपि भेदः परिगगनीय इति निर्विषयत्वाद्संगतेरभावः प्रसज्यत’ इति चेत् । नैतत् । यस्मादतिशयोक्त्यावतिशयाख्यप्रयोजनप्रतिपिपाद्यविषया विषयनिगरणेन विषयिप्राधान्यं विवक्षितम्, असगतौ तु विरुद्धत्वप्रत्यायनाय कार्यकारणयोर्मिश्रदेशत्वमित्युभयत्राप्यस्ति तावच्चिद्विवाद्दो लक्षणभेदः । कार्यकारणपौर्वापर्यविष्वसे च बल्लभकर्तृकरुण द्वयविधिज्ञानस्य कारणस्य स्मरकर्तृकरुण च कार्यस्य पूर्वापरीभाव निरीर्य ‘त्वद्दर्शनैर्नैव विषयान्तरवैमुख्येन त्वदमिलापपरैश्च जातेत्यतिशयप्रयोजनप्रतिपाद-

नार्थमन्यथात्वमप्यवसितमित्यतिशयोक्तिभेदत्वमेवास्य न्याय्यं न त्वसंगतिभेदत्वम् । तत्र हि—

‘वन्धवन्धघम्मिल्लमधीरदृष्टेः क्षमानायकश्चम्पकमाळिकाभिः ।

चित्तेषु मन्युः स्थिरतां जगाम विपत्तसारङ्गविलोचनानाम् ॥’

इत्यादौ धम्मिल्ले बन्धश्चित्तेषु च मन्युस्यैर्यमिति कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वम् । यत्रैव बन्धस्तत्रैव तत्कार्यस्य स्थैर्यस्योपपत्तेर्विरुद्धत्वप्रथायकम् । विरोधस्य चात्राभासमान-त्वम् । धम्मिल्लवन्धमन्युस्यैर्ययोर्वस्तुतोऽपि कार्यकारणभावसद्भावाभावाख्यस्य वाचक-प्रत्ययस्योह्लासात् । न च बाधोदयेऽपि विरोधाप्रतीतिः । द्विचन्द्रप्रतीतिवदनुपपद्यमानत-या स्खलद्गतिस्त्वेन तदप्रतीतेरवस्थानात् । न चातिशयोक्ती स्खलद्गतित्वम् । निश्चय-त्वभावाद्वाद्स्या अनुपपद्यमानत्वशङ्काया अप्यभावात् । नहि कार्यकारणयोः पौर्वापर्य-विध्वंस उपपद्यत इत्यत्र विवक्षितं किंत्वेवं फलमेतदिति । अत एवासंगतेरतिशयोक्तेश्च स्वरूपभेदोऽपीति कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसेनासंगतिर्भिन्नदेशत्वेन चातिशयोक्तिरिति यथोक्तमेव युक्तम् । अत एव च

पौर्वापर्यविपर्याससमकालसमुद्भवौ ।

कार्यकारणयोर्द्यौं तौ विरोधाभासपल्लवौ ॥’

इत्याद्यपि यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेवेति न न्यूनप्रकारत्वम् ।

केचिच्च सर्वालंकाराणामप्यतिशयोक्तेरेव प्रभेदवाद्वाद्स्या बहुप्रकारतामाचक्षते । तथा गुणमायामप्यत्येतद्भेदत्वम् । न्यूनगुणस्य सुखादेरधिकगुणेन चन्द्रादिना साम्येऽति-शयानतिपातात्, अतिशयं विना च गौरिव गवय इत्यादावलंकारत्वात् । अतश्चा-तिशयस्यैव सर्वालंकारबीजभूतत्वात् ‘एकैवातिशयोक्तिश्च काव्यस्यालंकारिर्नता’ इत्युक्तम् । नैतत् । इह अतिशयस्य द्वयी गतिः यद्यं कविप्रतिभानिवर्तितः सामान्यात्मा भवति, भेदेऽप्यभेद इत्येवमादिरूपी विशीषात्मा वा । तत्राद्यः सर्वैरेवालंकारबीजतयाभ्युपगतः । अन्यथा हि गौरिव गवय इत्यादावलंकारत्वं स्यात् । तावता पुनरेतत्प्रभेदत्वं सर्वालंका-राणां न युक्तम् । तत्त्वे हि विशेषोऽयुक्तेस्त्वादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सर्वालंकाराणामपि विशेषो-पदेशयुक्तेस्त्वरूपात् । अथ द्वितीयपक्षाभयेनैतदुच्यते तदप्ययुक्तम् । अस्या अन्वयवसित-प्राधान्यं लक्षणम् । तच्चालंकाराणां न संभवति । तथास्वानवगमात् । अतश्चैवामसंभवत्-त्सामान्यत्वात्कथं तद्विशेषत्वमिति बहुप्रकारत्वमस्या निरस्तम् ।

(१) इस [उत्प्रेक्षा-प्रकरण] का उपसंहार करते और अब दूसरे [प्रकरण] का आरम्भ करते हुए लिखते हैं—‘एवम्’—आदि ।

(२) उसी [अतिशयोक्ति] का लक्षण करते हुए लिखते हैं—‘अध्यवसित’ आदि ।

(३) इस [लक्षण] की व्याख्या करने के लिए पहले अध्यवसाय का संभावित स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—‘अध्यवसान’ आदि ।

(५) ‘अध्यवसाय [एकमात्र विषयी के ही रहने पर होता है अतः उस] में ‘परस्पर [विषय और विषयी दोनों] के बीच संभव ही नहीं होता, तब, विषयविषयी की चर्चा निरर्थक है’—ऐसी शंका की कल्पना कर उत्तर में लिखते हैं—‘विषयस्य हि’ । अर्थ यह कि विषय विषयिभाव के बिना अध्यवसाय ही निष्पन्न नहीं होता ।

(६) इन [स्वरूप, विषय तथा विषयी] का क्षेत्रविभाग दिखलाने हुए लिखा—‘तत्र’—आदि । ‘तत्र’ = इनमें—यह तीनों का रूप अलग अलग बतलाने के उद्देश्य से लिखा । स्वरूपप्राधान्य = अध्यवसाय की प्रधानता । अध्यवसितप्राधान्य = विषयी की प्रधानता । अध्यवसाय में : साध्यत्व

और सिद्धत्व क्या है। इसका निर्णय ग्रन्थकार ने उत्प्रेक्षा के आरम्भ में ही कर दिया है। 'नैव संभवति = हो ही नहीं सकती इसलिए कि वैसा होने पर अव्यवसाय का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार जब विषयी की प्रधानता रहती है तब यह [अतिशयोक्ति] अलङ्कार होता है; इस निष्कर्ष को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'अध्यवसित' आदि। दूसरे ग्रन्थ में कह भी गया है—'यद् [उत्प्रेक्षा] यहाँ मानी जाती है अहाँ अव्यवसाय में साध्यता की प्रतीति रहती है। उसमें यदि प्रतीति सिद्धता की हो तो अनिशयोक्ति का बोध होता है।'

पौच = पाँच ही कहकर सख्या में कमी या वृद्धि को अमभावित ठहराया। इमीलिए 'कार्यकारणपूर्वोपरविपर्यय'—इस पाँचवे भेद का चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव नहीं बतलाया जाना चाहिए—[जैसा कि अलङ्काररत्नाकरकार ने बतलाया है पृ० ५८, ५९] क्योंकि वैसे तो अन्य भेद भी उसी भेद के भीतर अन्तर्भूत बतलाए जा सकते हैं, क्योंकि उन भेदों में भी अभेद आदि का कोरं सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यदि कहें कि 'उन भेदों का भी अन्तर्भाव चतुर्थ भेद में ही हो जाय—'तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही कहा है—
 " भेद में अभेद आदि अन्य भेदों में भी यद्यपि 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध बतलाया जा सकता है तथापि [इस 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध—नामक भेद में 'भेद में अभेद सम्बन्ध' आदि] अवागन्तर भेद मानने ही पढ़ेंगे इसलिए अन्य आचार्यों [अलङ्कारसर्वस्वकारादि] ने ये [भेद में अभेद आदि] भेद [उत्सर्गापवादव्याय से] अलग गिना दिए हैं और अन्त में [जब अन्य अवागन्तर भेद मभव न हुआ तब] 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध नामक भेद [स्वगन्तरूप में] गिना दिया है, और हम [अलङ्काररत्नाकरकार] ने भी उन्हीं के अनुकरण पर यहाँ अन्य भेदों को 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध नामक चतुर्थ भेद से अलग करके गिना दिया है—' [अल० रत्ना० अतिशयोक्ति की अन्तिम पंक्ति-पृ० ६१] इस प्रकार उक्त हेतु से यदि आप प्रथम तीन भेदों का चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव नहीं मानते तो उसी हेतु के रहते हुए केवल पंचम भेद का अन्तर्भाव कैसे मान सकते हैं, और यदि मान भी लें तो उसे उचित भिन्न कैसे कर सकते हैं।

और यदि [आप अलङ्काररत्नाकार] यहाँ यह आपत्ति प्रस्तुत करें कि—'कारण और कार्य में [उत्पत्तिगत] समानकालता [एकसाथ उत्पन्न होना] आदि [धर्म] धस्तुत. नहीं रहते तथापि यदि [कालगत] पौर्वापर्य क्रम को तोड़ उन्हें समानकालिक आदि रूपमें विभिन कर अतिशयोक्ति का यह पाँचवा भेद माना जाता है तो [कार्य कारण के] देशगत अभेद [जहाँ कार्य रहता है वहाँ कारण के रहने] का नियम तोड़कर अतिशयोक्ति का एक छठा भेद भी माना जाना आवश्यक होगा, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के साथ जिस प्रकार काल का सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार देश का भी। दोनों में कोरं अन्तर नहीं है। और वह छठा भेद मान लेने पर असंगति अलङ्कार का एक भी स्थल शेष नहीं रह पाएगा, वह उच्छिन्न हो जाएगी [अल० रत्ना० पृ० ५९] तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशयोक्ति और असंगति दोनों के लक्षण अत्यन्त भिन्न हैं। अतिशयोक्ति में विषय को छिपाकर विषयी की प्रधानता प्रतिपादित की जाती है और उसका प्रयोजन रहना है अतिशय बड़ा प्रतिपादन, क्योंकि अतिशयोक्ति में प्रयोजनीभूत अतिशय ही रहता है, जब कि असंगति में प्रतिपादित किया जाता है कार्य और कारण में देश भेद [दोनों का एक स्थान में न रहकर अलग अलग रहना] और इसका प्रयोजन रहना है [प्रातिभासिक] विरोध की प्रतीति। कार्यकारण के कालगत पौर्वापर्य क्रम के तोड़ने से जो पाँचवाँ अतिशयोक्ति निष्पन्न होती है उस [—'हृदयमधिष्ठितम्' इत्यादि जो उदाहरण

आगे दिया गया है उस] में कारण है मालती के हृदय में 'बल्लभ का अधिष्ठित होना' और कार्य है 'काम का अधिष्ठित होना'। उनका जो स्वाभाविक कालगत पौर्वापर्य क्रम है उसे छिपा दिया गया है और उस पर उससे जलवा पौर्वापर्यक्रम अध्ववसित किया गया है और इसका प्रयोजन है [नायक के समक्ष दूती द्वारा] इस अतिशय का प्रतिपादन कि 'तुम्हारे देखनेमात्र से मालती ने अन्य सब बातें छोड़ एकमात्र तुम्हें ही चाहते रहना शुरू कर रखा है'। इस कारण इस स्थल को अतिशयोक्ति का ही भेद मानना उचित है, न कि असंगति का। असंगति का जो उदाहरण आप [अलं० रत्ना० कार] ने दिया है उसका तात्पर्य है विरोध की ही प्रतीति में। उदाहरण है—'विक्रमदेव ने चन्द्रक मालाओं से बाँधा तो चन्द्रलदेवी के जूड़े को दिव्य निश्चलता को प्राप्त हुआ सौतों के चित्तों में कोप' [विक्रमांशुदेव चरित-१०।५६]। इसमें 'बन्ध जूड़े में और कोप को स्थिरता चित्तों में'—इस प्रकार कार्य और कारण को अलग अलग स्थान पर चित्रित किया गया। इससे विरोध की प्रतीति हुई, क्योंकि सामान्यतः यहाँ स्थिरतारूपी कार्य को वहाँ बतलाया जाना चाहिए था जहाँ उसका कारण बन्ध बतलाया गया था। विरोध का भी यहाँ आभास-मात्र होता है, [वह प्रकृत नहीं हो पाता] क्योंकि यहाँ विरोध का बाधक ज्ञान भी उदित होता है। यह ज्ञान है 'जूड़े के बन्धन और कोपकी स्थिरता के बीच वास्तविक कार्यकारणभाव के अभाव का ज्ञान। किन्तु ऐसा नहीं होता कि बाधकज्ञान के होने पर विरोध ज्ञान न होता हो, क्योंकि उसकी प्रतीति उसी प्रकार बाधित रूप में अन्त तक बनो रहती है जिस प्रकार एक चन्द्र में दो चन्द्रों की प्रतीति। ज्ञान के बाधित होने की यह बात अतिशयोक्ति में नहीं रहती। क्योंकि यह होती है निश्चयरूप ज्ञान पर निर्भर। फलतः इसमें ज्ञानके बाधित होने का सन्देह होना भी संभव है। अतिशयोक्ति में यह बतलाना थोड़े ही अभीष्ट रहता है कि 'कारण और कार्य का कालगत पौर्वापर्य का ध्वंस संभव होता है'। यहाँ तो केवल इतना बतलाना अभीष्ट रहता है कि 'इस पौर्वापर्य ध्वंस का फल यह है'। और इसी कारण [न केवल प्रयोजनों में अपितु] अतिशयोक्ति तथा असंगति के स्वरूपों में भी भिन्नता है। इसलिये यही मानना उचित है कि; अतिशयोक्ति वहाँ होती है जहाँ कार्यकारण के कालगत पौर्वापर्य क्रम का अभाव बतलाया जाता है और असंगति वहाँ जहाँ कार्यकारण के देशगत एकत्व का अभाव। और इसी कारण किन्हीं अन्य आचार्यों का यह कथन भी अमान्य है कि—

'कार्य तथा कारण के (१) पौर्वापर्य का विपर्यास' तथा (२) 'उनकी एकसाथ उत्पत्ति'—ये जो दो तथ्य हैं ये ही हैं विरोधाभास तथा पल्लव (१)'।

इस प्रतिपादन से सिद्ध हुआ कि अतिशयोक्ति के [पाँच] भेदों में कर्मा नहीं की जा सकती।

कुछ आचार्य [भामह, मानन्दवर्धन, मम्मट] सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति का ही भेद मानते हैं और कहते हैं कि अतिशयोक्ति के भेद [केवल पाँच नहीं] बहुत अधिक संभव हैं। जैसे उपमा भी अतिशयोक्ति का भेद है, क्योंकि उसमें भी कम गुणवाले मुख आदि का अधिक गुण वाले चन्द्र आदि से जो साम्य बतलाया जाता है उसमें अतिशय दृष्टता नहीं है। इसी अतिशय के अभाव में 'शब्य गौ के समान'—इत्यादि उपमिति नामक प्रमाण के वाक्य में [साम्य रहने पर भी उपमान] अलंकारत्व नहीं रहता। इसीलिये यही देखकर कि अतिशय ही सभी अलंकारों का बीज है कहा गया है—'एक अकेली अतिशयोक्ति ही काव्य का अलंकार मान्य है'। किन्तु यह ठीक नहीं है। अतिशय जो है वह दो प्रकार का होता है (१) सामान्य (२) विशेष। विशेष यथा भेद में अभेद। ये दोनों ही भेद कविप्रतिभा प्रसूत होने हैं। इनमें से प्रथम ही भेद सभी आचार्यों द्वारा अलंकारों का बीज स्वीकार किया गया है। इसे नहीं मानें तो

'गवय गौ सा'—आदि वाक्य में भी अलङ्कारत्व माना जाने लगेगा। केवल इतने से सभी अलङ्कारों को इसी अतिशयोक्ति का भेद मानना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वालङ्कार बीजत्व की यह बात विशेषोक्ति, उल्लेख आदि में भी लागू होगी, क्योंकि सभी अलङ्कार विशेषोक्तिरूप और उल्लेख रूप ही हैं। दूसरा जो विशेषरूप है उसके आधार पर सभी अलङ्कारों की निम्नलिखित मानने का द्वितीय पक्ष भी अमान्य है, क्योंकि अतिशयोक्ति में मूलभूत विशेषता है अध्यवसित की प्रधानता। यह अन्य अलङ्कारों में नहीं मिलती न मिल ही सकती। क्योंकि उनमें अध्यवसित के प्राधान्य का ज्ञान नहीं होना, इसलिए इन अलङ्कारों में जब अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण लागू नहीं होता तो इन्हें अतिशयोक्ति के भेद मानना समझ ही कैसे है। इस प्रकार अतिशयोक्ति के भेदों की संख्या बहुत अधिक मानने की बात ठीक नहीं पानी।

विमर्श—विमर्शनीकार ने यहाँ अलङ्काररत्नाकर के त्रिन अर्शा का खण्डन किया है वे वे हैं—
 १ = [सू०] अध्यवमानमतिशयोक्ति [वृ०] = अथ च भेदेऽभेदः, अभेदं भेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धः, असम्बन्धे सम्बन्ध इति चतुर्था। कार्यकारणयोर्पौर्वापर्यविष्वस्य चतुर्थभेदान्तर्भावत्वात् पञ्चमिति न वाच्यम्, तत्रापि समानकालतापमन्वन्धेऽपि (१) विष्वस्यपौर्वापर्यसम्बन्धस्य तत्सम्बन्धोपनिबन्धात्, अन्यथा देशान्तरेणासम्बन्धेऽपि तयोपनिबन्धे पक्षस्यापि भेदस्य परिगणनीयतायाम् असङ्घर्तनिविषयत्वप्रसङ्गात्, न हि देशकालयोर्पदार्थसम्बन्धे कश्चिद् विशेषः, येनैकत्र भेदत्वेन कथनमन्यत्र तदभाव इति स्यात् । [अलङ्काररत्नाकर पृ० ५८-५९]।

२ = 'अत्र च यद्यपि—निर्देश' कूल' यह अष्ट विमर्शनीकार ने अक्षरशः उद्धृत कर ही दिया है। इन दोनों अर्शों के अर्थ विमर्शनी में ही स्पष्ट हैं। विमर्शनी में प्रथम 'समानकाल-तापमन्व' के स्थान पर निर्णयसंगरीष प्रति में 'समानन्यायतापमन्व' छपा है।

[सर्वस्य]

तत्र भेदेऽभेदो यथा—

'कमलमनन्मसि कमले च कुचलये तानि कनकलतिकायाम् ।

सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ।'

अत्र मुख्यादीनां कमलादीर्भेदेऽभेदः ॥

इन [भेदों] में [से प्रथम] 'भेद में अभेद' [नामक भेद का उदाहरण] यथा—[सुन्दरी को लक्ष्य कर]—

'अरे कमल [चेहरा], तौ भी पानी के बिना और कमल के बीच दो नील कमल [आँतें] और ये तीनों सोने की छड़ी में, [सुन्दरी श्री गोरी अगलतिका में] और वह [छठी] भी सुकुमार तथा सुन्दर । अरे ये उत्पान पर उत्पान कैसा ।'

—यहाँ मुख आदि का कमल आदि से है तो भेद, किन्तु बतलाया जा रहा है अभेद ।

विमर्शनी

मुख्यादीनामिति । न तु वास्तवस्य सौन्दर्यस्य कमलादौरेरिति । न तु कविसमर्पितेन सौन्दर्येण । अत एव च, 'अत्रातिशयाख्यमित्यादिः' तद्विप्रामेयेष्वध्यवसितप्राधान्यम्—
 इत्यन्तश्चोत्तरकालिको ग्रन्थः स्वमतिज्ञाह्याह्वेलकैरन्यथा लिखित इति निश्चिनुम । अयं हि ग्रन्थकृतः पश्चात्कैश्चिद्विपश्चिद्धिः पत्रिकाभिलिखित इत्यवगीता प्रसिद्धिः । ततश्च तैरनवधानेन ग्रन्थान्तरप्रसङ्गादनुपयुक्तत्वाद्वा पत्रिकान्तराद्यमसमञ्जसप्रायो ग्रन्थक्षण्डो लिखित

इति । न पुनरेकत्रैव तदैव मुख्यादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽप्यभेद इत्युक्त्वापि 'न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाप्यवसायो योजनीय' इत्यादि वचनं पूर्वापरपराहतमस्य वैदुष्यशालिनो ग्रन्थकारस्य संभाव्यम् ।

[यहाँ अभेद] मुख्यादीनाम् = मुख आदि का [प्रतिपाद्य है] न कि वास्तविक सौन्दर्य का, कमलाद्यैः = कमल आदि से, न कि कविकल्पित सौन्दर्य से । [इन दोनों प्रतीकों को मिलाकर यह अर्थ निकाला जाना अशुभ है—'अभेद मुख और कमलरूपी दो धर्मों का अशुभ है न कि उनके भीतर रहने वाले सौन्दर्यरूपी धर्मों का, मुख में सौन्दर्य वास्तविक है और कमल में कविकल्पित] । ग्रन्थकार के ऐसा कहने से हमारा निश्चय है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने वालों ने अपने का 'अत्र अतिशयाख्यम्' यहाँ से आरम्भ होने वाला और 'तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम्'—यहाँ समाप्त होने वाला ग्रन्थांश यहाँ नास्तमशी से लिख दिया है । यह प्रसिद्धि भी है कि यह अंश ग्रन्थकार के हाथ कुछ विद्वानों ने 'पत्रिकाओं' में लिखा था । इसलिये निश्चित ही यहाँ अस्तगत यह अर्थग्रन्थ [मूलकार की प्रति से नहीं, अपितु] अन्य को पत्रावली से यहाँ लिख लिया है । ऐसा इसलिये कि इस ग्रन्थांश का प्रसङ्ग यहाँ नहीं, अन्यत्र है, यहाँ यह अनुपयुक्त है । इस ग्रन्थ का विद्वान् रचयिता एक ही स्थान पर उसी समय तो यह कहे कि 'मुख्यादि का कमलादि से भेद रहने पर भी अभेद है' और उसी समय इसके विरुद्ध यह भी कहे कि 'मुख्यादि के साथ कमलादि का अभेदाप्यवसाय नहीं जोड़ना चाहिए'—ऐसा संभव नहीं ।

[सर्धस्व]

अभेदे भेदो यथा—

'अण्णं लडहत्तणअं अण्णाविअ कावि वत्तणच्छावा ।

सामा सामण्णपभावइणो रेहच्चिअ ण होइ ॥

अत्र लडहत्वादीनामभेदेऽप्यन्यत्वेन भेदः । यथा वा—

'मग्गिअलद्धम्मि बलामोडिअच्चुंथिएँ अण्पणा अ उवणमिय ।

एक्कम्मि पिआहरय अण्णोण्णा हौति रसभेआ ।'

अत्राभिन्नस्यापि प्रियाधररसस्य विषयविभागेन भेदेनोपनिबन्धः ।

संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

'लावण्यद्रविणव्ययो न गाणतः क्लेशो महान्स्वीकृतः

स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः ।

एषापि स्वगुणालुपरमणाभावाद् वराकी हता

कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥'

अत्र लावण्यद्रविणस्य व्ययसंबन्धेऽप्यसंबन्धस्तन्वीलावण्यप्रकर्षप्रति-

पादनार्थं निबन्धः । यथा वा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः

शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः ।

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो

निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ॥'

अथ पुराणप्रजापतिनिर्माणसंबन्धेऽप्यसंबन्ध उक्तः ।

असंबन्धे संबन्धो यथा—

‘पुष्पं प्रवाल्लोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यामताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः श्मितस्य ॥’

अत्र संभाषनया संबन्धः । यथा चा—

‘दाहोऽम्भःप्रसृतिपचः प्रचयवान् वाष्प- प्रणालोचितः

श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपकलिकाः पाण्डिग्नि मग्नं वपुः ।

किं खान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां स्वन्मार्गवातायने

हस्तच्छत्रनिरुद्धखण्डमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥’

अथ दाहादीनामम्भःप्रसृत्याद्यैरसंबन्धेऽपि संबन्धः सिद्धयेनोक्तः ।

‘अन्यत् सौन्दर्यमन्यापि च कापि वर्त्तनच्छाया ।

स्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न संभवति ॥’

—[हम सुन्दरी का] सौन्दर्य कुछ और ही है और चेहरे को शोभा भी कुछ और ही । यह बोहरी सामान्य प्रजापति की रेखा भी नहीं हो सकती ।’

—यहाँ छटमाव अर्थात् सौन्दर्य आदि में कोई भेद नहीं है तथापि ‘कुछ और ही’ कहकर उसमें भेद बतलाया गया है । हमो भेद का दूसरा उदाहरण यथा—

‘मागितलम्बे बलात्कारचुम्बिते आत्मना चोरनीते ।

एकस्मिन्नपि प्रियाधरेऽप्येभ्यो भवन्ति रसभेदाः ॥’

—‘खोजने या मँगने से प्राप्त, बलात् चुम्बित अवश स्वय उपहत एक ही प्रियाधर में और और ही रस आता है ।’

—यहाँ प्रिया के अधर का एक ही रस विषयभेद से भिन्नरूप में चित्रित किया गया । सबन्ध में असंबन्ध यथा—

‘छावण्य की संपत्ति का व्यय भी नहीं गिना, महान् क्लेश भी उठाया, और स्वेच्छाचारी प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चिन्ता की आग सुलगा दी । श्वर इस बेचारी की भी अपनी सुन्दरता के अनुरूप वर न देकर नष्ट कर दिया । अन्ततः विधाता का ध्येय क्या था इस सुन्दरी की सुन्दर काया गढ़ने में ।’

—यहाँ छावण्य की संपत्ति के व्यय [की गणना] के साथ संबन्ध के रहने पर भी उसका अभाव तन्त्री के छावण्य के प्रकर्ष प्रतिपादन के लिए बतलाया गया । इसी का दूसरा उदाहरण यथा—

‘रस [उर्वशी] के निर्माण में प्रजापति तो कान्निप्रद चन्द्र रहा होगा, या एकमात्र शृंगार ही जिसका रस है ऐसा स्वयं काम ही अथवा पुष्पों का आकर मास चैत्र अर्थात् वसन्त ऋतु । वेद को रटने रटते भिस्की मति जब हो गई जिसका कुतूहल विषयों से इतना चुका है ऐसा ब्रह्मा [नारायण] मुनि [न कि ब्रह्मा] इसका निर्माण कैसे कर सकता है ।’

—यहाँ निर्माण के साथ पुराण प्रजापति [नारायण ऋषि न कि ब्रह्मा] का संबन्ध है तब भी उसका अभाव बतलाया गया ।

डॉ० रामचन्द्र दिवेदी ने यहाँ पुराण मुनि का अर्थ ब्रह्मा किया है जब कि स्वयं संजीविनीकार ने उसका अर्थ ‘पुराणो मुनिर्नरसञ्च’, ऐसा किया है । दिवेदी ने पाठ भी ‘पुराणो विधि’ ऐसा

मान लिया है जो निर्णयसागर की प्रति में भी पाठान्तर में दिया हुआ है। 'पुराण प्रजापति' = इस वृत्ति का अर्थ भी उन्होंने सुद्धा मन्त्रा किया है।

असंबन्ध में संबन्ध का उदाहरण यथा—

[कोई सफेद] पुष्प यदि कोपलों के बीच खिले या मोती निखरे मूर्गों के बीच रखा जाय तो कदाचित् वह उस [पार्वती] के लाल ओठों पर बिलखी उज्ज्वल स्मिति का अनुकरण कर सकता है। [कुमारसंभव-१]।

-- यहाँ [यदि शब्द पाद का] संभावना द्वारा [पुष्प और प्रवाल आदि का] संबन्ध प्रतिपादित किया गया है। [क्योंकि वृक्ष में जब फूल आते हैं तब उसके पत्ते कोपल नहीं रह जाते। वे हरे होकर जरठ पल्लव बन जाते हैं (संजीविनी) शोभाकर ने यहाँ क्रियातिपात्ति नामक अलंकार माना है]।

इसो भेद का दूसरा उदाहरण यथा—

'दाह इतना है कि पसो [प्रवृत्ति, अंगलि] भर पानी तक सुखा देता है। आँसू इतने जमड़ रहे हैं कि यदि कोई भारी नाली = (प्रणाल) हो तो उसमें ठीक से बह सकते हैं। सीस इतनी लम्बी है कि उनमें जलते दीपक की ली हिल उठती है। सारा शरीर पीलेपन में डूब गया है। और क्या कहूँ, आजकल उस [मालती] की चैठक तुन्दारे मार्ग की ओर का शरोखा ही बना हुआ है। यहाँ बह पूरी पूरी रातों हाथ के छत्ते से नौदनी का प्रकाश रोकती और बैठी रह जाती है।

—यहाँ पानी की पसो आदि से दाह आदि का सम्बन्ध नहीं है असंबन्ध ही है, तथापि संबन्ध सिद्ध रूप से बतलाया गया है।

विमर्शिनी

ऊहहस्वादीनानिति, आदिशब्दाद् वर्तनच्छायाया एव ग्रहणम्। तत्रैवाभेदेऽपि भेद-विवक्षणाद्। उत्तरार्थे हि संबन्धेऽप्यसंबन्धः। 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यस्य पादत्रयी तन्त्रीलावण्यप्रकर्षप्रतिपादनार्थमित्येतत्प्रयोजनदर्शनं सर्वोदाहरणोपलक्ष्यपरम्। संभावनयेति। ननु वस्तुतः। अत एव संबन्धस्यावास्तवत्वाद्बुद्धाहरणान्तरमाह—'दाहोऽन्म-इत्यादि। वाशब्दः समुच्चयार्थः।

ऊहहस्वादीनाम् = यहाँ आदि शब्द के द्वारा वर्तनच्छाया = मुखकान्ति का ही ग्रहण करना अभीष्ट है। क्योंकि अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा वही में है। इस पद्य के उत्तरार्थ में तो 'सम्बन्ध में असम्बन्ध' है।

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः'—इस पद्य के तीनों चरण का 'नायिका के लावण्य का उत्कर्ष बतलाने के लिए है'—यह जो प्रयोजन दिखलाया गया है। यह सभी उदाहरणों पर लागू होता है। इसलिए यहाँ अन्य पद्यों में प्रयोजन की कल्पना स्वयं ही कर लेनी चाहिए। संभावनया = संभावना द्वारा अर्थात् वस्तुतः नहीं। संबन्ध के अवास्तविक होने से ही एक दूसरा भी उदाहरण दिया—'दाहोऽन्मः' इत्यादि। यहाँ ['यथा वा-का'] 'वा'-शब्द समुच्चयार्थक है।

[सर्वस्व]

कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः पौर्वापर्यविपर्ययात्तुल्यकालरवाद्वा। विपर्ययो यथा—

'हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापवाणेन ।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता ॥'

∴ तुल्यकालत्वं यथा—

‘अधिरत्नविलोलजलदः कुटजाजुर्जनीपसुरभिवनवातः ।

अयमायातः कालो हन्त हता पथिकगेहिन्यः ॥’

कार्य और कारण के [कालगत] पौर्वापर्य का भिदना दो प्रकार से समभव है (१) पौर्वापर्य में विपरीतता आने [कार्य के कारण से पहले होने] से और (२) [कार्य और कारण की उत्पत्तिगत] समानकालिकता से । दोनों में से विपरीतता का उदाहरण यथा—

• ‘तुम जब भेदों के विषय बने तो हे रमणीवह्नम ! मालती के हृदय में पुष्प के ही धनुष और पुष्प के ही बाण वाले [कामदेव] ने पहिले ही घर कर लिया, तुमने बाद में ।’ समानकालिकता का उदाहरण यथा—

हन्त ! यह काल [समय = वर्षा ऋतु और मृत्यु] जिसमें बने मेघ उमड़ते आ रहे हैं और कुंरैया [कुटज] कोहा [= अजुंज], तथा कदम्ब [= नीप] से वनवात सुरभित है, इधर आया है और [उसी के साथ] इधर पथिकों की घरवाली प्राण छोड़ रही है ।’

विमर्शिनी

अत्र च कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस इत्यनेन प्रसिद्धयोः कार्यकारणयोर्विध्वंसो विपर्ययस्तथा पौर्वापर्यस्थादिपक्षाःकालभाविश्वेन प्रसिद्धस्य क्रमस्य विध्वंसो व्यत्ययः सहभावो वेद्यपि भेदत्रयं तन्त्रेगोक्तम् । एव च कार्यकारणविध्वंसस्यापि पञ्च प्रकाराः । अद्यान्तरप्रकारवायुनरेपां पञ्चप्रकारत्वं नियमगर्भीकारेण पूर्वं व्याख्यातम् । तत्र कार्यकारणयोर्विपर्ययो यथा—

पृथक्तं अथअत्तं सकोअभरे मिअंककातीई ।

सहस्सपं अरहंदस्स कारण भणइ सरस्स ॥

अत्रेण्डुफागते. संक्षेपे विपर्ययेण कृतपत्रस्य कारणत्वमप्यवसितम् । अत्र भेदेऽभेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिहेतुत्वेन स्थिता । उत्तरे त्वर्थे सैव श्लिष्टशब्दनिघञ्चना हेतुः । तथाभावोपनिबन्धश्चात्र यत्रस्य कावण्यप्रकर्षप्रतिपादनाथम् । क्रमविपर्ययो यथा—‘कुपितस्य प्रथममन्धकारी भवति विद्या ततो भ्रुकुटिः, आदाविग्निद्याणि रागाः समास्कन्दति, चरमं चक्षुः, आरम्भे तपो गलति पश्चात्स्वेदसलिलञ्च, पूर्वमयशाः स्फुरत्यमन्तरमधर’ इति । अत्र कोपकार्यं विद्याभ्रुकुट्यादीनामन्धकारीभवनादौ क्रमं निगीर्य तद्विपर्ययोऽप्यवसितः । तस्यैव सहभावो यथा—

‘रहभवगाहि परिअणो मसणं मणिमेहल।णिअंवाहि ।

उज्ज्जा हिअवाहि समोसरति सम ससिमुहीणम् ॥’

अत्र परिजनादीनामपसरणे क्रमिकत्वेऽपि समकालत्वमप्यवसितम् । पूर्वमेव सर्वे-पामेव भेदानां लोकासम्भवद्विपर्यय दर्शयितुमाह—

यहाँ ‘कार्यकारण-पौर्वापर्य-विध्वंस’—इसी एक ही शब्द से—

(१) कार्य और कारणरूप में प्रसिद्ध पदार्थों में [कार्यकारणभाव का] विध्वंस अर्थात् उलटाव = कार्य का कारण बनना और कारण का कार्य, [= अर्थात् कार्यकारणविध्वंस] ।

(२) कार्य और कारण क्रमशः बाद में और पहले होने का जो प्रसिद्ध पौर्वापर्य [कारण की उत्पत्ति पहले होने और कार्य की बाद में का] क्रम है उसका विध्वंस = उलटा दिया जाना अथवा—

(३) दोनों की सहोत्पत्ति—

—ये दोनों भेद बतला दिए गए हैं ।

इसके अतिरिक्त यह जो कार्यकारण के पौर्वापर्य के विपर्यय का भेद है इसमें [अतिशयोक्ति के भेद में अभेद आदि] पाँचों भेद भी आ जाते हैं किन्तु ये भेद अनान्तर भेद हैं [अर्थात् प्रभेद हैं] इसलिए [अतिशयोक्ति के] इन सब [भेदों] के पाँच पाँच भेद अतिशयोक्ति के नियम को चित्त में रखकर [उत्प्रेक्षाप्रकरण के अन्त में] पहिले ही [हमने] स्पष्ट कर दिए हैं । इन [दोनों] भेदों में से [प्रथम भेद] कार्यकारण के विपर्यय = उलटाव का उदाहरण, यथा—

‘श्ताचदबदातं संकोचकरं भृगाङ्कान्तीनाम् ।

सहस्रपत्रकमरविन्दस्य कारणं भवति सरसः ॥ १ ॥

—‘तालाव से निकले अरविन्द की इतनी उज्ज्वल हजार पँखुदियं चन्द्रमा की कान्ति में संकोच का कारण कही जा रही हैं ।’

—यहाँ चन्द्रमा की कान्ति के प्रति उलटे कमल को संकोच का कारण बतला दिया गया है [जब कि चन्द्रकान्ति ही कमलसंकोच का कारण मानी जाती है] । उसमें कारण है अतिशयोक्ति का प्रथम भेद ‘भेद में अभेद’ । उत्तरार्ध में भी वही शब्द श्लेष-द्वारा निष्पन्न होकर कारण बना है । इस प्रकार के वर्णन का उद्देश्य है नायिका के चेहरे की लुनाई में प्रकर्ष जतलाना ।

क्रम के उलटने का उदाहरण यथा—

‘जो क्रुद्ध होता है उसकी विद्या पहिले मलिन होती है भ्रुकुटी बाद में, राग उसकी इन्द्रियों को पहिले दबोचता है मैत्रों को बाद में, उसका तप पहिले गिरवा है पत्नीना वाद में, अपयश पहिले फरफराता है अधर वाद में ।’

—यहाँ विद्याभ्रुकुटी आदि का मलिन होना कोपजन कार्य है तथापि उनके [उत्पत्ति-] क्रम में विपरीतता अध्यवसित की गई है ।

कार्य-कारण-पौर्वापर्य-ध्वंस में सहभाव यथा—

‘रतिभवनैभ्यः परिजनो मसृणं मणिमैखला नितम्बैभ्यः ।

लज्जा हृदयेभ्यः सममपंसरन्ति समं शशिसुखीनाम् ॥’

—‘चन्द्रमुखी सुन्दरियों के रतिभवनों से परिजन, नितम्बों से मणिमैखला और हृदयों से लज्जा प्रकसाथ चुपके से खिसक रही हैं ।’

—यहाँ परिजन आदि का निःसरण = खिसकना होता तो एक के बाद एक करके है किन्तु उसमें अध्यवसित किया गया है समकालत्व ।

अब इन सब भेदों के विषय में बतलाते हैं कि ये लोकभूमिका पर संभव नहीं हैं, [केवल काव्य या कविकर्म की भूमिका पर ही संभव हैं]—

[सर्वस्व]

एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिकान्तगोचरम् । अतश्चात्रातिशयाख्यं यत्फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राभेदाध्यवसायः । तथा हि ‘कमलमनम्भसि’ इत्यादौ चदनादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽपि चास्तवं सौन्दर्यं कश्चिसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितं भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम् । तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम् । न तु चदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः, अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वग्याप्तेः । तत्र

हि 'अणं लडद्वत्तणं' इत्यादौ सातिशयं लडद्वत्त्वं निमित्तभूतमभेदेनाध्य-
वसितम् । एवमन्यत्रापि द्वेषम् । तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम् । प्रका-
रपञ्चकमध्यात्कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणताथयार्थकार-
प्रस्ताये प्रपञ्चायं लक्षयिष्यते ।

इन पाँचों भेदों में 'भेद में अभेद' आदि कवन लोकोत्तर [कविप्रतिभा की] भूमिका पर
निर्भर रहता है । और इसी कारण इनमें जो—'अतिशय' नामक फल है जो [अतिशयोक्ति का]
निष्पादक होने से निमित्त भी है उसमें अभेदाध्यवसाय का प्रतिष्ठा माना गई । उदाहरणार्थ—
'कमल बिना पानी के'—आदि स्वर्ण में [नायिका]—सुख आदि का कमल आदि से भेद रहने
पर भी वास्तविक सौन्दर्य को जो कविसमर्पित सौन्दर्य से अविन्न प्रतिपादिन किया गया वह
निमित्त बना [इस विधा को] 'भेद में अभेद' [—विधा] नाम देने का । और यहाँ जो
अध्यवसाय हुआ वह सिद्ध अध्यवसाय है । इसलिये प्रधानता हुई अन्यवसित [विषयो, कमलादि]
की । यहाँ 'सुख आदि से कमल आदि का अभेदाध्यवसाय है' ऐसी योजना नहीं करनी चाहिए,
क्योंकि विसा करने पर 'अभेद में भेद—आदि प्रकारों में लक्षण नहीं जायगा । क्योंकि इनमें 'कुछ
और ही है सौन्दर्य' इत्यादि में अनिश्चययुक्त सौन्दर्य ही निमित्त होकर अन्यवसित हुआ है और
इसी प्रकार अन्य भेदों में भी । उसीके अभिप्राय से कहा कि 'प्रधानता अध्यवसिन का रहती है' ।

पाँचों भेदों में जो भेद कार्यकारणभावमूलक है कार्यकारणभावमूलक अकार्यों के प्रकरण में
उसका लक्षण एक बार और बगलाया जायगा किन्तु वह केवल विस्तार या स्पष्टीकरण की
दृष्टि से ।

विमर्शिनो

यथादि । एष्विति विषयसप्तमी । एष चावयवनिर्देशः । लोकातिक्रान्तेति । कवि-
प्रतिभानिमित्तमेव सातिशय्य वस्तुषो विषय इत्यर्थः । अत्रेति भेदपञ्चके । चक्षब्धः प्रमे-
यान्तरसमुच्चयार्थः । फलमिति । तस्यैव प्रतिपादाद्विपितत्वात् । तत्रेति । सा। तवश्य
सौन्दर्यस्य कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदवचने । ननु चात्र चक्षुनादीनां कमलाद्यध्यव-
सायः प्रतीयत इति कथमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह—न त्वित्यादि । कुतश्च तेष्ववसासिरित्या-
शङ्क्याह—तत्र हीत्यादि । कमलमनम्भसीत्यत्र हि यदि चक्षुनादीनां धर्मिणामभेदाध्यव-
साययोजनं क्रियते तत्तस्य धर्मिणस्तथैवैवेष्टेरिह धर्माणां न स्यादवसासिः । अतश्च पूर्वत्र
धर्माणामेवाध्यवसायो धोतनीयो येन सर्वत्रैक एव पक्षः स्यादिति तात्पर्यार्थः । उपलक्ष्यं
चैतत् । यावता द्वाध्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम् । तच्च धर्मिणामस्तु धर्माणां वेति को
विशेषो येनावसासिः स्यात् । प्रत्युत धर्मयोरभेदाध्यवसायान्युपगमे उपमादीनामप्यति-
शयोक्तिप्रसङ्गः स्यात् । तत्रापि धर्माणामेव भेदेऽभेदविवक्षणात् । एव च विज्ञानीयत्वेन
भेदे धर्मयोरप्यवसासिः प्रसज्यत इत्यलमसङ्गतप्रन्यायोदीरणेन । प्रपञ्चार्थमिति । न तु
निर्णयार्थम् । इहैव तस्य निश्चितत्वात् । प्रपञ्चश्च तत्रैव दर्शयिष्यते ।

एषु = इनमें यहाँ सप्तमी विषय अर्थ में है । और [इनमें के] 'इन' का अर्थ है अवयव ।
लोकातिक्रान्त = कविप्रतिभानिमित्त एतएव अतिशय से युक्त वस्तु ही इन भेदों का विषय है ।
अत्र = इनमें अर्थात् पाँचों भेदों में । 'च = और प्रयोजन है—अन्य प्रमेय [अर्थ] का सम्यक् ।
फलम्—क्योंकि फल ही का प्रतिपादन अभीष्ट रहता है । 'तत्र—यहाँ' अर्थात् वास्तविक सौन्दर्य
को कविसमर्पित सौन्दर्य के साथ अभेद के कथन में ।—कहा होती है कि "यहाँ प्रतीति होती है

सुख आदि पर कमल आदि के अध्येवसाय की और कहा जा रहा है कि 'प्रतीत होता है अध्येव-सित', यह कैसे?—इसके उत्तर में लिखते हैं—तत्र हि । तात्पर्य यह कि 'कमल विना पानी के'—यहाँ यदि सुखादि धर्मों का अमेदाध्यवसाय किया जाय तो वह केवल धर्मियों में ही रहेगा, धर्मों में नहीं होगा इसलिए अव्याप्ति होगी ? इस कारण पहिले अमेदाध्यवसाय धर्मों में ही मान लिया जाना उचित है जिससे सभी भेदों में एक ही योजना रहे ।

[कुछ लोगों का कहना है कि] यह तो उपलक्ष्यमात्र है क्योंकि इस अतिशयोक्ति का लक्षण है 'अध्येवसित की प्रधानता, वह अध्येवसान धर्मों का हो अथवा धर्म का, कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए अव्याप्ति की बात नहीं बनती । वल्कि धर्मों में अमेदाध्यवसाय मानने पर उपमा में अतिशयोक्तित्व जाने का भय रहेगा, क्योंकि वहाँ भी धर्मों में भेद के रहते हुए भी अमेद की विवक्षा रहती है ।' [किन्तु] ऐसे तो धर्मों में लक्षण लागू न होगा क्योंकि उनमें भी भेद रहता है क्योंकि वे परस्पर में विजातीय होते हैं । इसलिए उक्त क्रम से ['उपलक्ष्य' कहकर] जो मूल ग्रन्थ की व्याख्या की गई है वह असङ्गत है, उसकी चर्चा से विराम लेना ही अच्छा । [यह कदाचित् अलंकाररत्नाकरकार के 'अध्येवसाने च सर्वत्र'—से लेकर 'निर्विषयत्वप्रसंगादित्यलं बहुना' यहाँ तक पृष्ठ ५९ [U. B. A. Poona १९४२] पर विद्यमान विवेचन का सांकेतिक खण्डन है ।

प्रपञ्चार्थ न कि निर्णयार्थ । क्योंकि निर्णय तो यहाँ किया जा चुका है । प्रपंच [विस्तार मात्र शेष है सो वह आगे [विशेषोक्ति और असंगति के बीच] बतला दिया जायेगा ।

विमर्शः—अतिशयोक्ति का पूर्वोक्तिहास =

भामह = 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥

स्वप्नुष्वच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिता ।

अन्वमीयन्त भृङ्गाऽलिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥

अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव ।

तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वन्मसि योपिताम् ॥

इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।

सर्वैवातिशयोक्तिरतु तर्कैश्च तां यथागमम् ॥

तेषां सर्वैव वक्रोक्तिरनवयार्यो विभाष्यते ।

यत्नोऽर्त्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥' [२।८१-८५]

—किसी निमित्त से कथित जो लोकोत्तर [२।८१-८५] उक्ति वही अतिशयोक्ति और उसी को अलंकार मानते हैं [८१] उदाहरण [१] = अपने पुष्पों की कान्ति चुराने वाली चाँदनी में छिपे सप्तपर्ण [छितवन] वृक्ष गौरों की गूँव से अनुमानित किए गए [८२] और [२] यदि पानी से कोई झीनी त्वचा निकले जैसे सापों से निकलती है [केंचुल] तो उससे बलक्रीडा निरत सुन्दरियों के आँग पर [पारदर्शी] आवरण बख बनाया जा सकता [८३] [जिससे अंग छिपे नहीं, स्मरणीय कालिदास का 'संदृष्टयल्लेष्यलानितम्बेषु' १६ सर्ग] ।

—इन और ऐसे ही अन्य स्थलों में अतिशयोक्ति मानी जाती है । यहाँ गुणों में अतिशय जो ला दिया जाता है [८४] । वह जो अतिशयोक्ति है यही पूरी की पूरी वक्रोक्ति है । सामान्य अर्थ में इसी के द्वारा विभावक—[रसनीयता, चमत्कार]—शक्ति आती है । प्रत्येक कवि को इस दिशा में सचेष्ट रहना चाहिए । इसके बिना कोई भी अलंकार निष्पन्न नहीं होता [८५] ॥ अलंकारसर्वस्वकारने 'लोकातिक्रान्तगोचर'—शब्द और निमित्त शब्द भामह से ही लिए हैं ।'

मामह का प्रथम उदाहरण मीलित था सामान्य का उदाहरण हो सकता और द्वितीय उत्तरालंकार का । किन्तु द्वितीय में 'यदि'-से निष्पन्न होनेवाली अतिशयोक्ति भी हो सकती है ।

वामन = उरप्रेक्षैवातिशयोक्तिरिति केचित्, तत्रिरासार्धमाह—

[सू०] 'सामान्य-धर्म-तदुत्कर्षकत्वनतिशयोक्ति ।

[वृ०] सामान्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कत्वनतिशयोक्तिः । यथा—

'उभौ यदि श्वोभिन् प्रपक् प्रवाहावाकाङ्क्षज्ञापयसः पतेताम् ।

तेनोपमोयेत तमालनीलमामुकमुकालतमस्य वशः ॥ माघ० ॥

यथा वा—

'मलयजरसविलुप्ततनवो' ।

—कुछ आचार्यों का कहना है कि 'उरप्रेक्षा ही अतिशयोक्ति है।' हमका निराकरण करने के लिए [वरप्रेक्षानिरूपण के पुराने पद्यात् अतिशयोक्ति का उल्लेख दिया—]

[सूत्र] सामान्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति ।

[वृत्ति] यथा = 'मौक्तिक की माला की दो लक्ष्मियाँ से विभूषित भगवान् कृष्ण के तमाल नील वश की तुलना आकाश से की जा सकती है, यदि उसमें आकाशगंगा के जल के दो घण्टू प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर बहने लगे।' और—

'श्वेत प्रसाधनों से युक्त श्वेताभिसारिकाएँ चाँदनी में अलग समझ नहीं पड़ती अतः निर्मय होकर वे अपने मित्र के स्थान तक पहुँच जाती हैं ।

निश्चित ही दोनों उदाहरण मामह के उदाहरणों के समानार्थक उदाहरण हैं ।

उद्धट = 'निमित्ततो वचो वस्तु लोकातिकान्तगोचरम् ।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया बुधा ॥ २१११ ॥

मेदेऽन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते ।

तथा सामान्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिर्गी ॥ २११२ ॥

कार्यकारणयोर्वन्न पीवांपर्यविपर्ययात् ।

आशुभावं समाशब्ध्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥ २११३ ॥

उदाहरणानि—

तपस्तेजस्पुरितया निजलावण्यसंपदा ।

कृशामप्यकृशामैव दूरयमानामसशुभम् ॥

अचिन्तयश्च भगवानहो नु रमणीयता ।

तपसास्वाः कृशान्यत्वं कौमार्याद् येन लक्ष्यते ॥

पतेद् यदि शशियोतच्छटा पद्मे विक्रासिभि ।

मुक्तफलाशुमालायाः कटेऽस्याः स्वात् तदोपमा ॥

मन्ये ॥ निपतन्त्यस्या- कटाश्या दिष्टु पृष्ठतः ।

प्राणेषाम्रे नु गच्छन्ति स्मरवाणपरम्पराः ॥

—[भगवती पार्वती] तप से उत्पन्न तेज से चमचमानो अपनी लावण्यसंपत्ति से कृश होने पर भी निश्चित अकृश लगती थीं ।

—[पार्वतीजी को देखकर] भगवान् ने सोचा ओहो किन्तनी अद्भुत है इसका सौन्दर्य । तप ने इसे कुमारी से मित्र [शुभती] बना दिया है ।

—[पार्वतीजी के] हाथ में रखी मुक्तानिमित्त ज्वरमाला की उगमा तब हो सकती है जब चन्द्रमा की कान्ति कमल में पड़े ।

— [कदाचिद् पार्वती जी का ही वर्णन] और मुझे कुछ ऐसा लगता है कि इसके कटाक्ष वाद में गिरते हैं काम के बाणों का ताँता प्रायः पहिले ही लम जाता है ।

इनमें प्रथम उदाहरण भेद में अभेद का, द्वितीय अभेद में भेद का, तीसरा असम्बन्ध में संबन्ध का तथा चौथा कार्यकारण के पौर्वापर्य के उलटने का उदाहरण है ।

इससे स्पष्ट है उद्भट ने 'संबन्ध में असम्बन्ध' नामक भेद नहीं माना है । किन्तु कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्यय को अवश्य स्वतन्त्रभेद बतलाया है । वह भी स्पष्ट ही है उद्भट का व्यापार भागद का ही अतिशयोक्ति विवेचन है ।

रुद्रट = रुद्रट ने अतिशयोक्ति भाग से एक कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतलाया । अलंकारों के एक वर्ग को अतिशय नाम दिया है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक वर्ग को वास्तव और एक वर्ग को औपम्य । अतिशयवर्ग में उन्होंने (१) पूर्व (२) विशेष (३) उपप्रेक्षा (४) विभावना (५) तद्गुण (६) अधिक (७) विरोध (८) विषम (९) असंगति (१०) पिहित (११) व्याघात तथा (१२) अहेतु ये १२ अलंकार माने हैं । इनमें प्रथम 'पूर्व' अलंकार कारण-कार्य-विपर्यय नामक भेद का ही दूसरा नाम है ।

उसका लक्षण—

'यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य ।

प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद् भवेत् पूर्वम् ॥'

—जहाँ अतिप्रबलता अर्थात् कारण के द्वारा विना व्यापार के ही कार्योत्पत्ति बतलाने की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति कारण की उत्पत्ति से पहिले ही बतला दी जाती है वह है पूर्वम् । यथा—

'जननसुलभमभिलषतामादौ दन्दहते मनो यूनाम् ।

गुरुरनिवारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति ॥'

—सुलभ व्यक्ति को चाहने वाले युवकों का मन पहिले ही जलता है भयंकर और अप्रश-मनीय मदनानल बाद में सुलगता है । अतिशयसामान्य का लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार दिया है—

'यत्रार्थधर्मनिवमः प्रसिद्धिबाधाद् विपर्ययं याति ।

कश्चित् क्वचिदतिलोके स स्यादित्यतिशयस्तस्य ॥ ११ ॥'

—भाव यह कि जहाँ पदार्थ और उसके धर्म की प्राकृतिक व्यवस्था प्रसिद्धि के विरुद्ध उलटी प्रतिपादित की जाती है वहाँ उसकी यही अतिलोकता अर्थात् लोकातीतता अतिशय कहलाने लगती है ।

ठीक देसा ही एक अन्य 'पूर्व' नामक अलंकार रुद्रट ने औपम्यवर्ग में भी गिनाया है —

'यत्रैकविधावर्थो जायेते यौ तथोरपूर्वस्य ।

अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभियोचेत् तत् पूर्वम् ॥ ८।९७ ॥

—अर्थात् उपमानोपमेय किसी एक कार्य से युक्त हो रहे हैं उनमें से उपमेयभूत पदार्थ भले ही उपमानसदृश वर्णित कार्य से युक्त साथ साथ या बाद में हो रहा हो परन्तु यदि उसे उपमान की अपेक्षा पहिले ही वैसे कार्य से युक्त बतला दिया जाए तो वहाँ पूर्व नामक अलंकार होता है । यथा—

'क्वाले जलदकुलावृत्तदशदिशि पूर्वं त्रियोगिनीवदनम् ।

गलदविरलसलिलमरं पश्चादुपसायते गगनम् ॥ ८।९७।'

—मेघकुलों से दशों दिशाओं को आकुल करने वाला समय अर्थात् वर्षाऋतु जब आती है तो त्रियोगिनीवदन अविरलजलस्रावी पहिले हो जाता है, आकाश बाद में ॥'

—उपर्युक्त उदाहरण तथा इस लक्षण से यह तो स्पष्ट होता है कि रुद्रट के मन में अति-शयोक्ति का पूर्वाचार्य प्रतिपादित रूप है किन्तु वे मामूह या उद्भट के अनुसार इनको स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते ।

यहाँ एक यह भी ध्यान देने योग्य लक्ष्य है कि वामनाचार्य ने उत्प्रेक्षा को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानने वालों का स्पष्ट खण्डन किया है और उनके परवर्ती रुद्रट स्पष्ट रूप से बैसा मानते हैं । निश्चित ही वामन के पूर्व अलंकार-संप्रदाय की कोई और भी कड़ी रही होगी जो अब अनुपलब्ध है किन्तु रुद्रट को उपलब्ध थी ।

मम्मट = 'निगीवीच्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।

प्रस्तुतरय यदन्यस्य यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥

कार्यकारणपूर्वश्च पूर्वापर्यविपर्यय ।

विशेषातिशयोक्तिः सा ।'

—(१) उपमान द्वारा उपमेय का निगमण, (२) प्रस्तुत की अन्यरूपता, (३) यदि शब्द के अर्थ की उक्ति द्वारा अमभावितार्थ की कल्पना तथा (४) कार्य और कारण के पूर्वापर्य का विपर्यय यह सब अतिशयोक्ति अलंकार हैं । इनमें से मम्मट ने प्रथम का उदाहरण 'कमल-मनम्मसि', द्वितीय का 'अण्ण लड्डहत्तणअम्' तथा तृतीय का 'इदयमधिष्ठिनम्' ही दिया है ।
चतुर्थ का अवश्य—

'राकायाममृताशीश्चेदकलङ्गं भवेद् वपु ।

तस्या मुख उद्रा साम्यपराभवमवाप्नुयात् ॥'

—पूणिमा में चन्द्रबिम्ब यदि कलकरहित हो तो उसका मुख साम्य का तिरस्कार उठा सकता है, यह नया उदाहरण दिया है ।

. इस प्रकार मम्मट ने भी अतिशयोक्ति के चार ही भेद माने हैं । सबन्ध में असबन्ध नामक भेद उद्भट के ही समान उनके विवेचन में नहीं मिलता ।

दोभाकर = ने अतिशयोक्ति के यद्यर्थ अर्थात् असबन्ध में सबन्ध भेद के लिए-यद्यर्थोक्ताव-संभाव्यमग्नस्य क्रियातिपत्ति = 'यदि' आदि शब्दों के अर्थ के द्वारा जहाँ अहंभाष्यमान पदार्थ की कल्पना की जाए वह क्रियातिपत्ति,—इस प्रकार क्रियानिपत्ति नामक एक स्वतन्त्र अलंकार माना है और उसका उदाहरण 'पुष्प प्रवालोपहितम्' पद्य ही दिया है । उनका अतिशयोक्ति सम्बन्धी शेष विवेचन पहले आ ही चुका है । इन्होंने एक अतिशयनामक अलंकार और माना है, किन्तु उसका अतिशयोक्ति से कोई संबन्ध नहीं है ।

अप्यप्यदीक्षित = परवर्ती अप्यप्यदीक्षित कुवलयानन्द में तो (१) रूपकातिशयोक्ति (२) सापेक्षवातिशयोक्ति (३) भेदकातिशयोक्ति (४) सम्बन्धातिशयोक्ति (५) असम्बन्धातिशयोक्ति (६) अक्रमातिशयोक्ति (७) चपलातिशयोक्ति तथा अत्यन्नातिशयोक्ति नामक सात भेद मानते और अष्टिम तान भेदों में कार्यकारणपूर्वविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति भी स्वीकार करते हैं, साथ ही अपनी ओर से स्वतन्त्र उत्तम उदाहरण भी देने हैं, किन्तु चित्रमीमांसा में वे केवल चार भेद ही प्रतिपादित करते हैं भेदेऽभेदः, अमेदेऽभेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धः और असम्बन्धे सम्बन्धः । कार्यकारणपूर्वविपर्यय को वे छोड़ देने हैं । चित्रमीमांसा में उनसे अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते ।

यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिनिर्मिता ॥'

पण्डितराज जगन्नाथः—

लक्षण—'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः, तस्योक्तिः । अर्थात्—विषयी द्वारा विषयका निगरण होता है अतिशय और उसको उक्ति = अतिशयोक्ति ।

पण्डितराज ने जो उदाहरण दिए हैं उन में उन्होंने सर्वस्वकार द्वारा प्रतिपादित पाँचों भेद नामोहोखपूर्वक धटाए हैं । और अन्त में उन्होंने इन सभी भेदों के उक्त लक्षण के समन्वय का प्रयत्न किया है । एतदर्थ उन्होंने प्राचीनों के अनुसार 'एतद्भेदपञ्चकान्यतमत्वम्' = 'इन पाँचों भेदों में से कोई'—यह सामान्य लक्षण किया है । किन्तु उन्होंने नव्यों के अनुसार केवल प्रथम = निगरण मूलक भेद को ही अतिशयोक्ति बतलाया है और अन्य भेदों को अन्य कोई अलंकार, किन्तु उन अलंकारों का नाम नहीं बतलाया । 'भेद में अभेद का, अभेद में भेदका, सम्बन्ध में असम्बन्धका, असम्बन्ध में सम्बन्ध का और कार्यकारण के क्रमविपर्यय में वास्तविक क्रम का निगरण' माना जा सकता है, किन्तु यह निगरण वैसा निगरण नहीं होगा जैसा 'कमलमनम्मसि' आदि में विषयी द्वारा विषय के निगरण में होता है जहाँ विषय का ज्ञान उसके अपने धर्म के साथ नहीं होता । [उसमें विषयी के धर्म का ही ज्ञान होता है] क्योंकि प्रथम भेद के अतिरिक्त अन्य सब भेदों में विषय का ज्ञान भी होता ही रहता है । इसी अभिप्राय से पण्डितराज ने यह पंक्ति लिखी है—'ननु प्रस्तुतान्यत्वभेदे भेदेनाभेदस्य, असम्बन्धे सम्बन्ध इति भेदे संबन्धेना-सम्बन्धस्य, सम्बन्धेऽसम्बन्ध इति भेदे असंबन्धेन सम्बन्धस्य कार्यकारणपूर्वापरविपर्यये च तेनै-वानुपूर्वस्य च निगरणं रत्नाकर-विमर्शिनीकारायुक्तक्रमेण संभवतीति चेत् न, अन्यत्वादिभिः [सार्धम्] अनन्यवस्तु-प्रतीतिरेव चमत्कारित्वम्, न त्वनन्यत्वादिभिः [केवलैः], तेषाम-नुमवासङ्गतेः ।

पूर्वोक्त 'अन्यतमत्व' द्वारा संभव निर्वाह पर भी वे कटाक्ष करते हुए नव्यों की ओर से लिखते हैं—'न चान्यतमत्वमनुगतमिति शक्यते वक्तुम्, विच्छिन्नचित्तैलक्षणे सति अन्यतमत्वस्या-प्रयोजकत्वात् ।'—'अन्यतमत्व पाँचों भेदों में लागू हो जाता है किन्तु वह पाँचों भेदों को एक अलंकार सिद्ध नहीं करा पाता, क्योंकि पाँचों में जो चमत्कार है उस में अन्तर है ।

पण्डितराज के इस विवेचन की जड़ में जो दुर्बलता है वह वहीं एकड़ में आ जाती है जहाँ वे द्वितीय से लेकर पाँचवे भेद तक के चार भेदों को अलंकारान्तर तो करार देते हैं किन्तु उनका नाम नहीं ले पाते । सच यह है कि इन सब भेदों में सामान्य धर्म है 'लोकातिक्रान्तगोचरता' । और इते पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है । यहाँ इसी से चमत्कार होता है इसलिये अन्य अलंकारों में इसके रहने पर भी उन्हें अतिशयोक्ति नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ चमत्कार के दूसरे दूसरे कारण रहते हैं ।

पण्डितराज ने 'सम्बन्ध में असंबन्ध और 'असम्बन्ध में सम्बन्ध' दोनों भेदों को कुछ आचार्यों द्वारा अनभिमत बतलाया है । ये आचार्य कौन हैं यह एक गवेषणीय तथ्य है । संज्ञाविनीकार ने अतिशयोक्ति विवेचन का सारसंग्रह इस प्रकार किया है—

'अभेदाध्यवसायो हि फलेऽतिशयनामनि । न पुनः फलिनोस्तत्राभेदे भेदो न सिद्ध्यति ॥'

'अभेदाध्यवसाय अतिशयनामक फल में होता है, फलवानों में नहीं क्योंकि इस पक्ष में 'अभेद में भेद' की सिद्धि नहीं हो पाती ।'

विमर्शिनी

पुतदुपसंहरण्यद्वतारयति—

अब इस [प्रकरण] का उपसंहार करते हुए अन्य [प्रकरण] का आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्य]

एवमध्यसायाश्रयमलंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते । तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्वैविध्ये पदार्थगतम-
लंकारद्वयं क्रमेणोच्यते—

[सू० २४] औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुता-
नामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता ।

इयाद्यप्रयोगे ह्यौपम्यस्य गम्यत्वम् । तत्र प्राकरणिकानामप्राकरणिकानां
वार्थानां समानगुणक्रियासंबन्धे अन्वितार्था तुल्ययोगिता । यथा—

‘सजातपत्रप्रकाराञ्चिनानि समुद्रद्वन्ति स्फुटपाटलत्वम् ।

धिकस्वराप्यर्कंकरप्रभावाद्दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः ॥’

अत्र प्रस्तुतवर्णनस्य प्रकान्तत्वाद्दिनानां पद्मानां च प्रकृतत्वाद् वृद्धिगमनं
क्रिया । एवं गुणेऽपि । यथा—

‘योगपट्टे जटाजालं तारयो त्वह्मृगाजिनम् ।

उचितानि तवाङ्गेषु यद्यमूनि तदुच्यताम् ॥

उचितत्वं गुणः । अप्राकरणिकानां यथा—

‘घावस्यदम्भपृतनापतितं मुखेऽस्य

निर्निद्रनीलनलिनच्छदकोमलाङ्गथा ।

भग्नस्य गूर्जरमृपस्य रजः कयापि

तन्म्या तथासिलतया च यशः प्रमृष्टम् ॥’

अत्र गूर्जरं प्रति नायिकासिलतयोत्प्राकरणिकत्वे मार्जनं क्रिया । गुणो
यथा—

‘त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।

मालतीशशशृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

कठोरत्वं गुणः । एवमेवा चतुर्विधा व्याख्याता ।

[सू०] इस प्रकार अध्यवसाय पर निर्भर दो अलंकारों का निर्वचन किया । अब ऐसे अलंकारों
का निर्वचन किया जाता है जिनमें सादृश्य गम्यमान रहता है । उनमें भी दो विधाएँ रहती हैं
(१) पदार्थगत और (२) वाक्यार्थगत । इनमें से क्रम से पदार्थगत दो अलंकारों का निर्वचन
[पहले] करते हैं—[विमर्शिनोकार ने अपहृति के आरम्भ में यहाँ के ‘एवमध्य० क्रमेणोच्यते’-
इम प्रत्याश को उद्धृत किया है । वहाँ ‘क्रमेणोच्यते’ पाठ है, अतः यहाँ भी इमने वैसा ही पाठ
बना दिया है]—

विमर्शिनी

[सू०] ‘सादरय यदि गम्य [शब्दतः अकथित] हो और [केवल] प्रस्तुतों अथवा
[केवल] अप्रस्तुतों का पदार्थस्तर पर समानधर्म-सम्बन्ध हो तो तुल्ययोगिता
[होती है] ॥ २४ ॥

[पृ०] सादृश्य गम्य होता है जब इवादि [सादृश्यवाचक पदों] का प्रयोग नहीं रहता । इस स्थिति में केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक अर्थों का ही गुण क्रिया आदि रूप समान धर्मों से संबन्ध हो तो उसे अर्थानुरूप तुल्ययोगिताशब्द से पुकारा जाता है । यथा—

[ग्रीष्म में] दिन और पत्र दोनों वृद्धि को प्राप्त हुए । दोनों सञ्जातिपत्रप्रकरांचित थे, दोनों पाटलता [लवोंई] धारण किए हुए थे और दोनों ही विकृत्वर [विकासशील] थे । [दिन पक्ष में = सज्ज = सख्द ओ आतपत्र = छाते उनके प्रकर = समुदाय से अंचित = युक्त, पत्र पक्ष में = सत् = अच्छे बात = उत्पन्न हुए ओ पत्र = पत्रे उनके प्रकर = समुदाय से अंचित = सुशोभित] । .

—यहाँ प्रस्तुत है ऋतुवर्णन, अतः उसमें दिन और पत्र दोनों ही प्रस्तुत हैं और दोनों में 'वृद्धि को प्राप्त होना' = क्रिया अन्वित होती है । इसी प्रकार गुण के भी अभयान्वयी होने पर भी यथा—

'योगपट्ट, जटाएँ, वृक्ष की छाल, मृगचर्म, ये सब तुम्हीं बतलाओ यदि तुम्हारे शरीर के लिए उचित हो ।'

—यहाँ उचितत्व गुण है । [अलंकाररत्नाकरकार के अनुसार उचित शब्द नपुसकलिंग बहु-वचनान्त होने से योगपट्ट आदि प्रत्येक में अन्वित नहीं होता, यह एक दोष है] अप्राकरणिकों का [एक धर्म में अन्वय] यथा—

—'नष्ट गुर्जरेश के चेहरे पर आपकी दौड़ती हुई अश्वसेना की पड़ी हुई धूल का उसकी खिले हुए नीलकमल के समान फोमल अंग वाली शिवा ने पोंछा और उसकी कीर्ति को आपकी [बैसी ही] असिलता ने ।'

—यहाँ वर्णन है गुर्जरेश का अतः उसकी सी और असिलता दोनों ही अप्रस्तुत हैं । और उनमें मार्जन = पोंछना—रूपी क्रिया का अन्वय हो रहा है ।

[अप्रकरणिकों में] गुण का अन्वय यथा—

'तुम्हारे शरीर की श्रुद्धता को देखने वाले किस व्यक्ति के चित्त में मालती, शशिकला और कदली की कठोरता का मास नहीं हो जाता ।'

—यहाँ कठोरता गुण है । इस प्रकार यह चार प्रकार की होती है और उसकी व्याख्या की गई ।

विमर्शिनी

एवमित्यादिना । गम्यमानौपम्याश्रया इति ह्युवाचप्रयोगात् । पदार्थमिति । वाक्यार्था-पेक्षया पदार्थप्रतीतेरन्तरङ्गत्वात् । तत्र प्रथमं तुल्ययोगितामाह—औपम्येत्यादि । एतद्वेष व्याचष्टे—इवेत्यादिना । तत्रैतौपम्यस्य गम्यत्वे सति । प्राकरणिकानामिति द्वयोः समान-धर्मसंबन्धस्य संभवादेव ग्रहणसिद्धेर्वहुवचननिर्देशो बहूनां ग्रहणार्थम् । अत एव च बहूनामौपम्यग्रहणायैति न वाच्यम् । वक्ष्यमाणोदाहरणेषु ह्यथोरौपम्यस्योच्चासमानत्वात् । एवं दीपकेऽपि ज्ञेयम् । अन्वितार्थेति । समानधर्मसंबन्धिनामत्र भावात् । अनेनैव चास्याः प्रकृतानामप्रकृतानां च गुणक्रियात्मकधर्मयोगाद् द्वैविध्येन चतुःप्रकारत्वमप्युक्तम् । न चास्यातिशयोक्तिरनुप्राणकतया वाच्या । तां विनापि वक्ष्यमाणोदाहरणेष्वस्याः संभवात् । औपम्याभावेऽपि गुणसाम्योदाहरणद्वयं प्राच्योदाहृतत्वाद्ग्रन्थकृतोदाहृतम् । यत्र पुनरौ-पम्यं प्रतीयते तदुदाह्रियते यथा—

ईर्ष्याविकारावसरे तवोचितमिदं प्रिये ।
स्खलद्गतित्वं वचसां लीलाचङ्क्रमणस्य च ॥

अप्रोचितत्व गुणः । अप्रकृतयोस्तु यथा—

भूमारोहहृन्व्यग्रे सुचिरं त्रयि तिष्ठति ।

देवाद्य फणिनामग्रयः कूर्मश्च सुखिनौ परम् ॥'

अत्र सुखित्व गुणः ।

केचिच्च नायिकामिच्छितयोः प्राकरणिकत्वं मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते यथा—'शंभोर्यन्त्ररश्मिभिः प्रणमतश्चूडामणित्वे स्थिता

गङ्गा चन्द्रकला च सर्वजगता वन्द्यस्वमापादिता ।

युक्तायाः परतापदावविपदः कन्यापितृणामसौ

दूरीकार्यहिमालया कथमुभापादद्वयी प्राप्यते ॥'

अत्र भगवतीपादद्वयस्यैव वर्णनीयत्वाद् गङ्गाचन्द्रकलयोरप्रकृतत्वम् । आपादनं च क्रिया ।

विश्वप्रतिविम्बभावेभाषीय भवति । यथा—

'क्षिपन्वपिचिन्यानि पदानि हेलयो स्वराजहंसानधिदृष्टा च स्थिता ।

कवीन्द्रवक्त्रेषु च यत्र शारदा सहस्रपत्रेषु रमा च रज्यति ॥'

अत्र वक्त्रपत्रयोर्विश्वप्रतिविम्बभावः । अनेनैव चाशयेनाशालंकारवार्तिके ग्रन्थकृता वैशिष्ट्यमस्या दर्शितम् । शुद्धसामान्यरूपात्वेन यथा—

आस्तां बालस्य स नन्दे द्वे धान्यौ तस्य वृद्धये ।

एका पयःप्रस्रविणी सर्वसंपत्प्रसूः परा ॥'

अत्र प्रस्रवणस्य शुद्धसामान्यरूपत्वम् ।

एवम् इत्यादिना । गम्यमानोपम्याश्रया = गम्यमान सादृश्य पर आश्रित अर्थात् इत्यादि का प्रयोग न होने से । पदार्थम् क्योंकि पदार्थ की प्रतीति वाक्यार्थ की प्रतीति की अपेक्षा अन्तरण [पूर्ववर्ती] होती है । पदार्थगत इस वर्ग के अलङ्कार में पहले तुल्ययोगिता का लक्षण करते हैं— 'औपम्य' । इसी की व्याख्या करते हैं—इव । तत्र = प्राकरणिकानाम् = प्राकरणिकों का । यहाँ बहुवचन का प्रयोग दो से अधिक अप्राकरणिकों के समूह के लिए किया गया है, जैसे तुल्य-योगिता केवल दो अप्राकरणिकों में हुए समानधर्म सम्बन्ध से भी समव है । इसीलिए यह कहा जाना ठीक नहीं कि 'बहुतों का औपम्य अपनाने के लिए—' [यह अलङ्काररचनाकरने नहीं कहा है] । क्योंकि आगे कहे जाने वाले उदाहरणों में केवल दो दो के भी सादृश्य उपनिबद्ध है । यही स्थिति दोषक में भी मान्य है ।

अनिवसार्थ = क्योंकि इस [तुल्ययोगिता] में समानधर्म से सम्बन्धित पदार्थों का अस्तित्व है । इसीसे यह चार प्रकार की होती है क्योंकि इसमें प्राकरणिक और अप्राकरणिक का गुण और क्रिया रूप दो धर्मों से अन्वय होता है । अतिशयोक्ति को इसका साधक नहीं मानना चाहिए— क्योंकि यह अतिशयोक्ति के बिना भी आगे प्रदर्शित उदाहरणों में पाई जाती है । ग्रन्थकारने यहाँ जो गुणसाम्य के दो ऐसे उदाहरण दिए हैं जिनमें औपम्य = सादृश्य नहीं है वह केवल इसलिए कि उन्हें प्राचीन आलंकारिकों के उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया था । औपम्ययुक्त स्थल ये हैं—

'हे प्रिये ! ईर्ष्याविकार के समय तुम्हारे लिए यह उचित है कि तुम्हारी वाणी और लीलापूर्ण गतिमें रत्नलन आए ।'—यहाँ उचितत्व गुण है । [यहाँ दोनों प्रकृत हैं] । दोनों के अप्रकृत होने पर—

'हे देव [राजन्] आप पृथिवी का भार धोने में निरत हैं इसलिए आजकल शेषनाग और आदि कूर्म दोनों बड़े सुखी हैं ।'—यहाँ सुखित्व गुण है [और वर्णन रागाकार है अतः शेष भी

दूमं दोनों अप्रकृत हैं] । कुछ लोग दो नायिकायुक्त पदार्थों में प्राकरभिकता मानते हैं अतः हम दूसरा उदाहरण देते हैं—

‘भगवती पार्वती की ऐसी चरणारविन्दद्वयी कैसे प्राप्त की जा सकती है जिसने प्रणाम कर रहे भगवान् शिव के सिर पर विद्यमान गंगा और चन्द्रकला दोनों को अपनी नखरश्मियों से संसार भर के लिए बन्ध बना दिया है तथा जिसने [अपने पिता] हिमालय को कन्या के पिताओं के हृदय में लगी अत्यन्त ताप रूपा दवाग्नि की विपत्ति से दूर कर दिया है ।’

—यहाँ भगवती पार्वती के चरण ही वर्णनीय हैं अतः ‘गंगा’ और ‘चन्द्रकला’ ये दोनों अप्राकरभिक हैं । उनमें एक [जगदबन्धना विषयक] ‘आपादन = प्राप्ति’ क्रिया का अन्वय है ।

यह तुल्ययोगिता विन्वप्रतिविन्वभाव से भी निष्पन्न होती है । यथा—

‘जहाँ कभीन्द्रवक्त्रों में शारदा और कमलों में लक्ष्मी प्रेमपूर्वक रहती हैं, जो दोनों कभी तो अचिन्त्य पदों [सरस्वतीपक्ष में = कान्यघटनानुरूप पदावली, लक्ष्मीपक्षमें = पदचाप] को लीलापूर्वक विखेरती और भरती रहती हैं और कभी अपने राजहंसों [सरस्वतीपक्ष में हंसविशेष तथा लक्ष्मीपक्ष में राजारूपी हंस या हंसतुल्य विवेको राजा] पर सवारों किच द्रुप रहती हैं ।’

—यहाँ वक्त्र और कमल इन दोनों में विन्वप्रतिविन्वभाव है । इसी आशय से ग्रन्थकार ने अपने अलंकारवार्तिक नामक ग्रन्थ में [तुल्ययोगिता के] इस भेदको एक विशिष्ट भेद बतलाया है ।

शुद्ध सामान्यरूप से निष्पन्न तुल्ययोगिता, यथा—

‘स बालक की वृद्धि के लिए दो धात्री [धार्ई और पृथिवी] सदा तत्पर थीं एक धात्री जो दुग्धदात्री [धार्ई] थी और दूसरी धात्री सर्वसम्पत्ति उत्पन्न करनेवाली [पृथिवी] ।’

—यहाँ [पयः]—‘प्रसन्नवण = [दूध] देना शुद्ध सामान्यरूप किया है ।

विमर्शः—तुल्ययोगिता का पूर्वतिहास—

भामह = ‘भ्यूनस्थायि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया-

तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥’ यथा—

‘शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिताः ।

यदलङ्कितमर्यादां चलन्तीं विमृश क्षितिम् ॥’ [११२७-२८]

—कम गुणवाले पदार्थ का विशिष्टगुण वाले पदार्थ से गुणगत साम्य बतलाने के लिए समान कार्य करना प्रतिपादित किया जाय तो तुल्ययोगिता होती है । यथा—शेषनाग, हिमाचल, और हे राजन् आप अत्यन्त गरिमामय हैं जो मर्यादा की रक्षा कर डोलती पृथिवी को धारण करते रहते हैं ।

चामन = ‘विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता ।

विशिष्ट से भ्यून की समता बतलाने के लिए एककालिक क्रिया में दोनों का अन्वय तुल्ययोगिता कहलाता है [अतः यह व्यागोचि से दिया है] ।

यथा—‘जलनिधिरशनाभिमां धरित्रीं वहति मुबंगविमुबंवदमुजश्च ।’

इस समुद्रमेखला पृथिवी को शेषनाग या आपका मुबदण्ड धारण करता है । ‘वहन = धारण’ क्रिया में शेष और मुबदण्ड का अन्वय है ।

उद्भट = ‘उपमानोपमेयोक्तिसूत्रैरप्रस्तुतैर्वचः ।

साम्याभिधायि प्रस्तावमाभिर्वा तुल्ययोगिता ॥ ५१७ ॥

जिनमें उपमानोपमेयभाव कथित न हो ऐसे केवल अप्रस्तुतों अथवा केवल प्रस्तुतों का साम्य-प्रत्यायक कथन तुल्ययोगिता ।

यथा = इवदङ्गमर्दवम्० इत्यादि तथा ‘योगपट्टो ज्ञांजालम्’ इत्यादि. १. . .

रुद्रट = + + + + +

मम्मट = 'नियतानां सकृद् धर्मं सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥

नियतानां प्राकरणिकानामेवप्राकरणिकानामेव वा ।

यथा = पाण्डुश्यामम्,—केवल प्राकरणिकों या केवल अप्राकरणिकों में किसी एक धर्म का अस्तित्व तुल्ययोगिता । यथा = 'इत्यादि,

'पाण्डु श्याम वदन इदय सरसं तवालस च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं शोनिषरोग सखि हृदन्तः ॥'

—हे सखि, तुम्हारा पीला और दुर्बल चेहरा, आर्द्र हृदय तथा आलस्ययुक्त शरीर किसी हृदयस्थ प्रधान रोग की सूचना देते हैं । यहाँ सभी प्राकरणिक हैं ।

'कुमुदकमलनीलनीरवालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।

अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिह्नमेकपदे सवाननस्य ॥'

—कुमुद, कमल, नीलोत्पल तुम्हारी ललितविलास युक्त आँखों के सामने हैं ही क्या, और अमृत, चन्द्र, कमल तुम्हारे मुखविम्ब के समझ एक साथ ज्वस्त हैं । यहाँ केवल नायिका वर्णमान अतः प्रस्तुत हैं । शेष सब अप्रस्तुत हैं और उन में 'हे ही क्या' और 'ज्वस्त' पदों द्वारा व्यक्त गुच्छाल रूपी एकधर्म का अन्वय हो रहा है ।

—इस संदर्भ से स्पष्ट है कि रुद्रट तुल्ययोगिता को दीपक से भिन्न नहीं मानते । मामह ने दीपक को आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित किसी एक धर्म के साथ अनेक पदार्थों के अन्वय के आभार पर तीन भागों में बाँटा है आदि दीपक, मध्यदीपक तथा अन्त दीपक । उन्हीं के अनुकरण पर रुद्रट ने भी दीपक के ये तीनों भेद किए हैं । किन्तु उन्हींने दीपकगत अनेक पदार्थों के प्रस्तुतत्व या अप्रस्तुतत्व पर ध्यान नहीं दिया है, अतः उनके यहाँ तुल्ययोगिता के दीपक से भिन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । मामह और उनके अनुकरण पर वामन ने तुल्ययोगिता को दीपक से अलग अवश्य प्रस्तुत किया है किन्तु उस में प्रस्तुत या अप्रस्तुत की ऐकान्तिकता अथवा समष्टि का उन्हींने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया । उनके उदाहरण से स्पष्ट है कि वे तुल्ययोगिता में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का ही अन्वय मानते हैं क्योंकि उनके उदाहरण में स्तुयमान राजा की मुग्धा प्रस्तुत है और शेषनाम अप्रस्तुत । इन दोनों का एक रहन = धारण' किया ने अन्वय बतलाया गया है । मामह और वामन ने यहाँ उपमानोपमेय में हीनाधिकगुणत्व पर ध्यान दिया जिसने तुल्ययोगिता उपमा से भिन्न भिन्न नहीं होती । आगे दीपक के प्रकाश में उद्धृत उनके लक्षण तथा उदाहरणों से इस दिशा में और अधिक प्रकाश पड़ेगा कदाचिद् इसी लिए रुद्रट ने तुल्ययोगिता को स्वतन्त्र अलंकार की मान्यता नहीं दी ।

निक्षिप्त ही सर्वस्वकार ने मम्मट के ही समान तुल्ययोगिता के छिप रुद्रट को प्रमाण माना है । उन्हींने तो उदाहरण भी उद्धृत के ही प्रस्तुत किए हैं । परवर्ती आलंकारिकों में—

अलंकारतनाकरकारने तुल्ययोगिता का लक्षण—'सकृद् धर्मस्य निर्देशेऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां वा तुल्ययोगिता'—अर्थात् अप्रस्तुत या प्रस्तुतों के धर्म का एक ही बार निर्देश तुल्ययोगिता कहलाता है—इस प्रकार का 'स्वदगमार्दव', पचको उदाहरण—स्वरूप प्रस्तुत किया है । उन्हींने यहाँ एक धर्मान्वयी पदार्थों में से किसी एक में उपमानता या उपमेयता मानना असमय बतला कर परस्पर में उपमानोपमेयभाव बतलाया है ।

अप्पटयद्दीक्षित को—चित्रमीमांसा में दीपक और तुल्ययोगिता दोनों ही अलंकार छूट गए हैं किन्तु उनके कुवलयानन्द में उन्हींने चन्द्रालोक से भिन्न—

'वर्णानामितरेषां ॥ धर्मैक्यं तुल्ययोगिता'

—अर्थात् वर्णनीय = प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का धर्मैव तुल्ययोगिता—यह लक्षण कर उदाहरण रूप से सर्वस्वकार द्वारा प्रदत्त 'त्वदङ्गमादवम्' तथा 'संजातपत्रप्रकरान्वितानि'० पद्य प्रस्तुत किए हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ = 'प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता ।'
—'अर्थात् केवल प्रकृतों अथवा केवल अप्रकृतों का गुण क्रिया आदि रूप किसी एक धर्म में अन्वय तुल्ययोगिता—इस प्रकार तुल्ययोगिता के लक्षण में गुण और क्रिया के अतिरिक्त अन्य अभाव आदि तत्त्वों को भी अनेकान्वयी वस्तु के रूप में स्वीकार कर सर्वस्वकार और कुवल्यानन्दकार के 'गुणक्रियमात्र' तक सीमित पक्ष को उपलक्षणमात्र बतलाया है । उन्होंने तुल्ययोगिता के उदाहरण पूर्वाचार्यों से प्रायः मिलते-जुलते ही गढ़े हैं ।

कारकतुल्ययोगिताः पण्डितराज जगन्नाथ ने एक कारकतुल्ययोगिता भी स्वीकार की है ।
उत्पत्ता लक्षण—

'यत्र च प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा क्रियाणामेककारकान्वयः सा कारकतुल्ययोगिता'—
अर्थात्—'जहाँ केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत ही क्रियाओं का किसी एक कारक में अन्वय हो तो वह कारकतुल्ययोगिता कहलाती है'—इस प्रकार क्रिया है और उदाहरण के रूप में—

'वदु दातुं यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम् ।

धातुं च सकलां पृथ्वीमतीव निपुणो भवान् ॥'

—'वक देने, यश लेने, शत्रुओं को मसलने और सारी पृथिवी की रक्षा करने में आप बहुत ही निपुण हैं ।'—यह पद्य प्रस्तुत किया है । इसमें दान, धान, विधान और त्राण ये सभी क्रियाएँ प्रस्तुत हैं और उन सब का एक स्तूयमान राजा रूपी कारक के साथ अन्वय है । पण्डित-राज ने इसे अर्थान्तरन्यास से भी अन्वित बतलाया है ।

संजीविनीकार ने तुल्ययोगितासंग्रह इस प्रकार किया है—

'प्रकृतेष्वथनान्येषु ज्ञातव्या तुल्ययोगिता ।

गुणक्रियाभिसम्बन्धात् समानादन्वितार्थिका ॥'

—प्रकृत अथवा अप्रकृतों में गुण अथवा क्रिया के समान सन्बन्ध से तुल्ययोगिता यह अन्वय-नामक अलंकार होता है ।

उद्भट, वामन और मम्मट ने तुल्ययोगिता को दीपक के वाद रखा है जब कि, अलंकारसर्व-स्वकार, अलंकाररत्नाकरकार, कुवल्यानन्दकार तथा रसगंगाधरकार ने दीपक के पहिले । परचर्यों आचार्यों ने यह क्रम प्रकृत और अप्रकृत के शुद्ध स्थल और दोनों के मिश्रित स्थल को दृष्टि में रखकर स्वीकार किया किन्तु तुल्ययोगिता और दीपक दोनों में एक वस्तु के अनेक वस्तु के साथ अन्वय की ही कला चमत्कारभूमि है, साथ ही आदि मुनि भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने दीपक को अलंकार माना है इसलिए वस्तुतः दीपक को ही प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए । दीपक का ही सूक्ष्मरूप तुल्ययोगिता है । इसके विरुद्ध पण्डितराज ने दीपक-प्रकरण में तुल्ययोगिता से दीपक के प्रयत्नकरण पर आपत्ति उठाई है और कहा है—'अत्रेदं बोध्यम्—तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् विच्छित्तेनैल-क्षयस्य चालंकारविभागहेतुत्वात् । ०००० । तस्मात् तुल्ययोगिताया एव त्रैविध्यमुचितम्, प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृत् वृत्तिः, अप्रकृतानामेव, प्रकृताप्रकृतानां चैति । एवं च प्राचीनानां तुल्ययो-गितातो दीपकस्य पृथगलङ्कारतामाचक्षणानां दुरग्रहमात्रमिति नव्याः ।'—'यहाँ यह समझ लेना

आवश्यक है कि दीपक को तुल्ययोगिता से अलग नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि एक धर्म के अनेक से संबन्ध पर निर्मात्र चमत्कार दोनों में बराबर या एकसा ही है, और अलंकारों में भेद केवल चमत्कार में भेद के आधार पर ही किया जाता है। ०००० । इसलिये तुल्ययोगिता के ही तीन भेद मान लेना उचित है (१) प्रकृतों का ही किसी एक धर्म से संबन्ध, (२) अप्रकृतों का ही और (३) प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का । इस प्रकार नव्यों के अनुसार प्राचीनों ने जो दीपक को तुल्ययोगिता से पूयक एक स्वतन्त्र अलंकार बतलाया है वह उनका दुरामहमात्र है । आगे दीपक के प्रकरण में विमर्शनीकार भी यही बात कहते दिखाई देते हैं [दृष्टव्य—'न चैताव-सैवानयोः पूयक लक्षण युक्तम्—चिरन्तनानुरोधात् कृतम्' दीपक पर आरम्भिक विमर्शनी] । किन्तु सच यह है कि श्राव्य नवीनों का ही है । सामान्य भाषा में नवीनों का जो एकधर्मान्वय है वही प्राचीनों की आलंकारिक भाषा में दीपक है । नवीनों ने स्वयं कहा है कि जैसे दीपक उद्देश्यभूत वस्तु को तो दिखलाता ही है अन्य वस्तु को भी दिखला दिया करता है, उसी प्रकार कोई एक धर्म किसी एक प्राकरणिक में तो अन्वित्र होता ही है अप्राकरणिक में भी अन्वित हो जाता है और इस प्रकार वह धर्म पूरे वाक्यार्थ की शोभा बढ़ा देता है । फलतः दीपक के समान होने से उसे दीपक कहा जाता है ।

दृष्टव्य—(१) 'एकस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद् दीपकम्'—मम्मट । (२) प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रसहादन्यत्रोपकरोति प्राप्तार्थमारोपितो दीप इव रथ्यायान् इति दीपसाम्याद् दीपकम्, 'संशया च' [वा० २४५८] इतीवार्थे कम्प्रत्ययः ।—मप्यन्यदीक्षित, कुवलवानन्द ।

(३) दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोति दीपकम्, यद् वा दीप इव दीपकम्, सहाया कम् दीपसादृश्य च प्रकृताप्रकृतप्रकाशकरत्वेन बोध्यम्—५० जगन्नाथ, दीपकारलंकार ।

(४) दीप इव दीपकम्, सहाया कम्, दीपस्यैकस्यैव सकलप्रकाशकरत्वेकत्वस्यैव सर्वे समन्वय-बोधजनकरत्वेन तत्साधर्म्यात् । दीपयतीति दीपकमिष्यन्ते ।—अलंकारकौस्तुभ दीपकप्रकरण ।

इस प्रकार यदि नव्य तुल्ययोगिता में दीपक को अन्तर्भूत करना चाहते हैं तो प्राचीन दीपक में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव बतला सकते हैं । भरतमुनि ने भी दीपक का जो उदाहरण दिया है [आगे दीपक के प्रकरण में उद्धृत] उसमें समी पदार्थ प्राकरणिक है । दीपक को संप्रदीपक कह उन्होंने दीपक शब्द के प्रयोग के मूल में दीप के सादृश्य को मूल माना है । प्राकरणिकत्वा-प्राकरणिकत्व को नहीं । अतः हृदयसाक्ष्य, प्रस्तुत, दीपक के ही पक्ष में अधिक है, क्योंकि चमत्कार की अतिभूमि प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुतविधान में ही अनुभव में आती है, केवल प्रस्तुतों अथवा केवल अप्रस्तुतों के उपनिबन्ध में नहीं । उसमें प्रतिभा का कोई चमत्कार नहीं रहता । केवल एक धर्मान्वय की कष्टानात्र का अभिव्यक्तिगत हीय प्रकाश वहाँ रहता है । फलतः हृदयसाक्ष्य अप्रस्तुत विधान की प्रतिभा और ऐतिहासिक मान्यता के आधार पर तुल्ययोगिता का ही दीपक में अन्तर्भाव अधिक समुचित है । अलंकारकौस्तुभकार विद्वेश्वर पण्डित ने भी पण्डितराज के उक्त आक्षेप को उद्धृत कर उस पर यही उत्तर दिया है कि क्योंकि दीपक भरतमुनि से माना जाना आ रहा है अतः उसी में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव अधिक उचित है । [इव दीपकप्रकरणान्त] और यदि दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार भी मानना हो तो प्रथम- दीपक का निर्बचन ही उचित है ।

विमर्शनी

एतदुपसंहरन्नन्यद्वतारयति—

अब इस [प्रकरण] का उपसहार करते और दूसरा [प्रकरण] आरम्भ करने के लिये कहते हैं—

[सर्वस्व]

प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्व्यस्तत्वे तुल्ययोगितां प्रतिपाद्य समस्तत्वे दीपक-
मुच्यते—

[सू० २५] प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम् ।

औपम्यम्य गम्यत्व इत्याद्यनुवर्तते । प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्या-
देकत्र निर्दिष्टः समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकारादीपनादीपसादृश्येन दीप-
काख्यालंकारोत्थापकः । तत्रेवाद्यप्रयोगादुपमानोपमेयभावो गम्यमानः । स
च वास्तव एव । पूर्वत्र शुद्धप्राकरणिकत्वे शुद्धाप्राकरणिकत्वे वा वैवक्षिकः,
प्राकरणिकत्वनिर्घटितत्वादुपमानोपमेयभावस्य । अनेकस्यैकक्रियाभिसंघन्धा-
च्चौचित्यात्पदार्थत्वोक्तिः । वस्तुतस्तु वाक्यार्थत्वे आदिमध्यान्तवाक्यगतत्वेन
धर्मस्य वृत्तावादिमध्यान्तदीपकाख्यालंकारयोऽस्य भेदः ।

[६०] प्रस्तुत और अप्रस्तुत के अलग अलग रहने पर संभव तुल्ययोगिता का प्रतिपादन
किया । अब दोनों की मिलित स्थिति में संभव दीपक का प्रतिपादन करते हैं—

[सू० २५] [सादृश्य यदि गम्य = शब्दतः एकयित हो और समान धर्म में] प्रस्तुत
तथा अप्रस्तुत दोनों का [एक साथ पदार्थान्तर पर संघन्ध] हो तो दीपक [नामक
अलंकार होता है] ॥ २५ ॥

[६०] वहाँ 'सादृश्य यदि गम्य हो' इत्यादि शेषांश की अनुशुक्ति [तुल्ययोगिता से] होती
है । प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों में से किसी एक के साथ निर्दिष्ट समान धर्म प्रसंग के
आधार पर दूसरे का भी उपकार करता है [तथा उसमें] वीक्षि लाता है [अतः] दीप का सादृश्य
दोनों से वह दीपक नामक अलंकार का जन्मदाता बनता है । उसमें 'इव' आदि का प्रयोग नहीं
रहता इसलिए वहाँ उपमानोपमेयभाव गम्यमान रहता है । किन्तु वह रहता वास्तविक ही है
जब कि पूर्वोक्त अलंकार में केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक के रहने पर वह [उपमा-
मानोपमेयभाव] विवक्षाभीन = ऐच्छिक होता है, [क्योंकि वहाँ जहाँ केवल प्राकरणिकत्व रहता है
वहाँ उपमानत्व अवास्तविक होता है । अतः उसे विवक्षा द्वारा निष्पन्न करना पड़ता है और जहाँ
केवल अप्राकरणिकत्व रहता है वहाँ उपमेयत्व अवास्तविक रहता है क्योंकि उसे भी वहाँ विवक्षा
द्वारा निष्पन्न करना होता है । इस प्रकार उपमानोपमेयभाव आशिकरूप से ही रहता है] क्योंकि
उसकी निष्पत्ति प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व पर निर्भर रहती है [प्राकरणिकत्व पर
उपमेयत्व की और अप्राकरणिकत्व पर उपमानत्व की] । अनेक का एक क्रिया से संघन्ध रहता है
इसलिए औचित्यतः [दीपक में] पदार्थगतत्व नतलाया गया है [तुल्ययोगिता की अवतरणिका में]
वस्तुतः तो यह वाक्यार्थगत ही रहता है, तभी इसके आदि-दीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक
नामक भेद होते हैं, क्योंकि इसका धर्म जिसके आदि, मध्य तथा में अन्त में रहता है वह
वाक्य ही है ।

विमर्शिनी

प्रस्तुताप्रस्तुतानामिति । एकत्रेति प्राकरणिकेऽप्राकरणिके वा । अन्यत्रेति प्राकरणिकादी
दीपकेति 'संज्ञायाम्' इत्यनेन कन् । सादृश्येन ससुदायगम्यायाः संज्ञाया अभावात् ।

तत्रेति दीपके । वास्तव इति । प्रकृताप्रकृतयोर्हपमानोपमेयरूपत्वात् । पूर्वत्रेति तुल्य-
योगितायाम् । इयानेव च दीपकतुल्ययोगितयोर्विशेषोऽस्तीत्यप्यनेन दर्शितम् । न चैता-
वतैवानयोः पृथग्लक्षणं युक्तम् । औपम्यगर्भत्वात्प्यस्य सामान्यस्य द्वयोरप्यनुगमात् ।
एवं च समुच्चितोपमादेरपि पृथग्लक्षणं स्यात् । अन्यकृता पुनश्चिरन्तनानुरोधार्थकृतम् ।
वैवक्षिक इति । यत्रैव वक्तुरूपमानत्वमुपमेयत्वं वा वक्तुमिष्टं तत्रैव प्रवृत्तादियलादी-
श्रयणीयमित्यर्थः । अतश्च 'प्रस्तुतस्य तु नान्येन व्यभिचारस्य दर्शनात्' इति नीत्या
प्रस्तुताप्रस्तुतत्वमात्रनिबन्धन एवोपमानोपमेयभावो न भवतीति भावः । एव 'प्रसिद्धेना-
प्रसिद्धस्य सादृश्यमुपमा मता' इत्यादिदृशा प्रसिद्धाप्रसिद्धत्वमात्रनिबन्धनोऽप्युपमानो-
पमेयभावो न वाच्यः । 'खमिय जल जलमिव रसम्' इत्यादीं द्वयोरपि तुल्यत्वात् प्रसिद्ध-
गुणत्वाद्यभावेऽप्युपमानोपमेयभावस्येष्टेऽर्थव्यभिचारस्य दर्शनात् । ननु चात्र साधर्म्यं वा-
क्याधर्मगतत्वेनैव प्रतीयत इति कथं तस्य पदाधर्मगतत्वमुक्तमित्याहुः—अनेकस्येत्यादि ।
एवं पूर्वत्रापि ज्ञेयम् ।

प्रस्तुताप्रस्तुतयोः इति । इसी का लक्षण बतलाने है—प्रस्तुताप्रस्तुतानाम् इति । एकत्र =
एक में, प्राकरभिक अथवा अप्राकरभिक में । अन्वयत्र = प्राकरभिक आदि में । दीपक = 'सहाया
[च' वाचिक] द्वारा [सादृश्यार्थ में] कन् प्रत्यय, क्योंकि सादृश्य के आधार पर सहा समुदायगम्या
नहीं हो सकती । तत्र = वहा दीपक में । वास्तव = वास्तविक, क्योंकि प्रकृत और अप्रकृत कमशः
उपमेयरूप तथा उपमानरूप होते हैं । पूर्वत्र = पूर्वोक्त तुल्ययोगिता में । इससे यह भी बतला दिया
कि दीपक और तुल्ययोगिता में इतना ही भेद है । इसलिए केवल इतने से अन्तर के आधार पर
इन दोनों का लक्षण अलग-अलग बतलाना ठीक नहीं है । क्योंकि सादृश्यगति होना दोनों का
साधारण धर्म है और वह दोनों में ही अनुगत है । इसी प्रकार समुच्चितोपमा आदि का लक्षण भी
अलग नहीं किया जाना चाहिए । अन्यकार ने जो 'अनेक पृथक्-पृथक् बतलाया है वह केवल प्राचीन
आलम्बारिकों के अनुरोध पर ।

वैवक्षिक—तुल्ययोगिता में प्रसंग के आधार पर केवल वही उपमानोपमेयभाव स्वीकार
किया जा सकता है जहाँ वह बका को अभीष्ट हो । इससे तात्पर्य यह निकला कि 'उपमानोपमेय-
भाव केवल प्रस्तुतत्वप्रस्तुतत्वमात्र पर निर्भर नहीं रहता है' जैसा कि [अलंकाररत्नाकर में]
कहा गया है—['सादृश्य] प्रस्तुत का अप्रस्तुत से नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि अनेक स्थलों
में उसको बका भी देखा जाता है ।' और इसलिए उपमानोपमेयभाव को केवल प्रसिद्धत्व और
अप्रसिद्धत्व मात्र पर आश्रित नहीं माना जा सकता जैसा कि ['अलंकाररत्नाकरकार ने] कहा है—
'प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का सादृश्य उपमा मानी जाती है ।' [अलंकाररत्नाकर में ये दोनों अपाठियाँ
एक ही श्लोक की हैं । इस प्रकार—

‘प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य सादृश्यमुपमामता ।

प्रस्तुतस्य तु नान्येन, व्यभिचारस्य दर्शनात् ।’

अर्थात् प्रसिद्ध का अप्रसिद्ध से सादृश्य उपमा मानी जाती है न कि प्रकृत का अप्रकृत से,
क्योंकि अनेक स्थानों पर ऐसा नहीं देखा जाता था ['आकाश के समान जल और जल के समान
आकाश'—इत्यादि स्थलों में दोनों ही एक से हैं अतः व्यभिचार दिखलाई देता है इसलिए कि प्रसिद्ध
गुणत्व और अप्रसिद्धगुणत्व के अभाव में भी उपमानोपमेयभाव देखा जाता है ।

शंका होती है कि 'दीपक में साधर्म्यं वाक्याधर्मगतरूप से ही प्रतीत होता है तो इसे पदाधर्मगत
क्यों बतलाया जा रहा है—इस पर उत्तर देते हैं—अनेकस्य । इसी प्रकार पूर्वत्रो [तुल्ययोगिता]
अलंकार में भी [वाक्याधर्मगता] समझनी चाहिए ।

[सर्वस्व]

क्रमेणोदाहरणम्—

‘रेहइ मिहिरेण णहं रसेण कब्बं सरेण जोव्वणअं ।
अमएण धुणीधवओ तुमए णरणाह भुवणमिणं ।’
‘संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम् ।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥’
‘क्विवणाण धणं णाआणं फणमणी केसराइं सीहाणं ।
कुलवालिआणं थणआ कुसो छेपपंति अमुआणं ॥’

एवमेकक्रियं दीपकत्रयं निर्णीतम् । अत्र च यथानेककारकगतत्वेनैक-
क्रिया दीपकं तथानेकक्रियागतत्वेनैककारकमपि दीपकम् ।

यथा—

‘साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं धर्तुं विद्यायसां गन्तुम् ।
न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महारमनां श्रोतुम् ॥’

अत्रोपकरणाद्यनेकक्रियाकर्तृत्वेन कुतूहलविशिष्टं मनो निर्दिष्टम् । छाया-
न्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यते ।

क्रम से उदाहरण—[आदिदीपक]

‘राजसे मिहिरेण नभो रसेण काब्बं सरेण [स्यरेण] यौवनम् ।
अमृतेन धुणीधवस्संधियां नरनाथ ! भुवेनमिदम् ॥’

—शोभित होता है सूर्य से आकाश, रसे से काब्ब, सर-द्वार से अथवा स्मर-कामे से यौवन-
स्तन, अमृत से संसुद्र और है नरनाथ तुमसे यह भुवन । [यहाँ ‘शोभित होना’ यह क्रियापद
वाक्यारम्भ में प्रयुक्त है और प्रकृत मूलतः तथा अप्रकृत आकाश आदि से अन्वित होता है] ।

[मध्यदीपक]—

‘दिगन्तरालो को अपने संचार से पवित्र कर दिनान्त होने पर निलय को जाना आरम्भ
क्रिया, पल्लवराग सी ठामिया, सूर्य की प्रभा ने और मुनि की धेनु [चन्दिनी] ने ॥’ [यहाँ
‘आरम्भ करना’ क्रिया वाक्य के मध्य में प्रयुक्त है और उसका अन्वय प्रकृत प्रभा तथा अप्रकृत
धेनु से है]

[अन्तदीपक]—

‘कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानान् ।
कुलवालिक्कानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽपृतानाम् ॥’

—‘कृपणों का धन, सर्पों की फणमणि, सिंह के शिरश्छेद (अवाल) और कुलवालिक्काओं
के स्तन कैसे छुए जा सकते हैं यदि ये मृत न हों ।’ [यहाँ ‘स्पर्श’ क्रिया अन्त में प्रयुक्त है और
उसका अन्वय यदि कृपण पदार्थ प्रकृत हो तो उससे और कुलवाला प्रकृत हो तो उससे होने के
साथ ही शेष सभी अप्रकृतों से भी हो रहा है] ।

— इस प्रकार एक क्रिया के [प्रकृताप्रकृतों में अन्वय से निष्पन्न] तीनों दीपक निश्चित हुए ।
जैसे [उपर्युक्त] इन दीपकों में अनेक कारक में अन्वित होने वाली एक क्रिया को दीपकें होतीं
हैं वैसे ही अनेक क्रियाओं से अन्वित होने वाले एक कारक को भी दीपकें होतीं हैं । यथा—

—'साधु पुरुषों का उपकार करने, दौलत समेटने, आकाश से उठने और महात्माओं के चरित्र सुनने में कित्त का मन कुतूहलयुक्त नहीं होता ।'

—यहाँ 'उपकार' आदि अनेक क्रियाओं के कर्ता के रूप में एक अकेले कुतूहलयुक्त मन का निर्देश किया गया है ।

इसी प्रकार एक मालादीपक भी होता है । उसका मौन्दर्य निराला ही होता है अतः उसे दूसरे प्रसंग में बतलाया जाएगा ।

विमर्शिनी

धेनुसंष्ययो. प्रकृतस्वादग्रान्ये तुल्यधोगिनां मन्थन्त इत्युदाहरणान्तरेगोदाह्रियते—

'धम्मउज्जणेण काण वि काणवि अद्यउज्जणेण घोलेई ।

कामउज्जणेण काण वि काण वि एमेभ मसारो ॥'

एकक्रियामिदमेनैकगुणमपि दीपकं स्वयमेवोदाहार्यमिति सूचितम् । तत्तु यथा—

'फणासहस्रमृदधो दिवि नेत्रसहस्रमृत् ।

अद्वितीय. पृथिव्यां च भवान्नामसहस्रमृत् ॥'

अद्वितीयसर्वगुणः । एवमेकां क्रियां गुणं वानेककारकगतत्वेनाभिधाय तदेव च इष्टान्ती-
कृत्यैककारकमप्यनेकक्रियागतत्वेन दीपकं भवतीत्याह—अत्रेत्यादि । अत्र चोच्छ्वासवर्ण-
नीयं भैरवाचार्यादिसत्कृत्युपकारकरणादिविशेषरूपं प्रभुत श्रोतृनवबोधयितुं कविकर्तृक-
मिदं साधुपकारकरणादीनां सामान्यानामप्रस्तुतानां प्रशंसनम् । तेषां च सामान्यानां
परस्परमौल्यप्रतीतिरेककारकगतत्वेनेयं कारकतुल्ययोगिता । अतश्च नेदं कारकदीपक-
रूपोदाहरणम् । तत्तु यथा—

आलिङ्गितुं दाशिसुर्क्षा च सुधां च पातु कीर्तिं च साधयितुमर्जयितुं च लक्ष्मीम् ।

खल्लकिमञ्जुतरसा हृदये च कतुं मन्दादरं जनमहं पशुमेव जाने ॥'

अत्रालिङ्गमाद्यनेकक्रियाकर्मत्वेनैक एव जनो निर्दिष्टः । प्रस्तुताप्रस्तुत स्फुटमेव ।

[संचारपूतानि'—पद्य में] कुछ लोगों [अलंकाररत्नाकरकार] के अनुसार धेनु और सप्पा-
दोनों ही प्रकृत हैं अतः तुल्ययोगिता है इसलिए हम इसका एक दूसरा उदाहरण दिए देते हैं—

'धम्मार्जनेन केवामपि केवामप्यर्वाजनेन चत्थेति ।

कामार्जनेन केवामपि केवामप्येवमेव संसार ॥'

'किन्हीं का समार धर्माजने में बीतता है, किसी का अर्वाजने में, किसी का कामार्जने में और
किसी का ऐसे ही ।'

'एकक्रिय = एक क्रिया का', अर्थ यह कि एक गुण का भी दीपक हो सकता है, उसे स्वयं खोज
लेना चाहिए । उसका स्थल, यथा—

'नीचे [पाताल में] हजार फन धारण करने वाला [शेषनाग] अदितीय है, स्वर्ग में हजार
नेत्र धारण करने वाला [इन्द्र] और पृथिवी पर सइस नाम धारण करने वाले आप ।'

—यहाँ अद्वितीयत्वं गुण है । इस प्रकार एक क्रिया या एक गुण को अनेक कारकों में अन्वि-
त होता बतलाया, अब उसी के दृष्टान्त पर एक धारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय से नि'पत्र होने
वाला दीपक भी सम्भव बतलाते हुए लिखते हैं—'अत्र' । [हर्षचरित के] हम ['साधुनामुपकृतुं'—
पद्य] में आगे पूरे उच्छ्वास द्वारा वर्णनीय भैरवाचार्य का एक विशिष्ट उपकार करना आदि प्रस्तुत
है । उसे श्रोताओं [अथवा पाठकों] को सूचित करने के लिए कवि ने सामान्यरूप से साधुओं का
उपकार करना आदि बिना पदार्थों को प्रस्तुत किया है वे सब अप्रस्तुत हैं । इस सामान्यरूप

[अप्रस्तुत] पदाओं में परस्पर में सादृश्य की प्रतीति होती है तथा इन सबका एक [मन-रूपी] कारक में अन्वय है, अतः यहाँ कारकतुल्ययोगिता है। इस कारण यह [पद्य] कारकदीपक का उदाहरण नहीं हो सकता। कारक दीपक का उदाहरण यह होगा—

‘चन्द्रमुखी का आलिङ्गन करने लुधा का पान करने कीर्ति की प्राप्ति करने, लक्ष्मी का अर्जन करने और आपकी अद्भुत आनन्द देने वाली भक्ति को हृदय में लाने में जो जन मंदाहर [उत्सुक नहीं] होता है उसे मैं पशु ही समझता हूँ ।’

—यहाँ आलिङ्गन आदि अनेक क्रियाओं के रूप में ‘जन’ शब्द से एक ही निर्दिष्ट है साथ ही यहाँ जो प्रस्तुत है [भगवद्भक्ति] और जो-जो अप्रस्तुत [चंद्रमुखी आदि] वह स्पष्ट ही है।

विमर्श—(२) ‘साधूनामुपकतुम्’—पद्य हर्षचरित के तृतीय उच्छ्वास के आरम्भ में आता है। तृतीय उच्छ्वास में हर्षवर्षन के पूर्वपुरुष पुष्यभूति का वर्णन है। वह भैरवाचार्य नामक योगी की सहायता करता है जिससे वह योगी यक्षदेह धारण कर आकाश में उड़ जाता है। संस्कृत साहित्य में महात्मा शब्द महासत्त्व ब्यक्ति के लिए चलता है अतः पुष्यभूति और भैरवाचार्य दोनों ही महात्मा हैं। उनका चरित्र तृतीय उच्छ्वास को कथावस्तु है। इस पद्य द्वारा उसकी पूर्वसूचना दी जा रही है। यहाँ ग्रन्थकार ने कारकदीपक माना है और टीकाकार ने कारकतुल्ययोगिता। कदाचित् ग्रन्थकार की दृष्टि ग्रन्थ के प्रसंग पर है और टीकाकार की तृतीय उच्छ्वास की भावी कथावस्तु पर। हर्ष स्वयं महासत्त्व और महात्मा है उसका चरित्र ग्रंथविषय होने से प्राकरणिक है, इसलिये उक्त पद्य की ‘चरितं च महात्मानां श्रोतुम्’ यह चतुर्थचरणगत ‘श्रवण’-क्रिया प्रस्तुत है, शेष—‘उपकार, धारण, गमन’ क्रियायें आगामी कथावस्तु की अंत में ही प्रस्तुत हो सकती हैं आरम्भ में वे अप्रस्तुत ही हैं। फलतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत क्रियाओं का एक ‘मन’ के साथ अन्वय होने से ग्रन्थकार के अनुसार यहाँ कारकदीपक है। टीकाकार के अनुसार आगामी भैरवाचार्यरूपी महात्मा के चरित्र का श्रवण, आरम्भ में अप्रस्तुत ही है अतः सभी क्रियायें एक-सी ही जाने से कारकतुल्ययोगिता है। वस्तुतः, प्रथम दो उच्छ्वास्तों में हर्ष का चरित न कहकर बाण ने अपने पूर्वपुरुषों का वर्णन किया है। अतः तृतीय उच्छ्वास के आरम्भ में ये श्रोताओं अथवा पाठकों का ध्यान कान्य के प्रधान वर्ण ‘हर्ष के चरित’ की ओर आकृष्ट रखने हेतु ‘चरितं च महात्मानां श्रोतुम्’ कह रहे हैं। यह अलग बात है कि उनके इस कथन का लक्ष्य परवर्ती कथापुरुषों का चरित भी बना रहा है। उनमें केवल भैरवाचार्य ही नहीं, प्रभाकरवर्षन, यज्ञोवती, राज्यवर्षन, दिवाकरमित्र, राज्यश्री और स्वयं हर्षवर्षन भी आते हैं। अतः ‘चरित-श्रवण’ को प्रस्तुत मानना ही अधिक उचित है।

टीकाकार के अनुसार यदि सभी क्रियायों को अप्रस्तुत मान लें तो उनका यह कथन असंगत होगा कि भैरवाचार्य का वर्णन प्रस्तुत है, क्योंकि वह तो आगामी है। यदि कवि के चित्त में उपस्थित होने से उसे प्रस्तुत माना जाय तो सारी क्रियाएँ प्रस्तुत हो कही जानी चाहिए। फिर विचार तो सहृदय की अनुभूति को लेकर किया जाता है। तृतीय उच्छ्वास को कथावस्तु से अपरिचित सहृदय के लिए सारी क्रियायें अप्रस्तुत ही हैं। यदि सारी क्रियायें अप्रस्तुत हैं तो टीकाकार के अनुसार यहाँ प्रस्तुत भैरवाचार्य आदि विशेष व्यक्तियों के लिए अप्रस्तुत सामान्य का कथन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा होनी चाहिये और यदि एक-सी अनेक क्रिया को एक कारक में अन्वय होने का शिल्प भी यहाँ है तो उन्हें यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा के साथ तुल्ययोगिता का संकर मानना चाहिए।

(२) टीकाकार ने ग्रन्थकार के उक्त उदाहरण को अमान्य ठहरा, कारकदीपक का, जो

सदाहरण ['आलिङ्गितुम्'०] अपनी ओर से प्रस्तुत किया है उस पर पण्डितराज जगन्नाथ ने निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

(१) उक्त पद्य में किसी एक व्यक्ति को पशु कहने की अपेक्षा एकाधिक व्यक्तियों को पशु कहना अधिक चमत्कारी है अतः 'जन'-शब्द को यहाँ जात्यर्थक एकरचन में प्रयुक्त मान अनेक व्यक्तिपरक मानना चाहिए । तब विमर्शिनोकार का यह कथन असंगत होगा कि 'आलिङ्गन आदि अनेक क्रियाओं का कर्त्ता केवल एक 'जन' ही है ।'

(२) यहाँ चमत्कार का कारण अशिशुओं, सुधा, बोंबि, लक्ष्मी तथा मगधमति का विन्व-प्रतिविम्बयाव है अतः विमर्शिनोकार का यह कथन अमान्य है कि यहाँ अनेक क्रिया का, एकराकारकान्वयित्वरूपी साधारण धर्म के आधार पर निष्पन्न सादृश्य चमत्कारों है ।

(३) उक्त पद्य में कारकदीपकत्व केवल 'मन्दादरत्व' को लेकर माना जा सकता है, क्योंकि उसका अन्वय प्रत्येक तुमुजन्त क्रिया के साथ अन्विण कर्त्ता के धर्म के रूप में होता है । किन्तु पण्डितराज यदि मन्दादर के मन्दादरत्व को लेकर कारकदीपक सिद्ध करना चाहते हैं तो 'जन'-के जनत्व को लेकर ऐसा क्यों नहीं करते । तब उनकी कारकदीपकत्व की काव्यनिक आपत्ति कट जायगी ।

अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रस्तुत पद्य देकर कारकदीपक में यह एक दोष बतलाया है कि कारक क्रिया का धर्म नहीं होता जब कि समान धर्मसदृश्य को दीपक का जनक माना गया है— इसका परिहार भी करते हुए उन्होंने कहा है कि कम से कम इस पद्य में मन्दादरत्वविशिष्ट कारक की योजना है जो अपने आप में चमत्कारकारी है, अतः चमत्कार होने से यहाँ दीपक अलङ्कार मान लिया जायगा । उक्त दोषनिवारण के लिए लघुय को पदावली में छोड़ा अन्तर किया जा सकता है ।

विमर्शिनी

स्विद्यति क्लृणति वेद्यति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक् ।

अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणीता वधुः शयने ॥

ह्यायत्र तु स्वेदनादिक्रियाणां प्रस्तुतानामेकाधारगतत्वेन समुच्चयमानत्वाच्च समुच्चया-लङ्कारो न तु कारकदीपकम् । तत्रि प्रस्तुताप्रस्तुतानां क्रियाण्यमौपम्यसन्नावे भवन्ति । एवं सर्वक्रियाणां प्रस्तुतत्वेऽपि समुच्चयस्योपम्याभावादेव तुल्ययोगितातोऽपि भेदः । औपम्य-सन्नावेऽपि तुल्ययोगितैव । यथा—

वकार दुर्वटानां यः समामागरिवनामपि ।

जहै निरपराधानामपि यश्च बलीयसाम् ॥'

अत्र करणहरणयोः प्रकृतत्वम् । द्वयोरपि रात्रगतत्वेन वर्षभीयरवात् ।

'नवोढा वधु [प्रथम रात्रि में पति के साथ] शय्या पर पसोना-पसोना होती, सिकुडती, करपट लेती, चितपुट होती, आँख मोंचनी, कनखी से देखती, मन ही मन हरसाती और चूमना चाहती है ।' यहाँ [कान्यपकाशकार ने कारकदीपक माना है किन्तु] स्वेदन आदि सभी क्रियारै एक तो प्रस्तुत है और दूसरे इन्हें एक ही आधार में एकट्टा स्थित बतलाया गया है, अतः यहाँ समुच्चयालङ्कार है, न कि कारकदीपक । यह [कारकदीपक] तो तब होता है जब किनाद अनेक हों, उनमें कोई प्रस्तुत और कोई अप्रस्तुत हों, साथ ही उनमें सादृश्य प्रतीत हो । इसी प्रकार सभी क्रियाओं के प्रस्तुत होने पर भी यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है, क्योंकि यहाँ उन क्रियाओं में परस्पर सादृश्य नहीं है । फलतः यहाँ समुच्चयालङ्कार ही है । यदि सादृश्य होता तो यहाँ तुल्ययोगिता ही होती ।—औसे—

जिसने अपराधी होने पर भी जो दुर्बल थे उन्हें क्षमा किया और जो अपराधी नहीं थे किन्तु स्वबल थे उनकी क्षमा [पृथिवी] को हर लिया' ।

—यहाँ करना और हरना दोनों क्रियाएँ प्रकृत हैं क्योंकि दोनों ही प्रस्तुत राजा के भीतर प्रतिपादित की जा रही हैं ।

विमर्शः—टोकाकारमहोदय यहाँ क्रियाओं का सादृश्य बतलाने समय जुष्पी साथ गए हैं । वस्तुतः औपम्य या सादृश्य की बात तुल्ययोगिता या दोषक के क्रियागत भेद में परम अवै-
ज्ञानिक है ।

अलंकाररत्नाकरकार ने भी तुल्ययोगिता तथा समुच्चय को औपम्य के आधार पर ही पृथक् किया है—

‘प्रकृतानां क्रियाणामेककारकसंबन्धे यदौपम्य-

प्रतीतिस्तत्तुल्ययोगिता, तदभावे तु समुच्चयार्त्कारः ।’ —[दीपकप्रकरणान्त] ।

रसगंगाधरकार ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है—

(१) औपम्यम्०० अत्र गम्यम् = [तुल्ययोगितालक्षणवृत्तिः]

(२) अत्रौपम्यस्य गम्यत्वम् = [दीपकलक्षणवृत्तिः]

(३) दीपकतुल्ययोगितादौ गम्यमानमौपम्यं जीवातुरिति सर्वेषां संभतम्—[दीपकप्रकरण—
पृ० ४३४ नि० सा० सं० ६]

रसगंगाधरकार ने भी काव्यप्रकाशकार के उपर्युक्त ‘स्वियति०’ आदि उदाहरण पर विमर्शनी-
कार के ही समान आपत्ति प्रस्तुत करते हुए कहा है—

इस पद्य में सभी क्रिया प्राकरणिक हैं । ००० । और उनके भी परस्पर सादृश्य में कवि का कोई संरम्भ नहीं है । इसलिए इसमें समुच्चयार्त्कार की ही छाया मानना ठीक है । यदि स्वेदन आदि क्रियाओं के बीच परस्पर में सादृश्य की प्रतीति मानी जा सके तो यहाँ कारकतुल्य-
योगिता मानी जा सकती है, कारकदोषक नहीं, क्योंकि सभी क्रियाएँ प्रस्तुत हैं । [रसगंगाधर
दीपकप्रकरण पृ० ४३४-५, नि० सा० ६]

वस्तुतः काव्यप्रकाशकार ने कारकदोषक का जो लक्षण किया है उसमें क्रियागत साम्य की
प्रतीति की कोई बात नहीं है । उनका लक्षण है—

‘सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥’

—अर्थात् एक दीपक वह होता है जिसमें अनेक प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों में किसी एक
धर्म का अस्तित्व रहता है और दूसरा वह जिसमें किसी एक कारक का अनेक क्रियाओं में
[अस्तित्व रहता है]’ । उन्होंने—

‘मालादीपकमात्रं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।’

—इस प्रकार एक मालादीपक भी माना है जिसका उदाहरण ‘संध्यामाद्गणभागतेन०’ इत्यादि
पदार्थ है, जिसमें कहा गया है ‘राबन् ! आपके संग्राम में जाते ही जिस जिसने जो-जो वस्तु अप-
नार्द उसे मुनि—धनुष ने बाण अपनाए, बाणों ने शत्रुओं के सिर, उनसे भूमण्डल, भूमण्डल
ने आपको, आपने कीर्ति को और कीर्ति ने तीनों लोकों को ।’ यहाँ प्रस्तुत है राजा का वर्णन ।
उसके प्रसंग में तत्सम्बद्ध सभी पदार्थ प्रकृत ही हैं । अतः यहाँ भी तुल्ययोगिता मानी जानी
चाहिए । किन्तु काव्यप्रकाशकार के अनुसार यहाँ केवल मालात्व और आसादनरूपी धर्मगत एकता
के आधार पर यहाँ मालादीपक है । इतने पर भी ‘धनुष, बाण, शत्रुसिर, भूमण्डल, राजा,

कीर्ति और शैलोक्य में परस्पर किसी हृदयहारी सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। आसादन-कर्तृत्व को साधारण धर्म मानकर यदि धनुष आदि में साम्य सिद्ध भी किया जाय तो यह सिद्ध नहीं होना कि कवि को किसी साम्य के आधार पर इन सबका स्मरण आया है, जैसा कि 'सचार-पूतानि' = आदि स्थलों में देखा जाता है। यहाँ तो केवल सम्बद्धत्वमात्र के आधार पर धनुष आदि को प्रस्तुत किया गया है। उतने में ही चमत्कार है और हसीलिय यद्वा दोषकत्व है।

इस प्रकार कारकदीपक और मालादीपक में कवि को साम्य की विवक्षा रहती है ऐसा काव्य-प्रकाशकार का आग्रह नहीं है। पण्डितराज भी इस तथ्य को समझते हैं। उन्होंने स्वकल्पित कारकतुल्ययोगिता के समर्थन में इस तथ्य को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और लिखा है—
'न च क्रियाणा प्रकृताप्रकृतारमताविरहेऽपि शुद्धप्रकृतत्वे शुद्धाप्रकृतत्वेऽपि वा कारकस्य सहृद्दृष्टि-दीपकात्मम्, क्रियामित्राणा तु प्रकृताप्रकृतात्मतायामेव क्रियादेर्धर्मस्येति वैलक्षण्यात्—

['सहृद्दृष्टित्तु परमस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् । सैव क्रियास्तु बहीषु कारकस्येति दीपकम् इति]
लक्षणद्वयमुक्तम्—इति वाच्यम् कारकतुल्ययोगिनोऽष्टेदापत्तेः ।'

—अर्थात् 'दीपक के दो लक्षण हुए अन्तर के आधार पर किए हैं कि प्रथम में कारकों के बीच प्रकृताप्रकृतत्व अपेक्षित है, किन्तु द्वितीय में क्रियाओं के बीच नहीं, किन्तु ऐसा मानने पर कारकतुल्ययोगिता का लक्ष्य होने लगता है।' पण्डितराज को इस आपत्ति का उत्तर हम तुल्ययोगिता के प्रकरण में यह कह कर दे चुके हैं कि—'तुल्ययोगिता का दीपक में अन्तर्भाव होना दोष नहीं है। नव्यों के अनुसार उन्होंने तुल्ययोगिता में दीपक का अन्तर्भाव माना है। प्राचीनों के अनुसार तुल्ययोगिता का दीपक में अन्तर्भाव माना जा सकता है। और वही अधिक वैज्ञानिक है।'

निष्कर्ष यह कि कारकदीपक में न तो प्रकृताप्रकृतत्व में कोई चमत्कार रहता और न साम्य में। उसमें चमत्कार रहता है केवल एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय का। समुच्चयालकार में एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय का चमत्कार नहीं रहता। वहाँ चमत्कार रहता है किसी भी प्रकार के ऐसे अनेक पदार्थों की आकस्मिक एकत्र उपस्थिति में जिनमें किसी एक कार्य की सिद्धि के प्रति साधकता हो। अतः 'स्वियति० आदि पद्य में रत्नाकर-कार, विमर्शनीकार तथा रसगगाधरकार का समुच्चय मानना अनुभूतिविदक है।

विमर्शनी,

इदं विम्बप्रतिविम्बभावेनापि भवति । यथा—

मणि. शाणोष्ठीकः समरविजयी हेतिनिहतः कलाशेषश्चन्द्र. सुरतमृदिता बालललना ।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिद्राश्रयानपुलिना तनिम्ना शोमन्ते गलितविमवाश्चार्थिपु अनाः ॥

अत्र शाणोष्ठीकश्चादीना विम्बप्रतिविम्बभावः । शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

फगरभणराहृअंगो सुअंगणहो घरं समुअहह ।

णहदप्पणोवसोहिअसिहो अ शुह णाह सुअददो ॥

अत्र राजितरवशोमितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । जन्वेतदनन्तरमेव 'मालादीपक-मन्थैर्लक्षितं तदिहापि किं न लक्ष्यत इत्याशङ्क्याह—अयेत्यादि । छायान्तरेणेति शृङ्खला-रूपेण । प्रस्तावान्तर इति । शृङ्खलाबन्धोपचितरूपत्वात् ।

यद् [दीपक] विम्बप्रतिविम्बभावमूलकं नो होता है । यथा —

'शाणवडी मणि, शशक्षत समरविजेता, कलाशेष चन्द्र, सुरतमृदित बालवधु, मदक्षीण शशी,

शरत्कालीन सूखीवाली-वाली नदी तथा यात्रकों को बोट-बोट कर धनहीन बने दाता तनुता [दुबलेपन] से शोभित होते हैं ।'

—यहाँ शापोत्पीडित्व = शान पर चढ़ना आदि में विन्वप्रतिविन्वभाव है ।

शुद्ध सामान्यरूप [दीपक] का उदाहरण यथा—

'फणरत्नराजिताक्षो मुञ्जन्ननायो धरां समुद्वहति ।

नखदर्पणोपशोभितशिखश्च तव नाथ मुञ्जदण्डः ॥'

—'स्वामिन् ! पृथिवी को धारण करता है फणरत्न से विराजित अंग वाला नागराज शेष, और नखरूपी दर्पण से शोभित शिखा वाला आप का मुञ्जदण्ड ।'

—यहाँ राजितत्व और शोभितत्व शुद्ध सामान्यरूप हैं । [इनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव है, यद्यपि, फण तथा लंगली, मणि तथा नख में यहाँ भी विन्वप्रतिविन्वभाव है ।]

प्रश्न—'दीपक के ही तुरन्त पश्चात् [मन्मद आदि] अन्य आचार्यों ने एक मालादीपक भी बतलाया है, उसे यहाँ क्यों नहीं बतलाया जा रहा है?' उत्तर देते हैं—'छाया' आदि । छायान्तर = शृङ्खलास्वरूप भिन्न शिल्प के द्वारा । प्रस्तावान्तर दूसरे प्रसंग में [अर्थात् शृङ्खलामूलक कलंकारों के प्रसंग में] क्योंकि वह [मालादीपक] भी शृङ्खला द्वारा निष्पन्न होता है ।

दीपक का पूर्वतिहास—

भरतमुनिः—'नामाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपकम् ।

एकत्रान्येन संयोगं तद् दीपकमिदोच्यते ॥' १६।५६ नाट्यशा०

यथा—

'सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेकैश्च सरोरुहाणि ।

गोष्ठीभिरुपानवनानि चैव तस्मिन्नवग्न्यानि सदा क्रियन्ते ॥

'तालाव हंसों से, वृक्ष पुष्पों से, कमल मत्त औरों से तथा वन-उपवन गोष्ठीओं से वहाँ सदा ही भरे रहते हैं ।'

यहाँ कारिका का अर्थ उदाहरण के आधार पर मनचाहा लगाया जा सकता है । उदाहरण में अनेक कारकों का एक 'अवग्न्यीकरण' क्रिया में अन्वय है । किन्तु यहाँ दीपक का प्राणभूत तत्त्व प्राकरिकाप्राकरिकत्वमिश्रण नहीं है, तालाव आदि सभी पदार्थ प्राकरणिक हैं ।

. भामह—आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।

एकस्यैव व्यवस्थत्वादिति तद् मिथते त्रिधा ॥

अमूनि कुर्वन्तिऽन्वयामत्याख्यामर्थदीपनात् ।

(१) मदो जनयति प्रीतिं साऽनङ्गं मानमङ्गुरम् ।

स प्रियासङ्गमोल्कण्ठां साऽसदां मनसः शुचम् ॥

(२) मालिनीरंशुमृतः खियोऽलङ्कुरते मधुः ।

हारितशुकनाचथ भूधराणामुपत्यकाः ॥

(३) चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदन्मसः ।

प्रवासिनां च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति ॥

—दीपक तीन प्रकार का माना जाता है आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक, क्योंकि इसमें एक ही वस्तु तीन [आदि मध्य अन्त] स्थानों में रहती है । एक ही के [आदि मध्य अन्त में] अवस्थित होकर वाक्यार्थ में प्रकाश लाने के कारण, इसकी संज्ञा सार्थक हो जाती है ।

[मामह के इस लक्षण में 'एक'-शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। परवर्ती आचार्यों ने उसका क्रमशः स्पष्टीकरण किया है] एक-एक का क्रमशः उदाहरण—

(१) मद [नशा] प्रीति को उत्पन्न करता है, प्रीति मानसङ्गपट्ट काम को, काम प्रिया के संगम की उत्कण्ठा को और वह [उत्कण्ठा] असख मानस वेदना को । [यहाँ वाक्य के आरम्भ में 'युक्त 'उत्पन्न करना' मद, प्रीति, काम उत्कण्ठा के साथ अन्वित होता है। इसलिये यहाँ आदिदीपक है। साथ ही यहाँ शृङ्खलाक्रम भी है जिससे परवर्ती आचार्यों ने माला-दीपक माना है] ।

(२) मालिनी, और शीनाञ्जुलपद्मिनी स्त्रियों को वसन्त अलङ्कृत करता है और हातीत तथा शुक्र को वाणी एवं पर्वतों की उपस्थितियों को भी । [यहाँ 'अलङ्कृत करना' वाक्य के मध्य में प्रयुक्त है और मालिनी आदि अनेक कर्मों से अन्वित हो रहा है, अतः यह मध्य-दीपक हुआ] ।

(३) क्षीणुर हाकार वाले घोर जंगल, सूख रहे पानी वाली नदियों और प्रवासियों के चित्तों को ग्रीष्म समाप्त करना चाहता है । [यहाँ ग्रीष्म वाक्य के अन्त में प्रयुक्त है और उसका अंगल आदि अनेक कर्मों से अन्वय है अतः यह अन्तदीपक हुआ] ।

वामन = [सू०] 'उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ।'

तस्मिन्निधम्, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ॥'

—उपमानवाक्य और उपमेयवाक्यों में प्रसङ्गवशात् या सामर्थ्यवशात् लागू होने वाली एक क्रिया दीपक कहलाती है । दीपक तीन प्रकार का होता है, उस क्रियापद के वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में रहने के कारण । उदाहरण—

'भूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः कामिन्यो मधुमदमासलेविलासैः ।

ब्रह्माण. वृत्तिगदितैः क्रियाकलापै रामानो विरलितवैरिभिः प्रतापैः ॥'

—प्रमदवन बालपुष्पां (कलियों) से भूषित होते हैं, कामिनियाँ आसवजनित मधु से मांसल विलासों से, ब्रह्माण वृत्तिगदितैः द्वारा प्रोक्त क्रियाकलापों से और रामा लोग शत्रुओं को नष्ट कर चुके अपने प्रतापों से ।'

यहाँ एक ही 'भूष्यन्ते = भूषित होते हैं' क्रिया का प्रमदवनादि कारकों से अन्वय हो रहा है और वह वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः यह आदिदीपक हुआ । इसी प्रकार अन्य दो उदाहरणों में वामन ने केवल क्रिया को अनेक कारकगत बतलाया है और उसे वाक्य के मध्य तथा अन्त से प्रयुक्त दिखलाकर वहाँ मध्यदीपक तथा अन्तदीपक की स्थापना की है । किन्तु वामन कारकों की प्राकरणिकता या अप्राकरणिकता का उल्लेख नहीं करते । यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दीपक में उपमानोपमेयभाव का निवेश वामन ही पहिले-पहल कर रहे हैं । इन्होंने मामह के अस्पष्टार्थ 'एक'-शब्द का अर्थ क्रिया कर दिया है ।

उद्धट—'आदिमध्यान्तविषया प्राधान्यैरयोगिनः ।

अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद् दीपक विदुः ॥'

'जहाँ धर्म प्राधान्य तथा अप्राधान्य से युक्त वा वैसे पदार्थों से संबद्ध वाक्य के आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित तथा उपमागमित हों वह दीपक माना गया है ।' यहाँ प्राधान्याप्राधान्य का अर्थ प्रतीहारन्दुराज ने उपमेयत्व और उपमानत्व क्रिया है । उदाहरण—

'समहार शरलाळ' कदम्बकुसुमभिः ।

प्रेवोदियोगिनीनां च निःशेषसुखसिद्धिः ॥'

—‘शरत्काल मे कदम्बों की कुसुम-शोभा तथा प्रियवियुक्त चनिताओं की समस्त सुखसम्पत्ति समाप्त कर दी।’—यहाँ मूल श्लोक में ‘समाप्त करना’ क्रिया वाक्यारम्भ में प्रयुक्त है अतः आदि-दीपक हुआ। इसी प्रकार मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के भी उदाहरण रुद्रट ने दिए हैं। उद्भट्ट भामह के ही समान केवल क्रिया को अनेकान्वयी नहीं बतलाते। भामह के अल्पट ‘एक’-शब्द के स्थान पर वे स्पष्टतः धर्म का उल्लेख करते हैं। साथ ही वे उपमानोपमेयभावमात्र पर जोर देते हैं प्राकरणिकाप्राकरणिकत्व पर नहीं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इन तीनों आचार्यों का मालादीपक पर कोई ध्यान नहीं है।

रुद्रट—यथैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति ।

तदवयव कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं देया ॥७६४॥

आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति ।

वाक्यार्थानिति भूयस्त्रिभेददेवं भवेत् षोडा ॥७६५॥

—जहाँ अनेक वाक्यार्थों में एक क्रियापद होता है और इसी प्रकार अनेक क्रियात्मक वाक्यार्थों में एक ही कारकपद वह दो प्रकार का दीपक माना जाता है।

यह [क्रियापद अथवा कारकपद] वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में स्थित होकर वाक्यार्थों को दीप्त करता है अतः छ प्रकार का होता है। उदाहरण—

‘कान्ता ददाति मदनं मदनः संतापमसममनुपञ्चमम् ।

संतापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव ॥’

—कान्ता काम प्रदान करती है, काम अनुत्पन्न और अनुपशमनीय संताप और संताप मरण, किन्तु आश्चर्य यह है कि इतना होने पर भी मनुष्यों के लिए शरण = रक्षा करने वाली वह कान्ता ही है। यहाँ ‘दान क्रिया’ वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः आदि क्रिया दीपक है।

‘निद्राऽपहरति जागरमुपशमयति मदनदहनसंतापम् ।

जनयति कान्तासंगमसुखं च कोऽन्यस्ततो वन्धुः ॥

—‘निद्रा से बढ़ा वन्धु कौन है, वह जागर [उन्निद्रता के रोग] को दूर फर देती है, मदनानि के संताप को शान्त कर देती है और प्रियामिछन का सुख भी दे देती है।’—यहाँ एक निद्रा में अनेक क्रियाओं का अन्वय बतलाया गया। निद्रा वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः यह आदि-कारकदीपक हुआ। रुद्रट ने क्रिया और कारक के शेष चार अन्य दीपकों के भी उदाहरण दिए हैं। किन्तु उन्होंने भामह द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में विद्यमान उस विशेषता पर भी ध्यान दिया है जिससे मालादीपक को विकास मिला है। यद्यपि उन्होंने मालादीपक नाम से किसी नवीन दीपक को प्रस्तुत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त कारकदीपक की कल्पना भी पहिली बार रुद्रट में ही दिखाई देती है। किन्तु रुद्रट ने वाचन के समान केवल क्रिया को ही अनेक कारकान्वयी धर्म बतलाया। वस्तुतः यह धारणा भामह से ही चल पड़ी थी क्योंकि भामह के सभी उदाहरणों में एक ही एक क्रिया का प्रयोग है।

मम्मट—‘सहृदयैस्त्विस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।

सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥

मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ॥

इनका अर्थ अमी-अमी स्पष्ट क्रिया वा नुक्ता है। इनके लक्षण में दीपक की आदि, मध्य तथा अन्त में पर्यादि के प्रयोग को लेकर होने वाली विशेषताएँ छोड़ दी गई हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका कारण चमत्कार का अभाव बतलाया है अर्थात् वाक्य के आरम्भ आदि में किसी पद

के उपयुक्त होने से चमत्कार में कोई अतिशय नहीं आता । 'धर्मत्वादिमध्यान्तगतत्वेऽपि चमत्कार-
वैलक्षण्यमावात् त्रैविध्योक्तिरापाठमात्रम् ।' अन्वित होने वाला पदार्थ भी यहाँ धर्मरूप बतलाया
गया है केवल क्रियारूप नहीं । अनेक क्रियाओं में एक कारक के अन्वय का भी स्वतन्त्र स्थान है
और मालादीपक का भी । प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व का भी स्पष्ट उल्लेख है । सादृश्य
का महत्त्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार नहीं किया गया है । इस प्रकार मम्मट का दीपकलक्षण प्राचीन
लक्षणों के आधार पर निर्मित एक सुविचारित लक्षण है ।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने अलङ्काररत्नाकर में दीपक का लक्षण इस प्रकार किया है—[सङ्घर्ष धर्मस्य
निर्देशेऽप्रस्तुताना प्रस्तुताना वा आर्षमौपम्य तुल्ययोगिता—] 'मिश्रणां दीपकम् ।' अर्थात्
[धर्म का एक बार निर्देश होने पर केवल अप्रकृत अथवा केवल प्रकृत पदार्थों का आर्ष औपम्य
तुल्ययोगिता होनी है और] 'मिश्रण पदार्थों का दीपक ।' यथा—

'दूरे परिच्छेदकत्वा हि सत्यमेतदुपगानामुदधेरपां च ।'

'इम [साहसिक] के गुणों और समुद्र के जलों की इयत्ता पाना बहुत दूर की बात है ।'
शोभाकर ने 'सत्कारपूतानि०' पद्य में प्रया और धेनु दोनों को प्रस्तुत मान तुल्ययोगिता स्वीकार
की है, दीपक नहीं, जब कि ब्यक्तिविवेककार आदि ने दीपक स्वीकार किया है ।

अप्यदीपित ने कुवलयानन्द में दीपक का निरूपण इस प्रकार किया है—

'वदन्ति वर्ष्यावर्ष्यानां धर्मैक्यं दीपकं युषाः ।

मदेन भाति कलम प्रतापेन महोपति' ॥५४८॥

—वर्ष्यं = प्रस्तुत = प्राकरणिक और अवर्ष्यं = अप्रस्तुत = अप्राकरणिक का धर्मैक्य दीपक, यथा
हाथी मद्र से सुशोभित होता है और राजा प्रताप से । तथा—'मणि. श्यामोच्छीट ०'-पद्य ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी का निरूपण इस प्रकार किया है—

'प्रकृतानामप्रकृताना चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम् ।'

प्रकृत तथा अप्रकृतों का एक साधारण धर्म में अन्वय दीपक होना है ।

पण्डितराज जगन्नाथ दीपक के मालादीपक भेद को दीपक का भेद न मान श्रृंखलामूलक
अलङ्कार एकावर्ती का भेद मानना उचित मानने हैं । उनका कहना है कि मालादीपक में सादृश्य
का अभाव रहता है । वस्तुतः कारकदीपक में भी कविप्रतिभा-सादृश्य से प्रवृत्त नहीं होती,
अतः सादृश्य दीपक का अनिवार्य हेतु नहीं है । एकावर्ती में एकान्वयित्व का अभाव रहता है जो
दीपक का प्राग है । अलङ्कारसर्वस्वकार ने दीपक के इस भेद को गिनाया तो श्रृंखलामूलक भेदों में
है किन्तु नाम मालादीपक ही रखा है ।

विश्वेश्वर पण्डित ने दीपक का निरूपण इस प्रकार किया है—

१. [सूत्र] प्रकृताप्रकृतानां यथैकान्वयितास्ति दीपकं तत्र स्यात् ।'

[व०] यत्रोपमानोपमेयभूताना प्राकरणिक्ताप्राकरणिकानामेकपदोपात्तेन गुणक्रियादिना
धर्मैकान्वयस्तदीपकम् ।

—जहां उपमानोपमेयरूप प्राकरणिकों तथा अप्राकरणिकों का एक शब्द से कथित गुणक्रिया
आदि धर्म के साथ अन्वय हो वह दीपक ।

२. [सू०] यत्रैकमेव कारकमन्वयमेति क्रियासु बहोषु ।

[व०] यत्रैकमेव कारकमनेकक्रियास्त्वन्वितं तदपि दीपकम् ।

—जहाँ एक ही कारक अनेक क्रियाओं में अन्वित हो वह भी एक दीपक होता है। विश्वेश्वर पण्डित ने कर्ता से लेकर अधिकरण तक के सभी कारकों के अनेक क्रिया में अन्वय के उदाहरण दिए हैं।

१. [सू०] माला तु पूर्वपूर्वे विष्यन्तरेणोत्तरान्वयिनि ॥

[वृ०] तस्यां क्रियाणां रूपान्तरेणान्वितस्य पुनस्तस्यामेव रूपान्तरेणान्वये मालादीपकम् ।

—एक ही कारक एक ही क्रिया में यिन्न-भिन्न रूप से अन्वित हो तो मालादीपक।

उदाहरण पूर्वाचार्यप्रदत्त उदाहरण जैसे ही दिए हैं। किन्तु उन्होंने मालादीपक को एकावली मानने के सुझाव पर पण्डितराज का खण्डन नहीं किया, न तो उसमें स्वयं सादृश्य की सिद्धि की।

संजीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने दीपकविवेचन का सार-संग्रह इस प्रकार किया है—

‘दीपकं वास्त्वौपम्यं प्रकृताप्रकृताभयम् ।

आदिमभ्यान्तवान्शेषु क्रियाकारकभेदतः ॥’

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का परस्पर वास्तविक किन्तु [वस्तुरूप वाच्य से] गम्य [= वास्तव] सादृश्य दीपक होता है। क्रियादीपक और कारकदीपक दो प्रकारों का वह [अनेकान्वयी धर्म के] वाक्य के आरम्भ, मध्य और अन्त में प्रयुक्त होने से पुनः तीन प्रकार का हो छ प्रकार का माना जाता है। वस्तुतः संजीविनीकार की यह संग्रहकारिका अलंकारसर्वस्वकार के दीपकरूपण का आकलन समग्ररूप से नहीं करती।

[सर्वस्व]

[सू० २६] वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे
प्रतिवस्तूपमा ।

पदार्थात्बन्धो वाक्यार्थ इति पदार्थगतालंकारानन्तरं वाक्यार्थगतालंकार-प्रस्तावः। तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। वस्तुप्रति-वस्तुभावेनासकृन्निर्देशोऽपि सैव। इवाद्यनुपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। वस्तु-प्रतिवस्तुभावेनासकृन्निर्देशे तु शुद्धसामान्यरूपत्वं विम्बप्रतिविम्बभावो वा। आद्यः प्रकारः प्रतिवस्तूपमा। वस्तु-शब्दस्य वाक्यार्थवाचिन्त्वे प्रतिघा-वाक्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थ्याश्रयणात्। केवलं काल्यसमयात्पर्यायान्त-रेण पृथङ्निर्देशः। द्वितीयप्रकाराश्रयेण दृष्टान्तो वक्ष्यते। तदेवमौपम्याश्रये-यैव प्रतिवस्तूपमा। यथा—

‘अकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि ।

आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥’

अत्र चतुरत्वं साधारणो धर्म उपमानवाक्ये, उपमेयवाक्ये तु निपुण-पदेन निर्दिष्टः। न केवलमिर्य साधर्म्येण यावद् वैधर्म्येणापि। यथात्रैवोत्तर-स्थाने ‘विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि’ इति पाठे।

[सू०] [यदि उपमा] वाक्यार्थों में [हो और तदर्थ] साधारण धर्म का दो वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्देश किया गया हो तो [वह उपमा] प्रतिवस्तूपमा [कहलाती है] ॥ २६ ॥

[५०] वाक्यार्थ पदार्थ से निम्नत्र होता है, इस कारण वाक्यार्थगत अलङ्कारों का प्रकरण पदार्थगत अलङ्कारों के बाद प्रस्तुत किया जा रहा है। यहाँ जो यह सामान्य या साधारण धर्म है इसका निर्देश यदि केवल एक बार किया जाय तो वहाँ तो उपमालङ्कार होता ही है, वहाँ भी उपमालङ्कार ही होता है, अहाँ साधारण धर्म का निर्देश एकाधिक बार वस्तुप्रतिबन्धुभाव से किया जाता है, किन्तु यदि 'इव'-आदि शब्दों का उपादान नहीं रहता वहाँ यदि साधारणधर्म का निर्देश केवल एकबार हो तो दोषक या तुल्ययोगिता होते हैं, और यदि उसका निर्देश एकाधिक बार हो तो वहाँ या तो वह [साधारणधर्म] शुद्ध सामान्यरूप ही रहता है या वहाँ विन्वप्रतिबन्धुभाव रहता है। इन्हीं दो स्थितियों में से जो प्रथम स्थिति है उसमें उपमा को [उपमा न कहकर] प्रतिबन्धुत्वमा कहा जाता है, इसलिये कि ऐसा कहने से उसका अर्थ अपने समग्ररूप में स्पष्ट हो जाना है, क्योंकि 'वस्तु-' शब्द का अर्थ है 'वाक्यार्थ', अतः 'प्रतिबन्धु'-शब्द का अर्थ हुआ 'वाक्यार्थ वाक्यार्थ में' और 'उपमा' शब्द का अर्थ तो साम्य है ही। [इस प्रकार प्रतिबन्धुत्वमा का अर्थ हुआ वाक्यार्थ का वाक्यार्थ से साम्य] यहाँ साधारण धर्म को मित्र मित्र शब्दों से कहे जाने की जो प्रतिष्ठा है वह केवल इसलिये कि काव्यकला में सौन्दर्य को रखा वैसा ही करने से होता है [शब्द न कहने से अभिव्यक्ति में हृदयस्पर्शिता कम हो जाती है। इसीलिये काव्यशास्त्र = साम्य समय में एक ही शब्द के पुनः प्रयोग में 'कवितपदत्व' दोष माना गया है]।

उक्त दो स्थितियों में विन्वप्रतिबन्धुभाव की जो द्वितीय स्थिति है उससे जो अलङ्कार निम्नत्र होता है उसे दृष्टान्त कहा जाता है, उसका निरूपण इस अलङ्कार के बाद किया जाएगा।

इस प्रकार प्रतिबन्धुत्वमा सादृश्य पर ही निर्भर रहने वाला अलङ्कार है। यथा—
'चन्द्रिका के भावमन की कला में चकोरियाँ ही चतुर होती हैं [और] सुरतकेठि में निपुण भवन्तीजनपद की सुन्दरियाँ = मालविकायें ही हुआ करती हैं ।'

—यहाँ साधारण धर्म है चतुरता, उसे उपमानवाक्य में चतुरशब्द और उपनेयवाक्य में निपुण शब्द से निर्दिष्ट किया गया है।

यह प्रतिबन्धुत्वमा केवल साधर्म्य के आधार पर नहीं, वैषम्य के आधार पर भी होती है। यथा इसी पद्य के उत्तरार्थ में 'भवन्तीजनपद की सुन्दरियों को छोड़ अन्य सुन्दरियाँ सुरतकेठि में निपुण नहीं होती।' ऐसा पाठ मान लेने पर।

विमर्शिनी

वाक्यार्थेत्यादि। एतदेव व्याख्यातुमलङ्कारान्तरैः सहास्या विभागं दर्शयति—तत्रेत्यादिना। 'तथा स पूतश्च विभूषितश्च' इत्यश्लेषमायां सकृच्चिर्देशः। 'पाण्डुरोऽयमंसार्षिषल्लवहारः' इत्यादावपि चासकृच्चिर्देशः। तदेवमिवाशुपादाने साधारणधर्मस्य यथासंभवं स्वरूपं निरूप्येवाशुपादानेऽपि निरूपयति—इवादीत्यादिना। यद्यपि द्वीपकतुष्टययोगिसप्तयोः सामान्यस्यासकृच्चिर्देशोऽपि संभवति, तथापि सकृच्चिर्देशं विना सत्पौरुष्यानात्तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्। असकृच्चिर्देशश्च द्विधा भवतीत्याह—असकृदित्यादि। आप. प्रकार इति शुद्धसामान्यरूपत्वम्। यदि चात्र सामान्यस्यैकरूपत्वमेवास्ति तर्हि पर्यायान्तरेण पृथङ्निर्देशः क्रियत इत्यादाह—केवलमित्यादि। यदुक्तम्—'नैकं पदं द्विः प्रयोऽव प्रायेण' इति। विन्वप्रतिबन्धुभावो द्वितीय प्रकारः।

एवमेतदुपसंहरन् प्रकृतमेव सिद्धान्तयति—तदेवमित्यादिना। औपम्याश्रयेति। एतदभिप्रेयता ग्रन्थकृता प्रतिबन्धुत्वमाया दृष्टान्ताद्भेदो दर्शितः। यतोऽस्याः प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधिरसया सादृश्यायंमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते, अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयो-

रूपमानोपमेयभावः । दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थ-
स्याविस्पष्टा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । अतः
पुत्रात्रार्थान्तरोपादानं प्रकृतस्य न काप्युपयुक्तमपि तु प्रतिपक्षः प्रकृतार्थप्रतीतेरविस्पष्ट-
तानिरासात् । केचिच्च दृष्टान्ते द्वयोः समर्थसमर्थकभावानानयोर्भेदमाहुः ।
तदसत् । यतः सरूपयोर्विशेषयोः समर्थसमर्थकभावो न भवति । वस्त्वन्तरेण वस्त्व-
न्तरसिद्धयनुपपत्तेः । त हि सामान्यविशेषयोरेव भवति । सामान्यस्य नियमेन विशेषनिष्ठ-
त्वाद्विशेषस्य च नियमेन सामान्याश्रयत्वात् । यदि चात्र समर्थसमर्थकभावः स्यादर्थांतर-
न्यासादस्य पृथगलंकारता न स्यात् । समर्थसमर्थकभावात्मनः सामान्यस्योभयत्राप्यनु-
गमात् । अन्ये पुनरुभयत्राप्यर्थानौपम्यमाश्रित्य सामान्यस्य शुद्धसामान्यरूपत्वविन्ध-
प्रतिविन्धभावार्थां च बन्धितैरनयोर्भेदमाहुः । तदप्यसत् । एतावतैर्वापम्यास्यस्य सामा-
न्यलक्षणस्यानुगतत्वादुपमानेदवदनयोः पृथगलंकारत्वाचुपपत्तेः । तदेवं वाक्यनैरपेक्ष्येऽपि
वक्तृप्रतिपक्षोरेव विशेषादानयोर्भेदः सिद्धः । वैधर्म्येणापीति । भवतीति शेषः ।

वाक्यार्थ इत्यादि, इसी की व्याख्या करने के लिए अन्य अलंकारों से इसका विषयविभाग
करते हुए लिखते हैं—तत्र । 'प्रभामहत्वा—तथा स पूतश्च विभूषितश्च' [कुमारसं० १]—पक्ष में
आई अपना में साधारणधर्म का निर्देश केवल एक बार किया गया है और 'पाण्ड्योऽयमसापित०'
[रघु० ६] पक्ष में साधारण धर्म [विन्धप्रतिविन्धभाव से हुए आदि] का निर्देश एकाधिक
बार किया गया है । इस प्रकार 'इ' आदि का उपादान रहने पर साधारणधर्म का जैसा कुछ
रूप संभव था उसका निरूपण किया । अब इवादि का उपादान न रहने पर संभव स्वरूप पर
विचार करते हैं—'इवादि' इत्यादि अन्य द्वारा । यद्यपि दीपक और तुल्ययोगिता में साधारण-
धर्म का एकाधिक बार भी निर्देश रह सकता है तथापि ये दोनों, बिना केवल एक बार निर्देश के
निष्पन्न नहीं हो सकते इस कारण एक बार निर्देश ही प्रधान है अतः उसीका उल्लेख किया गया ।
'एकाधिक बार निर्देश दो प्रकार से संभव है'—वह बतलाते हुए लिखते हैं—अतकृत इत्यादि ।
आद्यः प्रकारः—प्रथम प्रकार जिसमें साधारणधर्म शुद्ध सामान्यरूप रहता है । [साधारणधर्म के
निम्न-भिन्न शब्दों से निर्देश पर] प्रश्न उठ सकता है कि 'यदि प्रतिवस्तूपमा में भिन्न-भिन्न वाक्यों
में केवल एक ही साधारणधर्म बतलाना होता है तो उसका भिन्न-भिन्न पर्यायों से ही बतलाया
जाना क्यों आवश्यक है' । इस पर उत्तर देते हैं 'केवलं काव्यसमयः' इत्यादि ।
जैसा कि [वामनाचार्य ने 'काव्यसमय' नामक प्रकरण में] कहा है—'नैकं पदं द्विः प्रयोष्यं प्रायेण'
[का० सू० ५।१।१]—'प्रायः एक ही पद एक ही श्लोक में दो बार प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए' ।
द्वितीयः प्रकारः = द्वितीय प्रकार अर्थात् विन्धप्रतिविन्धभावात्मक ।

इस प्रकार इस विस्तार का उपसंहार करते हुए प्रकृत प्रतिवस्तूपमा पर निष्कृत सिद्धान्त
प्रस्तुत करते हैं—'तदेवम्' इत्यादि द्वारा । औपम्याश्रयेण = सादृश्य पर आश्रित कहकर
ग्रन्थकार ने प्रतिवस्तूपमा का दृष्टान्त से गेद दिखला दिया । इस [प्रतिवस्तूपमा] में अप्रकृत अर्थ
इसलिए अपनाया जाता है कि उसके साथ सादृश्य सिद्ध हो जाने से प्रकृत अर्थ और अधिक
सुन्दर हो सके इस कारण इसमें प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव रहता है ।
दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ का उपादान दूसरे उद्देश्य से किया जाता है । वह है प्रकृत अर्थ की
विशदतया प्रतीति क्योंकि दृष्टान्त-वाक्यार्थ में प्रकृतरूप से उपात्त अर्थ के विषय में दृष्टान्त देने के
पूर्व ऐसा भाव नहीं होता है कि उस जैसी स्थिति अन्वय सम्भव नहीं है, अतः उसके
विषय में कहीं गई बात चित्तमें ठीक अम नहीं पाती । दृष्टान्तरूप से अन्य वाक्यार्थ प्रस्तुत कर देने
पर वह जन्म जाती है । इसलिये दृष्टान्त में दूसरे अर्थ का उपादान प्रकृत अर्थ के लिए उपयोगी न

होकर प्रतिपत्ता = बोद्धा = महद्वय पाठक के लिए उपयोगी होता है, क्योंकि वह प्रकृत अर्थ के विषय में वनी घूमिल, अप्रकृत प्रतीति को उसके विषय में विस्पष्ट और प्रकृत बना देता है।

[इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि जब प्रकृत और अप्रकृत अर्थ प्रतिवस्तूपमा के ही समान दृष्टान्त में भी रहते हैं तो यह कहना सुचिद्दीन है कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य की प्रतीति होती है और दृष्टान्त में नहीं। किसी एक में सादृश्य मानने पर उलट, दृष्टान्त में ही सादृश्य मान कर प्रतिवस्तूपमा में उमका अभाव बनलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अप्रकृतार्थ द्वारा प्रकृतार्थ का विद्यदीकरण सादृश्य से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। द्रष्टव्य रम्यगाधर दृष्टान्तप्रकरण।]

कुछ विद्वान् इन दोनों को [दृष्टान्त में] समर्थ्यसमर्थकभाव [मान लस] के आधार पर भिन्न बतलाते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि समर्थ्यसमर्थकभाव एक से ही एक से दो विशेषों में नहीं होता। क्योंकि भिन्न वस्तु से भिन्नवस्तु का समर्थन संभव नहीं होता [विशेष-विशेष परस्पर भिन्न ही रहते हैं]। वह केवल सामान्य और विशेष के ही बीच होता है, क्योंकि सामान्य नियमत विशेष से अभिन्न रहता है और विशेष भी नियमत सामान्य से। यदि दृष्टान्त में समर्थ्यसमर्थकभाव होता तो इसे अर्थान्तरन्यास से अलग अलङ्कार मानना संभव न होता। क्योंकि समर्थ्यसमर्थकभावरूपी विशेषता दोनों में ही समानरूप से रहती है।

कुछ विद्वान् इन दोनों में विद्यमान अर्थ सादृश्य के धरातल पर इनका भेद करते हैं क्योंकि प्रतिवस्तूपमा में साधारणार्थ वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न शुद्ध सामान्यरूप साधारणार्थ रहता है और दृष्टान्त में विम्बप्रतिविम्बभावापन्न। किन्तु वह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस आधार पर ये दोनों दो विशेष प्रकार की उपमा ही सिद्ध हंगे क्योंकि सादृश्यरसव दोनों में उपमा जैसा ही रहेगा। [यह स्वयं सर्वस्वकार का ही लक्षण है]।

इस प्रकार इनका भेद वाक्य से संभव नहीं होता। वक्ता और बोद्धा की मानस सविति की ही केन्द्र इनका भेद ठीक ठहरता है।

बंधर्थेणापि = बंधर्थ से भी इसमें होता है—इतना जोड़ना शेष है।

विमर्श — प्रतिवस्तूपमा का पूर्वतिहास—

मानह और वामन ने प्रतिवस्तूपमा की उपमा का ही भेद माना है। यथा—

भामह—

‘समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते। यथेवानभिधानेऽपि गुणभाम्यप्रतीतितः ॥

किवन्तः सन्ति गुणिनः साधुमाधारणश्रियः। साधुपाककलानम्राः किवन्तो वाऽवस्थाश्रिनः ॥

साधुमाधारणत्वादिशुश्रोत्र स्वतिरिच्यन्ते। स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्धतः ॥

—२।१४-१६ ॥

—यथा हव आदि का शब्दतः कथन न रहने पर भी समान वस्तुओं [वाक्यार्थों] को उपस्थित करने से [उपमा ही] प्रतिवस्तूपमा करो जाना है क्योंकि वहाँ गुणसाम्य की प्रतीति होती है। यथा—‘ऐसे गुणी मिलने जाने हैं जिनका सपत्ति साधुवनों के लिए सुखम रहती है, या परिपक्व फलों से झुके ऐसे कितने वृक्ष होने हैं जो रास्ते पर लगे रहने हैं।’

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध की वस्तुएं भिन्न भिन्न हैं तथापि साधुसाधारणत्व आदि गुण यहाँ दोनों अर्थ के वाक्यार्थों में साम्य की प्रतीति करा देता है यद्यपि वह पूर्वार्द्ध में साधुमाधारण शब्द से कथित है और उत्तरार्ध में उभसे भिन्न मार्गस्थित शब्द ने [क्योंकि ‘मार्गस्थित’ शब्द से ठीक रास्ते चलने वाला अर्थ भी निकलता है जिसका विरोधार्थी शब्द ‘उन्मार्गप्रवृत्त’ है]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भाग्य प्रतिवस्तूपमा की प्रायः संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं।

चामनः—संप्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते ।

[सू०] प्रतिवस्तुप्रभृतिः उपनाप्रपञ्चः ॥ ४।३।१ ॥

वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुमाह—

[सू०] उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ॥

[वृ०] समानं वस्तु वाक्यार्थः, तस्य न्यासः समानवस्तुन्यासः—

उपमेयस्यार्थाद् वाक्यार्थस्योक्तौ सत्यामिति ।

अत्र द्वौ वाक्यार्थो, एको वाक्यार्थोपमायामिति भेदः । तत्रया—

‘देवीमात्रं गमिता परिवारपदं कथं भजत्वेया ।

न खलु परिभोगयोग्यं देवतरुपाकितं रत्नम् ॥’

—अब उपमा के प्रपंच पर विचार करते हैं—

[सू०] प्रतिवस्तूपमा आदि उपमा का प्रपंच है। वाक्यार्थोपमा [‘पाण्ड्योऽयमज्ञानं’ आदि पद्यों के पूरे वाक्यार्थ में रहने वाली उपमा] से प्रतिवस्तु की उपमा का भेद बतलाने के लिए लिखा—

[सू०] उपमेय को कहकर समान वस्तु प्रस्तुत करना [है] प्रतिवस्तूपमा ।

[वृ०] समान जो वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ, उसका न्यास = अर्थात् प्रस्तुतीकरण हुआ समान-वस्तुन्यास, किन्तु तब, जब उपमेय अर्थात् वाक्यार्थरूप ही उपमेय पहिले प्रस्तुत किया जा चुका है। इस प्रकार इस [प्रतिवस्तूपमा] में दो वाक्यार्थ रहते हैं जब कि [‘पाण्ड्योऽयम्’—इत्यादि पद्य के पूरे वाक्यार्थ में रहने से] वाक्यार्थोपमा [कही जाने वाली उपमा] में केवल एक ही वाक्यार्थ रहता है। यथा—

‘यह रत्नावली अब जब महारानी हो गई तो यह परिवार [नौकर चाकर जो आसपास घिरे रहते हैं] पद पर कैसे रह सकती है। जिस रत्न पर देवप्रतिमा उकेर दी जाय वह परिभोग के योग्य हो ऐसा नहीं होता ॥’

वानव के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रतिवस्तूपमा को उपमा ही मानते हैं। यह भी स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमालङ्कार की समग्रता यहीं निष्पन्न हो जाती है।

उद्भट्ट = उद्भट्ट ने भी प्रतिवस्तूपमा को उपमा के ही प्रसङ्ग में प्रस्तुत किया है—

‘उपमानसन्निधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्द्वयं । उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ॥ प्राकरणिकत्वस्थित्यैक्योपमेयता लभते । उपमानत्वं चापर इत्युपमावाचिशून्यत्वं ॥

—कविजन, जहाँ साम्य [साधारणधर्म] वाची शब्द का प्रयोग उपमान के साथ भी करते हैं और उपमेय के साथ भी उसे प्रतिवस्तूपमा कहा गया है।

—यहाँ एक अर्थ प्राकरणिकत्व के आधार पर उपमेय सिद्ध हो जाता है और दूसरा उपमान इतल्लिए उपमावाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहता। यथा—

उत्त [पार्वती] वैर्ता सौन्दर्य और शील दोनों से सन्देह बुवतियों कम ही होती हैं। ऐसी रातें कितनी होती हैं जिनमें वर्षा भी हो और पूर्ण चन्द्रविन्ध्य भी।

—स्पष्ट ही यहाँ उद्भट्ट ने साम्य तथा वानव से आगे बढ़कर उपमावाचक शब्द के असाव तथा साधारण धर्म के उपमान और उपमेय के साथ उल्लम-अलम प्रयोग पर बल दिया। किन्तु उनका ‘साम्यवाची’ शब्द भ्रामक है।

उद्भट्टः—उद्भट्ट ने प्रतिवस्तूपमा को उपमेयन्यास नामक औपन्यगूलक अलंकार माना है—

‘सामान्यावप्यर्थो स्फुटमुपमावाः स्वरूपतोऽपेता ।

निर्दिश्येते यस्मिन्नुपमेयन्यासः स विज्ञेयः ॥

—जहाँ दो सामान्य प्रतीन होने वाले अर्थ कहे तो स्पष्ट रूप से जायें किन्तु वे उपमा के स्वरूप से रहित हों उसे उभयन्यास समझना चाहिये। स्पष्ट ही रुद्रट की यह कारिका अर्थ की समग्रता का बहान नहीं कर पाती। उपमा के स्वरूप में रहित कहने का अर्थ उपमानावक इवादि के प्रयोग का अभाव ही हो सकता है। मामह और वामन ने 'समानरस्तुन्यास' शब्द का प्रयोग किया था और एक अर्थान्तरन्यास नाम का अलंकार भी माना था। रुद्रट ने उसी 'अर्थान्तरन्यास' शब्द का अनुकरण कर प्रतिवस्तूपमा के लिए 'उभयन्यास' शब्द बना लिया। अधिक अच्छा होता यदि वे समानन्यास शब्द बोलने क्योंकि उभय शब्द 'वस्तु' या 'प्रतिवस्तु' शब्द के ही समान असमानद्वय तक व्याप्य हैं। सर्वथा रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा को उपमा से अभिन्न या उपमा का ही एक भेद न मानकर उसे कुछ दूर धाँवना बाधा है जिसका अनुकरण मम्मट में देखा जाना है और कदाचित् प्रथमतः सर्वस्वकार ने ही इनका कम ठीक किया है। रुद्रट ने उभयन्यास नाम से प्रतिवस्तूपमा का लक्षण कर जो उदाहरण दिया है वह ठीक मामह के उदाहरण का भावार्थ है—

‘सकलजगत्साधारणविभवा मुवि सापवोऽपुना विरला ।

सन्ति कियन्तस्तरव सुस्वादुगन्धिचारफला ॥’

—‘इस समय ऐसे साधुपुरुष विरल ही हैं जिनका वैभव सारे रूसार के लिए उपयोगी हो। ऐसे कुछ कितने होते हैं जो उत्तम श्वाद से युक्त, सुगन्धी तथा सुन्दर होते हैं। यहाँ मामह के उदाहरण में उपलब्ध 'सार्गस्थता' को छोड़ रुद्रट उपमानवाक्यार्थ में साधारणधर्म की स्थापना नहीं कर सके। कदाचित् वे साधारण धर्म के दो बार मिश्रशब्द के निर्देश को अनावश्यक मानते हों और कदाचित् उनके मनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव का अभिप्राय वही जमा हो जो परवर्ती टीकाकारों में मिलता है। वे 'एकस्यैव धर्मस्य पृथक्छब्दान्यामुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभाव'—'एक ही धर्म का मिश्र मिश्र शब्दों से उपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव है'—[नागेश-रसगंगाधर प्रतिवस्तूपमा] इस प्रकार वस्तुप्रतिभाव को वाक्यार्थपरक न बनाकर साधारणधर्मपरक बनाते हैं। रसगंगाधरकार के आगे उद्धृत किए जाने वाले लक्षण से यह तथ्य स्पष्ट है। इसीलिए रुद्रट ने कदाचित् प्रतिवस्तूपमा शब्द को भी हटा दिया है। यहाँ तक कि टीकाकार नमिसाधु ने भी यहाँ इस शब्द को स्मरण नहीं किया।

मम्मट :—[सू०] प्रतिवस्तूपमा तु सा, सामान्यस्य दिरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।

[सू०] साधारणो धर्मो उपमेयवाक्ये उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयामिहितत्वात् शब्द-भेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा ।—यथा 'देवीमाव०' ।

[सू०] प्रतिवस्तूपमा वह जहाँ एक सामान्य दो वाक्यों में दो बार स्थित हो ।

[सू०] [सामान्य =] साधारण धर्मको उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य में, कथितपदत्वदोष के परिहार के हेतु जो मिश्र मिश्र शब्दों से कहा जाता है उसीको वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान होने से प्रतिवस्तूपमा कहा जाता है ।

—मम्मट की पदावली वृत्ति में स्पष्ट रूप से साधारण धर्म के मिश्र शब्द से असह्य कथन की ओर अधिक उन्मुख है, कदाचित् वे प्रतिवस्तूपमा में चमत्कार का बीज इन्हीं को मानते हों। उन्होंने वस्तु का अर्थ वाक्यार्थ तो किया है किन्तु उसमें जुटे 'प्रति'—शब्द की ओर ध्यान नहीं दिया। वामन ने उसे ठीक से पकड़ा है। मम्मट है मम्मट ने साधारण धर्म की द्विरक्ति पर इस लिए अधिक बल दिया हो, कि रुद्रट ने उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी थी। किन्तु उनके इस क्रम से प्रतिवस्तूपमा की तुला में साधारणधर्म द्विरुक्ति का पलका वाक्यार्थगत साम्यप्रतिपत्ति के

पलड़े से मारों पड़ गया । वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा का प्राण उपमा है और उसमें यहाँ प्राण है उसकी वाक्यार्थवृत्तिता तथा गम्यता । साधारणधर्म को भिन्नशब्दादिरुक्ति और श्वादि उपमावाचकों की अनुक्ति तो इनमें साधन है ।

मामह, वामन, उद्भट और रुद्र ने मालाप्रतिवस्तूपमा का उल्लेख नहीं किया न तो वैधर्म्य-मूलक प्रतिवस्तूपमा का ही । अलंकारसर्वस्वकार ने यद्यपि वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा को जोड़ा किन्तु मालाप्रतिवस्तूपमा उनसे भी छूट गई । परन्तु वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा में मालाल्प से उतना अतिशय नहीं आता जितना वैधर्म्य से आता है । फिर मालाल्प उपमा आदि में प्रतिपादित भी किया जा सकता है । उसे यहाँ स्वयं भी जाना जा सकता है । वैधर्म्यमूलकता अवश्य ही एक अल्लेखनीय विशेषता थी ।

शोभाकारः—[सूत्र] वाक्यद्वयेऽसकृद् [धर्मत्व निर्देशेऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां चार्थनीपम्यं] प्रतिवस्तूपमा ॥ २६ ॥

[पृष्ठ] वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयभावस्थार्थत्वे साधारणधर्मस्यासकृदुपादाने प्रतिवस्तूपमा । कथितपदत्व दुष्टत्वाद् वाक्यद्वये शब्दभेदेन पृथक् निर्देशः ।

—[सूत्र] 'दो वाक्यों में साधारण धर्म का यदि एकाधिक बार निर्देश हो और प्रस्तुताप्रस्तुतों में आर्थ औपम्य हो तो प्रतिवस्तूपमा ।' [वृ०]—'दो वाक्याओं का सादृश्य आर्थ हो और साधारण-धर्म का उपादान एकाधिक बार किया गया हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है । कथितपदत्व = अर्थात् एक ही वाक्य या पद्य में एक बार आए शब्द को दूसरी बार प्रयुक्त करना दोष है अतः दोनों वाक्यों में साधारण धर्म का वाचक शब्द भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए ।'

रत्नाकरकार शोभाकार ने वाक्याओं के (१) शुद्ध प्रकृत, (२) शुद्ध अपकृत और (३) मिश्र ये तीन वर्ग बनाकर प्रतिवस्तूपमा को तीन प्रकार का बतलाया है । यह उनका अलंकार-सर्वस्वकार से आगे बढ़कर प्रतिवस्तूपमा में किया गया योगदान है ।

रत्नाकरकार ने इसे वैधर्म्यमूलक भी माना है और उदाहरण के रूप में अलंकारसर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत 'चकोर्यं०० दिनावन्तीर्त्त०' पद्य ही दिया है । किन्तु उन्होंने वहाँ एक मानिक विचार भी प्रस्तुत किया है ।—

'अत्र यद्यपि चातुर्यस्य न निपुणा इत्यनेनाभावप्रतिपादनाद् एकस्य धर्मस्यासकृन्निर्देशानाव-स्तथापि वैधर्म्यस्य साधर्म्याक्षेपकत्वाद् अन्तर्गतानां रते निपुणत्वेन प्रतीतेरर्थात्चातुर्यस्यासकृन्निर्देशः ।'

'चकोर्यं पद०' पद्य में उपमानवाक्य में 'चातुर्य'-शब्द से जित साधारण धर्म का निर्देश किया गया है उपमेयवाक्य में 'न. निपुणाः' = 'निपुण नहीं हैं'—इस प्रकार उसी साधारण धर्म का अभाव बतलाया गया है, फलतः साधारण धर्म का असकृत् निर्देश यहाँ नहीं हुआ तथापि यह दोष नहीं है क्योंकि 'अवन्ती की स्त्रियों को छोड़कर अन्य कोई निपुण नहीं है' ऐसा कहने से 'केवल अवन्ती की ही स्त्रियाँ निपुण हैं'—यह तथ्य निकल आता है और इसमें साधारणधर्म का दूसरी बार बैसे ही निर्देश हो जाता है जैसे सीधे साधर्म्य वाक्य के प्रयोग से साधर्म्यमूलक प्रति-वस्तूपमा में होता है । रत्नाकरकार ने वैधर्म्य शब्द के विषय में लिखा है—'अभिहितविपरीतो ह्यर्थो विधर्मा, तस्य मात्रो वैधर्म्यम् । यथा—'चकोर्यं' इत्यत्र चकोरीणां प्रतिपादितस्य चातुर्यस्य विपरीतोऽर्थः तदभाव उपमानवाक्ये चकोरीरित्यावन्तीन्यतिरिक्ता अन्या युवतयो न निपुणाः इत्य-भिहितः । न चात्र नञादिप्रयोगमात्राद् वैधर्म्यमिति वक्तव्यम्, 'स्थितौ देवदत्तो न गतः' इत्यत्र पर्यायप्रयोगेऽपि वैधर्म्यप्रसङ्गात् ।'

—‘जो अर्थ कथित अर्थ के विपरीत हो वह अर्थ कहलायगा विषर्मा और उसका भाव होगा वैधर्म्य । यथा ‘चकोर्यं०’ पद्य में पूर्वार्द्ध में जो चकोरियों की चतुरता बल्यार्द गर्द है उत्तरार्ध के उपमान में उससे उलटा ‘चकोरीगुल्य अकन्ती युवतियों से भिन्न युवतियों निपुण नहीं होतीं’—यह अर्थ कहा गया है । ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रतिवस्तूपमा में केवल ‘न’ के प्रयोग मात्र से वैधर्म्य की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि ‘देवदत्त अमी बैठा है, गया नहीं है’ इस वाक्य में भी, जहाँ केवल पर्याय मात्र का प्रयोग होता है, वैधर्म्य मानने की विवक्षता उठ पड़ेगी ।

‘वैधर्म्य’ पर सूक्ष्म विवेचन करने पर भी अलङ्काररत्नाकरकार मालाप्रतिवस्तूपमा पर सर्वस्वकार के ही समान जुप है ।

अप्ययदोषित की चित्रमोमांसा में प्रतिवस्तूपमा का विवेचन रह गया है किन्तु कुवलयानन्द में वह इस प्रकार है—

‘वाक्ययोरैकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता ।

तापेन भाजते सूरः शूरश्यापेन राजते ॥’

—‘दो वाक्यों में यदि एक ही साधारण धर्म हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है यथा—‘सूर्य ताप से सुशोभित होता है, शूर चाप से विराजता है ।’ [शृति] = ‘यत्रोपमानोपमेदपरवाक्ययोरैकः समानो धर्मः पृथक् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा । प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थम् उपमा समानधर्मोऽस्या-मिति व्युरपत्तेः ।’

—जहाँ उपमान और उपमेय के वाक्यों में एक ही समान धर्म पृथक् निर्दिष्ट हो वह होगी प्रतिवस्तूपमा क्योंकि प्रतिवस्तूपमा शब्द की व्युत्पत्ति है—‘प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थ उपमा = समान धर्म ही जिसमें ।’

अप्ययदोषित ने प्रस्तुताप्रस्तुतत्व का मिश्रण और वैधर्म्यमूलकता इन दोनों पर ध्यान दिया है किन्तु मालाप्रतिवस्तूपमा के विषय में वे भी मौन हैं ।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा पर पर्याप्त सूक्ष्मता से विचार किया है और इस प्रकार लक्षण स्थिर किया है—

‘वस्तुप्रतिवस्तुमावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरर्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा ।’

—‘जिसमें साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त हो ऐसे दो वाक्यार्थों का अर्थ सादृश्य प्रतिवस्तूपमा ।’

पण्डितराज ने वस्तुप्रतिवस्तुभाव को धर्म से जोड़कर ‘प्रतिवस्तूपमा’ शब्द के परम्परागत अर्थ को बदल दिया है । मालाप्रतिवस्तूपमा पण्डितराज ने भी छोड़ दी है । विश्वेश्वर पण्डित ने उसे भी अपना लिया है ।

दृष्टान्त ही प्रतिवस्तूपमा का भेद विमर्शिनोकार ने जिस बिन्दु पर किया है उसमें स्वयं सर्वस्वकार का मत कट गया है । सर्वस्वकार ने वस्तुप्रतिवस्तूपमा को विन्व प्रतिविम्बभावमूलक दृष्टान्त से भिन्न किया है । विमर्शिनोकार इन दोनों भावों को प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को परस्पर में भेदक तो मान लेते हैं किन्तु वे कहते हैं कि इनके आधार पर इन दोनों का उपमा से भेद सिद्ध नहीं होता अतः उनका तर्क ही मानना ध्वजित है । किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि सर्वस्वकार प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को उपमा ही भिन्न मानते ही नहीं, तब इसे विमर्शिनोकार उनके मत के विरोध में आपत्तिरूप से प्रस्तुत कैसे कर रहे हैं । अथापि इस विषय में तर्क विमर्शिनोकार के ही मान्य हैं ।

संजीविनी कार श्री विद्याचक्रवर्ती ने प्रतिवस्तूपमा का सार संश्लेष इस प्रकार किया है—

‘असङ्करधर्मनिर्देश इवादेरनुपमदे । प्रतिवस्तूपमा श्रेया प्रतिवाक्यार्थसाम्यतः ॥

—यदि साधारण धर्म का निर्देश अनेक वार हो और इवादि—उपमावाचकों का उपादान न रहे तो वाक्यार्थ के साथ होने वाली वाक्यार्थ को उपमा प्रतिबलूपमा होती है ।

[सर्वस्व]

[सू० २७] तस्यापि विम्बप्रतिविम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः ।

तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययोः । तच्छब्देन सामान्यधर्मः प्रत्यक्ष-
मृष्टः । अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विविधः । आद्यो यथा—

‘अग्निर्लङ्घित पञ्च वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरता-
भापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः ।

देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलकिलप्रो मुरारिः कविः ॥’

अत्र यद्यपि ज्ञानाख्य एको धर्मो निर्दिष्टस्तथापि न तन्निबन्धनमौपम्यं
विचक्षितम् । यन्निबन्धनं च विचक्षितं तत्राग्निचलङ्घनादावस्त्येव दिव्य-
वागुपासनादिना प्रतिविम्बनम् । द्वितीयो यथा—

‘कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नोऽरयः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्स्युदयाद्रिमौलिताम् ॥’
अत्र निहतत्वादेः स्थानादिना वैधर्म्येण प्रतिविम्बनम् ।

[सूत्र] यदि उस [साधारण धर्म] का भी निर्देश विम्बप्रतिविम्बभाव से हो
तो [वही उपमा] दृष्टान्त [कहलाती है] ॥ २७ ॥

[वृत्ति०] ‘उसका भी’—का अर्थ यह हुआ कि केवल उपमान और उपमेय का ही नहीं ।
यहाँ ‘उस’-शब्द का प्रयोग सामान्य धर्म के लिए है । यह [दृष्टान्त] भी साधर्म्य और वैधर्म्य
भेद से दो प्रकार का होता है । इनमें से प्रथम यथा—

‘वानरवीरों ने समुद्र लौंघ तो लिया किन्तु इसकी जो गम्भीरता है उसे केवल मन्थाचल
ही जानता है जिसका विशाल शरीर उसमें पाताल-पर्यन्त निमग्न है । ऐसे बहुत लोग हैं
जो वाग्देवी की उपासना करते हैं किन्तु इसमें जो सारभूत तत्व है उसे केवल मुरारि कवि ही
जानता है—जिसने गुरुकुल में कठोर तप किया है ।’

[इस पद्य में ‘देवीं वाचम्’ के स्थान पर ‘दैवीं वाचम्’ पाठ छपा हुआ मिलता है उसके
आधार पर इस शब्द का अर्थ ‘सुरमावती = संस्कृत भाषा कर लिया जाता है किन्तु ‘सारं तु
सारस्वतं’ के ‘सारस्वत’-पदार्थ से अभिन्न सिद्ध करने के लिए वहाँ ‘वाग्देवी’—का अर्थ देने वाला
‘देवीं वाचं’ पाठ ही माना जाना चाहिए । ‘संस्कृत भाषा’ को तो बहुत लोग पढ़ते हैं किन्तु
सारस्वती का सार मुरारि ही जानता है वह कथन उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार ‘काव्य-
प्रकाश तो बहुत लोग पढ़ते हैं पर साहित्य का सार मैं ही जानता हूँ—’ यह कहना । क्योंकि
वक्ता को काव्यप्रकाश के ज्ञान में अन्वों से निब का अतिरिक्त दिखलाना है अतः ‘किन्तु उसका
सार मैं ही जानता हूँ’ यह कहना है ।]

—यहाँ यद्यपि [पूर्वार्द्ध के उपमान वाक्य तथा उत्तरार्द्ध के उपमेय वाक्य में शानार्थक एक
ही ‘ज्ञा’ धातु के जानाति = जानता है और ‘जानीते’ = जानता है—इन दो रूपों द्वारा] साधारण

धर्म तो एक ही [अर्थात् एक ही शब्द द्वारा] दिखलाया गया है और वह है ज्ञान, तथापि [यहाँ प्रतिबन्धनपूमा नहीं है क्योंकि] सादृश्य को उस पर निर्भर नहीं रखा गया है, और सादृश्य को जिन पर निर्भर रखा गया है वह है समुद्रलपन आदि, और उसमें [विम्बभूत] वाग्देवी की उपासना का प्रतिबिम्बन है ही ।

[इस पद्य में विम्बभूत सुरारि कवि का प्रतिबिम्ब है—गन्याचल और बहुत शब्द से कथित विद्वानों का प्रतिबिम्ब है वानरवीरों का समुदाय । ये दोनों धर्मो-धर्मों के विम्बप्रतिबिम्बभाव हैं । इनके अतिरिक्त यहाँ विम्बभूत सस्कृत की उपासना का समुद्रलपन और वैसे ही गुरुकुलकलेश का पातालपर्यन्त ह्वना प्रतिबिम्ब है । ये दोनों हैं धर्मगत । विम्बप्रतिबिम्बभाव का अर्थ है विम्ब पदार्थों का सादृश्यमूलक ऐक्य । उक्त पदार्थों में वह औचित्यसिद्ध है, अतः यहाँ दृष्टान्त की ही अलङ्कारता मान्य है] । दूसरा [वैधर्म्यमूलक] यथा—

‘आपने ज्यों ही आपका चित्त गर्व को ओर घुमाया कि, और क्या, हमारे सारे शत्रु नष्ट हो गए । अंधकार तभी तक टहरता है जब तक भगवान् सूर्य उदयाचल से शृङ्ग पर नहीं पहुँचते ।

—यहाँ ‘नष्ट होना’ इसका प्रतिबिम्ब है ‘पहुँचना’ किन्तु वैधर्म्य से । [अर्थात् ‘पहुँचना’ आश्लेष द्वारा ‘भागने’ को खींच लाता है और तब उसके साथ नष्ट होने का विम्बप्रतिबिम्बभाव बन जाता है] ।

विमर्शिनो

तस्यापीति [साम्राज्यधर्मस्थापीत्यर्थः] उपमानोपमेययोरिति । प्रकृताप्रकृतयोर्धर्मिणोरित्यर्थः । अतश्च धर्माणां धर्मिणां च विषयप्रतिबिम्बभावेन निर्देशोऽयमलङ्कारः । यदुक्तमन्यत्रापि—‘दृष्टांत, पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्’ इति । उपमानोपमेययोरिति तु स्वार्थ एव न ध्यात्वेयम्, अर्थात्तरस्य प्रकृतदाह्यायोपादानासादर्याविवक्षणात् । आद्य इति साधर्म्येण । यथा वा—

‘स्थानेषु शिष्यमिच्छे’ प्रतिपाद्यमाना विद्या गुरुं हि गुणवत्तरमात्मनोति ।

आदाय शुकपुत्रो घलाहकविप्रकीर्णं रत्नाकरो भवति चारिभिरम्बुराशिः ॥

अत्र स्थानादीनां शुकस्यादिभिः प्रतिबिम्बनम् । यत्रिवन्धन चेति । अर्थात्कारणत्वं न पुनरौपम्यम् । तस्य च समनन्तरोक्तयुक्त्यामंभवात् ।

तस्यापि = इसका (अर्थात् साधारण धर्म का) भी । उपमानोपमेययोः = उपमान और उपमेय का’ अर्थात् के प्रकृत और अप्रकृत धर्मोंका । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि धर्म और धर्मों दोनों के विम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश ही यह अलङ्कार है । जैसा कि अन्यत्र [काव्यप्रकाश में] कहा गया है—‘इन सभी का प्रतिबिम्बन दृष्टान्त ‘होता है’ । उपमानोपमेययोः = उपमान-उपमेय का’, इसमें जो उपमान और उपमेय शब्द हैं इन्हें इन्हीं के अर्थ तक मीनित नहीं समझना चाहिए क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अपनाया जाता है उसका उद्देश्य केवल प्रकृत अर्थ की पुष्टि करना रहता है, सादृश्य को सिद्ध करना नहीं । आद्य = प्रथम साधर्म्यमूलक । [रत्नाकरकार ने इस पद्य में प्रतिबन्धनपूमा का सकर बनलाया है अतः—इसका दूसरा उदाहरण यह हो सकता है—

‘शिष्यगणं जव स्थानों पर [ठीक शिष्यों में] विद्या प्रदान करने लगने हैं तो उससे गुरु और अपिक गुणी सिद्ध होने हैं । [समुद्र से] जल लेकर गेघ जब उसे सोपों में बरसाने हैं तो उससे जलराशि समुद्र रत्नाकर कहलाने लगता है ।’—यहाँ ‘स्थान’ आदि का ‘सोप’आदि से प्रतिबिम्बन किया गया है । [आदि पद से शिष्य के प्रतिबिम्ब मेय, गुरु का प्रतिबिम्ब समुद्र, विद्या का

प्रतिविम्ब जल, गुणवत्तरता का प्रतिविम्ब रत्नाकर] 'यद्यिवन्धनं च = जिसके आधार पर, यह औपम्य के लिए नहीं, अर्थात्कारत्व के लिए कहा गया है। क्योंकि औपम्य तो अभी अभी प्रतिपादित युक्ति से यहाँ संभव ही नहीं होता। [युक्ति है—'प्रकृत अर्थ की पुष्टिमात्र के लिए अप्रकृत अर्थ का प्रस्तुतीकरण, न कि सादृश्य या औपम्य को तात्पर्य रूप से प्रतिपादित करने के लिए, इसी तथ्य को प्रतिवस्तूपमा प्रकरण में अप्रकृतार्थ द्वारा प्रकृतार्थ का विशदीकरण कहा है]।

विमर्शः—(१) टीकाकार का कथन है कि यहाँ प्रकृत-अप्रकृत केवल प्रकृत-अप्रकृत ही रहते हैं उपमेय और उपमान नहीं बन पाते क्योंकि दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ केवल प्रकृत अर्थ की पुष्टि के लिए आता है, सादृश्य-सिद्धि के लिए नहीं, अतः सर्वस्वकार ने जो 'उपमानोपमेय'—शब्द दिया है उसका अर्थ केवल प्रकृतप्रकृत ही किया जाना चाहिए। किन्तु यहाँ प्रकृताप्रकृत उपमानोपमेय नहीं बन पाते यह कथन अनुभव विरुद्ध है। विन्वप्रतिविम्बभाव एक साधन है साधारण धर्म की निष्पत्ति का, और साधारण धर्म की निष्पत्ति का एक फल यदि प्रकृतार्थ की पुष्टि है तो दूसरा उपमानोपमेयभाव की निष्पत्ति भी है। यह अलग बात है कि उपमानोपमेयभाव यहाँ प्रकृतार्थ पुष्टि के पीछे रहता है, स्वयं प्रधान नहीं बनता। सच तो यह है कि उपमालंकार में भी प्रकृत अर्थ की पुष्टि के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन नहीं रहता अप्रकृत अर्थ की उपस्थिति का।

जैसा कि प्रतिवस्तूपमाप्रकरण में बतलाया जा चुका है विमर्शनीकार की इस मान्यता का खण्डन दृष्टान्त के ही प्रकरण में पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रायः इन्हीं तर्कों द्वारा बहुत ही संरम्भ के साथ किया है और विश्वेश्वर पण्डित ने उनके खण्डन का समर्थन किया है। [६० दृष्टान्त-लंकारान्त, अलं० कौस्तुभ]।

(२) टीकाकार ने 'यद्यिवन्धनं' का अर्थ 'अर्थात्कारत्वनिवन्धनं' करना चाहा है किन्तु यह भी मूल के विरुद्ध है। मूल में 'औपम्यं, विवक्षितम्, यद्यिवन्धनं च विवक्षितम्' इस आलुपूर्वी से उपस्थित वाक्य के 'यत्' शब्द का अर्थ औपम्य को छोड़ और कुछ किया ही क्या जा सकता है। फिर प्रतिवस्तूपमा की भूमिका से ही अन्यकार दृष्टान्त को उपमा बतलाता भा रहा है। यहाँ आकर वह उसमें उपमा का अभाव सिद्ध करना चाहता है यह भी मान्य। टीकाकार यदि दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में अन्तर सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त में प्रकृतार्थपुष्टि बतलाना चाहते हैं तो उसमें उपमानोपमेयभाव बाधक नहीं है, अतः उसका निराकरण भी आवश्यक नहीं है। यदि निराकरण भी करना हो तो उन्हें अपनी ओर से करना चाहिए। उसे अन्यकार या उसके ग्रन्थ पर नहीं धोपना चाहिए। विमर्शनीकार की सर्वनाम के अर्थ पर इस मनमानी का उत्तर पण्डितराज ने और भी समर्थ शब्दों में दिया है। उन्होंने कहा है—

'न चैत्रार्थं मोदनः पक्कः, यदर्थं च पक्कः स मैत्रः' इत्यादी द्वितीयपक्षादिशब्दानाम् अध्याहृत-शाकादिपरत्वे असंगतेः स्फुटत्वात् ।'

—'मात्र चैत्र के लिए नहीं पकाया गया है, जिसके लिए पकाया गया है वह है मैत्र'—इस उक्ति में जो द्वितीय वाक्य का 'पकाया गया' शब्द है वह पूर्वोक्त मात्र को छोड़ ऊपर से लाए गए शाकादि के लिए नहीं माना जा सकता। द्रष्टव्य = दृष्टान्तप्रकरण, रसगंगाधर।

(३) विमर्शनी की 'उपमानोपमेययोरिति तु स्वार्थ एव न न्यास्त्वैम्' यह पंक्ति कदाचिद् 'उप००० रिति त्वार्थोरेकेति व्याख्येयम्' ऐसी होगी। 'न' निर्णयसागरीय संस्करण में (न) इस प्रकार जोड़ा गया है।

दृष्टान्त का पूर्वतिहास :—

मामह और वामन में दृष्टान्त नहीं मिलता।

उद्धटः—'दृष्टस्यार्थस्व वित्पष्ट-प्रतिविम्बनिदर्शनम्।

यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥ ६८ ॥

यथा—'किं चात्र बहुनोक्तेन प्रजं भर्त्तरमाप्नुहि ।

उदन्वन्तमनामाद्य महान्तं किमासने ॥ ६।९ ॥

—प्रतिपाद्य अर्थ का बिलकुल स्पष्ट प्रतिबिम्ब अर्थात् सद्गद्य अर्थ सादृश्यवाचक इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना दृष्टान्त नामक विद्वन्मान्य अलंकार है । यथा—

—[पार्वतीजी के प्रति उसके पिता हिमाचल की उक्ति] अधिक कड़ने से क्या ? जाओ और अपना पति प्राप्त कर लो । महानदियाँ क्या बिना समुद्र को पाय रकती हैं ?

कुत्रट्—'अर्थविशेष पूर्व यादृच्छं न्यस्तो विवक्षितेतरयो ।

सादृश्यमन्य न्यस्येद् यत्र पुन मौड्यं दृष्टान्तं ॥ ८।९४ ॥

यथा—'त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोमवज्जलितम् ।

आलोके हि सितांशोर्निकसति कुमुद कुमुदवत्याः ॥ ८।९५ ॥

—विवक्षित—अर्थात् प्रस्तुत और उससे भिन्न अर्थों में से पहिले जैसा अर्थात् निम्न प्रकार के गुणधर्म से युक्त अर्थ पहले प्रस्तुत किया गया हो बाद में उमी जैसा अन्य अर्थ यदि प्रस्तुत किया जाय तो वह काव्यकला का दृष्टान्त माना जाता है । यथा—'तुम्हारे दिखारं देते ही उसका काम-दग्ध चित्त शान्त हो जाता है । ठोक ही है, कुमुदवती का पुष्प कुमुदवज्ज्वल किरणों वाले चन्द्रमा के प्रकाश से ही न चिछता है !'

[यहाँ नायिकाचित्तरूपी जो पदार्थ पूर्वार्द्ध में प्रतिपादित किया गया उसमें प्रियदर्शनजन्य निश्चिंति = शान्ति relief रूपी धर्म बलजाया गया । उतरार्ध में ठोक वैसा ही दूसरा अर्थ प्रतिपादित किया गया = चन्द्र के दर्शन से कुमुद का विकसित होना] इन दोनों वाक्यांशों में नायिका और कुमुदवती, मन और कुमुद, दर्शन और प्रकाश तथा निर्वाण और विकास के बीच परस्पर विम्ब-प्रतिबिम्बभाव है अर्थात् दोनों निहित साम्य द्वारा अभिन्न से प्रतीत होते हैं] ।

मम्मद—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।'

यथा—'त्वयि दृष्ट ००००० सुषाणो००० कुमुदं कुमुदवत्या ।'

कारिका का अर्थ विमर्शिनी में अभी अभी स्पष्ट हो चुका है और उदाहरण का ऊपर प्रदत्त शब्द के उदाहरण में ।

परवर्त्ता आचार्यों में—

शोभाकर—[सू०]—'प्रतिबिम्बेन दृष्टान्तः ॥ १७ ॥'

[१०]—'वाक्यद्वये धर्मस्य प्रतिबिम्बने = विम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थाने आर्थमौपम्यं दृष्टान्तः ।—दो वाक्यों में धर्म के विम्बप्रतिबिम्बभाव से स्थित होने पर जो आशं औपम्य होना है उसे दृष्टान्त कहा जाता है ।

शोभाकर ने अलंकारसर्वस्वकार द्वारा उदाहरण 'अभिरर्लङ्घिन एव'—इस पद्य में आपत्ति उठाते हुए कहा है कि इसमें वस्तुप्रतिबिम्बभाव भी है क्योंकि इस पद्य में छानरूपी धर्म 'जानाति' और 'जानीत' इस प्रकार दो अभिन्नधातुक क्रियापदों से ही कथित है, दोनों क्रियापदों की प्रकृति एक ही है शानार्थक 'श' धातु । कदाचित् हर्षाख्य विमर्शिनीकार ने इसका दूसरा भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है । परन्तु वह भी कोई अच्छा उदाहरण नहीं है ।

अप० यदीक्षितः—'स्याद् विम्बप्रतिबिम्बत्व दृष्टान्तस्तद्वृत्तिः ।

त्वमेव कीर्त्तमान् राजन् विभुरेव हि कान्तिमान् ॥ ५२ ॥

- यदि विम्बप्रतिविम्बत्व हो तो दृष्टान्तालंकार होता है । यथा हे रावन् ! कीर्त्तिमान् केवलः सुम हो हो । काम्तिमान् केवल चन्द्र होता है ।

द्वितीय उदाहरण—'देवीं वाचमुपासते० ।

इस पद्य में शोभाकर द्वारा दर्शित प्रतिवस्तूपमा के संस्पर्श का अप्ययदीक्षित प्रतिवाद करते और अलंकारसर्वस्वकार के दृष्टान्तपक्ष का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

नन्वत्र उपमानोपमेयवाक्ययोर्ज्ञानमेक एव धर्म इति प्रतिवस्तूपमा युक्ता, मैवम्, अचेतने मन्थाचले ज्ञानस्य बाधितत्वेन तत्र ज्ञानातीत्यनेन सागराधत्तलवधिसेस्पर्शमात्रस्य विवक्षितत्वात् ।'

—'यहाँ उपमानवाक्य और उपमेय वाक्य दोनों में 'ज्ञान'-रूपी एक ही धर्म [एक ही शब्द से कथित] है अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा माना जाना उचित है [यह जो अलंकाररत्नाकर-कार का पक्ष है वह आपत्ततः तो ठीक लगता है] किन्तु तथ्य वैसा नहीं है । मन्थाचल अचेतन है, अतः उसमें ज्ञान अपने वास्तविक अर्थ में बाधित है, अतः उसके साथ ज्ञान का विवक्षित अर्थ यहाँ समुद्र का तलस्पर्शमात्र है ।'

वस्तुतः अलंकाररत्नाकर द्वारा प्रस्तुत आपत्ति अपरिहार्य है अतः इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया जाना चाहिये । स्थिति यह है कि दृष्टान्तलंकार का ऐसा उदाहरण जिसमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव का संस्पर्श सर्वथा न हो, मिलना कठिन है । शोभाकर ने भी आपत्ति प्रतिवस्तूपमा के संस्पर्श पर नहीं की है । उन्होंने आपत्ति की है प्रतिवस्तूपमा के 'प्रचुरतर' संस्पर्श पर । उनकी पंक्ति है—'देवीं वाचन्०' इत्यादी प्रतिवस्तूपमया सहास्य प्रचुरतरः सङ्करः ।' प्रतिवस्तूपमा के सामान्य स्पर्श से तो न शोभाकर के ही दृष्टान्तोदाहरण युक्त हैं और न स्वयं अप्ययदीक्षित के । स्वयं विमर्शिनो-कार ने जो नवीन उदाहरण 'स्थानेषु क्षिप्य०' आदि दिया है उसमें भी 'प्रतिपाद्यमानत्व' और विप्रकीर्णन अर्थात् एक ही धर्म है । अप्ययदीक्षित भी 'जानाति'-को काञ्चनिक भले ही बतला दें किन्तु लक्षणा द्वारा 'तलस्पर्श' अर्थ लाकर भी वे 'ज्ञानरूपि' अर्थ को सर्वथा दूर नहीं रख सकते, तट को गंगाशब्द से कहने पर तट में गंगात्व प्रतीत होता ही है ।

पण्डितराज अगस्त्याथ—[सूत्र] 'प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां साधारणधर्मस्य च विम्ब-प्रतिविम्बभावे दृष्टान्तः' ।

[वृत्ति] 'अस्य आलंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यद्य तस्यां धर्मो न प्रतिविम्बितः, किं तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः, इह तु प्रतिविम्बितः ।'

[सू०] प्रकृत वाक्यार्थ के [उपमेय आदि] सभी अङ्ग उपमान आदि साधारण धर्म इन सबका विम्बप्रतिविम्बभाव हो तो दृष्टान्त होता है ।

[वृत्ति] इस अलंकार का प्रतिवस्तूपमा से भेद केवल यही है कि उसमें धर्म प्रतिविम्ब नहीं बनता, वह शुद्ध सामान्यरूप ही रहता है जब कि इस [दृष्टान्त] में वह [धर्म] भी प्रतिविम्बित होता है ।

विश्वेश्वरपण्डित—[का०] साधारणस्य साम्यप्रतियोग्यनुयोगिनोर्यत्र ।

निर्देशः स्याद् विम्बप्रतिविम्बतया स दृष्टान्तः ॥

[वृत्ति] विम्बप्रतिविम्बभावेनैव यत्र साधारणधर्मस्थोपमानोपमेयदिशि उपादानम्, न त्वेकत्वम्, स दृष्टान्तः । प्रतिवस्तूपमायां तु एकस्यैव वारद्वयं प्रयोगात्रातिव्याप्तिः ।

[का०]—साधारण धर्म और सादृश्य के प्रतियोगी [उपमान] तथा अनुयोगी [उपमेय] इन सबका विम्बप्रतिविम्बभाव से निर्देश हो वह दृष्टान्त ।

[वृत्ति] जहाँ साधारणधर्म का उपादान भाँ उपमान और उपमेय के समान विम्बप्रति-विम्बभाव से हो, न कि वह एक ही हो, वह दृष्टान्त । प्रतिवस्तुपमा में एक ही साधारण धर्म का दो बार प्रयोग होता है अतः दृष्टान्त का लक्षण उसमें लागू होने से बच जाता है ।

विद्वेदवरपण्डित ने दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दे दी है—

—‘दृष्टो घातप्रामाण्यक अन्नो दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयो यत्रेति व्युत्पत्त्या प्रकृतवाक्यार्थ-प्रतिपाद्यकार्यकारणभावे आद्ये तद्वाहकामूतान्वयव्यतिरेकयोर्त्रोत्तरवाक्यार्थो दृष्टान्तरत्वेन पर्यव-स्यति स इत्यर्थः ॥

—जहाँ दृष्ट हो अर्थात् जिसका प्रामाण्य जाना जा चुका हो ऐसा अन्न = अन्तिम दाहो-न्तिक = प्रस्तुत = उपमेयभूत वाक्यार्थ ही जिसमें वह दृष्टान्त । इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ यह निकलता कि दृष्टान्त में प्रकृत वाक्यार्थ में विवक्षित कार्य-कारणभाव साध्य रहता है और उसके साथक जो अन्वय-व्यतिरेक होने हैं उनकी पुष्टि दृष्टान्तरूप उत्तरवाक्यार्थ से होती है ।

कान्यप्रदीपकार महामहोपाध्याय गोविन्द ठक्कुर ने दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है -

‘दृष्टोऽन्नो निश्चय उपमानिर्वाहकोऽलङ्कार इति ।

—दिया गया अन्त अर्थात् निश्चय अर्थात् उपमानिर्वाहक ही यहाँ अलङ्कार है ।’

कान्यप्रदीप के टीकाकार नागेश ने अपने उद्योत में प्रदीप की उक्त शक्ति का जो स्पष्टीकरण दिया है उसे व्यवस्थित रूप नामन झलकीकर न इस प्रकार दिया है—

‘यत्र दृष्टान्तवाक्येन दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयस्य प्रामाण्यप्रदो भवति स दृष्टान्तनामालङ्कारः ।’

—‘जहाँ दृष्टान्त वाक्य के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्यार्थ के ज्ञान में प्रामाण्य बुद्धि जागती है वह होता है दृष्टान्त नामक अलङ्कार ।’

कान्यप्रकाश की एक अन्य टीका विवरण के रक्षयिता ने भी—दृष्टान्त शब्दपर यह निरुक्ति दी है—

‘निश्चयः प्रस्तुतम्यार्थस्य निःसन्देहा प्रतीतिः, सोदाहरणवाक्येन प्रतिपाद्यमानो धर्मो हेत्वा-काङ्क्षानिवृत्त्या असंशयमेव प्रतीयते । तदिय सञ्ज्ञा योगरूढिः ।

—[कान्यप्रकाशकार ने दृष्टान्त को ‘दृष्टोऽन्नो निश्चयो यत्र ॥ दृष्टान्तः’—यह जो व्युत्पत्ति दी है इनके] निश्चय शब्द का अर्थ है प्रस्तुत अर्थ की सन्देह रहित अर्थात् प्रामाण्यपूर्ण प्रतीति । मान यह है कि जो विषय सोदाहरण वाक्य द्वारा प्रतिपादित किया जाता है उसकी प्रतीति में कोई संशय नहीं रहता, क्योंकि उदाहरण देने से हेतु [क्यों] की जिज्ञासा दान्त हो जाती है ।

इस प्रकार अलङ्कार अर्थ में ‘दृष्टान्त’—सञ्ज्ञा योगरूढ है । हमें कुछ ऐसा लगता है कि दृष्टान्त-शब्द में अन्न शब्द ठीक वैसे सौन्दर्य का वाचक है जैसे वान्त में और दृष्ट शब्द का अर्थ है अनुभूत वस्तु । किमी अनुभूत वस्तु में साम्य के कारण सौन्दर्य आ जाता है । इस प्रकार दृष्टान्त का सीधा अर्थ प्रस्तुत अर्थ जैसा होने से सुन्दर कोई अन्य वस्तु । इस प्रकार एक स्थापना जहाँ विलकुल उमी वैसी किमी अन्य अनुभूत घटना के विशिष्ट प्रस्तुतीकरण द्वारा पुष्ट की जाती है, तो वहाँ अलङ्कार को ‘दृष्टान्त’-शब्द द्वारा अभिहित करना उचित ही है ।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसका सारसंग्रह इस प्रकार किया है—

‘दिन्यानुविम्बन्यायेन निर्दोषे धर्मधर्मिणाम् ।

दृष्टान्तालङ्कृतिर्ज्ञेया भिन्नवाक्यार्थसमया ॥’

—धर्म और धर्मों दोनों का निर्देश यदि विन्वप्रतिविन्वन्याय से हो तो अलंकार दृष्टान्त कहा जाता है। यह दो भिन्न भिन्न वाक्यार्थों पर निर्भर रहता है।

विन्व और प्रतिविन्व दोनों भिन्न होते हैं क्योंकि उनके अधिकरण भिन्न होते हैं जैसे शरीर-गत सुख और उसका दर्पणगत प्रतिविन्व। एक का अधिकरण है शरीर और दूसरे का दर्पण। अभिन्न वस्तु एक साथ दो भिन्न भिन्न अधिकरणों में नहीं रह सकती। किन्तु भिन्न होने पर भी विन्व का प्रतिविन्व में इतना सादृश्य रहता है कि उन्हें आपाततः अभिन्न ही कहा जाता है। सुख के प्रतिविन्व को प्रत्येक व्यक्ति 'मेरा सुख' ही कहता है। वस्तुतः विन्वप्रतिविन्वभाव समान-धर्मसंबन्ध, या सादृश्य का ही एक विशिष्ट रूप है जिसमें एक सादृश्य दूसरे सादृश्य का निष्पादक होता है, और निष्पादक सादृश्य निष्पाद्य सादृश्य को निष्पत्ति साक्षात् न कर अपने से विशिष्ट पदार्थों में प्रातीतिक अन्वेषण निष्पन्न करा परम्परया कराता है। इस प्रकार निष्पाद्य सादृश्य में साधारण धर्म बने पदार्थ भी निष्पादक सादृश्यरूपी धर्म से युक्त होकर तो धर्मों वन ही जाते हैं, उनमें स्वगत अन्य साधारण विशेषताओं का भी अस्तित्व प्रतीत होता रहता है अतः उनकी दृष्टि से भी वे धर्म ही होते हैं। यदि यह कहा जाय तो कदाचिद् दृष्टान्त का रहस्यभूत तत्त्व अधिक निकट से परखा जा सकेगा कि दृष्टान्त में साधारण धर्म भी धर्मरूप ही रहता है। इसमें उपमावाचक पद का प्रयोग नहीं रहता साथ ही उपमानोपमेयभाव के अनुयोगी-प्रतियोगी वाक्यार्थ ही रहते हैं।

[सर्वस्व]

[सू २८] संभवताऽसंभवता वा वस्तुसंबन्धेन गम्यमानं प्रति-
विन्वकरणं निदर्शना ।

प्रतिविन्वकरणप्रस्तावेनास्या लक्षणम् । तत्र क्वचित्संभवन्नैव वस्तु-
संबन्धः स्वसामर्थ्याद्विन्वप्रतिविन्वभावं कल्पयति । क्वचित्पुनरन्वयवाधाद्-
संभवता वस्तुसंबन्धेन प्रतिविन्वनमाक्षिप्यते । तत्र संभवद्वस्तुसंबन्धा
यथा—

‘चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम् ।

सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः ॥’

अत्र बोधयन्निति णिचन्तत्समर्थाचरणे प्रयोगात्संभवति वस्तुसंबन्धः ।
असंभवद्वस्तुसंबन्धा यथा—

‘अन्यात्स वो यम्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिल्यस्मरन्वापलीलात् ।

जटापिनक्षोरगराजरत्नमरीचिलीहोमयकोटिरिन्दुः ॥’

अत्र स्मरन्वापसंबन्धिन्या लीलाया वस्त्वन्तरभूतेनेन्दुना स्पर्शनमसंभ-
वलीलासदृशी लीलामवगमयतीत्यदूरविप्रकर्षात्प्रतिविन्वकल्पनमुक्तम् ।

[सूत्र] वस्तुओं [पदार्थों अथवा वाक्यार्थों] के [बीच उनके] संभव अथवा
असंभव संबन्ध से प्रतीयमान प्रतिविन्वन निदर्शना [नामक अलंकार
कहलाता है] ॥ २८ ॥

[दृष्टि] इसका लक्षण यहाँ इसलिये किया गया क्योंकि यहाँ प्रतिविन्व का प्रकरण चला
हुआ है। यहाँ कहीं तो पदार्थों का संबन्ध संभव रहता है और वह अपनी शक्ति से विन्व-प्रतिविन्व-

भाव को निष्पन्न करता है। किन्तु कहीं कहीं अन्वय बाधित हो जाने में वह वस्तुसम्बन्ध असंभव होता हुआ प्रतिक्रमण का आशेष करता है। दोनों में से प्रथम का उदाहरण जिसमें वस्तुसम्बन्ध संभव होता है—'जो [पर्वण] अतिथि के समान आप हुए भगवान् सूर्य को चूडामणि के स्थान पर धारण करता है, गृहस्थों को यह बतलाते हुए कि सत्पुरुषों का आतिथ्य करना ही चाहिए।'

—'यहाँ बोधयन् = बतलाना हुआ' यह जो गिच् = हेत्वर्थक प्रत्यय है हमका प्रयोग वैसा करने में सहायक होने अर्थ में हुआ है, अतः वस्तुसम्बन्ध संभव है।' [बुबलयानन्दचन्द्रिकाकार के अनुसार समर्थाचरण = सामर्थ्यात्पादन, पर्वण गृहस्थों में आतिथ्य धर्म के बोध के सामर्थ्य की उत्पत्ति में सहायक हो ही सकता है, अतः 'बोधयन्' द्वारा स्थापित बोध सामर्थ्यात्पादन में सहायकता पर्वण में संभव ही है।

दूसरी का उदाहरण जिसमें वस्तुसम्बन्ध असंभव रहता है—'बि भगवान् शकर आप की रक्षा करें जिनका निसर्गवक्र [स्वभाव त्रिंश] तथा अटाजूट में बंधे नागराज की फणामणि की किरणों से स्पष्ट दोनों नोक वाला चन्द्र कामदेव के प्रत्येक चडे घनुष की शोभा को किंचिद् धारण करता है।' [कल्पना कीजिए कि टेढ़ी चन्द्रकला और नागराज का फण दोनों अटाजूट के बीच बराबरी बराबरी पर स्थित हैं और नागराज की फणामणि से निकलना और टेढ़ी होकर सीधी फैलती किरणें चन्द्रकला की दोनों नोकें छूती हैं। इस प्रकार चन्द्रकला का बाँस के समान गोलकार नैवा दिम्बवृत्त घनुष बन जाता है। बड़ा ही दिम्बप्राही चित्रण है।]

—इन पदार्थ में एक कामचाप की शोभा का कामचाप से भिन्न [वस्त्वन्तर] चन्द्रमा द्वारा किंचिद् भी धारण किया जाना संभव नहीं है। [जिसका धर्म उसी के ही पास रहेगा, उसे उससे भिन्न शक्ति नहीं अपना सकता] अतः यहाँ यह अर्थ निकलता है कि चन्द्रमा कामचाप की शोभा के समान शोभा को धारण करता है। इन दोनों की शोभाओं में अधिक दूरी नहीं है अतः [निदर्शन लक्षण में] प्रतिदिम्ब कल्पना की बात कही गई है।

विमर्शिनी

समवनेत्यादि । विम्बप्रतिविम्बभावमिति उपमानोपमेयत्वमित्यर्थः । धर्मधर्मिणोरभेदो-
पचारात् । एवं चात्र निदर्शनाया सादरयाविनाभावः । तेन—

प्रभाते वृच्छन्नीरनुरहसवृत्तं सहचरीर्नैवोढा न धीढामुकुलितमुत्तीर्य कथयति ।

लिखन्तीनां पात्राङ्गुरमनिशमस्यास्तु कुचयोक्षमङ्कारो गूढ करजपद्मासां प्रथयति ॥'

हृत्पादी सम्बन्धयपि वस्तुसम्बन्धे प्रथनस्योपमेयाभावात् निदर्शनालंकारत्वम् । अने-
नैव वस्तुसम्बन्धस्य सम्बन्धसंभवाभ्यामस्या भेदद्वयमप्युक्तम् । तदेषोदाहरति—'चूडामणि-
स्याग्निना । तत्समर्थाचरणे प्रयोगादिति 'कारीषोऽप्यापयति' हृत्पादिवत् । अन्धगातस्य
रवेर्गिरिणा शिरसा धारणं तत्समर्थाचरणम् । अतः एवात्र बोधयन्निति गिचस्तत्समर्था-
चरणे प्रयोगान्मयेव भवद्भिन्नस्यनितिसपर्यां कार्येति संभवस्तत्सम्बन्धमूलमप्यर्थोपमेयम् ।
एवं च पर्वतस्य बोधनक्रियाकर्तृत्वसंभवादेवाभिमन्तृव्यापारोपारोहाभावान्नात्र प्रतीय-
मानोत्प्रेक्षा । नापि स्मृत्यलंकारः । गृहमेधिना पर्वतकर्तृकस्य सद्भिपयतिथ्यबोधस्त्वस्य
वाच्यार्थत्वात् । तत्र हि सदादर्शनाद्दृष्टस्वन्तरस्य स्मृतिर्भवति । नचात्र गृहमेधिनां रवि-
दर्शनादतिथिस्मृतौ कर्तृत्वम् । तेषां सदातिथ्यकर्मन्वयनाया बोध्यत्वात् । नाप्यत्र रविगा-
तिथेरतिथिमा वा रवेः साम्यं विवक्षितम् । अपि तु मयेव गृहमेधिभिरपि सतामातिथ्यं
कार्यमिति । अत एव नात्र वस्त्वन्तरङ्गतामपि विशेषालंकारः । तपनावगमेऽतिथ्या-
देरसंभवावस्थावगमो जात इत्येवमात्मिकायाः प्रतिपत्तेरभावात् । अतश्च सत्यसति वा

संबन्धे निदर्शनेति वाच्यम् । तेन यथोक्तमेव भेदद्वयं स्यात् । असेमवदिति । धर्म्यन्तरसं-
बन्धिनो धर्मस्य धर्म्यन्तरेऽन्वयायोगात् । अदूरविप्रकर्षादिति । धर्ममुखेन सादृश्यस्य किञ्चि-
त्प्रयासकत्वात् । यथा वा-

अङ्गे पुलकं अहरं सवेपिअं जंपिअं ससिक्कारं ।
सर्वं सिसिरेण कअं जं काअव्वं पिअअमेण ॥

अत्र वल्लभकार्यस्य पुलकादेर्धर्मस्य वस्त्वन्तरमूलेन शिशिरेण करणमसंभवत्तस्य
साम्यमवगमयतीति शिशिरस्य वल्लभतुल्यताप्रतीतिरौपम्यम् । अतश्चात्र धर्माणामसंबन्धात्
निदर्शनेत्युक्त्वा प्रतिमालंकारत्वं न वाच्यम् । प्रतिमायाश्चान्धोदाहरणेऽलंकारान्तरा-
वियोगः स्फुट एवेति न पृथगलंकारत्वं वाच्यम् । एवमन्येषामपि समप्राणामभिनवा-
लंकाराणां चान्यैर्भ्यालंकारयोगो योजयितुं शक्य एवेति ग्रन्थविस्तरमयादस्मद्दर्शने तद्बु-
धगोद्धारस्यैव च प्रतिज्ञातत्वादस्माभिः प्रातिपद्येन न दूषितम् । न पुनरेतावतैव परमत-
मप्रतिपिद्धमनुमतमेवेति दशा एवमपि पृथगलंकारत्वं युक्तं मन्तव्यम् ।

संभवता—इत्यादि । विन्वप्रतिविन्वभावस्य = विन्वप्रतिविन्वभाव को अर्थात् उपमानोपमेय-
भाव को ऐसा इसलिए कि धर्म और धर्मों में औपचारिक भेद माना जाता है । और इस प्रकार
सिद्ध हुआ कि निदर्शन में सादृश्य रहता ही है । इसलिए [अलंकाररत्नाकरकार का यह कथन
मान्य है कि—]

— [प्रथम नयुयामिनी वीतने पर] सवेरे जब सहचरियों = सखियों एकान्त [शयनागार]
की रातें पूछती हैं तो नबोडा का चेहरा = मुखमण्डल लाज से मुकुलित हो जाता है और वह कुछ
भी कह नहीं पाती किन्तु प्रतिदिन पत्रावली बनाने के कारण इसके उरोजों से परिचित वे
सखियाँ आज इतके उन्हीं उरोजों में चमत्कार [फूलापन] देखती हैं तो उससे उन्हें विदित हो
जाता है आज प्रिय ने उन पर नखझत किए हैं जो चोली में दबे हैं ।

— यहाँ और ऐसे अन्य स्थलों में भले ही 'प्रथम' = 'विदित कराना' = [चमत्कार आदि]
संभव हो तथापि, जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने भी कहा है यहाँ सादृश्य नहीं है अतः निदर्श-
नालंकार नहीं है । इसी वक्तव्य से इस अलंकार के वे दो भेद भी ग्रन्थकार ने बतला दिए जिनमें
से एक में वस्तुसम्बन्ध संभव होता है और दूसरे में नहीं । इन्हींको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते
हैं—**चूडामणि०** इत्यादि । 'तरसमर्थाचरणे प्रयोगात् = वैया कर सकने अथवा वैया करने में
समर्थ आचरण अर्थ में प्रयोग' । यह ठीक वैसे होगा जैसे 'कण्ठे की आग पढ़वा रही हैं'—प्रयोग
में होता है [अर्थात् शोनो स्थलों में पर्वत तथा अग्नि इन शोनो अनेकतन कर्त्ताओं में बोधन तथा
अध्यापन का कार्य लक्षणया उपपन्न होता है] । पर्वत में समर्थ आचरण है अन्वयागत रवि का
सिर पर धारण करना । [समर्थाचरण' की व्याख्या आगे दिए उद्धृत के निदर्शना-निरूपण में
देखिए] इसीलिए अर्थात् 'बोधयन् = बतलाता हुआ'—इसमें आए भिच् = प्रयोजकार्यक प्रत्यय
का प्रयोग होने से यहाँ यह एक आर्थ सादृश्य निकलता है कि 'भेरे ही समान आप सबको भी
अतिथि-सत्कार करना चाहिए, इसमें वस्तुसम्बन्ध संभव है अर्थात् वह सकता है, असेमव या
वापित नहीं है । और इसीलिए यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा नहीं है क्योंकि वह तब होती जब पर्वत
स्वयं बोधन क्रिया का कर्त्ता बन न सकता और तदर्थ उस पर उसकी अधिष्ठात्री देवता का
आरोप किया जाता [जैसे वेद में 'नदियों बोली' कहे जाने पर जड़ नदियों की देवियों का
आरोप कर लिया जाता है जिन्हें नद्यधिष्ठात्री देवता कहा जाता है] । क्योंकि पर्वत बोधन-क्रिया
का कर्त्ता बन सकता है अतः उस पर उसकी अधिष्ठात्री देवता का आरोप नहीं हो पाता यहाँ

[अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रतीयमान स्मरणालङ्कार का स्पष्ट बतलाया है और कहा है क्योंकि यह श्लोक सुनते ही जीवन में कभी अतिथि-सत्कार कर चुके व्यक्ति को अपने किये हुए अनिथि-सत्कार का स्मरण आ जाता है किन्तु वह] स्मरणालङ्कार भी नहीं है क्योंकि यहाँ पद्यवाक्य का मुख्य प्रतिपाद है 'पर्वत द्वारा गृहमेधियों' को गृहागत सत्पुरुष के आतिथ्य का बोध कराना, जब कि स्मरणालङ्कार में जो स्मृति होती है वह समान वस्तु के दिखार पटने से याद आई किसी अन्य की वस्तु की होती है । [आप बगला रहे हैं कि गृहस्थों को उनके द्वारा किए गए आतिथ्य का स्मरण आ रहा है किन्तु] यहाँ गृहस्थों को सूर्यदर्शन में संभव अतिथि मत्कार का कर्ता नहीं बनलाया जा रहा यहाँ तो उन्हें सत्पुरुष के आतिथ्य का संशोध्य बनलाया जा रहा है । न तो यहाँ सूर्य के माथ अनिथि का या अनिथि के साथ सूर्य का कोर साम्य ही विवक्षित है । जो विवक्षित है वह केवल इतना ही कि 'मेरे समान गृहस्थों को भी सत्पुरुषों का आतिथ्य करना चाहिए ।' इमीलिय यहाँ [एक वस्तु का निर्माण करने-करने] 'दूसरी वस्तु का भी निर्माण-' एतद्रूप जो विशेषालङ्कार है वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ यह बोध नहीं होना कि सूर्य का शान होती ही अनिथि आदि अममाम्य व्यक्त का भी शान हो गया' । इस लिए यहाँ कहना उचित है कि सम्बन्ध के समव या असमव होने से निदर्शना ही है । इसलिये निदर्शना के केवल दो ही भेद होंगे जैसा कि कहा गया है ।

'असंभवद् = वस्तु के साथ सम्बन्ध के न बनने से' । इसलिये कि दूसरे धर्मों के धर्म का सम्बन्ध दूसरे धर्मों से बन ही नहीं सकता ।

अदूरविप्रकर्षात् = दूरी कम होने से—'धर्म के द्वारा समव सादृश्य के कुछ पास रहने से । अथवा दूसरा उदाहरण —

'अङ्गे पुलकम् अपरः सवेपितो जल्पित समीकारम् ।

सर्वं शिशिरेण कृत यत् कर्त्तव्यं प्रियजनैः ॥'

—'शरीर में रोमांच है, अपर में कल्पन है, और बोलने में सीत्कार है । इस प्रकार शिशिर ने वह सब कार्य कर दिया है जो प्रिय के द्वारा किया जाना चाहिए ।'

—यहाँ पुलक आदि धर्म प्रिय के कार्य हैं उन्हें निपन्न होता हुआ बतलाया जा रहा है प्रिय से भिन्न शिशिर के द्वारा वह असमव है अतः वह प्रियकार्य जैसे कार्य का शान कराता है और तब प्रतीति होती है कि 'शिशिर प्रिय के समान है' । इसलिये यहाँ वाक्यार्थ सादृश्य में पर्यवसित होना है । [इस गाथा = अगे पुलकम् में अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रतिमानामक एक नवीन अलङ्कार माना है । उसका लक्षण है 'अन्यधर्मयोगाद् आर्षेण ओपम्य प्रतिमा' = एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आर्ष-साम्य हो उस वस्तु के धर्म के इस वस्तु में सम्बन्ध होने से, तो वह साम्य प्रतिमा होता है' । इस गाथा के वाक्यार्थ की स्थिति ऐसी ही है अतः यहाँ प्रतिमालङ्कार समव है । निर्माशनीकार इसका प्रतिवाद करते और कहते हैं] क्योंकि उक्त क्रम से इस गाथा में निदर्शना है इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि 'यहाँ प्रतिमालङ्कार है निदर्शना नहीं और निदर्शना का अभाव बतलाने के लिये यह हेतु नहीं दिया जा सकता कि 'निदर्शना में एक केन्द्र धर्म का [दूसरे में] सम्बन्ध नहीं रहता जब कि यहाँ [प्रिय के धर्म का शिशिर में सम्बन्ध] है—' ['धर्मागामसम्बन्धाभावात् निदर्शना-' अलङ्काररत्नाकर, प्रतिमालङ्कार की आरम्भिक श्रुति] कारण कि प्रतिमा कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं है । उसके [आपने] जो और दूसरे उदाहरण दिए हैं उनमें भी स्पष्ट ही अन्यान्य अलङ्कारों का अभाव नहीं है । अब हमारे द्वारा प्रस्तुत इस क्रम से दूसरे समीक्षक [अलङ्काररत्नाकरकार द्वारा स्थापित] अन्य सभी नवीन अलङ्कारों में भी दूसरे प्राचीन

मलंकारों का अस्तित्व बतला सकते हैं इसलिए हम एक-एक कर, उन सब पर अपनी ओर से दोष नहीं दिखला रहे हैं। ऐसा करने में ग्रन्थ के विस्तार का भय है और हमने प्रतिष्ठा भी केवल यही की है कि हम उनके हमारी सीमा में बाएँ दाँयों का ही निराकरण करेंगे। किन्तु हम दोष नहीं दे रहे हैं इसलिए 'दूसरे का दूसरे को मत मान्य है यदि उसने उसका खण्डन नहीं किया है' इस सामान्य धारणा के आधार पर [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित] प्रतिमातिरिक्त अन्य नवीन अलंकार हमें स्वतंत्र अलंकार के रूप में मान्य है ऐसा मान बैठना ठीक नहीं होगा।

[सर्वस्व]

एपापि पदार्थवाक्यार्थवृत्तिभेदाद् द्विविधा पदार्थवृत्तिः समनन्तरमुदा-
हृता । वाक्यार्थवृत्तियथा—

'त्यत्पावनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम् ।

इदं श्रीशण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः ॥'

केचिन्तु दृष्टान्तालंकारोऽयमित्याहुस्तदसत् । निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि
विम्बप्रतिविम्बभावो दृष्टान्तः । यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तर-
मारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र संबन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता,
न दृष्टान्तः । एवं च—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य ।

दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः ॥'

इत्यत्र दृष्टान्तवृद्धिर्न कार्या । उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्तेः ।

'यह [असंभववस्तुसंबन्धा निदर्शना] भी दो प्रकार की होती है पदार्थगता तथा वाक्यार्थगता । दोनों में से पदार्थगता का उदाहरण अभी दिया । [अन्यात् स वः०] वाक्यार्थगता का उदाहरण यह है—

'शुद्धारे पैर के [पधराग या पुष्पराग] मणियों के समान [छाल छाल] नाजूनों का अलते से ओ रेंगा जाना है यह सफेद चन्दन का लेप कर चन्द्रमा का सफेद किया जाना है ।'

कुछ विद्वानों ने कहा है कि यहाँ दृष्टान्तालंकार है। किन्तु वह ठीक नहीं है। दृष्टान्त वहाँ होता है जहाँ दो निरपेक्ष वाक्यार्थों में विम्बप्रतिविम्बभाव रहता है। जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ पर अन्य वाक्यार्थ [सौन्दर्य आदि के समान] सामानाधिकरण्य [नखमार्जन विधुलेपन है—इस प्रकार अभिशरूपता] द्वारा आरोपित किया जाता है वहाँ संबन्ध संभव नहीं होता। अतः तन्मूलक [सादृश्य में पर्यवसित होने वाली] निदर्शना ही यहाँ मान्य है दृष्टान्त नहीं। इसी प्रकार—

[शकुन्तला को देस दुष्यन्त की स्वगत बक्ति] 'हमारे अन्तःपुर में दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमवासी जन का प्राप्त है तब तो उद्यानलताओं को वनलताओं ने अपने पुर्णों से ओझल कर दिया ।' [शकुन्तल]

—यहाँ दृष्टान्त नहीं समझ बैठना चाहिए क्योंकि उक्त हेतु से वहाँ भी निदर्शना ही प्राप्त है।

विमर्शिनी

एपेत्यसंभववस्तुसंबन्धनिबन्धनां । न केवलं निदर्शना यावत्तद्भेदोऽप्ययं द्विविध
इत्यपिशब्दार्थः । उदाहृतेति 'अन्यात्स वः' इत्यादिना । केचिदिति श्रीमम्मटादयः ।

तदिति दृष्टान्तालकारवचनम् । एतदन्यत्रापि योजयति—एवमित्यादिना । उक्तन्यायेनेति, प्रकृतवाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरस्य सामानाधिकरण्यानाभ्यारोप्यमाणत्वात् । अतश्चान्यैर्वाक्यार्थयोः सामानाधिकरण्यानिदृशाच्छ्रौतारोपमद्रावेन वाक्यार्थरूपक यदुक्तं तत्तावदास्ताम्, यत्पुनः प्रतिवस्तूपमोदाहरणत्वमुक्तं तदयुक्तमेव । निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्धर्मस्य शुद्ध-सामान्यरूपत्वे प्रतिवस्तूपमा । न चात्रैकमपि संभवति । वाक्यार्थयोः सापेक्षत्वाच्चुद्ध-सामान्यरूपत्वाभावाच्च अर्थापत्युदाहरणत्वमप्यत्रायुक्तम् ।

‘जाग्रत-कमलाबलधर्मी यज्जग्राह तदद्भुतम् ।

पादद्वन्द्वस्य मत्तेभ्यतिस्तेये तु का स्तुतिः ॥’

इत्यत्र तु प्रतिवस्तूपमोदाहरणत्वं पापापापीयः । अत्र हि वाक्यार्थयोः परस्परं सादर्य-मात्रमपि नास्तीति का कथा प्रतिवस्तूपमायाः । पूर्वविधमेव चान्यत्र सर्वालंकारोदाह-रणेऽवासमभ्रस्यं संभवदपि समनन्तरोक्तहेतुद्वयाच्च दर्शितम् । तथा च—

‘आज्ञाचर पञ्चशरः पुरस्तात्सुधा पुनः कर्मकरी मुखस्य ।

स चापि सौन्दर्यविशेषवन्वी यत्रेभ्युत्तिन्दीवरलोचनानाम् ॥’

इत्यत्र विषयविषयिणोर्द्वयोरप्युपादानात्स्फुटेषु रूपकत्वेऽतिशयोक्त्युदाहरणत्वमुक्तं तत्र चातिशयोक्तिवमेव नास्तीति किं कार्यकारणभावपूर्वकत्वेनिदृशनेनेत्यलं बहुमा । असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनायाश्च यद्यपि वस्तुसंबन्धस्यात्रिदोषेण संभव उक्तस्तथापि सम-नन्तरोक्तोदाहरणेषु यद्योपमानसंबन्धी धर्म उपमेयगतत्वेनैव संभवति तथैवोपमेयसंबन्धी धर्मः छविद्वुपमानेऽपीत्याह—एवमित्यादि ।

‘पूपा = यह’ = असंभवद्वस्तुसंबन्धमूला निदर्शना । ‘मी’ का अर्थ यह है कि केवल निदर्शना-सामान्य ही दो प्रकार की नहीं होती, उसका यह एक भेद भी दो प्रकार का होता है । ‘उदा-हृता = जिसका उदाहरण दिया जा चुका है’ = ‘अव्याज स च’ इत्यादि । ‘केचिद्—कुछ’ शीमम्भट आदि [मम्मट के कान्यमकाश में ‘शुद्धान्तदुर्लभ’ पद्य कहीं भी उदाहरण नहीं है] । ‘तत् = यह’ अर्थात् यह कथन कि यहाँ दृष्टान्तालकार है [सामान्य है] । इसी तथ्य को दूसरे पद्य में भी प्रतिपादित करते हैं और कहते हैं—‘एवं च’ । उक्तन्यायेन उक्त हेतु से = प्रकृत वाक्यार्थ में अप्रकृत वाक्यार्थ के सामानाधिकरण्या द्वारा अभ्यारोपित किए जाने से । इसलिये दो वाक्यार्थों के सामानाधिकरण्या का निर्देश देख एक अन्य सज्जन ने शीत = शुद्ध कविन आरोप के आधार पर निष्पन्न जो वाक्यार्थरूपक माना है वह तो बहुत दूर है, कुछ लोगों [अलंकाररत्नाकरकार] ने जो इसे प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण मान रखा है वह भी बेतुका है । क्योंकि प्रतिवस्तूपमा यहाँ होती है यहाँ दो निरपेक्ष वाक्यार्थों में कोई एक शुद्ध सामान्यरूप साधारण धर्म रहना है । यहाँ इनमें से एक भी नहीं है । यहाँ दोनों वाक्यार्थ सापेक्ष हैं और धर्म भी शुद्धसामान्यरूप नहीं है । [अलंकाररत्नाकरकार ने—‘दण्डापूर्विकार्थत्यापतनमर्थापत्ति = अर्थात् जैसे यदि चूहे दण्ड को कुतर दें तो उससे उस पर टगे मालपूओं का चूहों द्वारा खाया जाना भी सिद्ध हो जाता है तो उसे अर्थापत्ति कहते हैं वैसे ही किसी एक अर्थ के सिद्ध हो जाने पर जब कोई दूसरा अर्थ सिद्ध हो जाए तो उसे भी अर्थापत्ति अलंकार कहेंगे’—इस प्रकार अर्थापत्ति का लक्षण कर उसने ४८ भेद किए थे और उदाहरण के रूप में ‘शुद्धान्तदुर्लभ’ पद्य प्रस्तुतकर लिखा था कि यहाँ शरीर के वृत्तान्त से उसी जैसी लता का वृत्तान्त लाया गया है अतः यहाँ अर्थापत्ति है । विमतिनी-कार इसका खण्डन करने हुए कहते हैं—] इस पद्य को अर्थापत्ति का उदाहरण भी नहीं माना जा सकता । [क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ द्वयगत सापेक्षता होने और शुद्ध सामान्य धर्म का प्रयोग

न होने से निदर्शना है, अथवा अर्थापत्ति एक नवीन और कल्पित अलंकार है जो अमान्य है अथवा आप जब इसमें प्रतिवस्तूपमा मानते हैं तो अर्थापत्ति कैसे मान सकते हैं।] फिर—

[उसके] दोनों पैरों ने जागते हुए [अतएव सावधान] कमल से [उसकी] श्री छीन ली इसमें है आश्चर्य, मदमत्त [अतएव असावधान] हाथों की गति चुरा लेने में उसकी कोई चढ़ाई नहीं।

—इस पद्य में [अलंकाररत्नाकरकार ने] जो प्रतिवस्तूपमा मानी है [और कहा है कि यहाँ 'ग्रहण करना' 'छीन लेना' साधारण धर्म है, उसे उत्तर वाक्य में 'स्तेय = चुराना' शब्द से कहा गया है, इधर केवल कान्ता प्रकृत है, पद्य और मत्तगज दोनों अप्रस्तुत'-दृष्टम् प्रतिवस्तूपमा-प्रकरण] वह तो बड़ से बड़तर है। यहाँ जो वाक्यार्थ हैं उनमें सादृश्य तक तो है नहीं, [अलंकार-रत्नाकरकारके] प्रतिवस्तूपमा की क्या हो क्या ? अन्य सभी अलंकारों के उदाहरणों में भी ऐसा ही असामान्य है किन्तु [ग्रन्थविस्तारभय तथा केवल अपने ऊपर दिए गए दोषों के निवारण की प्रतिज्ञा इन अभी अभी] कथित दो कारणों से उसे हम नहीं दिखला रहे हैं। जैसे एक स्थल और छीजिए—

—'जहाँ कामदेव उत्पलाक्षियों = नीलकमलसी आँसोंवाली शालाओं के मुखमण्डल का आभाकारी है जो अपने पाँचों भागों के साथ सदा सामने खड़ा रहता है, सुधा कमकरनी = चैदी है और चन्द्रमा उस [मुख-मण्डल] के अनोखे सौन्दर्य का वैतालिक है।'

—यहाँ विषय और विषयी दोनों का उपादान है अतः स्पष्ट ही यहाँ रूपकालंकार है तथापि [अलंकाररत्नाकरकार ने] इस पद्य का अतिशयोक्ति का उदाहरण माना है [और कहा है कि 'यहाँ अतिशयोक्ति कार्यकारणभावमूला है। यहाँ 'यककार्यकारित्व'-रूपी संबन्ध के आधार पर पहले कामदेव से सर्वथा असंबन्ध आभाकारित्व का कामदेव से संबन्ध हो जाता है अर्थात् असंबन्ध पर संबन्ध का अभ्यवसायबोध हो जाता है, फिर कारणरूप आभापरत्व का उसकी कार्यभूत काम-विकारोत्पत्ति से अभेद बोध हो जाता है] किन्तु यहाँ अतिशयोक्ति ही नहीं, उसके कार्य-कारणमूलकत्व की और तदर्थ इस पद्य को उदाहरणरूप से प्रस्तुत करने की तो बात ही क्या। इस प्रकार यह उदाहरण असंगत है। अब हम और अधिक उदाहरण देते बैठें यह ठीक नहीं।

'असंभववस्तुसम्बन्धमूलक निदर्शना के जिस वस्तु-संबन्ध का अभी ['अग्यात् सः'-पद्य में] संभव प्रतिपादित किया गया है उसमें कोई विशेषता प्रतिपादित नहीं की गई थी, [यहाँ प्रतिपादित वस्तुसम्बन्ध सामान्यरूप से प्रतिपादित किया गया था] तथापि [उसमें विशेषताएँ भी हूँकी जा सकती हैं—जैसे] अभी दिए उदाहरणों में जिस प्रकार एकमात्र उपमानगत धर्म का उपमेय में पहुँचना संभव प्रतिपादित किया उसी प्रकार उपमेयगत धर्म का उपमान में पहुँचना भी संभव प्रतिपादित किया जा सकता है—इस तथ्य का प्रतिपादन करने हेतु लिखते हैं—

[सर्वस्व]

इयं चोपमेय उपमानवृत्तस्यासंभवात्प्रतिपादिता पूर्वैः वस्तुतस्तूपमेय-वृत्तस्योपमानेऽसंभवाद्दिपि भवति। उभयत्रापि संबन्धविघटनस्य चिद्यमान-त्वात्। तद्यथा—

'वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा।

अलक्ष्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु ॥'

अत्र गण्डतलं प्रकृतम् । तद्धर्मस्य पाण्डिस्रः खर्जुरीरेणुष्वसंभवादौपम्य-
प्रतीतिः । एष च प्रकारः शृङ्खलान्यायेनापि भवति । यथा —

‘मुण्डसिरे वोरफलं वोरौघरि वोरअं यिरं धरसि ।
विगुग्छाअइ अप्पा णालिअछेआ छलिअन्ति ।’

[यह जो असंभवदस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना है] इसका प्रतिपादन [मग्गट आदि] प्राचीन
आचार्यों ने केवल ऐसा किया था जिसमें केवल उपमेय में उपमान के धर्म का असंभव प्रतिपादित
होता था, किन्तु सत्य यह है कि [निदर्शना की] यह [विधा] ऐसी भी होती है जिसमें
उपमेय के धर्म उपमान में असंभव प्रतिपादित रहता है, क्योंकि; सबन्ध का अभाव इन दोनों में
ही समान रूप से विद्यमान रहता है । इस [द्वितीय विधा] का उदाहरण—[जिसमें उपमेय धर्म
उपमान में असंभव प्रतिपादित रहता है, यह है—]

‘गौड देश की विद्युक्त इनिताआ के कपोलतलों की पीतिमा [वमन ऋतु में] खर्जूरमजरी
के पराग में दिखाएँ पढी ।’

—यहाँ कपोलतल प्रकृत [वर्णनीय] है [अतः उपमेय है और] उसका धर्म पीतिमा [पीलेपन
में कपोलतल के उपमानभूत] खर्जूरपराग में असंभव है अतः [वाक्यार्थ का पर्यवसान उपमानो-
पमेयभाव में होता है और अन्त में] औपम्य की प्रतीति होती है—[कि कपोलपीतिमा सद्दश-
पीतिमायुक्त खर्जूरपराग, खर्जूरपरागत न कि पीतिमा के समान पीतिमा से युक्त कपोलतल] ।

यह [उपमेय धर्म का उपमान में असंभवरूप अथवा असंभवदस्तुसम्बन्धमूलक] जो प्रकार
है यह शृङ्खला क्रम से भी होता है । यथा—

‘मुण्डशिरसि बदरफलं बदरोपरि बदर स्थिर धारयसि ।

विनिगुप्सयस्यात्मानं नागरिकच्छेकाश्छस्यन्ते ॥’

‘तुम जो चतुर नागरिकों को छलना चाह रहे हो, यह एक प्रकार से मुँडे शिर पर बैर
(बदरीफल) और उस बैर पर एक और बैर [चिराना] चाह रहे हो, अपने आपको घृणास्पद
बना रहे हो ।’

विमर्शिनी

उभयश्रेयुपमेये उपमाने वा । वसन्तवर्णनस्य प्रक्रान्तत्वाद् द्वयोः प्रकृतत्वेऽपि गण्ड-
तलस्योपमेयत्वम् । तद्गतत्वेनैव पाण्डिस्रः भिन्नाद्यधियितरत्वात् । सिद्धत्वाध्यधर्मत्वमेव
ओपमानोपमेयत्वम् । यथा वा—

‘श्वद्वयप्रलावण्यमिदं शृगाधि संलक्षयते परशुरपि अयायाः ।

कथं त्वनेनाहृतमेतदद्य कल्पवतां वा किमसाध्यमस्ति ॥’

अत्र चादुषु नायिकायाः प्रस्तुतत्वाद्द्वयमुपमेयम् । तद्धर्मस्य च लावण्यस्योपमाने
शान्दिसंभवः । एष ह्यति असंभवदस्तुसंबन्धनिबन्धनो वा वाच्यः ।

उभयत्र = दोनों में = उपमेय में और उपमान में । [वियोगेषु ध्व में] वसन्त का वर्णन किया
जा रहा है अतः उसमें दोनों ही प्रकृत हैं [वियोगिनीकपोल की और खर्जूरमजरी की] तथापि
उपमेय है कपोलतल ही, क्योंकि पीतिमा उसी के भीतर सिद्ध करना अर्थात् है, क्योंकि सिद्ध
धर्मवाला ही पदार्थ उपमान बनना है और साध्य धर्मवाला उपमेय । अथवा दूसरा उदाहरण लीजिए—

‘हे शृगाधि ! तुम्हारे चेहरे की उनारं चन्द्र में भी दिखाएँ दे रही है । इसने इतने कैने हड़पा
होगा ? अथवा जो कलावान् होते हैं उनके लिए असाध्य ही क्या रहता है ।’

—यहां नायक नायिका का चाहू कर रहा है अतः यहां नायिका का चेहरा प्रस्तुत है और इसीलिए उपमेय भी । उसका जो लावण्यरूपी धर्म है उसका चन्द्रमा में असंभव है ।

'पृथ = वह' = प्रकार [संगम है], इसका दूसरा अर्थ असंभवद्वस्तु संबन्धमूलक निदर्शना भी किया जा सकता है ।

[सर्वस्व]

इयमपि क्वचिन्मालयापि भवन्ती दृश्यते । यथा—

'अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्धर्तितं

स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्णितम् ।

श्वपुच्छमचनामितं यधिरकर्णजापः कृतः

धृतोऽन्धमुखदर्पणो यद्वुधो जनः सेवितः ॥'

क्वचित्पुनर्निपेधसामर्थ्यादाक्षिप्तायाः प्राप्तेः संवन्धानुपपत्त्यापि भवति ।

यथा—

'उत्कोपे त्वयि किञ्चिदेव चलति द्वाग्गूर्जरक्षमाभृता

मुक्ता भूर्न परं भयान्मरुज्जुवां यावत्तदेणीदृशाम् ।

पद्भ्यां हंसगतिर्मुखेन शशिनः कान्तिः कुचाभ्यामपि

क्षामाभ्यां सहसैव बन्धकरिणां गण्डस्थलीविभ्रमः ॥'

अत्र मुक्तेति निषेधपदं तदन्यथानुपपत्त्या पादयोर्हंसगतिप्राप्तिराक्षिप्यते । सा च तयोरनुपपत्त्या सादृश्यं गमयतीति असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धना निदर्शना ।

यह [निदर्शना सामान्य] कहीं आकार में भी मिलती है । यथा—

'मूर्ख व्यक्ति की चाकरी जो कि वह निर्जन जंगल में रोया गया, मृत शरीर में उबटन लगाया गया, मिट्टी पत्थर पर कमल रोपा गया, काफ़ी देर तक ऊपर में बरसा गया, कुत्ते की पूंछ सीधी की गई, बहिरों के कान में बप किया गया और [दोनों ओरों के] अन्ये के सामने दर्पण रखा गया ।

[निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है इस कारण] कहीं-कहीं निषेध से आक्षिप्त प्राप्ति का संबन्ध बनने से भी [यह निदर्शना] होती है । यथा—

आपके क्रुद्ध होकर [युद्धार्थ] शीटे से चलते ही भय से सुन्दर के राजा ने पृथिवी ही नहीं छोड़ी, अपितु महस्थल में मद्यकती उसकी लुन्दरियों के पैरो ने हंसगति, मुखों ने चन्द्रकान्ति, दुर्वल स्तनों ने जंगली हाथियों के गण्डस्थली का विभ्रम भी एकाएक छोड़ दिया ।

—यहाँ 'मुक्ता = जोड़ दिया' यह निषेधवाचक पद पहिले पैरों द्वारा हंसगति की प्राप्ति करने का आक्षेप करता है, क्योंकि बिना उस [प्राप्ति] के वह निषेध बनता ही नहीं है । और वह [हंस गति की] ठन [पैरों] में संगम नहीं है अतः 'उस जैसी गति' का ज्ञान कराती है । इसीलिए यहाँ असंभवद्वस्तुसंबन्धमूला निदर्शना हुई ।

विमर्शिनी

आक्षिप्ताया इति । प्राप्तिपूर्वकत्वाविषेधस्य । सेति प्राप्तिः । सादृश्यमिति पादयोर्हंसगति-सुख्याया गतेः प्रतीतेः ।

इयं च सामान्यस्यानुगामितया । यथा—अभ्यास व इत्यादि । अत्र निसर्गवक्रता-
व्यधर्मस्यानुगामित्वम् । शुद्धसामान्यरूपत्वेन यथा—

हारेणामलकस्थूलमुक्तेनामुक्तकुन्तलः ।

फणीन्द्रबद्धजूटस्य श्रियमाप स धूर्जटे ॥

अत्रामुक्तवद्योः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विम्बप्रतिविम्बभावेन यथा—

‘उह सरसदन्तमण्डकपोलपडिमागतो मञ्जरीह ।

अन्ते सिन्दूरिअसत्पवत्तकरणि बद्ध चदो ॥’

अत्र दन्तमण्डलमिन्दूरितत्वयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः ।

‘आक्षिप्तायाः = आक्षिप्त’ इसलिए कि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है । ‘मा = वह’ = प्राप्ति ।

‘सादृश्यम्’ = क्योंकि पैरों में इसगति तुल्य गति की प्रतीति होती है ।

यह [निदर्शना] साधारण धर्म के अनुगामी होने पर भी होती है यथा—‘अव्याद स व’
इत्यादि में । यहाँ ‘निसर्गवक्रता’—नामक धर्म अनुगामी है । इसमें धर्म कहीं शुद्धसामान्यस्वरूप
भी होता है । यथा—

—‘अँवले जैसे स्थूल भौतियों के द्वार से उसके केश कमे हुए थे । अग वह भगवान् शिव की
शोभा प्राप्त कर रहा था जिनका जटाजूट शेषनाभ [जो अपने घबल वर्ण के लिए प्रसिद्ध हैं] से
बैधा रहता है ।

यहाँ ‘आमुक्तत्व’ और ‘आवद्धत्व’ दोनों शुद्ध सामान्यरूप हैं ।

विम्बप्रतिविम्बभावमूलक, यथा—

‘पद्म सरसदन्तमण्डकपोलप्रतिमागतो मृगास्वा’ ।

अन्ते सिन्दूरितच्छावत्तकरणी [क्रिया] बद्धि चन्द्र ॥’

—इसो, [पान्थूलरस से] सरस दन्तमण्डल [ऊपर नीचे की दोनों पक्ष] वाले कपोलों पर
प्रतिबिम्बित यह चन्द्रमा नीचे [मुखमाग में] सिन्दूर से रंगे हुए शय के आवर्त्त [अजलि,
कदौरी पीठे समय जिसमें पानी भरा जाता है, या जिसमें कँगलियों के अग्रपर्व फैलाकर शल
को पकवा जाता है और यदि यह शंख के दाहिनी ओर होना है तो शल को दक्षिणावर्त्त कहा
जाना है, सामान्यतः यह शल के बाँई ओर ही होता । वस्तुतः केले कुण्डलित पत्ते जैसी एक परत
होती है जो भीतर ही भीतर कुण्डलित होती जाती है इसलिए इसे आवर्त्त = भँर कहा जाना है ।]
की करनी [क्रिया] धारण कर रहा है ।’

यहाँ ‘दन्तमण्डल’ और ‘सिन्दूरितत्व’ इन दोनों में विम्बप्रतिविम्बभाव है ।’

विमर्श—निदर्शना का पूर्ण इतिहास—

नामहः = ‘क्रियदैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात् ।

शेषा निदर्शना नाम यथेववतिविदिना ॥ ३।३३ ॥

यथा = अर्थ मन्दप्रतिर्भास्वानस्तं प्रति यियामति ।

उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान् ॥ ३।३४ ॥

—‘निदर्शना इत्यदि कहलाती है कि इसमें क्रिया के द्वारा ही विशिष्ट अर्थ प्रदर्शित किया
जाता है और यथा, इव, वति आदि उपमावाचकों का प्रयोग नहीं रहता ।’

यथा = ‘यह प्रकाशराशि सूर्य तैजोहीन होकर अस्त की ओर चाना चाह रहा है, शीमान्
छोगों को यह बतलाना हुआ सा कि ‘उदय का अन्न पतन होना है ।’

, १५४ है कि नामह में समवद्वरत्तुसंख्या निदर्शना का ही निरूपण हुआ है । इन्हीं के अनुकरण
पर वामन भी केवल निदर्शना का निरूपण करते हैं—

वामन = '[सू०] क्रिययैव स्वतदर्शान्वयख्यापनं निदर्शनम् ।'

[वृ०] क्रिययैव शुद्धया स्वस्थात्मनः तदर्धस्य चान्वयस्य संबन्धस्य ख्यापनम्, संतुलित— हेतुदृष्टान्तविभागदर्शनात् निदर्शनम् ।

[सू०] स्वयं और उसके प्रयोजन के अन्वय का कथन ही निदर्शन ।

[वृ०] 'शुद्ध [अन्य निरपेक्ष] क्रिया के द्वारा अपना और अपने प्रयोजन के संबन्ध का प्रतिपादन निदर्शना कहलाता है, क्योंकि इसमें हेतु और दृष्टान्त का अन्तर तिरोहित रहता है ।'

उदाहरण—'अत्युच्चपदाध्यासः पतनावेत्यर्थशालिनां संसद ।

आपाप्सु पतति पत्रं सरोरिदं बन्धनग्रन्थे ॥'

—'दृष्ट का यह पीला पत्ता श्रीमन्त लोगों से यह कहता हुआ बन्धनग्रन्थि से गिर रहा है कि अत्यन्त ऊँचे पद पर पहुँच जाना पतनकारी ही होता है ।'

—यहाँ 'गिर रहा है'—यह क्रिया है, उसका प्रयोजन है 'अति उच्च पद पर पहुँचना पतनकारी होता है' यह, और इसका कथन हुआ है 'श्रीमन्त लोगों से कहता हुआ' इस प्रकार ।

उद्भट्टः—उद्भटाचार्यने निदर्शना को विदर्शना कह नाम में भी परिवर्तन कर दिया है और लक्षण में भी इस प्रकार परिष्कार किया है—

'अमवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।

उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ॥ ५।१० ॥

उदाहरण—विनोचितेन यस्या च रूपवाचपि कामिनी ।

विधुबन्धविभावर्थाः प्रविर्भक्त विशोभतान् ॥

—असंभव या संभव वस्तुसंबन्ध जहाँ उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराए उसे विदर्शना कहा जाता है ।

विदर्शना शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—'वि = विशिष्ट अर्थ = उपमानोपमेयभाव, उसका दर्शन = प्रतिपादन = उससे युक्त 'विदर्शना' । निदर्शन शब्द उपमा से कुछ दूर हो दृष्टान्तपरक हो जाता है ।

उदाहरण 'उचित पति के बिना कोई भी सुन्दरी चन्द्रवीन रात्रि की शोभाशून्यता धारण करती है ।'

इस उदाहरण में रात्रि की शोभाशून्यता का सुन्दरी से संबन्ध संभव नहीं होता अतः इसका अर्थ तत्तुल्य अन्य शोभाशून्यता में परिणत हो जाता है । इस प्रकार यह उदाहरण असंभववस्तु—संबन्धमूला निदर्शना का है ।

द्वितीय का उदाहरण उद्भट्ट ने नहीं दिया । अतः उद्भट्ट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका लघुविवृति के रचयिता प्रतीहारेन्दुराज ने अपनी ओर से भाग्य का 'अयं मन्दधृति' पद्य उद्धृत कर उसका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

—'यहाँ उदित होकर अस्त होता सूर्य प्रयोजककर्ता है और प्रयोज्यकर्ता है उदयशाली श्रीमन्त जन । सूर्य उन्हें यह बोध करा रहा है कि 'उदय का अन्त पतन होता है' इसलिए इस 'बोधन'-क्रिया में वह हेतु है । किन्तु सूर्य जड़ है अतः उसमें प्रयोजक-हेतुत्व केवल 'बोध में समर्थ आचरण करने' तक सीमित है जैसे [ठंड में आग जलाकर पढ़ते छात्र को—] 'कारीष = कानों की अग्नि अध्ययन करवा रही है' इस उक्ति में । इस प्रकार श्रीमन्तों और सूर्य के बीच वह जो प्रयोज्यप्रयोजक-भाव है यह वस्तुतः संभव नहीं होता । फलतः यह उपमानोपमेयभाव का आक्षेप कराता है, अर्थात्, इस प्रयोज्यप्रयोजकभाव का पर्यवसान 'हे श्रीमन्त सज्जनों ! जिस प्रकार मेरा उदय पतन में

परिणत हो रहा है उसी प्रकार आप का भी उदय पतन में परिणत होगा—येमा आप लोग समझ लें। इस प्रकार के उपमानोपमेयभाव में होता है।

यहाँ 'समर्थावरण' शब्द का प्रयोग स्वयं अलङ्कारसर्वस्वकार, प्रनीशारेन्दुराज, विमर्दिनीकार रत्नाकरकार, अप्ययदीक्षित तथा पण्डितराज—इन सबने किया है किन्तु इसका अर्थ कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ तत्त्वद तो बड़ी ही सफाई के साथ संक्षेप में इस प्रकार किया है—'समर्थावरणे समर्थकरणे सामर्थ्योत्पादन इति यावत् भावप्राधान्यात्' समर्थावरण अर्थात् समर्थ बनाना अर्थात् सामर्थ्य उत्पन्न करना। इस प्रकार प्रयोजकका मूले ही बह हो वह चेतन के भीतर होने वाली शान्तीपत्ति में आलम्बन तो बन ही सकता है। जड़ की यह आलम्बनता न्यायशास्त्र की भाषा में विषय का हान के प्रति कारण होना माना जा सकता है। व्याकरण की भाषा में हमें ही शान्तीपत्त्यनुकूलता कहा जा सकता है। और यह तो जड़ में समभव ही है। प्रस्तुत पदार्थ में सूर्य मूले ही जड़ है, वह श्रीमान् व्यक्ति अर्थात् चैतन्य व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले 'उदय पतन में बदलता है'—इस ज्ञान के प्रति सहायक तो हो ही सकता है। यही सहायकता उसकी प्रयोजकता है और वह सूर्य में भगव ही है। 'चूडामणिपदे०' इस सम्बन्धकार के उदाहरण में इसी प्रकार यह प्रयोजकता पर्वत में सम्भव है। वस्तुतः यह भी एक औपचारिक प्रयोजकता ही है वास्तविक नहीं। इसीलिए रसगगाधरकार ने यहाँ न्यायशास्त्र के अनुसार शब्ध्य उदाहरण स्वीकार की है। सत्य यह है कि इस निदर्शना का ठीक निरूपण वामन ने ही किया है। वस्तुसम्बन्ध के समभव होने की बात बाल्कर उद्धृत ने उनमें एक विचार—सुर्ष पैदा कर दिया।

उदाह. = उदाह. के काव्यालङ्कार में निदर्शना नहीं मिलती।

सम्बन्ध = 'अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पक।

स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च सापरा ॥

—वस्तु सम्बन्ध न समभव होकर यदि उपमा की कल्पना कराए तो निदर्शना, अथवा कोई कार्य स्वयं का स्वयं के कारण के साथ सम्बन्ध बनलाना हुआ प्रतिपादित हो तो निदर्शना।

सम्बन्ध ने प्रथम के दो उदाहरण दिए हैं—उनमें से प्रथम की अभिव्यक्ति सर्वस्वकार के 'त्वत्पादनस्य०' और 'शुक्रान्तदुर्लभ०' की अभिव्यक्ति से और दूसरे की अभिव्यक्ति अग्न्याय सत्रो' की अभिव्यक्ति से संबंध मिलती है। द्वितीय निदर्शना का उदाहरण उन्होंने ठीक वैसा ही दिया है जैसा—सर्वस्वकार ने 'चूडामणिपदे०'। किन्तु विशेषता यह है कि काव्यप्रकाशकार ने इस भेद में वस्तुसम्बन्ध के समभव होने की बात नहीं कही है।

श्रीभास्कर = अलङ्काररत्नाकरकार ने भी निदर्शनालक्षण में वस्तुसम्बन्ध के समभव होने की बात छोड़ दी है—

[सूत्र] 'असति सम्बन्धे निदर्शना ॥ ८ ॥

[वृ०] असति अर्भवनि सम्बन्धे आर्षमौपम्यं निदर्शना।

—सम्बन्ध समभव न हो तो निदर्शना होनी है यदि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति अर्थनः हो। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

'सम्बन्धार्थे सति लक्ष्यगानो यत्रोपमाया' प्रतिपात्तरस्ति।

निदर्शना तत्र यदा तु किञ्चिद् वस्त्वं लक्ष्येन तदा परे स्यु ॥'

—जहाँ सम्बन्ध का वाध ही जाने पर लक्ष्य का द्वारा उपमा का ज्ञान हो वहाँ निदर्शना, और जहाँ किसी वस्तु का ही लक्ष्य द्वारा ज्ञान हो वहाँ दूसरे अलङ्कार होते हैं।

उदाहरण के रूप में उन्होंने 'अशिव शिव की महिमा धारण करता है'—यह वाक्यार्थ प्रस्तुत किया है।

संभवद्वत्सुसम्बन्धमूला निदर्शना तो अलंकाररत्नाकरकार ने मानी नहीं है तथापि उन्होंने उसके उदाहरण देने की असफल और असफल चेष्टा की है।

'त्वत्पादनखरत्नानाम्' पद्य में रत्नाकरकार ने वाक्यार्थरूपक मानते हुए कहा है कि 'नखों को अलते से लाल करना चन्द्रमा को सफेद चन्दन से सफेद करना है' यहाँ प्रथम वाक्यार्थ पर द्वितीय वाक्यार्थ का आरोप उसी प्रकार है जिस प्रकार 'सुख चन्द्र है'—यहाँ प्रथम पदार्थ पर द्वितीय पदार्थ का। रूपक से निदर्शना का विषयभेद बतलाने हुए उन्होंने लिखा है कि 'जहाँ आरोप धीत = शब्दतः कथित नहीं हो और अर्थ संबन्ध न बनता हो वहाँ निदर्शना होती है और जहाँ ऐसा न हो वहाँ रूपक होता है। अलंकाररत्नाकर के इस प्रतिपादन का पण्डितराज ने अनुकरण किया है। और अलंकाररत्नाकर की ही पदावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने इस उदाहरण में रूपक ही माना है। निदर्शना मानने के लिए इस पद्य में उन्होंने इस प्रकार परिवर्तन आवश्यक बतलाया है—

'त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।

इत्सुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥'

—जो तुम्हारे पैर के नखों को अलते से रंगता है वह चन्द्रमा को चन्दन के लेप द्वारा सफेद करता है। यहाँ 'यत् इदम्' इस प्रकार उद्देश्यविषय वाक्यार्थों को अभिन्न बतलाने वाले सर्वनामपदों का प्रयोग नहीं है। पण्डितराज ने रूपक और निदर्शना में अन्तर भेद के उद्देश्य-विषयभाव पर निर्भर माना है। रूपक में वह उद्देश्यविषयभाव से युक्त रहता है और निदर्शना में नहीं। दोनों के उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट भी है।

अप्ययद्वीक्षित = अप्ययदोक्षित की चित्रमीमांसा में निदर्शना नहीं है किन्तु इसका निरूपण उन्होंने कुवलयानन्द में वही ही सफाई से इस प्रकार किया है—

'वाक्यार्थयोः सदृशवोरैक्यारोपो निदर्शना।

या दातुः सौम्यता तेषां पूर्णेन्द्रोक्तकता ॥

—दो सदृशवाक्यार्थों में ऐक्य का आरोप निदर्शना होती है। यथा 'द्राता की जो सौम्यता है वह पूर्णन्दु की अकलंकता है 'जो'-'वह'—इन दो सर्वनामों से यहाँ दो वाक्यार्थों में ऐक्य बतला जा रहा है [रत्नाकरकार के अनुसार यह रूपक है, अतः दोक्षितजो ने उदाहरण के रूप में सर्वस्वकारद्वारा उद्धृत 'अरण्यरहितं कृतम्' पद्य भी प्रस्तुत किया है]।

पदार्थनिदर्शना के सर्वस्वकारद्वारा प्रतिपादित दोनों भेद भी उन्होंने बतलाए हैं। उपमान-धर्म के उपमेय में संबन्ध के लिए 'त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजममनोः' = तुम्हारे नेत्र नील-कमल की शोभा धारण करते हैं—यह उदाहरण और 'उपमेवधर्म' के उपमान में संबन्ध के लिए सर्वस्वकार द्वारा प्रदत्त 'नियोगे गीड०' पद्य ही प्रस्तुत किया है। इस द्वितीय उदाहरण में उन्होंने पदार्थनिदर्शना ही मानी है, सर्वस्वकार के अनुसार वाक्यार्थ निदर्शना नहीं, और वाक्यार्थ निदर्शना से पदार्थ निदर्शना का भेद यह कहते हुए किया है कि जहाँ उपमानोपमेय में से एक के धर्म का दूसरे में आरोप हो वहाँ पदार्थनिदर्शना तथा जहाँ दोनों के धर्मों में से एक धर्म का दूसरे पर आरोप हो वहाँ वाक्यार्थनिदर्शना माननी चाहिए।

तीसरी 'संभवद्वत्सुसम्बन्धा' नाम से सर्वस्वकारद्वारा प्रतिपादित निदर्शना को कुवल्या-नन्दकार ने 'दोषवनिदर्शना' नाम दिया है।

'अपरां बोधनं प्राहुः क्रियया सदसद्वयोः।'

क्रिया के द्वारा अच्छे या बुरे अर्थ का बोधन तीमरी निदर्शना । उदाहरण के रूप में अन्य उदाहरणों के अतिरिक्त 'बूढामणिवदे०' पद्य भी दिया है । इसके स्पष्टीकरण में उन्होंने लिखा है—

'बोधयन् गृहमेधिन' इत्यादी हि 'कारीषोऽग्निरध्यापयती'तिवत् समर्थाचरणे चिन्त. प्रयोगः । ततश्च यथा कारीषोऽग्नि. शीतापनयनेन बहून् अध्ययनसमर्थान् करोषि एव वर्ण्यमान. पर्वत. स्वय-मुपमानभावेन गृहमेधिन उक्तबोधनसमर्थान् कर्तुं क्षमते ।'

—'बोधयन्' = बनलाना हुआ इत्यादि स्थलों में 'णिव्' = प्रयोजक प्रत्यय का प्रयोग ठीक उमी प्रकार समर्थाचरण अर्थ में है जिस प्रकार 'कण्ठों की आग पढवा रही है' इत्यादि प्रयोगों में । जैसे फटे की आग ठह दूर कर बटुओं को अध्ययनसमर्थ बनाती है वैसे ही पर्वत स्वय उपमान बनकर गृहस्थों को आतिथ्य के उक्त बोध में समर्थ करने में सक्षम है ।

चन्द्रिकाकार ने समर्थाचरण का अर्थ 'समर्थ करना' किया है जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है ।

अप्यव्यदीक्षित ने 'सम्भवद्वस्तुसम्बन्ध' और 'असम्भवद्वस्तुसम्बन्ध' नामों से निदर्शना का वर्गीकरण नहीं किया । केवल अन्त में अर्थों के नाम से इनका निर्देशमात्र कर दिया है ।

पण्डितराज जगन्नाथ—

सामान्य = 'विश्वप्रतिविम्बभावानापन्नयोरुपात्तयोररर्थयोरारम्भेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना ।'

विशिष्ट (१) स्ववहारद्वयवक्ष्यभेदप्रतिपादनाक्षितो स्ववहारद्वयभेदो वाक्यार्थनिदर्शना ।
[ललितालंकारप्रकरणे] ।

(२) उपमानोपमेयधर्मयोरभेदाध्यवसायमूल उपमेय उपमानधर्मसम्बन्ध. पदार्थनिदर्शना ।
[ललितालंकारप्रकरणे]

—'विश्वप्रतिविम्बभाव से रहित और शब्दतः कथित अर्थों का सादृश्य में पर्यवसित होने वाला अभेद निदर्शना कहलाता है ।' अत्रापि—

—'दो स्ववहारों से युक्त दो स्ववहारियों का अभेद बतलाने से स्ववहारों का जो अभेद फलित होता है वह वाक्यार्थनिदर्शना कहलाता है' और—

—'उपमान तथा उपमेय के धर्मों के अभेदाध्यवसाय के आधार पर उपमेय में उपमान के धर्म का सम्बन्ध पदार्थ निदर्शना ।'

इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज ने उपमान में उपमेय के धर्म का संबन्ध स्वीकार नहीं किया है फलतः उनके मंत्र में 'वियोगे गौड०' पद्य में सर्वस्वकारद्वारा दर्शित यह प्रकार अमान्य है ।

पण्डितराज ने अलङ्कारसर्वस्वकार के निदर्शनालक्षण को अपूर्ण ठहराते हुए कहा है कि वह रूपक तथा अतिशयोक्ति में भी लागू हो जाता है । 'मुख बन्द है' इत्यादि रूपक में औपम्य गम्यमान है ही और मुख को केवल 'बन्द' कहने से निश्चय अतिशयोक्ति में भी दोनों का उपमानोपमेयभाव गम्य रहता है । स्वयं पण्डितराज ने 'उपात्तत्वं' तथा आर्थत्व का निवेशकर अतिशयोक्ति तथा रूपक से इन्हे पृथक् करने का प्रयत्न किया है । अतिशयोक्ति में विषय उपात्त नहीं रहता जबकि निदर्शना में रहता है । पदार्थनिदर्शना में भी वे एक 'शोभा' आदि शब्द का उपमान तथा उपमेय दोनों की शोभा का वाचक मानने हैं क्योंकि 'शोभात्व' धर्म उन दोनों में एक ही रहता है । रूपक में दोनों ही अर्थ उपात्त रहते हैं और अभेद भी रहता है किन्तु वह अभेद वाक्यार्थ की प्राथमिक प्रतीति में ही मासित हो जाता है जब कि निदर्शना में पहले दोनों वाक्यों अथवा पदों से अपने स्वतन्त्र अर्थ निकलते हैं, फिर असम्बद्धता हटाने के लिए उन में अभेद

लाया जाता है अतः वह बाद में प्रतीत होता है। रूपक और अतिशयोक्ति से निदर्शना का दूसरा भेदक अभेदगत अन्य वैशिष्ट्य भी है। रूपक तथा अतिशयोक्ति में उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होता है जब कि निदर्शना में किसी एक का किसी दूसरे में अर्थात् दोनों का परस्पर में अभेद।

—'किं चास्याः शरीरं तादृशपदार्थयोः परस्पराभेदमात्रम् उभयत्र विश्रान्तम्, रूपकस्य तु उपमेयगत उपमानाभेदः अतिशयोक्तेश्च ।' [नि० सं० पृ० ४६०]

शिवेश्वर पण्डित ने निदर्शना का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट किया है—

[का०] उपमापर्यवसन्नो यत्रार्थोऽन्योन्यमन्वयानर्हः ।

यच्च क्रियया कारणकार्यान्वयधीनिदर्शना सौक्ता ॥

[वृ०] (१) यत्र पदार्थयोर्वाक्यार्थयोर्वा अन्योन्यमेतवान्वयतयान्वयनोपाजनक्रयोरुपमानोपमेयभावं कल्पयित्वैवान्वयवोधपर्यवसानं सा निदर्शना ।

(२) यत्र च कार्यकारणयोः क्रियया हेतुहेतुमद्भावे प्रतिपादिते उत्तरवाक्यार्थः पूर्ववाक्यार्थं प्रतिपाद्य सामान्यकार्यकारणभावे दृष्टान्ततया पर्यवस्यति सा द्वितीया निदर्शना ।

—जहाँ परस्पर में अर्थ परस्पर में अन्वययोग्य न होने से उपमानोपमेय रूप ठहरते हैं वह, और जहाँ क्रिया द्वारा कारण तथा उसके कार्य का सम्बन्ध ज्ञात हो वह निदर्शना। प्रथम निदर्शना का स्पष्ट रूप होगा—

—जहाँ विभिन्न पदार्थ या विभिन्न वाक्यार्थ अपने आप अपना बोध परस्पर में मिलित रूप से न करा रहे हों फलतः जहाँ उनका वैसा ज्ञान उनमें उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने से बन पाता हो वह एक प्रकार की निदर्शना होगी।

—द्वितीय निदर्शना वह होगी जिसमें पूर्ववाक्यार्थ में क्रिया द्वारा प्रतिपादित सामान्य कार्यकारणभाव के लिए उत्तरवाक्यार्थ [में प्रतिपादित कोई विशिष्ट कार्यकारणभाव] दृष्टान्त बने।

द्वितीय निदर्शना के उदाहरण के रूप में इन्होंने मम्मटभट्ट द्वारा प्रदत्त और—

'उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्लघुवैव स पतेदिति भ्रुवम् ।

शैलशेखरगतो वृषत्कण्ड्वारुमारुतप्रुतः पतत्पथः ॥'

—जो भ्रुव हो और उन्नत पद या जाय तो यह निश्चित है कि वह गिरता ही है।

पर्वत की चोटी पर रखी कंकरी हवा के हलके झोके से भी नीचे जा पड़ती है।

शिवेश्वर ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'अत्र लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिस्त्वं कारणतावच्छेदकम् । पतनं कार्यतावच्छेदकम्' इति कार्यकारणभावः पूर्वार्थप्रतिपाद्यः । तत्र दृष्टान्ततयोत्तरार्थोपादानम् । तत्र 'लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिः पातहेतुः, यथा वृषत्कणस्येति दृष्टान्तपर्यवसानाभिदर्शनात्वम् ।'

—इस पदार्थ में 'जो जो भ्रुव होते हुए उन्नत पद पाता है वह प्रत्येक गिरता है' इस प्रकार पूर्वार्थ के द्वारा 'भ्रुवता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति' कारण रूप से प्रस्तुत की गई है और 'पतन' कार्यरूप से। इस कार्यकारणभाव में उत्तरार्थ का वाक्यार्थ दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया गया है। इसलिये पूर्ववाक्यार्थ—'भ्रुवता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति पतन का कारण होती है जैसे वृषत्कण = कंकरी की' [भ्रुवता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति] इस प्रकार दृष्टान्त में परिणत होता है अतः यहाँ निदर्शना है।

मम्मट ने इस पद्य में 'भ्रुवम्' के स्थान पर 'भ्रुवन्' पाठ माना था जो पूर्व आचार्यों की परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक था। वामनाचार्य ने क्रिया के द्वारा कार्यकारणभाव के 'ख्यापन' को आवश्यक बतलाया था। मम्मट ने भी उस 'ख्यापन' के लिए अपने लक्षण में

‘उक्ति’ शब्द दिया है। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों के ‘अन्वय’-शब्द को भी उन्होंने अपनाया है। ‘भ्रुवन्’ पाठ होने पर पतन क्रिया का कर्ता वृषत्कण ‘सुदृता के साथ उगनपदप्राप्ति पतनकारक होनी है’ यह तथ्य कहता हुआ चित्रित होता है अतः वहाँ ख्यापन की अभिसन्धि पूर्ण होती है। पण्डितराज यहाँ ‘भ्रुवन्’ पाठ है ऐसा भ्रमवश समझ बैठे हैं। ‘भ्रुवन्’ पाठ होने पर जट वृषत्कण में पूर्वोक्त ‘समर्थांतरण’ की कठिनार्थ उपस्थित होती। धारणामात्र पर हुए इस गंभीर पाठभेद पर विद्वेदवर पण्डित और रमगणपर के नागेश, मञ्जुनाथ तथा पुरुषोत्तमशर्मा-रत्न टीकाकारों का भी ध्यान नहीं गया है। आश्चर्य की बात यह है कुल्लयानन्द में ‘भ्रुवन्’ पाठ ही है और उसका अर्थ ‘बोधयन्’ भी किया गया है। पण्डितराज का उमर भी ध्यान नहीं है। अथवा उन्होंने यह पाठ अपनी ओर से स्वयं गढ़ लिया होगा। निदर्शना का अर्थान्तरन्यास से भेद समर्थसमर्थक वाक्यार्थों के धर्म में रहने वाले भेद और भेद को लेकर होता है। निदर्शन में भेद रहना है और अर्थान्तर-नाम में भेद। इसी तथ्य को विद्वेदवर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—‘समर्थनोयवाक्यार्थप्रतिपाद्यकारणमावान्तर्गणकार्यतावच्छेदककारणतावच्छेदकधर्माभिन्नरे निदर्शना, भेदे स्वार्थान्तरन्यासः।’

निदर्शना का दृष्टान्त से भेद है इनके वाक्यार्थों में स्वसिद्धि के लिए अन्योन्यनिरपेक्षता तथा सापेक्षता को लेकर। दृष्टान्त में पूर्ववाक्यार्थ उत्तर वाक्यार्थ के बिना भी सिद्ध रहता है जबकि निदर्शना में पूर्ववाक्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए उत्तर वाक्यार्थ की अपेक्षा रखता है। विद्वेदवर पण्डित ने इसे भी इस प्रकार स्पष्ट किया है ‘पूर्ववाक्यार्थप्रतिपाद्यकारणमावे उत्तरवाक्यार्थप्रतिपाद्यकारणमावस्य यत्र साहकार्य तत्र निदर्शना। ‘दयि दृष्ट’ इत्यादी [दृष्टान्तस्थले] तु उत्तरार्थीयकार्यकारणमावो न पूर्वार्थीयकार्यकारणमावस्य आहत्य साहक-।’ [निदर्शना प्रकरण]। इसी प्रकार—

(२) यत्र पूर्वकार्यकारणमावे साक्षादेवोत्तरकार्यकारणमावोऽनुकूलतत्र निदर्शना, यत्र तु पूर्वकार्यकारणमावसाहक एवोत्तरकार्यकारणमावोऽनुकूलतत्र दृष्टान्त-।’ [निदर्शनाप्रकरण]।

सत्रीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने इस अलंकार पर हुए अलंकारसर्वस्वकार के विवेचन को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

‘समवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्बन्ध वाऽवबोधयेत् ।

प्रतिबिम्ब यदि तदा निर्णयित्वा निदर्शना ॥

बिम्बानुबिम्बार्थगया वाक्यबो प्रकृतान्पयो ।

स्वान्तरपेक्ष्ये दृष्टान्तः सापेक्षत्वे निदर्शना ॥’

—समव अथवा असमव वस्तुसम्बन्ध यदि प्रतिबिम्ब का बोधन कराए तो निदर्शना होना है।

—प्रकृत और अप्रकृत वाक्य में बिम्बप्रतिबिम्बता हो और दोनों निरपेक्ष हों तो दृष्टान्त, किन्तु यदि सापेक्ष हो तो निदर्शना।

वस्तुतः निदर्शना और दृष्टान्त दोनों का भेदक तत्त्व साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। दृष्टान्त में चमत्कार का अस्तित्व उसी पर निर्भर रहता है जब कि निदर्शना में असम्बद्ध वाक्यार्थों के अर्थ उपमानोपमेयभाव में। अर्थ यह कि निदर्शना में चमत्कृति फलान्धिन है और दृष्टान्त में कलाप्रिय।

ललितालङ्कार—

अप्यप्यदीक्षित ने कुल्लयानन्द में ललितालंकार नामक एक नवीन अलंकार की उद्भावना की है। इसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—‘वर्ण्ये स्वाद् वर्ण्यदृष्टान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्’

ललितम् ।'— अर्थात् वर्णनीय = प्रस्तुत पदार्थ के वृत्तान्त = धर्म का वर्णन न कर उस वृत्तान्त के प्रतिविम्बभूत किसी वृत्तान्त का वर्णन करना ललित कहलाता है। अलंकारकौस्तुभ में यही लक्षण इस प्रकार उद्धृत है—'प्रस्तुते वर्ण्यवृत्तान्ते प्रतिविम्बव्य वर्णनम् ।' अधिक उपयुक्त यही पाठ है। उदाहरण दिया है—'निर्गते नौरे सेतुमेषा चिकीर्षति'—'पानी निकल जाने पर यह बौध बनाना चाह रही है।' यह किसी एक ऐसी सखी के प्रति किसी सखी की उक्ति है जिसका प्रिय आकर लौट गया हो और उसके बाद वह उसे पाने का यत्न कर रही हो। इस उक्ति में नायिका के व्यापार का नहीं अपितु उस जैसे गत-बल-सेतु-बन्धरूपा व्यापार का वर्णन है। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है क्योंकि इसमें प्रस्तुत पदार्थ = नायिका का ही वर्णन है। समासोक्ति भी नहीं क्योंकि इसमें प्रस्तुत व्यवहार ही कथित होता है। निदर्शना भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के धर्म शब्दतः कथित रहते हैं और उनमें ऐक्य फलित होता है। इस प्रकार मन्मत का 'क सूर्यप्रमवो०' यह निदर्शना का उदाहरण ललित का उदाहरण सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें 'मैं तुच्छ मति से सूर्यवंश का वर्णन करना चाहता हूँ। इस प्रस्तुतवृत्तान्त का उल्लेख नहीं है। उल्लेख केवल उस जैसे 'होगे से समुद्र को पार कराने' का है।

अप्ययदीक्षित के अनुकरण पर पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ललितालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—'प्रकृतभिर्मिभि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसंबन्धो ललितालंकारः ।

—प्रकृत धर्मों में प्रकृत व्यवहार का उल्लेख न कर उसमें अप्रकृत व्यवहार के संबन्ध का निरूपण ललित अलंकार' ।

यह सत्य है कि ललित के स्थलों में निदर्शना के स्थलों के समान प्रकृत व्यवहार का उल्लेख नहीं रहता तथापि उपमा में जैसे ह्युपमेया वर्ग के अन्तर्गत किसी किसी धर्म का असाध रहता है तब भी उसे उपमा से भिन्न नहीं कहा जाता क्योंकि वहाँ सब भेदों में चमत्कार का एक ही कारण रहता है सादृश्य, जैसे ही प्रकृत धर्म के रहने और न रहने दोनों स्थलों में चमत्कार यदि असंबद्ध अर्थों के सादृश्य पर्यवसान में है तो अलंकार भी एक ही मानना होगा निदर्शना या ललित । निदर्शना पूर्वाचार्यों को मान्य है अतः ललित का ही उसमें अन्तर्भाव करना उचित है। इसी अभिप्राय से विश्वेश्वर पण्डित ने ललित का निदर्शनाप्रकरण में खण्डन किया है। स्वयं पण्डितराज ने भी ललित के प्रकरण में ललित को न मानने वालों को ओर से भी तर्क प्रस्तुत कर उसका निदर्शना में अन्तर्भाव दिखलाया है।

[सर्वस्व]

[सू० २९] भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।

अधुना भेदप्राधान्येनालंकारकथनम् । भेदो वैलक्षण्यम् । स च द्विधा भवति, उपमानादुपमेयस्याधिकगुणत्वे विपर्यये वा भावात् । विपर्ययो न्यूनगुणत्वम् ।

[सूत्र २९] [सादृश्य में] प्रधानता भेद की हो और यदि उपमान की अपेक्षा उपमेय में [गुणों की] अधिकता अथवा न्यूनता प्रतिपादित हो तो [अलंकार] व्यतिरेक [कहलाता है] ।

[५०] अब भेद की प्रधानता वाले अलङ्कारों का निर्वचन हो रहा है। भेद का अर्थ है विलक्षणता = मिश्रता। और यह दो प्रकार का होता है उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों की अधिकता होने से अथवा हमके विपरीत। विपरीतता यानी गुणों की कमी।

विमर्शिनी

भेदप्राधान्य इत्यादि। अयुनेति प्राप्तावसरम्। भेदस्थ चात्र प्राधान्याद्भेदस्य वस्तुनः सद्भावः। सादृश्य एव पर्यवसानात्। अत एव सादृश्यभ्यतिरेकेण संभ्रमन्नपि भेदो नास्य विषयः। यथा—

'दिव्योत्तरीयभृति कौस्तुभरत्नभाजि देवे परे दृघतु लुङ्घघियोऽनुबन्धम्।

रूपं दिगम्बरमण्डनमुण्डचूड भावकमेव ॥ वतेश मम स्तृहाये ॥'

अत्र घैण्येभ्यः स्वात्मनि विष्णोर्वा परमेश्वरे भेदमात्र विवक्षित न तु क्वेनापि कस्यचिदौपम्यम्। स इति भेदः। तस्याधिक्यत्रिपर्ययान्वा वैविध्याद्भ्यतिरेकोऽपि द्विविधः। तदाश्रयत्वादस्य।

भेदप्राधान्य इत्यादि। अयुना = अब अर्थात् अनेदप्रधान अलङ्कारों का निरूपण हो जाने पर भेदप्रधान अलङ्कारों का अवसर आने पर। भेद की प्रधानता का अर्थ यह कि यहाँ [अप्रधान रूप से] अनेद भी रहता ही है क्योंकि इस अलङ्कार का पर्यवसान सादृश्य में हो जाता है। इमोलिपि जहाँ भेद सादृश्यमूलक नहीं होगा वहाँ यह अलङ्कार नहीं माना जाता। जैसे इस पद्यांश में—

'हे भगवान् [शिव] जिन्हें कुछ चाहिए वे उस देवता के पीछे पड़े जो दिव्य उत्तरीय [पीताम्बर] धारण किए हुए है और कौस्तुभमणि से अलङ्कृत है, क्योंकि वह भी वत्कृष्ट है। मुझे तो केवल आप के ही इस दिगम्बर [विवह, नग्न] और सिर पर अलङ्कित नरकपाल से द्युद्योमिन रूप की स्तृहा है।'

—यहाँ शिव भक्त में विष्णु भक्त से अथवा भगवान् शिव में विष्णु भगवान् से भेद मात्र बतलाया जाना अयोग्य है। किमी का किमी से सादृश्य नहीं।

स = वह = भेद।

[सर्वस्व]

क्रमेणोदाहरणम्—

'दिदृक्षवः पद्मलताविलासमङ्गणां सहस्रस्य मनोहरं ते।

धापीपु नीलोत्पलिनी-विकासरम्यासु नन्दन्ति न पद्मपद्मौघाः ॥'

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम्।

धिरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥'

अत्र विक्रस्वरनीलोत्पलिन्यपेक्षया अक्षिसहस्रस्य पद्मलतया अधिकगुणत्वम्। चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्ष-
प्येन तस्यापुनरागमात्।

क्रम से एक एक का उदाहरण—[उपमान से उपमेय में गुणाधिक्य का—] सीरे आप के सहस्र नेत्रों की पद्मलता की छवि देखना चाहते हैं, अतः वे नीले कमलों के विकास से रम्य वाचकियों में नहीं रमते। [उपमान से उपमेय में न्यूनगुणता का—]

‘चन्द्रमा, सचमुच, घट पट कर फिर भी बड़ जाता है, परन्तु सुन्दरि, मान जा, अधिक न लूठ, यह यौवन है, वीत गया तो फिर नहीं लौटने का ।’

— इन [दोनों उदाहरणों में से प्रथम] में खिले नील कमल की अपेक्षा नेत्रों में ‘पद्मलता’ रूपी गुण को लेकर अधिकता है [द्वितीय में] चन्द्र की अपेक्षा यौवन में न्यूनगुणता है क्योंकि उसमें पुनः न लौटना बतलाया गया है, जो चन्द्रमा में नहीं रहता ।

विमर्शिनी

चन्द्रापेक्षयेति । शशियौवनयोर्हि समानेऽपि गवरत्वे शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यौवनस्येति ततोऽस्य न्यूनगुणवत्त्वम् ।

नन्वत्र विपर्ययमेवेति सूत्रितं भेदान्तरमयुक्तम् । उपमानाहुपमेयस्य न्यूनगुणात्वे वास्तवत्वात्, तत्त्वे चालंकारत्वानुपपत्तेः । यौवनस्य चात्रास्विरत्वे प्रतिपाद्ये चन्द्रापेक्षयाधिकगुणत्वमेव विवक्षितम् । यदेतच्चन्द्रवदयातं सन्न पुनरायातीति । असदेतत् । यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद् यौवनं यदि पुनरप्यागच्छेत् तत् प्रियं प्रति चिरमीर्ष्यानुग्रहो ध्रुज्येत । कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकारः स्यात् । इदं पुनर्हंतयौवनं यातं सस्यु-नर्नागच्छतीतीर्ष्यान्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलमित्यमिति धिगी-र्ष्याम्, व्यज प्रियं प्रति मन्थुम्, कुरु प्रसादमित्यस्मिन् प्रियवधस्योपदेशे प्रियं प्रति कोपोपशमाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति वाक्यार्थ-विद् एव प्रमाणम् । न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम् । तस्यैव स्मृतिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात् । प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवेः संरम्भः । तत्राधिकगुणमुखेन भवतु, इतरथा वा को विशेषः । तस्माद्युक्तमेव विपर्यये वेति सूत्रितम् । प्रश्रुत प्रतिकूलत्वं वेति सूत्रितमयुक्तम् । उपमानाहुपमेयस्याधिक्ये इत्येतावतैव लक्षणेनास्य व्यासत्वात् । यतः ‘स्वरेण तस्या अमृतस्रुतेव’ इत्यादावन्युपष्टालापस्य प्रतिकूलवोक्तेः कर्णकण्डकवादिना न्यूनत्वावगतेऽपमेयभूताया भगवत्याः संघन्धिः स्वरस्यामृतस्रुतेवैषमिभानादानन्दा-तिशयवादिषादेक्षाधिक्यमेवावगम्यत इत्यलं बहुना । अस्यापि सादरवाश्रयत्वात्साना-न्यस्य त्रयी गतिः । तत्रानुगामिता यथा—

नागेन्द्रहस्तास्तच्चि कर्कशावादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः ।

लक्ष्म्यापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वासुपमानवाह्याः ॥

अत्र परिणाहिरूपत्वस्यानुगामित्वम् । वस्तुप्रतिवस्तुभावे पुनर्प्रथकृतैवोदाहृतम्— दिदृक्ष्व इत्यादि । अत्र मनोहरस्वरम्यत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । पद्मलताविलासविक्र-स्वरयोश्च त्रिम्बप्रतिविम्बभावः ।

चन्द्रापेक्षया = चन्द्रमा की अपेक्षा । अर्थ यह कि क्षीण होना या जाना चन्द्रमा और यौवन दोनों का ही स्वभाव है, किन्तु चन्द्रमा का पुनः पुष्ट होना या लौट आना भी संभव रहता है, यौवन में नहीं । इसलिए यौवन में चन्द्रमा की अपेक्षा गुण की कमी है ।

[अलंकाररत्नाकरकार ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व के आधार पर व्यतिरेक मानना असंभव बतलाते हुए कहा है—

‘उपमानत्यान्यस्मादाधिक्यं हि स्वभावतः सिद्धम् ।

तत्त्वे तेन न युक्तो व्यतिरेकश्चारुताविरहात् ॥’

— अर्थात् ‘उपमान उपमेय की अपेक्षा अपने आप अधिक गुणशाली होता है अतः उसकी अपेक्षा उपमेय में न्यूनगुणता दिखलाने में कोई चमत्कार नहीं रहता । फलतः वहाँ व्यतिरेक तो हो सकता है, परन्तु व्यतिरेकनामक अलंकार नहीं हो सकता । वहाँ अधिक से अधिक उपमा-

लकार ही माना जा सकता है।' इसीलिए अलङ्कारसर्वस्वकार के 'विपर्यय' को छोड़ अलङ्कार रत्नाकरकार ने उसके स्थान पर 'प्रतिकूलता' को सूत्र में स्थान दिया है—'उपमेयादन्यस्य न्यूनत्व प्रतिकूलत्व वा व्यतिरेकः । 'श्रीगः श्लोणोऽपि०' पद्य में उन्होंने उपमान से उपमेय की अधिकगुणता ही मानी है न्यूनगुणता नहीं। उनका कहना है कि इस पद्य में न्यूनाधिकभाव की विवक्षा चन्द्र और यौवन में नहीं अपितु उनकी अस्थिरता में है। उपमेय = यौवन की अस्थिरता उपमान = चन्द्र की अस्थिरता से बड़ी है अतः यहाँ उपमेय ही अधिकगुणशाली है। फलतः यह पद्य प्रथम व्यतिरेक का ही उदाहरण है। इस प्रकार रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के 'विपर्यय'-पद्य को अमान्य ठहराया है। विमर्शनीकार इसका खण्डन और सर्वस्वकार के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं] यथा = 'विपर्यय' कहकर सूत्र में जो द्वितीय [उपमान से उपमेय की न्यूनगुणता का] भेद प्रस्तुत किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान की अपेक्षा उपमेय में न्यूनगुणता [स्वभाव सिद्ध अर्थात्] वारम्भिक ही होती है [कविकल्पित नहीं] अतः उपमेय के न्यूनगुण होने से कोई अलङ्कार सिद्ध नहीं हो सकता। [श्रीगः श्लोणोऽपि पद्य में तो] 'यह यौवन चन्द्र के समान चला तो जाता है परन्तु जैसे चन्द्र पुनः शीट आता है वैसे लौटता नहीं।' उपमेय = यौवन में ही उपमान = चन्द्र की अपेक्षा अधिकगुणत्व है क्योंकि इस पद्य में प्रतिपाद्य है यौवनगत अस्थिरता ही।

समाधान = यह कथन अमान्य है। क्योंकि यह [प्रिय में कूठी नायिका के प्रति उमकी] प्रियसखी का उपदेश है। इसका उद्देश्य है कूठी सखी के रोष की शान्ति। वह तभी सम्व है जब चन्द्र की अपेक्षा यौवन में 'पुनः न लौटना' कमी के रूप में ही प्रतिपाद्य माना जाय। सखी हनी कमी का इस प्रकार प्रतिपादित कर रही है—'चन्द्रमा जैसे जाकर पुनः लौट आना है वैसे ही यदि यौवन भी लौटने वाला होना तो प्रिय के प्रति देर तक रुठे रहना ठीक होता, क्योंकि तब प्रिय को और कमी भी देख लिया जाता और इस यौवन को सफल बना लिया जाता। किन्तु यह इत [मुग्धा] यौवन, ऐसा है कि एक बार निकल जाने पर लौटता ही नहीं, इसलिए प्रिय से एक भी क्षण अलग न होना चाहिए और इसे सफल बना लेना चाहिए, ईर्ष्या आदि नव इसमें विद्य हैं, इन्हें तब में रम्य देना चाहिए। अतः मार इस ईर्ष्या को छोड़ इस प्रियके प्रति अपनाय कोष को और अपना अपने प्रिय को खुशी से।' हमारा यह कथन कहाँ तक सगल है इसे वाक्यार्थवेत्ता ही बतला सकते हैं। इसके अतिरिक्त अस्थिरता को लेकर यह जो उपमेयभूत यौवन में कमी बतलायी गई है वह वारम्भिक = लौकिक कमी जैसी भी नहीं है, क्योंकि उसमें अतिशय प्रतिपाद्य है। कवि जो है वह सदा ही प्रकृत पदार्थ को शोभाशाली बनाने में प्रयत्नशील रहता है। वह चाहे किसी प्रकार हो, गुणाधिक्य के प्रतिपादन से या गुणगतन्यूनता के प्रतिपादन से। उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए प्रत्यकार ने सूत्र में जो 'विपर्यये वा' कहकर उपमान से उपमेय की गुणन्यूनता का जो पक्ष प्रस्तुत किया है वह ठीक ही है। वस्तु [अलङ्काररत्नाकरकार ने ही] सूत्र में 'प्रतिकूलत्व वा' इस प्रकार प्रतिकूलता को स्थान दिया है वही अमान्य है। क्योंकि प्रतिकूलता की बात तो सूत्र के 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये' = 'उपमान से उपमेय की अधिकता' इतने ही अर्थ से गन्तव्य हो जाती है और इतना ही लक्षण अलङ्काररत्नाकरकार द्वारा प्रदत्त प्रतिकूलत्व के उदाहरण में भी लागू हो जाता है, क्योंकि प्रतिकूलता के लिए अलङ्काररत्नाकरकार ने जो—

'स्वरेण तस्यामश्रुतक्षुनेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि ।

अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रेतुर्विन्त्रीरिव तादृशमाना ॥

कुमार स०।

—‘मगवती पार्वती की वाणी अत्यन्त अभिजात थी और स्वर अमृत-सा बरसाता था। वे जब कभी बोलती थीं तो कोयल की कूक श्रोता को वीणा के विरुद्ध तार की शनकार प्रतीत होती थी।’ [कु. १।४५]

—यह उदाहरण दिया है [और कहा है कि ‘यहाँ केवल यह प्रतीति होती है कि कोयल का स्वर पार्वती जी के स्वर के प्रतिकूल है। फलतः यहाँ उपमेय उपमान के केवल विरुद्ध है, उससे न्यूनगुण नहीं’, किन्तु] इसमें कोयल की बोली को प्रतिकूल कहने से उसमें कर्णकटत्व की प्रतीति होती है और इस प्रकार उसमें उपमेय पार्वतीस्वर की अपेक्षा न्यूनगुणता की प्रतीति होती है, इसी प्रकार उपमेयभूत जो मगवती पार्वती जी हैं उनके स्वर को अमृतसावी-सा कहने से उसमें अत्यन्त आनन्ददायित्व आदि अधिक गुणों की प्रतीति होती है। फलतः यहाँ भी उपमेय में उपमान की अपेक्षा गुणाधिक्य ही प्रतीत होता है। इस विषय में और अधिक क्या कहें इतना ही पर्याप्त है।

यह [व्यतिरेक] भी सादृश्य पर आश्रित अलंकार है। अतः इसमें भी धर्म = साधारणधर्म तीन प्रकार का रहता है। तीनों में से अनुगामी साधारणधर्म का उदाहरण होगा—[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा उद्धृत कुमारसम्भव का ‘नागेन्द्रहस्ता०’ इत्यादि पद्य का यह अर्थ—]

—‘दाधी की सूँड़ की चमड़ी कठोर होती है और कदलीस्तम्भ एकदम शीतल होते हैं। इस कारण ये दोनों संसार में पर्याप्त प्रसिद्ध और सुन्दर आकार पाकर भी पार्वती के ऊरुद्वय के उपमान नहीं हो सके।’ [कु० १।३६]

—यहाँ ‘आकार की सुन्दरता या प्रसिद्धि’ [उपमान तथा उपमेय दोनों में समानरूप से अभिन्न होने वाला धर्म है अतः] अनुगामी धर्म है। वस्तुप्रतिबस्तुभाव से युक्त साधारण धर्म का उदाहरण स्वर्ण प्रन्थकार का ही ‘दिग्दृक्त्वः’ यह उदाहरण है। यहाँ मनोहरत्व और रम्यत्व शुद्ध सामान्यरूप हैं अर्थात् वस्तुतः ये दोनों एक हैं, केवल शब्दों में भेद है। इसी पद्य में जो पद्मलता विलास और निकस्वरता = थिकास है वनमें विम्बप्रतिविम्बभाव [भिन्न होने पर भी सादृश्य] मूलक अभेद है।

त्रिमूर्ति—व्यतिरेक का पूर्व इतिहास—

भामह—उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनम् ।

व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा ॥ २।७५ ॥

सितासिते पद्मवती नेत्रे ते ताम्रराजिनी ।

एकान्तशुभ्रश्यामे तु पुण्डरीकासितोत्पले ॥ २।७६ ॥

—उपमान के साथ उपमेय का उल्लेख हो और उसमें उपमान की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया जाए उसे व्यतिरेक कहते हैं क्योंकि इसमें वैशिष्ट्य का संपादन किया जाता है। यथा—

—तुम्हारे नेत्र श्वेत भी हैं और श्याम भी, इनमें पद्म भी हैं और ताम्रवर्ण की रेखाएँ भी [इस प्रकार ये श्वेत, श्याम और रक्त रंग तीनों रंगों से श्वलित हैं जबकि] पुण्डरीक [सफेद कमल] केवल श्वेत ही होता है और नीलोत्पल केवल नील। स्पष्ट ही यहाँ उपमानभूत श्वेत कमल और नीलोत्पल की अपेक्षा, उपमेयभूत नेत्र में अधिक रंगों और वनते जनित अधिक वैचित्र्य का प्रतिपादन है। इस प्रकार भामह केवल एक ही प्रकार का व्यतिरेक मानते हैं जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य रहता है।

धामन = [सु०] उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः । ४।३१२२ ।

[वृ०] उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद्, अर्थात् उपमानात् स व्यतिरेकः ।

—‘उपमेय’ के गुणों का अतिरेक व्यतिरेक ।’ उपमेय के गुणों का जो अतिरेक अर्थात् आधिक्य अर्थात् उपमान की अपेक्षा बड़ी व्यतिरेक ।’ [स्पष्ट ही मामद ने व्यतिरेक शब्द के ‘वि’ उपसर्ग पर ध्यान दिया था और उसकी सार्थकता बनलारं थी जब कि वामन उसके ‘अतिरेक’-शब्द पर ध्यान दे रहे हैं ।] उदाहरण .—

‘सत्य हरिणज्ञावाश्या प्रसन्नमुमग मुत्तम् ।

समान शुशिन- किन्तु स कल्ङ्कविदम्बित ॥

—यह सच है कि मृगछीने की आँखों-सी आँखों वाली इस सुन्दरी का मुग प्रसन्न भी है और सुन्दर भी इसलिए यह चन्द्रमा के समान है किन्तु चन्द्रमा कल्ङ्क से दूषित है ।’

वामन ने व्यतिरेक में उत्कर्षोपसर्गद्वय गुणों को प्रतीयमान भी माना है । ‘तुम्हारी चतुर और उल्लित चिनवन ने नीलोत्पल का कोह स्थान नहीं रहने दिया’ = ‘चतुरललितैस्तवार्थ-विशोकितै कुवलयवन प्रत्याख्यायन्’—यहा उपमेयभूत चिनवन में तो उत्कर्षहेतु गुण चतुरता उल्लितता है, किन्तु उपमान में उनका अस्तित्व शब्दत कथित नहीं है अतः वहाँ वे गम्य या प्रतीयमान हैं ।

वामन ने उपमेय के न्यूनगुणत्व का व्यतिरेकजनक नहीं बनलावा है ।

उद्धट ने भी केवल उपमान से उपमेय के गुणाधिक्य में ही व्यतिरेक माना न्यूनगुणता में नहीं । किन्तु उन्होंने व्यतिरेक में वामन के गम्यमान गुण नामक अभिनव भेद को भी अपनाया है और उपमानोपमेयभाव के गम्यत्व तथा वाच्यत्व के आधार पर व्यतिरेक के दो वर्ग बना उनमें श्लेष तथा शुद्ध शब्दों पर आश्रित [उत्कर्षोपसर्ग के] निमित्तों के उपादान तथा अनुपादान के अनुच्छेदों द्वारा कुल मिलाकर आठ भेद प्रतिपादित किए हैं । यथा गम्य उपमानोपमेय-भाव में :—

(१) अनुपात्तनिमित्तक शुद्ध शब्दमूलक व्यतिरेक—

‘तप से कुछ पार्वती ने राहु में निपीन प्रभा वाले चन्द्र को जीत रखा था’ ।

यहाँ उपमेय पार्वती है, उपमान चन्द्र है, साधारण धर्म है ‘सुन्दर होने पर भी कारणवश आया फौकावन’ जो शब्दत. कथित नहीं है और न उपमावाचक ‘हव’ आदि ही यहा उपलब्ध है । ‘जीत’-शब्द में उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा उपमेयभूत पार्वती में उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ । इस उत्कर्ष का कारण है पार्वती जी का अधिक वृद्ध होना और इसका कारण है तप में राहु की अपेक्षा अधिक तीक्ष्णता । ये दोनों ही कारण यहाँ शब्दत कथित नहीं हैं । इस प्रकार यहाँ उपमेय के वैशिष्ट्य के निमित्त अनुपात्त होने से यह व्यतिरेक अनुपात्तनिमित्तक हुआ । श्लेष भी किन्तु भी शब्द में नहीं है अतः यह व्यतिरेक शुद्धशब्दमूलक हुआ ।

(२) उपात्तनिमित्तक शुद्धशब्द मूलक व्यतिरेक

‘पार्वती का मुखमण्डल रात्रिदिव कान्तिमान रहता था अतः यह रात में श्रीविहीन हो जाने वाले पद्म को नीचा दिखला रहा था और दिन में जैसे ही हो जाने वाले चन्द्र को भी ।’

—यहाँ उपमान है चन्द्र और पद्म, उपमेय है पार्वतीमुख । साधारण धर्म है कान्तिमत्त्व, वह कथित नहीं है और ‘हव’ आदि उपमावाचक का भी यहा उपादान नहीं है । ‘मुख न चन्द्र और पद्म को नीचा दिखलाया’ इस कथन से मुख का उत्कर्ष और चन्द्र तथा पद्म का अपकर्ष व्यक्त हुआ । उत्कर्ष तथा अपकर्ष के निमित्त भी यहाँ उपात्त है । वे हैं मुख में रात्रिदिव ‘कान्तिमान् रहना’ और चन्द्र तथा पद्म का ‘केवल रात्रि या केवल दिन में ।’ शब्द सभी श्लेषरहित है । इसलिए यह उपात्त निमित्तक, शुद्धशब्दमूलक व्यतिरेक हुआ ।

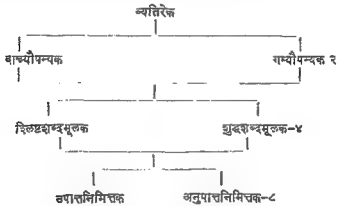
इन दोनों ही उदाहरणों में उपमा के वाचक 'श्व' आदि शब्दों का अभाव है अतः वे दोनों भेद गन्धीपम्य वर्ग के हुए। यदि इन्हीं में श्वादि का प्रयोग कर दिया जाव तो ये ही वाच्यौपम्य वर्ग में आ सकते हैं। यद्यपि उद्भट ने उनके उदाहरण पृथक् दिए हैं। इस प्रकार चार भेद शुद्ध-शब्दमूलक गन्धीपम्य वर्ग के हुए। इन्हीं में यदि श्लेष का उपयोग कर दिया जाए तो ये ही चार श्लेषमूलक हो सकते हैं। श्लेषमूलक व्यतिरेक आने मम्मट ने भी माना है, किन्तु उद्भट के समान नहीं। उद्भट ने व्यतिरेक में एक ही द्वयर्थक शब्द का उपमान तथा उपमेय दोनों के साथ दो बार पृथक्-पृथक् प्रयोग करना आवश्यक माना है। उदाहरण दिया है संस्कृत के 'तपस्' शब्द को लेकर। तपस् का एक तो तपश्चर्या अर्थ प्रसिद्ध है दूसरा अर्थ माघमास भी है। माघ शिशिर ऋतु का महीना होता है। उद्भट ने अपने त्वनिर्मित कुमारसंभव में इस शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा—

'वा शैश्विरो श्रोत्तपसा मासेनैकेन विश्रुता ।

तपसा तां सुदीर्घेण दूराद् विदधतीमघः ॥

—'शिशिर की जो श्री केवल एक माहिने के तप से प्रसिद्ध थी उसे जगदम्बा पार्वती अपने सुदीर्घ अनेक वर्षव्यापी तप से बहुत ही निम्न सिद्ध कर रही थीं!'—इस पद्य में 'तपः'-शब्द को योजना द्वारा व्यतिरेक साधा गया है अतः वह श्लेषशब्दमूलक है।

इन आठों भेदों का वृक्ष इस प्रकार बनाया जा सकता है।



यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि वामन ने निमित्त के अनुपादान में मम्मट के समान तीन भेद न मानकर केवल एक भेद माना है। मम्मट ने (१) उपमानापकर्षनिमित्तानुपादान, (२) उपमेयोत्कर्षनिमित्तानुपादान तथा (३) 'उभयानुपादान' इस प्रकार निमित्तानुपादान के तीन भेद किए हैं। निमित्त के उपादान का अर्थ दोनों में एक ही है अर्थात् उपमानापकर्ष तथा उपमेयोत्कर्ष इन दोनों के दोनों निमित्तों का उपादान।

उद्भट का मूलविवेचन इस प्रकार है—

'विशेषापादानं यत् त्वाद्युपमानोपमेययोः ।

निमित्ताद्दृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः ॥

यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः ।

व्यतिरेकोऽत्र सोऽमीष्टो विशेषापादानान्वयात् ॥

श्लेषोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक् पृथगुदाहृती ।

विशेषापादानं यत् त्वाद् व्यतिरेकः स च स्थितः ॥२।७, ८॥

रुद्रट—सर्वरत्नकर के व्यतिरेक का आधार वस्तुतः रुद्रट का व्यतिरेक-निरूपण है। रुद्रट ने व्यतिरेक के—

[क]—[१] उपमेय में गुणोक्ति तथा उपमान में दोषोक्ति ।

[२] केवल उपमेय में गुणोक्ति तथा

[३] केवल उपमान में दोषोक्ति ।

[ख]—[१] उपमेय में दोषोक्ति तथा उपमान में गुणोक्ति ।

—इस प्रकार केवल चार भेद माने हैं। दोष गुणों की उक्ति और अनुक्ति रुद्रट की भाषा में निमित्त उपदान और अनुपादान हैं। रुद्रट ने रुद्रट से आगे बद्धकर निमित्तानुपादान के दो भेद तो किए किन्तु परवर्ती मम्मट द्वारा लखिन उभयानुपादान पर उनकी दृष्टि नहीं गई। वाच्यता और गम्यता, शुद्धता या दिल्ष्टता पर भा वे ध्यान नहीं देने। उनका मूल विवेचन इस प्रकार है—

(१) यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्वो च दोष उपमाने ।

व्यस्तमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेक विधा कुरवः ॥

(२) यो गुण उपमाने स्यात् तत्प्रतिपञ्ची च दोष उपमेये ।

भवन्तौ यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु ॥

—उपमेय में गुण बतलाया जाय और उपमान में उसके विरुद्ध दोष तो अलङ्कार व्यतिरेक होता है। कहीं गुण और दोष दोनों कथित रहते हैं और कहीं दोनों में से कोई एक। इस प्रकार तन्मूलक व्यतिरेक तीन प्रकार का हो जाता है।

—इसके विरुद्ध जब उपमान में गुण बतलाया जाता है और उपमेय में दोष तो वह भी एक व्यतिरेक होता है। [जिसे मामद, वागम और रुद्रट ने छोड़ दिया है]। इनमें विशेषता यह है कि इसमें गुण और दोष दोनों में से केवल किसी एक का उल्लेख नहीं होता। नियमतः दोनों का ही उल्लेख रहता है, अतः इसका एक ही भेद होता है। क्रम से उदाहरण—

(१) तुम्हारी उपमा हर (नाशक शिव) से कैसे दो सकती है तुम अमुजग ['मुजगो विट-सर्पयो.' के अनुसार मुजग = विट अमुजग = अविट या विटरहित, संयमी] हो [जब कि शिव मुजग = सर्प से युक्त समुजग है] और समनयन [सबको बराबर मानने वाले] जो हो [जब कि शिव विपमनयन = त्रिनयन है] —'अनुजग. समनयन. कथमुपमेयो हरेणासि ।'

(२) दोषाकर [दोषा = राशि का कर = निर्माता और दोषों का भाकर] = चन्द्र तुम्हारा उपमान कैसे बन सकता है। वह तो कच्छी [काले बन्धे-पृथ्वी को छाया से युक्त] और जड [= जल, जलरूप] जो है [जब कि तुम निष्कारक और चेतन हो] ।

—'सकलङ्गेन जडेन च साम्य दोषाकरणे कीड्क्ते ।'

(३) तुम्हारे नेत्र तरल हैं और नीलकमल निश्चल। भला इनकी उपमा कैसे हो सकती है। इसी प्रकार तुम्हारा चेहरा विमल है और चद्रमा कलंक-मलिन। वह तुम्हारे चेहरे का उपमान कैसे बन सकता है।

—'तरलं लोचनमुगल कुबलयमचल किनेतयो. साम्यम् ।

विमलं मलिनेन मुख शशिना कथमेतदुपमेयम् ॥'

(४) 'झींगः झीणोऽपि०' ।

मम्मट ने व्यतिरेक के भेदों की संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। उन्हें व्यतिरेक का एक ही पद्य मान्य है जिसमें उपमेय का उल्लेख बतलाया जाता है। उपमेय के अपकर्ष के व्यतिरेक की

संभावना का उन्होंने खण्डन किया है। उनका व्यतिरेकलक्षण इस प्रकार है—

‘उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।’

—अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम् ।

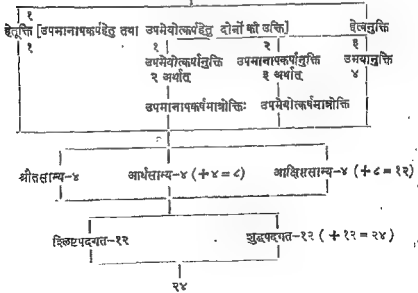
—‘उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्यरूप व्यतिरेक ही व्यतिरेकालङ्कार कहलाता है।’ इस लक्षण में मम्मट ने व्यतिरेक शब्द के अंश अतिरेकमात्र पर ध्यान दिया। ‘वि’ उपसर्ग का पूर्वाचार्य-प्रतिपादित सार्थकता को उन्होंने स्थान नहीं दिया। रुद्र के उपमेयगत अपकर्ष से संभावित व्यतिरेक पक्ष का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा ‘क्षीणः क्षीणोऽपि’ “इत्यादि में एक किसी ने उपमेय से उपमान की अधिकता बतलाई है किन्तु वह गलत है, क्योंकि यहाँ यौवन में आस्यैर्ध की अधिकता ही बतलाना कवि को अभीष्ट है।” यहाँ मम्मट ने रुद्र का नाम नहीं लिया इसलिए काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने इस मत को उद्भट और अलङ्कारसर्वस्वकार का मत बतला दिया है। रामानुजकरीकर ने इसे अलङ्कारसर्वस्वकार का ही बतलाया है जब कि अलङ्कारसर्वस्वकार मम्मट से बाद के हैं।

भेदों की गणना में मम्मट ने उद्भट का सभी विधायें अपना ली हैं केवल प्रतीयमान सादृश्यमूलक भेद के साथ ही उन्होंने आक्षिप्त-सादृश्यमूलक भेद की भी कल्पना कर ली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने निमित्त के अनुपादाव को केवल एक भेद न मानकर तीन भेदों में विभक्त किया है। उनका भेदक्रम इस प्रकार है—

‘हितोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ।

शब्दार्थान्वयामाक्षिप्ते क्षिप्ते तद्वच चिरद तद ॥’ अर्थात्—

व्यतिरेकः



आक्षिप्तसाम्य का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

‘हयं मुनयना दासीकृततामरसञ्चिया ।

आननेनाकलङ्केन जयतीनुं कलङ्किनम् ॥

—यह सुन्दराक्षी कमलश्री को दासी बना देने वाले अपने अकलक मुगु से कलकी चन्द्र को जीत रही है। यहाँ 'जयति = जीत रही है' इस कथन से साम्य का आक्षेप होता है। ऐसे उदाहरण उद्धृत ने भी दिए हैं किन्तु सन्दर्भ गम्यौपम्य में गिना दिया है। मम्मट ने उसके भी आर्थ तथा आक्षेप ये दो भेद कर दिए हैं।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—के व्यतिरेक का निरूपण सामान्यतः पूर्वपक्ष के रूप में विमर्शनी के अनुवाद में दिया जा चुका है।

अप्यपदीक्षित—ने कुवलयानन्द में व्यतिरेक का विवेचन अति सश्रेय में किया है। उन्होंने उपमेयापकर्ष को भी व्यतिरेक का एक भेद मानकर सर्वस्वकार के ही समान रुद्रट की परम्परा का अनुमोदन किया है। उनका विवेचन इस प्रकार है—'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययोः।

—यदि उपमान तथा उपमेय में से किसी एक की अपेक्षा दूसरे में विशेषता दिखलाई जाए तो व्यतिरेक। स्पष्ट ही यहाँ व्यतिरेक शब्द की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

उदाहरण—

[१] उपमान से उत्कर्ष का उदाहरण यथा—'शैला ह्योजता. सन्त किन्तु प्रकृतिकोमला ।' सन्त लोग पर्वतों के समान उन्नत तो होते हैं परन्तु स्वभाव से कोमल रहते हैं।

यहाँ उपमेयभूत सन्त प्रकृतिकोमलता में उपमानभूत कठोर पर्वतों से उत्कृष्ट प्रतिपादित है।

[२] उपमेय के अपकर्ष का उदाहरण—'सर्वं तुस्यमशोकं केवलमहं यात्रा सशोकः कृत्।'।

—हे अशोक, तुम्हारी और मेरी और सब बातें तो समान हैं, केवल इनका ही अन्तर है कि मैं केवल तुम अशोक ही और मैं सशोक।

दीक्षित जी के अनुसार यहाँ वक्ता ने क्योंकि उपमानभूत अशोक ने स्वयं को शोकामात्र में छोड़ा प्रतिपादित किया है। च्चनिकार तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने यहाँ उपमादूरीकरण को तात्पर्यविषयीभूत माना है। ओ जैवता है।

(=) अनुमपपर्यवसायी [न तो किसी के अपकर्ष में पर्यवसित होने वाला और न किसी के उत्कर्ष में] यथा—

'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिपण्णस्य सहजमलिनस्य ।

कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः ॥

—कृपण और कृपाण में भेद केवल 'आकार' ['आ' अक्षर तथा आकृति] को लेकर है। जैसे दोनों ही बद्धमुष्टि होते हैं [कृपाण में मुष्टि = मूठ = तसरु, कृपण में खर्व न करना] दोनों ही कोश स्थित [कोश = म्यान, रजाना] रहते हैं और दोनों ही स्वभावतः मलिन [मलिनता = 'दूषण, श्यामता] होते हैं। यहाँ कृपण और कृपाण में भेदमात्र प्रतिपादित किया गया है किसी का किसी से उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं। व्यक्तिविवेककार ने इस पद्य के वाक्यार्थ पर आपत्ति दी है। उनका तर्क है कि 'आकार' का अर्थ है 'आ' अक्षर। उसे लेकर दोनों अर्थों का अन्तर प्रतिपादित नहीं किया जा सकता किन्तु उन्होंने माना यहाँ व्यतिरेक ही है। यद्यपि इस संदर्भ में ऐकान्तिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका व्यतिरेक शब्द अलंकार के लिए ही प्रयुक्त है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसे दूषित ठहराया है और इसमें केवल श्लेषमूलक उपमा ही स्वीकार की है। उनका कथन है कि यहाँ केवल दीर्घाक्षर मात्र में अन्तर प्रतिपादित करने का तात्पर्य है सर्वथा साम्य। क्योंकि अक्षरमात्र के अन्तर से अर्थगत कोई वास्तविक अन्तर सिद्ध नहीं होता। उनका कहना ठीक भी है, किन्तु कुवलयानन्द की टीका चन्द्रिका के रचयिता वैचनाथ ने

पण्डितराज की इस मीमांसा को अत्यन्त तुच्छ बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि 'यह इतनी तुच्छ है कि इसे उद्धृत भी करना अनुचित है।' यह उनकी मूलमक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ—'उपमानाद् उपमेयस्य गुणविशेषवर्तेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।'

—उपमान से उपमेय का गुणविशेष के आधार पर उत्कर्ष व्यतिरेक। इस लक्षण के अनुसार पण्डितराज उपमेयापकर्ष से व्यतिरेक की निष्पत्ति स्वीकार नहीं करते। वे उसका खण्डन भी करते हैं। उद्भट की व्यतिरेककारिका में वैधर्म्य शब्द आया है। उससे भ्रम होता है कि कदाचित् व्यतिरेक साधर्म्य के साथ ही वैधर्म्य से भी निष्पन्न होता है। पण्डितराज जगन्नाथ उसका स्पष्टीकरण कर देते हैं। वे वैधर्म्य को व्यतिरेकानुभूति में विन्न प्रतिपादित करते हैं। सच भी है। व्यतिरेकबोध के लिए अव्येक्षित साधर्म्य यदि दृष्टान्त आदि जैसे वैधर्म्य द्वारा प्रस्तुत हो तो काव्य पहेली बन जायगा। आक्षिप्त अथवा आर्ष सादृश्य में मानस बोध सीधे सादृश्य से टकराता है, जब कि वैधर्म्य में सादृश्य के अभाव से। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक बोध की भूमिका तिमिरवली बन बैठती है। उद्भट के वैधर्म्य शब्द का अर्थ विपरीत धर्म नहीं, 'विन्न धर्म' है, और इस अर्थ में स्वयं पण्डितराज ने भी वैधर्म्य शब्द का प्रयोग इस प्रकरण में किया है। पण्डितराज ने व्यतिरेक शब्द के दोनों अर्थों पर भी ध्यान दिया है—'वि'—उपसर्ग पर भी और 'अतिरेक' शब्द पर भी। 'वि' उपसर्ग को उन्होंने विशेषार्थक मानकर उसका अर्थ गुणविशेष किया तथा अतिरेक का उत्कर्ष। यह केवल इसलिए कि यह शब्द चल चुका है, परम्परागत है। अन्यथा 'अतिरेक'—शब्दमात्र पर्याप्त था। अतिरेक बिना विशेषता के संभव नहीं, अतः विशेषता का अपने आप आक्षेप संभव था।

पण्डितराज ने व्यतिरेक के चौबीस भेद मम्मट के ही अनुसार स्वीकार कर लिए हैं किन्तु श्लेषमूलक व्यतिरेक में कहीं उभयानुपादान को अतिशय प्रतिपादित किया है। यथा—

'भवान् सहस्रैः समुदारवमानः कथं समानश्चिदशाधिपेन'।

—'आपकी तुलना इन्द्र से कैसे की जा सकती है। आप की सेवा सहस्रों करते हैं अतः आप सहस्राधिप हैं जब कि इन्द्र केवल त्रिदशाधिप।' यहाँ 'त्रिदशाधिप' शब्द के दो अर्थ हैं (१) त्रिदश = देवता तथा (२) तीन गुणा दश तीस अथवा तीन और दश = तेरह। इस प्रकार व्यतिरेकी अर्थ यह निकला कि जो त्रिदशाधिप अर्थात् केवल तीस अथवा तेरह का स्वामी है वह सहस्रों के स्वामी का उपमान कैसे बन सकता है। यहाँ यदि त्रिदशाधिपत्व तथा सहस्राधिपत्व ये विभिन्न धर्म हटा दिए जायें तो वाक्यार्थ ही निष्पन्न नहीं होगा, क्योंकि व्यतिरेकसिद्धि तो दूर की वस्तु है 'इन्द्र से राजा की तुलना अनुचित है' यह स्थापना निर्मूल रही आयेगी। पण्डितराज के इस तर्क को नागेश ने भी प्रदीपोद्योत में स्वीकार किया है। किन्तु यह तर्क यहाँ तक सीमित है जहाँ श्लेष व्यतिरेकसाधक विशेषणों में ही हो। श्लेष जहाँ केवल साम्यसाधक विशेषणों में रहता है और व्यतिरेक की सिद्धि अन्य विशेषणों से होती है वहाँ तीनों अनुपादान संभव हैं और अलंकारकौस्तुभकार विशेषर पण्डित ने भी मम्मट के ही समान श्लेष में भी इस प्रकार के तीनों अनुपादानों के यथावत् उदाहरण दिए हैं। आगे अलंकारकौस्तुभकार के प्रकरण में इन्हें देखा जा सकता है। संख्यानियम पर दूसरी बात पण्डितराज ने यह भी कही है कि व्यतिरेक सादृश्यमूलक होता है अतः सादृश्य के जो २५ भेद उपमा में हुए हैं वे सब यहाँ भी संभव हैं जिसे व्यतिरेक की भेदसंख्या बढ़ भी सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार द्वारा 'क्षीणः क्षीणोऽधि०' पद्य में प्रतिपादित उपमेयापकर्ष-मूलक व्यतिरेक का मम्मट तथा शोभाकर के ही तर्कों में खण्डन किया है। विशेषता यह है कि

उन्होंने विमर्शिनिकार द्वारा किए गए इसके मण्डन का अक्षरस्य अनुवाद किया और उसपर भी निम्नलिखित आपत्तियाँ दी हैं—मने ही यह उक्त नायिका की हितेच्छु किमी प्रियसखी की हो तब भा इसमें उपमेयभूत यौवन में उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा गुणाधिक्य ही विवक्षित है, गुणर नही। इससे विवक्षितार्थ का पुष्टि अधिक होती है क्योंकि इस उक्ति से सिद्ध होता है कि चन्द्र पुन पुन लोट आता है अतः शुद्धम है अतः उमका उनका माहात्म्य नहीं है। यौवन कदापि नहीं लोटता इसलिए दुर्लभ है और इसीलिये वह अधिक उत्कृष्ट है। उमे मान आदि विघ्न-भूत कार्यों से अमकल नही होने देना चाहिये जहाँ कहीं उपमेयगन अपकर्ष भा प्रतिपादित रहता है वहाँ भा वह अपकर्ष वस्तुन, उत्कर्ष में ही परिणत होने वाला होता है। जैसे 'चन्द्र ही मछा है जो क्षीण होकर पुन पुष्ट हो जाता है, इस यौवन को चिह्नार है जो क्षीण होकर पुन नही लोटता।' यहाँ विरकार द्वारा मान के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है और वह आक्रोश यौवन के लाम के प्रति क्षुण्ण भी उदासीन न रहने का संकेत देता है।

विश्वेश्वर पण्डित ने अलङ्कारकोस्तुम में केवल उपमेयोत्कर्ष में ही व्यतिरेक स्वाकार किया है, उपमेयापकर्ष में नहीं—'उभयो. साम्यप्रोक्तौ विशेष उपमेयगे व्यतिरेक ।'

—दोनों के साम्य प्रतिपादन हों तब यदि उपमेय में वैशिष्ट्य बतलाया जाय तो व्यतिरेक होता है। व्यतिरेक शब्द की न्युत्पत्ति में विश्वेश्वर ने परम्परा को तोड़ दिया है। उन्होंने व्यतिरेक का अर्थ व्यावर्तन = अलग्नाय किया है—'व्यतिरेच्यते उपमानाद् व्यावर्ततेऽनेन उपमेयमिति न्युत्पत्ते' [व्यतिरेक] = उपमान से उपमेय जिसके द्वारा हटा लिया जाय।'

व्यतिरेक में 'क्षीण क्षीण'—पद्य द्वारा प्रथमत रूद्र द्वारा प्रतिपादित और प्रथम सर्वस्वकार द्वारा अनुमोदित उपमेयापकर्षजनितत्व का जैसा खण्डन प्रथमत. मम्मट ने किया है और उस खण्डन का पण्डितराज ने जैसा अनुमोदन किया है विश्वेश्वर ने भी उमे उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। वे लिखते हैं—

'न चन्द्रयौवनयोः उपमानोपमेयमात्रो विवक्षित, किन्तु चन्द्रयौवनक्षययोरेव, तत्र चन्द्रक्षयस्य वृद्धिप्रागभावसमानकालीनत्वेन न्यूनत्वम्, यौवनक्षयस्य चाप्ये तच्छरारावच्छेदेन यौवनाभावात् समानाधिकरणयौवनप्रागभावसमानकालीनत्व नालीत्याधिक्यम्। एव च विवक्षितस्य मानत्याग-स्यावश्यकत्वमिद्धि।'।'

—यहाँ उपमानोपमेयभाव चन्द्र और यौवन का नहीं अपितु उनके क्षयों का प्रतिपाद है। दोनों क्षयों में चन्द्र का क्षय तब तक ही रहता है जब तक चन्द्र की वृद्धि शुरू नहीं होती अतः वह क्षय क्षणिक है अतदत्र न्यून है, यौवन का क्षय किसी अन्य यौवन के पहले तक रहने वाला नहीं क्योंकि एक शरीर में दूसरा यौवन नहीं आता, इसलिए वह स्थायी है और शमील्य अधिक है। इस प्रकार मानत्याग की आवश्यकता सिद्ध होती है।'

व्यतिरेक के भेद भी विश्वेश्वर ने मम्मट के ही अनुसार चौबीस माने हैं—

'हानिप्रकर्षहेत्वोरुक्तौ त्रेधा च तदनुक्तौ।

साम्यात्त्रेषोले साम्ये श्लेषे च दिग्युगमित स' ॥

—'उत्कर्ष और अपकर्ष' इन दोनों की उक्ति, एक-एक और एक साथ दोनों की तीन अनुक्ति जहाँ शब्द, आर्थ और आक्षेपलभ्य साम्य होने पर अथवा श्लेष होने पर हों तो व्यतिरेक युग = दो तथा उस पर दिक्-चार अर्थात् २४ भेद होते हैं। पण्डितराज ने श्लेष में त्रिविध अनुपादान की जो अशक्यता ध्वनित की थी, उसका मौन उत्तर देने हुए विश्वेश्वर ने श्लेषमूलक तीनों अनुपादानों के तीन उदाहरण दे दिए हैं। वे ये हैं—

दोनों हेतुओं की अनुक्ति—

‘अतिनिविटस्य ह्यवाखिलदर्शनशक्तेस्तमोवचस्येव ।

भम्मिञ्जस्य न तेषुसिद्ध्यामलता तेजसा चास्या ॥’

—तुम्हारा केशपात्र ध्वान्तसंघात के ही समान अत्यन्त घना और प्रत्येक की समग्र दर्शनशक्ति नष्ट करने वाला है। किन्तु इसको अतिदुस्य व्यामता प्रकाशनाशय नहीं है। यहाँ व्यतिरेक है ‘व्यामता’ के प्रकाशनाशयत्व में और श्लेष है अतिघनत्व आदि विशेषण-वाचक शब्दों में।

उत्कर्षहेत्वनुक्ति—

‘सकललोचनमानसहारिगोडनिशयितां दधतः सुकुमारतान् ।

नव मुसस्य रुचिर्न परिच्छिद्रा मजति भास्वदर्शनसरोजवप ॥

—‘तुम्हारा चेहरा प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र और चित्त दोनों को आकृष्ट कर लेता है और अत्यन्त सुकुमारता लिए है। इसको छवि सूर्य के अधीन कमल की छवि-सी परिच्छिन्न नहीं है।’ यहाँ कमल की छवि की परिच्छिन्नता में हेतु है सूर्याधीनता, वह कथित है। मुख की छवि को अपरिच्छिन्नता का हेतु कथित नहीं है। इस प्रकार अपरिच्छिन्नतारूपी उत्कर्ष के हेतु को यहाँ अनुक्ति है। श्लेष है ‘सकल’ इत्यादि विशेषणार्थों में।

अपकर्षहेत्वनुक्ति—

‘वैशंप भावयतो निमित्तजनोस्लासनाहेतोः ।

अपचयराहितस्य तवाननस्य नेन्दोरिव धुतेर्हानिः ॥

—‘तुम्हारा चेहरा और चन्द्र दोनों ही उज्ज्वल वर्ण के हैं और दोनों ही प्रत्येक व्यक्ति को उल्लसित कर देते हैं, किन्तु तुम्हारा चेहरा चन्द्र की भाँई वदता-वदता नहीं है अतः इसकी छवि में चन्द्र की छवि-सी हानि नहीं है।’ यहाँ चन्द्र की छवि में अपकर्ष का हेतु हानियुक्तत्व कथित नहीं है।

विश्वेश्वर के उदाहरणों की अपेक्षा मम्मट के उदाहरण अधिक अच्छे हैं। मम्मट का उदाहरण है—

‘जितेन्द्रियतया सम्यग् विद्यावृद्धनिषेविणः ।

अतिगाढगुणस्यास्य नाग्मवद् मञ्जुरा गुणाः ॥’

—यह जितेन्द्रिय है, विद्यावृद्धों की सेवा करता रहता है और इसके गुण अत्यन्त गाढ़ हैं इसलिए इसके गुण कमल के समान मञ्जुर नहीं हैं।’ यहाँ गुण शब्द में वसी प्रकार श्लेष है जिस प्रकार उद्भट के उदाहरण में ‘तपस्’ शब्द में। कमल के गुण मञ्जुर है और वर्णनीय पुरुष के गाढ़। इस प्रकार उपमानभूत कमल के गुणों में अपकर्ष का हेतु मञ्जुरत्व शब्दतः कथित है और उपमेयभूत पुरुष के गुणों में उत्कर्ष का हेतु गाढत्व। यदि इनमें से एक बार एक का उपादान किया जाय और दूसरी बार दोनों को छोड़ दिया जाय तब भी गुण शब्द में श्लेष रहेगा और तीनों अनुपादान वन जायेंगे।

वस्तुतः साम्य की वाच्यता और अवाच्यता से चमत्कार में कोई अधिक अन्तर नहीं आता फलतः प्राचीन आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित भेदक्रम ही अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों में केवल उद्भट, सर्वस्वकार तथा अप्यवदोक्षित ही ऐसे आचार्य हैं जो उपमेयगत अपकर्ष में भी व्यतिरेक मानते हैं। मम्मट, वासन, उद्भट, मम्मट, शोभाकर, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर केवल उपमेयगत उत्कर्ष में ही व्यतिरेक प्रतिपादित करते हैं।

सजीविनीकार श्रौषिणाचक्रवर्ती ने व्यतिरेक के सर्वस्वकारक सपूर्ण प्रतिपादन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘भेदप्रधाने साधर्म्ये व्यतिरेको विधीयते ।

आधिक्यादुपमेयस्य न्यूनत्वाद् बोधमाना ॥’

—साधर्म्य में यदि भेद की प्रधानता हो तो उपमान को अपक्षा उपमेय के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष से व्यतिरेक होना है ।

[सर्वस्व]

[सू० ३०] उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसंबन्धे सहोक्तिः ।

भेदप्राधान्य इत्येष । गुणप्रधानभावनिमित्तकमत्र भेदप्राधान्यम् । सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभावः । उपमानोपमेयत्वं चात्र वैवक्षिकम्, द्वयोरपि प्राकरणिकत्वाद्प्राकरणीकत्वाद्वा । सहार्थसाम्य्याद्धि तयोः तुल्यकक्षत्यम् । तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्यादुपमानत्वम् । अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वाद्दुपमेयत्वम् । शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभावः । घस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात् । तत्र नियमेनातिशयोकिमूलत्वमस्याः । सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च । अभेदाध्यवसायश्च श्लेषमिच्छिकोऽभ्यथा वा । साहित्यं चात्र कर्त्रादिनानाभेदे होयम् । तत्र च

कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा यथा—

‘भवद्पराधै साधर्म्यं संतापो वर्धतेतरामस्याः ।’

अत्रापराधानां संतापं प्रति हेतुत्वेऽपि तुल्यकालत्वेनोपनिबन्ध ।

श्लेषमिच्छिकाभेदाध्यवसायरूपा यथा—

‘अस्तं भास्वान्प्रयातः सह रिपुभिरयं संहियन्तां यत्नानि ।’

अत्रास्तं गमनं शिल्पम् । अस्तमित्यस्योभयाथत्वात् ॥

[सू० ३०] [भेद की प्रधानता रहने पर] यदि उपमान और उपमेय में ये पुरुष की प्रधानता बतलाई गई हो और दूसरे में ‘साय’—वाचक किसी शब्द से प्रतिपादित अर्थ का [अप्रधानताघोतक] संबन्ध हो तो [अलंकार] सहोक्ति [कहलाता है] ।

[वृ०] [यहाँ] ‘भेद की प्रधानता’ इतना पहले से ही प्राप्त है । [किन्तु] यहाँ भेद की प्रधानता निर्भर रहती है अप्रधानता तथा प्रधानता पर और अप्रधानता तथा प्रधानता निष्पन्न होता है ‘सह = साय’ शब्द के अर्थ के कारण । यहाँ जो उपमानत्व और उपमेयत्व ई वे विवक्षाधोन रहते हैं । यह इसलिए कि या तो दोनों अर्थ प्राकरणीक ही रहते हैं या अप्राकरणीक ही । [उपमानोपमेयभाव के लिये अपेक्षित] साम्य उद्यमे ‘सह = साय’ शब्द के अर्थ से जाता है । उनमें भी जिसको सूत्रीयविक्रमिक [संस्कृत व्याकरण के अनुसार ‘सह’ शब्द के प्रयोग होने पर अप्रधान अर्थ को वाचक शब्द के साय प्रयुक्त होने वाली विक्रमिक] जिसके साय लगनी है उस

शब्द का अर्थ नियमतः अग्रधान रहता है अतः वही उपमान माना जाता है, शेष वचा प्रथमा-विभक्ति से युक्त शब्द का अर्थ तो वह प्रधान होता है अतः वह अपने ही उपमेय सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रधानता अग्रधानता का निर्धारण केवल शब्दस्थिति [और तत्त्वनिव बोध] पर निर्भर रहता है, अर्थस्थिति तो विपरीत भी हो सकती है।

इसका आधार सदा ही अतिशयोक्ति बनती है। अतिशयोक्ति भी दो प्रकार की (१) कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय से होने वाली और (२) अभेदाध्यवसानमूलक। इनमें से अभेदाध्यवसाय यहाँ दोनों ही प्रकार का हो सकता है (१) इत्थेपमूलक भी और (२) शुद्ध [इत्थेपरहित] भी।

यहाँ जो साहित्य = सहायक शब्दों से प्रतिपादित सम्बन्ध रहता है वह कर्ता, कर्म आदि कारकों में होता है, अतः वह अनेक प्रकार का होता है। इनमें से—

कार्यकारणभाव के विपर्यय से निम्न अतिशयोक्ति पर निर्भर सद्योक्ति यथा—‘आपके अपराधों के साथ इसका संताप बढ़ता ही चला जा रहा है।’

—यहाँ [नायक के द्वारा किए गए] अपराध संताप के प्रति कारण है तथापि उनको एक साथ उत्पन्न होता बतलाया गया है। इत्थेपमूलक अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति से निम्न सद्योक्ति यथा—

‘यह सूर्य मनुष्यों के ही साथ अस्त को प्राप्त हो गया है। अब सेनाएं बंदोर् ली जाएं।’

—यहाँ ‘अस्त को प्राप्त होना’ दिलभ है क्योंकि ‘अस्त’-शब्द उभयार्थक [डूबना, नष्ट होना इन दो अर्थों में प्रयुक्त] है।

विमर्शिनी

उपमानेत्यादि। किंहेतुकं चात्र भेदप्राधान्यमित्याशङ्क्याह—गुणेत्यादि। गुणप्रधान-भावोऽपि किंहेतुकं इत्याह—सहाय्येत्यादि। एकस्य प्रधानमूतविभक्तिनिर्देशादन्यस्य च विधिविभक्तिनिर्देशात्। वैबक्तिकमिति न पुनर्बास्तवम्। उपमानोपमेयात्वं हि ह्योस्तु-स्यकक्षत्वे भवति तत्रात्र किंनिमित्तकमित्याशङ्क्याह—सहाय्येत्यादि। परिशिष्टस्येति प्रय-मान्तस्य। शब्द इति न पुनरार्थः, वस्तुतो विपर्ययस्यापि संभवात्। एवं गुणप्रधान-भावनिमित्तकं भेदप्राधान्यमपि शब्दद्वेवात्र ज्ञेयम्। वस्तुतो हि सादृश्यस्यैव पर्यवसा-नाद्भेदाभेदयोस्तुक्त्यत्वेनैव प्रतीतिः। तस्मात्शब्दमेव भेदप्राधान्यमाश्रित्येहास्या वचनम्। विपर्यय इति। प्रधानविभक्त्या निर्दिष्टस्याप्राधान्यं गुणविभक्त्या च निर्दिष्टस्य प्राधान्यम्। नियमेनेति। अनेनातिशयोक्त्यनुप्राणनमन्तरेणालंकारत्वमेवास्या न भवतीति घनितम्। सैथ्यतिशयोक्तिः। कार्यकारणयोः प्रतिनियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तुस्यकालत्वादिनोक्तैः। अन्यथेति अश्लेषरूपः। तदेवमस्या अतिशयोक्तिभेदचतुष्टयमनुप्राणकम्। कत्रादीति आदि-शब्दात् कर्मादयः। तत्रेति निर्धारणे। [कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपेति]। अस्या-मनुप्राणकत्वेन स्थितेति शेषः। अत्रापराधानां शब्दो गुणभावः। वस्तुस्तु प्राधान्यं तेषामेव, प्रतिपाद्यत्वात्। एवमन्यत्र ज्ञेयम्। ‘अयमेति सा वराकी स्नेहं न समं त्वदीयेन’ इत्यस्यार्थम्। ‘कुर्वन्त्वाष्ठा हतानां रणशिरसि जना वहिसाद् देहभारान्मृन्मिथं कथांचिद्-दत्तु जलममी धान्धवा धान्धवेभ्यः। मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान्मृध्र-कच्छैः’ इत्यस्यार्थं पादप्रथमम्।

उपमान इत्यादि। ‘यहाँ भेद की प्रधानता का आधार क्या है’ इस शंका पर उत्तर देते हैं—‘गुण०’ अग्रधानता। ‘गुणप्रधानभाव = अग्रधानता और प्रधानता किस पर निर्भर है’ इस शंका पर उत्तर है—‘सहाय्य०।’ ऐसा इसलिए कि एक में रहती है प्रधानमूत विभक्ति और

दूनरे में विधि [अप्रधानभूत] विभक्ति का निर्देश रहना है। **वैवधिक** = विवक्षाधीन अर्थात् वास्तविक नहीं। 'उपमानोपमेयभाव होना' है नव जब दो पद्यों में समानता रहती है। यह समानता यहाँ कौनो निश्चय होती है—इम गङ्गा पर उत्तर देने है—'सहार्थमा०'। परिशिष्ट = शेष अर्थात् प्रथमा विभक्ति में युक्त पद का अर्थ। द्वाब्ज् = शुब्ज्जनित बोध पर निर्भर, न कि अर्थ पर निर्भर। क्योंकि वास्तविक स्थिति विपरान भी हो सकता है। इस कथन से निष्कर्ष यह निकलता कि प्राधान्यापवाचान्य में जनिन भेद का प्रमानना भी सहोक्ति, में शुब्ज्जनित बोध पर निर्भर रहेगी। और, मत्व या यह है कि यहाँ अन्त में प्रतीति होता है सादृश्य ही, अत यहाँ 'भेद आर अभेद' इन दोनों को प्रतीति समान रूप से ही होती है। इसलिये शुब्ज्जनित बोध पर निर्भर भेदप्रमानना को हा स्केक यहाँ इम भेदप्रधान अलङ्कारों के प्रकरण में सहोक्ति क रखा गया है। त्रिपर्यय = विपरीतस्थिति = प्रधान विभक्ति [प्रथमा] से निर्दिष्ट भी अप्रधान हो सकता है जोर अप्रधान विभक्ति [तृतीया] में निर्दिष्ट भी प्रमान। नियमेन = नियमन मन्दा ही। ऐसा कहकर यह मन्त्रेन किया कि सहोक्ति अविशयोक्ति की महायता के बिना अलङ्कार ही नहीं बनती। सा = वह - अविशय कि। कार्य और कारण का प्रतिनिधयम् = क्रम = नियमत बाद में और पहले उत्पन्न होना, इसका उलट जाना अर्थात् दोनों का एक साथ उत्पन्न होता हुआ बतलाया जाना या कार्य को पहले तथा कारण को बाद में। अन्यथा = दूसरे प्रकार का = श्लेषरहित। तो इस प्रकार चार प्रकार की अविशयोक्ति से यहाँ सहोक्ति को सहायता मिलती है। कर्त्ता आदि, आदि पद से कर्म आदि भी। तत्र = उनमें यह परस्पर में अन्तर बतलाने के लिए कहा जा रहा है। [कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा =] अर्थात् यह अविशयोक्ति जहाँ अनुप्राणक = सहायक रूप में स्थित रहती है वह भेद। यहाँ ['अकदपराधै'० में] अपराधों की अप्रधानता केवल इसलिए है कि यहाँ उसके वाचक पद = अपराध में तृतीया विभक्ति जोड़ी गई है, वस्तुतः प्रधान वे ही हैं क्योंकि यहाँ प्रतिपाद वे ही हैं। इसी प्रकार अन्य कदाहरणों में भी जानने रहना चाहिए। इस ['अकदपराधै' पद्य०] का उत्तरार्थ यह है—'क्यमेति सा वराकी स्नेहेन सम स्वशीयेन' = वह वैवारी तुम्हारी प्रीति के हो साथ क्षय को प्राप्त होती जा रही है। इस ['अस्त मास्वान्०' पद्य] के प्रथम तीन चरण वे हैं—

'कुर्वन्वासा इवाना रणधिरसि पना वहिसाद् देहमागा-

नश्र्मिथ कश्चिद् ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।

मार्गतां शान्तिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृभ्रकङ्कैः'

—अब जो आप हैं वे लोग सुदूरधन में भूत लोगों की अन्वेषि करें, वे लगे हैं उनकी लाशों को ढेर, वे [चारों ओर रोते विलखते] भारे बन्ध अपने भारे बन्धों को अश्र्मिथ [आँधुओं से मिश्रित] पानी जैसे तैसे दे लें, [जिन्हें अभी तक अपने भारे बन्धुओं की लाशें नहीं मिली हैं वे] अपने भारे बन्धुओं की लाशें फिर से खोजें, वहाँ सोजे जहाँ आदमियों की लाशों के पुराने ढेर लगे हैं, उन्हें काले और सफेद शिद्धों ने किल कर दिया होगा—[उनके नाक कान आँख नोंच खाई होगी]।—वेणीसंहार ५१३६।

[सर्वस्व]

तदन्यथारूपा यथा—

'कुमुदयनैः सह संप्रति विघटन्ते चक्रवाकमिधु नानि ।'

अथ विघटनं संबन्धिभेदाद्भिन्नं न तु दिलाष्टम् ।'

एतद्विशेषपरिहारेण सहोक्तिमात्रं नालंकारः । यथा—

‘अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरैषु’ इत्यादौ । एतान्येव कर्तृसाहित्ये उदाहरणानि ।

कर्मसाहित्ये यथा—

द्युजनो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये ।

चक्रे चक्राभिधानेन प्रेष्येणात्मनोरथः ॥’

अत्र करोतिक्रियापेक्षया द्युजनस्य मृत्योश्च कर्मत्वम् ।

एषा च मालयापि भवन्ती दृश्यते । यथा—

‘वत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुञ्चैर्नामितं

भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम् ।

वैदेह्या मनसा समं च सहस्राकृष्टं ततो भार्गव-

प्रौढाहंकृतिकन्दलेन च समं तद् भग्नमैशं धनुः ॥’

शुद्ध अतिशयोक्ति पर निर्गम सहोक्ति यथा—

—‘कुसुदवनों के साथ इस समय चक्रवाकों के जोड़े भी अलग-अलग हो रहे हैं ।’

—यहाँ ‘अलगवा’ में श्लेष नहीं है [क्योंकि वह मूलतः अनेकार्थक नहीं है] वह सम्बन्धी [कुसुद, चक्रवाक] के भेद से भिन्नरूप बन जाता है [कुसुद के साथ खिलने = संशुद्धियों के अलग-अलग होने रूप में, चक्रवाक के साथ विद्युद्गने रूप में] ।

विशेषता [अतिशयोक्ति की सहायता] के बिना केवल ‘सह=साथ’ शब्द या इसके समानार्थक शब्द का प्रयोग करने पर [सहोक्ति उत्पन्न होती है वसमें] अलंकारत्व नहीं आता । यथा—

—‘इसके साथ समुद्र के तटों पर विहार करो, जहाँ तालीवन लगा होगा और वसमें मर्मर-ध्वनि हो रही होगी ।’ [इन्दुमती स्वयंवर-रघुवंश] ।—इत्यादि में । [अतिशयोक्ति से निष्पन्न सहोक्ति की सहायता के लिए द्विप गय] ये जो उदाहरण हैं, [इसमें जिन-जिन अर्थों का ‘साथ’ प्रतिपादित है वे = अपराध और संताप, सूर्य और सेनाएँ, कुसुदवन और चक्रवाक-सभी कर्ता के रूप प्रस्तुत हैं अतः] ये सभी [उदाहरण] कर्तृसाहित्य के उदाहरण हैं ।

कर्म—[के साथ कर्म के]—साहित्य का उदाहरण । यथा—

‘जिसके चक्र नामक देव्य = [भेजने योग्य संवक] ने युद्ध के बीच, मृत्यु के ही साथ देवताओं को भी तारकामूररूपी बीमारी के विषय में पूर्णच्छ कर दिया ।’

[यहाँ ‘तारकमूर्ये’ पाठ अधिक अच्छा रहता] ।—यहाँ ‘करना’-क्रिया में देवता और मृत्यु दोनों कर्म हैं ।

यद् [सहोक्ति] माला रूप में भी दिखाई देती है । यथा—

—‘भगवान् राम ने भगवान् शिव का घनुष विद्यामित्र के शेरों के साथ खड़ा किया, राजाओं के मुखों के साथ नवाया, जनक जी की छेदेहबुद्धि के साथ आस्फालित किया [प्रत्यंघा चढ़ाकर दो-चार बार जले अंगूठा और तर्बनी से कुछ कुछ खींचकर छोड़ा, बुद्धिपथ में आस्कालन उभाड़ना, उछालना = द्व० ‘आस्फालितं यद् प्रमदात्मरामै० रघुवंश-१६] जानकीजी के हृदय के साथ खींचा और परशुराम के प्रौढ अर्धंघर के साथ टूक-टूक कर टाजा ।’

विमर्शः—यहाँ 'अस्त'—शब्द में शत्रुपक्ष में लक्षणा थी और सूर्य पक्ष में अभिधा । 'अलगाव' में दोनों पक्षों में अभिधा हो है"—यह भी एक भेदक तथ्य दिखाई देता है । किन्तु यहाँ अर्थश्लेष, जिसे उपमा आदि में साधारण धर्मों के बीच माना जाता है, अस्वीकार नहीं किया जा सकता । इस प्रश्न पर मञ्जोविनोकार के ही साथ विमर्शिनोकार और विश्वेश्वर पण्डित भी चुप हैं । किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ को खोलने और सुन्दराने का अमफल प्रयत्न किया है । उन्होंने 'कहा है—श्लेष वहाँ होता है जहाँ प्रतिपाद्य अर्थों को भिन्न-भिन्न धर्म भासित होते हैं । जैसे 'शत्रुपक्षों के नेत्र दिनों के ही साथ बर्षित हो रहे हैं' । यहाँ दिवमपक्ष में वर्ष का अर्थ है सवत्सर और नेत्रपक्ष में है बरसना, आँसू बहाना । 'पक्षपत्रों के साथ उन्मीलित होती सूर्य-रश्मियाँ' = इस स्थल में उन्मीलनरूपी अर्थ दोनों पक्षों में एक ही है अतः वहाँ श्लेष नहीं है । वस्तुतः यह पक्ष पण्डितराज की ही मान्यता के विरुद्ध है । पण्डितराज ने भी रूपक में 'विद्वन्मान-सहस्र' इस स्थल में प्रयुक्त 'मानस' शब्द में श्लेष माना है जब कि उससे प्रतीत 'सरोवर तथा चित्त' इन दो भिन्न अर्थों में एक ही 'मानसत्व' धर्म भासित होता है । संस्कृत में पण्डित करने और देने अर्थ में कर्मवाच्य में एक ही शब्द निष्पन्न होता = 'दोषते' । पण्डितराज ने 'विपद्भिः सह दीयन्ते सपद' इस प्रयोग द्वारा उस पद में श्लेष स्वीकार किया है । वहाँ प्रतिपादित अर्थों में एक ही धर्म भासित होगा है 'दान' अथवा 'दानाप्रयत्न' । सत्य यह है कि यदि यहाँ श्लेष नहीं माना जाता तो अर्थश्लेष उच्छिन्न हो जायगा । कहा केवल इतना जा सकता था कि अतिशयोक्ति में कहीं भगदश्लेष होता है और कहीं अभगदश्लेष । श्लेष के ये सब उदाहरण इन्हीं दो कोटियों में आते हैं । इन दोनों उदाहरणों में एक के अस्त पर दूसरे के अस्त और एक के अलगाव पर दूसरे के अलगाव का अभेदाध्यवसान है क्योंकि दोनों अर्थों के वाचक के रूप में एक-एक शब्द का ही प्रयोग किया गया है ।

विमर्शिनी

'सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति' इत्यस्यार्धम् । एतद्विशोपपरिहारेणेति अतिशयोक्त्यनुप्राणनमन्तरेण । 'द्वीपान्तरानीतलवङ्गुप्पैरपाकृतश्लेषलवा मरद्भिः' इति द्वितीयमर्धम् । पुनानीति समनन्तरोक्तानि । यमापेक्षया धुजनस्यानन्तरमाप्तमनोरथावमिति आविषयाद्भावेन क्रमिकयोस्तुल्यकालत्वेनोक्तिः । यथा वा—

'भाग्यैः सम समुत्पन्नं प्रजाभिः सह लालितम् ।

वर्धितं सुकृतैः सार्धमगौराजमसूत सा ॥'

अत्र समुत्पन्नन्तरं तद्भाषयानामुत्पत्तिरिति क्रमिकयोः समकालत्वम् । अस्यास्य शुद्ध-सामान्यरूपत्वं यथा—

मलप्राणिलेण सह सोरहवासिपूज दहार्णम् ।

वद्वान्ति चहलसोमालपरिमला सासणितरंवा ॥

अत्र सीरभपरिमलयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । विग्वप्रतिविग्वभावो यथा—

दिनवरवरगितरंवा कगभाअलकडअरेणुविष्फुरिआ ।

विअसति परिमलभरोअभवेहि कमलकिरहि समं ॥

अत्र कनकाचलकटकरेणुविच्छुरितरवस्य परिमलभरोअद्वयं विग्वप्रतिविग्वत्वेन निर्दिष्टम् ।

'कुमुदवने' का उत्तरार्ध है 'सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति' = 'कमलवनों के साथ [दिन भर की रूठी] ललनाओं का मान संकुचित हो रहा है' । एतद्विशोपपरिहारेण = इस विशेषता के बिना अर्थात् अतिशयोक्ति की सहायता के बिना । 'अनेन' का उत्तरार्ध है—

‘दीपान्नरानीतलवद्गुप्पैरपाकृतत्वेदलवा मरुद्भिः’ = “यहाँ तुम्हारे [यमजनित] स्वेदकण हवा के झोंके दूर करते रहेंगे, जो पार के द्वीप से लवंग पुष्प उड़ा-उड़ाकर आ रहे होंगे ।” [रघुवंश-६] ।
 एतानि = ये = अभी-अभी कथित । [कर्म साहित्य के उदाहरण ‘धुजनो०’ में] यम की अपेक्षा देवताओं की मनोरथसिद्धि बाद में होती है [क्योंकि उनमें कार्यकारणभाव है] इस प्रकार में पूर्ववर्तित्व और परवर्तित्व [आदिपश्चाद्भाव] होने के कारण क्रम है, क्योंकि यहाँ क्रमिक होने पर दोनों मनोरथ सिद्धियों को निम्पत्ति एक साथ वतला दी गई इसलिये यहाँ कार्यकारण-पीर्वापर्य विपर्ययारिमका अतिशयोक्ति है । दूसरा उदाहरण यथा—

‘उत्सने भाग्यों के साथ उत्पन्न, प्रजागों के साथ लालित, पुण्यों के साथ वर्धित अर्णोरान को जन्म दिया ।’

—भाग्यों की उत्पत्ति व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद होती है किन्तु दोनों की उत्पत्ति एक साथ वतला दी गई है इसलिये यहाँ क्रमिक वस्तुओं में समकालिकता [से निम्पन्न अतिशयोक्ति] हुई ।

यह शुद्धसामान्यरूप भी होती है । यथा—

‘मलयानिलेन सह सौरभवासितेन दयितानाम् ।
 वर्धन्ते बहलसुकुमारपरिमला श्वासनिकुरम्बाः ॥’

—सौरभ से वासित मलयानिल को साथ प्रिवाजनों के पर्याप्त सुकुमार सुगन्ध से युक्त श्वासपुंज बढ़ते जा रहे हैं ।’

—यहाँ सौरभ और परिमल = सुगन्ध शुद्धसामान्यस्वरूप है । विम्बप्रतिविम्बभाव का उदाहरण यह है—

‘दिनकर-कर-निकुरम्बाः कनकाचल-कटक-रेणु-विस्फुरिताः ।
 विकसन्ति परिमलभरोद्भट्टैः कमलाकरैः सार्धम् ॥’

—सुवर्ण गिरि सुमेरु के शृंगों की धूल में सनीं सूर्य की सहस्र-सहस्र किरणें परागपुंज से उद्भूत कमलों के साथ विकसित हो रही हैं ।’

—यहाँ सुवर्णगिरि के शृंगों की धूल में सनना [कनकाचलकटकरेणुविस्फुरितत्व] और परागपुंज से उद्भूत होना [परिमलभरोद्भट्टत्व] इनका निर्देश विम्बप्रतिविम्बभाव के साथ है [क्योंकि इन में वर्णगत सादृश्य है] ।

विमर्शः—सहोक्ति का पूर्व इतिहास :—

भामह = ‘वृत्तकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये ।

पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिर्मता सताम् ॥

—जहाँ एक पद के द्वारा ऐसी दो क्रियाएँ कही जाँय जो दो भिन्न वस्तुओं में रहती हों और समानकालिक हों वहाँ सहोक्ति होती है ।

उदाहरण = वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥

—[ठंड में] रात्रियाँ कामिननों की प्रीति के साथ बढ़ती जा रही हैं ।’ यहाँ रात्रि और प्रीति दोनों की वृद्धि एक साथ होता है और उसे एक ही क्रियापद से कहा जा रहा है ।

वामन—[सूत्र] वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालबोरेकपदामिधानं सहोक्तिः ।

[वृत्ति] वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालबोरेकेन पदेनामिधानं सदाशंसामर्थ्यात् सहोक्तिः ।

—दो पदार्थों की समानकालिक क्रियाओं का यदि एक ही शब्द के द्वारा ‘सह’ शब्द के अर्थ के बल पर हो तो सहोक्ति ।

उदाहरण—‘अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरवम् ॥’

इस प्रकार वामन ने मामह की ही सहोक्तिकारिका को सूत्र रूप दे दिया है इतना अवश्य है कि वृत्ति में उन्होंने सहोक्तिशब्द की सार्थकता बनाने के लिए 'सहोक्तिसामर्थ्य' का भी उल्लेख कर दिया है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने इत्येवमूलक अभेदाध्यवसाय से निम्न सहोक्ति के लिए वामन के ही इस उदाहरण को प्रस्तुत किया है।

उद्धृत—उद्धृत ने भी वामन के ही समान मामह की ही सहोक्तिकारिका को—

‘तुल्यकाळे क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाहिते ।

पदेनैकेन कथ्येन सा सहोक्तिर्मा सनाम् ॥

—इस प्रकार प्रायः ज्यों का त्यों अपना लिया है। उदाहरण के रूप में उन्होंने अलङ्कार-सर्वस्वकार द्वारा कर्म माहित्य के उदाहरण के रूप में अपनाया गया पद्य 'पुजनी०' ही दिया है।

रुद्रट—मामह से उद्धृत तक सहोक्ति उपमानोपमेयभाव की चर्चा नहीं थी। न तो वृत्त में भेद ही किए गए थे। रुद्रट ने उसमें अधिक सरम्भ दिखलाया, और सहोक्ति को निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत किया—

वास्तववर्गीय—

[१]—‘भवति यथारूपोऽर्था कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम् ।

वक्तिस्तस्य समाना तेन सम या सहोक्ति सा ॥ ७।१३

—एक अर्थ अपने जैसे किसी दूसरे अर्थ का वस्तुतः हो तो निर्माता [कारण] किन्तु उन दोनों की उत्पत्ति मूल रूप से एक साथ बनना दो साथ ही सहोक्ति ।’ यथा

‘कथं सते । क याम् सकलजगन्मन्मथेन सह तस्यम् ।

प्रतिदिनमुपैति वृद्धि कुचकुम्भनिम्बमिच्छिमरः ॥’

—मित्र ! क्या कहें हैं। आखिर कहाँ नाय ? उसके कुचकुम्भ और नितम्बमिच्छि रोज रोज बढ़ते जा रहे हैं और अकेले नहीं सारे ससार को मथ डालने वाले मन्मथ के साथ ।’

—यहाँ नायिका के अर्गों की वृद्धि कामवृद्धि का कारण है किन्तु उनकी उत्पत्ति साथ होती हुई वृत्तार्थ गर्भ है।

[२] ‘यो वा येन क्रियते तथैव भवता च तेन तस्यापि ।

अभिधान यत् क्रियते समानमन्या सहोक्तिः सा ॥ ७।१५ ।

—साधारणधर्मयुक्त कार्यकारण की सहोत्पत्ति कल्पना भी एक अन्य सहोक्ति होती है। यथा—‘मन्दपराधे सार्धम्’—पूर्णपद्य—

[३] ‘अन्योन्यं निरपेक्षी यावथैविककालमेकविधौ ।

भवतस्तत्कथनं यत् साधि सहोक्तिः- किलेत्यपरे ॥’

—अन्य आचार्य [मामह, वामन, उद्धृत] उसे भी सहोक्ति मानते हैं जिसमें दो ऐसे अर्थों को [पूर्व उदाहरणों में आप अर्थों के समान परस्पर कार्यकारणभाव आदि से संबद्ध न होकर सर्वथा] निरपेक्ष होते और एक ही समय में किसी एक क्रिया में अन्वित होते हैं। उदाहरण—‘कुमुददलैः०’ पूर्णपद्य ।

इन्हीं तीन भेदों में से प्रथम दो भेदों में सर्वस्वकार ने कार्यकारणपीयोपपदविपदयतिरिका अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति मानी है और तृतीय में शुद्धभेदाध्यवसानातिरिका अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति। प्रथम और द्वितीय पद्य में उन्हें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया—कदाचित् इसीलिए उन्होंने उसे छोट दोष दोनों भेदों के उदाहरण भी रुद्रट से अपना लिए।

यह सच है कि रद्रट ने जो लक्षणकारिकाएं बनाई हैं वे पहले जैसी अन्यतार्थ और दुर्बुद्ध हो गई हैं।

[२] औपम्यवर्गीय —

[१] 'सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिक्रियो योऽर्थः ।

तस्य समानक्रिय इति कथ्येत्तान्यः समं तेन ॥' ८।१९

—'जहाँ अधिक सामर्थ्यवान् वस्तु को उससे कम सामर्थ्य वाली वस्तु के साथ-साथ समान बतलाया जाय वह सहोक्ति।' यथा—

'सपदि मयी निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः ॥'

—वसन्त में वे पथिक मनके साथ अपने घर की ओर चल पड़े हैं। यहाँ गमनक्रिया में मन और पथिकों का साथ-साथ सम्बन्ध बतलाया जा रहा है जब कि मन तीव्रगति के लिए अनुपम होता है।

[२] 'यथैककर्तृका स्वादनेककर्मभिता क्रिया तत्र ।

कथ्येतापरसहितं कर्मैकं सेवमन्या स्यात् ॥ ८।१०१ ।

—जहाँ किसी क्रिया का कर्ता एक हो किन्तु कर्म अनेक, और अनेक कर्मों में भी अन्य कर्मों को किसी एक प्रधान कर्म के साथ बतलाया जाय वह भी एक सहोक्ति होती है।' यथा—

'त र्था विभांति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धन् ॥'

—'सखि ! वह तुझे अनेक बड़े-बड़े मनोरथों के साथ हृदय में धारण किये हुए है।' यहाँ 'धारण करना' क्रिया में कर्ता तो एक ही है किन्तु कर्म नायिका और मनोरथ है। उनमें भी मनोरथों को नायिका के साथ लगाकर प्रस्तुत किया है।

नमिसाधु ने वास्तववर्गीय सहोक्ति का औपम्यवर्गीय सहोक्ति से भेद करते हुए कहा है कि वास्तववर्गीय में सादृश्य नहीं रहता और औपम्यवर्गीय में कार्यकारणभाव। सर्वस्वकार ने सब के सब भेदों को औपम्यमूलक मान लिया है। स्पष्ट है कि सर्वस्वकार का सहोक्तिविवेचन शतशः रुद्रट के अतिशयोक्तिविवेचन पर निर्भर है। मम्मट रुद्रट का यह विश्लेषण ठीक से नहीं धरना सके।

मम्मट :—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं दिवाचकम् ।'

—'सहोक्ति वह जहाँ सहार्थ = सह शब्द को अर्थ को बल पर एक पद दो पदार्थों का प्रतिपादक हो।' यथा—

'सह दिवसनिशीथैर्दीर्घाः श्वासदण्डाः ।'

—श्वासदण्ड दिन और रात के साथ लम्बे बनते जा रहे हैं। मम्मट के सहोक्ति लक्षण में रुद्रट की विधिभ्रता तो नहीं है किन्तु उसमें पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की-सी कमी भी नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने लक्षण में 'सह'-'साथ' शब्द नहीं दिए थे। उसके बिना वे सहोक्ति को दीपक आदि से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते। 'सह' = 'साथ' शब्द के अर्थ के द्वारा जो अर्थों में प्रधानता और अप्रधानता आती है वही वस्तुतः सहोक्ति का अन्य उत्सृष्ट अलंकारों से भेदक है। यह एक ध्यान देने की बात है कि मम्मट ने सहोक्ति को सादृश्यमूलक नहीं बतलाया है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने—'सहार्थबलादेकस्यानेकसंबन्धे सहोक्तिः ।'—यह लक्षण कर मम्मट का ठीक अनुसरण किया है। इन्होंने सहोक्ति को न केवल अतिशयोक्तिपर ही अपितु तुल्य-योगिता पर भी निर्भर बतलाया है। मम्मट के सहोक्ति उदाहरण में उन्होंने विनोक्ति का संदर्श बतलाया है।

अप्यदीक्षित—ने चित्रमीमांसा में तो महोक्ति पर विचार नहीं हो किया, कुवल्या-
नन्द में भी उस पर अत्यन्त ही थोड़ा विचार किया है—

‘सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरजनः ।

दिगन्तमगमत तस्य कीर्तिं प्रत्यर्थिभि सद् ॥

—सहोक्ति वह जिसमें सुन्दर सहभाव भासित हो । यथा—आपकी कीर्ति आपके शत्रुओं के साथ दिगन्त चली गई है ।

पण्डितराज ने अवश्य रुद्रट और सर्वस्वकार के पश्चात् पहिली बार सहोक्ति पर संरम्भ दिखलाया है । उनका विवेचन हम प्रकार है—

गुणप्रधानभाववच्छिन्नसहार्थसम्बन्ध सहोक्तिः ।

—प्रधानता तथा अप्रधानता से युक्त सह शब्द के अर्थ से सम्बन्ध का नाम सहोक्ति ।

यह एक प्रकार से सर्वस्व के ही लक्षण का परिष्कार है । पण्डितराज ने सहोक्ति को सर्वस्वकार के ही समान अतिशयोक्तिमूलक माना है । उसमें कर्तृसाहित्य और कर्मसाहित्य का भी प्रतिपादन किया है । सहोक्ति को शब्द भी माना है किन्तु आर्थ भी बतलाया है । किन्तु आर्थ कहकर उन्हें ब्याकरणों से हगटना पडा है जिसमें उन्होंने अपनी सहज स्वच्छन्दता दिखलाई है और इसीलिए उन्हें अपने ब्याकरण टीकाकार नागेश के दण्ड सहने पड़े हैं ।

पण्डितराज ने एक नवीन प्रश्न उठाया है और कहा है कि सहोक्ति अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भूत कर दी जानी चाहिए । उन्होंने कारणकार्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति से युक्त गुणप्रधान-
भाव में अनन्तकार का कारण अतिशयोक्ति को ही माना है । इसका प्रामाण्य सदृश्य की अनुभूति पर निर्भर है । ब्रह्मचिद्विद्वेक ने ऐसा बहुरं प्रश्न नहीं उठाया है ।

सर्वस्वकार ने सहोक्तिलक्षण में उपमानोपमेयभाव को स्थान देकर उसमें सादृश्य को अनावश्यक रूप से खोजना चाहा है । वह वस्तुग अमान्य है ।

संभोदिनीकार ने सहोक्ति का लक्ष्य इस प्रकार किया है—

‘गुणप्रधानभावां यः शब्दस्तेन मिदोक्त्या ।

सश्रितातिशयोक्तिं च सहोक्तिः समयोर्मता ॥’

—यदि प्रधानता और अप्रधानता का बोधन शब्द द्वारा हो फलतः उसने जिसमें भेद की प्रधानता सिद्ध हो, ऐसी अतिशयोक्ति पर आश्रित वह दो समान पदार्थों की सह-शब्दार्थ द्वारा की गई वक्ति सहोक्ति कहलाती है ।

[सर्वस्व]

सहोक्तिप्रतिभटभूतां विनोक्तिं लक्षयति—

[सू. २८] विना किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।

सत्त्वस्य शोभनत्वस्याभावोऽशोभनत्वम् । एवमसत्त्वस्याशोभनत्वस्या-
भावः शोभनत्वम् । ते द्वे सत्त्वासत्त्वे यत्र कस्यचिदसंनिधानान्निवृत्त्येते सा
द्विधा विनोक्तिः । अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वसत्तायामेव वक्तव्यायामसत्ता-
मुपेनामिधानमन्यनिवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति एयापनार्थम् । एवं चान्या-
निवृत्तौ विधिरेव प्रकाशितो भवति । आद्या यथा—

‘विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना ।

रक्षिता सत्कवित्वेन कीदृशी चाग्विदग्धता ॥’

अत्र विनयाद्यसंनिधिप्रयुक्तश्रीविरहाद्यभिधानमुख्येनाशोभनत्वमुक्तम् ।

[वृत्ति] अब सहोक्ति से उलटी विनोक्ति का लक्षण करते हैं —

[सू० ३१] 'किसी [अन्य] के विना [किसी] अन्य में सत्त्व या असत्त्व का अभाव [बतलाया जाना चमत्कारी हो तो] विनोक्ति ।

[वृत्ति] सत्त्व = शोभनता, असत्त्व अभाव = अशोभनता । इसी प्रकार असत्त्व = अशोभनता

अभाव = शोभनता । [विनोक्ति में] ये दोनों सत्त्व और असत्त्व किसी [अन्य] के असन्निधान से उत्पन्न बतलाए जाते हैं अतः यह विनोक्ति दो प्रकार की होती है । यहाँ प्रतिपाद्य ही रहता है शोभनत्व और अशोभनत्व का सद्भाव ही तथापि उसका प्रतिपादन अभाव के माध्यम से किया जाता है, यह इसलिये कि यह प्रतीति हो सके कि उसका अभाव किसी अन्य के कारण है, स्वतः नहीं । और इस प्रकार यदि किसी अन्य का अभाव प्रतीत न हो तो अन्य का सद्भाव भी प्रतिपादित हो जाता है । इनमें से प्रथम विनोक्ति यथा—

'नम्रता के विना भी कैसी ? चन्द्रमा के विना रात्रि कैसी ? सत्कवित्व के विना वाणी को विदग्धता कैसी ? ।'

—यहाँ विनय आदि के अभाव के कारण श्री आदि का अभाव बतलाया गया और इस प्रकार [श्री आदि में] अशोभनता का प्रतिपादन किया गया ।

विमर्शिनी

प्रतिमटभूतामिति प्रतिपञ्चभूताम् । अत एवैतदनन्तरमेतदलक्षणम् । तदेवाह—विना-
किंचिदित्यादि । एतदेव न्याचष्टे—सत्त्वस्वेत्यादिना ।

कस्यचिदिति यत्र यादृशो विवक्षितस्तस्येति । ननु चात्र सत्त्वास्त्वयोर्विधि-
मुख्येनैव वाच्यस्ये किमिति प्रतीतिवैपम्यदायिना निषेधमुख्येन निर्देशः कृत इत्याश-
ङ्क्याह—अत्र चेत्यादि ।

तच्छब्देन सत्त्वास्त्वयोः प्रत्ययमर्शः । अन्यनिवृत्तिप्रयुक्तेन तन्निवृत्तिपदानेनापि
किं भवतीत्याशङ्क्याह—एवं चेत्यादिना ।

अन्यस्य कस्यचिदनिवृत्तौ सत्त्वमस्त्वमेव वा भवतीत्यर्थः । आयेति अस्त्वमित्य-
न्धमोक्तिः । का श्रीर्न काचिच्छीरिति श्रियो विरहोऽसद्भावः । विनयासद्भावेऽपि श्रियोऽ-
सद्भावोऽस्तीत्येतदभिधानं श्रियोऽप्यस्ये पर्यवस्यतीति विनयनिवृत्तिप्रयुक्तं श्रियोऽसत्त्व-
मुक्तम् । एवं त्रिनयस्यानिवृत्तौ श्रियः सत्त्व एव विधिः प्रकाशितो भवतीति विनय एव
अन्यस्य कार्यः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । अन्ये चात्र वास्तवत्वं मन्वसानाः—

'तस्याः शैत्यं विना ज्योस्त्ना पुष्पाब्धिः सौरभं विना ।

विनोण्णत्वं च हुतभुक्त्वां विना प्रतिभासते ॥'

इत्यत्र विनोक्त्यलङ्कारत्वमाहः । अत्र हि ज्योत्स्नादीनां शैत्यादिना निरयमविनाभावेऽपि
विनाभाव उपनिषदः । यदाहालङ्कारभाष्यकारः—'नित्यसंबद्धानामसंबन्धवचन
विनोक्तिः' इति विनोक्तिरूपसंख्यास्यते" इति । अन्यकृता पुनरियं चिरंतनलक्षितत्वा-
लक्षिता ।

प्रतिमटभूता = उलटी = विरुद्ध । इसी कारण इस [सहोक्ति] के लक्षण को बाद इस
[विनोक्ति] का लक्षण रखा जा रहा है । यह लक्षण बतलाते हैं—'विना किंचिद० । इसी की व्याख्या
करते हैं सत्त्वस्य इत्यादि के द्वारा । कस्यचिद = किसी के = जो अर्थ जहाँ जिस प्रकार का
विवक्षित हो उसके । यहाँ प्रश्न उठता है—यदि यहाँ सत्त्व और असत्त्व का प्रतिपादन सद्भाव-

वात्मक रूप से ही विकसित है तो फिर प्रतीति में विपरीतता लाने वाले निषेध के द्वारा इसकी प्रतीति क्यों करारं जाती है, हमके उचर में कहते हैं—'अत्र च'—इत्यादि। 'तत्र = तन्निवृत्ति-' में आया तत्र शब्द सत्त्वासत्त्व के लिए है। शका होती है कि मने ही किसी वस्तु का अभाव अन्य किसी वस्तु के अभाव के माध्यम से प्रतिपादित किया जाय, उसमें लाम क्या है। इस पर उचर देते हैं—'एव च = इस प्रकार।' अन्य की निवृत्ति न होने पर शोभनता या अशोभनता ओ जैसी रहती है उसकी वसी रूप में प्रतीति होती है। आद्या = प्रथम = ऐसी विनोक्ति जिसमें अशोभनता प्रतीत होती हो। ['विनयेन विना'-पद्य में] 'का थीः = थी कैसी'—का अर्थ निकलता है 'किसी भी प्रकार की थी नहीं'। इस प्रकार ओ का अभाव प्रतीत हुआ जो अशोभन है। 'विनय न होने पर भी भी का अभाव ही रहता है' ऐसा कहने से 'श्री' की अशोभनता निकलती है। इस प्रकार श्री की अशोभनता विनय के अभाव में प्रतिपादित की गई। यदि विनय का अभाव न हो तो श्री में निषेधात्मक अशोभनता से उलटी विष्यात्मक शोभनता ही प्रतीत होती है। इस प्रकार श्री की शोभनता अशोभनता का मारा मार विनय के अस्तित्व अनस्तित्व पर निर्भर है। अन्य स्थलों में भी ऐसी ही योजना करनी चाहिए।

[अलङ्काररत्नाकरकादि] कुछ आचार्य विनोक्ति को वास्तविकता पर भी निर्भर मानते हैं और वे—

'तुन्दारे विना वस [बेचारी] की चाँदनी विना शीतलना की प्रतीति होती है, पुष्पसमुदाय [अथवा वसन्त] विना सुगन्ध का, और अग्नि विना ऊष्मा की ।'

—ऐसे स्थलों में विनोक्ति को अलङ्कार मानते हैं। चाँदनी आदि शीतलना आदि में कमी भी अलग नहीं रहती तथापि यहाँ उन्हें उनसे अलग बतलाया गया है। जैसा कि अलङ्कार-भाष्यकार ने [भी] कहा है—'नित्यसम्बद्धानामसम्बन्धवचनविनोक्तिः' = 'नित्य सम्बद्ध पदार्थों में सम्बन्ध का अभाव बतलाना विनोक्ति कहलाता है'। यह विनोक्ति भी आगे बतलावेंगे। ग्रन्थकार ने जो यह ['विनयेन०'] आदि पद्य में ऊपर निर्दिष्ट] विनोक्ति मर यहाँ बतलाई है यह इसलिये कि प्राचीन आचार्य [मम्मट] ने इसी भेद की विनोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

[सर्वस्य]

अत्र विनाशब्दमन्तरेणापि विनार्थविषया यथाकथंचिन्निमित्तीभयति यथा सहोक्तौ सहार्थविषया । एवं च—

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुविम्वम् ।

उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलेषु न येन दृष्टा नलिनी प्रमुद्धा ॥'

इत्यादौ विनोक्तिरेव । तुहिनांशुदर्शनं नलिनीजन्मनोऽशोभनत्वप्रतीतेः ।

इयं च परस्परविनोक्तिमङ्गथा चमत्कारातिशयकृत् । यथोदाहृते विषये ।

यहाँ विना शब्द के अभाव में भी विना शब्द के अर्थ की विचार में ठीक ठीकी प्रकार चिह्न किसी प्रकार कारण बन जाती है जिस प्रकार महोक्ति में [सह शब्द के अभाव में भी] सहशब्द के अर्थ की विवक्षा । और हम प्रकार—

'उस कमलिनी का जन्म निष्फल ही बोल गया जिसने चन्द्रमा का विम्व नहीं देखा । और चन्द्रमा का जन्म भी निष्फल ही रहा जिसने प्रसुद्ध कमलिनी को नहीं देखा ।'

—इत्यादि स्थलों में विनोक्ति ही अलङ्कार माना जाएगा ।

विनोक्ति तब अधिक चमत्कारक होती है जब उसमें दो पदार्थों में एक दूसरे के अभाव से परस्पर में शोभनत्व और अशोभनत्व बतलाया जात है । जैसे उदाहृत ['निरर्थक०'] पद्य के स्थल में ।

विमर्शिनी

यथाकथंचिदिति । यद्यपि यथा सहशब्दं विनापि सहायै तृतीयास्ति तथा विनाशब्दं विनापि द्वितीयादीनां विनार्थे सद्भावोऽस्ति, तथापि वाक्यार्थपर्यालोचनसामर्थ्यात्तदर्थः पर्यवस्यतीत्यस्य भावः । सहशब्दं विनापि सहार्थविवक्षा यथा—

'विवृण्वता सौरभरोरदोषं चन्द्रवतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्या ।

विकस्त्रे कस्य न कर्णिकारे प्रागेन हृष्टेर्वृधे विवादः ॥'

अत्र प्रागेन सहेति तत्प्रयोगं विना तत्प्रतीतायेव विश्रान्ते । एवं चेति । परमाद् विनाशब्दं विनापि तदर्थविवक्षा भवतीत्यर्थः । यथोदाहृत इति निरर्थकमित्यादी । यथा वा—

हंसाण सरैहिं विण सराण सोहाविणा ण हंसेहिं ।

अणोणं चिअ एए अणाणं णवरं गरुएति ॥'

यथाकथंचिच् = जिस किसी प्रकार अर्थात् यद्यपि जैसे सहशब्द के विना भी सह अर्थ में तृतीया हो जाती है वैसे ही विना शब्द के विना भी विना के अर्थ में द्वितीया आदि होती हैं तथापि उनका अर्थ वाक्यार्थ के पर्यालोचन के बल पर निकलता है ।

सहशब्द के विना भी सहशब्द के अर्थ की विवक्षा का उदाहरण यथा—

'कर्णिकार [अमलताश] के फूल उठने पर ऐसा कौन व्यक्ति था जिसकी दृष्टि का शक्तौ नासिका से विवाद न हो रहा हो । दृष्टि उसके सुवर्णोपम वर्ण की बन्दी बनी हुई थी और नासिका उसमें गन्ध का दारिद्र्य बतला रही थी ।' [मंजुकृत श्लोक-
शरित्त, इसी पद्य पर मङ्ग को 'कर्णिकार मंजु' नाम दिया गया था]

—यहाँ यद्यपि 'सह' शब्द का प्रयोग नहीं है तथापि प्रागपद में प्रयुक्त तृतीया विनक्ति उसी अर्थ में पर्यवसित होती है ।

एवंश्च = और इस प्रकार अर्थात् जब कि विना शब्द के अर्थ की विवक्षा विना शब्द के विना भी संभव होती है तब । यथा उदाहृत = 'निरर्थक' अर्थ में । दूसरा उदाहरण यह हो सकता है—

'हंसानां सरोभिर्विना सरसां शोभा विना च हंसैः ।

अन्यान्थं चैवेते आत्मानं केवलं गरयन्ति ॥'

—हंसों की शोभा सरोवरों के बिना नहीं होती और न तो सरोवरों की ही शोभा हंसों के बिना । ये दोनों केवल आपस में एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं ।

[सर्वस्व]

द्वितीया यथा—

'भृगुलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः ।

अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः ॥'

अत्राशोभनत्वाभावः शोभनपदार्थप्रक्षेपमङ्गल्योक्तः । सैषा द्विधाविनोक्तिः ।

द्वितीय [विनोक्ति] यथा—

'यह राजकुमार उत्त सुन्दरी के विना मूर्ति मूर्ति के व्यवहार की प्रतिभा की प्रभा से प्रगल्भ रहता है । इसी प्रकार उत्त मित्र के विना यह हृदय से चन्द्रमा के समान उज्वल रहा जाता है ।'—यहाँ अशोभनत्व का अभाव शोभन पदार्थ की वक्ति के द्वारा बतलाया गया है ।

इस प्रकार यह विनोक्ति दो प्रकार की हुई ।

विमर्शिनी

द्वितीयेति शोभनत्वनिबन्धनोक्तिः ।

द्वितीय विनोक्ति = शोभनता में पर्यवसित होने वाली विनोक्ति ।

विमर्श.—विनोक्ति का पूर्व इतिहास.—विनोक्ति का प्रतिपादन प्रथम बार मम्मट ने ही किया है । भामह, कामन, उद्भट, रद्रट तथा भोज के ग्रन्थों में यह नहीं मिलती । मम्मट ने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

‘विनोक्ति सा विनान्येन यत्रान्य सत्र नेतरः ।

—जहाँ अन्य के बिना अन्य शोभन न हो अथवा अशोभन न हो वह विनोक्ति । अशोभनत्व का उदाहरण—

‘अरुचिनिष्ठया विना दाशो शयिना सापि विना महत्तमः ।

उमयेन विना मनोभवरपुरित नैव सकास्ति कामिनोः ॥’

—राशि के बिना चन्द्रमा में कोई सौन्दर्य नहीं रहता और राशि भी चन्द्रमा के बिना घोर सम मिरा होती है । इन दोनों के बिना कामिजनों में काम का स्फुरण नहीं कचता । मम्मट का यह उदाहरण अन्योन्य विनोक्ति का स्वल्प माना जा सकता है ।

दूसरा शोभनत्व का उदाहरण—‘शृगलोचनया०’ पद्य । परवर्ती आचार्यों में अलङ्काररत्नाकरकार ने विनोक्ति को सहोक्ति के पदिले रखा है और उसका लक्षण यह किया है—

[सूत्र] ‘विना कश्चिद् सदसत्त्वे विनोक्तिः’ ॥ ४१ ॥

[वृत्ति] कैचिद् विना कस्यचिद् असन्निधानेऽन्तरस्य सत्त्वं शोभनत्वम् असत्त्वमशोभनत्वं वा विनोक्तिः ।

—किसी के बिना अर्थात् किसी के असन्निधान में अन्य किसी अर्थ का सत्त्व = शोभनत्व या असत्त्व = अशोभनत्व विनोक्ति ।

रत्नाकरकार ने विनोक्ति को शाब्द और आर्थ दो भागों बाँटा है । प्रथम के उदाहरण के रूप में शोभनत्व के लिए तो रत्नाकरकार ने भी ‘शृगलोचनया०’ पद्य ही प्रस्तुत किया है किन्तु द्वितीय के लिए—

‘स्वामी पिशुनकिमुक्तो मात्सर्यरहित कवित्स्वभा लोके ।

विषयरश्म्योऽपि निधिः प्राप्यते पूर्णपुण्ये ॥’

—जुगलसौरी से रहित स्वामी, मात्सर्य से रहित कवि और सर्प से रहित निधि पूरे पुण्यों से प्राप्त होते हैं ॥—यह उदाहरण दिया है जिसमें विनोक्ति का आधार ठीक उसी प्रकार वास्तविकता है जिस प्रकार ‘सत्याः शैत्यं विना अयोस्ता’ इस स्थल में ।

विक्रमाकदेवचरित का ४।१२०—‘प्रत्यक्नं मयुनेव०’ पद्य रत्नाकरकार ने बिना शब्द के अभाव के उदाहरण के रूप में दिया है । यह पद्य सर्वस्व की भी कुछ पाण्डुप्रतियों में मिलना है किन्तु बदरय और विषा चक्रवर्ती इसका कोई उल्लेख नहीं करते । कदाचिद् रत्नाकर के तुलनात्मक अध्ययन में लगे किसी विद्वान् ने अपनी हस्तलिखित प्रति में उसे जोड़ लिया होगा ।

रत्नाकरकार ने विनोक्ति को सम, विषम और प्रतिवस्तूपमा अन्कारों पर निर्भर माना है । विनोक्ति को अप्यदादीक्षित ने केवल कुण्वयानन्द में ही बतलाया है किन्तु साश नहीं । पण्डितराज ने विनोक्ति का लक्षण ‘विनार्थसम्बन्ध’—भाव किया है, अर्थात् उसमें विनाहृत वस्तु की रमणीयता या अरमणीयता का निवेश नहीं किया और दीपक, प्रतिवस्तूपमा तथा दलेपमूलक

उपमा को सहायक बतलाते हुए, 'निरर्थक जन्म' पद्य में विनोक्ति की ध्वनि मानी है। इस पद्य का चतुर्थ चरण इनके रसगंगाधर में ऐसा है—'कृता विनिद्रा नलिनीन येन'।

कौस्तुभकार विश्वेश्वर ने विनोक्ति का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के ही अनुसार इस प्रकार किया है—

'यत्रान्येन विनान्योऽसाधुः सन् वा विनोक्तिः सा ।'

—जहाँ अन्य के बिना अन्य शोभन या अशोभन हो वहाँ विनोक्ति।

अलंकारभाष्य का जो बचन विमर्शिनीकार ने उद्धृत किया है उसको पण्डितराज तथा विश्वेश्वर पण्डित ने भी उद्धृत किया है और वही अरुचि ज्वन्त की है जो स्वयं विमर्शिनीकार ने की है। इन दोनों ने वास्तविकता पर निर्भर विनोक्ति को अलंकार मानना अवैधानिक बतलाया है।

प्राचीन आलंकारिकों द्वारा विनोक्ति को अलंकाररूप से न गिनने में हेतु सोचते हुए रत्नाकर-कार ने कहा था कि—'इसमें चमत्कार स्वतः का नहीं अन्य अलंकारों का रहता है'—ऐसा मानकर ही कदाचिद् अन्य आचार्य इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते। वस्तुतः इसमें चमत्कार 'विनाभाव' से निम्पन्न होता है इसलिए इसे अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत मानना अनुभवविरुद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कदाचिद् इन्हीं तर्कों पर विनोक्ति को स्वतन्त्रता का मौन समर्पण किया है। उन्होंने लिखा है—

'मलङ्कारान्तरसमालिङ्गनाविभूतमेवास्या ह्यतद्वन्, न स्वतः, तेनालङ्कारान्तरत्वमपि शिथिल-मेवेत्यपि वदन्ति ।' - अर्थात्—

'इसमें चमत्कार दूसरे अलंकारों के योग से ही आता है, स्वतः नहीं, इस कारण इसे स्वतन्त्र अलंकार मानना भी शिथिल ही है—'ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।' स्पष्ट ही उन्होंने—'कुछ लोग' कहकर अपनी असंमति व्यक्त कर दी है। विनोक्ति पर हुए इस आक्षेप की प्रति उनकी असंमति इससे भी स्पष्ट है कि यह पक्ष उन्होंने विनोक्ति के उपसंहार में सूचित किया है वह भी अलंकार-भाष्य के उपर्युक्त मत के पक्षार्थ। अलंकारकौस्तुभकार ने भी इस पक्ष को अमान्य बतलाया है। स्पष्ट ही विनोक्ति में 'विनाभाव'—का एक स्वतन्त्र चमत्कार रहता है इसलिए इसे सप्त, विषम, दीपक, प्रतिवस्तुपमा, उपमा या पर्यायोक्त आदि में अन्तर्भूत करना उचित नहीं है।

इस प्रकार सर्वस्वकार ने भेद को प्रधानता पर निर्भर व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति इन तीन अलंकारों का निरूपण किया। वस्तुतः इनमें प्रथम दो ही भेद प्रधान माने हैं। विनोक्ति तो केवल इसलिए बतला दी गई है कि वह सहोक्ति से ठीक उलटी किन्तु चमत्कारक अभिव्यक्ति है। संजीविनीकार ने विनोक्ति के सर्वस्वकारकृत इस संपूर्ण विवेचन का सारसंक्षेप इस प्रकार किया है—

'सदसस्त्वनिवृत्तिश्चेन्नित्यान्वयस्य वप्यते ।
तदा द्विधा विनोक्तिः स्याद् विधिरत्र फलं भवेत् ॥'

'—अन्य की निवृत्ति से यदि अन्य के शोभनत्व और अशोभनत्व की निवृत्ति बतलाई जाए तो वह दो प्रकार की विनोक्ति होती है। इसमें फल रहता है विधि ।'

[सर्वस्व]

अधुना विशेषणविच्छिन्नस्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते । तत्रादौ विशेषण-साम्याद्यष्टम्भेन समासोक्तिमाह—

[सू० ३२] विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समाप्तिः ।

इह प्रस्तुताप्रस्तुतानां क्वचिद् वाच्यत्वं क्वचिद् गम्यत्वमिति द्वैविध्यम् । वाच्यत्वं च श्लेषनिर्देशमद्वया पृथगुपादानेन चेत्यापि द्वैविध्यम् । एतद् द्विभेदमपि श्लेषालंकारस्य विषयः । गम्यत्वं तु प्रस्तुतनिष्ठमप्रस्तुतप्रशंसा-विषयः अप्रस्तुतनिष्ठं तु समाप्तोक्तिविषयः । तत्र च निमित्तं विशेषण-साम्यम् । विशेष्यस्यापि साम्ये श्लेषप्राप्तेः । विशेषणसाम्याद्धि प्रतीय-मानप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते । अवच्छेदकत्वं च व्यवहारसमा-रोपः । रूपसमारोपे त्ववच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपरूपित्वाद् रूपकमेव ।

[भेदप्रधान अलंकारों का निरूपण करने के पश्चात्] अब ['समाप्ति और परिकर' इन] दो अलंकारों का विवेचन करने है जिनमें चमत्कार [समास और सामिप्राय] विशेषणों पर निर्भर रहता है । इन दोनों में विशेषणगत समानता [दोनों पक्षों में अन्वित होने की क्षमता अतः दिग्दृष्टता] को लेकर निम्नलिखित होने वाले [और समीलिप परिकर की अपेक्षा अधिक चमत्कारक] समाप्तोक्ति का निरूपण पहले करते हैं—

[सूत्र ३२] [केषल] विशेषणों के साम्य [= श्लेष] से यदि अप्रस्तुत गम्य हो तो समाप्तोक्ति ॥

[वृत्ति] यहाँ [अलंकारों में] प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्देश दो प्रकार से किया जाता है (१) वाच्यरूप से और (२) गम्यरूप से । जो निर्देश वाच्यरूप से किया जाता है वह भी दो प्रकार का होता है (१) श्लेष द्वारा और (२) अलग अलग शब्दों द्वारा । ये दोनों ही प्रकार के वाच्य निर्देशों में अलंकार श्लेष ही माना जाता है । किन्तु जहाँ निर्देश गम्यरूप से रहता है वहाँ यदि वह प्रस्तुत विषयक हो [अर्थात् प्रस्तुत अर्थ गम्यरूप से प्रतीय हो] तो अलंकार होता है—अप्रस्तुतप्रशंसा । और यदि अप्रस्तुतविषयक हो [अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ गम्यरूप से प्रतीय हो] तो अलंकार को समाप्तोक्ति कहा जाता है । इसका निमित्त होती है केवल विशेषणों की समानता क्योंकि यदि विशेष्य भी [प्रकृताप्रकृतोभय—] समान हो तो वहाँ श्लेष हो जाता है । अप्रस्तुत अर्थ जब विशेषण की समानता से गम्यरूप में प्रतीय होता है तब वह प्रस्तुत का अवच्छेदक होकर प्रतीय होता है । अवच्छेदक होने का अर्थ है व्यवहार का आरोप, रूप का आरोप नहीं । रूप का आरोप मानने पर तो प्रकृत अर्थ अप्रकृत अर्थ से अवच्छादित हो गायगा और तब वहाँ रूपक होगा । क्योंकि [अप्रकृतरूप से अवच्छादित] प्रकृत वहाँ वस्तुन-अप्रकृत के रूप से रूपिन ही होगा ।

विमर्दिनी

तत्रैत्यलंकारद्वयमभ्यास । आदाविति प्रधानतया । अस्या हि विशेषणमात्रावष्टम्भा-परिकराद्विशेषणसाम्यावष्टम्भत्वेन विशिष्टत्वम् । विशेषणेत्यादि । अस्याश्चालंकारान्त रेभ्यो विमार्गं दर्शयितुमुपक्रमते—इत्येत्यादिना । वाच्यत्वं चात्र द्वयोः प्रस्तुतयोरप्रस्तुतयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्च भवति । गम्यत्वं पुनः क्वचित्प्रस्तुतस्य क्वचिच्चाप्रस्तुतस्य । प्रस्तुताप्रस्तु-तयोरतु न भवति । ताद्रूप्येण वस्तुसद्भावाभावात् । श्लेषनिर्देशमद्वयेति । प्रस्तुतयोरप्रस्तुत-योश्च । पृथगुपादानेनेति । प्रस्तुतयोरप्रस्तुतयो- प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्चैतदिति वाच्यम् । अत्र चाप्रस्तुतस्य किंहेतुकं गम्यत्वमित्यह्याह—तत्र चेत्यादि । तत्रेति अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे । विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितमिति न वाच्यम् ।

‘श्वसनविपमा रात्रिर्ज्योत्स्ना तरङ्गितविभ्रमा शशिमणिभुवो चाप्पायन्ते निमीलति पद्मिनी ।
उपविततमोमोहा भूमिर्व्यनक्ति विवर्णतां तदिति गहने दर्शं दर्शं कथं सखि जीव्यते ॥’

इत्यथ विशेषणबहुवचनमात्रेऽपि समासोक्तेः सद्भावात् । अतश्च विशेषणानां साम्या-
दीति न सूत्रणीयम् । अथ बहुत्वे तस्याभ्यासेः । विशेषणसाम्यमपि कस्मादत्र हेतुत्वं भजत
इत्याशङ्क्याह—विशेषणेत्यादि । अप्रस्तुतमिति न पुनरप्रस्तुतधर्मा एव । नह्यन्यधर्मिसंब-
न्धिनो धर्माः स्वधर्मिणमन्तरेणान्यत्रावतिष्ठन्ते । नह्यनाचके नायकधर्माणामन्वयो युज्यते ।
अन्यधर्माणामन्यत्रान्वयासंभवात् । अत एवान्यरोप्यमाणोऽन्यवहारोऽन्यत्र न संभवतीति
तद्विनाभावात्स्वव्यवहारिणमाक्षिपतीत्याक्षिप्यमाणेनाप्रस्तुतेन धर्मिणैव प्रस्तुतो धर्म्य-
वच्छिद्यते न पुनरच्छिद्यते । तथात्वे अप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य रूपरूपितत्वादूपसमा-
रोपः स्यात् स्वव्यवहारसमारोपः । अत एवाह—प्रस्तुतावच्छेदकत्वेनेति । अत एवाप्रस्तुतस्य
गम्यत्वे इति सूत्रितम् । एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्य-
लक्षणमवच्छेदकत्वं विधीयते । रूपके तु रूपसमारोपाद्रूपरूपितत्वागम्याच्छादकत्वमित्य-
नयोर्भेदः । तेन ‘विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेद’ इत्यपास्यात्मलक्षणानुगुण्येनैव
विशेषणसाम्यादप्रस्तुतावच्छेदः समासोक्तिरित्येव सूत्रणीयम् । अतिशयोक्त्याशङ्क्या पुनरप्र-
तिप्रमाणिकैव । विषयस्योपादानाद्विषयिणश्चानुपादानात् ।

तत्र = उन दोनों अर्थकारों में से । आशु = पहले, पहले इसलिये कि दोनों में यही प्रधान
है । समासोक्ति जो है, वह परिकर से अधिक महत्व की है क्योंकि परिकर में विशेषण केवल
साभिप्राय रहते हैं जब कि समासोक्ति में प्रस्तुत के समान अप्रस्तुत अर्थ में भी अम्वित होने
योग्य । ‘विशेषण’-इत्यादि [सूत्र है] । अब इसका अन्य अर्थकारों से अन्तर दिखलाने के लिये
कहते हैं—‘इह = यहाँ = अर्थकारों में’ इत्यादि । यहाँ वाच्यता तो ऐसे भी दो पदार्थों की होती
है जो केवल प्रस्तुत हैं, ऐसे भी दो की होती है जो दो केवल अप्रस्तुत हैं और दोनों की भी
जिनमें एक प्रस्तुत हो और दूसरा अप्रस्तुत । किन्तु गम्यता कहीं केवल प्रस्तुत की होती है और
कहीं केवल अप्रस्तुत की । प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों एक साथ गम्य नहीं होते । इसलिये ऐसा
होना कहीं संभव ही नहीं ।

श्लेषनिर्देशभङ्ग्या = श्लेष द्वारा निर्देश अर्थात् केवल प्रस्तुतों का ही या केवल अप्रस्तुतों का
ही । पृथक्पृथक्पादान = अलग अलग कथन अर्थात् केवल प्रस्तुतों का, केवल अप्रस्तुतों का या
प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का । ‘इस समासोक्ति में जो अप्रस्तुत गम्य रहता है इसका कारण
क्या होता है’—इस पर उत्तर देते हैं—‘तत्र च’ । तत्र = वतमें = अप्रस्तुत के गम्य होने में । यहाँ
यह बोध आवश्यक नहीं है कि विशेषण बहुत ही हों क्योंकि—

‘रात समीर से विपम है, चाँदनी तरंग के विभ्रम से सुक है । चन्द्रकान्तमणि की भूमियों
आँसू बहा रही हैं, कमलिनी मुँद रही हैं, तम की अंधियारी बढ़ जाने से भूमि भी अब विवर्ण
होती जा रही है—यह सब जंगल में देख देखकर, हे सखि जिस कितों प्रकार जिया जा रहा है ।’

—यहाँ आदि में एक एक ही विशेषण है तथापि वतमें [नायिकात्व आदि
प्रतीत होने से] समासोक्ति है । इसलिये [सर्वस्वकार और रत्नाकरकार दोनोंको] ‘विशेषणों की
की समानता’ इस प्रकार सूत्र में विशेषण शब्द के साथ बहुवचन नहीं जोड़ना चाहिए । उसे
जोड़ने से उस समासोक्ति में लक्षण लागू नहीं होगा जिसमें विशेषण अनेक नहीं होते ।

विशेषणसाम्य भी यहाँ हेतु कित कारण बन जाता है—‘इस शंका पर उत्तर देते हैं—
‘विशेषण’-इत्यादि । अप्रस्तुत = अप्रस्तुत भी, न कि अप्रस्तुत के धर्म ही । क्योंकि जो धर्म
किसी अन्य धर्मों में रहते हैं वे अपने धर्मों को छोड़कर अन्य किसी धर्मों में नहीं

पहुँचते। अनायक में नायक के धर्मों का सम्बन्ध ठीक होता भी नहीं। फिर वस्तुस्थिति यह है कि अन्य के धर्मों का अन्य में सम्बन्ध समवर्ती नहीं है। इस कारण सिद्धान्त यह मानना होता है कि जब अन्य का व्यवहार अन्य में समव नहीं होता तब यदि वह अन्य पर आरोपित किया जाना है तो वह अपने व्यवहारी=धर्मों अर्थात् जिसमें वह कर्मों भी अलग नहीं होता, का आक्षेप कर लेता है और आक्षेप द्वारा प्राप्त यह अप्रस्तुत व्यवहारी=धर्मों प्राप्त व्यवहारी=धर्मों में निविष्ट होता है; ऐसा नहीं कि प्रस्तुत धर्मों अप्रस्तुत धर्मों से अवच्छादित किया जाता है। क्योंकि अवच्छादिन किए जाने पर तो प्रस्तुत अप्रस्तुत के स्वरूप से रूपित हो जाएगा फलतः वह रूपका आरोप मानना होगा व्यवहार का नहीं। इसी विषय की मनमें रखकर कहते हैं— 'प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन'०। इसीलिङ्ग सूत्र में 'अप्रस्तुत गम्य हो तो' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार समासोक्ति में व्यवहार का समारोप हो जाने पर प्रस्तुत धर्मों अप्रस्तुत धर्मों से विशिष्ट बन जाता है, इसे ही अप्रस्तुत के प्रति अवच्छेदक बनना कहा जाता है।

रूपक में समारोप होता है रूपका, अतः यहाँ प्रकृत को अप्रकृत से अवच्छादित माना जाता है क्योंकि अवच्छादितस्व रूपरूपितस्व का ही दूसरा नाम है। यह है अवच्छेदकत्व और अवच्छादितस्व का परस्पर में अन्तर [इसलिङ्ग अप्रस्तुत धर्मों के प्रस्तुत धर्मों में अवच्छेदक बनने में अलङ्काररत्नाकरकारने जो रूपक की शंका प्रस्तुत की है वह निर्मूल हो जाती है] और इसीलिङ्ग [अलङ्काररत्नाकरकार की भी] समासोक्ति लक्षण के लिए—'विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत के धर्म से [प्रस्तुत का] अवच्छेद' ऐसा सूत्र न बनाकर हमारे लक्षण के अनुरूप केवल 'विशेषणों की समानता रहने से अप्रस्तुत का अवच्छेद' ऐसा ही सूत्र बनाना चाहिए। और [अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रस्तुत धर्मों पर अप्रस्तुत धर्मों के अवच्छेद का लक्षण करते हुए] जो अतिशयोक्ति होने की शंका प्रस्तुत की है वह भी बिल्कुल निर्मूल है क्योंकि यहाँ उपादान विषय का ही रहता है और अनुपादान विषयों का ही [अब कि अतिशयोक्ति होती है विषय के अनुपादान तथा विषयों के उपादान होने पर]।

विमर्शः—अलङ्काररत्नाकरकार ने समासोक्तिका लक्षण अलङ्कारसर्वस्वकार से भिन्न किया था और उसका कारण सर्वस्वकार के लक्षण में रूपक या अतिशयोक्ति की समावना बतलाया था। विमर्शनीकार ने उसी का लक्षण ऊपर के विवेचन द्वारा किया है। अलङ्काररत्नाकर का सम्बन्धित विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र] 'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेद- समासोक्ति.'।

[वृत्ति] (क) समानविशेषणमहिम्ना यत्र प्रस्तुतस्वार्थस्याप्रस्तुतगतगुणक्रियादिरूप-धर्मविच्छेद प्रतीयते सा समासोक्तिः। ततश्चाप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः, न रूपसमारोपः। पृ. ७१

(ख) अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतवस्तुसम्बन्धिनो धर्मो एव प्रतीयन्ते, न तु धर्म्यपि; धर्मिणोऽपि प्रतीतो रूपसमारोपाद् रूपकम् अतिशयोक्तिर्वा स्यात्, न तु समासोक्तिः, अत एव नाप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, अपितु तदधर्माणामेव। तेन 'अप्रस्तुतस्य गम्यत्व' इत्यादिलक्षणमेव।

[सू०] विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत के धर्म का [प्रस्तुत में] अवच्छेद समासोक्ति।

[वृत्ति] (क) समान विशेषणों के वल पर जहाँ प्रस्तुत अर्थ में अप्रस्तुत अर्थ के गुण क्रिया आदि रूप धर्मों का अवच्छेद प्रतीत हो वह समासोक्ति। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत के व्यवहार का ही आरोप होता है रूपका नहीं।

(ख) यहाँ विशेषणमात्र या साम्य रहता है अतः यहाँ अप्रस्तुत वस्तु के धर्मों की ही प्रतीति होती है, धर्मों की नहीं। धर्मों की भी प्रतीति हो तो आरोप रूप का होगा। तब या तो

रूपक होगा या अतिशयोक्ति; समासोक्ति नहीं। इसीलिये गम्यता अप्रस्तुत की मानना ठीक नहीं है, अप्रस्तुत के धर्मों की ही गम्यता मानना ठीक है। इस कारण [सर्वस्वकार का] 'अप्रस्तुत गम्य हो तो'—इत्यादि समासोक्ति लक्षण ठीक लक्षण नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सर्वस्वकार के 'विशेषणसाम्याद्धि-प्रकृतलूपरूपभित्वाद् रूपकमेव रयात्'—इस अंश को उद्धृत किया है और 'तदेतद्भुक्तिमात्रमणीयम्'—कहकर इसका खण्डन किया है और तदर्थं प्रायः रत्नाकरकार द्वारा प्रस्तुत तर्क ही उपस्थित किए हैं। किन्तु विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत समाधान से वे सहमत हैं। पण्डितराज ने प्रस्तुत धर्मों पर अप्रस्तुत धर्मों का आरोप तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु वे उन दोनों धर्मियों के अभेद को अस्वीकार नहीं कर सके। उनकी पंक्ति है—

(क) विशेषणसाम्यमहिम्ना प्रतीतोऽप्रवृत्तवाक्यार्थः स्वानुशुणं नायिकादिमर्ममाक्षिप्य तेन परिपूर्णविशिष्टशरीरः सन् प्रकृतवाक्यार्थे स्वाक्यवतादास्यापन्नतदवयवोऽभेदेनावितिष्ठते । स च परिणाम इव प्रकृतात्मनैव कार्योपयोगी, स्वात्मना च रसाद्युपयोगी ।

(ख) अप्रकृताभिन्नतया व्यवसितः प्रकृतव्यवहारः स्वविशेष्ये तद्विशेष्याभिन्नतयाऽवस्थिते भासते ।

—[क] विशेषणसाम्य के बल पर प्रतीत हुआ वाक्यार्थ अपने अनुरूप नायिका आदि धर्मों का आक्षेप कर लेता है, और उसके द्वारा उस अप्रस्तुत वाक्यार्थ का शरीर पूर्ण हो जाता है। तब वह प्रकृतवाक्यार्थ में अभेद सम्बन्ध से सम्बन्धितप्रतीत होता है, इस अभेद में कारण होता है दोनों वाक्यार्थों के अवयवों का परस्पर में अभेद। अप्रकृत अर्थ कार्योपयोगी होता है प्रकृतरूप से ही। अपने आप के रूप में वह रसोपयोगी बनता है।

[ख] प्रकृत व्यवहार अपने अप्रकृत धर्मों से अभिन्नरूप से प्रतीत हो रहे—धर्मों में अप्रकृत व्यवहार से अभिन्नरूप से भासित होता है। पण्डितराज ने कुनख्यानन्दकार अन्ययदीक्षित को सर्वस्वकार की आशा का अनुवर्ती कहा है और उनका विभिन्न सात तर्कों द्वारा खण्डन किया है।

[सर्वस्व]

तच्च विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया साधारण्येनौपम्यमर्मत्वेन च भवत्
त्रिधा भवति तत्र श्लिष्टतया यथा—

'उपोढरानेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।

यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम् ॥'

अत्र निशाशशिनोः श्लिष्टविशेषणमहिम्ना नायकव्यवहारप्रतिपत्तिः ।
अपरित्यक्तस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्नायकताख्यधर्मविशिष्टयोः प्रतीतेः । साधा-
ण्येन यथा—

'तन्वी मनोरमा चाला लोलाक्षी पुष्पहासिनी ।

विकासमेति सुभग भवदर्शनमान्नतः ॥'

अत्र तन्वीत्यादिविशेषणसाम्याल्लोलाक्ष्या लताव्यवहारप्रतीतिः । तत्र च लतैकवामिविकासख्यधर्मसमारोपः कारणम् । अन्यथा विशेषणसाम्य-
मात्रेण नियतलताव्यवहारस्याप्रतीतेः । विकासश्च प्रकृते उपचरितो ज्ञेयः ।
पद्यं च कार्यसमारोपेऽपि ज्ञेया । इयं च समासोक्तिः पूर्वापेक्षयाऽस्पष्टा ।

यद् जो विशेषणसाम्य है यद् (१) श्लिष्ट रूप से (२) साधारणरूप से और (३) उपमा-गमितरूप में होता है, अतः तीन प्रकार का होना है। इन तीनों में से प्रथम श्लिष्ट विशेषणसाम्य का उदाहरण है।

‘राग लिए चन्द्र ने निशा का चंचल ताराओं वाला मुख इन प्रकार पकड़ा कि उसने राग के कारण सामने से ही सारे के सारे जिसके अवकाररूपी अनुक को भी नहीं जाना।’

—यहाँ जो निशा और शशी के विशेषण हैं वे श्लिष्ट हैं। उनके आधार पर यहाँ नायक तथा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ निशा और शशी अपना स्वरूप बिना छोड़े नायकता [नायिकात्व तथा नायकत्व] नामक धर्म से युक्त प्रतीत होते हैं।

साधारणधर्मरूप से (विशेषणसाम्य), यथा—हि सुमग। तुम्हें देखने भर से वह तन्वी, मनोरमा, बाला और पुष्पदासिनो चंचलाश्री खिल उठनी है।’

—यहाँ ‘तन्वी’ आदि विशेषणों के साम्य से चंचलाश्री शब्द से कथित नायिका में लजा के व्यवहार की प्रतीति होती है। इसमें कारण है विकास नामक धर्म का समारोप जो एकमात्र लता का ही धर्म है। इसके बिना अन्य विशेषणों के समान होने पर भी उनमें भर से लता के व्यवहार की प्रतीति निश्चिन्तरूप से न होती। प्रस्तुत अर्थ [नायिका] में विकास की लक्षणात्मक समझना चाहिए। [इन उदाहरण से] यह भी जान लेना चाहिए कि [न केवल व्यवहार या धर्म के ही समारोप से अपितु] कार्य के समारोप से भी समासोक्ति होती है [क्योंकि इस पद्य में ‘विकसित होना’ = ‘खिलना’ एक क्रिया है]। यह जो [क्रिया के समारोप से सम्भव] समामोक्ति है पूर्ववर्ती समामोक्ति की अपेक्षा कुछ कम स्पष्ट है।

विमर्शिनी

तद्विति अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे निमित्तम् । तत्रेति निर्धारणे । नायकेनिरूपयोरैकशेषः । अपरित्यक्तस्वरूपयोरिति । रूपरूपितत्वे हि परित्यक्त स्वरूपरूपं स्यात् । तत्रेति । लजा-व्यवहारप्रतीतिः । ननु यदि लतैकगात्रेणैव विकासोक्तयो धर्मैस्तत्कर्म प्रकृते संगच्छत इत्याशङ्क्याह—विकास इत्यादि । एतदेवान्यत्रापि चोक्तयति—एवमित्यादिना । तदेवं साधारण्येन समामोक्तैर्विरोपगताभ्ये सख्यभ्यप्रकृतसवन्धि धर्मकार्यसमारोपसम्भरेण तद्व्यवहार-प्रतीतिर्न भवतीति सिद्धम् ।

तत् = वह विशेषणसाम्य अर्थात् वह विशेषणसाम्य जो अप्रस्तुत की गम्यता में कारण बनना है। तत्र = इनमें, यद् निर्धारणार्थक है। नायक = शब्द में एतद्विषय समास है क्योंकि नायक और नायिका में दोनों शब्द समान रूप वाले हैं। ‘अपरित्यक्तस्वरूपयोः’ = ‘अपना स्वरूप बिना छोड़े’ = जब रूप का आरोप होता है तब [आरोप के विषय निशा शशी आदि का] अपना स्वरूप छूट जाता है। तत्र = इसमें अर्थात् लजाव्यवहारप्रतीति में। ‘यदि विकास धर्म केवल लनामात्र में अन्विष्ट होने वाला है तो फिर वह प्रकृत नायिका में अन्विष्ट कैसे होगा?’ ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—‘विकाम’ इत्यादि। इसी विषय में से एक नवीन तथ्य का निर्देश करते हुए कहते हैं—‘एवम्’। इस प्रकार यद् निम्न हुआ कि साधारण्य से निष्पन्न समामोक्ति में विशेषणों का साम्य रहता है तथापि अप्रकृत से सवन्धि धर्म अथवा कार्य के समारोप के बिना उस [अप्रकृत] के व्यवहार की प्रतीति नहीं होती। [नीचे दिए विवेचन में पण्डितराज ने मूल का स्पष्टन करते हुए विमर्शिनी के इस अर्थ को निरस्त कर दिया है। पण्डितराज अत्रापि ने ‘तन्वी मनोहरा’—इस पद्य में व्यंग्यरूपक मानना उचित बतलाया है, और अलङ्कारसर्वस्वकार का स्पष्टन करते हुए समामोक्ति को अमान्य ठहराया है। उनका प्रथम तर्क यह है कि इस पद्य में

कव्य अर्थ की प्रतीति एक मात्र साधारण धर्म के आधार पर न होकर 'विकास'-रूपी असाधारण धर्म के आधार पर हो रही है। समासोक्ति केवल नहीं मानी जा सकती है जहाँ सभी विशेषण साधारण हों। उन्होंने सर्ववकार पर यह भी दोष लगाया है कि उनकी यह मान्यता उन्हीं के सूत्र के विरुद्ध है। सूत्र में विशेषणों की साधारणता को अन्यार्थ की प्रतीति में कारण बतलाया गया है जब कि वहाँ असाधारणता को। पण्डितराज का कथन अधिक संगत प्रतीत होता है। [३० रसगंगाधर पृ० ५०९-१०, नि. सा. सं. ६]

[सर्वस्व]

औपम्यगर्भत्वेन यथा—

'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी ।

केशपाशालिवृन्देन सुवेपा हरिणेक्षणा ॥'

अत्र दन्तप्रभा पुष्पाणीवेति सुवेपत्ववशादुपमागर्भत्वेन कृते समासे पश्चाद्दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेति समासान्तराश्रयणेन समानविशेषणमाहात्म्याल्लताव्यवहारप्रतीतिः । अत्रैव 'परीता हरिणेक्षणा' इति पाठे उपमारूपसाधकवाधकाभावात् संकरसमाश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्ववत् समासान्तरमद्भिन्ना लताप्रतीतिर्हेया । रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रयणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविधितिरूपकमुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात् । न च पूर्वदर्शितोपमासंकरविषये एव न्यायः । उपमासंकरयोरेकदेशविधितिनोरभावात् । तच्चैकदेशविधितिरूपकमश्लेषेण श्लेषेण च भवतीति द्विविधम् । अश्लिष्टं यथा—

'निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः ।

धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास ॥'

अत्र निरीक्षणानुगुण्याद्विद्युन्नयनैरिति रूपके पयोदस्य द्रष्टृपुरुष-निरूपणमार्ततरं ररासेत्यत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षाया निमित्तरत्वं भजते । श्लिष्टं यथा—

'मदनगणनास्थाने लेख्यप्रपञ्चमुदञ्चयन्

विचकिल-वृहत्पत्रम्यस्तद्विरेफमपीलवैः ।

कुटिललिपिभिः कं कायस्थं न नाम विसूत्रयन्

व्यधित विरहिप्राणेष्वायन्ययावधिकं मधुः ॥'

[श्री० च० ६।७०]

अत्र हि पत्रलिपिकायस्थशब्देषु श्लेषगर्भं रूपकं द्विरेफमपीलवैरित्येतद्रूपकनिमित्तम् । अस्य च प्रचुरः प्रयोगविषय इति न समासोक्ति-बुद्धिः कार्या ।

उपमानित विशेषणसाम्यं का उदाहरण यथा—'दन्तप्रभापुष्पं ते खचित, पाणिपल्लव ते सुशोभित और केशपाशममराज्जी से सुवेपा है यह शृगावी ।'

—यहाँ [नायिका में लनाभ्यवहार की प्रतीति होती है किन्तु] सुवेपथु [केवल नायिका का धर्म है अतः उस] के कारण [सभी विशेषणों को नायिकापक्ष में अन्वित करने हेतु] पढ़िठे 'दन्तप्रमा पुष्प के समान' ऐसा उपमायुक्त [उपमित-] समास करना होता है, तत्पश्चात् [उन्हीं विशेषणों को लनापक्ष में अन्वित करने हेतु] 'दन्तप्रमामदृश पुष्प' इस प्रकार एक दूसरा [मध्यमपदलोपी या विशेषण] समास अपनाना पड़ता है तब कहीं विशेषणों की समानता बनती और लताभ्यवहार की प्रतीति होती है। यहाँ यदि 'परीता = धिरी हुई है मृगाक्षी' ऐसा पाठ होता [अर्थात् केवल नायिका में ही अन्वित होने वाला सुवेपथु जैसा कोई विशेषण न रहता] तो न तो यहाँ उपमा का साधक प्रमाण रहता और न रूपक का बाधक। तब [विग्रहवाक्य में] दोनों का संकर मानकर पदार्थ योजना की जाती [किन्तु तब भी नायिका पक्ष प्रथम पक्ष है अतः उसके अनुरूप विशेषणयोजना में महायक उपमितिसमासमूलक विग्रह पहले किया जाता और] तत्पश्चात् पूर्ववत् अन्य समास [मध्यमपदलोपी या विशेषण समास] के आधार पर लता प्रतीति होती हुई मानी जाती। यदि [यहाँ विशेषण में सीधे सीधे] रूपक ही माना जाय और तदर्थ अन्य समास [मध्यमपदलोपी या विशेषण] ही यहाँ [प्रथमतः] अपनाया जाय तो यहाँ विशेषणों में समानता [उभयपक्ष में अन्वय की योग्यता] तो आ जायगी, किन्तु उसने समासोक्ति की भिन्नि नहीं होगी, क्योंकि तब दूसरे अर्थ [लता] का बोध एकदेशविवर्त्ता रूपक से ही हो जायगा फलतः उस [इस समासोक्ति का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा] वह व्यर्थ पढ़ जायगी। यह स्थिति पूर्व-दक्षिण उपमा तथा संकर के विषय में लागू न होगी क्योंकि उपमा और संकर एक देशविवर्त्ता नहीं होते।

[सर्गस्व के 'भोपम्यगर्मत्वेन' इस अंश से लेकर उपमा संकरयोरैकदेशविवर्त्तितोरभावात्— इस अंश तक स्पष्टीकरण पण्डितराज अंगराय ने अपनी भाषा में इस प्रकार किया है—'भोपम्यगर्मत्वेनापि विशेषणसाम्ये समक्षति। यथा - 'दन्त-शुभा' अत्र हरिगेषुगामाप्रवृत्ते सुवेपथुस्य महिम्ना दन्तप्रमासदृशानि पुष्पाणीत्यादि योजनां विहाय दन्तप्रमा पुष्पाणीवेत्याद्युपमितसमासाश्रयेण कृते योजने प्रकृतार्थसिद्धौ मर्त्या वृत्त्यन्तरेण त्यक्त्वाया अपि योजनाया पुनरुज्जीवने पुष्पपञ्चवालिशुन्दैरूपनेयैराक्षिप्तया लतायाः प्रत्ययादत्र तद्व्यवहारारोपः। एवं सुवेपथुपहाय परीतेति कृत उन्मा-रूपकसाधकबाधकप्रमाणाभावात् तदुभयसंशयरूपसंकराश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्वोक्तरीत्या लता-प्रतीतिः समासोक्तिरेव। समासभेदानार्थं भेदेऽपि शुन्दैक्यमादाय दिष्टमूलायामिव विशेषणामन्य बोध्यम्। आदावन्ते वा रूपकाश्रयेण दन्तप्रमा एव पुष्पाणीति योजने कृते तु हरिगेषुगाद्ये भाक्षित-लतावादात्म्येनेकदेशविवर्त्तिरूपकेणैवाप्रकृतार्थप्रत्ययोरुपचेनार्थं समासोक्तेरत्र।'

—विशेषणसाम्ये भोपम्यगर्मित भी होता है। यथा—'दन्त प्रमा०' पद्यार्थ में। हरिगेषुगामात्र के विशेषण के सुवेपथु के बल पर 'दन्तप्रमासदृश पुष्प' इत्यादि योजना को छोड़कर दन्तप्रमा पुष्पों के समान इत्यादि उपमित समास की योजना करनी पड़ती है। तब प्रकृत (हरिगेषुगापक्षीय) अर्थ की सिद्धि होती है। इसके पश्चात् व्यंजना द्वारा छोड़ी हुई समाम्योजना को पुनः मिलाया जाता है। तब पुष्प, पत्तल और अलिवृन्द रूपी उपमेयों से लतारूपी उपमेय की प्रतीति आक्षेप से होती है फलतः उसके व्यवहार का आरोप नहीं हो पाता [जिससे यहाँ रूपक हो सके] किन्तु 'सुवेपथु' इस पद को छोड़कर 'परीता' यह पद अपना लिया जाय तो न तो यहाँ उपमा का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न रूपक का बाधक। इसलिये इन दोनों का संदेह संकर होगा। इस संकर की प्रतीति पढ़के होगी, तब पूर्वोक्तरीति से लता की प्रतीति होने पर यहाँ समासोक्ति ही होगी। यद्यपि समास बदलने हो अर्थ बदल जायगा तथापि शब्द नहीं बदलेंगे इसलिये जैसे श्रेयमूला समासोक्ति में विशेषणसाम्य होगा वैसे ही यहाँ भी हो जायगा। किन्तु

यदि आरम्भ या अन्त में रूपक के अनुरूप 'दन्तप्रभा की पुष्प' ऐसी योजना की गई तो हरिणेश्रृणा रूपी अर्थ पर आक्षिप्त लता रूपी अर्थ का तादात्म्य भासित होगा फलतः यहाँ एकदेशवर्ती रूपक ही जायगा। और तब अप्रकृत अर्थ की प्रतीति वसीसे ही जायगी, निदान यहाँ समासोक्ति का कोई प्रयोजन ही न रहेगा।]

यह एकदेशविवर्ती रूपक वहाँ श्लेषरहित होता है और कहीं श्लेषसहित। दोनों में से [प्रथम] श्लेषरहित का उदाहरण यथा—

'मेव विपुत्रयनों से रात में अभिसारिका का मुख देखकर क्रावित यह सोचकर अधिक आर्तता के साथ नाद करता है कि क्या गिरती धाराओं के साथ यह चन्द्र गिर पड़ा है ?'

—यहाँ निरीक्षण [रूपोक्त्यै नयनों में संभव है और उसका अन्वय नयनों के साथ तब संभव है जब समास में वहाँ की प्रधानता हो और ऐसा समास वही समास होगा जिससे रूपक की निष्पत्ति होती है, इस प्रकार निरीक्षण रूपक का] साधक है फलतः 'विद्युन्नयन'शब्द में ['विद्युद्रूपी नयन' इस प्रकार] रूपक सिद्ध हो जाता है। उससे मेव में द्रष्टा पुरुष का निरूपण होता है। यह 'अधिक आर्तता के साथ नाद करना है'—इस प्रकार की प्रतीयमान लक्षणा में कारण जनता है।

श्लेषसहित का उदाहरण यथा—

'मदन [रूपी राजा] के गणनास्थान में विचकिलगुहों के विशाल पत्तों [रूपी पत्तों] पर न्यस्त भ्रमररूपी मसीबिन्दुओं से लेखा जोखा का प्रपंच फैलाते हुए मधु ने विरहियोंके प्राणों का आनन्द्य अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार उसने कुटिल [और कूट] लिपि के लिए प्रसिद्ध [उपलक्षण में लुपीया] किस कायस्थ [काय = शरीर में स्थ = स्थित = आत्मा तथा काय = राज्याधिकरण में स्थ = स्थित = लेखपाल आदि अधिकारी] को न्यथित नहीं किया।

यहाँ जो है सो, पत्र, लिपि और कायस्थ शब्दों में श्लेषमूलक रूपक है। यह रूपक विरेफ मपीलब शब्द से प्रतिपादित [भीरों पर त्पाही की बूँदों के] रूपक का निष्पादक है।

इस एकदेशविवर्ती रूपक का प्रयोग बहुत अधिक होता है। यह समझे रहना चाहिए और वहाँ समासोक्ति नहीं समझ बैठना चाहिए।

विमर्शिनी

सुखेषर्वं प्रकृतार्थ एवानुगुणमित्युपमायाः साधकम् अतश्च तत्समासाश्रयः । समासान्तराश्रयणेनेति । यद्यप्यत्रोपमासमास एव स्थितस्तथाप्युपमानोपमेययोर्भार्ययाद्देव समासान्तरत्वमुक्तम् । पूर्वविद्ययास्यान्यथात्वात् । अत्रैवेति दन्तप्रमेर्यादौ । उपमारूपकसाधकव्यथाभावादिति । परीतवस्य हि प्रकृताप्रकृतयोस्तथा नानुगुण्यमिति साधकत्वाभावः । तथा च न त्रिगुणत्वमिति याधकत्वाभावः । अतश्चैकपक्षत्रयाभावादुपमारूपकयोः संदेहसंकरः । तस्य समाश्रयः उभयसमासग्रहणम् । तच्चैकस्मिन्नेव चाक्ये न संभवतीति कामधारेण तयोर्ग्रहणम् ।

संकरसमाश्रयेणाप्युपमासमासयोजने कृते यद्द्वयमेवालंकारस्तद्द्वयकसमासयोजनेऽपि किमप्यमेव किमुतालंकारान्तरमित्याशङ्क्याह—रूपकेत्यादि । एतच्च साक्षादपि रूपकगर्भे समासे योज्यम्, समानन्यायत्वात् । यद्येवं तर्हि उपमासमाश्रयेऽप्येकदेशविवर्त्युपमानुखेनैवाथान्तरप्रतीतेः किं नैतद्भवतीत्याशङ्क्याह—न चेत्यादि । एष इति रूपकोक्तः । अभावादिति उद्भटमतेन । यदाहुः—'न च रुद्रतस्यैवोद्भटस्यैकदेशविवर्ति-

रूपकवदुपमासकरावेकदेशिनौ स्तः ।' अतरचैतत्तन्मतामिप्रायेणोक्तम् । ग्रन्थकृन्मते हि वक्ष्यमाणनीरया तयोः समव । मनु यदि तयोर्ग्रन्थकृन्मते सभवस्तद्वीपम्यगर्भविशेषणो-
स्थापितः समामोक्तिप्रकारस्तद्दि न समवति । तस्यैकदेशविधवतिरूपकवदेकदेशविधवतिभ्या-
मुपमासकराम्यामेवार्थान्तरप्रतीतिसिद्धेर्वैयर्थ्यात् । नैतत् । यतोऽस्येव तावद्वीपम्यगर्भ-
विशेषणहेतुकत्वं समासोक्तेः । किञ्चैतद्व्यभेदसहचरितमेवाग्या निमित्ततां भजते न पुनः
वेधलम् । तथात्वे हि विशेषणानामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविधवतिभ्या उपमायाः प्राप्तिः ।
तत्र शिल्पत्वसहचरितमेतद्यथा—

'परिपिञ्जरितासिताम्बरैर्निविष्टैः कं न हरन्ति हारिभिः ।

अथि सायमिमाः पयोधरैः स्फुटरागाश्चलतारका दिशः ॥'

अत्र 'स्फुटसंस्थानपकुङ्कुमैः' इति पाठे संध्यातपकुङ्कुमैरियौपम्यगर्भं विशेषणम् ।
साधारण्यसहचरितं यथा—

'तन्वी मनोरमा बाला लोलाची स्तवकस्तनी ।

त्रिकाममेति सुभग भवदर्शनमात्रतः ॥'

अत्र स्तवकस्तनीर्यौपम्यगर्भं विशेषणम् । शुद्धकार्यसमारोपसहचरितं यथा—

'समाहरोहोपरिपादपानां सुलोठ पुष्पोत्करेणुपुञ्जे ।

लताप्रसूनांशुकमाचकर्षं प्रीडन्वने किं न चकार चैत्र ॥'

अत्र प्रसूनांशुकमित्यौपम्यगर्भविशेषणम् । केवलत्वे पुनरैतेपामेकदेशविधवतिभ्युपमैव
यथा—

'धमौ लोलाधरदलस्फुरद्गहनकेसरम् ।

भ्रूलिलासालिबलयं ललितं ललनामुखम् ॥'

अत्र ललितावमुपमासाधकम् । समासान्तराधवात् समानविशेषणत्वं भवदपि मात्र
समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविधव्युपमामुखेनेवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात् । एवं
दन्तप्रभेत्पादावपि ज्ञेयम् । दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्येव समासे कृते उपमानभूताया लतायाः
प्रतीतिसिद्धेः समासान्तराधवेणगतायास्तत्प्रतीतेर्गर्भत्वात् । अत्रकृतागूणे हि कथेः
संरम्भः तच्चानयैव सिद्धमिति किं समासोक्त्या । चिरंतनानुरोधत्वात् पुनरत्र ग्रन्थकृता
समासोक्तिरुक्ता । यत्तु 'यत्र समासोक्तायामुपमायां समासान्तरेण विशेषणसाम्यं योजयितुं
शक्यं तत्रौपम्यगर्भविशेषणप्रभाजिता समासोक्तिरुक्ता' इति वक्ष्यति तदपि चिरंतनानु-
रोधपरमेव । अन्यथा हि समासोक्त्यादेकदेशविधवतिनि रूपकेऽपि यत्र समासविशेषणार्थं
योजयितुं शक्यं तत्रापि समासोक्तिरिति किं नोक्तम् । यत्तु नोक्तं तद्युक्तम् । रूपक-
माहात्म्यात् प्रथममेव तत्प्रतीतिमिद्वेदनन्तरं समासोक्तिपुरेणानाप्रकृतप्रतीतेर्वैयर्थ्यात् ।

आहादिचन्द्रवदना स्फुरत्तारकमौक्तिका ।

धनान्धकारधम्मिष्ठा राजते गगनस्थली ॥'

इत्यादौ पुनरुपमायाः साधकभावादेकदेशविधवति रूपकमेवेति न समासोक्तिभ्रमः
कार्यः । न चैवमादायुपमारूपरूपोः सदेहसंकरो न्यायः । तस्यान्धकारसारकारादिभिर्नि-
राकृतत्वात् । समासोक्तिलक्षणावसरे किं रूपकनिरूपणेनेत्याशङ्क्याह—अस्या इत्यादि ।

'सुवेपथ्व' के प्रकृत अर्थ [नायिका पद्य] में ही अन्वित होवा है इसलिये वह उपमा का ही
साधक है, अत्र. उक्त पद्य में [विशेषणों के लिए] उसी [उपमा] का समास अपनाया जाता है ।

—[शिवपरक अर्थ]—‘जिन्होंने काम को ध्वस्त किया है, जिन्होंने एक बार (त्रिपुरवध के समय) विष्णु के शरीर को अन्न बनाया था, जो फनफनाते सर्पों के द्वार और कंकण पहने रहते हैं, जिन्होंने (स्वर्ग से गिरती) गंगा को धारण किया था, देवगण जिनके स्तिर को चन्द्रमा से युक्त कहते, तथा जिनका ‘हर’ यह स्तुत्य नाम पुकारते हैं ऐसे अन्धकासुर के निहन्ता पार्वती प्रिय स्वयं भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें ।’

[विष्णुपरक] ‘जो अजन्मा हैं और जिन्होंने शकटासुर को ध्वस्त किया है, जिन्होंने अपना बलि को जीतने वाला शरीर [अमृत वांछते समय गोहिनी अवतार में] जी शरीर बना दिया था, जिन्होंने फनफनाते [कालिय] सर्प का दमन किया, जो चक्र को धारण किए हैं, जिन्होंने [गोवर्धन] पर्वत और [पाताल यार्द] पृथिवी को धारण किया, देवलोग जिसका ‘राडुशिरोमंजक’ यह स्तुत्य नाम लेते हैं वे अन्धकवंश को [द्वारकामें] बसाने वाले और उसके विनाश करने वाले, सर्वस्वदाता स्वयं भगवान् विष्णु आपको रक्षा करें ।

[ये दोनों अर्थ इस पद्य के शब्दों को तोड़ने से निकलते हैं । यथा शिवपक्ष में ध्वस्तमनोभव = ध्वस्त किया मनोभव कामको जिसने, विष्णुपक्ष में ध्वस्तम् अनः अमवेन = जिसने अन = शकट = शकटासुर को ध्वस्त किया है तथा जो अजन्मा है । बलिनित्काय = बलिनित = विष्णु, बलिको जीतने वाला शरीर, पुरास्त्रीकृत = शिवपक्ष में पुरा अस्त्रीकृत, वि० प० में पुरा स्त्रीकृत, उद्भूत भुजंगहारबलयः = शि० प० में—उद्भूत भुजंगों के द्वार और बलयवाले अथवा अ = विष्णु उनका रव = नाम उसमें लय है जिनका, वि० प० में—उद्भूत भुजंग के हा—‘मारक’, अरबलय = चक्र तत्वान्, शिवपक्ष में = रंगां = गंगाको विष्णुपक्ष में = अर्गं गां = पर्वत तथा पृथिवी को, शशि-मच्छिरोहर = शि० प० में—शशिमाम् शिर वाले, तथा हर इस नाम वाले, वि० प० में—शशी को मथने = मसनेवाले राडु का शिर हरने वाले, अन्धकशुपकर = शि० प० में—अन्धकासुर का क्षय विनाश करने वाले, वि० प्र० में—अन्धकवंश के लिप क्षय = निवासस्थान उसका बनाने वाले तथा उसका क्षय = विनाश करने वाले, सर्वदोमाभव = शि० प० में सर्वदा उमाभव = उमा के पति शिव, वि० प० में—सर्वदः = सबकुछ देने वाला, माभव मा = लक्ष्मी के धव = पति = विष्णु ।]

[दोनों अप्राकरणिक अर्थ यथा]—

‘नीलानामाकुलीभावम्’ यह पद्य । [इसमें दो अर्थ निकलते हैं १-पद्मपरक, २-हरिणपरक । प्रथम के पक्ष में श्लोक अर्थ होगा—]

‘उसके नेत्र अनेक लुब्ध मीरों से आकुल और पानी में डग कर बड़े कमलों के समान हैं ।’

दूसरा पक्ष—उसके नेत्र अनेक बाण वाले बहेलियों द्वारा आकुल हुए अंगुली हिरणों [के नेत्रों] के समान हैं ।

[कमल पक्ष = लुब्ध = लोभी, शिलीमुख = अमर, बव = जल, कमल = राध । हरिणपक्ष = लुब्ध = बहेलिया, शिलीमुख = बाण, बन = जंगल, कमल = हिरण—]

[एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक अर्थ, तथा विशेषण और विशेष्य दोनों का शब्दतः कथन—यथा]—‘स्वेच्छोप०’ पद्य का यह अर्थ—

‘खेद की बात है कि नात्मज्ञ स्वामी काम के समान होता है जो स्वेच्छोपजातविषय [प्रभु = अपनी इच्छा भर विषय = वनधान्यादि, काम = अपनी इच्छा के अनुसार विषय = स्त्री आदि] पाकर भी मार्गणशत के द्वारा [प्रभु = सैकड़ों याचकों द्वारा] ‘देहीति’ [प्रभु = देहि = दीजिए, शक्ति ऐसा] कक्षा नहीं जाता, और दुःख देता है [काम भी मार्गणशत = सैकड़ों वाणों के द्वारा दुःख देता है और देहीति = देही = शरीरी-आत्मा नहीं कक्षा जाता] और मोह से [प्रभु नात्मज्ञो से,

काम = मूर्च्छा से] जीवन को [प्रभु-जीविका को, काम = प्राणों को] भी एकारक नष्ट कर देता है ।'

—इन [तीनों पद्यों में मे प्रथम पद्य] में शिव और विष्णु दोनों प्राकरणिक हैं, [द्वितीय पद्य में] पद्य और मृग दोनों उपमान हैं इसलिये अप्राकरणिक हैं [और तीसरे पद्य में] स्वामी प्राकरणिक है और काम अप्राकरणिक ।

यह शब्द, अर्थ और दोनों में रहता है, इसलिये तीन प्रकार का होता है । इनमें शब्द का श्लेष वह होता है जिसमें उदात्त आदि स्वर का अन्तर पद जाता है फलतः [वच्चारण के] प्रयत्न में अन्तर आ जाता है अन्. शब्द भी बदल जाता है । यहाँ प्रायः शब्द टूटता है । अर्थ श्लेष वहाँ होता है जहाँ स्वर आदि का भेद नहीं होता । इसीलिये इसमें शब्दों में भङ्ग (टूट) नहीं रहता । उभयदर्शय होना है इन दोनों के एकत्रीकरण से ।

यथा—

पद्य ठीक वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे अमग । क्योंकि वे लाल वर्ण के छद् (पल्लवी) धारण किये हुए थे [अमग भी लाल वर्ण का छद् = कन्या धारण करते हैं], वे विकच [खिले हुए थे, अमग भी कच = केशों से रहित = विकच = मुण्डित सिर होते हैं], जहाँ में सगत = डूबी नाल को धारण किये हुए थे और अमग भी जड़ व्यक्तियों का अधिक साथ नहीं करते = [अलेपु = अलेपु अलम् = अधिक, सगतम् = साहचर्य न आदधाना.] [अन्य] पुष्पों की सपूर्ण रुचि निरस्त कर चुके थे । [अमग भी पुष्प = जी या पुष्पधन्वा काम की सपूर्ण रुचि = बाह समाप्त कर देने हैं] ।

—यहाँ 'रक्तच्छदस्व' आदि [आदि पद से विकचत्व, पुष्परुचिनिरसन] में अर्थश्लेष है और 'नाल' आदि [आदि शब्द] में [नाल तथा न अलम् ; जल तथा अड इम शब्दभेद होने से] शब्दश्लेष है । क्योंकि यहाँ दोनों एक ही वाक्य में मिलिन हैं इसलिये यहाँ उभयदर्शय हुआ । तीनों के उदाहरण अलग-अलग नहीं दिए ग्रन्थ कठेवर कठने के भय मे ।

विमर्शिनी

एष इति त्रिविधोऽपि श्लेषः । तत्रेति प्रयनिर्धारणे । यत्रेति शब्दश्लेषे । अत एवेति स्वरादिभेदाभावात् । संकलनवेति सभङ्गाम्भङ्गपदसंमेलनया । पृथगिति भेदेन । तत्र शब्दश्लेषो यथा—

'ते गच्छन्ति महापदं सुवि, परामृतिः समुत्पद्यते
तेषां, तैः समलङ्कृतं निजकुलं, तैरेव लम्घा चितिः ।
तेषां द्वारि नदन्ति वाजिनियहास्ते भूपिताः प्रश्वहं
ये हृष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा ॥'

अत्र पदानां सभङ्गत्वं स्पष्टम् । अर्थश्लेषो यथा—

'हृद्यन्तौ चिबुकाप्रसुम्बनमयो दैयिक्यशङ्कोरितौ
नैविड्येन परस्परस्य न मनाक केनापि लम्घान्तौ ।
घन्यौ तौ तरुगीभ्तनाविव न यौ स्वप्नेऽपि विरिलप्यते
विरश्लेषं विपमं विपद्य भवतो नाधोमुखौ जातु वा ॥'

अत्र पदानामसभङ्गत्वं स्पष्टम् । संकलनया तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् । अस्य च शब्दा-
र्थाश्रितत्वाद्बुभयालंकारतां दर्शयति—अलंकार्येत्यादिना ।

एष = यह अर्थात् तीनों प्रकार का श्लेष । तत्र = तीनों में । यत्र = जहाँ अर्थात् शब्दश्लेष में । अत एव = इसीलिये अर्थात् स्वरादि का भेद न होने से । संकलनया = एकत्रीकरण अर्थात् समुद्ग

पद एवं अमङ्गल पद के मिश्रण से । पृथक् = अलग-अलग = अर्थात् प्रत्येक का उदाहरण भिन्न करके । भिन्न उदाहरण इस प्रकार है—

‘आप परमेश्वर हैं । आप जिस पर प्रसन्न या रुष्ट होते हैं वे महापद् [महान् उच्च पद, महा आपद् आपत्ति] को प्राप्त होते हैं, पृथिवीमण्डल पर उनकी परामृति [परा = उत्कृष्ट भूति = वैभव, परामृति = परामव] होती है, वे अपने कुल को समलङ्कृत [सन् = सब प्रकार से अलङ्कृत = शोभित, समल = मलसहित कलंकित] कर देते हैं, वे ही क्षिति [पृथिवी, क्षय] को पा लेते हैं, उनके दरवाजे वाजिनिवह [वाजि = घोड़ों के निवह समुदाय, वा = या आजि = युद्ध = निवह] गरजते हैं, और वे ही प्रतिदिन भूषित [अलङ्कृत, भू = पृथ्वी पर सित = पड़े हुए] रहते हैं ।’ यहाँ पदों में मङ्गल है ।

अर्थश्लेष यथा

‘वे [दम्पती] धन्य हैं तरुणीस्तनों के समान जो सदा ही त्रिभुजाय [ठुड्डी के अग्रभाग] का चुम्बन करना चाहते हैं, जिनमें क्षिणिलता की शंका नहीं रहती, परस्पर में इतने घने [सटे] रहते हैं कि अन्य किसी को बीच में जगह नहीं मिलती, जो स्वप्न में भी अलग नहीं होते और अलग होते भी हैं तब भी कर्मा अचोमुख नहीं होते ।’ —यहाँ पदों में मङ्गल नहीं है यह स्पष्ट है । दोनों का मिलित उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ही [‘रक्तच्छदत्वम्’ यह] दे चुके हैं ।

यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, इसलिये इसको दोनों का अलंकार बतलाते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावर्थद्वयाश्रितत्वाद्यमर्थालंकारः ‘नालम्’ इत्यादौ तु शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दालंकारोऽयम् । यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वाच्च शब्दभेदस्य प्रतीतिरेकतामसायान्नास्ति शब्दभेदः । ‘नालम्’ इत्यादौ तु प्रयत्नादिभेदात् प्रातीतिक एव शब्दभेदः । अतश्च पूर्वत्रैकवृत्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दशिल्पित्वम्, अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव शिल्पित्वम् । पूर्वत्रान्धयन्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत्, न आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात् ।

अलंकार्यालंकरणभाव [काव्य में भी] आश्रयाश्रयिभाव के आधार ही ठीक उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार लोक में, अतः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि पद्य में यह [श्लेष] दो अर्थों पर आश्रित रहने से अर्थ का अलंकार है । इसके विपरीत ‘नालम्’ इत्यादि स्थल में दो शब्दों पर आश्रित रहने से यही शब्द का अलंकार है । यद्यपि ‘अर्थ भिन्न हो तो शब्द भी भिन्न होता है’ इस सिद्धांत के अनुसार ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि में भी यह [श्लेष] शब्दाश्रित ही माना जा सकता है तथापि यह शब्दभेद सिद्ध करने पर सिद्ध होता है, प्रतीति तो होती है एक रूप से ही । इस कारण यहाँ [काव्य में प्रतीति का सारा खेल है अतः इसको दृष्टि से] शब्दभेद नहीं है । और इसीलिये प्रथम श्लेष में दो अर्थों का [एक] शब्द में श्लेष = जोड़ उसी प्रकार है जिस प्रकार एक वृत्त में दो फलों का होता है, जब कि दूसरे श्लेष में स्वयं शब्दों का ही श्लेष = जोड़ रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जतु = लाक्षा और काष्ठ = लकड़ी का । [मम्मट का] यह कहना ठीक नहीं है कि ‘प्रथम

[अमग] भेद में भी [श्लेष] शब्द का ही अलङ्कार है क्योंकि उसका रहना न रहना शब्द के रहने न रहने पर निर्भर है इसलिये उसके प्रति शब्द ही हेतु है, और अलङ्कार की शब्दार्थगत-त्वेन व्यवस्था हेतुहेतुमदभाव के आधार पर होनी चाहिये, क्योंकि वस्तुतः काव्यालङ्कार भी लौकिक अलङ्कारों के समान ही आशयाश्रयिभाव की लेकर ठहराए जा सकते हैं [हेतुहेतुमद-भाव को लेकर नहीं] ।

विमर्शिनी

अमु च 'यावन्त एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्त एव हि' इत्याद्युक्त्या रक्तच्छदत्वमिवा-
धावपि शब्दद्वयाश्रयच्छब्दालङ्कार एवाप्यसक्यमन्यथोक्तमित्यादाहवाह—यद्यपीत्यादि ।
एतत्तावसायादिति । रक्तच्छदत्वत्वे- प्रयत्नादिभेद विना सादृश्येनाश्रयिभावात् । अत-
श्चेति । अर्थद्वयस्य शब्दद्वयस्य च रिक्तत्वात् । पूर्वत्रेति । रक्तच्छदत्वमित्यादौ शब्दस्य
सुप्तस्थानीयत्वात् । अपरत्रेति नाळमित्यादौ । जनुकाष्टन्यायेनेति परस्पर संबलितत्वात् ।
पूर्वत्रेति रक्तच्छदत्वमित्यादौ । अन्वयव्यतिरेकान्वाभिति । रक्तच्छदत्वमित्येष शब्दे स्थिते
श्लेषे- शब्दपरिवर्तने तु कृते न श्लेष इत्यत्रापि शब्दहेतुकरत्वात्तदलङ्कारत्वमेवैवैव ।
आशयाश्रयिभावेनेति । न पुनरन्वयव्यतिरेकान्वाभ्याम् । ताभ्यां हि यस्य यद्वेत्तुकारं तस्य
साक्षात्कारं इत्याद्यपुनस्तदलङ्कारत्वम् । लोकवदिति । लोके हि यथा कर्णाश्रित- कुण्डलादि-
कर्णालङ्कार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकरत्वात्तदलङ्कारः ।

'शब्द उचने ही होते हैं जितने अर्थ' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में भी यह श्लेष शब्द का ही अलङ्कार है क्योंकि वहाँ भी यह दो शब्दों पर आश्रित है । फिर आप इसके विपरीत इसे [अर्थाश्रित] क्यों बतला रहे हैं?—इस शंका पर उत्तर देते हैं— 'यद्यपि' इत्यादि । 'एकतावसायात्' = 'प्रतीति में एकता का ज्ञान'—इसलिये कि 'रक्तच्छदत्व' आदि शब्दों में प्रयत्न आदि के भेद के विना एकरूपता (सादृश्य) के आधार पर दो अर्थों का कथन होता है । 'अतश्च = और इसीलिये' = अर्थात् दो अर्थ और दो शब्दों के दिक्कट = जुड़े हुए होने से । पूर्वत्र = प्रथम में—रक्तच्छदत्व इत्यादि में क्योंकि वहाँ शब्द रहता है वृन्तगुण्य । अपरत्र दूसरे में = 'नाळम्' इत्यादि में । 'जनुकाष्टन्यायेन' = नाळ और काष्ठ के समान एक दूसरे में चिपके रहने से । पूर्वत्र = प्रथम में = 'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में । अन्वयव्यतिरेकान्वाभ्याम् = 'एक के रहने पर दूसरे का रहना और न रहने पर न रहना' = 'रक्तच्छदत्व' इसी शब्द के रहने पर श्लेष रहता है, इस शब्द के बदल देने पर श्लेष नहीं रहता । इस प्रकार यहाँ पर भी श्लेष शब्दमूलक है अतः उसे शब्दालङ्कार ही मानना पड़ेगा । आशयाश्रयिभावेन = आशयाश्रयिभाव से, न कि अन्वयव्यतिरेक से । इन [अन्वयव्यतिरेक] के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि जो जिससे पैदा होगा है वह उसका कार्य है, यह नहीं कि वह उसका अलङ्कार है । लोकवद् = लोक के समान—लोक में जिस प्रकार कान में पहना कुण्डल आदि अलङ्कार कान का ही अलङ्कार [शोभावर्धक] कहा जाता है न कि सुवर्ण रुपी कारण से उत्पन्न होने के कारण सुवर्ण का अलङ्कार [शोभावर्धक] ।

विमर्श—श्लेष शब्द का प्रमुख अर्थ है जुटना, चिपकना, और अलङ्कार शब्द का अर्थ है शोभावर्धक तत्त्व अथवा अप्रधान रूप से चमत्कारजनक तत्त्व । प्रथम उठता है श्लेष में अलङ्कार्य कौन है । श्लेष स्वयं हुआ अलङ्कार, अतः अलङ्कार्य शब्द या अर्थ इन दो में से कोई एक हो सकता है ।

उद्भूत और सर्वस्वकार सभंग और अभंग हम दोनों श्लेषों को अर्थालंकारों के प्रकरण में रखते हैं अतः सामान्यतः यही सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का श्लेष अर्थालंकार ही है। उधर उद्भूत ने सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहा है अतः मम्मट ने उसके अर्थालंकारों के बीच रखे जाने पर आपत्ति उठाई है—‘शब्दालंकार इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च गण्यते इति क्रियं नयः’ [नवम उल्लास] उद्भूत के अनुकरण पर मम्मट ने स्वयं शब्दश्लेष को नवम उल्लास में शब्दालंकारों के बीच रखा है और अर्थश्लेष को अर्थालंकारों के बीच दशम उल्लास में। सर्वस्वकार ने अतिशयोक्ति को तो दो अलग-अलग प्रकरणों में रखकर वर्गीकरण को महत्त्व दिया, किन्तु यहाँ उन्होंने वैसा नहीं किया और सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहकर भी उसे अर्थालंकारों के बीच रखा। विचित्रता यह है कि मम्मट द्वारा श्लेष पर उठाई गई अन्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए भी वे इत आपत्ति पर मौन हैं। वस्तुतः यह उनकी शिथिलता ही है। इस प्रकार सभंग श्लेष में अलंकार्य शब्द ही मान्य है। अर्थ यह कि सभंग श्लेष शब्दालंकार ही है।

अभंग श्लेष में अलंकार्य के निर्णय की समस्या जटिल है। अटिलता इसलिए है कि निर्णायक विन्दु पर आचार्यों का मत एक नहीं है। उद्भूत के अनुसार निर्णायक है आश्रयमयिभाव। इस मत में श्लेष का आश्रय ही श्लेष का अलंकार्य है। सभंग श्लेष में दो शब्दों का जोड़ रहता है और वह लाख और लकड़ी के जोड़ के समान स्पष्ट दिखाई देता है। अतः वहाँ शब्द ही श्लेष का आश्रय और अलंकार्य मान लिया जाता है। किन्तु अभंगश्लेष में आश्रय का निर्णय करना कठिन है। अभंग श्लेष में अर्थ दो होते हैं इसलिए अर्थ के जोड़ में कोई मतभेद नहीं उठता। जहाँ तक शब्द का संबन्ध है इसके विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार अभंग श्लेष में यद्यपि शब्दों में भेद नहीं रहता अतः उनका वैसा जोड़ नहीं रहता जैसा सभंग श्लेष में रहता है, तथापि एक दूसरे प्रकार का जोड़ अवश्य रहता है। वह है गाय और भैंस के दो भिन्न दूधों के मिश्रण जैसा जोड़। फलतः उसमें जोड़ की प्रतीति नहीं हो पाती। प्रतीति न होने पर भी शब्दों में जोड़ इसलिए माना जाता है कि अर्थ बदलते ही शब्द भी बदल जाता है। जैसे मानस शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मानसरोवर तालाब और दूसरा चित्त। यद्यपि ‘द, आ, र, अ, सु, अ’ ये वर्ण उसी क्रम से तालाबवाचक मानस शब्द में आते हैं जिस क्रम से चित्तवाचक मानस शब्द में, जिससे दोनों मानस शब्दों के उच्चारण में प्रबलभेद नहीं होता, अतः दोनों शब्दों में एकता की प्रतीति होती है तथापि वे दो भिन्न शब्द हैं क्योंकि अर्थों में भेद है। जैसा कि कहा जाता है—‘प्रत्यर्थ शब्दा भिद्यन्ते’। इस सिद्धान्त के अनुसार जोड़ या श्लेष का आश्रय शब्द है इसलिए श्लेषरूपी अलंकार का अलंकार्य शब्द ही है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य हैं मम्मट। उनकी पंक्ति है—

[का०] ‘वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपदभाषणस्युशः।

श्लेषोऽस्तीति शब्दाः श्लेषोऽस्तीति..... ॥’

[धृ०] ‘अर्थभेदेन शब्दभेद’ इति दर्शने वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लेष्यन्ति = भिन्न स्वरूपमपहुवते स श्लेषः। [कान्यप्रकाश उ० ९]।

—‘अर्थभेद में शब्दभेद’ इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थभेद से भिन्न हुए भी शब्द एक साथ उच्चारण के कारण अपना भिन्न रूप छिपा लेते हैं तो उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।’

अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त मम्मट के पूर्व उद्भूत ने भी माना था और कहा था—

‘एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रताम्।

स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्वन्धः श्लेषम् ।’ ४।९ ॥ अर्थात्

—एक ही प्रयत्न से उच्चार्य अत एव समान प्रतीत होते शब्दों का बन्ध रिष्ट = जुड़ा हुआ = जोड़ से युक्त कहलाता है। 'समान प्रतीत होने' इस कथन का आधार 'अर्थभेद में शब्दभेद' सिद्धान्त ही है। उद्भट के काव्यालङ्कारसारसंग्रह की टीका लघुवृत्ति में प्रतीति-नुराज ने भी लिखा है—

'अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिन्न इति मद्भट्टस्य सिद्धान्तः ।'

किन्तु उद्भट ने ऐसे शब्दों के श्लेष का अलङ्कार शब्द को न मान अर्थ को मान लिया—

'पदे, द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्ट तत'

—पद दो प्रकार के होते हैं—(१) एकोच्चारण वाले और (२) भिन्न उच्चारण वाले। इन दो प्रकार के पदों से श्लेष भी दो प्रकार का होना है अर्थश्लेष और शब्दश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दश्लेष दूसरे शब्दों में अलगश्लेष ही है। इस पर मम्मट ने आपत्ति उठाई और कहा जब श्लेष शब्द में माना [अर्थात् श्लेष का आशय शब्द को माना] तब अलङ्कार्य अर्थ कैसे माना जा सकता है। रहे श्लेष किसी में और अलङ्कृत करे किसी को यह वाग तर्कशून्य नहीं करी जा सकती। और इसीलिए अलग श्लेष को अलङ्कार नहीं माना जा सकता। वह शब्दा-लङ्कार ही है।

एक प्रश्न और उपस्थित हुआ। यह कि अमंग श्लेष में अर्थभेद से शब्दभेद मानना और फिर शब्द में ही श्लेष स्वीकार करना कहीं तक वास्तविक है। यह केवल शास्त्रमति ही है, या इतने में कोई ब्यर्थ भी है। इसका उत्तर मम्मट ने तर्कशास्त्र की दुहाई देकर दिया। उन्होंने कहा अमंगश्लेष में श्लेष का आशय कौन है यह तथ्य अन्वय और व्यतिरेक की कसौटी से परखा जा सकता है। यदि शब्द के हटा दिए जाने से श्लेष न हटे तो वह अवश्य ही शब्द का श्लेष न होगा, अर्थ का ही श्लेष होगा। 'रक्तच्छदस्व'-आदि अमंग श्लेष के स्थलों में स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ यदि 'रक्तच्छद' शब्द के स्थान पर 'रक्तपत्र' शब्द दे दिया जाय तो इस शब्द का अर्थ अमंग पक्ष में लागू नहीं होगा, फलतः श्लेष नष्ट हो जाएगा। विकच शब्द भी नहीं हटाया जा सकता। 'विकेष्ट' या 'विकसित' कहने पर एकान्वयी अर्थ ही निकलता है अतः श्लेष नष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्लेष का आशय अमंग श्लेष में भी शब्द ही होता है।

अलङ्कारसर्वस्वकार और कवयत्न ने मम्मट की इस तार्किकता को सहजतामे काटने की कोशिश की। अन्वयव्यतिरेक को इन दोनों ने कार्यकारणभाव का नियामक माना, अलङ्कार का नहीं। अलङ्कार को इन्होंने आश्रयाश्रयिभाव पर ही निर्भर मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है। यह इनके अभी आप शक्यता से ही स्पष्ट है। लोक में जैसे वेधुर का कारण सुवर्ण होता है किन्तु वह अलङ्कार होता है मुजा का, इसीलिए वेधुर के अन्वयव्यतिरेक सुवर्ण के साथ रहने हैं, सुवर्ण के न रहने पर वेधुर नहीं रहता और रहने पर रहना है, अब कि अलङ्कारालङ्कारभाव मुजा के साथ, जो वेधुर का आश्रय है। फलतः अलङ्कारालङ्कारभाव आश्रयाश्रयिभाव पर निर्भर माना जाना चाहिए। अमंगश्लेष में नहीं तक आश्रय का सम्बन्ध है इसका निर्णय कल्पित शास्त्रसिद्धान्त पर नहीं, अनुभव और सन्निति पर किया जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र है। सन्निति में अमंगश्लेषस्थल में द्वैत अर्थात् ही मासित होता है, शब्दगत नहीं। फलतः शब्द एक वृत्त = चेंडल है, जिसमें दो अर्थ के दो फल एगे हुए हैं।

फल दो हों तो वृत्त को भी दो मानने की नासमझी कोई नहीं करता। वृत्त के एक होने से उसमें श्लेष या जोड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न फल में ही उठ सकता है क्योंकि द्वैत यहाँ है। फलतः श्लेष व्यर्थों में ही है। अर्थ ही श्लेष के आश्रय है। अर्थ ही श्लेष के अलङ्कार्य है।

श्लेष अर्थ का ही अलंकार है। और सच भी है। वह और बेटे यदि आश्लेष करें तो उसे अलंकार सात सष्टर का नहीं माना जा सकता।

निश्चित ही इन आचार्यों के तर्क सुन्दर और समर्थ हैं। प्रातीतिक भेद मानकर शब्द में श्लेष की सिद्धि अवश्य ही शाल्भक्ति है।

मन्मद के अन्वयव्यतिरेक पक्ष का पुनर्वाक्षेण करने पर कुल और भी विवक्षताएँ सामने आती हैं। अन्वयव्यतिरेक अलंकार्यालंकारभाव के लिए भी अत्यन्त उपेक्षणीय नहीं है। यह भवश्य ही एक विचारणीय तथ्य है कि शब्द के बदल देने पर अमंगश्लेष क्यों समाप्त हो जाता है। आश्रया-श्रयिभाववादी उक्त दोनों आचार्य इसका उत्तर यह देंगे कि शब्द के साथ श्लेष का कारणकार्य-भाव संभव है। अर्थों का श्लेष संभव नहीं होता जब तक रक्तच्छदस्व आदि उभयान्वयी शब्द का प्रयोग नहीं होता। फलतः द्व्यर्थक शब्द ही विभिन्न अर्थों के श्लेष का कारण है। अर्थ यह कि श्लेष अर्थों में ही रहता है तथापि वह तब तक संभव नहीं होता जब तक विशिष्ट शब्द का प्रयोग न हो। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से अमंग श्लेष में कारण तो शब्द ही सिद्ध होता है तथापि श्लेष रहता अर्थों में ही है। झुमिन्ना के गर्भ में लक्ष्मण और शत्रुघ्न जुड़े हुए थे। झुमिन्ना एक ही थी। शत्रुघ्न के लिए दूसरी और लक्ष्मण के लिए दूसरी नहीं। इसीलिए श्लेष—जोड़ केवल लक्ष्मण और शत्रुघ्न में हो या, कारणभूत झुमिन्ना में नहीं। अन्वयव्यतिरेकवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न अर्थों में श्लेष उत्पन्न करने की जो क्षमता 'रक्तच्छदस्व' आदि द्व्यर्थक शब्दों में रहती है वह क्षमता अपने आप में कोई विशिष्ट धर्म है या नहीं। उससे कोई चमत्कार काव्य में आता है या नहीं। अवश्य ही वह चमत्कार में अंशतः प्रयोजक है। इसके अतिरिक्त अभिन्नानुपूर्वीक अतएव एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों में यदि वास्तविक भेद नहीं रहता और उनका श्लेष एक प्रातिभासिक या कल्पित श्लेष है तो ऐसे शब्द से प्राती दो अर्थों का श्लेष वास्तविक है इसमें भी क्या प्रमाण। एकशब्दवाच्य होने से उनमें सहसा भेद लक्षित नहीं होता केवल इतना ही अनुभवसिद्ध है। दोनों शब्द जुड़े रहते हैं यह नहीं। और यदि ऐसा कोई श्लेष अमंगश्लेष के अर्थों में रहता है तो वह समंग श्लेष के अर्थों में भी रहता ही है। तब समंग श्लेषको उभयालंकार क्यों नहीं माना जाता। यदि यह कहा जाय कि समंग श्लेष में शब्दों के अनुकाष्ठवद जोड़ के कारण अर्थों में जोड़ रहता, अर्थों का जोड़ वहाँ स्वाधीन नहीं होता तो यही बात अमंग श्लेष में कही जा सकती है। वहाँ भी अर्थश्लेष शब्दश्लेष पर निर्भर है केवल अनुकाष्ठवद शब्दों में श्लेष ही वहाँ लक्षित नहीं होता। तब यदि शब्द के कारण होने से समंगश्लेष में श्लेष शब्द का अलंकार है तो अमंगश्लेष में भी कारण होने से श्लेष को शब्द का ही अलंकार क्यों नहीं माना जा सकता। एक बात और। यह कि अलंकार्य अलंकार का आश्रय ही हो यह आवश्यक नहीं है। यदि वाक्यार्थ में भावादि सामग्री नहीं हो तो उसमें भाव रूपक आदि अलंकार नहीं माने जाते। भावादि सामग्री अलंकाराश्रय नहीं होती। अलंकाराश्रय अर्थ होता है और वह उससे व्यक्त होती है। इस प्रकार जब अलंकार्य अलंकाराश्रय से भिन्न सिद्ध होना है तब जिसमें श्लेष हो उसी को श्लेष का अलंकार्य और उसी के प्रति श्लेष को अलंकार मानना ठीक नहीं है। फलतः अमंग श्लेष में भले ही श्लेष अर्थों में हो तथापि अर्थ ही श्लेष का अलंकार्य हो यह नहीं माना जा सकता। अलंकार्य वह होता है जिसमें शोभा का आधान हो। और अमंग श्लेष में भी शोभा का आधान समंग श्लेष के ही समान शब्द में ही होता है। वहाँ अर्थद्वयवाचकता से शोभा आती है अतः वह शब्द में ही रहती है। दूसरे शब्दों में श्लेष-प्रतिपादकता शब्द में होने से शब्द ही अलंकार्य माना जा सकता है, अर्थ नहीं, इसे शाल्भकारों ने 'तन्त्र' शब्द से पुकारा है। तन्त्र का अर्थ एकाधिक अर्थों का प्रतिपादक शब्द माना जाता है।

फलतः अधिक अच्छा हो कि मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट और अर्धभेद ■ शुब्दभेद मानने वाले अन्य दार्शनिकों का मुख्यादिज्ञान कर अर्धभेद श्लेष के स्थान पर 'तन्त्रालङ्कार' नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार को स्वीकार करें।

पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने इन मनभेदों का उन उन आचार्यों के नाम के साथ अनुवादमात्र कर दिया है। इन पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं है।

विमर्शिनी

तन्, एव रूपस्थायस्य 'निरवकाशा हि विषय-सावकाशान्विधौम्याद्यन्ते' इति नीत्या निरवकाशावात्सर्वालङ्कारापवादकत्वं संविदाहुरित्याह—एष चेत्यादि ।

'जो विधि निरवकाश होगी है वे सावकाश विधियों को बाधित कर उनके स्थान पर चरितार्थ मानी जाती है' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रकार के इस श्लेष को निरवकाश मानकर कुछ [उद्भट आदि] आचार्य अन्य सब अलङ्कारों का अनुवाद या बाधक मानते हैं। प्रत्यक्ष ही तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

एव च नाप्राप्तेष्वलङ्कारान्तरेष्वारम्भमाणस्तद्वाचकत्वेन तदप्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति केचित् । 'येन ध्वस्तमनोभवेन धल्लिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' इत्यादौ विविक्तोऽस्य विषय इति निरवकाशात्सावकाशात्प्रान्यवाचकत्वमित्यन्यैः सह संकरः, दुर्यलत्वाद्वा धाप्यत्वमित्यन्ये । तत्र पूर्वेषामयमभिप्रायः । इह प्राकरणिकाप्राकरणिकोभयरूपानेकार्थगोचरत्वेन तावत्प्रतिष्ठितोऽयमलङ्कारः । तत्रार्थं प्रकारद्वयं तुल्ययोगिताया विषयः । तृतीये तु प्रकारे दीपकं भवतीति तावदलङ्कारद्वयमिदं श्लेषविषयं व्याप्या व्यवतिष्ठते । तत्पृष्ठे चालङ्कारान्तराणामुत्थानमिति नास्ति विविक्तोऽस्य विषयः । अत एवालङ्कारान्तराणां धाधित्तत्वात्प्रतिमानमात्रेणावस्थानम् । 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ च प्राकरणिकत्वाद्ध्वयस्य तुल्ययोगितायाः प्रतिमानम् । एवं च 'सफलकलं पुरमेतज्ज्ञानं संप्रति सुधांशुविष्यमिध' इत्यादौ न गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम् अपि तूपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवाद्यसेयः । श्लेषगमं तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षार्या रूपक एव विधान्तिरिति रूपकेण श्लेषो धाध्यते । श्लेषविशेषणनिबन्धनायां च समासोक्तौ विशेष्यस्यापि गम्यत्वाच्छ्लेषस्य बाधिका समासोक्तिः ।

[उद्भट आदि] कुछ आचार्यों की मान्यता है कि यह [श्लेष] जहाँ-जहाँ होगा है वहाँ अन्य कोई अलङ्कार अवश्य ही उपस्थित रहता है [न अप्राप्त = इसमें आए दो निषेध आवश्यकत्व के वाचक हैं] इसलिये यह अन्य अलङ्कार का बाधक होता है, फलतः वहाँ श्लेष के कारण अन्य अलङ्कारों का आभासमात्र [प्रतिमा] हो जाना है [अन्य अलङ्कार अलङ्कारत्वेन प्रकृत नहीं हो पाते] ।

इसके विपरीत [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों का मत है कि 'श्लेष' 'येन ध्वस्त' आदि स्थलों में अन्य अलङ्कारों की बाधा से रहित है, अर्थात् श्लेष निरवकाश नहीं है फलतः यह अन्य अलङ्कारों का बाधक नहीं है । निदान अन्य अलङ्कारों के साथ इसका मकर = मिश्रण हो सकता है अथवा दुर्बल होने के कारण अन्य अलङ्कारों के द्वारा यही बाधित माना जा सकता है ।'

इनमें से प्रथम आचार्यों का अभिप्राय यह है—'यह तो सर्वमान्य है कि यह (श्लेष) अलंकार प्राकरणिक, अप्राकरणिक अथवा उभयरूप को अनेक अर्थ होते हैं उनको लेकर प्रतिष्ठित होता है। इनमें से प्रथम दो प्रकार के अर्थ तुल्ययोगिता का विषय हैं और तीसरा प्रकार दोषक का। इस प्रकार ये दो अलंकार श्लेष के संपूर्ण क्षेत्र को व्याप्त किए रहते हैं। इनके पीछे [उपमा आदि] अन्य अलंकार भी उठते दिखाई देते हैं। इसलिए इस [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें केवल श्लेष माना जा सके। इसीलिए अन्य अलंकारों को श्लेष से बाधित मानना पड़ता है और श्लेषस्थल में उनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पड़ता है। [विविक्त विषय के रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उस] 'येन ध्वस्तमनोमवेन०' में भी दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं अतः तुल्ययोगिता का आभास होता ही है। इस प्रकार गुण और क्रिया के साम्य को ही समान सकलकल [कलकल शब्द-सहित] यह नगर इस समय चन्द्रविम्ब सा [सकलकल = सकल कला से युक्त] हो गया है' इस स्थल में [मम्मट ने जो] शब्द को साम्य को भी उपमा का प्रयोजक [माना है वह] नहीं माना जा सकता, अपितु यहाँ [उस अंश में] श्लेष माना जाना चाहिए जिससे उपमा का तो आभासमात्र रह जाता है। ['विद्वन्मानस' आदि परम्परित रूपक में] रूपक जहाँ श्लेष से युक्त माना गया है वहाँ रूपक श्लेष से इसलिए बाधित नहीं होता कि वहाँ [पहले राजा पर हंस के रूपक की प्रतीति होती है तब वह] रूपक [मानस में] श्लेष को अन्त देता है तदनन्तर [वाक्यार्थ की] तीसरी कक्षा में रूपक की प्रतीति में [वाक्यार्थ की] विधान्ति होती है। किन्तु समासोक्ति जहाँ श्लेषयुक्त विशेषणों से युक्त होती है वहाँ विशेष्य के [शब्दतः कथित न होकर] गम्य होने से समासोक्ति ही श्लेष की बाधिका होती है। और—

चिन्मार्शिनी

केचिदिति, उद्गटादयः। केचिदपुनर्विषयवैविध्यस्य संभवात्परिषदाशास्त्राभावात्तस्य सर्वालंकारापवादकरवसन्मुपयन्तीत्याह—येनेत्यादि। अन्यथा इति माहवाः। विविक्तोऽस्य विषय इति तुल्ययोगिताया अत्राभावात्। सा हि द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः पृथगुपादाने औपन्यस्य च गम्यत्वे भवति। इह तु तद्भावः। विशेष्ययोः पृथगनुपादानात् औपन्यस्य च गम्यत्वाभावात्। न ह्यत्रोपाधेयस्य साधयेन तेन वा तस्य सादृश्यं द्विवृत्तम्। एकेनैव शब्देन श्लेषतयार्थद्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। अत्र हि परस्परनैरपेक्षयात् तयोः साधववाक्यार्थपराभर्शवैलायां साधववाक्यार्थपरामर्शमात्रमपि नास्तीति को नामौपन्यस्यावसरः। तस्मादेवमादावलंकारान्तरविविक्तविषयत्वात्श्लेषतायाश्चोद्भुरकंधरीभावेन प्रतीतेर्न निरवकाशः श्लेषः। अन्यैः सह संकर इति द्वयोरपि तुल्यकक्षताप्रतीतेः। बाध्यत्वमिति। श्लेषस्य पुर्वलत्वात्लंकारान्तराणां च बलप्रत्वात्। एतच्च प्रन्यकृद्वाग्रे दर्शयिष्यतीति नेहायस्तम्। तदेवमस्य सर्वालंकारापवादकत्वं न युक्तम्। अन्यालंकारवदेव बाध्यबाधकभावादिदर्शनात्। एतद्यालंकारसारकृता सप्रपञ्चमुक्तमितीह ग्रन्थविस्तरभयात् तथा नोक्तम्। पूर्वमिति, उद्गटादीनाम्। अविप्रतिपत्ति-द्योतकस्तावच्छब्दः। व्याप्त्येति। सर्वलक्ष्यव्यापकत्वेन, सर्वत्रैवास्व त्रिरूपत्वात्। तस्य इति तुल्ययोगितादीपकोपरि। अलंकारान्तराणामिति उपमादीनाम् उत्थानमिति। तुल्ययोगितादीपकाभ्यामपि तरप्रतीतेरुद्देकात्। अत्र प्येति। तस्य विविक्तविषयत्वासंभवात्। प्रतिमानमिति आभासमात्रम्। न पुनस्तत्रैव विश्रान्तिरित्यर्थः। एतच्च यथा नोपपद्यते तथा समन्तरमेवोक्तम्। तदेवं स्वमतोपोद्गलनाय पूर्वमन्यान्यैः सह संकरो दुर्घलत्वादावाध्य-

खमिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयिगुमेतत्कर्तुं तावदन्यालङ्कारबाध्यत्वं दर्शयति—श्लेषेत्यादिना । तृतीयकक्षायामिति । प्रथमकक्षायां हि रूपकप्रतीतिरेव । द्वितीयकक्षायां तु श्लेष-प्रतीतिः । श्लेषस्य सर्वाङ्काराणां स्वमिच्छन्निरूप्यौद्धटैर्बदन्यालङ्कारबाध्यत्वमेतत्प्रयोजकं तत् स्ववचनविरुद्धप्रयमेतेषामिति ध्वनयितुं तदुक्तमेव रूपकसमासोक्तियाध्यत्वमेतस्य ग्रन्थहृत्तेह दर्शितम् । बाध्यत इति चिह्नन्मानसहमेत्यादौ । बाधकेति उपोढरागेनेत्यादौ ।

केचित् = कुछ उद्गादि आचार्य । किन्तु [मम्मट आदि] कुछ [आचार्य] इसे अन्य सब अलङ्कारों का अपवादक नहीं मानते क्योंकि वे इसे निरवकाश नहीं मानते, एतदर्थं वे इसका स्वतन्त्र [सर्वाङ्कार रहित] विषय बतलाते हैं । इस तथ्य को लिखते हुए कहते हैं—'येन ध्वस्त' इत्यादि । अन्यैः = अन्य गुण जेने [अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार नेते] । 'त्रिविधोऽस्य विषयः = 'इस श्लेष का अलङ्कारान्तरागम्य विषय' क्योंकि यहाँ ['येन ध्वस्त'-पद्य में] तुल्ययोगिता नहीं है । वह तब होती है जब केवल प्रकृत या केवल अपकृत विशेष्यों का पृथक् पृथक् उपादान हो तथा सादृश्य गम्य हो । इस [येन ध्वस्त] पद्य में उस [तुल्ययोगिता] का उपादान है क्योंकि यहाँ विशेष्यों का उपादान पृथक् नहीं हुआ है तथा सादृश्य गम्य नहीं है । ऐसा नहीं है कि इस पद्य में उपाधय [शुकर] का उपाधय से या उपाधय का उपाधय से सादृश्य विवक्षित हो । यहाँ तो दोनों अर्थों का एक ही शब्द के द्वारा श्लेषरूप से प्रतिपादन अनोष्ट है । यहाँ तो उन [दोनों पद्यों] में परस्पर निरपेक्षता होने से जब उपाधय-सम्बन्धित वाक्यार्थ की प्रतीति होती है तब उपाधयवाक्यार्थ का परानुशासन तक नहीं रहना । तब यहाँ सादृश्य का अवसर ही क्या हो सकता है । इस कारण ऐसे स्थलों में श्लेष अन्य अलङ्कारों के साथ से रहित रहकर विद्यमान है, तथा यहाँ श्लेषता प्रमुख रूप से परिच्छिन्न दिखाई दे रही है फलतः इसे निरवकाश नहीं कहा जा सकता । अन्यैः सह संकर — अन्यो के साथ संकर — क्योंकि दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं । बाध्यत्वम् = बाध्य होना' = क्योंकि श्लेष दुर्बल होता है और अन्य अलङ्कार प्रबल । इस स्वयं ग्रन्थकार ही भागे दिखलाये इसलिये इसके विवेचन पर यहाँ श्रम नहीं किया जा रहा । तो इस प्रकार इस [श्लेष] का सभी अलङ्कारों को बाधित कर उनका अपवाद माना जाना ठीक नहीं है । क्योंकि [उपमा और रूपक आदि] अन्य [स्वतन्त्र] अलङ्कारों के ही समान बाध्यबाधकभाव [तथा स्वतन्त्र विषयता] आदि दिखाई देते हैं । इसका विस्तृत विवेचन अलङ्कारसारकार ने कर रखा है । इसलिये उठने विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा । इससे ग्रन्थ विस्तार का भी भय था [इससे स्पष्ट है कि विमर्शिनोकार मूल के विरुद्ध मम्मट के समर्पक हैं] पूर्वेषाम् = प्राचीन = उद्भट आदि । तावत्—शब्द इस बात का चोतक है कि इस विषय में विपक्षी को भी आपत्ति नहीं है । व्याख्या = व्याप्त कर = लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त होने से क्योंकि तीन रूपका यह [श्लेष या अर्थ] सर्वत्र किसी न किसी रूप में दिखाई देता है । तदपृष्टे = उसके पीछे अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक के ऊपर । अलङ्कारान्तरागम्यम् = अन्य अलङ्कारों का अर्थात् उपमा आदि का । उर्यानमिति = क्योंकि उन [अन्य अलङ्कारों] की प्रतीति तुल्ययोगिता और दीपक से ही उठती है । अतएव = इसीलिये अर्थात् त्रिविधविषयता = स्वतन्त्र क्षेत्र न होने से । प्रतिमानम् = आयासमात्र । अर्थ यह कि विश्रान्ति इसी में नहीं होती । किन्तु वह तस्य त्रिस प्रकर सिद्ध नहीं होता वह अभी अभी कहा जा चुका है । इस प्रकार अपने मन के समर्पन के लिए पहले जो कहा है कि—'इसका अन्य अलङ्कारों के साथ या तो संकर रहता या फिर दुर्बल रहने पर अन्य अलङ्कारों से बाधित, इसी को और अधिक विस्तार में प्रतिपादित करने के लिए अब यह बतलाते हैं कि यह अलङ्कार अन्य अलङ्कारों को बाध देता है—श्लेष-

इत्यादि के द्वारा । 'तृतीयकषायाम्—तृतीय कषा में' = प्रथम कषा में रूपक की ही प्रतीति होती है । श्लेष की प्रतीति होती है द्वितीय कषा में । 'उद्भटानुयायी आचार्य एक ओर तो श्लेष को सभी अलंकारों का बाधक बतलाते हैं और दूसरी ओर वे ही कुछ अलंकारों से उसे बाधित होता हुआ भी बतलाते हैं, यह उनके द्वारा अपनी मान्यता का ही विरोध है'—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए उन्हीं [उद्भट आदि] के द्वारा प्रतिपादित श्लेष का रूपक और समासोक्ति से बाधित होना ग्रन्थकार ने यहाँ दिखलाया । बाध्यते = बाधित होता है—'विद्वन्मानसदंस' इत्यादि [श्लिष्ट परम्परित रूपक] में । बाधिका = 'उपोदरागेण' इत्यादि पद्यों में ।

विमर्श—'नाप्राप्ते' = का मूल 'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः'—यह है । इसमें येन की तृतीया का अर्थ है कर्तृत्व, प्रतिषेधदय का अर्थ है आदेशकत्व, स प्रत्यय का अर्थ है भाव । इस प्रकार न्याय की भाषा में इस वाक्य का अर्थ निकलेगा—

'यत्कर्तृकावश्यप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' । पुनः येन के 'यत्'—शब्द का अर्थ है व्यापकत्व और यः इसके यत् शब्द का अर्थ है व्याप्यत्व । अतः न्याय की भाषा में अर्थ होगा—

'व्यापकत्वैव सर्वत्र प्राप्ते निरवकाशो व्याप्यस्तं [व्यापकं] बाधते ।'—

इन्हीं तथ्यों को ग्रन्थकार ने 'नाप्राप्तेषु आरभ्यमाणः' तथा 'व्याप्या'—इन अंशों द्वारा सूचित किया था । पण्डितराज ने श्लेष पर उद्भट का मत इसी प्रकार स्पष्ट किया है—अत्राहुर्उद्भटाचार्याः—'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनार्लंकारान्तरविषय एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते ।' यह उद्भट के मत का अलंकारसर्वस्व पर आश्रित भावानुवाद मात्र है । उद्भट की वक्ति इस विषय पर ऐसी है—

'श्लिष्टम्, अलंकारान्तरगतां प्रतिमां जनयत् ०' १५१, १०१

—श्लिष्ट अलंकारान्तर की प्रतिमा उत्पन्न करता है । उद्भट ने इस विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा । केवल वदाहरणमात्र प्रस्तुत कर दिए हैं—

'प्रभातसन्धेवास्वापफलसुन्देहितप्रदा'—

—पार्वती प्रभात सन्ध्या के समान थीं—अस्वापफलसुन्देहितप्रदा = [पार्वती—न, सु आप फल = दुर्लभ फल पर सुन्दे को ईहित = अमीष्ट फल देने वाली तथा प्रभात 'सन्ध्यास्वापफल = निद्राफल भ्रमपरिहार पर सुन्देस्वाप फल सुन्दे, तद्विन्न अस्वापफलसुन्दे उसमें हित = हितकारी अष्टष्ट उत्पन्न करने वाली] इसी प्रकार—

'अविन्दुसुन्दरी निधं गलल्लावण्यविन्दुका'

—पार्वती अविन्दुसुन्दरी भी थीं और उनसे लावण्यविन्दु सरते रहते थे [विरोध], [परि-
हारार्थ—] अप = जल उसमें प्रतिविम्बित ओ इन्दु = चन्द्र उसी सुन्दरी ।

प्रथम में उपमा और द्वितीय में विरोधालंकार है । उद्भट के अनुसार उनका अस्तित्व प्रातिभासिक मात्र है । वास्तविक सत्ता श्लेष की ही है । परन्तु उद्भट ने अपनी इस मान्यता को पुष्टि में कोई हेतु नहीं दिया । आनन्दवर्षनाचार्य ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया । उन्होंने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में श्लेष को उपमा व्यतिरेक, विरोध आदि अलंकारों से पुष्ट होता हुआ कहा है और वहाँ 'येन ध्वस्त ०' पद्य प्रस्तुत कर यह भी कह दिया है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थ अग्निधा द्वारा कथित होते हैं साथ ही वहाँ यदि अन्य कोई अलंकार भी बाध्य होता हो तो वहाँ श्लेष ही माना जाना चाहिए—'वस्तुद्वये द्रव्यशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः, तथा—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरं बाध्यं सद्य प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः' । [पृ० २३५-३६

ची० सं० १९१७]। आनन्दवर्धनाचार्य के ही समान महिमबट्ट ने भी उद्भट के मत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में अलङ्कारों की सीमा निर्धारित करते हुए और अनेक अलङ्कारों में वाच्यवाचन दोष बनाने के लिए लिखा है—

‘यथ द्वि यदलङ्कारप्रतिभानुगुणशब्दोपरचित श्लेषः तत्र तदलङ्कारनिवृत्त्य तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति, न ॥ तस्य विषयमतिक्रामति ।’ [पृ० ३९५ ची० सं० २०२५]

‘इहाँ भिन्न अलङ्कार का आभास मात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलङ्कार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस [श्लेष] के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं घमकता।’ इसी तथ्य को फारिकारूप में उपनिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा—

‘यदलङ्कारव्यनक्तये ये शब्दात्पदितरोऽपि तैरेव ।

व्यज्येयात्पत्तरेयंदि तदसौ शृङ्गोऽवशावन्नान्य ॥’

व्यक्तिविवेक की टीका में भी अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेष को निरवकाश मानकर अन्य अलङ्कारों का बाधक ही माना है—‘उपमोत्थापिते श्लेषे भोपमा श्लेषे बाधते, तस्य विविक्तविषयवाभावात्, श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम् ।’ [दृष्टव्य-पृ० ३९६ च० सं० नवीन संस्करण]।

आनन्दवर्धनाचार्य ने श्लेष के विचार के पूर्व अराष्ट स्वर में श्लेष को अलङ्कारान्तर से रूपक बतलाया था। मम्मट ने उसे पकड़ लिया। और उद्भट के मत के विरुद्ध श्लेष को अन्य अलङ्कारों द्वारा बाध्य बतलाने हेतु अपेक्षित अलङ्कारान्तर से श्लेष का पार्श्व्य बनाने के लिए उन्होंने—

‘दिव ! स्वमेव पानालमाशानां स्वं निवर्णनम् ।

स्वं चामरमहदभूमिरेको लोकत्रयात्मकः ॥’

—यह पद्य उद्धृत किया। इसका अर्थ है—हे रावन् ! आप लोकत्रयात्मक हैं, आप ही ‘पानालम्’ [पानाल = नागलीक तथा पाना अलम् = पर्याप्त रसक] हैं, आप ही आशानिष्वन [= आशा = दिशा उनके आधार पृथ्वीलोक, आशा = इच्छाएँ उनके आधार] हैं, आप ही ‘चामर-महदभूमि’ [च = और अमरमहद = देवगण तथा पवन की भूमि = स्वर्ग तथा चामर—चँवर की महद=इवा की भूमि=भारपद = विषय निम्नर चँवर डुले जाते हैं]। परन्तु यहाँ राजा पर तीनों लोकों का आरोप है तथा ‘अन्य राजा नहीं कोई एक कार्य करने तक सोमित हैं वहाँ यह राजा अन्य सब कार्य भी करता है अन- यत् उनसे उत्कृष्ट है’, इस व्यतिरेक का भी अस्तित्व है। अन- यह स्वच्छ शुद्ध श्लेष का स्वच्छ नहीं माना जा सकता। पण्डितराज ने भी रसगंगाधर में इन पद्य में रूपकपतीति मान मम्मट का खण्डन किया है। वस्तुतः स्वयं मम्मट ने भी इस स्वच्छ में रूपक व्यतिरेक का रसज्ञ अनुभव किया था। यह तथ्य वहाँ के इस पद्य के बाद के ग्रन्थाद्य से साधकता है। श्लेष की अलङ्कारान्तररहितता के लिए अलङ्कारसर्वस्वकार ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रस्तुत ‘येन ध्वस्तो’ पद्य चुना। इससे मम्मट की स्थापना को बल मिला।

मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन करते हुए अन्य तर्क भी दिए थे। उन्होंने कहा था ‘पूर्वोपमा’ में साधारण चर्म को निष्पत्ति नियमन श्लेष से ही होगी, वहाँ यदि श्लेष को ही अलङ्कार माना जायगा तो पूर्वोपमा कहीं होगी ही नहीं—‘पूर्वोपमाया विषयापहार एव स्यात्’। इसी प्रकार उन्होंने व्यतिरेक, विरोध, रूपक आदि अन्य अलङ्कारों में भी श्लेष को निःशब्द और व्यतिरेक आदि को ही निष्पाद्यरूप से प्रधान अलङ्कार माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों पक्षों को अपनी भाषा में स्पष्टीकरण के साथ उद्धृतमात्र कर दिया है। उनका संपूर्ण विवेचन सर्वस्वकार तथा विमर्शनीकार के मतों पर आश्रित है। सर्वस्वकार उद्भट और ध्वनिकार के अनुयायी हैं और विमर्शनीकार मम्मट के। उन्होंने ‘येन ध्वस्तो’

पद्य में तुल्ययोगिता का अभाव बड़ी बारीकी से सिद्ध किया है। पण्डितराज ने उसे स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः 'यैत्र ध्वस्त' पद्य में तुल्ययोगिता के अभाव की बात अलंकाररत्नाकर से ली गई है। अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के—'इह प्राकारणिका—तुल्ययोगितायाः प्रतिमानम्'—इस कथन का भावार्थ स्पष्ट कर उसका निराकरण करते हुए कहा है—

—'यैत्र ध्वस्तमनौभवने'—त्यादौ यत्र प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः सकृदुपादानं तत्र तुल्ययोगितायाः अभावान्न ।

—[सर्वस्वकार का उक्त कथन अमान्य है] क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत विशेष्यों का अनेक बार कथन रहता है, एक बार कथन रहने पर तुल्ययोगिता नहीं होती। 'यैत्र ध्वस्त०' पद्य में विशेष्यों का कथन एक बार ही है अतः यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है। आगे कोटि प्रकोटि चलाते हुए उन्होंने लिखा कि यदि आवृत्ति के द्वारा विशेष्यों का असकृदुपादान मान लिया जाय तो धर्मों का उपादान भी उसी प्रकार आवृत्ति के द्वारा एकाधिक बार मानना पड़ेगा। उससे धर्मों में अनेकता चली आयी। तुल्ययोगिता या दीपक केवल धर्म की एकता में ही होते हैं। अतः आवृत्ति द्वारा विशेष्य की अनेकता मानने पर भी तुल्ययोगिता सिद्ध न होगी। इस प्रकार मन्मथ, शोभाकर और जयरथ श्लेष की वाच्यता स्वीकार करते हैं जबकि उद्भट भानन्दवर्धन तथा अलंकारसर्वस्वकार अलंकारान्तर की। एकतर पक्ष के निर्णय के लिए एकमात्र चमत्कारप्रयोजकता को कसौटी माना जा सकता है। सहृदयों के अनुभव से चमत्कारनिष्पत्ति श्लेष या श्लेषेतर जिससे सिद्ध होती हो उसीको अलंकार माना जाएगा। तब निरवकाशत्व और सावकाशत्व के शास्त्रीय जल्प अकिञ्चित्कर सिद्ध होंगे। जहाँ एकाध श्लेष विशेष्य से उपमादि निष्पन्न होते हों वहाँ उपमादि का ही चमत्कार माना जा सकता है और जहाँ 'उद्गमोस्कलिका' आदि स्थलों में अनेक विशेषणों में श्लेष हो वहाँ निश्चित ही चमत्कार श्लेषयोजना से होगा। फलतः वहाँ श्लेष ही मानना उचित होगा। अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमिश्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और श्लेष को पाँच स्थिति में मिलता चलताया है—

प्रधानभूतार्थकारवियोगात् सावकाशता ।
कुत्रचिद् प्रतिभोस्पत्तिहेतुत्वं क्वचिदङ्गता ॥
क्वचिद् प्ररोहविरहात् प्रातिभर्त्स परत्र च ।
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पञ्चभूमिकाः ॥

श्लेष पाँच भूमिकाओं में निष्पन्न होता है—

(१) स्वतन्त्र भूमिका, जहाँ अन्य किसी अलंकार का इसके साथ मिश्रण नहीं होता। [यथा—'यैत्र ध्वस्त०'—पद्य में]।

(२) अन्य अलंकारों की सत्ता प्रातिभासिक सिद्ध कर रहने की भूमिका। [यथा—'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में]।

(३) अप्रधानता की भूमिका, [यथा—'विष्णुका बह्वस्थल समुद्रतट के समान वनमालामरण है' इस वाक्य में 'वनमालामरण' शब्द में वनमाला एक माला, वनमाला = सतवर्ती जंगल की पात यहाँ श्लेष उपमा का अंग है]।

(४) आभासात्मकता की भूमिका [यथा—'अविन्दुसुन्दरी०' स्थल में विरोध की प्रधानता होने से श्लेष की आभासात्मकता]।

(५) अनुप्राणकता की भूमिका, [यथा—समासोक्ति में]।

विमर्शिनी

एव श्लेषस्यालङ्काराणां च परस्परं वाच्यबाधकभावं प्रकाशयान्यैः सहाभ्य संकीर्णवं दर्शयति—इह त्वित्यादिना ।

इस प्रकार [उपयुक्त ग्रन्थ द्वारा] श्लेष और अन्य अलङ्कारों का परस्पर में वाच्यबाधक-भाव दिखानाया । अब श्लेष का अन्य अलङ्कारों के साथ साक्यं दिखलाने हुए लिखते हैं—

[सर्वस्य]

इह तु—

‘त्रयीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद्वाद्युक्तो प्रत्यगमद् विवस्वान् ।
मध्येऽस्तशैलात् पतितोऽत एव विवेश शुद्धै बडवाग्निमध्यम् ॥’

इति श्लोके विषयत्वतो घस्तुवृत्तसंभवि अधःप्रवेशसंयोगलक्षणं पत्प-
तितत्वं यच्च बडवाग्निमध्यप्रवेशस्ते द्वे अपि त्रयीमयस्यसंयन्धिवाद्युक्ती-
गमनरूपविरुद्धाचरणहेतुकाभ्यां पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामतिशयोक्त्या श्लेष-
मूल्या अमेद्रेनाध्ययसिते । सोऽयमेकक्रियायोगः । तद्धेतुका च मध्ये ‘अत
एव शुद्धयै’ इत्युत्प्रेक्षा । अत्रात एवेति परामृष्टो विरोधालङ्कारालङ्कृतोऽर्थो
हेतुत्वानोत्प्रेक्षयते । शुद्धयै इति च फलत्वेन । ततश्च हेतुफलयोर्द्वयोरप्यत्रो-
त्प्रेक्षा । विरोधालङ्कारस्य च विरोधाभासत्वं लक्षणम् । अतो विरोधाभासन-
समय एव हेतुफलोत्प्रेक्षयोक्त्यानम् । उत्तरकालं तु विरोधसमाधिः ।
श्लेषस्य च सर्वालङ्कारापवादत्वाद् विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः ।

[वेद-] त्रयीमय रूप से त्रैलोक्य में प्रसिद्ध होने पर भी सूर्य वाद्युक्ती [पश्चिम दिशा तथा
मन्दिरा] की ओर जो गया मैं सोचता हूँ कदाचित् इसी से [पतित होकर और] अस्तावल से
गिरकर शुद्धि के लिए बडवाग्नि में प्रवेश कर रहा है ।

इस पदार्थ में अधःप्रदेश से सयुक्त होना रूपी ओ वास्तविक पतितत्व = गिरना है और
ओ बडवाग्नि में प्रवेश करना है ये-दोनों वेदत्रयीमय होने पर भी वाद्युक्तीगमन करने रूपी विरुद्ध
आचरण से अनित जो पतितत्व तथा अग्निप्रवेश है उनके द्वारा श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के आधार
पर अमित रूप से अभ्यसित है और यह हुआ [समासोक्ति का जनक सूर्य तथा धार्मिक पुरुषरूपी
ओ विभिन्न व्यक्तियों का अग्निप्रवेश रूपी] एक क्रिया में अमित होना । इसके आधार पर
निष्पन्न होती है ‘मै समझना हूँ कि इसीसे शुद्धि के लिए’—यह [हेतु-फलोत्प्रेक्षा-रूपी] उत्प्रेक्षा-
इस [उत्प्रेक्षाश] में इसीसे [अर्थात् विरुद्ध आचरण करने से] इस प्रकार परामृष्ट जो विरोधाङ्कार
है उभयमे अलङ्कृत अर्थ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित हो रहा है और [वसीमें] ‘शुद्धि के लिए’ यह अश
फलरूप में । इस प्रकार यहां हेतु और फल दोनों की उत्प्रेक्षा हो रही है । और जो विरोधा-
लङ्कार है उसका लक्षण है विरोधाभासत्व, अत हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं का उत्पान उसी
समय होना है अब विरोध का आभासात्मक ज्ञान होता रहता है । बाद में तो विरोध का समा-
धान (परिहार) हो जाता है । इधर श्लेष जो है वह सभी अलङ्कारों का अपवादक है अतः इस
पद्य में श्लेष विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतु होकर स्वयं प्रधान अलङ्कार है ।

विमर्शिनी

वदवाग्निमध्यप्रवेशोऽपि वस्तुवृत्तसंभवीति विशेषणं लिङ्गविपरिणामाद् योऽयम् ।
ते द्वे इति, वदवाग्निमध्यप्रवेशपतितत्वे । पतितत्वाग्निप्रवेशाम्बामिति, ब्राह्मण्यपरिचयाव-
प्रायश्चित्तात्मकाभ्याम् । सोऽयमिति । यत् पतितत्वाग्निप्रवेशयोर्वस्तुतोऽन्यथास्थितयोरप्य-
न्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसायः । तद्वेतुकेति तच्छब्देन तद्विध्यायोगपरामर्शः ।
फलत्वेनेति उपप्रेषयत इत्यत्रापि संबन्धः । ततश्चेति हेतुफलयोर्द्वयोर्उत्प्रेष्यमाणत्वात् ।

‘वस्तुवृत्तसंभवि’ = ‘वास्तविक’ यह जो विशेषण है इसे लिंगपरिणाम [नपुंसकलिंग को पुंलिंग
में ‘वस्तुवृत्तसंभवी’ इस प्रकार बदल] कर अन्विष्ट करना चाहिए । ते द्वे = वे दोनों अर्थात् वदवाग्नि
में प्रवेश और पतितत्व । ‘पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्याम्’ = ‘पतितत्व और अग्निप्रवेश’ को ब्राह्मण्य =
ब्राह्मण्य से श्रुत होने का प्रायश्चित्त है । ‘सोऽयम्’ = यह अर्थात् मूलतः भिन्न रूप के पतितत्व
और अग्निप्रवेश भिन्न रूप के उन्हीं पतितत्व और अग्निप्रवेश द्वारा अमिन्न रूप से अध्यवसाय
तद्धेतुका = इसमें तब शब्द से उपर्युक्त [प्रवेश] क्रिया में [दो भिन्न व्यक्तियों के] अन्वय का
परामर्श है । फलत्वेन = फल रूप से = इसमें भी उत्प्रेष्यते = उत्प्रेषण की जाती है = इसका
संबन्ध है । ततश्च = इस प्रकार = हेतु और फल इन दोनों को उत्प्रेषण हो रही है इस कारण ।

विमर्शिनी

ननु विरोधालंकारस्य विरोध एव रूपं तस्य द्रष्टव्यात् कृते च समाधाने विरोध एव
नास्तीति विरोधालंकारोऽर्थः कथमत्रोत्प्रेषायां हेतुत्वं भजत इत्याशङ्क्याह—विरोधस्यादि ।
यद्वच्यति—‘विरोधाभासत्वं विरोधः’ इति । अत एव च विरोधस्याभासमात्रसारत्वाद्
यथावभासं विश्रान्त्य भावात् प्ररोहो नापि बाधोऽपत्तिः, अपितु पैत्तिकज्वलस्तम्भतैमिरिक-
चन्द्रद्वयावभासवद्दृष्टि प्रत्यय इति मात्र पूर्वं विरोधबोधः पश्चाद्विरोधधीरिति वाक्य-
स्यावस्थाद्वयम् । ननु बाध्यनिषेधपरो नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो बाधो बाध्यं च तथैव प्रतीयते
चेत् किं तेन कृतं स्यादिति चेत्, स्वलङ्घित्वमिति दूमः । तथाहि शुक्तिकारजतमरीचिका-
सलिलादिविभ्रान्तिष्विव मात्र प्रथमप्रवृत्तविचरप्रतिभासस्वभावबाध्यविज्ञानसमुत्पुंस-
नेन बाधकत्वमुदेति, बाधोदयेपि पैत्तिकज्वलस्तम्भतैमिरिकचन्द्रद्वयावभासवद् विरुद्ध-
प्रतिभासानिवृत्तेः । केवलमत्र तद्दशादेवानुपपद्यमानताकारा स्वलङ्घित्वैवावगम्यते ।
स्वलङ्घित्वे च प्रतिपन्नव्यवहारं प्रति निमित्तत्वानुपपत्तिः । न हि पैत्तिकः स्वपित्तविका-
राज्वलस्तम्भदर्शनं मन्यमानस्तत्र दाहपाकाद्यर्थितया प्रवर्तते । तिमिरदोषं वा जानान-
स्तैमिरिकोऽपि बह्विधचन्द्रद्वयास्तित्वव्यवहारं विधत्ते । एवं बाधोत्पत्तेरनुपपद्यमानत्वाद्
स्वलङ्घित्वेन प्रतीयमानोऽपि विरोधो न प्रतिपन्नपेक्षोत्प्रेक्षणलक्षणव्यवहारनिमित्तभाव-
मुपगन्तुमुसहते । यतोऽनुपपद्यमानत्वेन स्वलङ्घित्वमुपपद्यमानत्वेन च व्यवहारनिमित्त-
त्वमिति परस्परविरुद्धत्वाद्नुभवविरोधाच्च तयोः कथमेकत्र समावेशो घटते । अतश्चाने-
नैवाभिप्रायेणाह—अत इत्यादि । विरोधाभासनसमय एवेति, न तु बाधकोदयसमय
इत्यर्थः । बाधोदयानन्तरं विरोधस्योत्प्रेषाहेतुत्वं न युज्यते इत्युपपादितं स्थितं चोत्प्रेषा-
हेतुत्वं विरोधस्येति बाधोदयात्प्रागेवाभ्यथानुपपत्त्या निश्चीयते । बाधस्य च स्वारसिकत्व-
वस्तुत्वेः पर्यालोचनात्म्यत्वेन द्विविधस्यापि सर्वत्रोत्तरकालमेवोद्घासः संभवति । तस्य
च बाध्यनिष्ठत्वाद्बाध्यस्य च पूर्वकालमाविस्वात् । अन्यथा हि निर्विषयो बाधः स्यात् ।
अतश्चोत्तरकालं तु विरोधसमाधिरिति अणितेरर्थमजानानेनायमर्थोऽन्वेषणीयः । यदि हि

घाघः प्रागप्युपेक्षया स्वाधिकारवशेन स्वरसत एवोक्तसेत् तदुक्तनीत्या उपेक्षोत्थानमेव न श्यादित्यथाधित एव विरोध उपेक्षया निमित्तमित्युक्तमुत्तरकालं विरोधमभाधिरिति । स च समाधिरत्र दिगापर्याभिगमादवबुध्यत इति विरोधस्य श्लेषोऽङ्गम् । तद्वाशं देवा-
स्योरथानाम् । तथा आग्रानयोः सकीर्णत्वमात्रमेव न पुनः संकरालंकारः । स तु यथा—

‘सजातपत्रप्रकराखितानि समुद्बहन्ति स्फुटपाटलध्वम् ।

विकस्वराण्यकंकरप्रभावाद् दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयु ॥’

अत्र श्लेषपदस्ययोगितयोरैकवाचकानुप्रवेशेन सकरः । प्राच्याना मते पुनरेतत्प्रति-
भोरपत्तिहेतुः श्लेषोऽयमित्याह—श्लेषस्येत्यादि । तेनाद्यः पद्यः स्वाभिप्रायेण प्रत्यङ्कृतोक्तः ।
यद्वाशयेतच्छ्लोकाविचार एव संकरालंकारे । अत्र प्रथमेऽर्थे विरोधप्रतिभोरपत्तिहेतुः
श्लेषः । दशानाम्तरे तु विरोधश्लेषो द्वाबलकाराविति ।

प्रश्न—विरोधालंकार का स्वरूप विरोध ही है और वह अपने आप में दोष रूप है, फलतः
उसका समाधान [परिहार] किया जाता है, और जब परिहार हो जाता है तब विरोध का
अस्तित्व ही नहीं रहता । इस प्रकार विरोध से कोई अर्थ अर्लङ्कन ही कैम होगा जो उद्देश्य में हेतु
होगा ।’ इस पर उत्तर देने हुए लिखते हैं—‘विरोध’ इत्यादि । जैसा कि आगे ऊँहें ‘विरोधा-
भासत्य विरोध’ है । [अलंकाररत्नाकरकार ने ‘प्रदीपयौषधि’ वष और उसपर अलंकारसर्वस्वकार
का मत उद्धृत कर उसका खण्डन करते हुए लिखा था—विरोध में समाधान शब्दलभ्य न होकर,
सामाजिक ही मानस अनुभूति से लभ्य होता है जो पर्यालोचनरूप होती है । विरोध का वाप
हो जाने पर भी शब्द से तो विकृत अर्थ का ही ज्ञान होता रहता है । इसलिये विरोध का परिहार
वाक्यार्थ का भग कभी भी नहीं बनता, इसलिये यहाँ उद्देश्यप्रतीति के बाद परिहार का वाक्यार्थ
में मानना ठीक नहीं । अन्त में विरोधपरिहार का अर्थ केवल इतना ही है कि विरोध प्रातीतिक
है, वास्तविक नहीं । अन्त में परिहार का अर्थ यह नहीं है कि आरम्भ में विरोध वस्तुतः रहता है
और अन्त में उसका परिहार हो जाता है (इ० पृ० १२, १३ पूर्वा संस्करण) । इसीको स्वीकार
करते हुए किन्तु अलंकारसर्वस्वकार के मत का समर्थन (खण्डन नहीं) करते हुए विमर्शनीकार
कहते हैं—] और इसीलिये [ग्रन्थकार के मत में] विरोध के अभासमात्ररूप होने से उसकी
प्रतीति प्रत्येकमान में आरम्भ जैसी नहीं होती, फलतः न तो वह प्रकृत ही हो पाता और न उसका
परिहार ही होता अपितु यहाँ पिच्छरोग से पीडित को जैसे जकते अग्निस्तम्भ दिखाई देते हैं
अथवा तिमिररोग से पीडित को दो चन्द्र, वैसे ही दो अर्वा की प्रतीति मात्र होती है । इसलिये
न तो यहाँ पहले विरोध का [अभास रूप में ज्ञान न होकर विरोध रूप में ही] ज्ञान होता
और न बाद में अविरोध का ज्ञान होता, जिससे वाक्यार्थ को दो अर्थों में विमल किया जा सके
[प्रश्न] वाप ‘यह ऐसा नहीं है’ इस प्रकार के ज्ञान का नाम है । इससे वाच्य अर्थ का
निषेध हुआ करता है । यदि यहाँ वाप और वाच्य दोनों की ही वैसी [द्विवचन आदि जैसी]
प्रतीति मान ली जाय तो उससे क्या होगा ? [उत्तर =] इससे विरोध का ज्ञान केवल अभासा-
त्मकमान सिद्ध होगा । [विरोध पूर्णतः कट नहीं आया] विरोधालंकार के विरोध के परिहार
में जो वाक्यना होती है वह पहले से ही रहे अभासात्मक विकृत ज्ञान रूपी वाच्य को उखाड़ कर
नहीं होती वैसी कि शक्ति में हो रही है या मरुमरीचिका में होती अल को आन्ति में । यहाँ तो
वाप की प्रतीति ही जाने पर भी विरोधाभासरूपी वाच्य अर्थ इत्या नहीं है जैसे पिच्छ्याधिकाले
के समाने से असत्य रूप से विदित होने पर भी अग्निस्तम्भ नहीं इत्या या तिमिररोग वाले
के सामने से चन्द्रद्वैत । यहाँ केवल इतना होता है विरोध में अनुपपद्यमानता [प्रकृत न ही

—इस अर्थ में सरःश्री में नायिकात्व की प्रतीति का जहाँ तक संवन्ध है वह समासोक्ति से नहीं होती क्योंकि वहाँ विशेषणों का साम्य [उभयान्वयित्व] नहीं है। इसलिए यहाँ नायिका उपमानरूप से ही प्रतीत होती है न कि नायिकात्व की प्रतीति सरःश्री के धर्म के रूप में, इसलिए यहाँ एकदेशविवर्त्ता उपमा ही स्वीकार की जानी चाहिए। दूसरी कोई गति [अलंकार] है भी नहीं। एकदेशविवर्त्ता उपमा का जिन्होंने लक्षण नहीं किया है उन्हें भी इसका संग्रह करना ही चाहिए। जहाँ कहीं 'केशपाशालि०' आदि पद्यों में उपमा [उपमित] समास के द्वारा कथित रहती है, साथ ही अन्य समास के द्वारा विशेषणसाम्य की योजना भी संभव रहती है वहाँ 'औपम्यगर्भ विशेषण' से निष्पन्न समासोक्ति ही रहती है। इस प्रकार [इन दोनों का परस्पर में] कोई विरोध नहीं है।

विमर्शिनी

अविप्रतिपत्तिद्योतनार्थस्तावच्छब्दः। कुत्रस्थेति। किमस्या निमित्तमिति भावः। तदानुगुण्यादिति। शरदो नायिकात्वप्रतीत्यनुगुणात्वात्। तयोरिति रविशशिनोः। कथमिति। अप्रकृतार्थाननुगुण्यात्वात् साम्यायोगात्। कथमत्र व्यवस्थेति। विशेषणसाम्यायोगात् समासोक्तेरप्राप्तेरेकदेशविवर्त्तिन्या उपमाया अनुकृत्वात्। सामान्यलक्षणेति। उपमानोपमेययोः साधर्म्यं भेदाभेदसुषयत्वे उपमेति। एवमेकदेशविवर्त्युपमासामर्थ्यादेवात्र नायकत्वप्रतीतिरिति भावः। अथेति पञ्चान्तरे। यद्दि चान्न पूर्वोक्तयुक्त्यैवानुगुण्याद् रविशशिनोः समासोक्तिमुखेन नायकत्वप्रतीतिस्तद्भार्द्रनखलताभिमिति विशेषणं कथं साम्येन योजयितुं शक्यमित्याशङ्क्याह—तदत्रेत्यादि। एतदेव शास्त्रान्तरप्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन हृदयंगमीकरोति—यथेत्यादिना। अग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेनोपत्तिविधिवान्वयेन हि होमो विहितः। तस्य च पुनर्विधानमदग्धवहन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधेर्विषय इत्यनुपगमात् युज्यत इति तत्रायुक्तत्वाद्दुपपदे इधिन संचार्थत इत्यर्थः। उपमानुमाणितेति। औपम्यगर्भविशेषणोपमित्यर्थः। समासोक्तिरेवेति। न पुनरेकदेशविवर्त्तिन्युपमा। गत्यन्तरमलंकारान्तरम्। यैरित्युद्धटादिभिः। यत्र त्वित्यादेर्यन्त्रस्य पूर्वमेवास्माभिरभिप्राय उक्तः।

'तावद्'—'तो'—शब्द सूचना देता है अविप्रतिपत्ति की [अर्थात् 'इन्द्र धनुः' पद्य में नायकत्व की प्रतीति रविशशी में होती है इसमें किसी की आपत्ति नहीं है]। 'कुत्रस्था' = [रविशशी में नायकत्व की प्रतीति] हो कैसे रही है' = अर्थात् इस प्रतीति का मूल क्या है। तदानुगुण्यात् = उसके अनुरूप होने से = शरद् में हो रही नायिकात्व की प्रतीति के अनुरूप होने से। कथम् = कैसे ['भार्द्रनखलताभन्०' यह विशेषण] [नायिकारूपी] अप्रकृत अर्थ के अनुरूप नहीं है [क्योंकि नायिका में नखलत के समान इन्द्रचाप नहीं अपितु इन्द्रचाप के समान नखलत ही संभव है, अतः उक्त विशेषण में] साम्य [उभयान्वयित्व] वन नहीं पाता। 'कथमत्र व्यवस्था' = 'यहाँ व्यवस्था कैसे दी जाए' = क्योंकि विशेषणसाम्य न होने से समासोक्ति हो नहीं सकती और एकदेशविवर्त्ता उपमा कहीं नहीं गई है। 'सामान्यलक्षणा०'—[उपमा का] सामान्य लक्षण = 'उपमान और उपमेय का समान धर्म के साथ ऐसा संवन्ध जिसमें भेद और अभेद [प्रधान या अप्रधान न होकर] समान ही उपमा [नामक अलंकार] कहलाता है, यह। इस प्रकार यहाँ नायकत्व की प्रतीति एकदेशविवर्त्ता उपमा से ही हो जाती है। 'अथ = इसके अतिरिक्त'—इस प्रकार दूसरा पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। 'यहाँ यदि पूर्वोक्त युक्ति से ही अर्थात् [शरद् के प्रति] अनुरूप होने से ही रवि और शशी में समासोक्ति के द्वारा नायकत्व की प्रतीति मान ली जाए तो 'भार्द्रनखलताभन्' यह विशेषण [दोनों पक्षों में] समानरूप से कैसे अन्वित किया जा सकेगा ऐसी शंका कर

उत्तर देने हैं—तदत्र इत्यादि। इसी तथ्य को दूसरे शास्त्र [मीमांसा] में प्रसिद्ध वृष्टान्त द्वारा हृदयंगम कराने हुए कहने हैं—‘यथा’—इत्यादि। ‘अग्निहोत्र जुहुयात्’ = ‘अग्निहोत्र के लिए हवन करे’ यह एक विधि वाक्य है। इसमें हवन की उत्पत्ति का विधान होता है। फलतः इससे हवन का भी विधान हो जाता है। उसी हवन का विधान पुनः [‘दध्ना जुहोति = दही से हवन करता है’ इस वाक्य के द्वारा] किया जाय यह ठीक नहीं क्योंकि नियम यह है कि विधान उतने का ही होना है जिनका पूर्वतः प्राप्ति नहीं रहना जैसे [अन्नक आदि की मसम बनाने में जो द्वितीय तृतीय पुट दिए जाते हैं उनमें] आग उभी को जलनी है जो पहले से दग्ध नहीं रहता। इमाल्य उस [हवन] में [विधान के] अशुक्त होने से उसका जो उपपद दही है उसमें विधान का संक्रमण माना जाता है। उपमानुप्राणिता = अर्थात् [यहाँ] औपम्यगर्भ विशेषण से निष्पन्न समासोक्ति [मानना उचित है] ‘समासोक्तिरेव’ = ‘समासोक्ति ही’ = अर्थात् एकदेशविवर्त्ता उपमा नहीं। ‘गायन्तर’ = ‘अन्य गति’ अर्थात् अन्य अलकार नहीं है। यैः = भिन्ने अर्थात् उद्भूत आदि ने। यद्य तु इत्यादि को पक्ति है इसका अभिप्राय हम पहले ही [हम अलकार के आरम्भ में] बना चुके हैं।

विमर्शः—[क] ‘अथात्र—नायकत्वप्रतीति’ इस पक्ति के कुछ अर्थों में पाठान्तर है। इनका विवरण इस प्रकार है—

१ अथात्र = यद्यप्यत्र—निर्णयसागर पाठान्तर।

२ नोपमानत्वेन = उपमानत्वेन—निर्णयसागर पाठान्तर।

३ नायकः स्वस्वरूपेण = नायकत्व स्वरूपेण—निर्णयसागर,
नायकत्वम्—मनन्तशयन, मेहरचन्द्र

४ नायकत्वप्रतीतिः = नायकव्यवहारप्रतीति —निर्णयसागर मूल

नायकत्वप्रतीतिः—निर्णयसागर पाठान्तर, मोतीलाल शारदाप्रति,

नायकत्वव्यवहारप्रतीति मोतीलाल, अनन्तशयन, मेहरचन्द्र

समासोक्ति में अप्रकृतार्थ की प्रतीति प्रकृतार्थ से निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र रूप से नहीं होती, उपमा में अप्रकृतार्थ प्रकृतार्थनिरपेक्ष होकर ही प्रतीत होता है अने ही वह वाक्य ही या अवाच्य। इस स्थिति में ‘दिन्द्र धनुः०’ पद्य में अप्रकृत नायक और उसके व्यवहार की प्रतीति को प्रकृत रवि-शशी तथा उनके व्यवहार की प्रतीति से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, फलतः ‘नायकः स्वस्वरूपेण’ और ‘नायकत्वप्रतीति’ पाठ ही ठीक बैठता है। नायकत्व और नायकव्यवहार तत्त्वतः एक हैं इसलिए ‘नायकत्वव्यवहार’ पाठ में एक ही तत्त्व का कथन भाववाचक ‘त्व’-प्रत्यय से तथा ‘व्यवहार’ शब्द से होने के कारण पुनश्चि दोष है। समीक्षिकोंकार ने ‘रविशशिनोरेव नायकत्व-व्यवहारे प्रतीति’ ऐसा कह ‘नायकत्वव्यवहारप्रतीति’ को ही मूल माना है। इनकी इस पक्ति का अर्थ ‘नायकत्वरूपी व्यवहार किया जाय या ‘नायकत्वानुरूप व्यवहार’, ‘त्व’ और ‘व्यवहार’ दोनों में से कोई एक व्यर्थ ठहरता है। नायकत्वानुरूप व्यवहार के स्थान पर ‘नायकानुरूप’ व्यवहार भी कहा जा सकता है।

[ख] ग्रन्थकार ने जो धनुष को उपमान बनाकर नखशुन को उपमेय बनाने का विद्वन्प प्रस्तुत किया है यह केवल नायिकापद्य की दृष्टि से संगत है। नायिका नखशुन ही धारण कर सकती है जिस प्रकार शरद् इन्द्रधनुष ही। इस विशेषण को नायिकैक्यामी बनाने पर ‘तन्वी’ इत्यादि पद्य के ‘विकास’—वर्म के समान इस विशेषण को एकमात्र अप्रकृतपक्षीय विशेषण मानना होगा। किन्तु यह सब अत्यन्त अवैज्ञानिक है। कहा जाय ‘नखशुन के समान धनुष’ और अर्थ निकाला जाय ‘धनुष के समान नखशुन’ यह संभव ही कैसे है। अहाँ तक ‘दध्ना जुहोति’ का संबन्ध

है उसमें 'विधान' जुड़ोति से हटाकर दधि में संक्रान्त कर किया जा सकता है। उद्देश्यविधेयभाव व्याकरण पर निर्भर नहीं रहता अतः उसे विवक्षा के अनुरूप सींचा-ताना जा सकता है। यहाँ नखस्रत का उपमानस्व 'आर्द्रनखस्रताम्' इस प्रकार समास में आए आभा शब्द पर निर्भर है। यह श्लोक में धनुष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। इस प्रकार वह केवल शब्द का ही विशेषण बनता है और इससे धनुष उपमेय ही प्रतीत होता है उपमान नहीं। विधान इस विशेषण में उपमा ही मान्य है। शब्द में नायिकात्व और रधि तथा शशी में नायकत्व स्वतन्त्ररूप से प्रतीत नहीं होते, इसलिए उतने अंश में समासोक्ति मानी जा सकती है। पूर्ण वाच्यार्थ में चमत्कार उपमानुप्राणित समासोक्ति से ही माना जा सकता है किन्तु अनुयायानुयाहकभावमूलक संकर की रीति से, न कि औपम्यगमित समासोक्ति की रीति से।

यहाँ ग्रन्थकार सर्पञ्जुचन्द्रन्याय का शिखार हो गया है। पहले तो उसने उड्डत आदि के अनुकरण पर भ्रमवा समासोक्ति पर अधिक मोह के कारण एकदेशविवर्त्ती उपमा नहीं मानी। जब यहाँ समासोक्ति का निर्वाह कठिन दिखाई दिया तो उसे राजनीतिक चाल चलकर मान लिया, किन्तु उसे समासोक्ति की निर्वाह रियति का मोह सताने लगा और उसने उपमानत्व का भवन धनुष में करना शुरू कर दिया। इसीलिए इनकी इस व्यवस्था का अनुमोदन न पण्डितराज ने किया है और न विश्वेश्वर ने ही। अप्पव्यदीक्षित के ही समान ये दोनों आचार्य भी इस विषय पर चुप हैं।

[सर्वस्व]

सा च समासोक्तिरर्थान्तरन्यासे क्वचित्समर्थ्यगतत्वेन क्वचित्समर्थक-
गतरत्वेन च भवति । क्रमेण यथा—

‘अधोपगूढे शरदा शशाङ्के प्राबृङ् ययौ शान्ततडित्कटाक्षा ।
कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम् ॥’

‘असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ।
अनाक्रम्य जगत् सर्वं नो संध्यां भजते रविः ॥’

अधोपगूढत्वेन शान्ततडित्कटाक्षत्वेन च शशाङ्कशरदोर्नायकव्यवहार-
प्रतीतौ समासोक्त्यालङ्कित एवार्थो विशेषरूपः सामान्याश्रयेणार्थान्तरन्या-
सेन समर्थ्यते । सामान्यस्य चात्र श्लेषवशादुत्थानम् । शान्ततडित्कटाक्षे-
त्यौपम्यगर्भं विशेषणं समासान्तराश्रयेणात्र समानम् । असमाप्तेत्यादौ तु
स्त्रीशब्दस्य सामान्येन स्त्रीत्वमात्रमिधानात् सामान्यरूपोऽर्थो लिङ्गविशेष-
निर्देशगर्भेण कार्योपनिबन्धनेनोत्थापितया समासोक्त्या समारोपितनायक-
व्यवहारेण रविसंध्यावृत्तान्तेन विशेषरूपेण समर्थ्यते ।

आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोगनिर्मोकपट्टपरिवेषतयाम्बुराशेः ।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥’

अत्र निर्मोकपट्टापहवेन समारोपिताया मन्दाकिन्या यद्वस्तुवृत्तेन पाद-
मूले वेष्टनं तच्चरणमूले वेष्टनत्वेन श्लेषमूलयातिशयोक्त्याध्यवसीयते । तत्

तथाध्यवसितं मन्यव्यथान्युपशमार्थमिवेत्युत्प्रेक्षामुत्थापयति । सोत्थाप्य-
मानैवाभ्युराशिमन्दाकिन्योः पतिपत्नीव्यवहाराश्रयां समासोक्तिं गर्भाकरोति ।
एवं चोत्प्रेक्षासमासोक्त्योरेकः कालः ।

एवं 'नखसतानीव वनस्थलीनाम्' इत्यत्रापि वनस्थलीनां नायिका-
व्यवहार उत्प्रेक्षान्तरानुप्रविष्टसमासोक्तिमूल एव ।

एवमियं समासोक्तिरनन्तप्रपञ्चेत्यनया दिशा म्ययमुत्प्रेक्षया ।

यद् समासोक्ति अर्थान्तरन्यास में भी होनी है, कभी समर्थ अथ में और कभी समर्थक अथ
में । [दोनों के] नाम से उदाहरण यथा—

'अब, जब खन्ड का आग्नयन शरद् ने कर लिया तो वर्षा अपना तटितकटाक्ष शान्त कर घली
गई । पयोधर नष्ट हो जाने पर बिन खियों का सौभाग्यगुण नष्ट नहीं हो जाना ।'

'जब तक विजयेश्वर समाप्त नहीं हो जाती किसी भी मनस्वी की खी की चिन्ता कैसे हो
सकती है । सपूर्ण अगव पर आक्रमण कर लेने के पूर्व सूर्य सन्ध्या को नहीं भ्रमता ।'

इनमें [से प्रथम में] आत्स्निग और तटितकटाक्ष की शान्ति [इन दो विशेषणों] से खन्डमा
और शरद् में नायक तथा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है । इस प्रकार यहाँ जो विशेषरूप
अर्थ है वह समासोक्ति से युक्त है और वही रूप में उसका सामान्यरूप [अगनाद्यश्च से कथित]
अन्य अर्थ के उपन्यास से उत्पन्न अर्थांतरन्यासालंकार से समर्थन होता है । [अग प्रथम पद्य में
समासोक्ति समर्थ अथ में है] । यहाँ [समर्थक] सामान्याद्य की निष्पत्ति श्लेष से हुई है
[क्योंकि पयोधर शब्द में शेष तथा स्तन अर्थ का श्लेष है इसी प्रकार समर्थ विशेषाद्य में]
'शान्ततटितकटाक्षा—'—यद् विशेषण ['तटितरूपी कटाक्ष' इस समास के अतिरिक्त 'तटित के
के समान कटाक्ष'—इस] एक अन्य समास के मानने पर [उभयपक्ष में] समान बनता है ।
'असमाप्त०' इत्यादि पद्य में [समर्थ वाक्य में आया] खीशब्द [खी-] सामान्य का वाचक है ।
इसलिय [वसते उपरिधन] सामान्यरूपी अर्थ [समर्थ है उस] का रविसन्ध्यावृत्तान्तरूपी
विशेष अर्थ से समर्थन हो रहा है, जिस पर समासोक्ति के द्वारा नायक तथा नायिका के वृत्तान्त
का आरोप हो रहा है । यह समासोक्ति निष्पन्न हो रही है [समान] कार्य के निर्देश से, जिसमें
विशिष्ट लिंगों [स्त्रीलिंग तथा पुंलिंग] का योग है । [इस प्रकार इस पद्य में समासोक्ति समर्थक
अथ में है] ।

'[समुद्रमन्थन के समय] त्रिबाव के जोर से शैवनाग के [धवल] शरीर का [धवल]
निर्मोकपट्ट [कंचुल की पट्टी] निकल कर गोल गोल लिपट जाने के कारण जिस [मन्दराबल]
के पाद—[प्रत्यन्तपर्वत और चरण] मूल को यानी समुद्र के मन्थन की व्याधा शीघ्र शान्त करने
के हेतु बहुत देर तक मन्दाकिनी लपेटे रहती थी ।' [हरविजय ५।७]

—यहाँ ['यद् निर्मोकपट्ट नहीं है अपि ॥ मन्दाकिनी है' इस विवशा द्वारा] निर्मोकपट्ट का
अपहव कर उस पर मन्दाकिनी का आरोप किया गया है और उस [मन्दाकिनी] का जो पर्वत-
कटक के मूल में वास्तविकरूप से लिपटना है उसे उसने चरण के मूल में लिपटने के रूप में श्लेष-
मूलक अतिशयोक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है । [यह हुआ चरणमूल में लिपटनेरूपी अर्थ के
द्वारा कटकमूल में लिपटनेरूपी अर्थ का अध्यवसाय] । इस प्रकार प्रस्तुत [अध्यवसित] वह
'मानो मन्थन की व्याधा शान्त करने के हेतु' [विद्या गया] इस प्रकार उल्लेखा की निष्पन्न करता
है । वह [उत्प्रेक्षा] निष्पन्न होने लगती है तो समुद्र तथा मन्दाकिनी के पति पत्नी व्यवहार से अनित

समासोक्ति को अपने भीतर ले लेती है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा और समासोक्ति दोनों ही एक साथ निष्पन्न होती हैं।

इसी प्रकार [कुमारसंभव के सुतोयसर्ग के बालेन्दुवक्राणि० इस पद्य के] 'वनस्थली के नखक्षतों से' इस अंश में भी जो नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है वह उत्प्रेक्षा के भीतर निविष्ट समासोक्ति से ही होती है।

इस प्रकार यह सोचकर कि इस समासोक्ति के फैलाव का अन्त नहीं है उपरिनिर्दिष्ट पद्धति से इसके अन्य भेदों को कल्पना स्वबमेव कर लेनी चाहिए।

विमर्शिनी

सैशुकप्रपञ्चः । सामान्यस्वैर्यङ्गमाशब्दस्य श्रीध्वमात्राभिधानात् । श्लेषवशादिति, पयोधराणां हि शिल्पस्वप्नः । लिङ्गविशेषेति, रविसंघ्ययोः पुंसोरूपेण कार्यं भजनक्षणम् । पृथमन्यालंकारसंमिश्रध्वमप्यस्या दर्शयति—आकृष्टीत्यादिना । सैशुप्रेक्षा । एकः काल इति । अस्मात् समासोक्तिगर्भाकारेणोत्प्रेक्षाया उर्यानात् । एवमिति । यथोक्तपद्यैरर्थः ।

'सा = वह अर्थात् यह अर्थात् यह समासोक्ति जिसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। सामान्यस्य = सामान्य का अभिधायक इसलिए कि अंगनाशब्द जोरवमात्र का अभिधान करता है। श्लेषवशात् = श्लेषद्वारा अर्थात् पयोधरों के अनेकार्थक होने से। लिङ्गविशेष = रवि और संघ्या में पुंलिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग और उनका कार्य भजनक्रिया कथित भजन = सेवन। इसी प्रकार इसका अन्य अलंकारों के साथ भी मिश्रण रहता है, उसे दिखलाने हैं—'आकृष्टि' इत्यादि उद्धारणों द्वारा। सा = वह = उत्प्रेक्षा। एकः कालः = एक ही समय में प्रतीति होता है अर्थात् बोध में उत्प्रेक्षा समासोक्ति को अपने भीतर लेकर ही निष्पन्न प्रतीत होती है। पृथम् = उक्त क्रम से।

विमर्शः—(१) कुमारसंभव का 'बालेन्दुवक्राणि०' पद्य पूरा इस प्रकार है—

'बालेन्दुवक्राण्यविकासमावाद् वभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।

सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' ॥३१२९॥

'पलाश [टेसू] के अनखिले पुष्प [प्रतिपद् के] बालेन्दु के समान देड़े और लालचट्ट थे इसलिए वे ऐसे लग रहे थे नानों वसन्त से तत्काल मिली वनस्थलियों के नखक्षत हों।'

(२) मन्दाकिनी का अर्थ ग्रन्थकार के अनुसार भागीरथी गंगा प्रतीत होती है। इस अर्थ में पद्य का अभिप्राय यह माना जायगा कि जैसे कोई सख्ती अपने पति की रक्षा के लिए आक्रान्तों के चरण से लिपट जाती है वसी प्रकार मन्दाकिनी भी अपने पति समुद्र को मन्थन व्यथा से बचाने के लिए मन्दर के कटकों में लिपट गई।

(३) समासोक्ति का इतिहास—

भामह = 'यत्रोक्तो गन्यतेऽन्योऽर्षस्तत्समानविशेषणः ।

सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥

स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः ।

जातस्तद्वर्यं चोच्चैः पातितश्च नभस्त्वता ॥२१७९, ८०॥

—जहाँ एक के कहने पर उसी जैसा समान विशेषण वाला दूसरा अर्थ प्रतीत हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है क्योंकि इसमें अधिक अर्थ थोड़े में कह दिया जाता है। यथा—

—इस स्कन्धों से युक्त, सीधे, सापों से रहित, और दृढ वृक्ष में ज्यों ही बड़े बड़े फल लगे, इसे आँधी ने गिरा दिया।'

वामन = [सूत्र] 'अनुकौ समासोक्तिः १४१३।३

[वृत्ति] उपमेयस्यानुकौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः, सक्षेपवचनाय समासोक्तिरित्यारया ।

—उपमेय को बिना कहे समान वस्तु का विन्यास समासोक्ति कहलाता है । [समास का अर्थ है सक्षेप] सक्षेप में कथन रहने से समासोक्ति यह नाम पडा । यथा—

'दलान्या ध्वस्तत्राध्यगम्लाने करौरस्य मरी रियतिः ।

धिक् मेरी कल्पवृक्षाणामभ्युत्पन्नार्थिनां भिय ॥'

—पेट करील का ही हो और मले ही वह मरुभूमि में ही जमा हो तब भी वह दलाव्य है क्योंकि वह रास्तागोरी को ग्लानि (थकावट) दूर करता रहता है । इसके विरुद्ध याचकों की इच्छा पूर्ण न करने वाला कल्पवृक्ष ही क्यों न हो और सुवर्ण के पर्वत छुमेरु पर ही क्यों न उगा हो, वैसे धिक्कार है ।

स्पष्ट ही समासोक्ति के नाम से वामन ने जिस अलंकार को प्रस्तुत किया परवर्ती आचार्यों के अनुसार वह अप्रस्तुतप्रशंसा ही है ।

उद्भट = 'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणैः ।

अप्रस्तुतार्थकणनं समासोक्तिश्चाहता ॥२।१०॥

—वाक्य प्रकृतार्थक हो किन्तु उसके विशेषण इस प्रकार समान हों कि उनसे अप्रस्तुत अर्थ का कथन होता हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है । उदाहरण—पूर्वोद्भूत 'वृक्षप्रमासुमनसः' = पक्ष ।

—स्पष्ट ही उद्भट भी एक देवविषयी रूपक में समासोक्ति समझ बैठे ।

उद्भट = उद्भट ने समासोक्ति का निर्वचन भागद के अनुकरण पर इस प्रकार किया है—

'सकलसमानविशेषणमेकं यथाभिधीयमानं सप्त ।

उपमानमेव गमयेदुपमेय सा समासोक्तिः ॥८।१७॥

यथा—'फलमविकल्पमलघीयो लघुपरिणति वायतन्म्य सुस्वादु ।

प्रीणितसकलप्रणधिप्रणतस्य सनुत्रने सुनरोः ॥८।१८॥

—जहाँ केवल उपमेय ही कहा जाय और वह सभी विशेषणों की समानता के आधार पर उपमान की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा कराए तो वहाँ समासोक्ति होती है । यथा—

—'सभी वाक्य और प्रगत व्यक्तियों को प्रशन्न करने वाले अच्छे बड़े हुए इस सुन्दर वृक्ष का फल कमी चूकता नहीं, आकार में बहुत बड़ा होता है, शीघ्र परिणत (पक) हो जाता है और बड़ा ही स्वादु रहता है ।' [वहाँ वृक्ष ही प्रस्तुत है अतः उपमेय है । वसते वस जैसे सत्पुरुष की प्रतीति समान विशेषणों के आधार पर होती है ।] अतः वहाँ समासोक्ति है ।

ममिसाधु ने वामन के अनुसार यहाँ 'उपमान से उपमेय की प्रतीति' देना अर्थ कर दिया है, किन्तु यह उदाहरण से मेल नहीं खाता । उदाहरण में वृक्ष का 'इम' = इस प्रकार मैंने सर्वनाम द्वारा निर्देश किया जा रहा है जिससे यह प्रतीत होता है कि वृक्ष सामने लगा है । फलतः वह प्रस्तुत है । यूँ तो खींचना कर दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है किन्तु जब उपयुक्त अर्थ निकाला जा सकता है तब अनुपयुक्त अर्थ का आश्रय करना उचित नहीं कहा जा सकता । कदाचित् मम्मट को उद्भट के इम द्वितीय अर्थ से ही समासोक्ति का निम्नलिखित लक्षण बनाने की प्रेरणा मिली होगी ।

मम्मट = 'परोक्तिर्मेदकैः रिष्टैः समासोक्तिः ।'

रिष्ट विशेषणों द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति समासोक्ति कहलाती है ।

—पूर्ववर्ती आचार्यों ने विशेषण के उभयार्थक होने की बात तो कही थी किन्तु विशेष्य के उभयार्थक होने का प्रतिपेक्ष नहीं किया था । मम्मट ने उक्त लक्षण की वृत्ति द्वारा उसे भी स्पष्ट

कहा — 'प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यद् अप्रकृतत्वार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः'—प्रकृत अर्थ का प्रतिपादक वाक्य यदि केवल श्लिष्ट विशेषणों के बल पर, न कि विशेष्य के भी बल पर अप्रकृत अर्थ का प्रतिपादन करे तो वह समासोक्ति कहलाती है, समास अर्थात् संक्षेप के द्वारा दो अर्थों का प्रतिपादन करने से ।

परवर्त्तों आचार्यों में—

शोभाकर ने अलंकारसर्वस्वकार के समासोक्तिलक्षण पर जो आपत्तियाँ उठाई हैं उन्हें पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है ।

अप्यपदीशित—ने उनके कुबल्यानन्द में चन्द्रालोक के 'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत ।'—इस समासोक्ति लक्षण की वृत्ति लिखते हुए कहा है—

'यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्णमाने विशेषणसाम्यबलाद् अप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिः तत्र समासोक्तिरलंकारः ।'

—जहाँ वर्णन किया जा रहा हो प्रस्तुतवृत्तान्त का किन्तु विशेषणसाम्य के बल पर अप्रस्तुतवृत्तान्त भी निकल रहा हो तो अलंकार का नाम समासोक्ति होता है ।

पविष्ठतराज जगन्नाथ ने समासोक्ति का लक्षण और भी अधिक संरम्भ के साथ इस प्रकार किया है—

'यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः ।'

—जहाँ प्रस्तुत धर्मों का व्यवहार साधारणविशेषणमात्र के द्वारा उपस्थापित अप्रस्तुत धर्मों के व्यवहार से अभिन्न भासित होता हो वह समासोक्ति है ।

विश्वेश्वर ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यत्र प्रकारवाचकपदमार्गं व्यङ्ग्यवाच्यसामान्यम् ।

तच्छक्तैरप्रकृतार्थोक्तिः सोक्ता समासोक्तिः ॥'

—जहाँ केवल विशेषणवाचक पद ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों में समान हों और उनकी शक्ति से अप्रकृतार्थ का कथन हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवल वामन को छोड़ समासोक्ति के विषय में सभी आलंकारिक एकमत हैं और समासोक्ति के भेद-प्रभेदों की कल्पना का येय अलंकारसर्वस्वकार को ही है ।

अलंकाररत्नाकरकार ने यहाँ समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अन्तर भी स्पष्ट किया है । हम इसे श्लेषप्रकरण के पश्चात् प्रस्तुत करेंगे ।

संजीविनीकार ने समासोक्ति के संपूर्ण विवेचन का सारसंक्षेप इन कारिकाओं में किया है—

[१] 'अप्रस्तुतं प्रतीतं चेद् भेदकांशैकसाम्यतः ।

व्यवहारं स्वमारोप्य प्रस्तुते न्यग्भवत्यय ॥

[२] तेनाप्रस्तुतवृत्तान्तारोपेण प्रस्तुतं स्वयम् ।

संक्षेपेणोच्यते तस्मात् समासोक्तिरिवं मता ॥

[३] स्याद् विशेष्यांशसाम्यं चेत् प्रस्तुताकाररूपितम् ।

भवेदप्रस्तुतं भेदं रूपकालङ्कृतिस्तदा ॥

- [४] विशेषणांशसाम्येनाप्रस्तुतार्थस्य गम्यता ।
समासोक्तिमता येन संक्षिप्यार्थोऽभिधीयते ॥
- [५] शुद्धकार्यसमारोपे साम्यं स्यादौपचारिकम् ।
व्यवहारसमारोपः साक्षादस्या प्रयोजकः ॥
- [६] स्याद् विशेषणसाम्यं चेत् ममासान्तरमश्रयात् ।
उपमा वाचते नैनामेकदेशविवर्तिनी ॥
- [७] वृद्धयतेऽर्थान्तरन्यासे समर्थ्ये च समर्थके ।
उत्प्रेक्षायोगिनी चैव वचिन् स्यादेकक्षान्त्या ॥

[१] अप्रस्तुत यदि केवल विशेषणों के साम्य के आधार पर प्रतीत हो और वह प्रस्तुत पर अरुना व्यवहार आरोपित कर अप्रमान रहा आए

[२] तो यह समासोक्ति अलङ्कार माना जाना है क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त के आरोप के साथ प्रस्तुत भक्षेप में कहा जाता है ।

[३] यदि विशेषणांश का साम्य भी हो और अप्रस्तुत विशेष प्रस्तुत के रूप में रूपित हो तो वह रूपकालंकार होता है ।

[४] यदि विशेषणांश का साम्य हो और उभते अप्रस्तुत अर्थ गम्य हो तो समासोक्ति मानी जाती है । समासोक्ति नाम इसलिए कि हममें सक्षिप्त रूप से अर्थों का कथन रहता है ।

[५] हममें वहाँ केवल कार्य का समारोप रहता है तो साम्य औपचारिक माना जाता है, वस्तुतः हमका साक्षात् प्रयोजक व्यवहार का समारोप रहता है ।

[६] विशेषण का साम्य यदि अन्य समान के सहारे हो तो समानोक्ति को एकदेशविवर्तिनी उपमा नहीं वाचनी ।

[७] यह अर्थान्तरन्यास में भी कभी समर्थगन और कभी समर्थकगन रहती है । कहीं यह उत्प्रेक्षा में मिली रहती है, और कहीं उत्प्रेक्षा के साथ साथ प्रतीत होती है ।

[सर्वस्व]

[सू० २३] विशेषणसामिप्रायत्वं परिकरः ।

विशेषणवैचित्र्यप्रस्तावाद्स्येह निर्देशः । विशेषणानां सामिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भोक्तारः । अत एव प्रसन्नगम्भीरपदस्थान्नायं ध्वनेर्विषयः । एवं च प्रतीयमानांशस्य वाच्योन्मुखत्वात्परिकर इति सार्यकं नाम ।

‘राज्ञो मानधनस्य कार्मुकमृतो दुर्योधनस्याप्रतः

प्रत्यक्षं कुरुवान्धवस्य मिततः कर्णस्य शल्यस्य च ।

पीतं तस्य मयाद्य पाण्डवधधूकेशाश्वराकर्षिणः

कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजश्रुणादसृग्मक्षसः ॥’

अत्र राज इत्यादौ सोत्प्रासत्थपरं प्रसन्नगम्भीरपदत्वम् ।

एवम्—

‘अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ द्रोणोपहासिन् कर्ण, सांप्रतं रक्षेनं भीमाद् दुःशासनम्’ इत्यादौ ध्वेयम् ।

[सू० ३३] विशेषणों की सामिप्रायता परिकर [कहलाती है] ॥

[वृ०] प्रकरण विशेषण के वैचित्र्य का है इसलिये इसे यहाँ रखा जा रहा है। विशेषणों की सामिप्रायता अर्थात् उनका प्रतीयमानार्थ से गमित रहना [इसका अर्थ केवल इतना ही है कि] यहाँ विशेषण प्रसन्न के साथ गभीर भी रहते हैं [अर्थात् प्रधानता उन्हीं की रहती है] अतः इसे ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता। इसीलिये इसका परिकर नाम भी सार्थक है क्योंकि इसमें प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ के प्रति [परिकर = साम्यो, दास को नार्ह] उन्मुख रहता है। यथा—

‘एत राजा, मानधनी और [विह्वले नहीं, हाथ में] धनुष लिए दुर्घोषन के सामने, इसी प्रकार कौरवों के बन्धु बने कर्ण और शल्य के अपनी आँखों से देखते-देखते मैने आज उस, पाण्डवों की वधू [द्रौपदी] के केश और वस्त्र खींचने वाले [दुश्शासन] के तीखे नाखूनों से विदारित वक्ष से निकला खून उसके जीते जी पी लिया। [वेणीसंहार]

—यहाँ ‘राजा’ आदि [विशेषण] में उपहास-[सोत्प्रासत्व]-परक प्रसन्नगभीरपदत्व है। इसी प्रकार ‘अरे अङ्गदेश के राजा’ अरे [कौरव] सेना के पति, अरे राजा के प्रिय, अरे द्रोण का उपहास करने वाले कर्ण, अब बचा रस दुश्शासन की भीम से, [वेणीसंहार] इत्यादि स्थलों में भी जानना चाहिए।

विमर्शिनी

विशेषणस्यादि । इहेति समासोत्तरयन्तरम् । विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम् । अन्यथा अणुपुष्टार्थस्य दोषवाभिधानात् तस्मिन्कारणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यार्थ विषयः स्यात् । एवमेवविधानेकविशेषणोपन्वासाद्वारेण वैचित्र्यातिशयः संभवतीत्यस्यालंकारत्वम् । प्रतीयमानार्थस्य वाच्योन्मुखत्वेन प्राधान्याभावाद्गर्भीकारस्तदन्तःकृतत्वम् । अत एवेति प्रतीयमानार्थस्य प्राधान्याभावात् । प्रसन्नत्वं वाच्यस्यैव प्राधान्येन निर्देशात् । गभीरत्वं प्रतीयमानस्याप्यर्थस्य गुणीभावेन गर्भीकारात् । यत्र च प्रतीयमानं प्रति उपसर्जनीकृतस्वार्थयोः शब्दार्थयोरवस्थानं स ध्वनेर्विषय इति ध्वनिविद्यः । यदाहुः—‘तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ । ध्वनेः स एव विषयः’ इति । अथ च न तथात्वमित्युक्तं नायं ध्वनेर्विषय इति । अत एव नामाप्यस्य व्रीगिकमित्याह—एवं चेत्यादि । सोत्प्रासत्वपरमिति । तथा च राज्ञो जगद् रक्षितव्यमस्य पुनरनुजमाप्ररक्षजासिद्धेरन्यदेव नाममात्रेण राजत्वमित्युपहासपरवम् । एवमन्येषामपि स्वयमेवैतद्वगन्तव्यम् । आदिशब्देन

‘यस्यैकस्यैव दोषाणां जघति दृष्टाक्षती साम्बयो हारिः स्रग्ः
कारागारे सुराणां पतिरपि च शची चामरभ्यग्रहस्ता ।
कन्या तस्येयमेका रजनिचरपतेरेप शुद्धान्तमेको
बालो निःशङ्कमस्याः प्रविशति च नमस्तेमसे वैष्णवाय ॥’

इत्यादावपि विशेषणानां प्रसन्नगभीरत्वं ज्ञेयम् ।

विशेषण इत्यादि । इह = यहाँ अर्थात् समासोक्तिवाद । यहाँ विशेषणों का अनेक ही होना अपेक्षित है । नहीं तो, ‘अणुपुष्टार्थक [विशेषण पद] को दोष कहा गया है, उसके निराकरण से आदि पुष्टार्थकता का यह विषय होगा । इसके विरुद्ध ऐसे ही [पुष्टार्थक] विशेषणों की संख्या अधिक रहती है तो उससे [वाक्यार्थ में] अतिशय विचित्रता निम्पन्न होने लगती है, अतः यह अलंकार का विषय बन जाता है । प्रतीयमान अर्थ वाच्य के प्रति उन्मुख रहता है, अतः उसका प्राधान्य नहीं रहता, अतः उसका जो गर्भीकार है वह वाच्य के भीतर दबा रहता है । ‘अतएव = इसीलिये’ अर्थात् प्रतीयमान अर्थ को प्रधानता न रहने से । प्रसन्नत्व इसलिये कि वाच्य का

ही निर्देश प्रधान रूप से रहता है। गम्भीरत्व इसलिये कि प्रतीयमान अर्थ भी [वाच्य में] अप्रधान होकर छिपा रहता है। इसके विपरीत जहाँ प्रतीयमान अर्थ के प्रति शब्द और अर्थ अप्रधान बनकर रहें वहाँ ध्वनि मानी जाती है—येमा ध्वनिवादी आचार्यों का मत है। जैसा कि [ध्यानन्दवर्धनाचार्य ने] कहा है—

‘ध्वनि का विषय बड़ी माना जाना चाहिए जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थ के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों।’

‘इसी कारण इस [अलङ्कार] का नाम भी यौगिक है’—यह कहते हुए लिखते हैं—‘एवं च’ इत्यादि। स्रोतप्रासत्वपरम् = [शारदालिपि की प्रति में यही पाठ है]—उपहासपरक = ‘जो राजा हो उसे तो रक्षा पूरे जगत् को करनी चाहिए, यह तुच्छ येमा है कि अपने ही छोटे भाई की रक्षा करने में असफल है, इसका राजत्व तो और ही कुछ है, केवल नाममात्र का राजत्व है’—इस प्रकार उपहासपरक है यह। इसी प्रकार अन्य विनेषण भी उपहासपरक है। उनकी उपहासपरकता स्वयं जान लेनी चाहिए। आदि शब्द से—

‘जिस [सहस्रबाहु] की अपनी ही हथियार मुजार्थ उत्कृष्टतम पराक्रम से युक्त हैं, जिसके द्वार पर भगवान् रुद्र अपने पूरे परिवार के साथ खड़े रहते हैं, जिसके आरागार में देवों का पति इन्द्र विद्यमान है और [उसकी पत्नी] शची हाथ में बमर लेकर जिसके ऊपर डुलती है, उसी राक्षस राज की यह एक ही कन्या है और उसके शुक्रान्त (रनिवास) में यह एक अकेला बालक निःशुक प्रवेश करता जा रहा है। सचमुच भगवान् विष्णु के तेज को नमन है।’

—इत्यादि में विशेषणों की प्रसन्नता और गम्भीरता जाननी चाहिए।

विमर्श—परिकर का निरूपण पहिली बार रुद्रट के काव्यालङ्कार में मिलता है। भामह, दण्डी, वामन और रुद्रट में इसकी कोई चर्चा नहीं है। रुद्रट ने परिकर का लक्षण इस प्रकार किया है—

‘सामिप्राये. सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद् विशिष्येन ।

द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विध परिकर. स इति ॥ ७७२

—द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति रूप चार वस्तु अब सामिप्राय विशेषणों से ठीक-ठीक विशिष्ट की जाए तो [चार वस्तुओं में से एक-एक वस्तु के आधार पर] चार प्रकार के परिकर होते हैं। उदाहरण—

द्रव्यपरिकर—‘उचितपरिणामरम्यं स्वादु सुगन्धि रम्यं करे पतिनम् ।

फलमुस्त्यथ तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुग्धेदानीम् ॥

—उचित परिणाम (पाक) से रम्य, स्वादु, सुगन्धि अपने आप हाथ में आ गिरे फल को छोड़कर है मुग्धे। तू धृष्या ही व्यथित हो रही है।’ (यहाँ फल के विशेषण अनेक हैं और सामिप्राय है। फल द्रव्य है अतः यह द्रव्यपरिकर हुआ)। नमिसाधु ने फल को जातिवाचक मान वेगीसंहार का ‘कर्त्ता द्यूतच्छलना’ पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वस्वकार का ‘राशो मानधनस्व’ पद्य उसका ठीक समानार्थी पद्य है। इसमें दुर्बोधन एक व्यक्तिक है अतः उसका वाचक शब्द द्रव्यवाचक शब्द है। उसके विशेषण द्रव्य के विशेषण होने से यहाँ द्रव्यपरिकर हुआ।

गुणपरिकर—‘कार्येषु विवितेच्छ विहितमहोयोऽपराधसंवरणम् ।

अस्माकमधन्यानामार्जवमपि दुर्लभं जातम् ॥

—कार्यों में इच्छा विहित करने वाला, बड़े से बड़े अपराध का भी संवरण करने वाला आर्जव (सीधापन) भी हमारे दुर्भाग्य से दुर्लभ हो गया। यहाँ आर्जव गुण है और उसमें अनेक सामिप्राय विशेषण जोड़े गए हैं।

क्रियापरिकर—‘सततमनिर्घृतमानसमायाससहस्रसंकटविच्छिन्नम् ।

गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीपुरयन् ॥

—यह विजयेच्छु राजा सदा ही अशान्त चित्त हो सहस्रों आयासों के संकट से क्लेश में पड़ा प्रजागरव्यथित हो, विना किसी का विश्वास किए जीता है ।’ यहाँ ‘जीना’ क्रिया के अशान्त-चित्ता आदि अनेक साभिप्राय विशेषण हैं अतः यहाँ परिकर क्रियापरिकर हुआ ।

जातिपरिकर—‘अत्यन्तमसहनानामुरुशक्तीनामनिम्नवृत्तीनान् ।

एकं सकले जगति स्पृहणीयं जन्म केसरिणान् ॥

—केवल सिंहों का ही जन्म एक ऐसा जन्म है जो स्पृहणीय है, जो अत्यन्त असहनशक्ति, अत्यन्त बलशाली और अपराधीन रहने है ।’ यहाँ सिंह जातिवाचक शब्द है अतः यहाँ जाति-परिकर हुआ ।

नमिसाधु ने यहाँ भर्तृहरि का ‘कृशः काणः खन्धः’ पद्य भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त उपयुक्त है । रद्रट के इतने महत्त्वपूर्ण और विशद विवेचन को मम्मट ने संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया—

मम्मट = ‘विशेषैर्दत्त साकृत्तरुक्तिः परिकरस्तु सः ।’

—अनेक साभिप्राय विशेषणों के साथ विशेष्य का कथन परिकर कहलाता है । उदाहरण के रूप में दिया है किरातार्जुनीय का—

‘महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्मृतः संयति लघ्वकीर्त्तयः ।

न संहतास्तरय न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यस्तुभिः समीहितुम् ॥’— यह पद्य

यहाँ धनुर्धर वीरों को महान् आजस्वी आदि अनेक विशेषणों से युक्त बतलाया गया है । अन्त में मम्मट ने अपुष्टार्थत्व दोष के अभाव में परिकर के अन्तर्भाव की संभावना कर उसका परिहार इस प्रकार किया है—

‘वद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् सभिराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमिह्यलंकारमध्ये गणितः ।’

विमर्शनीकार ने इन्हीं पंक्तियों को तनिक से रूपान्तर के साथ परिकर-विमर्शनी के प्रारम्भ में उद्धृत कर मम्मट के इस सिद्धान्त को मान लिया है कि साभिप्राय विशेषणों की अनेकता दोषाभाव से आगे आलंकारिक चमत्कार तक व्याप्त वस्तु है ।

निश्चित ही अलंकारसर्वस्वकार ने रद्रट और मम्मट के केवल साभिप्रायत्व का व्यंग्यार्थ से संबंध जोड़ और परिकर शब्द की अन्वयता की सिद्धि कर परिकर-विचार को पर्याप्त पुष्टि दी है ।

शोभाकर अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार का मत ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है । उनका विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र = विशेषणानां] साभिप्रायत्वं परिकरः ।

[वृत्ति =] साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थमर्भता । तस्य च प्रतीयमानस्य वाच्यं प्रत्युपस्कारकत्वाद् गुणीभूतत्वेनालङ्कार्यत्वाभावाद् अलंकारता । वाच्यस्यैवोपस्कार्यत्वेन प्राधान्यादलंकार्यता । यत्र तु वाच्यस्य व्यवहारार्थपर्यवसायितया व्युत्पन्नस्य प्राधान्यं न व्यवहगमर्भता स ध्वनेर्विषयः ।

—विशेषणों की साभिप्रायता परिकर । साभिप्रायता अर्थात् प्रतीयमानार्थ से गमित होना । यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य के प्रति गुणीभूत होता है क्योंकि वह वाच्य का उपस्कारक होता है, और इसीलिए अलंकार्य नहीं होता फलतः अलंकार कहलाता है । उपस्कार्य वाच्यार्थ ही होता है

इसलिए वह अलङ्कार्य होगा है। जहाँ वाच्य व्यङ्ग्य के प्रति समर्पित रहना है वहाँ ध्वंग्य प्रमान रहता है न कि वाच्य में गमित, वहाँ ध्वनि होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने श्लोमाकररूप परिकर ही परिकर के लक्षण के रूप में अपना लिया है 'विशेषणानां सामिप्रायत्वं परिकरः ।' सामिप्रायत्वं का अर्थ भी उन्होंने—'प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिव्यङ्ग्यकत्व' किया है।

अस्पष्टयद्गीकृत ने परिकर का कोरं स्तनत्र लक्षण नहीं दिया है। चन्द्रालोक का 'अलङ्कारः परिकरः' सामिप्राये विशेषणे यह पूर्वाचार्यो के परिकर-लक्षण का समानार्थी लक्षण ही उन्होंने स्वीकार कर लिया है। किन्तु दक्षिण जा ने एक नवौन प्रदान उठाया है। वह यह कि जहाँ मम्मट और विमलशिनीकार ने स्पष्टरूप से तथा शब्द, सर्वस्वकार तथा श्लोमाकर ने अस्पष्ट रूप परिकर में विशेषणों को अनेकता पर बल दिया था वहाँ अस्पष्टयद्गीकृत ने हमके विरुद्ध केवल एक विशेषण की सामिप्रायत्वं में भी परिकर को अलङ्कार मानने की पहल की है। उनका आधार चन्द्रालोक के उक्त लक्षण में आया विशेषण शब्द का एकवचन है। इस पक्ष का प्रतिपादन करते हुए दक्षिण जी ने कुवल्यानन्द में लिखा है—

'अनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः । श्लेषयमकादिषु ००० एकस्यापि विशेषणस्य सामिप्रायस्य विन्यासे विचिञ्चितिविशेषसङ्गान्नाय परिकरस्योपपत्तेः ।' 'अपि च एक्यदाभेदेषु कान्यचिद्गमलपार इति सर्वसम्मतम्, तद्वदेकस्यापि विशेषणस्य सामिप्रायस्वालकारत्वं युक्तमेव' ।

—यह आवश्यक नहीं कि अनेक विशेषणों के आने पर ही परिकर अलङ्कार माना जाय। सामिप्राय विशेषण केवल एक भी हो किन्तु उमने चमत्कार प्रतीति हो रही हो तो वहाँ भी परिकरालङ्कार माना जा सकता है। श्लेष, यमक आदि में वैसी प्रतीति होनी भी है। एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि केवल एक पदार्थ के हेतु होने पर काव्यलिङ्ग को सर्वसमति से अलङ्कार माना जाता है। इसी प्रकार एक सामिप्राय विशेषण से परिकर को भी अलङ्कार मानना ठीक ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अस्पष्टयद्गीकृत के इस मत को मान लिया है। उन्होंने लिखा है—

'विशेषणानेकत्वं हि वक्ष्याधिषयाथायकत्वाद् वैचित्र्यविशेषाभावरूपस्तु नाम, न तु प्रकृतालङ्कारशरीर तदैवेति शक्य वक्तुम्, एकस्यापि विशेषणस्य चमत्कारिताया अनपह्नवनीयत्वात् ।'

—'विशेषण की अनेकता से स्पष्टयद्गी की मात्रा बढ जानी है अतः वह वैचित्र्य में अधिकता भले ही ला दे, यह नहीं कि वह परिकर का शरीर मानी जाने लगे। क्योंकि केवल एक विशेषण में भी चमत्कार रहना है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।' ऐसा मानने पर पुष्टार्थारूप दोषाभावात् से परिकर को पृथक् करना कठिन हो जाता है। पण्डितराज ने इस पर ये युक्तिपूर्ण प्रस्तुत की हैं—

['पुष्टार्थारूपेण दोषाभावेन परिकरालङ्कारस्य विषयविभागो दुःशक इति प्राप्तेः मूः]—'सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलङ्कारत्वन्, चमत्कारापकपकाभावत्वं च दोषाभावरत्वम् । तदेतद् भेदय विविक विषय यदि दैवादेकरिणम् विषयविशेषे समाविशेत् तदा का हानिः स्यात्, उपधेयसकरोऽपुष्याध्यस्करात् । यथा ब्राह्मणस्य मूर्त्तत्वं दोषः, विषा तु दोषाभावश्च भवति गुणश्च तथेहाप्युपपत्तिः । न च दोषाभावतया प्राप्तस्यापि परिकरस्य किमित्यलङ्कारेषु गगनागौरवमिति वाच्यम्, उभयात्मकत्वेनेत्रवैलक्षण्यशापनार्थतया गगनोपपत्तेः, यथा गुर्गाभूतव्यङ्ग्यभेदनया सगृहीतारि समासोक्तिरलङ्कारगगनाया पुनर्गण्यते, यथा वा प्रामादवसिषु गणितोऽन्युमयनासौ भूवासिगगनाया पुनर्गण्यते तथेहातीति न कश्चिद् दोषः । अन्यथा प्राचा काव्यलिङ्गमध्यलङ्कारो न स्यात्, तस्यापि निर्देह्यरूपदोषाभावात्मकत्वात् ।

—अलंकारत्व है सुन्दरता के साथ उपस्कारकता और दोषाभाव है चमत्कार के अपकर्षकतत्त्वों का अभाव । अलग अलग क्षेत्र के ये दोनों तत्त्व यदि एक ही क्षेत्र में आ जायें तो कोई हानि नहीं । क्योंकि इनके मिलने पर भी इनको विशेषताएँ भिन्न ही होंगी । उदाहरण के रूप में जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्खता दोष है और विद्या मूर्खतादोष का अभाव भी और गुण भी । वैसा ही यहाँ भी माना जा सकता है । परिकर दोषाभाव के साथ ही अलंकारत्वरूप उसी प्रकार है जिस प्रकार समासोक्ति गुणीभूतव्यंग्य भी और अलंकार भी, अथवा जैसे भवन और भूमि दोनों में रहने वाला भवन निवासी भी माना जाता है और भूमि निवासी भी । ऐसा न मानने पर प्राचीन आलंकारिकों द्वारा अलंकाररूप से मान्य काव्यलिंग भी अलंकार नहीं होगा, क्योंकि उसका भी अन्तर्भाव निर्हेतुत्वदोष के अभाव में कर लिया जावेगा ।

विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में मन्मथ और जयरथ, अप्यपदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ सब के उक्त मतों को प्रस्तुत किया है ।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग से परिकर को पण्डितराज ने व्यंग्यांश को लेकर भिन्न किया है । काव्यलिंग में चमत्कार, वस्तु के हेतुत्वेन प्रस्तुतीकरण पर निर्भर रहता है जब कि परिकर में उसके व्यंग्यगमितत्व पर ।

केवल एक साभिप्राय विशेषण से निष्पन्न परिकर का उदाहरण चन्द्रालोककार ने यह दिया है—

‘सुभांशुकलितोत्सस्तापं हरतु वः शिवः ।’

—‘चन्द्रचूट शिव आपका संताप दूर करें ।’ यहाँ चन्द्रचूटत्व से शीतता व्यक्त होती है जो तापहरण में सहायक है ।

संजीविनीकार ने परिकर-विवेचना का संक्षेप हत्र प्रकाश किया है—

‘विशेषणार्था व्यंग्यार्थगर्भीकरणलक्षणा ।

सोऽप्रासता परिकरो व्यङ्ग्यः परिकरो मतः ॥’

—अनेक विशेषणों की व्यंग्यार्थ को अपने गर्भ में लिए रहने रूप सोऽप्रासता परिकर कहलाती है क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ परिकर [सेवक, सामग्री] के रूप में विद्यमान रहता है ।

परिकराङ्कुर—चन्द्रालोककार जयदेव तथा कुवलयानन्दकार अप्यप्यदीक्षित ने विशेष्य के साभिप्राय होनेपर एक परिकराङ्कुर नामक अलंकार भी माना है ।—

‘साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः’

इसका उदाहरण माना है—‘चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः ।’ चतुर्भुज देव चार पुरुषार्थों का दाता है ।

यहाँ पुरुषार्थ चार हैं और भुजाएँ भी चार इसलिए एक एक हाथ से एक एक पुरुषार्थ देने का तथ्य व्यक्त होता है । विश्वेश्वर पण्डित के कथनानुसार उनके सबसे छोटे भाई उमापति पण्डित इसे परिकर में ही अन्तर्भूत मानते हैं । उनके कथनानुसार—‘चतुर्भुज’ शब्द भगवान् विष्णु के अर्थ में रूढ़ है अतः ‘चार भुजाएँ’ यह अर्थ यहाँ विष्णु का विशेषण होकर ही भासित होता है और चमत्कार उसी में है इसलिए यहाँ परिकरालंकार ही है ।

‘कचिद् विशेषणं साक्षादेव प्रकृतोपकारकम्, क्वचित् प्रकृतोपकारकमर्थान्तरमाक्षिप्येति०० विशेष्यविशेषणोभयसाभिप्रायत्वेऽपि परिकर एवेति त्वस्माकं यद्विष्ठभ्रातुरुमापतेः पक्षः ।’

—विशेषण कहीं साक्षात् ही प्रकृतार्थ का उपकारक होता है और कहीं प्रकृतोपकारकम किसी अन्य अर्थ का आक्षेप कर, इसलिए दोनों ही स्थलों पर परिकर ही होता है जहाँ विशेषण साभिप्राय रहता है वहाँ और जहाँ विशेष्य साभिप्राय रहता है वहाँ भी ।

[सर्वस्व]

[सू० ३४] विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः ।

केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तम् । विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते । तत्र द्वयोः प्राकरणीकयोरप्राकरणीकयोः प्राकरणीका-प्राकरणीकयोर्वा श्लिष्टपदोपनिबन्धे श्लेषः । तत्रार्थं प्रकारद्वयं विशेषणविशेष्यसाम्य एव भवति । तृतीयस्तु प्रकारे विशेषणसाम्य एव भवति । विशेष्यसाम्ये स्वर्थप्रकरणादिना चाचार्यनियमेऽर्थान्तरगतध्वनेर्विषयः स्यात् । आद्ये तु प्रकारद्वये द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वम् । अत एवात्र—'द्वयोर्वोपादाने' इति तृतीयप्रकारविषयत्वेनोक्तम् । 'विशेष्यस्यापि साम्ये' इति तु श्लिष्टप्रकारद्वयविषयम् ।

[सूत्र ३४] विशेषणों के साथ] यदि विशेष्य का भी साम्य हो अथवा [समान विशेषण वाले दोनों [विशेष्यों] का शब्दतः कथन हो तो [अलंकार को] श्लेष [कहा जाता है] ॥

[वृत्ति] केवल विशेषणों का साम्य समासोक्ति में बतलाया गया, इससे विश्व विशेष्य से युक्त विशेषणों के साम्य को लेकर बतलाया जा रहा है यह । ऐसे दो अर्थों का श्लिष्ट पदों द्वारा कथन श्लेष कहलाता है जिनमें से दोनों ही अर्थ प्राकरणीक हों अथवा दोनों ही अप्राकरणीक और एक प्राकरणीक तथा एक अप्राकरणीक । इन तीनों प्रकारों में से जो प्रथम दो प्रकार हैं वे तभी होते हैं जब विशेषण और विशेष्य इन दोनों का ही साम्य [स्वर्थकता] हो इससे विरुद्ध जो तीसरा प्रकार है वह केवल विशेषण के ही साम्य में होता है । यदि विशेष्य का भी साम्य हो तो वह अन्य अर्थ का बोध कराने वाली ध्वनि का विषय बन जाएगा क्योंकि वहाँ अर्थगत वाच्यता प्रयोगन, प्रकरण आदि से नियमित हो जायगी [फलतः वाच्यरहित अन्य अर्थ का ज्ञान ध्वनि से होगा] ।

प्रथम दो प्रकारों में दोनों ही अर्थ वाच्य होने हैं । इसीलिए वहाँ 'द्वयोर्वोपादाने'—'अथवा दोनों का शब्दतः कथन यह तृतीय प्रकार के लिए कहा गया है और 'विशेष्य में भी साम्य हो'—यह तो श्लेष श्लेष [प्रथम] दो प्रकारों के लिए ।

विमर्शिनी

विशेष्यस्यापीत्यादि । इदमिति श्लेषलक्षणम् । भावमिति । प्राकरणीकगतत्वेनाप्राकरणीकगतत्वेन च । एककारस्थाने जित्प्रक्रमे ऋष्ट्यः । तेन प्रकारद्वयमेवेति ध्यात्वेऽप्यम् । अतश्च तृतीयः प्रकारो विशेषणसाम्य एव भवतीति ध्वन्युदकलम् । अन्यथा हि प्रकारद्वयस्यास्य विशेष्यसाग्याभावेऽपि दर्शनादभ्यासिः स्यात् । तद्यथा 'संधारपूतानि दिगन्तराणि' इत्यादि । अत्र प्रमाथेन्वोर्द्धयोः प्रकृतयोर्विशेष्ययोः साग्याभावः ।

'आद्याहूतमण्डलाप्रकचयः संनद्ववःस्थलाः

सोप्मानो जगिनो विषहृदयधोन्मायिनः कर्कशाः ।

उत्सृष्टाभ्रवरदष्टविग्रहभरा यस्य स्मराप्रेसरा

योषा देववधूस्तनाश्च न दधुः शोभं स वोऽभ्याविजनः ॥'

अत्र स्तनयोधयोरप्रकृतयोर्विशेष्ययोः साम्याभावः । विशेषणसाम्यं एवेति न पुनर्विशेष्यसाम्ये । एतद्वपि विशेष्यसाम्ये किं न भवतीत्याशङ्क्याह—विशेष्यसाम्ये त्रिधायादि । यथा—

‘लंकाज्जाणं पुत्रं वसन्तमासमि लब्धप्रसराणम् ।
आपीतलोहितानां वीहेद् जणो पलाशणम् ॥’

अत्र पलाशानामिति विशेष्यस्यापि द्विष्टवम् । प्रकरणवशाच्च वृत्तविशेषणमेव वाच्यत्वनिश्चयमाश्रयित्वेन निदाघराणामप्रस्तुतानां व्यङ्ग्यत्वम् । अत्र चोपमाया एव द्वयद्वयत्वं युक्तं नातिशयोक्तेरिति प्रकृतानुपयोगादिह नोक्तम् । ननु च यथैवार्थं ध्वनेर्विषयस्तथैवाद्यमपि भेदद्वयं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—आप इत्यादि । वाच्यत्वमिति, अत एव न ध्वनेर्विषयः । तस्य वाच्यतिरिक्तस्वरूपत्वात् । तृतीयप्रकारविषयत्वेनेति प्राधान्याद्युक्तम् । आपस्यापि प्रकारद्वयस्य द्वयोरुपादानसंभवात् ।

विशेष्यस्यापि । इदम् = यह अर्थात् श्लेष का लक्षण । आद्यम् प्राकरमिक, गत तथा अप्राकरमिकगत । ‘एव = ही’ कहा गया है साम्य के बाद किन्तु इसे प्रकारद्वय के साथ लगाना चाहिए [‘ये दो प्रकार ही’ इस प्रकार] देखा करने पर ही तृतीय प्रकार विशेषण के ही साम्य में होता है यह व्यवच्छेद सार्थक सिद्ध होगा । ‘एव-ही’ को ‘साम्य’ से अलग कर यदि ‘प्रकारद्वय’ के साथ नहीं रखा गया तो प्रथम दो उन स्थलों में नहीं माने जा सकेंगे जिनमें विशेष्य का साम्य नहीं रहता यथा—‘संचारपूतानि दिगन्तराणि’ यह [दीपक प्रकरण में आया रघुवंश का पद्य] यहाँ प्रमा और धेनु दोनों विशेष्य प्राकरमिक और इन्हें श्लिष्ट शब्द से न कहकर स्ववाचक दीपक शब्द से कहा गया है ।

‘यह जिन आपको रक्षा करे, काम के भ्रमगामी वीर और अप्सराओं के स्तन जिसमें क्षोभ वरपत्र नहीं कर सके, जो दोनों भुजाओं तथा कूले मण्डल [बेरा वीर पक्ष में धनुष का बेरा] से सुशोभित थे, जिन्हें वज्रःस्पर्श को सत्रद [कवचादि से बढ़, परिपूर्ण] कर रखा था, जो गरम [वीर पक्ष में लोभ, गर्व] से भरें थे जिन पर व्रण [घाव, स्तनपक्ष में नलक्षत] पने थे, जो विपक्ष [वीरपक्ष = शत्रुपक्ष, स्तनपक्ष में—सपत्नी] के हृदय के दहलने वाले थे जो कर्कश थे, और जो बल्लघ्नान्तर दृष्टविग्रह भी [वीर पक्ष में—खुले आकाश में दिखाई दे रहा है विग्रह = युद्ध जिनका या मरने पर वीर गति प्राप्त होने के कारण आकाश में दिखाई दे रहें, विग्रह = शरीर जिनके, स्तनपक्ष में—उत्तरीय छोड़ अपना पूरा शरीर दिखला रहे] थे ।’ [का० अ० सू० ४० में धामन के द्वारा उद्धृत] ।

—यहां [प्रकृत है जिन अतः] वीर और स्तन दोनों अप्रकृत हैं और इन्हें किसी श्लिष्टशब्दद्वारा नहीं कहा गया है । [वस्तुतः इन स्थलों में श्लेष नहीं है । अलंकार है तुल्ययोगिता या दीपक] ।

विशेषणसाम्यं एव = केवल विशेषणों के ही साम्य में यह प्रकार क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न पर उत्तर देते हैं—‘विशेष्यसाम्ये तु’—‘यदि विशेष्य का भी साम्य हो तो’ इत्यादि । जैसे—

‘लंकाज्यानां पुत्रक ! वसन्तमासे लब्धप्रसराणान् ।

आपीतलोहितानां विमेति जनः पलाशानान् ॥

—‘हे पुत्र ! लंका के वसन्त में लब्धप्रसर तथा लाल-पीले पलाशों से लोग भर रहे हैं ।’

यहां पलाश—यह विशेष्य भी श्लिष्ट है परन्तु प्रकरण के आधार पर वाच्यता केवल वृक्ष-विशेष (टैसू) में ही नियमित हो जाती है, क्योंकि वही प्रस्तुत है, अतः अप्रस्तुत निशाचर (पल=

मांस, अशु-खाने वाले) यहाँ व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होते हैं । फलतः यह ध्वनि का उदाहरण है यहाँ उपमा को ही व्यंग्य मानना उचित है, अतिशयोक्ति को नहीं, यह विचार प्रकृतोपयोगी नहीं है इसलिये इसका प्रतिपादन नहीं किया गया ।

प्रश्न. किम प्रकार यह (तृतीय भेद विशेष के साम्य में) ध्वनि का विषय मान लिया जाता है उसी प्रकार प्रथम दो भेदों को ध्वनि का विषय क्यों नहीं मान लिया जाता । इस पर उत्तर देने हुए लिखा—‘आद्य’ । इत्यादि । चाच्यव हसीलिये यह ध्वनि का विषय नहीं होता । क्योंकि उसका स्वरूप वाच्य से मित्र होना है । तृतीयप्रकारविषयत्वेन = (दोनों का शब्दत कथन’ यह केवल) तृतीय प्रकार के लिये ही कहा गया है’ यह केवल प्राधान्य को लेकर कहा गया है क्योंकि प्रथम दोनों प्रकारों में भी दोनों का पृथक् उपादान सम्यक् है ।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

‘येन ह्यस्तमनोभवेन यल्लिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्बृत्तभुजंगहारघलयो गङ्गां च योऽधारयत् ।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्थयमन्धरुस्यकरस्त्वां सर्वक्षोमाधयः ॥’

‘नीतानामाकुलीमाद्यं लुभ्यैर्भूरिशिलीमुखैः ।
सहस्रो घनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥’
‘स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति घक्तुं
देहीति मार्गणशतैश्च द्वाति दुःखम् ।
मोहात्समासिपति जीवितमप्यकाण्डे
कष्टं मनोभव इवेश्वरदुर्चिदग्धः ॥’

अत्र हरिहरयोर्द्वयोरपि प्राकरणिकत्वम् । पद्मानां भृगाणां घोपमानत्वाद्-
प्राकरणिकत्वम् । ईश्वरमनोभययोः प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वम् । एवं च
शब्दार्थोभयगतत्वेन धर्ममानत्वादिश्रविधेः । तत्रोदात्तादिस्वरभेदात्प्रयत्नभेदाच्च
शब्दान्यत्वे शब्दश्लेषः । यत्र प्रायेण पदमङ्गो भवति । अर्थश्लेषस्तु यत्र
स्वरादिभेदो नास्ति । अत एव न तत्र सम्बन्धपदत्वम् । संकलनया तूभय
श्लेषः । यथा—

‘रक्तच्छदत्वं विक्रवा वहन्तो नाळं जलैः संगतमादधानाः ।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मा विरेजुः श्रमणा यथैव ॥’

अत्र रक्तच्छदत्वमित्यादावर्थश्लेषः । नालमित्यादौ शब्दश्लेषः । उभय-
घटनायामुभयश्लेषः । ग्रन्थगौरवमयात्तु पृथङ्गोदाहृतम् ।

क्रम से [एक एक के उदाहरण] यथा—(दोनों प्राकरणिक अर्थ)—

संस्कृत का ‘येन ध्वस्त०’ यह पद्य । (इसमें दो समानान्तर अर्थ निकलते हैं, एक शिवपरक
और दूसरा विष्णुपरक । दोनों में से प्रथम शिवपरक अर्थ इस प्रकार है—

—[शिवपरक अर्थ]—‘जिन्होंने काम को ध्वस्त किया है, जिन्होंने एक बार (त्रिपुरवध के समय) विष्णु के शरीर को अन्न बनाया था, जो फनफनाते सर्पों के द्वार और कंकण पहने रहते हैं, जिन्होंने (स्वयं से गिरती) गंगा को धारण किया था, देवगण जिनके स्तिर को चन्द्रमा से युक्त कहते, तथा जिनका ‘हर’ यह स्तुत्य नाम पुकारते हैं ऐसे अन्धकानुर के निदन्ता पार्वती प्रिय स्वयं भगवान् शंकर आपको रक्षा करें !’

[विष्णुपरक] ‘जो अजन्मा हैं और जिन्होंने शकटाक्षर को ध्वस्त किया है, जिन्होंने अपना बलि को जीतने वाला शरीर [अमृत वांटते समय मोहिनी अवतार में] स्त्री शरीर बना दिया था, जिन्होंने फनफनाते [कालिय] सर्प का दमन किया, जो चक्र को धारण किए हैं, जिन्होंने [गोवर्धन] पर्वत और [पाताल गई] पृथिवी को धारण किया, देवलोग जिसका ‘राष्ट्रशिरोमंजक’ यह स्तुत्य नाम लेते हैं वे अन्धकवंश को [द्वारकामें] बसाने वाले और उसके विनाश करने वाले, सर्वस्वदाता स्वयं भगवान् विष्णु आपको रक्षा करें ।

[ये दोनों अर्थ इस पद्य के शब्दों को तोड़ने से निकलते हैं । यथा शिवपक्ष में ध्वस्तमनोभव = ध्वस्त किया मनोभव कामको जिसने, विष्णुपक्ष में ध्वस्तन् अनः अमवेन = जिसने अन = शकट = शकटाक्षर को ध्वस्त किया है तथा जो अजन्मा है । बल्लिजित्काय = बल्लिजित = विष्णु, बल्लिको जीतने वाला शरीर, पुरास्त्रीकृत = शिवपक्ष में पुरा अस्त्रीकृत, वि० प० में पुरा स्त्रीकृत, उद्वृत्त मुजंगाहारवलयः = शि० प० में—उद्वृत्त मुजंगों के द्वार और वलयवाले अथवा अ = विष्णु उनका रव = नाम उसमें लय है जिनका, वि० प० में = उद्वृत्त मुजंग के हा—‘मारक’, अरवलय = चक्र तद्वान्, शिवपक्ष में = रंगा = गंगाको विष्णुपक्ष में = अंगं गां = पर्वत तथा पृथिवी को, शशि-मच्छिरोहर = शि० प० में—शशिमान् शिर वाले, तथा हर इस नाम वाले, वि० प० में—शशी को मथने = प्रसनेवाले राहु का शिर हरने वाले, अन्धकक्षयकर = शि० प० में—अन्धकाक्षर का क्षय विनाश करने वाले, वि० प्र० में—अन्धकवंश के लिए क्षय = निवासस्थान उसका बनाने वाले तथा उसका क्षय = विनाश करने वाले, सर्वदोमाधव = शि० प० में सर्वदा उमाधव = उमा के पति शिव, वि० प० में—सर्वदः = सबकुछ देने वाला, माधव मा = लक्ष्मी के धव = पति = विष्णु ।]

[दोनों अप्राकारणिक अर्थ यथा]—

‘नीतानामाकुलीमावम्’ यह पद्य । [इसमें दो अर्थ निकलते हैं १-पद्यपरक, २-हरिणपरक । प्रथम के पक्ष में श्लोक अर्थ होगा—]

‘उसके नेत्र अनेक लुम्भ शीरों से आकुल और पानी में लग कर बड़े कमलों के समान हैं ।’

दूसरा पक्ष—उसके नेत्र अनेक बाण वाले बहेलियों द्वारा आकुल हुए अंगुली हिरणों [के नेत्रों] के समान हैं ।

[कमल पक्ष = लुम्भ = लोमी, शिलीमुख = अमर, वन = जल, कमल = पद्य । हरिणपक्ष = लुम्भ = बहेलिया, शिलीमुख = बाण, वन = जंगल, कमल = हिरण—]

[एक प्राकारणिक और एक अप्राकारणिक अर्थ, तथा विशेषण और विशेष्य दोनों का शब्दतः कथन—यथा]—‘स्वेच्छोप०’ पद्य का यह अर्थ—

‘देव की बात है कि नासमञ्ज स्वामी काम के समान होता है जो स्वेच्छोपजातविषय [प्रभु = अपनी इच्छा भर विषय = धनधान्यादि, काम = अपनी इच्छा के अनुसार विषय = स्त्री आदि] पाकर भी मार्गणशत के द्वारा [प्रभु = सैकड़ों पाचकों द्वारा] ‘देहोति’ [प्रभु = देहि = दोजिए, इति ऐसा] कहा नहीं जाता, और दुःख देता है [काम भी मार्गणशत = सैकड़ों बाणों के द्वारा दुःख देता है और देहोति = देही = शरीर आत्मा नहीं कहा जाता] और मोह से [प्रभु नासमञ्जो से,

काम = मूर्च्छा से] जीविन को [प्रमु-जीविका को, काम = प्राणों को] भी एकाएक नष्ट कर देता है ।

—रन [तीनों पद्यों में से प्रथम पद्य] में शिव और विष्णु दोनों प्राकरगिक हैं, [द्वितीय पद्य में] पद्म और मृग दोनों उपमान हैं इसलिए अप्राकरगिक हैं [और तीसरे पद्य में] स्वामी प्राकरगिक है और काम अप्राकरगिक ।

यद् शब्द, अर्थ और दोनों में रहता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है । इनमें शब्द का श्लेष वह होता है जिसमें उदात्त आदि स्वर का अन्तर पक जाता है फलतः [वच्यारण के] प्रयत्न में अन्तर आ जाता है अतः शब्द भी बदल जाता है । यहाँ प्रायः शब्द टूटता है । अर्थ श्लेष वहाँ होता है जहाँ स्वर आदि का भेद नहीं होता । इसीलिए इसमें शब्दों में भङ्ग (टूट) नहीं रहता । उभयश्लेष होता है इन दोनों के एकत्रीकरण से ।

यथा—

पद्य ठीक वैसी ही सुशोभित हो रहे थे जैसे अमण । क्योंकि वे लाल वर्ण के छद् (पतुड़ी) धारण किये हुए थे [अमण भी लाल वर्ण का छद् = कन्या धारण करने है], वे विकच [खिले हुए थे, अमण भी कच = केशों से रहित = विकच = मुण्डित सिर होते हैं], जलों में सगन = दूबी नाल को धारण किए हुए थे और अमण भी जब व्यक्तियों का अधिक साय नहीं करते = [जलेपु = जलेपु अलम् = अधिक, सगतम् = साहचर्य न आश्रयाना] [अन्य] पुष्पों की सपुर्ण रचि निरस्त कर चुके थे । [अमण भी पुष्प = स्त्री या पुष्पधन्या काम की सपुर्ण रचि = चाह समाप्त कर देने हैं] ।

—यहाँ 'रक्छदर' आदि [आदि पद से विकचत्व, पुष्परचिनिरसन] में अर्थश्लेष है और 'नालं' आदि [आदि शब्द] में [नाल तथा न अलम् ; जल तथा जड़ इत शब्दभेद होने से] शब्दश्लेष है । क्योंकि यहाँ दोनों एक ही वाक्य में मिलित हैं इसलिए यहाँ उभयश्लेष हुआ । तीनों के उदाहरण अलग-अलग नहीं दिए प्रत्य कलेवर बचने के मय से ।

विमर्शिनी

एव इति त्रिविधोऽपि श्लेषः । तत्रेति त्रयनिर्धारणे । यत्रेति तादृशश्लेषे । अत्र एवेति स्वरविभेदाभावात् । संकलनयेति समझासमझपदसंमेलनया । पृथगिति भेदेन । तत्र तादृशश्लेषो यथा—

'ते गच्छन्ति महापदं मुवि, पराभूतिः समुत्पद्यते

तेषां, तैः समलंकृतं निजकुलं, तैरेव लक्ष्माणिनिः ।

तेषां द्वारि मद्भित्त वाजिनविहास्ते मृपिताः प्रयहं

ये दृष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा ॥'

अत्र पदानां समझत्वं स्पष्टम् । अर्थश्लेषो यथा—

'इच्छन्तौ चिद्युकाप्रचुम्बनमयो शैथिल्यशङ्कोऽस्तौ

नैविद्येन पररपरस्य न मनाक केनापि लक्ष्म्यान्तरौ ।

घन्यां तौ तरुगीशतनाविव न सौ स्वप्नेऽपि विरिधिष्यतो

विरलेपं विषमं विषयं भवतो नाचोमुद्यौ जानु वा ॥'

अत्र पदानामसमझत्वं स्पष्टम् । संकलनया तु ग्रन्थकृतौ दोषाद्भवत् । अस्य च तादृश-धांशित्वाद्दुभयालंकारतां दर्शयति—अलंकार्यन्यादिना ।

एव = यह अर्थात् तीनों प्रकार का श्लेष । तत्र = तीनों में । यत्र = वहाँ अर्थात् शब्दश्लेष में । अत एव = इसीलिए अर्थात् स्वरदि का भेद न होने से । संकलनया = एकत्रीकरण अर्थात् समझ

पद एवं अमङ्गल पद के मिश्रण से। पृथक् = अलग-अलग = अर्थात् प्रत्येक का उदाहरण भिन्न करके। भिन्न उदाहरण हस्त प्रकार है—

‘आप परमेस्वर हैं। आप जिस पर प्रसन्न या रुष्ट होते हैं वे महापद [महान् उच्च पद, महा आपद आपत्ति] को प्राप्त होते हैं, पृथिवीमण्डल पर उनकी परामृति [परा = उत्कृष्ट भूति = वैभव, परामृति = परामव] होती है, वे अपने कुल को समलंकृत [सम् = सव प्रकार से अलंकृत = शोभित, समलं = मलसहित कलंकित] कर देते हैं, वे ही क्षिति [पृथिवी, क्षय] को पा लेते हैं, उनके दरवाजे बाजिनिवह [बाजि = घोड़ों के निवह सुसुदाय, वा = या आजि = युद्ध = निवह] गरवते हैं, और वे ही प्रतिदिन भूषित [अलंकृत, भू = पृथ्वी पर सित = पड़े हुए] रहते हैं।’
यहाँ पदों में मङ्गल है।

अर्थश्लेष यथा -

‘वे [दन्तरी] धन्य हैं सन्तुष्टियों के समान जो सदा ही चिन्तुकाय [दुष्टी के अग्रभाग] का चुम्बन करना चाहते हैं, जिनमें क्षिप्रता की शंका नहीं रहती, परस्पर में इतने घने [सटे] रहते हैं कि अन्य किसी की शोच में जगह नहीं मिलती, जो स्वप्न में भी अलग नहीं होते और अलग होते भी हैं तब भी कभी अयोमुख नहीं होते।’ —यहाँ पदों में मङ्गल नहीं है यह स्पष्ट है। दोनों का मिलित उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ही [‘रक्तच्छदत्वम्’ यद्] दे चुके हैं।

यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, इसलिये इसको दोनों का अलंकार बतलाने हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावर्थद्वयाश्रितत्वाद्यमर्थ्यालंकारः ‘नालम्’ इत्यादौ तु शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्। यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शते ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वाद्ब्र शब्दभेदस्य प्रतीतिरेकतावसायान्नास्ति शब्दभेदः। ‘नालम्’ इत्यादौ तु प्रयत्नादिभेदात् प्रातीतिकपव शब्दभेदः। अतश्च पूर्वत्रैकवृत्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लेषत्वम्, अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लेषत्वम्। पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत्, न आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।

अलंकार्यालंकरणभाव [काव्य में भी] आश्रयाश्रयिभाव के आधार ही ठीक उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार लोक में, अतः ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि पद में यह [श्लेष] दो अर्थों पर आश्रित रहने से अर्थ का अलंकार है। इसके विपरीत ‘नाल’ इत्यादि स्थल में दो शब्दों पर आश्रित रहने से यही शब्द का अलंकार है। यद्यपि ‘अर्थ भिन्न हो तो शब्द भी भिन्न होता है’ इस सिद्धांत के अनुसार ‘रक्तच्छदत्वम्’ इत्यादि में भी यह [श्लेष] शब्दाश्रित ही माना जा सकता है तथापि यह शब्दभेद सिद्ध करने पर सिद्ध होता है, प्रतीति तो होती है एक रूप से ही। इस कारण यहाँ [काव्य में प्रतीति का सारा खेल है अतः इसकी दृष्टि से] शब्दभेद नहीं है। और इसीलिये प्रथम श्लेष में दो अर्थों का [एक] शब्द में श्लेष = जोड़ उसी प्रकार है जिस प्रकार एक वृत्त में दो फलों का होता है, जब कि दूसरे श्लेष में स्वयं शब्दों का ही श्लेष = जोड़ रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जतु = लाक्षा और काष्ठ = लकड़ी का। [मन्मथ का] यह कहना ठीक नहीं है कि ‘प्रथम

[अमग] भेद में भी [श्लेष] शब्द का ही अलकार है क्योंकि उसका रहना न रहना शब्द के रहने न रहने पर निर्भर है इसलिए उसके प्रति शब्द ही हेतु है, और अलकार की शब्दार्थगत-त्वेन व्यवस्था हेतुहेतुमद्भाव के आधार पर होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः कान्यालंकार भी लौकिक अलकारों के समान ही आश्रयाश्रयिभाव को लेकर उद्घाराय जा सकते हैं [हेतुहेतुमद्भाव को लेकर नहीं] ।

विमर्शिनी

मनु च 'यावन्त एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्त एव हि' इत्याद्युक्त्या। रक्तच्छदत्वमित्याद्यावपि शब्दद्वयाश्रयाच्छ्रद्धालंकार प्रवाश सकयमन्ययोक्तमित्याशङ्क्याह—यधीत्यादि। एकतावसायादिति। रक्तच्छदत्वादेः प्रयानादिभेद विना सादृश्येनायंश्रयाभिवानात्। अत-श्लेति। अर्थद्वयस्य शब्दद्वयस्य च श्लिष्टत्वात्। पूर्वत्रेति। रक्तच्छदत्वमित्यादी शब्दस्य घृन्तस्थानीयात्वात्। अपरत्रेति नालमित्यादी। जतुकाष्ठन्यायेनेति परस्पर संवलितत्वात्। पूर्वत्रेति रक्तच्छदत्वमित्यादी। अन्वयव्यतिरेकान्यामिति। रक्तच्छदत्वमित्येव शब्दे स्थिते श्लेष शब्दपरिवर्तने तु हृते न श्लेष इत्यत्रापि शब्दहेतुकत्वात्तदलंकारत्वमेवेत्यर्थं। आश्रयाश्रयिभावेनेति। न पुनरन्वयव्यतिरेकान्याम्। ताभ्यां हि यस्य यद्वेतुकत्व तस्य सकार्यत्वं न्याय पुनस्तदलंकारत्वम्। लोकवदिति। लोके हि यथा कर्णाश्रित, कुण्डलादिः कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलंकारः।

'शब्द उतने ही होने हैं जितने अर्थ' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में भी यह श्लेष शब्द का ही अलकार है क्योंकि वहाँ भी यह दो शब्दों पर आश्रित है। फिर आप इसके विपरीत इसे [अर्थाश्रित] क्यों बतला रहे हैं—इस शंका पर उत्तर देते हैं—'यद्यपि—' इत्यादि। 'एकतावसायात्' = 'प्रतीति में एकता का ध्यान'—इसलिए कि 'रक्तच्छदत्व' आदि शब्दों में प्रयत्न आदि के भेद के बिना एकरूपता (सादृश्य) के आधार पर दो अर्थों का कथन होता है। 'अतश्च = और श्लेष' = अर्थात् दो अर्थ और दो शब्दों के श्लिष्ट = जुड़े हुए होने हैं। पूर्वत्र = प्रथम में—'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में क्योंकि वहाँ शब्द रहता है घृन्तुत्वात्। अपरत्र दूसरे में = 'नालम्' इत्यादि में। 'जतुकाष्ठन्यायेन' = लकड़ और काष्ठ ॥ समान एक दूसरे में चिपके रहने से। पूर्वत्र = प्रथम में = 'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में। अन्वयव्यतिरेकान्याम् = 'एक के रहने पर दूसरे का रहना और न रहने पर न रहना' = 'रक्तच्छदत्व' इसी शब्द के रहने पर श्लेष रहता है, इस शब्द के बदल देने पर श्लेष नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ पर भी श्लेष शब्दभूतक है अतः उसे शब्दालंकार ही मानना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से, न कि अन्वयव्यतिरेक से। इन [अन्वयव्यतिरेक] के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि जो जिससे पैदा होना है वह उसका कार्य है, यह नहीं कि वह उसका अलंकार है। लोकवद् = लोक के समान—'लोक में जिस प्रकार कान में पहना कुण्डल आदि अलंकार कान का ही अलंकार [शोभावर्षक] कहा जाता है न कि सुवर्ण रूपी कारण से उत्पन्न होने के कारण सुवर्ण का अलंकार [शोभावर्षक]।

विमर्शः—श्लेष शब्द का प्रमुख अर्थ है जुटना, चिपकना, और अलंकार शब्द का अर्थ है शोभावर्षक तत्त्व अथवा अप्रधान रूप से चमत्कारजनक तत्त्व। प्रश्न उठता है श्लेष में अलंकार्य कौन है। श्लेष स्वयं हुआ अलंकार, अतः अर्थकार्य शब्द या अर्थ इन दो में से कोई एक हो सकता है।

उद्भूत और सर्वस्वकार समंग और अमंग हम दोनों श्लेषों को अर्थालंकारों के प्रकरण में रखते हैं अतः सामान्यतः यही सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का श्लेष अर्थालंकार ही है। उधर उद्भूत ने समंग श्लेष को शब्दालंकार कहा है अतः मम्मट ने उसके अर्थालंकारों के बीच रखे जाने पर आपत्ति उठाई है—‘शब्दालंकार इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कोर्य नयः’ [नवम उल्लास] उद्भूत के अनुकरण पर मम्मट ने स्वयं शब्दश्लेष को नवम उल्लास में शब्दालंकारों के बीच रखा है और अर्थश्लेष को अर्थालंकारों के बीच दशम उल्लास में। सर्वस्वकार ने अतिशयोक्ति को तो दो अलग-अलग प्रकरणों में रखकर वर्गीकरण को महत्त्व दिया, किन्तु यहाँ उन्होंने वैसा नहीं किया और समंग श्लेष को शब्दालंकार कहकर भी उसे अर्थालंकारों के बीच रखा। विचित्रता यह है कि मम्मट द्वारा श्लेष पर उठाई गई अन्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए भी वे इस आपत्ति पर मौन हैं। वस्तुतः यह उनकी शिथिलता ही है। इस प्रकार समंग श्लेष में अलंकार्य शब्द ही मान्य है। अर्थ यह कि समंग श्लेष शब्दालंकार ही है।

अमंग श्लेष में अलंकार्य के निर्णय की समस्या जटिल है। जटिलता इसलिए है कि निर्णायक हिन्दु पर आचार्यों का मत एक नहीं है। उद्भूत के अनुसार निर्णायक है आश्रयश्रयिभाव। इस मत में श्लेष का आश्रय ही श्लेष का अलंकार्य है। समंग श्लेष में दो शब्दों का जोड़ रहता है और वह लख और लकड़ी के जोड़ के समान स्पष्ट दिखाई देता है। अतः वहाँ शब्द ही श्लेष का आश्रय और अलंकार्य मान लिया जाता है। किन्तु अमंगश्लेष में आश्रय का निर्णय करना कठिन है। अमंग श्लेष में अर्थ दो होते हैं इसलिए अर्थ के जोड़ में कोई मतभेद नहीं बैठता। जहाँ तक शब्द का संबन्ध है इसके विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार अमंग श्लेष में यद्यपि शब्दों में भेद नहीं रहता अतः उनका वैसा जोड़ नहीं रहता जैसा समंग श्लेष में रहता है, तथापि एक दूसरे प्रकार का जोड़ अवश्य रहता है। वह है गाय और भैंस के दो भिन्न दूधों के मिश्रण जैसा जोड़। फलतः उसमें जोड़ की प्रतीति नहीं हो पाती। प्रतीति न होने पर भी शब्दों में जोड़ इसलिए माना जाता है कि अर्थ बदलते ही शब्द भी बदल जाता है। जैसे मानस शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मानसरोवर तालाब और दूसरा चिच। यद्यपि ‘म, भा, नू, अ, लू, अ’ ये वर्ण उसी क्रम से तालाबवाचक मानस शब्द में आते हैं जिस क्रम से चिचवाचक मानस शब्द में, जिससे दोनों मानस शब्दों के उच्चारण में प्रबलभेद नहीं होता, अतः दोनों शब्दों में एकता की प्रतीति होती है तथापि वे दो भिन्न शब्द हैं क्योंकि अर्थों में भेद है। जैसा कि कहा जाता है—‘प्रत्यर्थ शब्दा भिद्यन्ते।’ इस सिद्धान्त के अनुसार जोड़ या श्लेष का आश्रय शब्द है इसलिए श्लेषरूपी अलंकार का अलंकार्य शब्द ही है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य हैं मम्मट। उनकी पंक्ति है—

[का०] ‘वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्वापणस्पृशः।

दिलभ्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ..... ॥’

[६०] ‘अर्थभेदेन शब्दभेद’ इति दर्शने वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन दिलभ्यन्ति = भिन्न स्वरूपमपद्रुवते स श्लेषः। [काव्यप्रकाश ७० ९]।

—‘अर्थभेद में शब्दभेद’ इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थभेद से भिन्न हुए भी शब्द एक साथ उच्चारण के कारण अपना भिन्न रूप छिपा लेते हैं तो उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।’

अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त मम्मट के पूर्व उद्भूत ने भी माना था और कहा था—

‘एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव विभ्रताम्।

स्वरितादियुणैर्भिन्नैर्वन्धः विलाटम्।’ ४।९ ॥ अर्थात्

—एक ही प्रयत्न से उच्चार्य अत एव ममान प्रतीत होते शब्दों का बन् दिष्ट = जुडा हुआ = जोड़ से युक्त कहलाता है। 'ममान प्रतीत होने' इस कथन का आधार 'अर्थभेद में शब्दभेद' सिद्धान्त ही है। उद्धृत के कान्यालङ्कारसारसंग्रह को टीका लघुवृत्ति में प्रतीहार-नुरान ने भी लिखा है—

'अर्थभेदेन तावच्छब्दा मिथन्त इति मट्टोद्भवस्य सिद्धान्तः ।'

किन्तु उद्धृत ने ऐसे शब्दों के श्लेष का अलङ्कार्य शब्द को न मान अर्थ को मान लिया—

'पदे', द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्'

—एव दो प्रकार के होते हैं—(२) एकैच्चारण वाले और (२) भिन्न उच्चारण वाले। इन दो प्रकार के पदों से श्लेष भी दो प्रकार का होना है अर्थश्लेष और शब्दश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दश्लेष दूसरे शब्दों में अमंगलश्लेष ही है। इस पर मम्मट ने आपत्ति उठाई और कहा जब श्लेष शब्द में माना [अर्थात् श्लेष का आशय शब्द को माना] तब अलङ्कार्य अर्थ कैसे माना जा सकता है। रहे श्लेष किसी में और अलग करने किसी को यह शान तर्कशुद्ध नहीं रही जा सकती। और हसीलिपि अमंग श्लेष को अर्थात्कार नहीं माना जा सकता। वह शब्दा-लङ्कार ही है।

एक प्रश्न और उपस्थित हुआ। यह कि अमंग श्लेष में अर्थभेद से शब्दभेद मानना और फिर शब्द में ही श्लेष स्वीकार करना कहाँ तक वास्तविक है। यह केवल शास्त्रमति ही है, या इसमें कोई वधार्थ भी है। इसका उत्तर मम्मट ने तर्कशास्त्र को दुबारा देकर दिया। उन्होंने कहा अमंगलश्लेष में श्लेष का आशय कौन है यह तथ्य अन्वय और स्वविरोक की कसौटी से परखा जा सकता है। यदि शब्द को हटा दिए जाने से श्लेष न हटे तो वह अवश्य ही शब्द का श्लेष न होगा, अर्थ का ही श्लेष होगा। 'रक्तच्छदत्व'-आदि अमंग श्लेष के स्थलों में स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ यदि 'रक्तच्छद' शब्द के स्थान पर 'रक्तपत्र' शब्द दे दिया जाय तो इस शब्द का अर्थ अमंगल पक्ष में लागू नहीं होगा, फलतः श्लेष नष्ट हो जाएगा। विरक्त शब्द भी नहीं हटाया जा सकता। 'विकेश' या 'विकसित' कहने पर एकान्वयी अर्थ ही निकलता है अतः श्लेष नष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्लेष का आशय अमंग श्लेष में भी शब्द ही होता है।

अलङ्कारसर्वस्वकार और जयरथ ने मम्मट की इस तार्किकता को सहृदयता से काटने की कोशिश की। अन्वयव्यतिरेक को इन दोनों ने कार्यकारणभाव का नियामक माना, अलङ्कार का नहीं! अलङ्कार को इन्होंने आश्रयाश्रयिभाव पर ही निर्भर मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है। यह उनके सभी व्याप ग्रन्थास से ही स्पष्ट है। लोह में जैसे केयूर का कारण सुवर्ण हीया है किन्तु वह अलङ्कार होता है मुझ का, इसलिपि केयूर के अन्वयव्यतिरेक सुवर्ण के साथ रहने है, सुवर्ण के न रहने पर केयूर नहीं रहता और रहने पर रहता है, अब कि अलङ्कार्यालङ्कारभाव मुझ के साथ, जो केयूर का आशय है। फलतः अलङ्कार्यालङ्कारभाव आश्रयाश्रयिभाव पर निर्भर माना जाना चाहिए। अमंगलश्लेष में जहाँ तक आशय का सम्बन्ध है इसका निर्णय कल्पित शास्त्रसिद्धान्त पर नहीं, अनुभव और सवित्ति पर किया जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र है। सवित्ति में अमंगलश्लेषस्थल में द्वैत अर्थगण ही भासित होता है, शब्दगण नहीं। फलतः शब्द एक वृत्त = बँटल है, जिसमें दो अर्थ के दो फल एगे हुए हैं।

फल दो हो तो वृत्त को भी दो मानने की नासमझी कोई नहीं करता। वृत्त के एक होने से उसमें श्लेष या जोड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न फल में ही उठ सकता है क्योंकि द्वैत नहीं है। फलतः श्लेष अर्थों में ही है। अर्थ ही श्लेष के आशय है। अर्थ ही श्लेष के अलङ्कार्य है।

फलन अधिक अच्छा हो कि मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट और अर्थभेद से शब्दभेद मानने वाले अन्य दार्शनिकों का मुलाहिजा न कर भगवद्भेद के स्थान पर 'सन्ध्यालंकार' नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार को स्वीकार करें।

पण्डितराज अग्रश्राध तथा विश्वेश्वर ने इन मतभेदों का उन उन आचार्यों के नाम के साथ अनुवादमात्र कर दिया है। इन पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं है।

विमर्शिनी

तत्, एव रूपस्यास्य 'निरवकाशा हि विषय-सावकाशाश्विधीन्वाद्यग्ते' इति नीत्या निरवकाशाशवात्सर्वालंकारापवादकत्वं केचिदाहु रित्याह—एव चेत्यादि।

'जो विधि निरवकाश होती है वे सावकाश विधियों को बाधित कर उनके स्थान पर बहि-तार्थ मानी जाती है' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रकार के इस श्लेष को निरवकाश मानकर कुछ [उद्भट आदि] आचार्य अन्य सब अलंकारों का अपवाद या बाधक मानने हैं। ग्रन्थकार इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

एव च नामात्सम्बलंकारान्तरेष्वारम्यमाणस्तद्वाचकत्वेन तत्प्रतिभोत्पत्ति-हेतुरिति केचित्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुराश्रीकृतः' इत्यादौ विधित्तोऽस्य विषय इति निरवकाशाशवात्प्रान्यवाचकत्वमित्यभ्यैः सह संकरः, दुर्बलत्वाद्वा याभ्यत्वमित्यभ्ये। तत्र पूर्वोपमयमभिप्रायः। इह प्रकर-रणिक्प्रकरणिकोभयरूपानेकार्यगोचरत्वेन ताद्यत्प्रतिष्ठितोऽयमलंकारः। तत्रार्थ प्रकारद्वयं तुल्ययोगिताया विषयः। तृतीये तु प्रकारे द्वोपकं भवतीति तावदलंकारद्वयमिदं श्लेषविषयं श्याप्त्या श्यवतिष्ठते। तत्पृष्ठे चालंकारान्तराणामुत्थानमिति नास्ति विधित्तोऽस्य विषयः। अत एवालंकारान्तराणां बाधितत्वात्प्रतिभानमात्रेणावस्थानम्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ च प्रकरणिकत्वादर्थद्वयस्य तुल्ययोगितायाः प्रतिभानम्। एवं च 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुविम्वमिध' इत्यादौ न गुणकियासाम्यवच्छब्द-साम्यमुपमाप्रयोजकम् अपि तूपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवावसेयः। श्लेष-गर्भे तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षायां रूपक एव विधास्तिरिति रूपकेण श्लेषो बाध्यते। श्लेषविशेषणनिबन्धनायां च समासोक्तौ विशेष्य-स्यापि गम्यत्वाच्छ्लेषस्य बाधिका समासोक्तिः।

[उद्भट आदि] कुछ आचार्यों को मान्यता है कि यह [श्लेष] बर्दा-जहाँ होता है वहाँ अन्य कोई अलंकार अवश्य ही उपस्थित रहता है [न अप्राप्त = इसमें आए दो निषेध आवश्यकत्व के वाचक हैं] इसलिए यह अन्य अलंकार का बाधक होता है, फलतः वहाँ श्लेष के कारण अन्य अलंकारों का नामासमात्र [प्रतिमा] हो पाता है [अन्य अलंकार अलंकारत्वेन प्ररूढ नहीं हो पाते]।

इसके विरुद्ध [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों का मत है कि 'श्लेष 'येन ध्वस्त' आदि स्थलों में अन्य अलंकारों को बाधा से रहित है, अतः श्लेष निरवकाश नहीं है फलतः यह अन्य अलंकारों का बाधक नहीं है। निदान अन्य अलंकारों के साथ इसका संकर = मिश्रण हो सकता है अथवा दुर्बल होने के कारण अन्य अलंकारों के द्वारा यही बाधित माना जा सकता है।'

स्वमिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयितुमेतत्कर्तुं तावदन्यालङ्कारवाच्यत्वं दर्शयति—श्लेषेत्यादिना। तृतीयकक्षायामिति। प्रथमकक्षायामिति रूपरूपप्रतीतिरेव। द्वितीयकक्षायामिति श्लेषप्रतीतिः। श्लेषस्य मर्यालङ्कारापवाश्वमिच्छन्निरूप्यौद्भटैषैदन्यालङ्कारवाच्यत्वमेतच्चोक्तं तत् स्ववचनविशद्व्यप्रायमेतेषामिति ध्वनयितुं तदुक्तमेव रूपकसमासोक्तिप्राग्भाष्यमेतस्य ग्रन्थहृतेह दर्शितम्। बाध्यन् इति विद्वन्मानसहंसेत्यादौ। बाधेति उपोढरागेत्यादौ।

केचित् = कुछ उद्गटादि आचार्य। किन्तु [मम्मट आदि] कुछ [आचार्य] इमे अन्य सब अलङ्कारों का अपवादक नहीं मानते क्योंकि वे इमे निरवकाश नहीं मानते, एतदर्थ वे स्वका स्वतन्त्र [सर्वाङ्कार रहित] विषय बनलाते हैं। हम मध्य को छिराने हुए कहते हैं—'येन ध्वरत्त' इत्यादि। अन्ये = अन्य मुझ जैम [अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार जैम]। 'विविक्तोऽभ्य विषयः = 'इस श्लेष का अलङ्कारान्तररहित विषय' क्योंकि यहाँ ['येन ध्वरत्त'-पद्य में] तुल्ययोगिता नहीं है। वह तब होती है जब केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत विशेष्यों का पृथक् पृथक् उपादान हो तथा सादृश्य गम्य हो। हम [येन ध्वरत्त] पद्य में उस [तुल्ययोगिता] का अभाव है क्योंकि यहाँ विशेष्यों का उपादान पृथक् नहीं हुआ है तथा सादृश्य गम्य नहीं है। ऐसा नहीं है कि पद्य में उपाय [शुद्ध] का माधव से या माधव का उपायन से सादृश्य विकल्पित हो। यहाँ तो दोनों अर्थों का एक ही शब्द के द्वारा शिल्पक रूप से प्रतिपादन अमोह है। यहाँ तो उन [दोनों पक्षों] में परस्पर निरपेक्षता होने से अब उपायन-सम्बन्धित वाक्यार्थ की प्रतीति होनी है तब माधववाक्यार्थ का परामर्शमात्र तक नहीं रहता। तब यहाँ सादृश्य का अवसर ही क्या हो सकता है। इस कारण धेने स्थलों में श्लेष अन्य अलङ्कारों के स्पष्ट से रहित रहकर विद्यमान है, तथा यहाँ शिल्पता प्रमुख रूप से परिलक्षित दिखाई दे रही है फलतः इमे निरवकाश नहीं कहा जा सकता। अन्यैः सह संकरः—अन्यों के साथ संकर—क्योंकि दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं। बाध्यत्वम् = बाध्य होना = क्योंकि श्लेष पूर्वल होता है और अन्य अलङ्कार प्रबल। इमे स्वयं ग्रन्थकार ही आगे दिखलाये इसलिये इसके विवेचन पर यहाँ ध्यान नहीं किया जा रहा। तो इस प्रकार इस [श्लेष] का सभी अलङ्कारों को बाधित कर उनका अपवाद माना माना ठीक नहीं है। क्योंकि [उपमा और रूपक आदि] अन्य [स्वतन्त्र] अलङ्कारों के ही समान बाध्यवाचक भाव [तथा स्वतन्त्र विशेषण] आदि दिखाई देते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अलङ्कारसंस्कारकाने कर रखा है। इसलिये उतने विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा। इससे ग्रन्थ विस्तार का भी मय था [हमसे स्पष्ट है कि विभाषिणीकार मूल के विरुद्ध मम्मट के समर्थन हैं] पूर्वोपाय = प्राचीन = छद्म आदि। तावत्—एतत् इस बात का घोटक है कि इस विषय में विपक्षों को भी आपत्ति नहीं है। इत्याप्या = व्याप्त कर = लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त होने से क्योंकि तीन रूपका वह [श्लेष या अर्थ] सर्वत्र किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। सारदृष्टे = उसके पीछे अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक के ऊपर। अलङ्कारान्तराणाम् = अन्य अलङ्कारों का अर्थात् उपमा आदि का। उपायनमिति = क्योंकि उन [अन्य अलङ्कारों] की प्रतीति तुल्य योगिता और दीपक से ही उठती है। अतएव = इसीलिये अर्थात् विविक्तविषयता = स्वतन्त्र क्षेत्र न होने से। प्रतिमानम् = आमासमान। अर्थ यह कि विश्रान्ति उसी में नहीं होती। किन्तु वह तथ्य त्रिस प्रकार सिद्ध नहीं होता वह अमी अमी कहा जा चुका है। इस प्रकार अपने म के समर्थन के लिए पहले जो कहा है कि—'इसका अन्य अलङ्कारों के साथ या तो संकर रहता। या फिर दुर्बल रहने पर अन्य अलङ्कारों से बाधित, इसी को और अधिक विस्तार में प्रतिपादित करने के लिए अब यह बतलाने हैं कि यह अलङ्कार अन्य अलङ्कारों को बाध देता है—श्लेष-

इत्यादि के द्वारा : 'तृतीयकषायाम्—तृतीय कक्षा में' = प्रथम कक्षा में रूपक की ही प्रतीति होती है। श्लेष की प्रतीति होती है द्वितीय कक्षा में। 'उद्भटानुयायी आचार्य एक ओर ती श्लेष को समी अलंकारों का बाधक बतलाते हैं और दूसरी ओर वे ही कुछ अलंकारों से उसे बाधित होता हुआ भी बतलाते हैं; यह उनके द्वारा अपनी मान्यता का ही विरोध है'—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए उन्होंने [उद्भट आदि] के द्वारा प्रतिपादित श्लेष का रूपक और समासोक्ति से बाधित होना ग्रन्थकार ने यहाँ दिखलाया। वाच्यते = बाधित होता है—'विद्वन्मानसईस' इत्यादि [श्लेष परम्परित रूपक] में। चाधिका = 'उपोद्वारागेण' इत्यादि पद्यों में।

विमर्श—'नाप्राप्ते' = का मूल 'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः'—यह है। इसमें येन की तृतीया का अर्थ है कर्तृत्व, प्रतिषेधद्वय का अर्थ है आवश्यकत्व, क प्रत्यय का अर्थ है भाव। इस प्रकार न्याय की भाषा में इस वाक्य का अर्थ निकलेगा—

'वाक्यैक्यायश्याप्राप्तौ य आरभ्यते स तस्य बाधकः'। पुनः येन को 'यत्'—शब्द का अर्थ है व्यापकत्व और यः इसके यत् शब्द का अर्थ है व्याप्यत्व। अतः न्याय की भाषा में अर्थ होगा—

'व्यापकस्यैव सर्वत्र प्राप्तौ निरवकाशो व्याप्यस्त [व्यापकं] बाधते।'—

इन्हीं तथ्यों की ग्रन्थकार ने 'नाप्राप्तेषु आरभ्यमाणः' तथा 'व्याप्या'—इन शंशों द्वारा सूचित किया था। पण्डितराज ने श्लेष पर उद्भट का मत इसी प्रकार स्पष्ट किया है—'अप्राहृतोद्भटाचार्याः—'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते।' यह उद्भट के मत का अलंकारसर्वस्व पर आश्रित भाषानुवाद मात्र है। उद्भट की उक्ति इस विषय पर ऐसी है—

'श्लेषम्, अलंकारान्तरगतां प्रतिभो जनयत्०' 1819, 101

—श्लेष अलंकारान्तर की प्रतिभा धरपन्न करता है। उद्भट ने इस विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा। केवल उदाहरणमात्र प्रस्तुत कर दिए हैं—

'प्रभातसन्धेयैवास्वापफलद्रुग्धेदितप्रदा'—

—पार्वती प्रभात सन्ध्या के समान थीं—अस्वापफलद्रुग्धेदितप्रदा = [पार्वती-न, सु आप फल = दुर्लभ फल पर लुब्धको ईदित = अभीष्ट फल देने वाली तथा प्रभात 'सन्ध्यास्वापफल = निद्राफल श्रमपरिहार पर लुब्धस्वाप फल लुब्ध, तद्विद्य अस्वापफलद्रुग्धे उसमें दित = दितकारी अद्भुत उत्पन्न करने वाली] इसी प्रकार—

'अविन्दुसुन्दरी निरयं गल्ललावणविन्दुका'

—पार्वती अविन्दुसुन्दरी भी थी और उनसे लावण्यविन्दु झरते रहते थे [विरोध], [परि-
हारार्थ—] अप् = जल उसमें प्रतिविम्बित जो इन्दु = चन्द्र उसती सुन्दरी।

प्रथम में उपमा और द्वितीय में विरोधालंकार हैं। उद्भट के अनुसार उनका अतिरिक्त प्रातिभासिक मात्र है। नारदविक सत्ता श्लेष की ही है। परन्तु उद्भट ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि में कोई हस्त नहीं दिया। आनन्दवर्षेणोपाय ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया। जन्हींने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में श्लेष को उपमा व्यतिरेक, विरोध आदि अलंकारों से पुष्ट होता हुआ कहा है और वहाँ 'येन ध्वस्त०' पद्य प्रस्तुत कर यह भी कह दिया है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थ अभिधा द्वारा कथित होते हैं साथ ही वहाँ यदि अन्य कोई अलंकार भी वाच्य होता हो तो वहाँ श्लेष ही माना जाना चाहिये—'चस्तुद्वयै शब्दश्रमत्या प्रकाशमाने श्लेषः, तथा—यद्य शब्दश्रमत्या साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत्त प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः'। [पृ० २३५-२६

ची० सं० १९९७]। आनन्दवर्धनाचार्य के ही समान महिममट्ट ने भी उद्भट्ट के मत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में अलङ्कारों की सीमा निर्धारित करते हुए और अनेक अलङ्कारों में वाच्यावचन दोष बतलाते हुए लिखा है—

‘यत्र हि यदलङ्कारप्रतिमानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषः तत्र तदलङ्कारनिबन्धः तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति, न तु तस्य विषयमतिक्रामति ।’ [पू० ३९५ ची० सं० २०२५]

‘इहाँ जिस अलङ्कार का आभास मात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलङ्कार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस [श्लेष] के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं घमकता ।’ इसी तथ्य को कारिका रूप में उपनिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा—

‘यदलङ्कारव्यक्तये ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव ।

व्यज्येतात्पतैर्यदि तदसौ गृह्येण लापयन्नाम्यः ॥’

व्यक्तिविवेक की टीका में भी अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेष को निरवकाश मानकर अन्य अलङ्कारों का बाधक ही माना है—‘उपमोत्थापिते श्लेषे नोपमा श्लेषे बाधते, तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्, श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम् ।’ [द्रष्टव्य-पृ० ३९६ च० सं० नवीम सस्करण]।

आनन्दवर्धनाचार्य ने श्लेष के विचार के पूर्व अस्पष्ट स्वर में श्लेष को अलङ्कारान्तर से पृथक् बतलाया था। मम्मट ने उसे पकड़ लिया। और उद्भट्ट के मत के विरुद्ध श्लेष को अन्य अलङ्कारों द्वारा बाध्य बतलाने हेतु अपेक्षित अलङ्कारान्तर से श्लेष का पार्थक्य बनाने हुए उन्होंने—

‘देव । त्वमेव पाताळमाशानां स्व निबन्धनम् ।

एवं चामरमण्डभूमिरेको लोकत्रयारमकः ॥’

—यह पद्य उद्धृत किया। इसका अर्थ है—हे राजन् ! आप लोकत्रयारमक हैं, आप ही ‘पाताळम्’ [पाताळ = नागलोक तथा पाता अलम् = पर्याप्त रक्षक] हैं, आप ही आशानिबन्धन [= आशा = दिसा उनके आधार पृथ्वीलोक, आशा = इच्छाएँ उनके आधार] हैं, आप ही ‘चामर-मण्डभूमि’ [च = और अमरमण्ड = देवगण तथा पवन श्री भूमि = स्वर्ग तथा चामर—चँवर की मण्डल—हवा की भूमि=आरसद = विषय निमग्न चँवर झुंटे जाते हैं]। परन्तु यहाँ राजा पर हीनों लोकों का आरोप है तथा ‘अन्य राजा जहाँ कोई एक कार्य करने तक सीमित हैं वहाँ यह राजा अन्य सब कार्य भी करता है अतः यह उनसे उत्कृष्ट है,’ इस व्यतिरेक का भी अस्तित्व है। अतः यह स्थल श्लेष का स्थल नहीं माना जा सकता। पण्डितराज ने भी रसयगाध में इस पद्य में रूपकप्रतीति मान मम्मट का स्पष्टन किया है। वस्तुतः स्वयं मम्मट ने भी इन स्थल में रूपक व्यतिरेक का स्पर्श अनुभव किया था। यह तथ्य उन्हीं के इस पद्य के बाद के ग्रन्थाद्य से स्पष्ट होता है। श्लेष की अलङ्कारान्तररहितता के लिए अलङ्कारसर्वस्वकार ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रस्तुत ‘येन ध्वस्तं’ पद्य चुना। हमने मम्मट की स्थापना को बल मिला।

मम्मट ने उद्भट्ट के मत का स्पष्टन करते हुए अन्य तर्क भी दिए थे। उन्होंने कहा था ‘पूर्वोपमा’ में साधारण धर्म की निष्पत्ति नियमन. श्लेष से ही होगी, वहाँ यदि श्लेष को ही अलङ्कार माना जायगा तो पूर्वोपमा कहीं होगी ही नहीं—‘पूर्वोपमाया विषयापहार एव स्वार्थ’। इसी प्रकार उन्हीं व्यतिरेक, विरोध, रूपक आदि अन्य अलङ्कारों में भी श्लेष को निष्पादक और व्यतिरेक आदि को ही निष्पादक से प्रधान अलङ्कार माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों पक्षों को अपनी भाषा में स्पष्टीकरण के साथ उद्धृतमात्र कर दिया है। उनका संपूर्ण विवेचन सर्वस्वकार तथा विमर्शनीकार के मतों पर आधृत है। सर्वस्वकार उद्भट्ट और ध्वनिकार के अनुयायी हैं और विमर्शनीकार मम्मट के। उन्हीं ‘येन ध्वस्त’

पद्य में तुल्ययोगिता का अभाव बड़ी चारीकी से सिद्ध किया है। यम्बितराज ने उसे स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः 'येन ध्वस्त' पद्य में तुल्ययोगिता के अभाव की बात अलंकाररत्नाकर से ली गई है। अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के—'इह प्राकरणिका—तुल्ययोगितायाः प्रति-धानम्'—इस कथन का मानार्थ स्पष्ट कर उसका निराकरण करते हुए कहा है—

—'येन ध्वस्तमनोमवेने'—त्यादौ यत्र प्रकृतचोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः सकृदुपादानं तत्र तुल्ययोगितायाः अभावश्च ।

—[सर्वस्वकार का उक्त कथन अमान्य है] क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत विशेष्यों का अनेक बार कथन रहता है, एक बार कथन रहने पर तुल्ययोगिता नहीं होती। 'येन ध्वस्त' पद्य में विशेष्यों का कथन एक बार ही है अतः यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है। आगे कौटिलि प्रकौटिलि चलाते हुए उन्होंने लिखा कि यदि आशुषि के द्वारा विशेष्यों का असकृदुपादान मान लिया जाय तो धर्मों का उपादान भी उसी प्रकार आशुषि के द्वारा एकाधिक बार मानना पड़ेगा। उससे धर्मों में अनेकता चली आएगी। तुल्ययोगिता या दीपक केवल धर्म की एकता में ही होते हैं। अतः आशुषि द्वारा विशेष्य की अनेकता मानने पर भी तुल्ययोगिता सिद्ध न होगी। इस प्रकार सम्मट, शोभाकर और जवरथ श्लेष की वाच्यता स्वीकार करते हैं जबकि उग्रत आनन्दवर्धन तथा अलंकारसर्वस्वकार अलंकारान्तर की। एकतर पक्ष के निर्णय के लिए एकमात्र चमत्कारप्रयोजकता को कसौटी माना जा सकता है। सद्बुद्धियों के अनुभव से चमत्कारनिष्पत्ति श्लेष या श्लेषेतर भिन्नसे सिद्ध होती हो उसीको अलंकार माना जाएगा। तब निरवकाशत्व और सावकाशत्व को शास्त्रीय जबब अकिंचित्कर सिद्ध होंगे। जहाँ एकाध श्लेष विशेषण से उपमादि निष्पन्न होते हैं वहाँ उपमादि का ही चमत्कार माना जा सकता है और जहाँ 'उद्दामोत्कलिका' आदि स्थलों में अनेक विशेषणों में श्लेष हो वहाँ निमित्त ही चमत्कार श्लेषयोजना से होगा। फलतः वहाँ श्लेष ही मानना उचित होगा। अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और श्लेष को पाँच स्थिति में मिलता बतलाया है—

'प्रधानमूर्तालंकारधियोगात् सावकाशता ।
कुत्रचिद प्रतिभोस्पत्तिहेतुत्वं क्वचिद्वृत्ता ॥
क्वचिद प्ररोहविरहात् प्रातिभत्वं परत्र च ।
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पञ्चभूमिकः ॥'

श्लेष पाँच भूमिकाओं में निष्पन्न होता है—

(१) स्वतन्त्र भूमिका, जहाँ अन्य किसी अलंकार का इसके साथ सम्बन्ध नहीं होता।

[यथा—'येन ध्वस्त'—पद्य में] ।

(२) अन्य अलंकारों की सच्चा प्रातिभासिक सिद्ध कर रहने की भूमिका। [यथा—'सकल-कलम्' इत्यादि पद्य में] ।

(३) अप्रधानता की भूमिका, [यथा—'विष्णुका वक्षस्थल समुद्रतट के समान वनमालामरण है' इस वाक्य में 'वनमालामरण' शब्द में वनमाला एक माला, वनमाला = तटवर्ती जंगल की पात यहाँ श्लेष उपमा का अर्थ है] ।

(४) आभासात्मकता की भूमिका [यथा—'अविन्दुसुन्दरी' स्थल में विरोध की प्रधानता होने से श्लेष की आभासात्मकता] ।

(५) अनुप्राणकता की भूमिका, [यथा—समासोक्ति में] ।

विमर्शिनी

एव श्लेषशालंकाराणां च परस्परं चाप्यवाचकमात्रं प्रकार्यान्वयैः सहास्य संकीर्णत्वं दर्शयति—इह लिख्यमिदं ।

इम प्रकार [उपशुंक्त प्रत्य द्वारा] श्लेष और अन्य अर्थकारों का परस्पर में वाच्यवाचक-भाव दिखलाया । अब श्लेष का अन्य अर्थकारों के साथ सांकेतिक दिखलाने हुए लिखने हैं—

[सर्वस्य]

इह तु—

‘अयीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद्वाचरुणां प्रत्यगमद् विवस्थान् ।
मध्येऽस्तशीलात् पतितोऽत एव विवेश शुद्धौ घडवाग्निमध्यम् ॥’

इति श्लोके विवस्थतो घस्तुवृत्तसंमधि अधःप्रदेशसंयोगलक्षणं यत्प-
तितत्वं यद्य घडवाग्निमध्यप्रवेशस्ते द्वे अपि अयीमयत्संयन्धिवारुणी-
गमनरूपविद्वद्वावरणहेतुकार्भ्यां पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामतिशयोक्त्या श्लेष-
शूलया अपेक्षेनाध्ययसिते । सोऽयमेकक्रियायोगः । तद्धेतुका च मध्ये ‘अत
एव शुद्धौ’ इत्युत्प्रेक्षा । अत्रात एवेति एवामृष्टे विरोधालंकारालंङ्कितोऽर्थो
हेतुत्वयोत्प्रेक्षयते । शुद्धौ इति च फलत्वेन । ततश्च हेतुफलयोर्द्वयोरप्ययो-
त्प्रेक्षा । विरोधालंकारस्य च विरोधाभासत्वं लक्षणम् । अनौ विरोधाभासन-
समय एव हेतुफलोत्प्रेक्षयोदत्तानम् । उत्तरकालं तु विरोधसमाधिः ।
श्लेषस्य च सर्वालंकारापवादात्त्वाद् विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः ।

[वेद-] अयीमय रूप से त्रेलोक्य में प्रसिद्ध होने पर भी सूर्य वाचरुणां [पश्चिम दिशा तथा
मदिरा] की ओर जो गया में सोचना है कराचिन् इति से [पतित हीकर और] अलावक से
गिरकर शुद्धि के लिए घडवाग्नि में प्रवेश कर रहा है ।

इम पदार्थ में अधःप्रदेश से मयुक्त होता रूपी जो वास्तविक पतितत्व = गिरना है और
जो बहवाग्नि में प्रवेश करना है वे-दोनों वेदत्रयीमय होने पर भी वाचणीगमन करने रूपी विद्वद्
आवरण से जनित जो पतितत्व तथा अग्निप्रवेश है इनके द्वारा श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के आधार
पर अमित्र रूप से अध्ययसित है और यह हुआ [ममासौक्ति का जनक सूर्य तथा धार्मिक पुरुषरूपी
दो विभिन्न व्यक्तियों का अग्निप्रवेश रूपी] एक क्रिया में अभिन होना । इसके आधार पर
निष्पन्न होने है ‘मै समझता हूँ कि इसीसे शुद्धि के लिए’ - यह [हेतु फलोत्प्रेक्षा रूपी] उत्प्रेक्षा-
इत [उत्प्रेक्षा] में इसीसे [अर्थात् विद्वद् आवरण करने से] इत प्रकार परामृष्ट जो विरोधात्मक
है उससे अलक्षण अर्थ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित हो रहा है और [उत्प्रेक्षा] ‘शुद्धि के लिए’ यह अर्थ
फलरूप से । इम प्रकार यहाँ हेतु और फल दोनों को उत्प्रेक्षा हो रही है । और जो विरोधा-
त्मक है उसका लक्षण है विरोधाभासत्व, अब हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं का उत्थान उसी
समय होना है जब विरोध का आभासात्मक ज्ञान होता रहता है । बाद में तो विरोध का समा-
धान (परिहार) हो जाता है । इतर श्लेष भी है यह सभी अर्थकारों का अपवादक है अतः इस
एव में श्लेष विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतु होकर स्वयं प्रधान अलङ्कार है ।

विमर्शिनी

चरवाग्निमध्यप्रवेशेऽपि चस्तुवृत्तसंभवीति विशेषणं लिङ्गविपरिणामाद् योऽयम् ।
ते द्वे हृत्ति, चरवाग्निमध्यप्रवेशपतितत्त्वे । पतितत्वाग्निप्रवेशान्यामिति, घ्राहण्यपरिचयाव-
प्रायश्चित्तात्मकाभ्याम् । सोऽयमिति । यत् पतितत्वाग्निप्रवेशयोर्वस्तुतोऽन्यथास्थितयोर्न्य-
न्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसायः । तद्धेतुकेति तच्छब्देन तद्विधायोगपरामर्शः ।
फलत्वेनेति उपप्रेष्यत इत्यत्रापि संबन्धः । ततश्चेति हेतुफलयोर्द्वयोर्द्व्युपप्रेष्यमाणत्वात् ।

'चस्तुवृत्तसंभवि' = 'वास्तविक' यह जो विशेषण है इसे लिंगपरिणाम [वृत्तसंभवि को पुंलिङ्ग में 'वस्तुवृत्तसंभवी' इस प्रकार बदल] कर मन्वित करना चाहिए । ते द्वे = वे दोनों अर्थात् चरवाग्नि में प्रवेश और पतितत्व । 'पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्याम्' = 'पतितत्व और अग्निप्रवेश' जो घ्राहण्य = घ्राहण्यपत्ति से च्युत होने का प्रायश्चित्त है । 'सोऽयम्' = यह अर्थात् मूलतः भिन्न रूप के पतितत्व और अग्निप्रवेश भिन्न रूप के उन्हीं पतितत्व और अग्निप्रवेश द्वारा अभिन्न रूप से अन्यवसाय सद्धेतुका = इसमें तद शब्द से उपर्युक्त [प्रवेश] क्रिया में [दो भिन्न व्यक्तियों के] अन्यव का परामर्श है । फलार्थन = फल रूप से = इसमें भी उपप्रेष्यते = उपप्रेषण की जाती है = इसका संबन्ध है । ततश्च = इस प्रकार = हेतु और फल इन दोनों को व्योक्षा ही रही है इस कारण ।

विमर्शिनी

ननु विरोधालंकारस्य विरोध एव रूपं तस्य दुष्टत्वात् हृत्ते च समाधाने विरोध एव
मास्तीति विरोधालंकारोऽर्थः कथमत्रोपेक्षायां हेतुत्वं भजत इत्याशङ्क्याह—विरोधस्यापि ।
यद्दप्यति—'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति । अत एव च विरोधस्याभासमात्रसारत्वाद्
यथावभासं विश्रान्त्यभावान्न प्ररोहो नापि वाधोऽपत्तिः, अपितु पैत्तिकञ्जलस्तम्भतेमिरिक-
चन्द्रद्वयावभासवदस्ति प्रत्यय इति मात्र पूर्वं विरोधबोधः पश्चादविरोधधीरिति वाक्य-
स्यावस्थाद्वयम् । ननु वाध्यनिषेधपरो नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो वाधो वाध्यं च तथैव प्रतीयते
चेत् किं तेन कृतं स्यादिति चेत्, स्वलङ्कृतित्वमिति ब्रूमः । तथाहि श्रुतिकारजतमरीचिका-
सलिलादिविभ्रान्तिविव नात्र प्रथमप्रभृत्तविषद्वप्रतिभासस्वभाववाध्यविज्ञानसमुत्पुंस-
नेन वाधकत्वमुदेति, वाधोदयेपि पैत्तिकञ्जलस्तम्भतेमिरिकचन्द्रद्वयावभासवद् विशद-
प्रतिभासानिवृत्तेः । केवलमत्र तद्वशादेवानुपपद्यमानताकारा स्वलङ्कृतितैवावगम्यते ।
स्वलङ्कृतित्वे च प्रतिपत्तव्यवहारं प्रति निमित्तत्वानुपपत्तिः । न हि पैत्तिकः स्वपित्तिका-
राज्जलस्तम्भदर्शनं मन्यमानस्तत्र वाहपाकाधर्धितया प्रवर्तते । तिमिरदोषं वा ज्ञानान-
स्तैमिरिकोऽपि यहिश्चन्द्रद्वयास्तित्वव्यवहारं विधत्ते । एवं वाधोपपत्तेरनुपपद्यमानत्वात्
स्वलङ्कृतित्वेन प्रतीयमानोऽपि विरोधो न प्रतिपत्तपेक्षोत्प्रेक्षणलक्षणव्यवहारनिमित्तभाव-
मुपगन्तुमुत्सहते । यतोऽनुपपद्यमानत्वेन स्वलङ्कृतित्वमुपपद्यमानत्वेन च व्यवहारनिमित्त-
त्वमिति परस्परविरुद्धत्वादानुभवविरोधाच्च तयोः कथमेकत्र समावेशो घटते । अतश्चाने-
नैवाभिप्रायेणाह—अत इत्यादि । विरोधाभासनसमय एवेति, न तु वाधकोदयसमय
इत्यर्थः । वाधोदयानन्तरं विरोधस्योत्प्रेषाहेतुत्वं न युज्यते इत्युपपादितं स्थितं चोत्प्रेषा-
हेतुत्वं विरोधस्येति वाधोदयाप्रायेवान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते । वाधस्य च स्वारसिकत्व-
चस्तुवृत्तेः पर्यालोचनालभ्यत्वेन द्विविधस्यापि सर्वत्रोत्तरकालमेवोक्तासः संभवति । तस्य
च वाध्यनिष्ठत्वाद्वाध्यस्य च पूर्वकालभावित्वात् । अन्यथा हि निर्धिष्यो वाधः स्यात् ।
अतश्चोत्तरकालं तु विरोधसमाधिरिति भणितेरर्थमज्ञानानेनाथमयोऽन्वेपणीयः । यदि हि

धातुः प्रागप्युधेचायाः स्वाधिकारवशेन स्वरसत एवोऽसेत् तदुक्तनीत्या उपदेशोरथानमेव न स्यादित्यथाधित एव विरोध उपदेशाया निमित्तमित्युक्तमुत्तरकालं विरोधसमाधिगिति । स च समाधिरत्र दिगाद्यथाविधिमाद्वबुध्यत इति विरोधस्य श्लेषोऽङ्गम् । तद्वादेवा-
स्योरथानात् । तथा चात्रानयोः सकीर्णत्वमात्रमेव न पुनः संकरालंकारः । स ॥ यथा—

‘सञ्जातपत्रप्रकराश्रितानि समुद्बहन्ति स्पुष्टपाटलश्वम् ।

विकस्वराण्यर्ककरप्रभावाद् दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः ॥’

अत्र श्लेषपुत्रययोगितयोरेकवाचकानुपवेशेन संकरः । प्राच्यानां मते पुनरेतत्प्रति-
भोरपत्तिहेतुः श्लेषोऽयमित्याह—इत्येवत्येव्यादि । सेनाद्यः पद्मः स्वाभिप्रायेण ग्रन्थकृतोक्तः ।
यद्वाप्ययेतच्छ्लोकविचार एव संकरालंकारे । अत्र प्रथमेऽर्थे विरोधप्रतिभोरपत्तिहेतुः
श्लेषः । दर्शनान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वावलंकाराविति ।

प्रश्न = विरोधालंकार का स्वरूप विरोध ही है और वह अपने आप में दोष रूप है, फलतः
उसका समाधान [परिहार] किया जाता है, और जब परिहार हो जाता है तब विरोध का
अस्तित्व ही नहीं रहता । इस प्रकार विरोध से कोई अर्थ अलङ्कृत ही कैसे होगा ओ उपदेशा में हेतु
बनेगा । इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—‘विरोध’ इत्यादि । जैसा कि आगे कहेंगे ‘विरोधा-
भासरूप विरोध’ है । अलंकाररत्नाकरकार ने ‘त्रयोमयोऽपि’ पद्य और उसपर अलंकारसर्वस्वकार
का मत उद्धृत कर उसका खण्डन करते हुए लिखा था—विरोध में समाधान शब्दलभ्य न होकर,
सामाजिक की मानस अनुभूति से लभ्य होता है जो पर्यालोचनरूपा होती है । विरोध का बाध
हो जाने पर भी शब्द से तो विरुद्ध अर्थ का ही ज्ञान होता रहता है । इनलिपि विरोध का परिहार
वाक्यार्थ का अंग कभी भी नहीं बनता, इसलिपि यहाँ उपदेशाप्रतीति के बाद परिहार का वाक्यार्थ
में मानना ठीक नहीं । अन्त में विरोधपरिहार का अर्थ केवल इतना ही है कि विरोध प्रातीतिक
है, वास्तविक नहीं । अन्त में परिहार का अर्थ यह नहीं है कि आरम्भ में विरोध वस्तुतः रहता है
और अन्त में उसका परिहार हो जाता है (६० पृ० १२, १३ पूना संस्करण) । इसीकी स्वीकार
करते हुए किन्तु अलंकारसर्वस्वकार के मत का समर्थन (खण्डन नहीं) करते हुए विमर्शनीकार
कहते हैं— [और इसीलिपि [ग्रन्थकार के मत में] विरोध के अभासमात्ररूप होने से उसकी
प्रतीति पर्यवसान में आरम्भ जैसी नहीं होती, फलतः न तो वह प्रकृत ही हो पाता और न उसका
परिहार ही होता अपितु यहाँ पिच्छरोग से पीडित को जैसे जलते अग्निस्तम्भ दिखाई देते हैं
अथवा तिमिररोग से पीडित को दो चन्द्र, जैसे ही दो अर्थों की प्रतीति मात्र होती है । इसलिपि
न तो यहाँ पहले विरोध का [अभास रूप में ज्ञान न होकर विरोध रूप में ही] ज्ञान होता
और न बाद में अविरोध का ज्ञान होता, जिससे वाक्यार्थ को दो भागों में विभक्त किया जा सके
[प्रश्न] बाध ‘यद् देसा नहीं है’ इस प्रकार के ज्ञान का नाम है । इससे बाध्य अर्थ का
निवेश ठूमा करना है । यदि यहाँ बाध और बाध्य दोनों की ही वैसी [द्विचन्द्र आदि जैसी]
प्रतीति मान ली जाय तो उससे क्या होगा ? [उत्तर =] इससे विरोध का ज्ञान केवल अभासा-
त्मकमात्र सिद्ध होगा । [विरोध पूर्णतः कट नहीं जाएगा] विरोधालंकार के विरोध के परिहार
में जो बाधकता होती है वह पहले से हो रहे अभासात्मक विरुद्ध ज्ञान रूपी बाध्य को उखाट कर
नहीं होती जैसी कि पुक्ति में हो रही है या मरुमरीचिका में होती जल की झान्ति में । यहाँ तो
बाध की प्रतीति हो जाने पर भी विरोधाभासरूपी बाध्य अर्थ इत्यादि नहीं है जैसे पितृव्याभिवाले
के समाने से असत्य रूप से विदित होने पर भी अग्निस्तम्भ नहीं इत्यादि या तिमिररोग वाले
के सामने से चन्द्रद्वैत । यहाँ केवल इतना होता है विरोध में अनुपपद्यमानता [प्रकृत न हो

पाना] आ जाती है वह भी इसलिए कि केवल [परिहार, समाधान] की उपस्थिति के कारण ही । इस आभासात्मकता, स्थलगतता या अनुपपत्त्यमानता से लाभ यह है कि विरोधज्ञान बोद्धा की प्रवृत्ति का कारण नहीं बन पाता । ऐसा थोड़े ही है कि पिच का रोगी यह जानते हुए कि उसे जो अग्निस्तम्भ दिखाई दे रहा है वह विकार के कारण दिखाई मर दे रहा है उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, उस अग्निस्तम्भ में कुछ जलाने या कुछ पकाने पहुँच जाता ही अथवा तिमिर रोग का रोगी तिमिर-विकार को जानते हुए भी [अपनी अभासात्मक द्विचन्द्र प्रतीति से] बाहर भी दो चन्द्रों का अस्तित्व जतलाता फिरता ही । इस प्रकार बाध [परिहार] उत्पन्न हो जाने के कारण विरोध वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता । वह अभासात्मकमात्र सिद्ध होता है । और इस रूप में प्रतीत होता रहने पर भी विरोध बोद्धा के मानस में उद्योगरूप व्यवहार का कारण नहीं बन सकता । बात यह है कि अवास्तविकता सिद्ध हो जाने पर आभासात्मकता, उत्पन्न होती है व्यवहारनिमित्तता [नहीं, वह] सिद्ध होती है वास्तविकता सिद्ध होने पर । इस प्रकार [अभासात्मकता तथा व्यवहारनिमित्तता] ये दोनों धर्म परस्पर में विरुद्ध हैं और अनुभव में भी ये विरुद्ध ही प्रतीत होते हैं, अतः इन दोनों का एक ही स्थान पर समावेश कैसे हो सकता है । इसी आपत्ति के कारण इस सब अभिप्राय से ग्रन्थकार ने लिखा—अतः [विरोधाभासनसमय] श्रुत्यादि । 'विरोधाभासनसमय पृथक् = विरोध के आभासात्मक ज्ञान के समय तक ही' न कि बाधक [परिहार] के ज्ञान के समय तक । बाधोदय के पश्चात् विरोध उत्प्रेक्षा को जन्म नहीं दे सकेगा और अनुभव में आ रहा है कि विरोध उत्प्रेक्षा को जन्म दे रहा है, अतः अन्यथा-नुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के आधार पर यहां बाधोदय के पहले ही विरोध को उत्प्रेक्षावैतु मान लेना होगा । और [अलंकाररत्नाकरकार के द्वारा प्रतिपादित] जो दो प्रकार का बाध है (१) वास्तविक और (२) बोद्धा की पर्यालोचना से प्राप्य, दोनों ही प्रकार का वह [बाध] प्रत्येक स्थल में विरोध की प्रतीति के बाद ही हो सकता है क्योंकि वह निर्भर है बाध्य पर, फलतः बाध्य को पहले से विषयमान होना चाहिए । और वह पहले से रहा भी आता है । ऐसा न हो तो बाध ही किसका ? इसलिए [अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के] 'बाध में तो विरोध का परिहार ही हो जाता है'—इस कथन का [इनारे द्वारा प्रतिपादित] उक्त अर्थ नहीं समझा । [अतः इसका खण्डन किया है] अतः उन्हें [उनके अनुयायियों को] यहाँ ऐसा ही अर्थ निकलना चाहिए । 'यदि परिहार अपने आप उत्प्रेक्षा के पहले हो जाए तो उक्त क्रम से उत्प्रेक्षा का उत्थान ही न हो, अतः विरोध परिहार के पूर्व ही उत्प्रेक्षा का निमित्त बनता हुआ माना जाना चाहिए'—यह ही अभिप्राय 'बाध में तो विरोध का परिहार हो जाता है'—इस कथन का । वह जो परिहार है वह [वारुणी का] दिशा आदि रूप अर्थ समझने पर विदित होता है इसलिए श्लेष विरोध का अंग है । क्योंकि उस [श्लेष] के ही आधार पर इस [विरोध] की निष्पत्ति होती है । तो इस प्रकार [त्रयीमयोपनि] इस पद्य में इन दोनों [विरोध और श्लेष] में संकरमात्र है, संकरालंकार नहीं । वह [संकरालंकार] तो [यहाँ तुल्ययोगिता के प्रकरण में उद्धृत] 'सजातपत्रप्रकरा०' इस पद्य के अर्थ में है । क्योंकि इस पद्यार्थ में श्लेष और तुल्ययोगिता का एकवाचकानुपवेश संकर है । प्राचीन आचार्यों ने श्लेष को विरोध का बाधक [प्रतिभोत्पत्तिवैतु] माना है, इस तथ्य को बतलाते हुए लिखते हैं—श्लेषस्य इत्यादि । ग्रन्थकार ने अपने मत के रूप में प्रथम पक्ष ही प्रस्तुत किया है, जैसा कि संकरालंकार पर विचार करते समय आये कहेंगे । इस [त्रयीमयो पद्य] में पूर्वार्ध में विरोध को दवाकर श्लेष ही अलंकार है । दूसरे सिद्धान्तों के अनुसार यहाँ विरोध और श्लेष दोनों ही अलंकार हैं ।

विमर्शिनी

तदेवं स्वमत्तामिप्रायेणाभ्यालङ्कारान्तरवदन्यालङ्कारैः सह वाच्यवाचकभावं संकीर्णत्वं च प्रकारय शब्दशक्त्युद्भावाद् ध्वनेर्विशेषं प्रतिपादयति—यत्र त्वित्यादिना ।

इस प्रकार अन्य अलङ्कारों के समान इस अलङ्कार का वाच्यवाचकभाव तथा सांकेय्य अपने मन के अनुसार प्रकाशित किया । अब शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से इस [श्लेष] का अन्तर बनाने के लिए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

यत्र तु प्रभुनाभिवेयपरत्वेऽपि वाक्यस्य शिल्पपद्मद्विभङ्गा वक्ष्यमाणा-
र्यनिष्ठमुपक्षेपापराभिधानं सूचकत्वं तत्र किं श्लेष उत शब्दशक्तिमूल-
ध्वनिरिति विचार्यते - तत्र न तावच्छ्लेषः, अर्थद्वयस्यानन्वितत्वेनाभिवेयतया
यत्तुमनिष्टेः । नापि ध्वनिः, उपक्षेप्यस्यार्थस्य संयद्धत्वाभावात् तेन सहोप-
मानोपमेयत्वस्याविचक्षणात् । न चान्या गतिरस्ति । तदत्र किं कर्तव्यम् ।
उच्यते—श्लेषम्योक्तनयेनाप्रवृत्तेर्ध्वनेरेवायं विषय इति निश्चिनुमः । तथाहि
शब्दशक्तिमूले ध्वनावर्थान्तरस्यासंयद्धत्वात् संयन्धार्थमौपम्यं कल्प्यते ।
स च संयन्ध' प्रकारान्तरेणौपम्यपरिहारेण यद्यपपादयितुं शक्यः स्यात्
तत् कोऽयमभिवेयशस्तत्र ? उपमाध्वनौ वस्तुध्वनिरपि संयन्धान्तरेण
समीचीनः स्यात् । अत एव—

‘अलङ्कारोऽथ धम्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ।

प्रधानत्वेन स श्लेषः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥’

इति न्यायमयनयन्धेन द्विधा शब्दशक्त्युद्भव उक्तः । एवं प्रकृतेऽपि
यत्र सूचनाद्यापारोऽस्ति तत्र शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्बोद्धव्यः । यथा—

‘सद्यः कौशिकदिग्भिर्जृम्भणवशादाकाशराष्ट्रं रसात्

त्यभ्रत्वा धूसरकान्तिवल्कलघरो राज्ञस्तशैलं ययौ ।

तरकाग्राप्यथ सान्त्वयन्त्यलिकुलध्वानैः समुद्धानिभिः

फन्दन्तं कुमुदाकरं सुतमिध क्षिप्रं प्रतस्ये निशा ॥’ इति ।

हरिश्चन्द्रचरितेऽत्र प्रमानवर्णनानुगुण्येन राजशब्दाभिवेयेऽस्तमुपेयुपि
चन्द्रे रोहिताभ्याख्यतनयसहितया उशीनर्या वध्या युक्तस्य हरिश्चन्द्रस्य
राज्ञो विध्वामित्प्रसंपादितोपद्रववशात् प्रातः श्वराष्ट्रं त्यक्त्वा चाराणसीं प्रति
गमनं सूचितं म्यात् । तथा च कौशिकशब्दः प्रकृते इन्द्रोल्कयोर्घर्तते ।
सूचनीयार्थविषयत्वेन तु विध्वामित्त्वृत्तिः । चक्रलसुताभ्यां त्वौपम्यं
सूचनीयार्थनैरपेक्षेण सादृश्यसंभवमात्रेण विश्रमणीयम् । अतश्च प्रकृतेन
सूचनीयस्य संयन्धाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरयम् ।

‘जहाँ [नाटक आदि में] वाक्य, प्रस्तुत होने के कारण केवल अभिप्रायविधि से प्रतिपाद्य अर्थ ही प्रधानतया बतलाता रहता है तथापि शब्दों में श्लेष [अनेकार्थकता] होने के कारण अग्रे कहे जाने वाले अर्थ को भी सूचना दे देता है जिसे [नाट्यशास्त्र की भाषा में ‘वीजन्यास उपक्षेपः’ इस सूत्र के अनुसार] उपक्षेप भी कहा जाता है वहाँ श्लेष होता है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि इस पर विचार करते हैं—

वहाँ श्लेष तो होता ही नहीं, क्योंकि वहाँ दोनों अर्थ परस्पर में असम्बद्ध रूप में बतलाना अभीष्ट नहीं रहता, ध्वनि भी नहीं होती क्योंकि [वहाँ भी] उपक्षेप्य [सूच्य] अर्थ प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध नहीं रहता अतः उसके साथ उपमानोपमेयभाव की विवक्षा नहीं रहती। तीसरी कोई गति है नहीं। अतः यहाँ क्या करना चाहिए। इस पर हमारा कहना है—

वहाँ श्लेष वक्त [अर्थों में असंबद्धता न होने रूप] हेतु से पहुँच नहीं सकता इसलिए इसे हम ध्वनि का ही विषय निश्चित करते हैं। यह इसलिए कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में तो वृत्ता अर्थ असम्बद्ध ही रहता है, फलतः संबन्ध के लिए उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी पड़ती है। इतना अवश्य है कि यदि वह सम्बन्ध उपमानोपमेयभावसम्बन्ध को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से उपपन्न किया जा सके तब उस [उपमानोपमेयभावसम्बन्ध] पर ही यह अभिनिवेश कैसा ? [यहाँ] उपमाध्वनि के स्थान पर वस्तुध्वनि भी किसी अन्य सम्बन्ध से समीचीन होगी।

इसीलिए (काव्यप्रकाशकार ने)—‘अलंकार या वस्तु जहाँ प्रधानरूप से शब्द के द्वारा भासित हो रही हो तो उसे दो प्रकार की शब्दशक्तिमूलक ध्वनि माना जाता है।’

—[काव्यप्रकाश ४।१८, १९]

—इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को दो प्रकार का कहा है क्योंकि वहाँ [शब्दों का] ध्वन [जमाव देसा रहता है जिस] में दोनों अर्थों के सूचक हेतु [न्याय] रहते हैं [भवन = स्थान]। प्रकृत में भी इसी प्रकार जहाँ सूचनाभ्यापार हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि जानना चाहिए। यथा हरिश्चन्द्रचरित [नामक नाटक] के—

‘कौशिकदिग्विजृम्भण [कौशिक = इन्द्र, उसकी दिक् = दिशा = पूर्वदिशा, उसका विजृम्भण = प्रभात तथा कौशिक = उल्लू, उनका दिशाओं में विजृम्भण = मागदीक उस] के कारण आकाश-राष्ट्र [आकाशरूपी राष्ट्र तथा आकाश राष्ट्र के समान] को [रसाव =] स्वेच्छया छोड़कर मलिन-कान्तिवत्कल [मलिनकान्तिरूपी मलिन वत्कल तथा मलिनकान्ति वत्कल के समान] धारण किए हुए राजा [राजा तथा चन्द्रमा] अतिशीघ्र अस्तशील [अस्त वैभवहीनता शैल के समान तथा अस्तगिरि] को प्राप्त हो गया तो उठते अमरझांकार से रो रहे कुमुदाकर को पुत्र जैसे सान्त्वना देती हुई उसकी काम्ना [राजमहिषीरूपी] निशा ने भी [वहाँ से] प्रस्थान कर दिया।’

—इस पदार्थ में प्रकरण प्रभातवर्णन का है इस कारण ‘राजा’-शब्द से पहले तो अभिधा द्वारा अर्थ निकलता है चन्द्रमा, जो अस्त हो रहा है, फिर उसी ‘राजा’-शब्द से महाराज हरिश्चन्द्र [का शान होता है और उन] के रोहितपुत्र को लेकर पत्नी उशीचरो के साथ प्रातःकाल अपना देश छोड़कर वाराणसी की ओर प्रस्थान की सूचना मिलती है। यह इसलिए कि ‘कौशिक’-शब्द का अर्थ [प्रभात के] इस प्रसंग में इन्द्र हो सकता है या उल्लू, किन्तु [नाटक के भावी] सूचनीय [कथावस्तु—] पक्ष में उसका अर्थ होगा विश्वामित्र। जहाँ तक वत्कल और पुत्र का संबन्ध है उनके साथ [प्रकृत मलिनकान्ति तथा कुमुदसमूह की] उपमा मान लेनी चाहिए क्योंकि [यहाँ] सादृश्य बन जाता है किन्तु उस उपमा को सूचनीय अर्थ से असंबद्ध रखना होगा [क्योंकि उस पक्ष में धूसरकान्तिवत्कल का अर्थ मटमैला वत्कल करना होगा और ‘कुमुदाकर’

सुतमिव' को 'सुत कुमुदाकरमिव' के रूप में ठाकर 'कुमुदसमूह के जैसे पुत्र को' यह अर्थ करना होगा फलतः, प्रथम में तो उपमा बनेगी ही नहीं, दूसरे में बनेगी भी तो उसमें चन्द्रपक्ष का उपमान उपमेय बन चायगा और उपमेय उपमान] हती [चन्द्रों की आंशिक द्रव्यकता तथा आंशिक साम्ययोजना के] कारण [तथा दोनों अर्थों के केवल प्रकृत अथवा केवल अपकृत न होकर एक के प्रकृत तथा दूसरे के अपकृत होने साथ ही दोनों के परस्पर में असम्बद्ध न होकर] प्रकृत के साथ सूचनीय [अपकृत] अर्थ के सम्बद्ध होने से यदा [श्लेष न होकर] यह चन्द्रशक्तिमूलक वस्तु ध्वनि हुई ।

विमर्शिनी

संयद्वाभावादिति उपक्षेप्यस्यार्थस्यावर्णनीयत्वात् । अन्येति श्लेषध्वनिव्यतिरिक्ता । उक्तनयेनेति अर्थद्वयस्याभिव्यक्तत्वेनाभिधेयतया वस्तुमनिष्टेरित्यनेन । सवन्धार्यमिति संगत्यर्थम् । यथा—

‘अतन्द्रचन्द्राभरणा समुदीपितमम्भया ।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥’

अत्र प्रकृताप्रकृतयोरसंबन्धार्थत्वं मा प्रसाङ्ग्यीदिति नायिकाभिशायोरीपायं कल्पनीयम् । संयन्धान्तरेणेति यत्र यादसेन विवक्षितेन । तत्रेति शब्दशक्तिमूले ध्वनी । अत एवेति । औपम्यं विनापि प्रकृताप्रकृतयोः प्रकारान्तरेण संबन्धस्योपपादयितुं शक्यत्वात् । उक्त इति काव्यप्रकाशकृता । चन्द्र इति वर्ण्यमान इति शेषः । सूचितमिति शब्दशक्त्या । तामेव विभज्य द्वांशयति—तथा चेत्यादिना । अतश्चेति, इत्येव शब्दशक्तेर्भावात् । अत्र च यद्यपि सुतादिरूपार्थशक्तिरभ्यस्तीति घश्चुध्वनेकभयशक्तिमूलत्वमेव तथापि शब्दशक्तिरत्र ह्युक्ता स्थितेति तन्मूलत्वमेव ग्रन्थकृतास्वीकृतम् । इदंस्तु शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्धया—

‘न महानय न च विभर्ति गुणसमतया प्रधानताम् ।
रवस्य कथयति चिराय पृथग्जनतां जगत्यनभिमानतां दधत् ॥’

अत्र केवलसंबन्ध शब्दशक्त्या सांद्यपुरुषरूपं वस्त्वभिव्यक्तम् । यत्तु काव्यप्रकाशसूत्रेते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनेः शब्दशक्तिमूलत्वं विन्वयमुक्तं तदुदाहरणाभिप्रायेणैवोन्नेयम् । तत्र हि ‘वन्धिष्ये ण ह्यथ सधर’ इत्याद्युदाहरणमुभयशक्तिमूल शब्दशक्तिमूलस्य वस्तुध्वनेः श्रीमन्मटेनोपात्तम् । इह ॥ यथासंभवमेव विचारितम् ।

एवं स्वमतेन श्लेषस्य यद्योपपत्ति स्वरूपं प्रतिपाद्यापि प्राच्यानुरोधात् पुनरपि तद्वीथमेव मत दर्शयितुमाह—इह चेत्यादि ।

संयद्वाभावाद = (उपक्षेप्य अर्थ प्रकृत से) सम्बद्ध नहीं रहता क्योंकि उपक्षेप्य अर्थ वहाँ वर्णनीय [अतः प्रकृत] नहीं रहता [विमर्शिनी के निर्णय मा० संस्करण में यह पक्ति असम्बद्धस्य वर्ण० इस प्रकार छपी है] । अन्या = अन्य [तीसरी] गति = श्लेष और ध्वनि को छोड़ । उक्तनयेन = उक्त हेतु से = दोनों अर्थों के परस्पर में सम्बद्ध होने तथा दोनों को अभिधेयरूप से कहना अभीष्ट न होने से । सम्बन्धार्थम् = संगति के लिए । यथा—

‘अतन्द्र चन्द्र [चन्द्रमा, कर्पूर] से अलंकृत, समुदीप्त मन्मथवाली, और चंचल तारका [तारे और आँख की पुतली] वाली व्यामा [रात्रि, चोदशी] किसे आनन्दित नहीं कर देती ।’

—यहाँ प्रकृत [रात्रि] और अपकृत [नायिका] में असम्बद्धता न आ जाय । इस हेतु नायिका और निशा में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी होती है ।

सम्बन्धान्तरेण = अन्य सम्बन्ध = वहाँ जो विवक्षित हो । उन्न = वहाँ अर्थात् शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में [अमिनिवेश कैसा] । अत एव = इसीलिए, अर्थात् उपमानोपमेयभाव के बिना भी प्रकृत और अपकृत का संकल्प दूसरे प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है इस कारण । 'उक्तः = कहा है' = अर्थात् काव्यप्रकाशकार ने । चन्द्रे = चन्द्र अर्थात् जो प्रस्तुत प्रसंग में वर्णन का विषय बना हुआ है । सूचित = शब्दशक्ति के द्वारा । उसी शब्दशक्ति को [अर्थशक्ति से] अलग कर बतलाते हुए लिखते हैं—तथा च-इत्यादि अतश्च = इसी कारण अर्थात् उपर्युक्त इस शब्दशक्ति के रहने से । यहाँ यद्यपि सुतादिरूप अर्थों को भी शक्ति [अन्यार्थ की सूचक] है इस कारण वस्तुध्वनि उभयशक्तिमूलक ही है तथापि यहाँ चन्द्रशक्ति अधिक स्पष्टरूप से स्थित है इसलिए ग्रन्थकार ने इसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नाम ही दिया । केवल शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यह है—

'न तो यह [शीकृष्ण] महान् [उच्च, बुद्धितत्त्व] है और न गुण [शीलसौन्दर्यादि, सत्त्वरश्मत्तम]-गत समता के अभाव में यह प्रधानता [प्रमुखता, प्रकृतिरूपता] ही धारण करता । यह तो संसार में निरभिमान होकर पृथग्वन [तुच्छ व्यक्ति, प्रकृति और बुद्धितत्त्व के नीचे की विकृतिर्यों से प्रयुक्त पुरुषरूप] सिद्ध होता है । [शिशुपालवध १५१२ प्रक्षिप्त]

—यहाँ केवल शब्दशक्ति के ही द्वारा सांख्यपुरुषरूपी वस्तु व्यक्त होती है । ग्रन्थकार ने काव्य-प्रकाश-[पर स्वरचित]-संकेत-[नामक टीका] में [काव्यप्रकाशकार द्वारा 'पंथिभ ण इत्थं' पद्य में प्रतिपादित शब्दशक्तिमूलक] वस्तुध्वनि का शब्दशक्तिमूलकत्व अमान्य बतलाया था वह केवल उन्हीं के [उक्त] उदाहरण को लेकर बतलाया गया मानना चाहिए । वहाँ [शब्दशक्ति-मूलक वस्तुध्वनि के] उदाहरण रूप में प्रस्तुत 'पंथिभ ण इत्थं सत्थरन्'—इस पद्य में उभयशक्ति-मूलकता है तथापि वस्तुध्वनि को श्रीमम्मट ने केवल शब्दशक्तिमूलक बतलाया है । यहाँ ['सयः कौशिक' पद्य में] जो विचार किया गया है वह केवल आंशिक संभावना को लेकर [इस पद्य में आंशिकरूप से शब्दशक्ति है और आंशिकरूप से ही अर्थशक्ति भी] ।

इस प्रकार अपने मत के अनुसार श्लेष का स्वरूप तर्क और शक्तियों द्वारा प्रतिपादित कर दिया अब भी प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के अनुसार श्लेष पर फिर से विचार करते और अब केवल उन्हीं प्राचीनों का मत प्रस्तुत करने के लिए लिखना आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

इह च—

'आकृष्यादावमन्दग्रहमलकंचयं वक्रत्रमासज्य वक्त्रे

कण्ठे लग्नः सुफण्ठः प्रभवति कुंचयोर्दक्षगाहाङ्गसङ्गः ।

घडासक्तिर्नितम्ये पतति चरणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे

वाले ! लज्जा निरस्ता, नहि नहि सरले ! चोलकः किं अप्राकृत् ॥'

इत्यलंकारान्तरविविक्तोऽर्थं श्लेषस्य विषय इति नाशङ्कनीयम् , अपहु-
तेरत्र विद्यमानत्वात् । वस्तुतोऽपह्वस्य सादृश्यार्थमत्र प्रवृत्तेर्नायमपहुत्य-
लंकार इति चेत्, न । उभयथाप्यपहुतिर्संभवात्, सादृश्यपर्यवसा-
यिना वापह्वेनापह्वपर्यवसायिना वा सादृश्येन, भूतार्थापह्वस्योभयत्र
विद्यमानत्वात् ।

'सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्वोऽसावपहुतिः ।

अपह्ववाय सादृश्यं यत्राप्येपाऽप्यपहुतिः ॥'

इति संक्षेपः । आद्या स्वप्रस्ताव एवोदाहृता, द्वितीया तु संप्रति
दर्शिता । तेनालंकाराभ्तरविचित्रो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽ-
पमिति स्थितम् ।

और यहा—

‘जो पहले तो केशों को जोरों से पकड़कर खींचना है, [फिर] मुँह से मुँह मटा देना है,
जिसका स्वयं का कण्ठ बड़ा ही अच्छा होना है और जो कण्ठ से चिपक जाता है, जो अग अग
का गान्ध आलिंगन कर कुचों पर प्रभुत्व जमा लेता है, इसी प्रकार जो नितम्बों से सटकर पेटों
पर पडा रहता है वैसा वह मेरा प्रिय है । [सुनकर दूसरी सर्पों कहती है—वह इतना सब कर
हालना है तो क्या] बाले ! तुझे अब लाज नहीं आनी ? [प्रत्युत्तर में पूर्वसर्पों कहती है] नहीं,
नहीं । तू बड़ी मोर्छी है, [मेरा अभिप्राय समझो नहीं] अरे कहीं चोल्क [चोली, चोल देश के
गुक्क] से भी लाज आती है ।’

—इस पदार्थ में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि यह श्लेष का स्थल है जिसमें अन्य
कोई अलंकार नहीं है, क्योंकि यहाँ अपहृति विद्यमान है । ‘यहाँ वास्तविक स्थिति यह है
कि यहाँ जो अपहृत् [छिपाव] अपनाया गया है उसका उद्देश्य है सादृश्य की निष्पत्ति, अतः
यहाँ अपहृति [साधनमात्र है वह] अशकार नहीं हो सकती’ यदि ऐसा कहें तो वह ठीक
नहीं, क्योंकि अपहृति दोनों ही प्रकार से हो सकती है, क्योंकि जहाँ अपहृत् [छिपाव]
सादृश्य में पर्यवसित होता है या जहाँ सादृश्य अपहृत् [छिपाव] में पर्यवसित होगा है वहाँ
दोनों ही अगह वास्तविक वस्तु का अपहृत् रहता ही है । संक्षेप में—

‘सादृश्य की व्यंजित करने के लिए जहाँ अपहृत् होता है अर्थात् किसी वस्तु को छिपाया
जाता है वह तो अपहृति होती ही है, अपहृति वह भी होती है जहाँ अपहृत् को व्यक्त करने के
लिए सादृश्यविधान किया जाता है ।’

[इनमें से] प्रथम का उदाहरण तो [अपहृति के] अपने प्रकरण में ही दे दिया है, द्वितीय का
उदाहरण यही [आकृत्या०] पद्य है ।

इस प्रकार सिद्धान्त यह निकला कि इन [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें अन्य
अलंकार न हो, फलतः यह सभी अलंकारों का अपवाद है ।

विमर्शिणी

भूतार्थो वास्तवः । संक्षेप इति प्रमेयसंघवात् । आद्येत्यादि सादृश्यपर्यवसायपहृत्-
स्वरूपा । स्वप्रस्ताव इत्युपहृतिरुचने । उदाहृतेति पूर्वेन्दोरित्यादिना । द्वितीयेति
अपहृतिपर्यवसायिसादृश्यरूपा । प्रदर्शितेति आकृत्यादाविरयादिना । अत्र च ग्रन्थकृता
श्लेषः सर्वालंकारापवादक इति न केवलं ग्रन्थमतानुसारमुक्तम् यावदपहृत्पर्यवसा-
यिसादृश्यरूपोऽपहृतिभेदोऽपि तन्मतानुसारमेवोक्तः । यद्वाचयति—व्याजोर्क्षा चोत्तरः
प्रकारो विद्यत इत्युपक्रम्योद्भटसिद्धान्ताश्रयेण तत्तत्रोक्तमिति । अतश्चात्र ग्रन्थकृन्मते
वक्ष्यमाणसादृश्या श्लेषमूला व्याजोर्क्षाः । तस्या एव वाचयार्थभूतत्वेन विधान्ते ।

भूतार्थ = वास्तविक । संक्षेप = प्रतिपाद्य का एकत्र संयोजन होने से संक्षेप कहा [न कि प्रति-
पाद्य को स्वरूप में प्रस्तुत करने से] क्योंकि कारिका भी अपने आपमें कही बड़ी है] ।
आद्या = प्रथम अर्थात् सादृश्य में पर्यवसित होने वाले अपहृत् की अपहृति । ‘स्वप्रस्ताव एव

अपने प्रकरण में ही' अर्थात् अपहृति के प्रकरण में ही। उदाहता = उदाहरण दिया जा चुका है—'पूर्णेन्द्रोः'० इत्यादि पद्य। द्वितीया = दूसरी अपहृति अर्थात् अपहृत्त में पर्यवसित होने वाले सादृश्य से बनी। प्रदर्शिता = 'आकृत्यादी०' इत्यादि पद्य के द्वारा।

यहां ग्रन्थकार ने केवल श्लेष को ही प्राचीन आलंकारिकों के मत के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया अपितु अपहृति के द्वितीय भेद 'अपहृत्त में पर्यवसित होने वाले सादृश्य से बने वाली अपहृति' को भी प्राचीनों के मत के अनुसार प्रस्तुत किया है। जैसा कि आगे [व्याजोक्ति प्रकरण में] कहेंगे—'व्याजोक्ति में [अपहृति का] दूसरा प्रकार विवर्गान् है' यहां से आरम्भ कर 'यहां वह उल्टे के मत के अनुसार कहा है' यहाँ तक के ग्रन्थांश द्वारा। इसलिए उक्त [आकृत्या०] पद्य में अपने मत में जो बक्ष्यमाणसादृश्या श्लेषमूला व्याजोक्ति ही अलंकार है। क्योंकि वही यहाँ प्रधान वाक्यार्थ के रूप में पर्यवसित होती है।

श्लेष का पूर्वतिहास—

भामह—भामह ने श्लेष को चिह्न कहा है और श्लेष का वही एक भेद बतलाया है जिसे 'दोनों का उपादान' कहकर सर्वस्वकार ने तृतीय भेद के रूप में लक्षित किया है। भामह के अनुसार केवल विशेषणों की ही उभयान्वयिता मात्र श्लेष है। भामह ने दोनों का उपादान सह-भाव और उपमानोपमेयभाव के द्वारा होता हुआ बतलाया है। इस प्रकार उनका श्लेष अलंकार-भ्रतरश्च्य नहीं ठहरता। भामह श्लेष का लक्षण रूपक के लक्षण से भिन्न नहीं बना सके हैं। रूपक का लक्षण ही श्लेष में संगत मानकर भामह ने रूपक से श्लेष का भेद भी बतलाते हुए कहा है—रूपक में उपमान तथा उपमेय के विशेषण अलग-अलग रहते हैं जैसे 'जलद-दन्ती शीवरात्मोमद जुगा रहे हैं।' श्लेष में ऐसा न कहकर कहा जाएगा 'मार्गद्रुमाः महान्तश्च छायावन्तः' = मार्गद्रुम और बड़े लोग छाया [छाँह और कान्ति] वाले होते हैं। इसी प्रकार—'अच्छे राजा मेघों के समान उन्नत होते हैं, और आप रत्नशाली और अगाध होने से समुद्र के सदृश हैं'। इन तीनों स्थलों में प्रथम 'द्रुम और महा-जन' दोनों का छायाशीलता सादृश्य होने से भामह के अनुसार श्लेष सहीक्ति से अनु-प्रापित है, द्वितीय में उसी प्रकार उपमा से और तृतीय में भी उपमा से ही अनुप्रापित है किन्तु उसमें हेतुहेतुमदभाव कथित है जो द्वितीय में नहीं है। इस प्रकार भामह के अनुसार श्लेष के तीन भेद हुए सहीक्तियुक्त, उपमायुक्त, हेतुयुक्त। भामह की यह भेदकल्पना अत्यन्त स्थूल है। ऐसे तो 'रत्नशाली होने से आप समुद्र हैं' ऐसा कह दिया जाए तो तृतीय भेद रूपकानु-प्रापित श्लेष कहा जा सकता है और इसी प्रकार उक्तिभेद से श्लेष के अनेक भेद किए जा सकते हैं।

श्लेष में श्लेष = जोड़ विस्फा होता है यह प्रश्न भी भामह के मस्तिष्क से टकराया था। इस पर भी उन्होंने उत्तर दिया है किन्तु वह भी अस्पष्ट है। उन्होंने कहा है—'श्लेषादेवार्थवचसोः' इस श्लेष में श्लेष दोनों में रहता है अर्थ में भी और शब्द में भी।

इस प्रकार भामह का श्लेषविवेचन ही परन्तु आचार्यों में तीन प्रश्नों को चम्न देता है। शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का परस्पर भेद, दोनों के अलंकार्य और अन्य अलंकारों से श्लेष की मिश्रित स्थिति में अन्य अलंकारों का श्लेष द्वारा अपवाद।

भामह का विवेचन अपने मूलरूप में इस प्रकार है—

‘उपमानेन यत् तस्मिन् उपमेयस्य साध्यते।

गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्रितं तदभिधीयते ॥

लक्षणं रूपकेऽपीद लक्ष्यते कामगत्र तु ।
 इष्टं प्रयोगो भुगपदुपमानोपमेययोः ॥
 श्रीकराम्भोमदसृजस्तुज्ञा बलददन्तिनः ।
 इत्यत्र मेघकरिणां निर्देश कियते समम् ॥
 श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च कियते मित्रा ।
 तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं यथा ॥
 छायावन्तो गनन्यालाः स्वारीडा फलदायिनः ।
 मागंद्रुमा मदान्तश्च परेषामेव भूतये ॥
 उन्नता लोकदायिता महान्त प्राज्यवर्षिणः ।
 शमयन्ति क्षिपेस्ताप मुराजानो घना इव ॥
 रत्नवस्वादगाधस्वात् स्वमर्षाश्विच्छुनात् ।
 बहुसत्वाश्रयत्वाच्च सदृशसवमुदन्वना ॥ ३१४-४० ॥

मामह के तीनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपमा आदि अन्य अलंकारों में भी अनेक शिष्ट विशेषणों का एक स्वतन्त्र महत्त्व है, उनमें अधिकतम की एक नवीन विधा और वैविध्य की असाधारण उद्भ्रमता अवश्य ही निहित है।

वामन—श्लेष का रूपक से जो अन्तर मामह ने बतलाया था उसी का अनुवाद करते हुए वामन ने लिखा—

[सूत्र] 'स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेष' [४११।७]

[वृत्ति] उपमानेनोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वाप्यारोपस्तन्त्रप्रयोगे नन्त्रेणोच्चारणे सति श्लेष । यथा—'आवृष्टामलमण्डलाप्र'० ।

[रूपक के ही समान] उपमान का उपमेय पर समान गुणक्रिया आदि धर्मों को आधार पर तत्त्वारोप हो और यदि तन्त्र [अनेकार्थशब्द] प्रयोग हो तो [रूपक ही] श्लेष कहलाने लगता है। उदाहरण यथा—

[विमर्शिणी में उद्धृत] 'आवृष्टा०' यह [पूर्ण] पद्य । वामन ने मामह में प्राप्त अन्य अलंकारों से श्लेष के पार्थक्य या ऐक्य का विवाद नहीं अपनाया। उस पर पहिली बार काव्यालंकारसारसंग्रह में उद्धृत ने विचार किया जिसका अधिकांश पूर्वप्रकरणों में उद्धृत किया जा चुका है।

उद्धृत—उद्धृत का पूर्ण श्लेषविवेचन इस प्रकार है—

'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तद्व्याख्या चैव विभ्रताम् ।

स्वरितादिगुणैर्मिन्नैर्बन्धः शिष्टमिहोच्यते ॥

अलंकारान्तरगता प्रतिभया जनयत् पदैः ।

विविधैर्यशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम् ॥ ४१९, २० ॥

इस विवेचन में 'एकप्रयत्नोच्चार्य' पद अन्य कुछ नहीं वामनाचार्य 'तन्त्र'—शब्द को व्याख्या है। लघुविवृतिकार प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा भी—'ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते ते एकप्रयत्नोच्चार्याः।' तन्त्र का अर्थ करते हुए उन्होंने सूत्र भी 'साधारण भवेत् तन्त्रम्' यह उद्धृत किया है। उद्धृत की उक्त प्रथम कारिका अपना पूरा अर्थ देने में असमर्थ है, अतः इसका भावार्थ मम्मटाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'स्वरितादिगुणभेदात् मित्रप्रयत्नोच्चार्याणां तदव्याख्यामित्रप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां ग्रन्थे ।'

—स्वरित आदि गुणों के भिन्न होने से भिन्न प्रयत्नों के द्वारा उच्चारण करने योग्य तथा उसके अभाव [स्वरितादि गुणों में भेद न होने] के कारण अभिन्न प्रयत्न,के द्वारा उच्चारण योग्य जो शब्द उनका दन्व० १' [काव्यप्रकाश उदात्त-९] ।

उद्भट ने जो पूर्वोद्धृत उदाहरण दिए हैं उनमें प्रतीहारन्दुराज ने स्वरितादि त्वरों का अन्तर भी दिखाया और तदनुसार अर्थभेद भी उसी प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रु' आदि बैदिक शब्दों में किया जाता है । किन्तु उनका यह विश्लेषण छान्दससंस्कृत से भिन्न लौकिक संस्कृत की प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता । अतः मम्मट ने 'काव्यमार्गे त्वरो न गण्यते = काव्य में स्वर की गणना नहीं की जाती' कहकर उसे छोड़ दिया । हम भी उसका विवेचन आवश्यक नहीं समझते ।

रुद्रट—मामह, रामन और उद्भट ने श्लेष को शब्दगत मानते हुए उसे अर्थालंकारों में गिनाया था । रुद्रट ने उसे अलग-अलग भागों में विभक्त किया और शब्दश्लेष के वे आठों भेद काव्यालंकार के षतुर्धं अध्याय में उन्होंने बतलाए जो मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम उबलास में दिखलाए हैं । इस विषय में मम्मट ने रुद्रट के ही विवेचन का सारसंक्षेप कर दिया है । केवल उदाहरण नवीन दिए हैं । उन्होंने एक नवम श्लेष भी माना है जिसे अभङ्गश्लेष कहा जा सकता है । पूर्ववर्ती आठ भेद की गणना में मम्मट ने रुद्रट को—

'वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम् ।

अत्रायं मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति ॥'

इस कारिका को इसी रूप में—'स च वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा' इस प्रकार उद्धृत कर दिया है । रुद्रट ने अर्धश्लेष को स्वतन्त्ररूप से दशम अध्याय में रखा है और उसमें श्लेष को एक अलंकार नहीं अपितु एक वर्ग माना है जिसके अन्तर्गत दस भेदों के नाम गिनाए हैं—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, वक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधानास । इनमें से प्रत्येक के उदाहरण देकर अन्त में दस भेदों के संकर तथा संसृष्टि से निष्पन्न भेदों का संकेत भी किया । संकर और संसृष्टि में भी व्यक्तत्व और अव्यक्तत्व दो-दो भेद किए हैं । स्पष्ट ही वे श्लेष को स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतला सके और कदाचित् वे भी उद्भट के ही समान श्लेष की अन्य अलंकारों का अपवाद मानते हैं ।

इन दसों भेदों में एक खटकने वाला तथ्य यह है कि रुद्रट ने जो उदाहरण दिए हैं उनमें से अनेक ऐसे हैं जिन्हें मम्मट के अनुसार शब्दश्लेष का उदाहरण ही माना जा सकता है यथा 'दुर्योधनोऽपि युधिष्ठिरः' यहाँ न तो दुर्योधन शब्द ही बदला जा सकता और न युधिष्ठिर शब्द ही, अतः उन्हीं के साथ अव्ययव्यतिरेक होने से श्लेष शब्दगत ही माना जाना चाहिए । [द्रष्टव्यः—रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार, चौखिन्मा संस्करण तथा दिल्ली से छपा चौधरी संस्करण] ।

मम्मट—मम्मटाचार्य ने श्लेष की तीनों समस्याओं की ठीक व्यवस्था कर सिद्धान्त स्थिर किया कि समंग और असंग दोनों ही श्लेष शब्द के ही अलंकार हैं और उन्हें शब्दालंकारों में ही गिनाया । साथ ही मामह, उद्भट और रुद्रट की नाईं श्लेष को अन्य अलंकारों का अपवाद मानने की भूल उन्होंने नहीं की । उन्होंने श्लेष की स्वतन्त्रता का अनुभव किया, भले ही वे उसका उदाहरण ठीक नहीं दे सके । उनका विवेचन तत्त तत्त प्रसङ्गों में यथास्थान उद्धृत किया जा चुका है ।

सर्वस्वकार ने श्लेष का जो विवेचन किया है उसका शुकाव उद्भट की ओर अधिक है। यद्यपि विमर्शिनीशर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करने रहे हैं कि सर्वस्वकार ने उद्भट का मत सुचित्यों द्वारा स्पष्ट कर उद्भूतमात्र किया है, उसे अपना स्वयं का मत नहीं माना है; तथापि ग्रन्थकार की प्रवृत्ति वैसी नहीं दिखती देती। अन्वयव्यतिरेक को काटकर आशयाश्रयिभाव को निर्णायक मान अमगदश्लेष को अर्थश्लेष सिद्ध करते समय सर्वस्वकार ने उद्भट का अनुसरण किया हो ऐसा नहीं लगता। 'येन ध्वस्त०' पद्य में तुल्ययागिता सिद्ध करने में सर्वस्वकार उसी प्रकार विफल है जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार मम्मट 'देव त्वमेव०' पद्य में शुद्ध श्लेष। इसलिए मम्मट द्वारा प्रस्तापित श्लेष की स्वतन्त्रता मले ही उनके स्वयं के उदाहरण से सिद्ध न होती हो, उनके विरोधी आचार्य सर्वस्वकार को उदाहरण से अवश्य ही सिद्ध हो जाती है। फलतः श्लेष निर-
वहःश नहीं रह पाता। किन्तु अन्य अन्कारों में जहाँ श्लेष की मात्रा अधिक रहेगी वहाँ भी श्लेष को ही वाध्य मानने की ऐकान्तिकता भी अनुभवविरुद्ध होगी। फलतः 'उद्गमोरकलिकाम्०'
आदि पद्यों में मम्मट को पुनर्विचार करना होगा।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य महिममट्ट ने भी श्लेष का विदलेषग विस्तारपूर्वक किया है। यह भी उद्भूत किया जा चुका है। महिममट्ट ने स्पष्टरूप से उद्भट का मत स्वीकार कर लिया है।

सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों में से शोभाकर, अण्वयदीक्षित और पण्डितराज के मत उद्भूत फिर जा चुके हैं। उनके सामान्यलक्षण ये हैं—

शोभाकर—'विशेष्ययापि साम्ये द्वयोर्वाच्यत्वे श्लेषः।'

—विशेष्य के साथ विशेष्य भी यदि सम्यार्थक हो और यदि उससे निकलने दोनों अर्थ वाच्य होते हों तो अल्कार श्लेष होता है।

अण्वयदीक्षित—'अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स त्रिविधः प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेक-
विषयः, प्रकृतप्रकृतानेकविषयश्च।'

—'अनेकार्थक शब्दों का विन्यास श्लेष कहलाना है। वह तीन प्रकार का होता है, प्रथम—
जिसमें अनेक अर्थों में से सभी प्रकृत होते हैं, द्वितीय—जिसमें सभी अप्रकृत और तृतीय—जिसमें
दोनों दोनों होते हैं।' दीक्षितजी ने इनके उदाहरण भी अलग अलग दिए हैं। हम 'येन ध्वस्त०' पद्य
को प्रथम दो का तथा तृतीय का उदाहरण विमर्शिनीशर द्वारा उद्भूत 'अतन्द्रचन्द्रामरणा—सानन्ध
न करोति नः' पद्य माना जा सकता है। तृतीय में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अस्तित्व दीक्षितजी
ने दूसरे प्रकार से साधा है। उसे आगे स्पष्ट करेंगे।

पण्डितराज—[सू०] 'श्रुत्यैकानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः।'

[सू०] 'तच्च द्वेष, अनेकधर्मपुरस्कारेण, एकधर्मपुरस्कारेण च। आद्यं द्वेषा अनेकशब्दप्रति-
मानद्वारा एकशब्दप्रतिमानद्वारा चेति त्रिविधः। तथाच, सभङ्गं द्वितीयो धमङ्ग' इति वदन्ति।
तृतीयस्तु शुद्धः। एवं त्रिविधोऽप्यय प्रकृतमात्राप्रकृतमात्रप्रकृतोभयाश्रितत्वेन पुनस्त्रिविधः।
तथापि भेदे द्वितीयं च विशेष्यस्य श्लेष्यतायां कामचारः, तृतीयभेदे तु विशेष्यत्राचकन्यैव श्लेषत्वम्,
न विशेष्यवाचकस्य, तथात्वे तु शब्दशक्तिमूलकत्वेनेकच्छेद एव स्यात्'।

—'एक शब्द के द्वारा अनेक अर्थों का प्रतिपादन श्लेष। वह दो प्रकार का होता है। एक वह
जिसमें अनेक अर्थों का ज्ञान होता है और दूसरा वह जिसमें एक धर्म का। इनमें से प्रथम दो प्रकार
का होता है (१) जिसमें अनेक शब्दों का मान होता है और (२) जिसमें केवल एक शब्द का।
बृह आचार्य दोनों में प्रथम को सभङ्ग और द्वितीय को अमङ्ग नाम से पुकारते हैं। तृतीय शुद्ध
[अर्थात् अर्थगत] होता है। ये तीनों श्लेष पुनः तीन प्रकार के होते हैं प्रकृतश्रित, अप्रकृतश्रित

और उभयाश्रित । इनमें से प्रथम और द्वितीय भेद में विशेष्यवाचक पद द्वयर्थक हो या न हो किन्तु तृतीय में केवल विशेषणवाचक पदों में ही द्वयर्थकता होती है विशेष्यवाचक पदों में नहीं । यदि विशेष्यवाचक में भी द्वयर्थक हो तो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई स्थान ही नहीं रहेगा ।

विश्वेश्वर—‘उभयविशेष्यान्वितयोरैकेन प्रोक्तिरर्थयोः श्लेषः ।’

दोनों विशेष्यों में अभिन्न अर्थों की एक शब्द के द्वारा वक्ति श्लेष कहलाती है ।

समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि इन तीनों अनेकार्थक शब्दों द्वारा अनेक अर्थों की योजना रहती है, किन्तु समासोक्ति में अनेकार्थकता केवल विशेषणवाचक शब्दों में ही रहती है जब कि श्लेष और ध्वनि में विशेष्यवाचक शब्दों में भी । इस कारण समासोक्ति का द्वितीय अर्थ विशेष्यांश में पंशु रहता है । इसी प्रकार समासोक्ति और श० श० ध्वनि में एक अर्थ प्रस्तुत और अभिधा द्वारा कथित रहता है तथा द्वितीय अर्थ अप्रस्तुत और व्यंजना द्वारा प्रतीत, इसमें भी प्रस्तुत अभिधेय अर्थ ही नियमतः पहले प्रतीत होता है, अप्रस्तुत व्यंग्य अर्थ नियमतः पश्चात्, साथ ही द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ पर निर्भर रहता है । अतः दोनों में असम्बद्धता न रहकर संबन्ध ही रहता है । श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों के वाचक शब्दों में द्वयर्थकता या अनेकार्थकता रहने पर भी दोनों ही या सभी अर्थ श्लेष के प्रथम दो भेदों में या तो केवल प्रस्तुत होते हैं या केवल अप्रस्तुत, फलतः दोनों ही अर्थों का ज्ञान केवल एक ही वृत्ति से होता है, अभिधा से । इसके अतिरिक्त दोनों या सभी अर्थों की प्रतीति अभंग पदों का प्रयोग होने पर एक साथ हो जाती है और समंग पदों का प्रयोग होने पर क्रम से, किन्तु इस क्रम से किसी भी अर्थ की प्रतीति पहले और किसी की भी बाद में मानी जा सकती है क्योंकि इन अर्थों में संबन्ध या सापेक्षता का अभाव रहता है । गाय के सिर पर निकले शृङ्गों के समान ये अर्थ परस्पर में बिरपेक्ष रहते हैं । तृतीय भेद में एक अर्थ प्रकृत और दूसरा अप्रकृत माना जाता है तथापि उसमें समासोक्ति के समान विशेष्यांश में श्लेष नहीं रहता, उपमा रूपक आदि के समान विशेष्यों का कथन पृथक्-पृथक् शब्दों से होता है । अन्तर केवल श्लेष विशेषणों की अनेकता या अधिकता और एकता या न्यूनता का रहता है । उपमादि में श्लेष विशेषण केवल कुछ ही रहते हैं जब कि श्लेष में उन्हीं की भरमार रहती है । फलतः नमस्कार, उन्हीं का प्रधान हो जाता है । यद्यपि सर्वस्वकार एक भी श्लेषविशेषण हो तो श्लेष ही मान लेते हैं । अलंकाररत्नाकरकार ने समासोक्ति प्रकरण में यही भेद इस प्रकार श्लोकवद्ध किया है—

‘प्रकृतस्यापवाच्यस्य विशेष्यस्याभिधायकम् ।
समानं यत्र नो तत्र समासोक्तिर्, ध्वनिर्हि सः ॥
विशेषणानां तुभ्यन्वे विशेष्याणामपि क्वचिद् ।
अनेकार्थाभिधायित्वे श्लेषः स्थादिति निर्णयः ॥’

अलंकाररत्नाकरकार ने विशेष्य की श्लेषता में भी जो श्लेषालंकार माना है वह श्लेष का वही तीसरा भेद है जिसमें सर्वस्वकार ने पूर्वाचार्यों के अनुकरण पर दोनों विशेष्यों का पृथक्-पृथक् उपादान आवश्यक माना है । अप्ययदीक्षित ने एक डग और मरी और इस तीसरे भेद में भी श्लेषप्रसिद्धि के लिए दोनों का पृथक्-पृथक् उपादान आवश्यक मान, इस भेद में भी विशेष्य को श्लेष स्वीकार कर लिया । तब शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से श्लेष का अन्तर करने का प्रश्न उठा तो उत्तर में लिखा—

‘यद्य प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः तत्र प्रकृताप्रकृताभिधान-
मूलकस्योपमादेरलंकारस्य स्वहृद्यत्वमिप्रायवम्, न तु अप्रकृतार्थस्यैव न्यहृद्यत्वमिप्रायकम्, ’

अप्रकृतार्थस्यापि शब्दशक्त्या प्रतिपाद्यत्वाभिधेयत्वावदर्थभावेन व्यक्तयनपेक्षणात् । यद्यपि प्रकृतोऽयं प्रकरणबलाद्भ्रष्टिति बुद्धिस्थे सत्येव पश्चात् तत्तद्विषयकशक्त्यन्तरोन्नेपपूर्वकमप्रस्तुतार्थः स्फुरेत्, न चैतावता तस्य व्यङ्ग्यत्वम्, शक्त्या प्रतिपाद्यमाने सर्वथैव व्यक्तयनपेक्षणात् ।'

—प्राचीन आल्कारिक प्रष्टनाप्रकृतोभयाभित श्लेष के उदाहरण में जो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानने हैं वह अभिधा द्वारा कथित प्रकृत और अप्रकृत दोनों को व्यङ्ग्य उपमादि [अलङ्कारों] के अभिप्राय से, न कि अप्रकृत अर्थ को व्यङ्ग्य मानकर; क्योंकि अप्रकृत अर्थ अभिधा द्वारा प्रतिपादित होता है अतः उसे अभिधेय मानना आवश्यक है, फलतः उसको व्यञ्जना की कोई अपेक्षा नहीं है । यद्यपि प्रकृत अर्थ के साथ प्रकरण रहता है इस कारण उसका ज्ञान अविलम्ब हो जाना है और अप्रकृत का ज्ञान उसके पश्चात् होता है जब उसके विषय की दूसरी अभिधा का उत्पादन होता है तथापि इतने मर से उसे व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता । जहाँ प्रतीति अभिधा से होती है वहाँ व्यञ्जना की कोई अपेक्षा नहीं रहती ।'

रसरागाधार के द्वितीय आनन के आरम्भ में द्वितीय अर्थ की प्रतीति में प्रत्यायक शक्ति का निर्णय करने समय पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्ययदीक्षित के इस मत को अपने शब्दों में अनेक विकल्पों और विविध उदाहरणों द्वारा प्रस्तुत किया है । उनके उस लम्बे विवेचन का निष्कर्ष इनका ही है कि—(१) नामार्थक शब्द के सुनारं देने ही सभी अर्थों का ज्ञान तत्काल अभिधाशक्ति के द्वारा ही हो जाता है, क्योंकि सकेत सभी अर्थों में गृहीत रहता है, (२) इसके पश्चात् यह संशय होता है कि इस शब्द का तात्पर्य किस अर्थ में है, अर्थात् इन सभी अर्थों में से वाक्यार्थ के लिए उपयुक्त अर्थ कौन है, (३) जिसका निर्णय प्रकरणादि से हो जाता है, तदनन्तर (४) दो में कोई एक बोध होता है या तो एकार्यमात्रविषयक पुनर्बोध या उसके बिना ही सीधे-सीधे वाक्यार्थबोध । इस प्रकार दोनों ही अर्थों का ज्ञान पहले से ही अभिधा द्वारा हुआ रहता है, दूसरे अर्थ में व्यञ्जना मानना ठीक नहीं है ।'

पुनर्बोध मानने का संकेत अप्ययदीक्षित ने भी किया है जहाँ उन्होंने [यहाँ उद्भूत अर्थ में] दूसरी शक्ति के उन्नेय की बात कही है । वस्तुतः जब सभी अर्थों का बोध पहले ही हो चुका है तब किसी एक अर्थ का पुनर्बोध न होकर पहले से ज्ञात उस एक अर्थ के भीतर वाक्यार्थोपयोगित्व-मात्र का महीन बोध होता है, इसलिए पण्डितराज ने द्वितीय पक्ष को प्रथम पक्ष के संशोधन के रूप में प्रस्तुत किया है । मम्मट आदि सभी आचार्य पुनर्बोधवादी हैं । अप्ययदीक्षित और पण्डितराज का कहना है कि पुनर्बोध हो या सीधा वाक्यार्थबोध, ये दोनों प्रश्न अनेक अर्थों में से किसी एक अर्थ से संबन्धित हैं । जहाँ तक द्वितीय अर्थ का संकल्प है उसका ज्ञान अभिधा द्वारा पहले ही हो चुका रहता है अतः उसमें व्यञ्जना मानना आवश्यक नहीं है । हाँ अभिधा द्वारा विदित दोनों अर्थों के संसन्ध में अवश्य व्यञ्जना मानी जा सकती है । मम्मट आदि द्वितीय अर्थ का ज्ञान भी व्यञ्जना द्वारा मानते हैं । तदर्थ वे येमा उदाहरण देते हैं जिसमें प्रकरण का ज्ञान पहले से रहता है । उनका कहना है कि वहाँ अभिधा प्रकरणोपयोगी अर्थ की ही ओर प्रवृत्त हो पाना है । वाक्यार्थ-बोध होने के पश्चात् अप्राकारिक अर्थ का ज्ञान भी होने लगता है किन्तु उसमें अभिधा क्रियाभित नहीं होती क्योंकि वह प्रकरण द्वारा नियन्त्रित हो जाती है । सर्वव्यक्ता भी ऐसा ही उदाहरण देते हैं । 'सद्यः कौशिकं' पद्य का हरिश्चन्द्रपरक अर्थ पूरा नाटक पढ़ लेने के पश्चात् पद्य को पुनः पढ़ने अथवा नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है इसलिए उसका पहले से ध्यान रहने के कारण होता है । पण्डितराज का कथन है कि प्रकरण ज्ञान रहने पर भी यदि द्वयर्थक शब्द उपस्थित है तो उससे दूसरा अर्थ अलग शक्ति से निकलना माना जाना ठीक नहीं है । प्रकरण या इससे उत्पन्न तात्पर्यनिर्णय अभिधा का नियन्त्रण नहीं करते, वे किसी एक अर्थ का निर्णय करा-

कर वाक्यार्थबोध में सहायकमात्र बनते हैं । इस विषय पर हमारा अपना मत हमने हमारे हिन्दी व्यक्तिविवेक की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है । इस विषय में हमें व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का सिद्धान्त ही स्वीकार है । व्यंजना का शब्दवृत्तित्व तत्त्वचिन्तन से परे एक निरी भायुक्तता है । व्यंजना के शब्दवृत्तित्व का सण्डन हमने अपने एक अन्य लेख 'साहित्य-संप्रदाये तात्पर्यरत्नसूत्रम्' में भी किया है । देखिए सारस्वती सुपमा २३।३ अंक ।

संजीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार के संपूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'शब्दसाम्यं मवेच्छ्लेषो विशेषणविशेष्ययोः ।
यथेकोऽप्रकृतोऽर्थस्त्वेद् भेषांशे भिन्नशब्दता ॥
शब्दार्थोभयनिघोऽयं सर्वालङ्कारवाधकः ।
पूर्वसिद्धस्य चेदङ्गं तदा न्यायेन वाच्यते ॥'

—'शब्दसाम्य [शब्दों की अनेक पक्षों में समानार्थकता] श्लेष कहलाता है, किन्तु यह साम्य विशेषण और विशेष्य दोनों में रहता है । अनेक अर्थों में से यदि कोई अर्थ प्राकरणिक हो तो विशेष्यांश अलग-अलग शब्दों से कथित रहते हैं ।

—यह [श्लेष] शब्द में रहता है और अर्थों में भी तथा यह [अन्य] सभी अलंकारों का वाधक है । [हाँ, यदि कोई अलंकार पहले से सिद्ध हो तो श्लेष उस] से वाधित हो जाता है यदि [श्लेष] उस [पूर्वसिद्ध अलंकार] का अंग हो ।'

संजीविनीकार ने सारसंक्षेप की इन कारिकाओं के तुरन्त बाद अपना विरोध भी प्रकट कर दिया है और अपना मत मम्मट के पक्ष में दे दिया है ।

भाषाशास्त्र भी श्लेष पर विचार करता है किन्तु उसकी विचारभूमिका अर्थपरिवर्तन के कारणों से संरन्धित है, अलंकारशास्त्र उससे भिन्न परिवर्तित अर्थों अथवा विकसित अर्थों की चमत्कार-भूमिका से विचार आरम्भ करता है । इस प्रकार भाषा एक सुन्दरी है । भाषाशास्त्र उसके वंश पर विचार करता है और अलंकारशास्त्र उसके सौन्दर्य पर । कविता एक लता है और भाषाशास्त्र वनस्पतिशास्त्र जो लता के निष्पादक तत्त्वों की गवेषणा करता है । अलंकारशास्त्र मनःशास्त्र है जो यह खोजता है कि लता अपने किस अंग के सौन्दर्य से दर्शक को आकृष्ट और आनन्द-विभोर कर रही है ।

[सर्वस्व]

प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिरुक्ता । अधुना तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतात्
प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसोच्यते—

[सू० ३५] अप्रस्तुतात् सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे
सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।

इहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तम्, अप्रस्तुतत्वात् । प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचित् तद् युक्तं स्यात् । न चाप्रस्तुतादसंबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः, अतिप्रसङ्गात् । संबन्धे तु भवन्ती ॥ त्रिविधं संबन्धमतिवर्तते, तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिद्वैतत्वोपपत्तेः । त्रिविधश्च संबन्धः—सामान्यविशेषभावः कार्यकारणभावः सारूप्यं चेति । सामान्यविशेषभावे सामान्याद् विशेषस्य विशेषाद् वा सामान्यस्य प्रतीतौ द्वैविध्यम्, कार्यकारणभावेऽप्यनयैव भङ्ग्या

द्विधात्वम्, सारूप्ये त्वेको भेद इत्यस्याः पञ्च प्रकाराः । तत्रापि सारूप्यहेतुके भेदे साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वैविध्यम् । वाच्यस्य संभवासंभयोभयरूपताभिन्नयः प्रकाराः । शिल्पशब्दप्रयोगे त्वर्यान्तरस्यावाच्यत्वाच्छ्लेषाद् विशेषः । श्लेषे ह्यनेकस्यार्थस्य वाच्यत्वमित्युक्तम् ।

प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर समासोक्ति होती है और उनके [ठीक] विपरीत अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा । समासोक्ति का निर्वचन किया जा चुका है । अप्रस्तुतप्रशंसा का निर्वचन अब आरम्भ करने हैं—

[सूत्र ३५] अप्रस्तुत से सामान्य विशेषभाव, कार्यकारणभाव अथवा सादृश्य सम्बन्ध होने पर प्रस्तुत की प्रतीति हो तो [अलङ्कार की संज्ञा] अप्रस्तुतप्रशंसा [होती है] ॥

[वृत्ति] यहाँ [अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति की जो यह बात है इसमें] अप्रस्तुत का वर्णन [सामान्य] अनुचित ही होता है । यदि वह [अप्रस्तुत] प्रस्तुतपरक हो तो कदाचित् [उनका वर्णन] उचित हो सकता है । इतर अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति तब तक सम्भव नहीं जब तक [उनका] कोई सम्बन्ध न हो क्योंकि बिना संबन्ध के प्रतीति मानने पर किसी में भी किसी की भी प्रतीति सम्भव होगी । संबन्ध से होने पर भी [उक्त] तीन प्रकार के सम्बन्ध को छोड़ अन्य किसी सम्बन्ध से वह सम्भव नहीं होगी, क्योंकि वही [तीन प्रकार का ही सम्बन्ध] अन्य अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ [हेतु] बन पाता है । तीन प्रकार का सम्बन्ध है [१] सामान्यविशेषभाव [२] कार्यकारणभाव तथा [३] सादृश्य । सामान्यविशेषभाव संबन्ध में या तो सामान्य से विशेष की प्रतीति होगी है या विशेष से सामान्य की, इसलिए यह दो प्रकार का हो जाता है । कार्यकारणभाव में भी इसी प्रकार दो प्रकार होते हैं [कारण से कार्य की प्रतीति या कार्य से कारण की प्रतीति] । सादृश्य में केवल एक ही प्रकार होगा है । इन प्रकार इस [अप्रस्तुतप्रशंसा] के [मूल] भेद [केवल] पाँच होने हैं । इनमें भी जो भेद सादृश्य-मूलक होना है उसमें भी दो भेद होते हैं साधर्म्यमूलक और वैधर्म्यमूलक । [हममें] वाच्य अर्थ भी तीन प्रकार का होता है [१] संभव, [२] असम्भव और [३] उभयरूप । [इसमें] यहाँ कहीं [विज्ञेय शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ दूसरा अर्थ वाच्य नहीं होगा अतः यह श्लेष से भिन्न है । श्लेष में, जो है सो, पूरा का पूरा अर्थ वाच्य ही होता है जैसा कि [श्लेषप्रकरण में अभी-अभी] कहा जा चुका है ।

विमर्शिनी

उभेति समनन्तरम् । यत्तु समासोक्त्यनन्तरं परिकरश्लेषयोर्वचनं तद् विशेषणसाम्यादिना प्रसङ्गागतम् । सामेवाह—अप्रस्तुतादित्यादि । नन्विहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमिति ऋषिः तस्मादपि प्रस्तुतस्य प्रतीतिर्भवतीत्याशङ्क्याह—इदित्यादि । तदिति, अप्रस्तुतवर्णनम् । अतिप्रसङ्गादिति सर्वस्मात् सर्वप्रतिपत्त्यारम्भः । तस्यैवेति त्रिविधस्य संबन्धस्य । सामान्यस्य विशेषाश्रयत्वाद् विशेषस्य च सामान्यनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषयोः परस्परमागुरणे संबन्धः । एवं च कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वाद्न्यायस्य कारणस्य कार्यनिष्ठत्वात् कार्यकारणयोरपि संबन्धः । इत्यमेतत् संबन्धद्वयं वास्तवम् । सारूप्यं पुनः प्रतीतिरूपम् । प्रतीतावेव सदस्येन यस्त्वनन्तरेण सदस्यस्य यस्त्वनन्तरस्य प्रतीतिसिद्धेः । वस्तुषु द्वि वस्तुनन्तरप्रतीत्या वस्तुनन्तरप्रतीतिर्न स्यात् । अनयैव अङ्गुष्ठेति कारणात्

कार्यस्य कार्याद् वा कारणस्य प्रतीतौ । तत्रापि सत्यपि पञ्चप्रकारत्वे । श्लिष्टशब्दप्रयोग इति । श्लिष्टशब्दनिबन्धनाप्यप्रस्तुतप्रशंसा भवतीत्यनुवादाद् विधिः । अत एवास्य बहुप्रकार-त्त्वमुक्तम् ।

उक्ता—समासोक्ति का निर्वचन किया जा चुका है अर्थात् अमी-अमी । समासोक्ति के बाद [तुरन्त पश्चात् अप्रस्तुतप्रशंसा का निर्वचन न कर बीच में] परिवार और श्लेष का जो निर्वचन किया गया है वह विशेषणसाम्य आदि के कारण आनुषङ्गिक रूप से किया गया है । उक्तौ [अप्रस्तुतप्रशंसा] का लक्षण सूत्ररूप में प्रस्तुत करते हैं—अप्रस्तुतात् इत्यादि ।

[प्रथम]—जब वहाँ [काव्य में] अप्रस्तुत का वर्णन संभव ही नहीं है तब उससे प्रस्तुत की भी प्रतीति कैसे होगी इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं इह इत्यादि । तत् = वह अर्थात् अप्रस्तुत का वर्णन । अतिप्रसङ्ग = सभी से सभी अर्थों की जो प्रतीति उत्त्वरूप । तस्यैव = वही = त्रिविध सम्बन्ध । सामान्य और विशेष का परस्पर की सम्बन्धना में सम्बन्ध रहता है क्योंकि सामान्य विशेष पर आश्रित रहता है और विशेष सामान्य पर । इसी प्रकार कार्य भी कारण के बिना निष्पन्न नहीं होता और कारण भी अपनी अन्तिम [परिणति की] अवस्था में कार्यरूप में परिणत होने वाला होता है अतः इनका भी परस्पर में सम्बन्ध है । इस प्रकार ये जो दो सम्बन्ध हैं वे दोनों वास्तविक हैं । किन्तु साक्षरूप = सादृश्य काल्पनिक ही होता है, क्योंकि समानवस्तु की प्रतीति होने पर ही तत्समान अन्य वस्तु की प्रतीति होती है । यदि वह वास्तविक हो तो अन्य वस्तु की प्रतीति से अन्य वस्तु की प्रतीति न हो । 'अनयैव भङ्ग्या = इसी प्रकार' अर्थात् कारण से कार्य की और कार्य से कारण की प्रतीति होने से । 'तत्रापि = इनमें भी' अर्थात् ये पाँच मूल भेद होने पर भी । 'श्लिष्टशब्द-प्रयोगे = श्लिष्टशब्द का प्रयोग होने पर' इस अनुवादात्मक [अव्ययभावपूर्ण] कथन से यह विधि निकलती है कि अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेषमूलक भी होती है । और इस कारण इसके और भी अनेक प्रकार संभव बतलाए हैं ।

[सर्वस्व]

तत्र सामान्याद् विशेषस्य प्रतीतौ यथा—

'तण्णत्थि किंपि पहणो पकप्पिअं जं ण जिअइघरणीय ।

अणवरअगमणसीलस्स कालपहिअस्स पाहिउजं ॥'

अत्र प्रहस्तवधे विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम् ।

एक भेदों में से सामान्य से विशेष की प्रतीति का उदाहरण—

'तन्नारित किमपि पत्तुः प्रकल्पितं यन्न नियतियेहिन्या ।

अनवरत्तगमनशीलस्य कालपथिकस्य पाथेयम् ॥

'ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे नियमितरूपी गेहिनो ने अपने अनवरत गतिशील कालपथिकरूपी पति के लिए पाथेय (रास्ते का कलेवा) न बना दिया हो ।'

यहाँ प्रहस्तवधरूपी विशेष अर्थ प्रस्तुत है और कहा गया है सामान्य अर्थ ।

चिमर्शिनी

प्रस्तुत इति । प्रहस्तवधवर्णनस्यैव प्रक्रान्तत्वात् । अत्र वाक्यान्तरोपात्ते विशेषात्मनि प्रस्तुते प्रहस्तवधे निवृत्तिकर्मलक्षणं सामान्यासिद्धान्तान्तरन्यास इत्यन्ते मन्थन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते । यथा—

'दुर्जनदूषितमनसां पुंसां सुजनेऽपि नास्ति विश्वासः ।

बालः पायसदग्धो दध्यपि फूट्कृत्य मज्जयति ॥'

अत्र केनापि दुर्जनेन विपलदधस्य कस्यचित् सुजनविशेषे विघ्नमो न जायते तस्य सुजनस्येयं विशेषे प्रस्तुते सामान्योक्तिः ।

प्रस्तुत क्योकि प्रकरण प्रहस्त के वष का ही चल रहा है । इस वष में अन्य आचार्य [अलंकाररत्नाकरकार] यह मानने हैं कि 'यहाँ विशेषरूप और प्रस्तुत प्रहस्तवष अन्य वाक्यों से कथित है इस कारण निवृत्तिकर्मरूप सामान्य कर्म का कथन अर्थात्तरन्यास ही है' । इसी कारण वे अप्रस्तुतप्रशमा के इस भेद पर यह एक दूसरा उदाहरण देते हैं—

'जिन पुरुषों का मन दुर्बलों से दूषित हो जाता है वे सुजनों का भी विश्वास नहीं करते ।' दूष से जला शालक दही को भी फूँककर खाता है ।'

यहाँ विशेष प्रस्तुत है और उदर्य यह अप्रस्तुत सामान्य की उक्ति है क्योकि यह किसी दुर्जन द्वारा ठगे गए अतएव किसी सुजन पर भी विश्वास न कर रहे व्यक्ति के प्रति उसी सुजन की उक्ति है ।

[वस्तुतः अप्रस्तुतप्रशमा इसी पद्य में नहीं है, इसमें रूपकानुप्राणित दृष्टान्तालकार है दुर्जन, सुजन और साधारण व्यक्ति का गरम दूध, दही और शालक के साथ सामान्यविशेषभाव नहीं है । विभवप्रतिविम्बभाव ही हो सकता है । अत्र यहाँ अर्थात्तरन्यास भी नहीं है । 'तत्रास्ति' पद्य अपने आपमें अप्रस्तुतप्रशमा हो सकती है । विशेष कर्म का ज्ञान इस वाक्य से नहीं होता, अन्य वाक्यों से होने पर भी उसका प्रभाव इस पर नहीं पड़ता क्योंकि विशेष का ज्ञान जिस किसी प्रकार तो पहले से रहना अपेक्षित ही है वह चाहे वाक्यान्तर से हो या प्रत्यक्ष, प्रकरण आदि से ।]

[सर्वस्थ]

विशेषात् सामान्यप्रतीतौ यथा—

'पतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कर्णं धारिणो

यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्त्यदस्माद्पि ।

अङ्गुल्यप्रलघुक्रियाप्रचिलयिन्यादीयमाने शनै

स्तथोड्डीय गतो हृद्वेत्यनुदिनं निद्राति नान्त-शुचा ॥'

अत्र जडानामस्थान पवोद्यम इति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः ।

कारणात् कार्यप्रतीतौ यथा—

'पद्यामः किमियं प्रपद्यत इति स्वैर्यं मया लब्धितं

किं मां नालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याधितः ।

इत्यग्न्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे

सव्याजं हसितं मया घृतिहरो वाष्पस्तु मुक्तस्तया ॥'

अत्र धाराधिरुदो मानः कथं निवृत्त इति कार्यं प्रस्तुते निवृत्तिकारणमभिहितम् ।

कार्यात् कारणप्रतीतौ यथा—

इन्दुलिप्त श्याञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मुग्धीणामिव

प्रमलानारुणिमेव चिद्रमरुचिः श्यामेव हेमप्रभा ।

कार्कश्यं कलयामि कोकिलधधूकण्ठेग्विव प्रस्तुतं

सीतायाः पुरतश्च हन्त शिभिनां वर्धाः सगर्हा इव ॥'

अत्र संभाव्यमानैरिन्द्रादिगतैरञ्जनलिप्तत्वादिभिः कार्यरूपैरप्रस्तुतैर्लोकोत्तरो वदनादिगतः सौन्दर्यातिशयः कारणरूपः प्रस्तुतः प्रतीयते । तेनैवमप्रस्तुतप्रशंसा ।

[अप्रस्तुत] विशेष से [प्रस्तुत] सामान्य की प्रतीति यथा—

‘उसके मुख से इतना जो तुमने सुना है कि वह जड़ [मूर्खव्यक्ति] कमलपत्र पर पड़ी पानी की बूंद को मुक्तामणि मान बैठा’ यह कौन बड़ी बात है, इससे भी बड़ी बात [एक और है उसे] सुनो कि [एक दूसरा जड़] उसे उठाने लगा किन्तु ज्योंही [उसने] लंगो के अग्रभाग से भी और बड़ी ही बारीकी के साथ भी उसे छुभा वह [बूंद पचे पर से छड़क कर पानी में मिल गई और इस प्रकार] छुट हो गई । इसका उसे इतना शोक है कि कितने ही दिनों से उसे नींद नहीं आ रही है । वह मन ही मन हाय हाय कर रहा है कि मेरा मोती जड़ गया ।’

—इस पदार्थ में वक्तव्य तो है यह सामान्य वस्तु कि जो जड़ या नासमझ होते हैं वे कहीं भी कुछ भी करने लगते हैं किन्तु कथन [किसी व्यक्ति] विशेष का किया गया है । [यही पद्य काव्यप्रकाशकार ने भी दिया है किन्तु वहाँ ‘तत्र’ के स्थान पर ‘कुत्र = कहाँ बड़ गया’ यह पाठ है । ‘शृण्वन् यद अस्मादपि’ का पदच्छेद ‘शृणु अन्वत् अस्मादपि’ भी किया जा सकता है और ‘शृण्वन् यत् अस्मादपि = कि इससे सुनते हुए भी’ द्वितीय पदच्छेद में ‘भी—अपि’ व्यर्थ होगा और भी अनेक दोष आ जायेंगे ।]

[अप्रस्तुत] कारण से [प्रस्तुत] कार्य की प्रतीति होने पर यथा—

‘मैं तो यह सोचकर शूटे ही गम्भीर हो गया कि देखूँ यह क्या करती है, और वह भी यह सोचकर कुपित हो गई कि एक तो यह छिपकर दूसरी से मिला और ऊपर से बातचीत भी बन्द किए बैठा है । इस विनयीत स्थिति में हम दोनों [कुछ देर तक तो] झुकी निगाहों से [एक दूसरे को] बड़ी ही सफाई के साथ देखते रहे, बाद में, मैं, किसी बहाने हाँत पढ़ा और उसका भी धीरेज टूट गया और आँसू बह निकले ।’

—यहाँ [जिज्ञासा तो थी] ‘देर तक प्रवृत्त भान हट गया ?’ इस प्रकार कार्य [के विषय में अतः] कार्य [ही] प्रस्तुत था किन्तु कहा गया है ‘हट जाने’ का कारण ।

[अप्रस्तुत] कार्य से [प्रस्तुत] कारण की प्रतीति, यथा—

‘सीता के समक्ष चन्द्रमा मानों कानल से पुता हुआ है, भुगियों की दृष्टि मानों स्तम्भ है, मूँगे की कान्ति की अरुणता मानों कुण्डला मई है, सुवर्ण की कान्ति मानों फाली पड़ गई है, कोपल की कूक में कर्कशता दिखाई देती है, क्या कहें, अब मोरंगे [मचूरपिच्छ] मिन्दास्पद प्रतीत हो रहे हैं ।’

यहाँ चन्द्रमा आदि में जिन कञ्जलिप्तत्व आदि की संभावना की जा रही है वे कार्यरूप हैं और अप्रस्तुत हैं । इनसे इनका कारण सीताजी के मुख आदि का लोकोत्तर और अतिशायी सौन्दर्य जो वर्णनीय होने से प्रस्तुत है, प्रतीत होता है । इस कारण यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा है [उत्प्रेक्षा नहीं] ।

चिमर्शिनी

तेनेति । अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतस्य कारणस्य प्रतीतेः । यथा वा—

अनेन सार्धं सरयूवनान्ते कूङ्गमयूरीमुखरे विहृत्य ।

विलासवातायनसेवनेन श्लाघ्यामयोध्यां नगरीं विधेहि ॥

अत्र स्वयंपराष्टे कारणे प्रस्तुते कार्यभ्यामिधानम् ।

ननु चात्र कार्यात् कारणस्य प्रतीतिं यदि अस्तुतप्रशंसा स्यात् तद् ध्वन्यमागस्य पर्यायोक्तालंकारस्य को विषय इत्याह—नन्वित्वादि ।

'सेन = इम कारण' क्योंकि यहाँ अस्तुतुन कार्य में प्रस्तुत कारण की प्रतीति हो रही है । अथवा दूसरा उदाहरण—

'सति । तुम मोरनियों का बोली में मुग्ध मरवू तट के बन उपवर्ता में [स्वयंवर में जाय] इस [राम के वधपर कुमार] के साथ विहार करने के पश्चात् विहास वातावरण [विलासार्थ निमित्त मवन की रिदकी] का सेवन करके अयोध्यापुरी को इलाख बनाओ ।' [विक्रमार्कदेव चरित १।११] ।

यहाँ स्वयंवररूपी कारण प्रस्तुत है किन्तु कथन किया गया है [उचित होने वाले विहारादि] कार्य का [यह उदाहरण विमिश्रितकार ने अलङ्काररत्नाकर से लिया है 'अत्र स्वयं - कार्यभ्यामिधानम्' यह पूर्ण पक्ष अलङ्काररत्नाकर से उद्धृत पक्ष है निर्णय सागर सम्करण में इस पक्ष के पहले और 'ननेति' के बाद आई पक्ष तथा इम पक्ष में कारण शब्द के स्थान कार्य शब्द छपा है, तथा कार्यशब्द के स्थान पर कारण शब्द जो सर्वथा असंगत है ।]

यदि 'इस कार्य से कारण की प्रतीति' भेद में [अलङ्कार] होगी अस्तुतुतप्रशंसा तो भाग कहे जाने वाला पर्यायोक्तालंकार कहे होगा—'स शका पर वचन देते हुए कहते हैं

[सर्वस्व]

ननु कार्यात् कारणे गम्यमानेऽप्रस्तुतप्रशंसायामिष्यमाणायाम् —

'येन लम्बालकाः सास्त्रः कराघानाकणस्तनः ।

अकारि भगवत्त्वयो गजासुरवधूजनः ।' इति,

तथा—

'अक्रामिघातप्रसभाशयं चकार यो राहुवधूजनस्य ।

आलिङ्गनोद्दामविलासशून्यं रतोत्सवं शुभ्यनमाशेषम् ॥'

इत्यादौ सुप्रसिद्धे पर्यायोक्तविषयेऽप्रस्तुतप्रशंसायोगः । अत्र हि गजासुरवधूगतेन लम्बालकात्वादिना कार्येण कारणभूतो गजासुरवधः प्रतीयते । तथा राहुवधूगतेन विशिष्टेन रतोत्सवेन राहुशिष्यत्वेद् कारणरूपो गम्यते । एवमन्यत्रापि पर्यायोक्तविषये श्रेयम् । तस्मादप्रस्तुतप्रशंसाविषयत्वात् पर्यायोक्तस्य निविषयत्वप्रसङ्गः । नैव दोषः । इह यत्र कार्यात् कारणं प्रतीयते । तत्र कार्यं प्रस्तुतमप्रस्तुतं चेति द्वयी गतिः । तत्र यत्र प्रस्तुतत्वं कार्यस्य कारण-यत् तस्यापि वर्णनीयत्वात् तत्र कार्यमुखेन कारणं पर्यायोक्तमिति पर्यायोक्तालंकारः । तत्र हि कारणापेक्षया कार्यभ्यातिशयेन सौन्दर्यमिति तदेव वर्णितम् । यथोक्तोदाहरणद्वये । गजासुरवधूवृत्तान्तेऽपि भगवत्प्रभावजन्यत्वात् प्रस्तुत एव । परं राहुवधूवृत्तान्तेऽपि श्रेयम् । ततश्च नायमप्रस्तुतप्रशंसाविषयः । यत्र पुनः कारणस्य प्रस्तुतत्वे कार्यमप्रस्तुतं वर्ण्यते

तत्र स्पष्टैवाप्रस्तुतप्रशंसा । यथा—‘इन्दुलिप्त इवाञ्जनेन’ इत्यादौ । अत्र हि इन्द्रादयः स्फुटमेवाप्राकरणिकाः । तत्प्रतिच्छन्दभूतानां मुखादीनां प्राकरणिकत्वम् । तेनाञ्जेन्द्रादिगतेनाञ्जनलितत्वादिना अप्रस्तुतेन कार्येण प्रस्तुतं मुखादिगतं सौन्दर्यं सहृदयाह्लादकारि गम्यते इत्यत्राप्रस्तुतप्रशंसा । एवं च यत्र चाच्योऽर्थोऽर्थान्तरं तादृशमेव स्वोपस्कारकत्वेनाभूरयति तत्र पर्यायोक्तम्, यत्र पुनः स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः । ततश्चानया प्रक्रियया

‘राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः

कुञ्जे भोजय मां कुमार सच्चिवैर्नाद्यापि संभुज्यते ।

इत्थं राजशुकस्तचारिभवने नुक्तोऽध्यगैः पञ्जरा-

च्चिभ्रस्थानवलोक्य शून्यबलभावेकैकमाभापते ॥

इत्यत्र पर्यायोक्तमेव बोध्यम् । अन्ये तु ‘दृषडयात्रोद्यतं त्वां द्रुवुध्वा त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणरूपस्यैवार्थस्य प्रस्तुतत्वात् कार्यरूपोऽर्थोऽप्रस्तुत एव राजशुकवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतार्थं प्रति स्वात्मानं समर्पयतीत्यप्रस्तुतप्रशंसैवात्र न्याय्येति वर्णयन्ति । सर्वथा पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोर्विषयविभागः सुनिरूपित एवेति स्थितम् । एतानि साधर्म्याद्वाहरणानि ।

शंका—यदि कार्यं से कारण की [व्यञ्जना द्वारा] प्रतीति होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा अनोष्ठ है तो

—जिस [शिव] ने गजासुर की शिरों के केश बटका दिए, आँसू बहा दिए, स्तन इथेलियों के आघातों से लाल कर दिए और चूड़ियाँ ब्रुड़वा दी ।’ इस तथा—

—जिस [विष्णु] ने [अपने] चक्र [सुदर्शन] की आघात की दकापक आघात देकर ही राहु की शिरों के रतोरत्तव को आलिंगन के उदाम बिलास से शून्य और केवल कुम्भनमात्र तक सीमित कर दिया ।’

इस जैसे पर्यायोक्तालंकार के सुप्रसिद्ध स्थलों में भी अप्रस्तुतप्रशंसा का व्यवहार होने लगेगा । यहाँ भी गजासुर-आगत केश लटकने आदि पार्श्व से उसके कारण गजासुर-वध की प्रतीति होती है । उसी प्रकार राहुवधगत विशिष्ट रतोरत्तव [रूपी कार्य] से कारणरूप राहुशिरवलेद की प्रतीति होती है । वही स्थिति पर्यायोक्त अलंकार के अन्य उदाहरणों में भी जानी जा सकती है । इस प्रकार [कार्य से कारण की] प्रतीति वाले स्थलों को अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय मानने पर पर्यायोक्तालंकार का कोई स्थल ही नहीं रह पायगा ।

उत्तर—यह दोष नहीं आता । यहाँ [इन दोनों अलंकारों में] यहाँ कार्य से कारण की प्रतीति होती है वहाँ कार्य दो प्रकार का होता है प्रस्तुत या अप्रस्तुत । उन [दोनों] में से वहाँ कारण के समान कार्य भी वर्णनीय होना है अतः कार्य प्रस्तुत रहता है वहाँ पर्यायोक्तालंकार होता है क्योंकि वहाँ कारण का प्रकारान्तर से अर्थात् कार्य के द्वारा कथन रहता है, साथ ही वहाँ कारण की अपेक्षा कार्य का सौन्दर्य सानिध्य होता है इसलिए उसी का वर्णन किया जाता है, जैसे [पर्यायोक्त के] एक दोनों उदाहरणों में । इन [उदाहरणों में] से प्रथम उदाहरण]

में गजासुर की खियों की दशा भी [वर्णनीय अन एव] प्रस्तुत ही है, क्योंकि वह भी भगवान् [शिव] के ही प्रभाव से जनित है। इसी प्रकार राहु खियों की दशा भी [प्रस्तुत ही] समझी जानी चाहिए। इसी कारण ये स्थल अप्रस्तुतप्रशंसा के नहीं माने जा सकते। जहाँ कहीं कारण प्रस्तुत रहता है और कार्य अप्रस्तुत, साथ ही वर्णन अप्रस्तुत कार्य का किया जाता है वहाँ स्पष्ट ही अप्रस्तुतप्रशंसा रहती है [उसमें पर्यायोक्त की समावना क्यमपि नहीं रहती] जैसे 'इन्दु' इत्यादि पद्य में। इन पद्य में स्पष्ट ही इन्दु आदि अप्रस्तुत हैं क्योंकि उनके प्रतिपक्षी गुण आदि हो यहाँ प्रस्तुत [वर्णनीय] हैं। इसलिए यहाँ इन्दु आदि में वर्णित अजन-लितत्व [काञ्चल से लिंगा हुआ होना] आदि जो अप्रस्तुत कार्य हैं उनमें मुखादि के भीतर [कारणरूप] सौ दर्थ प्रतीत होगा है। और वही सहृदय-हृदय में आनन्दानुभूति जगाता है। इसलिए यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा है। इन प्रकार निर्णय यह हुआ कि पर्यायोक्त यहाँ होता है जहाँ वाच्य अर्थ अपने ही जैसे [वाच्यरूप से प्रतीत] अन्य अर्थ को अपनी शोभा बढ़ाने वाले अर्थ के रूप में व्यञ्जित करना है, किन्तु जहाँ वह [वाच्य अर्थ] अप्रस्तुत होने के कारण स्वयं को ही [व्यञ्जना से प्रतीत] प्रस्तुत अर्थ के प्रति समर्पित कर देता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। और इस प्रक्रिया के अनुसार—

रास्तागोरों द्वारा पिंजरे से उदाया राघवसुभा आपके शत्रुओं के भवनों में शून्य छत्रों पर लिखित एक एक के पास आकर कहा करता है—'राजन्, राजकुमारी सुते पडा नहीं रही, रानियाँ भी चुप हैं, भरी कुबरी। खिला सुते, कुमार ! मित्रों के साथ अभी तक भोजन नहीं हो रहा'।

—'इस वाक्यार्थ में पर्यायोक्त हो समझना चाहिए। [काव्यप्रकाशकार आदि] अन्य [आल-कारिक] इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि यहाँ प्रस्तुत है—'आपको युद्ध यात्रा के लिए उचित जान आपके शत्रु भाग गए हैं' यह कारण रूप अर्थ [उक्त राजशुकृष्णान्तात्मक] कार्य रूपी अर्थ अप्रस्तुत है, क्योंकि राघवसुभा की स्थिति का जो वर्णन है वह अप्रस्तुत है [वर्ण्य या मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है], अतः वह प्रस्तुत अर्थ के प्रति अपना समर्पण कर देता है, फलतः यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा ही मानना उचित है। जो हो उक्त निरूपण से यह अस्वीकार्य विक्षिप्त हो चुका है कि पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय भिन्न हैं।

अभी जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब साधर्म्य के उदाहरण हैं।

विमर्शिनी

सुप्रसिद्ध इति सर्वाङ्गकारकाराभिभते । तत्रेति ह्यनिर्धारणे । तदेव वर्णितमिति कार्य-
मेवोक्तम्, काव्यस्य गद्यमानस्यात् । तत्रेति ह्ययोरपि कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वात् ।
स्पष्टेति । अप्रस्तुतत्वेव कार्यस्य प्रशंसितस्यात् । अतश्च ह्ययोरपि प्रस्तुतत्वे पर्यायोक्तम्,
प्रस्तुताप्रस्तुतत्वे स्वप्रस्तुतप्रशंसेति विषयविभक्तम् । अतश्च सामान्यविरोधयोः प्रस्तुतत्वान्-
मवात् कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वेऽपि कार्यात् कारणप्रतीतिवत् कारणत् कार्यप्रतीतेर्-
विन्यामावाह ।

पर्यायत्वे कार्यहेत्वोर्भेदसामान्ययोस्तथा ।

अप्रस्तुतप्रशंसायां सरूपस्यैव गम्यता ॥

हरयाद्युक्तमयुक्तम् ।

यद्येवं तदत्र पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोः प्रस्तुताप्रस्तुतरूपं कार्यं प्रस्तुतं कारणं कथमा-
गूरयतीत्याद्युक्त्याह—एवं चेत्यादि । तादृशमेवेति वाच्यम् । स्वोपकारकत्वेनेति, स्वसिद्धयर्थ
परस्याज्ञेयात् । समर्पयतीति वाच्योऽर्थः । हरयं च 'स्वसिद्धये पराज्ञेयः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादान लक्षणं च' हरयुक्त्वा लक्षणाद्व्याश्रितत्वादनपरोरवान्तरोऽपि विषयभेदोऽस्तीत्यत्र

तात्पर्यम् । ततश्चेति अनयोर्भिन्नविषयत्वात् । अन्य इति काव्यप्रकाशकारादयः । सर्वयिति, तत्र पर्यायोक्तमप्रस्तुतप्रशंसा वास्वित्यभिप्रायः ।

इह च साधर्म्येण सारूप्योदाहरणानां पूर्वमनुद्दिष्टानामपि 'एतानि साधर्म्योदाहरणानि' इत्यनेनातिदेशवाक्येन [अतिदेश] इति निश्चिनुमः । अयं हि ग्रन्थो ग्रन्थकृतः पश्चात्-कैरपि पत्रिकाभिलिखित इति प्रसिद्धिः । तैश्चानवधानादुदाहरणपत्रिका न लिखिता । अतिदेशवाक्यं च पत्रिकान्तरालिखितमिति ग्रन्थस्यासंगतत्वम् । बहूनि पुनरुदाहरणानि सारूप्यहेतुकस्य भेदस्य, लक्ष्ये प्रानुर्यदर्शनाथम् । एवं 'वाच्यस्य संभवे उक्तान्येवोदाहरणानि' इत्यग्राप्ययमेवाभिप्रायो योज्यः । अतश्च—

'परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वंपामिह खलु विकारोऽप्यभिमताः ।
न संप्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमचेन्नपतितः किमिषोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया महभुवः ॥'
तथा—

'पातः पूषो भवति महते नोपतापाय यस्मात्
कालेनास्तं क इव न गता यान्ति चास्वन्ति चान्ये ।
एतावत्त व्यययसि षडालोकवाह्येस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति च्योत्रि लक्ष्योऽवकाशः ॥' तथा—

'पथि निपतितान् शून्ये लब्ध्वा निरावरणाननां ननु दधिषर्ठी गर्बोज्ञदूः समुद्भुरकंधरः ।
निजसमुच्चितास्तास्तश्चेष्टा विकारवाताकुलो यदि न कुर्वते क्वाणः काकः कदा नु करिष्यसि ॥'

इत्युदाहरणान्यत्र मध्ये लेखितभ्यानि येन ग्रन्थस्य संगतत्वं स्यात् । अत्र च साहचर्यं साधर्म्यं वाच्यसंभवश्च स्फुट एव ।

सुप्रसिद्ध = [आनन्दवर्धन आदि] सभी आलङ्कारिकों को मान्य । सत्र = वनमें से अर्थात् वन दोनों में से । तदेव वर्णितम् = उसी का वर्णन किया जाता है = वही का अर्थात् कार्य का, वर्णन = शब्दतः कथन, क्योंकि कारण [शब्दतः कथित न होकर] प्रतीयमान रहता है । ततश्च = इसी कारण = अर्थात् कार्य और कारण इन दोनों के ही प्रस्तुत होने के कारण । स्पष्टैव = क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत कार्य ही शब्दतः कथित है । इस प्रकार 'दोनों ही प्रस्तुत हैं तो पर्यायोक्त होता है, एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत तो अप्रस्तुतप्रशंसा' यह हुआ [इन दोनों का] विषयविभाग । इसलिए 'कार्य और कारण तथा सामान्य और विशेष ये दोनों भेद पर्यायोक्त के अन्तर्गत आ जाते हैं अतः अप्रस्तुतप्रशंसा में केवल सारूप्य ही गन्व्य होता है ।'

—इत्यादि जो [किसी आचार्य ने, अलंकाररत्नाकरकार ने नहीं] कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष [दोनों एक साथ] प्रस्तुत बन नहीं पाते, जो बन पाते हैं वन कार्यकारण में भी [प्रस्तुत] कारण से [प्रस्तुत] कार्य की प्रतीति में वैसा कोई चमत्कार नहीं होता जैसा [प्रस्तुत] कार्य से [प्रस्तुत] कारण की प्रतीति में होता है ।

यदि ऐसा है तो वनलाहय कि पर्यायोक्त में प्रस्तुत और अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत कार्य [दोनों में ही] प्रस्तुत कारण को किस रूप में व्यंजित करते हैं [अर्थात् इन दोनों के कारणान्श में भी कोई भेद है अथवा नहीं] इस [प्रश्न] पर [उत्तर] देते हुए लिखते हैं—पूर्वं च । तादृशमेव = वैसे ही अर्थात् वाच्य ही । स्वोपस्कारकत्वेन = अपनी शोभा बढ़ाने वाले अर्थ के रूप में इसलिए कि इसमें दूसरे अर्थ का आक्षेप अपनी सिद्धि के लिए होता है । समर्पयति = समर्पित कर देता है अर्थात् वाच्य अर्थ समर्पित कर देता है । इस प्रकार तात्पर्य यह कि [काव्यप्रकाशकार द्वारा कथित] 'अपनी सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप उपादान कइलता है और दूसरे अर्थ

को अपना समर्पण [अर्थात् स्वस्वरूप का सर्वथा त्याग] लक्षणा—ये जो दो लक्षणाएँ हैं, उक्त दोनों अलङ्कार इन पर निर्भर रहते हैं [पर्यायोक्त उपादान पर और अप्रस्तुतप्रशंसा लक्षण पर] और इनका यह भी एक नवीन विभाजक तत्त्व है। तत्तश्च = और [इस कारण] = इन दोनों में विषय विभाग हो जाने से। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि। सर्वथा = जो हो, अर्थात् 'राजन् राजसुता न' पद्य में पर्यायोक्त हो या अप्रस्तुतप्रशंसा।

यहाँ हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि 'ये सब साधर्म्य के उदाहरण हैं' इस अतिदेशवाक्य द्वारा साधर्म्यमूलक सारूप्यजनित अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों का अतिदेश भी हो जाता है यद्यपि ये भेद अभी तक बतलाए नहीं गए हैं। बात यह है कि यह ग्रन्थ ग्रन्थकार के पश्चात् अन्य कुछ व्यक्तियों ने [ताळ आदि की] पत्तियों पर लिखा था, [प्रतिलिपि की भी] ऐसी प्रसिद्धि है। उन व्यक्तियों ने भूल से उदाहरणों की पपत्ती तैयार नहीं की। और उक्त अतिदेशवाक्य अन्य पत्तियों पर से उतार लिया। इसलिए ग्रन्थ की संगति टूट गई। जहाँ तक अप्रस्तुतप्रशंसा के सारूप्यमूलक भेद के उदाहरणों का सम्बन्ध है इसके उदाहरण [ग्रन्थकार ने या मम्मटादि अन्य आचार्यों ने] जो अनेक पद्यों द्वारा प्रस्तुत किए गए केवल यह दिखलाने के लिए कि काव्य में यही भेद प्रचुर मात्रा में मिलता है। उक्त [लेखक-प्रमाद की] बात [अभी यहाँ आगे आने वाले] 'वाच्य जहाँ सम्यक् होता है उसके उदाहरण भी वे ही हैं'—इस ग्रन्थांश के विषय में भी जागू होता माननी चाहिए। इसलिए यहाँ बीच में—

'जो दूसरों के लिए पीछा का अनुभव करता है [पैरा जाना है], डोबा जाने पर भी जो मधुर ही रहता है, जिसका विकार [गुड-झरका आदि] भी सबको प्रिय होता है, ऐसा रङ्ग [रंग, गन्ना, सौदा] यदि विपरीत भूमि में रोप दिया जाय और पनप न पाय तो क्या यह उस रङ्ग का दोष होगा ? ऊपर मरुभूमि का नहीं ?

तथा—

'सूर्य नारायण दूब जाने हैं इसका तो अधिक दुःख नहीं होता, क्योंकि समय आने पर कौन व्यक्ति नहीं दूबा, कौन नहीं दूबता और कौन नहीं दूबेगा, क्या इसकी है कि उसी प्रकृति-महान् आकाश में आलोकविरोधी अन्धकार ने घर कर लिया।'

तथा—

'एक पथ में घुले हुए पत्थी दही की मटकी पाकर यदि काना कौआ गरँ से फूलकर गरदन उठा उठाकर और सबको विकारों से भरकर अपने अनुरूप तब तब चेष्टाएँ न करे तो फिर काव्य करेगा।'

—ये उदाहरण लिख दिए जाने चाहिए, जिसमें ग्रन्थ [में विषय] की संगति बन सके। इनमें सारूप्य, साधर्म्य और वाच्यार्थ की संभन्धना स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

विमर्श—मूल ग्रन्थ की 'सुनिरूपिन एवेति स्थितम्' पंक्ति के पश्चात् डॉ० राधकृष्ण ने अपने संस्करण में 'सारूप्ये यथा' यह अंश और दे दिया है। इसके आगे उदाहरण उन्हीं भी नहीं दिए हैं। इस प्रकार सारूप्यमूलक भेद के उदाहरण की कमी सर्वस्व के सभी संस्करणों में विद्यमान है। यह कमी विमर्शनीकार के समय में ही है जैसा कि उनके उक्त विवेचन से स्पष्ट है। समुद्र-वन्ध ने भी इस कमी को परखा है और अपनी ओर से उदाहरण जोड़कर ग्रन्थ पूरा कर दिया है। किन्तु संजीविनीकार का ध्यान इस ओर नहीं गया है। वस्तुतः इन दोनों संस्करणों में यहाँ की संजीविनी अल्पवस्थित है। दोनों ही संस्करणों में यहाँ यह पंक्ति ही हुई है—'एतानि साधर्म्यं इति, वैधर्म्यं तून्नेयानि। सारूप्यहेतुकं तु भेदमनया नीत्या साधर्म्येण सुगानत्वाद् वैधर्म्य-पीदाहरति धन्या इति।' इम अंश में 'सारूप्ये यथा' पंक्ति का कोई प्रतीक नहीं मिलता। उसकी

आवश्यकता भी नहीं है। यदि प्रतिलिपिकार ने यह लिखा होता तो वह उदाहरण लिखना न भूलता। इस अंश पर विमर्शिनी भी धूमिल है। जसमें 'वाक्येनातिदेश इति' के स्थान पर 'वाक्येनेति'—इतना ही लिखा मिलता है। 'वाक्येनातिदेशः' योमना हमने अपने मन से की है। इसी प्रकार 'वह्नि पुनरुदा—प्राचुर्यदर्शनार्थम्' पंक्ति का स्वारस्य इग्ने खींचतान कर निकाला है। स्पष्ट ही अलंकारसंबन्ध की प्रतियां उसने निर्माण के कुछ ही वर्षों बाद अन्यवस्थित हो गई थीं और मूल प्रति नष्ट हो गई थी।

[सर्वस्व]

वैधर्म्येण यथा—

'धन्याः खलु वने वाताः कृहारस्पर्शशीतला ।

राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥'

अत्र वाता धन्या इत्यप्रस्तुतादर्थ्यादहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते ।

वाच्यस्य संभव उक्तान्येवोदाहरणानि ।

असंभवे यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं

वैराग्यादिव चक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।

वामेनात्र वटस्तमश्वगजनः सर्वात्मना सेवन

न च्छायापि परोपकारकृतये मार्गस्थितस्यापि मे ॥'

अत्राचेतनेन सह प्रशोत्तरिका नोपपन्नेति वाच्यस्यासंभव एव । प्रस्तुतं प्रति तात्पर्यात् प्रमुख एव तदध्यारोपेण प्रतीतिरिति युज्यत एवैतत् । उभयरूपत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि मूर्धांसि कण्टका बहवो वहिः ।

कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥'

अत्र वाच्येऽर्थे कण्टकानां भंगुरीकरणे हेतुत्वं संभवि छिद्राणां त्वसंभवीत्युभयरूपवम् । प्रस्तुतस्य तात्पर्येण प्रतीतेस्तदध्यारोपात् तत्र संगतमेवैतदिति नासमीचीनं किञ्चित् । एतदेव च श्लेषगर्भायामस्यामुदाहरणम् ।

वैधर्म्यमूलक यथा—

'रक्तकमल के स्पर्श से शीतल वनवायु बड़ी ही धन्य हैं जो नीलकमल के समान स्वाम भगवान् राम को निर्वाधरूप से छूने रहती हैं ।'

—यहाँ 'वायु धन्य हैं' इस प्रकार के अप्रस्तुत अर्थ से 'मैं कधन्य हूँ' यह प्रस्तुत अर्थ वैधर्म्य के द्वारा प्रतीत होता है ।

जहाँ वाच्यार्थ संभव होता है उसके उदाहरण पूर्वोक्त उदाहरण ही हैं ।

वाच्य जहाँ असंभव होता है उसका उदाहरण यह है—

'तुम कौन हो, भाई ! बतलाता हूँ, मुझे भान्य का मारा शाखोटक समझो । तुम तो ऐसे बोल रहे हो जैसे विरक्त हो । आपने ठीक समझा । ऐसी क्यौं ! बतलाता हूँ। वहाँ जो धोई और बड़

का पेठ है, रास्तागीर इसका सेवन सब प्रकार से करते हैं, मैं तो रास्ते पर ही लगा हूँ किन्तु मेरी छाया तक दूसरों का लाभ नहीं कर पाती ।'

—यहाँ अचेतन के साथ प्रत्योत्तर नहीं हो सकते इसलिए वाच्यार्थ असंभव ही है। वह प्रस्तुत के प्रति तत्पर है, अतः पहले उस [प्रस्तुत] का आरोप हो जाता है तब [वाच्यार्थ की] प्रतीति होती है, फलतः यह [प्रत्योत्तर] संभव हो जाता है ।

उभयरूप [समव और असंभव वाच्य] का उदाहरण यथा—

भीतर बहुत से छिद्र हैं और बाहर बहुत से कटि । अला काल नाल के गुण [तन्तु] भगुर कैते न हो ।'

—यहाँ [तन्तुओं के] भगुरत्व में कटियों की कारणता संभव है [कटियों में उलझ कर धागे, सूत्र, कपड़े फट ही जाते हैं] किन्तु छिद्रों की कारणता संभव नहीं है [तन्तुनिमित्त बजादि में छिद्र तो रहते ही हैं, उनसे बला नष्ट नहीं होता] इसलिए [यहाँ वाच्यार्थ] उभयरूप है [समव भी है और असंभव भी] । प्रस्तुत की प्रतीति तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के रूप में होनी है अतः उस [प्रस्तुत] का [अप्रस्तुत पर] आरोप हो जाता है । फलतः यह [अप्रस्तुत भी] यहाँ संगत ही है । फलतः यहाँ कोई दोष नहीं आता । इलेपनिमित्त इस [अप्रस्तुतप्रशंसा] का उदाहरण भी यही है ।

विमर्शिनी

तद्व्यारोपेणैति प्रस्तुतारोपेण । एतद्विधि अचेतनेन सह प्रत्योत्तरकरणम् । एतच्च सामान्यादिभेदपञ्चकं वाच्य सार्धान्तरन्यासदृष्टान्तयोर्विषयो भवति । अन्यथा पुनरुक्त्वा भवेति दर्शयितुमाह—तत्रैत्यादिना ।

तद्व्यारोपेण = उसके अप्यारोप के द्वारा = प्रस्तुत के अप्यारोप के द्वारा । एतत् = यह अर्थात् अचेतन के साथ प्रत्योत्तर । 'ये जो सामान्यादि पांच भेद हैं वे यदि वाच्य [मात्र] होते हैं तो अर्धान्तरन्यास और दृष्टान्त के विषय बनते हैं, नहीं तो इसी [अप्रस्तुतप्रशंसा] के'— यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

[सर्वस्व]

तद्वन्न सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन सारूप्येण च यद् भेदपञ्चकमुद्दिष्टं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति तद्व्या-
न्तरन्यासादिर्भाय । सारूप्योस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः । अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वे-
प्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः ।

यहाँ यह निकर्य निकलता है कि ये जो सामान्यविशेषमूलक कार्यकारणभावमूलक तथा सादृश्यमूलक पांच भेद बतलाए गए हैं इनमें जब [आदिम] दो [भेदों] में सामान्य और विशेष तथा कार्य और कारण [ये दोनों ही अर्थ] वाच्य होते हैं तो [अलंकार] निःपन्न होता है अर्धान्तरन्यास, और जब [सादृश्यमूलक भेद के] दोनों समान अर्थ वाच्य होने हैं तो दृष्टान्त । किन्तु यहाँ सर्वथा अप्रस्तुतप्रशंसा ही होनी है जहाँ अप्रस्तुत वाच्य होता है और प्रस्तुत गम्य ।

विमर्शिनी

सर्वधैत्यनेनैतच्छब्दप्रत्याभवाभिचार उक्तः ।

सर्वथा कह कर यह संकेत किया कि अप्रस्तुतप्रशंसा का जो लक्षण बनाया गया है वह दूसरे अलंकारों में संक्रान्त नहीं होता ।

विमर्श—यहाँ एक ध्यान देने की बात यह है कि कार्य से कारण की प्रतीति वाले भेद में अप्रस्तुतप्रशंसा से पर्यायोक्त का अन्तर ग्रन्थकार ने वही कहकर किया है जो कहकर अप्रस्तुतप्रशंसा से अर्थान्तर न्यास का अन्तर कर रहे हैं । उन्होंने पर्यायोक्त में भी कार्य की प्रस्तुत ही बतलाया है जैसा कि यहाँ अर्थान्तरन्यास में भी बतला रहे हैं । फलतः पर्यायोक्त और अर्थान्तरन्यास के बीच भेदक तत्त्व का विचार करना है । ग्रन्थकार ने इस विषय पर यहाँ और इन दोनों अलंकारों के प्रकरण में भी कुछ नहीं लिखा । विमर्शनीकार भी चुप हैं । इसलिये कि अन्तर स्पष्ट है । यह कि अर्थान्तरन्यास में कारण दोनों बान्ध रहते हैं अब कि पर्यायोक्त में केवल कार्य ही बाध्य होता है । इसीलिये अर्थान्तरन्यास में समर्थसमर्थकभाव बन जाता है, पर्यायोक्त में नहीं ।

अप्रस्तुतप्रशंसा का पूर्वतिहास—

भामह—भामह में अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद नहीं मिलते । सामान्य लक्षणमात्र इस प्रकार मिलता है—

‘अधिकारादपेतस्य वस्तुनोज्ञ्यस्य या स्तुतिः ।

अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा ॥ १।२९ ॥

प्रीणितप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु ।

विना पुरुषकारेण फलं पश्यत श्लाखिनाम् ॥ ३।३० ॥

—अधिकार = [प्रकरण] से अलग [अप्राकरणीक] किसी अन्य पदार्थ की जो स्तुति उसे ‘अप्रस्तुतप्रशंसा’ इस नाम से कहा जाता है । यथा—

—बाचकों को संतुष्ट करने वाले, स्वादु, समय पर फले तथा विशाल फल, देखो तो, वृक्षों में विना ही पुरुषार्थ के लंग गए हैं ।’

यहाँ भामह ने प्रशंसा शब्द का अर्थ स्तुति किया है । वस्तुतः प्रशंसा का अर्थ केवल कथनमात्र है । परवर्ती आचार्यों ने यही अर्थ माना है ।

वामन :—वामन के यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप अत्यन्त धूमिल और अस्पष्ट है । इसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति के निमीर्याध्यवसान भेद में हो जाता है । वामन का अप्रशंसाविदेचन यह है—

[सूत्र] [उपमेयस्य] किञ्चिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा ।

[वृत्ति] उपमेयस्य किञ्चिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा । यथा—

‘लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शश्रिना सह संप्लवन्ते ।

धम्मञ्जलि द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कद्रलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥’

अप्रस्तुतप्रशंसास्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा ।

—उपमेय का सांकेतिकरूपमात्र से ही उल्लेख हो और प्रधानरूप से उल्लेख हो तत्समान पदार्थ का तो अप्रस्तुतप्रशंसा होती है । जैसे [किसी युवती के वर्णन में कथित यह वृत्ति]— ‘यह तो कोई एक भिन्न ही लावण्यसिन्धु है जिसमें कमल [नेत्र] चन्द्रमा [मुखमण्डल] के साथ तैर रहे हैं । साथ ही जहाँ हाथी के कुम्भ [स्तन] उभर रहे हैं और जहाँ कोई दूसरे ही कदली के काण्ड तथा मृणाल के दण्ड भी निबमान हैं ।’ अप्रस्तुत की प्रशंसा होने से यह अप्रस्तुतप्रशंसा नाम से पुकारा जाती है ।’

स्पष्ट ही मामह और वामन केवल सारूप्यमूलक भेद को ही अवस्तुतप्रज्ञा मानता रहे है। वामन इसीलिए इसे उपमा का अवान्तरूप मानता है उनका उदाहरण स्पष्टरूप से अतिशयोक्ति का ही उदाहरण है।

उद्भट = उद्भट ने मामह के लक्षण को प्रायः ज्यों का त्यों अपना लिया है—

‘अधिकारादपेतस्य वस्तुनोज्ञस्य वा स्तुति ।

अप्रस्तुतप्रशंसये प्रस्तुतार्थानुबन्धिना ॥’

—अधिकार [प्रकरण] से दूर किसी अन्य अर्थ को ऐसी स्तुति जो प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध रखती है अप्रस्तुतप्रशंसा कहलाती है। स्पष्ट ही उद्भट ने मामह से आगे बढ़कर एक ही बात कही। वह है अप्रस्तुत का प्रस्तुत से संबन्ध रहना। उन्होंने उदाहरण दिया—

‘यान्ति स्वदेहेषु अरामसंप्राप्तोपमोक्तुका ।

फलपुष्पदिग्भाजोऽपि दुर्गदेशवनमिषु ॥’

—दुर्गम स्थान की वनमी फल और फूल की समृद्धि से युक्त होने पर भी उपमोक्ता न मिलने से अपने देह में ही जरा को प्राप्त हो जानी है। यह वाक्य अविवाहित और अस्तुरूप या अशुक्ल वस्त्र की सुन्दरी को लक्ष्य कर कहा गया है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा का सारूप्य-मूलक भेद है। इसके अतिरिक्त अन्य भेद उद्भट ने मामह और वामन के ही समान नहीं मिलते। अप्रस्तुतप्रज्ञा नाम के विषय में मामह और उद्भट का मत एक ही है।

हद्वद = हद्वद के काव्यालंकार में अप्रस्तुतप्रशंसानाम से कोई अलंकार नहीं मिलता। अन्योक्ति नाम से जो अलंकार मिलता है उसे सारूप्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा माना जा सकता है। अन्योक्ति का निरूपण हद्वद ने इस प्रकार किया है—

‘असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम् ।

उत्तेन गम्यते परमुपमानेनेति साम्योक्तिः ॥ ८।७।१ ॥

यथा—

‘मुक्त्वा सलीलह्न विकसितकमणोज्ज्वल सरः सरसम् ।

वक्त्रलितत्र पल्लवममिलयन् सखे ! न इसोऽसि ॥’

—जहाँ केवल उपमान ही कहा जाए और उपमेय विशेषणों की उपवर्धकता न रहने पर भी केवल इतिवृत्त की समानतामात्र से आक्षिप्त हो वह [अलंकार] अन्योक्ति कहलाता है। यथा—

—‘मित्र ! इसी की लीला से युक्त, खिले कमलों से उद्भासित तथा सरस जलवाले सरोवर को छोड़कर बगुलियों से गड़े गढ़टे की चाह रहे हो, तुम हम नहीं हो।’ यहाँ विदग्धगोष्ठी की छोट उष्यों के गिरोह में जा रहे किमी शिष्ट मित्र ने उपालम्भ किया है। सारूप्यमूलक अप्रस्तुत-प्रशंसा का यह एक उत्तम उदाहरण है। मामह, वामन और उद्भट के उदाहरणों की अपेक्षा यही इसका वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

मम्मट = अप्रस्तुतप्रज्ञा का भी निरूपण अलंकारमर्वस्वकार ने किया है उसका आधार मम्मट का अप्रस्तुतप्रशंसानिवेचन है। मम्मट ने उक्त पाँचों भेद स्वीकार किए हैं, और सारूप्यमूलक भेद के अनेक उदाहरण दिए हैं। ‘करस्व मो ०’ पद्य मम्मट ने भी उद्धृत किया है और उस पर चेतनारोप की बात आनन्दवर्षण के ही समान कही है। ‘पन्त तस्य’ पद्य भी मम्मट ने उद्धृत किया है। ‘राजन् राजसुता ०’ पद्य में उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है जिसपर सर्वस्वकार ने अपनी विमति व्यक्त की है। मम्मट का अप्रस्तुतप्रशंसा निरूपण इस प्रकार है—

[लक्षण =] 'अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।

[भेद =] कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।

तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चमा ॥

लक्षण पर वृत्ति लिखते हुए मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा नाम पर अपना मामद तथा उद्धृत के मत से भिन्न मत संकेतित किया है—'अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुत-प्रशंसा ।' अर्थात्—

[अप्रस्तुत =] अप्राकरणिक [अर्थ] की [प्रशंसा =] अभिधा० द्वारा उक्ति से प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होने के कारण अलंकार का नाम अप्रस्तुतप्रशंसा पड़ता है । लक्षण में भी मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द को यौगिक शब्द के रूप में अपनाया है और उद्धृत के 'प्रस्तुताश्रया-बन्धिनी' पद का अर्थ अपनाकर 'प्रस्तुताश्रया' कहते हुए उन्होंने लक्षण के रूप में अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द को ही प्रतीत बतला दिया है । उनकी लक्षणकारिका का अनुवाद होता—

'प्रस्तुताश्रित जो अप्रस्तुतप्रशंसा वही अप्रस्तुतप्रशंसा' । विमर्शिनीकार ने सादृश्यमूलक भेद के जो अनेक भेदों का संकेत दिया है उसका मूल मम्मट का शिबेचन ही है । मम्मट ने लिखा है—

'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः, श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यत्वं तुल्यस्य साक्षेपे हेतुः ।'—

—अर्थात् प्रस्तुत तुल्य के अप्रस्तुत तुल्य से आक्षेप में तीन भेद होते हैं, क्योंकि तुल्य से तुल्य के आक्षेप में श्लेष, समासोक्ति और सादृश्यमात्र ये तीन हेतु होते हैं ।

यहाँ श्लेष का अर्थ द्रवयैतामात्र है । इसी प्रकार समासोक्ति का अर्थ भी संक्षेप में अनेकार्थानु-रूप शब्दयोजना है । श्लेषालंकार वा समासोक्तिअलंकार नहीं । इन तीनों के एक एक उदाहरण देने के पश्चात् मम्मट ने यह भी स्पष्ट किया है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं चेतन का अध्यारोप अपेक्षित नहीं होता, कहीं अपेक्षित भी होता है सो या तो सर्वात्मना वा फिर अंशतः । 'कस्त्वं भोः' पद्य को उन्होंने सर्वात्मना अध्यारोप का उदाहरण माना है ।

मम्मट ने साधुर्ध-वैधर्म्य की चर्चा नहीं की है, न तो पर्यायोक्त, दृष्टान्त तथा अर्थान्तरगत्यास के साथ सान्धवैषम्य ही उन्होंने बतलाए । सर्वस्वकार का अप्रस्तुतप्रशंसा में वही पैसा योगदान है जिसे मम्मट से आगे बढ़ा हुआ कहा जा सकता है ।

शोभाकर—परवर्ती शोभाकर ने अप्रस्तुत में एक नवीन विचार छेदा है । वह है द्वितीय अर्थ की प्रतीति करानेवाली शब्दवृत्ति का । आनन्दवर्धनाचार्य ने अप्रस्तुतप्रशंसा में द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानी थी । मम्मट ने उसका विरोध नहीं किया । शोभाकर का कहना है कि यहाँ द्वितीयार्थ की प्रतीति व्यंजना से न होकर लक्षणा से होती है । उनका कहना है कि—'अप्रस्तुत अर्थ प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण के द्वारा बाधित हो जाता है, अतः उसको सादृश्य आदि सन्बन्ध के आधार पर प्रकरणानुरूप अर्थ में लक्षणा हो जाती है । इसका प्रयोजन होता है प्रस्तुत अर्थ का प्रतिपादन छिपाकर करना । इस प्रकार इसमें लक्षणा के मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसम्बन्ध तथा प्रयोजन ये तीनों हेतु विद्यमान रहते हैं । व्यंजना वहाँ होती है जहाँ वाच्यार्थ बाधित नहीं रहता ।' शोभाकर ने इस विषय में किस अज्ञात आचार्य को एक कारिका भी उद्धृत की है—

'मुख्यार्थबाधादिसमस्तहेतुयोगादसौ लक्षणवैध युक्ता ।' विमर्शिनीकार ने कदाचित् इसी धारणा पर उपादान और लक्षणलक्षणा की चर्चा चलाई है । रत्नाकरकार ने यहाँ चिन्न लक्षणभेदों का नाम लिया है वे इनसे भिन्न हैं ।

रत्नाकरकार यहाँ लक्षणा के कौन से भेद मानना चाहते हैं यह उनके लेख से स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि पर्यायोक्तारंकर में आप इसी प्रकार से लगता है कि वे अप्रस्तुतप्रशंसा में भी उपादानलक्षणा ही मानते हैं। यद्यपि सर्वस्वकार ने भी 'यत्र वाच्योऽर्थांतर स्वोपस्कारकत्वे-नागूरयति तत्र पर्यायोक्तम्' तथा 'यत्र पुन स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समग्यति तत्राप्रस्तुतप्रशंसा' इन पक्तियों के द्वारा मम्मट की 'स्वसिद्धये पराश्रेय' तथा 'परार्थे स्वसमर्थनम्' इस लक्षणाभिरूपक कारिका की पदावली से मिलनी जुलती पदावली में पर्यायोक्त से अप्रस्तुत-प्रशंसा का भेद दिखलाया है तथापि उनमें उनका प्रतिपाद्य लक्षणा नहीं है। उनके उक्त कथन का अर्थ केवल इतना ही है कि पर्यायोक्त में व्यर्थार्थ वाच्यार्थ की शोभा शक्या है और अप्रस्तुत-प्रशंसा में सबसे उल्टे वाच्यार्थ ही स्ववार्थ की भी। आगूरण शब्द की मम्मट ने व्यंजना का पर्याय माना है [द्वितीय वृत्तान्त]। पण्डितराज ने भी अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुत व्यङ्ग्यमिति निर्वि-वादम् [अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण का अंत] इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुतार्थ को व्यंजनालभ्य ही माना है। वहा अनिश्चयों से अन्तर करने हुए उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा में लक्षणा का खण्डन भी किया है। लक्षणा मानने से अप्रस्तुतप्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद का अतिशयोक्ति से अन्तर नहीं किया जा सकेगा। अन्य भेदों में कार्य को कारण में अथवा कारण की कार्य में लक्षणा माननी होगी, जो असंगत होगी क्योंकि कार्यकारण के बीच हुई लक्षणा का प्रयोजन कार्य और कारण के बीच भेद सिद्ध करना ही होता है वैसे कि 'घृण आयु है' आदि प्रयोगों में देखा जाता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में भेद की विवक्षा नहीं रहती। केवल छिपाकर कहने की विवक्षा करती है। इसीलिए पण्डितराज अगन्नाथ ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा में दोनों अर्थों में भेद ही माना है और इसी तर्क पर लक्षणा का खण्डन किया है। द्रष्टव्य—'वाच्यार्थोऽतस्त्वनेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः सर्वसद्वदय-सम्मतत्वात्' [अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणान्त] फलतः विमर्शनीकार के द्वारा भी इस प्रकरण में लक्षणा का अस्तित्व मानना रत्नाकरकार आदि की सर्वस्व की इन पक्तियोंके विषय में बनी अन्यथा धारणा का प्रमाद मानना होगा।

शोभाकर का अप्रस्तुतप्रशंसालक्षणाभ्र प्रकार है—

'अप्रस्तुतादन्यप्रतीतिरप्रस्तुतप्रशंसा।'

—अप्रस्तुत से अन्य की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशंसा।'

अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रवाद अप्यवदीक्षित तक आकर संसुद में गिरती रागा के प्रवाह के समान बहनु लगी हो गयी। समासोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना होती थी और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की। एक स्थल ऐसा मिला जिसमें प्रतीति होने वाला द्वितीय अर्थ भी प्रस्तुत ही रहता है और प्रतीति कराने वाला प्रथम अर्थ भी। अप्यवदीक्षित ने उसे एक पृथक् अलंकार बतलाया और उसे परिकराङ्कुर के समान प्रस्तुताङ्कुर नाम दिया। उसका निरूपण इस प्रकार किया—

'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य चेतने प्रस्तुताङ्कुरः।'

[यथा—] किं मृद्ग ! सत्यां मालत्या केतक्या कण्ठवेदना ॥

—प्रस्तुत से प्रस्तुत का [ही] चेतन हो तो अलंकार प्रस्तुताङ्कुर होगा। यथा—

—अरे मृद्ग ! मालती के रहते हुए कटीली केतकी से क्या।

अप्यवदीक्षित के अनुसार यह उक्ति नायक के साथ उद्यानविहार कर रही नायिका की है, फलतः यहाँ मृद्गपक्ष भी प्रस्तुत ही है और सुन्दर कुलबधू को छोड़ कर वेदया के प्रति आकृष्ट होने वाले नायक का पक्ष भी प्रस्तुत ही है। इसी प्रकार 'कस्त्वं गोः कव्यामि०' वद्य में भी अप्यवदीक्षित ने प्रस्तुताङ्कुर ही माना है। उनका कहना है कि अचेतन के साथ भी बातचीत संभव है

असंभव नहीं, भोलेपन में या अधिक माधुकता में ऊपर शृङ्ग के प्रति नायिका की उक्ति के समान शाखोटक के साथ भी पथिक की उक्ति बन सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसे स्थलों में अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है। उनका कहना है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत शब्द का अर्थ है वह अर्थ जो मुख्यतात्पर्यविषय न हो।'—'अप्रस्तुत शब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयोभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः' [द्रष्टव्य रत्नगंगाधर ५४२ निर्णय० संस्क० ६] शृंग के प्रति नायिका की उपर्युक्त उक्ति में नायिका का मुख्य तात्पर्य नायक की चपलता की ओर इंगित करना है। शृङ्गच्छेदा तो वहाँ माध्यम मात्र है।

आगे चलकर पण्डितराज भी बहक गए हैं। उन्होंने एक प्रश्न उठाया कि यदि ऐसा कोई स्थल हो जिसमें विशेषणगत इलेष न हो किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत को प्रतीति हो रही हो वहाँ समासोक्ति मानी नहीं जा सकेगी क्योंकि समासोक्ति विशेषण इलेष पर निर्भर रहती है। अप्रस्तुत-प्रशंसा इसलिए नहीं होगी कि वहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना रहती है। तब वहाँ कौन सा अलंकार माना जाएगा। उदाहरण के रूप में उन्होंने निम्नलिखित पद्य बनाया—

‘आपेद्विरेऽन्वरपथं परितो विहङ्गा

शृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्त ।

संकोचमक्रान्ति सरस्वधि दीनदीनो

मीनो नु हन्त कतर्मा गतिमभ्युपैतु ॥

—हे सरोवर ! तुम विलकुल सूखने लगे तो पंख वाले पक्षीक आकाश में उड़ गए, मंदि बाज़मंनरी पर जा बैठे। परन्तु यह अस्यन्त दीन मीन कहाँ जाए।’

—यहाँ सरोवृत्तान्त ही प्रस्तुत हो और राज्यनाशोन्मुख रावा अथवा संपत्तिनाशोन्मुख आश्रयदाता अप्रस्तुत तो सामान्यतः न तो समासोक्ति मानी जा सकेगी क्योंकि विशेषणों में द्वयर्थकता नहीं है, और अप्रस्तुतप्रशंसा भी नहीं मानी जा सकेगी क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ प्रस्तुत है अप्रस्तुत नहीं।

पण्डितराज इसका उत्तर न दे सके। उन्होंने यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा को ही मान्य ठहरा दिया। उन्होंने कहा कि अप्रस्तुतप्रशंसाशब्द का अर्थ अप्रस्तुत की प्रशंसा करने के साथ ही अप्रस्तुत से प्रशंसा भी किया जा सकता है। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द में पछीतत्पुरुष के साथ तृतीया तत्पुरुष भी माना जा सकता है। द्वितीय अर्थ के अनुसार उक्त पद्यार्थ में भी अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जा सकेगी। पण्डितराज की पंक्तियाँ हैं—

‘अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालंकारः । अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः किं त्वप्रस्तुतेनेति । सा चार्थात् प्रस्तुतस्यैव । एवं च वाच्येन व्यक्तेन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यक्तं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्यान्वयतम-प्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति, न तु वाच्येनैव व्यव्ययेनेति ।

—उक्त स्थिति में भी अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा ही होगी। वहाँ उसका अर्थ अप्रस्तुत की प्रशंसा न होगा अपि ‘अप्रस्तुत से प्रशंसा’ होगा। अर्थात् प्रस्तुत की प्रशंसा। इस प्रकार अप्रस्तुत-प्रशंसा का लक्षण होगा कि ‘वाच्य या व्यव्यय अप्रस्तुत के द्वारा वाच्य या व्यंग्य प्रस्तुत की प्रशंसा जहाँ सादृश्यादि पंच प्रकारों में से किसी एक प्रकार से हो वह अप्रस्तुतप्रशंसा’ न कि वाच्य के ही द्वारा व्यंग्य की ही प्रशंसा हो तो।’

पण्डितराज ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण इस संशोधन के पहले इस प्रकार किया था—

‘अप्रस्तुतेन न्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते-साऽप्रस्तुतप्रशंसा ।’

—जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार से सादृश्यादि [पाँच] प्रकारों में से किसी प्रकार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार का प्रशस्तीकरण हो वह अप्रस्तुतप्रशसा' प्रशसा का अर्थ करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया—'प्रशसन च वर्णनमात्र, न तु स्तुति, किन् नान्म्योन्नतता यस्य च्छायापि नोपकाराय'—इत्यादावध्याख्यापत्ते । अर्थात् 'प्रशसा का अर्थ यहाँ केवल वर्णन है, स्तुति नहीं, क्योंकि 'ता' की लक्षणा को विचार है जिसकी छाया तक उपकार में नहीं आती'—इत्यादि अप्रस्तुतप्रशसाओं में लक्षण सगन न होगा। हम लक्षण में पण्डितराज ने प्राचीन जाचार्यों का मुलाहिजा तोड़कर नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की थी। प्राचीनों ने अप्रस्तुत का शब्दतः कथन चमत्कारहेतु माना था और अप्रस्तुतप्रशसा शब्द की वैसी ही व्याख्या की थी। पण्डितराज ने यहाँ चमत्कारहेतु माना अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के वर्णन को। वर्णन शब्द का अर्थ उन्होंने ज्ञान मात्र माना है क्योंकि भेद करते हुए लिखा है 'इयं च पञ्चम अप्रस्तुतेन प्रस्तुत गम्यते यस्यामित्येका'। परवर्ती सशोधित लक्षण में उन्होंने 'प्रशस्यते = प्रशस्तीकरण' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया। किन्तु वे यहाँ प्रशसा का अर्थ प्रस्तुत की शोभाशुद्धि को छोड़कर और कुछ कर ही नहीं सकते। क्योंकि अन्य कोई अर्थ 'आपेदिरे' पदार्थ जैसे पदार्थ में लागू नहीं होगा। और शोभाशुद्धि अर्थ का वे समासोक्ति से अप्रस्तुतप्रशसा को मिला नहीं कर सकते। समासोक्ति में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की शोभा बढ़ाई ही जाती है। नागेश ने यह आपत्ति उठाई ही और 'आपेदिरे०' पद में इसी कारण समासोक्ति ही मानी। शोभा बढ़ाने की शान कारकणभाव और मामान्यविशेषभाव में कट जायगी। वहाँ आपत्ति में किमी की किमी से शोभा नहीं बढ़ती, केवल 'छिराव' की बला द्वारा वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाई जाती है। जहाँ तक समासोक्ति शब्द के अर्थ का सम्बन्ध है उसका जो अर्थ विशेषगण्येय द्वारा संक्षेप में दो मित्र मित्र पदार्थों की उक्ति किया जाता है वह 'आपेदिरे०' पदार्थ में अवश्य नहीं है क्योंकि वहाँ श्लेष नहीं है तथापि समासोक्ति शब्द को श्लेष में न बाँध कर उसका अर्थ किमी की प्रकार 'श्लेष में अधिक अर्थ की उक्ति' कर लिया जाय तो वैसी कोई आपत्ति नहीं उठती। वस्तुतः प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के कथन को ही अप्रस्तुतप्रशसा का चमत्कारकेन्द्र मान कर हम अलङ्कार को अन्य अलङ्कारों से मिला किया जा सकता है। पण्डितराज ने प्रश्न तो मार्मिक उठाया किन्तु समासोक्ति को केवल विशेषणश्लेष से अकड़कर वे समाधान ठीक नहीं दे पाए। पण्डितराज की इस पलायनवृत्ति पर विशेषकर चुप रह गए यह आश्चर्य का विषय है। उन्होंने उक्त अन्य सब विषयों पर विचार किया किन्तु पण्डितराज द्वारा 'आपेदिरे' पद पर अपनाए गए पद की ओर देखा तक नहीं।

विद्याचक्रवर्ती ने अप्रस्तुतप्रशसा का भाससंक्षेप इस प्रकार किया है—

अप्रस्तुतप्रशसा तु प्रस्तुतावगमोऽन्यत ।
 ना सामान्यविशेषादिविच्छिन्ना पञ्चथा मना ॥
 भवेत् साधर्म्यवैषम्ययोगत सा पुनर्द्विधा ।
 ममवेत्समवे द्वैधे वाच्यस्याप पुनर्द्विधा ॥
 प्रस्तुतस्यावगम्यत्वात् पर्यायोक्ताद् विभिद्यते ।
 इयमर्थान्तरन्यासाद् दृष्टान्तालङ्कारेण ॥

—अप्रस्तुतप्रशसा यह है जिनमें प्रस्तुत का ज्ञान अन्य [अप्रस्तुत] से हो। वह मामान्य विशेष आदि प्रकारों में पांच प्रकार की मानी गई है।

—वह साधर्म्य तथा वैषम्य के द्वारा पुन दो प्रकार की होती है। इसी प्रकार वाच्य के समव, असमव तथा दोनों प्रकार के होने से बही तीन प्रकार की भी हो जाती है।

—यहाँ प्रस्तुत अर्थ प्रतीयमान होता है इस कारण यह पर्यायोक्त से भिन्न सिद्ध होती है और इसी कारण अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त से भी ।

[सर्वस्व]

उक्तन्यायेन प्राप्तावसरमर्थान्तरन्यासमाह—

[सू० ३६] सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृत-
समर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात् पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत् समर्थनमुपपादनम्, न त्वपूर्वत्येन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽ-
र्थान्तरन्यासः । तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ । तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ । तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः ।
हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वापन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात् ।
तस्माद्भेदाष्टकमेवेहोद्दिष्टम् ।

उक्त हेतु [सामान्य विशेष तथा कार्यकारण दोनों के वाच्य होने] से [अर्थान्तरन्यास निष्पन्न होता है अतः अप्रस्तुतप्रदर्शना के पश्चात् उसका] अवसर प्राप्त है फलतः अब अर्थान्तरन्यास का विचार करते हैं—

[सू० ३६] किसी निर्दिष्ट [शब्दतः कथित] प्रकृत अर्थ का समर्थन सामान्यविशेष-
भाव या कार्यकारणभाव सम्बन्ध के द्वारा हो तो [अर्थकार का नाम] अर्थान्तर-
न्यास [होगा] ॥

[श्रुति] निर्दिष्ट अर्थात् अभिवाश्रुति के द्वारा कथित । समर्थन की अपेक्षा रखने वाले प्रकृत [वर्णनीय] अर्थ का समर्थन करने वाले अर्थ के पहले वा उसके पश्चात् शब्दतः निर्देश करके जो समर्थन अर्थात् उपपादन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास कहलाता है, बिना निर्देश के पहले से अज्ञात प्रस्तुत का समर्थन अर्थान्तरन्यास नहीं कहला सकता क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान अनुमान का विषय बनता है क्योंकि वहाँ सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य का अनुमान आ पहुँचता है, इसी प्रकार कार्य से कारण का भी । इनके दो भेद होते हैं—एक वह जिसमें सामान्य विशेष का समर्थक बनता है और दूसरा वह जिसमें विशेष सामान्य का । इसी प्रकार जहाँ कार्य से कारण का तथा कारण से कार्य का समर्थन होता है, इसके वे भी दो भेद होते हैं । इन चारो भेदों में से प्रत्येक भेद साधर्म्यमूलक तथा वैधर्म्यमूलक होकर दो प्रकार के होते हैं । फलतः इसके आठ भेद हो जाते हैं । [उद्धृत के अनुसार] इसके और भी भेद संभव हैं । जैसे कहीं इसका 'हि'-न्वोक्ति [आदि] शब्दों के द्वारा अभिधान रहता है और कहीं नहीं । कहीं इसमें समर्थनीय अर्थ का समर्थक अर्थ के पहले निर्देश रहता है और कहीं बाद में, किन्तु ये भेद सहृदयों के चित्त आकृष्ट नहीं कर पाते क्योंकि इनमें कोई अमरकार नहीं रहना, इस कारण यहाँ आठ ही भेदों का उल्लेख किया गया है ।

विमर्शिनी

उक्तन्यायेनेति अप्रस्तुतप्रशंसाभेदानामेव वाच्यत्वकथनात् । आहेति सामान्येत्यादिना । समर्थनार्हेत्येति, साकाङ्क्षत्वाद्दुपपादनापेक्षत्वात् । उपपादनमिति, एवमेवैतदिति नैराकाङ्क्षयोःपादनलक्षणम् ।

'उक्तन्यायेन' = उक्त हेतु मे अर्थात् [अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण के अन्त में] 'अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में परिणत होने वाले वाक्यार्थ ही अर्थात्तरन्वात् रूप में परिणत होते बतलाए गए हैं यदि उनमें दोनों ही अर्थ वाच्य हों जायें' इस हेतु से । 'आह = विचार करते हैं—सामान्य इत्यादि सूक्ष्मवाक्य से आरम्भ कर लिखे गए अन्य द्वारा । समर्थनार्ह—साक्षात् होने के कारण उपपादन की अपेक्षा करने के कारण । उपपादनम् 'ऐसा ही है यह' इस प्रकार की निराकाङ्क्ष प्रतीति को जो उद्गमन करना तत्स्वरूप ।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीम्बुः किरणेष्विवाङ्कः ॥'

'लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां

पुसां कुलं नहि निमित्तमुदात्तताया' ।

घातापितापनमुनेः कलशात्प्रसूति-

लीलापतं पुनरमुद्रसमुद्रपानम् ।

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापशां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपद ॥'

अत्र सहसाविधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य चकारणस्य सं पवृचरणं कार्यं साधर्म्येण समर्थकम् । तस्यैवैतत्कार्यविरुद्धमापस्पदत्वम् सहसाविधानाभावविरुद्धाविवेककार्यं वैधर्म्येण समर्थकम् ।

'पृथिव्य स्थिरा भव भुजंगम धारयनां

त्वं कूर्मगज तदिदं द्वितयं दधीथा ।

दिवकुञ्जराः कुरुत तन्त्रितये विधीर्षां

देवः करोति हरकामुं कमाततअथम् ॥'

अत्र हरकामुंकाततज्यीकरणं पृथ्वीस्थैर्यादिप्रवर्तकत्वे कारणं समर्थकत्वेनोक्तम् ।

क्रम से उदाहरण यथा—

'जो [हिमालय] अनन्त रत्नों को उत्पन्न करता रहना है, इसलिए एक अकेला हिम उसके महत्त्व का नाशक नहीं बन सका । ऐसा इसलिए कि जहाँ गुणों का अमघट रहता है वहाँ एक आध दोष दूब जाया करता है, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क [कुमार० २] [यहाँ उत्तरार्ध की गुण और दोष रूपों सामान्य पदार्थों की उक्ति से पूर्वार्ध की रत्न तथा हिमरूपी विशेष पदार्थों की उक्ति का समर्थन है] ।

‘प्रतिष्ठा दिलाता है लोकोत्तर चरित, कुल व्यक्तियों की उदात्तता का कारण नहीं बनता । वातापी राक्षस को नष्ट करने वाले मुनि अगस्त्य की उत्पत्ति षडे से हुई थी, किन्तु महत्त्व भिला निःसीम समुद्र के पान का ।’

[यहाँ पूर्वार्ध में कथित व्यक्ति सामान्य तथा चरितसामान्य का उत्तरार्ध में कथित अगस्त्यरूपी व्यक्तिविशेष तथा समुद्रपानरूपी चरितविशेष के द्वारा समर्थन किया गया है] ।

—कोई कार्य पकाएक न करे, अविवेक भारी विपत्ति का आस्पद होता है । विचारपूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति को गुणों पर लुब्ध संपत्तियाँ स्वयं ही वरण कर लेती हैं । [किरातार्जुनीय-२]

यहाँ सहना कार्य न करना तथा विचार कर कार्य करना ये दो कारण हैं, इनका समर्थन हो रहा है संपत्तियों द्वारा वरण करने रूपी कार्य से । यह समर्थन साधन्यमूलक है । [इसी प्रकार] वसों [कारण] का समर्थन इस [संपत्तिरूप] कार्य से विरुद्ध विपत्ति का आस्पद होने से भी हो रहा है, जो एकाएक कार्य न करने के विरुद्ध विना विचारे कार्य करने का कार्य है । किन्तु यह समर्थन वैधर्म्यमूलक है ।

—पृथ्वि ! स्थिर हो जा, नागराज ! तुम इसे सम्हाले रहो, कूर्मराज ! तुम इन दोनों को सम्हाले रहो, और दिग्गजो तुम लोग इन तीनों को धारण किए रहने में लगे रहो [क्योंकि] देव [राम] शिव धनुष पर प्रत्येक चढ़ाने जा रहे हैं ।

—यहाँ पृथ्वी आदि से स्थिर होने आदि की बात कहने में कारण है शिवधनुष पर प्रत्येक का चढ़ाया जाना । यह यहाँ समर्थक रूप से कहा गया है ।

विमर्शिनी

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृत्रेव वक्ष्यतीति सामान्य-विशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम् । विशेषेणापि सामान्यसमर्थने यत्र सामान्यवाक्य-स्योपपादनापेक्षत्वं सूत्रापमेवालंकारः । नहि विशेषात्मकागस्त्यवृत्तान्तोपादानं विना पुंसां कुलवैलक्षण्येन चरितमात्रमेव प्रतिष्ठानिमित्तमिति सामान्यारमा प्रकृतोऽर्थः सिद्धयेत् । यत्र पुनः स्वतःसिद्धस्यैव प्रतीतिविशदीकरणार्थं तदेकदेशभूतो विशेष उपाशीयते तत्रोदाहरणालंकारः । गुणसंनिपाते दोषनिमज्जनात्मनः सामान्यस्य नैराकाङ्क्षधेयं सिद्धयेन्वोः किरणेष्विवाह हति तदेकदेशभूतो विशेषस्तत्र प्रतीतिविशदीकरणार्थमुपात्तः । अतश्च ‘विशेषस्यान्धेन समर्थनमर्थान्तरन्यास’ इत्यत्र विशेषेणापि सामान्यस्य समर्थनमिति सूत्रणीयम् । अन्यथा ह्यभ्यासिः स्यात् । तस्यैवेति सहसाविधानाभावस्य । एतत्कार्यविरुद्ध-मिति संपत्तिरकार्यविरुद्धम् ।

कार्यकारणमात्रमूलक जो दो भेद हैं वे काव्यलिङ्ग के भेद सिद्ध होते हैं यह स्वयं ग्रन्थकार ही आगे बतलाने वाले हैं, इसलिए यहाँ सामान्यविशेषभावमूलक दो भेदों को ही गिना जाना चाहिए । इन दो भेदों में भी विशेष से सामान्य के समर्थन का जो भेद है उसमें भी जब सामान्यार्थ-प्रतिपादक वाक्य समर्थन की अपेक्षा रहता है तब तो यहाँ [अर्थान्तरन्यास] अलंकार होता है, ऐसा नहीं है कि अगस्त्यवृत्तान्तररूपी विशेष अर्थ के उपादान के विना, ‘कुलनिरपेक्ष चरितमात्र ही व्यक्तियों की प्रतिष्ठा का निमित्त होता है’ वह सामान्य अर्थ सिद्ध हो जाए । किन्तु जहाँ वह [सामान्य अर्थ] स्वतःसिद्ध रहता है और उसके एक अंशविशेष का उपादान केवल इसलिए किया जाता है कि उस सामान्य अर्थ की प्रतीति और स्पष्ट हो जाए वहाँ अलंकार उदाहरण होता है । गुणों के समुदाय में दोष के सूचने रूपी सामान्य अर्थ की प्रतीति अन्य किसी [समर्थक] अर्थ की अपेक्षा के विना अपने आप भी सिद्ध हो जाती है इसलिए ‘चन्द्रमा की किरणों में कलंक’ यह जो उसी का

विशेषरूप एक अर्थ है श्मका उगादान उस [सामान्य] अर्थ की प्रतीति में स्पष्टता लाने मात्र के लिए है । [इस कारण 'अनन्तरत्न०' पत्र में उदाहरणालंकार ही मान्य है] इसीलिए [अलंकार-रत्नाकरकार को चाहिए कि वे] 'विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन अर्थान्तरन्यास'—इस सूत्र में 'विशेष के द्वारा भी सामान्य का समर्थन' इतना अर्थ और जोड़ें । नहीं तो उनका लक्ष्य अर्थान्तरन्यास के एक [विशेष से विशेषणमापेश सामान्य के समर्थन में निष्पन्न] भेद में लागू नहीं हो पाया ।

सर्वैव = उसी का = एकाएक कार्य न करने का । एतत्कार्यविरुद्धम् इस कार्य के विरुद्ध = सपत्ति द्वारा नरग किए जानेरूपी कर्म के विरुद्ध ।

[सर्वैव]

वैधर्म्येण सामान्यविशेषमाधो यथा—

'अहो हि मे धनपराद्धमायुषा यद्भ्रियं चाच्यमिदं मयेदृशम् ।

त एव धन्याः सुहृदां परामयं जगत्यदृष्ट्यैव हि ये क्षयं गताः ॥'

अत्रायुःकर्तृकापराद्धत्वाक्षितस्याधन्यत्वस्यायुर्विद्वक्षयगतिप्रयुक्तं धर्म्यत्वं विरुद्धं सामान्यरूपतया समर्थकत्वेनोक्तम् । कार्यकारणतायां वैधर्म्येणोदाहृतम् । द्विशब्दाभिहितत्वात्नभिहितत्वादिभेदाः स्वयमेव योज्यव्याः, चारुत्वातिशयाभावात्नेह प्रदर्शिताः ।

वैधर्म्यमूलक सामान्यविशेषभाव का उदाहरण यथा—

'ओ हो हो ! मेरी इस आयु ने बहुत बड़ा अपराध किया कि मुझे ऐसी अभिय धान कहनी पड़ रही है । वे ही अन धन्य हैं जो समार में मित्रों का परामय देखे बिना ही चल बसने हैं ।'

यहाँ 'आयु के द्वारा अपराध किए जाने की बात से आक्षिप्त अधन्यता' के प्रति इसके विरुद्ध 'आयु की उल्टे, चल बसने रूपी कर्म से अनिन ओ सामान्यरूप धन्यता' है उक्त समर्थकरूप से कहा गया है ।

कार्य कारणभाव में ओ वैधर्म्यमूलकता होती है उसका उदाहरण [सहसा विदधी०] द्वारा दे ही दिया है । इसके अतिरिक्त 'हि = क्योंकि' शब्द के द्वारा अर्थान्तरन्यास के अभिधा द्वारा कथित होने और कथित न होने से जो भेद होते हैं उनका अनुसंधान स्वयं ही कर लेना चाहिए । उनमें कोई विशिष्ट चमत्कार नहीं रहता अथ. उन्हें यहाँ नहीं दिखलाया गया ।

विमर्शिनी

विरुद्धं सामान्यरूपतयेत्यनेन वैधर्म्येण विशेषः 'सामान्येन समर्थित इहयुक्तम् । सामान्यं तु विशेषेण समर्थ्यते यथा—

'गुणानामेव दौराभ्याद्घुरि ध्रुवां नियुज्यते ।

असंज्ञातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति शौर्गादी ॥'

अत्रापि समर्थ्यसमर्थकभावसमर्थनानुदाहरणत्वं वाच्यम् । उदाहृतमिति 'सहसा विदधीत—' इत्यादिना ॥

'विरुद्धं सामान्यरूपतया' इत्यादि द्वारा यह बतलाया कि यहाँ वैधर्म्य के द्वारा सामान्य में विशेष का समर्थन हुआ । यहाँ तक विशेष से सामान्य के समर्थन का संबन्ध है उसका उदाहरण यह है—

‘यह गुणों की ही दुरात्मता है कि धुर्य [बोझा देने में अधिक सज्जम वैल] बोझा देने के लिए जोंता जाता है । गलियार वैल के गले में धड़ तक नहीं पहुँचा और मजे में सोता रहता है ।’ समर्थसमर्थकभाव इसमें भी है इसलिए इसे भी [अर्थान्तरन्यास का] उदाहरण कहा जा सकता है [अलंकाररत्नाकरकार के अनुसार अर्थ उदाहरणालंकार नहीं] । उदाहरणम् = ‘सहसा विदधीत’—पद्य द्वारा ।

विमर्श—अर्थान्तरन्यास का पूर्वतिहास—

भामह, वामन तथा उद्भट में अर्थान्तरन्यास के सामान्यविशेषभाव की चर्चा नहीं मिलती । इसकी चर्चा रुद्रट से आरम्भ होती है । मम्मट उसका अनुसरण करते हैं । किन्तु कार्यकारणभाव की योजना प्रथम और अन्तिम बार केवल सर्वस्वकार करते हैं । रश्माकर, विमर्शिनो, कुवलयानन्द तथा रसगंगाधर में उसको मान्यता नहीं मिली है । भामह ने ‘हि’-शब्द के उपादान से आने वाली स्पष्टता को अर्थान्तरन्यास में प्रकट किया था । उद्भट ने उसके आगे समर्थ वस्तु के समर्थक वस्तु के पहले तथा पश्चात् उपादान की भी चर्चा की । रुद्रट ने पहिली बार साधर्म्य तथा वैधर्म्य की भी चर्चा की । इसके पहले के आचार्य इस विषय में भी चुप थे । इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का जो सर्वसंमत स्वरूप मान्य है उसे स्थिर करने का श्रेय रुद्रट को है । पूर्वाचार्यों के अर्थान्तरन्यास विवेचन इस प्रकार हैं—

भामह—

‘उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदितादृते ।

शेषः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वाभानुगतो यथा ॥

परानीकानि सोमानि विविक्षोर्न च ते न्यथा ।

साधु वासाधु वागामि पुंसामात्मैव शंसति ॥

हिशब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये ।

अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यव्यते यथा ॥

वदन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान् गुरुनपि ।

गरीयानेव हि गुरुन् विमर्त्ति प्रणवायतान् ॥ २।७१-४ ॥

—जब कोई एक बात कही जाय और फिर उससे मिलती-जुलती दूसरी बात तो उसी का नाम अर्थान्तरन्यास ही जाता है । [अर्थान्तर = अन्य अर्थ का न्यास उपस्थिति] । यथा—

—शत्रु की भयंकर सेना में आप प्रवेश करना चाह रहे हैं और आपको तनिक भी ब्यथा नहीं हो रही । होने वाले भले या बुरे की सूचना व्यक्ति को उसको आत्मा ही दे देती है ।

हेत्वर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए अब हि = क्योंकि शब्द का प्रयोग रहता है तब यह अर्थान्तरन्यास अधिक स्पष्ट हो जाता है । जैसे—

—पर्वत अपने पास आये बड़े से बड़े मेघों को भी अपना लेते हैं । इच्छा लेकर आये बड़ों को बड़े लोग ही वहन करते हैं ॥

वामन = [सू०] उक्तसिद्धये वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः ॥—कथित वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अन्य वाक्यार्थ की उपस्थिति अर्थान्तरन्यास । यथा—

‘त्रियेण संमथ्य त्रिपदासन्निवाप्तुपाहितां वञ्चसि पीवरस्तने ।

सर्वं न काचित् विजहौ जला विलां वसन्ति हि प्रेमिणि शुष्ण न वस्तुपु ॥

—‘प्रिय ने स्वयं गूँधकर सौतों के सामने पीवरस्तन वञ्च पर पहनाई माला को किसी सुन्दरी ने ध्यागा नहीं यद्यपि वह माला पानों से भीगी हुई थी । बात यह है कि मद्धव प्रेम का होता है वस्तु का नहीं ।’

स्पष्ट ही वामन अर्थान्तरन्यास के आर्थ भेद से शब्द भेद के अन्तर पर मामह के समान ध्यान नहीं देते। इतना अवश्य है कि वे समर्थक अर्थ का वाक्यार्थरूप होना आवश्यक मानते हैं। पदार्थ रूप होने पर वे अर्थान्तरन्यास की निष्पत्ति स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट ही वामन का लक्षण मामह के लक्षण की छाया है।

उद्धृत = 'समर्थकरय पूर्व यद् वचोऽन्यस्य च पृष्ठन ।

विपर्ययेण वा यद् रथाद्विशब्दोक्त्याऽन्यथापि वा ॥

श्लेषः सोऽर्थान्तरन्यासः प्रकृतार्थसमर्थनात् ।

अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थिति ॥ २।४५ ॥

—समर्थक का कथन पहले हो और समर्थनीय वाद में, अथवा इससे ढलटा हो, और यह 'हि = क्योंकि, शब्द के साथ हो अथवा उससे रहित तो इसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए। इसमें प्रकृत अर्थ का समर्थन रहता है। इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्टान्त से भिन्न हो जाता है।

उद्धृत के अनुसार अर्थान्तरन्यास के चार भेद हुए। उनके नाम इस प्रकार रटे जा सकते हैं (१) हेतुवाचकपदोत्तिपूर्वकसमर्थकपूर्वोपन्याससारमक अर्थान्तरन्यास । (२) हेतुवाचकपदोत्तिरहितसमर्थकपूर्वोपन्याससारमक अर्थान्तरन्यास । (३) हेतुवाचकपदोत्तिपूर्वकसमर्थनीयपूर्वोपन्याससारमक अर्थान्तरन्यास तथा (४) हेतुवाचकपदोत्तिरहितसमर्थनीयपूर्वोपन्याससारमक अर्थान्तरन्यास । 'समर्थकपश्चादुपन्याससारमक'—इत्यादि योजना के द्वारा भी ये चारों नाम बनाए जा सकते हैं। इन चारों के उदाहरण उद्धृत ने दिए हैं किन्तु वे खतः सोचे जा सकते हैं।

मामह ने जिसे 'पूर्वोपन्यास' कहा था और वामन ने 'उत्पत्ति' कहा, इसी सम्बन्धतरक की उद्धृत ने पहली बार 'समर्थन'-शब्द से कहा। आगे यही शब्द अपना लिया गया।

उद्धृत—'धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वामिषाय तत्सिद्धये ।

यत्र सधर्मिकमितर न्वस्वेव सोऽर्थान्तरन्यासः ॥

पूर्ववदमिषायैक विशेषसामान्ययोद्वितीयं तु ।

तत्सिद्धयेऽभिदध्याद् विपरीतं यत्र सोऽन्योन्यम् ॥

साधर्म्यमूलक—'जहाँ विशेष वा सामान्य रूप किसी धर्म को कहकर उसकी सिद्धि के लिए इसी से मिलने जुलने किसी अन्य धर्म को उपस्थित किया जाय वह अर्थान्तरन्यास कहलाता है।

वैधर्म्यमूलक—इसी प्रकार विशेष वा सामान्य में से किसी एक को कहकर उसकी सिद्धि के लिए उनके विपरीत किसी अन्य वस्तु का कथन दूसरा अर्थान्तरन्यास होता है।

विशेष के सामान्य द्वारा साधर्म्यमूलक समर्थन का उदाहरण इनके अनुसार यह है—

'तुहानामपि मेधा ज्ञेयानामुपरि विदधने छायाम् ।

उपकर्तुं हि समर्था भवन्ति महता महीधामः ॥

—मेघ उचे-उचे पर्वतों पर भी छाया कर देते हैं। ठीक है बहों का उपकार बड़े ही कर पाते हैं। उद्धृत का यह उदाहरण सर्वस्व और वाक्यप्रकाश के उदाहरणों से इस भेद के लिए अच्छा है।

उद्धृत ने अन्य तीनों के भेदों के उदाहरण भी अच्छे दिए हैं। इन चारों में 'हि तथाहि' आदि हेतुवाचक पदों का उपयोग है, अर्थात् अर्थान्तरन्यास का उदाहरण उनमें नहीं है।

रुद्र के लक्षण में 'धर्मो' शब्द का प्रयोग विशेषतः विचार्य है। इसका अर्थ नामिसाधु ने उपमेय किया है। विशेष और सामान्य समान गुणों से युक्त होते हुए भी उपमानोपमेयभाव से युक्त नहीं होते। उपमानोपमेय वे वस्तु हैं जो परस्पर में भिन्न भी होते हैं और समान भी, इसीलिए अनन्वय को उपमाभिन्न माना जाता है। सामान्य और विशेष समान तो है, भिन्न नहीं होते। वस्तुतः वामन ने वस्तु शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया था रुद्र उसी अर्थ में धर्मो शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। साध्यसाधकभाव यदि पदार्थगत हुआ तो उसे अर्थान्तरन्यास मानना संभव न होगा। वामन ने इसका उदाहरण देकर निराकरण भी किया है—'वस्तुग्रहणात् पदार्थस्य हेतोर्म्यसमं नार्थान्तरन्यासः, यथा इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्धात्—'इति—यदि हेतु पदार्थरूप हुआ तो वहाँ अर्थान्तरन्यास न होगा यथा—'यहां से तालाब अधिक दूर नहीं दिखाई देता है, कमल सुगन्ध से'—यहां।

मम्मट—'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्वयेन समर्थ्यते।

यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणतरेण वा ॥'

[वृत्ति] साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत् समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः ।'

—साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा सामान्य अर्थ से विशेष का समर्थन किया जाय या विशेष अर्थ से सामान्य अर्थ का तो वह अर्थान्तरन्यास होता है।

सामान्य से विशेष के साधर्म्यमूलक समर्थन का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

'निजदोषान्वृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।

पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं श्लथमपि पीतम् ॥

—स्वयं सदोष व्यक्ति को सर्वथा अदोष वस्तु भी विपरीत दिखाई देती है। पीलिया का रोगी चन्द्र से शुभ्र शंख को भी पीला ही देखता है।

मम्मट ने विशेष को सामान्य द्वारा साधर्म्यमूलक समर्थन का जो उदाहरण दिया है वह रुद्र के ऊपर उद्धृत उदाहरण द्वारा तथा सर्वस्वकार के 'लोकोत्तरं चरितम्' पद्य के द्वारा गतार्थ है। वैधर्म्य का एक उदाहरण मम्मट ने 'शुगान्तमेव' यह पद्य दिया है जिसे विमर्शिनोकार ने उद्धृत किया है और दूसरा 'अही हि०' यह पद्य को स्वयं मूल में ही उद्धृत है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्गः—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सर्वस्वकार के पहले तक अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव का समावेश नहीं हुआ था। परवर्ती आलंकारिकों ने इसका खण्डन किया। शोभाकर ने इसे हेतुलंकार का विषय माना। हेतुलंकार शब्द शोभाकर ने काव्यलिङ्गालंकार के लिए अपनाया है मम्मट ने भी हेतुलंकार को काव्यलिङ्ग से अभिन्न बतलाया था। इस प्रकार विमर्शिनोकार ने जो कार्यकारणभावमूलक भेदों को काव्यलिङ्ग में अन्तर्भूत बतलाया उसका मूल रत्नाकर-ही है। रत्नाकरकार ने हेतुलङ्कार के उदाहरण के रूप में विद्वान् कवि की—

'वज्रस्थली रक्षतु सा जगन्ति जगत्प्रतूर्तेर्गच्छन्वस्य ।'

—'जगद् के पिता विश्व भगवान् की वज्रस्थली जगत् की रक्षा करे' यह उक्ति दी है। इसमें जगद् रक्षा के लिए जगत्पितृत्व कारण है। पिता अपने वज्र पर संतान की रक्षा करता है। यहाँ हेतु पदार्थात्मक है अतः यह निश्चित ही पदार्थकाव्यलिङ्गालङ्कार है। सर्वस्वकार द्वारा अर्थान्तरन्यास के लिए उद्धृत कार्यकारणभावमूलक भेदों में जो हेतु है वे वास्तवार्थात्मक हैं, इसलिये

उनका पदार्थवाच्यलिङ्ग का पदार्थहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

‘वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं बन्धनि पुरा
पुरारे । न प्रायः वचिदपि मन्त्रं प्रणतवान् ।’

—हे भगवान् शंकर ! इस शरीर में पुनर्जन्म से यह अनुमान है कि गनजन्म में मैंने आप को कभी भी प्रणाम नहीं करने का अपराध किया है।’ इस स्थल में प्रणाम न करना अपराध के प्रति हेतु है। यह हेतु वाक्य के द्वारा प्रतिपादित है, अतः यह वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग हुआ। अब यह सोचना है कि सर्वस्वकार द्वारा दिए उदाहरणों की स्थिति इस उदाहरण की स्थिति से भिन्न है अथवा अभिन्न। ‘पृथ्वि स्थिरा भव’ पद्य में तो स्थिति सर्वथा अभिन्न है। ‘भगवान् राम के द्वारा शिवधनुर्षका चढाया जाना’ वाक्यार्थ कारण है पृथिवी आदि को स्थिर आदि होने को हिदायत करने में। यहाँ अवश्य ही कारण अर्थान्तर है और उक्तका उपस्थापन न्यास, अतः अर्थान्तरन्यासत्व यहाँ है, किन्तु सोचना यह है अलङ्कार भी नहीं है अथवा अन्य कोर्र। स्पष्ट ही यहाँ चमत्कार हेतुकथन में है, या तो समसे हो रही भगवान् राम के शौर्यातिशय की व्यञ्जना में। इस कारण यहाँ अलङ्कारत्व हेतुक में है, हेतुगत अर्थान्तरत्व में नहीं। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार ‘वपुःप्रादुर्भावाद’ पद्य में अपराध की सिद्धि बिना नमनाभाव के नहीं होती उसी प्रकार ‘पृथ्वि । स्थिरा’ पद्य में भी पृथिवी आदि को आदेश देने या सावधान करने की बात शिवधनुष के चढाए जाने रूप कारण के बिना सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार इन दोनों पद्यों के अर्थ अधिर्वाच्य में समान है। अहाँ तक ‘सहसा विदधीन’ पद्य का प्रश्न है, इस पद्य में पूर्वार्थ तथा उत्तरार्थ में एक ही बात कही गई है कि ‘बिना विचारे काम न करे’ और इसकी पुष्टि अनुरूप और प्रतिरूप दो फलधृतियों द्वारा की गई है बिना विचारे काम करने से सिर पर आफत आती है और विचार के काम करने से सम्पत्ति मिलती है। इस प्रकार यहाँ सामान्यविशेषभाव नहीं है क्योंकि दो विशेष ही विशेष बहन्व्य यहाँ दिए गए हैं। कार्यकारणभाव अवश्य है। इसलिये यहाँ वस्तुतः एक ही अर्थ का न्यास है—अर्थान्तर का नहीं। इसी प्रकार चमत्कार भी हेतु कथन में है फलतः इसे भी काव्यलिङ्ग का स्थल मानना ही उचित है। इसका अवश्य है कि रत्नाकरकार ने ‘प्रजानां विनयाषानाद सपिपा, प्रजा के पिता दिष्टीप ही थे क्योंकि वे उन्हें शिक्षा देते थे’ इस स्थल में हेतु का कथन स्पष्ट होने से उसमें चमत्कार का अभाव माना है और उसे काव्यलिङ्गालङ्कार या हेतुलङ्कार मानना उचित नहीं माना है। ठीक ऐसी ही स्थिति ‘सहसा’ पद्य की है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ कोर्र अलङ्कार नहीं है क्योंकि इस पद्य में चमत्कारकला का स्पष्ट ही अस्तित्व है। इस प्रकार कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास के स्थल काव्यलिङ्ग या हेतु के स्थलों से अभिव्यक्तिगत आशुिक भेद रखने पर भी सौन्दर्यबोधगत भेद नहीं रखते अतः भिन्न नहीं कहे जा सकते। सर्वस्वकार को इन भेदों के ममत्व ने इसलिये सताया होगा कि मागह ने ‘हेतुहेतुमद्भाव’ का अस्तित्व अर्थान्तरन्यास में बतलाया था। और सामान्यविशेष के समर्थसमर्थकभाव में भी हेतुहेतुमद्भाव रहता ही है। वस्तुतः अर्थान्तरन्यास का प्राणत्व समर्थसमर्थकों की मौलिक एकता है। वैधर्म्यमूलक अर्थान्तर में भी अनुरूप अर्थान्तर का आशेष होने के पश्चात् ही समर्थसमर्थकभाव चरितार्थ होता है। शुद्ध कार्यकारणभाव में यह एकता नहीं रहती। फलतः एकनापन्न अर्थान्तर का न्यास ही अर्थान्तरन्यास की स्वतन्त्र अलङ्कारता का बीज है। ऐसे तो अर्थान्तर का न्यास उपमा में भी उपमानरूप से रहता ही है।

अर्थान्तरन्यास और उदाहरणलंकारः—

जिस प्रकार कार्यकारणभावपूर्वक अर्थान्तरन्यास पर विवाद या उसी प्रकार 'विशेष से सामान्य के समर्थन वाले भेद में भी विवाद है ; रत्नाकरकार ने इस भेद को भी अर्थान्तरन्यास से हटा दिया है । उन्होंने अर्थान्तरन्यास का लक्षण केवल इतना ही किया है—

‘विशेषत्यान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः’ ।

—विशेष का अन्य [सामान्य] से समर्थन अर्थान्तरन्यास होता है । विमर्शिनीकार ने इसका खण्डन करते हुए विशेष के द्वारा भी सामान्य का समर्थन सूत्र में संनिविष्ट करने की बात कही है । रत्नाकरकार ने सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन में उदाहरणालंकार माना है । उनका तर्क यह है कि इस भेद को भी अर्थान्तरन्यास का भेद मानने पर अर्थान्तरन्यास के लक्षण में एकलपता नहीं आती । कारण यह दिया है कि सामान्य के द्वारा विशेष के समर्थन में व्याप्यव्यापकभाव का अनुभव होता है । विशेष व्याप्य रहता है और सामान्य व्यापक । यदि विशेष से सामान्य का समर्थन माना जाय तो यह व्याप्यव्यापकभाव अनुभव में नहीं आता । इस प्रकार सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन में व्याप्यव्यापकभाव दर्शित रहेगा और विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में हेतुहेतुमज्ञावमात्र । कोई सामान्य सम्बन्ध नहीं बन पाएगा । विमर्शिनीकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि विशेष से सामान्य का समर्थन दो स्थितियों में होता है एक तो तब जब समर्थनीय सामान्य वाक्यार्थ समर्थकरूप से प्रस्तुत विशेष वाक्यार्थ के समर्थन के बिना प्रतिष्ठित नहीं हो पाता अतः उसको अपेक्षा रखता है, इस प्रकार जहाँ समर्थनीय अर्थ की सिद्धि समर्थन पर निर्भर रहती है । दूसरी स्थिति यह होती है जिसमें समर्थनीय अर्थ समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता, स्वतः ही सिद्ध हो जाता है । इनमें से समर्थनसापेक्ष सामान्य अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत आता है और समर्थननिरपेक्ष सामान्य उदाहरणालंकार के अन्तर्गत । ऐसा अन्तर कर विमर्शिनीकार ने ‘लोकोत्तरं चरितम्’ पद्य को अर्थान्तरन्यास ॥ उदाहरण माना था, किन्तु ‘अनन्त रत्न०’ पद्य को उदाहरणालङ्कार का ही उदाहरण स्वीकार किया था । रत्नाकरकार द्वारा उठाई आपत्ति का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया । बल्लुतः अर्थान्तरन्यास में प्राणभूत तत्त्व सामान्य विशेष का परस्पर समर्थ्यसमर्थकभाव है, व्याप्यव्यापकभाव नहीं । जहाँ तक समर्थ्यसमर्थकभाव का सम्बन्ध है यह विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में भी रहता है । इसके अतिरिक्त व्याप्यव्यापकभाव भी नहीं रहता ऐसी बात नहीं । सामान्य से विशेष के समर्थन में वह व्याप्यविमुखी है और विशेष से सामान्य के समर्थन में व्यापकविमुखी इतना ही अन्तर रहता है । इन्हीं देखकर उसके पदचिह्न का भी अनुमान किया जा सकता है और पदचिह्न देखकर हाथी का भी । व्याप्यव्यापकभाव दोनों ही ओर बन जाता है । पण्डितराज अगन्नाथ ने विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत समर्थनसापेक्षता और समर्थननिरपेक्षता के तर्कों द्वारा अर्थान्तरन्यास और उदाहरणलंकार का भेद न मान अन्य प्रकार से माना है । विमर्शिनीकार का इस विषय में बल्लेखपूर्वक खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—‘मन्मत द्वारा दिष्ट पद्य ‘निजदोषवृत्त०’ पद्य में समर्थनीय वाक्यार्थ की सिद्धि समर्थन पर निर्भर नहीं है । वह स्वतः निष्पन्न हो आती है । ‘दोष से भ्रम होता है इस तथ्य में गंवार भी संदेह नहीं करता ।’ [३० रसगंगाधर-निर्णयसागर संस्करण-६ पृ० ६३९] उक्त अलंकारों के भेद के विषय में उन्होंने जो तर्क दिए हैं वे ये हैं—

‘सामान्यार्थसमर्थक विशेष अर्थ दो प्रकार का होता है । एक वह जिसमें अपना स्वतन्त्र विधेय नहीं रहता और दूसरा वह जिसमें रहता है । इनमें से प्रथम में उदाहरणालंकार होता है और द्वितीय में अर्थान्तरन्यास । उदाहरण—

‘उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सञ्जनो नितराम् ।

मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽय रसः ॥’

—सत्पुरुष अत्यन्त विषद्व्यस्त हो जाने पर भी एकमात्र उपकार ही करता है, इसमें इष्टान्त है मूर्च्छित हुआ अवयव मरा हुआ पारा ।

अर्थान्तरन्यास—

‘उपकारमेव कुरुते विषद्व्यस्त मञ्जनां नितराम् ।

मूर्च्छां गनो मृतो वा रोगानपहरति पारदः सकलान् ॥’

—सत्पुरुष अत्यन्त विषद्व्यस्त हो जाने पर भी उपकार ही करता है । मूर्च्छित या मृत हुआ पारा ममो रोगों को दूर करता है ।

स्पष्ट ही प्रथम पदार्थ में विधेयभूत क्रिया एक ही है ‘उपकार करना’ जब कि द्वितीय पदार्थ में उत्तरार्थ की क्रिया स्वतन्त्र है ‘दूर करना’ । इनमें से प्रथम पदार्थ में जो दो वाक्यार्थ कहे हैं उनमें से प्रथम अर्थ अवयवी है और दूसरा उर्मी का अवयव । इस प्रकार वहाँ अवयवावयविभाव का निरूपण है । उदाहरणालंकार का प्राग अवयवावयविभाव का निरूपण ही होता है । पण्डितराज ने इसका लक्षण इसी प्रकार का बनाया है—

—‘सामान्येन निरूपितस्वार्थस्य सुखप्रतिपक्ष्ये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमान उदाहरणम् ।’

—सामान्यरूप से निरूपित वाक्यार्थ की प्रतीति सुखपूर्वक हो सके अतर्प्य उर्मी वाक्यार्थ के किन्ती एक अंश का निरूपण कर उन दोनों का अवयवावयविभाव शब्द से कहना उदाहरण नामक अलंकार कहलाता है ।

अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष भी परस्पर में अवयवावयविभाव से युक्त रहते हैं । इनमें सामान्य अवयवी होता है और विशेष अवयव । किन्तु इनका यह अवयवावयविभाव शब्द ने कहा नहीं जाना । उदाहरणालंकार में इस भाव के वाचक शब्द होने हैं ‘हव, यथा, निर्दशन, इष्टान्त’ आदि । उपर्युक्त पद्य में निर्दर्शन शब्द प्रयुक्त है । अर्थान्तरन्यास वाले पद्य में ऐसे किन्ती भी शब्द का स्पष्ट ही अभाव है । इस प्रकार उदाहरणालंकार में चमत्कार का कारण अवयवावयविभाव रहता है । इसी भाव को लेकर यह उपमा में मिला रहता है । उपमा में उपमान तथा उपमेय के बीच अवयवावयविभाव की विवक्षा नहीं रहती । इस प्रकार उदाहरणालंकार पण्डितराज के अनुसार नियमत’ शब्द या वाच्य ही होता है । रत्नाकरकाट ने इसे आर्ष भी माना है । पण्डितराज ने इसका उत्तर उदाहरणालंकार के प्रकरण में देते हुए लिखा है कि अवयवावयविभाव आर्ष होगा इसका अर्थ इतना ही है कि उसके वाचक शब्द का प्रयोग न होकर उनके प्रतिपादक शब्द का प्रयोग होगा । अर्थ यह कि वहाँ आर्ष होगा वहाँ भी उसका शब्दतः प्रतिपादन रहेगा ही-माशाल कथनमात्र नहीं रहेगा । इस प्रकार यह आर्षों उरमा के समान ही आर्ष कहा जा सकेगा । अर्थान्तरन्यासालंकार के प्रसंग में भी रत्नाकर के इस पक्ष को पण्डितराज ने उठाया है । बड़ा उन्धोंने इसका खण्डन तो नहीं किया किन्तु इसके उत्तर में समर्थसमर्थक वाक्यों में विधेयगत उपर्युक्त एकता का एक स्वतन्त्र तर्क प्रस्तुत कर अर्थान्तरन्यास से उदाहरण का भेद स्पष्ट कर दिया । इस तर्क में अवयवावयविभाव की सिद्धि ही प्रमुख है । उसका तात्पर्य यह निकालना चाहिए कि जहाँ चमत्कार का कारण अवयवावयविभाव या उसके द्वारा किया गया समर्थन ही वहाँ उदाहरणालंकार होता है । अर्थान्तरन्यास में चमत्कार का कारण सामान्यविशेषभाव या तद्गत समर्थन रहता है इसलिए इसने उदाहरणालंकार मिला उद्धरता है ।

इस प्रकार अवयवावयविभाव का वाच्य या वाच्येतर रूप में प्रतिपादन तथा उसका ही चमत्कारजनक होना उदाहरणालंकार का प्रधान भेदक तत्त्व उद्धरता है ।

पण्डितराज ने यह भी कहा है कि मम्मट आदि प्राचीन अलंकारिक उदाहरणालंकार को उपमा से अमिश्र मानते हैं। उनके अनुसार जब उदाहरण नाम का कोई स्वतन्त्र अलंकार होता ही नहीं है तब 'विशेष से सामान्य के समर्थन' से निष्पन्न भेद को अर्थान्तर के अतिरिक्त अन्य किस में अन्तर्भूत किया जा सकेगा अलंकारसर्वस्वकार ने भी उदाहरण को स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है। अतः उन्होंने 'अनन्तरत्न०' पद्य को अर्थान्तरन्यास का ही अंग माना है।

इस प्रकार जैसे सर्वस्वकार का यह मत अमान्य ठहरता है कि अर्थान्तरन्यास में कार्य-कारणभावात्मक भेद भी होते हैं उसी प्रकार अलंकाररत्नाकरकार का यह मत भी अमान्य ही ठहरता है कि विशेष से सामान्य का समर्थन' अर्थान्तरन्यास न होकर उदाहरणालंकार होता है। फलतः अर्थान्तरन्यास को केवल एक या चार भेद मान्य न होकर केवल दो भेद ही मान्य ठहरते हैं। और इस प्रकार अर्थान्तरन्यास पर उद्भट का सिद्धान्त ही मान्य सिद्धान्त ठहरता है।

कार्यकारणभावमूलक भेदों की गणना में हिवकिवाहट तो सर्वस्वकार को भी भी क्योंकि इन्होंने भेदों की गणना दो-दो करके की है। एक साथ चार करके नहीं।

विकस्वरालंकार—

अपदेव ने चन्द्रांशुक में समर्थसमर्थकभाव को लेकर एक नवीन कल्पना की है। उन्होंने एक ऐसा समर्थक श्लोक निकला है जिसमें तीन अंश रहते हैं—आरम्भ में (१) विशेषांश, मध्य में (२) सामान्यांश, अन्त में पुनः (३) विशेषांश। इसका निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है—

'यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः।

'स न जित्ये महान्तो दि दुर्धर्षाः सागरा इव ॥'

—जिसमें पहले विशेष फिर सामान्य तथा तत्पश्चात् पुनः विशेष का उल्लेख हो वह विकस्वर नामक अलंकार माना जाना चाहिए। उदाहरण—'उत्ते [उस राजा को] पीता नहीं जा सका क्योंकि जो महान् होते हैं वे बड़े दुर्धर्ष होते हैं। जैसे सागर।'

यहाँ व्यक्तिविशेष के अपराभव का महान् व्यक्तियों की दुर्धर्षता से समर्थन किया गया पुनः उत्तकी पुष्टि के लिए सागररूपी विशेष पदार्थ की उपमा प्रस्तुत कर दी गई। इस प्रकार यहाँ विशेष का सामान्य से और सामान्य का पुनः विशेष से समर्थन किया गया। ठीक यही स्थिति 'अनन्तरत्नप्रभव'० पद्य में है। अप्ययदीक्षित ने स्पष्ट उदाहरण के रूप में इसी पद्य को प्रस्तुत किया है। इस पद्य में हिमाचल के सीमाखण्ड के अभाव का समर्थन गुणसन्निधान में एक दीप के छिप जाने की उक्ति के द्वारा और इस समर्थक वाक्यार्थ का समर्थन चन्द्रकिरणों में छिपे कलंक के द्वारा किया गया है। पण्डितराज अनन्ताप और उन्हीं के अनुयायी त्रिवेधर पण्डित ने यहाँ अप्ययदीक्षित का खण्डन करते हुए लिखा है कि यहाँ उदाहरणालंकार और अर्थान्तरन्यास अथवा अर्थान्तरन्यास के ही भेदों की संसृष्टि मान लेना अधिक उपयुक्त है।

पाठान्तरः—

'सहसा विद्वीत०' पद्य के तुरन्त बाद की जो पंक्ति है उसका निर्णयसागरीय रूप ही हमने स्वीकार्य माना है। त्रिवेन्द्रमसंस्करण में उसमें 'च' नहीं है। डॉ० राघवन् तथा डॉ दिवेदी ने अपने संस्करणों में त्रिवेन्द्रम् वाला पाठ ही अपनाया है। 'तोचे बिना काम न करना' तथा 'तोच-संमश कर काम करना' दो भिन्न वृत्त हैं, अधिक नहीं। एक अभाववात्मक है और दूसरा

भावात्मक । यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति 'बिना विचारे काम नहीं करता वह विचार कर काम करे ही । ममव है कोई ऐसा व्यक्ति हो जो चाहता तो हो बिना विचारे काम न करना, किन्तु सोचविचार न कर पाता हो अतः निष्क्रिय बैठ रहता हो । इस प्रकार 'सहसा विधानामाव' तथा 'विमृश्यकारित्व' को अभिन्न मानकर मूल पंक्ति से समुच्चयक 'च' को हटाना ठीक नहीं है । मूल की परवर्ती पंक्ति की स्थिति से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है । उभयों 'सहसाविधानामावविरुद्धाविवेककार्यम्' पद से अर्थ निकलता है कि अविवेक सहसा कार्य करने का विरोधी तत्त्व है । अविवेक विरोधी है तो विवेक को अविरोधी या अनुकूल ही कहा जा सकता है । यदि विवेक सहसाविधानामाव से अभिन्न होता तो अविवेक को उससे भिन्न कहा जाना विरुद्ध नहीं । निर्णयसागर संस्करण में इन पंक्तियों में कोई पाठान्तर भी नहीं है । दशमं का सिद्धांत भी यह नहीं है कि अभावभाव नियमन, भावस्वरूप हो ही । इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने 'श. कौमारहर'०' पद्य में विभावना और विदोषोक्ति को अस्पष्ट माना है क्यों कि उनमें अपेक्षित कारणामाव तथा कार्यामाव अभावामावमुत्पेन कथित हैं स्वरूप से नहीं । उल्लेख का कारण उद्दीपक मन नस्व होता है । उसका अभाव यहाँ नवत्वाभावरूप से न कहा जाकर तरपद द्वारा परामृष्ट प्राचीनत्व रूप से कहा गया है । इसी प्रकार प्राचीनत्व का कार्य उद्दीपक का अभाव यहाँ उल्लेखरूप से कहा गया है जो अनुकूलभाव या उल्लेखभावामाव के गर्भ से निष्पन्न होने वाला अर्थ है । अभावामाव यदि सर्वात्मना भावरूप होता तो अस्पष्टता का यह द्वेष यहाँ न जाता । फलतः सहसाविधानामाव और विमृश्यकारित्व को भिन्न मानना और तदनुसार पंक्ति में परिवर्तन न करना ही ठीक है । संजीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने अर्थान्तरन्यास का उदाहरण करिका में इस प्रकार किया है—

'समर्थत्वेन निर्दिष्ट' प्रकृतौ यत् समर्थ्यते ।

सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरुच्यते ॥'

—समर्थनोप रूप से निर्दिष्ट प्रकृत अर्थ का जो समर्थन वह अर्थान्तरन्यास सामान्यादि प्रकारों से भाठ प्रकार का होता है ।

धिमर्शिनी

पुनरुपसंहरणम्यद्वयव्यति—धनमित्यादिना ।

इस [अर्थान्तरन्यास प्रकरण] का उपसंहार करते और अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

पथमप्रस्तुतप्रशंसानुपह्लायातमर्थान्तरन्यासमुक्त्वा गम्यमानप्रस्ताघागसं पर्यायोक्तमुच्यते—

[सू० ३७] गम्यस्यापि मद्गयन्तरेणामिधानं पर्यायोक्तम् ।

यदेव गम्यते तस्यैवामिधाने पर्यायोक्तम् । गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणामिधानस्य माघात् । नहि तस्यैव तदैव तयैव चिच्छ्रित्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवति, अतः कार्यादिद्वारेणाभिधानम्, कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन घर्णनाहर्त्वात् । अत एवाप्रस्तुत-

प्रशंसातो भेदः । पतञ्च वितत्याप्रस्तुतप्रशंसाप्रस्तावे निर्णीतमिति तत पद्या-
चधार्थम् । उदाहरणम्—

‘स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ।’

अत्र ह्यग्रीवस्य कार्यमुखेन स्वर्गविजयो वर्णितः । प्रभावातिशय-
प्रतिपादनं च कारणादिव कार्यादपीति कार्यमपि वर्णनीयमेवेति पर्यायो-
क्तस्यार्थं विग्रयः ।

इस प्रकार [समासोक्ति लक्षण से प्राप्त अर्थान्तर और उसी गम्यता, इन दो तर्कों में से प्रथम
अर्थान्तर का निरूपण] अप्रस्तुतप्रशंसा [मैं किया और उसी] से लगे-रुगे अर्थान्तरग्याप्त का
[भी] निरूपण किया, अब गम्यता के प्रसंग से प्राप्त पर्यायोक्त का निरूपण करते हैं —

[सूत्र ३७] गम्य [अर्थ] का भी प्रकारान्तर से अभिधान पर्यायोक्त [नामक
अलंकार कहलाता है] ॥

[वृत्ति] जिसकी प्रतीति व्यंजना से हो रही हो उसी को यदि अभिधा से भी कहा जा रहा
हो तो [अलंकार] पर्यायोक्त [कहलाता है] । जो अर्थ व्यंजना से प्रतीत हो रहा होगा उसका
अभिधान [अभिधा से कथन] संभव ही कैसे ? [जिस रूप से व्यंग्य होगा वस्तु] से भिन्न रूप से
अभिधान होने से । ऐसा नहीं कि वही [अर्थ] उसी समय उसी रूप में व्यंग्य और वाच्य दोनों
हो, अतः अभिधान [जो होता है वह] कार्य आदि के द्वारा होता है क्योंकि कार्य आदि भी
प्रस्तुत ही होते हैं अतः वर्णनयोग्य होते हैं । इसीलिये [इस अलंकार का] अप्रस्तुतप्रशंसा से
भेद है । यह [भेद] विस्तारपूर्वक अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण में तय कर दिया है अतः इसे वहाँ से
जान लेना चाहिये ।

उदाहरण—

‘शची के केशसंभोग से लालित वे पारिजातमञ्जरियो नन्दनवन में जिसके सैनिकों ने
अवज्ञापूर्वक छुई ।’

यहाँ कार्य के द्वारा ह्यग्रीव का स्वर्गभव बतलाया गया । प्रभावातिशय का प्रतिपादन कारण
के समान कार्य से भी संभव होता है अतः कार्य भी वर्णित किया जा सकता है, अतः यह स्थल
पर्यायोक्त का विषय है ।

विमर्शनी

तद्देवाह-गम्यस्यापीत्यादि । ननु कथमेकस्यैवैकस्मिन् काले गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवती-
त्याह-तिम्यस्यैवेत्यादि । प्रकारान्तरेणे कार्यादिद्वारेण । अत इति । एकस्यैवैकस्मिन् काले गम्य-
त्ववाच्यत्वासंभवात् । कार्यादिद्वारेणिति, आदिशब्दः प्रकारे । अभिधीयमानं हि कार्यं तद्वि-
नाभाविस्वात् स्वसिद्धये कारणभाषिपतीति गम्यमपि तद् वाच्यत्वमानसिति यदेव गम्यते
तस्यैव भङ्गान्तरेणाभिधानम् । अतश्च

‘स्वभ्यस्तदुर्नयजयस्तनयस्तदीयः यामातरश्च जयवाहननामधेयः ।

दुर्वारवैरिवरवीरत्रिलासिनीनां स्वप्नावशेषमकरोत्प्रियदर्शनं यः ॥

इत्यादावलंकारप्रकारात्वं न वाच्यम्, बहुधाजयत् इति हि क्रियमाने ‘गतोऽस्तमकों
भातीन्दुः’ इत्यादिवदेतदकाव्यमेव श्यात् । न च दोषाभावसात्रमलंकारत्वमिति बहुशः
प्रागुक्तम् । यत् स्वप्नावशेषप्रियदर्शनात्मककार्यरूपेणार्थेन स्वसिद्धयर्थं कारणरूपस्तद्वच

आचिप्यते तदितरप्रकारान्तरं पृथग्भवतु न युक्तमिति निर्वाजैव पर्यायोक्तान्तरयाद्योयुक्तिः ।
अन एवेति । द्वयोरपि कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वात् । कार्यमुद्येनेति । पारिभाषितमञ्जरीस्पर्श-
द्वारेणेशयर्थः । स्वर्गविजय इति कारणरूपः । वर्णनीयमिति, प्रस्तुतमेवेत्यर्थः ।

उमी को कहते हैं 'गम्यस्यापि'— इत्यादि के द्वारा । 'एक ही वस्तु एक ही समय में गम्य और वाच्य दोनों कैसे हो सकती है'—इस शका पर समाधान देते हुए कहते हैं गम्यस्यैव : 'प्रकारान्-
न्तरेण = दूसरे प्रकार, दूसरे रूप से' = कार्य आदि रूप से । 'अतः = इसलिये' अर्थात् एक ही का एक ही समय में गम्य और वाच्य दोनों होना समभव नहीं होना इसलिये । कार्यादि द्वारेण = इसमें आया आदि शब्द प्रकारवाचक है, अर्थात् कार्य आदि के रूप से । कार्य को अभिधा से कहा जाना है तो वह अपनी सिद्धि के लिये कारण का आश्रय कर लेगा है क्योंकि यह कारण से अलग नहीं रहता । इस प्रकार कारण गम्य होने पर भी [वाच्यसिद्धि का कारण होने से] वाच्य जैसा ही हो जाता है । इस प्रकार ओ अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत होता है, दूसरे रूप में अभिधा द्वारा कथन भी उसी का होता रहता है । और इसी कारण [अल्काररत्नाकरकार ने जो—'सापेक्षत्वा-
दुपादानेनान्यप्रतीति, भङ्गन्तरेण चाभिधान पर्यायोक्तम्'—'सापेक्ष हीने के कारण उपादान लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ को प्रतीति व्यञ्जना दूसरे रूप से अभिधान पर्यायोक्त होता है'—इस प्रकार पर्यायोक्त के दो अलग-अलग भेद माने और—]

'अयवाहन नाम का उसका दुर्नीति को जीतने में दूध अम्यस्त पुत्र पृथ्वी की रक्षा करने लगा, जिसने दुर्जय शत्रुओं की सुन्दर बनिताओं के लिये उनके प्रिय का दर्शन केवल स्वप्न तक सीमित कर दिया ।'

—इस पदार्थ को द्वितीय पर्यायोक्त का उदाहरण माना है, यह नहीं मानना चाहिए । यदि यहाँ केवल इतना ही कहा जाय कि 'अयवाहन ने बहुत सी विजयों को प्राप्त किया' तो यह कथन 'सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्र चमक रहा है'—इत्यादि कथनों के समान अकार्य ही सिद्ध होगा और हम पीछे यह कई बार कह चुके हैं कि दोषामावभाय अल्कार नहीं होता, और क्योंकि यहाँ भी 'प्रियदर्शन का स्वप्नावशेष होना' यह जो कार्यरूप अर्थ है यह अपनी सिद्धि के लिये अपने कारण शत्रुत्व का आश्रय करना है [अतः यहाँ भी कारणरूप अर्थ वाच्य सिद्धि का कारण है] फलतः इसे पर्यायोक्त का [पेशा एक] दूसरा प्रकार मानना ठीक नहीं है [जिसमें वाच्यार्थ की सिद्धि व्यञ्ज्यार्थ का अशंका नहीं रखनी] । अतएव = कार्य और कारण दोनों के ही प्रस्तुत होने से । कार्यमुद्येन = कार्य के द्वारा अर्थात् पारिभाषितमञ्जरी के स्पर्श के द्वारा । स्वर्ग-
जय अर्थात् कारणरूप स्वर्गजय । वर्णनीय = अर्थात् प्रस्तुत ।

त्रिमूर्ति—पर्यायोक्त का पूर्वतिहास—

भाष्यः—

'पर्यायोक्तं यदन्वेन प्रकारेणामिरीयते ।
उवाच रत्नाहरणे चैव शार्ङ्गभनुयथा ॥
गृहेष्वध्वसु वा नात्र मुग्धे यदधीतिन ।
न मुञ्चते द्विवास्तद्य रसदानविवृत्तये' ॥ ३।८९ ॥

—पर्यायोक्त वह त्रिमूर्ति अन्य प्रकार से अभिधान होता है । जैसे रत्नाहरण नामक [अनुप-
लम्भ] वाच्य में श्रीकृष्ण ने शिशुपाल से कहा—

'इमं रास्ते में भोजन नही करने और घरों में भा बड़ भोजन नहीं करते जिने वेदपाठी मन्त्रों ने न किया हो'—

यह जो कहा है यह केवल विषयान का परिहार करने के लिए ।
यहां मन की बात न कहकर बातें बनाने का नाम ही पर्यायोक्त है ।
चामन में पर्यायोक्त का निरूपण नहीं मिलता ।

उद्धृत—उद्धृत ने पर्यायोक्त का निरूपण मामूह से ले लिया है किन्तु उसमें 'अन्य प्रकार' का अर्थ भी जोड़ दिया है—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणामिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावनमात्मना ॥

'वाच्यवृत्ति = लक्षणा तथा वाचकवृत्ति अमिया से मिला व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त कहलाता है ।'

अभिनवगुप्त ने लौचन में इसे उद्धृत किया है और इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'पर्यायेण प्रकारान्तरेण अथगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद् यद् अमिधीयते तदमिधीयमान-
मुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमित्यभिधीयते ।'

—पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर, प्रकृत में उसका अर्थ होगा व्यञ्जना, अतः पर्यायोक्त का अर्थ होगा व्यङ्ग्यत्व से युक्त होकर कथित । [ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति]

आनन्दवर्धनाचार्य के लेख से ऐसा विदित होता है कि वे उद्धृत का मत ही स्वीकार करते हैं । एक नहरनपूर्ण तथ्य यहाँ यह है कि उद्धृत की इस कारिका में व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व आनन्दवर्धन के पूर्व ही आचार्यों के अनुभव में आ चुका था ।

अभिनवगुप्त ने इस कारिका को उद्धृत कर उदाहरण के रूप में विम्बलिखित पद्य प्रस्तुत किया था—

'शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुपभगामिनः ।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना' ॥—

—अर्थात् शत्रुच्छेद की दृढ़ इच्छा वाले अतथ्य विपरीत पक्ष में लगे मुनि परशुराम को [भीष्म के] इस धनुष ने धर्मशिक्षा दे दी है । यहाँ कहना तो है परशुराम के प्रभाव को दया देने वाले भीष्म के प्रभाव को, किन्तु कहा गया है धनुष द्वारा धर्मोपदेश की बात को ।

सुद्धृत—सुद्धृत ने पर्यायोक्त तथा पर्यावालंकार को 'पर्याय' नामक एक ही शीर्षक में प्रति-
पादित किया है उनका लक्षण इस प्रकार है—

'वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य ।
यद्रजनकमन्यं वा तत्कथनं यद् स पर्यायः ॥ ७।४२ ॥

—ऐसी वस्तु जो विवक्षित वस्तु का प्रतिपादन करने में समर्थ तो हो किन्तु न उसके समान हो, न उसकी कारण हो और न कार्य, तो उसका जो कथन वह होता है पर्याय नामक अलङ्कार ।'
उदाहरण—

'राजन् ! जहासि निद्रां रिपुवन्दीनिवद्धनिगढशब्देन ।
तेनैव यदन्तरितः स कलकलो वन्दिवृन्दस्य ॥

—राजन् ! आपकी नींद बन्दी बनाए शत्रुओं की वेदियों के तुमुख शब्द से खुलती है । नींद खुलाने के लिए बैतालियों का जो कलकल होता था वह उसी में छिप गया है ।

नमिसाधु का कहना है कि—'यद् वक्ति राजा की चापलसी में कही गई है । इसमें वन्दियों की वेदियों के शब्द से नींद खुलना ही तात्पर्य नहीं है, अपितु यह भी तात्पर्य है कि

आपने शत्रुओं को जीत लिया है और इनकी क्रियों को बन्दी बना लिया है। इस प्रकार सभी शत्रुओं को जीत लेना भी यहाँ प्रकारान्तर से व्यक्त होना है।'

रुद्र ने जो व्यंग्यार्थ में सादृश्य का व्यवच्छेद करने के ही भाव कार्यकारणभाव का भी व्यवच्छेद किया वह दिए उदाहरण की वस्तुस्थिति के विपरीत है। हम उदाहरण में शत्रुत्व का कारण है उनके या उनकी क्रियों के बन्दी बनाए जाने का। अतः यहाँ कार्यकारणभाव का अभाव नहीं है।

मम्मट—मम्मट ने पर्यायोक का जो लक्षण बनाया है वह अपने आप में पर्यायोक का उदाहरण बन गया है। वे जो कहना चाहते हैं वह अर्थ उनकी कारिका से बड़ी कठिनाई से निकलना है—

‘पर्यायोक विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वच ।

इयका अर्थ मम्मट ने ही वृत्ति में ठोस बहो किया है—जो उद्धृत ने अपनी कारिका द्वारा स्पष्ट किया था। वह है—

‘वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनस्यापारेण यद् प्रतिपादन तद् पर्यायेण मङ्गलन्तरेण कथनान् पर्यायोकम् ।

अर्थात् वाच्यवाचकभाव से भिन्न व्यवह्यव्यञ्जकभाव के द्वारा जो प्रतिपादन वही पर्याय अर्थात् भिन्न प्रकार से कथन होने के कारण पर्यायोक ।’

यहाँ इतना अवश्य है कि उद्धृत ने जो ‘वृत्तिभ्याम्’ कहा था और दिववन का प्रयोग किया था उसकी सार्थकता सिद्ध करने के अनावश्यक प्रयास से मम्मट ने पाठक को बचा लिया है। इन अलंकारपर मम्मट का उदाहरण ध्वन्यालोककार के ‘चक्रामिदान०’ पद्य के समान ही सटीक उतरा है—

‘यं प्रेक्ष्य विरब्धापि निवामप्रीतिरुत्थिता ।

मदेनैरावग्मुखे मानेन हृदये हरेः ॥’

—जिस [इयमीव] को देखकर मद् ने ऐरावत के मुख में और मान ने इन्द्र के हृदय में चिररूढ निवासप्रीति को छोट दिया ।’

इस पर मम्मट ने लिखा है—

‘अत्र ऐरावतशकौ मरमानमुक्तौ जातविति व्यवह्यमपि शब्देनोच्यते । तेन यदेवोच्यते तदेव व्यवह्यम्, यमातु व्यवह्यं न तयोच्यते ।

—यहाँ व्यवह्य निरुक्तता है कि ‘ऐरावत और इन्द्र मद् तथा मान से रहित हो गए’ किन्तु इसे शब्द से भी कहा जा रहा है। इस प्रकार वह तब हुआ कि जो बात अभिधा से कही जा रही है वही बात व्यवह्य भी हो रही है, किन्तु जिस प्रकार से व्यंग्य हो रहा है शब्दतः कथन इस प्रकार से नहीं हो रहा ।’

मम्मट के अनुसार प्रकार का अर्थ विशेष्यविशेषणभाव भी है। उक्त पद्य में विशेष्यविशेषण का क्रम वाच्यरूप में इस प्रकार का है—‘मदमानकर्तृकैरावगमुत्प्रेन्द्रहृदयाधिकरणचिररूढनिवास-प्रीतिकर्मक यत्नदवाच्यइयमीवप्रेक्षणप्रयोज्यमुञ्जन्म’ अर्थात् उक्त वाच्य में छोटना किया में मद् और मान का अन्वय कर्ता के रूप में हो रहा है, ऐरावत के मुख तथा इन्द्र के हृदय का अधिकरण के रूप में तथा चिररूढ निवासप्रीति का अन्वय कर्मरूप में।’ व्यंग्यार्थ यदि ‘ऐरावत तथा इन्द्र तथा इन्द्र मद् तथा मान से मुक्त हो गए’ यह हो तो इसका विशेष्य विशेषण भाव होगा—‘ऐरावतशकौ मरमानकर्मकमुत्थाशयी’ अर्थात् इसमें छोटना किया में ऐरावत तथा इन्द्र का अन्वय कर्ता के रूप में तथा मद् तथा मान का अन्वय कर्म के रूप में

हो रहा है। व्यंग्य का शीर्ष अन्य रूप हो सकता है। वह निश्चित नहीं इस प्रकार विशेष्यविशेषणभाव दोनों ही अर्थों में मिला है किन्तु वक्तव्यार्थ एक ही है। मम्मट ने इसे समझाने के लिए सविकल्पकज्ञान तथा निर्विकल्पकज्ञान का उदाहरण दिया है। निर्विकल्पक ज्ञान में व्यक्ति तथा जाति, अलग-अलग भासित होते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान यदि घट का हो रहा है तो उसमें ज्ञान तो घट और घटत्व दोनों का होगा किन्तु यह ज्ञान न होगा कि घटत्व घट में रह रहा है। सविकल्पक ज्ञान में घटत्व घट में रहता हुआ विदित होता है। इस प्रकार ज्ञान दोनों ज्ञानों में अभिन्न या एक ही विषय का होता है किन्तु एक में विषय अलग-अलग भासित होते हैं, अन्य में संसृष्ट, सम्बद्ध और अन्वित रूप में। वह केवल विशेष्यविशेष्यभाव मात्र का भेद हुआ। इस प्रकार मम्मट के अनुसार पर्याय का अर्थ प्रकार हुआ और प्रकार का अर्थ हुआ विशेष्य-विशेष्यभाव, नामहाभिमत 'वक्ति का दंग' नहीं। इसी प्रकार मम्मट के अनुसार पर्यायोक्त में वाच्य को समान व्यंग्य भी दोनों ही होते हैं, धर्म भी और धर्मी भी।

अप्ययद्दीक्षित—जयदेव ने सर्वस्वकार के ही आधार पर पर्यायोक्त का लक्षण यह किया था—'कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते'—प्रस्तुत कार्यादि वक्ति से वक्तव्य अर्थ का कथन पर्यायोक्ति कहलाता है। अप्ययद्दीक्षित ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मम्मट के लक्षण को आधार माना है। उन्होंने मम्मट के उक्त मत को जैसा का तैसा मान लिया है। उन्होंने चन्द्रालोक के लक्षण के स्थान पर—

'पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो मङ्गयन्तराश्रयम् ।

नमस्तस्मै कृतौ येन सुभा राहुवधूकुचौ ॥'

—इस प्रकार से गम्यार्थ का अभिधान पर्यायोक्त। यथा उसको नमस्कार है जिसने राहुवधुओं के कुचों को व्यर्थ दिया।—यह लक्षण बना कर लिखा कि यहाँ भगवान् विष्णु अपने असाधारण रूप से गम्य हैं (व्यंग्य नहीं) और वे ही राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारित्व रूप से वाच्य भी हैं।

पण्डितराज ने मम्मट की इस मान्यता का खण्डन किया है और धर्मों को व्यंग्य न मानकर केवल वाच्य माना है। वाच्यता और व्यंग्यता दोनों को एक साथ केवल धर्म में स्वीकार किया है।

'यो व्यंग्यांशुः स न कदापि रूपान्तरपुस्कारेणामिधीयते, यश्चामिधीयते धर्मी स तु सदानामभिधाश्रयत्वाद् व्यञ्जनव्यापारानाश्रय एवेति व्यङ्ग्यस्य प्रकारान्तरेणामिधानसंगतमेव [पृ० ५४९ रस०] ।

अन्ततः पण्डितराज ने अलंकारसर्वस्वकार के मत को ही सिद्धान्तित करते हुए इन्हीं पंक्तियों के सुरन्त वाद लिखा है—

'तस्मात् कार्यादिमुत्तेनोक्तमिव पर्यायोक्तम् । तेनाक्षिप्तमित्येवार्थः ।' [पृ० ५४९ रस०] ।

—इसलिए पर्यायोक्त का अर्थ होना चाहिए कार्य आदि के द्वारा कक्ष हुआ सा अर्थात् आक्षिप्त।

अलंकारसर्वस्वकार का मत उन्हीं के शब्दों में पण्डितराज ने इस प्रकार उद्धृत किया है—
'अलंकारसर्वस्वकारस्तु—'गम्यास्यापि मङ्गयन्तरेणामिधानं पर्यायोक्तम् । गम्यस्यैव सतः कथनमिधानमिति चेत् कार्यादिद्वारेण' इत्याह । [पृ० ५४८ रस०] ।

इसका तात्पर्य भी उन्होंने यही तब किया है कि 'चक्रामिधात०' पद्य में 'वः=जो' पद के द्वारा विष्णुभगवान् कथित है, अतः व्यंजना के द्वारा उनके भीतर 'राहुशिरश्छेत्तुम्'—रूपी धर्म ही

मासित होता है। इसी राशिगिरदृष्टत्व को वाच्यरूप में कवि ने 'राहुवपूजनसम्बन्धितुम्बनमाशा-
विशिष्टरतोरसवनिर्मातृत्व' रूप से कहा है।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार मम्मट व्यंग्यांश में धर्मो या विदोष्य को भी सन्निविष्ट मानने
हैं और अलङ्कारसर्वस्वकार केवल धर्म को। इन दोनों में से पण्डितराज सर्वस्वकार का मत स्वीकार
करते हैं।

वरतुन अलङ्कारसर्वस्वकार व्यंग्यांश को न तो धर्मो-अंश में वाच्य मानने और धर्म-अंश में।
उनके मत में वाच्य होने हैं कार्य आदि और व्यंग्य होते हैं कारण आदि। इस प्रकार वे मामद
द्वारा प्रतिपादित पर्यायों को मान्यता देते हैं। यद्यपि 'आदि' शब्द से विमर्शनीकारने 'विशेषण'
को भी सर्वस्व के मत में लाने का यत्न किया है तथापि यद् उनको मम्मटमति ही है। कारण कि
सर्वस्वकार ने धर्मा कोर उदाहरण नहीं दिया।

पण्डितराज—पण्डितराज ने स्वयं पर्यायों का लक्षण इस प्रकार बताया है—

[सू०] विवक्षितस्यार्थस्य मह्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्।

[दृ०] येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो मह्यन्तरम्। आक्षेपो वा।

—विवक्षित अर्थ का दूसरी शक्ति से प्रतिपादन पर्यायोंक। मह्यन्तर = दूसरी शक्ति का
अर्थ है किम रूप से अर्थ को विवक्षा हो उसमें भिन्न प्रकार 'या तो आक्षेप।'

यहां अन्तर शब्द ही है कि प्रकारान्तर का अस्तित्व अन्य आचार्यों ने व्याख्या में बगलाया
था। पण्डितराज उसे वाच्यांश में बतला रहे हैं। मन पण्डितराज का ही मान्य है, क्योंकि प्रथम
अर्थ वही अर्थ रहना है, जिसे बाद में कवि दूसरा रूप देकर अभिप्रा में संज्ञोता है।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर पण्डित ने पण्डितराज अंगशब्द के विशद मम्मट के मत का समर्थन
किया है। उनका लक्षण हम प्रकार है—

[कारिका]—'पर्यायोंक्त धर्मिनं वाच्यस्यैवान्यमह्योक्तिः।'

[वृत्ति] वाच्य एवाधो यत्र न्यह्यनयोच्यते तत् पर्यवस्यति।

एवं च व्यङ्ग्यप्रकारसमानाधिकरणपश्चरान्तरेणाभिधान तदिति पर्यवस्यति।

—वाच्यार्थ की ही अन्व प्रकार से उक्ति को पर्यायोंक कहा गया है। अर्थात् पर्यायोंक्त वह
है जहाँ वाच्य अर्थ ही व्यङ्ग्यरूप से कहा जाता है। निरूपण यह कि किसी वस्तु का एक साथ
व्यंग्य और वाच्य दो प्रकारों के साथ कथन।

विश्वेश्वर ने वक्ता की मनस्थिति के विपरीत व्यवस्था दी है। वक्ता कहना भी चाहता है उसे
अपने मूलरूप में न कहकर भिन्न रूप में कहता है, किन्तु हम प्रकार कहता है कि मूलभूत अर्थ
बिना निकले नहीं रहता। इसी उक्तिप्रक्रिया को पर्यायोंक कहा जाता है। इसके अनुसार
व्यंग्यार्थ का वाच्य बनना मान्य है, वाच्य का व्यंग्य बनना नहीं। इस प्रकार मामद, उद्धट, रुद्धट,
मम्मट, सर्वस्वकार, शोभाकर, जयदेव, अप्ययदीक्षित तथा पण्डितराज का ही क्रम वैज्ञानिक
क्रम है।

उपरोक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलना है कि सभी आचार्यों ने पर्यायोंक्त के विषय में
मूलस्थापना तो मामद की ही मान रखी है, अर्थात् मामद ने जो 'अन्य प्रकार से अभिधान'
को पर्यायोंक्त कहा था, परवर्ती प्रत्येक आचार्य ने इस 'अन्य-प्रकार से अभिधान' की बात को
अपना रखा है, किन्तु 'अन्य प्रकार' का स्वरूप निर्धारित करने में आचार्यों में तीन
मत हैं। एक उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति करते हैं, इसके प्रवर्तक हैं उद्धट। दूसरा
उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति के माप ही विशेषण भी करने हैं। इसके प्रवर्तक हैं मम्मट।

और तीसरा उनका जो प्रकार का अर्थ सन्दर्भित तो करते हैं किन्तु उसका अर्थ विशेषण न कर कार्य आदि सम्बन्धित वस्तु अर्थ करते हैं। इसके प्रवर्तक हैं सर्वस्वकार। इस प्रकार यदि प्रथम मत को द्वितीय-तृतीय मत में अन्तर्लान मान लिया जाय अथवा द्वितीय और तृतीय मत को उक्त प्रथम मत का परिवर्धन या विकास मान लिया जाय तो नेबल दो ही मत शेष बचेंगे। एक मम्मट का और दूसरा सर्वस्वकार का। दोनों के अनुसार विवक्षित अर्थ व्यंजना से ही प्रतीति होगा किन्तु वाच्य अर्थ मम्मट के अनुसार व्यंग्य धर्मों का कोश अन्य धर्म या घटक होगा और सर्वस्वकार के अनुसार व्यंग्य धर्मों का धर्म या घटक न होकर इससे संबन्धित कार्य आदि होगा।

अप्ययदोक्षित ने कुवलयानन्द में 'व्याज से शृष्टिसिद्धि' को भी पर्यायोक्तभेद माना है—

पर्यायोक्तं तद्रूप्याहुयंदग्याजेनेष्टसाधनम् ।

यामि नूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्पतामिह ॥

—इसे भी पर्यायोक्त ही कहा गया है जिसमें व्याज द्वारा शृष्ट साधन कथित हो। यथा— मैं आज की दृष्टिनियां देखने जा रही हूँ आप दोनों यहीं रहें। यहाँ दूती नायक-नायिका को मिलाकर दृष्ट रही है, वस्तुतः यह मामूह के उदाहरण जैसा ही उदाहरण है। इसमें अलंकारत्व की मनोती मनःपूत नहीं है।

लक्षणा = पर्यायोक्त में द्वितीय अर्थ की प्रतीति उद्भूत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, पण्डितराज और विश्वेश्वर स्पष्टरूप से व्यंजना द्वारा मानते हैं। सर्वस्वकार ने व्यंजना शब्द का तो किसी भी रूप में प्रयोग नहीं किया है किन्तु वे व्यंजना का खण्डन नहीं करते अतः उन्हें भी पर्यायोक्त में अपरार्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानने वाला माना जा सकता है। रत्नाकरकार जिनका पर्यायोक्तलक्षण पहले दिया जा चुका है [शोभाकर-] को इस पर आपत्ति है। जैसा कि अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण में पहले बतलाया गया है कि रत्नाकरकार ने पर्यायोक्त में वाच्यार्थ को अपरार्थसापेक्ष माना है और अपरार्थनिरपेक्ष भी। इनमें से अपरार्थनिरपेक्ष को उन्होंने ध्वनिरूप माना है, किन्तु अपरार्थसापेक्ष वाच्य वाले भेद में वे अपरार्थ की प्रतीति में व्यंजना न मानकर लक्षणा ही मानते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि यहाँ भी व्यंजना ही मान ली गई तो उपादान-लक्षणा के सभी स्थलों में व्यंजना ही मानी जाने लगेगी। फलतः उपादानलक्षणा का विलोप हो जाएगा। उनका पक्ष है—

'सापेक्षत्वे तु कुन्ताः प्रविशन्तीतिवद अर्थप्रतीतिर्लक्षणया, न तु व्यञ्जनेन, उपादानलक्षणया अस्तमयप्रसङ्गात् । तेनैवमादौ लक्ष्यत्वेनार्थान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात् गुणीभूतम्यङ्ग्यत्वभेदरत्नं न वाच्यम् । [अतः]—

मुख्यार्थसाकालक्ष्यतया प्रतीतिराश्लेषतोऽर्थस्य हि लक्षणैव ।

व्यङ्ग्यरत्नमन्योऽपि न विधतोऽत्र ध्वनित्वशङ्कापि न ते न कार्या ॥'

इस प्रकार रत्नाकरकार अप्रस्तुतप्रशंसा के ही समान पर्यायोक्त में भी अवाच्यार्थ की प्रतीति लक्षण द्वारा मानते हैं। व्यंजना द्वारा नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका स्पष्ट विरोध किया है। उनका कथन है—

'न हि 'चक्रासिघातप्रसभाद्यैव' इति पद्ये नुम्बनमात्ररोपरतोत्सवादि वाधोऽस्ति, येन लक्षणा स्यात् । प्रथमप्रस्तुतप्रशंसायाःप्रथमप्रस्तुतस्य प्रस्तुते न लक्षणा किं तु व्यंजनैवेति सर्वसम्मतम् । अन्यथा पर्यायोक्ते वाच्यस्य प्राधान्यम्, अप्रस्तुतप्रशंसायां तु मन्वस्यैति सिद्धान्तस्य भङ्गः स्यात् । लक्षणार्था हि लक्ष्यस्यैव प्राधान्यं स्यात्, न वाच्यस्य ।' [पृ० ५५५] ।

[पर्यायोक के प्रसिद्ध उदाहरण] 'बकाभिवान' पद्य में चुम्बनमात्रशेवरोत्सवस्त्री अद्य में कोरे वाच नहीं है जिससे यहाँ लक्षणा माना जा सके। इस प्रकार अपस्तुतप्रशसा में भी अपस्तुत का प्रस्तुत में लक्षणा नहीं अपितु व्यञ्जना ही होना है यहाँ मर्मा की मान्य है। ऐसा न होना तो पर्यायोक में वाच्य की और अपस्तुतप्रशसा में गम्य अर्थ की प्रधानता रहती है यह सिद्धान्त कह जायगा। क्योंकि लक्षणा मानने पर प्रधानता लक्ष्य की ही होगी वाच्य की नहीं।

पण्डितराज का यह मत हमें भी मान्य है जैसा कि हम शोभाकर के मत के निरूपण में अपस्तुतप्रशसा प्रकरण में बतला आए हैं।

पाठान्तर—(१) सर्वस्व के पर्यायोकमूत्र में निर्गमसागर प्रति में मङ्ग्यन्तर शब्द के स्थान पर 'पर्यायान्तर' शब्द पाठान्तर के रूप में दिखलाया गया है। डॉ० रामचन्द्र त्रिवेदी ने उसी को मूल मान लिया है और मङ्ग्यन्तर शब्द को पाठान्तर में ढाक दिया है। डॉ० आनकी ने इनके विपरीत मङ्ग्यन्तर को ही मूल माना है। त्रिवेदीय संस्करण में भी मङ्ग्यन्तर को मूल माना गया है। वस्तुतः 'मङ्ग्यन्तर'—पाठ ही मूल पाठ है। विमर्शिनी में इसी पद का प्रयोग मिलता है यद्यपि यह प्रयोग प्रतीकभूत पद के रूप में नहीं किया गया है। सञ्जीविनी में प्रतीकरूप से मङ्ग्यन्तर को ही उद्धृत किया गया है। सूत्र भी उसमें मङ्ग्यन्तर—पदघटित ही बतलाया गया है—'तत्र सूत्रम्—गम्यस्यापि मङ्ग्यन्तरेणाभिवानं पर्यायोकमिति'। इसके अतिरिक्त सर्वस्वकार का पर्यायोक सूत्र मङ्ग्यन्तरेणाभिवानं, पण्डितराज तथा विद्वेश्वर ने भी उद्धृत किया है। उनके उद्धरणों में 'मङ्ग्यन्तर'—पाठ ही मिलता है।

अप्यपदोचित—'अलङ्कारसर्वस्वहनापि पर्यायोकमन्व सप्रशसावापनमिदमेव लक्षणमङ्गीकृतम्—गम्यस्यापि मङ्ग्यन्तरेणाभिवानं पर्यायोकमिति'। [२० कुवलयानन्द पर्यायोक]

पण्डितराज—का उद्धरण पहले दिया जा चुका है।

विद्वेश्वर—'सर्वस्वकारस्तु—गम्यस्यैव मङ्ग्यन्तरेणाभिवानं पर्यायोकम्' इति [कीर्तुमं, पर्यायोक प्रकरण]।

इन दोनों के अपने पर्यायोकमूत्रों में भी मङ्गी और मङ्ग्यन्तर शब्द का उपयोग किया गया है। रत्नाकरकार ने भी अपने पर्यायोकमूत्र में मङ्ग्यन्तर शब्द ही अपनाया है। उद्धृत वचन से स्पष्ट है कि मङ्गल ने भी शृष्टि में मङ्ग्यन्तर शब्द का प्रयोग किया है। पर्यायशब्द को मूल मानने का उद्देश्य पर्यायोकशब्द की श्रुत्यपत्ति हो सकती है। किन्तु पर्यायशब्द का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि अभिनवग्रन्थ को छोड़ कमका उल्लेखपूर्वक स्पष्टीकरण किसी ने नहीं किया। पण्डितराज ने तो ललटे मङ्ग्यन्तर शब्द की ही व्याख्या करना उचित समझा। इस प्रकार पर्याय का ही अर्थ है प्रकारान्तर और मङ्ग्यन्तर। किन्तु मङ्ग्यन्तर शब्द का प्रयोग ही पूर्व और पर के अलङ्कारिकों में सर्वस्व के नाम से प्रसिद्ध है अतः उसे इत्यादि वास्तविक इकार पर्याय शब्द को मूल सूत्र में स्थान देना समझ नहीं हो पा रहा है। यद्यपि सर्वस्वकार ने मङ्ग्यन्तर शब्द की शृष्टि में एक बार भी प्रयोग नहीं किया है।

(२) सूत्र के पद्याय की प्रथम पंक्ति में भी पाठान्तर की समस्या टकराने है। वहाँ निर्गमसागर संस्करण में 'यदेव गम्यत्वं तयैवाभिवाने०' छाया है और इस पर पाठान्तर के रूप में कुछ नहीं दरसाया गया है। डॉ० आनकी ने निर्गमसागर को इस पंक्ति में 'अभिवाने' के स्थान पर 'अभिवान' भर बढ़ा है। पाठान्तर में उन्होंने भी कोई अन्य पाठ नहीं दिखलाया है। विमर्शिनी और सञ्जीविनी में इस पंक्ति के प्रत्येक शब्द को प्रतीकरूप में उद्धृत नहीं किया गया है। अतः उनके आधार पर भी मूलभूत पाठ की योजना नहीं की जा सकती। सञ्जीविनी में इस पंक्ति का

प्रथम 'यदेव' पद प्रतीक के रूप में दिया हुआ है। उपर विमर्शिनी में 'गम्यमपि तद् वाच्यप-
मानमिति यदेव गम्यते तस्यैव अग्न्यन्तरेणामिधानम्' इस पंक्ति में 'यदेव गम्यते' पद से लगता है
कि मूल पंक्ति में गम्यत्वं के स्थान पर 'गम्यते' रखा होगा। इस कारण हमने यही पाठ
मान लिया है। यद्यपि डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने 'यदेव गम्यं तस्यैवामिधानं पर्यायोक्तम् गम्यस्य
सतः' इस प्रकार जो पंक्ति बनाई है, वह 'गम्यस्य सतः' इस पंक्ति से मिलती-जुलती पंक्ति है अतः
अधिक साफ है तथापि इसके अनुसार 'गम्यत्वं'-का सर्वत्र अव्यभिचारी प्रयोग लिपिदोष न सिद्ध
होकर विषयदोष सिद्ध हो जाता है। 'गम्यते'-रूप मानने पर विषयदोष इट जाता है। 'गम्यस्य०
सतः' के साथ इस पाठ का भी कोई अधिक वैपम्य नहीं रहता।

पर्यायोक्त के संपूर्ण विवेचन को संजीविनीकार ने इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

'पर्यायोक्तं तु कार्यादिद्वारा गम्यस्य वर्णनम्।

अप्रस्तुतप्रशंसातो वाच्यस्य प्रस्तुते निदा ॥'

—कार्यादि के द्वारा गम्य अर्थ का वर्णन पर्यायोक्त कहलाता है। इसमें वाच्य प्रस्तुत रहता है
इसलिए इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद रहता है।

[सर्वस्व]

गम्यत्वविच्छित्तिप्रस्तावाद् व्याजस्तुतिमाह—

[सू० ३८] स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः।

यत्र स्तुतिरभिधीयमानापि प्रमाणान्तराद् याधितस्वरूपा निन्दायां पर्य-
वस्यति तत्रासत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन तावदेका व्याजस्तुतिः।
यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् याधितरूपा स्तुतौ पर्यवसिता
भवन्ति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः। व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा।
स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।

गम्यत्वजनित चमत्कार के प्रसंग में अब व्याजस्तुति का निरूपण करते हैं—

[सूत्र ३८] स्तुति और निन्दा से निन्दा और स्तुति गम्य हो तो [अलंकार की
संज्ञा] व्याजस्तुति [होती है] ॥

[वृत्ति] जहाँ अनिवा द्वाारा स्तुति ही प्रस्तुत की जा रही है किन्तु अन्य प्रमाण से उक्तका
स्तुतिरूप बाधित हो रहा हो फलतः वह निन्दा में परिणत हो रही हो वहाँ, असत्य होने से
'व्याजरूप स्तुति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा एक प्रकार की व्याजस्तुति होती है। इसी
प्रकार जहाँ शब्द से निन्दा नहीं जाती हो किन्तु पूर्ववत् उसका स्वरूप बाधित हो रहा हो और
वह स्तुति में परिणत हो रही हो तो वह दूसरी व्याजस्तुति होती है—'व्याज अर्थात् निन्दा के
वदाने स्तुति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर। इसमें स्तुति और निन्दात्प विशेष प्रकार की उक्ति
रहती है इसलिए इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद है :

विमर्शिनी

आहंति स्तुतिनिन्दाभ्यामित्यादिना। प्रमाणान्तरादिति वक्तृवाच्यप्रकरणादिपर्यालोच-
नात्मनः। याधितस्वरूपेति। आमुख एव प्रसङ्गलक्ष्यैरर्थैः। अत एवास्या ध्वनेर्भेदः।
स हि विश्रान्ते वाच्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्यपर्यालोचनाबलादवगम्यते। इह पुनः प्रमा-

पान्तराद्वाधितः सन् वाक्यार्थः स्वयमनुपपद्यमानत्वात् परत्र निन्दाश्चैव समर्पयति ।
तत्रैव प्रकृतवाक्यार्थस्य विश्रान्तेः । एवम्—

‘अहं सज्जगणं प्रमो सुहृद् सत्त्वेन जवहं निवृद्धो ।

इहि धणं हिअप् धणं वाअइ लोअस्स प्’

इत्यादौ विश्रान्ते वाक्यार्थं वक्तृवाच्यौचित्यपर्यालोचनावलाग्निन्दायाः प्रतीतिरिति
ध्वनिविपर्ययमेव युक्तम् । पूर्ववदिति प्रमाणान्तरात् । एका द्वितीयाचेर्यभिदधता द्वे एवात्र
व्याजस्तुती न पुनरेकैव द्विविधा व्याजस्तुतिरिति सूचितम् । प्रकारप्रकारिभागे हि
सामान्यलक्षणासद्भावे न भवति । असंभवच्छासामान्यस्य तद्विशेषावाभावात् । शब्द-
नियन्धनं तु सामान्यमाधिर्य द्वयोरशामिधानम् । एव स्तुतिनिन्दाम्यामप्रस्तुताभ्यां
निन्दास्तुरयोः प्रस्तुतयोर्गम्यत्वमित्यत्र सिद्धम् । यद्येव तदिकमियमप्रस्तुतप्रशसैव न
भवतीत्याज्ञाष्ट्याह—स्तुतीत्यादि । सत्र हि सामान्यविशेषादीनां गम्यत्वमुक्तम् ।

आह—निरूपण करते हैं—‘स्तुतिनिन्दाम्याम्’ इत्यादि अगले ग्रन्थ के द्वारा । प्रमाणान्तरात्—
अन्य प्रमाण से बसा, वाच्य, प्रकरण आदि के पर्यालोचनरूपी प्रमाण से । बाधितस्वरूप—
आरम्भ में ही उसका अपना रूप प्ररखित होने लगता है । इसीलिए इसका ध्वनि से भेद है ।
ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाक्यार्थ में कोई आपत्ति नहीं रही अर्थात् वह विश्रान्त हो जाता है ।
तदनन्तर बसा, वाच्य और औचित्य आदि के पर्यालोचन से अन्य अर्थ विदित होगा है ; इसके
विपरीत वहाँ वाक्यार्थ प्रमाणान्तर से बाधित हो जाता है । अतः अपने आप में वह अनुपपन्न
रहता है अतः स्वयं को निन्दा आदि अन्य अर्थों में परिणत कर देता है । क्योंकि प्रकृत वाक्यार्थ
को विश्रान्त नहीं अर्थों में होने है । इस प्रकार—

‘इह सज्जनानां मार्गं सुहृत्तया चैव केवलं निर्व्यूढः ।

इदानीमन्वदधृदयमन्वद वचनानि लोकस्य ॥’

—‘अभी तक तो सज्जनों का मार्ग केवल सौहार्द के कारण निमता रहा है । अब तो लोगों के
हृदय मित्र और वचन मित्र हो गए हैं ।’

—इत्यादि स्थलों में वाक्यार्थ ठीक उतर जाता है, तब बसा, वाच्य और औचित्य पर ध्यान
देने से निन्दा की प्रतीति होती है, इसलिए वहाँ ध्वनि ही मानना ठीक है । [वस्तुतः वहाँ
निन्दा भी उक्तार्थ से स्फुट है अतः हो तो, वहाँ केवल गुणोभूतसंगम्यता हो सकती है, किन्तु
यह तब है कि वहाँ व्याजस्तुति नहीं है] । पूर्ववत्—अन्य प्रमाणों से । एक और दूसरी ऐसा
कहने से यह सूचित किया ये दोनों व्याजस्तुति दो अलग-अलग अर्थात् स्वतन्त्र व्याजस्तुति हैं,
एक व्याजस्तुति के दो भेद नहीं हैं । किसी का कोई भेद सिद्ध नहीं होता यदि कोई सामान्य
लक्षण न हो । क्योंकि भेद का अर्थ होता है विशेष और किसी का सामान्य वरुं किसी में नहीं
रहे तो वह उसका विशेष नहीं माना जाता । वहाँ जो दोनों व्याजस्तुतियों को एक साथ कहा
गया है वह नाम-साम्यमात्र के आधार पर । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि वहा शब्दतः कथित
स्तुति और निन्दा अप्रकृत रहती हैं और उनसे गम्य निन्दा ग्नुति प्रकृत । ‘यदि ऐसा है तो यह
अप्रस्तुतप्रशंसा ही क्यों नहीं मान ली जाय’—इस शब्दा पर उत्तर देने हैं—‘स्तुति०’ इत्यादि ।
वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा में जो है सो गम्य होते हैं सामान्य विशेष, [न कि ग्नुति निन्दा] ।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

‘दे हेलाजितवोधिसस्य वचसां किं विम्नरैस्तोयधे

नास्ति त्यत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतवतः ।

तृप्यत्पान्थजनोपकारघटनाचैमुख्यलब्धायशो-

भारप्रोद्बद्धने करोषि रूपया साहायकं यन्मरोः ॥'

अत्र विपरीतलक्षणाया वाच्यवैपरीन्यप्रतीतिः ।

'इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठपीठी मुरारि-

दिङ्नागानां मदजलमपीमाञ्जि गण्डस्थलानि ।

अद्याप्युर्वाचलयतिलक श्यामलिम्नानुलिप्ता-

न्युद्भासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥'

अत्र धवलताहेतुयशोविषयानवकलृप्तिप्रतिपादनेन 'विशेषप्रतिषेधे शेषाभ्यनुष्ठानम्' इति न्यायात्कतिपयपदार्थवर्जं समस्तवस्तुधवलताकारित्वं नृपयशसः प्रतीयते ।

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किं तु नाहं समर्थ-

स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।

गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-

मुग्मत्तेव भ्रमति भवतो बल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

इत्थन्न प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा हन्त कीर्तिरिति भणित्या उन्मूलितेति न प्ररोहं गमितेति श्लिष्टमेतदुदाहरणम् ।

क्रम से [उदाहरण] यथा—[स्तुति से निन्दा]—

'हे जलनिषे, हे [गंभीरता की] मुद्रा में बोधिसत्त्व को नीत लेने वाले ! अधिक क्या कहें, दूसरों का हित करने का मत धारण करने वाला तुम्हारे जैसा कोई दूसरा नहीं है । प्यासे पथिकों के बपकार से विमुख होने की अपकीर्ति के भार को ढोने में मरत्यल की जो तुम सहायता करते हो ।'

—यहां विपरीत लक्षणा के द्वारा वाच्य के विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है ।

[निन्दा से स्तुति यथा—]

'हे पृथ्वीमण्डल के तिलक ! चन्द्रमा का कलंक, शिवजी का कण्ठ, विष्णु भगवान्, दिग्गजों के मदजल की स्याही से लिप्त गण्डस्थल अभी तक सांख्येयन से लिप्त दिखाई दे रहे हैं [तब] बतलाइए आपके यशों ने किसे धवल बनाया ।'

—यहाँ धवलता के जनक यश की विषयों में अपर्याप्ति का प्रतिपादन करने के कारण 'विशेष [किसी पक्ष] के निषेध से शेष का विधान' इस नीति से कुछ पदार्थों को छोड़ शेष सब पदार्थों को धवल करने का गुण राजा के यश में प्रतीत होता है । [किन्तु—]

'दूसरे की धरेख बातों से करना ही क्या है, परन्तु चुप बैठ नहीं पा रहा हूँ, बोलने की आदत पड़ गई है, दाक्षिणियों जैसा स्वभाव हो गया है । पर-पर में, वाजार-वाजार में, चौरास्तों पर, आसवगोष्ठियों में उन्मत्त जैसी घूमती फिर रही है । [कौन] आपको बल्लभा ! [कौन] हन्त कीर्ति ।

—यहाँ स्तुति में पर्यवसित होने वाली निन्दा आरम्भ तो की गई किन्तु 'हन्त कीर्ति' इस कथन से वह उखाड़-सी दी गई, जमने नहीं दी गई, अतः [अमिनवयुक्त द्वारा लोचन के प्रथम उद्योत में व्याजस्तुति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत] यह उदाहरण [एक प्रकार से] श्लेष का

ही उदाहरण है। जैसे दोनों अर्थ श्लेष में अभिधा द्वारा साफ साफ बह दिए जाते हैं वैसे ही वे यहाँ भी कथित हो हैं।

विमर्शिनी

विपरीतलक्षणवेति । सनिमित्तात्र वाच्यवैपरीत्यप्रतीतिरिति भावः । अन्यथा हि सर्व-
स्वमात् सर्वप्रतिपत्तिः श्यात् । लक्षणा च मुख्यार्थवाच्यपूर्विकैव भवतीत्यभिधीयमानायाः
स्तुतेर्वाधितस्वरूपश्वसुक्ष्मम् ।

अस्याश्च निन्दास्तयोर्वाच्यत्वे स्तुतिनिन्दयोर्बद्धा गम्यत्वमेव भवति तद्वैवाङ्कारत्वं
मान्यदेति दर्शयित्वाह—किं वृत्तान्तेरित्यादि । उन्मूलनेति । स्तुतिरेव वाच्यत्वेनोक्तेः अर्थः ।
दिलिष्टमिति । अत्र उदाहरणमेवैतदिति तात्पर्यम् । अतश्चार्थ लोचनकारेण यद्वाजस्तुत्या-
हरणत्वमुक्तं तदुक्तमेवेति भावः ।

विपरीतलक्षणा विपरीतलक्षणा के द्वारा, भाव यह कि यहाँ वाच्य के विपरीत अर्थ की
जो प्रतीति होती है वह नदेष्टुक है । ऐसा न होता तो सभी से सभी अर्थों की प्रतीति होने लगती ।
और लक्षणा सदा मुख्य अर्थ का वाच्य होने पर ही होती है, इसलिए अभिधा द्वारा कही जा रही
[अतएव मुख्यार्थभूत] स्तुति का अपना स्वरूप यहाँ वाचिन ही बनलाया गया है ।

'यद् [व्याजस्तुति] तमी अलङ्कार होती है जब वाच्य निन्दा और वाच्य स्तुति से [उनकी
सदृश] स्तुति और निन्दा गम्य हो हों । नहीं तो नहीं ।'—इस तथ्य को बतलाने के लिए कहते
हैं—'किं वृत्तान्ते ०' । उन्मूलिता = उखाड़ सी दी गई = अर्थ यह कि स्तुति को ही वाच्यरूप से
कह दिया । दिलिष्टम् = इसका तात्पर्य यह कि यह पद्य व्याजस्तुति के पद्य के रूप में उदाहरणीय
नहीं है । और इसलिए लोचनकार ने इसे जो व्याजस्तुति का उदाहरण कहा है वह गलत ही
है [पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पद्य में सभासौक्तिगमिन व्याजस्तुति मानी है और सर्वस्वकार
तथा विमर्शिनीकार का उद्धारणपूर्वक खण्डन कर लोचनकार का समर्थन किया है [इ० रस०
पृ० ५६०]

व्याजस्तुति का पूर्वतिहास—

व्याजस्तुति के जो रूप यहाँ सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किये हैं इसकी स्थापना पहली बार रद्रट
ने की थी । दग्गट ने उन्हें सर्वस्वकार के ही समान ज्यों का त्यों अपना लिया है । मामह और
वामन में व्याजस्तुति की झलक तो पाई जाती है परन्तु उनकी दृष्टि इन विषय में स्फीत नहीं है ।
रद्रट की दृष्टि स्फीत अवश्य है किन्तु वह धकाड़ी है । निम्नलिखित उद्धरणों से यह तथ्य
स्पष्ट है—

मामह—'दूराधिकगुणान्प्रव्यपदेशेन तुल्यतान् ।

किंचिद् विभित्तोर्या निन्दा व्याजस्तुनिरसो यथा ।

रामः सप्तामनव सालान् गिरि क्रीड्य भृगुसमः ।

शतशिनापि भवता किं तयोः सहस्रं कृतम् ॥ ३३२, ३३

—अल्पधिक गुणशाली व्यक्ति को स्तुति के बहाने समस्त समानता बतलाना चाहने वाले के
द्वारा [अन्य किसी व्यक्ति की] जो निन्दा की जाती है वह व्याजस्तुति होती है । यथा—

—राम ने सात वृशों की वेधा, परशुराम ने कौच पर्वत को । उनके समान आपने शनाय
भी क्या किया ? इसका अर्थ यह निकलता है कि मनुष्य जो कर सकता है वह आप कर चुके,
देवता देवों का पीर ही आप में शेष है ।

वामन—वामन ने भामह के अनुकरण पर ही व्याजस्तुति का निरूपण किया है। वामन का व्याजस्तुतिनिरूपण भामह का स्पष्टीकरण है। उनका निरूपण इस प्रकार है—

[सू०] 'संभाव्यविशिष्टकर्माकरणाग्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः ।

[वृ०] अत्यन्तशुभाधिको विशिष्टः, तस्य च कर्म विशिष्टकर्म, तस्य संभाव्यत्य कर्तुं शक्यत्याकरणाग्निन्दा विशिष्टसाम्यसंपादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः । यथा—

'ध्वन्व सेतुं गिरिचक्रवालैर्विभेद सदैकदारेण तावान् ।

एवंविधं कर्म व्रतान रामस्त्वया कृतं तत्र मुषैव गर्वः ॥'

'गुणों में अत्यन्त बड़े अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति का किया कार्य किया तो जा सकता हो किन्तु उसे किसी ने किया न हो तो उसकी निन्दा व्याजस्तुति कहलाती है क्योंकि उससे विशिष्ट व्यक्ति के साथ निन्दा वाले व्यक्ति की समानता झलकने लगती है फलतः वह निन्दा स्तुति में पर्यवसित हो जाती है। यथा—

'पहाड़ों का पुल बाँध डाला, एक बाण से सात शत्रुओं को बंध दिया। राम ने ऐसा कार्य किया। तुमने वैसा कार्य नहीं किया है, अतः गर्व व्यर्थ है।'।

स्पष्ट ही वामन का लक्षण उसका स्पष्टीकरण और उदाहरण अक्षरशः भामह के व्याजस्तुति-निरूपण का स्पष्ट अनुवाद है। हमें तो इन दोनों आचार्यों के उक्त विवेचन में पर्यायोक्त की छाया दीखती है। आचार्यों के अनुसार यहाँ कवि को कहना यह है कि 'तुम राम के समान हो'। इसी को वह निन्दाशुभेन प्रतिपादित कर रहा है। साम्य का प्रतिपादन यहाँ अत्यन्त क्षीण है अतः स्तुति का कोई स्पष्ट भाव जागता नहीं। एकमात्र साम्य तक सीमित रख कर भी उक्त आचार्यों ने व्याजस्तुति की व्यापक अभिव्यक्ति का अधिकांश छोड़ दिया है।

उद्धृत—उद्धृत की धारण भामह और वामन से मिलती-जुलती ही है किन्तु उनका निरूपण अत्यन्त प्राञ्जल है—

'शुब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते ।

वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता ॥'

यथा—धिगनन्योपमादितां तावकीं रूपसम्पदम् ।

श्रेलोक्येभन्नुरूपो यद् वरस्तत्र न लभ्यते ॥

—शुब्दशक्ति के स्वभाव से [अभिधा द्वारा] जहाँ विदित तो होती है निन्दा-सी किन्तु वास्तविकरूप में रहती हो उच्छ्रितम स्तुति तो उसे व्याजस्तुति कहेंगे। यथा—[तप कर रही पार्वती के प्रति उनकी सखी की उक्ति]—

—तुम्हारी इत अतुलनीय रूपसंपत्ति को धिक्कार है, जिसके अनुरूप वर तीनों लोकों में नहीं मिल रहा है।'

यहाँ भगवती पार्वती को अतुलनीय रूप से युक्त बतलाकर उनकी प्रशंसा की जा रही है।

व्याजपूर्ण स्तुति से निन्दा की प्रतीति का दूसरा व्याजोक्तिभेद भामह और वामन के समान उद्धृत की दृष्टि में नहीं आया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने व्याजस्तुतिभेद का जो उदाहरण दिया उसमें स्तुतिपक्ष एकमात्र गम्यन होकर वाच्य भी हो गया है। 'अनन्योपमा' विशेषण द्वारा पार्वती-रूपसम्पत्ति की अतुलनीयता को शब्दतः भी कह दिया गया है। सर्वस्वकार के अनुसार यह उदाहरण भी 'कि वृत्तान्तैः'० पद्य के समान ही व्याजस्तुति का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

उद्धृत—उद्धृत ने व्याजस्तुति को व्याजश्लेष नाम दिया गया है और इसे अर्थश्लेष के प्रकरण में रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्तुति से निन्दा की वर्जना वाले भेद को भी इसके अन्तर्गत गिना है। उनका निरूपण भी सर्वथा स्पष्ट है—

‘यन्मिन्द्रिन्द्रा स्तुतिर्नो निन्द्राया वा स्तुतिः प्रतीयेत ।

अन्या विवक्षिनाया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः ॥ १०११ ॥

—‘जहां शब्दत कही जा रही स्तुति या निन्द्रा से तद्विन्न [निन्द्रा या स्तुति] की प्रतीति हो रही हो उसे व्याजश्लेष समझना चाहिए ।’

यहां यह एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य तथ्य है कि शब्द ने स्तुति से व्यक्त होने वाली निन्द्रा को प्रथम स्थान दिया है । निदिचित ही यह उनका पूर्वाचार्यों में इसके अभाव और अपने द्वारा इसके श्दप्रथमनया प्रतिपादन की ओर सकेत है ।

शब्द ने दोनों के जो उदाहरण दिए हैं उनमें शब्दगन श्लेष भी है और उनमें शुद्ध व्याजस्तुति नहीं है, अन्य आलंकारिक विधाओं का भी स्पष्ट है, अतः मम्मट ने शब्द का लक्षणात्मक अपनाकर व्याजस्तुति का निरूपण इस प्रकार किया है—

मम्मट—‘व्याजस्तुतिर्मुने निन्द्रा स्तुतिर्वा रुदिरन्यथा ।’

—‘व्याजस्तुति वह जिसमें आरम्भ में भाषित हो निन्द्रा या स्तुति और अन्त में सिद्ध हो उससे उलटी स्तुति या निन्द्रा ।’

स्तुति से निन्द्रा का उदाहरण उन्होंने ‘हे देवा०’ पद्य ही दिया है ।

व्याजस्तुति शब्द की संगति उन्होंने ‘व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुति’ ‘व्याजरूप स्तुति या व्याज से स्तुति’ यही दी थी ।

इस प्रकार व्याजस्तुति का स्वरूप तो मम्मट तथा सर्वस्वकार ने शब्द से ही अपनाया, किन्तु उसका नाम उन्होंने परम्परा से ही लिया । शब्द ने व्याजस्तुति में श्लेष का अस्तित्व माना था उसमें उसे अलग करने का भय मम्मट को जाना है । सर्वस्वकार ने जो ‘किं वृत्तान्तै०’ पद्य के पश्चात् ‘दिल्लभैवैतत्’ कहा है इसका स्रोत कदाचित् शब्द द्वारा व्याजोक्ति में श्लेष का अस्तित्व मानना ही है । इस कारण सजीविनीकार द्वारा दिल्पि शब्द के किप किल्लि शब्द की पाठान्तर-कथना उचित प्रतीत नहीं होती । सजीविनी तथा विमर्शिनी द्वारा इस शब्द पर सुष्पी साधना भी वैसा ही है ।

शोभाकर—परवर्ती शोभाकर ने भी व्याजस्तुति के ये दोनों भेद माने हैं । उनका सूत्र है—

[सू०] स्तुतिनिन्द्रान्याम् [अन्यप्रतीतिः] व्याजस्तुतिः ।

[सू०] स्तुत्या निन्द्रा, निन्द्रया वा स्तुतिर्वन्न भवति सा व्याजस्तुतिः ।

—स्तुति और निन्द्रा से अन्य [निन्द्रा और स्तुति] की प्रतीति व्याजस्तुति कहलाती है ।

सर्वस्वकार के ही समान रत्नाकरकार ने भी व्याजस्तुति में अन्य अर्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा मानी है ।

विमर्शिनीकार ने व्याजस्तुति के विषय में एक महत्त्व की बात यह कही थी कि व्याजस्तुति नाम से जिन दो भेदों की गणना की गई है ये दोनों भेद वस्तुतः दो स्वतन्त्र व्याजस्तुतियाँ हैं किसी एक व्याजस्तुति के भेद नहीं । परवर्ती सजीविनीकार ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है इस दिशा में स्वर्ग सर्वस्वकार तथा रत्नाकरकार का भी ध्यान नहीं गया था न तो उनके पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों का ही । परवर्ती आचार्यों में कुबल्लयानन्दकार अप्ययदीक्षित पण्डितराज जगन्नाथ तथा विद्वेधर से भी यह तथ्य छूटा रह गया है । जयदेव का ‘वक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्द्रास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्द्रयो’—‘निन्द्रा और स्तुति के द्वारा स्तुति और निन्द्रा की वक्ति का नाम है व्याजस्तुति’ । यह लक्ष्य मानकर अप्ययदीक्षित ने व्याजोक्ति के चार भेद बतलाए हैं । दो भेद तो वस्तुतः भेद

ही हैं। दो अन्य भेद वे हैं जिनमें जिसकी निन्दा या स्तुति कथित होती है अन्य स्तुति या निन्दा उससे भिन्न की प्रतीत होती है। अन्य की निन्दा से अन्य की स्तुति का उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

अप्पयदीक्षित = 'कत्त्वं वानर ! रामराजमवने लेखार्थस्वाहको

यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दम्भलक्ष्मणपुरः ।

वक्षो राक्षससूनुनेति कथिभिः संताडितस्तत्रितः

स त्रीडात्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न श्रावते ॥

[लंका में जंगल से किसी राक्षस की उक्ति] 'अरे वानर तू कौन-सा वानर है, [उचर] राम के राजमवन में डाकिया का काम करने वाला । [प्रश्न] वह जो एक हनुमान् नामक वानर पहले यहाँ आया था और लंका को जला गया था वह कहाँ गया । [उत्तर] यह जानकर कि उसे राक्षस के लड़कै ने बाँध लिया था, उसे वानरों ने मारा पीटा और दुस्कारा, तो लज के मारे वह जंगली वानर कहाँ चला गया पता नहीं' ।

—यहाँ निन्दा हनुमान्जी की की गई है और स्तुति व्यक्त हो रही है उनसे भिन्न वानरों की। इसी प्रकार अप्पयदीक्षित ने स्तुति से निन्दा की प्रतीति का भी ऐसा ही उदाहरण भी दिया है।

इन दो भेदों की कल्पना रत्नाकरकार के मरित्क में भी आई थी, किन्तु उन्होंने इन्हें अतिशयोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में गतार्थ बतलाया था। अतिशयोक्ति में तब जब पर्यवसित होने वाली निन्दा या स्तुति में अतिशय की विवक्षा हो यथा 'इन्दुलिप्त' इत्यादि उद्धृत पद्य में। यदि अतिशय की विवक्षा नहीं रहती तो इन भेदों का अन्तर्भाव अप्रस्तुतप्रशंसा में ही होता है। यथा पूर्वोद्धृत 'धन्याः खड्ग वने वाताः' पद्य में। अन्त में रत्नाकरकार ने कहा है कि 'यस्यैव स्तुतिनिन्दे तस्यैव निन्दास्तुतिप्रशंसा त्वतिशयविवक्षायां श्याजस्तुतिः' व्याजस्तुति यहाँ होती है जहाँ जिसकी निन्दा और स्तुति कही जाय पर्यवसान भी उसी स्तुति या निन्दा में हो और उस पर्यवसित में अतिशय की विवक्षा हो।

पण्डितराज—पण्डितराज ने भी इन दो नवीन भेदों को अमान्य ठहराते हुए तर्क दिया है कि अन्य की निन्दा से अन्य की स्तुति व्यक्त होने पर निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होने की बात नहीं बनेगी। व्याजोक्ति में निन्दा या स्तुति ही स्तुति या निन्दा में परिणत होती है। अन्य की स्तुति या निन्दा स्तुति या निन्दा रूप ही रही आसंगी। इस प्रकार यहाँ 'व्याजस्व' ही उच्छिन्न हो जायगा। पण्डितराज का कथन है—

'इयं व्याजस्तुतिर्यस्यैव वस्तुनः स्तुतिनिन्दे प्रथमनुपक्रम्येते तस्यैव चैन्निन्दास्तुत्योः पर्यवसानं भवेत् तदा भवति । वैयधिकरण्ये तु न ।' [पृ० ५६२]

इन भेदों का खण्डन करते हुए पण्डितराज रत्नाकर का उल्लेख नहीं करते। पण्डितराज ने त्वयं व्याजस्तुति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'आसुप्तप्रतीतान्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः ।

—आरम्भ में प्रतीत या निन्दा स्तुति के द्वारा पर्यवसान में क्रम से स्तुति या निन्दा का बोध व्याजस्तुति ।

पण्डितराज ने भी व्याजस्तुति में अपरार्थ की प्रतीति में लक्षण को ही कारण माना है।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर ने भी व्याजस्तुति के रुद्रवभिमत भेद ही माने हैं। अप्पयदीक्षित के चार भेदों का विवेकन भी उन्होंने किया है और उनका अपनी ओर से कोई खण्डन नहीं किया

किन्तु प्राचीनों को ओर से नवीन दो भेदों को अप्रस्तुतप्रशंसा में गतार्थ बतलाया है। विश्वेश्वर का व्याजस्तुत लक्षण इस प्रकार है—

‘व्याजस्तुतिर्विषयंपर्यवसानेऽस्तुतिस्तुत्यो ।’

—अस्तुति [निन्दा] और स्तुति का उल्टा पर्यवसान व्याजस्तुति कहलाता है। निन्दा और अस्तुति अभिन्न नहीं कही जा सकती। अस्तुति स्तुति का अभाव ही है। निन्दा अमावात्मक नहीं होकर भावात्मक ही है। इस प्रकार तो स्तुति को भी निन्दा का अभाव कहा जा सकता है।

पाठान्तर = व्याजस्तुति की अन्तिम पंक्ति में डॉ० जानकी ने ‘उन्मूलिता’ के स्थान पर ‘उन्मीलिता’ पाठ माना है और दिल्लट के स्थान पर ‘विल्लट’। ‘उन्मीलिता’ पाठ के अनुसार ‘निन्दा उन्मीलिता’ यह अन्वय होगा और अर्थ निकलेगा—‘निन्दा को उद्घाटित कर दिया गया’ जब कि निन्दा ‘किं वृत्तान्ते’०’ पद्य में वाच्य है अन उद्घाटित ही है। दूसरा अर्थ निकाला जाएगा ‘उसका रहस्य खोल दिया गया’। यह दूरगामी कल्पना होगी। वस्तुतः पण्डितराज ने इस पंक्ति को ‘गमिता’ तक उद्घूटन किया है। उसमें ‘उन्मूलिता’ पाठ ही है—[‘द्रष्टव्य-व्याजस्तुति प्रकरण पृ० ५६०] दिल्लट और विल्लट का विचार हम यहीं रद्वट के प्रसंग में कर आए हैं।

श्रीविषाचक्रवर्ती ने अपनी सबीविनी में व्याजस्तुति का सम्यक् कारिका द्वारा इस प्रकार किया है—

‘व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिर्व्याजस्तुतिद्वयम् ।

अप्रस्तुतप्रशंसात् स्तुतिनिन्दात्मिका मिदा ॥’

—‘व्याज से स्तुति और व्याजरूप स्तुति ये दो व्याजस्तुति होती हैं। स्तुतिनिन्दा होने से ये अप्रस्तुतिप्रशंसा से भिन्न हो जाती हैं।’

[सर्वस्व]

गम्यत्वमेव प्रकृतं विशेषविषयत्येनोररीकृत्याक्षेपालंकार उच्यते—

[सू० ३९] उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपक्ष्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः ।

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते तथाविधस्य विधानार्हस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते। स कृतोऽपि बाधितस्वरूपत्वाभिषेधायत इति निषेधाभासः संपन्नः। तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपक्ष्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। स चामासमानोऽपि निषेधस्तन्प्रोक्तस्य वा स्यात् आसूत्रिताभिधत्वेन वक्ष्यमाणस्य वा स्यादित्याक्षेपस्य द्वयी गतिः। तन्प्रोक्तविषयत्वेन कैमर्यव्यपरमालोचनमाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषयत्वेनानयनरूपमागूरणमाक्षेपः। एवं चार्थमेवादाक्षेपशब्दस्य द्वावाक्षेपाविति चदन्ति। तन्प्रोक्तविषये यस्यैवेष्टस्य विशेषस्तस्यैवाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषये त्विष्टस्य विशेषः, इष्टसंवन्धिनस्त्यन्यस्य सामान्यरूपस्य निषेधः। तेनात्र लक्षणभेदः। विशेषस्य चात्र शब्दानुपात्तत्वाद् गम्यत्वम्। तन्प्रोक्त-

विषय आक्षेपे क्वचिद्वस्तु निषिध्यते क्वचिद्वस्तुकथनमिति द्वौ भेदौ । वक्ष्यमाण-
विषये तु वस्तुकथनमेव निषिध्यते । तच्च सामान्यप्रतिघायां क्वचिद्विशेष-
निष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित् पुनरंशोक्तावशाभ्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ ।
तदेवमस्य चत्वारो भेदाः । शब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यविशेषभावमवलम्ब्य
चात्र प्रकारिप्रकारभावप्रकल्पनम् ।

गम्यता का प्रकरण चला आ रहा है और आक्षेप में 'विशेष' की गम्यता रहती है इस कारण
उसी को लेकर अब आक्षेपालङ्कार का निरूपण करते हैं—

[सूत्र १९] विशेषता की प्रतीति कराने के लिए उक्त [कहे जा चुके] अथवा वक्ष्य-
माण [कहे जाने वाले] प्रकरणिक के निषेध का आभास आक्षेप [नामक अलङ्कार
कहलाता है]

[वृत्ति] यहाँ [प्रत्येक वाक्यमें] जो अर्थ प्राकरणिक होता है प्राकरणिक होने के कारण
ही उसका कथन अमोष्ट होता है । ऐसा अर्थ विधानार्ह होता है अतः उसका निषेध करना
उचित नहीं होता । यदि वह [निषेध] किया भी जाता है तो उसका स्वरूप बाधित हो जाता
है, अतः वह निषेध वैसा रहता है फलतः वह निषेधाभास बन जाता है । इस प्रकार के इस
[निषेध] का जो विधान होता है उसका उद्देश्य [वक्तव्यार्थ] में वैशिष्ट्य [जोर] लाना होता है ।
ऐसा न हो तो वह गलतज्ञान के समान [किया न किया बराबर] हो जाए । यह जो आभासमान
निषेध है वह भी या तो ऐसे अर्थ का होता है जिसे कह चुका जाता है या फिर ऐसे अर्थ का
जिसके कथन की भूमिकामात्र बनी रहती है; और जिसे स्पष्टरूप से आगे कहना शेष रहता
है, इस कारण आक्षेप भी [उक्तविषयक और वक्ष्यमाणविषयक, इस प्रकार] दो प्रकार का हो
जाता है । इन [दोनों] में [प्रथम में] विषय उक्त रहता है तो [निषेधरूप] आक्षेप ऐसा हान
सिद्ध होता है जिसमें अन्ततः [कथित अर्थ के विषय में] किमर्थकता = 'इस सब के कहने से क्या'
इस अभिप्राय की प्रतीति होती है, [और द्वितीय आक्षेप में] विषय वक्ष्यमाण रहता है तो [यही
निषेधरूप] आक्षेप [अकथित अर्थ को अर्थबलात्] 'ले जाये'-रूप न्यञ्जना सिद्ध होता है । इस
प्रकार आक्षेप शब्द का अर्थ बदल जाने से [मामद आदि] कुछ आचार्य यह कहते हैं कि आक्षेप-
लङ्कार [अलग-अलग] दो होते हैं ।

इन [दोनों आक्षेपों] में से [प्रथम] उक्तविषय [नामक आक्षेप] में उसी का आक्षेप
[निषेधामास] रहता है जिसमें विशेषता का प्रतिपादन अभीष्ट रहता है जब कि [द्वितीय]
वक्ष्यमाणविषय [नामक आक्षेप] में विशेषता अमोष्ट अर्थ में ही प्रतीत होती है, किन्तु निषेध
उस अमोष्ट अर्थ से सम्बन्धित अन्य रूप का होता है जो सामान्यात्मक रहता है । इस कारण इन
दोनों भेदों में लक्षण बदल जाता है ।

विशेषता यहाँ गम्य होती है क्योंकि उसके वाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहता । उक्तविषय
(नामक) आक्षेप में कहीं तो निषेध रहता है स्वयं वस्तु का, और कहीं वस्तु के कथन का; इस
प्रकार उसके दो भेद हो जाते हैं, परन्तु वक्ष्यमाणविषय (नामक) आक्षेप में केवल वस्तुकथन
का ही निषेध रहता है । उस [कथन] में भी यदि सामान्य का कथन रहता है तो निषेध विशेष
का हुआ करता है और कथन आधिक्यरूप से होता है तो [निषेध] अन्य अंश वा [हुआ करता
है] इस प्रकार इस भेद में भी दो भेद हो जाते हैं । इस प्रकार आक्षेप के चार भेद होते हैं ।
[सभी आक्षेपों का वाचक आक्षेप] शब्द एक ही है इस कारण सामान्यविशेषभाव मानकर और
प्रकारिप्रकारिभाव [प्रकार = विशेष, प्रकारी = सामान्य] की कल्पना की है ।

विमर्शिनी

उररीकृष्येति आश्रित्य । तमेवाह—उक्तवक्ष्यमाणयोरित्यादि । तथाविधस्येति वस्तु-
मिष्टस्य । अत एव विधानार्हस्येत्युक्तम् । स इति निषेधः । बाधितस्वरूपत्वादिति । प्राक्-
रणिके विधानार्हे तस्यासम्भवात् । यद्येव तद्व्यंसावकायं एवेत्याशाङ्क्याह—तस्येत्यादि ।
अन्यथेति, विशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् । तस्य च त्रिपयं दर्शयति—स चेत्यादिना । उक्तस्येति
वस्तुत कथनरूपस्य । आसूत्रिताभिधत्वेनेति सामान्यमुखेनाशोक्तिमुखेन वा । अन्यथा
हि सर्वत्र विवक्षितार्थस्य निषेधमात्रादेव प्रतीतिप्रसङ्गः । कैमर्थस्येति, किमर्थमेतदिति पर्य-
युयोगरूपं ह्यर्थम् । एवमिति । कैमर्थव्यपयार्थलोचनानयनरूपागूरुणरूपस्येति । वदन्तीति
प्राचयाः । यदाह मामह —

'वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राद्येषो द्विधा मतः ।

पुरुषरूपतया शेषा निदिरव्यक्ते यथाक्रमम् ॥' इति ।

तेनास्माकमेतन्न मतमिति भावः । वक्ष्यमाणविषये हि कथनस्यैव निषेधस्यात्
कथ्यत इति कैमर्थव्यपयस्यलोचनमेव प्रतीयते इत्येक एवाद्येषाशाङ्क्यार्थ इति भेदाभावाद्
द्वावाद्येषाविति न युक्तम् । तस्मिन्नेक एवाद्येषो भवन्मते युक्त इत्याशाङ्क्याह—तत्रेत्यादि ।
आद्येष इति विशेषः । कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । इष्टस्येति विशेषोपमत्तः । अक्षयस्येति
विशेषान् । एवं निषेधविशेषयोर्भेदेनावस्थितेनात्र सामान्यलक्षणसम्बन्धोऽस्तीति तात्पर्यम् ।
ननु सर्वविशेषाणां सामान्यानुमानितावादेकमपि कृतं निषेधादिरपरश्राव्यमेव पर्यव-
स्यतीति कथमत्र निषेधविशेषयोर्मिथ्यविषयत्वमुक्तम् । तस्यम् । यद्यप्येवं तथाप्येतन्न
शब्दार्थम् । अर्थवशेन तत्र स्यात्वाच्यते । इह च शाब्दसंवेतदाद्येषाङ्गं नार्थवशायातम् ।
तथाप्ये हि रूपकादीनामप्युपमात्वं स्यात् । तेषामप्यार्थस्य सादृश्यस्य भावान् । पूतञ्चोद्भट-
विचारे रागानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तमिति 'न तथास्माभिराधिष्कृतम् । नेनेति । निषेध-
विशेषयोरेव मिथ्यविषयत्वादाद्येषाशाङ्क्यार्थे भेदात् । यस्तत्र विशेषः ॥ किं वाच्यं' किमुत
गम्य इत्याशाङ्क्याह—विशेषस्येत्यादि । कथनमेवेति, न पुनः साक्षाद् वस्तु । तदिति कथनम् ।
सामान्यप्रतिपत्तेरिति । सामान्यमेवाश्रित्येवार्थम् । विशेषनिष्ठत्वेनेति । सामान्यस्य विशेषाविना-
भावित्वात् । मिपिप्यत इति, अत्र, उत्तरत्र च भवन्धेनीयम् । अंगान्तरगन्तव्येनेति । सामान्य-
प्रतिपत्तेरप्यपि संयम्यः । अत्रापि द्वयपराशोक्ति सामान्यमुखेनैव निषिध्यते । विशेषस्य
हि साक्षाद् निषेधो न भवति । निषेधानन्तरं तत्प्रतीतेर्भावित्वो निषेधात्मकत्वात् । ॥ दृष्टो
निषेधः साक्षात्समर्पिते ताकालमप्रतीयमाने च विषये सम्भवति । अस्त्येद्याद्येषस्य । ननु
द्वयोराद्येषयोश्चरवारो भेदा- संभवन्तीति कथमेकस्यैवोक्ता इत्याशाङ्क्याह—शब्दस्येत्यादि ।
प्रकल्पनमिति । न पुनर्वस्तुतः सद्भाव इत्यर्थम् ।

उररीकृष्य = लेकर = उसी को आधार बनाकर । उनी को कर्त्ते हैं—उक्त-वक्ष्यमाणयोः
इत्यादि द्वारा तथाविधस्य = ऐसा अर्थ = विवक्षित, वक्तव्य । इतीलिय विधानार्ह । सः = वह =
निषेध । बाधितस्वरूपत्वात् = उमका स्वरूप बाधित रहना है इमलिय = अर्थात् जो अर्थ प्राकरणिक
होता वह विधानार्ह होता है अत उसका संभव नहीं होता इसलिये । 'यदि यह ममव नहीं होता
तो फिर इमका विधान ही नहीं किया जाना चाहिए'—इम शका पर उत्तर देते हैं—तस्य
इत्यादि । अन्यथा = यदि ऐसा न हो अर्थात् विशेष अर्थ का ज्ञान न हो । उम [निषेध] का
विषय [प्रतिपोगी, जिसका निषेध होता है वह विषय] बतलाने हैं—'स च' इत्यादि के द्वारा ।
उक्तस्य = कथित का = किन्तु वस्तुतः कथनरूप का । आसूत्रिताभिधस्य = जिसके कथन को भूमिका-

मात्र वनी रहती है। अर्थात् या तो सामान्यात्मक रूप से या फिर अंशमात्र के कथन के रूप से। यदि ऐसा न हो तो फिर विवक्षित अर्थ की प्रतीति सभी स्थलों में निषेध के द्वारा ही होने लगे। कैमर्थन्य = 'इससे क्या' इस प्रकार का अर्थात् पर्यनुयोगरूप। एवम् = इस प्रकार अर्थात् कैमर्थन्यपर्यालोचन और 'गानयन = ले आना'—रूप जो भागूरण तद्रूप। वदन्ति = कहते हैं अर्थात् प्राचीन आचार्य। जैसा कि मामह ने कहा है—

'उन [आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति:—इन अलंकारों] में से केवल आक्षेप 'वक्ष्यमाणविषय और उक्तविषय' इस प्रकार दो प्रकार का, और शेष सब एक ही एक प्रकार के कमशः बतलाए जायेंगे। [काव्यालंकार २।६६-६७]।'

इसका अर्थ यह कि हमें [सर्वस्वकार का] यह मान्य नहीं है। वस्तुतः वक्ष्यमाणविषय नामक आक्षेप में भी निषेध किया जाता है कथन का ही। अतः वहाँ भी शान में 'ऐसा किस लिए [अर्थात् निरर्थक]' इस प्रकार का बोध होता है इसलिये [दोनों ही भेदों में] आक्षेप शब्द का अर्थ एक ही रहता है। इस प्रकार [दोनों भेदों में] भेद नहीं रहता, फलतः 'आक्षेप श्रे ई' ऐसा कहना ठीक नहीं है। 'तो क्या आपके मन में आक्षेप एक ही प्रकार का मान्य है'—इस प्रश्न पर उत्तर देते हुए कहते हैं—सत्र इत्यादि। आक्षेप अर्थात् विशेष, कार्य और कारण में औपचारिक अभेद मानकर। इष्टस्य = अभीष्ट अर्थ अर्थात् विशेषरूप। अन्यस्य = अन्य भिन्न अर्थात् विशेष-पारमक अर्थ से भिन्न [सामान्य अर्थ]। इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि निषेध और विशेष ये दोनों अलग-अलग रहते हैं, इस कारण इसमें सामान्य लक्षण का होना संभव नहीं है। [शङ्का] 'सभी विशेष सामान्य से अनुप्राणित रहते हैं इसलिये एक का निषेध अपने आप अवश्य ही अन्य का निषेध बन जाता है, तब यहाँ निषेध और विशेष को अलग-अलग कैसे कहा गया? [उत्तर] ठीक है। यद्यपि होता ऐसा ही है तथापि यह अर्थ शब्द से नहीं निकलता। ऐसा प्रतीत होता है अर्थसंगति से। प्रकृत में जिस आक्षेप का विचार चल रहा है वह शब्द आक्षेप का ही अंग है, अर्थशब्द भाया हुआ नहीं है। वैसा मानने पर तो रूपकादि भी उपमादि-स्वरूप सिद्ध होंगे। क्योंकि अर्थबलात् सङ्क्षेप तो उनमें भी रहता ही है। यह सब उद्भट विचार में राजानक तिलक ने ही विस्तारपूर्वक कह दिया है इस कारण उतने विस्तार में हमने इसका विचार नहीं किया। तेन = इस कारण = निषेध और विशेष दोनों के भिन्नविषयक हो जाने से आक्षेप शब्द के अर्थ में भेद हो जाने के कारण। अब 'जो यहाँ विशेष रहता है वह वाच्य होता है या गन्त्य' ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं—विशेषस्य इत्यादि। कथनमेव = कथन ही, न कि स्वयं वस्तु। तत् = वह = कथन। सामान्यप्रतिज्ञया = सामान्य का ही आश्रय लेकर [कथन होने से]। विशेषनिष्ठत्वेन = विशेषपरक होने से = सामान्य विशेष से पृथक् नहीं रहता इसलिये। निदिध्यते = निषेध किया जाता है इसका संबन्ध यहाँ और आगे भी जोड़ना चाहिए। 'अंशान्तरगतत्वेन = अन्य किसी अंश का [निषेध] इसका संबन्ध 'सामान्यप्रतिज्ञया = सामान्य-मात्र का कथन रहता है'—इससे भी करना चाहिए क्योंकि यहाँ भी अन्य अंश का निषेध सामान्य-रूप के ही माध्यम से हुआ करता है। सीधे-सीधे विशेष का निषेध नहीं होता। क्योंकि उसकी प्रतीति निषेध के बाद होती है, तब [वक्ष्यमाण] भावी का निषेध नहीं हो पाएगा। जो निषेध कहा जाता है वह शब्दतः अकथित या प्रतीवमान विषय का नहीं हो सकता। अस्य = इसके = आक्षेप के। 'चार भेद दो आक्षेपों के होते हैं, तब एक ही आक्षेप के चार भेद कैसे बतलाए जा रहे हैं' इस शंका पर कहते हैं—शब्द इत्यादि। अकल्पनम् = कल्पना की है = अर्थ यह कि इसका वास्तविकं सद्भाव नहीं है।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

'बालकं गाहं दूई तीण पिओ सि च्चि णम्हवावाणे ।

सा मरइ तुज्ज अयसो एअं धम्मअखरं भणिमो ॥'

प्रसीदेति प्रयामिदमसति कांषे न घटते

फरिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेद्भुपगमः ।

न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि द्वि घास्यसि मृषा

किमेतस्मिन्वक्तु क्षममिति न चेद्भि पियतमे ॥'

'सुहृथ विलंपसु थोअं जाव इमं विरहफाअरं हियअं ।

संठविऊअ भणिअसं अहवा थोलेसु किं भणिमो ॥'

'उयोत्सना तम पिफयचः क्रकचस्तुपारा

क्षारो मृणालपलयानि कृतान्तदन्ताः ।

सर्षं दुरन्तमिदमद्य शिरीषमृद्धी

सा नूनमाः किमयथा हतजल्पितेन ॥'

आद्ये उदाहरणद्वये यथाक्रमं घस्तुनिषेधेन भणितिनिषेधेन चोक्तविषय आक्षेपः । तत्र चोक्तस्य कृतीत्याद्य घस्तुनो निषेधमुखेनेव घास्तघत्वादि-विशेष । तथा भण्यमानस्य प्रसादस्य निषेधमुखेनेव कोषोपरागनियतनेना-घश्यस्योकार्यार्थं विशेषः । उत्तरस्मिन् पुनरुदाहरणद्वये यथाक्रमं सामान्य-क्षारणेष्टस्यांशोकावर्षंशान्तरस्य स्वरूपेण च भणितिनिषेधे वक्ष्यमाणविषय आक्षेपः । तत्र च वक्ष्यमाणश्रेष्ठस्य भणित्समितिप्रतिष्ठातस्य सातिशयो मरणशङ्कोपजनकत्वादिर्विशेषः । तथा चांशोकावर्षंशान्तरस्य म्रियत इति प्रतिपाद्यस्याशक्यवचनीयत्वादिर्विशेषः । एवं च आक्षेपे इष्टोर्थः तस्पैव निषेधः, निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वम्, विशेषप्रतिपादनं चेति श्रुष्ट-यमुपयुज्यते । तेन न निषेधविधिः न विहितनिषेधः । किं तु निषेधेन विवेकाक्षेपः । निषेधस्यासत्यत्वाद् विधिपर्यवसानात् । विधिना तु निषेधोऽस्य भेदत्वेन वक्ष्यते । ततश्च हर्षचरिते—'अनुरूपो देव इत्यात्मसंमाधना-इत्यादौ, तथा 'यामीति ॥ स्नेहसदृशम्' इत्यादावुक्तविषय आक्षेपः ।

क्रम से उदाहरण यथा—

'बालक ! गाह दूनी तस्या पिओऽमोति नास्मद्व्यापारः ।

सा भियन्ने तवायश प्तद् धर्माअरं भगामः ॥'

[१]—[दूनी की नाबक के प्रति उक्ति] 'बालक ! तुम उम [मेरी सखी] के प्रिय हो इस लिय मुझे दूनी न समझ बैठना, हम लोभ यह काम नहीं करनीं । हम तो 'बह मर जायगी और तुम्हारा भयच होगा' यह चरम की वान मर कहने आई हैं ।'

[२]—‘यदि कहूँ कि प्रसन्न हो जाओ’ तो यह जमता नहीं, क्योंकि तुम गुस्सा [तो] हो नहीं, ‘देसा पुनः न कलंगा’ यह कहूँ तो यह अपना दोष स्वीकार करना है, कहूँ कि ‘दोष मेरा नहीं है’ तो इसे तुम शूठ समझोगी । हे भ्रियतमे ! मैं नहीं समझ पा रहा कि इस विषय स्थिति में क्या कहना उचित है ।’

‘शुभय विलम्बस्व स्तीकं यावदिदं विरहकातरं हृदयम् ।

संस्थाप्य भणिन्याम्यथवापक्राम किं भगामः ॥

[३]—‘शुभग ! थोड़ा ठहरो । अपने विरहकातर हृदय को स्थिर तक कहूँगी, या जाओ चले जाओ । कहें ही क्या ?’

[४]—चाँदनी अभियारी हो गई है, कोकिल की कूक आरा बन गई है, ओस की बूँदें क्षार और मृगालयुंज यम की दंतौड़ी प्रतीत हो रहे हैं । इस प्रकार इस समय वे सभी दुःखादी वन बैठे हैं । शिरोपबोमल अचेली यह निश्चित ही, किन्तु आः इस सब बेकाम मायग से क्या लाभ ।

[इन चार स्थलों में से] प्रथम दो स्थलों में कम से (प्रथम में) वस्तुनिर्घातक तथा [द्वितीय में] कथननिर्घातक आक्षेप है । यह आक्षेप उक्तविषय आक्षेप है । इनमें से [प्रथम में] दूतीरूपी वस्तु कही जा चुकी है । उसका निषेध किया गया है । उसी से उसमें वास्तविकता आदि रूप विशेषता का ज्ञान होता है । इसी प्रकार [द्वितीय में] प्रसन्न होने की जो बात कही जा रही है उसमें ‘कोप [रूपी राहु] का ग्रहण हटाकर अवश्य स्वीकार किये जाने योग्य होने’ की विशेषता विदित होती है । यह विशेषता निषेध के द्वारा ही निकलती है ।

परवर्ती जो दो उदाहरण हैं । उनमें क्रमशः [प्रथम में] विवक्षित अर्थ सामान्य रूप से कह दिया गया है अतः उसका आक्षेप कथन ही चुका है तदनन्तर अन्य अंश और स्वयं कथन का ही निषेध होता है । अतः यहाँ वक्ष्यमाणविषय [ज्ञानक] आक्षेप है । इसमें ‘कहूँगी’-शब्द के द्वारा जिस वस्तु के कहने की बात कही गई है उस अभीष्ट-वस्तु में जो वैशिष्ट्य प्रतीत होता है वह है—‘अत्यधिक मात्रा में मरणशुंका उत्पन्न करना’ । इसी प्रकार [अन्तिम स्थल में] प्रतिपाद्य वस्तु का कुछ अंश कह दिया गया है और कुछ अंश जिसका प्रतिपादन ‘मरने वाली है’ इस प्रकार किया जाना शेष है उसमें [निषेध के द्वारा] ‘उसका कहा जाना संभव नहीं है’ आदि विशेषताएँ प्रतीत होती हैं ।

इस प्रकार आक्षेप में (१) अभीष्ट अर्थ, (२) उसी अर्थ का निषेध, (३) निषेध का सिद्ध न होना और (४) विशेषता का प्रतिपादन इन चार तत्वों का उपयोग होता है । इस लिए न तो यहाँ निषेध का विधान होता और न विदित का निषेध ही । यहाँ तो निषेध से विधि का आक्षेप होता है । यह इसलिये कि निषेध असत्य होता है अतः उसका विधि में ही पर्यवसान हो जाता है । विधि से जो निषेध प्रतीत होता है उसे तो हम इसी [आक्षेप] का एक भेद बतलाने वाले हैं ।

इसलिये हर्षचरित में आई [प्रथम उच्छ्वास में दाधीज की दूती मालती द्वारा सरस्वती के प्रति कथित इनारे] मालिक आपके अनुरूप हैं यह स्वयं की वदार्थ करता है—[३६ पृ० नि० ला० सं० ७] इत्यादि ठिक में, तथा—[तृतीय उच्छ्वास में दक्षरूप में परिणत मेरवाचार्य के राजा पुण्यभूति के प्रति कथित] ‘जाता हूँ’ यह कहना स्नेह के अनुरूप न होगा [पृ० ११६ वहाँ] इत्यादि वाक्यों में उक्तविषय आक्षेप है ।

विमर्शिनी

वस्तुनो निषेधमुखेन विशेष इत्यनेन यस्यैव निषेधस्तस्यैव विशेष इत्युक्तं निर्वाहितम् ।

‘दूरप्रवामे सँसुहो सि सुहज आलिंगणं रण कुरुषु ।
अहवा छा हि इमिणा गमणमि विल्वभारेण ॥’

इत्यत्र पुनरुक्त्याल्लिङ्गनस्य निषेधो चिद्यौ तात्पर्याभावात् निषेधाभासतामियादिस्येतदुदाहरण न वाच्यम् । यतोऽत्र विलम्बनकारिण आलिङ्गनस्यैव निषेधेन गमनविधिरत्रेचित । स च विधिरनुपपद्यमानत्वादप्रस्थानलक्षण निषेध लक्षयति । अत्र च गमनस्यावश्यपरिहार्यत्वादिर्विदोषः प्रयोजनम् । अत्रालिङ्गनमात्रस्यैव चेष्टत्वे गमनस्य विधिरेव पर्यवस्येद्य निषेध इति विवक्षितवाक्यार्थविप्रलोप एव स्यात् । अतश्चेत्क्यपि पर्ये विहितनिषेधेऽप्याद्येपरमन्यत्र निषेधोऽन्यत्र प्रिदोषमेति न वाच्यम् ।

‘वस्तुनो निषेधमुखेन विदोष —वस्तु के निषेध से उसकी विशेषता’ इस कथन का तात्पर्य यह निकला कि ‘विशेषता उसी में प्रतीत होगी जिसका निषेध होगा ।’ [अतः अलङ्काररत्नाकरकार को उक्तविषय आशेष के लिए]

‘दूर-प्रवामे समुत्तोरसि सुमग ! आलिंगनं क्षण कुरुष्व ।
अथवा छलमेनेन गमने विलम्बकारिणा ॥’

—‘सुमग ! दूर देश जाने को उद्यत हो । आओ, एक क्षण छाती से लग लो (आलिंगन कर लो) अथवा रहने दो । इससे जाने में विलम्ब हो जाएगा ।’

इसे उदाहरण नहीं बनलाना चाहिए । क्योंकि इसमें उक्त [कह दिए गए] आलिंगन का जो निषेध किया गया है उसका तात्पर्य [अपने] विधान में नहीं है अतः वह निषेधाभास नहीं बन पाता । ऐसा दृष्टिगत होता है कि इस पद्य में [पूर्वविहित] ‘अलिंगन करो’ शब्द के द्वारा विलम्बकारी आलिंगन का ही [पदवाच्य ‘रहने दो इसे’] इम प्रकार [निषेध कट-गमनविधि का समर्थन किया गया है । यह विधि अपने आप में बाधित है [क्योंकि वक्ता को अन्वेषीष्ट है] अतः इसकी ‘अप्रस्थान’- [गमनाभाव, गमन निषेध]-रूपी निषेध में लक्षणा हो जाती है और इस लक्षणा का प्रयोजन उद्देश्य है गमन में इस वैशिष्ट्य की प्रतीति कि वह अवश्यमेव परिहार्य है । [इस प्रकार निषेध किया गया आलिंगनरूपी अन्य अर्थ का और विशेषता प्रतीति हुई, गमनरूपी अन्य अर्थ में] । [वस्तुतः इम पद्यार्थ में गमनविधि के द्वारा प्रतिपादित गमननिषेध ही अभीष्ट अर्थ है] यदि यहाँ अलङ्गलिंगनमात्र अभीष्ट होता तो गमन का विधान [बाधित न होकर विधान रूप में] ही अन्ततः प्रतीत = [पर्यवसित] होता, निषेध नहीं, और इस प्रकार वाक्य से जो अर्थ विवक्षित [= अभीष्ट] है वही अर्थ सर्वथा छूट जाएगा । और इसी कारण [अलङ्काररत्नाकरकार को] यह भी नहीं कहना चाहिए कि ‘उक्तविषय आशेष यहाँ भी होता है जहाँ विहित का निषेध होता है और यहाँ भी जहाँ निषेध अन्यत्र होता है और विशेषता की प्रतीति अन्यत्र ।

विमर्श—विमर्शनी का यह अर्थ रत्नाकर की सर्वस्वविरोधी मान्यताओं का उच्छेद है । रत्नाकर में शोभाकरमित्र ने ‘दूरप्रवासे’ पद्य में उक्तविषय नामक आशेष का वस्तुनिषेध नामक भेद माना है । उनके अनुसार इस पद्य में अलङ्गलिंगन ही वक्ता का अभीष्ट अर्थ है । उनके निषेध से वे गमन में ‘आवश्यकत्व’ और ‘अपरिहार्यत्व’ इन विशेषताओं की प्रतीति मानते हैं । इस प्रकार शोभाकर के अनुसार निषेध आलिंगन का होने पर भी विशेषता की प्रतीति गमन में होती है । सर्वस्वकार का सिद्धान्त है कि निषेध और विशेष दोनों एक ही वस्तु के होते हैं । रत्नाकर इसका उल्लेखपूर्वक स्पष्टन करते और इस पद्यार्थ के आधार पर कहते हैं—‘एव चैवमादावालिङ्गनीर्निषेधे-प्यन्यविशेषप्रतीतेः’ ‘यस्यैव निषेधस्तस्यैव विशेष’ इत्याद्यसङ्गतम्, अव्यापकत्वात् ।—‘उक्त पद्य के अर्थ में निषेध आलिंगन का हो रहा है, और विशेषता गमन में प्रतीत हो रही है इस कारण

[सर्वस्वकार का] 'जिसका निषेध हो विशेषता भी उसी में प्रतीत हो' यह कथन असंगत है । यह आक्षेप के सभी भेदों को व्याप्त नहीं करता ।'

सर्वस्वकार ने कहा है 'विहित का निषेध नहीं होता' । रत्नाकरकार इसके भी विरोध में स्पष्ट-रूप से कहते हैं—'अत्रालिङ्गनस्य विहितस्यापि निषेधे आक्षेपसंबन्धाद् 'विहितस्य निषेधो नाक्षेप' इति न वाच्यम्' = अर्थात् इस पद्य में जो आलिङ्गन विहित है उसी का निषेध हुआ है । यहाँ आक्षेप संभव है तो [सर्वस्वकार को] 'विहित का निषेध आक्षेप नहीं होता' यह नहीं कहना चाहिए ।

विमर्शिनोकार इस पद्य में गमन का निषेध विवक्षित [या वक्ता को अभीष्ट] मानते हैं और उसी में अवश्यपरिहार्यत्व रूपी विशेषता को प्रतीति स्वीकार करते हैं । इस प्रकार उनके अनुसार यहाँ निषेध और विशेषता दोनों का आधार एक ही ठहरता है । इतने पर भी वे इस पद्य को आक्षेप का उदाहरण नहीं मानते, क्योंकि यहाँ न तो गमन का विधान ही कथित है और न उसका निषेध ही । दोनों विमर्शिनोकार के अनुसार शब्दशक्ति से भासित न होकर अर्थशक्ति से भासित होते हैं । गमन का विधान भासित होता है उसमें विलम्ब करने वाले आलिङ्गन के निषेध से व्यञ्जना द्वारा, और उसका निषेध भासित होता है लक्षणा द्वारा । रत्नाकरकार के अनुसार यदि गमन में प्रतीत होने वाली विशेषता भी अवश्य अपरिहार्यता तो विमर्शिनोकार के अनुसार उसके निषेध में प्रतीत होने वाली विशेषता हुई अवश्य परिहार्यता । फलतः निर्णयसागर संस्करण में रत्नाकर की ही पंक्ति के समान विमर्शिनी में भी जो 'अवस्थापरिहार्यत्व' छपा है वह सर्वथा विपरीत है ।

वस्तुतः 'दूरप्रवासे'० पद्य वाच्य आक्षेप का उदाहरण न होकर व्यंग्य आक्षेप का उदाहरण है । निषेध और विशेष दोनों जो यहाँ शब्द वाच्य न होकर व्यंग्य हैं । व्यंग्य होने पर भी यह ध्वनिरूप न होकर गुणीभूतव्यंग्यरूप है क्योंकि इसमें गमन शब्दतः कथित है । ध्वनित्व इसी व्यंग्य में संभव होता है जो किसी भी अंश में वाच्य न हो ।

विमर्शिनोकार के मत में एक विचित्र तथ्य यह है कि वे आक्षिप्त या व्यंग्य अर्थ में भी लक्षणा का उत्पान मानते हैं । गमन शब्द से गमनविधि का आक्षेप होता है, वह वक्ता को अभीष्ट नहीं है मतः उसका पर्यवसान निषेध में हो जाता है । विमर्शिनोकार इस पर्यवसान में कारण मानते हैं विपरीत लक्षणा । लक्षणा तो शब्द से कथित अतएव मुख्य या वाच्य अर्थ के वाच से उत्पान पाती है, वाच्य या मुख्य अर्थ से जाने वाले अर्थ के वाच से नहीं ।

विमर्शिनी

प्रसाश्येति वस्तुतो न, ब्रयामिति ताकथनस्यैव निषेधः । सामान्यद्वारेणेति । भणिप्या-
मीति भणनसामान्यमाश्रित्यैथर्थः । तच्च तत्तदपराधोदीरणपरमेवेति तस्य विशेषागूरकत्वम् ।
इष्टस्येति काकादिन्यायेन योज्यम् । अंशोक्ताविति सर्वं दूरन्तमिरयादिना । अंशान्तरस्येति
त्रियते इत्यादेः । किमयथा हतजलिपतेनेति सामान्यरूपस्यैव निषेधः । एकमप्यस्य
विभज्य स्वरूपं प्रतिपादयति—एवं चेत्यादिना । उपयुज्यत इति । एतच्चतुष्टयमन्तरेणाक्षेप पद्य
न भवतीत्यर्थः । तदेवाह—तेनेत्यादिना । निषेधविधिनाक्षेप इति संबन्धः । एतदुत्तरत्रापि
योज्यम् । यद्वाहुः—

'विहितस्य निषेधेन न निषेधविधौ भवेत् ।

निषेधेन विधिर्यन्न तत्राक्षेपः प्रकीर्तितः ॥' इति ।

तत्र निषेधविधिर्यथा—

'एष चीरोद्जन्मा कुमुदकुलपतिः सेयमाकाशगङ्गा

ब्राह्मं शीर्षं तदेतत्तद्विमनिमिपं नेत्रमनेरगारम् ।

सैवा हालाहलश्रीर्वलियततनवो नागराजास्त एते
कङ्काल कालियारेरिदमपि तदलं भाषितैरौ नमस्ते ॥'

अत्रालमिति निषेधस्यैव विधिः । अतश्च न तस्यासत्यत्वम् । सदमावाच न विधिपर्य-
वसानमिपात्रेपोपयोगिन्याः सामप्रथा अभाव इति नायमशालंकारः । स हि चतुष्टय-
संनिधावेव भवति । विहितनिषेधस्तु यथा—

'प्रह्लाभ्यः शिवमस्तु वस्तु विततं किञ्चिद् वय प्रभूहे
हे सन्तः शृणुनावधत्त च घृतो युष्मासु सेवाञ्जलिः ।
षड्वा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरां यद्यस्ति सूक्तामृतं
माद्यन्ति स्वयमेव तस्मिन्मनसो याच्या परं दैन्यम्ः ॥'

अत्र विहितानां विनयोक्तीनां निषेध इति विहितनिषेधः । पूर्ववद्वात्र नाचेपा-
लंकारः । निषेधेन विधिस्तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतः ।

प्रसादइत्य = प्रसाद का निषेध, वस्तुतः प्रसादरूपी वस्तु का नहीं, अपितु उसके मूल्यान् =
कहूँ इस प्रकार शब्द से कथिन कथन का ही निषेध किया गया है । 'सामान्यद्वारेण = सामान्य
द्वारा, सामान्यरूप से अर्थात् 'अग्नियामि = कहूँगी' इस प्रकार शब्द से कथिन कथन सामान्य को
लेकर । और यह [कथनसामान्य] नायक के उन-उन अपराधों की ओर सकेन करने के लिए ही
है, इसलिए वह विशेषता का अन्वय है । इहइत्य = अभीष्ट इतका अन्वय कोप की [एक] आँसु
का [दोनों] गोलकों के समान दोनों [अशु और अंशान्तर] में करना चाहिए । अंशोक्ती =
अंशतः वक्ति = आंशिक कथन, अर्थात् 'सर्वं दुरन्तम् = सभी दुखदायी' इत्यादि के द्वारा । 'अंशा-
न्तरइत्य = अन्य अंश का' 'अप्रियते = मर रहा है' इत्यादि का । 'किमथवा इतनद्विपतेन = अथवा
इस अर्थ मापण से क्या' इस प्रकार सामान्यरूप से कथिन का ही निषेध किया जा रहा है ।

इस प्रकार आक्षेप का विवेचन अलग-अलग भेदों में किया तब भी भेदों का प्रतिपादन पुनः
करते हुए कहते हैं—'एवं च' इत्यादि । उपयुज्यते = उपयोग होता है = अर्थ यह कि इन चार
भेदों के बिना आक्षेप की निष्पत्ति ही नहीं हो पागी । इसी उच्य को पुनः कहते हैं—'तेन = अतः
इसलिए'—इत्यादि के द्वारा यहाँ इस प्रकार अन्वय करना चाहिए—'निषेधविधि आक्षेप नहीं है'
इसी प्रकार परवर्ती वाक्य में भी—'विहितनिषेध आक्षेप नहीं है' । जैसा कि कहा गया है—
'आक्षेप न तो विहित के निषेध में होता और न निषेध के विधान में, अपितु जहाँ निषेध से विधि
का आक्षेप होता है वहाँ आक्षेप माना गया है ।'

इनमें से निषेध का विधान यथा—

'यद्द तो क्षीरमागर से उत्पन्न चन्द्रमा, वह आकाशगगा, यह ब्रह्मा का सिर, यह अग्नि का
निवासगृह निनिषेध तीसरा नेत्र, यह वह हालाहल की नील छटा, शरीर को घेरे हुए वे वे नाग-
राज, यह वह कालियारि का कंकाल, अधिक कहने से क्या, मयवन् आपको 'ओं नमः' ।

यहाँ 'अलम् = अधिक कहने से क्या' इस प्रकार निषेध का ही विधान विवक्षित है । इसीलिए
इस निषेध में असत्यता नहीं है । असत्यता न होने से उसका पर्यवसान विधि में नहीं
होता । इस प्रकार यहाँ आक्षेपोपयोगी सामग्री ही नहीं है । फलन यहाँ यह [आक्षेप] अलंकार
नहीं है । वह तो चारों अंगों के रहने पर ही होता है ।

विहित का निषेध यथा—

'ब्राह्मणों का कल्याण हो । हम अत्यन्त विस्तीर्ण वस्तु को संक्षेप में कहने जा रहे हैं । हे
सरपुत्रो ! आप सब इसे सुनें और समझें । आप की सेवा में हमारी यह अर्बलि है [हम हाथ

जोड़ते हैं]। अथवा वे विनयपूर्ण वचन कहने से क्या। यदि मेरी वाणी में थोड़ा-बहुत सुभाषितरूपी अमृत होगा तो सुनेता जन स्वयं ही प्रसन्न होंगे। वाचना में तो दीनता रहती है।

यहां विनयोक्ति का विषय हो चुका है। तदनन्तर उनका निषेध किया गया है इस कारण यह विहितनिषेध हुआ। प्रथम उदाहरण के समान यहां भी आक्षेपालङ्कार नहीं है। निषेध से विधि का जो उदाहरण हो सकता है वह स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है।

विमर्शिनी

अत्र च निषेधः स्वयमनुपपद्यमानत्वादविश्राम्यन् स्वात्मानं विध्यर्थं समर्पयतीति 'परार्थं इवसमर्पणम्' इत्येवंरूपलक्षणांमूलत्वमस्य सिद्धम्। यदुक्तमन्यत्र—

'अत्र स्वयमविश्रान्तेः परार्थं स्वसमर्पणम्।

कुन्तेऽसौ स आक्षेपो निषेपस्यावभासनात् ॥ इति।

निषेधविधौ विहितनिषेधे च पुनरभिधेयः। न पुनः 'स्वसिद्धये पराक्षेप' इत्येवं लक्षणांमूलत्वमत्र वाच्यम्। मुख्यार्थस्यैव विश्रान्तेर्मुंघयार्थवाधाद्यभावात्। अतश्चाभ्यैः

'स्वसिद्धये पराक्षेपः प्रतिषेधस्य यत्र हि।

आक्षेपस्तत्र नैवेष्टः प्रतिषेधस्य भासनात् ॥'

इत्याद्युक्तमेवोक्तम्। यद्यपि लक्षणायां 'स्वसिद्धये पराक्षेपस्य प्रागभाव एव प्रागुक्तस्तथाप्येतरपक्षाश्रयेऽपि प्राच्यानामपर्यालोचिताभिधाननिषेधपरमेतदुक्तम्। ननु च यद्येवं निषेधस्यास्तरथात्वाद् विधिपर्यवसाने आक्षेप उक्तस्तद्द्वेष विधेर्निषेधपर्यवसाने को नामालङ्कार इत्याशङ्क्याह—विधितेत्वादिना। अस्मैति आक्षेपस्य। शब्दसाभ्यनिबन्धनं सामान्यभावमाश्रित्य चात्र प्रकारप्रकारभावः कल्पितो न तु वास्तवः। विधिनिषेधयोर्निषेधविध्यागूरुकावाङ्मनयोः सामान्यलक्षणाशोभात्। ततश्चेति निषेधस्य विधिपर्यवसानात्।

अस्य चालङ्कारान्तराश्रयाद् वैलक्षण्यं दर्शयति—कैवलमित्यादिना।

इसमें निषेध अपने आप में बनता नहीं है बाधित हो जाता है अतः अपने आप को विधि अर्थ में समर्पित कर देता है। इस कारण यह 'दूसरे अर्थ के लिए अपना समर्पण' इस प्रकार की जो [लक्षणलक्षणा या अदृष्टवार्था नामक] लक्षणा होती है तन्मूलक सिद्ध होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—'जहां स्वयं में असिद्ध रहने से वाच्यार्थ अपना समर्पण दूसरे अर्थ को कर देता है उसे आक्षेप कहा जाता है क्योंकि उसमें निषेध का आयासमात्र होता है।' निषेधविधि या विहितनिषेध में आक्षेप अभिधेय होता है। इन स्थलों में उक्त 'अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप'—इस प्रकार की [उपादान] लक्षणा से उसका ज्ञान नहीं होता। बर्हा [उपादान लक्षणा में] तो मुख्य अर्थ अन्त तक बना ही रहता है, अतः लक्षणा के लिए अपेक्षित मुख्यार्थ बाधादि सामग्री का अभाव रहता है। इसीलिए किन्हीं अन्य आचार्य ने—

—'जहां निषेध अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप करता है, वहां आक्षेप नहीं होता, क्योंकि वहां तो निषेध का मान ही होता रहता है।'।

—इत्यादि अमान्य बातें ही कही हैं। यद्यपि हमने [उपादान लक्षणा नाम से केवल लक्षण का खण्डन करते हुए] वाक्यार्थ द्वारा अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप हुआ करता ही नहीं यह अभी-अभी कहा है तथापि [उपादान लक्षणा को न मानने वाले अतः हमारे ही पक्ष के ही होने पर भी] एक आचार्य के मत का हमने अभी-अभी जो यह खण्डन किया है वह यह बतलाने के लिए कि यदि प्राचीन आचार्य यह [उपादान लक्षणा का] पक्ष भी अपनाएँ तब भी

उनका [विहितनिषेध और निषेधविधि से समव आक्षेपालङ्कार के पक्ष का] प्रतिपादन प्रश-
पूर्ण नहीं होगा ।'

'यदि ऐसा है तो [यह बतनाइए कि] निषेध के असत्य हो जाने से उसके विधि में पर्यवृत्ति
होने पर जैसे आक्षेप बनलाया गया, वैसे ही विधि के निषेध में पर्यवृत्ति होने पर कौन सा अलङ्कार
होगा' ऐसी शंका कर उचर देते हैं—'विधिना' इत्यादि के द्वारा । अर्थ—इसका आक्षेप का ।
[आक्षेप शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त होता है । इस] शब्दसाम्य के आधार पर निषेध
सामान्य भाव को लेकर यहाँ प्रकारप्रकारिभाव की कल्पना की गई है, यह प्रकारप्रकारिभाव
वास्तविक नहीं है । यह इसलिए कि विधि और निषेध से [उनमें उलट] निषेध और विधि का
ज्ञान होना है, फलतः दोनों भेदों में कोई सामान्य लक्षण समव नहीं हो सकता । ततश्च—इसलिए
अर्थात् निषेध का विधि में पर्यवृत्तान होने से ।

यह [निषेध का विधि में पर्यवृत्तान] अन्य अलङ्कारों में भी रहता है अतः उनसे अलग
बनाने हैं—

[सर्वस्व]

'केवलं बाल इति सुनरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भयङ्गुजपङ्करमेव
रक्षास्थानम्' इत्याद्यावाक्षेपयुद्धिर्न कार्या, बालत्वादेवक्तव्य निषेध्यत्वेना-
धिबक्षितत्वात् । प्रयुक्ताश्च बाल्यादिः परित्यागनिषेधकत्वेन प्रतीयते । तेन
नायमाक्षेपः । कस्तर्ह्ययं विच्छित्तिप्रकारोऽलङ्कार इति चेत्, व्याघाताद्य-
स्यालङ्कारस्यार्थं द्वितीयो भेदो वक्ष्यते ।

'तद्विष्टस्य निषेध्यत्वमाक्षेपोक्तेर्निगन्धनम् ।

सौकर्येणान्यकृतये न निषेधकता पुनः ॥'

इति पिण्डार्थः ।

इह तु—

'साहित्यपाथोनिधिग्रन्थनोरर्थं कर्णामृतं रक्षत ह्ये कवीन्द्राः ।

यदन्य देत्या इव लुण्ठनाय कान्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति ॥

गृह्णन्तु सर्वे यदि धा यथेच्छं नास्ति क्षतिः कापि कवीभ्वराणाम् ।

रत्नेषु लुप्तेषु बहुभ्यमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः ॥' इति ।

तथा—

देया शिलापट्टकवाटमुद्रा श्रीखण्डशैलस्य दरीगृहेषु ।

वियोगिनीफण्टक एष वायुः कारागृहस्यास्तु चिरादमिहः ॥

वाणेन हत्वा मृगमस्थ यात्रा निवार्यतां दक्षिणमारुतस्य ।

इत्यर्थनीयः शयराधिराजः श्रीखण्डपृथ्वीधरकन्दरस्थः ॥

यद्वा मृपा तिष्ठतु दैन्यमेतन्नेच्छन्ति वैरं मरुता किराताः ।

केलिप्रसङ्गे शयराङ्गनानां स हि स्मरग्लानिमपाकरोति ॥' इति

नाक्षेपबुद्धिः कार्या । विहितनिषेधो ह्ययम् । न चासावाक्षेपः । निषेध-
विधौ तस्य भावादित्युक्तत्वात् । चमत्कारोऽप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न
तद्भावमात्रेणाक्षेपबुद्धिः कार्या ।

[मालवराज पर आक्रमण करने जाते समय राज्यवर्धन से स्वयं को भी ले जाने के लिए
हर्षवर्धन की उक्ति—]

‘केवल बालक हूँ’ [ऐसा समझकर न ले जा रहे हों] तब तो और भी अररित्याव्य [साथ
ले चलने योग्य] हूँ, रक्षणीय हूँ [ऐसा समझकर न ले जा रहे हों] तब भी रक्षास्थान आपका
मुजपंजर है ।’ [—हर्षचरित उल्लास-६, नि.सा. पृ० १८४]

इत्यादि स्थलों में आक्षेप नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ कथित बालत्वादि निषेध्यरूप
से विवक्षित नहीं है । बालत्वादि तो उलटे, छोड़ जाने के निषेधक प्रतीत होते हैं । इसलिए [यहाँ]
यह आक्षेप नहीं है [प्रश्न] तब कौन सा अलंकार है क्योंकि उक्ति तो वैचित्र्यपूर्ण है ? [उत्तर]
आगे बतलाया जाएगा कि यह व्याघात नामक अलंकार का दूसरा भेद है । इस प्रकार सार
यह है कि—

[अलंकार का] आक्षेप कहने में कारण अमोष्ट अर्थ की नियेयता [बनलाना] है, न कि अन्य
[अप्रस्तुत] कार्य के प्रति सौकर्य से अन्य [प्रस्तुत] कार्य के प्रति [अन्य अप्रस्तुत कार्य में]
निषेधकता [बतलाना] । [आगे कहे जा रहे] इन पद्यों में भी आक्षेप नहीं समझ बैठना चाहिए—

‘हे कवीन्द्रो ! [श्रव्यदृश्यात्मक कान्यरूपी] साहित्य-समुद्र के मन्थन से निकले कर्णामृत
[इस महाकान्यरूपी श्रव्यकान्यविद्या] की रखवाली रखो क्योंकि कान्यार्थशौर लोभ इसे
सूटने के लिये दैत्यों के समान समुपगत रहते हैं ।’ ‘अथवा ऐसे जितने लोग हैं वे सब [इसे]
चपेच्छ चुराते चले [इससे] जो कवीश्वर हैं उनकी कोई क्षति संभव नहीं है । देवताओं से
बहुत से रत्न निकाल लिए तथापि समुद्र अभी तक रत्नाकर ही है ।’

इसी प्रकार—

‘मलयगिरि की गुफागृहों में चट्टानों के किवाड़ बन्द कर देने चाहिए [जिससे] विद्योगिनियों
के लिए कौंदा बना थड़ [मलय]-पवन काफी देर तक कारागृह का मजा चले ।’

‘मलयगिरि के श्वरपति से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि इस दक्षिणापवन के
[बाह्य] मृग को क्षण से मार डालो और इसे श्वर आने से रोक दो ।’

‘अथवा यह फ़िलूल की [याचनागत] दीनता रहे, किरात लोभ वायु से बैर नहीं करना
चाहते । कैलिप्रसंग में श्वराज्ञानाओं की स्मरम्भान को यही वायु ओ दूर करता है ।’

यह तो विहितनिषेध है । यह आक्षेप नहीं है । क्योंकि यह कहा जा चुका है कि थड़ वहाँ
होता है । जहाँ निषेध की विधि होती है । यहाँ चमत्कार भी निषेध से ही हो रहा है [न कि
निषेधजनित विधि से] । इसलिए केवल आक्षेप से मिलती-जुलती स्थितिमात्र को देखकर
[जहाँ-कहाँ भी] आक्षेप नहीं समझ बैठना चाहिए ।

दिमर्शिनी

अत्र राज्यवर्धनोक्तौ बाहुवादेरुद्धवम् । ओहर्षदेवोक्तौ तु निषेधाविषया । प्रस्तुतेति ।
न केवलं बाह्वशास्त्रनिषेध्यत्वेन विवक्षितम्, यावदेतदेवान्यनिषेधकत्वेनापीत्यर्थः । तेनेति,
बालवादेर्निषेध्यत्वेनाविवक्षितत्वात् । वक्ष्यत इति, सौकर्येण कार्यविह्वला कथा चेत्यादिना ।

एतदेव साराधंतया पिण्डीकृत्यापि प्रतिपादयति— तदिहस्येत्यादिना । अन्यकृतय इति निषेधार्थम् । अस्य च यथा विधिगुरोर्न प्रतीतिस्तथा निषेधमुत्तेनेति सौकर्यम् । एवं च निषेधकतैवाद्येपेक्षेन निषन्धनमिति विहितनिषेधादावेतद्भ्रमो न विधेय इत्याह—इति त्वित्यादि । तस्येश्याद्येपस्य । तद्भावमात्रेणेति । केवलेनैव चमत्कारसद्भावेनेत्यर्थः ।

यदा राग्यवर्धन की उक्ति [बाल, रसुणीय इति] में बालत्वादि उक्त है और श्री हर्षदेव की उक्ति [सुतरामपरित्याज्योऽस्मि०] में [उनके] निषेध की विवक्षा नहीं है ।

प्रार्युत = उलटे = अर्थ यह कि यहां बालत्वादि न केवल अविषेधरूप से विवक्षित है, अपि तु ये ही अन्य के निषेधक के रूप में भी विवक्षित हैं । तेन इत् कारण - अर्थात् बालत्वादि के निषेधरूप से विवक्षित न होने के कारण । वचयते = कहा जाएगा 'सौकर्येण कार्यवित्ता क्रिया च' इत्यादि के द्वारा हमी तथ्य को साररूप से बयोर कर प्रतिपादिन करते हुए लिखते हैं—'तदिहस्य' इत्यादि करिका द्वारा । अन्यकृतये = अर्थात् निषेध के लिए । इसकी प्रतीति जैसे विधि के द्वारा होती है वैसे ही निषेध के द्वारा भी यही है सौकर्य । 'इम कारण केवल निषेधकता ही आक्षेप संज्ञा में कारण नहीं बनती, इसलिए विहितनिषेधादि में इसका भ्रम नहीं करना चाहिए—' इस तथ्य को बताते हुए लिखते हैं—'इह तु' इत्यादि । तस्य उन्ना = आक्षेप का । तद्भावमात्रेण = उसके भावमात्र से = चमत्कार के सद्भावमात्र से [इसकी अपेक्षा हमारा अर्थ अधिक अच्छा है] ।

[सर्वस्व]

अयं चाक्षेपो ध्वन्यमानोऽपि भवति । यथा—

'गणिकासु विधेयो न विश्वासो घल्लभ त्वया ।

किं किं न कुर्वतेऽनर्थमिमा धनपरायणाः ॥'

अत्र हि गणिकाया उक्तौ तद्दोषोक्तिप्रस्तावे नाहं गणिकेति प्रतीयते । न चासौ निषेध पद्य । गणिकात्वेनावस्थितयैव गणिकात्वस्य निषेधात् । सोऽयं प्रमथलद्रूपो निषेधामासरूपो घञ्स्या गणिकायाः शुद्धस्नेहनिषन्धन-त्वेन धनविमुखत्वादौ विशेष पर्यवस्यतीत्युक्तविषय आक्षेपध्वनिरयम् । न तु—

'स वक्तुमखिलाञ्शक्तो ह्यग्रीयाश्रितान् गुणान् ।

योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं क्षातुं शक्तो महोदधेः ॥'

इत्याक्षेपध्वनावुदाहार्यम् । निषेधस्यैवात्र गम्यमानत्वात् । न निषेधामासस्य । गुणानां वक्तुमशक्यत्व एवात्र तात्पर्यम् । तन्निमित्तरु एवात्र चमत्कारो न निषेधामासहेतुक इति नाक्षेपध्वनिधीरत्र कार्या । सर्वथेष्ट निषेधामासस्य विध्युन्मुखस्याक्षेपत्वमिति स्थितम् ।

यह आक्षेप ध्वन्यमान भी होता है । यथा—

'मित्र ! तुम्हें गणिकाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए । धनपरायण ये क्या-क्या अनर्थ नहीं करती ।

—यह वक्ति गणिका है। इसमें स्वयं के दोष की बात कही जा रही है अतः प्रतीत होता है कि [बोलनेवाली गणिका यह बतलाना चाहती है कि] मैं गणिका नहीं हूँ। किन्तु यह निषेध ही हो ऐसा नहीं, क्योंकि यहाँ [गणिका ने] गणिकात्व को गणिकात्वरूप से रखते हुए ही उसका निषेध किया है, अतः इस निषेध का स्वरूप बाधित हो जाता है। इसलिए यह निषेधाभासरूप सिद्ध होता है और बोलने वाली को गणिका है उसके शुद्धस्नेहमूलक धनविमुखता-रूपी वैशिष्ट्य में पर्यवसित हो जाता है। इसलिए यह उक्त विषय [नामक] आक्षेप की ध्वनि हुई। [आनन्दवर्धनाचार्य को—]

‘हयग्रीव के पूरे गुणों को गिनने में समर्थ वही हो सकता है जो महोदधि को शयना पानी के धर्तों से जान सकता हो।’

—इस पद्यार्थ को आक्षेप का उदाहरण नहीं बतलाना चाहिए क्योंकि यहाँ निषेध ही गम्य है, निषेधाभास नहीं। गुणों की अवचनीयता में ही यहाँ तात्पर्य है। उसी को लेकर यहाँ चमत्कार है न कि निषेधाभास को लेकर। इस कारण यहाँ आक्षेपध्वनि नहीं समझनी चाहिए। इस प्रकार तय यह रहा कि ‘विधानोन्मुख इष्टनिषेधाभास ही सर्वथा आक्षेपरूप सिद्ध होता है।’

[पण्डितराज ने इस पद्य में ध्वनिकार का समर्थन और सर्वस्वकार का नामोक्तेखपूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना है कि ‘निषेध का आभास ही आक्षेप नहीं है। इसलिए इस पद्य में निषेध-मात्र भी आक्षेप हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ध्वनिकार के आसक्त्य की भी दुर्भार देकर सर्वस्वकार का खण्डन करना चाहा है [द्र० रसगंगाधर आक्षेप प्रकरण] वस्तुतः स्वयं ध्वनिकार ने आक्षेप का बही लक्षण स्वीकार किया है जो भामह और उद्भट ने प्रस्तुत किया है ‘विशेषणाभिधानेच्छया प्रतिषेधः आक्षेपः’ [‘उद्योत० १] फलतः उन्हें निषेध की आभासात्मकता ही मान्य है। इस कारण पण्डितराज का सर्वस्वकार पर आक्रोश व्यक्त करना अद्वानाम्य है ध्वनिकार के प्रति।

विमर्शिनी

प्रतीयत इति गम्यते, नाहं गणिकेति निषेधस्य शब्दानुपात्तत्वाद् विशेषमात्रस्य गम्यत्वे आक्षेपालङ्कारो वाच्य एव, निषेधाभासस्यापि गम्यत्वे ध्वंस्य हरयनेन दर्शितम्। अन्यथा ह्यस्य ध्वन्यमनोदाहरणत्वमयुक्तं स्यात्। तस्येहानुपक्रान्तत्वात्। इत्थं च निषेधाभासस्यैव गम्यत्वेऽयं ध्वन्यमानो भवति न निषेधमात्रस्यैवेति दर्शयितुमाह— नत्वित्यादि। अतश्च ध्वनिकृता यदेतदाक्षेपध्वनात्तुदाहृतं तदयुक्तमेवेति भावः। एवं चास्य यथोपपादितं स्वरूपमुपसंहारमग्राथापि प्रतिपादयति—सर्वथेत्यादिना। सर्वथेत्यनेन कुत्राप्यस्य व्यभिचारो नास्तीति दर्शितम्। एतदुपसंहारमन्यदवतारयति—एवमित्यादिना।

प्रतीयते = प्रतीत होता है = गम्य = व्यंग्य होता है क्योंकि ‘मै गणिका नहीं हूँ’ यह निषेध शुभ्रतः कथित नहीं है। ऐसा कहकर अन्यकार ने यह सिद्धान्त बतलाया कि ‘विशेषमात्र के गम्य होने पर आक्षेपालङ्कार वाच्य होता है और विशेष के साथ-साथ निषेधाभास भी गम्य हो तो [गम्य और प्रधानरूप से गम्य अर्थात्] ध्वन्य। यदि ऐसा सिद्धान्त न निकाला जाय तो इस [आक्षेप] की ध्वन्यमानता का उदाहरण देना ही ठीक नहीं होगा क्योंकि [वाच्यालङ्कारों के लिए रचे जा रहे] इस ग्रंथ में ध्वन्यमानता का कोई प्रसंग नहीं है। इसी प्रकार यह बतलाने

के लिए कि यह [आक्षेप] वही गम्य होना है जहाँ निषेधामास ही व्यंग्य हो, केवल निषेध नहीं लिखने हैं—न ॥ इत्यादि । इसका भाव यह हुआ कि ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि उक्त कारणों से प्वनिकार ने [स वक्तु] इस पद्य को जो आक्षेपध्वनि का उदाहरण माना वह अमान्य ही है । इस प्रकार इस आक्षेप का अभी तक जो [एक] भेद प्रतिपादित किया उसका उपसंहार करने हुए भी अगला उक्त सिद्धान्त बगला देते हैं—'सर्वथा' इत्यादि लिखकर । सर्वथा कहकर यह दिखलाया कि इन सिद्धान्त या लक्षण का व्यभिचार कहीं नहीं होता ।

अब इस भेद के विवेचन का उपसंहार करते हैं और अन्य भेद का उपक्रम करते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

एवमिष्टनिषेधेनाक्षेपमुक्त्वा समानन्यायत्वाद्निष्टविधिनाक्षेपमाह—

[सू० ४०] अनिष्टविध्याभासश्च ।

यथेष्टस्येष्टत्वाद्देव निषेधोऽनुषपन्न एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वाद्देव विधानं नोपपद्यते । तत् क्रियमाणं प्रस्त्रलद्रूपत्वाग्निपेये पर्ययस्यति । ततश्च विधिरूपकरणीभूतो निषेधे, इति विधिनायं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्ययसायी निषेधागूरणादाक्षेपः । यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत् फान्त पन्थानः सन्तु ते शिवा ।

ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान् ॥

अत्र कयाचित् फान्तस्य प्रस्थानमात्मनोऽनिष्टमप्यनिराकरणमुत्तेन विधीयते । न चास्य विधिर्युक्तः । अनिष्टत्वात् । सोऽयं प्रस्त्रलद्रूपत्वेन निषेधमागूरयति । फलं चात्रानिष्टस्य प्रस्थानस्यासंविहानपदनियन्धन-मत्यन्तपरिहार्यत्वप्रतिपादनम् । इदं च ममापि जन्म तत्रैवेत्याशीःप्रतिपादनैनानिष्टपर्ययसायिना व्यञ्जितम् । यथा वा—

'नो किंचित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढाः परं त्वाहशाः

पन्थानः कुशला भवन्तु भवतः को माहशामाग्रहः ।

किं त्वेतत् कथयामि संतनरतक्लान्तिच्छिद्रस्तास्त्वया

स्मर्तव्याः शिशिराः सहं सरुचयो गोदावरीवीचयः ॥'

अत्रानभिप्रेतमपि फान्तप्रस्थानं यदा प्रमुख एवाभ्युपगम्यमानं प्रतीयते, तदायमनिष्टविधिराभासमानमाक्षेपाङ्गम् । स्मर्तव्या इत्यनेन गमन निवृत्तिरेयोपोद्वलिता । तस्माद्यमपि प्रकार आक्षेपस्य समानन्यायतया-भिनवन्वेनोक्तः ।

इस प्रकार इष्ट के निषेध के द्वारा निष्पन्न आक्षेप का निर्वचन किया अब उसी प्रकार अनिष्ट की विधि से निष्पन्न आक्षेप का निर्वचन करते हैं—

[सू० ४०] तथा अनसीष्ट [अप्राकरगिक] के विधान का आभास [भी] ।

[६०] जिस प्रकार इष्ट पदार्थ के इष्ट होने से ही उसका निषेध नहीं बनता इसी प्रकार अनमीष्ट पदार्थ के अनमीष्ट होने से ही उसका विधान भी नहीं बच पाता । वह यदि किया जाता है तो बाधित होकर निषेध में परिणत हो जाता है ।

फलतः यहाँ विधि-निषेध का साधन [श्रापक हेतु] है । इस प्रकार क्योंकि निषेध का ध्यान विधि से होता है अतः इस [निषेध] का फल होता है अनमीष्ट पदार्थ में वैशिष्ट्य का ध्यान कराना । [इस प्रकार क्योंकि इस भेद में] निषेध को ऊपर से लाया जाता है [जिसे प्रथम दो भेदों के निर्वचन में आनयनरूप आन्तरण कहा गया है] फलतः [यह] आक्षेप कहलाता है [और इसीलिए यह केवल वक्ष्यमाणविषय तथा आचरणात्मक ही होता है] । उदाहरण यथा—

‘काम्त ! यदि का ही रहे हो तो जाओ । तुम्हारे पथ मंगलमय हों । मेरा भी जन्म वहीं हो जाए जहाँ आप पहुँचे हुए हों ।’

यहाँ कित्ती नायिका द्वारा अपने प्रिय के प्रस्थान का जो उसे अभीष्ट नहीं है, निराकरण न कर विधान किया जा रहा है । किन्तु उसका विधान संभव नहीं है, क्योंकि वह अनमीष्ट है । ऐसा वह विधान बाधित हो जाता है और [लक्षणा द्वारा] निषेध का ध्यान कराता है । इस [लक्षणा] का फल [प्रयोजन] है यहाँ इस अनमीष्ट प्रस्थान की अर्सविधान- [अनभिप्रायक तथा वक्ता की विवशता और तन्मूलक तदस्यता के चोत्क]-पद [चेत् = यदि] के प्रयोग से प्रतीत अत्यन्त अपरिहार्यता का ज्ञान । यह [फल] व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीत होता है जिसमें [उपयुक्त तदस्यता चोत्क अर्सविधान पक्षप्रयोग के अतिरिक्त] अमंगल [वृत्त्यु] रूपी अर्थ देने वाली 'मेरा भी जन्म वहीं हो जाए' इत्यादि इच्छा [भी एक] कारण है ।

एक उदाहरण और—

‘कुछ कहना नहीं है मुझमें ! तुम जैसे तो स्वयं ही काफी समझदार होते हैं । [तुम्हारे] पथ मंगलमय हों । तुमसे मुझ जैसी का आग्रह ही क्या हो सकता है ? तब भी इतना कष्टी हूँ कि तुम गोदावरी की वे निरन्तर सुरत से उत्पन्न थकावट हटाने वाली, पर्याप्त शौसल और हंस-संचार से सुन्दर तरंगें बाध करते रहना ।’

—यहाँ आरम्भ में ही सही किन्तु अब प्रिय का प्रस्थान अनमीष्ट होने पर भी स्वीकार किया जा रहा प्रतीत होता है तब तक तो यह अनमीष्ट विधान ठहरता है, किन्तु बाद में कारण [मंग] बन जाता है आक्षेप का, क्योंकि [तब यह वास्तविक न ठहर कर] अनासात्मक ठहरता है । [ऐसा इसलिए भी कि यहाँ] ‘समर्तन्याः = याद किया करना’ इस कथन के द्वारा गमननिवृत्ति पर ही बल दिया गया है । इसी कारण [अभिव्यक्ति के] इस प्रकार को भी स्थितितान्य के आधार पर आक्षेप का एक नया प्रकार बतलाया है ।

विमर्शिनी

सामान्यायत्वादिति । यथात्रेष्टस्य निषेधो वाचित्वाद् विधौ पर्यवस्यति तद्यैवेहाप्यनिष्टस्य विधिनिषेधे हृत्येवंरूपात् । पृथमेतावन्माश्रमस्याद्यस्य चाक्षेपस्य साजाःस्यम्, त्र पुनः सामान्यलक्षणसंभव इति भावः । तदेवाह—अनिष्टेत्यादि । एतदेव दृष्टान्तद्वारकं घ्याचष्टे—यथेत्यादिना । तदिति विधानम् । प्रस्त्रकद्रूपत्वादिति स्वार्थवाधात् । पर्यवस्यतीति । स्वात्मसमर्पणेन निषेधं लक्षयतीत्यर्थः । तत्रश्रेति । विधेर्निषेधलक्षणात् । उपकरणभूत इति । स्वार्थवाधादुपसर्जनीभूत इत्यर्थः । अनिष्टविशेषेति, अनेन प्रयोजनमत्रोक्तम् । अन्यथा हि गजज्ञानतुल्यत्वं स्यात् । निषेधगूणादिति निषेधस्यात्र लक्ष्यग्राणात्वात् । सर्वत्रैव हि लक्षणायां लाक्षणिकेनैव लक्ष्योऽर्थ आगूर्यते । तस्मात्तत्प्रतिपत्तेः ।

समानन्यायत्वात्—उसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार अनमीष्ट पदार्थ का निषेध बाधित होकर विधि में पर्यवसित होता है उसी प्रकार इस भेद में भी अनमीष्ट की विधि निषेध में पर्यवसित होती है। भाव यह कि हम और इसके पूर्व प्रतिपादित आक्षेप में इतनी सजातीयता भर है, इनमें कोई सामान्य लक्षण समव नहीं है। उसी को [सूत्र के द्वारा] कहते हैं—अनिष्ट इत्यादि। इसी को इधान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—‘यथा’-इत्यादि के द्वारा। तत्र—यह अर्थात् विधान। प्रस्वल्द्वारूपत्वात्। अर्थात् स्वार्थ का बाध हो जाने से। पर्यवस्यति = पर्यवसित होता है अर्थात् अपना समर्पण करने निषेध को लक्षणा द्वारा बतलाया है। ततश्च = इस कारण = विधि से निषेध की लक्षणा द्वारा प्रतीत होने के कारण। उपकरोणीभूतः = उपकरण = हेतु बना हुआ अर्थात् स्वार्थ का बाध हो जाने से अप्रधान बना हुआ। अनिष्ट विरोध = इसके द्वारा लक्षणा का प्रयोजन बतलाया गया। अन्यथा गजस्नान के समान लक्षणा का होना न होना बराबर हो जाता [हाथी नहाने के बाद अपने ऊपर घूल उछाल लेता है अतः उसका नहाना न नहाना बराबर हो जाता है] निषेधागूरुणात् = निषेध को लक्षणा के द्वारा लाया जाता है। लक्षणा में सर्वत्र लाक्षणिक शब्द के द्वारा ही लक्ष्य अर्थ लाया जाता है क्योंकि उस [लक्ष्य] की प्रतीति उसी [लाक्षणिक] से होती है।

विमर्श—अलङ्काररत्नाकरकार ने आक्षेप के इस भेद को विष्याभास नाम दिया है और सर्वस्वकार के खण्डन में लिखा है—

[सू०] अनिष्टविधान विष्याभास, [वृ०] ०००० । न चायमाक्षेपस्य भेद इति वाच्यम् आक्षेपपदार्थस्य पर्यनुयोगस्याभावात् । विधिना निषेधरयोपादानरूपादावाक्षेपस्यै कथ्यमाने व्याजस्तुत्यादावपि आक्षेपभेदत्वप्रसङ्ग, तत्रापि निन्दादिना स्तुत्याधाक्षेपसंभवात् । १०० । तेनालङ्कारान्तरभेद । ‘आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थे विधावपि न पर्यनुयोगबुद्धिः’ ।

तस्मादनिष्टविधिरेव विलक्षणत्वात्ताक्षेपमप्यपठितोऽपि ॥ भिन्न एव ॥ इति सप्रह. ।

—अनमीष्ट का विधान विष्याभास [कहलाता है], ००० । यह आक्षेप का [ही एक] भेद है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहाँ आक्षेप शब्द का जो अर्थ है—पर्यनुयोग [इससे क्या लाभ, किमर्थकता रूप], वह नहीं है। यदि विधि से निषेध के उपादान आदि को आक्षेप कहा ही जाए तो व्याजस्तुति आदि भी आक्षेप के ही भेद कहे जाने लगेंगे क्योंकि उनमें भी निन्दा आदि के द्वारा स्तुति आदि का आक्षेप [उपादान] होता है। ०००००० । इसलिये यह एक भिन्न ही अलङ्कार है। संक्षेप में ‘इस [अनिष्टविधानरूपी विष्याभास नामक अलङ्कार] में न तो विधि से निषेध का आक्षेप होता और न विधि में ही स्वार्थ के प्रति पर्यनुयोग [किमर्थकता] की बुद्धि होती। हम कारण अनमीष्ट का यह विधान विलक्षण होने से आक्षेप में अन्यभूत नहीं होता। यह सर्वथा भिन्न है।’

विमर्शिनीकार हम खण्डन का खण्डन करने और कहते हैं—

विमर्शिनी

तच्चार्थान्तरागूरुणं ‘स्वसिद्धये पराक्षेप’ इत्येवं लक्षणाप्रकारस्य पूर्वं निरस्तावाग स्वात्मसमर्पणेनैव भवतीति ययोकमेव युक्तम् । अत एवास्यान्वर्थासिद्धत्वम् । पर्यनुयोग वशादागूरुणमपि आक्षेपशब्दस्यार्थः । व्याजस्तुत्यादौ तु व्याजेन स्तुतेर्विधितत्वात् तत्र तत्रमेव युक्तं नापेक्षत्वम् । ‘इह हि प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति’ इति न्यायात् यदेव यत्र

प्रधानतया विवक्ष्यते तदेव तत्र श्यपदेशनिमित्तम् । न तु प्रज्ञातिशयवतां 'प्राज्ञा वस्तुनि युध्यन्ति न तु सामयिके ध्वनौ' इति नीत्या नाम्नि विवादो युक्तः । तस्मात्

'आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थो विधावपि न पर्यनुयोगशुद्धिः ।

तस्मादनिष्टविधिरेव विलङ्घनत्वाच्चाक्षेपमध्यपतितोऽपि तु भिन्न एव ॥'

इत्यादि न वाच्यम् । अनिराकरणमुखेनेति । प्रवृत्तक्रियत्वात् कान्तस्यानुमोदनात् । ननु विधिमुखेनास्य किमगूरणं स्वयं निषेध एव क्रियतामिषाशङ्क्याह—फलमित्यादि । एतच्चेति विधेर्निषेधागूरकत्वम् । यथा वेत्यनेनास्य लक्ष्ये प्राचुर्यं दर्शितम् । प्रमुल एवेति । न पुनः पर्यवसान इत्यर्थः । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना । अभिनवत्वेनेति दण्डवाद्यपेक्षया । तेन ह्यसौ

'हृद्याशीर्वचनाक्षेपो यद्वाशीर्वादवत्सना ।

स्वावस्थां सूचयन्त्यैवं प्रिययात्रा निषिध्यते ॥'

इत्युक्तेरसंभवतापि लक्षणेन लक्षितः । न पुनर्ग्रन्थकृतुपञ्चत्वेनैतद्व्याप्येयम् । 'विधि-निषेधाभ्यां प्रतिषेधविध्युक्तिरालेपः' इतीहमेव हि धीभोजवदेवेनाप्यस्य लक्षणं कृतम् ।

और जो यह अन्य अर्थ का लक्षणा द्वारा लाया जाना है वह वाक्यार्थ के समर्पण के [अर्थात् लक्षणलक्षणा के] द्वारा ही संभव होता है, न कि 'अपनी सिद्धि के लिए दूसरे के आक्षेप [अर्थात् उपादानलक्षणा]' के द्वारा, क्योंकि लक्षणा के इस [उपादान नामक] भेद का निराकरण किया जा चुका है, अतः [सर्वस्वकार ने] जो कहा है वही ठीक है इसीलिए [अलंकार का आक्षेप यह] नाम भी सार्थक ठहरता है क्योंकि आक्षेप शब्द का अर्थ [पूर्वोक्त] पर्यनुयोग के कारण आगूरण [अन्य अर्थ का लक्षणा द्वारा लाया जाना] भी है । व्याजस्तुति आदि में व्याज से स्तुति का किया जाना अभीष्ट रहता है अतः उसमें भी सद्रूपता [लक्षणलक्षणा] अन्य ऐक्य] ही मानना ठीक है [भिन्न रहकर अन्य अर्थ की] अपेक्षा करना नहीं । जहाँ तक नाम का सम्बन्ध है वहाँ जो भेद प्रधान होता है उसी के नाम पर पढ़ता है । कहा भी जाता है 'नाम प्रधान का लिया जाता है' । सच यह है कि समस्त के घनी लोगों को नाम पर विवाद नहीं करना चाहिए, जैसा कि कहा जाता है—'प्राज्ञ जन पदार्थ पर रुढ़ते हैं [समय = शास्त्र, सामयिक =] शास्त्रीय [ध्वनि] शब्द [नाम] पर नहीं । इसलिये [पूर्वोक्त] 'आक्षिप्यते' इत्यादि कहना ठीक नहीं है ।

अनिराकरणमुखेन = निराकरण न कर अर्थात् कान्त जा ही रहा था अतः उसका अनुमोदन कर । प्ररञ्जलद्रूपत्वेन = स्वार्थ के बाधित हो जाने से । आगूरयति = दूसरे अर्थ को लाता है अर्थात् अपने अर्थ का उसे समर्पण [सर्वथा त्याग] कर । [शंका] 'इस प्रकार विधान के द्वारा निषेध का आगूरण क्यों, स्वयं निषेध ही कर दिया जाना चाहिए'—ऐसी आशंका कर कहते हैं = फलम् इत्यादि । एतच्च = विधान में निषेध का जो आगूरकत्व है वह । यथा वा इस उदाहरणा-न्तर के द्वारा यह बतलाया कि यह द्वितीय भेद भी कान्यों में खूब मिलता है । प्रमुल एव = आरम्भ में ही अर्थात् अन्त में नहीं । अब इस भेद का उपसंहार करते हैं—तस्मात् इत्यादि के द्वारा । अभिनवत्वेन = नवीन प्रकार अर्थात् दण्डी आदि के मत में । दण्डी ने [काव्यादर्श में २।१४२ पद्य के रूप में गच्छ गच्छसि० पद्य देकर] इस आक्षेप का—'यद्वा आक्षेप आशीर्वचनाक्षेप है क्योंकि इसमें आशीर्वाद के माध्यम से अपनी अवस्था की सूचना दे रही प्रिया द्वारा प्रिययात्रा का निषेध किया जा रहा है'—[काव्यादर्श २।१४२] इस प्रकार लक्षण बनाया या जो वस्तुतः संभव नहीं है । इस [अभिनवत्व] की व्याख्या यह नहीं करनी चाहिए कि इस आक्षेप को पहले-पहल ग्रन्थकार [सर्वस्वकार] ने ही प्रस्तुत किया है । ठीक ऐसा ही लक्षण मोनदेव ने भी विधि या निषेध से निषेध या विधि की उक्ति आक्षेप—इस प्रकार बनाया है । [भोज की मूलकारिका इस प्रकार है—

'विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या ।

शुद्धा मित्रा च साक्षेपः ॥ सरस्वतीकण्ठामरण, ४।६४ ॥

इसमें विधि और निषेध दोनों से केवल निषेध की ही उक्ति को आश्रय कहा गया है, विधि की उक्ति को नहीं। भोज ने भी उदाहरण के रूप में 'गच्छ०' पद्य दिया है।]

विमर्ग—इतिहास—[२] प्रथम आक्षेपालंकार एक स्पष्ट अलंकार है। इसका स्वल्प भामह—पहले पहल भामह ने ही स्पष्ट कर दिया है। उनका आश्रय लक्षण इस प्रकार है—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिहितसया ।

आक्षेप इति त सन्न शसन्नि द्विविधम्०० ॥ २।६८

—वैशिष्ट्यप्रतिपादन के लिए अशीष्टपदार्थ का जो निषेध जैसा किया जाता है उसे विद्वज्जन आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है। भामह ने इन दोनों प्रकारों के जो नाम दिए थे परवर्ती आचार्य उन्हें ही उहराने गए हैं। ये नाम हैं वक्ष्यमागविषय तथा उक्तविषय। इन पर भामह की कारिका विमर्शिनीकार ने हम अलंकार के विवेचन के आरम्भ में ही उद्धृत कर दी है—'वक्ष्यमाणोक्तविषयरत्नप्राक्षेपो दिधा मग । २।६७।

दण्डी—दण्डी ने आक्षेप को प्रतिषेधोक्ति कहा है—

'प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः ।' २।२२० ।

प्रतिषेधोक्ति का अर्थ उनके उदाहरणों से 'किन्हीं भी वस्तु का निषेध कथन' निकलता है। इस निषेध का न तो आभासात्मक ही होना आवश्यक है और न निषेध्य वस्तु में विशेषता का ज्ञान। यह तथ्य निम्नलिखित एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—

'कुतः कुतलय कर्णे करोपि कर्ममापिणि ।

किमपाङ्गमपर्याप्तमरिमन् कर्मणि मन्यसे ॥ २।२-३ ॥

कर्ममापिणि ! कान में नीलौत्पल [का कर्णपूर] क्यों पहन रही हो ? क्या बदने अवाह [नेत्र] को इस कार्य में अपवाप्त मानती हो !' इस पर स्पष्टीकरण देते हुए दण्डी ने स्वयं लिखा—

'स वर्तमानाक्षेपोऽयं कुर्वन्नेवास्तिनोत्पलम् ।

कर्णे काचित् प्रियेणैव चाट्टकारेण कथ्यते ॥ २।२४ ।

—इसमें, कान में नीलौत्पल पहन रही कोई उसके चाट्टकार म्रिय के द्वारा रोकी जा रही है, अतः यह आक्षेप है ।'

स्पष्ट है कि इस आक्षेप में न तो निषेध आभासात्मक है और निषेध्य नोळोत्पल में ही कोई विशेषता का ज्ञान होता। हाँ नीलौत्पल की अपेक्षा सुन्दरी के नेत्रों में अवश्य विशेषता प्रतीत होती है।

भामह में आक्षेप की कालजनिन विशेषताएँ दो ही थीं, वक्ष्यमागविषय में मविष्यद्विषय-कता और उक्तविषय में भूतविषयकता दण्डी ने इन दोनों के अतिरिक्त वर्त्तमानविषयता को भी स्वीकार किया है। इसका उदाहरण ऊपर दिया पद्य ही दिया है। उभयमें पहने जारहे नीलौत्पल का निषेध है, अत उमे वर्त्तमानाक्षेप कहा है।

दण्डी ने हम प्रकार के चौबीस आक्षेप गिनाए हैं और हमकी सख्या आक्षेप्य वस्तु की सख्या पर निर्भर बतलाकर अनन्त बतला दी है। किन्तु जो चौबीस उदाहरण दिए हैं उनमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जिसमें भामहोक्त आक्षेप के ममान किसी कहीं हुई अथवा कहने के लिए उपक्रान्त वस्तु को न कहने की मगिमा आई हो।

इस प्रकार दण्डी का आक्षेप केवल निषेधोक्तिमात्र है। फलतः इसका अन्तर्भाव प्रतीप, व्यतिरेक आदि अन्य अलंकारों में हो जाता है।

वामन—वामन ने आक्षेप को उपमानोपमेयभाव तक सीमित रखा है। उन्होंने इसके भी दो भेद किए हैं एक उपमान की निरर्थकता से जनित प्रतिषेधरूप आक्षेप और दूसरा उपमान की आर्था प्रतीति से जनित आक्षेप। इनमें से प्रथम भेद में आक्षेप शब्द का अर्थ होगा अभिषेप। यह तथ्य दिये उदाहरण से स्पष्ट है। उदाहरण है—

'तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पावणेनेन्दुना'।

—यदि उस सुन्दरी का सौम्य सुभग मुख है तो फिर पूर्णिमा के चन्द्र से क्या ?

दूसरे का उदाहरण समासोक्ति में सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'श्चंद्रं धनुः'० पद्य है। इसमें शब्द ऋतु, चन्द्रमा और रवि के उपमान क्रमशः वेदवा, नायक तथा प्रतिनायक का ज्ञान ऊपर से होता है।

स्पष्ट ही वामन का प्रथम आक्षेप प्रतीप में तथा द्वितीय समासोक्ति में अन्तर्भूत हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दण्डी का उपर्युक्त वर्तमानाक्षेप तथा वामन का उपमानाक्षेपरूप प्रथम आक्षेप संबंधा अभिन्न हैं। द्वितीय आक्षेप में भी बहुवचित आगूरण की स्थिति है यद्यपि यहाँ आगूरण का विमर्शिनोकाराभिमत लक्षणात्पी अर्थ नहीं हो सकता।

वामन का मूलभूत सूत्र है—'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः।' उन्हीं की वृत्ति में इसके अर्थ हैं—
(१) उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायामाक्षेपः। (२) उपमानस्याक्षेपः, आक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः।

उद्भट—उद्भट ने आक्षेप का पूरा लक्षण भामह से के लिया है। उन्होंने भेद भी भामह के शब्दों में ही प्रस्तुत किए हैं—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधिससया।

आक्षेप इति न सन्तः शंसन्ति कवयः सदा ॥ २।१ ॥

वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इव्यते।

निषेधेनेव तद्वन्धो विधेयस्य च कीर्तितः ॥ २।१ ॥

—'विशेषता बतलाने के लिए अभीष्ट अर्थ का जो निषेधाभास उसे विद्वान् कवि आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का माना जाता है वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय। दूसरे शब्दों में उस [आक्षेप] का निर्माण विधेय के निषेधाभास से भी बतलाया गया है ॥ २।२, ३ ॥

रुद्रट—रुद्रट का आक्षेप कथनाक्षेप है। इसे दूसरे शब्दों में उक्तविषय भी कह सकते हैं। आक्षेप का अर्थ निषेध ही है। रुद्रट ने इसके कारण दो बतलाए हैं प्रसिद्धि और विपरीतता। रुद्रट के अनुसार आक्षेप केवल प्रतिषेध तक सीमित नहीं है। उसमें निषेध का दृष्टान्त द्वारा प्रमाणित किया जाना भी अपेक्षित है। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार आक्षेप के दो भाग हैं एक कथननिषेध और दूसरा उसकी पुष्टि में तत्समान पदार्थ का उपन्यास। लक्षण है—

'वस्तु प्रसिद्धमिति यद् विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।

अन्यत् तथात्वसिद्धयै यत्र ज्ञात्वा स आक्षेपः ॥ ८।८९ ॥

—वस्तु के प्रसिद्ध होने या विरुद्ध होने के कारण उसका कथन रोककर, उसकी प्रसिद्धता या विरुद्धता की सिद्धि लिए के अन्य किसी पदार्थ का कथन आक्षेप, उदाहरण—

(१) 'जनयति संतापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम्।

अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः ॥ ८।९० ॥

—कोमल होते हुए भी यह चन्द्रकला मुखे सजाप दे रही है, यह आश्चर्य की बात है। अथवा इसमें क्या आश्चर्य। पाला पेड़ों को जला देता है।'

(२) 'तत्र रागयामि गुणान्दमलमयत्रासत्पलापिनीं पिङ्गमाम् ।

क खनु कुम्भैरम्भो मातुमल जलनिधेरसिलम् ॥ ८१९२ ॥

—मैं तुम्हारे गुण गिनती रहती हूँ। नहीं, नहीं में उल्टा बोल बैठो, मुझे पिङ्गकार है। ऐसा कौन होगा जो घड़े भर-भरकर समुद्र का पूरा पानी नाप सके।'

इन दोनों में से प्रथम में पाले और पेड़ का उदाहरण देकर आश्चर्य में प्रसिद्धता सिद्ध की गई है और तत्प्रयुक्त अकथनीयता की। द्वितीय में गुणगना में अनुचिन्तन या विपरीयता प्रतिपादित कर उसकी अकथनीयता बतलाई गई है।

उक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि कथनाश्लेष की आश्लेष का रूप पहले पहल रुद्रट से मिला है। सर्वरक्षकार ने इसको घेरना रुद्रट से ही पार्श्व होगी। रुद्रट के प्रतिपादन में द्योप यह है कि उन्होंने आश्लेष शब्द का अर्थ नहीं दिया। किन्तु प्राचीन आचार्यों ने आश्लेष का प्रतिषेध या निषेध नाम से जो अर्थ किया था रुद्रट को यही मान्य है। वामन ने जो अश्लेष अर्थ किया था रुद्रट के उक्त विवेचन से वह उन्हें मान्य प्रतीत नहीं होता।

रुद्रट ने आश्लेष के बक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय नाम से भेद नहीं किया, किन्तु लगता है कि उन्हें बक्ष्यमाणविषय भेद सर्वथा अमान्य है यद्यपि उसका उन्होंने उलटन नहीं किया है। इसी प्रकार उक्तविषय उन्हें मान्य है यद्यपि उसका भी उन्होंने नामोक्लेश नहीं किया है।

सर्वथा रुद्रट का आश्लेष पूर्ववर्ती आचार्यों से गृहीत न होकर स्वतः कश्चिन् प्रतीत होता है।

मम्मट—मम्मट का आश्लेष भामह के आश्लेष से रुद्रट के ही आश्लेष के समान सर्वथा अमित्र है। उन्होंने रुद्रट के समान भामह की कारिका उद्धृत कर दी है किन्तु उसका अनावश्यक अंश हटा दिया है—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधिरसया ।

बक्ष्यमाणोक्तविषय. स आश्लेषो द्विधा मतः ॥'

अर्थ स्पष्ट है। इस कारिका का यही रूप भामह के नाम से उच्यते में उद्धृत आश्लेषकारिका में भी मिलता है। यदि इस कारिका को कान्यप्रकाश के संस्कार पर परवर्ती पण्डितों ने सुधारा नहीं है तो कारिका के परिष्कार का श्रेय मम्मट को नहीं अभिनवगुप्त को ही है [द्वय उच्यते]।

[०] द्वितीय आश्लेष की उद्भावना प्रथम दण्डी में ही मिलती है। भोज में दण्डी का ही अनुकरण है। दोनों आचार्यों के मत ऊपर दिए जा चुके हैं।

उपयुक्त इतिहास से स्पष्ट है कि प्रथम आश्लेष के विषय में सर्वस्वकार के पहले तक निम्न-लिखित तीन मत बन चुके थे—

१—विशेषाभिधान के लिए द्वैतप्रतिषेधामास। इसके प्रवर्तक हैं भामह और अनुयायी हैं रुद्रट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट।

२—केवल प्रतिषेधोक्ति। इसके प्रवर्तक हैं दण्डी और अनुयायी भोजदेव। तथा—

३—उपमानाश्लेष। इसके प्रवर्तक हैं वामन और अनुयायी कोई नहीं।

इन मनों में से उत्तम मत के आश्लेष का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसका प्रथम भेद प्रतीप और द्वितीय भेद समासोक्ति में अन्तर्भूत हो जाता है। अभिनवगुप्त ने वामन का मत उद्धृत

कर 'दिन्द्रं धनुः' पद्य में आक्षेप को समासोक्ति से अभिन्न ही बतलाया है। कहा है 'एषा तु समासोक्तिरेव' [ध्वन्यालोकलोचन उद्योत—१] प्रथम भेद का उदाहरण उन्होंने बदल दिया है और उसका प्रतीप में अन्तर्भाव नहीं दिखलाया है तथापि यह अन्तर्भाव तर्कशुद्ध है। आगे होने वाले प्रतीप के विवेचन से यह तथ्य स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार का मत स्पष्ट करते हुए उपमान के अधिक्षेप को प्रतीप का भेद बतलाया भी है। अलंकार-सौरभुसकार ने भी इसे काव्यप्रकाशकारादि के अनुसार प्रतीप ही बतलाया है। इस प्रकार वामन का आक्षेपमत निरस्त हो जाने पर दो ही मत शेष बचते हैं।

प्रथम दो मतों में से द्वितीय मत में आक्षेप का लक्षण अपूर्ण है। एक तो उसमें विशेषान्धिधानेच्छा को स्थान देना आवश्यक है। क्योंकि 'गच्छ गच्छसि'—पद्य में भी विशेष का अस्तित्व ही है। दण्डी ने इसमें भी आशोर्बचनाक्षेप माना है। दूसरे आशोर्बचनाक्षेप में आक्षेप का अर्थ यदि निषेध ही तो लक्षण में एकमात्र व्यंग्यदशा का ही समावेश रहता है, बाध्यदशा के लिए पुनः कोई निर्वचन अपेक्षित रहता है। इसीलिए सर्वस्वकार ने 'अनिष्टविध्याभास' को लक्षण माना है। एक आशोर्बचनाक्षेप में बाध्य विध्याभास ही है।

दण्डी के लक्षण के ही अनुसार मामह के लक्षण में भी एकाङ्गिता चली आती है। यदि ररनाकर के अनुसार द्वितीय आक्षेप को स्वतन्त्र अलंकार मान लिया जाय तो मामह का आक्षेप-लक्षण निर्दोष अवश्य रह सकता है किन्तु यदि सर्वस्वकार और विमर्शिनोकार के अनुसार उसे आक्षेप का ही एक अन्य रूप मान लिया जाता है तो इस द्वितीय रूप के समावेश के लिए मामह के लक्षण में संशोधन या संवर्धन की आवश्यकता भा पड़ती है। उन्होंने तो केवल प्रतिषेधानास को ही लक्षण में स्थान दिया है।

सर्वस्वकार ने इन दोनों मतों को आदर देना चाहा किन्तु वे दोनों में अभिन्न होने योग्य कोई एक लक्षण नहीं बना सके। दोनों को अलग-अलग ही रखना ही तो ररनाकर का दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार मान लेना पया पुरा है। परवर्ती अप्यवदोक्षित और पण्डितराज ने भी इन दोनों मतों का कोई समन्वित लक्षण नहीं दिया है। पण्डितराज ने जहाँ प्रत्येक अलंकार का एक स्वामित्त स्वतन्त्र लक्षण दिया है वहाँ वे आक्षेप के लिए विभिन्न मतों को उपस्थित कर संतुष्ट हो गए हैं। पण्डितराज का निषेधमात्रमाक्षेपः' कथन सामान्य लक्षण के लिए पर्याप्त है। हमारी दृष्टि में—

'विशेषप्रतिषेधार्थमिष्टविधिनिषेधान्यतराभास आक्षेपः'—

—अर्थात् 'विशेषता के प्रतिपादन के लिए दृष्टपदार्थ के विधान और निषेध में से किसी एक का आभास आक्षेप।' यहाँ यह कहना अधिक आवश्यक नहीं कि विशेषता का ज्ञान निषेध्य वस्तु अथवा निषेध में ही होना चाहिए।

शोभाकर—सर्वस्वकार के बाद के आचार्यों में शोभाकर का मत आक्षेप के विषय में इस प्रकार है—

[सूत्र] 'विशेषानगमायेष्टनिषेध आक्षेपः'

[वृत्ति] इष्टस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा विश्लेषावगमाय निषेधाभास आक्षेपः।

—विशेषता के ज्ञान के लिए इष्टनिषेध आक्षेप। इष्ट पदार्थ जो वक्त होगा या वक्ष्यमाण, का निषेधाभास आक्षेप कहलाता है।

इसी विषय को रत्नाकरकार ने क्षारिष्ठा द्वारा भी निशब्द किया है—

'विहितेऽर्थे निषेधस्य त्याञ्चेदाभासमानता। आक्षेपोऽसौ।

—विहित अर्थ का निषेध हो अतः वह आभासमात्र सिद्ध हो रहा हो तो वह आक्षेप कहलाता है।

इस प्रकार प्रथम आक्षेप ही रत्नाकरकार को आक्षेपरूप में मान्य है। द्वितीय को उन्होंने जिस प्रकार विध्याभास नामक स्वतन्त्र अलंकार बतलाया है वह स्पष्ट ही ही चुका है।

अप्ययदीक्षित—अप्ययदीक्षित ने उक्त तीनों मतों का पृथक्पृथक् उल्लेख मात्र किया है। कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया। सर्वस्वकार ने विहितनिषेध के लिए उद्भूत 'साहित्यपायोनिधिं' आदि जिन पदों में आक्षेप नहीं माना या अप्ययदीक्षित ने उनमें भी आक्षेप स्वीकार किया। एतदर्थ उन्होंने यह लक्षण बनाया है—

आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात् ।

स्वयं के द्वारा कथित अर्थ का, विचार करने पर प्रतिषेध आक्षेप कहलाता है। एक पदों में क्वाभ्यार्थचौरो से रखवाली की मर्थना की गई है किन्तु बाद में अपने सूक्तिरत्नों की अक्षय्यता का ध्यान आने ही रखवाली का निषेध कर दिया गया है। उन्होंने सर्वस्वकार का मत इन प्रकार प्रस्तुत किया है—

(२) निषेधामासमाक्षेप इया केचन मन्यते ।

—'कुछ विद्वान् निषेधाभास को आक्षेप मानते हैं।' श्रुति में 'कुछ'—शब्द के स्पष्टीकरण में उन्होंने अलंकारसर्वस्वकार का ही उल्लेख किया है—'वेधिवृत्कारसर्वस्वकारादयः। १५६८। वे भामह से प्रवृत्त इस परम्परा की अग्निम कही सर्वस्वकार पर अधिक आस्थावान् है। इसके उदाहरण में उन्होंने 'बालक नाह दूनी०' पद्य का रूपान्तर रख दिया है।

(३) 'आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते ।'

तीसरा आक्षेप वह होता है जिसमें विधान होता है वाक्य किन्तु उससे व्यञ्जित होता है प्रतिषेध। इसके उदाहरण के लिए उन्होंने 'गच्छ गच्छसि०' पद्य का ही संक्षेप कर दिया है।

पण्डितराज—पण्डितराज जगन्नाथ ने आक्षेप पर विविध मत इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं—

(१) 'उपमेयस्योपमानसम्बन्धिसकलप्रयोजननिष्पादनसमत्वादुपमानकेमर्ध्यमुपमानाधिक्षेपरूप-माक्षेपः' इति केचिदाहुः ।

कुछ कहते हैं कि उपमेय में उपमान से होने वाले सभी कार्यों को निष्पन्न करने की क्षमता होने से उपमान की निरर्थकता आक्षेप कहलाती है जिसका अर्थ उपमान का अनादर होता है। स्पष्ट ही वह वामन का मत है उदाहरण के लिए 'तस्यास्तन्मुखमस्ति०' पद्य के भाव पर एक दूसरा पद्य पण्डितराज ने बना दिया है।

(२) अपरे तु—पूर्वोपन्यस्तस्यार्थस्य पश्चान्तरावलम्बनप्रयुक्तो निषेध आक्षेप = इत्याहुः ।

दूसरे आचार्य—'पूर्वकथित पदार्थों का अन्य पक्ष के आधार पर किया गया निषेध आक्षेप है, ऐसा कहते हैं।' स्पष्ट ही ये 'साहित्यपायोनिधिं' आदि पद्यममुदाय में आक्षेप मानने वाले अप्ययदीक्षित हैं। कुछ ऐसे ही विचार रुद्रट के भी प्रतीत होते हैं।

(३) तीसरे मत के लिए पण्डितराज ने मम्मट की 'निषेधो वस्तुमिदृश्य' कारिका उद्भूत की है। किन्तु उन्होंने मम्मट का नाम नहीं दिया है। कदाचित् वे भी इस कारिका का मूल अमिनवगुप्त के पूर्व उद्भूत लोचन में पाने हैं और इसके सिद्धान्त का मूल भामह में। इसी प्रसंग में वे सर्वस्वकार के संपूर्ण आक्षेप विवेचन का सार भी अत्यन्त सुलझी भाषा में (अप्ययदीक्षित की नारां संक्षेप के साथ नहीं) सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें उन्होंने आक्षेप के दोनों

ही पक्ष उपस्थित किए हैं निषेधाभासात्मक तथा विध्याभासात्मक । किन्तु वे विध्याभासात्मक आक्षेप के लिए उसके मूल प्रवर्तक दण्डी का उल्लेख नहीं करते ।

(४) चतुर्थमत में पण्डितराज ने उक्त सभी मतों का समाहार करने का यत्न किया है । इसके लिए उन्होंने लिखा है—

‘चमत्कारनिषेधमाश्लेषः । वे सभी निषेध आक्षेप हैं जिनमें चमत्कार निषेधगत रहता है ।’ पण्डितराज का कहना है कि उक्त सभी पक्षों में निषेध का चमत्कार रहता है, अतः उनका इस चतुर्थ मत में समाहार हो जाना है । ऐसा लगता है कि यह उनका अपना पक्ष है किन्तु वे इसमें अपना नाय जोड़ने का साहस नहीं कर सके कारण यह है कि इतनी उदारता बरतने पर उन्हें प्रतीपालकार से हाथ धो लेना पड़ता । एक बार वे प्रतीप और उपनयोपमा का उपमा में भी भ्रान्तभाव मान बैठे थे [३० रसगं० उपमा विवेचन का आरम्भ] ।

विश्वेश्वर— विश्वेश्वर पण्डित ने आक्षेप पर उक्त सभी मत पण्डितराज के ही समान उपस्थित किए हैं किन्तु उन्होंने अपनी मूल कारिका ‘निषेधाभास’ पक्ष पर ही बनाई है अतः उन्होंने अपना मत नामहादि के पक्ष में सुलभकर दे दिया है । पण्डितराज के समान अपने मत को छिपाए रखने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है । उन्होंने कदाचिद् पण्डितराज के समाहारपक्ष का खण्डन भी किया था, किन्तु उनके अलंकारकौस्तुभ का यह अंश खण्डित हो गया है ।

विश्वेश्वर की आक्षेपकारिका इस प्रकार है—

‘दृष्टस्याव्यभिधातुं योऽर्षस्व विशेषबोधाय ।

स्वयमेव प्रतिषेधः स षड्यमाणोक्तविषय आक्षेपः ॥’

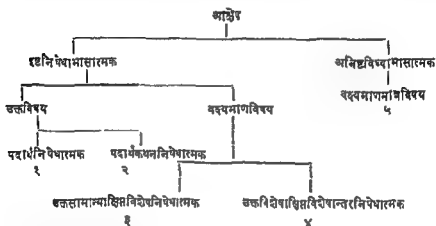
इससे अच्छी कारिका तो स्वयं मन्मत की ही थी । उसी को दे देना उचित था । सिद्धान्त तो उनका है ही । सर्वस्वकार का मत भी विश्वेश्वर उतनी सफाई के साथ नहीं दे सके जितनी सफाई के साथ उसे पण्डितराज ने दिया था ।

इस प्रकार पूर्व और पश्चात् के आचार्यों के मतपरीक्षण से सिद्ध यह होता है कि आक्षेप पर जो सिद्धान्त सर्वस्वकार ने दिया है वही सर्वमान्य है ।

लक्षणा— आक्षेप में वाच्य निषेध वा विधि में विमर्शनीकार ने विपरीतलक्षणा स्वीकार की है और रत्नकरकार ने उपादानलक्षणा, किन्तु सर्वस्वकार ने संपूर्ण आक्षेपविवेचन में लक्षणा का नाम एक बार भी नहीं लिया है । उन्होंने विधि और निषेध को वाच्यरूप में केवल धाबित होता हुआ कहा है । उनका शब्द है ‘निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वम्’ । यहाँ असत्यता का अर्थ यह नहीं है कि निषेध की लक्षणा असत्यता में हो जाती है । असत्यता का ज्ञान यहाँ ठीक वैसे ही होता है वैसे ‘धार्मिक ! गोदावरीतट पर रह रहे थे ने उस कुत्ते को मार डाला है जो तुम्हें वहाँ सताता रहता था, अब प्रेम से वहाँ घूमना’ इस वाक्य में भ्रमणनिषेध का ज्ञान होता है । यहाँ निश्चित ही भ्रमणनिषेध का ज्ञान लक्षणा से न होकर व्यंजना या अनुमान से होता है । यह इसलिए कि यहाँ भ्रमण की विधि सर्वथा अशक्य नहीं है । एक कठिनार्थ, लक्षणा मानने पर, वह भी आती है कि आक्षेप में निषेध की लक्षणा निषेधभाव में ही की जा सकती है । यह निषेधाभास अभावत्वकमात्र सिद्ध होता है फलतः यहाँ ऐसा कोई अर्थ नहीं आता जैसा व्याजस्तुति में स्तुति की लक्षणा से निन्दा या निन्दा की लक्षणा से स्तुतिरूपी विपरीत अर्थ आता था । निन्दा या स्तुति या निन्दा का एकमात्र जभाव नहीं है वे अपने आपमें अतिव्यशाली भावात्मक तत्त्व भी हैं । आक्षेप में ऐसा कोई अतिरिक्त अर्थ भासित नहीं होता । यह

निषेध तो ठीक वैसा ही आमासात्मक निषेध है वैसा आमासात्मक स्त्रीत्व रूपों की दृकानों पर खड़ी स्त्रीभूति में रहता है। उसमें स्त्रीत्व का विधान तो रहता है किन्तु वह एकमात्र आमासात्मक ही रहता है। सच यह है कि इष्ट के निषेध से या अनिष्ट के विधान से इष्ट में अनिष्टत्व और अनिष्टत्व में इष्टत्व का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् तात्पर्य जिज्ञासा द्वारा अनिष्टरूप से प्रतिपादित इष्ट या इष्टरूप से प्रतिपादित अनिष्ट में विशेषता का ज्ञान होता है। इस प्रकार निषेध या विधि अनासपर्यविषयीभूतमान सिद्ध होते हैं, उनका बाध नहीं होता। इष्ट या अनिष्ट में अनिष्टत्व या इष्टत्व का प्रतिपादन उनमें बाध उत्पन्न नहीं करता। कण्ठः आक्षेप के हम अंश में भी लक्षणा का मानना अवैज्ञानिक है।

सर्वस्वकार के अनुसार आक्षेप वृक्ष इस प्रकार का होगा—



इस प्रकार आक्षेप के पाँच भेद सिद्ध होते हैं।

सजीविनीकार ने सर्वस्वकार के संपूर्ण आक्षेपविवेचन का सक्षेप कारिकाओं में हम प्रकार किया है—

प्रथम आक्षेप—‘निषेधाभासा आक्षेपः प्रकृतस्येष्टसिद्धये।

स उक्तविषये वस्तुतदुक्तयोर्वाभासात्मकः ॥

वक्ष्यमाणे पुनरत्वन्यो ज्ञेय आग्रणारमकः ।

सामान्यतो विशेषोऽन्वार्थज्ञानेत्येष च द्विधा ॥

इतोऽर्थोऽस्य निषेधोऽन्य वाचोऽन्वार्थज्ञानेति ॥

चतुष्टयभिर्द्वं ज्ञेयं संभूयाद्येकारणम् ॥

द्वितीय आक्षेप—‘अनुकल्प निषेधस्य विध्याभासेन सूचनम् ।

आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष समा ॥’

पाठान्तर—आक्षेप विवेचन का सर्वस्व और विमर्दिनी दोनों में अभी तक छपे संस्करणों में काफी पाठभेद है। मूल में ये पाठभेद प्रधान हैं—

(१) ‘मुद्रमं’ पद की शक्ति में ‘सातिशयो मरणशुद्धोपजनकत्वादिः’ के स्थान पर निर्णय-सागर संस्करण में ‘सातिशयोक्तोपजनकत्वादिः’ छाया है। डॉ० द्विवेदी ने इसके स्थान पर ‘सातिशयोक्तोपजनकत्वादिः’ पाठ बना लिया है। डॉ० राघवन् ने यहाँ मूल में तो ‘सातिशयोक्तो-

पञ्जनकत्वादिः' पाठ बनाया है। परन्तु पाठान्तर में 'सातिशयकोपञ्जनकत्वम्' पाठ रख छोड़ा है। अनन्तशयन (त्रिवेन्द्रन्) संस्करण तथा काशी के शारदा ग्रन्थमाला संस्करण में क्रमशः 'सातिशयो मरणशङ्कोपञ्जनकत्वादिः' तथा 'सातिशयान्मरणशङ्कोपञ्जनकत्वादिः' पाठ को मूल पाठ माना गया है। इनमें प्रधान समस्या 'मरणशङ्कोपञ्जनकत्वादि' और 'कोपञ्जनकत्वादिः' की है। इसके नीचे आर्य पंक्ति में 'त्रियते' इस प्रकार मरण की यात को प्रतिपाद्य बतलाया गया है। अतः हम अधिक पाण्डुप्रतियों में अन्य पाठ मिलने पर भी मूल पाठ में 'मरण'-शब्द को आवश्यक समझते हैं। 'शङ्कोपञ्जनकत्व' और 'कोपञ्जनकत्व' के विषय में औचित्य से निर्णय किया जा सकता है। यहाँ गुस्ते को बात ही मला क्या है? प्रिय के प्रवास का दुःखपूर्ण अवसर है। यहाँ कोप नहीं, विषाद या दैन्य ही अधिक संभव है। कोप तो लौटने में विलम्ब करने पर संभव है।

(२) 'अनुरो देव इत्यात्मसंभावना'—इस पंक्ति में सभी संस्करणों में देव की जगह 'देव्याः' छपा है। प्रसंग है हर्षचरित में दाषोच की दूसी मालती के द्वारा शोणतट पर लकी सरस्वती के प्रति उसके अनुराग की स्वीकृता का। मालती ने पहले दाषोच को दशा का वर्णन किया है। तदनन्तर उसके विषय में अपनी इच्छा व्यक्त की है। इसमें उसका यही प्रथम वाक्य है। इसमें कुमार का परामर्श किया जाना अत्यन्त आवश्यक और वक्ता की वाक्प्रवृत्ति के अनुरूप है। निर्णय-सागर संस्करण में छपा भी 'देव' ही है। राधवन् सा० ने इसका संदर्भ तो द्वंद्व निकाला है परन्तु संशोधन नहीं किया। इसी प्रकार 'केवलम्' को सभी ने उद्धरण का अंग मान रखा है। वह न तो वाक्यार्थ के अनुरूप है और न मूल में ही प्राप्त है।

(३) 'चमत्कारोप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न तद्भावमात्रेण०' पंक्ति के 'न तद्भाव' के स्थान पर डॉ० द्विवेदी और डॉ० राधवन् ने 'न तत्सद्भाव' पाठ को महत्त्व दिया है। हमारी दृष्टि में यह पंक्ति 'तत्तत्त्व हर्षचरिते' से आरम्भ होने वाले पूरे प्रवृत्तक के उपसंहार के लिए आर्य पंक्ति है। अतः हमने 'तद्भाव' का अर्थ 'आक्षेप जैसा आशय' या आक्षेप से मिलता-जुलता करना उचित समझा है। 'तत्सद्भाव'—पाठ मानने पर अर्थ होता है चमत्कार का अस्तित्व। इससे पंक्ति का महत्त्व केवल 'साहित्यपाथो०' से आरम्भ होने वाले प्रकरण तक सीमित रह जाता है। क्योंकि निषेधमूलक चमत्कार इन्हीं पद्यों में है। हर्षचरित के वाक्यों में चमत्कार सौकर्यमूलक है। विमर्शिनीकार ने भी यहाँ 'तत्' शब्द को चमत्कार का ही परामर्शक माना है। उन्होंने 'तद्भाव' का 'चमत्कारसद्भाव' शब्द के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। इसमें सद्भाव शब्द से उनके मस्तिष्क में भी 'तत्सद्भाव' पाठ ही मान्य होने की संभावना झलकती है किन्तु वह अत्यन्त ठीक है। फिर उन्हें मूल की प्रतियाँ बहुत अशुद्ध मिली थीं। समुद्रबन्ध ने यहाँ 'तत्सद्भाव' पाठ ही माना है किन्तु उसका अर्थ उन्होंने 'तत्सद्भावो निषेधसद्भावः' इस प्रकार निषेधपरक किया है।

विमर्शिनी में भी अशुद्धियों की भरमार है। उसमें जैसे अधश्चपरिहार्यत्व के स्थान पर अवस्था-परिहार्यत्व छपा है वैसे ही 'विहितस्य निषेधे न' के स्थान पर 'विहितस्य निषेधेन', 'निषेधस्याव-मासनात्' के स्थान पर 'निषेधस्यैव मासनात्', 'शब्दानुपात्तत्वात्' विशेष० के स्थान पर 'शब्दानु-पात्तत्वात्विशेष०' तथा 'अनिराकरणमुद्येनेति' के स्थान पर 'निराकरणमुद्येनेति'।

विमर्शिनी

इदानीं विरोधस्य लक्षणमुपक्रमते—आक्षेप इत्यादिना ।

अथ विरोध का लक्षण आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

आक्षेपे इष्टनिषेधेऽनिष्टविधौ चानुपपद्यमानत्वाद् विरुद्धत्वमप्रविष्टम् ।

एतत्प्रस्तावेन विरोधगर्भोऽलङ्कारवर्गः प्रकियते । तथापि विरोधालङ्कार-
स्तावहृक्ष्यते—

[सूत्र ४१] विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।

इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्ये एव सजातीयविजा-
तीयाम्यां विरोधिभ्यां संयन्वे विरोधः । स च समाधानं विना प्ररुढो दोषः ।
सति तु समाधाने प्रमुच्य एवामासमानत्वाद्विरोधामासः । तत्र जाति-
विरोधस्य जात्यादिभिः सह चत्वारो भेदाः । गुणस्य गुणादिभिः सह त्रयः ।
क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां सह द्वा भेदाः । द्रव्यस्य द्रव्येण सदैकः । तदेवं
दश विरोधभेदाः ।

आश्लेष में, इष्टनिषेध और अनिष्टविधि के बाधित होने के कारण [इनके] बीच विरोध आ
गया है । इसी [विरोध] के प्रसंग से अब विरोधमूलक अलङ्कार आरम्भ किए जा रहे हैं । तथापि
[मूलभूत] विरोधालङ्कार का स्थान पहले दिया जा रहा है—

[सूत्र ४१] विरुद्धता का आभास विरोध [नामक अलङ्कार कहलाना है] ॥

यहाँ जाति आदि [गुण, क्रिया और यदृच्छा = द्रव्य] चार पदार्थों में से प्रत्येक के ऊन्हीं के
बीच के सजातीय और विजातीय विरोधियों के साथ सम्बन्ध का नाम है विरोध । वह, यदि
समाधान न हो और अन्त तक बना रहे तो दोष होता है, और यदि समाधान हो जाय तो
[होता है] विरोधामास [नामक अलङ्कार] क्योंकि तब वह केवल आरम्भ में ही भासित हुआ
करता है । इनमें भी जाति विरोध जाति आदि चारों के साथ होता है, इसलिए उसके चार भेद
होते हैं । गुण का विरोध गुणादि तीन के साथ होता है अतः उसके भेद केवल तीन होते हैं ।
क्रिया का विरोध क्रिया और द्रव्य इन दो के ही साथ होता है इसलिए इसके दो भेद होते हैं ।
द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ होता है, अतः वह केवल एक ही प्रकार का होना है । इस
प्रकार विरोध के दस भेद होते हैं ।

विमर्शिनी

एतत्प्रस्तावेनेति । विरुद्धाभावानुप्रवेशानुगुण्येनेत्यर्थः । तथापीति । विरोधगर्भोऽलङ्कारोप-
क्रमेऽपीत्यर्थः । तावद्विस्तुपक्रमे । तत्र हि विरुद्धगर्भत्वस्य प्राधान्यम् । तदेवाह—विह-
क्षेत्यादि । तन्मध्ये एवेति । जात्यादीनां गुणादय एव विजातीया, गुणादीनामपि जात्यादय
एव विजातीयान् प्राह्याः, न पुनरन्ये यद्वृद्धादय इत्यर्थः । ननु विरोधस्य दोषत्वं चाप्य
प्रयुक्तं, अन्य कथनमलङ्कारत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याह—स चेत्पादि । समाधानमिति । वस्तु-
वृत्तपर्यालोचनात्मनो विरोधप्रतीत्यनन्तरभावी नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो वाचः । प्रमुख
एवेति न पुनः पर्यवसाने । तेनामुक्त्वावगतो विरोधः पर्यवसाने न तथा प्ररोहमेतीति
भावः । एतच्च श्लेष एव विज्ञेय प्रतिपादितमितीह न पुनरायत्नम् । एवं च साधयपि
समाधाने दोषामावमाप्रमेवास्य स्वरूपं नाशङ्कनीयम् । अलङ्कारत्वपर्यवसायिनो विच्छि-
त्तिविरोपस्यापि समवायः । जातेर्गुणेन सह विरोधे उक्ते 'विरोधोऽन्योन्यवाचनम्' इति
इहा तेनैव गुणस्त्वापि जात्या सह विरोधः सिद्धः । अत एव गुणस्य जातिवर्जं त्रयो
भेदाः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ।

‘पुतप्रस्तावेनेति—इसी प्रसंग से’ = अर्थात् विरोध का प्रवेश दोनों अलंकारों में समानरूप से रहना है इस अनुकूलता के कारण । तत्रापि = विरोधमूलक अलंकारों के निरूपण के आरम्भ में भी । तावत् = आरम्भ में । इतल्लिपि कि इसमें विरोध ही प्रधानरूप से चमत्कारकारी होता है । यही [विरोध का लक्षण सूत्र द्वारा] प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—‘विरुद्ध’ इत्यादि ‘तन्मध्ये एव = उन्हीं के बीच’ अर्थात् जाति आदि के प्रति [स्वयं सजातीय और शेष वचे] गुण आदि [तीन] ही विजातीय मानने होंगे, इसी प्रकार गुण आदि के प्रति भी [स्वयं सजातीय और शेष वचे] जाति आदि [तीन] ही विजातीय होंगे । न कि इन [चारों से] भिन्न नामशब्द आदि, [अर्थात् जाति गुण और क्रिया ये तीनों प्रत्येक के वास्तविक पर्यवसान माने जाते हैं और नामशब्द काव्यनिक । इस प्रकार वास्तविक होने से जाति आदि को परस्पर में सजातीय मानकर नामशब्द को काव्यनिक होने से विजातीय माना जा सकता है, किन्तु यह उक्त चारों से भिन्न पाँचवा तत्त्व है । ‘तन्मध्ये एव’ कहकर ग्रन्थकार सजातीय विजातीय का निर्णय इसको लेकर नहीं मानते । [शंका]—विरोध को तो उलटा दोष कहा जाना चाहिए, इसे अलंकार कैसे कहा जा रहा है? ऐसी शंका का उत्तर देते हैं—स च । समाधानम् = समाधान का अर्थ है [विरोध का] बाध अर्थात् ‘यद् वस्तु ऐसी नहीं है’ इस प्रकार का शान, जो विरोध प्रतीति के बाद वास्तविक स्थिति का अनुशीलन करने पर होता है । ‘प्रमुख एव = आरम्भ में ही’ । न कि अन्तिम पर्यवसान में भी इससे तथ्य यह निकला कि विरोध केवल वाक्यार्थप्रतीति के आरम्भ में ही भासित होता है, वाक्यार्थप्रतीति के अन्त में वह बैसा नहीं रहता । यह विषय श्लेषालंकार में ही विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया जा चुका है अतः यहाँ उसके लिये पुनः आयास नहीं किया गया । इसी प्रकार समाधान हो जाने पर विरोध दोषाभावरूप बर नहीं रहता, इसमें बह विरोधता भी रहती है जो [किसी भी छक्ति में] अलंकारत्व में पर्यवसित होती है । जाति का गुण के साथ विरोध बतला देने पर ‘विरोध का अर्थ है परस्पर में एक दूसरे को बाधित करना’ इस दृष्टि से गुण का जाति के साथ विरोध भी स्वयं ही वहाँ अवगत हो जाता है, इसीलिए ग्रन्थकार ने गुण के विरोध के केवल तीन ही भेद बतलाए हैं । जाति के साथ विरोध को छोड़ दिया है । अन्य क्रिया आदि में भी इसी प्रकार [पूर्वभेदों से स्वतः अवगत भेदों को छोड़ कर शेष भेद बतलाने का क्रम] अपनाया गया जानना चाहिए ।

[सर्वस्व]

तत्र दिङ्मात्रेणोदाहरणं यथा—

‘परिच्छेदातीतः नकलवचनानामविषयः

पुनर्जन्मन्यदिमन्ननुभवपर्यं यो न गतवान् ।

विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो

विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥’

अत्र जडोक्तिरतापकरणयोः क्रिययोर्विरोधो वस्तुसौन्दर्येणाप्राप्ति-पर्यवसानेन परिह्रियते । तथा—

‘अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति

श्रितोऽस्माभिस्त्वृणातरल्लितमनोभिर्जलनिधिः ।

क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं

क्षणादेनं ताम्यत्तिभिमकरभापास्यति मुनिः ॥’

अत्र जलनिधिः पीत इति द्रव्यक्रिययोर्विरोधो मुनिगतेन महाप्रभावत्वेन समाधीयते । एवमन्यदपि ज्ञेयम् ।

विचिक्तविषयत्वेन चास्य दृष्टेः श्लेषगर्भत्वे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष औद्गटानाम् । दर्शनाग्तरे तु संकरालंकारः । यथा—‘संनिहित-वालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च’ इत्यादौ विरोधिनोर्द्वयोरपि द्रिष्टत्वे । एकस्य तु श्लिष्टत्वे ‘कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्’ इत्यादौ । एकविषयत्वे चायमिष्यते । विषयभेदे त्वसंगतिप्रमृतिर्वक्ष्यते ।

इन [दस भेदों] में से [प्रत्येक का उदाहरण देकर] कुछ के उदाहरण दिए जा रहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

इनके कतिपय उदाहरण यथा—[विरही माधव की उक्ति—]

‘जो शय्या से परे है, जो किसी भी प्रकार के शब्दों का विषय नहीं बनता, इस जन्म में जो पुनः कभी अनुभव में नहीं आया, विवेक के सातिशय ध्वंस से प्रचुड़ महामौह के कारण जो अन्यत्र निविड है पेशा कोरे [चेनो—] विकार हृदय को शीतल भी बना रहा है और तथा भी रहा है ।

—यहाँ शीतल बनाना और तथाना इन दो क्रियाओं का विरोध है । यह वस्तु [पदार्थ] के सौन्दर्य के द्वारा हटा दिया जाता है । [यह सौन्दर्य अभिलाष श्यार में पर्यवसित होता है ।] इसी प्रकार—

‘यह जलसमूह का एकमात्र निलय है [सभी जल इसी में आकर समाते हैं], यह रत्नों का भण्डार है’ यह सोच शृष्णातुर चित्त वाले हम लोगों ने जलनिधि का आसरा लिया था, यह कौन जानता था कि तिलमिलाते समस्त तिमि मकरो से न्यास इसे अपनी अञ्जलि की खोह में समेट कर अमरुत मुनि एक क्षण में ही पूरा का पूरा पी जायेंगे ।’

—यहाँ ‘समुद्र’ [जलनिधि] और ‘पीना’ इन दो द्रव्य और क्रिया का विरोध है । इसका समाधान मुनि के प्रभाव की महत्ता से हो जाता है । अन्य [भेदों के उदाहरण] भी ऐसे ही जानना चाहिये ।

यह [विरोध श्लेषरहित अतः] स्वन्न स्थलों में भी देखा जाता है अतः जहाँ कहीं यह श्लेषमूलक होता है वहाँ उद्गटाचार्य के अनुयायी श्लेष को विरोध का वाचक मानते हैं अन्य मत में यहाँ संकरालंकार माना जाता है । उदाहरणार्थ—

‘जो [सरस्वती] सन्निहितवालान्धकारा [जिसके बाळ = केशों में बाल अन्धकार कालिमा सन्निहित है] और भास्वन्मूर्ति [स्वरूप, प्रकाशित] है ।’

इत्यादि [हर्षचरित—१ पृ० २७] में जहाँ विरोधियों में से दोनों ही [के वाचक पद] श्लेष युक्त हैं । जहाँ केवल एक के [वाचक पद में] श्लेष होता है उसका उदाहरण यह है—

‘कुपति [कुतिसन पति और कु = पृथिवी का पति] होने पर जो प्रियाओं को प्रिय था ।’ यह [संकर] वहाँ माना जाता है जहाँ [विरोध और श्लेष] दोनों एक ही स्थान [पद] में रहते हैं । जहाँ कहीं जलग अलग रहते हैं वहाँ असंगति आदि अन्य अलंकार बतलाए जायेंगे ।

विमर्शिनी

दिङ्मात्रेणिति । अनेनैषां लप्ये तथा वैचिन्त्याभावादनवक्त्वसिध्वनिता । अत एवा-
स्माभिरप्येते नोदाहृतः । अन्यदिति । अनेनेह चिरंतनैरनुष्ठा अपि वैचिन्त्याघायिनो
भेदा अनुसर्तव्या इत्यपि सूचितम् । तेन भावयोरभावयोश्च विरुद्धत्वोपनिबन्धे विरोधो
ज्ञेय इति । तत्र भावयोर्ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् । अभावयोस्तु यथा—

‘तं वीषय वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्नचैप एव पदमुद्धृतमुद्ग्रहन्ती ।

मार्गाचलध्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजजनया न ययौ न तस्यौ ॥’

अत्राभावरूपयोः क्रिययोर्विरोधः । भावाभावयोस्तु यथानङ्गलेखायां राजवर्णने

‘विदर्भाङ्गनाजनमपि दर्भगर्मकरमकरोत्, पञ्चतां जनयन्नपि पञ्चालस्य वैमुषयम-
पुष्णात्, पारसीकरणमप्यपारसीकरणं चकार, मागधानपि विमागधान् इयधात्,
चौलकान्ता अप्यचौलकान्ताः समपादयत्, कुन्तलालसानप्यकुन्तलालसांश्च निर्ममे
शूरसेनानप्यशूरसेनानदर्शयत् ।’ इत्यादि ।

अस्यापि मतभेदेन श्लेषेण सह व्यवस्थितिं दर्शयितुमाह—विविक्तेत्यादिना । ‘जडयति
च तापं च कुक्षते’ इत्यत्रास्य विविक्तविषयत्वम् । दर्शनान्तर इति ग्रन्थकृदमिमते संकर-
शब्दश्चात्र संकीर्णत्वमात्रे वर्तते । तेनात्र संकरेण संकीर्णत्वेन च श्लेषमिश्रत्वेनालंकारो
विरोधाभास इति व्याख्येयम् । अलंकारशब्देन चात्र विरोधाभास एवाभिधीयते । तस्यै-
वेह प्रस्तुतात्वात् । अत्र हि श्लेषो विरोधोपपत्तौ हेतुत्वं भजते । तेन विना तस्यानुत्थानात् ।
संकरश्च स्वहेतुयत्नालक्ष्यसत्ताकारयोर्भवंति । तेन यो यस्य हेतुत्वं भजते तेन
सह तस्य संकरो न युक्तः । यद्वचयति—‘न च विरोधोपपत्तिहेतौ श्लेषे श्लेषस्य विरो-
धेन सहाङ्गान्निसंकरः’ इति । द्वयोरेकस्येत्यनेन श्लेषमिश्रत्वस्यापि वैचिन्ध्यं दर्शितम् ।
अस्य च वच्यमाणाद्विरोधगर्भादलंकाराद् वैलक्षण्यं दर्शयति—एकेत्यादिना । जडीकरण-
तापकरणयोर्विकारयोर्विकारिगतत्वेनास्यैकविषयत्वम् । विषयभेद इति । कार्यकारणादी-
नामेकविषयत्वोपपत्तावपि भिन्नदेशत्वाद्युपनिबन्धनात् ।

दिङ्मात्रेण = कुछ ऐसा कहकर । न्यक्त किया कि इन भेदों के जो स्थल होते हैं उनमें
चमत्कारगत अन्तर नहीं रहता । इसी कारण हमने भी इनके उदाहरण नहीं दिए । अन्यत् =
अन्य, इसके द्वारा यह भी सूचित किया कि विरोध के जो भेद प्राचीन आचार्यों ने नहीं भी
बतलाए हैं किन्तु यदि उनमें कोई वैचिन्ध्य हो तो उन्हें भी गिन लेना चाहिए । इसके अनुसार
वहाँ भी विरोध माना जा सकता है वहाँ केवल भाव भाव का विरोध बतलाया जाता है या
केवल अभाव अभाव का या भाव और अभाव का । इनमें से केवल भाव-भाव के विरोध का उदा-
हरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है । अभाव अभाव के विरोध का उदाहरण यह है—

‘[महापारी का वेप छोड़कर अपने रूप में आए और पार्वती को पकड़ कर जाने से रोक
रहे] उन [मगवान् संकर] को देखकर पार्वती काँपने लगीं, जनकी शरीरयष्टि सर्वदेह हो
गई और वे आगे रखने के लिए उठाए पैर को उठाए हुए ही थीं । इस प्रकार मार्ग में पर्वत
[सामान्य पहाड़ और प्रकृत प्रसंग में दिग्गचल] के आ जाने से आकुलित नदी के समान पर्वतराज
की पुत्री न तो जा ही सकी और न रुक सकी ।

—यहाँ अगावात्मक क्रियाओं का विरोध है ।

भाव और अभाव के विरोध का उदाहरण अनङ्गलेखा में राजा के इस वर्णन में मिलता है—

‘वित्तने विदर्भ [दर्भ = कुक्ष-रहित तथा विदर्भ जनपद की] सुन्दरियों को दर्भपूर्ण हाथ
वाली [विषवा अतएव तपस्विनी बना दिया, पञ्चता उत्पन्न करता हुआ [मृत्यु को प्राप्त करता

हुआ] भी जो पञ्चाल की विमुसना में श्रद्धि कर रहा था, पारसीकों के रण को अ-पारसीक-रण [अपार = सीकरण = सीकरता] के रूप में बदल दिया, मागधों को जिसने विमागध [मागध-त्वविरुद्ध, मागध = बैतालिकों से रहित] बना दिया, चोल की कान्ताओं की जिसने अचोल-कान्ता [चोल की कान्ता से उल्टा, चोलकान्त सुन्दर चोली ॥ रहिन] कर दिया, कुन्तल में सब प्रकार से शोभिन होने वालों को अ-कुन्तलालस [कुन्तल देश में सब प्रकार की शोभा से से रहित कुन्तल = केश से रहित अर्थात् मुण्डित और अलस = आलस्य युक्त] बना दिया, दूरसेनों को भी अदूरसेन [कायरसेना वाला] प्रमागिन कर दिया ।—इत्यादि ।

इम [विरोध] की भी श्लेष के साथ मित्र मित्र मतों में जो मित्र-मित्र स्थितियाँ हैं उन्हें दिखाने के लिए लिखने हैं—'विविक्तः । शीतल करता है और तपाता भी है' यह इस [विरोध] का स्वतन्त्र [श्लेषयुक्त] स्वल है । वर्तमानन्तर = अन्य मत में अर्थात् ग्रन्थकार को मान्य मत में । यह [संकरालंकारशब्द में] सकर शब्द का प्रयोग सकीर्णतामात्र के लिए किया गया है । इस यहाँ [संकरालंकारशब्द की] सकर और सकीर्णत्व दोनों ही प्रकार से श्लेष का मिश्रण होने पर निष्पन्न होने वाला अलंकार अर्थात् विरोधमात्र ऐसी व्याख्या करनी चाहिए । [संकरालंकार शब्द में जो अलंकार शब्द [है वत्] से यहाँ विरोधमात्र का ही कथन हो रहा है । क्योंकि यहाँ बड़ी प्रस्तुत है । यहाँ जो है सो श्लेष विरोध की उत्पत्ति में कारण बनता है । क्योंकि उस [श्लेष] के बिना वह [विरोध] खड़ा नहीं हो पाता । सकर तो उन अलंकारों का होगा है जो अपने अपने हेतुओं से निष्पन्न हो चुके रहते हैं । इसलिये जो जिसका हेतु होता है उसके साथ उसका सकर मानना ठीक नहीं है । जैसा कि स्वयं ग्रन्थकार ही [संकरालंकार से प्रकरण में] कहेंगे—'ऐसा नहीं कि श्लेष यदि विरोध की निष्पत्ति का हेतु हो तो श्लेष का विरोध के साथ अंगगमिभावसकर माना जाय ।' 'द्वयोः एकस्य' = दोनों या एक' ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने यह बतलाया कि वहाँ विरोध श्लेषनिमित्त रहना है वहाँ भी इसके अनेक भेद होते हैं । इस [विरोध] का आगे कहे जाने वाले विरोधमूलक अलंकारों से भेद दिखलाने हैं—'एक' इत्यादि कहकर । 'अदीकरण = शीतकरण और तापकरण = तपाना इन दोनों विकारों का आशय एक ही है अतः वहाँ विरोध को एक ही स्थान में रहना माना जा सकता है । 'विषयभेद = अलग-अलग रहने पर' अर्थात् कार्य और कारण आदि का विषय एक होने पर भी स्थान में भिन्नता आदि के बतलाने से ।

विमर्शः ।—पूर्व इतिहास—

विरोधालंकार के उद्युक्त दस भेदों का निर्देश पहले पहल रुद्रट ने किया है । रुद्रट के पूर्व उद्भट, वामन और मामद ने विरोध का जो निर्बचन किया है उससे विरोध का मूलभूत रूप निखरता नहीं है ।

भामह—मामद ने विरोध का निरूपण इस प्रकार दिया है—

'गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिषा ।

या विरोधाभिधानाय विरोधं त विदुर्बुधा ॥

यथा—

उपान्तस्त्रोपवनच्छायाशीतापि घूरती ।

विदूरदेशानपि व सन्तापयति विद्विषः ॥

—विरोधता बतलाने के लिए गुण या क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का जो उल्लेख उसे विद्वान् अंग विरोध कहते हैं । यथा—

—'पास में ही लगे उपवनों की छाया के समान शीतल होने पर भी आपकी यह धुरी [राज्यभार] सद्दर देश में भी रह रहे शत्रुओं को तथा रही है।' यहाँ एक ही राज्यभार-रूपी पदार्थ में शीतलतारूपी गुण के साथ उसके विरुद्ध संतापकिया बतला दी गई है। मामह के इस निरूपण में गुण और क्रिया को जो चर्चा है वही है परवर्ती दस भेदों की कल्पना का स्रोत। इतने पर भी मामह का निरूपण अपूर्ण है।

वामन—वामन ने विरोध का मर्म समझ लिया था किन्तु वे उसको असंगति से भिन्न नहीं कर सके थे। उनका निरूपण इस प्रकार है—

[सू०] विरुद्धाभासत्वं विरोधः।

[वृ०] अर्थस्य विरुद्धस्यैवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वम्।

यथा—(१) 'पीते पानमिदं त्वयाद्य दयिते। मर्त्तं ममेदं मनः०।

(२) 'सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः।'

—विरुद्धाभासत्व विरोध। विरुद्धाभासत्व का अर्थ है किसी पदार्थ में विरुद्धता-सी प्रतीत होना। यथा—

(१) 'हे प्रिये ! आसव पिया है तुमने, किन्तु नशा चढ़ा है हमारे चित्तको।

(२) बाला है वह, अभीष्ट मन वाले हो रहे हैं हम, स्त्री है वह किन्तु कातर हो रहे हैं हम०।' स्पष्ट ही वामन का विरोधसूत्र सर्वस्वकार तथा रत्नाकरकार ने ज्यों का त्यों अपना लिया है, किन्तु वामन ने जो उदाहरण दिए हैं वे असंगति को उदाहरण हैं, अतः उक्त आचार्यों ने उन्हें छोड़ दिया है।

उद्भट—उद्भटाचार्य ने विरोध पर मामह की ही पदावली को इस प्रकार उतार दिया है—

'गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियावचः।

'ददिवशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रवक्षते ॥'

उदाहरण मामह का ठीक था किन्तु उद्भट ने उसे छोड़ अपना एक ऐसा पद्य दिया है जो स्पष्टतः विपमालंकार का उदाहरण है—

'भवत्याः वनायमाकारः क्वेदं तपसि पाटवम्'

'आपकी यह आकृति कहाँ और कहाँ यह तपस्या में तत्परता।' कालिदास की 'तपः क्व वत्ते। क्व च तावकं वपुः—' यह उक्ति ही उक्त पदार्थ में ढाल ली गई है। स्पष्ट है कि उक्त दोनों आचार्यों ने मामह के ही समान जातिविरोध आदि अवान्तर भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया। न तो इन आचार्यों ने विरोध में श्लेष का अस्तित्व ही बतलाया है।

रुद्रट—रुद्रट ने विरोधलंकार का दो अलग-अलग प्रकरणों में प्रतिपादन किया है। एक अतिशय प्रकरण में और दूसरा श्लेष प्रकरण में। श्लेष प्रकरण के विरोध को उन्होंने ठीक उसी प्रकार विरोधश्लेष नाम दिया है जिस प्रकार व्याख्यस्तुति को व्याख्यश्लेष। इस प्रकरण में रुद्रट ने विरोधाभास नामक एक स्वतन्त्र अलंकार भी माना है। इस प्रकार स्पष्टरूप से रुद्रट ने विरोध में श्लेष का अस्तित्व भी स्वीकार किया है। रुद्रट का विरोध निरूपण इस प्रकार है—

लक्षण—

'यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।

एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥' १।३०॥

—जहाँ परस्पर में सर्वथा विरुद्ध द्रव्य आदि का एक ही स्थान में एकसाथ अस्तित्व दिलाया जाय वह विरोध [नामक अलङ्कार] होता है ।' इस लक्षण से स्पष्ट है कि रुद्रट के मन में विरोध और असंगति का वह भेदक तत्त्व भी स्पष्ट था जिसे सर्वस्वकार ने विरोध-प्रकरण के अन्त में विषयैक्य और विषयभेद नाम से दिया है । रुद्रट के लक्षण में अधिकरणैक्य के साथ ही समयैक्य का भी सतिवेश है जो अत्यन्त अपेक्षित है । विरुद्ध वस्तुओं का अधिकरणैक्य यदि मित्र-मित्र समय में बनलाया जाए तो उसमें विरोध मुसर नहीं हो पाता ।

भेदों के विषय में रुद्रट की धारणा मम्मट, सर्वस्वकार आदि परवर्ती आचार्यों को प्रभावित करती हुई भी अशुभ-मित्र है । इन्होंने केवल नौ ही भेद स्वीकार किए हैं । दशम जातिद्रव्यविरोध भेद का खण्डन किया है । रुद्रट की भेदगणना भी बहुत स्पष्ट है । वह इस प्रकार है—

‘अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य समित् चत्वारः ।

भेदास्तन्नामान पञ्च खन्ये तदन्वेषाम् ॥

जातिद्रव्यविरोधो न समस्यैव तेन न षडेते । ११, २२ ॥

—जब यह विरोध सजातीय पदार्थों का [अर्थात् द्रव्य का द्रव्य के साथ, जाति का जाति के साथ, गुण का गुण के साथ तथा क्रिया का क्रिया के साथ] होता है तो हमके ऊर्हीं नामों के चार भेद होते हैं । इनसे मित्र [विजातीयों] के साथ जो विरोध होता है उससे पाँच ही भेद होते हैं [जाति गुण, जातिक्रिया, गुणक्रिया, गुणद्रव्य, क्रियाद्रव्य—के विरोध] । जाति और द्रव्य का विरोध ही ही नहीं सकता, अतः ये [विजातीय] भेद छ नहीं माने जा सकते ।' उक्त चारपदिक के विरोध के अभावों के भेदों की जो चर्चा विमतिनी में मिलनी है उनका भी स्रोत रुद्रट ही है । उन्होंने लिखा है—

‘अभावश्यभावी यद्यो सजातीययोर्भेदेकः ।

एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोऽयमन्वस्तु ॥ ११३३ ॥

—‘जहाँ ऐसे दो सजातीय पदार्थ जो परस्पर में विरुद्ध हों, और जिन दो में से किसी एक का [अभाव रहने से दूसरे का] अस्तित्व अवश्यभावी हो, तथापि यदि दोनों का ही अभाव दिखलाया जावे तो वह भी एक [चार सजातीयों के आचार पर चार] प्रकार का विरोध होता है ।’ रुद्रट ने एक ममी भेदों के उदाहरण दिए हैं । क्रिया से क्रिया के और क्रिया से द्रव्य के विरोध के उदाहरण सर्वस्वकार ने रुद्रट से ही लिए हैं । इनमें से प्रथम में सजातीय विरोध है और द्वितीय में विजातीय विरोध । दोष के उदाहरण रुद्रट से इस प्रकार लिए जा सकते हैं—

द्रव्य से द्रव्य का विरोध :—

अग्नेन्द्रनीलमित्तिषु शुभासु शैले सदा सुबेलाख्ये ।

अन्योन्यान्वभिभूते तेजस्तमसौ प्रवर्त्तते ॥’

—‘यहाँ सुबेल नामक गिरि पर जो इन्द्रनील मणि की मित्तियों से बनी गुफाएँ हैं उनमें तेज और तम दोनों परस्पर से अभिभूत हुए विना फैलते रहते हैं’ । यहाँ तम और तेज दोनों पद द्रव्यवाचक पद हैं, अतः यहाँ विरोध द्रव्यगण हुआ ।

गुण से गुण का विरोध—

‘अथात् परमसि विमलो वितताध्वरधूममलिनोऽपि’ ।

‘हे रुद्रदेव ! तूम यशधूम से मलिन होते हुए भी अत्यन्त निर्मल हो ।’ यहाँ मलिनत्व और निर्मलत्व गुणों का विरोध है । क्रिया से क्रिया के विरोध का उदाहरण रुद्रट ने भी ‘अव्यति च सवापयति च’—इसी पदावली के पद्यद्वारा दिया है । जाति से जाति के विरोध का उदाहरण—

‘एकस्यामेव तनी विमर्त्ति शुभपन्नरत्नसिंहत्वे ।
मनुजत्ववराहत्वे तथैव यो विमुरसौ जयति ॥’

—‘जो परमेश्वर एक ही शरीर में एक साथ नरत्व और सिंहत्व को धारण करता है, इसी प्रकार मनुष्यत्व और वराहत्व को, यह प्रणम्य है ।’ यहाँ नरत्व जाति का पशुत्व व्याप्य जाति सिंहत्व और वराहत्व के साथ विरोध है । जिनातीय भेदों में—

द्रव्यगुणविरोध—

‘तेजस्विना गृहीतं माद्वैवमुपयाति पश्य लोहमपि’ ।

—‘तेजस्वी [अग्नि] द्वारा गृहीत लोहा भी कोमलता को प्राप्त हो रहा है ।’ यहाँ लोह द्रव्य है कठिन किन्तु बतलाया जा रहा है कोमल ।

गुणक्रियाविरोध—

‘सा कोमलापि दलयति मम हृदयम् ।’

‘कोमल होते हुए भी वह सुन्दरी मेरा हृदय दल रही है ।’

जातिक्रियाविरोध—

‘मथ्मासि येन नितरामवलापि बलाभ्नौ बृत्ताम् ।’

—‘सुन्दरि ! तेरा चरित्र अद्भुत है । अबला होते हुए भी तू सभी दुष्टकों का चित्त लज्जित कर रही है ।’ यहाँ अवलत्व जाति है । मन्यनक्रिया उसके विरुद्ध है । अभाव के कारण उदाहरण इस प्रकार है—

द्रव्य-द्रव्य के अभाव का विरोध—

‘अविवेकितया स्थानं जातं न जलं न च स्थलं तस्याः ।’

—‘अविवेक के कारण न तो उसके लिए जल में ही जगह रह गई है और न स्थल में ।’ यहाँ जल और स्थल द्रव्य हैं । सामान्यतः किसी को यदि जल में जगह न मिले तो स्थल में अवश्य ही मिल जानी चाहिए, इसी प्रकार यदि स्थल में जगह न मिले तो जल में मिल जानी चाहिए । यहाँ दोनों में ही उसका अभाव बतलाया जा रहा है ।

गुण-गुण के अभाव का विरोध—

‘न मृदु न कठिनमिदं मे इतद्द्वयं पश्य मन्दगुण्यायाः ।

यद् विरहानलतप्तं न विलयमुपयाति न च दाढ्यम् ॥’

—‘सुख अभागिन का यह मृत्त हृदय न तो मृदु ही है और न कठिन ही । क्योंकि विरहानल में तप कर यह न तो विलय को ही प्राप्त होता और न तो दृढता को ही ।’ यहाँ हृदय को मृदु न होने पर कठिन होना चाहिए, परन्तु उसमें दोनों का अभाव बतलाया गया है ।

क्रिया-क्रिया के अभाव का विरोध—

‘नास्ते न याति हंसक पश्यन् गगनं धनश्यामम् ।

चिरपरिचितां च नलिनीं स्वयमुप भुञ्जातिरिक्करसान् ॥’

—‘आकाश को भेड़ों से भील तथा चिरपरिचित कमलिनी को स्वयं उपमुक्तशेष रस से युक्त देखकर हंस न तो ठहरता ही है और न जाता ही ।’ यह ठीक ‘न ययौ न तस्यौ’ की अभिन्यक्ति का अनुकरण है ।

जाति-जाति के अभाव का विरोध—

‘न स्त्री न चायमस्त्री जातः कुलपांसनो जनो यत्र ।

कथमिव तद्य पातालं न यातु कुलमनवल्भितया ॥’

—‘जिसमें ऐसा कुन्तलकी पुरुष वेदा हो गया हो जो न तो खो ही हो और न अखी हो वह कुल निरवलम्ब होकर रसानल को प्राप्त क्या नहीं हो ।’ यहाँ ‘अखी’ शब्द में खीविरुद्ध अखी और अख वाला इस प्रकार श्लेष माना जा सकता है । जो न तो खो ही हो और न खू वह नपुंसक अवयव ही कुन्तलुवाने वाला होगा ।

श्लेषमूलक विरोध का निर्बचन रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

‘यत्र विरुद्धविशेषणमवगमयेदन्यदर्थसामान्यम् ।

प्रक्रान्तमनोऽन्याद्गवाक्यश्लेषो विरोधोऽसौ ॥ १०१५ ॥

—‘जहाँ प्रसंग प्राप्त अर्थ दूसरा हो किन्तु विशेषण ऐसे हो जिनसे विपरीत अर्थ भी निकलता हो तो ऐसे वाक्यश्लेष को विरोध [श्लेष] कहा जाता है ।

उदाहरण—

‘सर्वधिनविधिषाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत् ।

सकलारिदार-रसिकोऽप्यनभिमत पराङ्गनामह् ॥’ १०१६ ॥

—‘वह सर्वधित कमल [सर्वधित किया है कमल को जिसने वह तथा सर्वधित किया है कमल की को जिसने वह] होने हुए भी अवदलितनालिक [अवदलित = नष्ट किया है नालिक = कमल को जिसने तथा नालिक = मूर्त्त को जिसने ऐसा] था । इसी प्रकार सकलारिदाररसिक [सकल = सभी अरि = शत्रुओं के दार = छियों का रसिक = रस लेने वाला, मरुत् शत्रुओं का दार = दारण करने का रसिक] होने पर भी पराङ्गीसह से विमुख था ।’ यहाँ संबधितकमल तथा अरिदार-रसिक शब्द प्रकरणविरुद्ध प्रथम अर्थ भी प्रस्तुत करते हैं ।

विरोधाभास—

‘स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम् ।

अन्यद् वाक्य गमयेदविरुद्धं सद् विरुद्धमिव ॥’ १०१२२ ॥

—‘जहाँ एक ही वाक्य ऐसे दो भिन्न भिन्न अर्थों को अवगमन कराए जो वस्तुतः अविरुद्ध रहने पर भी विरुद्ध जैसे प्रतीत हो ।’ यथा—

‘तव दक्षिणोऽपि वामो बलमशोऽपि प्रलय एव युव’ ।

दुर्योधनोऽपि राजन् सुधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम् ॥’

—‘दुर्योधन बाहु दक्षिण होने पर भी वाम [दक्षिणतर तथा सुन्दर] है, बलमश [बलराम, बल से सुन्दर] होने पर भी प्रबलम् [प्रलम्बासुर, आनातुल्यो] है । दुर्योधन [कीरवाधिय या धृतराष्ट्र का प्रथम पुत्र और जिनके माय मुदिच्छ से लडा जा सके ऐसा] होने पर भी सुधिष्ठिर [पाण्डुपुत्र धर्मराज तथा युद्ध में शिब] है । यह आश्चर्य की बात है ।’ हम स्वयं की अनेका पूर्वोद्धृत स्थलों में अन्तर केवल इतना है कि इस भेद में स्वयं विशेष्यपद श्लिष्ट हैं और उनके द्वितीय विरुद्ध अर्थ भी निकलता है जब कि पूर्वोद्धृत स्थलों में विशेषणांश में ही श्लेष और विरोध है । यह भेद अकिंचितकर है अतः अमान्य है ।

रुद्रट के इस विवेचन में उलाना ही विस्तार है भितना प्राचीन तीनों आचार्यों के विवेचन में संक्षेप था । परवर्ती आचार्यों में रुद्रट के विरोधसम्बन्धी विकीर्ण तर्कों का संकलन और संक्षेप दिखाई देता है ।

मम्मट—मम्मटआचार्य ने विरोध का दशवाँ भेद भी मान लिया है किन्तु अभाव तथा श्लेष और आभास के आधार पर किए भेदों को अलग नहीं गिनाया है । मम्मट इनसब भेदों को विरोध का ही अंग मानते हैं । मम्मट के अनुसार विरोध का लक्षण हम प्रकार है—

‘विरोध’ सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वच- ।’

—'विरोध वह जिसमें विरोध न रहने पर भी बात ऐसी कही जाय कि विरोध आभासित हो।' इसके भेद गिनाते हुए मम्मट ने लिखा—

'जातिश्चतुर्भिर्वात्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ।

क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्यैर्णवेति ते दश ॥'

—'जाति का विरोध जाति आदि चारों से होता है, गुण का गुण आदि तीन से, क्रिया का क्रिया और द्रव्य दो से तथा द्रव्य का केवल द्रव्य से ही इस प्रकार विरोध के दस भेद होते हैं।' इस प्रकार मम्मट ने जाति का द्रव्य के साथ विरोध माना किन्तु रुद्रट का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने इसका उदाहरण यह दिया है—

सृजति च जगदिन्द्रमवति संहरति च हेतुयैव यो नियतम् ।

अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥

—'जो परमेश्वर, इस संसार को खेल-खेल में बनाता, पालता और मिटाया करता है वह भी अवसर आने पर मछली बना यह आश्चर्य कौ बात है।' यहाँ भगवान् विष्णु एक हैं अतः द्रव्यरूप हैं। मछली का नाचक शफर शब्द जातिवाचक है क्योंकि मछलियाँ अनेक होती हैं। विष्णु भगवान् में शफरत्व जाति का रहना स्थितिविरुद्ध है अतः यहाँ जातिद्रव्यविरोध है। सर्वस्वकार ने 'परिच्छेदातीतः०' तथा 'अयं चारामेकः०' पद्य भी मम्मट के विरोधोदाहरणों में से ही लिए हैं। मम्मट ने भी इन पद्यों में क्रियाक्रियाविरोध तथा क्रियाद्रव्यविरोध माना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ रुद्रट के अभावमूलक विरोधों को मम्मट ने नहीं अपनाया वहाँ मम्मट द्वारा अपनाय दस भेदों को सर्वस्वकार ने आदर नहीं दिया। परवर्ती -

शोभाकर—शोभाकर मित्र ने अलंकाररत्नाकर में जाति, गुण, क्रिया, धर्ममात्र, द्रव्य तथा अभाव इनमें पूर्व-पूर्व के पदार्थों का वाद-वाद के पदार्थों के साथ विरोध मानकर जाति विरोध को छ, गुणविरोध के पाँच, क्रियाविरोध के चार, धर्मविरोध के तीन, द्रव्यविरोध के दो तथा अभाव-विरोध का एक भेद मान विरोध के भेद ग्यारह के स्थान पर श्लोक माने हैं। प्रत्येक का उदाहरण उन्होंने भी उसी प्रकार नहीं दिया जिस प्रकार सर्वस्वकार ने। अभावविरोध के लिए जो 'तं वीक्ष्य०' उदाहरण विमर्शनीकार ने दिया है वह उन्होंने रत्नाकर से ही लिया है। विरोध का लक्षण उन्होंने भी सर्वस्वकार के ही समान वामन से लिया है—'विरुद्धाभासत्वं विरोधः'।

अप्यदीक्षित—कुवलयानन्दकार ने विरोधालंकार पर कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। उन्होंने—चन्द्रालोक का ही—

'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते'।

—'विरोध यदि आभासरूप हो तो विरोधाभास माना जाता है—' यह लक्षण देकर—

'दिनापि तन्वि हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ'—

'हे सुन्दरि ! तेरे उरोव विना हार के भी हारी [हार वाले, आकर्षक] हैं।'—यह उदाहरण दे दिया है।

पृष्ठतराज—पृष्ठतराज जगन्नाथ ने विरोध का लक्षण दो विकल्पों में प्रस्तुत किया है—

(१) 'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितवोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणसंबद्धत्वम्, एकाधिकरणसम्बद्धत्वमानं वा विरोधः। यदा—

(२) 'एकाधिकरणसंबद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरण - संबद्धत्वेन प्रतिपादनं सः'।

—‘एक ही अधिकरण में सवन्धिरूप से प्रतिपादित अर्थों का एक अधिकरण में संबन्धित न होने का आभास अथवा एक अधिकरण में संबन्धित न होने का मान विरोध कहलाना है। अथवा [इसका उलटा] एक अधिकरण में सवन्धित न होने वाले रूप से प्रसिद्ध अर्थों का एक अधिकरण में सवन्धितरूप से प्रतिपादन विरोध होना है।’ स्पष्ट ही इदृश की प्रथम विरोध-परिमाण का यह नव्यन्यायमूलक विग्रहोक्ति है। तब भी इसमें एककालत्व को छोड़ दिया गया है। पण्डित-राज ने ‘आभास’ का अर्थ किया है ‘कुछ-कुछ भासित होने वाला’ = ‘आ = ईषद् भासत इत्या-भास’। इन्होंने इकौस भेदों को न मान दस भेदों को ही स्वीकार किया है। यद्यपि अभावमूलक भेदों का निरूपण भी कर दिया है। विशेषता यह है कि पण्डितराज ने धर्ममात्र तथा अभाव को जात्यादि के भीतर ही अन्तर्भूत मान लिया है। उनका कहना है—‘जात्यादिरिति धर्ममात्रं विवक्षितम्, उपलक्षणपरत्वात्, तेन ‘य. बालकोऽपि पुरागपुरव.’ ‘अगोक्षारकोऽपि नागोक्षारकः’ इत्यादौ सखण्डोपाधेरभावस्य च परिग्रहः।’

—‘जात्यादि का अर्थ है धर्ममात्र। अतः जो ‘बालक होते हुए भी पुरागपुरव है, जो अगो-क्षारक [वृक्ष का छदारकर्ता] होते हुए भी नागोक्षारक [वृक्ष का छदार न करने वाला, नाग = कुवलयपीठ हाथी का छदारक] है—’ इत्यादि स्थलों में उपलब्ध पुरागपुरवत्व आदि खण्डोपाधि तथा अभाव का समग्र भी हो जाता है।’ पण्डितराज ने उक्त दस भेदों को भी सर्वस्वकार के ही समान अद्वय माना है और कहा है—

‘वस्तुतो जात्यादिभेदानामहण्वाच्छुद्धत्वश्लेषमूलत्वान्मां द्विविधो ज्ञेयः।’

—‘सत्य यह है कि जात्यादि भेदों में कोई चमत्कार नहीं है अतः विरोध के शब्द और द्रिष्ट दस प्रकार केवल दो ही प्रकार का मानना चाहिये।’ [रसगवाधर विरोधप्रकरण]।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर ने भी मम्मट से ही मिलनी पदावली में—

‘अविरोधेऽपि विरोधो यत्रोक्तः स्याद् विरोधः सः।

स्याज्जातेर्गुणकर्मभेदव्याणां स्वत्वपरयोगात् ॥’

इस प्रकार विरोध का लक्षण तथा उसके दम ही भेद स्वीकार किए हैं।

मजीबिनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने विरोध के सर्वस्वकाररूप संपूर्ण विवेचन का सार समग्र इस प्रकार किया है—

‘विरोधस्तु तदभासो जात्यादिवर्तमानप्रयः।

तद्द्वैचित्र्याद् दशविधो विषयैक्ये व्यवस्थितः ॥’

—‘विरोध कहलाता है विरोध का आभास। यह जाति आदि पर निर्भर रहता है और इनकी विशेषता से दस प्रकार का होता है। यह वहीं होगा जहाँ विषयैक्य रहता है।’

[सर्वस्व]

एवं विरोधमुक्त्वा विरोधमूला अलंकाराः प्रदर्शयन्ते। तथापि कार्य-कारणमात्रमूलत्वे विभावनां तावदाह—

[सू० ४२] कारणामात्रे कार्यस्योत्पत्तिविभावना।

इह कारणान्वयन्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभवः। अन्यथा विरोधो दुष्परिहरः स्यात्। यदि तु कयाचिद् भङ्ग्या तथाभावे

उपनिबध्यते तदा विभावनाख्योऽलंकारः । विशिष्टतया कार्यस्य भावनात् । सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावे कार्योपनिबन्धः । अप्रस्तुतं कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहारः । कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव वाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालंकाराद् भेदः । एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव वाध्यमानत्वमुन्नेयम् । येन सापि विरोधाद् भिन्ना स्यात् ।

इह च लक्षण्ये यद्यप्यन्यैः कारणपदस्थाने क्रियाग्रहणं कृतं तथापीह कारणपदमेव विहितम् । नहि सर्वैः क्रियाफलमेव कार्यमभ्युपगम्यते । वैयाकरणैरेव तथाभ्युपगमात् । अतो विशेषमनपेक्ष्य सामान्येन कारणपदमेवेह निर्दिष्टम् ।

इस प्रकार विरोध का निर्बन्धन किया । अब विरोधमूलक अलंकार बतलाए जा रहे हैं । इनमें भी कार्यकारणभावमूलक अलंकारों में प्रथमतः विभावना का निर्बन्धन करते हैं—

[सू० ४२] कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति [बतलाई जाए तो अलंकार की संज्ञा] विभावना [होती है] ।

[४०] यहाँ कारण के होने न होने पर कार्य का होना न होना निर्भर रहता है इसलिए कारण के बिना कार्य की निम्पत्ति संभव ही नहीं होती । ऐसा न हो तो विरोध का परिहार करना संभव न हो । इतने पर भी यदि किसी प्रकार वैसा [कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का] उगन किया जाता है तो वहाँ अलंकार विभावना नामक होता है, क्योंकि इसमें 'वि = विशिष्ट' रूप से कार्य का मानन = उत्पादन यह व्युत्पत्ति लागू होती है । यह प्रकार है विशिष्ट [प्रसिद्ध] कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति बतलाना । यहाँ धाने वाला विरोध 'अप्रस्तुत कारण वस्तुतः विद्यमान है' इस ध्यान से इट जाता है । यहाँ कथन का आरम्भ कारणाभाव के प्रतिपादन से होता है अतः बड़ी बलवान् होता है, फलतः इसके द्वारा कार्य ही बाधित होता-सा प्रतीत होता है, न कि इस [कार्य] के द्वारा कारणाभाव [बाधित होता है], फलतः अन्योन्यबाधकत्व पर निर्भर विरोध नामक अलंकार से [इस अलंकार का] अन्तर हो जाता है । इसी प्रकार विशेषोक्ति में कार्याभाव के द्वारा कारणसङ्ग्राह बाधित होता प्रतीत होता हुआ जानना चाहिए । फलतः वह भी विरोध से भिन्न सिद्ध होती है ।

यद्यपि यहाँ लक्षण में [भामह, वामन, उद्भट और मम्मट इन] अन्य आचार्यों ने कारण-शब्द के स्थान पर क्रियाशब्द अपनाया है तथापि [ग्रन्थकार ने] यहाँ कारणशब्द का ही विधान किया, क्योंकि ऐसा नहीं है कि कार्य को क्रिया का ही फल समझें [वार्ष्णेिक] मानते हों । वैसी मान्यता तो केवल वैयाकरणों की ही है । इस कारण विशिष्ट [बलवत वैयाकरण को अभिमत पदावली] को छोड़ यहाँ [विभावनालक्षण को] सामान्य [सर्वमान्य] पदाने के लिए कारण पद का उपयोग किया ।

विमर्शिनी

तावदिति प्रथमम् । कारणाभावे कार्योत्पत्तेरत्यन्तं विरुद्धत्वात् । आदेति । कारणाभाव इत्यादिना । तत्र तावत् कार्यस्य कारणपरतन्त्रतां दर्शयति—इहेत्यादिना । यदुक्तम्—

'यो हि येन विना नास्ति यस्मिंश्च विद्यते क्रिया ।

तदेव कारणं तस्य नान्यत् कारणमुच्यते ॥' इति ।

अन्यथेति । यद्वि कारणं विनापि कार्यस्य मंभव उपनिबध्गत इत्यर्थः । ननु यद्येवं तत्कथं कारणभावे कार्योत्पत्तिरूपा विभावना भवतीत्यादाह—यदि त्वित्यादि । तथाभाव इति कारणभावे कार्योत्पत्तिः । अत एव कार्यस्य विशिष्टत्वम् । तेति । यथा भङ्गात् कारण विनापि कार्यमभव उपनिबध्गत इत्यर्थः । विशिष्टेति प्रसिद्धम् । विरोध-परिहार इति । अग्रप्रसिद्धस्य कारणान्तरस्य प्रस्तुतत्वात् । ननु यद्येवं तत्कथमय विरोध एव न भवतीत्यादाह—कारणेत्यादि । तेनेति कार्येण । यदुक्तम्—

‘कारणस्य निषेधेन चाप्यमान. फलोदयः ।

विभावनायामामाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम् ॥

अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः ।’ इति ।

एतदेव प्रथमाद्-विरोधोक्तेरप्याह—एवमित्यादि । एतदकस्मिन्पक्षेऽप्यमपाठः । तथा हि—‘हरतापि तनु हरस्य’ इत्यादीं यथाहरणेन कार्यभावेन तनुहरणरूप कारणं न चाप्यते अपि तु सत्यपि तनुहरणस्य सामग्र्ये कथं न यत् इति किं कार्यभावरूपैव चाप्यत्वेन प्रतीतिः । तस्मात् ‘एव विरोधोक्तेः कारणसत्तया कार्यभावरूपैव चाप्यमानत्वमुन्नेयम्’ इति पाठो ग्राह्यः । एतदेव राजानकनिलकेनाप्युक्तम्—‘कारणसामग्र्यमिह बाधकत्वेनैव प्रतीयते कार्यानुत्पत्तिस्तु बाध्यत्वेन’ इति । ग्रन्थकृत्वा प्रायस्तन्मतानुवर्षेय । तदुक्तमानस्यापोऽस्माभिः पाठो लक्षितः । वेनेति । एकस्यैव चाप्यत्वेन प्रतीतिः । ननु च ‘क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि यत्फलस्य विभावनम् । ज्ञेया विभावना-’ इत्यादिभोज्यादिभिरेतत्फलज्ञेये क्रियाग्रहणं कृतमिति कथमिह तदुक्तत्वेन कारणग्रहणं कृतमित्यादाह—इत्यादि । सर्वेति शौद्धादिभिः । अग इति । यैकारणैरेव क्रियाफलस्य कार्यस्याभ्युपगमात् । सामान्येनेति । सर्वैवादिसाधारणतयेत्यर्थः । सर्वैवादिसाधारणोऽय प्रथ्यः ।

तावत् = प्रथमतः । इसलिये कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति अत्यन्त विरुद्ध होती है । आह—निर्वचन करते हैं, ‘कारणभावः’ इत्यादि के द्वारा । यहाँ पहले कार्य की कारण पर निर्भर बतलाने हैं—‘इहः’ इत्यादि के द्वारा । जैसा कि कहा है—‘जो जिसके बिना [सम्भव] नहीं होगा तथा जिसमें क्रिया रहनी है वही उस [कार्य] का कारण होता है । अन्य किसी को कारण नहीं कहा जाता ।’ अन्यथा = अर्थात् यदि कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति बतलाई जानी है । यदि ऐसा है तो कारण के अभाव में कार्योत्पत्तिरूपी विभावना कैसे मानी जाती है—ऐसी शंका कर कहते हैं—यदि तु । तथाभावः = जैसा वर्णन अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन । इसीलिये यहाँ कार्य विशिष्ट [असामान्य] हुआ । सा = जिस प्रकार से कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति बतलाई जाती है । विशिष्ट = प्रसिद्ध । विरोधपरिहार = क्योंकि यहाँ अन्य कोई अप्रसिद्ध कारण उपस्थित रहता है । यदि ऐसा है तो यह [विभावना] विरोध ही क्यों नहीं मान ली जाती’ इस शंका पर उत्तर देने हैं—कारण इत्यादि । तेन = उससे = कार्य से । जैसा कहा है—‘विभावना में कारणभाव से कार्योत्पत्ति का बाध प्रतीत होता है, जब कि विरोध में एक दूसरे से एक दूसरे का बाध । इसलिये विरोध से इस [विभावना] का पर्याप्त अन्तर है ।’

श्री प्रथम में विशेषोक्ति से भी विरोध का भेद बतलाते हुए लिखते हैं—एवम् इत्यादि के द्वारा । वस्तुतः पक्ष का यह रूप किमी प्रतिलिपिकार की कल्पना है, जो गलत है । क्योंकि [आगे दिए जाने वाले] ‘हरतापि तनुम्’ पक्ष में और ऐसे ही अन्य स्थलों में ‘वत्त के न हरे जाने-’ रूप कार्योत्पत्ति से ‘शरीर का हरा जाना’ रूप कारण बाधित नहीं होता । प्रत्युत ‘शरीर-

हरणरूप कारण के रहने पर भी फल का हरण क्यों नहीं हुआ' इस मानसविकल्प के द्वारा कार्य का अभाव ही वाधित प्रतीत होता है। इसलिये यहाँ मूल पाठ यह मानना चाहिए—
'इदं विशेषोक्तौ०' = 'इसी प्रकार विशेषोक्ति में कारणसद्भाव के द्वारा कार्याभाव वाधित होता समझा जाना चाहिए'। राजानक तिलक ने भी यही कहा है—'यहाँ कारणों की समग्रता वाधकरूप से ही प्रतीत होती है और कार्य की अनुत्पत्ति वाच्यरूप से।' ग्रन्थकार प्रायः उनके मत का अनुसरण ही करते हैं। अतः हमने उनके [इस उद्धृत] कथन से मिलता हुआ ही पाठ प्रस्तुत किया है। येन = जिससे अर्थात् किसी एक के ही वाच्यरूप से प्रतीत होने के कारण। शंका—'क्रिया का अभाव रहने पर भी फल को जो विशिष्ट उत्पत्ति उसीको विभावना मानना चाहिए'—इत्यादि कहकर उद्भट आदि ने इसके लक्षण में क्रियाशब्द अपनाया है। आपने उसका बखलबन कर कारणशब्द का ग्रहण क्यों किया है ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—
'इह'०—इत्यादि। सर्वैः = बौद्ध आदि के द्वारा। अतः = वैयाकरणों ही ने कार्य की क्रिया का फल स्वीकार किया है। सामान्येन = सामान्यरूप से अर्थात् सभी दार्शनिकों को अभिमतरूप से। [कारण शब्द दे देने से अब] यह ग्रन्थ सर्वमान्य हो गया।

[सर्वस्व]

यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयऐरनासवाख्यं करणं मदस्य ।

कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं चास्यात् परं साथ वयः प्रपेदे ॥'

अत्र द्वितीये पादे मदस्य प्रसिद्धं यदासवाख्यं करणं तद्भावेऽपि यौघनहेतुकत्वेनोपनिषन्धः कृतः । मदस्य च द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसायादेकत्वमतिशयोक्त्या । सा चास्यामव्यभिचारिणीति न तद्वाघेनास्या उत्थानम् , अपि तु तदनुप्राणितत्वेन ।

इयं च विशेषोक्तिवदुक्तानुक्तनिमित्तभेदाद् द्विविधैव । तत्रोक्तनिमित्तोदाहृता । अनुक्तनिमित्ता यथा—

'अङ्गलेषामकाशमीरसमालम्बनपिञ्जराम् ।

अनालक्तकताम्राभामोष्ठलेखां च विभ्रतीम् ॥'

अत्र सहजत्वं निमित्तं गम्यमानम् । असंभृतं मण्डनमिति, कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रमिति चात्र विवदन्त—इयमेव विभावनेति केचित् । संभरणस्य पुष्पाणां च मण्डनमस्त्रं प्रत्यकारणत्वाद् वाङ्मात्रमेतत् । एक-शुणहानौ विशेषोक्तिरित्यन्ये । रूपकमेवाधिरोपितवैशिष्ट्यमिति त्वपरे । आरोप्यमाणस्य प्रकृते संभवात् परिणाम इत्यद्यतनाः ।

[(उक्तनिमित्ता) विभावना का उदाहरण] यथा—

'अब वह [पावती] अंगवटि का सावसन्नारहित अलंकरण, आसवनामरहित मद का कारण, काम का पुष्पभिन्न अस्त्र जो वाच्य के बाद का वय [यौवनारम्भ] उसमें पहुँचो । [कुमारसं० १ ।]
—यहाँ द्वितीय चरण में नशे का जो आसवनामक प्रसिद्ध कारण है उसके अभाव में भी मद की यौवन से उत्पत्ति बतलाई गई है । वस्तुतः [आवसन्ननित और यौवन-जनित] मद दो अलग-अलग प्रकार के हैं तथापि [एकशब्दवाच्यतामूलक] अतिशयोक्ति के

द्वारा अभेदाध्यवसाय होने में [यहाँ] दोनों एक हैं । यह [अतिशयोक्ति] यहाँ [विभावना में] नियमन, रहेगी ही अनः इस [विभावना] की निष्पत्ति उस [अतिशयोक्ति] के बाध से नहीं होनी, अपितु उससे अनुप्राणित होकर होती है ।

विशेषोक्ति के [ही] समान यह [विभावना] दो प्रकार की होती है उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता । इनमें से उक्तनिमित्ता का उदाहरण [अल्पवृत्तम्] दिया जा चुका है । अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है—

‘अगलेखा [अगपष्टि] जो केशर रस के लेप के बिना ही पीत वर्ण की थी तथा ओष्ठलेखा जो बिना आलकक के ताम्रवर्ण की थी, का धारण को हुई [पार्वती] ।’

—यहाँ अपने आप उत्पन्न होना रूपी कारण [उद्भूत-कविन नहीं है, अतः] गम्य है ।

‘साजसज्जारहित मण्डन’ यह, और ‘काम का पुष्पमित्र अक्ष’ यह [जो अंश है] इस पर कुछ विचारक [हमारे] विरुद्ध भ्रान्त्यना प्रस्तुत करते और कहते हैं ‘[वस्तुतः] विभावना यही [अथवा यह विभावना ही] है’, [किन्तु सत्य यह है कि] यह उक्तिमान है [उक्तिवैविध्यरूप अलंकार नहीं], क्योंकि साजसजा और पुष्प क्रमशः मण्डन और अक्ष के प्रति कारण नहीं हैं । अन्य आचार्य [वामन आदि] यहाँ [वैविध्य का अनुभव करते और] एक गुण की दृष्टि से होने वाली विशेषोक्ति मानते हैं । दूसरे [उद्भटादि] आचार्य वैशिष्ट्य के आरोप से युक्त रूपक मानते हैं । यहाँ आरोप्यमाण [मण्डन, अक्ष] प्रकृत [वय] में समव है अतः आधुनिक विचारक यहाँ परिणाम स्वीकार करते हैं ।

चिमर्शिनी

द्वितीय इति । अन्यपादयोर्न विभावनेत्यर्थः । यौवनहेतुकरवेनेति । समाधानायाप्रसिद्धं कारणमाश्रित्येत्यर्थः । अन्यथा हि विशेषपरिहारो न स्यात् । ननु चासवत्रमितोऽन्य एव नशो यौवनहेतुकश्चाप्य एवेत्यत्र यौवनहेतुक एव विवक्षित इति कथं कारणाभावे कार्यस्योपक्षितिरियाशङ्क्याह—मदस्येत्यादि । इतिव्य इति चैतद्व्यदर्परूपे । सेऽपतिशयोक्ति । अन्यभिचारिणीति । अतिशयोक्तिं विनास्था अनुस्थानात् । अत एवेदमतिशयोक्त्यनुमाणि-तैव भवतीति सिद्धम् । तदेवाह—तदनुप्राणितत्वेनेति । यदुक्तमभ्यग्रापि—‘आच्छिष्टाति-शयोक्तिश्च सर्वत्रैव विभावना’ इति ।

‘निदृशपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तरमै ककारकाभ्याय शुकिने ॥’

इत्यत्र तु जगत उपादानादिविरहेणैव भगवत्कार्यस्य वास्तवत्वाद् विभावनैव नार्नीति कस्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्व स्यात् । एवम्—

‘ण अ रुवं ण अ ऋद्धी णावि कुलं ण अ गुणा ण विष्णुणां ।

एमे अ तह वि कसस वि को वि अणो बल्लहो होह ॥’

इत्यादावपि ज्ञेयम् । अतश्च कश्चिद्बुद्धस्यापि संभवात् सर्वप्रास्यातिशयोक्त्यनु-प्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम् । विशेषोक्तिवदिति । विशेषोक्तौ प्राच्यैर्यथो-क्तमित्यर्थः ।

अत्र चाप उदाहरणे द्वितीयपाद एव विभावना व्याख्येया न पुनरन्यैर्यथोक्तमि-त्याह—असंभृतमित्यादि । केचिदिति विवदन्त इति संवन्धः । अकारणत्वादिति । संभरणान्दि हिमण्डनादेः स्वरूपम् । यथेवं तद्व्याख्यः कोऽलंकार इत्याशङ्क्याह—एकेत्यादिना ।

अन्य इति वामनीयाः । अपर इत्यौद्गटाः । तृतीयस्तु पक्षे न ब्राह्मः' लेखकपरिकल्पित-
त्वात् । तथाह्यारोप्यमाणस्य प्रकृते संभव इति न परिणामलङ्घम् । आरोप्यमाणस्य
प्रकृत उपयोग इति तस्य लक्षितत्वात् । संभवोपयोगयोश्च नैकत्वम् । भिन्नत्वात् । ग्रन्थ-
कृतापि साहित्यमीमांसायामेतच्छ्लोकविवृतौ पक्षद्वयमेवोक्तम् । लेखकैश्यास्य ग्रन्थस्य
प्रतिपक्षमेव विपर्यासः कृतः । तथा चात्रैवासंभृतमित्यादिको ग्रन्थस्तदनुप्राणितत्वेनेत्य-
स्य पश्चाद्गुणपत्रोऽपि गम्यमानमित्यस्य पश्चाद्विहितः । एतच्च न तथा दृषणमित्यस्मा-
भिर्यथास्थित एव ग्रन्थो व्याख्यातः ।

द्वितीय = द्वितीय चरण कहने का अर्थ यह है कि अन्य दो [प्रथम तथा तृतीय] चरणों
में विभावना नहीं है । 'यौवनहेतुकत्वेन' 'यौवन से जनित अर्थात् समाधान के लिए अप्रसिद्ध
कारण को अपना कर । अन्यथा विरोध का परिहार न होता । [शंका] आसवजनित मद अन्य
ही है और यौवनजनित अन्य ही, यहां यौवनजनित मद ही विवक्षित है तब कारण विद्यमान
ही है उस] के अभाव में कार्य को उत्पत्ति कैसे बतलाएँ या रही है' ऐसी शंका कर बचर देते
हैं—मदस्य० । द्वैविध्य = क्षीबता [नशा] रूप और दर्प रूप । सा = वह = अतिशयोक्ति ।
अभ्यभिचारिणी = अतिशयोक्ति के बिना इस [विभावना] की निष्पत्ति नहीं होती इसलिये
सिद्ध यह हुआ कि यह [विभावना] अतिशयोक्ति से सदा ही अनुप्राणित रहती है ।
इसी को कहते हैं—तदनुप्राणितत्वेन । जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है—'विभावना सदा
अतिशयोक्ति का आलिंगन किए रहती है ।'

'विना उपादान सामग्री के और विना भित्ति के बगवत रूपी चित्र बनाने वाले अतः श्लाघ्य
कला वाले भगवान् शंकर को नमस्कार है ।

—यहां तो जगत् उपादान के बिना ही वास्तविकरूप से भगवान् का कार्य सिद्ध होता है
अतः यहां [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा स्वीकार की गई] विभावना ही नहीं है फलतः अति-
शयोक्ति से अनुप्राणित किसे माना जाय । इसी प्रकार—[रत्नाकरकार द्वारा विभावना के
लिए उद्धृत]—

'न च रूपं न ऋद्धिर्नापि कुलं न च गुणा न विशानम् ।

एवमेव तथापि कस्यापि कोऽपि जनो बहमो भवति ॥'

—'न तो रूप ही रहता, न ऋद्धि [भन] न कुल, न गुण और शिल्प [विद्यान] ही ।
तथापि, ऐसे ही किसी के लिए कोई जन प्रिय होता है ।'—इस और ऐसे ही अन्य स्थलों में
भी जानना चाहिए । [प्रीति जिस प्रकार सहेतुक होती है उसी प्रकार अहेतुक प्रीति भी
होती है, अतः यहां वस्तुक्रममात्र ही अलंकार नहीं] और इसीलिए [अलंकाररत्नाकरकार
ने 'निरुपादान०' पक्ष में अतिशयोक्तिरहित शुद्ध विभावना मानकर सर्वस्वकार की 'विभावना
सदैव अतिशयोक्ति से अनुप्राणित रहती है'—इस मान्यता का निराकरण करते हुए जो—]
'कहीं शुद्ध [अतिशयोक्तिरहित] विभावना भी संभव है अतः यह सर्वत्र अतिशयोक्ति से
अनुप्राणित रहती है ऐसा नहीं कहना चाहिए'—यह कहा है [अलंकाररत्नाकर पृ० १४]
वह ठीक नहीं है । वह 'विशेषोक्तिवत्' = विशेषोक्ति के समान—' अर्थात् प्राचीन आचार्यों
ने जो भेद केवल विशेषोक्ति में बतलाए हैं, वे इस विभावना में भी संभव हैं ।

यहां जो पहला [असंभृतम्०] उदाहरण है उसमें विभावना केवल दूसरे ही चरण में है ऐसी
व्याख्या करनी चाहिए न कि अन्य लोगों ने (?) जैसा कहा है । यही कहने के लिए लिखते
हैं—असंभृतं इत्यादि० । 'कैचित्' = इसका संबन्ध 'निवदन्ते' से है । अकारणत्वात् अकारण न
होने से—अर्थात् संभरण = साजसज्जा आदि तो मण्डन स्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं, जो कारण

हे। 'यदि ऐसा है तो यहाँ दूसरा कौन अलंकार है'—ऐसी ढंका उठाकर लिखने है—एक० इत्यादि। अन्ये = अन्य अर्थात् वामनानुयायी। अपरे = दूसरे अर्थात् उद्गटानुयायी। तृतीय [परिणामपक्ष] अप्राप्त है क्योंकि वह प्रतिलिपिकार द्वारा जोला गया है। इसलिए कि परिणाम का 'आरोप्यमाण का प्रकृत में समव'—यह लक्षण नहीं है। इसका लक्षण तो ग्रन्थकार ने 'आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग' ऐसा दिया है। समव और उपयोग दोनों एक नहीं हो सकते। वे भिन्न हैं। ग्रन्थकार ने साहित्यमीमांसा में जहाँ इस पद्य की व्याख्या की है वहाँ [विशेषोक्ति और रूपक के] दो ही पक्ष प्रस्तुत किए हैं [परिणाम पक्ष नहीं]। यह तो स्पष्ट है कि लिपिकारों ने इस ग्रन्थ में पदे पदे उलट कर किए हैं। यही 'असृष्टम्' इत्यादि [अर्थात् 'असृष्टम्-अद्यतनाः' इस अन्तिम] ग्रन्थाद्य को रखना उचित था 'तदनुप्राणित्वेन' के पश्चात्, किन्तु उसे रखा है 'गम्यमानम्' इसके पश्चात्। यह उतना सदेव नहीं था, इस कारण हमने ग्रन्थ रिधति को सुधारे बिना ही व्याख्या कर दी है। [विमर्शनीकार का सुझाव ठीक है। दक्षिणी पोथियों में ऐसा पाठ मिलता भी है]।

विमर्श—सर्वस्वकार ने 'असृष्टं०' पद्य में विभावना इसलिए मानी कि उद्गट ने 'अगलेटा०' पद्य में विभावना मानी थी। उद्गट के पुत्र कुमारसम्भ के इस पद्य पर कालिदास के कुमारसम्भ के सपर्युक्त 'असृष्टम्' पद्य की स्पष्ट ही छाया है। समानभाव वाला होने से सर्वस्वकार ने 'अगलेटा' पद्य की छोड़ 'असृष्ट' पद्य को अपनाया यद्यपि उन्हें इस पद्य में अरुचि भी है। वस्तुतः उनकी अरुचि निर्मूल है। उनका कहना है कि इस पद्य में केवल द्वितीय चरण में ही विभावना है। प्रथम तथा तृतीय चरण में नहीं। इसका कारण उन्होंने यह माना है कि प्रथम तथा तृतीय चरणों में जिसके अभाव में जिसकी उत्पत्ति बनलाई गई है उनमें परस्पर में काय कारणभाव नहीं है। अर्थात् प्रथम चरण में जो संभरण और मण्डन हैं वे एक दूसरे के कारण नहीं हैं। वे परस्पर में अभिन्न हैं अर्थात् जो संभरण है वही मण्डन है तथा जो मण्डन वही संभरण। इसी प्रकार पुष्प भी काम के बाणों के कारण नहीं स्वयं बाण ही है। वस्तुतः संभरण का अर्थ सर्वस्वकार ने ठीक नहीं समझा। वे उसे क्रिया रूप या क्रियाफल समझ गए। कवि की विवक्षा उससे भिन्न है। वह कहना चाहता है कि यौवन के आते ही बिना अलंकरण सामग्री के शरीरवर्धिका रोम रोम अलंकृत हो गया। असृष्ट शब्द का अर्थ 'संभरण या सामग्री के बिना' है। कालिदास के ही इस पद्य से यह तथ्य स्पष्ट है—

'अथ मधु वनितानां नेत्रानिवेशनीय मनमिलतरं पुषं रागम्भप्रवालम् ।

अकृतकविधिसर्वाङ्गीणमाकल्पकजात विलसितपदमाद्य यौवन स प्रपेदे ॥' [रघु० १८।५२]

'अग्निवर्ण यौवन में पहुँचा। यौवन क्या था, वनितारों के द्वारा आँसों से पिया जाने वाला मधु था, कामवृक्ष का रागम्भरूपी प्रवाल से मण्डित पुष्प था, बिना बनावट के अग अंग का अलंकरण था और विलास का घर था।'

यहाँ 'अकृतकविधि' शब्द से निकलते कृतकशब्द द्वारा कृत्रिमता और कृत्रिमता द्वारा मण्डन के ऊपरी साजसज्जा से बनावट जाने का तथ्य स्पष्ट है। स्त्री और पुरुष के मण्डन में जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी कालिदास ने उनका भी बख्खे राज्याभियेक के पूर्व हुए अतिथि के अलंकरण में [रघु० १८।२२-२५], तथा शिव और पार्वती के विवाह के प्रकरण [कुमारस. ७] में एक एक करके कर दिया है। 'समार' शब्द का प्रयोग भी वे सामग्री के लिए करते हैं। रघुवंश में भगवान् राम के यज्ञ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

'विधेरधिसंभारस्तत' प्रवृत्ते मत्तः ।

आसन् चक्र क्रियाविज्ञा राश्रसा पव रक्षिणः ॥ १५।६२ ॥

‘यश्च आरम्भं भुञ्जा, जिसमें संभार विधिसे अधिक था और जिसमें यश्चञ्चसक राक्षस ही रक्षक थे’ इस पद्य में विधि से अधिक संभार का अर्थ यह है कि यश्च विधान में जितनी सामग्री अपेक्षित थी उससे भी अधिक सामग्री वहाँ थी। कालिदास श्रद्धा और विधि के साथ वित्त भी यश्च के लिए अपेक्षित मानते हैं—

‘श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्’—[शाकुन्तल ७]

‘शकुन्तला, सर्वदमन तथा दुष्यन्त तीनों का मिलन एक प्रकार से श्रद्धा वित्त और विधि का मिलन है।’ इस प्रकार ‘असंभृतम्’ का अर्थ सामग्री रहित करना ही ठीक है। सामग्री और मण्डन में कार्यकारणभाव सिद्ध ही है। फलतः प्रथम चरण में भी विभावना मानी जा सकती है।

तृतीय चरण में भी विभावना मानी जा सकती है क्योंकि काम के वाण के प्रति पुष्प कारण रूप से प्रसिद्ध है। कालिदास स्वयं लिखते हैं—

‘सद्यःप्रनाल्लोद्गमचारुपत्रे नीते सपार्ति नवचतुर्वाणे ।

निवेशयामास मधुहिरेफान् नामाक्षराणोव मनोभवस्व ।’ [कु० ३।२७]

— नवीन आभ्रपुष्प रूपी वाण तत्काल निकले खोंपलों के लाल लाल पत्तों से युक्त होकर जब पूरा बन चुका तब वसन्त ने उसपर मानों औरों को कामदेव के नामाक्षर के रूप में जड़ा स्पष्ट है कि पुष्प सृष्टिकारणनीय है और वाण वृत्तस्थानीय। दूसरे शब्दों में वक्ष मानों बाँस है, पुष्प बाँस की पतली शाखा अथवा कटी और छँटे टण्डो। वाण नहीं। वाण वह तब बनती है जब उसमें पीछे पंख लग जायें। पंख हैं पत्ते। रति विकाप करते हुए वसन्त के लिए एक विशेषण प्रयुक्त करती है—‘कुसुमायोजितकार्मुकः’—

‘क्व नु ते हृदयंगमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः । [कु० ४।२४]

‘तुम्हारा प्रिय मित्र वसन्त कहा है जो पुष्पों से तुम्हारा धनुष बनाया करता था ।’ इससे स्पष्ट है कि एक पुष्प न तो वाण ही बनता और न चाप ही। वाण और चाप की योजना पुष्पों को गूँथ गूँथ कर की जा सकती है। इसीलिए उपर्युक्त पद्य में आभ्रमञ्जरी को वाण कहा है। मञ्जरी विशिष्ट आकार के पुष्प समुदाय का ही नाम होता है। संस्कृत के अन्य कवियों में भी यह अभिप्राय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इस प्रकार ‘काम का वाण और ‘पुष्प’ इनमें भी कार्य कारणभाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सर्वस्वकार का यह कथन कविसंमत नहीं कि पुष्प और वाण में कार्य कारणभाव नहीं है। हाँ वे इतना कह सकते थे कि तृतीय चरण में प्रसिद्ध कारण का अभाव प्रतिपादित नहीं है, अपितु अप्रसिद्ध कारण का प्रतिपादन विवक्षित है—‘पुष्प व्यतिरिक्त वाण कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। इस कारण यहाँ विभावना के एक अंश कारणभाव का अभाव है फलतः विभावना संभव नहीं। हो तो वह व्यंग्यमात्र हो सकती है, क्योंकि पुष्पव्यतिरिक्त कहने से पुष्प के अभाव में भी वाणनिष्पत्ति को गूँथ सुनाई देती है। इस प्रकार प्रथम चरण में तो विभावना निश्चित रूप से विद्यमान है ही तृतीय चरण में विभावना भले ही सिद्ध न हो सर्वस्वकार द्वारा उसके अभाव के लिए दिया हेतु संगत सिद्ध नहीं होता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी असंभृतम्—‘पद्य पर सर्वस्वकार के उद्धृत सर्कों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि—‘यहाँ बौवन में दो तत्त्व प्रतिपादित किए जा रहे हैं एक तो आसव-भिन्नता और दूसरा मदकारणता। इनके प्रतिपादन से विभावना की निष्पत्ति संभव नहीं। यह तब संभव होती जब मद रूपी कार्य की निष्पत्ति बतलाई जाती और बतलाया जाता आसव का अभाव, साथ ही अन्य किसी कारण का अस्तित्व न बतलाया जाता। यहाँ तो बौवन रूपी

कारण का अस्तित्व ही बननाया आ रहा है अतः विभावना के लिए अपेक्षित कारणामात्र रूपी एक अंग यहाँ नहीं है। यौवन भी आसव के ही समान मद का कारण है। [३० रसगंगाधर ५८४ पृ०]

अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने यहाँ प्रथम और तुनीय चरण में न्यूनाभेद रूपक मानने की संभावना व्यक्त की है और द्वितीयचरण में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा। वस्तुतः इस पद्य में 'असंभृत् मण्डनम्' इस प्रथम चरण में ही हमारे द्वारा प्रतिपादित अर्थ के अनुसार शृद्धतम विभावना संभव है। शेष चरण विवादास्पद है।

विभावना का इतिहास—

भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट, मम्मट और सर्वरत्नकार के विभावनाविवेचनों से विदित होता है कि विभावना का मूलमूल तत्त्व कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन है। यह वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है अतः उक्त भाचार्यों में से रुद्रट तथा दण्डी ने विभावना के एकाधिक प्रकार बतलाने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त भाचार्यों का कालक्रम पूर्व प्रदत्त अलङ्कारों के इतिहास में स्पष्ट है अतः यहाँ इनके विभावना लक्षण उपजीव्य-उपजीवक भाव के आधार पर दिए जाते हैं—

भामह—तथा

उद्भट— 'क्रियाया' प्रतिषेधे वा तत्फलस्य विभावना ।

येया [विभावनेवासौ समाधौ सुलभे सति ॥

—[कारणभूत] क्रिया के अभाव में उसके फल की विभावना [असंभव ही उत्पत्ति] ही विभावना [नामक अलङ्कार] कहलाती है किन्तु यदि समाधान सुलभ हो ।' उदाहरण—

भामह = 'अपीतमसा- शिखिन' = पक्षी बिना मधुपानके मत्त थे ।'

उद्भट = सर्वरत्नकार द्वारा उदाहृत 'अगरेखाम०' पद्य ।

वामन—[सूत्र] क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिविभावना ॥'

[वृत्ति] क्रियायाः प्रतिषेधे तस्या एव क्रियाया फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्तिविभावना ।

—क्रिया की निषेधोक्ति के साथ साथ उसके फल के [प्रसिद्ध = सिद्ध =] निष्पन्न होने की [व्यक्ति] उक्ति विभावना कहलाती है। उदाहरण = अक्षालित विद्युत् इन्द्रिय ।' स्पष्ट है कि भामह के लक्षण की पदावली में वामन ने अपनी ओर से केवल दो नए शब्द जोड़ दिए हैं एक प्रसिद्ध और दूसरा व्यक्ति। ये दोनों शब्द व्याख्यासापेक्ष हैं। संस्कृत में प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग सिद्ध अर्थ में भी होता है [३० हमारा लेख—'कालिदास के शब्द'—नागरी प्रचारिणी पत्रिका २०१९] व्यक्ति का अर्थ नीचे दिए मम्मट के लक्षण तथा उसकी वृत्ति के अनुसार प्रकाशन है अतः एव हमने इसे 'वक्ति' शब्द से अनूदित किया है। मम्मट का लक्षण वामन के लक्षण का अधिक विस्तृत और सारसक्षेप है—

मम्मट = [सू०] 'क्रियाया' प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिविभावना' ।

[वृत्ति] 'हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशन विभावना ।

—हेतुरूप क्रियाया का अभाव [अभावोक्ति] रहने पर भी उसके फल की उत्पत्ति [उत्पत्ति रूपन विभावना कहलाती है ।'

उदाहरण = 'बह वियोगिनी अमररपक्ति द्वारा न काटने पर भी लोट-बोट हो रही थी' [अलङ्कारदृष्टापि परिवर्तते स्म सा]

इस प्रकार एक चार आचार्यों में विभावना का स्वरूप प्रायः एक ही पदावली में स्पष्ट किया हुआ मिलता है। इनके उदाहरणों में भी अभिव्यक्ति की एकरूपता मिलती है। सब में विभावना के दोनों अंग स्पष्ट हैं (१) कारण का अभाव और (२) कार्य की उत्पत्ति। दण्डी और रुद्रट ने इन अभिव्यक्तियों में विभावना का समर्थन किया किन्तु उन्होंने अन्य अभिव्यक्तियों पर भी विचार किया। इनके विवेचन इस प्रकार हैं :—

दण्डी = [१] 'प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित् कारणान्तरम् ।

[२] यद्य स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥

—प्रसिद्ध हेतु को अलग का जहाँ कोई अन्य हेतु अथवा स्वाभाविकता प्रकाशित की जाय उसे विभावना कहते हैं।' उदाहरण—

१ = 'अपौतक्षीवकादम् जगत्' = शरत्काल में संसार कुछ ऐसा था जिसमें कादम्ब [नीले हंस] बिना मघपान के मत्त थे ।'

२ = 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' = चन्द्रमा बिना कारण के शत्रु है ।

इनमें से प्रथम में मत्तता का प्रसिद्ध हेतु मघपान हटाकर अन्य हेतु मघपानाभाव बतलाया गया है। द्वितीय में चन्द्र को अकारण अर्थात् स्वभावतः रिपु बतलाया गया है। अतः कान्यादर्शकार दण्डी के अनुसार दोनों स्थलों में क्रमशः पूर्वोक्त दोनों विभावनाएं हैं। वस्तुतः मघपान का अभाव अन्य कोई कारण नहीं, अपितु प्रसिद्ध कारण मघपान का अभाव ही है। इसका ठीक उदाहरण उपरि उद्धृत 'असंभृत' इत्यादि पूर्ण पद्य है। उसमें यौवनरूपी नवीन कारण प्रस्तुत किया गया है। रुद्रट द्वारा आगे जो तीसरी विभावना बतलाई जाने वाली है उसका उदाहरण 'मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः' भी इसके लिए उपयुक्त उदाहरण कहा जा सकता है। भामह और दण्डी दोनों ने उदाहरणों में समानार्थकता विचारणीय है। द्वितीय विभावना में एक सूक्ष्म अन्तर है। यह कि विभावना में प्रायः कारण विशेष का उल्लेख कर उसका अभाव बतलाया जाता है। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में मघपान, झालन, केसर तथा अमरवृक्ष ऐसे ही कारण हैं जिनका अभाव बतलाकर उनके कार्य का सञ्जाव बतलाया गया है। 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' में ऐसे किसी विशेष कारण का अभाव नहीं बतलाया गया। इस कारण इस उक्ति में उसका आक्षेप द्वारा शान होता है। शान होता है कि 'चन्द्रमा का ऐसा कोई अहित वियोगी ने नहीं किया जैसा कि राहु आदि के द्वारा किया जाता है, अथापि चन्द्रमा उन बेचारों का बैरी बना हुआ है। इस प्रकार यहाँ विभावना बन तो जाती है परन्तु वह अस्पष्ट या व्यङ्ग्य रहती है।

रुद्रट = रुद्रट ने कारण के अभाव के कार्य की उत्पत्ति के साथ साथ दो अन्य प्रकारों से भी विभावना बनाई है बिस्तु इसके ये दोनों प्रकार प्रथम ३ कार में ही असंभृत हो जाते हैं तीनों प्रकार क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ = 'सैयं विभावनाल्वा यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम् ।

अभिधीयते यतः स्यात् तत्कारणमन्तरेणैव ॥'

—'जहाँ कोई पदार्थ बिना उसके कारण के प्राप्त होता हुआ बतलाया जा रहा हो उसे विभावना कहते हैं।' उदाहरण = 'शं वो दिश्याद् दिनच्छ्रुतैलपूरो जगदीपः।'—'वह सूर्य आपका कस्याण करे जो बिना तैल भरे पूरे जगत् में उजाला करने वाला दीपक है।'

२ = यस्यां यथा विकारस्तत्कारणमन्तरेणैव सुव्यक्तः ।

प्रभवति वस्तु विशेषे विभावना सैयमन्या तु ॥'

—जहाँ कोई विकार अपने कारण के बिना ही किसी वस्तु में व्यक्त दिखलाया जाय तो वह एक अन्य विभावना होती है। यथा—

‘आता ते सखि सांप्तमश्रमपरिमन्वरा गतिः किमिवम् ।
करमाद्रमवदकरमादियममधुमदालसा दृष्टि ॥’

—हे सखि ! तेरी यह गति बिना श्रम के मन्वर क्यों हो गई है और यह दृष्टि मधुमद के बिना अकम्मात् ही अलसार्थ क्यों हो गई ।’

३ = ‘यस्य यथावत् लोके प्रसिद्धमर्थस्य विषये तस्मात् ।

अन्यथापि तथात्वं यस्यामुच्येत सान्येवम् ॥’

कोई विशेषता किसी एक वस्तु में ही प्रसिद्ध हो किन्तु यदि उसे अन्य वस्तु में भी बनाया दिया जाय तो वह भी एक प्रकार की विभावना होती है। यथा—‘मदहेतुरभासवो लक्ष्मीः’ = लक्ष्मी भासव नहीं है और मद का हेतु है ।’ यहाँ मदजनकत्वात्पी गुण है तो प्रसिद्ध बल भासव में, किन्तु बनलाया जा रहा है वह लक्ष्मी में भी ।’ वस्तुतः यही वह उदाहरण है जिसके लिए दण्डी का प्रथम लक्षण उपयुक्त ठहर सकता है ।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने विभावना में उल्लेखित और अनुकहेतुत्व की कल्पना नहीं की। इनका श्रेय प्रथमतः सर्वस्वकार को ही प्राप्त है। यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि प्राचीनों के उदाहरणों में वे दोनों बर्ण बनाए जा सकते हैं। ‘अपीतशीवता’ आदि में अनुकनिमित्तता और ‘लक्ष्मी अनासव मदहेतु है’ में उकनिमित्तता अप्रयासलभ्य है।

उक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि विभावना निर्बंधन में स्वीकार भ्रामह की परम्परा के अनुयायी है। दण्डी और रूद्र के नवीन विकरणों में वे भी मौलिकता नहीं पाते।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—‘हेत्वभावे फलोत्पत्तिविभावना’—

हेतु के अभाव में फल की उत्पत्ति विभावना’ इस प्रकार सर्वस्वकार का अनुमरण ही करते हैं। वे क्रियाशब्द को छोड़ सर्वस्वकार द्वारा सुशाय कारण शब्द को ही लक्षण में स्थान देते हैं। इसी प्रकार निषेध और व्यक्ति शब्द को उल्लेखन से बचने के लिए अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो अभाव तथा उत्पत्ति शब्द दिए थे रत्नाकरकार उन्हें भी अपना लेते हैं। इतना अवश्य है कि प्राचीन आचार्यों के समान वे प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि को भी लक्षण में स्थान देते हैं। जहाँ सर्वस्वकार कारण में प्रस्तुतत्व और अप्रस्तुतत्व का निषेध करते हैं वहाँ रत्नाकरकार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि का निषेध करते हुए लिखते हैं—

‘प्रसिद्धस्य हेतोरभावे फलोत्पत्तिविभावना । वस्तुतस्त्विहाप्रसिद्ध कारणमस्त्येव, अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यात् ।’

—प्रसिद्ध हेतु के अभाव में फल की उत्पत्ति विभावना कहलाती है। यहाँ, सच यह है कि, अप्रसिद्ध कारण रहता ही है, नहीं तो विरोध का परिहर ही नहीं हो सकेगा ।’

रत्नाकरकार का सर्वस्वकार से अितने अर्थ में विरोध है उसे विवाश्रिणीकार प्रस्तुत कर चुके हैं।

अप्यदीक्षित—ने विभावना के छ प्रकार बनाए हैं—

१—कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, उदाहरण = ‘अपीतशीवता’ ।

२—असमम हेतु से कार्योत्पत्ति = उदा० काम अतीशय बर्णों से अग्र को जीत लेता है ।

३—प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति = उदा०—आपका अनिमर्ष नरेन्द्रों [रामा तथा विष्वेदों] को ही दृष्टता है। सर्पदंश में विषवैष प्रतिबन्धक-माधक होता है ।

४—अन्य के कार्य की उत्पत्ति अन्य से = यथा—

यह 'शब्द से बीणानाद हो रहा है' यहाँ गा रही सुन्दरी के कण्ठ के लिए शब्द तथा उसके गान के लिए बीणा निनाद का प्रयोग है।

५—विरुद्ध वस्तु से विरुद्ध वस्तु के कार्य को निम्पत्ति यथा—'उसे शीतांशु की किरणें तथा रही हैं।'

६—कार्य से कारण का जन्म = यथा—

तुम्हारे कर कल्पतरु से यक्षरूपी पयोराशि उत्पन्न हुआ।'

सामान्यतः कल्पवृक्ष ही उत्पन्न होता है समुद्र से। इनमें से वस्तुतः प्रथम भेद को छोड़ शेष पाँचों में विरोधात्मकता के भेद हैं। पण्डितराज ने भी इसका प्रतिपद खण्डन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ—'कारणव्यतिरेकसामानाधिकरन्धेन 'प्रतिपाद्यमाना कार्यात्पत्तिः विभावना'—

'कारण के अभाव के साथ-साथ कार्य की उत्पत्ति का बतलाना विभावना'। पण्डितराज ने अपने इस लक्षण के लिए प्रमाणरूप से मम्मट का लक्षण प्रस्तुत किया है—'तदुक्तम्—'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' इति। मम्मट को प्रामाणिक मानते हुए भी क्रिया और कारण के विकल्प में पण्डितराज ने सर्वस्वकार को ही अधिक आदर दिया है।

'निरुपादान'० पद्य में पण्डितराज ने रत्नाकरकार का ही समर्पण किया है। उन्होंने कहा है कि भले ही संसार के प्रति अकेले भगवान् की ही कारणता संभव हो किन्तु संसार सारी चिज के प्रति तो भगवान् अकेले कारण नहीं हो सकते। उसके लिए तो मणि आदि की आवश्यकता है ही। भगवान् में तो कोई वर्ण या रंग है नहीं। इस कारण इस पद्य में विभावना सिद्ध हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि विभावना में अतिशयोक्ति की सहायता अनिवार्य है क्योंकि इस पदार्थ में अतिशयोक्ति नहीं है। पण्डितराज ने कार्यांशु में अतिशयोक्ति के अतिरिक्त रूपक या आश्चर्य अभेद बुद्धि को भी कहीं-कहीं सहायक भावा है। 'जगत्त्रिव' में वह है। अतिशयोक्ति या रूपक की अनिवार्यता का उद्देश्य 'स्रल लोग अकारण ही बैरी बन जाते हैं' इत्यादि सामान्य वाक्यों में विभावना का परिहार है। यहाँ बैररूपी कार्य में न तो अतिशयोक्ति है और न रूपक। 'स्रल लोग अकारण ही संताप देते हैं इस वाक्य में कार्यांशु संताप में अतिशय है, क्योंकि अग्नि आदि का संताप भिन्न होता है और स्रलजनित संताप भिन्न रहने पर भी यहाँ पण्डितराज ने विभावना स्वीकार नहीं की है। उनका कहना है, जैसा कि हम भी हस्त के 'अकारणरिपुशत्रुः' उदाहरण पर कह आए हैं, कि कारण विशेषरूप से उपस्थित रहना चाहिए। यदि 'स्रलजन विना ही आग के जलाने रहते हैं' ऐसी योजना हो तो इसमें विभावना माना जा सकती है। वे यह भी कहते हैं कि जिसका अभाव बतलाया जा रहा हो उस वस्तु को अतिशय या आरोप से युक्त कार्य के अध्यवसायी या आरोप्यमात्र अंश के प्रति कारण भी होना चाहिए। अन्यथा विभावना नहीं होगी। उदाहरणार्थ 'स्रलजन विना ही अराराध के जलाने रहते हैं'—इस वाक्य में कार्य है बतलाना। इसमें अग्नि के द्वारा होने वाली बलन के द्वारा स्रल के द्वारा होने वाली पोड़ा का अध्यवसाय है। किन्तु अध्यवसायी बलन के प्रति, जिसका अभाव प्रतिपादित है वह अराराध कारण नहीं है। उसके प्रति कारण एकमात्र अग्नि हो सकती है। फलतः अभाव बतलाया जाना चाहिए उस वस्तु का जो कार्य शरीर के विपरीतरूपी अंश के प्रति कारण हो।

इस प्रकार सिम्पर्क यह निकलता है कि विभावना में एक ओर जहाँ कार्यांशु में अतिशय या आरोप अपेक्षित है वहीं कारणभावांशु में कारणरूप से उक्ति उस वस्तु की होनी चाहिए जो कार्य

शरीर के विषयी-अंश के प्रति कारण हो अर्थात् जो कार्यशरीर के उस अंश के प्रति कारण हो जो अंश विषयी हो, आरोपित किया जा रहा हो या अभ्यवसित। पण्डितराज ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण नव्यन्याय की भाषा में इस प्रकार किया है—

‘अथ ‘सुभ्यकधोवरपिशुना निष्कारणवैरिणो भगति’ इत्यत्र विभावनापत्तिः [ततः] कारणता-वच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वेन कारणभावो विशेषणीयः—“सुखा विनैवापराधं भवन्ति खड्गं वैरिण इत्यत्रातिव्यापनात् कार्याशोऽतिशयोक्त्यालीढत्वेनाभेदानिश्चयालीढत्वेन वा विशेषणीय । ‘सुखा विनैवापराधं दहन्ति खलु सज्जनात्’ इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय च ‘कार्याद्ये यद् विपरिता-वच्छेदक तदवच्छिन्न’—कार्यतानिरूपिताया’ कारणताया अवच्छेदकमिह ग्राह्यम्, दाहद्वेव चेह विपरितावच्छेदकम्, तदवच्छिन्नमित्यत्रे पीडाया अव्यवसानात् । न हि दाहत्वावच्छिन्नकार्यता-निरूपितकारणताया अवच्छेदकमपराधत्वम्, अपितु दाहत्वावच्छिन्नप्रतिशब्दत्वेनाभ्यवसिता या पीडा तन्निष्ककार्यतानिरूपितकारणताया, इति तदवच्छिन्नप्रतियोगिकाभावसामानाधिकरूप्येन कार्योत्पत्ति-वर्णनेऽपि नात्र विभावनाप्रसङ्गः । यदि तु ‘सुखा विनैव दहनं दहन्ति भगतांतलम्’ इति कियते तत्रा भवत्येव विभावना ।” [विभावनान्त, रसगंगाधर]

पण्डितराज के इस विवेचन से विभावना का लक्षण उन्हीं की इस पदावली में देखा होगा—

—‘उत्पत्तिवर्णनविषयोभूतकार्यशरोपटक्रीभूतविपरितावच्छेदकावच्छिन्नकार्यगामिरूपितकारण-तावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिकामावर्णन विभावना’ ।

विश्वेश्वर—पण्डितराज के इस प्रकार के सूक्ष्म विवेचन पर विश्वेश्वर ने आपत्ति उठाई है। उन्होंने कहा है कि कारण का विशेषरूप से उपस्थित होना आवश्यक नहीं है और उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध ‘निरुपादान०’ पद्य दिया है। यहाँ उपादान संभार के बिना जगत्त्रि के निर्माण की शक्ति में विभावना है और यही आदि कारणों का मपीत्य आदि रूप से उल्लेख नहीं है। उपादान-शब्द से ही उल्लेख है। इस पद्य में स्वयं पण्डितराज भी विभावना मान चुके हैं। इस प्रकार विश्वेश्वर द्वारा स्वयं पण्डितराज ही अपनी मान्यता के विरुद्ध सिद्धान्त उपस्थित करते हुए प्रति-पादित किए गए हैं। चिन्तन से सूझता है कि ‘अकारण वैरी’ इस शक्ति और निरुपादान ‘इस शक्ति में अन्तर स्पष्ट है। कारण का उल्लेख दोनों ही स्थलों में सामान्य रूप से ही है तथापि उसमें अन्तर है। वह अन्तर ‘कारण तथा ‘उपादानसंभार’-शब्द से ही स्पष्ट है। चित्र का कारण तो परमात्मा भी है परन्तु वह चित्र का उपादान नहीं है। उपादान है रंग। इस प्रकार ‘उपादानसंभार’ शब्द से चित्र के विशिष्ट कारण का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। यद्यपि कारणभावच्छेदकरूप से तो यहाँ नणित्य आदि की उपस्थिति नहीं होती तथापि पण्डितराज की मान्यता का उद्देश्य इसमें खण्डित नहीं होना क्योंकि उनका उद्देश्य जिस किमी प्रकार कारणगत वैशिष्ट्य का शान हो जाना है। वह ‘उपादान संभार’ शब्द से हो जाता है। इसके अतिरिक्त ‘अभिष्ठा-वेव’ पद के द्वारा तो भित्तितावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव उपस्थित है ही। ‘तन्वते’ में आई ‘तनु क्रिया’ का अर्थ विस्तार या फैलाव है। उसके छिप भित्ति प्रमुख कारण है। फलतः उसका विशेष रूप से उल्लेख हो जाने पर इस अंश में विभावना अधिक स्पष्ट हो जाती है फलतः ‘निरुपा-दान०’ अंश में भी आंशिक अव्यवस्था प्रतिबन्धक नहीं बनती। पण्डितराज की पंक्ति है—

‘अत्र हि भगवतः सकाशात् केवलस्य भगत उत्पत्तिर्न कवेरभिप्रेता.. किन्तु जगद्रूपस्य चित्रस्य । चित्रस्य च केवलरूपोपादानानां मधी-दरितालादीनामाधारस्य मित्यादेश्चामादे केवला-काशे जागर्द्वोत्पत्तेरसंभवः ।’ [पृ० ५८०-१० रसगंगाधर]

सत्य यह है कि ‘निरुपादान०’ पद्य में विभावना नहीं न्यतिरेक अलंकार है। सामान्य शिल्पी

से शिव रूपी शिल्पी का अन्तर और उत्कर्ष ही यहाँ चमत्कार का कारण है। विश्वेश्वर का विभावनालक्षण इस प्रकार है—

‘हेतुं विनापि कार्यं यत्रोक्तं स्याद् विभावना सा तु ।’ विश्वेश्वर ने ‘असंभृत’ पद्य में अलंकार-सर्वस्वकार का समर्थन और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उनके खण्डन का विरोध किया है। उन्होंने यौवन को ऐसा कारण बतलाया है जिसमें मद के प्रति कारणता पहली बार बतलाई जा रही है जब कि आसव प्रसिद्ध कारण है। अतः विश्वेश्वर के अनुसार प्रसिद्ध कारण के अभाव में यहाँ विभावना स्वीकार्य ही है भले अप्रसिद्ध कारण यौवन का यहाँ अस्तित्व रहा था। विश्वेश्वर पण्डित ने यहाँ चमत्कार की भी सहायता ली है। कहा है कि क्योंकि इस पद्य में चमत्कार है अतः इसमें विभावना को अलंकार मानना ही होगा। इस प्रकार मतमतान्तरों के बीच विभावना अलंकार का बही स्वरूप सर्वमान्य ठहरता है जो मामूह की परम्परा के आचार्यों वामन, उद्भट, रुद्रट और मम्मट की भावक प्रतिभाओं से निष्पुष्ट होकर सर्वस्वकार तक आया था।

सर्वस्व के टीकाकार श्रीविद्या चक्रवर्ती ने इसका संक्षेप कारिका में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

‘प्रसिद्धकारणाभावे कार्यात्पि विभावना ।
कार्यात्पादनवैशिष्ट्याद् द्विधा चैवं निमित्ततः ॥’

चक्रवर्ती ने विभावना और विशेषोक्ति के सन्देहसंकर के लिए भी भिन्न लिखित कारिका दी है—

‘कार्याशस्य यदा भावाभावौ वक्तुमपेक्षितौ ।
विभावनाविशेषोक्त्योस्तदा सन्देहसङ्करः ॥’

—‘जब कार्याश के भाव अभाव विवक्षित हों तो विभावना विशेषोक्ति का सन्देहसङ्कर होता है।’

पाठान्तर = विभावना का जो मूल सर्वस्व के निर्णयसागर संस्करण में मिलता है उसपर स्वयं विमर्शिनीकार ने ही आपत्ति व्यक्त कर रखी है। संजीविनीकार ने ‘अंगलेखा०’ पद्य के वाद की ‘अत्र सहजत्वं निमित्तं गम्यमानम्’ इस पंक्ति के बाद ‘इवं च मालयापि भवन्ती दृश्यते यथा—

अनिद्रो दुःस्वप्नः प्रपतनमनद्रिद्रुमतरं_जराहीनः कम्पत्तिभिररहितलासस्तमयः ।

अनाघातं दुःखं विगतनिगडा बन्धनधृतिः सजीवं जन्तूनां मरणमवनोद्याभयरतः ॥’

—इतना अंश और जोड़ा है तथा इसे मूल माना है। कु० जानकी तथा डॉ० राघवन् के सहस्रशोधन में निकले मेहरचन्द संस्करण में यह अंश इसी स्थान पर मूल में मुद्रित भी है। अनन्तशयन से प्रकाशित समुद्रकन्धी प्रति में यह पाठ विभावना निरूपण के अन्त में है। इसी के साथ ‘असंभृतं मण्डनम्—०००० इत्यधतनाः’ यह अन्तिम अंश उसमें विमर्शिनी के मुद्राय के ही अनुसार ‘अपितु तदनुप्राणितत्वेन’ के बाद ही मुद्रित है।

हमारे मत में ‘इवं च मालयमपि भवन्ती दृश्यते यथा अनिद्रो०’ इत्यादि मालाविभावना का प्रतिपादक अंश अवश्य ही संक्षेप है। कारण यह है कि मालाविभावना रत्नाकर, विमर्शिनी, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर किसी में नहीं मिलती। ‘सर्वस्व में होती तो सभी आचार्यों में उसके प्रति मौन न मिलता। अमूल होने पर भी हमारी दृष्टि में इसका उपयुक्त स्थान विभावना का अन्त है न कि मध्य। इसी प्रकार ‘अत्र विवदन्ते’ का सम्बन्ध ‘केचित्’ के साथ बतलाते हुए विमर्शिनीकार ने ‘अन्ये’, ‘अपरे’ और ‘अधतनाः’ के साथ अन्यत्र से उसे

रोक लिया है। हमने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह उचित भी है क्योंकि ग्रन्थकार ने सभी मतों को केवल उद्धृत कर कर दिया है जब कि प्रथम 'केचित्'—के मत का उल्लेख भी किया है। बीच में सण्डनांश आ जाने से 'विवदन्ते' की 'व्याप्ति' खण्डित हो जाती है। 'अवतना.' वाले पद्य पर विमर्शनीकार की आपत्ति यथार्थ हो है कि यह किमी पाठक ने अपनी प्रति में स्वयं जोड़ दिया है। सपादकों अथवा परवर्ती लिपिकों ने उसे मूल में मिश्र दिया होगा।

विमर्शनीकार ने इस प्रसंग में ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ 'साहित्यमीमांसा' की चर्चा की है। त्रिवेन्द्रम् से सन् १९३४ में छपी साहित्यमीमांसा में यह विषय नहीं मिलता।

[सर्वस्व]

विभावनां लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्वरूपां विशेषोक्तिं लक्षयति —

[मू० ४२] कारणसामग्रये कार्यानुत्पत्तिविशेषोक्तिः ।

इह समप्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्तीति प्रसिद्धम् । अन्यथा समग्रत्यस्यैवाभावप्रसङ्गात् । यत्तु सत्यपि सामग्रये न जनयति कार्यं सा कश्चिद्विशेषमभिव्यङ्ग्यं प्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः । सा च द्विविधा — उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च । अचिन्त्यनिमित्ता त्वनुक्तनिमित्तैव । अनुक्तस्य च चिन्त्याचिन्त्यत्वेन द्वैविध्यात् । क्रमेण यथा—

'कर्पूर इष दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्यवार्यधीर्याय तस्मै कुसुमधन्यने ॥'
'भाहूतोऽपि सहायैरेभीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति ॥'
'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हृतं यत्नम् ॥'

अत्र सत्यपि दाहलक्षणेऽविकले कारणेऽशक्त्याद्यस्य कार्यस्थानुत्पत्तिः शक्तिस्वरूपेणाविरुद्धेन धर्मणोपनिबद्धा । अवार्यधीर्यत्वं चाश्रोक्तं निमित्तम् । तथाहानादयः संकोचशिथिलीकारहृतव इति तेषु सत्त्वपि तस्यानुत्पत्तौ प्रियतमास्यन्नभ्रमागमाद्यनुक्तं सचिन्त्यं निमित्तम् । तथा तनुहरणकारणे सत्यपि यत्नहरणस्य कार्यस्थानुत्पत्तौ निमित्तमनुक्तमप्यचिन्त्यमेव, प्रतीत्य-शोचरत्वात् ।

कार्यानुत्पत्तिश्चात्र क्वचित्कार्यविरुद्धोत्पत्त्या निवध्यते ।

एवं विभावनायामपि कारणभावः कारणविरुद्धमुखेन क्वचित्प्रतिपाद्यते । तथा च सति,

'यः कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालनीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।
सा चैवास्मि तथापि धौर्य-सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोघसि चेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥'

इत्यत्र विभावनाविशेषोक्तयोः संदेहसंकरः । तथा ह्युत्कण्ठाकारणविरुद्धं 'यः कौमारहर' इत्यादि निवृद्धमिति विभावना । तथा 'यः कौमारहर' इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्धं 'चेतः समुत्कण्ठत' इत्युत्कण्ठाख्यं निवृद्धमिति विशेषोक्तिः । विरुद्धमुखेनोपनिवृद्धात्केवलमस्पष्टत्वम् । साधकवाधकप्रमाणाभावाच्चात्र संदेहसंकरः ।

या तु 'एकगुणद्वानिकल्पनायां साम्यदाहृत्य विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्ति-
र्लक्षिता सास्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति पृथङ् न वाच्या ।

विभावना का लक्षण बनाया अब उससे ठीक उल्टे स्वरूप की विशेषोक्ति का लक्षण बनाते हैं—
[सू० ४३] 'कारण को समग्रता रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति [यतलाई जाय तो अलंकार की संज्ञा] विशेषोक्ति [होती है] ॥

यहाँ यह निश्चित तथ्य है कि सब कारण इकट्ठे होते ही कार्य को निश्चित ही उत्पन्न करते हैं, ऐसा न हो तो उनकी समग्रता [समग्रता] ही नहीं हो । परन्तु समग्रता के रहने पर भी जो उसे कार्य उत्पन्न करती हुई नहीं बतलाया जाता वह विशेषोक्ति होती है । इसका प्रयोग किसी विशेष तथ्य की व्यंजना के लिए होता है । वह दो प्रकार की होती है [१] उक्तनिमित्ता तथा [२] अनुक्तनिमित्ता [मम्मद द्वारा प्रतिपादित] अचिन्त्यनिमित्ता तो अनुक्त निमित्ता ही है । क्योंकि अनुक्त [निमित्त] दो प्रकार का होता है [१] चिन्त्य और [२] अचिन्त्य । क्रम से इन के उदाहरण यथा—[उक्तनिमित्ता]—

'कर्मर के समान जल जाने पर भी जो जन जन में शक्तिमान्, है ऐसे अप्रतिहत पीरुप वाले किन्तु पुण्य के ही धनुष वाले काम को नमस्कार है ।' [अनुक्तनिमित्ता में चिन्त्यनिमित्ता—]

'साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'वा रहा हूँ ऐसा कह कर भी, नींद खुल जाने पर भी और जाने की इच्छा रहने पर भी पथिक [अपना] संकोच शिथिल नहीं कर रहा ।' [अनुक्तनिमित्ता में अचिन्त्यनिमित्ता—]

'वह कुसुमायुध अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है, शंकर ने शरीर छीन कर भी जिसका बल नहीं छीना ।'

इन [तीनों] में [से प्रथम में] दाहुरूपी अविकल कारण के उपस्थित रहने पर भी अशक्तिरूपी कार्य की अनुत्पत्ति [शक्तिमान् कहकर] शक्तिरूपी धर्मके द्वारा प्रस्तुत की गई है जो [शक्ति] उस [अशक्ति की अनुत्पत्ति] के विरुद्ध है । इसका कारण अवार्थवीर्यत्व यहाँ कथित है ।

[दूसरे पद्य में] इसी प्रकार पुकारना आदि संकोच के शिथिलीकरण में कारण हैं । वे सब विद्यमान हैं तब भी उस [संकोच के शिथिलीकरण] की जो अनुत्पत्ति बतलाई जा रही है उसके कारण स्वप्न में प्रियतमा के समागम आदि हैं जो अकथित अवश्य हैं किन्तु उनकी कल्पना की जा सकती है ।

[तृतीय पद्य में] इसी प्रकार 'शरीर का हरण' यह कारण विद्यमान रहने पर भी बल-हरणरूपी कार्य की [जो] अनुत्पत्ति [यतलाई गई है उस] का कारण अकथित भी है और अचिन्त्य [अकल्पनीय] भी । क्योंकि वह समग्र में आता नहीं है ।

इस [अलंकार] में कार्य की अनुत्पत्ति कहीं कार्य से विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति के द्वारा बतलाई जाती है । इसी प्रकार विभावना में भी कहीं कारणभाव कारणविरुद्ध वस्तु के [सद्भाव के] द्वारा प्रतिपादित किया जाता है । इस प्रकार—

‘वही वर है जिसने कौमार्य दूर किया, वे ही वसन्त की रातें हैं, खिन्नी माऊनी ने सुगन्धिन और [धूलो] कदम्ब से मिथिन वे ही हवा के प्रौढ़ झोंके हैं और मैं भी वही हूँ तथापि दूरतम्यापार को उन्हीं मुक्तपूर्व लीलाओं के पुनर्विधान के लिये रेवा के तट पर वेगसतक के मोचे वित्त उरकण्ठित हो रहा है ।’

—यहाँ विभावना और विशेषोक्ति का सङ्ग है। क्योंकि यहाँ उरकण्ठा के कारण के विरुद्ध ‘जो कौमार्य को दूर करने वाला है’ इत्यादि प्रस्तुत किया गया। इसलिए विभावना हुई। इसी प्रकार ‘जो कौमार्य का हरण करने वाला है’ इस कारण के कार्य [अनुत्कण्ठा] के विरुद्ध ‘वित्त उरकण्ठित हो रहा है’ इत्यादि उरकण्ठा नामक कार्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है इसलिए विशेषोक्ति हुई। इतना है कि ये दोनों अस्पष्ट हैं क्योंकि इनका प्रस्तुतीकरण विरुद्ध वस्तु के द्वारा किया गया है। सङ्कर का सदेहसङ्करभेद हमलिय है कि यहाँ न तो किसी एक का साधक प्रमाण है और न अन्य का बाधक प्रमाण ही।

[वामन ने] जो ‘एक गुण की कमी की कल्पना करके समग्र को दृढ़ बनाया जाय तो विशेषोक्ति’ इस प्रकार विशेषोक्ति का लक्षण बनाया है वह इस सिद्धान्त के अनुसार रूपक का ही भेद है। इसलिए उसे स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं कहना चाहिए।

विमर्शिनी

तद्विपर्ययेति । कारणसामग्रये कार्यानुत्पादात् । सामेवाह—कारणेत्यादि । समग्राणीति नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति न्यायादसमग्रानां पुनः कार्यजनकरवं न स्यादिति भावः । अत एवाभ्यभिचारायाह—नियमेनेति । अन्येति यदा कारणानि कार्यं नोत्पादयन्ति । पूर्वं नैकं किञ्चन जनकं, सामग्री च जनिरेति भीत्या समग्रानां कारणानां कार्यजनकरवं भवत्येवेति सापेक्षार्थः । यदा त्वेतद्विपर्ययं उपनिबध्यते तदा विशेषोक्तिर्भवतीत्याह—स्त्वित्यादि । अत्र च वस्तुतो निमित्तमस्तीति विशेषपरिहारः । तद्वैतकमेवास्या भेदनिर्देशमाह—सा चेत्यादि । अस्मिन्नेत्युत्तानाशयः । यस्तुतस्तु समवशेषः । अन्यथा स्यात् विशेषो दुष्परिहार्यः स्यात् । अविकृत इति । सममे विरुद्धधर्मत्व शक्यशक्योर्विरोधात् ।

अस्याश्च कार्यानुत्पत्तिर्विच्छिन्नान्तरेण घग्धं दर्शयितुमाह—कार्येत्यादि । यथा कूर्पूर इवेत्याहौ । एवमिति । यद्येवात्र कार्यानुत्पत्तिर्विरुद्धमुखेनोपनिबध्यत इत्यर्थः । तथा च उच्यते । ह्योरप्यनयोर्विरुद्धमुद्येन कार्यकारणभावोपनिबन्धे सतीत्यर्थः । उच्यते। कारणं कौमारहरवराद्यसंनिधानम् । तस्य विरुद्धं तत्संनिधानम् । तेन कौमारहरवराद्यसंनिधानरूपं कारणं विनाप्युत्कण्ठाया उत्पाद् इति विभावना । तथा कौमारहरवरादिसंनिधानरूपस्य कारणस्य कार्यमनुत्कण्ठा, तस्याश्च, विरुद्धोत्कण्ठा । तेन सत्यपि कौमारहरवरादिसंनिधानरूपे कारणे सममे कार्यस्यानुत्कण्ठारूपस्याभाव इति विशेषोक्तिः । अत्रत्यमिति । कार्यकारणयोः साक्षात्प्रियत्वेनाप्रतीते । ननु चात्रानयोः किमिति संदेहः, एकपक्षाग्रथ एव क्रियतामित्यादाह—सापेक्षेत्यादि । ननु ‘शूत हि नाम पुरुषस्यासिंहासन राज्यम्’ इत्याहौ वामनेन या विशेषोक्तिरुक्ता सा किं नोच्यत इत्यादाह—या त्वित्यादि । एवमनपैव इशा ‘एकगुणहान्युपचयादिकवचनायां साम्यदातृ विशेष’ इति रुचितो विशेषोपालंकारोऽप्यस्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति न पृथग्वाच्यः ।

तद्विपर्ययं उससे उलटी अर्थात् पूरे पूरे कारण रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना । उसी का लक्षण बतलाने है—‘कारण’ इत्यादि । समग्रानि = समग्र अर्थात् ‘कारण कार्य हैं’ युक्त हो ही ऐसा

नियम नहीं है' इस प्रकार का जो एक सिद्धान्त है उसके अनुसार असमग्र कारण कार्य के जनक नहीं होते। इसीलिए अव्यभिचार [निरपवादता] बतलाने के लिए कहा 'नियमेन' नियमतः। अन्यथा अर्थात् जब कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करते। इस प्रकार तात्पर्य यह कि 'कोई एक कार्य का जनक नहीं होता, सामग्री जो है वह जनक होती है' इस उक्ति के अनुसार जब सभी कारण उपस्थित रहते हैं तो कार्य उत्पन्न होता ही है। 'जब कमी इसका उलटा बतलाया जाता है तब विशेषोक्ति होती है' इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'यत्तु' इत्यादि।

यहाँ [विशेषोक्ति में] भी [सभी कारण उपस्थित रहने पर भी कार्य न होने में] कोई वास्तविक कारण रहता ही है इसलिए विरोध हट जाता है। इसी [वास्तविक कारण] को लेकर इसके भेद बतलाते हैं 'सा च' इत्यादि। अचिन्त्य अधिक भावुक लोगों ने कहा है वस्तुतः कारण वहाँ भी संभव रहता है। नहीं तो वहाँ विरोध का परिहार ही न हो। अधिकल = समग्र। विरुद्धभवेत्तु इसलिए कि शक्ति और अशक्ति में परस्पर विरोध रहता है।

यह जो कार्यानुत्पत्ति है उसी को अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किया जाता है। यही बतलाने के लिए कहा 'कार्य' इत्यादि। इसका उदाहरण है 'कर्पूर इव' इत्यादि। पूर्वम् = अर्थात् जैसे यहाँ कार्य की अनुत्पत्ति विरुद्ध वस्तु के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है उसी प्रकार ००। तथा च सति = अर्थात् इन दोनों [विभावना तथा विशेषोक्ति] के ही कार्यकारणभाव का विरुद्ध वस्तु के द्वारा उपनिबन्ध रहने से। उत्कण्ठा का कारण है कौमार्य का हरण करने वाले वर आदि का असन्निधान। उसके विरुद्ध हुआ वनका सन्निधान। इस प्रकार कौमार्यहरणकारी वर आदि के असन्निधान-स्वरूप कारण के बिना भी उत्कण्ठा की उत्पत्ति बतलाई गई। अतः वह विभावना हुई। इसी प्रकार कौमार्य हरण करने वाले वर आदि का सन्निधान कारण है अनुत्कण्ठा रूपी कार्य का। इसके विरुद्ध हुई उत्कण्ठा। इस प्रकार कौमार्य हरणकारी वर आदि का सन्निधानरूपी समग्र कारण रहने पर भी अनुत्कण्ठारूपी कार्य का अभाव बतलाया गया, इसलिए यहाँ विशेषोक्ति हुई। अक्षय्यवन्धु = अत्यष्टता, क्योंकि यहाँ कार्य और कारण साक्षात् नियेधरूप से प्रतीत नहीं होते। [शंका] अच्छा, इसमें संदेह [संकर] ही क्यों माना जा रहा है, [दोनों में से] किसी एक को ही क्यों स्वीकार नहीं कर लिया जाय' इस पर उत्तर देते हैं साधक इत्यादि [शंका] अच्छा, 'जुआ जो है वह पुरुष के लिए बिना सिंहासन का राज्य है [सृष्टिकारिक]' इत्यादि [अक्तियों] में वामन ने [काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में] जो विशेषोक्ति बतलाई है वही यहाँ क्यों नहीं मान ली जा रही 'इस पर कहते हैं—'या तु' इत्यादि। इसी प्रकार 'एक गुण की दानि या बुद्धि की कल्पना कर साम्य को दृढ़ बनाना विशेष' [रत्नाकर में नहीं] इस प्रकार जो विशेष नामक अलंकार का लक्षण किया गया है वह भी इस पक्ष में रूपक का ही एक प्रकार सिद्ध होता है इसलिए वह भी स्वतन्त्र अलंकार के रूप में बतलाने योग्य नहीं है।

विमर्शः—विशेषोक्ति का इतिहास :—

सर्वस्वकार ने उदाहरण तो मामह का स्वीकार किया है परन्तु लक्षण उद्धृत का। मामह का लक्षण ठीक वामन जैसा ही है। यथा—

मामह—

'एकदेशस्य विद्यमे या गुणान्तरसंस्थितिः।

विशेषप्रथमायासी विशेषोक्तिर्मता यथा ॥'

'स यक्रुचीणि ज' ॥

—एक गुण की कमी बतलाकर विशेषता के प्रतिपादन के लिए जो अन्य गुण की स्थापना वह विशेषीकृति मानी जाती है। यथा 'स एकस्त्रीणि' पद्यार्थं। यहाँ शरीर की हानि और बल की स्थापना बनलारं गर् है। इसका उद्देश्य कामशक्ति की अपरिहार्यता बतलाना है।

वामन = [सू०] 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदादर्यं विशेषीकृतिः'।

[६०] एकस्य गुणस्य हाने- कल्पनायां शेषैर्गुणैः साम्यं यत् तस्य दादर्यं विशेषीकृतिः। रूपकं चेद् प्रायेण। यथा 'घृतं हि नाम' ॥

किसी एक गुण की हानि की कल्पना कर शेष गुणों से प्राप्त समता का जो दृढ़ करना वह विशेषीकृति है। यह प्रायः रूपक ही है। उदाहरण 'जुवा जो है वह।' स्पष्ट है कि वामन में वामन के समान एकगुणहानि की चर्चा तो है परन्तु अन्य गुण की स्थापना और विशेषता के प्रतिपादन की चर्चा नहीं है। वामन ने स्वयं इस प्रकार की विशेषीकृति को रूपक ही मान लिया है।

उद्भट = 'यत् सामप्रयेऽपि शक्तौनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।

विशेषरथाभिहितसान्त्वत् विशेषीकृतिरुच्यते ॥ ५४ ॥

दक्षिणेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।

तस्या बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः ॥ ५५ ॥

—उत्पन्न करने वाला शक्तियों सबकी सब उपस्थित रहे तथापि किसी विशेषता के प्रतिपादन की इच्छा से फल की उत्पत्ति न दिखलारं आए तो वह विशेषीकृति कही जाती है। कान्यों में यह दो प्रकार की मिलती है [१] जहाँ निमित्त दिखला दिया जाता है और [२] जहाँ नहीं दिखलाया जाता। यथा :—

'महर्दिनि गृहे जन्म रूपं स्मरसुहृद् वय।

तथापि न सुखप्राप्तिः कास्य चिन्तयते न धीः ॥

—'अत्यन्त समृद्धिवाली घर में जन्म, रूप और काम का मित्र वय। इतने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं। किसकी बुद्धि अचरज में नहीं पड़ती।' यहाँ विधाता की वामना रूपी कारण अनुक्त है। उत्पत्तिकारण का उदाहरण—

'इत्थं विसंगुलं दृष्ट्वा तावकोन विचेष्टितम्।

नोदेति किमपि प्रष्टुं सत्वरत्यापि मे वचः ॥

—दुन्दारी इस प्रकार की विपरीत चेष्टाएँ देखकर पूछने के लिए अत्यन्त उत्पन्न होने पर भी मेरा मुँह नहीं खुलता।' यहाँ पार्वतीजी की तपोनिष्ठा वह कारण है जिससे पूछने की उत्पन्न व्यक्ति का पूछना रुका हुआ है। स्पष्ट है विशेषीकृति का स्पष्ट और मान्य रूप पहले पहल उद्भट ने ही प्रस्तुत किया है।

उद्भट = उद्भट ने विशेषीकृति नाम से तो किसी अलङ्कार का निर्बचन नहीं किया किन्तु उसके स्थापान नामक अलङ्कार में इस अलङ्कार के समी लक्षण या वाते हैं—

'अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।

यस्मिन्नभिधीयेत व्यावान्- स इति विशेषः।' ॥ १५२ ॥

—अहाँ कारण पूरा का पूरा रहता है तथापि कार्य की उत्पत्ति नहीं बनलारं जाती, उसे व्यापान समझना चाहिए।' यथा—

'यत्र सुरतप्रदीपा निष्कञ्जलवर्चयो महाप्रणयः।

मान्यस्यापि न शम्या' इत्यवधूवसनविसृष्टस्य ॥'

—'जहाँ बड़ी बड़ी मणियाँ झुरतप्रदोष रहती हैं निनमें न जो कल्ल पड़ता और न बत्ती ही रहती । साथ जो हतवस्त्र बधजन द्वारा बुझाने के लिए फँकी मालाओं से भी बुझते नहीं ।' यहाँ दीपक महामणियों पर आरोप है अतः यह उदाहरण वामन की विशेषोक्ति के ही उदाहरण के समान रूपक का ही उदाहरण है । इस प्रकार रुद्रट विशेषोक्ति के विषय में अधिक प्रामाणिक नहीं है ।

मम्मट—नन्मट ने उद्भट का ही अनुमोदन दिया है और लक्षण में कारणसमग्रता तथा उसके साथ कार्य के अमान इन दोनों गंगों को यथावत् स्थान दिया है । उनका लक्षण इस प्रकार है—

[नू०] 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।'

[धू०] मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः ॥

—'कारण एकत्रित रहने पर भी कार्य का अकथन विशेषोक्ति कहलाता है ।' मम्मट ने इसके तीन भेद नामे हैं उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता । इनमें से उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता के तो उदाहरण वे ही हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं । अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है—

'मिद्रा निवृत्ताशुदिते घूरले सखोजने द्वारपदं पराप्ले ।

इलधीकृताश्लेपरसे भुक्के चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा ॥'

'नींद खुल जाने पर, सूर्य लग आने पर, सखियों के दरवाजे पर आजाने पर तथा भिय के आलिङ्गनानन्द के शिथिल हो जाने पर भी वह सुन्दरी आलिङ्गन से नहीं बियो ।' यहाँ प्रवासमान कारण है जो अनुक्त है । मम्मट ने अचिन्त्यनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता को स्वतन्त्र माना है । सर्वस्वकार ने इसी पर संशोधन देते हुए अचिन्त्यनिमित्ता का अनुक्तनिमित्ता में अन्तर्भाव दिखला दिया है । स्पष्ट है कि सर्वस्वकार ने उद्भट और मम्मट की परम्परा पर विशेषोक्ति का लक्षण बनाया है ।

परवर्ती आन्धापों में—

शोभाकर—ने विशेषोक्ति का लक्षण सर्वस्व के पथ पर ही बनाया है—

'हेतुसाकन्त्ये फलानुरपत्तिर्विशेषोक्तिः ।'

रत्नाकरकार द्वारा अचिन्त्यनिमित्ता में निमित्तगत अचिन्त्यता पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । उन्होंने उसे प्रमातृबुद्धिसापेक्ष माना है । जो उभय किसी एक प्रमाता के लिए अचिन्त्य होता है, उसे समझ नहीं पड़ता, वही अन्य किसी प्रमाता के लिए चिन्त्य हो सकता है, उसकी समझ में आ सकता है । उदाहरणार्थ 'स एकशीणि०' पद्य में ही कुहमाशुष के शूल का शरीर नाश होने पर नष्ट न होने में कारण है काम का चिन्त्योनिस्व = चिन्त से उत्पन्न होना । फलतः वह चिन्त्य ही है, अचिन्त्य नहीं । उनका कहना—

'अचिन्त्यता नाम न वस्तुधर्मः संदेहवत् सा हि भवेत् प्रमातुः ।

कत्यापि, सर्वस्य तु नैव, तस्माद् विभावनादिक्रिक्तियो न वाच्यः ॥'

—'अचिन्त्यता वस्तुनिष्ठ धर्म नहीं है । वह भी सन्देह के ही समान प्रमातृनिष्ठ धर्म है । वह भी किसी-किसी प्रमाता में रहता है, सब में नहीं । अतः विभावनादि अलंकार को तीन प्रकार का कहना ठीक नहीं ।

अप्ययदीक्षित—ने कुबल्यानन्द में जयदेव के—'विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे ।'—इय विशेषोक्तिलक्षण को—

'कार्यनिर्विशेषोक्तिः तति पुक्कलकारणे ।'

इस प्रकार बदल दिया है। शब्द ही जयदेव के लक्षण में कारणगत समग्रता का उल्लेख नहीं था। अलङ्कार के नाम से कारिका का आरम्भ यथावत् रहने के लिये अप्ययदोक्षिण को कारिका इस प्रकार की गइनी थी—

‘विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्यापिअलङ्कारणे’ ।

यदि अलङ्कार का नाम कारिका के आरम्भ में नष्ट भा देना था तो भी द्वितीय चरण का निर्माण उन्हें ‘पुष्कले सति कारणे’ इस प्रकार ‘कारणे सति पुष्कले’ इस प्रकार ‘पुष्कले कारणे सति’ इस प्रकार अथवा ‘कारणे पुष्कले सति’ इस प्रकार करना चाहिए था। उक्त सभी योजनाओं में ‘सब के सब कारण रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति’ अर्थ यहाँ निरूढ़ना है। उदाहरण—

‘नमन्ममपि धीमन् न लक्ष्ययति कश्चन’—जयदेव ।

‘हृदि स्तेहृद्यो नाभूत् स्मरदोषे उल्लस्यपि’—दोक्षिण ।

‘बुद्धिमान् लोप नष्टे है तो भी उन्हें कोई लोपना नहीं’—जयदेव ।

‘हृदय में स्मरदोष के अलसे रहने पर भी स्तेहृद्य नहीं हुआ’—दोक्षिण ।

दोनों में विशेषोक्ति का अधिक दृढ़ रूप जयदेव के उदाहरण में ही है। उसमें आश्चर्य-ज्ञान की पृष्ठभूमि नहीं के बराबर है, जबकि अप्ययदोक्षिण के उदाहरण में उनी का साम्राज्य है। इसी प्रकार जयदेव के उदाहरण में श्लेष नगण्य जैसा है और अप्ययदोक्षिण के उदाहरण में श्लेष शब्द में श्लेष भी ही स्मरदोष पद में रूपक भी है।

पण्डितराज—‘प्रसिद्धकारणकल्पसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिविशेषोक्ति ।’

‘प्रसिद्ध कारणों के समुदाय के विद्यमान रहने पर भी उसी के साथ साथ बगलार्ज जा रही कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति कहलानी है।’ यहाँ पण्डितराज ने कारणसामग्री में प्रसिद्धि का भी निवेश किया है। यह उनकी नवीन देन है। अनिन्त्यनिमित्ता को पण्डितराज ने भी स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने उस पर सर्वस्वकार द्वारा उठाई गई आपत्ति का उल्लेख भी किया है।

विश्वेश्वरपण्डित ने लक्षण में कारणगत समग्रता का उल्लेख नहीं किया है और न अचिन्त्य निमित्ता की स्वतन्त्रता अस्वीकार की है। यह उनके निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है—

‘हेतौ नत्यपि कार्यानुत्पत्ति स्याद् विशेषोक्ति ।

—हेतु के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति होती है।

‘सा च त्रेधा—अनुत्पत्तिनिमित्ता, उक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता च’—‘यह तीन प्रकार की होनी है अनुत्पत्तिनिमित्ता, उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता ।’

विश्वेश्वर ने अचिन्त्यनिमित्ता के विषय में पूर्वाचार्यों का विरोध न भी उपस्थित दिया है और न उसका सङ्घटन ही किया है।

सजीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार के सपूर्ण विवेचन का संक्षेप कारिका में इस प्रकार किया है—

‘विशेषोक्तिर्भवेत् कार्यानुत्पत्ति सति कारणे ।

अत्रैकगुणहान्या तु साम्यदाहर्णमलक्षणम् ॥’

—‘कारण के रहने पर कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति होनी है। एक गुण की हानि में साम्य की पुष्टि इसका लक्षण नहीं है।’

[सर्वस्व]

अतिशयोक्तौ लक्षितायामपि कश्चित्प्रभेदः कार्यकारणभावप्रस्तावेने-
होच्यते—

[सू० ४४] कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चाति-
शयोक्तिः ।

इह नियतपूर्वकालभावि कारणं नियतपश्चात्कालभावि च कार्यमिति
कार्यकारणयोर्लक्षणं प्रसिद्धम् । यदा तु विशेषप्रतिपादनाय तयोरेतद्रूपाप-
गमः क्रियते तदातिशयोक्तिः । एतद्रूपापगमश्च कालसाम्यनियन्धनः कालविप-
र्यासनियन्धनश्चेति द्विधाभवन्नतिशयोक्तिमपि द्वैधे स्थापयति । क्रमेण यथा—

‘पद्मयत्सूदृतसान्द्रविस्मयरसप्रोत्फुल्लनेत्रोत्पलं

भूपालेषु तद्यात्र सूक्ष्मनिशिते निर्लिङ्गशयाराध्वनि ।

कीर्त्या च द्विषतः धिया च युगपद् राजन्यचूडामणे ।

हेलानिर्गमनप्रवेशविधिना पश्येन्द्रजालं कृतम् ॥’

‘पथि पथि शुक्चञ्चूचाराभाङ्गुराणां

दिशि दिशि पवमानो वीर्यां लासकश्च ।

नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा

पुरि पुरि च निवृत्ता मानिनीमानवर्चा ॥’

पूर्वत्र प्रौढोक्तिनिर्मितेऽर्थे शत्रुश्रीप्रवेशः कीर्तिनिर्गमनस्य हेतुरिति
भिन्नकालयोस्तुव्यकालत्वं निवद्धम् । उत्तरत्र च माननिवृत्तिः स्मरशर-
प्रकिरणकार्येति तयोरुपपन्नं पौर्वापर्यं व्यत्ययेन निर्दिष्टमित्यतिशयोक्तिः ।
कार्यस्य चाशुभाशुखयो विशेषः प्रतिपाद्यते ।

अतिशयोक्ति का लक्षण किया जा चुका है तथापि उसका एक भेद [कार्यकारणभावमूलक होने
से] कार्यकारणभाव के प्रसङ्ग में यहाँ बतलाया जा रहा है—

[सू० ४४] ‘कार्य और कारण के समकालीन हो जाने अथवा उनके पूर्वपश्चाद्भाव
के तलट जाने से अतिशयोक्ति [होती है] ।

यहाँ कारण और कार्य के ‘नियमतः पहले उत्पन्न होने वाला कारण’ तथा ‘नियमतः पश्चात्
उत्पन्न होने वाला कार्य’—ये लक्षण प्रसिद्ध हैं । किन्तु जब विशेषता के प्रतिपादन के लिए उनकी
इस स्थिति को हटा दिया जाता है तब अतिशयोक्ति होती है । इस स्थिति का निराकरण ‘उत्पत्ति-
काल में एकता या समता होने से होता है और उत्पत्तिकाल के विपर्यास से’ इस प्रकार दो प्रकार
का होता है अतः अतिशयोक्ति को भी दो प्रकार की बना देना है । इनके क्रम से उदाहरण यथा
[कारण कार्य की समकालिक उत्पत्ति से होने वाली अतिशयोक्ति यथा]—

क्षत्रियचूडामणे ! देखिए तो शत्रुओं की कीर्ति तथा श्री ने आपके इस अत्यन्त सूक्ष्म और
तीक्ष्ण खड्गधारा-पथ पर कीटापूर्वक निकलने तथा प्रवेश करने का इन्द्रजाल किया है । राजालोग
इस इन्द्रजाल को उमड़ते हुए घने आश्चर्य से प्रोत्फुल्ल नेत्रोत्पल होकर देख रहे थे । [इन्द्रजाल में
दर्शकों की बीच दो ऐन्द्रजालिक तलवार की तीखी धार पर जैसे चाहें वैसे निर्भोक होकर चलते हैं] ।

[कार्यकारण के उत्पत्तिकाल में विपर्यास से हुई अतिशयोक्ति यथा]—

'पथ-पथ में तोने की चोंच जैसी अजुरों की शोभा बिखरी हुई है, दिशा दिशा में लगाओं की नचाने वाला पवमान [वायु] बह रहा है, पुष्पधन्वा आदमी-आदमी में वाणी की तेजी से बिखर रहा है—और नगर-नगर में मानवनी बनिवारों के मान की चर्चा ममास हो गई है ।'

[इनमें से] प्रथम पद्य में जो अर्थ है वह कवि की प्रौढोक्ति में निर्मित [कविकल्पित] है । उसमें शत्रुघोष का प्रवेश शत्रुकीर्ति के निर्गमन का हेतु है अतः वे दो भिन्न भिन्न काल में उत्पन्न होने वाले हैं तथापि उनही उत्पत्ति एक साथ होती हुई बनला दी गई है ।

दूसरे पद्य में माननिश्चिन्त कामशरवर्षा का कार्य है । इस कारण उनकी उत्पत्ति का पूर्वपश्चात्-मान निश्चित है । उसे यहाँ उल्ट कर बनलाया गया है । इसलिए [एक दोनो स्थलों में] अतिशयोक्ति है । इनमें जो विशेषता बतलाए जा रही है वह है कार्य का शीघ्र होना ।

विमर्शनी

प्रस्तावेनानुगुपयेत् । अतः प्रवेद्यन्तः कार्यकारणभावप्रत्या विच्छिन्तिविशेषाः संभवन्तीति प्रपञ्चमात्र दर्शयितुं पुनरिहास्या वचनम् । एतच्च ग्रन्थकृतेषां कम् 'प्रकारपञ्चकम् व्याकरणाकारणभावेन चः प्रकारः स कार्यकारणनाप्रयालकारप्रस्ताये प्रपञ्चार्थं लक्षयिष्यत' इति । लक्ष्यत इति न पुनर्निर्णीयते, पूर्वश्रेयास्य निर्णीतरत्वात् । तामेवाह—कार्यकारणयोरित्यादि । उभयत्रापि नियतशब्द एतद्व्यभिचारदर्शनात् । एतद्रूपापगम इति । कार्यकारणयोः सामान्यविपर्यासाभ्यामुपनिबन्धनात् । प्रौढोक्तिनिमित्त इति । क्लीर्तिधियोर्वस्तुतो निर्गमनप्रवेशासंभवात् । प्रतिपाद्यत इति प्रयोजनत्वात् ।

प्रस्तावेन—प्रत्यय में अर्थात् इनके विवेचन के इसी प्रत्यय के अनुगुण होने से । तात्पर्य यह कि इस अतिशयोक्ति को यहाँ उपस्थित करने का उद्देश्य यह बनलाना है कि कार्यकारणभावमूलक अलङ्कारों के इनके भेद हो सकते हैं । [अतिशयोक्ति के प्रकरण में] यह स्वयं ग्रन्थकार ने ही कह दिया है कि ' [अतिशयोक्ति के] पाँच भेदों में से जो कार्यकारणभावमूलक भेद है उसे कार्यकारणभावमूलक अलङ्कारों के प्रकरण में प्रथम के लिए दिखलाया जाएगा ।' उच्यते = कही जा रही है, न कि उसका निर्णय किया जा रहा है । क्योंकि उसका निर्णय तो पहले ही किया जा चुका है । उही [अतिशयोक्ति] को बतलाते हैं—कार्यकारणयोः इत्यादि । दोनों ही जगह नियत-शब्द इस स्थिति का कर्मा भी निराकरण न होने के कारण दिया गया है । एतद्रूपापगमः = इसी स्थिति का निराकरण = इसलिए कि यहाँ कार्यकारण का सामान्य स्थिति के विपरीत उपनिबन्धन रहता है । प्रौढोक्तिनिमित्त = क्योंकि कौत्स और श्री के निर्गमन और प्रवेश वस्तुतः नहीं हो सकते । प्रतिपाद्यते = बनलाया जा रहा है अर्थात् प्रयोजनरूप से ।

विमर्श—इस अतिशयोक्ति का इतिहास—पूर्वप्रतिपादित अतिशयोक्ति के इतिहास से ही गतार्थ है ।

श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार द्वारा दिए गए इस अतिशयोक्ति के विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'कार्यकारणयोर्थां तु कालसाम्यविपर्यया । अन्या त्वतिशयोक्ति सा विरोधाशोपजीवनात् ॥'

—'यह एक अन्य ही अतिशयोक्ति होनी है जिनके कार्य और कारण के उत्पत्ति समय में एकता या उलटाव रहता है । यह विरोधाश पर निर्भर रहती है ।'

[सर्वस्व]

[सू० ४५] तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः ।

तयोरिति कार्यकारणयोः । यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यं दृष्टम् ।

नहि महानसस्यो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति । यदा त्वन्यदेशस्थं
कारणमन्यदेशस्थं च कार्यमुपनिवध्यते, तदोचितसंगतिनिवृत्तेरसंगत्या-
ख्योऽलंकारः । स च विरुद्धकार्यकारणभावप्रस्तावादिह लक्ष्यते । यथा—

‘प्रायः पथ्यपराङ्मुखा विषयिणो भूषा भवन्त्यात्मना

निर्दोषान् सचिवान् भजत्यतिमहाँल्लोकापवादज्वरः ।

वन्धाः श्लाघ्यगुणास्त एव विपिने संतोषमाजः परं

वाह्योऽयं घरमेव सेवकजनो धिक् सर्वथा मन्त्रिणः ॥’

अत्र पथ्यपराङ्मुखत्वमुपालम्भज्वरविषयत्वस्य भिन्नदेशहेतुरित्य-
संगतिः । एवम्—

‘सा बाला वयमप्रगल्भवच्चसः सा स्त्री वयं कातराः

सा पीनोन्नतिमत्पयोधरभरं धत्ते सखेदा वयम् ।

सा क्लान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं

दोषैरन्यसमाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥’

इत्यत्र श्लेयम् । अत्र बाल्यनिमित्तमप्रगल्भवचनत्वमन्यदन्यच्च स्मर-

निमित्तकमित्यनयोरभेदाध्यवसायः । एवमन्यत्र श्लेयम् ।

[सू० ४५] किन्तु वे [कार्यकारण] भिन्नदेशगत हों तो [अलंकार का नाम]
असंगति [होता है] ॥

तयोः = वे अर्थात् कार्यकारण । कारण जिस स्थान पर रहता है उसी स्थान पर कार्य का
रहना देखा गया है । ऐसा नहीं है कि रसोईघर की अग्नि पर्वत पर के धुँद को उत्पन्न करे ।
किन्तु जब कारण अन्य स्थान पर और कार्य अन्य स्थान पर बतलाया जाता है तब अविग संगति
न रहने से असंगति नामक अलंकार होता है । वह यहाँ इसलिए बतलाई जा रही है कि यहाँ
विरुद्ध कार्यकारणभाव का प्रसंग चला हुआ है । उदाहरण यथा—

‘पथ्यपराङ्मुख और विषयी प्रायः राना लोग ही स्वयं होते हैं किन्तु लोकापवाद का महान्
ज्वर आता है निर्दोष मन्त्रियों को । ये [मन्त्री] लोग ही यदि जंगल में जाकर संतोष के साथ
रहें तो इनकी बन्दना और इनके गुणों की प्रशंसा होती है । इसलिए ये बाहरी सेवक लोग ही
अच्छे । मन्त्री लोगों को सर्वथा धिक्कार है ।’

यहाँ पथ्यपराङ्मुखत्व हेतु है उपालम्भज्वर का किन्तु वह भिन्नदेशस्थ है इसलिए असंगति है ।
इसी प्रकार—[बामन के द्वारा—विरोचालंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत]—

‘बाला है वह किन्तु अप्रगल्भ वाणी है हमारी, स्त्री है वह किन्तु कातर है हम, मोटे और उन्नत
पयोधरों का भार है उस पर किन्तु खेद है हमें, जघनस्थल की गरिमा से क्लान्त है वह किन्तु
चलने में असमर्थ है हम । इस प्रकार हम अन्वाश्रित दोनों से अभिभूत हो गए हैं यह आश्चर्य की
बात है ।’—इस पद्य में भी जानना चाहिए । यहाँ बाल्यजनित अप्रगल्भ वचन भिन्न है और स्मर-
जनित अप्रगल्भ वचन भिन्न । यहाँ इन दोनों में अभेदाध्यवसाय है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों
में भी समझना चाहिए ।

विमर्शनी

तयोरित्यादि । एतदेव द्यतिरेकमुखेनापि दर्शयति—नहीत्यादिना । अचितसंगतिनिवृत्तेरिति ।
एकदेशयोरपि कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वेनोपनिबन्धनात् । अत एव च तयोर्भिन्नदेशत्वादिषु

विषयभेदेन भवतीत्येकविषयाद् विरोधादस्य भेदः। इह लक्ष्यत इति। अस्या अपि कार्य-
कारणयोर्मिषदेशात्वेन विरोधगर्भत्वात्। अभेदाध्यवसाय इति। अनेनातिशयोक्तिरस्या
अप्यनुप्रागःकरणेन कटाक्षिता। अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः। स्यात् एवं पथ्यज्वर-
दान्दयोरतिशयोक्तिबलात्प्रजापालनयुक्तिसंतापवाचकरव द्रष्टव्यम्। अन्यत्रेति कातरत्वादी।

तयोरित्यादि। इसीको व्यतिरेक द्वारा भी बनलाते हैं 'न हि' इत्यादि द्वारा। उचित-
सगतिनिवृत्ते उचित सगति न रहने से = क्योंकि कार्य और कारण सदा ही रहते तो एक ही
स्थान पर है तथापि यहा उनका भिन्न भिन्न स्थान में दिखलाए जाने से और इसी कारण कि वे
दोनों भिन्न भिन्न स्थान में रहते हैं। फलन इसमें विषयभेद रहता है, यह विरोधात्कार से भिन्न
है, क्योंकि उसमें विषय एक ही रहता है। इह लक्ष्यते = इसका लक्षण यहाँ किया जा रहा है।
इसमें भी कार्यकारण भिन्न भिन्न स्थानों में रहते हैं अतः यह भी विरोध गमित है, इसलिये।
अभेदाध्यवसाय—इससे यह बतलाया कि इस [असगति] में अतिशयोक्ति अनुप्राणक है। अन्यथा
विरोध का परिहार कठिन हो जाए। इसी प्रकार 'पथ्य' और 'ज्वर' शब्दों में भी अतिशयोक्ति
के बल पर प्रजापालनयुक्ति और सताप को वाचकता समझनी चाहिए। अन्यत्र = अन्य स्थानों
में अर्थात् 'कातरत्व' आदि में।

विमर्श—असंगति का पूर्वतिहास—

असगति नाम का कोई भी अलंकार न तो मामूह के काव्यालंकार में मिलना न वामन
और उद्भट के। वामन में विरोधालंकार के लिए जो 'सा बाळा०' पद्य दिया गया है उसमें असंगति
अवश्य है किन्तु वहाँ अलंकार का नाम असंगति नहीं है। असंगति नाम पहले पहल उद्भट के
काव्यालंकार में मिलता है।

उद्भट—'विन्पष्टे समकालं कारणमन्वत्र कार्यमन्वत्र।

यस्यानुपलभ्येते विदेषासंगतिः सेयम् ॥'—१।४८॥

उदाहरण—'नववीवनेन मुननोरिन्दुकलाकीमलेन पूर्वन्ते।

अज्ञान्यसङ्गताना यूना हृदि वर्धते कामः ॥'

'जहाँ स्पष्टरूप से कार्य अन्यत्र प्राप्त हो और कारण अन्यत्र तो उसे असंगति समझना
चाहिए।' यथा—

—'इन्दुकला के समान कीमल नवीन वीवम से भरे तो जा रहे हैं अग उस मुन्दरी के,
किन्तु काम भी वृद्धि हो रही है दूरस्थ युवकों के हृदयों में।'

मम्मट—'मिन्नदेशनयाऽऽवन्त कार्यकारणभूतयो'।

युगपद्धर्मयोर्थेन स्याति सा स्यादसंगतिः ॥'

'जहाँ कार्यकारणभूत धर्मों का अत्यन्त मिन्न मिन्न स्थानों में प्रतिपादन हो उसे असंगति
कहते हैं।'

उदाहरण—'उन्तश्च कपोले बध्वा वेदना सपरलीनाम्'

—'दाँत का घाव तो है बधू के कपोल पर किन्तु वेदना है सौतों में।' मम्मट ने विरोध से
असंगति का अन्तर विरुद्ध तत्त्वों की मिन्नदेशता तथा एकदेशता को लेकर किया है। विमर्शनी-
कार ने उसी को अपना लिया है। विरोध में मिन्न मिन्न स्थानों में रहने वालों का एक
स्थान में आना विरोध का कारण होता है जब कि असंगति में सदा एक ही स्थान पर रहने
वालों का मिन्न मिन्न स्थान पर रहना। आगे पण्डितराज के मत से भी यह तथ्य स्पष्ट होगा।

शोभाकर—ने असंगति के बाठ भेद माने हैं। उनका सामान्य लक्षण यह है—

'तयोर्देशकालान्यत्वमसंगतिः।'

‘उन—हेतु और कार्य के देश तथा काल की विपरीतता असंगति कहलाती है।’ वह विपरीतता इस प्रकार होती है।

- [१] एकदेशस्थ कार्य की भिन्नदेशस्थता
- [२] भिन्नदेशस्थ कार्य की एकदेशस्थता
- [३] पश्चात्कालभावो की पूर्वकालभाविता
- [४] पश्चात्कालभावो की सहकालभाविता
- [५] तुरन्त वाद होने वाले की चिरकालभाविता
- [६] चिरकालभावो की तत्कालभाविता
- [७] ऐहिक कार्य की आमुष्मिकता और
- [८] आमुष्मिक कार्य की ऐहिकता ।

इनमें से नवीन सात भेदों के उदाहरण देकर रत्नाकरकार ने अन्त में सभी में चारुत्व की सत्ता मानी है। उन्होंने लिखा है -

‘भेदसप्तकमप्रान्यद् यद्दत्तमाभिरुदाहृतम् ।

चारुत्वातिशयात् तस्मिन्ननलङ्कारता कुतः ॥’

ये अतिरिक्त भेद भावुकतामात्र हैं। इनमें अतिशयोक्ति आदि से भिन्न कोई स्वतन्त्र मौलिकता नहीं है।

अस्पष्टयद्गीषित—ने भी असंगति के तीन भेद माने हैं। उनमें से प्रथम तो कार्यकारण की भिन्नस्थानस्थतामूलक ही है, शेष दो में से एक ‘अन्यत्र करणीय कार्य के अन्यत्र किए जाने’ से तथा द्वितीय ‘अन्य किसी कार्य को करते-करते उसके विरुद्ध कार्य के कर डालने’ से होती है। इनके लक्षण ये हैं—

- [१] ‘विरुद्धं मित्रदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः ।’
- [२] ‘अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा ।’
- [३] ‘अन्यत् कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतित्तथा ॥’

इनके उदाहरण हैं—

[१] ‘विषं जलपरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गवाः ।’

विष [जल तथा जहर] पिया मैषों ने और मूर्च्छित हुए पथिकों की किया।

[२] अपारिजाता वसुधा चिकीर्षन् यां तथाऽकरोत् ।

‘श्रीकृष्ण चाहते वनाना पृथिवी को अपारिजात [अप = अपगत हो गया है हट गया है अरि = शत्रु का जात = समुदाय जिससे तथा ‘पारिजातरहित’] किन्तु बना दिया अपारिजात [पारिजात हरण द्वारा पारिजात रहित] चीं को ।’

[३] ‘गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोत् ।’

श्रीकृष्ण कहे तो ये गोत्रोद्धार [गोत्रा = पृथिवी के उद्धार में] किन्तु कर दिया उन्होंने उससे उल्टा गोत्रोद्भेद [गोत्रा पृथिवी का भेद नाश तथा गोत्र = पर्वत अथवा वंश का] कर दिया ।

इनमें द्वितीय भेद विशेषालंकार में तथा तृतीय विरोधालंकार या विषमालंकार में अन्तर्भूत हो जाता है। पण्डितराज ने भी इनका स्पष्टन किया है।

पण्डितराज—अन्यत्र ने असंगति का लक्षण इस प्रकार किया है—

‘विरुद्धवैनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगतिः ।’

हेतु और कार्य का भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहना, जो आपाततः विरुद्ध-सा लगता है, असंगति कहलाता है।

पण्डितराज ने सर्वस्वकार की इस मान्यता का खण्डन किया है कि असंगति में अतिशयोक्ति सहायक होती है। खण्डन में उन्होंने वेबल शब्द पर आश्रय किया है। कहा है कि यहाँ अतिशयमात्र सहायक है अतिशयोक्ति नहीं। वस्तुतः यह सर्वस्वकार के कथन का रक्षीकरण-मात्र है।

विमर्शनीकार का भी खण्डन करते हुए पण्डितराज ने लिखा है कि उन्होंने 'एक अधिकरण में दो के मन्त्र से विरोध होता है और असंगति में मित्र मित्र अधिकरणों में' यह जो भेद बनलाया है वह अमान्य है। कारण कि अन्गति में भी दो निरुद्ध धर्म एक ही स्थान पर रहने हैं वे धर्म हैं कार्यत्व और कारणवैयधिकरण्य [कारण के अधिकरण में अग्न रहना]। अन्गन विरोध से असंगति का अन्तर पण्डितराज ने दो हेतुओं द्वारा बनलाया है।

१—उत्पत्तिपरामर्श, यह विरोध में नहीं रहता। असंगति में रहना है।

२—मित्र मित्र स्थान पर रहने के लिए प्रसिद्ध पदार्थों का एक स्थान में रहना विरोध का निष्पादक तत्त्व है और एक स्थान में रहने वालों का मित्र स्थान में रहना अन्गति का। यह भेद हम भी अभी-अभी बतला आए हैं।

विश्वेश्वर—'हेतुव्यधिकरण स्यात् कार्यं चैव सा त्वसंगति- प्रोक्ता ।'

—'यदि कार्यं हेतु के आश्रय से मित्र आश्रय में बतलाया जाय तो उसे असंगति जाननी चाहिए।'

विश्वेश्वर ने पण्डितराज द्वारा किए गए विमर्शनीकार के उपर्युक्त विरोध का प्रतिवाद किया है। वस्तुतः पण्डितराज का तार्किक भेदक कसौटी तय करने में था। वह उन्होंने द्वितीय कल्प द्वारा तय कर दी है। विश्वेश्वर को भी वह मान्य है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने असंगति का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'कार्यकारणयोर्मित्रदेशत्वे स्यादसंगति ।
अभेदान्यवसायादिविच्छित्त्वा दृश्यते च सा ॥'

[सर्वस्व]

[सू० ४६] विरूपकार्याऽनर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।

विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम् । तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम् । तथा कंचिद्दर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्बो यावदनर्थप्रतिरूपीति द्वितीयं विषमम् । अत्यन्तानुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम् । अनुरूपसंसर्गो हि विषमम् । क्रमेण यथा—

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।

तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकामरणं प्रसूते ॥'

'तीर्थान्तरेषु मलयङ्कवतीर्विहाय दिव्यास्ननूस्तनुभृतः सहसा लभन्ते ।

चाराणसि त्वयि तु मुक्तकलेवराणां लामोऽस्तु मूलमपि यात्यपुनर्भवाय ॥'

‘शरण्यानी केयं धृतकनकसूत्र. क स मृगः

क मुक्ताहारोऽयं क च स पतगः केयमघला ।

क तत्कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क च वयं

स्वमाकृतं धाता निभृतनिभृतं कन्दलयति ।

अत्र कृष्णवर्णाच्छुक्लवर्णात्पत्तिः कलेवरान्यन्तापहारलक्षणानर्थान्तरो-
त्पत्तिः, अत्यन्ताननुरूपाणां चारण्यान्यादीनां परस्परं संघटनं क्रमेण मन्त-
इयम् । केवलमनर्थोत्पत्तिरत्र व्याजस्तुतिपर्यवसायिनीति शुद्धोदाहरण-
मप्युद्धम्^१ ।

[सू० ४६] विपरीत कार्य तथा अनर्थ की उत्पत्ति साथ ही विपरीत संघटना विषम
[नामक अलंकार होता है] ।

इसका लक्षण यहां विरोध के प्रसंग से किया जा रहा है । इसमें ‘कार्य, कारण के गुणों के
अनुरूप [गुणों से युक्त होकर] ही उत्पन्न होता है’ इस प्रसिद्धि के रहते हुए भी जो विपरीत गुण
वाला कार्य उत्पन्न होता दिखलाया जाता है वह एक प्रकार का विषम होता है । इसके अतिरिक्त
‘किसी लाभ को सिद्ध करने के लिए उधत व्यक्ति को उस लाभ की प्राप्ति तो नहीं ही हो कपर
से अनिष्ट की प्राप्ति और हो जाए’ यह दूसरे प्रकार का विषम होता है । दो व्ययन्त
अननुरूप अर्थात् पदार्थों की संघटनाएँ तृतीय प्रकार का विषम होता है । प्रतिकूल संघटना ही
विषम है । इनके क्रम से उदाहरण [विपरीतगुणो कार्यो उत्पत्ति से होने वाला विषम]—

‘यद् आश्चर्यं की बात है कि तमाल जैसी नीली कृपाणलेखा प्रत्येक बुद्ध में जिसके कर का
स्पर्श पाकर शरत्कालीन चन्द्रमा से शुभ्र और शिलोकी के आभरण यश को उत्पन्न करती है ।’
[नवसाहस्राक्षरित १।६२]

[अनर्थ की उत्पत्ति से होनेवाला विषम]—

‘जन्य तीर्थों में शरीरधारी लोग मलिन शरीर छोड़कर दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं । परन्तु
हे काशी ! तुझमें शरीर छोड़ने वालों का लाभ तो दूर रहे, मूल [भूत शरीर] भी फिर से उत्पन्न
न होने के लिए चल बसता है [वस्तुतः इस पद्य में व्याजस्तुति और व्यतिरेक अलंकार है] ।

[विपरीत पदार्थों की संघटना से होने वाला विषम यथा]—

‘कहाँ यह [विन्ध्य] भटकी और कहाँ वह सुवर्ण की सौंकल पहने हिरना, यहाँ यह मोतियों
का हार और कहाँ वह पक्षी [हंस], कहाँ यह अबला [पाटला नामक शक्तिप्रभा की सखी],
सर्पराज [शंखपाल] की कहाँ वह उत्तम सुन्दरी कन्या और कहाँ हम । विषावा अपनी इच्छा अत्यन्त
निभृत रूप से पूर्ण करता रहता है [नवसाहस्राक्षरित ५।८१] ।’

१. निर्णयसागर प्रति में इतना पाठ अधिक है—‘यथा—

‘परहिअअं मर्गातीड् भारिअं अत्तणो तए हिअअं ।

अव्यो वल्लहस्स कए मूलाओ विद्धेइआ लाआ ॥’

[परहृदयं मार्गन्त्या हारितमात्मनस्तथा हृदयम् ।

हृद्दो लाभस्य कृते मूलविच्छेदिका जाता ॥]

इति तत्रोदाहार्यम् ।

इत [तीन पद्यों में] क्रम से [प्रथम पद्य में] कृष्णवर्ण से शुद्धवर्ण की उत्पत्ति, [द्वितीय में] शरीर के अत्यन्त अपहरणशील अनन्य की प्राप्ति तथा [तृतीय में] जगल आदि अत्यन्त बेमेल पदार्थों का परस्पर मिलान मानना चाहिए। इतना अवश्य है कि यहाँ अनर्पितपत्ति व्याजस्तुति में पर्यवसित हो रही है फलतः इसका कोई शुद्ध उदाहरण सोच लेना चाहिए।

विमर्शिनी

विरूपेत्यादि । इहेति । अस्याप्यननुरूपसंसर्गो विरोधगर्भत्वात् । विरूपमिति । कारण-
पेक्षया विजातीयत्वेनातद्गुणत्वात् । यद्यपि 'गोमयाद्वृद्धिकोत्पत्तिः' इतिवत्कार्यकारण-
योर्वास्तवं विरूपस्य संभवति, तथापीह क्विप्रतिभाभिर्नित्तमेव तद् प्राप्यम् । तेन

'प्राचाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयानां पीयूषसारसनिर्भरगर्भवन्ति ।

विप्यस्परकठिनकायनिगूढशृङ्गशृङ्गकानि पुनरभसि समवन्ति ॥'

इत्यादी विपम न वाच्यम् । ईदृश एव कार्यकारणभास्य वस्तुतः संभवात् । तस्येति
साधयितुमिष्टम् । अप्रतिलम्भ इति । असिद्धिरिति यावत् । अत्यन्तेति । न केवलं तयो-
रवय विरूपत्वं यावत्संसर्गनाया अप्यननुरूपत्वमित्यत्र तात्पर्यम् । एकमिषाद्यभिदधता
ग्रन्थकृता विपमणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकरप्रकारित्वम् । सामान्यलक्षणत्वात्संभवात् ।
एवमेव पुनरेषां कस्माद्भिधानमित्याहुः—अननुरूपेत्यादि । यत्किञ्चिपुनरमहर्षान-
घिरुद्धमर्षरश्मिकमुक्त्वा तद्दिहाराभाभिर्नित्तमेवस्तुप्रचार्यमाश्रयावधाननिर्वाहसमुत्सुकमान-
सत्वात् निराहृतमिति न तदेव सिद्धान्तीकार्यम् । तस्य पृथङ्निरसिष्यमाणत्वात् । इह
हि यथादाशयस्मात्प्रहप्रतुत्तपरकीयकूपणोद्धारमात्रमेव विवक्षितम् । यद्योपयोगं
पुनस्तन्निराकरणमपि कृतं करिष्यते च ।

अत्र शुद्धकृष्णवर्णत्वं कार्यकारणरामकत्रिपयद्वयगतत्वेन स्थितमिषस्य भिन्नविपयत्वा-
देकविपयाद्दिरोधाज्ञेयो ज्ञेयः । एवमन्यथापि ज्ञेयम् । अस्याप्यादीनामननुरूपमन्यो-
न्यघटन वास्तवमित्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते । यथा—

'शिरीषादपि मृद्धङ्गी श्वेयमायतलोचना ।

अथ वय च कुकूलामिकर्कशो मदनानलः ॥'

अप्रातनुरूपयोस्तन्वीमदनानलयोः सघटनम् । अत्रेति तीर्थान्तरेष्वित्यादौ । शुद्धेति ।
यत्र विपममेव न स्यात् । तत्तु यथा—

'यो हठं प्रतिनिपेद्गुमुदस्तः सुभ्रुवा प्रियतमस्य कटाक्षः ।

ए प्रतोद इव तस्य विशेषात्प्रेरकः किमपि हन्त अमूव ॥'

अत्र कटाक्षस्य हठनिपेधायोदस्तस्य न केवलं तदसिद्धिर्यावत्परपैवात्यन्तं स प्रेरको
जान इत्यनयोत्पत्तिः ।

विरूपेत्यादि । इह = इम प्रसंग में क्योंकि यह अलङ्कार भी अननुरूपसंसर्गात्मक होने से
विरोधगमित है । विरूप = कारण की अपेक्षा विजातीय होने के कारण अर्थात् उसके गुण से युक्त
न होने के कारण । यद्यपि कार्य और कारण में विरूपता वास्तविक भी होती है [यथा] गोमय
[गोबर] से विच्छृ की उत्पत्ति होती है, तथापि यहाँ क्विप्रतिभाप्रस्तुत विरूपता ही अपनानी
चाहिए । इमल्लि—

अमृतसाररूपी रस से निवर्त गमित प्राणाफल पहाड़ी के शिखर पर होते हैं और चारों
ओर से कठिन शरीर के शृंग छिनाय सिंघाड़े पैदा होते हैं पानी में ।

—इत्यादि स्थलों में विषम नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसे ही हैं वे कार्य-कारणभाव जो वास्तविक होते हैं, [कल्पित नहीं]। तस्य = उस सिद्ध करने के लिए अमोष्ट। अप्रतिलम्भ, अस्तिद्धि। अत्यन्त—अर्थ यह कि केवल वे स्वयं ही विरूप नहीं होते, अपितु उनकी संघटना भी वैसी ही विरूप होती है। एक इत्यादि कहकर ग्रन्थकार ने तीनों विषमों की परस्पर भिन्नता बतलाई न कि प्रकारप्रकारिभाव। क्योंकि इनसे कोई सामान्य लक्षण संभव नहीं है। फिर इन्हें बतलाना कैसे इस पर कहते हैं अननुरूप०। अन्य आचार्यों ने बोला अधिक कह दिया है जो हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है, और हमने भी उसका खण्डन नहीं किया है, क्योंकि हमारा चित्त ग्रन्थस्थित पदार्थों की व्यवस्थित व्याख्या करने के लिए उन्मुक्त है। किन्तु एतावता उसे सिद्धान्तभूत नहीं मान लेना चाहिए। उसका निराकरण अलग से किया जाने वाला है। यहाँ तो हमें आप्रह में पढ़कर दिए गए दूसरे के दोषों का उद्धारमात्र यथाशक्ति करना अमोष्ट है और वह जहाँ जितना आवश्यक था हमने पहले भी किया है और आगे भी करेंगे।

यहाँ कृपणता और शुण्लता कार्यकारणात्मक दां भिन्न वस्तुओं में अवस्थित है अतः विषम भिन्न होने से इसका विरोध से अन्तर है, विरोध में आधार एक ही होता है। अन्यत्र भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

‘अरण्यानी०’ आदि पद्य में जो पदार्थों की विपरीत योजना है वह वास्तविक है इसलिए हम एक अन्य उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं। यथा—

‘कहाँ तो शिरीष से भी अधिक कोमल अंगों वाली यह विशालनेत्रा और कहाँ यह तुपाग्नि के जमान कर्कश कामानल ।’

—यहाँ [कविकल्पना में] दो विपरीत गुणी पदार्थ, तन्वी तथा कामानल का मिलन है। अत्र = यहाँ अर्थात् ‘तीर्थान्तरेषु’ पद्य में। शुद्धा = अर्थात् जहाँ केवल विषम ही हो। उसका उदाहरण यथा—

‘अच्छी मौंहो वाली उस कामिनी ने जो कटाक्ष [वाण] हठ का प्रतिषेध करने के लिए प्रियतम पर छोड़ा, हन्त, वह तो किसी भी कारण चातुक की नाई उसके लिए और अधिक प्रेरक हो गया ।’

—यहाँ हठ के निषेध के लिए जलाप कटाक्ष से इस कार्य की अस्तिद्धि ही केवल नहीं हुई प्रत्युत ‘वह उसी हठ का अधिक प्रेरक बन गया’ इस प्रकार अनर्थोत्पत्ति और हो गई।

त्रिमूर्ति - अनर्थोत्पत्ति वाले विषम के शुद्ध उदाहरण के रूप में स्वयं मूल में ही एक गाथा निर्णयसागरीय प्रति में छपी हुई है। श्रीरामचन्द्र द्विवेदी ने उसे मूल मान लिया है। पृष्ठ ४८९ पर उसे हमने अधिकल्प रूप से अपनी नवार्थ संस्कृत छाया के साथ पादटिप्पणी में दे दिया है। ग्रन्थकार ने जब उसके उदाहरण की कल्पना करना ‘अभ्यूह्यम्’ कहकर पाठकों पर छोड़ दिया, तब वह स्वयं उदाहरण देगा वह संभव नहीं लगता। विमर्शिनी, समुद्रबन्धी तथा संजीविनी में भी इस अंश का उल्लेख नहीं है।

विषम का इतिहास :—

भामह, वामन तथा उद्भट में विषम का विवेचन नहीं मिलता। पहले पहल रुद्रट के काम्यालंकार में इसका विवेचन इस प्रकार मिलता है—

रुद्रट—

‘कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः ।

तद्वत् क्रिययोरयवा संजायेतेति तद् विषमम् ॥ १४५ ॥

—जहाँ कार्य और कारण के गुण या क्रियाओं में परस्पर विरोध हो उसे विषम कहते हैं।

उदाहरण = [१] 'नीले रङ्ग मे शुभ्र यश उत्पन्न होना'—इसी भाव का पद्य ।

[२] आनन्दममन्दमिम कुवलयदल्लोचने ददासि स्वम् ।

निरहस्त्वयैव जनिनस्तापयतितरां शरीर मे ॥ ९।४७ ॥

'हे नीलकमल की पंखुटी जैसी आँतों वाली ! तुम स्वयं तो अत्यन्त आनन्द देती हो किन्तु सुन्दारे द्वारा ही उत्पन्न वियोग उनना ही तपाया है ।' रुद्र ने विरूपर्मघटना वाले विषम को भी बारम्बार नामक अङ्कार वर्ग में गिनाया है—

'विषम इति प्रवितोऽर्मा वक्ता विषट्यति किमपि सम्बन्धम् ।

यथार्थयोरसन्त परमतमाशुक्रय नत्सखे ॥ ७।१७ ॥

—उने विषम कहा जाता है जहाँ वस्तुओं के असोमन सम्बन्ध को दूसरे के अनुसार सोमन रूप से प्रतिपादित समझ बला अनुचित प्रतिपादन करता है । यथा—'कव खला. कव च सजन स्तुतय.' कहाँ खल और कहाँ सजनों की स्तुति ।'

मम्मट—मम्मट ने रुद्र से बड़कर विषम में बहु भेद और जोड़ा जिसे सर्वस्वकार ने अनर्थ-प्राप्ति कहा है । उनका विषमालंकार विवेचन इस प्रकार है—

'कवचिद् यदतिवैधर्म्यात् इलेषो घटनामियात् । कर्तुं. क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ।

गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये । क्रमेण च विरुद्धे यद् स एव विषमो मतः ॥'

—जहाँ [१] अत्यन्त वैधर्म्य होने से वस्तुओं का सम्बन्ध फलता न हो [२] कर्ता को क्रियाफल की प्राप्ति तो हो ही नहीं अनर्थप्राप्ति और हो जाए, [३] कार्य के गुण तथा क्रिया क्रमशः कारण के गुण तथा क्रिया में विरुद्ध हों तो यह [चार प्रकार का] विषम होना है ।' उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रथम दो के लिए निम्नलिखित पद्य दिये हैं—

[१] 'शिरीषादपि मृदवद्गी' [विमर्शिनी में उद्धृत]

[२] सिद्धिकाद्युगमत्रस्त शशः शीतांशुमान्न । अग्रसे साश्रय तत्र समन्व' सिद्धिकाद्युगः ॥

—सिद्धिका [सिद्धी] के युग [शेर] से बरा हुआ खरहा चन्द्रमा में पहुँचा । जहाँ उसे उसके आश्रय के साथ ही एक दूसरे सिद्धिका [राहु की माता] के युग [राहु] ने प्रस रिया । [यहाँ सिद्धिकापद में लेश है] ।

शेष दो भेदों के लिए मम्मट ने नवमाहस्तांशुवरित का 'सव. करस्वर्गमवाप्य' यह पद्य तथा रुद्र का ही 'आनन्दममन्दमिमम्' पद्य उद्धृत कर दिया है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वस्वकार ने कार्यकारण के वैधर्म्य को गुण तथा क्रिया के दो भागों में नहीं बाँटा । विमर्शिनीकार ने भी इस दिशा में ध्यान नहीं दिया ।

परवर्ती आचार्यों में—

श्रीमाकर—ने

[१] अर्थानर्थपदे तदन्यस्योरपत्तिविषमम् ।

[२] अनर्थोरपत्तिविरूपकार्योरपत्तिविरूपसघटनमसाकर्यं च ।

—इन दो सूत्रों में विषम के निम्नलिखित पाँच भेद माने हैं—

१—अर्थ के स्थान पर अनर्थ की प्राप्ति

२—अनर्थ के स्थान पर अर्थ की प्राप्ति

३—विरूपकार्योरपत्ति

४—विरूपसंघटन तथा

५—असमग्रता

इनमें से प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ के उदाहरण तो वे ही माने जा सकते हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। शेष द्वितीय तथा पंचम के उदाहरण रत्नाकर में ये हैं—

‘येन राशुरपि निग्रहेच्छुना दुर्मरं उदरभिदा सखोद्धतः ।’

‘जिन विष्णु भयवान् ने चाहा तो था राशु का निग्रह किन्तु दुर्मर उदर अलग कर बना लिया उसे मित्र०’ ।

‘पृथ्वीं खलु पीठिकां सुवदितं लिङ्गं तदेनजसः

सामो चागरनिन्वगा जलमिदं सखीकृतं वर्धते ।

अस्त्येषा पुरतः स्थिता नयनवा नक्षत्रपुष्पावली

स्याच्चेत् कश्चन पूजकोऽत्र तदियं पूजोपकल्पता भवेत् ॥

—यह वितत भूषण पीठिका है और यह आकाश है शिबलिङ्ग । इसैरस्यंग पर गंगाजी का यह जल भी तैयार है । सामने ही नक्षत्रों को यह नई-नई पुष्पावली भी उपस्थित है । कोई [पूजा] करने वाला यहाँ होता तो यह पूजा पूरी हो जाती ।’ इस पद्यरसन में केवल पूजा करने वाले की कमी है इस कारण पूजा में कर्मा पड़ रही है । यह एक खलने वाली बात है अतः यहाँ विषम हुआ ।

रत्नाकरकार ने विषम विवेचन में एक कान्ति भी प्रस्तुत की है । उन्होंने अधिकालंकार को भी विषम में ही अन्तर्भूत करना चाहा है । उनका कहना है—

‘भाषाराधेवयोर्यत्र संसर्गः स्याद् विरूपयोः ।

स स्फुटो विषमो वाच्यमधिकं नाधिकं ततः ॥’

—जहाँ आभार तथा आधेय की संघटना भी विरूप हो वहाँ विषम ही मानना चाहिये, अतः एक स्वतन्त्र अलंकार अधिकालंकार नहीं हो सकता ।’ उन्होंने इस तर्क की पुष्टि में अन्य तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा है ‘यदि अधिक नामक एक स्वतन्त्र अलंकार माना जाता है तो ‘विगुण’—नामक भी एक स्वतन्त्र अलंकार माना जाना चाहिये वहाँ कारण कार्य के गुण परस्पर विरुद्ध हों । रत्नाकर-कार की तार्किक उर्वरता स्तुत्य है, किन्तु वस्तुतः अधिक अलंकार अतिशयोक्ति पर निर्भर है और विषम विरोध पर । ‘अल्यकाल में पूरा संसार जिनमें समा जाता है वहाँ ब्रीह्युष्ण में नारद-मिलन का आनन्द नहीं अँटा’—इस उक्ति में विरोध नहीं अतिशय ही अधिक आनन्दकारी है ।

अप्यप्यक्षीक्षित ॥ विषम के वे ही भेद माने हैं जो मम्मट ने माने हैं । उनके उदाहरण प्रायः वे ही अभिनवकृतियाँ हैं जो मम्मट ने प्रस्तुत की हैं । यथा—

[१] ‘विषमं वर्ण्यते यत्र घटनानुरूपयोः ।

त्र्येवं क्षिरीयसृष्टवृद्धौ न्व तावन्मदनन्वरः ॥

विषम उसे कहते हैं जिसमें अनुरूप पदार्थों की जोड़ी बतलाई जाती है । यहाँ तो यह क्षिरोपशुबप कोमल अंगों वाली सुन्दरी और कदां यह कामन्वर ।’

[२] विरूपकार्यस्योत्तरपरं विषमं मतम् ।

कीर्तिं प्रभूते षवलां श्यामा तव कृपाणिका ॥

विपरीत कार्य की उत्पत्ति दूसरा विषम है । यथा आपको श्याम अस्ति श्वेत कीर्ति उत्पन्न करती है ।

[३] अनिष्टस्याप्यवाप्तित्वं तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।

मध्याश्याऽहिमञ्जूषां दक्षाऽस्तुत्तेन भक्षितः ॥

इष्टार्थ के लिए प्रयत्न करते-करते अनिष्ट की प्राप्ति भी विषम होती है । यथा—‘मध्य वस्तु की आशा से सौंप की पिटाई ज़ुतर कर चूहा सौंप के द्वारा खा लिया गया ।’

अप्यप्यदोक्षित ने केवल अनिष्टप्राप्ति में भी विषम माना है और उसके अनेक उदाहरण दिए हैं। उनमें से एक यह है—

‘नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषित मनः ।

तद्यु तत्रैव रमते हवा-पापिनिना वयम् ॥

—‘हमने मन को नपुंसक समझ कर प्रिया के पास भेजा किन्तु वह वहीं रम कर रह गया। पापिनि ने [मन को नपुंसकलिङ्ग बनलाकर] हमें मार डाला ।’ किन्तु यहाँ भी इत्यावृत्ति विवक्षित है। वेदल शब्दन कथित नहीं है। दूतसंप्रेषण प्रियाप्राप्ति के वक्ष्य से ही होता है। पण्डितराज ने भी हमी तर्क से अप्यप्यदोक्षित के इस मन का खण्डन किया है।

पण्डितराज ने मध्वरकार का ‘अननुरूपमसंगो विषमम्’ यही वाच्य विषम का लक्षणमूय मान लिया है। समं को उन्होंने अनेक प्रकार का बनलाया है जिनमें मम्मटाभिमत समी विषमभेद आ जाते हैं। ‘भरण्यानी’ पद्य में निर्माशनीकार के ही समान कविकल्पितता के अभाव में विषम संगं को अलङ्कार नहीं मानना ही उचित बनलाया है। विश्वेश्वर ने सर्वस्व के समर्थन में तर्क देते हुए लिखा है कि ‘भरण्यानी’ आदि पदार्थों में कविकल्पितता भले ही न हो किन्तु उनकी परस्पर योजना तो कविकल्पित ही है। हरिण और हंस में कनकमूत्र तथा मुत्तादार की और उन दोनों की विन्ध्याटवी में उपस्थिति कविकल्पित ही है।

मम्मट की ही परम्परा पर विषम का लक्षण विश्वेश्वर ने इस प्रकार बनाया है—

‘सम्बन्धानुपपत्त्याविद्यार्थानाप्यनिष्टसंप्राप्ती ।

अन्यजनकोभयगुणक्रियाविरोधे च विषमः स्यात् ॥’

विश्वेश्वर ने उदाहरण कालिदास साहित्य में चुने हैं—

(१) ‘क रुजा हृदयप्रमाथिनी’ [मालविनाग्निमित्र ११]

(२) न खलु न यत्तु वाण [शाकुन्तल-१] जो अधिक स्वामाविक और प्रभावपूर्ण है।

संप्रेषणीयता इनमें भरपूर है।

श्रीनिपाचक्रवर्ती ने सर्वस्व के विषमालङ्कार के विवेचन का कारिकात्मक मञ्जेष हम प्रकार किया है—

‘विरूपानर्धवोर्हत्वोन्त्पत्तिर्विषम मनम् । तथा विरूपयत्ना तेनेद त्रिप्रभेदकम् ॥’

[सर्वस्व]

[सूत्र ४७] तद्विपर्ययः समम् ।

विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः । यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवाद्दन्त्यो भेदः परामृश्यते । पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलंकारत्वात् । अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चाख्यात् समाख्योऽलंकारः । स चाभिरूपानभिरूपविपर्ययेन द्विविधः । आद्यो यथा—

‘त्वमेयं सौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः

कलानां सीमान्तं परमिह युवामेव भजयः ।

अपि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिह सुमगे संवदति वा-

मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानौ गुणितया ॥’

अत्राभिरूपस्यैव नायकयुगलस्योचितं संघटनमाशंसितम् ।
द्वितीयो यथा—

‘चित्रं चित्रं यत यत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो देवादुचितरचनासंविधाता विधाता ।
यन्निभ्यानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविद्ः काकलोकः ॥’

अत्रानभिरूपाणां निम्बानां काकानां च समागम आशंसितः । आनुरूप्यात्
समत्वव्यपदेशः ।

[सूत्र ४७] उस [विषम] का उल्टा सम [अलंकार कहलाता है] ॥

विषम के साथ [इस अलंकार का] वैषम्य है अतः [इसे] यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।
यद्यपि विषम के तीन भेद बतलाए हैं तथापि यहाँ ‘तत् = उस’ शब्द से अन्तिम भेद का ही
परामर्श किया जा रहा है, क्योंकि उसी का परामर्श यहाँ संभव है । यह इसलिए कि [विषम के]
प्रथम दो भेदों का विषय अलंकाररूप नहीं होता । जब कि अन्तिम भेद का विषय चारुत्व
से युक्त होने के कारण ‘सम’-नामक अलंकार होता है । वह दो प्रकार का होता है सुन्दरविषयक
[सुन्दर सुन्दर का योग] तथा असुन्दरविषयक [असुन्दर असुन्दर का योग] । इनमें से
प्रथम, यथा—

‘सखि ! तेरा सौन्दर्य ऐसा है और वह सौन्दर्य का वंश है । कलाओं की अन्तिम सीमा
को तुम दोनों ही धारण करने हो । तुम दोनों का जोड़ा भी, भाग्य से, फववा है । अतः अन्न
जो होना शेष है यदि वह हो जाए तो गुणवत्ता की जीत हो जाए ।’

यहाँ नायक नायिकारूपी अच्छों-अच्छों के ही उचित योग की इच्छा की गई है ।
द्वितीय यथा—

‘आश्चर्य, आश्चर्य, वाह वाह, बहुत ही बड़ा आश्चर्य, विचित्र ही है यह । विधाता, भाग्य से,
उचितरचना करने वाला सिद्ध हुआ । क्योंकि नीम की पकी मिमोरी की स्फीतता जैसी
आस्वादनीय है उसकी कवलनकला का वैसा ही कोविद काक समुदाय उसे मिल गया है ।’

यहाँ नीम और काक इन असुन्दर वस्तुओं का समागम बतलाया गया है । [दोनों में]
अनुरूपता है अतः इसे सम कहा गया ।

विमर्शिनी

तद्विपर्ययैवादि । संभवादिति, अलंकारत्वस्य । अनलंकारत्वादिति । कारणात् कार्योत्पत्तेः,
वस्तुसाधनोद्यतस्य तसिद्धेश्च वास्तवत्वात् । यद्येवं तत् सरूपसंघटनापि वस्तुत एव
युक्तेति तस्या अपि कथमलंकारत्वमित्याशङ्क्याह—अन्वयेत्यादि । चाहृष्यदिति, अलंकारत्व-
पर्यवसायिनः । अभिरूपेति । ओभनाशोभनविषयत्वेनेत्यर्थः । आद्य इति, अभिरूप-
विषयः । द्वितीय इति, अनभिरूपविषयः । आनुरूप्यादिति, औचित्यलक्षणात् ।

तद्विपर्ययैवादि । संभवाद = संभव होने से अर्थात् अलंकारत्व के संभव होने से । अनलंकार-
त्वात् = अलंकार न होने से अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति के अलंकार न होने से । क्योंकि
किसी व्यक्ति का किसी वस्तु की सिद्धि के लिए उद्यत तथा उसको उसकी सिद्धि मिलना लौकिक
सत्य है, यदि ऐसा है तो सरूप सरूप की संघटना भी लौकिक सत्य है, उसे भी अलंकार कैसे

माना जाय १ इस पर उत्तर देने हैं—अन्य रत्यादि । चाख्वात् चाख्य होने से अर्थात् अलङ्कारत्व में पर्यवसित होने वाले चाख्य के होने से । अभिरूप = अर्थात् शोभन-विषयक और अशोभन-विषयक होने से । आद्य = प्रथम = अभिव्यविषय [सु दरविषय] । द्वितीय = अनभिरूपविषय = अमुन्दरविषय । आनुरूप्यात् = अनुरूपना जो औचित्यस्वरूप होनी है ।

विमर्श—समाउंकार का इतिहास—

भामह, वामन, उद्भट तथा रुद्रट में समाउंकार नहीं मिलता । अतः यह मानना अप्रामाणिक नहीं होगा कि हमका निरूपण पहले पहले मम्मट ने ही इस प्रकार किया है—

‘सम योग्यतया योगी यदि समाविष्ट इच्छिन् ।’

—‘यदि एकमी के माथ किसी के इजाब्य सख्य की समावना की जाय तो समाउंकार होता है ।’ मम्मट ने हमे दो प्रकार का भी बतलाया है सदयोगात्मक तथा अमद्योगात्मक । इन्हीं दो शब्दों के लिए मरेश्वरका ने अभिरूपविषय और अनभिरूपविषय शब्द दिए हैं । मम्मट ने इनमें से प्रथम का जो उदाहरण दिया है वह सर्वस्व के ‘स्वमेवसौन्दर्यां’ पद्य का समानार्थी पद्य है— ‘वानु शिवानिष्टयं’ । मम्मट ने ‘स्वमेवसौन्दर्यां’ पद्य को भी सप्तम उल्लास के दोष प्रकरण में अमवगमनयोग दोष के लिए उद्धृत किया है । हमने चतुर्थपरण में चैत्र के लिए अपेक्षित ‘तत्’ पद्य का उदाहरण है । अतः उसमें अपेक्षित चैत्र का सङ्ग हो नहीं पाता । द्वितीय के उदाहरण के लिए मम्मट ने ‘चित्तं चित्रं’ पद्य ही उपरिधन किया था ।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने सम का उल्लेख तो बहो बनाया जो सर्वस्वकार ने बनाया है—‘तद्विपर्ययः समम्’ किन्तु उन्होंने तत्पद से विषम के तीन भेदों का भी परामर्श किया है—‘तच्छब्देन त्रयाणां विषमभेदानां परामर्शः ।’ ये तीन भेद हैं अनुरूपसयोग, कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति तथा सामग्रीसाक्यत्व । कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति में भी वे चारख पाते हैं और सामग्री की समप्रता में भी । इनके उदाहरण उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

‘सन्ध्यासमोत्रं कुमुमप्रबन्धमुवाह यद् गदमशोकशाली ।

विलासिनीयावकपङ्कदिग्भवादप्रहारस्य तदेव कुन्धम् ॥’

—‘अशोक वृक्ष ने जो सन्ध्या जैसे कुमुमसमूह को पर्याप्तमात्रा में धारण किया वह ठीक ही है क्योंकि विलासिनी के यावकरजित पाद प्रहार का परिणाम होता ही नहीं ।’ यहां लाल अलते से रजित पैर के प्रहार के अनुरूप लाल गुणों की उत्पत्ति की कल्पना में चमत्कार अवश्य है । हमें लगता है वह चमत्कार व्यय उपप्रेक्षा पर निर्भर है । समप्रता के लिए उदाहरण—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषद्भ्येषां गुणप्राहिणी

लोकानन्दि च बोधिसत्त्वचरितं नाटये च दक्षा वधम् ।

वस्त्वैकैकमपीद् वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन—

मङ्गाभ्योपचयाटय समुदिनः सर्वो गुणानां गणः ॥’

—[नागानन्द नाटक में सूत्रधार का प्रतीकना वाक्य] ‘श्रीहर्ष निपुण कवि है, यह दर्शक समान भी गुणप्राही है, बोधिसत्त्व का चरितं लोकानन्ददायी है और हम भी नाट्यसंयोग में दक्ष हैं । एक एक वस्तु भी अभीष्ट फल देने में कारण बनता है, तब मेरे भाष्यातिशय से तो यह सभी के सभी गुणों का समुदाय एकत्रित हो गया है ।’

रत्नाकरार ने सर्वस्वकार पर कटाक्ष करने हुए भी लिखा—

‘एव चानुरूपकार्यात्पक्षी विच्छिन्नचित्तविशेषवन्धेन सौन्दर्यातिशयदर्शनात् कारणानुरूपत्वे कार्यस्य न किञ्चिद् चान्त्वमिति न वाच्यम् ।’

विमर्शिनोकार ने इतने स्पष्ट आक्षेप का भी कोई उत्तर नहीं दिया। कदाचित् उन्हें भी यह मत मान्य हो।

अपपद्यदीक्षित—अपपद्यदीक्षित ने रत्नाकर के इस मत को स्वीकार कर लिया है। उन्होंने समालंकार के तीन भेद माने हैं—

[१] समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः।

अच्छे या बुरे दोनों अनुरूपों का वर्णन समालंकार। इसे दीक्षितजी ने प्रथम विषम का प्रति-इन्द्रो माना है। इसके दोनों प्रकार के उदाहरण उन्होंने दे दिए हैं। उनमें अशोभन योग के लिए तो 'चित्रं चित्रं' पद्य ही उन्होंने दिया है।

[२] सालूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः।

—कारण से कार्य की सरूपता भी सम कही गई है। इसे दीक्षित जी ने द्वितीय विषम का प्रतिइन्द्रो माना है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह पद्य उद्धृत किया है—

'दग्धदृश्यादुत्पन्नो धूमो घनतामवाप्य वर्षस्तम्।

यच्छभयति तद् युक्तं सोऽपि हि दग्धमेव निर्दहति ॥'

—'दवाग्नि से उत्पन्न धुआँ ने घनकर वर्षा के द्वारा दवाग्नि को जो बुलाता है वह ठीक ही है, वह [दवाग्नि] भी तो [जिससे उत्पन्न होता है उसे] दग्ध [जंगल] को ही जला डालता है।'

[३] 'विनानिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यतः।'

—'जिस कार्य को करने के लिए कोई उद्यत हो उसकी सिद्धि यदि विना अनिष्ट के हो जाए तो वह भी सन होता है।' इस भेद को दीक्षितजी ने अनर्थप्राप्ति नामक विषमभेद का प्रतिइन्द्रो माना है।

उदाहरण—हाथी के याचक को राजदरबार से अर्धचन्द्र मिलने पर कथित—

'युक्तो वारणलामोऽयं जातस्ते वारणाग्निः।'

—तुम तो वारण [हाथी] चाह ही रहे थे अतः तुम्हें यह वारण [विवारण] का लाभ ठीक ही हुआ।'

पण्डितराज—केवल अनुरूप वस्तुयोजना के विपर्यय को ही समालंकार मानने तथा अन्यविषम-भेदों के विपर्यय को अलंकार न मानने के सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त और विमर्शिनोकार द्वारा किए गए उसके समर्थन का जो खण्डन रत्नाकरकार ने किया था वह दीक्षितजी के ही समान पण्डितराज को भी उचित लगा। पण्डितराज ने समालंकार का 'अनुरूपसंसर्गः समश्च' इस प्रकार सम को अनुरूपसंसर्गात्मक मान अनुरूपसंसर्गात्मक विषम से सर्वथा उल्टा बतलाया और सम का भी विषम के ही समान तीन प्रकार का मान सर्वस्व और विमर्शिनो का स्वयं भी खण्डन किया। इसी प्रकार विषम के सभी भेदों के विपरीत आनुरूप्य के चारस्व से निपन्न इस अलंकार के एक-एक कर के उदाहरण भी दिये। पण्डितराज ने सर्वस्व और विमर्शिनो को जित रूप में उपस्थित किया है उसे सर्वस्व और विमर्शिनो की टीका ही कहा जा सकता है।

विरवेश्वर ने भी

'अन्योन्यसंगमाहौं संवध्येते यदा समं तत् त्वया।'

इस प्रकार शोभन या अशोभन पदार्थों को परस्पर सम्बन्ध की अनुरूपता को समालंकार का कारण मानकर कार्यकारण के आनुरूप्य में समालंकार स्वीकार कर लिया है। उसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

'गुणो पयोर्धनिभकारणस्य न हानिवृद्धी कथमेतु चन्द्रः'।

—‘अपने कारण समुद्र के गुण द्वाविबुद्धि को चन्द्रमा कैसे ज प्राप्त करे’।

विश्वेश्वर ने पण्डितराज द्वारा सर्वस्व के खण्डन का कोई उत्तर नहीं दिया है। अन. सर्वस्व का मन उन्हें भी अस्वीकार ही है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने समालंकार का सारसंक्षेप समीचीनी में इस प्रकार किया है—

‘सरूपयो. सद्गुणना समालङ्कार इत्यन्ते।

रत्नाव्याश्लाघ्यत्वयोगेन द्वौ भेदावस्य सम्मनी ॥’

[सर्वस्व]

विरोधमूलं विचित्रं लक्षयति—

[सूत्र ४८] स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।

यस्य हेतोर्यम्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफल-
निष्पत्त्यर्थं कस्यचित् प्रयत्न उत्साहो विचित्रालंकारः, आश्चर्यप्रतीति-
हेतुत्वात् । न चायं प्रथमो विपमालंकारप्रकारः । स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्य-
प्रतीतेः । विपरीतप्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषयः । यथा—‘तमाल-
नीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकामरणं प्रसूते’ । इह स्वभ्यथा
प्रतीतिः । यथा—

‘घिंतुं मुष्यद् अहरो अणमंतो यलद् पेकिपउं विट्डी ।

घडिंतुं विह्वलंति भुआ रभाअ सुरअदिमि धीसामो ॥’

अत्र मोक्षनवलनघिघटनविधमाणां यथारुमं प्रह्वणप्रेक्षणघटनरमणानि
विपरीतफलानि प्रयत्नविषयत्वेन निघट्टानि । यथा वा—

‘उन्नत्यै नमति प्रसुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति

स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया ।

प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे किलशनाति भोगेच्छया

सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः ॥’

अत्र विपरीतफलनिष्पादनप्रयत्नः सुष्ठानः ।

विरोधमूलक [एक] विचित्र [नामक सर्वथा स्वोपश, पूर्वाकार्यो द्वारा अप्रतिपाशिन अलंकार]
का लक्षण बनाते हैं—

[सू० ४८] ‘अपने विह्वल फलकी निष्पत्ति के लिए प्रयत्न विचित्र [कहलाता है] ॥’

जिस हेतु का जो फल होना है उमझ जब समझे विपरीत फल होता है तब उसके विपरीत
फल की निष्पत्ति के लिए किसी का प्रयत्न अर्थात् उत्साह विचित्रालंकार कहलाता है, इसलिये कि
यह आश्चर्य का प्रतीति का कारण बनता है। यह विपमालंकार का ही प्रथम प्रकार है ऐसा नहीं
क्योंकि यहाँ वैपरीत्य की प्रतीति अपने निषेध के माध्यम से होती है, जब कि प्रथम में वैपरीत्य
की प्रतीति के माध्यम से अपना निषेध प्रतीत होता है। यथा ‘तमारनील कृपाग शरदिन्दुपाण्डु
यश को त्रिलोक का आमरण है, पैदा करता है’ इत्यादि में। यहाँ प्रतीति उलटी होती है। यथा—

‘प्रदीतु मुच्यतेऽहरोऽन्यतो वलति प्रेक्षितु इष्टि ।

घटितुं विपटेते मुञ्जौ रताय सुरतेषु विषयः ॥

‘अधर छोड़ा जाता है ग्रहण करने के लिए, दृष्टि अन्यत्र घूमती है देखने के लिए, मुजाएँ छूटती हैं जुड़ने के लिये, सुरत में विश्राम होता है रमण के लिए ।’

वहाँ छोड़ा जाना, घूमना, छूटना और विश्राम के प्रति ग्रहण, देखना, जुड़ना तथा रमण विपरीत फल हैं जो प्रयत्न के विषय के रूप में यहाँ निबद्ध हैं ।

दूसरा उदाहरण यथा—

—‘उन्नति के लिए प्रभु के समक्ष शुकता है, प्रभु के घर देखने के लिए बाहर बैठता है, जड़पी आगामी धन की आशा से अपने धन का व्यय कर डालता है, जोषित रहने के ही लिये रण में प्राण छोड़ देता है, भोग की इच्छा से नलेश उठाता है । इस प्रकार तृष्णा से अन्धी आँख का सेवक [जो कुछ चाहता है] सब कुछ उसके विपरीत ही करता रहता है ।’

यहाँ विपरीत फल की निष्पत्ति का प्रयत्न सुखपूर्वक जाना जा सकता है ।

विमर्शिनी

स्वविपरीतेत्यादि । एतदेव श्याचष्टे—यस्येत्यादिना । यदिति प्रसिद्धम् । फलमिति का 'म्' । तस्येति हेतोः । तदिति कार्यम् । प्रयत्नस्य कार्यादिभेदेऽपि न वैचिन्त्यमिति तद्विद् नोक्तम् । एवं यस्य यत्कार्यं तस्य तावत्विपरीतं न भवति । यदि च तत्त्वं श्याचस्त्रिपर्ययं च यदि कस्यचित्प्रयत्नः श्याचत्तदायमलंकार इत्यत्र तात्पर्यम् । ननु चैतद्विरूपकार्योत्पत्तेः किं न विषयमेव भवतीत्याशङ्क्याह—न चायमित्यादि । तस्येति विषयस्य । नीलयापि पाण्डु यथाः प्रसूतमिति विपरीतप्रतीतिवलादेतन्नोपपद्यत इति ह्यत्र प्रतीतिः । अन्ययेति निषेध-बलाद् वैपरीत्यप्रयान इति । यद्यपि विषये विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह च तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयोः स्फुटो भेदस्तथापि ग्रन्थकृता विशेषपरिपोषायैव सूत्रमैकिकागम्यो भेदोऽयमुक्तः । माञ्चनस्याग्रहणं स्वं फलम् । ग्रहणं पुनः कथं भवतीत्या-सुखं पूर्वोद्दिक्त्वान्नात्र निषेधप्रतीतिः । जनन्तरं च तन्निमित्ता वैपरीत्यप्रतीतिः । अत एव विषयमावस्य भेदः । दृशान इति । पूर्वोक्तयुक्त्यैवावगतःवात् पुनरुदाहरणमस्य लक्षणे प्राञ्चुर्य-दर्शनार्थम् । एतद्विद्वि ग्रन्थकृतैवाभिनवस्येनोक्तम् ।

स्वविपरीतेत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—यस्य इत्यादि के द्वारा । यत् = जो = प्रसिद्ध । फलम् = कार्य । तस्य = हेतुका । तत् = वह कार्य । [जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने बतलाया है—प्रयत्न कार्य आदि के भेदों से कई प्रकार का [अर्थात् कायिक, वाचिक, मानस] होता है किन्तु उसकी गणना में कोई विशेषता [चमत्कृति] नहीं रहती अतः [यहाँ] उसे नहीं कहा गया । इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि जो जिसका [उद्देश्यभूत] कार्य होता है वह सामान्यतः तो उसके विपरीत नहीं होता, तथापि यदि विपरीत हो और यदि उसके लिये कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है तब यह अलंकार होता है । अच्छा, इसे विरूपकार्यसिद्धित्वरूप विषय ही क्यों न मान लिया जाय ? ऐसी शंका उठाकर लिखते हैं न चायम् इत्यादि । तस्य उसका = विषय का । ‘नीलो तलवार ने भी सफेद शय को जन्म दिया’ ऐसी वैपरीत्य की प्रतीति से यह प्रतीति होती है यहाँ कि ‘यह ठीक नहीं है’ । अन्यथा = निषेध के आधार पर वैपरीत्य के लिए प्रयत्न होता है । यद्यपि विषय में विरूप कार्य की उत्पत्ति बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती है और यहाँ होता है उसके लिए प्रयत्न, इस प्रकार इन दोनों का अन्तर स्पष्ट ही है तथापि ग्रन्थकार ने इसी अन्तर की पुष्टि के लिए यह अन्तर बतलाया है । यह सूक्ष्म दृष्टि से समझा जा सकता है । छोड़ने का अपना फल है ग्रहण न करना । ग्रहण करना उसका फल कैसे हो सकता है इस प्रकार यहाँ आरम्भ में निषेध की प्रतीति साफ-साफ हो जाती है । उससे होने वाले वैपरीत्य की प्रतीति उसके

वाद होनी है। इसलिये यह विषम से मित्र है। सुज्ञानः = सुखपूर्वक समझा जा सकता है, अर्थ यह कि इन विचित्रालङ्कार का अस्तित्व प्रथम उदाहरण में ही स्पष्ट हो जाना है। तब यह जो दूसरा उदाहरण दिया गया है यह केवल लक्ष्य [कान्वेशेन] में इसकी प्रसुरता दिखलाने के लिए। इस अलङ्कार को ग्रन्थकार ने ही पहले पहल नवीन अलङ्कार के रूप में प्रस्तुत किया है।

विमर्दा—मामह, दण्डी वामन, छन्द, रूद्रट और मम्मट में यह अलङ्कार नहीं मिलता। विमर्दिनीकार का कहना यथार्थ है कि इन अलङ्कार की उदा सर्वस्वकार ने ही की है। परवर्ती आलङ्कारिकों में—

शोभाकर—ने अलङ्काररत्नाकर में इस अलङ्कार को मान तो लिया है किन्तु इसका लक्षण अधिक व्यापक बना दिया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

‘विफल. प्रयत्नो विचित्रम् । —विफल प्रयत्न विचित्र ।’

प्रयत्न के उन्होंने तीन भेद किए हैं [१] काविक, [२] वाचिक तथा [३] मानसिक। इन तीनों प्रयत्नों को उन्होंने पुनः प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप, इस प्रकार दो प्रकार का माना है। इस प्रकार रत्नाकरकार के अनुसार प्रयत्न ६ प्रकार का हुआ। विमर्दिनीकार ने इसी को ओर कटाक्ष किया है और इनकी अलङ्कारमूर्त्तव में अप्राप्त गणना का समर्थन किया है।

रत्नाकरकार ने विफलता को भी अनेक भेद तथा उपभेदों में बाँटा है [१] प्रथम विफलता वह है जिसमें प्रसिद्ध फल के विपरीत फल के लिए प्रयत्न हो। [२] द्वितीय विफलता वह है जिसमें प्रयत्न तो बहुत बड़ा हो परन्तु फल तुच्छ हो अथवा इसके विपरीत स्थिति हो [३] तीसरी विफलता वह है जिसमें प्राप्त फल असाध्य, असमय या अनुपयोगी हो। इन प्रकार ६ प्रकार के प्रयत्नों में से प्रत्येक प्रयत्न में इन छहों विफलताओं का गुणन करने से विचित्र के कुछ ३६ भेद हो जाते हैं। रत्नाकरकार ने निम्नलिखित कारिका द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

‘अथो विवद्विषमद्विरनेकभेदः कार्याशितो भवति यद्यपि किन्त्यमुष्मिन् ।

औचित्यवत्फलवियोगवपुरतथापि सामान्यलक्षणमलङ्कितभेदमाणि ॥’

—‘कार्य की दृष्टि से अर्थ विरुद्ध और विषम आदि अनेक प्रकार का होता है तथापि इन अलङ्कार में ‘अचित फल का अभाव’ यह सामान्य लक्षण प्रत्येक में अलङ्कित ही रहता है।’

उक्त भेदों में से कतिपय भेदों के उदाहरण भी रत्नाकरकार ने दिए हैं किन्तु उनमें से अधिकांश अन्य अलङ्कारों में अन्तर्भूत सिद्ध होने हैं।

अष्टमदशदीक्षित ने भी विचित्रालङ्कार की स्पष्टता सत्ता स्वीकार की है। उनका लक्षण इन प्रकार है—

‘विचित्र मत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतफलेच्छया ।’

—‘फल के लाम के लिए विपरीत प्रयत्न विचित्र ।’

उदाहरण—‘नमन्ति सन्तःत्रैलोक्यादपि लब्धु समुन्नतिम् ।’

—‘सत्पुरुष त्रैलोक्य से उँचा होने के लिए नवते हैं ।’

पण्डितराज अण्नाथ ने भी विचित्र को स्वतन्त्र अलङ्कार माना है और इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

‘इष्टमिद्वयर्थमिष्टैषिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरण विचित्रम् ।’

—‘इष्टसिद्धि के लिए इष्टवस्तु को ही वाह रहे व्यक्तिके द्वारा किया जा रहा इष्टवस्तु के विपरीत अर्थात् प्रतिकूल आचरण विचित्र कहलाता है ।’ विषम से इसका भेद पण्डितराज ने एक ही विन्दु

पर किया है। वह है पुरुषप्रयत्न। विषय में वैषम्य प्राकृतिक होता है पुरुषप्रयत्नकृत नहीं। विषय में कार्य और कारण के गुणों में विपरीतता ही चमत्कारजनक होती है। रक्षाकरकार द्वारा प्रस्तुत प्रपंच को पण्डितराज ने छोड़ दिया है।

विश्वेश्वर ने विचित्र को स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना यद्यपि विषय के विवेचन में उन्होंने इसका अन्तर्भाव भी नहीं दिखाया।

श्रीविष्णुचक्रवर्ती की कारिका इसपर इस प्रकार है—

‘प्रयत्नस्तु विचित्रं स्याद् विपरीतफलाप्तये ।
निषेधतो वैपरीत्याद् विषमालङ्कृतेभिदा ॥’

[सर्वस्व]

[सू० ४९] आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम् ।

विरोधप्रस्तावादिह निर्देशः। अनानुरूप्यस्य विरोधोऽथापकत्वात् । तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितस्य परिमितत्वाद्वा भवति आश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद्वा । क्रमेण यथा —

‘चौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रवितर्तं पातालमत्र क्वचित्
क्वाप्यत्रैव धरा धराधरजलाधारावधिर्वर्तते ।
स्फीतस्फीतमहो नभः कियदिदं यस्येत्थमेवंविधै-
र्दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्वं गतम् ॥’
‘दोर्दण्डाञ्जितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोचत-
ष्टंकारध्वनिरार्यघालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोद्-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥’

पूर्वत्र नभस आश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितानां द्युप्रभृतीनां पारिमित्यं चारुत्वहेतुः। उत्तरत्र तु टंकारध्वनेराश्रितस्य महत्त्वेऽपि ब्रह्माण्डस्याश्रयस्य स्तोक्तत्वम् ।

[सू० ४९] आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता अधिक [नामक अलंकार कहलाता है] ।

विरोध के कारण इसे यहाँ बनलावा जा रहा है, क्योंकि अननुरूपता [अनुरूपता का अभाव] विरोध खड़ा करती है। यह अननुरूपता आश्रय के विशाल होने पर भी आश्रित के परिमित होने से भी होती है और आश्रित के विशाल होने पर भी आश्रय के परिमित होने पर भी। कम से उदाहरण—[आश्रयविपुलता तथा आश्रिततुच्छता पर आश्रित अधिक]—

‘इसी में कहीं स्वर्ग आश्रित है, कहीं इसी में पर्याप्त विस्तृत पाताल भी है, और इसी में कहीं पर्वत-समुद्रों तक व्यापक भूमि भी टिकी हुई है। इस प्रकार देखो तो कितना स्फीत और स्फीततर है यह आकाश, जिसके इस प्रकार के इन [स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी जैसे पदार्थों] के द्वारा भी मर जाने की बात तो दूर रहे, जिसका ‘शून्य’ यह नाम भी समाप्त नहीं हो सका !’

[आश्रयतुच्छता तथा आश्रितविपुलता पर आश्रित अधिक]—

'भुजदण्ड द्वारा खींचे शिवधनुष के टूटने से उठी टंकार, जो बड़े भारे [राम] के बालचरित [रूपी नाटक] की प्रस्तावना [आरम्भ] की सूचक नान्दी [नगाडा] है तथा जिसकी पुजीभूत प्रवण्डता, तत्काल कपालसन्धि के शिथिल हो जाने से बगमगाते ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड [घट] में घूम रही है, अहो ! अभी तक ज्ञान नहीं हो रही ।'

प्रथम [पद्य] में आकाशरूपी आश्रय के विशाल होने पर भी स्वर्ग आदि आश्रित की परिमितता आश्रय का हेतु है और दूसरे में टंकारध्वनिरूपी आश्रित के विपुल होने पर भी ब्रह्माण्डरूपी आश्रय की परिमितता ।

विमर्शिनी

आश्रयैत्यादिना । इहेति विधिप्रान्तरम् । मन्वननुरूपयोः सघटने विपममुक्तमित्याश्रयाश्रयिणोस्तस्यै कथमलंकारान्तरमुच्यत इत्याशङ्क्यागीकारेणेतद्वाच्ये-तच्चेत्यादिना । आश्रयस्त्विति, आश्रयस्य । आश्रितस्त्विति, आश्रयस्य । अनेनैव चास्य भेदद्वयमप्युक्तम् । एवं च परिमितःवापरिमितःश्रयोः सापेक्षत्वात्साधिविधवस्तुद्वयसंघटनयैव तद्वगमनसिद्धिरित्यत्राधाराश्रययोः सघटनेनैवाननुरूपत्वमवगम्यते । विपमे चानन्यापेक्षानेन स्वतः प्रवामनुरूपयोः संघटनमित्यनयोर्महान् भेद इत्यत्र पिण्डार्थः । इत्यम्—

'आधाराश्रययोर्वन्न संसर्गः स्याद् विरूपयोः ।

स स्फुटो विपमो वाप्यमधिक नाधिकं ततः ॥'

इति न वाप्यम् । तच्छाश्रयाश्रयिणोः कविप्रतिभाकल्पितमेव प्राज्ञम् न पुनर्वास्तवम् । तेन चाश्वाप्रतीतेः । तेन नभसो घुमन्तीनां चान्योन्यापेक्षया वैपुष्यं पारिमिर्यं च वास्तवमेवैवमनुदाहरणमेतत् । तदुदाहरणान्तरमन्येष्यम् । तत्तु यथा—

'रत्नरत्नभगुनिभमुज्ज्वलन्नि तणुई समुद्रगहिरग्नि ।

मेदभ्रवच्छतः तुञ्ज हिमप् कंहं णु ठई ॥'

अत्र हृदयस्य महत्त्वं तन्म्याश्च तनुत्वमित्याधाराश्रययोरनानुरूप्यम् ।

आश्रयैत्यादि । इह = यहाँ अर्थात् विचित्रालंकार के पश्चात् । 'अनुरूप के मिलन में विपम अलंकार माना ही है अतः जब आश्रय और आश्रयी अनुरूप हैं तो इसे अलग अलंकार क्यों बतलाया जा रहा है?'—इस आशंका को हृदय में रखकर हम सूत्र की व्याख्या करते हैं— तच्छ इत्यादि द्वारा । आश्रय = आधार । आश्रित = आश्रय । इसी के द्वारा इस अलंकार के दो भेद भी बतला दिए । इस प्रकार परिमितत्व और अपरिमितत्व परस्पर सापेक्ष होते हैं, अतः इनसे युक्त दो वस्तुओं के समागम से ही इनकी परिमितता और अपरिमितता तथा उदाश्रित अनुरूपता का बोध समभव होता है । इस प्रकार यहाँ अनुरूपता का बोध आधार और आश्रय के योग पर निर्भर रहता है । विपम में अनुरूपता दूसरे पर निर्भर नहीं रहती, वहाँ अनुरूप पदार्थों का योग स्वतः ही होता है । इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है । इस प्रकार—[अलंकाररत्नाकरकार को]

'जहाँ विरूप आधार और आश्रय का संबन्ध हो वह भी एक स्पष्ट विपम है । अतः अधिक को अधिकालंकार या अतिरिक्त अलंकार नहीं मानना चाहिए ।' ऐसा नहीं कहना चाहिए ।

आधाराश्रय की वही वह [अनुरूपता] यहाँ [अलंकारत्व के लिए] प्राज्ञ है जो कविकल्पित हो, वास्तविक नहीं । वास्तविक से आश्रय की प्रतीति नहीं होती । इसलिये, आकाश

और स्वर्ग आदि की परस्पर के प्रति विपुलता और परिमितता वास्तविक है अतः इसे उदाहरण नहीं माना जाना चाहिए । अतः उसका अन्य कोई उदाहरण खोजा जाना चाहिए । वह यह है—

‘रणरपकगुणितमुग्धत्वे तन्वी समुद्रगम्भीरि ।
भेरफटवक्षसस्तव हृदये कथं नु स्यास्यति ॥’

अर्थात् ‘तुम्हारे उस हृदय में वह तन्वी कैसे बैठेगी जिसमें भरा हुआ मुग्धत्व टक्कण्डा से कई गुना हो गया है जो समुद्र के समान गंभीर है और जिसका वक्षस्थल सुवर्णगिरि-सुमेरु के तट के समान है (?) ।

यहाँ हृदय में विपुलता और तन्वी में परिमितता बतलाई जा रही है अतः आधार और आधेय में अननुरूपता है ।

अधिकालङ्कार का इतिहास—

भामह, वामन तथा उद्भट में अधिक नहीं मिलता । इसकी कल्पना पहले-पहल रुद्र ने की है । रुद्र ने इसके दो भेद बतलाए हैं—

[१] दो विरुद्ध वस्तुओं का एक ही वस्तु से जन्म । यथा ‘मेष पानी और जलती आग दोनों एक साथ बरसता रहा है ।’

[२] छोटा होने पर भी आधेय बड़े आधार से बढ़ जाना । यथा ‘उसके जगद्विशाल हृदय में वह तन्वी इतनी फौल कर रह रही है कि दूसरी किसी सुन्दरी को वहाँ अवकाश ही नहीं है ।’

उपर्युक्त दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

[१] यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धवलवरिक्याप्रसिद्धं वा ।

वस्तुद्वयनेकरमाब्जायत इति तद् भवेदधिकम् ॥ १।२१ ॥

[२] यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं ततोयोऽपि ।

अतिरिच्येत कथञ्चित् तदधिकमपरं परिशेयम् ॥ १।२८ ॥

मम्मट—मम्मट ने रुद्र के प्रथम अधिक को छोड़ केवल द्वितीय को ही अलङ्कार माना है । उसकी क्षारिका यह है—

‘महतीर्थन्महोयांसाषाश्रिताश्रययोः कमात् ।

आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥’

—‘प्रस्तुत वस्तु के प्रकर्ष की विवक्षा से, छोटे होने पर भी जहाँ आश्रय और आश्रित

[अर्थात् आधार और आधेय] अपने से बड़े अपने आश्रित और आश्रय से बड़े बतलाए जाएँ वह अधिक ।’ दोनों में से प्रथम का उदाहरण—

‘अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।

नाति मातुमशक्नोऽपि यशोराशिर्वदन्न ते ॥’

—‘अहो, तीनों भुवन का उदर बहुत बड़ा है राजन् ! इसमें आपका अमेय यशोराशि भी जो बन जाता है ।’

इसमें आधेय यश को बड़ा बतलाकर उससे छोटे त्रैलोक्यरूपी आधार को बड़ा बतलाया जा रहा है । इसमें विवक्षित है यशोराशि का प्रकर्ष । द्वितीय का उदाहरण—

‘युगान्तकालपतिसंहृत्तात्मनो जगन्ति बत्वां सविकासमास्तत ।

तनी ममुरतत्र न कैटभद्विपस्तपोधनाभ्यागमत्संवा मुदः ॥’

—‘युगान्त काल में जो अपना प्रपंच बटोर लेते हैं तो जिनके शरीर में सारे भुवन पर्याप्त फौलाड़ के साथ बस जाते हैं भगवान् कृष्ण के उसी शरीर में तपोधन नारद के आने का प्रकर्ष नहीं बन सका ।’ यहाँ वास्तविक रूप से छोटे प्रदर्य को प्रहृत बतलाने के लिए उसे उसके उससे बड़े भगवच्छरीर रूपी आधार से बड़ा बतलाया जा रहा है ।

इस प्रकार अधिक के स्थापक रुद्रट से आगे बढ़कर मम्मट तक आते-आते ही अधिक के लक्षण में अन्तर आ गया। आगे सर्वस्वकार तक पहुँचते-पहुँचते तो उसके लक्षण में पर्याप्त परिवर्तन दिखाई दे रहा है। रुद्रट और मम्मट के लक्षणों में तीन-तीन कोटियाँ भी छोटा, बड़ा और छोटा बड़े से बड़ा। सर्वस्वकार ने इन कोटियों से बच कर लक्षण योजना का सरलनम रूप निकाला। इसमें दो ही कोटियाँ आती हैं। एक तो आधार और आधेय की वास्तविकता की कोटि और दूसरी उसके विपरीत उनके कार्पणिक आकार की कोटि। इसमें वास्तविकता के ये दो अंश एक ही सूत्र में आ समाते हैं—एक आधारयन परिमितता या अपरिमितता का और दूसरा आधेयगत अपरिमितता या परिमितता का। इस प्रकार परिष्कार लक्षणमात्र में ठहरता है। अर्थयोजना ज्यों की त्यों रहनी है। किन्तु रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रथम भेद अमान्य सर्वस्वकार को भी है।

परबसों आचार्यों में—

शोभाकर—अधिक को विषय का ही भेद बनलाने हैं और उसे एक अतिरिक्त अलंकार नहीं मानते। विमर्शनीकार उनका सण्डन करते हैं।

अण्पदप्रदीक्षित—ने मम्मट द्वारा प्रस्तुत अधिकालंकार दो स्थितियों को दो दो पृथक् अनुष्ठानों में इस प्रकार विभक्त कर दिया है—

[१] 'अधिक पृथुलाधारादाधेयाधिस्ववर्णनम्।

महाण्डानि जले यत्र तत्र मानि न ते गुणा ॥'

[२] 'पृथ्वाधेयाद् यदाधाराधिक्य तदपि तन्मतम्।

कियद् वाग्मस्य यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणास्तव ॥'

अण्पदप्रदीक्षित ने प्रथम के लिए मम्मट द्वारा उदाहृत माघ का ही 'युगात्काल' पद्य भी दे दिया है और द्वितीय के लिए 'अहो विशाल०' पद्य भी। लक्षण निर्माण में अण्पदप्रदीक्षित ने भी क्रम सर्वस्वकार का ही अपनाया है।

पण्डितराज—नगनाथ भी सर्वस्व और कुवलवानन्द की ही पद्धति पर अधिक का लक्षण बनाते हैं किन्तु उसमें वह प्रयोजनाद्य भी समाविष्ट कर देते हैं जो मम्मट ने शृष्टि में स्पष्ट किया था—'प्रस्तुतार्थ के प्ररुर्ष की निवृत्ता'। उनका लक्षण यह है—

'आधाराधेयोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलभिनरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम्।'

'आधार और आधेय में से किसी एक की अतिविस्तृता बतलाने के लिए अन्य में अतिन्यूनता की कल्पना अधिक।' कल्पनाशुद्ध देकर पण्डितराज ने वास्तविक अन्तर को अफास्य और अधिक के लिए अनुदाहार्य कहा है। इस प्रकार वे 'चौरश.' पद्य को कथिकल्पना के अभाव में अधिक के लिए ठीक उसी प्रकार अनुदाहार्य मानते हैं जिस प्रकार विमर्शनीकार। त्रिशवेश्वर पण्डित इसका ठीक उसी पद्धति पर प्रतिवाद करते हैं जिस पर उन्होंने 'अरण्यानां क्वेयम्' पद्य में सर्वस्व के सण्डन का प्रतीकार किया है। वे यहाँ भी पद्यार्थ के रूप में नम्र के मध्य स्वर्णादि की कल्पना कविप्रतिभा का ही विषय मानने हैं। हम प्रचार वे यहाँ भी चमत्कार स्वीकार करते और अधिकालंकार के लिए हमें उपयुक्त मानते हैं। सब यह है कि स्वतः समीचीन अर्थ को कान्य मानना यदि आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज तक के आचार्यों को यदि अनुचित नहीं लगता तो उन्हें, ऐसे पद्यों में अलंकारत्व और उदाश्रित काव्यत्व मानने में कोई अनौचित्य नहीं देखना चाहिए।

विदेवेश्वर का अधिक लक्षण इस प्रकार का है—

‘आधारस्याधेयत्वाधेयस्थापि वाधारात् ।
यदि वर्ण्यते महत्त्वं तत् कथ्यन्त्यधिकमधिकज्ञाः ॥’

श्रीविद्याचक्रवर्ती की कारिका इस पर निम्नलिखित है—

‘अनानुरूप्यमधिकमाश्रयाश्रयिणोर्गतम् ।
आश्रयाश्रयिवैपुल्यवशतो द्विप्रभेदकम् ॥’

[सर्वस्व]

[सू० ५०] परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।

इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम्, परस्परजननस्य विरुद्ध-
स्थात् । क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं, न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य
तथाव्योक्तिविरोधात् तत्रान्योन्याख्योऽलङ्कारः । यथा—

‘कण्ठस्य तस्याः स्तनयन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद् यभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥’

अत्र शोभाक्रियामुल्लेखं परस्परजननम् ।

[सू० ५०] परस्पर में क्रिया की उत्पत्ति हो तो अन्योन्य ।

एहाँ भी विरोध का प्रसङ्ग ही निर्देश का कारण है क्योंकि परस्पर की उत्पत्ति विरोधपूर्ण
होती है । परस्पर की उत्पादकता जहाँ क्रिया के द्वारा होती है, न कि स्वरूप के द्वारा, क्योंकि
स्वरूप की वैसी अति [अपरिहार्य रूप से] विरुद्ध होती है, वहाँ अन्योन्यालङ्कार होता है । यथा—

‘उत्त [पार्वती] का स्तनों से बन्दुर [उदार-चढ़ाव युक्त] कण्ठ तथा निस्तल [गोल] मुक्ता-
हार ये दोनों, दोनों के भूषण [धे] और दोनों दोनों के भूष्य, क्योंकि शोभा दोनों की ही बढ़
रही थी दोनों से ।’ [कुमारसं० १४२] वहाँ शोभाकरी क्रिया के द्वारा परस्परजनकता है ॥’

विमर्शः—इस अलङ्कार के सूत्र और धृति की भावयोजना कुछ ऐसी है जिससे प्रतीत होता है
कि दोनों दो भिन्न रचयिताओं द्वारा रचे गए हैं ।

विमर्शिनी

परस्परमित्यादि । ननु यदि परस्परजननस्य विरुद्धत्वं तत्कथमस्यालङ्कारस्वमित्याश-
ङ्क्याह—क्रियेत्यादि । क्रियाशब्देनात्र धर्मो लक्ष्यते । अन्यथा—

‘प्रकाशः कोऽपि कैलासशैलपूर्णैन्दुविन्मयोः ।
उदियाय तद्द्वान्योन्यपटुत्वजननकमात् ॥’

इत्यादौ गुणात्मकपटुत्वमुखेन परस्परजननेऽप्यन्यासिः स्थाव । परस्परोत्पादकत्वमिति ।
परस्परनिष्पादकत्वमित्यर्थः । एवं चानेन जननस्य क्रियासामान्यात्मककारणार्थत्वं
दृशितम् । तेन—

‘प्रियतमहृदयं विवेच्य तन्वी परयुवतिप्रसरापसारणाय ।
अतिसुभयतया हरन्तु मान्या इति च निजे हृदये न्यवेशयत् तम् ॥’

इत्यत्र परस्परं हृदयानुप्रवेशस्ताम्यां कृत इति प्रतीतिः पर्यवसानपरस्परजननस्या-
प्यापकत्वं न वाच्यम् ।

‘विपर्ययं पूर्वकयाद्भुतस्य चालुवयमूपालशरशकार ।
पपात यत्रहृदयविराहस्तं विह्वलाः वसुधा यमार ॥’

इत्यत्र पुनरादिवराहवृत्तान्तवैलघ्न्यमात्रस्य विवक्षितवादन्योन्यालंकार एव ना-
स्तीति कस्याप्यापकत्वं वा स्यात् । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । तथावोक्तिविरोधादिति ।
इतरेतराश्रयदोषलक्षणात् । यदि पुनरत्र विरोधसमाधिर्भवेत्तदालंकारत्वमपि स्यादिति
भावः । यथा—

‘घनेन जायते प्रज्ञा प्रज्ञया जायते घनम् ।
प्रज्ञार्थी जीवलोकैःस्मिन्परस्परनिबन्धनम् ॥’

अत्र प्रज्ञाघनयोः स्वरूपस्य परस्पर जननम् । शोभाकियेति । सैव अत्र परस्पर-
निमित्तम् ।

[शका] यदि परस्पर की उत्पादकता समव नहीं है [वह तो व्याघात है] तो इसे अलंकार
क्यों माना जा रहा है, ऐसी आशंका कर उठर देने है क्रिया इत्यादि । क्रिया शब्द का अर्थ यहाँ
बन मानना चाहिए । नहीं तो—

‘इस समय बैलासपर्यंत तथा घग्निम्ब का कोई अलौकिक प्रकाश प्रकट हुआ क्योंकि ये दोनों
एक दूसरे में अधिक चमक ला रहे थे ।’

इत्यादि में घमक [पट्टार] गुणारमक है उसने द्वारा परस्पर की उत्पत्ति में अन्योन्य का लक्षण
न आया । परस्परोरपाङ्कशब्द अर्थात् परस्पर की निष्पादकता । इस प्रकार यहाँ जनन
[शब्द] का अर्थ क्रियामानान्वय रूप कारण दिखलाया गया । इस कारण—

‘तन्वी मियनम के हृदय में प्रविष्ट हो गई, हमछिप कि उसमें अन्य युवतियों को जगह न मिले ।
इसी प्रकार अरयल सुन्दर होने से अन्य कोई [सुन्दरी] उठे हर न लें इसछिप उठे भी [उस
तन्वी ने] अपने हृदय में निविष्ट कर लिया ।’ यहाँ प्रतीति ‘उन दोनों ने परस्पर के हृदय में प्रवेश
किया’ इस रूप में परिणत होती है, अतः यहाँ परस्परजनन की अभ्याप्ति है ऐसा [अलंकार-
रत्नाकरकार की] नहीं कहना चाहिए ।

‘आहवमश्छदेव के वाण ने [वराह की वराहावतार में प्राप्त समुद्र से पृथिवी को धारण कर
निकलने की] पूर्व कथा के आश्चर्य को उलट दिया, क्योंकि जब वराह धरराकर गिरा तो विह्वल
अग के उठी [वराह] को पृथिवी ने धारण किया ।’ [विक्रमांकदेवचरित २६।३७]

यहाँ केवल आदिवराह के वृत्तान्त से (मृगयाकाल में शरविद्ध और भूपतित वराह के वृत्तान्त की)
भिन्नतामात्र की विवक्षा है, अतः यहाँ [रत्नाकरकार द्वारा स्वीकार अन्योन्यालंकार ही नहीं है, तब
अभ्यापक कौन होगा ? इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जानना चाहिए । तथावोक्तिविरोध =
क्योंकि यह विरोध अन्योन्याययदोष होगा [अन्योन्यालंकाररूप नहीं] भाव यह कि यदि यहाँ विरोध
का समाधान हो जाना तो कदाचित् यहाँ अलंकारता संभव होती । यथा—

‘घन से प्रज्ञा उत्पन्न होती है और प्रज्ञा से घन । प्रज्ञा और घन इस जीवलोक में परस्पराश्रित
हैं ।’ यहाँ प्रज्ञा और घन इन दोनों के स्वरूप एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं । [किन्तु यहाँ] विरोध
का समाधान देश और काल के भेद से हो जाना है [अतः यहाँ अलंकारत्व मान्य है] शोभाकिया=
यहाँ जो है वही परस्पर में निमित्त है ।

विमर्शः—इतिहास—

अन्योन्य की कल्पना प्रथमतः रुद्रट ने ही की है। उनके पूर्ववर्ती मागह, वागन तथा उद्गत में यह अलंकार नहीं मिलता। रुद्रट ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

‘यत्र परस्परमेकं कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया ।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषरतदन्योन्यम् ॥ ७१९१ ॥

—‘जहाँ दो पदार्थों में परस्पर के प्रतिक्रिया द्वारा एक ही कारकभाव हो और उससे तत्त्व-विशेष व्यक्त होता हो तो उसे अन्योन्य कहते हैं।’ उदाहरण—

‘रूपं यौवचलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसंपदस्तस्याः ।
अन्योन्यमलङ्करणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्याः ॥ ७१९२ ॥

—‘उस शरदिन्दुसुन्दरी का रूप [आकृति] यौवनश्री का और उसकी यौवनश्री रूप का अलंकार प्रतीत होता है।’

मम्मट—मम्मट में रुद्रट का ही असफल अनुकरण है—

‘क्रियया ॥ परस्परम्, वस्तुनोर्भेदोऽन्योन्यम् ॥’

‘दो वस्तुओं का क्रिया के द्वारा परस्पर की उत्पत्ति अन्योन्य।’ उदाहरण—

‘हंसानां, संरोभिः शोः सार्थेत्य हंसैः सरसान् ।’ [प्राकृतच्छाया]।

—‘हंसों की शोभा तालाव बढ़ाते हैं और तालावों की हंस।’

सर्वत्व के सूत्र तथा उसकी वृत्ति की योजना से लगता है कि ये दोनों दो भिन्न रचयिता के हैं। वृत्ति में रुद्रट तथा मम्मट का सिद्धान्त प्रतिपादित मिलता है अब कि सूत्र की पदार्थ योजना उससे भिन्न अर्थ का संकेत देती है। सूत्र में ‘क्रियाजनन’—पद का समास पृष्ठीतत्पुरुष माना जा सकता है। तदनुसार सीधा अर्थ निकलता है ‘परस्पर में क्रिया की उत्पत्ति’, और सभी आचार्यों को यही अर्थ विवक्षित है। वे कहते भले ही ‘क्रिया के द्वारा परस्पर की उत्पत्ति’ यह हो। रूप और यौवन, हंस और तालाव तथा मार्वतीकण्ठ एवं निस्तल मुक्ताहार परस्पर में एक दूसरे की शोभा ही उत्पन्न करते हैं, एक दूसरे के स्वरूप को नहीं। वृत्ति में जो ‘परस्परोत्पादकत्व’ शब्द है उसमें पाठान्तर ‘परस्परोपपादकत्व’ भी मिलता है। इससे लगता है कि प्राचीन पाठकों को भी यह वैषम्य खटका था। विमर्शिनीकार ने सूत्र और वृत्ति के इस निगूढ वैषम्य पर ध्यान नहीं दिया। वे भी मम्मट मत के समर्थक जो हैं। परवर्ती रत्नाकरकार—

शोभाकर—ने इस वैषम्य में सूत्रकार का ही साथ दिया है। यह तथ्य उनके निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है—

[सू०] ‘रूपधर्मयोः परस्परनिबन्धनत्वमन्योन्यम् ॥’

—‘रूप और धर्म की परस्पर के द्वारा निष्पत्ति अन्योन्य।’ स्पष्ट ही इसमें रूपवान् या धर्मों के प्रति कारणता न मान रूप और धर्म के प्रति ही वह मानी गई है। रत्नाकरकार ने सर्वत्व की वृत्ति के विरुद्ध स्वरूप की अन्योन्यनिष्पत्ति में भी अन्योन्यालंकार माना है और विमर्शिनीकार ने उसे स्वीकार भी किया है। स्वरूपनिष्पत्ति के लिए रत्नाकरकार ने ‘धनेन जायते प्रशान्’ इती पद्य का उदाहरण दिया है। विमर्शिनीकार ने सूत्रस्थ क्रिया को धर्म का उपलक्षण भी माना है। उसके लिए रत्नाकरकार ने अनेक स्पष्ट उदाहरण दे ‘कण्ठस्य तस्याः’ पद्य में भी शोभा को क्रियारूप न मान धर्मरूप माना था। सिद्धावस्थापत्र क्रिया भी धर्म ही होती है। धर्म और उपाधि पर्याय हैं अतः क्रिया भी धर्म ही है क्योंकि उपाधिचतुष्टयवाद में

क्रिया को भी उपाविस्वरूप मानकर शब्द का प्रयुक्तिनिमित्त माना है। रत्नाकरकार ने शोभा के लिए पर्याय रूप में बहुत ही सहृदयता पूर्ण 'परभाष'-शब्द दिया है।

अप्यदीक्षित—धर्म या धर्मों का नाम बिना लिए केवल अन्योन्य उचकार को अन्योन्या लंकार मानते हैं—

'अ-यो-न्य नाम यत्र स्यादुपकार परस्परम् ।'

उदाहरण त्रियामा शशिना माति शशी माति त्रियामया ॥'

—जहाँ परस्पर के प्रति परस्पर का उचकार हो तो उसे अन्योन्यालंकार कहते हैं। यथा—
रात्रि चन्द्रमा से दृशोभिन होर्वा है और चन्द्रमा रात्रि से ॥'

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्यदीक्षित के ही अनुसार निम्नलिखित लक्षण किया है—

'द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम् ।'

—'दो में से एक दूसरे के द्वारा एक दूसरे में विशेषना का आधान अन्योन्य ।' विशेषता को 'पण्डितराज ने 'क्रियादिरूप' कहा है—'विशेष- क्रियादिरूप ।'

विश्वेश्वर पण्डित ने भी-अप्यदीक्षित और पण्डितराज का ही पथ अपनाया और अन्योन्य का लक्षण वहाँ के अनुकरण पर इस प्रकार किया है—

'अन्योन्यं वस्तुनां परस्परोत्कर्षहेतुत्वम् ।'

—'वस्तुनों का परस्पर में उत्कर्ष हेतुत्व अन्योन्य ।' यहाँ उत्कर्षपात्र वस्तु में पूर्वार्चार्थ प्रतिपादित द्वित्व को विश्वेश्वर ने बहुत्व में बदल दिया है। वस्तुतः उपकार्य और उपकारी के ही स्पष्ट वर्गों में उत्कर्षपात्रगत बहुत्व की स्थिति में भी रहेंगे ही।

श्री विद्याचक्रवर्ती को निष्कृष्टार्थ कारिका यहाँ यह है—

'क्रियानलनमन्योन्यमन्योन्यालङ्कृतिर्मता ॥'

[सर्वस्व]

[सू० ५१] अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्तवन्तरकरणं विशेषः ।

इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तते इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्यो-
पनिबन्धः स एको विशेषः । यच्चैकं वस्तु परिमितं युगपदनेकधा घर्त-
मानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः । यच्च किंचिदारममाणस्यासंभाष्यवस्थ-
न्तरकरणं तृतीयो विशेषः । आनुरूप्यपरिहाररूपविरोधप्रस्तावादिहोक्तिः ।
क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम् ।

रमयन्ति जगन्ति गिर. कथमिव कथयो न ते चन्द्याः ॥'

'भासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठन. सा पुरः सा

पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।

दृंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा

सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥'

‘निमेषमपि यद्येकं क्षीणदोषे करिष्यसि ।

पदं चित्ते तदा शंभो किं न संपादयिष्यसि ॥’

अत्र कवीनामाधारणामभावेऽप्यावेयानां गिरामवस्थितिः अनन्यत्रभावो विषयार्थ इति विषयत्वेन तेषामाधारत्वात् । एकस्या एव योषितः प्रासादादौ अवस्थानम्, चित्तविषये पदकरणे प्रस्तुतेऽपि भाविलोकोत्तरवस्तुसंपादनं क्रमेण ज्ञेयम् ।

[सू० ५१] ‘आधाररहित आधेय, एक का अनेक रूप से दिखाई देना, अशक्य अन्य कार्य की निष्पत्ति विशेष [कहलाते हैं] ॥’

[१] यहाँ आधेय आधार के बिना नहीं रहता । इतने पर भी जो उस [आधार] के बिना आधेय का बतलाया जाना वह एक प्रकार का विशेष होता है । [२] इसी प्रकार एक वस्तु सीमित होते हुए भी जो एक साथ अनेक रूपों में विद्यमान दिखलाई जाती है वह दूसरे प्रकार का विशेष कहलाता है । इसी भाँति [३] अन्य कुछ कर रहे व्यक्ति का जो अन्य असंभाव्य कार्य कर देना दिखलाया जाता है वह तीसरे प्रकार का विशेष होता है । अतुरूपता छोड़ने रूपों विरोध को लेकर इसे यहाँ बतलाया गया । कम से उदाहरण—

[आधारहीन आधेय—]

‘स्वर्ग चले जाने पर भी जिनकी अनस्य गुणों से युक्त उक्तियाँ संपूर्ण जगत् को आनन्द देती रहती हैं वे कविजन कैसे वन्दनीय न होंगे !’

[एक की अनेकताता —]

‘इसके वियोग में आशुत मेरे लिए प्रासाद पर वह और गली-गली में वह, पीछे वह, आगे वह, पलंग पर वह और दिशा-दिशा में वह । अरे [मेरे] चित्त ! तुझे कुछ और नहीं सूझता ? सारे संसार में वह वह, वह वह, वह वह । यह कौन-सा अद्वैतवाद है !’

[अन्य असंभाव्य कार्य की निष्पत्ति—]

‘हे भगवान् शिव ! आप [मेरे] दोषभुक्त चित्त में यदि क्षणभर के लिए भी जा बसें तो आप क्या-क्या संपन्न नहीं कर देंगे ।

यहाँ [प्रथम पद्य में] आधारभूत कवियों के न रहने पर भी आधेयभूत उक्तियों की अवस्थिति, क्योंकि वे विषयरूपी आधार हैं, विषय का अर्थ है अन्यत्र न जाना [जैसे उड़ते पक्षी का आधार आकाश, क्योंकि पक्षी आकाश से अलग नहीं जा पाता] ।

[द्वितीय] में एक ही जो की प्रासाद आदि में एक साथ स्थिति, तथा [तृतीय] में चित्त में स्थान करने रूपी प्रस्तुत कार्य के साथ-साथ भावी लोकोत्तर कार्य की निष्पत्ति क्रम से जाननी चाहिए ।’

चिमांशिनी

वनाधारमित्यादि । एतदेव ध्याचष्टे—इहेत्यादिना । तत्परिहारणेति । आधारव्यतिरेकेणेत्यर्थः । परमितमिति अभ्याषकम् । व्यापकस्य हि युगपदनेकत्र स्थितिवस्तुसंभविनीति तत्र नाहंकारत्वम् । किञ्चिदिति यत्र यादृग्विचक्षितम् । न केवलमारव्यस्य वस्तुनो निष्पत्तिर्थावद्दसंभाव्यस्यापि वस्त्वन्तरस्येत्यत्र तात्पर्यार्थः । तत्र वस्त्वन्तरं चिकीर्षितं भवत्यचिकीर्षितं वा । एवं च—

‘फलान्तरस्य निष्पत्तिश्चिकीर्षाविरहेऽपि या ।

स विशेषश्चिकीर्षायां प्रसङ्गस्तु ततः पृथक् ॥’

हरयापुक्तयुक्त्या प्रसङ्गादन्यार्थः। प्रसङ्ग इति। प्रसङ्गाख्यमलङ्कारान्तरं न वाच्यम्। न हि चिकीर्षितत्वं वा कश्चिच्छिच्छ्रुतिविशेषो येनालङ्कारान्तरत्वं स्यात्। याप्रता क्षत्रा-संभाष्यस्य दग्धवन्तरस्य विच्छ्रुतिर्विवक्षिता सा चात्र स्थितेति किं चिकीर्षितत्वाच्चिकीर्षितत्वं कल्पनेन। नस्मात्—

‘अङ्गेषु मान्द्रहरिचन्दनपङ्कजैर्चा मार्यालङ्कारवलयैश्च पान्यवध्वाः।

योऽभूद्विवा पतिवियोगविषाददग्धो ज्योत्स्नाभिसारपरिकर्म ॥ नक्ष.मासीत् ॥’

इत्यत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवल पतिवियोगविषाददग्धः कृतो यावदभिसारि-कापरिकर्मापि कृतमित्यशब्दव्यवस्वन्तरकरणात्मेवायं विशेषः।

विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेकस्त्रिविधः। लक्षणस्य भिन्नत्वात्। उचितस्य तु विशि-ष्टत्वस्य भावात्प्रयोगमपि विशेषत्वम्। गिरामत्र कविस्वभावादन्यत्र भावः, दग्धोश्च लोकोत्तरवस्तुसंपादनं घास्तवमेवेति विशेषमत्रान्ये न मन्यन्ते। पूतावत्तैव पुनरस्याभावो न वाच्यः, उदाहरणान्तरेष्वस्य सम्भवात्। तानि तु यथा—

‘अङ्गानि चन्दनरसादपि घीतलाभि चन्द्रानप चर्मनि यादुरयं वशोभिः।

बालुवद्यगोत्रतिलक क्व घसरयसां से दुर्वृत्तभूपपरितापगुहः प्रतापः ॥’

अत्राहाशनामनर्हवेनाधारवाभावेऽप्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषालङ्कारत्वम्। तथा च—

‘ओरिभरमणाडलिपु पुत्ति पिअ हरि दि सिचि किं शुज्ज।

वच्छती सुहज्जोण्हामोहिं तिमिरं पि णग्गिहिसि ॥’

‘अत्र न केवलं मिय हरिष्यसि यावच्चिकीर्षाविरहेनामंभाभ्यं तिमिरमयी’ति वरस्यन्त-करणात्मा विशेषः। यथा वा—

‘माघः शिशुपालवधं विदधत् कविमद्वधं विदधे।

रामाकर. स्वविजय हरविजयं वर्णयन् स्वयुणोत् ॥’

अत्र न केवलं माघ शिशुपालवध चकार यावदसंभाष्य चिकीर्षितं कविमद्वधम-पीत्यशब्दव्यवस्वन्तरकरणात्मायं विशेषः। अत्रापमेव कविमद्वधं कर्तुं माघस्यात्र कर्तृत्वम्। एवमुत्तरत्रापि शेषम्। अतः ‘एकस्मिन्क्रियमाणे तज्जातीयस्य प्रसङ्गत’ सिद्धि-रनुपपन्नः’ इत्यनुपपन्नालङ्कारोऽपि विशेष एवान्तर्गढतीति न प्रथमवाच्यः।

अनाधारेत्यादि। हसी को व्याख्या करते हैं—इह इत्यादि के द्वारा। तत्परिहारेण = उसके बिना आधार के बिना। परिमित = अन्वयपक। जो व्यापक होता है वह अकेला भी एक साथ अनेक स्थलों में वस्तुतः रह सकता है अतः वहाँ अलङ्कारत्व नहीं होता। किञ्चित् = जहाँ जैसा अर्थ विवक्षित हो। अर्थ यह कि ‘न केवल शुरु किए कार्य की ही निष्पत्ति हो अपितु ऐसे किसी अन्य की भी निष्पत्ति हो कार जिसकी संभावना भी न की जा सकती हो। वह असंभाव्य अन्य वस्तु चिकीर्षित या अचिकीर्षित [इस प्रकार दोनों ही प्रकार की] हो सकती है, अतः [अलङ्कार-रत्नाकरकार को]

‘बिना चिकीर्षा के भी अन्य फल की जो निष्पत्ति उसमें निश्चिन्नायक अलङ्कार होता है। प्रसंग नामक अलङ्कार वहाँ होता है वहाँ चिकीर्षा रहती है।’—

इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत युक्ति द्वारा ‘प्रसङ्ग से अन्य पदार्थ की निष्पत्ति प्रसङ्ग’ [अलङ्कार-रत्नाकर सूत्र ८७] इस प्रकार प्रसङ्ग नामक एक स्वयन्व अलङ्कार नहीं बतलाना चाहिए। ऐसा सोचे ही है कि चिकीर्षितत्व और अचिकीर्षितत्वमें कोई विशिष्ट चमत्कार या चमत्कारभेद हो जिससे

अलंकार में भेद आए। जहाँ तक अन्य असंभाव्य वस्तु की निष्पत्ति की विवक्षा का सम्बन्ध है वह यहाँ [इन दोनों ही स्थितियों में] है ही। फिर चिकीर्षितत्व और अनिर्दिष्टत्व की कल्पना से क्या ? इसलिये [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रसङ्गालंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत—]

—‘अङ्ग-अङ्ग में घिसे हरिचन्दन का लेप, मृणाल के हार और बलय आदि जो भी कुछ अधिकबधू के लिए दिन में पतिवियोगजनित विपाद का दम्भ [दिखाना] या वही रात में चाँदनी में [शुक्ल] आभिसारिक मण्डन बनता रहता था।’ इस पद्य में, ‘हरिचन्दन के लेप आदि से केवल पति वियोग के विपाद का दम्भ ही नहीं हुआ, अभिसारिक मण्डन भी निष्पन्न हो गया’—इस प्रकार यह अन्य असंभावित वस्तु के निष्पादन से होने वाला विशेषालङ्कार ही है।

यहाँ विशेष तीन हैं, एक नहीं, क्योंकि तीनों के लक्षण भिन्न हैं। उचित विशिष्टत्व तीनों में है अतः नाम तीनों का विशेष ही है।

[दिवमप्यु० पद्य में] यहाँ उक्तियों का कवियों से अलग रहना [इस पद्य के निर्माता] कवि की कल्पना से प्रसूत है, किन्तु [निमेषमपि० पद्य में] शिव का लोकोत्तर वस्तु का सम्पन्न करना वास्तविक ही है अतः अन्य आचार्य इसमें विशेषालंकार नहीं मानते। किन्तु केवल इतने भर से [विशेषालंकार के] इस [तृतीय भेद] का अभाव नहीं मान बैठना चाहिए क्योंकि अन्य उदाहरणों में भी यह दिखाई देता है। वे ये हैं—

‘हे आङ्गव्यवशितिक ! [आपके] अङ्ग चन्दनरस के समान शीतल हैं और [आपका] यह बाहु यशों के द्वारा चाँदनी उगल रहा है। तब आपका बुध राजाओं को सन्ताप देने में महान् प्रताप कहाँ रहता है।’ [विक्रमांकदेवचरित ५८६]।

यहाँ अङ्ग आदि अयोग्य होने से आधार बन नहीं पाते तब भी आधेय प्रताप की स्थिति बतलाई जा रही है अतः यहाँ विशेषालंकार है। इसी प्रकार—

‘चौर्यरताकुलिते ! पुत्रि ! प्रिय हरिभ्यसीति किं व्रस्तम् ।

प्रशन्ती मुखद्योतनाभरैस्तिथिरमपि नोत्स्यसि ॥’

‘चोरी-चोरी रमण करने हेतु आकुल पुत्रि ! तू प्रिय को रँवा देगी इसी का डर नहीं है, जाते समय मुखचन्द्र की झुम्हारी से तू अँधेरे को दूर कर देगी।’

यहाँ ‘इतना ही नहीं कि तू केवल प्रिय को रँवा देगी अपि तु अँधकार को भी, जो तू करना चाहती नहीं अतः असंभाव्य है’ इस प्रकार अन्य वस्तु के निष्पादन से उत्पन्न विशेष अलंकार है। और जैसे—

‘मावकवि ने शिशुपालवधकाव्य बनाकर कविमद का वध कर डाला। [और] रत्नाकरकवि ने [हरविजयकाव्य में] शंकर की विजय का वर्णन कर अपनी विजय व्यक्त की।’

यहाँ—‘माव ने केवल शिशुपालवध ही नहीं किया कविमदका वध भी कर दिया, जो असंभाव्य किन्तु चिकीर्षित था इस प्रकार यह अन्य अज्ञान्य वस्तु के करने से हुआ विशेषालंकार है। यहाँ कविमद का वध जो सर्वथा अज्ञान्य है, करने में माव को कर्ता बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे [अन्य अलंकारों में] भी जानना चाहिए। अतः—

‘एक कार्य किया जा रहा हो तो उसीके प्रसंग में उसीके सजातीय किसी अन्य कार्य की सिद्धि अनुपगं’ यह अनुपङ्गालङ्कार भी विशेष में ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः उसे भी स्वतन्त्र अलंकार नहीं कहना चाहिए ॥

विमर्शः—इतिहास—

विशेषालंकार के उक्त तीनों भेद रूढप्रयमनया रुद्रट की ही कल्पना हैं। उनके पूर्ववर्ती मामद, वामन, उद्धट में इस पर कोई विचार नहीं मिला। रुद्रट का विशेषविवेचन इस प्रकार है—

[१] 'किंचिद्वदयाधेय यस्मिन्नभिधीयते निराधारम् ।

तादृगुपलन्यमानं विशेषोऽसौ विशेष इति ॥ ११५ ॥'

'जहाँ कोई वस्तु किसी का आधेय होने हुए भी निराधार रूप से प्राप्त होती हुई बतलाई जाय तो वह विशेष नामक अलंकार होता है।'

उदाहरण—'दिवमप्युपयानानाम्०' पद्य ।

[२] यदेकमनेकरिमन्नापारे वस्तु विद्यमानतया ।

युगपदभिधीयतेऽन्मात्रान्य' स्याद विशेष इति ॥ ११७ ॥'

—'जहाँ एक वस्तु एकमात्र अनेक आधार में रहती हुई बतलाई जाय तो यह दूसरा विशेष होता है।'

उदाहरण—'हृदये चक्षुषि वाचि च तव सेनाभिनवयौवना वसति ।

वयमत्र मिरवकाशा विरम कृन् पादपतनेन ॥'

—'वही अभिनवयौवना तुम्हारे हृदय, नेत्र और वाणी में बस रही है। हमें इनमें कहीं स्थान नहीं है। रहने भी दो। पैरों पर मिरने से क्या ?।'

[३] 'यत्रान्यत्र कुर्वाणो युगपस्त्वायान्तरं च कुर्वीत ।

कतुमद्यप्य कर्त्ता विशेषोऽसौ विशेषोऽन्य ॥ ७१९ ॥'

—'जहाँ और कुछ कर रहा व्यक्ति उसी के साथ अन्य कोंरे अद्यत्य कार्य भी कर डाले तो यह एक अन्य विशेष होता है।'

उदाहरण = 'लिखित वाग्म्याख्या मम मनसि तथा शरीरमात्मीयम् ।

स्पुटमारमनो लिखन्त्या तिलक विमले कपोलतले ॥'

—'उम बाळमृगाक्षी ने अपने कपोलतले पर तिलक लिखकर अपनी रूप हमारे चित्त में लिख दिया।'

स्पष्ट है कि रुद्रट का विशेषालंकारविषयक चारणा स्पष्ट और लक्ष्य उदाहरण की योजना भी पूर्ण समर्थ है। मम्मट ने रुद्रट के इस संपूर्ण विवेचन को क्यों का क्यों अपना लिया है। उनका विशेष विवेचन यह है—

मम्मट—'विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थिति ।

एकात्मा युगपद् वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥

अन्यत्र प्रकुर्वत कर्षमद्यत्यस्यान्यवस्तुनः ।

तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधं स्मृतम् ॥'

—'प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति, एक पदार्थ की एकमात्र अनेक स्थानों में एक रूप से अवस्थिति तथा अन्य कार्य कर रहे व्यक्ति द्वारा अन्य अद्यत्य वस्तु का उसी प्रकार निरन्तर कर देना' इस प्रकार से विशेषालंकार तीन प्रकार का माना गया है।

उदाहरण—प्रथम का रुद्रट का 'दिवमप्युपयानानाम्०' पद्य ही। द्वितीय का रुद्रट के पद्य 'हृदये चक्षुषि' की समानार्थी ही गाथा 'सा वमद तुच्छम्०' तथा तृतीय का—

'गृहिणी सचिव सखी मिथः प्रियशि'या ललिते कलाविधौ ।

करणाविमुक्षेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हतम् ॥'

—‘तुम मेरी गृहिणी थीं, सचिव थीं, सखा थीं, एकान्त में कलाओं के उल्लिखित विधान में प्रिय शिष्या थीं। कल्पाविमुख नृत्य ने तुम्हें हरण करते हुए मेरा क्या नहीं हर लिया।’

सर्वस्वकार ने मम्मट के उद्योग की दो सूक्ष्मताओं को छोड़ दिया, एक तो आधारगत प्रसिद्धि को और दूसरी एक की एकसाथ अनेकगोचरता में एकरूपता को। प्रसिद्धि की आवश्यकता विरोधपरिहार के लिए है और एकरूपता की आवश्यकता पर्यायार्थकार के निराकरण के लिए।

शोभाकरः—परवर्ती रत्नाकरकार शोभाकर ने सर्वस्वकार के लक्षण में संशोधन प्रस्तुत किया।

उन्होंने लक्षण में आप अशक्यतारूपों विशेषण को असंभाव्यता के रूप में स्थिर किया। सर्वस्व के वृत्तिकार ने असंभाव्यता का प्रयोग तो किया था किन्तु वे अशक्यता को भी दुहराते जाते थे। इस तृतीय विशेष में शोभाकर ने कुछ विस्तार और किया और उसमें विरुद्ध की निष्पत्ति को भी स्थान दिया। वनका लक्षण इस प्रकार है—

‘अनाभारमाधेयमेकमनेकगोचरं संभावितादधिकस्य

विरुद्धस्य वा सम्पत्तिस्य विशेषः ॥ ६३ ॥’

संभावित से अधिक निष्पत्ति का अर्थ अशक्य की निष्पत्ति नहीं है। प्रथम का उदाहरण रत्नाकरकार ने भी रघु का ‘दिवमभ्युपयातानाम्’—पद्य ही दिया है। इसी के लिए रत्नाकरकार ने ‘अंगानि चन्दनं’ पद्य भी प्रस्तुत किया था। द्वितीय के लिए विमर्शनीकार द्वारा उद्धृत ‘चोरिअं’ गाथा रत्नाकर से ही ली गई है। इसकी संपत्ति रत्नाकर में इस प्रकार की दी हुई है—

‘अत्र चौर्यरतेन प्रियरतेन (?) प्रियरथनार्थं ममनरूपस्य प्रयत्नस्य प्रवृत्तत्यानुनिष्पन्नतया तमोहरणरूपं कार्यान्तरमपि संभाविताद् भवतीत्युक्तम् ।’

इसके अनुसार छिपे-छिपे प्रिय से मिलकर कोई लड़की प्रिय को आकृष्ट करना चाहती है। विरुद्धकार्यनिष्पत्ति के लिए रत्नाकरकार ने प्राकृत की यह एक श्लेषपूर्ण गाथा उद्धृत की है—

‘आलिङ्गमाणीओ चित्तवत्तिआ कि पि कि पि तरिअहम् ।

ण्डु णवरं तणुभावन्ति ताङ्ग वद्दंति ओअस्स ॥’

‘आलिङ्ग्यमाना अपि चित्रवत्तिका [चित्तवृत्तिकाः] किमपि किमपि तदिवसम् ।

न केवलं तनुकायन्ते ता वर्धन्ते लोकस्य ॥’

यहाँ ‘चित्तवत्तिआ’ शब्द की संस्कृत छाया ‘चित्रवत्तिका’ और ‘चित्रवृत्तिका’ दोनों ही विवक्षित हैं। दोनों शब्दों की प्राकृत एक ही है अतः दोनों में श्लेष है। फलतः चित्रपक्ष में चित्रवत्तिका अर्थ ले लिया जाता है और लोकपक्ष में चित्रवृत्ति अर्थ। इस प्रकार ‘उत्स नायिका का चित्र लिखने से केवल चित्रवत्तिका ही क्षीण नहीं होती लोगों की चित्तवृत्ति भी बढ़ने लगती है’ इस अर्थ में श्रुय के विरुद्ध बृद्धिरूपी असंभाव्य अन्य अर्थ की निष्पत्ति बतलाई जा रही है अतः यहाँ तृतीय विशेष का द्वितीय भेद है। परवर्ती अप्ययदोषित और पण्डितराज जगन्नाथ ने इस लपभेद को नहीं माना है। उन्होंने केवल तीन प्रसिद्ध भेद ही किए हैं।

अप्ययदोषित—[.] विशेषः ख्यातमाधारं विनाव्याधेयवर्णनम् ।

उदा०—‘दिवमभ्युप० ।

{ २ } विशेषः सोऽपि यत्केन वत्त्वेनेकत्र वर्णयंते ॥

उदा०—

‘अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे ।’ अर्थात्

‘प्रासादे सा०’ पद्य का संश्लेष

{ ३ } किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः ।

उदा०—

‘त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम् ॥

आपको देखने से मैंने कहर पृथु का दर्शन पा लिया। अल्पदीक्षित ने अर्धमास्य रुद्र के स्थान पर अज्ञेय रुद्र ही रखा है। पण्डितराज दोनों को अन्नाने और विशेष का लक्षण हम प्रकार बनाने हैं—

पण्डितराज—[१] प्रसिद्धमात्रय विनाऽऽपेय वर्ण्यमानमेवो विशेषप्रकारः ।

[२] यच्चैकमापेय परिमितयत्किञ्चिदाधारणमपि
युगपदनेकवारगततथा वर्धते सौऽपरो विशेषप्रकारः ।

[३] यच्च किञ्चित्कार्यमारम्भमागम्यासंभाविता-
शुभयवस्त्वन्ननिर्वर्तनं तृतीयो विशेषप्रकारः ।

ये तीनों भेद प्रस्तुत कर पण्डितराज ने दो पक्ष भी लिखवाए हैं, एक प्राचीनों का पक्ष जो इन तीनों को एक ही विशेषालंकार के भेद मानता है और दूसरा नवीनों का पक्ष जो तीनों को स्वतन्त्र स्वीकार करता है। नवीन के अनुसार उक्त तीनों में कोई एक सामान्य धर्म नहीं है अतः ये एक नहीं कहे जा सकते। विमर्शनीकार ने भी यह पक्ष प्रस्तुत किया है और तीनों विशेषों को स्वतन्त्र माना है।

विश्वेश्वर—ने पण्डितराज तथा उनके भी पहले के विमर्शनीकार द्वारा प्रस्तुत भाषित की न्याय की कथित मान्यताओं द्वारा सामान्य मत्त की सिद्धि को दूर करना चाहा है। उनके अनुसार तीनों भेदों में 'स्थानिकपिन्यभिचारप्रतियोगिरुम्भ' एक सामान्य धर्म है। इसका भाव बनना ही है कि सामान्य स्थिति का अभाव इन तीनों ही प्रकारों में सभान है। स्वाभाविकता है आघात के बिना आपेय के न रहने में = प्रथम भेद में उसका अभाव है। इस प्रकार एक का एक रूप से एक साथ कहीं एक ही जगह रहना स्वाभाविक है। द्वितीय भेद न उसका अभाव है। तृतीय भेद में भी निष्पन्न हो रहे अनिश्चित कार्य के कारण का अभाव रहता है। इन प्रकार तीनों भेदों में किसी न किसी का अभाव [व्यभिचार] प्रतिपादित है। विश्वेश्वर ने तीनों को बड़ी ही स्पष्टता और बड़े ही श्रेष्ठ में इस प्रकार रखा है—

'स्थितिराधागमावे वृष्टिनेकेषु युगपदेकरय ।

एकऋणेन दुष्करकार्यान्तरमिदिरिति विशेषः ॥'

इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने तीन भूव भी प्रस्तुत किए हैं—

१—प्रसिद्धमाथारमन्तरेण्योपेयस्य मिदिरत्रोक्ता स एको विशेषः ।

२—यन चैकमपि वस्तु युगपदनेकव वर्तते ॥ द्वितीयः ।

३—यद्य चैककार्यारम्भयत्नेन दुष्करकार्यान्तरमपि समारम्भ्यते न तृतीयः ।

इस प्रकार विश्वेश्वर प्रथम में प्रसिद्धि और द्वितीय में योगरथ का निवेश कारिका में तो नहीं कर पाए थे किन्तु मूर्खों में वे उनकी उपेक्षा नहीं कर सकते।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्पत्त्यर्थकारिका इस पर इस प्रकार है—

'अनाधारादिभेदेन विशेषोऽपि निषा मतः १'

[सर्वस्व]

[सू० ५२] यथा माधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः ।

यं कंचिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिद् यन्निर्गादितं वस्तु तत्ततोऽन्येन केनचित्प्रतिबन्धिना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादित-
यस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः । यथा—

‘दृशा दग्धं मनसिर्जं जीवयन्ति दृशैव याः ।

विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ।’

अत्र दृष्टिक्षणेनोपायेन स्मरस्य हरेण दाहविषयत्वं निष्पादितम् । मृगनयनाभिः पुनस्तेनैवोपायेन तस्य जीवनीयत्वं क्रियते । तच्च दाह-विषयत्वस्य प्रतिपक्षभूतम् । तेन व्याघाताद्योऽयमलंकारः । सोऽपि व्यतिरेकनिमित्तत्वेनाशोक्तः । विरूपाक्षस्येति वामलोचना इति च व्यतिरेकगर्भा-येव वाच्यौ । जयिनीरिति व्यतिरेकोक्तिः । पूर्ववदिह प्रकरणे लक्षणम् ।

[सू० १२] वस्तु जिस प्रकार सिद्ध की गई हो उसका उसी प्रकार अन्य व्यक्ति द्वारा तद्विपरीत साधन ब्याबात ॥’

किसी व्यक्ति ने जिस किसी उपाय से जो कोई वस्तु निष्पन्न की हो उसका वस्तुसे भिन्न उससे विरोधी व्यक्ति के द्वारा उसी उपाय से जो विपरीत रूप में परिणत किया जाना है वह निष्पादित वस्तु की व्याहति = हनन का हेतु होने से व्याघात कहलाता है । यथा—

‘आँख से भले काम को जो आँख से ही जिला देती हैं, अतः जो विरूपाक्ष [अर्थात् विरूप अमुन्दर हीन नेत्र वाले शिव] को भी जीत लेने वाली हैं उन सुन्दर नेत्र वाली युवतियों को स्तुति करता हूँ ।’

यहाँ नेत्ररूपी उपाय से शिव ने काम को जलाने का कार्य संपन्न किया था । मृगाक्षियों द्वारा उससे विरुद्ध उसी नेत्ररूपी उपाय से उस काम को जिलाने का काम किया जा रहा है । यह जलानेरूपी कार्य का उलटा है । इसलिए यह व्याघात नामक अलंकार हुआ । वह भी यहाँ व्यतिरेक की पीठिका पर यहाँ निबद्ध हुआ है । विरूपाक्ष [विरूप नेत्र वाले] तथा वाम [सुन्दर]—लोचना ये शब्द यहाँ व्यतिरेकगर्भित ही हैं । ‘जीतने वाली’ इस प्रकार व्यतिरेक को शब्दतः भी कह दिया गया है । इस प्रकरण में इसका लक्षण पूर्ववत् ही है ।

चिमर्शिनी

यथा साधिनस्यैत्यादि । निष्पादितमिति न तु निष्पादयितुं संभाव्यमानम् । तद्धि द्वितीय-व्याघातविषयः । ततः इति निष्पादनकर्तुः । तत्प्रतिद्वन्द्वेति । निष्पादितवस्तुव्याहति-कारिणात् । तेनैवेति, अत्र भरः, अन्यथा हि वैचित्र्यातिशयो न स्यात् । अन्यथाक्रियत इति । तदुपमर्दकवस्त्रन्तरजननेत्यर्थः । अत एव नामाभ्यस्य यौगिकमिष्याह—निष्पादितेत्यादि । अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरुपनिष्यते तत्र नायमलंकारः, निष्पत्तेरेवाप्रोहाद् व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघातः । फलं चात्र व्याहतिकारिणस्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव ‘उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः’ इति न सूत्रगीयम् । एवं हि व्याघातत्वमेव न स्यात् ।

‘कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी

सुखवलमलं रफीता लषमीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।

प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरर्थं जनो

व्रजति सुतरां दर्पं राजंस्त एव तवाङ्कुशाः ॥’

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषां दर्पहेतवो न तथा तत्र, प्रयुक्त विनयकारिण इत्येवं-विधगुणविशिष्टेभ्यः पुरुषान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्रं विवक्षितम् । न तु कुलादिभिरूपा-दितोऽपि दर्पस्तत्र व्याहृत इति येन व्याघातालंकारो भवति । अथात्र दर्पकारिणोऽपि

कुलादेस्तद्विनाश इत्ययमलंकार इति चेत्, नैतत्, कुलादीनां प्रकृतिभेदेन दर्पादर्पकारि-
त्वस्य वास्तववेनालंकारत्वात् । तत्रापि कुलादिभिरतव दर्पस्य विनाश इत्यमुपगमेना-
यमलंकारः । निष्पादितवस्तुव्याहतेरभावात्तन्निबन्धनत्वेन चास्योक्तत्वात् ।

‘विष्णोणेण मभविस्सं विगिवट्टइ भिष्णकारणुप्पण्णं ।

विष्णाणकारणं छं त पुण मण को गिषट्टेइ ॥’

इत्यत्रापिमदस्य विज्ञाननदन्यहेतुकरे चम्बुसभयन्यहेतुभंदो विज्ञानेन निवार्यते तद्धे-
तुकः पुनः केनेत्यलंकारभाष्यकारोत्तरनिवृत्तिहेतुमरोहात्मनस्वाहितर्कालंकारो न स्या-
घातः विज्ञानहेतुकाया मदन्यत्तरेय शरोहात् ।

‘गाढकान्तदशनचतस्यथासकटादरिवधृजनस्य यः ।

भोष्ठत्रिदुमश्लान्यमोचयन्निदंशन्पुषि रुपा निजाऽरम् ॥’

इत्यत्र चाधरव्ययानिर्माचनारामकविपरीतफलनिष्पादयर्थं तद्विदशानामा प्रथम उप-
निषद् इति विशिष्टमिति य स्याघातालंकारो वाच्यः । नैवेति । इष्टिल्लुगैत्र न पुनर-
भेदेत्यर्थः । तेनेति निष्पन्नस्य वस्तुनातेनैवोपायेन स्याहनत्वात् । तदेव विभजति—
विरूपाक्षस्यैत्यादिना । अनेनारय स्यतिरेक विनोत्थानमेव न स्यादिति सूचितम् । तथा हि
देन केनचिच्छाक्तिसिद्धिस्तपितं तदप्यन्येनान्यथाकियते तदा तस्य तनोऽन्यथाकरणानुपपत्त्या
वैलक्षण्यमवस्थाप्युपगमनाद्यम् । अतश्चास्य सर्वात्मना स्यतिरेको निमित्तत्वं यायात् । पूर्व-
वदिति आनुरूप्यपरिहारात् । स चैकस्योपायस्यान्यथाकरणत्वेन विषयभावात् ।

यथासाधितस्यैत्यादि । निष्पादित = न किं निष्पादित करने के लिए समाख्यमान ।

द्वितीय व्याघात का विषय है । तत् = उससे निष्पादनकर्ता से । सप्रतिद्वन्द्विना
उसके विरोधी द्वारा = प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी हमलिये कि वह निष्पादित वस्तु
व्याघात करता है । तेनैव = उसी उपाय के द्वारा हम पर बल देता है, नहीं
तो वैधिव्यातिशय न होगा । अन्यथा कियते = उसके विपरीत रूप में बदला जाता है =
अर्थात् उस [पूर्ववर्ती रूप] को दबाकर अन्य वस्तु उत्पन्न करने के द्वारा । ‘इतीलिय
इमका नाम भी यौगिक ही है’ इस वाक्य को कहते हैं = निष्पादिन । इतीलिय जहाँ निष्पन्न
वस्तु की विपरीतता नहीं बतलाई जानी वहाँ यह अलंकार नहीं होगा क्योंकि निष्पत्ति ही नहीं
हो पानी तो विपरीत रूप में परिणति ही संभव नहीं होती । इस प्रकार निष्पन्न वस्तु की व्याप्ति
विपरीतरूपता ही व्याघात है और फल है यदा व्याप्तिकारी व्यक्ति में अतिशय की प्रतीति ।
इतीलिय [अलंकाररत्नाकरकार को व्याघात के लिए] ‘उत्पत्ति और विनाश का उपाय एक ही
तो व्याघात’—देसा मूज नहीं बनाना चाहिये । इस प्रकार तो व्याघातत्व ही निष्पन्न नहीं हो पावगा
इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा व्याघात के उदाहरण के रूप में उपस्थित] ।

“अमलिन कुल, सुन्दर शरीर, वेदविद्या में निगात्र भक्ति, पर्याप्त बाहुबल, स्त्रीत पेश्वर्य,
असहिष्णु प्रभुत्व’ ये सब पदार्थ, जो हैं सो, स्वभावतः सुन्दर होने हैं [अर्थात् इन सबमें से प्रत्येक
स्वतः सुन्दर होता है] इन [में] प्रत्येक] में ये मासाारिक प्राणी बटो ही सरलता से अत्य-
धिक दर्प में आ जाते हैं । किन्तु हे राजन् ! आपके लिए ये ही अजुद्ध हैं ॥”

इस स्थल में ‘कुल आदि जिस प्रकार अन्य लोगों के लिए दर्प के हेतु बनते हैं उस प्रकार
आपके लिए नहीं, [आपके लिए तो] प्रत्युत विनय के हेतु हैं—इस प्रकार, इस प्रकार के
गुणों से विशिष्ट अन्य पुरुषों से हम [प्रस्तुत राजा] का अन्तरमात्र प्रविपादित करना अभीष्ट
है, न कि ‘कुल आदि से उत्पन्न आपका दर्प व्याहृत हो गया’ यह प्रतिपादित करना, जिससे
यहाँ व्याघातालंकार हो । यदि कहें—‘यहाँ दर्पकारी कुल आदि के दर्पकारित्व का विनाश कथिन

है? इसलिय यह अलंकार यहाँ संभव है, तो यह भी अमान्य है, क्योंकि कुल आदि दर्प वा अदर्प के कारण व्यक्ति के स्वभाव के आधार पर बनते हैं, अतः यह एक लौकिक तथ्य का अनुवादमात्र हुआ फलतः यहाँ अलंकारता नहीं रहेगी। यहाँ यह अलंकार तभी संभव है जब 'कुल आदि से तुम्हारे दर्प का विनाश हो गया' ऐसी अर्थयोजना मानी जाय। किन्तु यहाँ निष्पादित हो चुकी वस्तु को न्याहति नहीं बतलाई जा रही और यह [व्याघात] अलंकार तन्मूलक ही है ऐसा हम बतला चुके हैं।

'विज्ञानेन मदविषं विनिवर्त्तते भिन्नकारणोत्पन्नम् ।

विज्ञानकारणं यत् तत्र पुनर्मणं को विनिवर्त्तयेत् ॥'

—'अभ्य कारणों से उत्पन्न मदविष ज्ञान से दूर हो जाता है, किन्तु जो विज्ञान से ही उत्पन्न हो उसे बतलाओ, कौन दूर करे।'

[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा व्याघातांशहरण के रूप में प्रदत्त] इस [गाथा के अर्थ] में भी जब मद, विज्ञान और विज्ञानेतर कारणों से उत्पन्न होता हुआ बतलाया जा रहा है तब, 'अन्य किसी हेतु से उत्पन्न होने वाला वास्तविक मद तो ज्ञान से दूर जाता है किन्तु जो मद उस [ज्ञान] से उत्पन्न होता है वह किस से हटाया जाय' इस बोध के आधार पर यहाँ अलंकारमाध्यकार द्वारा प्रतिपादित वितर्कांकार माना जा सकता है क्योंकि यह बोध उस [उक्त वस्तु] की निवृत्ति के हेतु का जो प्ररोह [प्रस्तुतीकरण] तद्रूप है ['यह किससे हटाया जा सकता है' इस उक्ति में मद निवृत्ति हेतु का प्ररोह हो रहा है।] अतः यहाँ व्याघातालंकार नहीं है। यहाँ तो ज्ञान जनित मदनिवृत्ति ही वाक्यार्थ बनी हुई है। [इसी प्रकार रत्नाकरकार द्वारा व्याघातालंकार के लिय उदाहृत]—

'जिसने युद्ध में अपना अघर दौतों से ढल ढस कर शत्रुनारियों के ओष्ठविदुमदलों को प्रिय के दन्तक्षतों की गाढ़ ब्यथा के संकट से छुड़ा दिया।'

इस पदार्थ में भी व्याघात नहीं, विचित्रालंकार है, क्योंकि यहाँ अघरब्यथा से छुटकाररूपी विपरीत फल की निष्पत्ति के लिय अघरदंशरूपी प्रयत्न उपनिबद्ध किया गया है। तेनच = उसी के द्वारा अर्थात् दृष्टिरूपी साधन के द्वारा ही, न कि किसी अन्य साधना के द्वारा तेनच = उसके द्वारा = निष्पन्न वस्तु उसी उपाय से न्याहृत बतलाई गई है। उसी को विनक्त करते हैं— 'विरूपाक्षस्य' इत्यादि के द्वारा। इससे यह सूचित किया कि व्यतिरेक के बिना इसकी निष्पत्ति ही नहीं हो सकती। क्योंकि किसी के द्वारा कोई कार्य सिद्ध किया गया हो और यदि उसको अन्य व्यक्ति अन्यथा कर डाले तो उससे उसकी विलक्षणता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी, नहीं तो अन्यथाकरण ही चरितार्थ न होगा इसीलिये इसमें व्यतिरेक सब प्रकार से निमित्त बनेगा [ही]। पूर्ववत्—पहले के समान अर्थात् आनुरूप्य के अभाव से। यह [आनुरूप्याभाव] यहाँ इसलिये होता कि यहाँ एक ही उपाय दो विरुद्ध परिणाम वाला बतलाया जाता है ॥

[सर्वस्व]

प्रकारान्तरेणाप्ययं भवतीत्याह—

[सू० ५३] सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।

'व्याघात' इत्येव । किञ्चित्कार्यं निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेष-स्तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि संभाव्यमानकार्यव्याहति-निवन्धनत्वाद् व्याघातः । कार्यविरुद्धकार्यनिष्पत्तिश्च कार्यापेक्षया सुकरा ।

तस्य कारणस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात् । तत्र च कार्याभिमतस्य कार्यत्वाभावः । तद्विरुद्धस्यात्र सौकर्येण कार्यत्वात् । अत एव द्वितीयाद्विषमाद्भेदः । तत्र द्वि कार्यस्यानुत्पत्तिरनर्थस्य चोद्गमनम् । इह तु कार्यमकार्यमेव न भवति । तद्विरुद्धस्यानर्थस्य व्यतिरेकिणोऽप्यत्र सुष्ठुकार्यत्वात् । यथा हर्षचरिते राज्यवर्धनं प्रति श्रीहर्षोक्तिषु—

‘यदि बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुज-
पञ्जरमेव रक्षास्थानम्’ इत्यादि ।

अत्र राज्यवर्धनेन श्रीहर्षप्रस्थाने कार्ये बाल्यरक्षणीयत्वादि कारणत्वेन परस्मैभावितं तत्प्रस्तुत प्रस्थानकारणत्वेन सुकरतया श्रीहर्षेण राज्यवर्धनस्य समर्थितमिति व्याघाताद्योऽलङ्कारः ।

यह अलङ्कार दूसरे प्रकार से भी होता है । यही बलाने है—

[सू० ७३] सौकर्यं च कारणं कार्यविरुद्धक्रिया [भी] ।

‘व्याघात’ इसकी अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से प्राप्त है ही । किसी कार्यको निष्पन्न करने के लिए समाविष्ट किसी कारण का उसी कार्य के विरुद्ध कार्य के निष्पादक के रूप में समर्थन किया जाए तो वह भी समाप्यमान कार्य की व्याघात वा हेतु होने से व्याघात होता है । यहाँ [प्रस्तुत] कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति [प्रस्तुत] कार्य की अपेक्षा यह बलान्तर सरल बालाई जानी है कि वस [प्रस्तुत कार्य] का कारण उस [विरुद्ध कार्य] के अत्यन्त अनुकूल है । ऐसा नहीं कि यहाँ कार्यरूप से अभिमत वस्तु में कार्यत्व का अभाव बलान्तर जाता है । क्योंकि यहाँ वस [प्रस्तुत कार्य] के विरुद्ध कार्य तो सुखपूर्वक किए जाने योग्य कार्य के रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है । इसीलिए द्वितीय विषम से इसका भेद है । यहाँ जो है सो, कार्य की तो उत्पत्ति नहीं रहती ऊपर से अनर्थ [रूपी अकार्य] की उत्पत्ति और रहती है । जबकि यहाँ कार्य तो अकार्य तक नहीं हो पाता, उसके विरुद्ध व्यतिरेकी [अधिक सबल ?] अनर्थ भी यहाँ सुखपूर्वक करने योग्य कार्य के रूप में ही प्रस्तुत रहता है । जैसे हर्षचरित में राज्यवर्धन के प्रति श्रीहर्ष की [इन] वक्तियों में—

‘यदि [आप मुझे युद्ध में यह समझकर नहीं ले जा रहे हैं कि मैं] बालक हूँ तब तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आपका ही भुजपञ्जर है’ इत्यादि [हर्षचरित उच्छ्वास्त-
६ पृ० १८४ नि० सरक०] ।

यहाँ राज्यवर्धन द्वारा श्रीहर्ष के अप्रस्थान [साथ न ले जाने] रूपी कार्य में बाल्य और रक्षणीयत्व आदि जो कारण सोचे गए हैं वहाँ को श्रीहर्ष द्वारा राज्यवर्धन के प्रति सुकर और लडते प्रस्थान में ही कारण प्रतिपादित किया जा रहा है । इस कारण यह व्याघात नामक [ही] अलङ्कार है ॥

विमर्शिनी

प्रकारान्तरेणेति प्रतीतिभेदात् । अयमिति व्याघात । समेवाह—सौकर्येणेत्यादि । एतदेव व्याघाते—किञ्चित्पादिना । समाप्यमान इति येनचिदन्येन । तत्कार्येण । तत्र तत्कार्यम्, निष्पादयितुं प्रमान्तम् । अत एवास्य प्रथमाद्याघाताद्भेदः । तत्र द्वि येनकेनचिदुपायेन निष्पादितं सदस्तु तथैवान्येनान्ययाद्वियत इत्युक्तम् । इह तु किञ्चित्पादयितुं संभाष्य-

मानस्य कारणस्य तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थनम् । तद्विरुद्धनिष्पत्तेश्च सौकर्यं किमुक्त-
मित्याशङ्क्याह—कार्येत्यादि । तदानुगुण्यादिति कार्यविरुद्धानुगुणत्वात् । न त्विति । अपि
तु दुष्करत्वेन कार्यमित्यर्थः । अनेनाप्यस्य प्रथमाद्याघाताद्भेदः सूचितः । इह हि किञ्चि-
न्निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेषः सौकर्येण तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थ्यते ।
तत्र पुनरुपायविशेषविवक्षापरिहारेण कर्तुरेव पक्षपतिपक्षभावमाश्रित्य तथात्वोपनिबन्धः ।
अत एवेति । द्वयोरपि कार्यस्वसंभवात् । अनर्थेत्यनेनापि विषमादस्य भेद एवोपोद्धृतः ।
संभावितमिति । तथा समर्थितमिति । अनेन प्रथमव्याघातोदाहरणस्वमस्य निरस्तम् । तत्र
हि द्वयोरपि कार्ययोर्निष्पत्तिविवक्षिता । बाल्यस्य तु कार्यद्वयजननेऽपि सामर्थ्यं किंतु
प्रस्थानजनने सौकर्यम् । अत एवात्र संभाव्यमानस्य कार्यस्य व्याहृतत्वम् । यथा वा—

‘यत्सद्योवदमिति कामविमर्दे नूपुरं परिहरन्ति तरुण्यः ।

तद्भार कतरापि विदग्धा गोपनाय निजकण्ठस्तानाम् ॥’

अत्र संभाव्यमानं कार्यं परिहारः । तस्य व्याहृतिर्धारणम् । उपायस्य सुकरदुष्करत्वेन
विशिष्टत्वाद्वा न प्रथमव्याघातोदाहरणत्वम् । यथा च नायमयो वक्रोत्तेभैवृत्तया वक्रो-
क्तावैव वचयामः ।

प्रकारान्तरेण = दूसरा प्रकार इतलिय कि प्रतीति में भेद है । अयम्=यह व्याख्यान । उसी का
स्वरूप बतलाते हैं—सौकर्येण इत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—किञ्चित् इत्यादि के द्वारा ।
संभाव्यमान अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा । तत्कार्यं=इसमें कर्मभारय समाप्त है,
तत् = वह अर्थात् निष्पन्न करने के लिए शुरु कार्य । इसीलिय इसका प्रथमव्याघात से
अन्तर है । उसमें, यह कहा जा चुका है कि ‘जिस उपाय से किसी व्यक्ति के द्वारा वस्तु
निष्पादित होती है उसी उपाय से दूसरे के द्वारा वही वस्तु अन्यथा बना दी जाती है’ जब कि
पहों वस्तु निष्पन्न नहीं बतलाई जाती, उसकी निष्पत्ति की संभावना भर बतलाई जाती है, साथ
ही उसका निष्पादक जो कारण रहता है उसमें [भी] विरुद्धकार्य के निष्पादन की क्षमता भर
बतलाई जाती है । उससे कार्य की निष्पत्ति नहीं दिखलाई जाती अतः रत्नाकरकार का द्वितीय
व्याघात को प्रथम से भिन्न न मानना ठीक नहीं । [यहाँ] प्रस्तुत कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति
में सुकरता क्यों बतलाई गई है’ देखी संका कर, कहते हैं—कार्य इत्यादि । तदानुगुण्यात् = उसकी
प्रति अनुरूपता अर्थात् कार्य विरुद्ध कार्य के प्रति अनुरूपता । न तु-न कि = अपितु दुष्कर होने से
इसे कार्य माना जाता है । इससे भी इसका प्रथम व्याघात से अन्तर बतलाया । पहों, जो है,
कोई कारण कुछ कार्य करने में समर्थ [भर] समझा जाता है और उसी में सुकरता के साथ
विरुद्ध कार्य करने की क्षमता प्रतिपादित कर दी जाती है । इसके विपरीत उस [व्याघात] में
उपायगत विशेषता की विवक्षा नहीं रहती, केवल कर्ताओं में पक्ष और प्रतिपक्ष का भाव
परस्पर विरोध] देखकर वही पक्ष प्रतिपक्षभाव प्रतिपादित किया जाता है । अतएव = दोनों
में कार्यत्व संभव होने से । अनर्थ—इसके द्वारा भी इसका विषम से भेद ही दृष्ट किया गया ।
संभावितम् से लेकर समर्थितम् तक के अन्य द्वारा [हर्षपरित के] उक्त उदाहरण के प्रथम
व्याघात के उदाहरण होने की संभावना दूर की । उसमें दोनों ही कार्यों की निष्पत्ति विवक्षित
रहती है । बाल्य, जो है वह, तो दोनों ही कार्यों में समर्थ है किन्तु प्रस्थापन की निष्पत्ति उससे
अधिक सुकर है । इसीलिय यहाँ जो व्याहृति है वह संभाव्यमान कार्य की है [निष्पन्न कार्य की
नहीं] । इसका दूसरा उदाहरण यह है—

‘तरुणियाँ जिस नूपुर को सुरत संघर्ष में बचने के कारण हटा दिया करती हैं उसी को किसी
वदन्ध तरुणी ने [विपरीत रति में] अपने कण्ठ का रव छिपाने के लिए जान बूझकर पहना ।’

यहाँ ममाव्यमान कार्य है परिहार, और उसकी व्याप्ति है धारण। यहाँ उपाय में सुकरता और दुःकरता है [न पहनना अर्थात् पहने हुए नूपुर को उतारना जितना कठिन है उमने पहने रहना उतना ही सरल है] अतः वहाँ उपाय विशेषता लिए हुए है, फलतः यह प्रथम व्यापात का उदाहरण नहीं हो सकता। [उपाय में विशेषता रहने के कारण यदि यह प्रथम का उदाहरण नहीं हो सकता तो कार्यों को निष्पत्ति ही जाने के कारण यह द्वितीय व्यापात भी कैसे हो सकता है यदि एक अश्व प्रथम व्यापात का इसमें नहीं तो द्वितीय व्यापात भी इसमें समम नहीं है उमके मं एक पक्ष का यहाँ अभाव है] इसी प्रकार 'यद् स्थल वक्रोक्ति का भी उदाहरण नहीं है' यह हम आगे वक्रोक्ति के ही प्रकरण में बतलावेंगे।

विमर्शः—

इतिहास

[१] प्रथम व्यापातः—

व्यापात नाम तो पहले पहल रुद्र में ही मिलता है किन्तु उसको यहाँ के प्रथम व्यापात का स्वरूप देने का वेद मग्गट को है। रुद्र ने व्यापात नाम से जिस अलङ्कार का विवेचन किया है वह विशेषोक्ति से सर्वथा अभिन्न है। विशेषोक्तिप्रकरण में इसका विवेचन उद्धरणपूर्वक किया जा चुका है। मग्गट में इसका विवेचन इस प्रकार है

‘यद् यथा साधित केनाप्यपरेण सदन्वया ।

तथैव तद् विधीयेन स व्यापात इति स्मृतः ॥’

येनोपायेन यद् एकेनोपकथित तस्यान्येन भिर्गोपुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स मांि वस्तुव्याप्तिहेतुरवाद् व्यापातः ।’

—‘जो कार्य एक किसी व्यक्ति के द्वारा जिस प्रकार अर्थात् जिस उपाय से किया गया है उसका अन्य व्यक्ति के द्वारा उसी उपाय से उलटा कार्य कर देने से सिद्ध वस्तु ही व्याप्ति का हेतु कथित रहने से अलङ्कार व्यापात कहलाता है। उदाहरण = ‘दृशा दन्ध०’ पद्य।

(२) द्वितीय व्यापात इदं प्रथमथा सर्वत्व में ही मिलता है। धामद से लेकर मग्गट तक वे आचार्यों में से किसी में यह नहीं मिलता।

परवर्त्ता आचार्यों में—

शोभाकर द्वारा किये गए प्रथम व्यापात के लक्ष्य तथा उदाहरण विमर्शिनी में उद्धृत है द्वितीय व्यापात को उन्होंने प्रथम व्यापात में ही अन्तर्भूत माना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

“—‘बाल इति सुनरामपरिवार्याऽस्मि, रक्षणीयं शन भवदुमुजपञ्चरमेव रक्षास्थानम्’ इत्यादं शीर्षस्य विज्ञेयं प्रस्थित उपायांसं राज्यवर्धनं प्रति वक्तुं राज्यवर्धनेन बालाकाद्यप्रस्थानमिति समावित्रम् नेन प्रस्तुतं सौकर्येन प्रस्थाननिमित्ततया समर्थितम् इति ‘सौकर्येण कार्यविरुद्धं च’ इति भेदान्तरं व्यापातस्त्विति न वाच्यम् । तथाहि यदि प्रस्थानरूप विरुद्धमेव कार्य वाश्यादिना क्रियाः तदयमेव व्यापातो, न भेदान्तरम्, प्रस्थानाभावनिमित्तात् प्रस्थानोत्पत्तौ विनाशकारणादुत्पत्तेः अथ चेत् प्रस्थानाप्रस्थानयोर्द्वयोरेषु विरुद्धयोर्भ्रान्त्यादिकस्य कारणतय मद्भावादप्रस्थाने वाच्यादेरनै कान्तिकर्तव्यं विवक्ष्यते तर्हि एकस्य कारणस्य परस्परविरुद्धकार्यद्वयजननादचिन्त्यालङ्कारोऽन्यान्वर्त्ता इति व्यापातस्य भेदः ।’ अर्थात्

शीर्ष की विजय के लिए प्रस्थित किन्तु स्वयं को साथ न ले जा रहे बड़े माहं राज्यवर्धनं प्रति ‘बाल हूँ इसलिए तो और भी अपरिवार्या हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आपका ही मुजपञ्च है’ इत्यादि वक्तियों में राज्यवर्धन ने बालत्वादि को साथ न ले चलने का कारण सोचा, उस

विरुद्ध, उस [हर्ष] ने सुकरता प्रतिपादित कर उन्हें साथ ले चलने में ही कारण प्रतिपादित किया। इस प्रकार यहाँ 'कार्यविरुद्ध कार्य में सुकरता भी' [इस लक्षण के अनुसार] यह व्याघात का एक अन्य भेद है यह [जो सर्वस्वकार ने कहा है वह] नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यदि बाल्यादि कारण के द्वारा प्रस्थानरूपी विरुद्धकार्य ही किया जा रहा है तो यहाँ [प्रथम] व्याघात यहाँ है, अन्य भेद नहीं क्योंकि यहाँ जो वस्तु [बाल्यादि] प्रस्थानामात्र का निमित्त है उससे प्रस्थान की उत्पत्ति हो रही है अतः विनाश के कारण उत्पत्ति प्रतिपादित की जा रही है। यदि बाल्यादि कारण में यह बतलाकर कि 'वे प्रस्थान और अप्रस्थान इन दोनों परस्पर विरुद्ध कार्यों में कारण हैं' अप्रस्थानरूपी कार्य के प्रति अनिश्चितता प्रकाशित करना विवक्षित है तो 'एक कारण के द्वारा परस्पर विरुद्ध दो कार्य उत्पन्न करने से' इस व्याघात का अभिनयालंकार में अन्तर्भाव हो जाएगा। इसलिए इसे व्याघात का भेद मानना ठीक नहीं।

यहाँ रत्नाकरकार कार्य की निष्पत्ति मान रहे हैं जब कि मूल में केवल निष्पत्ति की संभावना मात्र प्रतिपादित है। इसी कारण विमर्शिनोकार ने इनका स्रग्धन किया है। वे उनके अपने शब्द हैं। उन्हें बाण के शब्दों के रूप में विना स्पष्टीकरण के छाप दिया गया है।

अप्ययदीक्षित—ने दोनों व्याघातों का निरूपण इस प्रकार किया है—

[१] 'स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि तयाकारि क्रियेत चेत् ।'

[क] जो जैसा कार्य निष्पन्न करता हो उसे उससे भिन्न कार्य करने वाला बना दिया जाय तो [प्रथम] व्याघात नामक अलंकार होता है। यथा—

'यैर्जगत् प्रीयते हन्ति तैरेव कुष्ठमायुधः ।'

संसार जिन [पुष्पों] से प्रसन्न होता है कुष्ठमायुध [काम] उन्हीं से प्रहार करता है।'

[ख] इसी में कहीं प्रतिद्वन्द्विता का भाव विवक्षित होता है। यथा 'दृष्ट्वा दग्धं' पद्य में।

[२] 'सौकर्येण निषङ्गापि क्रिया कार्यविरोधिनी ।' सुकरता के आधार पर उपनिबद्ध कार्य-विरोधिनी क्रिया भी व्याघात कहलाती है। उदाहरण हर्षचरित के उक्त उद्धरण का ही संक्षेप—

'दया चेद् बाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते ॥'

इसका स्पष्टीकरण दीक्षित ने इस प्रकार किया है—

'जैत्रयाश्रोन्मुखेन राशा [राज्यवर्धनेन] युवराजस्य राज्य एव स्थापने यत् कारणत्वेन संभावितं बाल्यं तत् प्रस्तुत तद्विरुद्धस्य सहनयनस्यैव कारणतया युवराजनेन परित्यागस्यः प्रुक्तत्वं दर्शयता समर्थ्यते ।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों ही व्याघात स्वीकार कर लिए हैं, किन्तु उन्होंने दोनों का यह एक ही लक्षण बनाया है—

'यत्र हेकेन कर्त्तुं येन कारणेन कार्यं किञ्चित्प्रिष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्तुं न तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्येत स व्याघातः ।'

—'जहाँ कहीं, किसी एक कर्त्तु के द्वारा जिस कारण से किसी कर्त्तु की निष्पत्ति की गई हो या निष्पत्ति करना अभीष्ट हो, उसी का उससे भिन्न कर्त्तु के द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति कर या निष्पत्ति की इच्छा कर व्याघात किया जाता है वहाँ अलंकार भी व्याघात नामक ही होता है।'

पण्डितराज ने 'दृष्ट्वा दग्धं' पद्य में सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत व्यतिरेक की संभावना पर विचार किया है और सर्वस्व का समर्थन किया है।

विश्वेश्वर ने भी 'दृशा दग्ध०' वच पर सर्वस्वकार का ही समर्थन किया है। किन्तु वे व्याघात के दूसरे भेद पर चुप हैं। उनका व्याघातलक्षण इस प्रकार है—

‘कार्यान्तरहेतुतयान्वेनाभिमताद् विरुद्धकार्यं चेत् ।

क्रियते परेण तस्माद् व्याघातोऽय समाख्यात ॥’

‘अन्य व्यक्ति द्वारा अन्य कार्य का हेतु माने गए पदार्थ में किसी अन्य के द्वारा यदि उसके विरुद्ध कार्य किया जाता है तो वह व्याघात कहलाना है ।’

हमी का न्याय की भाषा में उन्होंने ऐसा परिष्कार किया है—‘अभिमतकार्यनिरूपित-कारणवत्त्वेन न्यविनक्षितागंस्य तद्विरुद्धार्थनिष्ठकार्यतानिरूपित धारणाप्रयत्नं केनचित् प्रतिपाद्यते स व्याघातः, व्याघ्रव्येन अन्याभिमनकार्यकारणभावोऽनेनेति श्युरसत्ते ।’

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निम्नोक्तार्थकारिका इन पर यह है—

‘यथा साधनमेकेन नथैवा-येन साधनम् ।

व्याघानोऽय विरुद्धस्य सौकर्येण क्रिया यथा ॥’

पाठाक्षर—(१) निर्णयसागरीय प्रति में द्वितीय व्याघात का सूत्र ‘सौकर्येण कार्यविरुद्ध-क्रिया च व्याघातः’ इस प्रकार छापा है। इसमें वृत्ति में ‘व्याघात इत्येव’ नहीं मिलता। काशी सत्करण में ‘व्याघात इत्येव’ सूत्र के ही साथ उतर दिया गया है। रत्नकर, विमर्शिनी तथा सतीविनी में उद्धृत पाठ के अनुसार सूत्र ‘च’ पर समाप्त हो जाता है। चाहेच भी वही। अनु-वृत्ति विधि में सूत्रचमका जो क्रम इससे पूर्व के सूत्रों में मिलता है उसके अनुसार ‘च’-इस समुच्चापक अन्वय द्वारा अलकार के नाम की अनुवृत्ति हो जाने पर उमका कथन निरर्थक ही नहीं पुनरुक्तिदोष में दूषित भी है।

(२) ‘श्रीर्षपास्थाने’ के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में श्रीर्षप्रस्थापने अर्थात् नञ् से रहित पाठ है। छपी हुई अन्य प्रतिषों में नञ् का अभाव समान है, केवल कु० जानकी के सत्करण में शेष सत्करणों के प्रस्थापन के स्थान पर प्रस्थान पाठ ही अपनाया गया है।

‘प्रत्युत प्रस्थान०’ के स्थान पर निर्णयसागर की प्रति में भी ‘प्रत्युता प्रस्थापन’ पाठ छापा है और यही डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के संस्करण में। यथाय अनुवाद में श्रीद्विवेदी ‘प्रस्थान’ पाठ यहाँ भी मानते हैं और अनुपदीक स्थल में भी। अनन्तशयन में भी नञ्घटित पाठ ही है।

रत्नाकर के पूर्वोद्धृत उद्धरण में यहाँ प्रस्थापन शब्द के स्थान पर प्रस्थान शब्द ही है और श्रीविद्याचक्रवर्ती की सतीविनी के दोनों छापों में भा। इन दोनों में ‘नञ्’ की स्थिति भी बैसी ही है जैसी हमने मानी है। विमर्शिनी में भी नञ् की स्थिति तो ठीक है कि तु प्रस्थान के स्थान पर प्रस्थापन पाठ भी मिलता है।

अभयदीक्षित के पूर्वोक्त उद्धरण से पाठान्तरविचार को एक नई दिशा मिलनी है। उन्होंने न तो प्रस्थापन शब्द दिया है और न प्रस्थान। उनका शब्द है ‘स्थापन’। लगता है कि मूलपाठ दो प्रकार का माना जाता रहा है—

१—‘श्रीर्षस्य स्थापने’, ‘प्रत्युतास्थापने’ तथा

२—‘श्रीर्षस्याऽप्रस्थाने’, ‘प्रत्युत प्रस्थाने’ ।

परवर्ती लिपिकों ने कदाचित् इन्हें ही मिश्रित कर दिया, किन्तु नञ् की स्थिति में अन्तर नहीं किया। इस प्रकार ‘श्रीर्षस्य प्रस्थापने’ तथा ‘प्रत्युता प्रस्थापने’ पाठ चल पड़ा।

मूल हर्षचरित में राज्यवर्धन के आदेश-वाक्य में केवल 'स्या'-धातु का प्रयोग है 'तिष्ठन्तु सर्वे त्वदैव सार्धम्' । इससे 'स्यापना'—पक्ष को बल मिलता है । प्रस्थान शब्द का अर्थ साथ चलना नहीं होता और श्रीहर्ष ने प्रार्थना की थी युद्ध के लिए साथ-साथ चलने की ही । इसी प्रकार प्रस्थापन शब्द का अर्थ भी 'स्थापन' नहीं होता यद्यपि प्रसिद्ध शब्द का सिद्ध अर्थ होता है ।

ये दोनों पाठ रत्नाकरकार के समय तक ही चल पड़े होंगे । दोनों में 'प्रस्थान'—पदघटित पाठ ही अधिक प्रचलित प्रतीत होता है और ग्रन्थसंगति में वह वाक्य भी नहीं है, अतः हमने इसीको मूल मान लिया है । डॉ० द्विवेदी की पाद टिप्पणी से विदित होता है कि पूना की तीन पाण्डु-प्रतियों में भी यही पाठ है । इन पाण्डु-प्रतियों में से दो तो काश्मीर देश की शारदालिपि की ही प्रतियाँ हैं ।

(३) 'बाल इति' के पूर्व आक्षेप प्रकरण में 'केवलम्' तथा यहाँ जो 'यदि' शब्द जुड़े हुए हैं वे सर्वस्वकार के शब्द हैं वाच्य के नहीं । मूल हर्षचरित में वे नहीं मिलते ।

विमर्शिनी

एतद्गुणसंहरन्नन्यद्व्यवतारयति—एवमित्यादिना ।

इस [विरोधमूलक अलंकारों] के प्रकरण का उपसंहार करते और दूसरे प्रकरण की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

[सर्वस्व]

एवं विरोधमूलानलंकारास्त्रिणोऽयं शृङ्खलाबन्धोपचिता अलंकारा लक्ष्यन्ते ।
तत्र—

[सू० ५४] पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ।

यदा पूर्वं पूर्वं क्रमेणोत्तरमुत्तरं प्रति हेतुत्वं भजते तदा कारणमालाख्यो-
ऽयमलंकारः । यथा—

'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयाद्वाप्यते ।

गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनाऽनुरागप्रभवा हि संपदः ॥'

कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः ।

इस प्रकार विरोधमूलक अलंकारों का निर्णय किया । अब शृङ्खलाबन्ध के अनुरूप अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत करते हैं । उनमें —

[सू० ५४] पूर्व-पूर्व के उत्तर-उत्तर के प्रति हेतु होने पर कारणमाला ॥

जब पूर्व-पूर्व के पदार्थ उत्तर-उत्तर के पदार्थों के प्रति हेतु बनते हैं तब कारणमाला नामक अलंकार होता है । यथा—

'जितेन्द्रियता विनय का कारण है । विनय से प्राप्त होता है गुणप्रकर्ष । गुणप्रकर्ष से समाज अनुरक्त होता है और संपत्ति, जो है वह, जनानुराग से ही उत्पन्न होती है ।'

यहाँ चारुत्वहेतु कार्यकारणक्रम ही है ।

विमर्श—संस्वकार ने शृङ्खलाबन्ध में चार अलंकारों की गणना की है कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार । उन्होंने इनके लक्षण इसी क्रम से दिए हैं । रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार

की इस मान्यता का खण्डन किया है और मूल अलङ्कार शृङ्खला को ही मानकर इनमें से प्रथम तीन अलङ्कारों को शृङ्खलाकार के भेद माना है स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं। विमर्शनीकार ने रत्नाकर के खण्डन का निराकरण कर सर्वस्व का समर्थन किया है। हम पहले रत्नाकर का शृङ्खलाविवेचन प्रस्तुत करते हैं—

[सूत्र] 'उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वे विपर्ययो वा शृङ्खला ॥'

[वृत्ति] उत्तरोत्तरस्याश्रयत्वादिना पूर्व पूर्व प्रति पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरगुत्तर प्रति वा सापेक्षत्वं शृङ्खला ।

अत्र (१) पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुकत्वे कारणमाला, तथा (२) यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोषेन एकावली (३) पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकमिति त्रय शृङ्खलावधेना-न्यैरलङ्कारा लक्षणा, तेषु च शृङ्खलाव्यपरिहारण प्रत्येक न विच्छिन्नविशेषोऽस्ति येनालङ्कारभेदः स्यात् । यदि च कार्यकारणविशेषविशेष्यमात्रादिविशेषाश्रयणेन भेदेनाभिधानम्, तर्हि उत्तरोत्तर-माधाराधेयता-स्वस्वामित्वादिसम्बन्धावलम्बनेन शृङ्खलाया बहवोऽलङ्कारा उपसृज्येयाः प्रसज्येरन् । अत इह लक्ष्यव्याप्त्यर्थं शृङ्खलैव लक्षणा । अस्यां महाविषयायां तेषामन्तर्मात्रोपपत्तेः ।

अपि च मान्यारूपकवदेकरिमन् यत्र बहूनां योगपद्येन स्थितिस्तत्र मालाश्च वक्तुमुचितम्, इह तु तदभावात् कारणमालापमिधानमसमनसमेव ।

यद्यपि शृङ्खलादय उपमाध्वान्तरभेदा इति, तदनुक्तम् । उपमादिभ्यतिरेकेण कार्यकारणभावाव-वलम्बनेनापि शृङ्खलायाः समवात् । अन्तश्चोपमादिशृङ्खलाभिधौ विषय उपमादीनां शृङ्खलाया सह संकीर्णत्वम्, न तु उपमादिभेदत्वम् । यथा—

'शैल इव जलधराणां शैलानामिव बलनिधि पृथिवीनाथ ।

जलधीनामिव पाताल सस्युरपाणां स्व निलयः ॥'

—'परवर्ती पदार्थों की पूर्ववर्ती पदार्थों के प्रति अथवा पूर्ववर्ती पदार्थों की परवर्ती पदार्थों के प्रति आश्रयता आदि के लिए सापेक्षता शृङ्खला नामक अलङ्कार कहलाती है ।'

'इसमें शृङ्खलावध से [१] पूर्व पूर्व का उत्तर-उत्तर की कारण बनाने में कारणमाला, पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषण होने में एकावली, तथा [३] पूर्व पूर्व के उत्तर-उत्तर के प्रति गुणावह होने में मालादीपक, ये तीन अलङ्कार अन्य व्याचार्य [सर्वस्वकार] ने बनलाए हैं । इनमें से प्रत्येक में शृङ्खलावध को छोड़कर चारुत्व का कोई अन्य कारण नहीं है जिससे इन्हें भिन्न-भिन्न अलङ्कार माना जाय । यदि 'कार्यकारणभाव, विशेष्यविशेषणभाव' आदि सन्बन्धन विशेषताओं को लेकर अलङ्कारों को अलग अलग बनलाया जा रहा हो तो आधारधेयभाव, स्वस्वामिभावादि लक्षणों को लेकर शृङ्खला में और भी भेद गिनने पर जायेंगे । इसलिये समाहित सभी भेदों को अपना लेने के लिए केवल एक शृङ्खला का ही लक्षण अलङ्कार रूप से बना दिया गया । यह अत्यन्त व्यापक है, अतः इनमें सभी लक्ष्यों का अन्तर्भाव हो सकता है ।

इसी प्रकार मालावध भी वहाँ मानना उचित है जहाँ अनेक पदार्थों की स्थिति एक में हो हो और वह भी एक साथ हो । यहाँ स्थिति वैसी नहीं है, अतः कारणमाला आदि नाम निराधार है । उपमा आदि के जो शृङ्खला आदि अन्तर्भेद बतलाए गए हैं, वे भी ठीक नहीं हैं क्योंकि शृङ्खला तो उपमादि से रहित केवल कार्यकारणभाव आदि के आधार पर भी हो सकती है । अतः उपमाशृङ्खला आदि नाम से माने गए स्थलों में भी उपमा आदि के साथ शृङ्खला का संकर मानना चाहिए, न कि उपमा आदि का भेद । यथा—

‘जैसे मेरों के आधार पर्वत होते हैं, पर्वतों के आधार समुद्र और समुद्र के आधार पाताल वैसे ही सत्पुरुषों के आधार है राजन् ! आप हैं ।’ यहाँ प्रथम तीन चरणों में आध्याश्रयिभाव-मूलक, शृङ्खला है और उसके आधार पर निम्नत्र तृतीय चरण में उपमा ।

विमर्शिनी

अलङ्कारा इति न पुनः शृङ्खलैवैकोऽलंकारः । एवं हि साधर्म्यमप्येक एवालंकारः स्यात् । न ह्युपमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येकं कश्चिद्विच्छित्तिविशेषसंभवः येनालंकारभेदः स्यात् । एवं विरोधोऽप्येक एव वाच्यः । न हि विभावनादीनां विरुद्धत्वादन्यः कश्चिद्विशेषः । किमपरम् , एवं सप्तानामष्टानामेवालंकाराणां लक्षणप्रणयनप्रसङ्गः । अयोप-मादीनामपि साधर्म्यादावन्तरोऽस्ति विशेष इति चेत् तर्हि कारणमालादीनामपि शृङ्खला-वन्धोपचित्तत्वेऽपि वक्ष्यमाणनीत्या कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावाद्याः स्यादेवावान्तरोऽपि विच्छित्तिविशेषः केभ्योपमादिष्वप्युपमेवैवामलंकारत्वं युक्तम् । एवं हि शृङ्खलायामवान्तर-विच्छित्तिविशेषसंभवेऽप्यन्यालंकारोपसंख्यानं प्रसज्यत इति चेत्, न, यद्यस्ति विच्छि-त्यन्तरं तद्वत्फलंकारान्तराः उपसंख्यानं, को दोषः । प्रयुक्ताभासमानस्य विशेषस्यापह्नवो न वाच्यः । तद्यथास्थित एवालंकारभेद आश्रयणीयः । तस्माद् ‘उत्तरोत्तस्य पूर्वपूर्वा-नुबन्धित्ये विपर्यये वा शृङ्खलेति न वाच्यम् ।

तत्र तावत्कारणमालामाह—पूर्वत्यादि । कारणमालाकथोऽयमिति मालान्यायेन बहूनां कारणानां दौर्गप्येनावस्थानात् । अत एवाह—कार्यकारणकम पवेति न पुनः केवलमेव शृङ्खलावमित्यर्थः । अत एव कारणमालेत्यस्या अन्वर्थमभिधानम् । एवमन्येभ्यः शृङ्खलावन्धो-पचित्तैभ्योऽलङ्कारैभ्योऽस्या विपयविभागः । न हि तेषु कार्यकारणरूप एव चास्वहेतुः । विशेषणविशेष्यभावादेवावान्तरस्य विच्छित्तिविशेषस्य संभवात् । कश्चिद्विपर्ययेणापि भवति । यथा—

‘माणो गुणेहि जाभइ गुणा वि जाअंते सुअणसेवाइ ।

विमलेण सुअअप्सरणे सुअणसेवह उट्ठाणं ॥’

अत्र हि पूर्वस्योत्तरोत्तरं कारणतयोपनिबद्धम् । एवमुत्तरत्रापि विपर्ययोऽभ्युद्यः ॥

अलंकाराः = अलंकार शब्द में बहुवचन के प्रयोग का अर्थ यह कि प्रत्येक अलंकार स्वतन्त्र अलंकार है, न कि सब मिलकर एक शृङ्खला नामक अलंकार हैं । ऐसा मानने पर तो [उपमा आदि को अलंकार न मानकर] एक साधर्म्य को ही अलंकार मानना होगा, उपमा आदि अलंकारों में से प्रत्येक में साधर्म्य के बिना कोई चमत्कार भोड़े ही संभव है, जिससे इन्हें पृथक् पृथक् अलंकार माना जाय । इसी प्रकार विरोध भी एक ही बतलाया जाना चाहिए । विभावना आदि में विरुद्धत्व को छोड़कर कोई अन्य विशेषता नहीं रहती । अधिक क्या, इस प्रकार विचार करने पर तो केवल सात ही अलंकारों के लक्षण बनाने की आपत्ति सामने आती है । यदि कहें कि उपमा आदि में भी साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य भी विशेषता रहती है, तो कारणमाला आदि में भी, शृङ्खलावन्ध की कला रहने पर भी आपे प्रतिपादित किए जाने वाले हेतुओं से कार्यकारणभाव, विशेषणविशेष्यभाव आदि रूप अवान्तर विच्छित्ति स्वीकार जरूरी होगा, जिससे इनको उपमा आदि के समान पृथक् अलंकार मानना होगा । यदि कहें कि ऐसा मानने पर शृङ्खला में भी अन्य अनेक विशेषताएँ संभव हैं अतः उनके आधार पर अन्य अनेक अलंकारों का भी संग्रह करना पड़ जाएगा, [और यह एक अनवस्था जैसा दोष होगा], तो ऐसा भी नहीं । क्योंकि यदि अन्य कोई उक्तिप्रकार चास्ता से युक्त संभव है तो उसका भी संग्रह स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अवश्य हो । इसमें दोष ही क्या ? प्रतीत हो रहे

वैशिष्ट्य का छिपाया जाना ही बल्कि ठीक नहीं। इस प्रकार अलंकारों का जैसा भेद [सर्वस्व-कार ने] किया है वैसा ही भेद अपनाना उचित है। और इसीलिए [स्वयं रत्नाकरकार को ही] 'उत्तरोत्तर पदार्थ का पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति सापेक्ष होना या इससे उल्टे क्रम से सापेक्षा होना श्रद्धालु कहलाती है-यैसा लक्षण नहीं करना चाहिए।

[रत्नाकर वा आशिक खण्डन कर अब मूलग्रन्थ का स्पष्टीकरण करना आरम्भ करते हैं]—
उन [श्रद्धालुमूलक अलंकारों] में पहले कारणमाला का लक्षण बनाते हैं—पूर्व इत्यादि। कारणमालास्योऽयम् = हमका नाम कारणमाला है, हमलिख कि इसमें बहुत से कारणों की एक साथ अवस्थिति है जैसी कि माना में होती है। इसीलिए कहा—'कार्यकारणक्रम एव'। यहाँ कार्यकारणक्रम है न कि केवल श्रद्धालुत्व ही है इसीलिए 'कारणमाला' यह इसका सार्थक नाम है। इसीलिए श्रद्धालुत्व के शिखर वाले अन्य अलंकारों से इस [कारणमाला] का शेष भी भिन्न है। उन अलंकारों में वाक्य का आभार केवल कार्यकारणभाव ही नहीं होगा। क्योंकि वहाँ कार्यकारणभाव के आभार पर भी विशिष्ट चाखत्व की निभक्ति समग्र होती है। कहीं उल्टी दिशति भी रहती है। यथा— [रत्नाकर में ही उदाहृत]

'मानो गुणैर्जायते शुभा अपि प्रायन्ते सुजनसेवाया ।

विमलेन सुकृपप्रसरेण सुजनसेवाया उत्थानम् ॥'

'मान शुभ से उत्पन्न होता है, शुभ भी सुजनों की सेवा से उत्पन्न होते हैं। और सुजनसेवा का उत्थान होता है पुण्यों के विमल परिपाक से ॥

यहाँ पूर्व पूर्व पदार्थ को उत्तर उत्तर पदार्थ के प्रति कारण बनलाया गया है। इसी प्रकार आगे स्थलों में भी स्वयं सोच लेना चाहिए ॥

विमदा—कारणमाला-हृतिहास

मानह, वामन तथा उद्धट में हम पर कोई चर्चा नहीं मिलती। प्रथमतः रुद्र ने हमका निर्बचन किया है। वास्तववश के अलंकारों में वे इसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

'कारणमाला सेव यत्र वधापूर्वमेति कारणताम् ।

अर्थाना पूर्वापेक्षं भवतीत्यं सर्वमेवेति ॥ ७।८४ ॥

—'प्रथम प्रथम पदार्थ से उत्तर-उत्तर पदार्थ उत्पन्न होने हैं अन्तरवर्ती पदार्थों के प्रति पूर्व पूर्ववर्ती पदार्थ कारण होने के कारण यह अलंकार कारणमाला कहलाता है।

वदा—'जितेन्द्रियस्त विनयस्य कारणम्' एव का ही रूपान्तर—

'विनयेन भवति गुणवान् गुणवति लोकोऽनुरज्यते मकलः ।

अभिगम्यतेऽनुरक्तैः ससहायो युवने लक्ष्म्या ॥'

—विनय से व्यक्ति गुणवान् बनता है, गुणवान् पर लोग अनुरक्त होते हैं। अनुरक्त लोग साथ देते हैं। माथियों वाला व्यक्ति लक्ष्मी से युक्त होता है।

मग्मत—मग्मत ने रुद्र का अनुसरण इस प्रकार किया है—

मू० 'यनोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्वार्थत्व हेतुना । तदा कारणमाला रयात् ।'

वृ० उत्तरमुत्तरं प्रति यनोत्तरम् ।

उदा०—'जितेन्द्रियत्वं' एव ही।

परवर्ती आचार्यों में से शोभाकर का मत दिया ही जा चुका है। इसमें 'मानो गुणैः' गाथा, जो विमदशिनी में उद्धृत है, द्वारा उत्तर-उत्तर पदार्थ को भी पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति कारण बनलाया गया है। रुद्र, मग्मत सर्वस्वकार का इस ओर ध्यान नहीं है।

अप्यदीक्षित ने रत्नाकर की सूत्र का अनुमोदन किया है और दोनों ही प्रकार की कारणमालाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि इन्होंने रत्नाकरकार के समान कारणमाला की शृङ्खला में अन्तर्भूत नहीं माना है। उनका कारणमाला विवेचन यह है—

‘शुभः कारणमाला स्याद् यथा प्राक्प्रान्तकारणैः ।’

—‘पूर्व-पूर्व या उत्तर उत्तर के पदार्थों का उत्तर-उत्तर या पूर्व-पूर्व के पदार्थों के प्रति कारण बनना कारणमालालङ्कार कहलाता है। प्रथम का उदाहरण—

‘नयेन श्रीः त्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः ।’

—‘नय से श्री, श्री से त्याग, त्याग से विपुल यश।’

द्वितीय का उदाहरण—

‘भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसंभवम् ।

दारिद्र्यमप्रदानेन तस्मात् दानपरो भव ॥’

—‘नरक होते हैं पाप से, पाप होता है दारिद्र्य से, दारिद्र्य होता है दान न देने से। इसलिये दानपरायण बनो।’

पण्डितराज ने पहले शृङ्खला का लक्षण बनाया है और उसके पश्चात् तन्मूलक एक-एक अलंकार का। उनका शृङ्खला का लक्षण यह है—

‘पञ्क्तिरूपेण निबदानामर्षानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन् ,

उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वरिम्न् संसृष्टत्वं शृङ्खला ॥’

—‘पंक्तिरूप से उपनिबद्ध पदार्थों में से पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तरपदार्थ के साथ अथवा उत्तरोत्तर का पूर्व-पूर्व पदार्थ के साथ संबन्ध होना शृङ्खला कहलाता है। इसके स्वतन्त्र अलंकारत्व पर रत्नाकर और विमर्शिनी के पञ्चविषय भी पण्डितराज ने यहाँ संक्षेप में नामोश्लेष के बिना उपस्थित किए हैं। किन्तु सारालङ्कार के प्रकरण के अन्त में उन्होंने विमर्शिनी के ही तर्कों का समर्थन किया है। कारणमाला का लक्षण उन्होंने इस प्रकार बनाया है—

‘सैव शृङ्खला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला ।’

—‘वही शृङ्खला संश्लेष के कार्यकारणभावरूप होने पर कारणमाला।’

पण्डितराज ने रत्नाकर द्वारा प्रस्तुत इसके दोनों भेद भी स्वीकार किए हैं और लिखा है—

(१) ‘तत्र पूर्वं पूर्व कारणं परं परं कार्यमित्येकम् ।

(२) पूर्व पूर्वं कार्यं परं परं कारणमित्यपरा ।’

विश्वेश्वर—ने कारणमाला के दोनों भेद स्वीकार किए हैं किन्तु कारणमाला का लक्षण केवल शतना बनाया है—

‘कारणमाला पूर्वं पूर्वं कार्यं ययोत्तरं हेतौ ।’

—‘उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के हेतु होने पर कारण माला। इन्होंने इसका उदाहरण भी अच्छा खोज निकाला है—

‘दारिद्र्याद्भ्रियभेति०’ इत्यादि मृच्छकटिक का प्रसिद्ध पद्य।

इस पर श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कटार्थकारिका यह है—

‘कार्यकारणमालायां प्राचः प्राचः परं परम् ।

[सर्वस्व]

[सू० ५५] यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने
एकावली ।

यत्र पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेण परं परं विशेषणत्वमनुभवति स एकावलय-
लंकारः । विशेषणत्वं च स्थापनेन निवर्तनेन वा ।

स्थापनेन यथा

'पुराणि यस्यां सघराङ्गानि घराङ्गानां रूपपुरस्कृताङ्गयः ।

रूपं समुन्मीलितसद्विलासमसंघं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥'

अथ घराङ्गानां पुराणां विशेषणं स्थापनीयत्वेन स्थितम् । एवं घराङ्ग-
नानां रूपमित्यादि ह्येयम् । निवर्तनेन यथा—

'न तज्जलं यत्र जुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनपट्टपदम् ।

न पट्टपदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तत्र जहार यम्मनः ॥'

अत्र जलस्य जुचारुपङ्कजत्वं विशेषणं निषेधरत्वेन स्थितम् । एवं पङ्कजा-
नामलीनपट्टपदत्वादि ह्येयम् ।

[सू० ५५] 'पूर्व-पूर्व के प्रति परवर्ती के विशेषण रूप से स्थापन या निवर्तन हो तो
[अलंकार की सजा] एकावली [होती है] ।

जहाँ उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण बनते जायें वह अलंकार एकावली कहलाता
है । विशेषणता स्थापन से होती है या निवर्तन से, स्थापन से यथा—

'जहाँ नगर उत्तम अंगनार्थों से युक्त है, उत्तम अंगनार्थों रूप से पुरस्कृत अंगनार्थों है,
रूप उन्मीलित हो रहे अभिमान विलासों से युक्त है और विलास काम के अलंकार है ।'

यहाँ उत्तम अंगनार्थों नगर के प्रति ऐसे विशेषण है । जो स्थापित किए जा रहे हैं ।
इसी प्रकार रूप उत्तम अंगनार्थों के प्रति ऐसा ही विशेषण है और जागे भी ऐसा ही है ।

निवर्तन से यथा—

'जिसमें कोई अलंकार न था जिसमें सुन्दर कमल न हो, कमल भी ऐसा न था जिसमें भीरे
नहीं दूट रहे हों, भीरे भी ऐसे न थे जो मधुर गुञ्जार न कर रहे हों और जोरें मधुर गुञ्जार
भी ऐसा न था जो मन न हरता रहा हो ।'

—यहाँ अलंकार के प्रति 'सुधारुपङ्कजत्वं = सुन्दर कमल से युक्त होना', ऐसा विशेषण है
जो निषेधरूप से स्थित है । इसी प्रकार कमला आदि के प्रति 'अलीनपट्टपदत्वं = जिसमें भीरे न
दूट रहे हों' आदि की समझना चाहिये ।

चिर्मर्दिनी

यथापूर्वमित्यादि । पर परमिति । अत एव पूर्वस्य पूर्वस्य यथायथ विशिष्टतयाव-
गमः । स्वरूपभात्रेगाजगतस्य वस्तुनो यथावन्व्ययलेख वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम् ।
यद्भवति, उत्तरोत्तरस्य पूर्व पूर्व प्रत्युत्पद्येति एकावलीति । एकावलयलंकार इति । पूर्वो-
त्तरयोः परस्परानुपपत्त्येनैकपङ्क्तिरूपत्वात् ।

यथापूर्वम् इत्यादि । परं परम् = उत्तरवर्ती, अत एव पूर्व-पूर्व का उसी क्रम से एक एक करके विशिष्ट—[विशेषण-सुक्त]-ता के साथ ज्ञान होता है । विशेषण वह तत्त्व है जिसके संबन्ध को बल पर स्वरूपमात्र से विदित कोई पदार्थ विशिष्टता का अनुभव करता है । जैसा कि कहेंगे—'उत्तरोत्तर के पदार्थ पूर्व-पूर्व के पदार्थों के उत्कर्ष के हेतु हों तो एकावली' । एकावलीलङ्कारः = अलंकार का नाम एकावली, इसलिये कि इसमें पूर्व और पर के पदार्थ परस्पर में सम्बन्ध रहते हैं और एक पंक्ति जैसे प्रतीत होते हैं ।

विमर्शः—इतिहास

एकावली भी प्रथमतः रुद्रट की देन है । इन्होंने इसके उपर्युक्त दोनों पक्ष भी प्रस्तुत किए हैं । इनका एकावली विवेचन—

'एकावलीति सेरं यत्रार्थपरम्परा यथाशामन् ।

आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम् ॥'

—'एकावली नामक अलंकार वह है जिसमें पदार्थ जिस क्रम से प्राप्त होते हैं वही क्रम से उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्व के प्रति स्थापित या निर्पिद्ध होकर विशेषण होते जाते हैं ।'

उदाहरण—(१) 'सलिलं विकासिकमलं कमलाणि सुगन्धिमधुसमृद्धानि ।

मधु लौनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह ॥'

—'पानी यहाँ विकसित कमलों से सुशोभित है, कमल सुगन्धित मधु से सन्वद हैं, मधु हूब रहे औरों से आकुलित है और औरों भी मधुर गूल से भरे हैं ।'

यह पद्य निश्चित ही मञ्जिकाव्य के 'न तत्त्वलं' पद्य का विभिरूप है । निम्नलिखित पद्य भी इसी पद्य की छाया पर निर्मित है—

(२) 'नाकुसुमस्तररस्मिन्नुद्याने नामधूनि कुसुमानि ।

नालीनालिकुलं मधु नामधुरकाणमलिवलयम् ॥'

—'इस उद्यान में कोई भी वृक्ष पुष्पहीन नहीं है, कोई पुष्प मधुहीन नहीं, कोई मधु भ्रमरहीन नहीं और कोई भी भ्रमर मनोहर गुजार से रहित नहीं है ।'

निश्चित ही रुद्रट ने मञ्जिकाव्य की रीतिबद्ध कविता से पर्याप्त सहायता ली है, प्रकाश पाया है ।

मम्मट—स्थाप्यतेऽपीक्षते वापि यथापूर्वं परं परम् ।

विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥

—'जहाँ, पूर्व-पूर्व के प्रति परवर्ती पदार्थ विशेषणरूप से स्थापित किए जाएं या इटाए जाएं वह दो प्रकार की एकावली होती है ।'

उदाहरण दोनों वे ही जो अलंकारसर्वस्वकार ने दिए हैं । 'इस प्रकार एकावली के विषय में रुद्रट का मम्मट ने और मम्मट का सर्वस्वकार ने अनुसरण किया है ।

परवर्ती आचार्यों में—शोभाकर की प्रतिक्रिया कारणमाला में व्यक्त हो चुकी है । अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में इस अलंकार का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है—

'गृहीतमुक्तरीत्याश्रेणिकेकावलिर्मता ।'

'गृहीतमुक्तीति से अर्थ की श्रेणी एकावली' । यहाँ गृहीतमुक्त शब्द से पूर्व का उत्तर के प्रति भी विशेषणभाव माना गया है । अब कि सर्वस्वकार ने इस स्थिति में मालादीपक माना है ।

इसका स्पष्टीकरण आगे षष्ठितराज ने कर दिया है । दीक्षित जी ने अपोद् को लक्षण में स्थान नहीं दिया न तो उसके उदाहरण ही दिए हैं ।

पण्डितराज—ने एकावली का लक्षण स्वतन्त्र विन्तन द्वारा इस प्रकार बनाया है—

‘सैव शृङ्गला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावस्वरूप एकावली’ वही शृङ्गला एकावली कहलाती है जब संबन्ध विशेष्यविशेषणभाव रूप होता है।

पण्डितराज ने इसमें स्थापन और अपोहन का भी अस्तित्व सकारा है और उनके लक्षण भी इस प्रकार बनाए हैं—

[१] स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकरव स्थापकत्वम् ।

[२] स्वभ्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकभ्यतिरेकवृद्धिजनकत्वमपोहकत्वम् ।

अर्थात् अपने संबन्ध के द्वारा विशेष्य में उसकी विशेषता का निश्चय कराना स्थापन। यथा ‘पण्डित वह जो अपना हित देखे’। यहाँ स्वहितदर्शिता द्वारा पाण्डित्य का निश्चय कराया जा रहा है, इसका स्पष्टीकरण ‘जो स्वहितदर्शी नहीं होगा वह पण्डित नहीं होता’—इस परवर्ती भ्यतिरेकी शेष से होता है। अपोहन वह होता है जो अपने अभाव से विशेष्यगत विशेषण का अभाव तय कराए। यथा यहाँ—‘जो स्वहित न देखे वह पण्डित नहीं’ इसमें स्वहितदर्शिता का अभाव पाण्डित्य के अभाव का निश्चायक है।

अप्यद्वीक्षित के ही समान पण्डितराज ने पूर्व पूर्व को भी उत्तरोत्तर के प्रति विशेषणीभूत मानकर एकावली स्वीकार की है। मालादीपक से इस भेद का अन्तर उम्होंने परमेश्वर पंक्त का लेकर किया है। यदि पूर्व पूर्व के द्वारा उत्तरोत्तर में उत्पन्न किया गया वैशिष्ट्य एकरूप ही हो तो मालादीपक होता है। एकावली में यह प्रतिभ्यक्ति भिन्न-भिन्न होता है।

विश्वेश्वर—ने एकावली का निरूपण इस प्रकार किया है—

‘प्रथम विशेषणं यद् विशेष्यमध्ये भवत्यसकृत् ।

विरहप्रतियोगी वा तद्भनेकावली सोत्ता ॥’

‘जो पहले विशेषण हो वही आगे विशेष्य बने या उससे शुद्ध अभाव का प्रतियोगी बने और ऐसा अनेक बार से उसे एकावली कहते हैं।’

विश्वेश्वर ने यहाँ पूर्व का उत्तर के प्रति विशेषणभाव भी माना है। विश्वेश्वर की दृष्टि एकावली के विषय में पण्डितराज से अधिक व्यापक है। पण्डितराज ने स्थापन और अपोहन के जो लक्षण किए हैं उनकी दृष्टि में वे एकांगी हैं व्यापक नहीं। ‘न तज्जलं’ में उनका अपोहनलक्षण लागू नहीं होता। यहाँ शरत्काल का वर्णन है। इसमें कमल के अभाव में जलत्व का अभाव विवक्षित नहीं है, अपितु जल के साथ कमल का अयोग्यव्यवच्छेद विवक्षित है। इसी प्रकार ‘पुराणि यस्यां’ में वरांगनायुक्त पुरत्व का निश्चायक नहीं है वह केवल पुर के उत्कर्ष का न्यञ्जक है।

एकरूपी की निष्कृतार्थकारिका इस प्रकार है—

‘एकावल्यां यमापूर्वं भेदकं तूत्तरोत्तरम् ।

स्थाप्यनेऽपोहते चैव तेनेयं दिविना मता ॥’

[सर्वस्व]

[सूत्र ५६] पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ।

उत्तरोत्तरस्य पूर्व पूर्व प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली। पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरोत्कर्षनियन्धनत्वे तु मालादीपकम् । मालात्वेन चाकृत्यविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लङ्घनेनैह लक्षणं कृतम् । गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम् । यथा—

‘संग्रामाङ्गणमागतैर्न भवता चापे समापेपिते

देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम् ।

कोदण्डेन शराः शरैरिशिरस्तेनापि भूमण्डलं

तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥’

अत्र कोदण्डादिभिः क्रमेण शरादीनामुत्कर्षा विहितः । समासादन-
लक्षणक्रियानियन्धने च दोषकं दोषनविषयाणामुत्तरोत्तपामिमत्त्वेन कृतम् ।

[सूत्र ५६] पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर का उत्कर्षाधिक्य हो तो [अलंकार] मालादीपक [कहलाता है] ।

उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व के प्रति उत्कर्ष का हेतु हो तो एकावली माना गई है, इसके विपरीत पूर्व-
पूर्व उत्तर उत्तर का उत्कर्षाधिक्य हो तो मालादीपक होता है । मालामात्र के कारण इसमें एक
विशेष प्रकार की चारुता चली आती है । उसे दृष्टि में रखने हुए इसका लक्षण दीपक के प्रसंग
से हटाकर यहाँ किया गया है । गुणावहत्व का अर्थ है उत्कर्षहेतुत्व । उदाहरण—

‘देव ! संग्रामांगण में आकर आपने धनुष चढ़ाया तो सुनिर जिस-जितने जो जो प्राप्त किया ।
धनुष ने बाग, बाणों ने शत्रु सिर, उन्हेंने भूमण्डल, उसने आरक्षो, आपने कीर्ति और कीर्ति ने
मीनों लोकों को ।’

यहाँ धनुष आदि के द्वारा क्रम से शर आदि का उत्कर्ष किया गया । [अतः यहाँ मालामात्र
है और सब में] समासादनरूप [एक] किया होने से यहाँ दीपक है । दीपन कार्ये विषयों में
उत्तरोत्तर अभिमताता बतलाने से निष्पन्न हुआ है ।’

विमर्शिनी

पूर्वत्यादि । अतश्चैकावलीलंकाराद् वैतृष्ण्यं दर्शयन् श्यावष्टे—उत्तरेत्यादि । उत्कर्षनि-
चन्धनत्वं इत्यनेन कारणमालातोऽभ्यस्य वैतृष्ण्यमुक्तम् । तस्यां हि पूर्वस्य पूर्वस्योत्तर-
सुत्तरं प्रति कारणत्वम् । ननु चास्य प्राच्यैर्दीपकानन्तरं लक्षणं कृतम् इह तु किं न तस्याया-
शङ्क्याह—मालावदेनेत्यादिना । मालाशब्देनात्र शृङ्खला लक्ष्यते, तस्या पूर्वोपक्रमतत्त्वात् । अत्र
न चात्र मालोपमावन्मालाशब्दो ज्ञेयः । एकस्योपमेयस्य बहुपमानोपादानाभावात् । अत्र
ह्यौपम्यमेव नास्ति । कोदण्डशरादीनां तस्याविवक्षणात् । अत एवास्य दीपकभेदत्वं न
वाच्यम् । औपम्यजीवितं हि तत् । प्राच्यैः पुनरेतदीपनमात्रासुगुण्यासदनन्तरं लक्षि-
तम् । शृङ्खलात्वेन तु विशिष्टमस्य शाल्वमितीह लक्षणं युक्तम् । एतच्च दीपक एव
ग्रन्थकृतोक्तम् ‘छत्यान्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यते’ इति । अत्रत्यादि ।
उत्कर्षश्च शरादीनां कोदण्डादिसमासादनलक्षणः । दीपनविषयाणामिति । कोदण्डशरादीनाम् ।
अत एवास्य दीपकमित्यन्वयमभिधानम् ॥

पूर्वस्यादि । इसीलिए एकावली अलंकार से इसका भेद बतलाने हुए व्याख्या करते हैं
उत्तर इत्यादि । उत्कर्षनिचन्धनत्व = उत्कर्षहेतु होना = इसके द्वारा कारणमाला से भी
इसका भेद बतलाया । उसमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होता है । ‘इसका लक्षण
प्राचीन आचार्यों [मम्मट] ने दीपक के बाद किया है, यहाँ वैसा क्यों नहीं किया
जा रहा है’—ऐसी शंका करके उत्तर देते हैं—मालात्वेन इत्यादि । यहाँ मालाशब्द का
अर्थ लक्षणा द्वारा शृङ्खला है, क्योंकि प्रकरण उसी का चला हुआ है । यहाँ मालाशब्द मालो-
पमा जैसा नहीं समझना चाहिए—क्योंकि यहाँ एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों का उपा-

दान नहीं है। यहाँ तो औपम्य ही नहीं है, क्योंकि धनुष-बाण आदि में उसकी कोई विवक्षा नहीं। इसीलिए [मालादीपक] दीपक का भेद नहीं कहा जा सकता। वह [दीपक] औपम्य पर निर्भर रहता है। प्राचीनों ने जो इसका लक्षण दीपक के बाद रखा है वह केवल दीपन मात्र की समानता के आधार पर। वस्तुतः इसमें वास्तव आती है श्रुतलात्व से, अतः इसका लक्षण यही ठीक है और यह तो अन्यकार दीपक [के अन्त] में ही कह चुके हैं कि—'माला-दीपक एक मित्र चमरकार को लेकर होता है, उसका लक्षण अन्य प्रसंग में किया जायगा।' अत्र = शरादि का वर्तक है धनुष आदि के द्वारा प्राप्त किया जाना। दीपनविषयागाम् = दीपन कार्य के विषय = धनुष आदि। इसीलिए इसका 'दीपक' नाम सार्थक है ॥

विमर्श—

कृतिहास—मालादीपक आमह, वामन, उद्भट और रुद्रट में नहीं मिलता।

वृण्डी—यह हृदप्रथमतया दण्डी में मिलता है। उनका निरूपण—

'शुक्ल. श्वेतांबिषो वृद्धये पञ्च पञ्चशरस्य स।

स च रागस्य रागोऽपि यूनां रत्युरस्यथियः ॥

इत्यादिदीपकश्चेऽपि पूर्वपूर्वश्वयेतिगि।

वाक्यमालाप्रदुक्तेति तन्मालादीपकं स्पृणम् ॥

—'शुक्लपञ्च चन्द्रमा की वृद्धि करता है, चन्द्रमा काम की, काम राग की, राग युवकों की रतोत्सवशी की।' यह आदिदीपक है तथापि इसमें पूर्व पूर्व के प्रति परवर्ती को सापेक्ष वाक्यों की माला बनाने गई है, अतः इसे मालादीपक कहा गया है। — [काव्यारण्य-२।२०।]

मम्मट—

मालादीपकमायं चेद् धयोत्तरगुणावहम्।

—'यदि आदि-आदि के पदार्थ ययोत्तर उत्कर्षकारी हों तो मालादीपक होता है।'

उदाहरण—'संभ्रामाङ्गण०' पद्य ही।

रत्नाकर का जो उदाहरण कारणमाला के प्रसंग में उद्धृत किया गया है उससे स्पष्ट है कि शोभाकरमित्र मालादीपक को स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते।

अप्पय्यदीक्षित—ने मालादीपक की निष्पत्ति दीपक और प्रकावली के योग से मानी है—

'दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।

उदा०—'स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वन्नि कुला स्थितिः ॥'

—'काम ने उस सुन्दरी के हृदय में और उस [हृदय] ने आपमें टिकाव कर रखा है।' दूसरा उदाहरण 'संभ्रामाङ्गण०' ही इन्होंने दिया है।

पण्डितराज—नगनाथ मालादीपक की प्रकावली का ही एक भेद मानते हैं, दीपक नहीं [द्र० रसगंगाधर दीपकप्रकरण]। विमर्शनीकार के ही समान उनका कहना है कि इस अलंकार के उदाहरणों में आप पदार्थों में न तो सादृश्य ही रहता और न प्रकृताप्रकृतत्व ही। अतः यहाँ दीपकत्व कथमपि समभव नहीं। 'संभ्रामाङ्गण०' उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। [द्र० प्रकावलीप्रकरण रसगंगाधर] मालादीपक शब्द का आशय बतलाने हुए उन्होंने लिखा है 'मालापदेनात्र श्रुतलोच्यते दीपकशब्देन दीप इवेति व्युत्पत्त्या एकदेशस्य सर्वोपकारकमुच्यते।' तेन—

'एकदेशस्यसर्वोपकारकक्रियाशक्तिनी श्रुन्तेति पदद्वयार्थः ॥'

—'माला शब्द यहाँ शृङ्खला का धातक है और दीपक शब्द 'दीप के समान' इस व्युत्पत्ति के आधार पर एकदेशस्थ सभी द्रव्यों का उपकार के पदार्थ । इस प्रकार दोनों पदों का मिलित अर्थ हुआ—'एकदेशस्थित सभी पदार्थों का उपकार करने वाली क्रिया से युक्त शृङ्खला ।'

[द० रसग० एकावलीप्र०] ।

विश्वेश्वर—ने मालादीपक को दण्डी और मम्मट के ही समान दीपक-प्रकरण में ही स्थान दिया है । उनका लक्षण—

[सूत्र] 'माला तु पूर्वपूर्वं विष्वन्तरेणोत्तरान्वयिनि ॥'

[वृत्ति] तस्या क्रियायां रूपान्तरेणान्वितस्य पुनस्तस्यामेव रूपान्तरेणान्वये मालादीपक-मिति ।

—'एक ही क्रिया में एक रूप से अन्वित का पुनः दूसरे रूप से अन्वय मालादीपक कहलाता है ।' 'संग्रामाङ्गण०' पद्य में पद्य समासादनक्रिया में जिस धातु का कारणत्वेन अन्वय है उसी का कर्तृत्वेन भी अन्वय है ।

विश्वेश्वर पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत प्रस्तुत आपत्तियों का कोई उल्लेख नहीं करते । न तो उनका खण्डन ही करते ।

वीदिवाचकवर्ती की मालादीपक पर निम्नोक्त्याकारिका यह है—

'मालादीपकनामस्योत्तरोत्तरदीपनम् ।'

आद्य आद्य का उत्तर उत्तर के प्रति उत्कर्षक होना मालादीपक कहलाता है ।

[सर्वस्व]

[सू० ५०] उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः ।

पूर्वपूर्वापेक्षयोस्तरोत्तरस्योत्कर्षनिवन्धनः सारः ।

यथा—

'जये धरिऽयाः पुरमेव सारं पुने गृहं सन्नानि चैकदेशः ।

∴ नापि शय्या शयने वरा ह्यी रत्नोज्ज्वला रात्रसुखस्य सारम् ॥'

अत्र धरिऽपेक्षया पुरस्य सारत्वमेवं पुरापेक्षया तदेकदेशस्य गृहस्ये-
त्यादि योजनीयम् ।

यथा—

'राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुने सौधम् ।

सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'

अत्र राज्यापेक्षया वसुन्धरायाः सारत्वमेवं वसुधापेक्षया तदेकदेशस्य पुरस्येत्यादि योजनीयम् । एवं शृङ्खलाविच्छिद्यत्वालंकाराः प्रतिपादिताः ।

[सूत्र] उत्तरोत्तर उत्कर्षं सार [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर का उत्कर्ष बतलाना सार कहलाता है । यथा—

'पृथिवी के विजय में सार नगर ही है, नगर में सार गृह है, और गृह में उसका एक भाग । उसमें भी सार है शय्या, शय्या पर राज्य सुख का सार है रत्नोज्ज्वल उत्कृष्ट स्त्री ।'

—यहाँ पृथिवी की अपेक्षा नगर का सारत्व बतलाना जा रहा है इसी प्रकार नगर की अपेक्षा उसके एक अंश गृह का, इत्यादि योजना कर लेनी चाहिए । दूसरा उदाहरण यथा—

'राज्य में सार है पृथिवी, पृथिवी में सार है नगर, नगर में सौध, सौध में तक्ष, तक्ष में बनग का सर्वस्व उत्पन्न श्री ।'

—यहाँ राज्य की अपेक्षा पृथिवी का सारत्व प्रतिपादित है, इसी प्रकार पृथिवी की अपेक्षा उसके एक अंश नगर का, इत्यादि योजना कर लेनी चाहिए । इस प्रकार शृङ्खलामूलक चमत्कार वाले अलंकारों का प्रतिपादन पूरा हुआ ।

विमर्शिनो

उत्तरेत्यादि । एतदेव भ्याचष्टे-पूर्वत्यादि । एतच्चैकस्यैव वस्तुनो यदुनां वा स्यादित्यस्य द्वैधम् । तेन पूर्वत्र पूर्वपूर्वेति, उत्तरोत्तरस्येति चावस्थायितोषामिप्रायेण भ्याष्टदेवम् । अन्यथा षोडशस्यैव पूर्वत्वमुत्तरत्वं च कथं स्यात् । एवमप्युत्तरोत्तरमुपचयः स्वरूपेण धर्मेण वा भवतीत्यस्य चानुविध्यम् । एव प्रकृते यथावयवसमारोहक्रमेण धाराधिरुद्धतयोत्कर्ष-प्रतिपादनं स्यादित्यलंकारधीजम् । यदुक्तम्—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिरिति । पूर्वापेक्षयोत्तरयोस्तृष्टत्वमित्यनेन मालादीपकादस्य भेदोऽप्युक्तः । सत्र हि पूर्वस्योत्तरं प्रयुक्तपनिवर्धनस्यमुक्तम् । अत एव चारयोत्तरोत्तरयोत्कर्षोपनिबन्धादन्वयस्यम् । तत्रैकस्य स्वरूपेणोत्कर्षो यथा—

'किं द्वाप्र किं नु ह्यन तिलकमथ तथा कुण्डल कौस्तुभो वा
चक्र वा धारिज दोषमरयुषतिभिर्बद्धलिङ्गेपिदेहे ।
ऊर्ध्वं मौलौ छलाटे शबसि हृदि करे नाभिदेते च दृष्टं
पायात्तद्वोऽर्कविभवं न च दनुजरिपुर्बर्धमान' क्रमेण ॥'

अत्रैकस्यैव हरेरतत्तद्वश्यावितिदृष्टतया स्वरूपेणोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । धर्मेणापि यथा—
'अतसीकुसुमप्रभ मुखे तदनु स्वकचमेचकण्ठति ।
अथ बालतमालमांसलं प्रधृतं सगति सर्वतस्तमः ॥'

अत्रैकस्यैव तमसो नियदित्वात्पधर्ममुत्तेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । अत्र च यद्यप्येकस्मिन्नेव तमस्यनेकस्यातसीकुसुमप्रभादिकस्यावस्थानात्पर्यायत्वम्, तथापि तमसो नैविद्वयं यथावयवमुद्दृष्टतया वाक्यार्थीभूतमिति यथोक्तमेव दुष्कम् । यदुनां स्वरूपेणोत्कर्षो यथा—

'आयुश्चास्तरवस्ततोऽपि गिरयः स्वर्गसिञ्जलस्तत-
तस्माद्विशुष्यत् ततः किमपरं स्यादन्यदायुष्यतम् ।
तस्मात्सर्वत एव साधुद्वयान्युत्सृज्यमहोनि से
कस्या उच्चतये तवाधिपदर्षी चिन्तामणे तन्वते ॥'

अत्रानेकेषां पूर्वापेक्षया स्वरूपेणोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । धर्मेण यथा—

'कुक्षे. कोटर एव कैटभरिपुर्धत्ते त्रिलोकीमिमा-
मप्युद्गुणभरो विमर्ति तत्रपि प्रीतो मुजनेश्वरः ।
श्रीकण्ठस्य स कण्ठसूत्रमभवद्देव त्वया तं हृदा
विभ्रानेन पोषु पौरुषकथा श्रीकर्णं निर्नासिता ॥'

अत्र कैटभरिप्रभृतीनां पौरुषावयवधर्ममुत्तेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । एवं 'जये धरिभ्याः'
द्वयादौ सारत्वमुत्तेन चोद्धरणम् । यदाहाश्रयादि । यथा वा—

'त्रिलोक्या रत्नसुः शलाघ्या तस्यां धनपतेर्हरिस् ।
सत्र तौरीगुरुः शैलो यत्तस्मिन्नापि मण्डलम् ॥'

अत्र बहूनां श्लाघ्यत्वेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः । यश्वन्धैरेतस्स्थाने रूपधर्माभ्यामाधिक्य-
मिति वर्धमानमुक्तम् तत्तेषां नाममात्रनवीकरणरसिकत्वम् । अस्थैव पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरो-
त्तरोत्कर्षोपनिबन्धनात्मकत्वात् समग्रविषयावगाहनसहिष्णुत्वात् । तस्माद् 'अस्मिन्न
वर्धमाने सारोऽन्तर्भावमेति न पुनरिदम् अन्तर्भूतं सारे परिमितविषये महाविषयम्' इत्या-
द्युक्तमेवोक्तम् ।

उत्तरेत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—पूर्व इत्यादि । [रत्नाकरकार सारालङ्कार की
वर्धमान नामक अलङ्कार में अन्तर्भूत मानते हैं । विमर्शनीकार इसके विपरीत वर्धमान को नया
नाम मर मानते और उसको सार में ही अन्तर्भूत दिखलते हैं । अगला प्रकरण केवल रत्नाकर
के वर्धमानालङ्कार का सारालङ्कार के रूप में अक्षरशः उल्लेख है । रत्नाकरकार ने वर्धमान में
एक वस्तु या अनेक वस्तुओं के उपचय का चमत्कार बतलाया है, अतः विमर्शनीकार सार में
भी ये विशेषताएँ बतलाने जा रहे हैं । एक एक कर सभी उदाहरण भी वे रत्नाकर से ही लेते
जा रहे हैं—]

यद् उत्कर्ष एक ही वस्तु का बतलाया जा सकता है और अनेक वस्तुओं का भी । इस प्रकार
[वर्धमान के ही समान] इसके भी दो प्रकार हो जाते हैं । इस कारण 'पूर्व पूर्व' इस और
उत्तरोत्तर इस अंश की व्याख्या अवस्थागत विशेषताओं के आधार पर की जानी चाहिए । नहीं
तो केवल एक का पूर्वत्व और उत्तर कैसे होगा । इसी प्रकार उत्तरोत्तर उपचय दो प्रकार से होता
है स्वरूपतः या धर्मतः । इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं । इस प्रकार यहाँ अलङ्कार का
बीज उत्कर्ष का एक-एक के आरोह क्रम द्वारा आगे-आगे बढ़ते जाना है । जैसा कि [मम्मट ने]
कहा है 'उत्तरोत्तर बढ़ा और परा कोटि तक गया उत्कर्ष ही सार है' । पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती
का उत्कर्ष बतलाकर भालादीपक से इसका अन्तर भी स्पष्ट किया । उसमें जो है सो, पूर्व-पूर्व
का उत्तर-उत्तर के प्रति [उत्कर्ष नहीं] उत्कर्ष हेतुत्व बतलाया गया है । इसीलिए इसकी संज्ञा
साथक है क्योंकि इसमें उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बतलाया जाता है । इनमें—

[१] एक वस्तु का स्वरूपतः उत्कर्ष यथा—

'यद् सूर्यं विन्न और वह बढ़ता जा रहा दैत्यारि [वामनावतारी विष्णुविग्रह] भी आपकी
रक्षा करे जिस सूर्यविन्न को बलिद्रेपी [वामन] के [बढ़ते जा रहे] शरीर में ऊपर की ओर
देखा तो अन्तराओं ने सोचा कि यह छत्र है क्या सिर पर देखा तो सोचा रत्न है क्या, छलाट
पर देखा तो सोचा तिलक है क्या, कान के पास देखा तो सोचा कुण्डल है क्या, बल्ल पर देखा
तो सोचा कीस्तुभ है क्या, हाथ में देखा तो सोचा चक्र है क्या, तथा नाभिवेश में देखा तो सोचा
कमल है क्या ?'

यहाँ एक ही वामन का स्वरूपगत उत्तरोत्तर उत्कर्ष उन-उन अवस्थाओं को लेकर बतलाया
गया है ।

[२] [एकवस्तु का ही] धर्मतः उत्कर्ष यथा—

'अंधकार पहले तो अतसीकुलुसाम धा, तत्पश्चात् तुम्हारे केशों के समान मेचकच्छवि
[श्यामवर्ण] हुआ, तदनन्तर चालतमाल के समान मांसल होकर बढ़ सबंत्र फैल गया है ।'

यहाँ एक ही अन्धकार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष निविडतारुणों एक ही धर्म को लेकर बतलाया
गया है । इस पद्य में यद्यपि पवाँयालङ्कार भी है क्योंकि एक ही अन्धकार में अतसीकुलुसामप्रमत्तादि
अनेक धर्मों का क्रम से अस्तित्व दिखलाया गया है तथापि सार को ही अलङ्कार मानना ठीक है
क्योंकि यहाँ प्रधान है अंधकार की क्रमिक बृहत्तता ।

[३] अनेक वस्तुओं का स्वरूपतः उत्कर्ष यथा—

‘प्रयमतः’ बहुत ऊँचे होने हैं वृक्ष, उनसे ऊँचे हैं पर्वत, उनमें ऊँचा सुमेरु, उससे ऊँचा आकाश । उससे ऊँचा और कौन हो सकता है । हाँ, उन मधु से उच्छुद्ध चेटा वाले होने हैं साधुओं के हृदय । तब हे चिन्तामणे ! वे [साधुजन] किस उन्नति के लिए तेरे सामने याचक बनें ।’

यहाँ अनेक वस्तुओं का पूर्व-पूर्व वस्तुओं की अपेक्षा उत्कर्ष दिखलाया गया है ।

[४] [इन्दी अनेक वस्तुओं का] धर्मतः उत्कर्ष, यथा—

‘विष्णु भगवान् इस त्रिलोकी को कूँख की कोटर में ही धारण कर लेने हैं, उन्हें भी प्रेमपूर्वक धारण कर लेता है शेषनाम, यद्यपि उस पर पहले से ही काफ़ी बोझ रहता है । वह शेषनाम भी शोकगुण [भगवान् शिव] का कठला [कण्ठसूत्र] बन जाता है । हे श्रीकर्ण राजन् उन [भगवान् शिव] को हृदय में धारण करके आपने तो पौरुष की कथा ही समाप्त कर दी ।’

यहाँ विष्णु प्रभृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष पौरुष नामक धर्म के आधार पर बतलाया गया है । इसी प्रकार ‘जये धरित्रया’ आदि पद्यों में सारत्वरूपी धर्म के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष जानना चाहिए । जैसा कि [वृत्तिकार ने] कहा । अत्र इत्यादि । और जैसे—

‘त्रिलोकी मरु में श्लाघ्य है रत्नसू [उत्तम भूमि], उसमें कुनेर की दिशा [उत्तर], उसमें गौरी का पिता पर्वत [हिमाचल] और उसमें भी मण्डक [?] ।

यहाँ श्लाघ्यत्व गुण के आधार पर अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष बतलाया गया है ।

एक अन्य विद्वान् [रत्नाकरकार शोभाकर] ने जो इस [सार] के स्थान पर वर्धमान नामक अलंकार स्वीकार किया है और इसका लक्षण ‘रूप या धर्म से आधिक्य’ यह बनाया है, वह उनका नाममात्र नवीन रखने का चतुका है । क्योंकि इसमें भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बतलाया जाता है अतः [वर्धमान के अन्तर्गत आने वाली] संपूर्ण विषय समेट लेने में समर्थ है । इसलिये—

‘इस वर्धमान में सारका अन्तर्भाव हो जाता है । इसका उसमें नहीं क्योंकि सार का क्षेत्र छोटा है और वर्धमान का विशाल ।’ [परिकरश्लोक के द्वारा]

इत्यादि जो उन्होंने सिद्धान्त किया है वह अयुक्त ही है ॥

विमर्श—विमर्शनी के उक्त विवेचन में रत्नाकर द्वारा बनाया गया वर्धमान अलंकार का लक्षण एवं उनके द्वारा प्रस्तुत उसके सभी उदाहरण आ गये हैं । शेष केवल सर्वस्वकार का खण्डन है । वह इस प्रकार है—

‘राज्ये सार वसुधा [पूर्ण पथ] ०’ अत्र वसुधादीनामुत्तरोत्तरमारत्वारत्वारत्वं धर्मस्याधिक्यमिति धर्मोपचयसम्भावदन्यैः ‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः’ इति लक्षितरथ साराङ्कारस्यादिमन्नेदान्तर्भावान्न पृथगुपादानं कृतम् ।

‘अस्मिंश्च वर्धमाने—महाविषयम् ।’ इति परिकरः ॥

—‘राज्ये सार वसुधा०’ इत्यादि में वसुधादि के उत्तरोत्तर सारत्व नामक धर्म का आधिक्य है इसलिये धर्मोपचय की संभावना होने से ‘उत्तर-उत्तर का उत्कर्ष सार’ इस प्रकार जिस साराङ्कार का अन्य आचार्य (सर्वस्वकार) ने लक्षण किया है उसका अन्तर्भाव इसी में हो जाता है । अतः उसका पृथक् उपादान नहीं किया । ‘सार इस ०००००० विषय विशाल ।’

इस प्रकार में ‘अत्युच्चा’ पद के तुनीय चरण में रत्नाकर की प्रति के ही समान निर्णय-सागर की प्रति में भी ‘ति’ के स्थान पर ‘तत्’ छपा है । समाप्तान्तर्गत पद के अर्थ का परामर्श

सर्वनाम द्वारा होता है अतः हमने उसे 'वि' बना दिया है। उससे अर्थसंगति अधिक सफल हो जाती है।

इतिहास—सार का विवेचन पहले-पहल रुद्रट में मिलता है। वह इस प्रकार है—

'यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।

निर्भायते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्' ॥ ७१६ ॥

—'जहाँ समुदाय में से एक-एक अंश गुणवत्तर और अन्यत्र उत्कृष्ट बतलाकर अलग किया जाता है वह सार कहलाता है।' उदा० 'राज्ये सारं वसुधा०'।

मम्मट—'उत्तरोत्तरसुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः—' [विमर्शिनी में शृष्ठ ५३४ पर उद्धृत]।

उदा०—'राज्ये सारं वसुधा०'।

सर्वस्वकार ने मम्मट का लक्षण अक्षरशः अपना लिया है केवल परावधि शब्द को छोड़कर। परवर्ती आचार्यों में इस्माकनर का मत विमर्शिनी में स्पष्ट हो ही चुका है।

अस्पयसीक्षित—का लक्षण भी मम्मट का अनुवाद है। वह इस प्रकार है—

'उत्तरोत्तरसुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।'

उदाहरण में समालंकार के समान गुणगत इलाव्यता और अश्लक्ष्णता पर भी दीक्षितजी ने ध्यान दिया है।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने दीक्षितजी की यह सूत्र स्वीकार कर ली है। उन्होंने लक्षण में उत्कर्ष के ही समान अपकर्ष में भी सार स्वीकार किया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

'सैव [शृङ्खला] संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः।'

वही शृङ्खला संसर्ग के उत्कर्ष अपकर्ष रूप होने से सार कहलाती है। दोनों में से उदाहरण केवल उत्कर्ष का ही पण्डितराज ने दिया है। वस्तुतः उत्कर्ष का अर्थ तरतमभाव है। वह अपकर्ष में भी संभव है अतः पण्डितराज की यह सूत्र उन्हें स्वर्ध अधिक नहीं जंची। विमर्शिनीकार के समान पण्डितराज ने सार में गुण और स्वरूप को भेदक माना है तथा एकविषयता और अनेक-विषयता भी स्वीकार की है, और उनके उदाहरण दिए हैं।

रत्नाकर के बर्धमान की चर्चा भी पण्डितराज ने की है और उन्होंने उसका स्पष्ट खण्डन तो नहीं ही किया, दवे स्वर में मण्डन भी किया है। सार में यदि वस्तु एक हो और वह आरम्भ से अन्त तक एक-सी ही रहे तो चमत्कार नहीं रहता। बर्धमान में उसी वस्तु में अवस्थादि भेद भी रहते हैं जो अधिक चमत्कारी होते हैं।

सार को पण्डितराज ने शृङ्खला से रहित भी माना है। दोनों का समन्वय करने हेतु उन्होंने एक व्यापक लक्षण भी सुझाया है—'गुणस्वरूपान्यां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्ये सारः।' गुण और स्वरूप के द्वारा पूर्व पूर्व का वैशिष्ट्य हो तो सार अलंकार होता है। यह लक्षण शृङ्खलारहित भेद में भी समान रूप से अन्वित हो सकता है।

विश्वेश्वर—मम्मट का ही अनुसरण करते हैं—

'सारस्तु पूर्वपूर्वाहुत्कर्षिण्युचरे प्रोक्ते'।

'पूर्व-पूर्व' की अपेक्षा उत्तरवर्ती पदार्थ यदि उत्कर्षशाली बतलाया जाए तो सार होता है।' अवस्थाभेद से एक ही वस्तु के उत्कर्षपूर्ण वर्णन में रत्नाकर और पण्डितराज ने जो चमत्कार

देखा है विश्वेश्वर उसे भी तटस्थ स्वर में व्यथित कर देने हैं। धर्म और स्वरूप के भेदों पर वे चुप हैं।

इस पर चक्रवर्ती की निम्नैकारिका यह है—

‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षावहत्वे सार श्रूयते ।’

पाठान्तर—निर्णयसागरीय प्रति में अलंकार का नाम सार के स्थान पर उदार छपा है। ‘उत्तरोत्तरमुत्कर्षणमुदार.’ ररनाकर में प्राप्त सर्वस्व के उद्धरण में सूत्र का जो रूप मिलता है इसमें उदार का उल्लेख नहीं है। उद्भट, मम्मट और अप्पयदीक्षित के लक्षण भी सार वाले पाठ से ही मिलते हैं। संजीविनी में भी यही पाठ है। विमर्शिनी भी इसी पद्य में है। वृत्ति में ‘निबन्धनं सारः’ के स्थान या निर्णयसागरीय प्रति में ‘निबन्धनत्वमुदाराख्योऽलंकारः’ छपा है किन्तु पाठान्तर में ‘निबन्धनसारः’ ही पाठ दिया हुआ है। उदाहरणों में से ररनाकर में केवल ‘राज्ये सार’ पद्य ही उद्धृत है और संजीविनी भी केवल इसी पद्य से अवगत है। विमर्शिनी में ‘जये शरिण्या’ इत्यादी सारत्वमुट्टेन’ इस प्रकार आदिपद से सारता का धर्म प्रतिपादित करनेवाले एकाधिक पद्य का निर्देश मिलता है। उदाचित्त उनका मकेन ‘राज्ये सार’ पद्य की ही ओर है। एगता है ररनाकरकार और विमर्शिनीकार को दो भिन्न प्रतियाँ मिली थीं। अधिक सटीक प्रति ररनाकरकारवाली ही प्रतीत होती है। निर्णयसागरीय प्रति के संवादक ने ‘उदार’ को मूल मानकर पाद टिप्पणी में अपनी ओर से लिखा है—‘अयमेव काव्यप्रकाशकारादिभिः सारनाम्ना व्यवहृतः ।’ अर्थात् इसी उदार को काव्यप्रकाशकार आदि ने ‘सार’-नाम से पुकारा है।

विमर्शिनी में उद्धृत ररनाकर का एवा प्रकरण भी अशुद्ध छपा है। यहाँ तक कि ‘अस्मिन्ध०’ यह संप्रदायकारिका भी अशुद्ध मद्यपंक्ति के रूप में छपी है। हमने उसे मूल ररनाकर के आधार पर आरम्भ से अन्त तक ठीक कर दिया है।

विमर्शिनी

एतद्व्युपसंहारपादमवतारयति—अधुनेत्यादिना ।

इत [शृंखला] प्रकरण का उपसंहार किया। अब दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

[सर्धस्य]

अधुना तर्कन्यायाश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते । तत्र—

[सू० ५८] हेतौर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम् ।

यत्र हेतुः कारणरूपो वाक्यार्थगत्या विशेषणद्वारेण वा पदार्थगत्या लिङ्गत्वेन निबद्धयते तत् काव्यलिङ्गम् । तर्कचैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम् । न ह्यत्र व्याप्तिपक्षधर्मतोपसंहारादयः क्रियन्ते । वाक्यार्थगत्या च निबध्यमानो हेतुत्वैर्नोपनिबद्धव्यः, नोपनिबद्धस्य हेतुत्वम् । अन्यवार्थान्तरन्यासान्नास्य भेदः स्यात् । क्रमेण यथा—

‘यस्यनैत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं

मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायायानुकारी शशी ।

येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ने राजहंसा गता-

स्तत्सहाहृद्ययिनोद्मात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥’

‘मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिर्षं समयोध्यन्माम् ।

व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्षमराज्जीनि विलोचनानि ॥’

पूर्वत्र पादत्रयार्थोऽनेकवाक्यार्थरूपश्चतुर्थपादार्थं हेतुत्वेनोपन्यस्तः ।
उत्तरत्र तु संयोधने 'व्यापारयन्त्यः' इति सृगीविशेषणत्वेनानेकः पदार्थो
हेतुत्वेनोक्तः ।

एवमेकवाक्यार्थपदार्थगतत्वेन काव्यलिङ्गमुदाह्रियते । यथा—

'मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क वत्से क च तवकं वपुः ।

पदं सहेत अमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः ॥'

'यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव-

मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत् ।

तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-

मङ्गारञ्जुम्बितमिव व्यथमानमास्ते ॥'

पूर्वत्र वरप्राप्तिहेतुभूततपोनिषेधार्थ 'मनीषिताः' इति वाक्यार्थरूपो हेतु-
निर्दिष्टः । उत्तरत्र पुनः 'अस्तमितान्यभावम्' इत्यत्र विस्मयस्तिमितमिति
विशेषणद्वारेण पदार्थः ।

अथ तर्क [स्वरूप] न्याय पर आश्रित दो अलंकारों का प्रतिपादन करते हैं । उनमें—

[सू० ५८] हेतु के पदार्थरूप होने या वाक्यार्थरूप होने पर [अलंकार का नाम]
काव्यलिङ्ग [होता है] ॥

'जहाँ कारणरूप [न कि ज्ञापकरूप] हेतु जो वाक्यार्थरूप हो या विशेषणरूप होने से
पदार्थरूप, लिंगरूप से उपनिबद्ध होता है उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं । [नाम के साथ] काव्य
शब्द का प्रयोग तर्क से भेद करने के लिए किया गया है । यहाँ, व्याप्ति, पक्षधर्मेता, उपसंहार
आदि नहीं किए जाते । वाक्यार्थरूप से उपनिबद्ध किया जाने वाला हेतु हेतुरूप से ही उपनिबद्ध
होता है, उपनिबद्ध होने के बाद हेतु नहीं बनता । नहीं तो इसका अर्थान्तरन्यास से भेद नहीं हो
सकेगा । क्रम से उदाहरण [वाक्यार्थरूप अनेक हेतुमूलक काव्यलिङ्ग]—

—'हे मित्रे ! जो तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाला था वह नीलकमल पानी में डूब गया,
तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाला चन्द्र मेघों ने छिपा लिया, और जो तुम्हारी गति
के समान गति वाले राजहंस थे वे चले गए [इस प्रकार], तुम्हारे साहस्य से होने वाला जो नेत्र
भौदा बहुत विनोद है, वह भी विधाता को सख नहीं है ।'

[पदार्थरूप अनेक हेतुमूलक काव्यलिङ्ग]—

'और, हिरनियों दुशाङ्कर की अपेक्षा [परवाह] छोड़ तुम्हारा पथ न जान पा रहे मुखे वनके,
औँची उठी वरीनी वाले नेत्रों को दक्षिण दिशा में घुमा-घुमाकर सूचना दे रही थीं ।' [रघुवंश-१३]

[इन पद्यों में से] प्रथम में तीव्र चरणों का अर्थ, जो अनेक वाक्यार्थरूप है, चतुर्थ पाद के
अर्थ में हेतुरूप से प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय में सूचना देने रूपी अर्थ में 'घुमा-घुमाकर'
इत्यादि सृगीविशेषण के रूप में अनेक पदार्थ हेतुरूप से कहे गए ।

इसी प्रकार, काव्यलिङ्ग एकवाक्यार्थगत और एकपदार्थगत भी होता है । उसके उदाहरण—

'घर ही में मन चाहें देवता हैं वत्से ! तप नहीं, कहों तेरा शरीर । शिरीष का फोमल पुष्प
भारे के पैर की चोट सह सकता है, पखेरू की नहीं ।

'उसके पास मेरा जो हृदय विस्मय से निश्चल था, अन्य समस्त कार्य जिसने बन्द कर दिए थे और जो मानों अमृत में तैरने से आनन्दमन्थर था, वही [इस समय उसके वियोग में] मानों अगारे से दग कर व्यथित हो रहा है ।'

[इन पद्यों में से] प्रथम में वरप्राप्ति में हेतु तप के निषेध के प्रति 'मनोयिताः०' = 'मनचाहे०' यह वाक्यार्थरूपी हेतु बनकाया गया है और द्वितीय में 'अस्तमितान्यमाव' = 'अन्य समस्त कार्य जिसने बन्द कर दिए थे' [हृदय के]। इसके प्रति 'विस्मयस्तिमित' इस विशेषण के द्वारा पदार्थ ॥'

विमर्शिनी

सत्रेति द्वयोर्निर्धारणे । हेनोरित्यादि । यत्रेति । हेतोश्च वाक्यार्थपदार्थगतयोपनिबन्धा-
दस्यानेन सह भेदद्वयमप्युक्तम् । वाक्यार्थगत्येति । न तु पदार्थगत्या । तत्र ह्युपनिबद्धस्यैव
हेतुत्वात् । हेतुत्वेनैवेति । हेतुत्वस्यामुक्त एवोद्दिष्टत्वेन प्रतीतेः । अन्यथेति । हेतुत्वेनोपनि-
बन्धो यदि न स्यात् ।

ननु हेतोर्वाक्यपदार्थोभयोपनिबन्धे न कश्चिद्विद्वित्तिविशेषः प्रतीयत इति कथमस्या-
लंकारत्वमुक्तम् । न हि साध्यसाधनायोपात्तस्य हेतोरेवं प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्धा-
स्यात् । न च यथासंभ्रिनोपनिबन्धमात्रेणालंकारत्वं वक्तुं युक्तम् । कविप्रतिभात्मकस्य
विचिद्धत्तिविशेषात्मकस्यालंकारत्वेनोक्तत्वात् । न चैवमुपनिबन्धात्कश्चिद्विशेष इति कथ-
मस्यालंकारत्वम् । एवं हि 'इह स्वभासैव नाम्येन वेद्ये'त्यादावपि स्वाभासत्वस्य हेतोर्बि-
शेषणद्वारेण पदार्थगत्या, तथा 'प्रत्यक्षाद्विरलकराहुलिप्रतीतिर्थापित्वाद्कृशालमिन्द्रियं न
तस्याम्' इत्यादौ तमसि विरलानुलिप्रतीतीं थापित्वादिन्द्रियकौशलेमेव साधनमिति
हेतोर्वाक्यार्थगतयोपनिबन्धादलंकारत्व स्यात् । सत्यम् । यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य घशु-
वृत्तेरसंभवान्न कश्चिद्विशेषः प्रतीयते, तथापि ग्रन्थकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिह
लक्षितम् । अथ यत्र व्यङ्ग्यवास्थितो वाक्यार्थो वाच्यमेवार्थं प्रति हेतुता भगते तत्राप्यलंकारो
पुण्यत एवेति चेत्, तर्हि व्यङ्ग्यवारलेपवशेन तदुद्धानाद्वाक्यार्थतयोपनिबद्धद्वयमानस्य
हेतोः स्वात्मनि न कश्चिद्विशेष इति व्यङ्ग्यवह्न एवातिशयोऽप्युपगम्यते, न तत्कृतः ।
तस्यैवमुपनिबद्धस्य वास्तव्यत्वात् । यदि च व्यङ्ग्यवसाहचर्येणैव हेतुरलंकारतामिषात्
तच्छब्दाव्यापि हेतोरलंकारत्वं प्रसज्यते, यदि तत्रापि व्यङ्ग्यवारलेपः स्यात् । अथ तस्य
शाब्दात्वादेव वैचिन्त्याभावादयमनलंकारत्वे निमित्तत्वं कथं न थायात् । अथ तत्र व्यङ्ग्यवा-
रलेपो न भवतीति चेत्, किं नामापराद्धम् येनात्र व्यङ्ग्यवारलेपस्तत्र च नेति । तथात्वेन
लक्षणादर्शनादिति चेत्, नैतत् । अवाग्दर्शिन एव निश्चयानुपपत्तेः । प्रत्युत यत्र भवता
व्यङ्ग्यवारलेप उक्तस्तत्र न नास्तीति वक्तुं शक्यते । तथाहि

'वच'स्थली रचतु सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गुरुदृष्टव्यस्य ।

त्रियोऽङ्गरागेण विभाष्यते या सौभाग्यहेत्रा कथपट्टिकेव ॥'

इत्यत्र वचःस्थस्या जगत्प्रकृत्ये जगत्प्रसूतित्वं पदार्थो हेतुः । प्रसवितुर्हि निजप्रसूतेः
सर्वार्थैव रक्षणमुचितम् । अत एव गुरुदृष्टव्यवचःस्थक्या जगत्प्रकृत्ये कर्तृत्वं युक्तम् । इयां-
स्याभिधेय एवार्थः । अत एव 'चात्र न हेतोः' कश्चिद्व्यङ्ग्यवारलेपः । इत्यम् ।

'संजीविणीसहमित्र सुत्रस्य अण्णवावारा ।

सास णवन्मदसणकठागञ्जीविञ्चं सोहं ॥'

इत्यत्र कण्ठागञ्जीवित्वस्य । अत्र च जगत्प्रसूतिव्यस्य हेतोः पदार्थतयोपनिब-
न्धेन कश्चिद्विशेषो विशेषः । एवम् ।

‘अथि प्रमत्ते सिचयं गृहाणेत्युक्तेऽपि सख्या न विवेद काचित् ।
मग्ना हि सा तत्र रसान्तराले यत्रान्तरङ्गो भगवाननङ्गः ॥’

इत्यत्रापि ज्ञेयम् । यद्यपि चात्र रसशब्दस्य जलवाचित्वं न विचक्षितम् । तथाप्यभेदा-
ध्यवसायादतिशयोक्तिः, न पुनः शब्दशक्तिमूलं व्यङ्ग्यम् । तथात्वे हि हेतुहेतुमज्ञावस्य न
कश्चिदतिशयः । एवं हि

‘एकान्तजाहवाद्गुह्यां करभोर्वाः पराजिताः ।
कदव्यो यन्न तच्चित्रं जयः क्व न कळावताम् ॥’

इत्यत्र जाहवस्थातिशयोक्त्यालिङ्गितत्वेन वैचिन्ध्यावहृत्वाच्छाब्दस्यापि पदार्थस्य
हेतोरलंकारत्वं स्यात् । एवमुदाहरणान्तरेष्ववसेयम् ।

एवं च यत्रापि व्यङ्ग्यश्लेषः स्यात्तत्रापि हेतोर्वाक्यार्थतयोपनिबन्धे न कश्चिदतिशयः ।
अथ साध्यप्रतीतये हेतोरुपनिबन्धादस्त्येव वैचिन्ध्यातिशयः इति चेत् । तर्ह्यनुमानमेवं
स्याल्लालंकारान्तरम् । साध्यसाधनस्य तद्व्युत्पत्तयेन चक्षुमणस्वात् । एवं हेतोर्वाक्यप-
दार्थतयोपनिबन्धस्य वास्तवत्वात्स्य पृथगलंकारत्वं न युक्तम् । उक्तवच्यमाणनीत्यानुमान
पूर्वान्तर्भावोपपत्तेः ।

तत्र = वनमें, यह दो में से एक का निर्वारण करने के लिए कहा गया है । हेतुः इत्यादि ।
यत्र इति । हेतु, जो है वह वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में उपनिबद्ध होता है, कथन के साथ
इसके दो भेद भी बतला दिए । वाक्यार्थगत्या = वाक्यार्थरूप से = न कि पदार्थरूप से, क्योंकि वहाँ
[पदार्थरूप होने पर] तो उपनिबद्ध हो चुकने पर [पदार्थ में] हेतुता आती है । हेतुत्वेनैव =
हेतुरूप से ही = क्योंकि वहाँ हेतुत्व आरम्भ में ही स्पष्टरूप से प्रतीत हो जाता है । अन्यथा
यदि हेतुरूप से उपनिबद्ध न किया जाय ।

[शंका] हेतु का वाक्य और पदार्थ के रूप में उपनिबद्ध किए जाने में कोई बमत्कार प्रतीत
नहीं होता तो इसको अलंकार कैसे बतलाया गया । [तर्कशास्त्र में] साध्य को सिद्धि के लिए
अपनाय गए हेतु को = उपनिबन्ध में भी इन दो प्रकारों के अतिरिक्त कोई प्रकार संभव नहीं है
और लोकसिद्ध वस्तु के उपनिबन्ध मात्र से किसी को अलंकार कहना ठीक नहीं है, अलंकार तो
वह कहा गया है जो कविप्रतिभात्मक और वैचिन्ध्यरूप हो । और इस प्रकार का जो [तर्क शास्त्र
जैसा] लिखना है इसमें कोई विशेषता नहीं है । तब इसे अलंकार कैसे कहा । ऐसे तो—

‘इक्ष्वान्मासेव, नान्येन वेद्या’ [‘ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका-२।१२।२॥]

इत्यादि में भी स्वामासत्वरूप हेतु विशेषण द्वारा पदार्थरूप से उपनिबद्ध है और—

‘प्रत्यक्षाद् विरलकराङ्गुलिप्रतीतिर्व्यापित्वाद्कुञ्जलमिन्द्रियं न तस्याम् ।’

इत्यादि में ‘अन्धकार में विरल अंगुठी की जो प्रतीति होती है उसमें ‘व्यापक होने से
इन्द्रियकौशल ही कारण है’ (?) यह हेतु वाक्यार्थरूप से उपनिबद्ध है । अतः वहाँ भी अलंकारत्व
मानना होगा । [उत्तर] ठीक है । यद्यपि इस प्रकार के उपनिबन्ध वास्तविक ही होते हैं अतः
इनमें कोई अतिशय की प्रतीति नहीं होती, और नैसी प्रतीति संभव भी नहीं है, तथापि इसका
लक्षण प्राचीन आचार्यों ने किया था इसलिये अन्यकार ने भी वहाँ कर दिया है ।

[पूर्वपक्ष] यदि कहें [जैसा कि रत्नाकरकार ने कहा है] कि यह अलंकार वहाँ मानना ठीक
होगा वहाँ वाच्य अर्थ ही तो वाच्य अर्थ के ही प्रति हेतु किन्तु व्यंग्य अर्थ से युक्त होकर,
[उत्तर] तो इसका अर्थ यह हुआ कि वाक्यार्थ या पदार्थरूप से उपनिबद्ध हेतु यदि व्यंग्य के

कारण अलङ्कार बनता है तो हमसे सिद्ध होना है कि स्वयं हेतु में कोई अतिशय नहीं रहना। इस प्रकार अतिशय में कारण व्यंग्यार्थ ही माना जा रहा है, वह [हेतुभूत वाच्य अर्थ] नहीं। इस प्रकार उपनिबद्ध वह हेतु तो अपने आप में लौकिक हेतु जैसा है। इसके अतिरिक्त एक वापत्ति यह भी आती है कि यदि हेतु व्यंग्य के ही कारण अलङ्कार बनता है तो उस हेतु को भी अलङ्कार बन जाना चाहिए जिसका हेतुत्व शब्दत्व कथित हो किन्तु जिसके माप व्यंग्यार्थ का योग हो। [यदि कहें] 'हेतुत्व के शब्दत्व कथित होने से ही वह [हेतु] चमत्कार-शून्य और इसीलिए अलङ्कारत्वशून्य क्यों न हो जाएगा?' तो हम पूछने हैं 'यदि व्यंग्यार्थ का योग न हो तो?' 'एक मगध व्यंग्यार्थ का योग है और दूसरो जगद नहीं—इससे विगतने बाळा क्या है?' यदि कहें—'उद्यम में ऐसा नहीं दिखाई देना', तो यह भी ऐसा नहीं है। [अवाग्रशी] मूळ पर विचार करने वाले ऐसे निश्चय पर पहुँच ही नहीं सकते। बल्ले, वहाँ आप [रत्नाकरकार] ने व्यंग्यार्थ का योग बतलाया है वहाँ 'वह [व्यंग्यार्थ या अलङ्कार] नहीं है'—ऐसा कहा जा सकता है। प्रमाणार्थ [आप = रत्नाकरकार के द्वारा ही हेतुत्वकार नामक काव्यलिङ्गालंकार के लिए उद्धृत]—

'जगत् के बनक मगवान् गदहध्वज [विष्णु] की वह बद्ध स्वर्णी मगध की रक्षा करे, ओ लक्ष्मी के भगवाण मे सौमन्यसुवर्ण की कमौटी-सी प्रतीत होती है।'

—इस पद्यार्थ में पञ्च पद्यी के जगदरसकत्व में अगतप्रसूतित्व रूपी परार्थ हेतु है। जो जनक होता है उसके लिए अपनी सन्तति की रक्षा करना सर्वथा उचित ही है। इसीलिए विष्णु की वसन्त्यली का जगदरक्षा में कर्तृत्व उचित ही सिद्ध होना है। एतना सब यहाँ अभिप्रेय अर्थ ही है। इसीलिए यहाँ हेतु के साथ [रत्नाकरकार द्वारा कथित] व्यंग्य का कोई योग नहीं है। [क्योंकि यहाँ जगदरक्षणीवित्य व्यंग्य नहीं है]। इसी प्रकार [रत्नाकर द्वारा ही उद्धृत]—

'संजीवनीपथमिव सुनस्य रक्षत्यनन्यभ्यापारा।

इवमूर्नेकाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवित्रां स्तुषाम् ॥'

—'सास नवीन मेघ के दर्शन में कण्ठागत प्राण हुई बहू को पुत्र की संभोवनीपथि के समान, सब कुछ छोड़कर बचा रही है।'

—इस पद्यार्थ में कण्ठागत जीवित्व रूपी हेतु में [व्यंग्यार्थ योग नहीं है] यहाँ भी 'जगत्प्रसूतित्व' के ही समान हेतु में कोई अतिशय, कोई विशेषता नहीं है। इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा ही उद्धृत]—

'अरी देवदत्त, साही तो ठठा ले' सखी के इस प्रकार कहने पर भी कोई छन्दरो नहीं घेनी, वह उस रस में झूरी थी जिसमें भगवान् अनग काफी अन्तरंग रहते हैं।'

इस स्थल में भी जानना चाहिए। यद्यपि इस पद्य में रसशब्द अलंकारों की भी हो सकता है किन्तु वह अर्थ विवक्षित नहीं है, तथापि यहाँ अभेदाध्यवसाय के कारण अतिशयोक्ति ही होगी, शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य नहीं। जैसा होने पर [शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य होने पर] हेतुहेतुमद्भाव का कोई अतिशय न रहेगा। इसी प्रकार—

'उम करमोरु से कदली परकम शीतल होने के कारण यदि द्वार गई तो यह कोई आशय की बात नहीं। भला कलवान् लोगों की जीन कहीं नहीं होती।'

यहाँ जात्य [जड़ता, शीतलता] शब्द में अतिशयोक्ति है और उसका चमत्कार भी है अतः यहाँ पदार्थरूपी हेतु का हेतुत्व शब्दत्व कथित होने पर भी चमत्कार संभव है, इसी प्रकार अन्य लताहरणों में भी जाना जा सकता है [तथापि वह चमत्कार अतिशयोक्तिमूलक होगा व्यंग्यार्थमूलक नहीं]।

इस प्रकार जहाँ व्यंग्य का योग रहता भी है वहाँ भी हेतु चाहे वाच्यार्थ रूप से कथित हो या पदार्थरूप से उसके कथन में कोई चमत्कार नहीं रहता। यदि कहें कि साध्य की प्रतीति के लिए हेतु का जो प्रयोग रहता है उससे तो इसमें अतिशय रहता ही है ? तो फिर यह अनुमानालंकार ही होगा, अन्य स्वतन्त्र अलंकार नहीं, क्योंकि अनुमान का लक्षण साध्यसाधनभाव ही है जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है और आगे भी बतलाया जाएगा।

इस प्रकार वाच्यार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया या पदार्थरूप से प्रस्तुत किया गया हेतु वास्तविक हेतु ही होगा [कविकल्पित नहीं] अतः उसे पृथक् अलंकार कहना ठीक नहीं है' क्योंकि उसका अन्तर्भाव पूर्वकथित और आगे कही जाने वाली रीति से अनुमान में ही हो जाता है ॥'

विमर्शनीकार ने काव्यलिङ्ग का अनुमान में अन्तर्भूत मान लिया है। यह प्रेरणा उन्हें रत्नाकर से मिली है। रत्नाकरकार ने भी लिखा था—

[सू०] 'परप्रत्यायकं लिङ्गं हेतुः'

[वृ०] परग्रहणमनुमानवैलक्षण्यार्थम् । तेन स्वयं लिङ्गात् प्रतिपत्तिरनुमानम्, लिङ्गेन परप्रत्यायनं परार्थानुमानरूपं काव्यलिङ्गपर्यायो हेत्वलंकारः । यद्यप्यनुमानस्यैव स्वार्थपरार्थरूपत्वेन द्वैविध्यं तथापि प्रतिपादितरूपेण प्राच्यैः पृथक् लक्षितं, तथैवेहापि लक्षणम् ।'

[सूत्र] दूसरे को ज्ञान कराने वाला लिङ्ग हेतु।

[वृत्ति] 'पर' = 'दूसरे' शब्द का ग्रहण अनुमान से इसका भेद करने के लिए किया। इस प्रकार स्वयं लिङ्ग से हुई प्रतीति अनुमान होता है और लिङ्ग से दूसरे को ज्ञान कराने में हेतु। स्वार्थ और परार्थ दोनों रूप एक अनुमान के ही होते हैं तथापि प्राचीन भाषाओं ने अलग-अलग लक्षण किये हैं अतः यहाँ भी अलग लक्षण किया गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनुमान से काव्यलिङ्ग का भेद करते हुए मुख्यतः दो सूत्र प्रस्तुत किए हैं—

१—अनुमान में अनुमानप्रक्रिया वक्तृगत और काव्य में उपनिबद्ध रहती है, जब कि काव्यलिङ्ग में वह कविगत रहती है और अनिबद्ध।

२—अनुमान में हेतु और उसका हेतुत्व दोनों वाच्य रहते हैं जब कि काव्यलिङ्ग में हेतुत्व नियमतः व्यंग्य ही रहता है।

इतना कहने के बाद भी काव्यलिङ्ग विवेचन के अन्त में पण्डितराज ने इसको स्वतन्त्र अलंकार न मानने का पक्ष भी पूरे बल के साथ प्रस्तुत कर दिया है। विमर्शनीकार का उल्लेख बिना किए उनके उपर्युक्त विवेचन को उन्होंने इस प्रकार संक्षिप्त किया है—

१—काव्यलिङ्ग में कोई चमत्कार नहीं रहता क्योंकि उसमें प्रातिमत्त्व नहीं रहता।

२—श्लेष आदि [उपर्युक्त पक्षों के 'जाब्य, रस' आदि पदों] के रहने से हुआ चमत्कार वन्ही श्लेष आदि का चमत्कार होगा, काव्यलिङ्ग का नहीं।

३—इस प्रकार तो प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित अनेक अलंकार अलंकार सिद्ध नहीं हैं तो हो जाएं। इसमें हमारा कुछ नहीं विघ्नता।

आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कहा दिया है कि काव्यलिङ्ग निर्हेतुत्वदोष का अभाव है, अलंकार नहीं।

विमर्शनीकार के कुछ हेतु अमान्य हैं। वे काव्यलिङ्ग में हेतुत्व को व्यंग्य नहीं मानते। यहाँ तक कि रत्नाकरकार द्वारा उद्धृत 'वक्षःस्थली०' व्वादि पक्षों को उद्धृत कर वे उसमें उनके द्वारा प्रतिपादित व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही मानते हैं। वक्षःस्थली में प्रतीत हो रहा 'जगत्प्रसूतित्व' कमपि वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रतिपादक कोई भी विशेषण वक्षःस्थली के साथ

नहीं है। जिसके साथ है वह एक मिन्न पदार्थ है विष्णुरूपी। विमर्शनीकार केवल इतना कह सकते थे कि यहाँ हेतुत्व वाच्य जैसा ही स्पष्ट व्यय्य है। इस तथ्य को स्वयं रत्नाकरकार ने भी स्वीकार किया है।

काव्यलिङ्ग को अलग न मानने का जो मौन समर्थन पण्डितराज तक चला रहा उसका समर्थ उत्तर विद्वेदवर ने दिया है। उनका कहना है कि काव्यलिङ्ग में उपनिबद्ध होने वाला हेतु भले ही वास्तविक हो, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह कविप्रतिभाप्रसून नहीं है। हेतुरूप में दिया गया पदार्थ भले ही लौकिक हो, किन्तु उसको वस्तुविशेष या परिणाम-विशेष के प्रति हेतु सिद्ध करने का कार्य एकमात्र प्रतिभाबन्ध ही होता है। विद्वेदवर का कथन मान्य है। नीलकण्ठदीक्षित ने भी कहा है—

‘यानेव शब्दाम् वयमालपापो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम् ।

तेरेव विन्यासविशेषमभ्यैः सवेदयन्ते कवयो यथासि ॥’

‘कवि के शब्द और अर्थ नए नहीं होते, हमारे अनुभूत ही होने हैं, किन्तु उनकी योजना, उनका विन्यास उमका अपना होता है।’ [शिवलौलार्णव]।

सच यह है कि अनुमान का अनुमान, अनुमानरूप में दिखाई देता है जब कि काव्यलिङ्ग का नहीं। इसीलिए यहाँ अमत्कार हेतुसिद्धि में है और अनुमान में अनुमानप्रक्रिया के प्रस्तुतीकरण में। हेतु अनुमान का एक अंग होता है न कि अनुमान का समग्र शरीर। काव्यलिङ्ग में वाक्यार्थ या पदार्थ को हेतु बनाना अमत्कार का कारण होता है जब कि अनुमान में किसी साध्य की सिद्धि। इसीलिए दोनों अलकारों की संज्ञाएँ भिन्न हैं। इस प्रकार काव्यलिङ्ग अनुमान से ठीक उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार भावध्वनि रसध्वनि से। यह तथ्य अनुमान के प्रकरण में और भी स्पष्ट हो जाएगा।

काव्यलिङ्ग का इतिहास—

काव्यलिङ्ग के इतिहास में आचार्यों के तीन वर्ग मिलते हैं [१] वद्रे के पूर्ववर्ती आचार्य [२] वद्रे तथा [३] वद्रे के परवर्ती आचार्य।

[१] प्रथम वर्ग में दण्डी आमह और वद्रे आते हैं। दण्डी और आमह में परस्पर विरोध है, वद्रे समन्वयवादी हैं। दण्डी ने ‘हेतु’-नामक अलकार का विस्तृत विवेचन कर उसमें आने वाले कारणों के दो वर्ग बनाए थे कारक और शापक।

‘हेतुश्च सूक्ष्मलेखी च वाचामुत्तमभूषणो।

कारकशापको हेतुं तौ चानेकविधौ ०० ॥’ २।२।३५ ॥

कारक का उदाहरण—

‘अदमान्दोलित-प्रौढ-चन्दन-द्रुम-पल्लवः ।

उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः ॥’

‘चन्दनवृक्ष के प्रौढ पत्तों को हिला रहा यह मलयमारुत सब को अच्छा लग रहा है।’

यहाँ प्रीति की उत्पत्ति के प्रति मलयमारुत को दिया गया ‘आन्दोलिन०’ इत्यादि विशेषण कारण है।

शापक हेतु—‘अवधैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम् ।

देहोष्णभिः सुबोध ते सखि कामातुर मनः ॥’

—‘हे सखि! चन्द्रमरीचियों से शान्त न होने वाली और चन्द्ररस से भी असाध्य देहोष्ण से तुम्हारा मन सुख से कामातुर प्रवीत हो जाता है।’

यहाँ देहोष्मा साधन है और कामातुरता साध्य। हेतुहेतुमद्भाव भी देहोष्मा की तृतीया-
विमक्ति द्वारा शब्दतः कथित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम का हेतु काव्यलिङ्ग कहा जा सकता
है और द्वितीय अनुमान। यद्यपि काव्यलिङ्ग के साथ-साथ प्रथम हेतु को परिकर भी कहना
सरल है।

भामह = ने दण्डी के इस पक्ष का स्पष्ट खण्डन किया और कहा—'हेतु के उदाहरणों में कोई
वैचित्र्य नहीं रहता। यह तो उक्तिमात्र है, उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता'—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मताः।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्तयनभिधानतः ॥' २।८५ ॥

दण्डी ने—

'गतोऽस्तमर्को भातोन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इतीदमपि साध्वेव कालानस्थानिवेदने' ॥ २।२४४ ॥

कहकर 'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं'—ऐसे
वाक्यों में भी सम्भवाकाल की सूचना होने से हेत्वलंकार माना था। भामह ने स्पष्ट कहा—

'गतोऽस्तमर्को भातोन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामैत्रां प्रचक्षते' ॥ २।८६ ॥

'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं'—इत्यादि वाक्य कैसे
काव्य ? इन्हें 'तो बात भर कहते हैं'।

इस प्रकार भामह ने शापकमात्र का खण्डन किया, कारक का नहीं। किन्तु अमान्य बोधित
कर दिया पूरे हेतु को। इसी के साथ उन्होंने अनुमान नामक कोई अलंकार नहीं माना।

उद्भट—ने इसके विरुद्ध शापक हेतु को ही अलंकार मानने का साहस किया। वे कारकांश पर
तो चुप रहे किन्तु हेतु के कारकांश को उन्होंने अलंकार माना और काव्यलिङ्ग नाम दिया—

'श्रुतमेकं पदम्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।

हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥' ६।७ ॥

इस पर लघुवृत्तिकार ने लिखा—

'यत्र एकं वस्तु श्रुतं सद् वस्तवन्तरं स्मारयति अनुभावयति वा तत्र काव्यलिङ्गनामालंकारः।

पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकानुसरणमर्मतया यथा ताकिकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेन
वैरस्यमावृण्ति न तथा काव्यहेतुः; अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंबादी सरसः पदार्थ-
स्तन्निष्ठतया वपनिवध्यमानत्वात्। अतः काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणमुपात्तम्। न खलु तच्छाल-
लिङ्गं किं तर्हि काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणेन प्रतिपाद्यते।'

[का०] जहाँ सुनी गई एक वस्तु अन्य वस्तु की स्मृति या उसका अनुभव कराने में हेतु
बनती है उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं।

[वृत्ति] [आशय] जहाँ सुनी गई एक वस्तु अन्य किसी वस्तु का स्मरण या अनुभव कराती
है उसे काव्यलिङ्ग नामक अलंकार कहते हैं। यहाँ पक्षधर्मता, अन्वय, व्यतिरेक आदि अनुमान
सामग्री तो रहती है किन्तु उसमें वैसी नीरसता नहीं रहती जैसी तर्कशास्त्र में रहती है। इसका
कारण है काव्यगत पदार्थों की सरसता। इसीलिए काव्यशब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि उद्भट ने काव्यलिङ्ग नाम से शापकहेतुमूलक अनुमान को ही
अलंकार माना है। अनुमान नाम से उद्भट में कोई अलंकार नहीं मिलता।

इस प्रकार दण्डी ने हेतु के दोनों अंशों को अलङ्कार माना, मामूह ने दोनों को अनलङ्कार और उद्भट ने ज्ञापकांश को अलङ्कार तथा कारकांश को अनलङ्कार । इस प्रकार उद्भट के मत में हेतुमूलक अलङ्कार अलङ्कार तो है किन्तु केवल ज्ञापकांश में ही और उभका भी नाम हेतु'न होकर कान्यलिंग है, साथ ही नाम कान्यलिंग होने पर भी वह अनुमानस्वरूप है स्वल्प नहीं । फलतः दण्डी के मत में जहाँ कान्यलिंग और अनुमान दोनों का माना जाना संभव है वहाँ उद्भट के मत में केवल अनुमान का हा । उद्भट द्वारा उदाहरण से यह तथ्य और भी स्पष्ट है—

‘छायेय तत्र शेषाङ्गान्ने किञ्चिदनुगन्वला ।

विभूपापटनादेशान् दर्शयन्ती दुनोति माम् ॥’

‘तुम्हारे अभ्य अगों को कान्ति से कुछ मलिन यह कान्ति आनूपग पहनने योग्य स्थान दिखाना रही और मुझे दु खी कर रही है ।’

उदाहरण की अभिव्यक्ति अपने आप में भरपूर है, किन्तु इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अन्य अंशों की कान्ति से कण्ठ आदि की कान्ति मलिन है । हमसे छगना है कि इन अगों में भूषणसंयोग बहुत दिनों से छूटा है । इस प्रकार है यह अनुमान ही । इस प्रकार उद्भट ने अनुमान के लिए कान्यलिंग शब्द का प्रयोग किया है ।

उपर्युक्त सामग्री से यह भी स्पष्ट है कि प्रथम वर्ग के भाचार्यों में अलङ्कार का नाम ‘हेतु’ या ‘लिंग’ ही अधिक मान्य था अनुमान नहीं ।

उद्भट = [२] द्वितीय वर्ग में केवल उद्भट आते हैं । इन्होंने दण्डी के ही समान हेतु के दोनों अंशों को अलङ्कार मान लिया है किन्तु उसे नाम अनुमान दिया है । वनका विवेचन इस प्रकार है—

‘वस्तु परोक्षं यस्मिन् साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य ।

पुनरन्यदुपन्यस्यैद् विपरीत चैतदुपमानम् ॥’ ७।१६ ॥

—‘परोक्ष वस्तु साध्यरूप में उपस्थित कर उसके लिए साधक भी उपस्थित करे अथवा इसके विपरीत साधक उपस्थित कर साध्य को उपस्थित करे तो अलङ्कार का नाम अनुमान होता है ।’

उदाहरण—

‘वचनमुपचारगर्भं दूरादुदयमानमासनं सकलम् ।

इदमद्य मयि तथा ते श्वासि नून प्रिये कुपिता’ ॥

—‘प्रिये ‘भीषणारिक वानचोन, दूर से ही उठ खड़े होना, दूर ही बैठना’ यह सब मेरे प्रति कुछ देसा है । क जिससे लगना है तुम मुझ पर गुस्सा हो ।’

यह ठीक अनुमान का उदाहरण है । इसके अतिरिक्त उद्भट ने जो दूसरा हेतु दिया है वह कान्यलिंग का विषय माना जा सकता है । वह यह है—

‘यत्र बलीय कारणमालेभवाभूतमेव मृतमिति ।

भावीति वा तथान्यत्र कथ्येत तदन्वदनुमानम् ॥’

—जहाँ बलवत्तर कारण देखकर न भी हुए कार्य को हो चुका या होने वाला बतलाना दूसरा अनुमान होता है । उदाहरण—

‘अविरलविलोळबद्धं कुटुम्बार्जुननीपशुरमिवनवात ।

अपमायातः काली हन्त मृता. पयिकगेहिन्यः ॥’

—‘घने धरारते वादलः कुट्टैया, कोहा और कदम्ब से झुगन्धित बनवात लिए यह समय [प्रावृट्] आ गया । हन्त ! पथिक खियों मरों !’

—यहाँ कार्यकारणभाव स्पष्ट है । उदापन सामग्री विद्युत्कृत्यु का कारक कारण है, शापक नहीं । अतः इसे परवर्ती आचार्यों को मान्यता के अनुसार काव्यलिङ्ग कहा जा सकता है । स्वयं रुद्र ने काव्यलिङ्ग नाम से कोई भी अलंकार नहीं बतलाया है ।

इस प्रकार अलंकार के नामकरण की दृष्टि से उक्त आचार्यों के दो वर्ग बन जाते हैं— एक हेतुवादी और दूसरा अनुमानवादी । प्रथम में दण्डी और उद्भट आते हैं और दूसरे में केवल रुद्र ।

मम्मट = मम्मट कारण के दोनों अंशों को अलग अलग कर देते हैं । वे कारकांश को काव्य-लिङ्ग नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार मान लेते हैं और शापकांश को अनुमान नाम से स्वतन्त्र । उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

‘काव्यलिङ्गन् हेतोर्वाक्यपदार्यता’

काव्यलिङ्ग नाम अलंकार को तब मिलता है जब हेतु वाक्यार्थरूप होता है या पदार्थरूप । उदाहरण—

‘वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिमान्
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधमपि ॥’

—‘हे प्रभो शिव ! शरीर मिला इससे यह अनुमान हुआ कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्रायः कभी भी प्रणाम नहीं किया, और अभी जो प्रणाम कर रहा हूँ उससे मुझे आगे शरीर मिलेगा नहीं, अतः तब भी प्रणाम न कर पाऊँगा । भगवन् आप मेरे ये दोनो अपराध क्षमा करें !’

इस पद्यरत्न में अपराध के प्रति प्रणामाभाव को कारण बतलाया गया है । प्रणामाभाव प्रथम तीन चरणों द्वारा बतलाया गया है अतः वह वाक्यार्थरूप है । वाक्यार्थगत अनेकता का उदाहरण मम्मट ने नहीं दिया । सर्वस्वकार ने वह भी दिया है । मम्मट ने पदार्थगत एकत्व और अनेकत्व के लिए अवश्य ही दो पृथक् उदाहरण दिए हैं । वे सर्वस्व के उदाहरणों से गतार्थ हैं ।

अनुमान का विवेचन मम्मट ने इस प्रकार किया है—

‘अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ।’

जिसमें साध्य और साधन का शब्दतः कथन हो वह अनुमान । उनका उदाहरण सर्वस्वकार ने अनुमान प्रकरण में उद्धृत कर दिया है—‘धनैता लहरी०’ । वह रुद्र के ‘वचनमुपचारगमै०’ पद्य से गतार्थ है । सर्वस्वकार ने मम्मट का ही अनुसरण किया है । रत्नाकरकार ने भी अनुगमन तो मम्मट का ही किया किन्तु नामकरण में उन्होंने काव्यलिङ्ग के लिए हेतुपक्ष का अनुगमन किया और दण्डी के ही समान उसे हेतु कहा । उनका लक्षण इसी प्रकार के आरम्भ में दिया जा चुका है । विमर्शिनीकार ने पुनः रुद्रपक्ष को ही प्रबल प्रतिपादित किया । वे रत्नाकर, सर्वस्व और मम्मट के प्रति वेमुलाहिजे हो गए ।

कुबलयानन्द, रसगंगाधर और अलंकारकौस्तुभ में दीक्षितजी, पण्डितराज और विद्वेश्वर-पण्डित ने अनुसरण मम्मट के ही मध्यमार्ग का किया, किन्तु वे पूर्ववर्ती आचार्यों की अरुचियाँ भी मुला नहीं सके । इनका विवेचन इस प्रकार है—

अस्पृश्यदीक्षित—‘समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् ।

त्रितोऽसि मन्द कन्दर्पं मच्चित्तेऽस्मित त्रिलोचनः ॥’

‘समर्थनीय अर्थ का समर्थन काव्यलिङ्ग कहलाता है । यथा—‘अरे नीच काम ! मैंने तुझे जीत लिया मेरे चित्त में त्रिलोचन [शिव] का वास है ।’ शिव ने काम को तीसरे नेत्र से भस्म किया था । शिव का वाम बतलाकर कामविषय का समर्थन किया, किन्तु दीक्षित जी का वक्ष्य अर्थान्तरन्यास से अलग नहीं किया जा सकता । पण्डितराज ने उन्हें यही कहकर धकसोरा भी है । एक लम्बे प्रकार के द्वारा दीक्षित जी ने अनेक प्रसिद्ध उदाहरण भी प्रस्तुत किए और यह भी स्पष्ट दिखा कि प्राचीन आचार्य काव्यलिङ्ग के साथ ही ‘हेतु’ भी कहते हैं—‘इदं काव्यलिङ्गमिति, हेत्वत्कार इति श्यामहुः’ । परिकारत्कार से इसका अन्तर भी दीक्षित जी ने बड़े सरम के साथ बतलाया है ।

पण्डितराज—‘अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषभावार्थ्यां चानालिङ्गितः प्रकृतार्थोपपादकारत्वेन चालिङ्गितोऽर्थः काव्यलिङ्गम् ।’

—‘अनुमितिकरणत्व तथा दो प्रकार के सामान्यविशेषभाव से रहित को प्रकृतार्थ के समर्थक के रूप विशिष्ट अर्थ वह काव्यलिङ्ग कहलाता है ।’ इसमें पण्डितराज के ही कथन के अनुसार प्रथम विशेषण अनुमिति के निवारण के लिए तथा द्वितीय विशेषण अर्थान्तरन्यास के निवारण के लिए दिया गया है । अनुमान का लक्षण पण्डितराज ने केवल—

‘अनुमितिकरणत्वमनुमानम्’—

‘अनुमितिकरणता अनुमान’

रचना ही किया है ।

पण्डितराज ने ‘यत् त्वत्रेत् ०’ तथा ‘शून्यश्च ०’ पद्य में काव्यलिङ्ग का निराकरण कर अनुमान को ही अकार स्वीकार किया है । सर्वरत्कार के ही समान अप्यव्यदीक्षित ने भी एक दोनों पद्यों में ‘काव्यलिङ्ग’ स्वीकार किया था । पण्डितराज ने इन दोनों का खण्डन किया है । सर्वस्व के—‘यत् त्वत्रेत् ० ००० हेतुत्वेनोक्त [रसगगाधर में ‘हेतुक्त ’] ० इतना उद्धरण देकर उन्होंने कहा है—इत्यलकारसर्वस्वश्लोक्तम्, अनुमोदितं च कुवलयानन्दकृपा नदुमपमप्यसत् । ००० ‘अथ धातुभानस्यैव विषयः ।’

‘इन दोनों का कथन गलत है । ०० यह भी अनुमान का ही विषय है ।’ एक एक कर दोनों पद्यों में अनुमान प्रकार भी इन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

१ = दैव नायिकाङ्गसादृश्यदर्शनजन्यमदितृष्णासहिष्णु तत्तन्नायिकाङ्गसादृश्याभारविषयकार्षात् मदीयशङ्कभूतयशदादिवत् ।

—‘विधाता नायिका के अंगों के सादृश्य से उत्पन्न मेरे सुख का असहिष्णु है, क्योंकि वह नायिका के उन उन अंगों के सादृश्य का नाशक है जैसे मेरा शत्रु यशदात् ।’

२—‘शून्यो दक्षिणानिलसम्यक्वत्यो दक्षिणामिमुत्तविलक्षणनेत्रव्यापारवत्त्वात् ।

‘शून्यो दक्षिणानिल के रूपक से युक्त थी क्योंकि ये दक्षिण की ओर नेत्रों का विलक्षण व्यापार कर रही थी । पण्डितराज का यह अर्थ केवल तथ्य को लेकर है । वह यह कि यहाँ हेतुहेतुमद्भाव क्वचिन्निष्ठ न होकर क्वचिन्निष्ठ क्वचिन्निष्ठ है । यद्यपि ऐसा लगता है कि द्वितीय पद्य का उद्देश्य उन्हें विदित नहीं है । वे नहीं जानते कि यह पद्य रघुवश का है । वहाँ दक्षिणानिल का कोई प्रयोग ही नहीं है । सच यह है कि इन पद्यों में अनुमिति क्वचिन्निष्ठ न होने पर भी अनुमिति रूप

से प्रस्तुत नहीं है क्योंकि दोनों ही स्थलों में अनुमान परार्थानुमान नहीं है। यह तो स्मरणभाव है। इसके अतिरिक्त प्रयोग में अनुमिति सर्वथा गम्य ही है और द्वितीय में 'सन्वोधन्'—द्वारा वाच्यप्राय होने पर भी हेतुहेतुमद्भाव वाच्य नहीं है, क्योंकि सन्वोधन का हेतु दक्षिण की ओर आँखें घुमाना ही है। उसका हेतुत्व तब साक्षात् वाच्य होता जब कहा जाता 'भृगिषीं के दक्षिणाभिमुख घूम रहे नेत्र जतला रहे ये कि तुम्हें राक्षस इसी दिशा में ले गया है।' इसी कारण नागेश ने पण्डितराज का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है 'अनुमितिगम्य भी हो और तब भी यदि अनुमान ही अलंकार माना जाने लगे तो काव्यलिङ्ग कहीं होगा ही नहीं। स्थिति यह है कि वाच्य अनुमान अनुमानालंकार कहलाता है और गम्य काव्यलिङ्ग'। [३० रसगंगाधर मर्मप्रकाश काव्यलिङ्ग का अन्त]।

पण्डितराज ने हेतु के वाक्यगत और पदगत होने तथा एक या अनेक होने को भी चमत्कार की दृष्टि से निरर्थक माना है।

विश्वेश्वर का काव्यलिङ्गनिरूपण यह है—

'वाच्यपदार्थत्वाभ्यां हेतुक्तिः काव्यलिङ्गं स्यात् ।' हेतु की वाक्य और पदार्थ के रूप में उक्ति काव्यलिङ्ग कहलाती है।

काव्यलिङ्ग का परिकर से भेद—

विशेषणगत चमत्कार परिकर में भी रहता है और काव्यलिङ्ग में भी। पदार्थ काव्यलिङ्ग में हेतु विशेषणरूप से आता है यद्यपि उसका हेतुत्व गम्य रहता है। इस प्रकार पदार्थकाव्यलिङ्ग और परिकर की स्थिति में अन्तर करना भी एक प्रश्न है। इसे प्रथमतः रत्नाकरकार ने ठाया है। उन्होंने अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'वाच्योपस्कारकता व्यंग्यस्य सदैव परिकरे ज्ञेया ।

व्यङ्ग्यादिलिप्तो वाच्यो वाच्यं प्रत्येव हेतुरिति' ॥

'परिकर में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक रहता है जब कि हेतु में व्यंग्यार्थ से युक्त होकर वाच्य वाच्य के प्रति हेतु बनता है'। इसीका स्पष्टीकरण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है— 'हेत्वलंकार में व्यंग्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं रहता, वह निरर्थक रहता है, जब कि परिकर में वह प्रकृत अर्थ में शोभा भी बढ़ाता है और कभी कभी उसकी सिद्धि का भी कारण बनता है।' [३० रसगंगाधर परिकरप्रकरण०] पण्डितराज ने परिकर और काव्यलिङ्ग के जो उदाहरण दिए हैं उनसे यह तथ्य स्पष्ट है कि परिकर के विशेषणों में हेतुत्व नहीं रहता जब कि पदार्थकाव्यलिङ्ग में बड़ी रहता है।

यहाँ श्रीविद्याचक्रवर्ती की संग्रहकारिका यह है—

'काव्यलिङ्गं तु हेतुत्वेनोक्तिर्वान्यपदार्थयोः ।

नाथमर्थान्तरन्यासो हेतोः शब्दत्वसंश्रयात् ॥'

काव्यलिङ्ग वाक्यार्थ या पदार्थ की हेतुरूप से उक्ति को कहते हैं। वह अर्थान्तरन्यास नहीं है, क्योंकि इसमें हेतु शब्दतः कथित रहता है।

[सर्वस्व]

[सू० ५९] साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम् ।

यत्र शब्दवृत्तेन पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकवत् साधनं साध्यप्रतीतये निर्दिश्यते, सोऽनुमानालंकारः । विच्छित्तिविशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीयः, अन्यथा तर्कानुमानात् किं वैलक्षण्यम् ।

उदाहरणम्—

‘यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलद्धूमः स्थगयति
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः ।

यथा विद्युग्ज्वालोज्ज्वलनपरिपिङ्गाश्च, ककुम-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुपण्डे स्मरद्वयः ॥’

अत्र धूमस्फुलिङ्गकपिलदिफत्वानि घट्टिलिङ्गानि अरुपत्वाद्द्वयशब्दप्रति-
पादितं यद्वि गमयन्तीत्यनुमानम् । रूपकमूलत्वेनालंकारान्तरगर्भाकारेण
विच्छिन्त्याश्रयणात्तर्कानुमानवैलक्षण्यम् ।

क्वचित्तु शुद्धमपि भवति । यथा—

‘यत्रैता लहरीचलाचलहशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः ।

तद्यक्रीकृतचापमञ्जितशरप्रेङ्गुत्कर. क्रोधनो

घावत्यप्रत पथ शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः ॥’

अत्र योपितां भ्रुव्यापारेण मार्गणपतनं स्मरपुरोगामित्वे साध्येऽनलंघ्यत-
मेव साधनमिति शुद्धमनुमानम् । प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थनिष्ठत्वेन च विच्छि-
त्तिविशेषाश्रयणाच्चाहृत्यम् ।

अयमत्र विषयार्थः— इहास्ति प्रत्याय्यप्रत्यायकभावः । अस्ति च समर्थ-
समर्थकभावः । तत्राप्रतीतप्रत्यायने प्रत्याय्यप्रत्याय्यकभावः । प्रतीतप्रत्यायने
तु समर्थसमर्थकभावः । तत्र प्रत्याय्यप्रत्यायकभावेऽनुमानम् । समर्थसमर्थ-
कभावे तु यत्र पदार्थो हेतुस्तत्र हेतुत्वेनोपादाने ‘नागेन्द्रहस्तास्त्यचि कर्क-
शात्वात्’ इत्यत्र न कश्चिदलंकारः । यत्र तूपात्तस्य हेतुत्वं यथोद्गाहते विषये
‘नृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षा’ इत्यादौ तत्रैकं काव्यलिङ्गम् । यत्र तु घाक्यार्थो
हेतुस्तत्र हेतुत्वप्रतिपादकमन्तरेण हेतुत्वायोपन्यासे काव्यलिङ्गमेव । तद-
व्यत्येनोपगम्यस्तस्य तु हेतुत्वेऽर्थान्तरन्यास । एवं चास्यां प्रक्रियायां कार्यका-
रणधान्यार्थयोर्हेतुत्वे काव्यलिङ्गमेव पर्यवस्यति, समर्थघाक्यार्थस्य सापे-
क्षत्वात्, तादस्थ्याभावात् । ततश्च सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासस्य
विषयः । यत्पुनरर्थान्तरन्यासस्य कार्यकारणगतत्वेन समर्थकत्वमुक्तम्,
तदुक्तलक्षणं काव्यलिङ्गमनाधित्य तद्विषयत्वेन लक्षणान्तरस्यौद्भेदाधि-
तत्वात् ।

उक्तलक्षणाश्रयणे तु यत्त्वन्नेत्रेत्यादिविचिको विषयः काव्यलिङ्गस्यार्था-
न्तरन्यासाद् दर्शित इति कार्यकारणयोः समर्थसमर्थकत्वमर्थान्तरन्यासे पूर्वं
दर्शितमितीयं गमनिकाश्रयितव्या ।

एवं तर्कन्यायमूलमलंकारद्वयमिह प्रतिपादितम् ।

[सू० ५९] साध्य की सिद्धि के लिए साधन का निर्देश [हो तो अलंकार] अनुमान [कहलाता है] ॥

[व०] जिसमें साधन शब्दवृत्ति [अभिधा] द्वारा पक्ष [साध्यसिद्धिस्थल] में रहता हुआ, [साध्य के साथ] अन्य तथा व्यतिरेक से युक्त तथा साध्य की प्रतीति कराता हुआ कथित हो, वह अनुमानालंकार होता है। [अलंकारत्व के लिए अपेक्षित] चमत्कार इसमें ऊपर से लाना पड़ता है, नहीं तो तर्कशास्त्रीय अनुमान से [इस अनुमान का] अन्तर ही क्या रहे। उदाहरण—

‘क्योंकि घूमते मेघों के घूम ने आकाशरूपी रत्न [गुफा] को भर दिया है, क्योंकि जुगनु चिनगारियों का रूप धारण कर रहे हैं और क्योंकि विनलीरूपी लपटों के धक्क उठने से दिशाएँ पीली पड़ गई हैं, इसलिये मैं समझता हूँ ‘पथिकरूपी वृक्षसमुदाय में काम को देवार लग गई है’।

यहाँ घूम, चिनगारी और दिशाओं का पीलापन आदि अग्नि के लक्षण हैं क्योंकि ये त्रिरूप [पक्ष-वृत्ति, अन्वयी अर्थात् सपक्षवृत्ति और व्यतिरेकी अर्थात् विपक्षावृत्ति] हैं। ये द्रवशब्द से कथित अग्नि को [रूपी साध्य] का अनुमान कराते हैं, इस कारण यहाँ अनुमान है। यह क्योंकि रूपक मूलक है, अतः अन्य अलंकार को छेकर होने से इसमें चमत्कार चला आता है, अतः इसमें तर्कानुमान से भेद है। कहीं यह श्रुत [अलंकारान्तर रहित] भी होता है। यथा—

‘तरंगों के समान चंचल चितवन वाली ये क्षिपर अपनी सीढ़ सुमाती हैं’ उपर ही जो ये मर्म-स्पर्शी बाण लगातार झड़ने लगते हैं, इससे स्पष्ट है कि इनकी आशा धारण कर काम क्रोध में आकर धनुष खींचते और उस पर चढ़े बाण पर हाथ साधे हुए इनके आगे-आगे सदा ही दौड़ता रहता है।’

—यहाँ लियों के झुगुटिचालन से वतलार्थ चा रही बाणवर्षा काम के आगे-आगे चलने रूपी साध्य की सिद्धि में बिना किसी अन्य अलंकार के योग के ही साधन है। अतः यह अनुमान श्रुत [अलंकारान्तररहित] है। यह [अनुमान कवि की] प्रौढीक्तिभाव से निव्यन्न अर्थ पर निर्भर होने के कारण विशिष्ट चमत्कार से युक्त है, अतः इसमें सुन्दरता है।

यहाँ निष्कर्ष यह है कि यहाँ [काव्य में एक तो] शाय्यवापकभाव रहता है और [दूसरा] समर्थसमर्थकभाव। इनमें से शाय्यवापकभाव यहाँ होता है जहाँ अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। इसके विरुद्ध समर्थसमर्थकभाव यहाँ होता है जहाँ ज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। इनमें से शाय्यवापकभाव होने पर अनुमान होता है। समर्थसमर्थकभाव में जहाँ हेतुपदार्थ होता है वहाँ यदि वह हेतुरूप से कथित रहता है [जहाँ उसका हेतुत्व कथित रहता है] तो ‘नागेन्द्रहस्तास्त्वन्नि कर्कशात्वात्-’ [कुमार० १]—‘हाथी की सूँढ़ त्वचा-भाग में कर्कश होने से [पार्वती के ऊह का उपमान न बन सकी] आदि में कोई अलंकार नहीं होता; किन्तु ‘मृगयश्च दम्भीजुरनिर्वपेक्षाः’ आदि पूर्ण उदाहृत-स्थलों में जहाँ वह शब्दतः कथित होकर [व्यञ्जनया] हेतु बनता है [अर्थात् उसका हेतुत्व व्यंग्य रहता है] वहाँ एक प्रकार का काव्यलिङ्गालङ्कार कहलाता है। जहाँ हेतुवाक्यार्थ रूप होता है वहाँ हेतुत्व के प्रतिपादक शब्द के बिना हेतुत्व के लिए उसका प्रयोग होने पर काव्यालम्ब ही दोषा और उस [हेतुत्व] के बिना साधारणरूप से प्रयोग होने पर अर्थान्तरन्यास। इस प्रकार [विचार की] यह प्रक्रिया अपनाते पर कार्य और कारण के वाक्यार्थों में हेतुत्व रहने पर काव्यलिङ्ग ही [अलंकार] ठहरता है। क्योंकि समर्थ वाक्यार्थसापेक्ष रहता है अतः यहाँ [दोनों वाक्यार्थों में] तटस्थता नहीं रहती। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का विषय [देवल] सामान्यविशेषभाव तक सीमित ठहरता है। [सूत्रकार के अनुसार हमने] अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव के आधार पर भी जो समर्थकता वतलार्थ है वह इस कारण कि

उद्भूतमानुषायियो ने उक्त [कार्यकारणभावमूलक] काव्यलिंग को छोड़कर [काव्यलिंग नाम के साथ एक] दूसरा ही लक्षण बनाया था [जो श्राप्य-शापक-भावमूलक था] और उसे उन्होंने वसी [काव्यलिंग] का लक्षण बतलाया था [जब कि या वह लक्षण अनुमान का; इस प्रकार उनके मत में कार्यकारणभावमूलक काव्यलिंग का संग्रह नहीं हो पाया था, फन्तः उसके संग्रह के लिए हम लोगों ने अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव का भी निवेश किया और दोनों को अभिन्न बतलाया किन्तु काव्यलिंग का] उक्त [कार्यकारणभावमूलक] लक्षण अपना लिया जाता है तो अर्थान्तरन्यास से, काव्यलिंग, 'यत् स्वन्नेत्र०' आदि स्थलों में एक स्वतन्त्र ही अलङ्कार सिद्ध हो जाता है जिसका निरूपण किया जा चुका है। यह पथ इसलिए अपनाना चाहिए कि अर्थान्तरन्यास के प्रकरण में कार्यकारण का समर्थसमर्थकमात्र पहले बतला दिया था।'

इस प्रकार तर्कन्यायमूलक दोनों अलङ्कार बतला दिए गए।

विमर्शिनी

साध्येत्यादि। एतदेव श्याचष्टे—यत्रेत्यादिना। एव चात्र साध्यप्रतीतये विरूपस्य साधनस्य निर्देशात्कानुमानसमानकचपमेवास्य लक्षणमिति भावः। यथेव तत्ततोऽस्य को विशेष इत्यादाह—विच्छितीत्यादि। तत्कानुमान द्विधा। स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं यत्र मयावमवागतोऽर्थ इति स्वपरामर्शस्य निश्चयः स्यात्। परार्थं तु यत्र परेणावगतस्य वस्तुन प्रतिपादनात्परमार्थाय कर्त्तव्यं स्यात्। एवं च स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधमनुमानमेवैकोऽलङ्कारो वाच्यो न पुनरनुमानहेतुतया गृह्यलङ्कारत्वम्। उभयत्रापि सामान्यलक्षणानुगमात्प्रकारप्रकारिभावस्यैवोपपत्तेः। तत्र स्वार्थानुमानं यथा ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। तत्र हि स्मरदशो छन्द इति स्वपरामर्शस्यैव निश्चयः। परार्थानुमानं यथा—

'तदस्ति तेषां तमसि प्रसविर्णा निशाचरत्वं यदि पारमार्थिकम्।

ततः प्रिये संनिहितेऽत्र वासरे कथं नु तासंचरणं भविष्यति ॥'

अत्र दिवासंचरणस्य कथंरथ विदुदं निशाचरत्वं परमार्थायको हेतुः। रूपकमूलत्वेनेति। रूपकमन्तरेणानुध्यामात्। ननु चास्यालङ्कारान्तरगर्भीकारमात्रमेव किं तर्कानुमानवैलक्षण्यमिति तम्, उक्तान्यदपि किंचिदित्यादाह—अविदित्यादि। अनलङ्कनमिति। शासनधमदिः प्रौढोक्तया वास्तवत्वेनैव विवक्षितावादतिशयोक्त्यालङ्कारान्तरगर्भीकारमावात्। अस्तथास्य कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः। तदाह—प्रौढोक्तीत्यादि। एवं च कविकर्माभावात्त्र विच्छित्तिविशेषाश्रयणं न स्यात्तत्र नाद्यमलङ्कारः। यथा—

'यो यस्कथाप्रसङ्गे चिच्छिच्छिच्छायतोप्यभिधासः।

॥ भवति तं प्रति रक्तसर्वं च तथा हरयसे भुततु ॥'

अत्र रक्तसर्वं प्रति विशिष्टस्य निश्चितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवत्वात्कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावात्त्रायमलङ्कारः। यथा—

'प्रजानां विनयाधानाद् रचनाद्भरणादपि।

स पिता पितरस्तासा केवल जन्महेतवः ॥'

अत्र विनयाधानादिहेतूनां वास्तवत्वादनलङ्कारत्वम्। न पुनरत्र हेतोरार्थत्वाभावादनलङ्कारत्वमिति वाच्यम्। कविकर्मण एवालकारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वात् आशंस्यस्य तदप्रयोजकत्वात्। न हि हेतोरर्थत्वेऽपि कविकर्मण्यतिरेकेणालङ्कारत्वं स्यात्। तच्छाब्देऽपि हेतौ कचिकविप्रतिभानिर्वर्तितत्वेनालङ्कारत्वाभ्युपगमे न कश्चिदशेषः। ग्रन्थकृता पुनोक्त-

चिरन्तनमतानुरोधेनोत्तम् । तन्मतमेवाधिकृत्य हि 'अय'—मन्त्रेत्यादिना विचारः प्रस्तुतः । तत्रेति द्वयनिर्धारणे । प्रतीतेति । योद्धव्येन समर्थतया प्रमुख एवाधिगतस्वेत्यर्थः । न कश्चिदलंकार इति । हेतुमात्ररूपत्वात् । हेतुश्चवाचकं विनापि तदधिगमे इत्यस्य च चाहत्वा-
तिशय इति भावः । यद्वचयति—हेतुत्वप्रतिपादकमन्तरेणेति । उपात्तत्वेति । पारिशेष्यात्
पदार्थस्य हेतुत्वेनोपादानामिधानात् । एकमिति पदार्थगतम् । हेतुत्वप्रतिपादक इति
शब्दादिः । तदस्यत्वेनेति । न ॥ हेतुत्वेनेत्यर्थः । अत एव चानयोर्भेदः । ततश्चेति पारि-
शेष्यात् । ननु यद्येवं तत्पूर्वमर्थान्तरन्यासस्य केनामिप्रायेण कार्यकारणगतत्वेन समर्थकर-
सुकमित्याशङ्क्याह—यत्पुनरित्वादि । लक्षणान्तरत्वेति । पदार्थगतत्वेनैवेन्देः । यदाहुः—

'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।

हेतुतां प्रतिपद्येत कान्यलिङ्गं तदुच्यते ॥' इति ।

यद्येतदुद्भटमतामिप्रायेणोक्तं तत्रकथं स्वमतं संगच्छते इत्याशङ्क्याह—उक्तेत्यादि ।
विविक्तविषय इति । तादस्यव्यतिरेकेण चात्रयार्थस्य हेतुत्वायोपन्यासादर्थान्तरन्यासस्या-
न्नाश्यापृतेः । आशयितव्येति । न पुनर्वस्तुतः संभवतीत्यर्थः ।

साध्य इत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—यत्र इत्यादि । इस प्रकार यहाँ साध्य को
प्रतीति के लिए तीन प्रकार के साधन का निर्देश होने से इसका लक्षण भी तर्कशास्त्र के अनुमान
के ही समान सिद्ध होता है । 'यदि ऐसा है उससे इसका अन्तर क्या'—ऐसी शंका कर लिखते
हैं—'विच्छिन्नि' इत्यादि । यह अनुमान दो प्रकार का होता है स्वार्थ और परार्थ । इनमें स्वार्थ
अनुमान वह है जिसमें इस परामर्श का निश्चय रहता है कि 'मैंने यह अर्थ जान लिया है' ।
परार्थ वह वहाँ दूसरे के द्वारा अज्ञात वस्तु का प्रतिपादन रहता है फलतः जिसमें परप्रत्यायकत्व
रहता है । इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ भेद से दोनों प्रकार का अनुमान एक ही अलंकार कहा
जाना चाहिए, न कि अनुमान और हेतु इन दो रूपों में पृथक् पृथक् अलंकार, क्योंकि सामान्य
लक्षण दोनों में लागू होता है जिससे प्रकारप्रकारिभाव ही सिद्ध होता है । इनमें से जो स्वार्थानु-
मान है उसका उदाहरण [यथा रज्ज्वं] ग्रन्थकार ने ही बतला दिया है । उस उदाहरण में
'कामदेवार' लगी हुई है' यह वक्ता का अपना ही निश्चय है । परार्थानुमान का उदाहरण यथा—

'हे प्रियो यदि अंधेरे में वृमने वाले वन राक्षसों का निशाचरत्व वास्तविक है तो जब यह
दिन निकला आ रहा है, इसमें उनका संचार कैसे होगा ।'

यहाँ दिन में संचाररूपी जो कार्य है उसके विरुद्ध निशाचरत्व रूपी परप्रत्यायक हेतु
उपात्त है । रूपकमूलत्वेन = रूपकमूलक होने से, क्योंकि इस पक्ष में वक्ता वक्थान रूपक के
बिना संभव नहीं है । [शंका] क्या अन्य अलंकार से युक्त होने के ही कारण इस अनुमान में
तर्क के अनुमान से भेद जाता है अथवा इसका हेतु कोई और भी है—ऐसी शंका कर लिखते हैं—
कश्चित् । अनलङ्कृत = 'श्रासनधारण करना' आदि कविप्रौढोक्ति के द्वारा वास्तविक जैसे
विवक्षित है इसलिये इनमें [रत्नाकरकार आदि को] अतिशयोक्ति आदि अन्य अलंकारों का
निश्चय नहीं मानना चाहिए । इस लिये इसका भेदक तत्व कविकर्म ही है । यही कहते हैं—
'प्रौढोक्ति' इत्यादि के द्वारा । इस प्रकार वहाँ कविकर्म का नभाव रहेगा और इसीलिये
कोई चमत्कार नहीं रहेगा वहाँ यह अलंकार नहीं होगा । यथा—[रत्नाकरकार द्वारा हेत्व-
लंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत]

'जो जिसकी चर्चा के प्रसंग में एक एक कर लम्बी और उष्ण उर्सास लेता है वह उसके
प्रति अनुरक्त रहता है और री सलोनी ! वह वैसा ही दिखार दे रहा है ।' इस पदार्थ में

अनुराग के प्रति विशिष्ट उत्साह अर्थात् हेतु है तथापि वह वास्तविक है, कविप्रतिभाप्रसून नहीं, अतः यह [अनुमान] अलङ्कार नहीं है। और जैसे—

‘शिक्षा का आधान, रक्षा और पालन पोषण करने से प्रजाओं का [सच्चे अर्थ में] पिता वह [दिलीप] था, उनके अपने पिता तो केवल जन्म के हेतु थे। [रघुवंश-२]’

यहाँ शिक्षा का आधान आदि जो हेतु है वे वास्तविक हैं अतः अलङ्कार नहीं है। इसलिए नहीं कि यहाँ हेतु आर्थ नहीं है इसलिए अलङ्कार नहीं है। अलङ्कार का मूल कविकर्म को माना गया है अतः आधत्वं उत्सर्ग कारण नहीं। ऐसा नहीं कि कविकर्म के अभाव में केवल आर्थ होने से हेतु में अलङ्कारत्व चला आए। इसलिए हेतु के शब्द रहने पर भी उसके कविप्रतिभाप्रसून होने पर उसमें अलङ्कारत्व मानने में कोई दोष नहीं।

ग्रन्थकार ने हमे प्राचीन आचार्यों के मत के अनुरोध से बतलाया। उन्हीं के मत को लेकर ग्रन्थकार ने ‘अधमत्र’ इत्यादि द्वारा विचार का प्रसंग चलाया है। ‘तत्र = धर्म’ यह दोनों के निर्धारण के लिए है। प्रतीत = बोद्धव्य व्यक्ति [जिसे समझाया जा रहा हो] के द्वारा समर्थरूप से आरम्भ में ही जान लिए गए। न कश्चिदलङ्कारः = कोई अलङ्कार नहीं = हेतुमात्ररूप होने से। भाव यह कि लक्षमें चारुस्वानिश्चय तब आता है जब वह हेतुत्व के वाचक शब्द के बिना ही विदित हो। जैसा कि कहेंगे—‘हेतुत्व के प्रतिपादक शब्द के बिना’। उपास अर्थात् शेष बचे पदार्थ का हेतुरूप से उपादान रूप अभिधान होने के कारण ‘एकम् = एक प्रकार का-’ अर्थात् पदार्थगत। हेतुत्वप्रतिपादक अर्थात् शब्द आदि। तदस्थत्वेन = न कि हेतुत्वेन। इसीलिए इन दोनों [अर्थान्तरन्यास और काव्यलिङ्ग] में अन्तर है। तस्यश्च = इस कारण जो शेष रहा वह सामान्यविशेषभाव। [शका] यदि ऐसा है तो पहले अर्थान्तरन्यासप्रकरण में किमभिप्राय से कार्यकारणों में समर्थकत्व बतलाया है। ऐसी शंका कर लिये हैं—यत् पुनः। लक्षणान्तर = दूसरा लक्षण अर्थात् केवल पदार्थगत ही मानकर किया दूसरा लक्षण, जो इस प्रकार है—‘एतमेकं’ [अर्थ काव्यलिङ्ग के इतिहास में देखिए]। [शका] यदि यह उद्भूत के मत के अनुसार कहा तो फिर आपका मत कैसे ठीक सिद्ध होगा—ऐसी शंका पर लिखते हैं—उक्त इत्यादि। विविक्तविषय = इतन्तन्त्रज्ञेय = यहाँ वाक्यार्थ हेतुत्व के लिए उपास तो रहता है किन्तु इसमें तदस्थता रहती है [सापेक्षता नहीं] इसलिए [सापेक्षता से युक्त] अर्थान्तरन्यास की पहुँच यहाँ नहीं होती। आध्यात्मिकभ्या = अपनाती चाहिए’ अर्थ यह कि वस्तुतः ऐसा होना है नहीं ॥’

अनुमानालङ्कार के सूत्र तथा वृत्तिसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके रचयिता दो पृथक् विद्वान् हैं। वृत्तिकार सूत्रकार को स्वतन्त्र विन्तक सिद्ध नहीं कर पाये। पहले उद्भूत के अनुसार सूत्र बनाना, पुन उसी तथ्य के लिए एक पृथक् सूत्र बना देना स्वीकार करने पर सूत्रकार का पक्ष शिथिल सिद्ध हो जाता है। वस्तुतः अर्थान्तरन्यास में आनेवाले कार्यकारणभाव में हेतुत्व या जनकत्व नहीं, समर्थकत्व प्रमुख रहता है। काव्यलिङ्ग में न तो समर्थकत्व ही प्रमुख रहता और न शापकत्व ही, यहाँ प्रमुख रहता है जनकत्व। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है, अतः हेतुप्रेक्षा के समान कारण का कारणत्व सिद्ध करने में ही चमत्कार रहता है। ‘यत् स्वरं’ पद्य में प्रथम तीन चरणों द्वारा प्रतिपादित अर्थ कार्य है। उससे चतुर्थ चरण में प्रतिपादित अर्थ को कारण बतलाया जा रहा है। इसी प्रकार ‘वपु प्रादुर्भाव’ पद्य में ‘अपराधदय’ कार्य है, उससे पूर्वजन्म और भावीजन्म में प्रणामाभाव में कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है। ‘मृग्यश्च’ पद्य में भी वृत्तियों के दक्षिणामुख नेत्रसंचार में दिव्योत्कर्ष को कार्य के प्रति कारणत्व बतलाया जा रहा है। इस प्रकार चमत्कार के प्रति, अर्थान्तरन्यास में कारण होता है समर्थकत्व जब कि

काव्यलिंग में कारण होता है कारणत्वसिद्धि । कार्यकारणभाव दोनों अलंकारों में समान होने पर भी चमत्कारकारण सिद्ध हैं अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता । इस प्रकार सूत्रकार का उचित समर्थन किया जा सकता था किन्तु वृत्तिकार वह नहीं कर सके । वस्तुतः वृत्तिकार ठीक वैसे ही स्वतन्त्र आचार्य हैं जैसे विमर्शिनोकार । मूलकार के साथ इनकी जितनी निम्न जाय उतनी ही बहुत है ।

विमर्शिनोकार ने अनुमान और काव्यलिंग की अभिन्नता का स्वर उठाया है । इस प्रकार वृत्तिकार के ही समान विमर्शिनोकार भी यहाँ सूत्रकार से टकराते दिखाई देते हैं ।

इतिहास =

काव्यलिंग के इतिहास से अनुमान का इतिहास प्रायः गतार्थ है । उससे स्पष्ट है कि अनुमान नाम से अनुमान को अलंकार मानने का प्रथम श्रेय रुद्रट को है । यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि अनुमान का अभिप्राय दण्डी और उद्भट द्वारा भी नामान्तर से स्पष्ट कर दिया गया है । रुद्रट में इत्तका जो स्वरूप है वह काव्यलिंग के प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है । मम्मट तथा पण्डित-राज के मत भी दिए जा चुके हैं । शेष आचार्यों के मत इस प्रकार हैं—

शोभाकर :- रत्नाकरकार ने अनुमान का लक्षण काव्यलिंग के साथ इस प्रकार दिया है—

(१) साधनाय साध्यप्रतीतिरनुमानम् ।

(२) परप्रत्यायकं लिंगं हेतुः ॥

साधन के द्वारा [अज्ञात] साध्य का ज्ञान अनुमान [और दूसरे को ज्ञान कराने वाला लिंग हेतु] ।

हेतु नामक काव्यलिंग से अनुमान का अन्तर करते हुए उन्होंने लिखा है—

‘प्रेणाप्रतिपन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनम् ।

परानुमानरूपो हि हेत्वलंकार इत्यते ॥

मयायं प्रतिपन्नोऽर्थे हति यत्र निवेद्यते ।

तत्रानुमानं तेन स्यात् प्रतिपत्तिनिवेदनम् ॥’

‘दूसरे के द्वारा अज्ञात वस्तु का प्रतिपादन हेत्वलंकार कहलाता है इसमें परार्थानुमान रहता है । ‘मिने यह पदार्थ जान लिया’ यह किसमें बतलाया जाता है वहाँ अनुमानालंकार होता है । यह ज्ञान निवेदन स्वरूप है ।’

रत्नाकरकार ने ‘यो यत्कथा०’ पद्य में अनुमान माना था । विमर्शिनोकार ने उसका खण्डन किया है ।

रत्नाकरकार ने काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व द्वारा अनुमानालंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत ‘वञ्जिता०’ पद्य में असंबन्ध में सम्बन्ध नामक अतिशयोक्ति मानी है । उनका कहना है कि इस पद्य में काम के साथ जिस ‘शासनधरत्न’ का संबन्ध नहीं है उसका संबन्ध बतलाया जा रहा है यहाँ उसी में चमत्कार है । उनका कथन अमान्य नहीं हो सकता किन्तु उन्हें वस्तुतः अनुमान में अतिशयोक्ति का क्षीण स्पर्श मानना चाहिए था, अनुमान का आत्यन्तिक अभाव और अतिशयोक्ति का सार्वभौम चमत्कार नहीं । अप्यदीक्षित ने ऐसा माना भी है ।

अप्यदीक्षित ने अनुमान का कोई स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया—केवल उदाहरण ही दे दिए हैं । उन्होंने ‘यथा र-धं’ में रूपक तथा ‘वञ्जिता०’ में अतिशयोक्ति का स्पर्श माना है ।

विश्वेश्वर = ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार बनाया है—

‘अनुमानं व्याप्यवलाद् व्यापकपीर्धमिनिष्ठा स्यात् ।’

—'व्याप्य के द्वारा पक्ष में व्यापक का ज्ञान अनुमान'। इसमें स्पष्ट ही विद्वेश्वर ने न्याय-शास्त्र को अधिक स्थान दे दिया है। व्याप्य साधन या हेतु का ही दूसरा नाम है और व्यापक साध्य का। इसी प्रकार धर्मों का अर्थ पक्ष होता है।

विद्वेश्वर ने अनुमान के लिए अपेक्षित व्याप्ति को दो प्रकार का माना है पारमार्थिक और कविकल्पित। 'यत्रेता०' पद्य में उनके अनुसार कविकल्पित है।

श्रीविषाचक्रवर्ती ने इस अलङ्कार का निष्कर्ष इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'अनुमानं तु साध्याय माधनस्योपवर्णेना।
 तत्सङ्कीर्णवस्तुद्वयविच्छिद्यन्यविलक्षणम् ॥
 अप्रतीनप्रतीतो स्वादनुमानव्यवस्थिति ।
 पदार्थाद् वाय वाक्यार्थोऽग्निर्देहे सति हेतुतः ॥
 समर्थेन प्रतीतस्य कान्यलिङ्गद्वयं मतम् ।
 भवेदर्थांतरन्यासस्तारस्थे हेतुमात्मनः ॥
 कार्यकारणभावे तु तस्योक्तं लक्षणांतरम् ॥'

अनुमान साध्य के लिए साधन का [संकीर्णपूर्ण] वर्णन होता है। यह संकीर्ण और शुद्ध दो प्रकार का होता है। अन्य अलङ्कारों से यह अलङ्कार में भिन्न होता है। अनुमान होता है अज्ञान का ज्ञान कराने में। कान्यलिङ्ग इसके विरुद्ध उद्भूत कथित पदार्थ या वाक्यार्थरूपी हेतु के द्वारा पहले से ज्ञात पदार्थ के समर्थन में होता है। इस प्रकार यह दो प्रकार होता है। अर्थान्तरन्यास नहीं होता है जहाँ हेतुत्व से तटस्थता रहती है [अर्थात् हेतुत्व विवक्षित नहीं रहता, केवल सामान्यविशेषभाव रहता है। जहाँ यह विवक्षित रहता है वहाँ] कार्यकारणभाव को लेकर इस [अर्थान्तरन्यास] का एक स्वतन्त्र लक्षण बना दिया गया है।

विमर्दिनी

पूतदुपसहरन्नपद्वृत्तारयति—स्वमित्वादिना।

['पूर्व—प्रतिपादितम्' का अनुवाद अनुमानालङ्कार के अन्त में देखिए।]

इस प्रकारण को समाप्त करने और दूसरा प्रकार आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्य]

अधुना वाक्यन्यायमूला अलङ्कारा उच्यन्ते—

[सू० ६०] उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् ।

ऊर्ध्वं निर्दिष्टा उद्दिष्टाः। पश्चान्निर्देशोऽनुनिर्देशः। स चार्थादर्थान्तर-गतः। संवन्धश्चात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते। ऊर्ध्वं निर्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण संवन्धो यथासंख्यमिति वाक्यार्थः। अन्ये त्विममलङ्कारं क्रमसंज्ञयाभिदधिरे। तच्च यथासंख्यं शान्दमार्थं च द्विधा। शान्दं यत्रासम-स्तानां पदानामसमस्तैः पदैरर्थद्वारकः संवन्धः। तत्र क्रमसंवन्धस्यातिरोद्धि-तस्य प्रत्येयत्वात्। आर्थे तु यत्र समासः क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह संवन्धस्य शान्दत्वादर्थार्थवगमपर्यालोचनया त्ववयवगतः क्रमसंवन्धः प्रतीयते। ततोऽत्र यथासंख्य आर्थत्वम्।

आद्यस्योदाहणम्—

‘लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनोभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेप विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो वृयैव किममी सृष्टाः कुलक्षमाभृतः ॥’

अत्र लावण्यौकःप्रभृतीनामिन्द्रादिभिः क्रमसंबन्धस्याव्यवहितत्वेन प्रतीतेः शाब्दं यथासंख्यम् । यथा—

‘कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः ।
जलनिधिगिरिकमलस्था हरिहरकमलासना ददतु ॥’

अत्र कज्जलादीनां सुपर्णादिभिः संबद्धानां जलनिध्यादिभिः सह संबन्धो हरिप्रभृतिभिः संबन्धः श्रुत्या समुदायनिष्ठः प्रतीयते । अर्थानुगमानुसारेण स्वव्यवहारां क्रमसंबन्धावगतिरित्यर्थं यथासंख्यम् ।

अथ [नीमांसाशास्त्रगत] वाक्य = न्यायमूलक अर्थकारों का निर्वचन किया जा रहा है—

[सू० १०] पहले कहे गए अर्थों के क्रम से पुनः [अन्य अर्थों का] कथन यथासंख्यालङ्कार [कहलाता है] ।

[उ०] ऊपर निर्दिष्ट = कथित = उद्धृत, [अनु =] पश्चात् निर्देश = कथन = अनुनिर्देश, अर्थात् अन्य अर्थों का । इनमें सम्बन्ध [वाक्यार्थ] सामर्थ्य से प्रतीत होता है । इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि ‘पहले कहे अर्थों का बाद में कहे गए अर्थों के साथ क्रमशः संबन्ध यथासंख्य कहलाता है । [वामन आदि] अन्य आचार्यों ने इस अलङ्कार को ‘क्रम’ नाम से पुकारा है । यह यथासंख्य दो प्रकार का होता है शब्द और अर्थ । शब्द वह जहाँ असमस्त शब्दों का असमस्त शब्दों से अर्थ के द्वारा संबन्ध रहता है । [यह शब्द इसलिये कहा जाता है] क्योंकि इसमें क्रमसम्बन्ध अतिरोहित रहता और [स्पष्ट रूप से] बोधविषय बनता है । अर्थ वह होता है जिसमें समाप्त रहता है । यहाँ समुदाय से समुदाय का संबन्ध शब्दतः कथित रहता है, फलतः अव्यय से अव्यय का क्रमिक संबन्ध अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् विचार करने पर प्रतीत होता है । इस कारण यहाँ यथासंख्य में आर्यता रहती है । प्रथम का उदाहरण—

‘मशराल ! आप लावण्य के घर हैं, प्रतापगरिमा से मण्डित हैं, त्यागियों में श्रेष्ठ हैं और आपको नुना पृथिवी का भार सन्हालने में समर्थ है । विधाता ने अब इस प्रकार के आपको बना लिया था तब फिर चन्द्रमा को क्यों मढ़ा, सूर्य क्यों बनाया, चिन्तामणि को उत्पत्ति क्यों की और बिना काम इन कुलाधर्यों की सृष्टि क्यों की ।

इस उदाहरण में [पूर्वोक्त] ‘लावण्य के घर’ आदि पदार्थों का [उत्तरार्थ के] चन्द्रमा आदि के साथ क्रमिक सम्बन्ध साथे साथे प्रतीत हो जाता है इसलिये यथासंख्य शब्द है । [द्वितीय का उदाहरण] यथा—

‘कज्जल, हिम और सुपर्ण सी कान्ति वाले, गरुड, वृष और हंस को वाहन बनाए हुए; समुद्र, पर्वत और कमल पर विराजमान विष्णु, शिव और महा सुन्दारा हमारा कल्याण करें ।’

यहाँ गूढ अर्थात् से सम्बद्ध कञ्जल आदि का विष्णु आदि से सम्बन्ध शम्भतः समुदायगत रूप से प्रतीत होता है। अवयवों का क्रमिक सम्बन्ध अर्थ पर विचार करने से प्रतीत होता है। इस कारण [यहाँ] यथासंख्य अर्थ है ॥'

विमर्शिनी

उद्दिष्टानामित्यादि । अर्थादिनि । उद्दिष्टानामेव ह्यनुनिर्देशे षीनहकार्यं स्यात् । सामर्थ्यादिति । वाक्यपर्यालोचनघटात् । अन्य इति । वामनाद्ययः । यद्वाहुः - 'उपमेयोपमानानां क्रमसंबन्धतः क्रमः' इति । अनेनास्य प्राप्स्योक्तत्वं दर्शितम् । अन्यवहितत्वेनेति । समासाद्यभावात् । अवयवानामिति । हरिकमलादीनाम् ।

न चार्यालंकारत्वं युक्तम् । दोषाभावमात्ररूपत्वात् । उद्दिष्टानां क्रमेणानुनिर्देशे ह्यक्रियमाणोऽपक्रमाद्यो दोषः प्रसज्यते । यदुक्तम्—'क्रमहीनार्थमपक्रमम्' इति । तच्च यथा—'क्रीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्यांबन्धमसाविष' इति । दोषाभावमात्रं च नालंकारत्वम् । तस्य कविप्रतिभात्मकविशिष्टविशेषात्वेनोक्तत्वात् । तत्रे चास्य 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इत्यादिसूत्रोदाहरणानां 'तूद्देशलातुरवर्ततीक्ष्वाराहृदकृष्णन्दक' इत्यादीनामप्यलंकारवप्रसङ्गः । एतच्च बकोष्ठीविसृष्टानां सप्रसङ्गमुक्तमित्यस्मान्निरेह नापस्तम् । प्रसङ्गकृता पुनरेतदुक्तमनुपायित्वा लक्षितम् । एवम् 'आसखिदिप्रकंपवतां तद्वेष उपदेशः क्रमः' इति लक्षितः क्रमोऽप्यलंकार एव । दोषाभावमात्ररूपत्वात् । आदिपश्चाद्विदेशानामतयानिर्देशे ह्यपक्रमाद्य एव दोषः स्यात् । यथा—'तुरङ्गमथ मातङ्गं मे प्रयच्छ मद्बालसम् ।' अत्र गजाश्वयौरादिपश्चाद्विदेशयोरप्यतयानिर्देशादपक्रमाद्यम् । अनयोश्च स्वस्थाननिर्देशे दोषाभावमात्रत्वम् । न पुनरलंकारत्वम् । तस्मात्—

'अथरथ तदहो भावी विद्योयो यत्र नो भ्रवम् ।
परिच्छद-सुहृद्-यन्तु-विषयेन्द्रिय-जीवितैः ॥'

इत्यत्र परिच्छदादीनामभयानिर्देशे दोष एव स्यात् । न चात्र तादृक्शिक्षितेषु उपलभ्यते येनालंकारत्व स्यात् । एवम्—

'आस्तामस्तमयोऽद्भिम्यमिमवेर्द्धादिमात्रस्पृशो
माभूद्वा विरनिर्ममेनि च मतेर्दारामजादिष्वपि ।
अस्माकं यसुवैरमनिष्कुटनदीसोमानुकेदारिका-
देशमभेशदिगादिष्वपि कथ सा हन्त जास्तं गता ॥'

इत्यत्रापि ज्ञेयम् ।

उद्दिष्टानाम् इत्यादि । अर्थात् = पूर्ववर्तित कर्त्तों का ही पुन निर्देश = कथन हो तो उपमे पुनहति दोष चला भवे । सामर्थ्यात् = वाक्यार्थ के सामर्थ्य से— अर्थात् वाक्य पर विचार करने से । अन्ये = अन्य आचार्य = वामन आदि । जैसा कि [वामन ने] कहा है—'उपमेयो और उपमाना का क्रमिक संबन्ध होने से क्रम' [का सू. ५।३।१७] होता है । इससे यह अलंकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अतः प्रतिष्ठित है यह बतलाया गया [इससे केवल नामान्तर-मात्र बतलाया गया है क्योंकि वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी और भामह ने इसे यथासंख्य नाम से ही निरूपित किया है] । अन्यवहितत्व = समास आदि न होने से । अवयवानाम् = अवयवों का = हरि कञ्जल आदि का ।

इसे अलंकार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह दोषाभावमात्र है। यदि कथित पदार्थों का अनुकथन क्रम से न किया जाए तो 'अपक्रमत्व' नामक दोष होता है। जैसा कि कहा है— 'क्रमहीन पद अपक्रमत्व दोष से युक्त होता है' [वामन काव्या० सू० २।२।२२]। इसका उदाहरण यह प्रयोग है—'आपके कीर्ति और प्रताप सूर्य और चन्द्र के समान है' [वामन का० सू० वृ० २।२।२२]। [यहाँ कीर्ति का उपमान चन्द्र है और प्रताप का सूर्य अतः इनका प्रयोग 'चन्द्र और सूर्य' इस क्रम से होना चाहिए था]। केवल दोषाभाव को अलंकाररूप नहीं माना जा सकता। क्योंकि अलंकार तो वह उक्ति होती है जो कविप्रतिभात्मक होती है, यह हम पहले भी कह चुके हैं। केवल दोषाभावरूप ही अलंकार हो तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानान्' = [१।३।१० अ०] समान अर्थों का अनुनिर्देश यथासंख्य होता है इत्यादि [पाणिनिकृत व्याकरण-सूत्र] के उदाहरण—'तूदी, शल्लतुर वर्मती, कूचवार शब्दों से ढक्, छण्, ढम्, यक् प्रथय होते हैं' [अ० ४।३।१४] इत्यादि में अलंकार मानना पड़ेगा। इस विषय का विवेचन वक्रोक्ति-जीवितकार ने विस्तार पूर्वक [वक्रोक्तिजीवित-१] किया है इसलिए यहाँ [इन इस विषय पर अधिक] श्रम नहीं किया चाहते। ग्रन्थकार ने इस [यथासंख्य] का लक्षण इसलिए किया है कि वे उद्भटाचार्य के मत के अनुयायी हैं।

इसी प्रकार 'आसत्ति [सम्बन्ध] और विप्रकर्ष [दूरी] से युक्त पदार्थों का उन्हीं [सम्बन्ध तथा दूरी] को लेकर हुआ कथनक्रम [क्रमालंकार कहलाता है]—इस प्रकार लक्षित क्रम भी अलंकार नहीं है, क्योंकि वह भी दोषाभावमात्ररूप है। पूर्वपक्षदोषाभाव के क्रम के साथ कहे जाने योग्य पदार्थों का कथन यदि वैसा नहीं हो तो अपक्रमत्वनामक दोष ही होता है। अलंकारत्व नहीं। इस कारण—

'अहो ! जहाँ परिवारक, मित्र, बन्धुबान्धव, [रूपादि] विषय, इन्द्रियाँ तथा प्राणों से हमारा वियोग अवश्य ही होने वाला है।' इसमें परिवारक आदि का कथन यदि इस क्रम से न हो तो दोष ही होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कथन में ऐसा कोई वैशिष्ट्य भी नहीं मिलता जिससे इसे अलंकार माना जा सके। इसी प्रकार—

'देह आदि में अहंत्व [आत्मत्व] का अभिमान मिटना [तो] दूर रहे, श्री पुत्रादि में भी ममत्व की बुद्धि भले ही दूर न हो; आश्चर्य और खेद इसका है कि धन, धर, धार-धारी, नदीतट, उसके पास की न्यारियाँ, देश, राजा, दिशाओं आदि के प्रति भी वह- [ममत्व बुद्धि] समाप्त नहीं हो रही है।' यहाँ भी जानना चाहिए। [इस पद्य में तथा 'अवयवं०' पद्य में जो द्वन्द्व समास है उसमें पदों का क्रम पदार्थों के महत्त्व के आधार पर निर्धारित किया गया है] ॥

विमर्शनीकार यथासंख्य को भी काव्यलङ्कार के ही समान अलंकार नहीं मानते। पण्डितराज ने भी अपना मत इसी पक्ष में दिया है। यथासंख्य निरूपण के अन्त में उन्होंने लिखा है—

'यथासंख्यमलंकारपदवीमेव तावत् कथमारोहुं प्रभवतीति तु विचारणीयम्। न ह्यस्मि-
ल्लोकसिद्धे कविप्रतिमानिर्वर्तितस्वस्यालंकारताबीवातोर्लेशोऽप्युपलब्धिरस्ति येनालंकारव्यपदेशो
मनागपि स्थाने स्यात्। अतोऽपक्रमलरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम्। एवं चोद्भटमतानुयायिना-
सुक्तयः कूटकार्पापणवदरमणौया एव। एतेन यथासंख्यमेव क्रमालंकारसंज्ञया व्याहरतो वामनत्यापि
गिरो व्याख्याता इति तु नव्याः ।'

'विचार यह करना चाहिए कि यथासंख्य अलंकारपद को ही कैसे प्राप्त करता है। यह तो एक लोकसिद्ध तथ्य है। इसमें अलंकारत्व का प्राण कविप्रतिभाप्रसूतत्व लेशमात्र को भी प्राप्त नहीं होता, जिससे अलंकार कहना जरा भी उचित हो। इसलिए यथासंख्य अपक्रमत्वनामक

दोष का अभाव ही है। इस प्रकार उल्टे का मत मानने वालों का कथन नकली कार्पापण के समान सर्वथा अरमणीय ही है। और इसीलिए यथासंख्य को ही क्रमालंकार नाम से पुकारने वाले वामन के कथन की भी आँच हो जानी है। इस प्रकार नवीन आचार्य यथासंख्य और क्रम को दोषामात्र ही मानते हैं।

स्पष्ट है कि पण्डितराज ने विमर्शिनी का ही अग्ररश्च अनुगमन किया है।

विमर्शिनी और रत्नगगाधर के इन प्रतिवादी स्वयं का मूल शोभाकर का रत्नाकर है। रत्नाकर में शोभाकर ने भी यथासंख्य को अलंकार नहीं माना है। उन्होंने क्रमालंकार नामक पर्यायालंकार के एक भेद के प्रकरण में लिखा है—

‘यिनोद्देश क्रमेणदावपरेण पुनर्वदि ।
 क्रियते प्रतिनिर्देशो दोषः प्रक्रममङ्गत् ॥
 अथ दोषनिरासार्थं क्रमस्तदथ प्रवर्त्तते ।
 यथ.सख्यमलङ्कारो न स्याद् दोषनिवृत्तिः ॥
 तस्याश्चालङ्कारित्वे स्वादेशकस्य पदस्य सा ।
 पौनरुक्त्यादिविरहात् तेन नैदमलङ्कृतिः ॥
 एकैकरथ विशेषस्य सतिषी यद् विशेषणम् ।
 यथायोगानिधो वाच्य सोऽलङ्कारस्तथा’ पृथक् ॥
 वैचित्र्यविरहान्नेवमिष्यते चेत् सम द्वयो ।
 क्रमेण युगपद् वापि न हि कुदिविशिष्यते ॥

‘आरम्भ में जिस क्रम से पदार्थों का कथन हो, प्रतिनिर्देश यदि [उसी क्रम से न होकर] भिन्न क्रम से होना है तो वह ‘प्रक्रममङ्ग’ नामक दोष है। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिए वही क्रम रखा जावे तो इसे यथासंख्य कहा जाएगा किन्तु यह अलंकार नहीं होगा क्योंकि यह तो दोषामात्र ही होगा। इस दोषनिवृत्तिरूप दोषामात्र को यदि अलंकार माना गया तो यह एक ही पद्य में जितने पदों में दोषनिवृत्ति रहेगी उतने सब पदों में एक एक करके अनेक सख्या में माना जाएगा। और इतना ही नहीं पुनरुक्ति आदि सभी दोषों की निवृत्ति में अलंकारत्व मानना होगा। इसलिए यह [यथासंख्य] अलंकार नहीं है। यदि इसे अलंकार मानें तो जहाँ एक एक विशेषण के लिए एक एक विशेषण का प्रयोग किया जाता है वहाँ [लावण्यीकसि० आदि पद्यों में] एक ‘यथायोग’ नामक भी अलंकार मानना होगा। यदि उसमें वैचित्र्य का अभाव बननाकर उसे अलंकारत्वसंख्य बननाया जाए तो वही तर्क यथासंख्य में भी लागू होगा। सब यह है कि पदार्थों का घन क्रम से हो या अन्यथा, घन में कोई अन्तर नहीं आता।’

रत्नाकरकार को इतने से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने दवे स्वर में यथासंख्य को दोष भी बतलाना चाहा—

‘प्रत्युत विशेष्यपदनिकट पव विशेषणपदोपादानेन नैराकाङ्क्ष्येण प्रतिपक्षेस्त्वय विशेषः ।
 यथासंख्ये तु विशेषणार्था विशेषणाना च पृथग् पृथग्पादान व्यवहितसमन्वयेन साकाङ्क्षत्वात् ।’

—‘यदि यथायोग’ को अलंकार माना जाय तो वह कुछ दूर तक मान्य भी है क्योंकि विशेषणों का अपने विशेष्यों के साथ प्रयोग होने वाक्यार्थप्रतीति विना आकाङ्क्षान्यवधान के हो जाती है। यह भी एक विशेषता मानी जा सकती है। यथासंख्य में तो उल्टे आकाङ्क्षा का व्यवधान रक्ता है क्योंकि उसमें विशेष्य और विशेषणों का उपादान पृथक् पृथक् होता है।’

ररनाकर ने भिन्नलिखित बोट और की—

'किं चार्थं यथासंख्यालङ्कारः किम् अर्थस्य, शब्दस्य वा ? न तावदर्थस्य ०००० अर्थस्य क्रमा-
संमवाह । न द्वितीयः अनुप्रासादिवच्छब्दस्य चारुताऽप्रतीतेः । तन्नाभिधेयक्रमः, येनालङ्कारः,
अपितु क्रमेणाभिधानम् । न चाभिधानालङ्कारः कश्चिदस्ति ।'

—'यथासंख्य अलङ्कार किसका है ? अर्थ का या शब्द का ? अर्थ का हो नहीं सकता क्योंकि
[इसके लिए उदाहरित पद्यों में] अर्थ में क्रम नहीं रहता । दूसरा भी नहीं क्योंकि शब्द में अनु-
प्रासादि के समान चारुता की प्रतीति नहीं होती । इस प्रकार अभिधेय का क्रम तो यहाँ है नहीं
जिससे यह अलङ्कार हो सकता, यहाँ तो होता है क्रम से अभिधान और अभिधान नाम का तो
कोई अलङ्कार होता है नहीं ।' यहाँ ररनाकर ने यह पतलाना चाहा है कि सिलसिला नहीं,
तरतमता ही अभिधेयों का क्रम कहला सकती है । यथासंख्य में सिलसिला रहता है और तरतमता
पर्याय और पर्याय के ही सगे भाई क्रम नामक अलङ्कार में । सिलसिला अर्थ या अभिधेय
की विशेषता नहीं अभिधान की विशेषता है । अभिधान यदि अलङ्कार होता तो इसे अलङ्कार माना जा
सकता था । बक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने बक्रोक्तिमात्र को काव्य का अलङ्कार माना है और
बक्रोक्ति को माना है 'विचित्र अभिधा'—स्वरूप । अभिधा और अभिधान समानार्थी शब्द है । इस
प्रकार अभिधान को अलङ्कार मानने का पक्ष उठाया जा सकता है । और महिममट्ट ने उठाया भी है
तथापि यह कल्प दिक् नहीं पाता, क्योंकि बक्रोक्तिजीवितकार के अभिधाशब्द का अर्थ अभिधानानक
शब्दव्यापार नहीं, अपितु उक्तिप्रकार है जो कविकर्म के अन्तर्गत आता है । विमर्शिनीकार ने
जो बक्रोक्तिजीवितकार का इस प्रसंग में उल्लेख किया है वह केवल वैचित्र्यमात्र को अलं-
कारत्वाभायक मानने के लिए । बक्रोक्तिजीवित शब्द ही प्रमाणित करता है कि बक्र उक्ति ही अलं-
कार है क्योंकि बक्रोक्तिजीवितकार ने स्पष्ट कहा है—'काव्य अलङ्कृत नहीं किया जाता अपितु अलङ्कृत
वस्तु काव्य बनती है—'सालङ्कारस्य काव्यता ।' इस प्रकार उनके मत में अलङ्कार जो बक्रोक्तिस्वरूप
है, काव्य का जीवात् अर्थात् प्राण है । यथासंख्य में विमर्शिनीकार किसी प्रकार की बक्रता का
अनुभव नहीं करते अतः उनकी दृष्टि में यह अलङ्कार नहीं कहा जा सकता । इनके विरुद्ध दण्डी,
भामह, उज्ज्वल, वरद और भम्मट ने यथासंख्य को अलङ्कार माना है । इनके विवेचन इस
प्रकार है—

दण्डी = 'उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम् ।

यथासंख्यमिति प्रोक्तम् ।' [२।२७६ काव्यादर्श] ॥

—'कथित पदार्थों का उसी क्रम से अनूद्देश यथासंख्य कहलाता है ।'

भामहः—'भूयसास्यपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम् ।

क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते' ॥ २।२९ ॥

—पहले कहे गए अनेक ऐसे पदार्थों का क्रमशः पुनः निर्देश यथासंख्य कहा जाता है जो
समान धर्म से युक्त न हों ।

उदा०—'पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः ।

बन्धकान्तीक्ष्णगतिदग्धीवात्सैत्वया जिताः ॥ २।१० ॥

—'तुमने बन्ध, कान्ति, जेठ, गति, दग्धी तथा नेत्रों से पथ, चन्द्र, भृङ्ग, मातङ्ग, कोकिल तथा
कलापधारी मयूरों को जीत लिया है ।

भामह के लक्षण में पदार्थों का 'असाधर्म्य' एक विशेष तथ्य है । उनके उदाहरण में यद्यपि

उद्दिष्ट और अनुनिर्दिष्ट [पहले और बाद में कहे] पदार्थों में साम्य है तथापि उन पदार्थों में से केवल उद्दिष्ट और केवल अनुनिर्दिष्ट पदार्थों में कोई साम्य नहीं है ।

वामन.—

...

...

...

उद्भट्टः—उद्भट्ट ने यथामल्लव के लिए मामद की ऊपर उद्भूत कारिका उर्वों की रथों अपना ली है । उदाहरण के रूप में भी उन्होंने मामद से मिलता जुलता एक अनुद्भूत अपने कुमारसंभव से उद्भूत कर दिया है—

‘मृणालहस पद्मानि वाहुवत्क्रमगानने ।

निर्जयन्त्यानया न्यक्त नलिन्य सकला भिताः ।’

यहाँ ‘असपर्मता’ का निर्वाह पूर्वप्रदर्शित क्रम से करना होगा । वस्तुतः असपर्मत्व के लिए उद्भट्ट का उदाहरण ठीक है । उद्भट्ट के टीकाकार प्रतीहारन्दुराम ने भी पदार्थ उन्हें ही उद्भूत किया है और असपर्मत्व की साधकता के लिए कहा है—‘जहाँ उपमा या व्यतिरेक न भी हो, केवल दो से अधिक पदार्थों में यथासंख्य अन्वय रखा गया हो तो वहाँ भी समाकार का अनुभव होता है’ ।

उद्भट्ट—‘निर्दिष्टपक्षे वृत्तिमन्तर्धा विविधा यथैव परिवाठया ।

पुनरपि नःप्रतिबद्धास्तथैव तव स्याद् यथासंख्यम् ॥ ७३५ ॥

एद् द्विगुण त्रिगुण वा बहुपुदिष्टेषु आवृत्ते रम्यम् ।

यद् तेषु तथैव ततो द्वयोस्तु बहुशोऽपि बध्नीयात् ॥ ७३५ ॥

‘मित्तमै विविध [अर्थात् असपर्मता] पदार्थ पहले जिस परिपाटी = क्रम से कहे गये हों बाद में भी वही क्रम से कहे गए हों तो वह वास्तव वर्ग का यथासंख्य नामक अलङ्कार होता है ।’

यह अनेक पदार्थों के दो या तीन बार कथन में [अधिक] सुन्दर होता है । यदि केवल दो पदार्थों में ही यथार्थास्यमाव लाना हो और यह अलङ्कार निश्चिन्त करना हो तो दो दो पदार्थों का यह क्रम पञ्चाधिक बार उपनिबद्ध किया जाना चाहिए । उदाहरण—

(१) कज्जल-हिम-कनकरुचं सुपर्ण-वृष हस-वाहना. श्र वः ।

जलनिधि-गिरि-पथरथा हरि-हरचतुरासनना ददत्त ॥ ७३६ ॥

(२) दुग्धोदधिदौलरथौ सुपर्णवृषवाहनी घनेन्दुशुची ।

मधुमकरध्वजमपनी पातां वः शार्ङ्गशूलधरी ॥ ७३७ ॥

‘कज्जल, हिम तथा सुवर्ण सी कान्ति वाले, गरुड वृष तथा हस पर आरूढ होने वाले, समुद्र, पर्वत तथा कमल में निरास करने वाले विष्णु, शिव, मत्स्य आपको शान्ति दे ।

‘दुग्धोदधि तथा पर्दा पर रहने वाले, गरुड तथा वृषभ पर आरूढ होने वाले, मेघ तथा वृषभ पर आरूढ होने वाले; मेघ तथा चन्द्र के समान कान्तिवाले, मधु तथा काम के हन्ता; शार्ङ्ग तथा शूल धारण करने वाले [विष्णु तथा शिव] आपको रक्षा करें ।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ उपर्युक्त दोनों ही योवनार्थों के पदार्थों में साम्य नहीं है । मामद तथा उद्भट्ट के ‘असपर्मत्व’ विशेषण को ‘विविध’ शब्द में अपना कर उसमें ठीक निर्वाह उद्भट्ट ने ही किया । उद्भट्टी ने ऐसा कोई विशेषण दिया हो नहीं था । मामद ने भी यह विशेषण नहीं दिया किन्तु ‘साधर्माभाव’ को स्वीकार अवश्य किया । इनके उदाहरण से यह तथ्य प्रमाणित है ।

मामद—‘यथामल्लवं क्रमेणैव क्रमिकार्गा समन्वयः ।’

—‘क्रम में कथित पदार्थों का क्रम से ही अन्वय यथासंख्यालङ्कार कइलाता है ।’

उदाहरण = 'एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र देव द्विधा च विदुषां च सृगीदृशां च ।

तापं च संमदरसं च रतिं च पुष्पान् शीर्षोष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥'

—'आश्चर्य की बात है कि देव ! आप शत्रु विद्वान् और सुन्दरियों के चित्तों में शीर्षोष्मा, विनय और चेष्टाओं से ताप, हर्ष तथा रति पुष्ट करते हुए तीन रूपों में वसते हैं ।'

इन सभी आचार्यों ने अलंकार को चारुत्व या सौन्दर्य का व्यापक तत्त्व माना है । निश्चय ही इन्हें यथासंख्य में भी कोई न कोई सौन्दर्य सूझता होगा । इसी प्रकार रत्नाकरकार को छोड़ परवर्ती आचार्यों ने भी यथासंख्य को इस प्रकार अलंकार माना है—

दीक्षित = 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकानां समन्वयः ।

शुभु मित्रं विपत्तिं च जय रंजय भंगय ॥'

शुभ मित्र और विपत्ति को जोतिप, प्रसन्न कीजिए और नष्ट कीजिए ।'

पण्डितराज = 'उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम् ॥

—कथनक्रम से अर्थों का संबन्ध यथासंख्य कहलाता है ।'

विश्वेश्वर = 'निर्देशक्रमतो यदि समन्वयस्तद् यथासंख्यम् ।'

—'यदि निर्देशक्रम से सम्बन्ध हो तो उसे यथासंख्य कहते हैं ।'

इस प्रकार सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों ने भी यथासंख्य में सौन्दर्य पाया है । प्रश्न उठता है कि इन पुराणवादी आचार्यों की मान्यता कहाँ तक तथ्यात्मक है । इसका उत्तर रुद्रट ने दिया है । उन्होंने कहा है—

यथासंख्य अपने आप में सुन्दर नहीं होता । वह सुन्दर तब बनता है जब इसमें अनेक अर्थ द्विगुण या त्रिगुणरूप [दो दो तीन तीन के वर्ग] में क्रम लिए हुए कथित हों—

'तद् द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूद्विष्टेषु जायते रम्यम्' [७३५] ।

नमिसाधु ने 'द्विगुण त्रिगुण' इन संख्यावाचक शब्दों का तात्पर्य इससे अधिक संख्या के प्रतिषेध में बतलाया है । चरतुतः उदाहरण तीन से अधिक अर्थों के समुदाय के भी मिलते हैं । भामह द्वारा निर्मित उदाहरण 'पद्मे०' ऐसा ही उदाहरण है । 'कञ्जल०' पद्य त्रिगुण विशेषणों से अधिक का उदाहरण है । यद्यपि यह सत्य है कि ऐसा विशेषण यदि बहुत अधिक हो जाय तो उक्ति पहेली जैसी हो सकती है । रुद्रट के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सम्बद्ध अर्थों में वर्गनिर्माण और क्रमविधान से कोई नवीनता अवश्य ही आती है । यह प्रवृत्ति कवि प्रज्ञापूर्वक अपनाता है, प्रमादपूर्वक नहीं । फलतः यह उतनी अशक्ति नहीं, अपितु शिल्पबोधना है । दोष तो अशक्ति से आता है । कवि चाहे तो उसी वाक्य की रचना वर्गविहीन क्रम से भी कर सकता है, अतः वर्गबोधना उक्ति का आवश्यक धर्म नहीं है । इस प्रकार उक्त आचार्यों का इसे अलंकार मानना युक्तिसंगत है । अनुभव भी इसका अनुमोदन करता है । 'तूदी-शलातुर-वर्मती दूचवारात् उच्छृण्वन्व्यकः' सूत्र और 'पद्मेन्दु०' या 'कञ्जल-हिम०' वाक्य परस्पर में उक्ति की समानता रखने पर भी अनुभूति या प्रभाव में भिन्न हैं । मम्मट के उदाहरण पद्य में तो चमत्कार का कोई अन्य हेतु भी नहीं मिलता । उसमें न तो भामह और रुद्रट के उदाहरणों के समान व्यतिरेक का पुट है और न दण्डी के उदाहरण के समान उत्प्रेक्षा का ।

क्रमालंकार = यथासंख्य को क्रम नाम से पुकारने का जो उल्लेख सर्वत्र में मिलता है वही

रत्नाकर [कमालकार], कुवलयानन्द [यथासख्यारंकार] तथा रसगंगाधर में मिलता है। इसका मूल विमर्शिनीकार ने वामन के विमर्शिनी में ही उद्धृत और उदाहरत कमालंकार को माना है। वामन का क्रम उपमानोपमेय नरु सीमित है अतः उसमें क्रम रहने पर भी सौन्दर्य-निष्पत्ति में उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वस्तुतः इसका मूल दण्डी न ही है। दण्डी ने इसे न केवल क्रम नाम से ही, अपितु 'सख्यान' नाम से भी पुकारा जाना बनवाया है—

'उद्दिष्टानां ० ०० प्रोक्त—'भरयान क्रम इत्यपि ॥' इस प्रकार दण्डी के पूर्वोद्धृत यथासख्य-लक्षण को कारिका का चतुर्थ चरण 'सख्यान क्रम इत्यपि' है। नामद के काव्यालंकार से विदित होता है कि मेधावी नामक किमी अलंकारशास्त्री को कोई ऐसी भी परम्परा मिली थी जिसमें यथासख्य और उदाहरण का 'सख्यान' कहा जाता था। [२।८८]

रत्नाकरकार ने—

[क्रमेण] आरोहावरोहादि. क्रम ॥ ९२ सू० ॥

'किसी वस्तु का अधिक पद ऊँचा खान प्राप्त करना या उसके विपरीत क्रम या निम्न स्थान प्राप्त करना क्रम कहलाता है।'—इस प्रकार एक क्रम नामक अलंकार तो माना है किन्तु इसका यथासख्य की अभिव्यक्ति से संबंध पार्थक्य है। रत्नाकरकार ने इसमें आरोह का उदाहरण 'नन्वाश्रयस्थिति'—यह पद्य दिया है जिसमें मम्मट ने और सर्वस्वकार ने पर्याय नामक अलंकार माना है।

पाठभेद = निर्गवसागरीय प्रति में सूत्र तथा वृत्ति दोनों में 'अनुनिर्देश' के स्थान पर 'अनूद्देश' छाया है। विमर्शिनी तथा सजीविनी दोनों में अनुनिर्देश ही पाठ है। अन्य प्रात्यों में भी यही पाठ छाया है। प्राचीन आचार्यों के पूर्वोद्धृत उद्धरणों में दोनों ही शब्दों का प्रयोग है। दण्डी में 'अनूद्देश' शब्द है और मामद में 'अनुनिर्देश'। अन्य अलंकारों में सर्वस्वकार की परम्परा मामद से मिलती है किन्तु इस अलंकार में ऐसा लगता है कि सर्वस्वकार दण्डी से अधिक प्रभावित है। इस कारण कदाचिद् 'अनूद्देश' शब्द ही मूल शब्द है।

उद्धटानुयायिता = विमर्शिनी तथा रसगंगाधर में यथासख्य को अलंकार मानने की परम्परा का आरम्भ उद्धट से माना गया है। सर्वस्वकार को दोनों ने उद्धटानुयायी कहा है। वस्तुतः उन्हें मामदानुयायी अथवा दण्डीयानुयायी कहना चाहिए। उद्धट का यथासख्य लक्षण अक्षरशः मामद का ही लक्षण है।

श्रीविद्याकरुणनी ने यथामत्य पर निष्कृष्टार्थकारिका इस प्रकार बनार् है—

'प्रागुक्तानामनुकैस्तु सन्ध. क्रमिको यदा।

यथासख्यं नदा शब्दमर्थजेति शिवा भगन् ॥'

पूर्व कथित अर्थों का अनुकथन अर्थों के साथ क्रमिक सन्ध्व यथामत्य कहलाता है। वह शब्द और आर्थ इस प्रकार दो प्रकार का होता है।

उक्त इतिहास से विदित होगा है कि यथासख्य का आर्थ भेद प्रथमतः सर्वस्वकार ने ही बनवाया है। इसी प्रकार मम्मट के पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के लक्षण में कथन और अनुकथन भिन्न अर्थों का हो वे भिन्न हैं ऐसा स्पष्टीकरण नहीं है। सर्वस्व के लक्षण में 'उद्दिष्टानाम्' इस पद की षष्ठी का सन्ध्व 'क्रमेण' के 'क्रम' पदार्थ के साथ करने पर यह अर्थगत भेद स्पष्ट हो जाता है।

[सर्वस्व]

[सू० ६१] एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः ।

क्रमशस्तावादिदमुच्यते । एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति स एकः पर्यायः । ननु 'एकमनेकगोचरमिति प्राक्तनेन लक्षणेन विशेषालंकारोऽ-
श्लोक्तः, तत्किमर्थमिदमुच्यते' इत्याशङ्क्योक्तम्—क्रमेणेति । इह च क्रमो-
पादानादर्थोत्तत्र यौगपद्यप्रतीतिः । तेनास्य ततो विविक्तविषयत्वम् । तथा—
एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत् स द्वितीयः पर्यायः ।

नन्वत्र समुच्चयालंकारो वक्ष्यते इत्येनदर्थमपि क्रमेणेति योज्यम् । अत एव 'गुणक्रियायौगपथं समुच्चयः' इति समुच्चयलक्षणे यौगपद्यग्रहणम् । अत एव क्रमाश्रयणात् पर्याय इत्यन्वर्थमभिधानम् । विनिमयाभावात्परिवृत्ति-
वैलक्षण्यम् । तस्या द्वि विनिमयो लक्षणत्वेन वक्ष्यते ।

तत्रानेकोऽसंहतरूपः संहतरूपश्चेति द्विविधः । तच्च द्वैविध्यमाधारधेय-
गतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः । क्रमेणोदाहरणानि—

'नन्वाश्रयस्थितिरियं किल कालकूट केनोत्तरोत्तरविशिष्टपद्मोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः अलानाम्' ॥

'विस्फुरागादधराश्लिषिततः स्तनाङ्गरागावणितारुच कन्दुकात् ।
कुशाङ्गरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षस्तूत्रप्रणयो तथा करः ॥'
'निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संबरोऽभूवभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्लाविधितामिपामिः स वाह्यतं राजपथः शिवाभिः ॥'
'यत्रैव मुग्धेति कृतोदरीति प्रियेति कान्तेति महोत्सयोऽभूत् ।
तत्रैव दैवाद् वदने मदीये पत्नीति भायेंति गिरश्चरन्ति ॥'

अत्र कालकूटमेकमनेकस्मिन्नसंहते आश्रये क्रमेण स्थितिमन्निबद्धम् ।
करद्वैकोऽनेकस्मिन्नसंहते क्रमवान्, अधरकन्दुकयोर्निवृत्त्युपादानतया
संहतत्वेन स्थितत्वात् । अभिसारिकाः शिवाश्रानेकस्वभावा असंहतरूपा
एकस्मिन्नाश्रये राजपथे क्रमवर्तिन्यः । वदने चैकस्मिन्नाश्रये मुग्धत्वादि-
वर्गः पत्नीत्वादिवर्गश्च वर्गत्वादेव संहतरूपोऽनेकः क्रमवानुपनिबद्धः ।

[सूत्र ५१] एक का अनेक में तथा अनेक का एक में क्रम से रहना पर्याय [नामक
अलंकार कहलता है] ॥

क्रम का प्रकरण है, इसलिए [पर्याय का] यह [लक्षण] वहाँ कहा जा रहा है । एक
आधेय का अनेक आधार में जो रहना वह एक प्रकार का पर्याय होता है ।

शंका होती है कि 'एक का अनेक में दिखाई देना' इस लक्षण के अनुसार ऐसे स्थलों में
विशेषालंकार बतला ही दिया गया है तब यह क्यों बतलाया जा रहा है ।

यही शवा करके कहा क्रमेण = क्रम से । यहाँ क्रम का उपादान करने से सिद्ध हुआ कि यहाँ [विशेषार्थकार के उक्त भेदमें] यौगपद्य रहता है । उसे लेकर इसका विषय भिन्न मिश्र हो जाता है । इसी प्रकार एक आधार में जो अनेक आधेय का रहना वह दूसरा पर्याय होता है ।

शका होती है 'देसी स्थिति में आगे समुच्चयात्कार बतलाया जायगा' । [उचर] जी हाँ, इसीलिए यहाँ भी 'क्रम से' इस पद की योजना सूत्र में कर देनी चाहिए । इसीलिए समुच्चय के 'युग और क्रिया का यौगपद्य समुच्चय' हम लक्षण में यौगपद्य का ग्रहण किया जायगा । और इसीलिए इसका पर्याय नाम भी सार्थक है, क्योंकि इसमें क्रम अपनाया जाना है । इसमें 'विनियम नहीं रहता इसलिए इसका परिवृत्ति से भी भेद है । उस [परिवृत्ति] में विनियम को लक्षण बतलाया जायगा ।

इसमें अनेकत्व से युक्त पदार्थ दो प्रकार के होते हैं सहस्र [इकट्ठे] तथा असंहस्र [अलग अलग] इसके अतिरिक्त आधार और आधेय को लेकर जो द्वैविध्य है वह है ही । फलतः इसके चार भेद हो जाते हैं । इनके क्रमशः उदाहरण—

[अमङ्गल अनेक आधारों में एक आधेय]

हे ! कालकूट [विपराज] आशय की यह उचरोचर उत्कृष्ट पद वाली स्थिति मुझे किसने सिखलाई है । पहले तू मनुष्य के हृदय में था, फिर शिव के कण्ठ में पहुँचा और अब एत्यों की मानी में रह रहा है ।'

[संहस्र अनेक आधारों में एक आधेय—]

'राग [रजक द्रव्य] मुक्त अक्षर और स्मृतों के अग्राग से अक्षर कन्दुक से ढाया हुआ [अपना] हाथ, जिसकी उगलियों कुशाक्षर उपाटने से अहाँ तहाँ डूब गई थी उस [पार्वती] ने वद्राक्षमाला का प्रेमी बना दिया ।' [कुमार सं० ५]

[असंहस्र अनेक आधेयों का एक आधार]—

[मेरा] वही राजपथ जो रात्रिकाल में चमकने और कलरव से युक्त नूपुर पहिनी अभिचारिकाओं का संचारपथ बना रहता था, इस समय बोलते समय मुझे निकली लुकाटियों की झिलमिलाहट में भाँस खोज रही सिरकट्टियों द्वारा रींदा जाना रहता है । [रघुवश-१६] ॥

[संहस्र अनेक आधेयों का एक आधार]

'जिसमें मुग्धा, कुशोदरी, प्रिया, काम्ना इस प्रकार के शब्दों के बोलने का महान् बरतव चला करता था, मेरे उसी मुख में इस समय देवगति से परनी और भाषा आदि शब्द घूमते रहते हैं ।'

इसमें [से प्रथम में] एक ही कालकूट अनेक अलग अलग आधारों में क्रम से अवस्थित बतलाया गया । [द्वितीय में] एक ही हाथ अनेक एकत्रित [एक ही स्थिति पर इकट्ठे] पदार्थों में क्रम से [निवृत्तिशाली] बतलाया गया । क्योंकि अक्षर और कन्दुक यहाँ निवृत्ति विषय के रूप में [एकत्रित] महत् रूप में विद्यमान हैं । [तृतीय से] अभिचारिकारं और सिरकट्टियों अनेक स्वभाव की हैं और [अलग अलग समय में रहने वाली अतः] असंहस्र है, साथ ही एक राजपथ रूपी आधार क्रम से संचारयुक्त बतलाई गई है । [चतुर्थ में] मुखरूपी एक ही आशय में मुग्धात्व आदि के वाचक शब्दों के वर्ग और परनीत्व आदि के वाचक शब्दों के वर्ग जो वर्गत्व के कारण परस्पर सहस्र तथा अनेकरूप हैं क्रम में विद्यमान बतलाए गए हैं ।

विमर्शिनी

एकमित्यादि । इदमिति पर्यायलक्षणम् । तदेव व्याचष्टे—एकमित्यादिना । एक इति द्वितीयापेक्षया । अतश्च द्वौ पर्यायी । न पुनरेक एव । सामान्यलक्षणयोगात् । अत एव काव्यप्रकाशकृता पृथगेतौ लचितौ । यदाह—‘एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः’ इति, ‘अन्य-स्ततोऽन्यथा’ इति च । अन्यवृत्ता खनयोरन्यान्यस्यान्यथा ग्रहणेन क्रमान्यथाभावोऽपि प्रसक्त इति दूषणोद्भावनयैवं लक्षणं कृतम् । एवं ‘क्रमेणैकस्मिन्क्रमान्यथा वा पर्याय’ इत्यपि न समुचितं तस्यैव प्रयोजनं दर्शयति—नन्वित्यादिना । किमर्थमिति । विशेषालंकारेणैव तरप्रतीतिसिद्धेः । अर्थादिति । पारिशेष्यारम्भकाश्रयामर्षादित्यर्थः । तेनेति । क्रमयौगपद्यस्वरूपत्वेनेत्यर्थः । तत इति । विशेषात् । तथेत्यादि । अत्रापि क्रमग्रहणस्य प्रयोजनं दर्शयति—नन्वित्यादिना । अत एवेति । विशेषसमुच्चयघोर्वांगपद्यसंभवात् । अन्वर्थ-मिति । ‘परावन्नुपारथ इण्’ इत्यनेनानुपास्ये गम्यमाने घञो विहितत्वात् । अतश्चास्यैव क्रमार्थाभिधाषित्वात्क्रमोऽपि पृथगलंकारतया न लक्षणीयः । अथात्रारोहावरोहयोरधि-कयोः प्रतीतिरस्तीति शृङ्गमेवास्व पृथगलक्षणमिति चेत् । एवं तर्ह्यधाराधेयानां परस्परं विलक्षणत्वाभ्यामलंकारान्तरप्रणयनं स्यात् । तयोरप्यधिकयोः पर्याये संभवात् । न चात्र तावत्कश्चिदतिशय उपलभ्यते, येन पृथगलंकारत्वमपि स्यात् । एवमारोहादिना यद्ब्रह्मैकलक्षणमवधारयते तदेतद्भेदत्वे निमित्तम्, न पुनः पृथगलंकारतायाम् । एकस्यानेकक्रा-न्यथा वा क्रमेणावधानालक्ष्यस्य सामान्यलक्षणस्याप्यनुगमात् । एवं—

‘यदेकस्मात्तदुत्तोर्यं आधारान्तरमाधवेत् ।

स पर्यायो निवृत्तौ तु क्रमोऽयं बहुधा स्थितः ॥’

इत्थपि पर्यायादस्य पृथक्त्वे निमित्तं न वाच्यम् । निवृत्त्यविधुरगोविच्छ्रुतिविशेष-त्वामावात् । तस्मादस्य पर्याय एवास्तर्भावात्पृथगलक्षणप्रणयनं नवनवालंकारप्रदर्शन-हेतुकमात्रमेवेत्यलं बहुना ॥

ननु शृङ्गानेकरूपस्य वस्तुनोऽन्यत्र प्राप्तेः परिवृत्तिरेवायं किं नन्वावाहक्याह—विनि-मयेत्यादि । संघतरूप इति । संघातरूप इत्यर्थः । अन्वयेति शब्दसामान्यमवलम्ब्योक्तम् । असंघते इति । आश्रयणामनेकत्वात् । क्रमेणिति । हृदयाद्यनुक्रमान् । एवमप्येकस्यैव कालकूट-स्योत्तरोत्तराधिकस्थानासादनादारोहणप्रतीतिः । अवरोहो यथा—‘तिरः श्यावं स्वर्गात्’ इत्यादि । अत्र गङ्गायाः उत्तरोत्तरस्थानासाधनम् । संघते इति । अधरकम्बुकादेरनेकस्याध्र-त्वात् । क्रमवन्तिन्य इति । असिसारिकाशिवानामतीतवर्तमानकालावच्छिन्नत्वात् । मुखत्वा-दीनां बहुत्वाद् वर्गत्वम् ।

एकम् इत्यादि । इदम् = यह = पर्यायलक्षण । उसी की व्याख्या करते हैं—एकम् । एक = द्वितीय की अपेक्षा । इसलिये पर्याय दो हुए, एक नहीं, क्योंकि इसमें सामान्यलक्षण नहीं बनता । इसीलिये काव्यप्रकाशकार ने इनके लक्षण अलग अलग किए हैं । ‘एक क्रम से अनेक में [एक] पर्याय होता है’ इस प्रकार एक का लक्षण किया है और ‘दूसरा पर्याय उस [प्रथम] से उलटा’ इस प्रकार दूसरा लक्षण । अन्वकार ने इसके विपरीत यहाँ इन दोनों का जो इस प्रकार मिलित लक्षण बनाया है वह इस दोष की शंका से कि दूसरे को अलग बतलाकर यदि प्रथम से उलटा बतलाया गया तो [एकता और अनेकता के उलटाव के साथ ही] क्रम में या उलटाव की संभावना होने लगती [जबकि क्रम दोनों में समानरूप से अवस्थित रहता है] । इस प्रकार [ररनाकरकार द्वारा बनाया गया] ‘क्रम से एक अनेक में या उलटा पर्याय [कहलाता है]’ यह लक्षण भी

ठोक नहीं है। उम [कम] का प्रयोजन बनलाने है—ननु० इत्यादि पक्ति के द्वारा। किमर्थम् = विशेषालंकार से ही उसकी प्रतीति हो सकती थी तब इसे क्यों अलंकार माना गया। अर्थात् = पारिशेषरूपी सामर्थ्य से। तेन = उससे = क्रम और यौगपद्य में। ततः = उससे = विशेष से। तथा = यहाँ भी क्रमशः अपनाने की आवश्यकता बतलाने है—'ननु०'। अत एव = इसी-लिये = विशेष और समुच्चय में यौगपद्य रहने में। अन्वयम् = साथैक = क्योंकि 'परि उपमगूर्वक इण् धातु से अनुपात्यय [= परिपाटी = क्रम] अर्थ निकल रहा हो तो 'इण्प्रत्यय होना है' [पा० सू० ३।३।२८ 'क्रमप्राप्तस्यानतिपातोऽनुपात्यय 'काशिका] इस मूल से अनुपात्यय अर्थ की व्यंजना में इण् प्रत्यय के विधान से पर्यायशब्द बना है। इस प्रकार पर्याय-शब्द क्रम का वाचक है—फलन [रत्नाकरकार के] कमालंकार को भी अलग से अलंकार नहीं बनाना चाहिए। यदि कहें—'यहाँ [क्रम में] आरोह और अवरोह ये दो तन्त्र प्रतीति में अधिक सामान्य होने हैं अतः इतका पृथक् अलंकार के रूप में लक्ष्य ठोक ही है' [उत्तर, तो] ऐसे भी आधार और आधेय में भी परस्पर में विलक्षणता रहनी है, तब उनमें से भी एक एक के आधार पर स्वतन्त्र अलंकारों के लक्षण बनाने चाहिए, उन आधार(आधेयों) में भी [आपके द्वारा स्वीकार] पर्याय के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति प्रत्येक दूसरे को अधिक माना जा सकता है। फिर इस [क्रम नाम में अमिहित अलंकार के आरोह अवरोह] में कोई चमत्कारभेद भी नहीं दिखाई देता, जिसमें इसे पृथक् अलंकार माना जाए। यदि आरोह आदि को लेकर कोई विशेषता दिखाई देती हो तो उसमें क्रम पर्याय का भेद ही सिद्ध हो सकता है, पृथक् अलंकार नहीं। पर्याय का 'क्रम से एक का अनेक में रहना या इसमें लक्ष्य अनेक का एक में रहना' इस आशय का जो सामान्य लक्षण [आपने बताया] है वह दोनों में ही लागू हो जाता है। इस कारण [रत्नाकरकार द्वारा]—

'किन्वी के एक में हट कर दूसरे आधार में पहुँचने से पर्याय, लीर अनेक बार हटने मात्र से क्रम होता है।'

इस प्रकार भी क्रम को पर्याय से अलग बतलाने में जो विमिश्र बनलया गया है वह अकिञ्चित्कर है। निवृत्ति और अनिवृत्ति में चमत्कार में कोई अन्तर नहीं जाना। इसलिए जब इनका पर्याय में अन्तर्भाव हो सकता है तब स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अलग लक्षण बनाना और कुछ नहीं केवल जब जब अलंकारों के प्रदर्शन की हृद्य भर है। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है।

शंका होनी है—'अनेकरूप वस्तु की अन्वय प्राप्ति होने से [पर्याय का] यह [भेद] परिवृत्ति स्वरूप ही है'—इस पर उत्तर देने हैं—विनिमय०। संज्ञारूप = मयात्मात्मक। अस्य = इस [पर्याय] के [चार भेद हैं वह पर्याय] शब्द की समानता को लेकर कहा [क्योंकि दोनों पर्याय तत्त्वन मिन्न हैं]। असंहृते = अलग अलग = आशयों के अनेक होने से। क्रमेण = हृद्य आदि के अनुक्रम से। इत्थे पर भी सत्य है कि यहाँ [रत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादिन] आरोहण की प्रतीति होती है क्योंकि यहाँ एक ही कालरूप को उत्तरोत्तर अधिक ऊँचे स्थान की प्राप्ति होती है। अवरोह का उदाहरण [मर्तुहरि का] यह [प्रसिद्ध] पद्य है—

'शिरः शार्च स्वर्गात्० ।'

यहाँ गङ्गा जी का उत्तरोत्तर [अवर] स्थान प्राप्त करना वर्णित है। सहृते = पञ्चनि = अथवा कन्दुक आदि अनेक आशय रूप से सहृते हैं। क्रमवसिन्ध्यः = क्रम से युक्त = क्योंकि अमिसारिका और सिरकट्टिया अतीव तथा वर्तमान काल की वस्तु बनलाई गई हैं। मुग्धत्व आदि में वर्ण शमलिये है कि पञ्चाधिक है ॥'

विमर्श—पर्यायालङ्कार का इतिहास—

पर्याय को अलङ्कार प्रथमतः रुद्रट ने ही माना है। उन्होंने इसके दो भेद किए हैं, जिनमें से प्रथम पर्यायोक्तालङ्कार के अन्तर्गत आता है। द्वितीय का रूप वर्तमान पर्याय से अक्षरशः मिलता है। यह यह है—

‘यनैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात् ।

वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियेत चान्यः स पर्यायः’ ॥ ७.४४ ॥

‘जहाँ सुखादिस्वरूप एक वस्तु अनेक में अथवा अनेक वस्तु एक में क्रम रहे या रखी जाए तो वह पर्याय कहलाता है।’ इस प्रकार चार भेद हैं [१] कर्तृरूप एक वस्तु का अनेक में रहना [२] कर्तृरूप अनेक वस्तु का एक में रहना, [३] कर्मरूप एक वस्तु का अनेक में रहना तथा [४] कर्मरूप अनेक वस्तु का एक में रहना।’ रुद्रट ने इसके उदाहरण दो ही दिए हैं, किन्तु उनमें चारों भेद गतार्थ हो जाने हैं। उदाहरण ये हैं—

‘कमलेषु विकासोऽभूद्वदयति भानाबुपेत्य कुमुदेभ्यः ।

चभसोऽपससार तमो बभूव तस्मिन्नधालोकः ॥’

‘सूर्य उगते ही कुमुदों से हटकर विकास कमलों में दिखाई देने लगा इसी प्रकार आकाश में अन्धकार हटा और प्रकाश आया ॥’

इसमें प्रथमार्थ में कर्तृरूप एक विकास को स्थिति कुमुद और कमल रूप अनेक आधारों में दिखालाई गई है जब कि अपरार्थ में कर्तृरूप अनेक अन्धकार और आलोक की स्थिति एक ही आकाश में। इस प्रकार यह एक पद्य कर्तृमूलक दोनों भेदों का उदाहरण हुआ।

‘आच्छिद्य रिपोलक्ष्मीः कृता त्वया देव भृत्यभवनेषु ।

दत्तं भयं दिपद्भ्यः पुनरभयं याचमानेभ्यः ॥

हे राजन्! आपने लक्ष्मी को शत्रुओं से छीना कर भृत्यों को भवनों में बसा दिया है। इसी प्रकार शत्रुओं को द्वेष करने पर भय तथा याचना करने पर अभय प्रदान किया है।’ यहाँ प्रथमार्थ में ही लक्ष्मीरूपी कर्म को शत्रु और भृत्यभवन रूपी अनेक आधारों में बतलाया गया है। इसी प्रकार अपरार्थ में शत्रु रूपी एक ही आधार में भय और अभय रूपी अनेक कर्मों का अस्तित्व बतलाया गया है। फलतः यह पद्य कर्ममूलक दोनों पर्यायों का उदाहरण है।

सम्मत और रत्नाकरकार के पर्यायलक्षण विमर्शानुकार ने यहाँ उद्धृत कर दिए हैं। रत्नाकर का पर्यायलक्षण यथासंख्य के प्रकरण में भी दिया जा चुका है। सम्मत ने उदाहरण के रूप में सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘नन्वाश्रयस्थिति’ पद्य ही प्रस्तुत किया था। शोमाकर के दाद के आचार्यों के पर्यायनिरूपण इस प्रकार हैं—

अप्यसदीक्षित—‘पर्यायो यदि पर्यायिणैकत्वानेकसंश्रयः ।’

‘एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः ॥’

पण्डितराज—१ क्रमेणानेकाधिकरणकमेकमाधेयमेकः पर्यायः ।

२ क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः ॥

विश्वेश्वर—‘एकमनेकमनेकैकस्मिन् क्रमतोऽस्ति स पर्यायः ॥’

इन सभी लक्षणों का अर्थ वही है जो सर्वस्वकार के लक्षण का है। केवल विश्वेश्वर ने दोनों

पर्यायों को एक ही सूत्र में रखकर कदाचित् यह सिद्ध करना चाहा है कि ये दोनों दो पृथक् पृथक् नहीं, अपितु एक ही हैं ।

संज्ञोपनिषाकार की निष्कर्षकारिका इस पर यह है—

‘पर्याय एकोऽनेकस्मिन्नेकानेक इत्यपि ।
द्विधा क्रमवशादेतौ न विशेषममुच्यते ॥
नेय विनिमयाभावात् परिवृत्तिमदा रिचह ।
चनस्रोऽनेकरूपस्य पृथक् सप्तानवर्त्तनात् ॥
पृथक् सप्तावृत्तिस्वादनैकोऽर्थो द्विधा स च ।
आधाराधेयमावरणवचनस्रोऽन्व भिदास्तन ॥’

‘पर्याय अलङ्कार वह होता है जिसमें क्रम से अनेक एक में लयवा क्रमसे ही एक अनेक में रिचत दिखलाया जाता है । क्रम के कारण यह न विशेषालङ्कारस्वरूप है और न समुच्चयस्वरूप । इसमें विनिमय का अभाव रहना है इसलिए यह परिवृत्तिस्वरूप भी नहीं ठहरता । इसमें चार भेद होते हैं क्योंकि इसमें अनेकरूप अर्थसंघात में नहीं रहना है । तब एक भेद स्वतन्त्र भेद माना जाता है, और जब रहता है तब एक स्वतन्त्र भेद । इसी के साथ यह अनेक अर्थ स्वतन्त्र आधार रूप होता है और आधेयरूप । इस कारण इनके केवल चार ही भेद होते हैं ।

एतद् है कि शब्द के चार भेदों की अपेक्षा सर्वलकार के चार भेद अधिक नैदानिक हैं । शब्द के भेदों में कर्तृकर्मभाव को आधार माना गया है जबकि सर्वलकार के भेदों में आधार और आधेय को सप्तानवकता और असप्तानवकता को । कर्तृकर्मभाव अर्थप्रकृतिगत धर्म है जबकि सप्तावृत्तिसप्तावृत्तिपरिधिपतिजनित विशेषणार्थ । अलङ्कार परिस्थिति पर अधिक निर्भर रहते हैं । इसके अतिरिक्त आधाराधेयभाव के साथ कर्तृकर्मभाव को छोड़ देने से व्याकरणपर को प्रमुखता मिलती है, काव्यपर को नहीं । मन्मथ आदिने ये भेद स्वीकार नहीं किए । वस्तुतः इन अवान्तर सूक्ष्मताओं की निगिर्धर्ष का प्रतिमान मानना हृदयभंग नहीं कहा जा सकता ।

पाठभेद—पर्यायालङ्कार के जो दो अलग अलग रूप हैं उनमें से प्रत्येक के लिए वृत्तिकार ने इस प्रकार अलग अलग वाक्य बनाए हैं—

[१] एतन्नाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति स एक पर्याय ।

[२] एतस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत् स द्वितीय पर्याय ।

इसमें से निर्णयमागरीय संस्करण में प्रथम वाक्य तो श्रुति रूप में ही छपा है, किन्तु द्वितीय के मुद्राशर स्थूल है अतः वह सूत्ररूप में छपा प्रतीत होता है । संज्ञोपनिषाकार, विमिश्रितकार, अनन्तशयनसंस्करणकार, काशीसंस्करणकार तथा कुमारी जानकी ने इस वाक्य को वृत्ति रूप में ही स्वीकार किया है । डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के संस्करण में टिप्पणी में तो इसे वृत्ति ही माना गया है परन्तु मूल में सूत्ररूप से अलग अलग सूत्र मरुया और स्थूलाशरों में छाप दिया गया है । वस्तुतः यह वैसा ही अम है जैसा सूत्र ४ के विषय में हुआ था । उसे तो इन सभी प्रकाशकों और मरुकराओं ने वृत्ति रूप में ही प्रकाशित कर रखा है ।

विमिश्रित में—‘क्रमगैकमनेकप्रान्यया वा पर्याय इत्यपि न समुचिन्म’ के अन्तिम तीन पद निर्णयमागरीसंस्करण में ‘इत्यपि सूचितम्’ इसी रूप में छपे हैं । अर्थसंगति दो इस मुद्रण में भी संभव थी किन्तु हमने कश्यपा को अधिक स्थान देना पड़ता, उसके साथ [न समुचिन्मिति] पूरक वाक्य जोड़ना पड़ता अतः हमने स्वमस्या पाठ बदल दिया है ।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६२] समन्यूननाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।

विनिमयोऽत्र किञ्चित् त्यक्त्वा कस्यत्रिदादानम् । समेन तुल्यगुणेन
त्यज्यमानेन तादृशस्यैवादानम्, तथाधिकेनोत्कृष्टगुणेन दीयमानेन न्यूनस्य
गुणहीनस्य परिग्रहः, एवं न्यूनेन हीनगुणेन त्यज्यमानेनाधिकगुणस्यो-
त्कृष्टस्य स्वीकारः, तदेषा त्रिप्रकारा परिवृत्तिः । क्रमप्रतिभाससंभवात्
पर्यायातन्तरमस्या लक्षणम् । समपरिवृत्तिर्यथा—

‘उरो दस्वामरारीणां येन युद्धेष्यगृह्यत ।

द्विरप्याक्षवधाद् येषु यश साकं जयश्रिया ॥’

अत्रोरोयशसोस्तुल्यगुणत्वम् । अधिकपरिवृत्तिर्यथा—

‘किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया चार्धकशोमि वल्कलम् ।

वद् प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभाञ्जरी यद्यरुणाय कल्पते ॥’

अत्रोत्कृष्टगुणैराभरणैर्न्यूनगुणस्य वल्कलस्य परिवृत्तिः । न्यूनपरि-
वृत्तिर्यथा—

‘तस्य च प्रत्रयसो जटायुपः स्वर्णिणः किमिव शोच्यते बुधैः ।

येन जर्जरकलेष्वरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥’

अत्र हीनगुणेन कलेष्वरेणोत्कृष्टगुणस्य यशसो विनिमयः ।

‘दत्त्वा दर्शनमेते मत्प्राणा वरतनु त्वया क्रीताः ।

किं त्वपहरसि मनो यद्ददासि रणरणकमेतदस्वत् ॥’

अत्राद्यार्धे समपरिवृत्तिः । द्वितीयार्धे न्यूनपरिवृत्तिः ।

[सूत्र ६२] सम, न्यून और अधिक का सम अधिक और न्यून से विनिमय परिवृत्ति
[नामक अलङ्कार कहलाता है] ॥

[वृत्ति] विनिमय का अर्थ है यहाँ कुछ छोड़कर कुछ लेना । [१] सम अर्थात् समान अर्हता के पदार्थ के त्याग के द्वारा वैसे ही पदार्थ का आदान, [२] इसी प्रकार अधिक अर्थात् उत्कृष्ट गुण या अधिक अर्हता के पदार्थ के दान के द्वारा न्यून अर्थात् हीनगुण या न्यून अर्हता के पदार्थ का आदान तथा [३] न्यून अर्थात् हीनगुण या कम अर्हता के पदार्थ के त्याग के द्वारा अधिक गुण अर्थात् उत्कृष्ट पदार्थ का आदान, इस प्रकार परिवृत्ति तीन प्रकार की होती है । इसमें भी क्रम का प्रतिभास होना संभव है इसलिये इसका लक्षण पर्याय के पश्चात् किया गया । इनमें से समपरिवृत्ति, यथा—

‘द्विरप्याक्ष के वष ते, जिन युद्धों में जिसने उर देकर राक्षसों का यश जयश्री के साथ ले लिया था ।’ [काव्यालङ्कारसार के टीकाकार प्रतीहारिन्दुराज ने ‘उरोदस्वा’ को लोकोक्ति माना है । वीर अपनी छाती शत्रु के सामने खोल देता है वही उसका उरोदान है । कदाचित् यहाँ ‘दा’ का अर्थ विदारण करना है । इस अर्थ में दान = देने विदारण करने में श्लेष मानना होगा] । यहाँ उर और यश गुणों में समान है ।

अधिक परिवृत्ति, यथा—

‘इस जीवन में तुमने विविध आभूषण छोड़, वार्धक्य में शोभा देने वाले वस्त्र क्यों पहन रहे हैं। तुम्हीं कहो! यदि खिले चन्द्र तारों की [मध्य] रात्रि मरुणोदय के लिए प्रयत्न करो।’ [कुमार० ५]

यहां उत्कृष्ट गुण वाले आभूषणों से न्यून गुण वाले वस्त्रों की परिवृत्ति [बदलावदली] है। न्यूनपरिवृत्ति, यथा—

‘उन बहुत अधिक उमर वाले जटायु के स्वर्ग सिंधारने से विद्वानों को दुःख ही क्यों होगा जिसने जंजर शरीर के ब्यस से चन्द्रकिरणों जैसा सुन्दर यज्ञ अजित कर लिया।’

यहां हीनगुण वाले शरीर से उत्कृष्ट गुण वाले वश का विनिमय बनलाया गया है।

‘हे सुन्दरि! तुने दर्शन देकर मेरे ये प्राण रुंदीद लिए [तो ठीक किया] किन्तु मन को हरण कर जो मुम उत्कण्ठा दे रही हो वह ठीक नहीं है।’

यहां पूर्णार्थ में समपरिवृत्ति है और उच्चार्थ में न्यून परिवृत्ति ॥

विमर्शिनी

समन्यूनरथादि । एतदेव व्याचष्टे—विनिमय इत्यादिना । तादृशस्येति । तुल्यगुणस्यैश्वर्यः । अतश्चात्र द्वयोरपि तुल्यगुणत्वान् स्वयम्यमानादीयमानयोरग्न्यमानमौपम्यम् । एवं च तस्मिन्मिच्छस्य साधारणधर्मस्यापि प्रैविष्यम् । अधिस्त्वं ग्यूनस्त्वं शोरेहृष्टयानुहृष्टव्यधोरात् । अतश्चात्र तादृशोपासमेतद् भवति क्वचित्सामर्प्यम् । तदिति विनिमयस्य त्रिरूपत्वात् । क्रमप्रतिभामेति । त्यागादानयोः पौर्वापर्येण क्रमिकत्वात् । तुल्यगुणत्वमिति । धैर्यव्यादिना साधारणधर्मस्यानुगामितया पुनरत्र तुल्यगुणत्वम् यथा—

‘सुधावदातं पाण्डुरत्वं विनिधाय कपोलयोः ।

भीर्यःकथोरथा दाप्रुणां नि दोपमकरोद् यतः ॥’

सुधावदातमिषस्यानुगामित्वम् । त्रिरूपप्रतिविम्बभावो यथा—

छतानामेतासागुदितकुसुमानां महस्सौ

मर्तं लास्यं दुत्वा श्रयति शृशमामोद्मसतमम् ।

छतास्यध्वन्यानामहह इक्षमादाप रममाहद-

त्याधिभ्याधिभ्रमरुदितमोहभ्यतिकरम् ॥’

अत्र मत्तवात्समत्वयोर्द्विर्यप्रतिविम्बभावः । शुद्धसामान्यरूपत्वम् यथा—

‘मनोहरं श्वं प्रतिवेतनाय दत्त प्रस्वप्योन्मदचित्तहारि ।

मध्वादानो मधुपापिलोक पद्माकरागामनृगो यमूव ॥’

अत्र मनोहरत्वचित्तहारित्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । आभरणानां आभरेहृष्टस्य वस्तुसामर्थ्यात्प्रयते । वस्त्रकलस्य पुनर्वाधकशोभीत्यनेन स्वयमेव न्यूनत्वमुक्तम् । एवं कलेवरयशसोरपि जर्जरोगज्जलत्वेन न्यूनाधिकत्वमुक्तम् । एतच्च अस्य प्राच्यैरभ्युक्तमिति श्रद्धदोदाहरणेऽपि समपरिवृत्त्यादि योजयति—दत्त्वेत्यादिना ।

समन्यूनरथादि । इसी की व्याख्या करते हैं—‘विनिमय’ इत्यादि के द्वारा। तादृशस्य = वैसे = तुल्यगुण वाले। इसी कारण यहाँ छोड़े जाते और लिए जाने पदार्थों में सादृश्य गम्य रहता है क्योंकि इन दोनों में गुणगत तुल्यता रहती है। इसी कारण गुण निमित्तक साधारणधर्म भी तीनों प्रकार का होता है। अधिकत्व और न्यूनत्व यहाँ गुणगत उत्कृष्टत्व और अनुरकृष्टत्व के

योग से होता है। इसीलिए यह प्रायः सञ्चरतः कथित ही रहता है, यद्यपि कहीं वाच्यार्थसामर्थ्य से गम्य भी होता है। तत् = इस कारण अर्थात् विनिमय के तीन प्रकार के होने के कारण। इन्द्रप्रतिभास—यद्यपि त्याग और ग्रहण में पौर्वापर्य रहता है अतः ये क्रमिक होते हैं। तुल्य-गुणत्व = वैभुल्य विशालत्व आदि को लेकर [यश और वक्र दोनों विशाल होते हैं]। साधारण धर्म की अनुगामिता के कारण जब यहाँ गुणगत समानता रहती है उसका उदाहरण—

‘दुर्र मिट्टी जैसी उज्ज्वल सफेदी कपोलों में आदितकर [जिसके] यश ने जिसकी चर्चा से उत्पन्न भय को समाप्त कर दिया ।’

यहाँ [भय और सफेदी के साधर्म्य में] सुधावदातत्व = दुर्र मिट्टी सी उज्ज्वलता अनुगामी धर्म है। विन्मप्रतिविन्वमाधमूलक साधारणधर्म यथा—

‘यह पवन इन कुसुमित लताओं को अभिमत्त लास्य देकर पर्याप्त मात्रा में अद्वितीय सौरभ ले रहा है। किन्तु बड़े दुःख की बात है कि लताएँ पान्यों की आँखें लेकर सहसा आधि, व्याधि, चक्र, रौदन, सूच्छा आदि एक साथ देती हैं ।’

यहाँ [लास्य और सौरभ के साधर्म्य में भक्तत्व] अभिमत्तत्व और [असमत्व] अद्वितीयत्व धर्मों में विन्मप्रतिविन्वभाव है। शुद्धसामान्यरूप साधारण धर्म यथा—

‘मूह्य के रूप में अपना मनोहर गुंजन देकर उन्मत्त चित्तों को आकृष्ट करने वाले मधु ले रहे मधुकरों ने पद्माकरों से उरिगता प्राप्त कर ली ।’ यहाँ मनोहरत्व और चित्तहारित्व शुद्ध सामान्य धर्म हैं [मधु और गुंजन के साम्य में]।

[किमित्यपास्या-पथ में] आभरगा की उत्कृष्टता पदार्थसामर्थ्य से विदित होती है, किन्तु बल्कों की न्यूनता ‘वार्धकशोमि’ = ‘वार्धक्य में शोभा देने वाले’ इस विशेषण से [कधि ने] स्वयं ही कह दी है। इसी प्रकार [तस्य च प्रवयसो० पथ के] कलेवर [शरीर] और यश के न्यूनगुणत्व और उत्कृष्टत्व ज्वर तथा उज्ज्वल शब्दों के द्वारा कह दिए गए हैं। ये [न्यूनत्वादि वामन तथा उग्र इन् रद्रटपूर्ववर्ती] प्राचीन आचार्यों ने भी वृत्ताप थे [किन्तु रद्रट ने नहीं अतः] रद्रट के [परिवृत्ति—] उदाहरण में भी समपरिवृत्तित्व आदि धर्म दिखलाने के लिए लिखते हैं ‘दत्ता’ इत्यादि ॥

विमर्श—परिवृत्ति का इतिहास

दण्डी—कै कान्वादर्श में परिवृत्ति का उल्लेख मात्र है लक्षण नहीं। उसमें उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पथ दिया है—

‘शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूमिगान् ।

चिरावितं हतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम् ॥’ २।३५६ ॥

‘आपके’ राजाओं की शस्त्र प्रहार दे रहे बाहु ने उनका चिराजित कुमुदतुल्य उज्वल यश हरण कर लिया ।’

भामहः = ‘विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः ।

अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा ॥ ३।४१ ॥

प्रदाय चित्तमविन्ध्यः स यशोधनमादित ।

सतां विश्वजनीनानामिदमस्खलितं व्रतम् ॥’ ३।४२ ।

‘अन्य वस्तु के त्याग के द्वारा अन्य विशिष्ट वस्तु का जो आदान उसे परिवृत्ति कहा जाता है। यह अर्थान्तरन्यास से भी युक्त रहती है। यथा—

‘याचकों को धन देकर उसने यशोराशि अर्जित की। यह सभी सत्पुरुषों का अचूक व्रत है ।

मामह के श्म विश्लेषण में न्यूनाधिकमात्र की व्यञ्जना है । वामन इसे पकड़ लेते हैं ।

वामन—[सूत्र] 'ममविसदृश्याः परिवर्त्तन परिवृत्ति ॥ ५।३।१६ ॥

[वृत्त] समेन विसदृशेन वार्धेन अर्थस्य परिवर्त्तन परिवृत्ति । यथा—

आदाय क्विकिसृष्टयभियमस्मै चरणमरुणमर्पयति ।

उभयोः सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चिन मन्ये ॥ [मालविकाग्निमित्र]

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोकावष्टिप्रविस्तुसचन्दनम् ।

वन्न्य वालारुणवभ्रु वरकलं पयोधरोत्मेपविद्योर्णसंहति ॥ [कुमारसम्भव-१]

समान या असमान अर्थों द्वारा अर्थों का परिवर्त्तन परिवृत्ति कहलाता है । यथा [अग्नि-मित्र को उक्ति]—

[अशोकदोहद सम्पन्न कर रही] यह [मालविका] इसने कान में लगाने योग्य कौपल लेकर अपना यावकरजिन अरण चरण दे रही है । दोनों का सौदा अनुरूप रहा, अतः दोनों को मैं घाटे में रहा नहीं मानता ।' यहाँ मालविका का चरण और अशोक का किमलय समान अर्थात् को है, अतः सदृश विनिमय हुआ ।

अहार्यनिश्चया उक्त [पार्वती] ने हार को अलग कर दिखती शलाकाओं द्वारा चन्दन मिटा देने वाला, बालसूर्य सा पिंशग वर्ण का वरकल बाँधा, पयोधरों के उठाव से बिसद्री शलाकाओं का जमाव विरल हो जाना था ।' यहाँ हार और वरकल असमान हैं ।

उद्धट = ने 'सम न्यून अधिक' इन तीन गुणमान भेदों तथा 'इष्ट और अनिष्ट' इन दो अर्थगत विशेषताओं में परिवृत्ति का स्वरूप अभिन किया है—

'सम न्यूनविशिष्टेषु कल्पयित् परिवर्त्तनम् ।

अर्थानपत्त्वभाव यत् परिवृत्तिरभाणि सा ॥' ५।२९ ॥

समपरिवृत्ति का उदाहरण—'उरोदत्त्वा०' पद्य ही ।

न्यूनपरिवृत्ति—

'निर्भोरगवभ्राम्यमन्दराद्रिशिरदधुनैः ।

रत्नैराभूर्ण दुग्धाभि यः समादत्त कौस्तुभम् ॥

'नेती बने सर्पराज के द्वारा बलपूर्वक धुमाए जा रहे मन्दराचल के शिखरों से गिरे रत्नों द्वारा दुग्धाभि को भरकर जिसने कौस्तुभमणि ग्रहण की ।' यहाँ निकृष्ट रत्नों के दान द्वारा कौस्तुभ-नामक उरुष्ठ रत्न लिया गया अतः न्यूनपरिवृत्ति हुई ।

अधिकपरिवृत्ति—'यो बली न्यासभूमीभि मखेन वा जिगीपति ।

अमय स्वर्गसप्तम्यो दत्त्वा जग्राह सर्वताम् ॥'

जिसने, बलि जब भूसीमा को न्यास कर स्वर्ग यक्षद्वारा जीतना चाह रहा था, तब देवताओं को अमय देकर वामनत्व ग्रहण किया ।' यहाँ अमय एक विशिष्ट वस्तु जिसकी तुलना में छोटापन [वामनत्व] तुच्छ वस्तु है । श्म प्रकार यहाँ उत्कृष्टता देकर निम्नता का ग्रहण होने से अधिकपरिवृत्ति हुई ।

उद्धट—ने समाप्तमत्व आदि पर बल नहीं दिया और परिवृत्ति का लक्षण सामान्यतः इस प्रकार किया—

'गुणपद् दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत् ।

वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः ॥ ७।७७ ।

वस्तुओं का एक साथ जो दान और आदान वस्तुतः किया जाता बतलाया जा रहा हो अथवा प्रसिद्धि के आधार पर व्यंग्यनिक रूप से तो बड़ी परिवृत्ति कहलाता है। उदाहरण 'दत्त्वा दर्शन०' पद्य। यहाँ प्राणों की खरीद और मन का हरण प्रसिद्धि पर निर्भर और औपचारिक तथ्य है।

मम्मट—'परिवृत्तिविनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः।' पदांशों का विनिमय परिवृत्ति कहलाता है। यह सम के द्वारा सम का और असम के द्वारा असम का [इस प्रकार से] हो सकता है।

उदाहरण = सम से सम और असम में अधिक से न्यून की परिवृत्ति के लिए 'उत्तानामेतासा' पद्य। और न्यून से अधिक की परिवृत्ति के लिए निम्नलिखित पद्य—

'नामाविधेः प्रहरणैर्नृप संप्रहारे त्वौकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान्।

दृष्णारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिविज्ञोर्भा ॥'

हे राजन्! युद्ध में नाना प्रकार के अस्त्रों से दारुण निनाद वाले प्रहार अपना कर इस झुठ्ट वीरों ने आपको यह निप्रलम्भहीन आह्वय वाली वसुन्धरा प्रदान की है।' यहाँ प्रहाररूपी निम्न वस्तु लेकर वसुन्धरा जैसी उत्कृष्ट वस्तु के दान का वर्णन होने से परिवृत्ति अधिकपरिवृत्ति कहलाएगी।

सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों ने परिवृत्ति का निरूपण इस प्रकार किया है—

शोभाकर = 'विनिमयः परिवृत्तिः ॥ सू० ९० ॥

विनिमय परिवृत्ति कहलाता है।' लौकिक विनिमय का इस विनिमय से अन्तर बतलाते हुए रत्नाकरकार ने लिखा है—'लोक में देकर लेने का विनिमय माना जाता है जब कि यहाँ त्यागपूर्वक अपनाते को भी विनिमय कहा जाता है और उपकार पर किए गए प्रत्युपकार को भी।' परिवृत्ति की भेदगणना भी रत्नाकरकार ने अपने उद्ग से की है। सर्वस्वकार-द्वारा प्रतिपादित सम, न्यून तथा अधिक ये तीन भेद रत्नाकरकार से प्रथम 'त्यागपूर्वक आदान'-नामक वर्ग में गिनाए हैं। कृतप्रतिकृतनामक द्वितीय वर्ग में उन्होंने 'अनभीष्ट वस्तु मिलने पर अनभीष्ट कार्य करना' तथा 'अभीष्ट वस्तु मिलने पर अभीष्ट कार्य करना'-ये दो भेद बतलाए हैं। इनमें भी, उन्होंने समस्य, न्यूनत्व तथा अधिकत्व नामक तीन कोटियों मानी हैं अन्ततः परिवृत्ति के मुख्य तीन ही शीर्ष स्वीकार किये हैं सम, न्यून तथा अधिक। रत्नाकरकार ने लाभ और हानि के विनिमय में विषमालंकार माना है—

'दोषे च दोषस्य गुणे च तस्य कृते कृतिः स्यात् परिवृत्तिरेव।

गुणे तु दोषस्य विपर्यये वा यद्गोचरोऽसौ विषमः स भिन्नः ॥'

लाभ और हानि के विनिमय में विषमालंकार मानकर कदाचित् मम्मट के 'उत्तानामेतासान्०' पद्य के उतरार्ध में मानी गई परिवृत्ति को रत्नाकरकार विषम मानना चाहते हैं। उन्होंने मम्मट का यह पद्य उदाहरण के रूप में अपनाया भी नहीं है। सभी भेदों के लिए सर्वथा नवीन उदाहरण दिए हैं।

अप्यदीक्षित—का चिन्तन हस्त दिशा में कान्तिपूर्ण है। वे समपरिवृत्ति स्वीकार नहीं करते। उनका लक्षण—

'परिवृत्तिविनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मियः।'

उदा०—'तस्य च प्रवयसो जटायुपः०'।

पण्डितराज—जगत्प्राप के परिवृत्ति चिन्तन में नवीनता भी है और परिष्कार भी। वे परि-
वृत्ति को सगीद भा मीदा मानने हैं। उनका लक्षण—

परकीयपरिचिन्विद्वत्त्वादानविशिष्टं पररमे स्वकीय परिचिन्विद्वत्स्तुसमर्पण परिवृत्तिः ।
अत्र इति यावत् ।

अन्य व्यक्ति की कोई वस्तु लेकर उसे अपनी अपनी ओर वस्तु देना परिवृत्ति कहलाता है।
इसका अर्थ हुआ कर। इन्होंने परिवृत्ति का मूलन दो मार्गों में विभक्त किया—समपरिवृत्ति तथा
विषमपरिवृत्ति। समपरिवृत्ति पण्डितराज ने दो प्रकार की मानी है, उत्तम पदार्थों से उत्तम पदार्थों
की तथा निम्न पदार्थों में निम्न पदार्थों की। विषम परिवृत्ति भी वे दो प्रकार की मानते हैं
उत्तम से निम्न की तथा निम्न से उत्तम की।

पण्डितराज ने लक्षण में परकीय-शब्द का निवेश कर सर्वस्वकार को इस मान्यता को
अमान्य ठहराया है—स्व के द्वारा किसी वस्तु का त्याग किया जाए और अन्य वस्तु का
परिग्रह भी उसमें भी परिवृत्ति होगी है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सर्वस्वकार की इस मान्यता का
खण्डन कर उनके द्वारा हम भेद के लिए प्रदत्त उदाहरण 'किमिरपयास्या०' को भी परिवृत्तिग्रह्य
कहाया है। वस्तुतः इस पद्य में परिवृत्ति का चमत्कार, कर्म, विषमता का चमत्कार अविक
है। इसके अतिरिक्त हममें दृष्टान्ताकार को भी स्पष्ट छवि है।

पण्डितराज ने यह भी स्पष्टीकरण देकर दे कि परिवृत्ति का सौदा कविकल्पित होना
चाहिए। यदि वह लौकिक हुआ तो उसमें अलङ्कारभाव नहीं आ सकेगा।

विश्वेश्वर के प्रतिगामी मरिचक से प्रसूत परिवृत्ति का लक्षण यह है—

'मदृशासृशैरर्षैरर्पानां विनिमयस्तु परिवृत्तिः ।'

—'मम विषम अर्थों द्वारा अर्थों का विनिमय परिवृत्ति अलङ्कार होता है। इस प्रकार
विश्वेश्वर मन्मथ ॥ अनुयायी हैं। रसगगाधरकार द्वारा दिए गए 'परकीयत्व' विशेषण और
उससे हुए सर्वस्व के खण्डन पर विश्वेश्वर का ध्यान तो गया है किन्तु वे उस पर कोई टिप्पणी
नहीं करते।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यहाँ इस प्रकार की है—

'परिवृत्तिर्विनिमयस्त्रिधा सेयं समादिभिः ।'

पाठान्तर = विमर्शिनी की 'अतश्चात्र शब्दोपात्तमेव मवति' पंक्ति निर्णयसाराणीय संस्करण में
'अतश्चात्र शब्दोपात्तमिति (?)' इस प्रकार सपादक के प्रश्नचिह्न के साथ अशुद्ध मुद्रित है।
इसी प्रकार 'उत्तमानेना०' पद्य के बाद 'मन्वत्समन्वयो' के स्थान पर इस संस्करण में 'लना
समन्वयो' मुद्रित है।

उदाहरण की दृष्टि में परिवृत्ति के सर्वोत्तम उदाहरण वाग्यन द्वारा उद्धृत कालिदास
के पद्य हैं।

भेदों के नाम मित मित्र मानदण्डों पर किए गए हैं। अधिकपरिवृत्ति या न्यूनपरिवृत्ति का
अभिप्राय कभी दो जाने वाली वस्तु की उत्तमता से है और कभी एी जाने वाली वस्तु की। वस्तुतः
दो जाने वाली वस्तु के ही आधार पर नामकरण उचित है। विनिमय की पहली कड़ी देना
ही होता है।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६३] एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या ।

एकानेकप्रस्तावादिह वचनम् । एकं वस्तु यदानेकत्र युगपत् संभाव्यते तदा तस्यैकत्रासंभाव्ये द्वितीयपरिहारेण नियमनं परिसंख्या । परि अपवर्जने । कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानां वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या । सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति प्रथमं द्विधा । प्रत्येकं च वर्जनीयत्वस्य शाब्दवार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुःप्रभेदाः । क्रमेण यथा—

'किं भूपणं सुहृदमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं लुक्कृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥'

'किमासेष्यं पुंसां सविधमनवद्यं चुसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।
किमारार्थ्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥'

'भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शाले न युवतिकामाखे ।
चिन्ता यशसि न चपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥'
'कौटिल्यं कच्चनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥'

अत्र चालौकिकं वस्तु गृह्यमाणं वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यतीति व्यवच्छेद्यं वस्त्वन्तरं शाब्दमार्थं चेति नियमाभावः । अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव कश्चिप्रश्नपूर्वकं ग्रहणम् ।

'त्रिलङ्घयन्ति श्रुतिवर्मं यस्यां लीलावतीनां नयनोत्पलानि ।
धिर्मतिं यस्थामपि चकिमाणमेको महाकालजटार्धचन्द्रः ॥'

तथा — 'चिन्नकर्मसु वर्णसंफरो, यतिषु दण्डग्रहणानि' इत्यादौ श्लेष-संपृक्तत्वमस्या अत्यन्तचारुत्वनिबन्धनम् । अत्र च नियमपरिसंख्ययोर्वाक्य-वित्प्रसिद्धं लक्षणं नादरणीयमिति ख्यापनाय नियमनं परिसंख्येति सामानाधिकरण्येनोक्तिः । अत एव पाक्षिक्यपि प्राप्तिरत्र स्वीक्रियत इति युगपत्संभावनं प्रायिकम् ।

[सूत्र ६३] एक की अनेक स्थानों में प्राप्ति होने पर एक में नियमन परिसंख्या [अलंकार कहलाता है] ॥

[वृत्ति] एक और अनेक वस्तु को लेकर रहते यहाँ बतलाया जा रहा है । एक वस्तु जब अनेक स्थानों पर एक साथ संभावित हो तब उसका किसी एक असंभाव्य स्थान पर अन्य का परिहार करते हुए जो नियमन किया जाता है उसे परिसर्या कहते हैं । परि अर्थात् अपवर्जन [या निषेध] । किसी का निषेध कर कहीं जो सखवान अर्थात् वर्णनीयरूप तै गगना करना वह हुई परिसर्या । यह प्रथमतः दो प्रकार की होती है [१] प्रदनपूर्वक तथा [२] उसके निपरीत [प्रदनरहित] । अनन्तर इसमें वर्णनीय की परिहार्यता शब्द और आर्थ दो प्रकार की होती है, अतः भेदों की संख्या चार हो जाती है । इनके क्रमशः उदाहरण—

[प्रदनपूर्वक शब्द परिहार्य से युक्त परिसर्या]—

‘संतार में सुदृढ भूषण क्या है ? यश, रत्न नहीं । करणीय क्या है ? आर्यपुरुषों द्वारा किया झुक्त, दोष नहीं । अप्रतिहत चक्षु क्या है ? बुद्धि, चर्मचक्षु नहीं । [इस प्रकार] सद् असत् का अन्तर आपको छोटकर जानता ही कौन है ?’

[प्रदनपूर्वक तथा आर्थ परिहार्य से युक्त परिसर्या—]

‘पुनर्पों के लिए सब प्रकार से सेव्य क्या है ? गया जी का निर्दोष परिसर [छट], एकान्त में ध्यान करने योग्य वस्तु क्या है ? कीर्तुमधारी मगवान् विष्णु के चरणशुभ्र; आराधनीय क्या है ? पुण्य । इसी प्रकार वाहने योग्य वस्तु क्या है ? करुणा, जिसकी आसक्ति से विष सदा के लिए मुक्ति पाने में समर्थ हो पाता है ।’

[प्रदनरहित शब्द परिहार्य युक्त परिसर्या—]

—‘महापुरुषों में प्रायः शक्ति मगवान् शंकर के प्रति देखी जाती है, विभन के प्रति नहीं, व्यसन शास्त्र में देखा जाता है, युवतिरूपी कामाक्ष में नहीं; चिन्ता यश की देवी जाती है, मरयं शरीर की नहीं ।’

[प्रदनरहित आर्थ परिहार्ययुक्त परिसर्या—]

‘कुटिलता तेरे केशपाश में है, राग कर, चरण और अवर में, कठिनता कुचयुग्म में है और चंचलता नेत्र में ।’

यहाँ [परिसर्या के इन उदाहरणों में] असंभाव्य वस्तु का विधान किया जाता है, अतः इसके द्वारा उससे भिन्न [लोकप्रसिद्ध] वस्तुओं का निराकरण ठहरता [ही] है । इस कारण निराकरणीय भिन्न वस्तु शब्द ही कथित हो अथवा अर्थ ही प्रनीत हो ऐसा कोई नियम नहीं रहता । असंभाव्यता के अभिप्राय से ही कहीं विधान प्रदनपूर्वक होता है [जब कि मीमांसाशास्त्र में प्रसिद्ध परिसर्या में प्रश्न कमी होता ही नहीं है] ।

—‘जित [उज्जयिनी नगरी] में सुतिवर्त्म [वैदिक धर्म तथा कनारी] का उल्लंघन लीलावती पतिताओं के नेत्रोत्पल ही किया करते हैं तथा बिममें वक्रता को केवल महाकाळ की जटा का अर्धचन्द्र ही धारण करता है [यह] ॥’

तथा—अहाँ वर्णसंकर [ब्राह्मणादि वर्णों का मिश्रण तथा रगों का मिश्रण] चित्रकर्म में होता है, दण्डप्रदण [रावदण्ड पाना तथा मल्लदण्ड अपनाना] यतियों में देखा जाता है—इत्यादि प्रयोगों में हम [परिसर्या] का श्लेष से मिश्रण बहुत ही अधिक चाहत्व ला देता है ।

‘इसमें जो ‘नियम’ और ‘परिसर्या’ शब्द हैं इनके मीमांसकों में प्रसिद्ध लक्षण नहीं अपनाने हैं’ यहाँ बतलाने के लिए सूत्र में ‘नियमन परिसर्या है’ इस प्रकार दोनों को अभिन्नरूप में कहा गया है [जब कि मीमांसाशास्त्र में ये परस्पर भिन्न होने हैं] । इसी कारण हममें प्राप्ति को भी पाक्षिक मान लिया जाता है [जब कि मीमांसाशास्त्र में पाक्षिकता केवल नियम में ही

मानी जाती है] इस प्रकार [मीमांसा में प्रसिद्ध दो विपरीत पक्षों में] 'एक साथ प्राप्ति' [लागू होना यह जो परिसंख्या का लक्षण है यह] यहाँ मान्य होता भी है और नहीं भी ?

विमर्शिनी

एकानेकेति । पर्याये एकस्यानेकत्र पर्यवसानादेरुक्तत्वात् । असंभाव्य इति । कविप्रतिभा-निर्वर्तितत्वाद्धोकोत्तर इत्यर्थः । न पुनः प्राप्तिविषयत्वेनासंभाव्यत्वं व्याख्येयम् । सर्वथा-प्राप्तस्यार्थान्तरस्य निषेधमात्रपरो हि विधिः परिसंख्या । अत एवायान्तरनिषेधे तात्पर्यमेव दर्शयितुं द्वितीयपरिहारेणेत्युक्तम् । अपवर्जनं इति । 'अपपरी वर्जने' [पा० १।१।८८] इति वचनात् । सेति । यथोक्तरूपा । एतेति । परिसंख्या । किं भूषणमिति प्ररनपूर्वकत्वम् । न ररनमिति शब्दोपादानात् परिवर्जनीयस्य शब्दत्वम् । न पुनरीश्वरादि सेष्यमिति परि-वर्जनीयस्य शब्दानुपादानादार्यत्वम् । अत्रेति । एतद्विपर्ययेषु । अलौकिकमिति । कविप्रतिभा-निर्वर्तितम् । गृहमाणमिति । विधीयमानतया । नस्तन्नन्तरन्यवच्छेद इति । अर्थान्तरनिषेध-मात्रतात्पर्यात् । नियमानाम् इति । नद्यन्न व्यवच्छेदस्य शब्दत्वार्थत्वाभ्यां कश्चिद्व्यञ्जनमेव इति भावः । अलौकिकत्वमिष्येति । नहि 'पञ्च पञ्चनखा भययाः' इत्यादौ प्ररनपूर्वकं ग्रहण-मिष्याशयः । कचिदिति । कुप्राप्यप्ररनपूर्वकत्वमपि भवेदिति भावः । श्लेषसंपृक्तत्वमिति । श्लेषशब्दश्चात्र रिच्छशब्दनिषेधनायामतिशयोक्तौ वर्तते । तथाश्लोकेश्चातिशयोक्तिमात्र-संपृक्तत्वे न तथा चास्त्वं भवतीति प्रयोजनम् । अत्यन्तेति । पूर्वादाहरणेभ्यः । ननु नियम-परिसंख्ये भिन्नलक्षणे प्रसिद्धे इति कथं तयोः सामानाधिकरण्यं सूत्रितमित्याशङ्क्याह — अत्रेत्यादि । वाक्यविद्दो मीमांसकाः । यदाहुः—

'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पारिच्छे सति ।

तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते ॥' इति ।

अत्राद्यमर्थः । इह कस्यचिदर्थस्य नियमेनाज्ञातस्य विधिः क्रियमाणो यदार्थान्तर-निषेधार्थमपि पर्यवस्यति तदा नियमविधिः । न पुनरज्ञातज्ञापनमात्रपर्यवसित एव भवति । तेन नियमे 'मीहीभवहन्ति' इत्यादाववघातमात्रपर्यवसायित्वमेव न, दलनादेरपि निषेधत्वेन पर्यवसानात् । नापि निषेधमात्र एव तात्पर्यम् । अवघाताभावे विधनिष्पत्तेः । सर्वप्रकारप्राप्तेरप्राप्तांशपरिपूरणस्याप्यभावे विधिः क्रियमाणोऽर्थान्तरनिषेधमात्रार्थमेव चत्र पर्यवस्यति सा परिसंख्या । तेन 'पञ्च पञ्चनखा भययाः' इत्यादावन्यपञ्चनखभक्षणनिषेध-मात्रतात्पर्यमेव । न पुनरेतदपञ्चनखभक्षणकर्तव्यतापि । तथात्वे हि पञ्चानां पञ्चनखानाम-भक्षणे प्रत्यवायप्रसङ्गो नियमादस्या भेदो वा न स्यात् ।

नादरणीयमिति । अनेनैव लक्षणेनोभयोः संग्रहात् । तथाहि नियमे 'समे देशे यजेत' इत्यादौ यागस्य समविषयतात्मन्यनेकत्र देशे प्राप्तावेकत्र सम एव नियमनं कृतम् । परि-संख्यायामपि सर्वत्र भक्षणस्य प्राप्तौ पञ्चपञ्चनखविषय एवैकत्र नियमनम् । नन्वत्र पञ्च-पञ्चनखान्तरनिषेधमात्रतात्पर्यात् पञ्चपञ्चनखविषये भक्षणनियमने न वाक्यार्थत्वमिति कथमुभयानुगाम्येतल्लक्षणमिति चेत् । सत्यम् । अस्ति तावदामुखे पञ्चपञ्चनखविषये भक्षणे विधिः । यदास्यार्थान्तरनिषेधपर्यवसायित्वं तदेव जीवितभूतत्वेनेद्रालंकारत्वप्रतिष्ठापकम् । तच्च नियमपरिसंख्ययोः समानम् । अथ नियमे विधिनिषेधयोर्वावयार्थत्वं परिसंख्यायां च निषेधस्यैवेत्यनयोर्महान् भेद इति चेत् । न । अस्ति तावद्विधेरर्थान्तरे निषेधपर्यवसायित्वं समानं यन्नियमनमनयोरलंकारत्वम् । अस्तु नियमे विधावपि तात्पर्यं न तु परिसंख्यायाम्,

तदनौपयिकत्वादिहानादरणीयम् । न हीह पञ्चानां पञ्चनखानामभरण एव प्रत्यवायः प्रसज्यते येन विधिनिषेधतात्पर्याभ्यामनयोरलङ्कारभेदः स्यात् । तथाप्येव सर्वालङ्कार-मेदानां भेदहेतवतितायाविसंभवाद्भिन्नलक्षणप्रसङ्गेऽलङ्कारानन्वय स्यात् । अतश्चैतद्वेदात्ममेव नियमस्य वाच्यम् । तदाह—अत एवेत्यादि । स्वीक्रियत इति । भेदत्वेनेत्यर्थः । सा च यथा—‘किमासेष्यं पुसाम्’ इत्यादीं द्युसरिच्छेदरयोः सेवाया न युगपरमभावनमिति निषेध-पर्यवसायी द्युसरिच्छट् एवैकत्र सेवाया नियमः कृतः । अत एव च तात्प्रायिकमिरयुक्तम् ।

एकानेकेति = क्योंकि पर्यायालङ्कार में एक का अनेक में पर्यवसान बतलाया गया है । असंभाव्य = क्विप्रतिमाद्वारा सिद्ध होने से असंभाव्य अर्थात् लोकोत्तर । असंभाव्य का अर्थ ‘प्राप्ति विषय के रूप में जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यह अर्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि परिसरवा अस विधि का नाम है जिसका तात्पर्य सर्वथा प्राप्त अर्थान्तर के निषेध में रहता है । इसीलिए, अर्थान्तर निषेध में तात्पर्य दिखलाने के लिए ही ‘द्वितीय का परिहार करने हुए’—यह कहा । अपवर्जनम्=जैसा कि [पाणिनि का] सूत्र है ‘अपवर्ती वर्जने’ [१।१।८८] ‘अप’ और ‘परि’ उपसर्ग वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय होते हैं [प्रकृतेन स्वग्निना कस्यचिदनभिसन्धो वर्जनम् = काठिका] सा = वह = जिसका स्वरूप बतला जा चुका है । एषा = वह = परिसरवा । किं भूषणम् = यह हुई प्रदन पूर्वक । ‘न ररनम्’ = ‘ररन नहीं’—इस प्रकार शब्दतः कथन होने से यहाँ परिवर्जनीय अर्थ शब्द है । ‘राजा भादि सेवा योग्य नहीं’ इस परिवर्जनीय अर्थ के शब्दतः कथित न होने से वह कार्य हुआ । अत्र = यहाँ = इन उदाहरणों में । अलौकिक = क्विप्रतिमा से निष्पन्न । गृह्यमाण = जिसका विधान किया जाता है । वरवन्तरयवस्येद् = अन्य वस्तुओं का परिहार, इसलिए कि इसमें तात्पर्य ही अन्य अर्थ के निषेध में रहता है । नियमाभाव = यहाँ परिहार्य अर्थ के शब्द या कार्य होने से लक्ष्य में भेद नहीं रहता । अलौकिकरवाभिप्रायेण = असंभाव्यता के अभिप्राय से = [मीमांसा के] ‘सौ च पञ्चनख प्राणी व्याप जा सकते हैं—’ इत्यादि [परिसंहया प्रयोगा] में विधान प्रदनपूर्वक नहीं रहता । क्वचित् = कहीं’ अर्थात् कहीं कहीं विधान प्रदनपूर्वक नहीं भी रहता । श्लेषसंपृच्छत्वम् = श्लेष का मिश्रण = यहाँ श्लेष शब्द का अर्थ है श्लेषयुक्त शब्द से निष्पन्न अतिशयोक्ति और इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की वक्तियों में यदि श्लेष न हो, केवल अतिशयोक्ति ही हो तो चमत्कार की उजनी मात्रा नहीं जा पाती । अत्यन्त = अर्थात् प्राचीन उदाहरणों की अपेक्षा । संका होनी है कि नियमविधि और परिसरवा के लक्ष्य भिन्न भिन्न होते हैं, तब यहाँ उन्हें अभिन्न क्या बतलाया गया है ।’ इस पर कहते हैं—‘अत्र’ = यहाँ । वाक्यविद् = मीमांसक, जैसा कि [मीमांसकों ने ही] कहा है—

‘अत्यन्त अप्राप्ति में विधि, विकल्प में नियम और भिन्न दो तथ्यों की प्राप्ति में परिसरवा कहलाती है ।’

[‘स्वर्ग के लिए क्या करना चाहिए’ इस जिज्ञासा का कोई उत्तर नहीं मिलता, कोई उपाय विदित नहीं होता । तब वेदवाक्य कहता है ‘स्वर्ग के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए । इस वाक्य को विधिज्ञान्य कहा जायगा’ । इस वाक्य के अतिरिक्त स्वर्गप्राप्ति का उपाय किसी भी प्रमाण से जो उपलब्ध नहीं होता । नियम तथा परिमत्या का स्पष्टीकरण विमर्शनीकार करते हैं—]

इसका अर्थ इस प्रसंग में यह है—अब किमी अज्ञान अर्थ का विधान किसी नियम वाक्य के द्वारा किया जाता है और वह अन्य किसी अर्थ के निषेध में पर्यवसित होता है तो उसे नियमविधि कहते हैं । यह [विधि के समान] केवल अज्ञान अर्थ के वापन में ही समाप्त नहीं हो रहता । इस प्रकार ‘धान को कृता है’—इत्यादि नियमविधि में केवल कृते मात्र में ही विधिवाक्य की

समाप्ति नहीं हो जाती, 'दरना' आदि के निषेध तक भी उसकी पहुँच होती है। इसी प्रकार केवल निषेध में भी [वाक्यार्थ की] समाप्ति नहीं होती क्योंकि तब ['कूटता है'] इस विधि का अर्थ 'दरता नहीं है' होगा, इस प्रकार] कूटने का ज्ञान न होगा, फलतः विधानात्मक अर्थ प्रतीत न होगा। जब सभी अर्थ का ज्ञान रहता है, फलतः किसी अज्ञात अर्थ के ज्ञापन का प्रश्न नहीं रहता तब जो विधान होता है उसका तात्पर्य केवल अर्थान्तर के निषेध में ही रहता है। उसे परिसंख्या कहते हैं [परि = वर्जनं य. निषेध, संख्या = ज्ञान, निषेधज्ञान]।

‘पाँच पंचनखा मक्ष्या पर्मतः परिकीर्त्तिताः।

गोधा कूर्मः शशः खड्गी शस्यकरचेति ते स्मृताः ॥’—

['पाँच पाँच पाँच पंचनखी प्राणी धर्मशास्त्र द्वारा मक्ष्य रूपसे मान्य हैं। वे हैं गोधा, कूर्म, शश, खड्गी तथा शस्यक द्र० परिसंख्यापादटि० वामनीतदित काव्यप्रकाश]। इस प्रकार 'पाँच पंचनखी प्राणी मक्ष्य हैं—' इत्यादि बचनों का तात्पर्य केवल अन्य पंचनखी प्राणियों के भक्षण के निषेध में रहता है। किन्तु इसमें पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण का विधान नहीं रहता, ब्रह्मा होने पर तो पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण न करने से [आत्मवाक्य का उत्सर्जन होगा और ततः] पाप उत्पन्न होने लगेगा, साथ ही इसका [उपर्युक्त] 'नियम' विधि से कोई अन्तर नहीं रहेगा।

नादरणीयम् = 'मीमांसकों के प्रसिद्ध अर्थ नहीं अपनाते हैं'—इसलिए ति [नियम और परिसंख्या] दोनों का संग्रह [परिसंख्यालङ्कार के] इसी एक लक्षण में हो जाता है। तथाहि—'यद्यत्तम भूमि में करे' इत्यादि जो नियमविधि के वाक्य हैं इनमें प्रथमतः प्राप्त तम और विषम सभी भूमिओं में से समभूमि में विधि का नियमन = संकोच कर दिया जाता है। इसी प्रकार परिसंख्या में भी सभी पंचनखी प्राणियों के भक्षण का जो प्राप्ति रहती है उसमें भी केवल पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण तक विधि का संकोच रहता है। हाँका होती है कि पाँच पंचनखी प्राणियों के नियममात्र में यहाँ तात्पर्य है अतः पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण में विधि के नियमन में वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जा सकता तब यह कैसे कहा कि 'यद्यत्तम उभयायुगामी है'। [उत्तर] ठीक है, [मीमांसा में भले ही न हो, हमारे यहाँ तो] आरम्भ में पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण की विधि रहती है किन्तु अब इसका पर्यवसान अन्य पंचनखी प्राणियों के भक्षण के निषेध में सिद्ध होता है तब वही इसमें अलंकारत्व का देता है क्योंकि वही [निषेध में पर्यवसान] इसका प्राण है, और यह [निषेध में पर्यवसान] दोनों [नियम और परिसंख्या] में समान रूप से रहता है। यदि कोई कि नियम में विधि और निषेध दोनों में ही तात्पर्य रहता है, जब कि परिसंख्या में केवल निषेध में, इस प्रकार इस दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, तो इस कथन का कोई प्रभाव नहीं, क्योंकि इन दोनों में विधि का निषेध में पर्यवसित होना [भी तो] समान है, जिसके आधार पर यहाँ अलंकारत्व आ जाता है। जहाँ तक 'नियम में विधि में भी तात्पर्य रहता है, परिसंख्या में नहीं' इस [अन्तर] का संबंध है वह यहाँ (अलंकारत्वमीमांसा में) कोई महत्त्व नहीं रखता इसलिए अनादरणीय है। यहाँ [अलंकार क्षेत्र में] पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण में कोई पाप नहीं होने वाला है जिससे एक का तात्पर्य विधि और निषेध दोनों में और दूसरे का तात्पर्य केवल निषेध में मान कर [रत्नाकरकार के समान नियम और परिसंख्या इन] दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार माना जाए। ऐसा होने पर तो सभी अलंकारों में भेद का कारण थोड़ा-थोड़ा अन्तर मिलना संभव है अतः प्रत्येक में भिन्न-भिन्न अनेक लक्षण करने की आपत्ति आएगी। और तब

अलङ्कार भी सख्यातीत हो जायेंगे। इसलिये नियम को इसी परिसंख्या का भेद मानना ही ठीक होगा [न कि रत्नाकरकार के समान अलग अलङ्कार मानना]। यही कहा = 'मत पव' इत्यादि। स्वीक्रियते = रत्नीकार की जाती है—' अर्थात् भेदरूप से। इसका उदाहरण है 'किमासेव्यं पुसां०'। इन उदाहरणों में गंगाजी के तट तथा राजा की सेवाएँ एक साथ प्राप्त नहीं होतीं [बसल राजसभा ही प्राप्त होती है], अतः केवल गंगातट में ही अकेले में सेवाविधि का नियमन कर दिया यह नियमन निषेधपर्यवसायी हुआ। इसीलिए कहा कि वह प्रायिक = है = कमा मान्य नहीं भी होता ॥'

विमर्श.—परिसंख्या शब्द का अर्थ निषेधबोध है। परि का अर्थ विमर्शनी में उद्धृत 'अपपरो वर्जने' सूत्र के अनुसार निषेध है ही 'परिवर्जने' [८।१।५] सूत्र के अनुसार भी यही अर्थ है। सख्या का अर्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यौगिक अर्थ निषेधज्ञान निकलता है। पूर्वमीमांसा में जैमिनि का सूत्र है 'परिसंख्या' [१।२।४२] इसमें परिसंख्या का अर्थ निषेधज्ञान ही है। अन्वयेष के प्रकरण में छतिषचन है—'इमामगुम्भन् रक्षनामृतस्य' [बाज० सं० २२।२] इससे पशु को लगाम पकड़ने का अर्थ निकलता है। तब प्रश्न होता है—'कस्य पशु की', अथ का या अन्य किसी पशु का। उत्तर में शतपथब्राह्मण का वचन है 'अथा-भिधानामादत्ते' [११।२।८।२] 'इस अर्थ के द्वारा अथ की लगाम पकड़ता है'। इस वचन का तात्पर्य अथतर पशुओं की लगाम पकड़ने के निषेध में माना जाता है। 'परिसंख्या'—सूत्र द्वारा यही अर्थ प्रतिपादित किया जाता है [६० सायणहृत ऋग्वेदभूमिका] देवदत्तमुक्ति के नाम से प्रसिद्ध [काम्यप्रकाश कामनी की परिसंख्या पर पाठटिप्पणी] किन्तु उसके कलकत्ता के बर्मांशमा व्यापारों भामनसुखरायणी मार द्वारा प्रकाशित संस्करण में अत्राप्त 'पच पचनत्वा मस्या' प्रयोग, जिसका स्पष्टाकरण ऊपर किया जा चुका है, भी परिसंख्या का उत्तम और इसीलिए प्रायः इस प्रसंग में सर्वत्र उल्लिखित प्रयोग है।

रत्नाकरकार ने विधि, नियम और परिसंख्या तीनों को तीन स्वतन्त्र अलङ्कार माना है। इनके लक्षण उन्होंने इस प्रकार बनाए हैं—

१ = अममान्यहेतुफलप्रेषण विधिः ॥ ८२ ॥

२ = अन्यनिषेधार्थोऽपि विधिनियमः ॥ ८३ ॥

३ = प्राप्तस्य [अन्यनिषेधार्थो विधिः] परिसंख्या ॥ ८४ ॥

तीनों के परस्पर में अन्तर भी उन्होंने बनाए हैं और उदाहरण भी दिए हैं। इनमें 'किमासेव्यं०' का नियमालङ्कार का उदाहरण माना गया है और 'विलङ्घयन्ति०' पद्य को परि-संख्या का जिसे विमर्शनीकार ने भी उद्धृत किया है। विमर्शनीकार सर्वस्वकार का समर्थन करते और नियम तथा परिसंख्या में अलङ्कारत्व का बीज एक ही मानकर इन्होंने निम्न मानना अनुचित बतलाने हैं। यह बीज है निषेध्य अर्थ की प्रतीति या अर्थान्तर के निषेध की प्रतीति। विधि के विषय में उन्होंने यहाँ कोई चर्चा नहीं की है।

परिसंख्या का इतिहास—

दण्डी, भामह, नामन और उद्भट की दृष्टि परिसंख्या पर नहीं गई। इसे प्रथमतः रुद्रट ने खोजा है। उनका विवेचन—

रुद्रट = 'पृष्टमपृष्ट वा सदगुणादि यत् कथ्यते क्वचित् प्रत्यम् ।

अन्यत्र तु उदमाकः प्रतीयते सेति परिसंख्या' ॥ ७।७९ ॥

‘पूछने या न पूछने पर जहाँ अनेकज साधारण गुण आदि का कहीं इस प्रकार अस्तित्व बतलाया जाए कि उससे कहीं अन्यत्र अभाव प्रतीत हो तो उसे परिसंख्या कहते हैं। उदाहरण—

प्रश्नपूर्वक परिसंख्या = ‘किं सुखमपारतन्त्र्यम्’ = सुख क्या है ? स्वतन्त्रता ।

प्रश्नरहित परिसंख्या = ‘कौटिल्यं कचनिचये०’ पथ हो ।

मम्मट = रुद्रट की ही पदावली में लिखते हैं :—

‘किंचित् पृष्ठमशुद्धं वा कथितं वत् प्रकल्पते । तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा सृता ॥’

‘प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात् सप्रशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत् पर्यवस्यति सा भवेत् परिसंख्या । अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथा समयत्र व्यरोधमानस्य प्रतीयमानत्वा वाच्यत्वं चेति चरवारो भेदाः ।’

‘पृष्ठ वा अपृष्ठ कोइ वस्तु शब्द से कथित होकर वैसी ही किसी अन्य वस्तु का निराकरण कराए तो यह परिसंख्या मानो गई है ।’ कोइ वस्तु किसी अन्य प्रमाण से विदित होती है (अतः जिसके लिए शब्द प्रयोग की अपेक्षा न हो) तथापि उसे शब्द से कहा जाता है तो वह अन्य प्रयोजन के अभाव में वैसी ही अन्य वस्तु के निराकरण का कारण बनती है । उसी को परिसंख्या माना जाता है । इसमें कथन प्रश्नपूर्वक या तद्रहित रहता है साथ ही निराकरणीय वस्तु कहीं प्रतीयमान होती है और कहा वाच्य, फलतः इसके चार भेद हो जाते हैं । उदाहरण = एक-एक कर के ही जा सर्वस्वकार ने दिये हैं । स्पष्ट ही मम्मट ने रुद्रट के आगे ही अतिरिक्त भेदों की कल्पना भर की शेष सारा विवेचन उनका समान है । मम्मट ने परिसंख्या को मीमांसा की पृष्ठभूमि से यथाशक्ति अछूता रखना चाहा था । सर्वस्वकार ने उसमें मीमांसा को सुलकर स्थान दिया । रत्नाकर और विमशिनी ने उसे और सचा दिया ।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकर का मत इसी विमर्श में पहले आ चुका है । जयदेव और अण्णदीक्षित का लक्षण यह है—

जयदेव, वृत्त—‘परिसंख्या निषेधैकमन्वयस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।

स्नेहक्षयः प्रदीपेषु न स्वांतेषु नतन्त्रुवाम् ॥’

‘एक का निषेधकर अन्य में वस्तुनियन्त्रण परिसंख्यालंकार कहलाता है । उदा०—स्नेह [प्रीति तथा तेल] क्षय दीप में है, शिखों में नहीं ।’

दीक्षित जी ने इसमें निषेध की शब्द बतलाया है और अर्थ निषेध के लिए रत्नाकर तथा विमशिनी में उद्धृत ‘विलङ्घयन्ति०’ पथ उद्धृत किया है ।

पण्डितराज = ने परिसंख्या के विषय में अनेक नवीन सूचनाएँ दी हैं जो रुद्रट, मम्मट, सर्वस्वकार, रत्नाकर, विमशिनी और कुवलयानन्द में नहीं मिलतीं । उनके रसगंगाधर से विदित होता है कि, कुछ आचार्य परिसंख्या को अलंकार केवल जहाँ मानते हैं जहाँ निषेध अर्थ या प्रतीयमान होता है, शब्द नहीं । शब्द में वे केवल परिसंख्यात्व मानते हैं अलंकारत्व नहीं । पण्डितराज ने इन आचार्यों का नामोल्लेख नहीं किया है । दूसरी यह सूचना भी मिलती है कि विमशिनीकार ने जिस ‘पंच पंचनख प्राणी भक्ष्य है’—इस वाक्य में परिसंख्या को अलंकार माना है, कुछ आचार्य इसमें भी केवल परिसंख्यात्व मानते हैं । उनका तर्क है कि यह केवल लोक वाक्य है, इसमें कविप्रतिभा नहीं है । इसी प्रकार ‘किमासेभ्यं युंसा०’ में सेभ्यस्त्वेन कल्पित गंगातट वास्तविक वस्तु है प्राप्तिम नहीं, अतः यहाँ भी ‘पंच पंचनखाम्’ के समान परिसंख्यामात्र है, परिसंख्यालंकार नहीं । इन्होंने यह भी कहा है कि इन आचार्यों के अनुसार ‘किं भूषणं सुदृढमत्र यशः’ इत्यादि स्थलों में भी परिसंख्या नहीं, रूपक है ।

ये सब मत पण्डितराज स्वयं को अमान्य प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने इनका सरलेख मात्र किया है वद् मा परिशिष्ट के रूप में। उनका स्वमत इस प्रकार है—

'सामान्यतः प्रासत्याभरय कस्माच्चिद् विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसर्या'।

'सामान्यतः प्रास अर्थ का किमा विशेष से अलगाव परिसर्या कहलाना है'।

नियम को परिसर्या का ही एक प्रकार रबोकार करने हुए पण्डितराज ने समर्पण में वही तक दिया है जो सर्वस्वकार और विमर्शनाकार ने दिया था—'एक ही लक्षण में दोनों का समग्र'। पण्डितराज ने साहित्यसिद्धान्त में मान्य नियम और परिसर्या के अन्तर्गत को व्याकरणसिद्धान्त से भी पुष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि व्याकरण में भी परिसर्या को नियमशब्द से कहा जाता है। उदाहरण के रूप में अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय चरण का 'कृत्प्रदितसमासाश्च' यह छायालीसर्वो सूत्र प्रस्तुत किया है। इस सूत्र में 'समास' का ग्रहण वाक्यस्वरूप समासोत्तर सार्थ शब्दसमुदाय से प्राप्तपादक सदा का व्यावृत्ति के लिए किया गया है। क्योंकि इसके पूर्व के पैतालासर्वे सूत्र 'अथवदधानुरप्रत्ययः प्राप्तपादिकम्' के द्वारा अर्थवर्षा के साथ प्रातिपदिकत्व की स्थापना की गई है। इसके अनुसार जा जा शब्द सार्थक हैं वे यदि पाठ और प्रत्यय नहीं हैं तो प्रातिपदिक हैं। वाक्य और समास दोनों ही ऐसे शब्दों में आते हैं। 'राजा का प्रवच', 'मेरी पोधी' आदि वाक्य न तो प्रत्ययरूप हैं और न वाच्यरूप, अर्थ इनसे निरवृत्त होता ही है, अतः इन्हें इस पैतालासर्वे सूत्र से ही प्रातिपदिक माना जा सकता था। 'कृत्प्रदितसमासाश्च' सूत्र के द्वारा कहा गया कि 'कृत्, प्रदित और समास भी प्रातिपदिक होते हैं'। इसमें समास की प्रातिपदिक सदा का विधान पूर्वसूत्र 'अर्थवद' से गतार्थ होकर स्वर्थ सिद्ध होता है। उसका सार्थकता सिद्ध होती तब जब यह अर्थ निकाला जाता है कि समासोत्तर वाक्यसमुदाय में प्रातिपदिक सदा न हो। इसी प्रकार यह प्रयोग परिसर्यात्मक हुआ। किन्तु व्याकरण शास्त्र में इसे परिसर्या न कहकर नियम कहा जाता है—यथा 'समासप्रदण नियमार्थम्, ०००० समासप्रदणस्य नियमार्थत्वाद् वाक्यस्य अर्थवतः सदा न भवति = काशिका'। पूर्ववर्षा शास्त्रों में इनके भिन्न होने की मान्यता को भी पण्डितराज ने उपरिष्ण किया है। तदर्थ उन्होंने विमर्शनी में उद्धृत 'विधिरत्यन्तमप्राप्तो' कारिका ही प्रमाणरूप से उपरिष्ण का है और उसकी व्याख्या भी की है।

पण्डितराज ने भी परिसर्या के चार उपयुक्त भेद माने हैं।

विश्वेश्वर ने भी पण्डितराज की ही सरणि पर चल कर आरम्भ में परिसर्या के चार भेद स्वीकार किये हैं और अन्त में निराकरणार्थ अर्थ की व्यंग्यता में ही परिसर्या के अर्थकार होने की रट दोहरा दी है। उनका लक्षण यह है—

'शृटमशृट चोक्त यद् व्यग्यं वापि वाच्यं वा।

कलनीतरव्यपोह परिसर्या सा तु संख्याना ॥'

पूछा गया अर्थात् न पूछा गया कोई अर्थ यदि कहा जाय और वह अन्य अर्थ के वाच्य या व्यंग्य निराकरण में परिष्ण हो तो वह परिसर्या होती है। यहाँ यह उक्तिरूप होती है। विश्वेश्वर ने नियम और परिसर्या को एक मानने का समर्पण पण्डितराज के ही समान व्याकरणशास्त्र के प्रमाण द्वारा किया है। उनके अनुसार व्याकरण महामाध्य में 'पंच पंचनखा' प्रयोग में परिसर्या को विधय ही कहा गया है। भेद उन्होंने भी चार ही माने हैं।

चक्रवर्ती को निष्कृष्टार्थकारिका परिसंख्या पर इस प्रकार है—
 'परिसंख्या त्वनेकत्र प्राप्तस्यैकत्र यन्त्रणम् ।
 चतुर्था पक्षवज्जन्तयोर्मात्रामावादिद्यं मत्त ॥
 न परं युगपत् प्राप्तिः पक्षेऽपि प्राप्तिरिष्यते ।
 परिसंख्यानियमयोरतोऽज्वालौकिकी स्थितिः ॥

—'अनेक स्थानों पर प्राप्त का एक स्थान पर नियमन परिसंख्या कहलाती है। यह प्रश्न तथा वर्ज्य [परिहार्य] अर्थ के कथन और अकथन से चार प्रकार की होती है। यहाँ केवल युगपत् अनेकत्र प्राप्ति ही नहीं, पक्षिक प्राप्ति भी गिनी जाती है, अतः परिसंख्या और नियम में असामान्यरूप से भेद की स्थिति रहती है।'

मूलपाठ—मूल सर्वस्व में 'कस्यचिद् परिवर्जनेन' के पहले 'परि अपवर्जने' विमर्शिनी के आधार पर हमने जोड़ा है। अन्य प्रतियों में यह अंश नहीं मिलता। निर्णयसागरीय प्रति में 'कौदिर्यं कचनिचये०' के बाद को द्वितीय पंक्ति में 'वस्त्वन्तरं शाब्दमार्थं च' पाठ पाठान्तर में रखकर 'वस्त्वन्तरंशब्दमात्रं' पाठ मूल में माना गया है। विमर्शिनी में 'विधिरत्यन्तमप्राप्ती०' बहुरण के बाद की तृतीय पंक्ति में 'तदा नियमविधिः । न पुनर०' अंश का 'न' निर्णयसागरीय प्रति में नहीं है और चतुर्थ पंक्ति में 'पर्यवसायित्वमेव न, दलनादेः' इस प्रकार आया 'न' भी नहीं है।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६४] दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।

दण्डापूपयोर्भावो दण्डापूपिका । 'द्वन्द्वमनोहादिभ्यश्च' इति बुम् । पृषो-
 द्रादित्वाच्च बृहत्प्रभावः । यथा—अहमहमिकेत्यादाविति केचित् । अन्ये
 तु दण्डापूपौ विद्येते यस्यां नीतौ सा दण्डापूपिका नीतिः । एवमहं
 शक्तोऽहं शक्तोऽस्यामिति अहमहमिकेतिवन्मत्वर्थायष्टमित्याहुः । अपरे
 दण्डापूपाधिषु दण्डापूपिकेति 'द्वे प्रतिहृतावि'ति कनं वर्णयन्ति । अत्र द्वि
 'मूषककर्तृकेण दण्डभक्षणेन तत्सद्वभाष्यपूपभक्षणम् अर्थात् सिद्धम्' एव
 न्यायो दण्डापूपिकाशब्देनोच्यते । ततश्च यथा दण्डभक्षणादपूपभक्षणमर्था-
 यातं तद्वत् कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्यात्समानन्यायत्वलक्षणाद् यद्-
 र्थान्तरमापतति सार्थापत्तिः । न चेदमनुमानम् । समन्यायस्य संबन्ध-
 रूपत्वाभावात् । असंबन्धे चानुमानानुत्थानात् । अर्थापत्तिश्च वाक्य-
 विदां न्याय इति तज्जातीयत्वेनैहामिधानम् ।

इयं च द्विधा । प्राकरणिकाद्प्राकरणिकस्यार्थापतनमेकः प्रकारः ।
 अप्राकरणिकात् प्राकरणिकस्यार्थापतनं द्वितीयः प्रकारः ।

आद्यो यथा—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्विस्तुतासभागमोत्कः ।
 कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'

अत्र विभुवृत्तः प्राकरणिको लोकवृत्तान्तमप्राकरणिकमर्थादाक्षिपति ।
द्वितीयो यथा—

‘धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम् ।
रिपुसंघकेषु गणना कैव घराकेषु काकेषु ॥’

अत्र शैलवृत्तान्तोऽप्राकरणिको रिपुवृत्तान्तं प्राकरणिकमर्थादाक्षिपति ।
कचिन्व्यायसाग्ये निमित्तं श्लेषेण गम्यते—

‘अलङ्कारः शङ्काकरनरकपालं परिकरं
यिशीर्णाङ्को भृङ्गो घसु च वृष एको गतययाः ।
अवस्थेयं स्याणारपि भवति सर्वाभरणुरो-
विर्धौ चक्रे मूध्न प्रभवति घयं क पुनरमां ॥’

अत्र विर्धा चक्रे इति शिल्पम्, अप्राकरणिकस्याणुवृत्तान्तात् प्राकर-
णिकार्थापत्तम् ।

[सू० ६४] दण्डापूपिका के द्वारा अन्य अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति [नामक अलङ्कार
कहाती है] ॥

[सू०] दण्ड और अपूप [पूआ] का भाव हुआ दण्डापूपिका । [इस शब्द को श्रुत्यपत्ति पर]
कुछ का मत है कि [इस शब्द के एकान्त दण्डापूप में इन्द्र होने के कारण] ‘इन्द्रमनोषादिभ्यश्च’
[५।१।१६३ पा० = इन् प्रत्यय = इन्द्रयुक्त शब्द और मनोषादिशब्दों से भी [होता है]
सूत्रते इन् प्रत्यय हुआ [इसमें से शेष रहता है ‘इ’ और सूत्र ७।१।१ से उसे हो जाता है
अह, खोलिग होने से ‘अ’ का हो जाता है ‘इ’, इस प्रकार शब्द बन जाता है दण्डा-
पूपिका, ‘अ’ का लोप होने से पूर्णपद] श्रुति [प्राप्त है किन्तु वह] ‘पृषोदरादि’ [सू० ६।१।१०९
में उपलब्ध अपवाद] के कारण नहीं हुई जैसे ‘अहमश्मिका—आदि शब्दों में [नहीं होती]
दूतर्षों का कहना है कि ‘दण्डापूपिका’ का अर्थ है वह नीति जिसमें दण्ड और अपूप हों । इस
प्रकार इस शब्द में [‘दण्डापूप’—इस इन्द्र के आगे] अवधीय [युक्तता अर्थ का] ‘ठम्’ प्रत्यय
[अत इतिठौ ५।१।११५-सूत्र से] हुआ है [जिसके शेष बचे ‘ठ’ को ‘ठत्येक’-७।१।५० से
‘इक’ हो जाता है] जैसे ‘इस प्रकार में समर्थ हूँ, मैं समर्थ हूँ इस किया में’ इस अर्थ की विवक्षा
में ‘अहमश्मिका’ शब्द में होता है । अन्य कुछ के अनुसार यहाँ ‘दण्डापूप के समान = दण्डा-
पूपिका’ इस प्रकार ‘इवे प्रतिवृत्तौ’ [५।१।१६] ‘साध्य [युक्त] अर्थ में प्रयुक्तशब्द से उपमेय
अर्थ में [कन् प्रत्यय होता है] सूत्र के द्वारा ‘कन्’ प्रत्यय नजलाते हैं [जैसे ‘दीपक’ शब्द में] ।
प्रकृत में [जो] ‘दण्डापूपिका’ शब्द [सूत्र में आया है उस] का अर्थ है ‘यहाँ के द्वारा जब दण्ड
हो खा वाला गया तब उसमें लटके पृषों का खा डालना अपने आप सिद्ध है’—यह दृष्टान्त ।
इस प्रकार ‘जैसे दण्डमण्डल से अपूपमण्डल अपने आप चला जाता है जैसे ही किसी अर्थ की
सिद्धि हो जाने पर स्थितिसाम्य के आधार पर जहाँ अन्य किसी अर्थ की सिद्धि अपने आप
बनलाई जाती है तो उसे अर्थापत्ति [नामक अलङ्कार] कहते हैं । यह अनुमानस्वरूप नहीं है,
क्योंकि स्थितिभाम्य [न्यायि] सम्बन्धरूप नहीं होता, और संबन्ध के बिना अनुमान का उत्थान
नहीं होता । अर्थापत्ति को मीमांसकों ने न्याय [हेतु] माना है । यह अर्थापत्ति भी वैसी ही
है, इस कारण इसे यहाँ [वाक्यन्यायमूलक अलङ्कारों के प्रसंग में] बतलाया गया है ।

यद्दो प्रकार की होती है। एक प्रकार वह जिसमें प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि होती है और दूसरा प्रकार वह जिसमें अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की सिद्धि। इनमें प्रथम, यथा—

‘पशुपति [शिव] ने भी वे दिन बड़ी कठिनाई से बिताए, क्योंकि वे पार्वती से मिलने के लिए उत्कण्ठित थे। जब उन विभु [त्रिलोकेश्वर] को भी वे भाव स्पर्श कर सकते हैं तब अन्य किस अवश [इन्द्रियों के बशोभूत] प्राणी को वे विकारमग्न न करेंगे’ [कुमार० ६]

यहाँ शिववृत्तान्त प्राकरणिक है, वह अप्राकरणिक लोक [सामान्य व्यक्ति] वृत्तान्त को स्वतः सिद्ध करता है।

द्वितीय, यथा—

‘आश्चर्य है कि शैल प्रशस्त भुजाओं से समृद्ध वीर पुरुष [किसी वर्णनीय व्यक्ति] द्वारा धनुष छटा लेने पर भी झुका नहीं करते, शत्रुनामक बेचारे कीर्त्तियों की तो गिनती ही क्या !’

यहाँ शैलवृत्तान्त अप्राकरणिक है। यह प्राकरणिक शत्रुवृत्तान्त को स्वतः खींच लाता है।

कहाँ स्थितिसाम्य में कारण का ज्ञान श्लेष के द्वारा होता है [यथा]—[विधु वीर विधि दोनों का सप्तमी के एकवचन में ‘विधौ’ यही एक रूप बनता है, फलतः एकशब्दवाच्यता के कारण दोनों का अमेदाध्यवसाय हो जाता है। इसी आधार पर निम्नलिखित सूक्ति में कहा जा रहा है—]

‘वक् विधौ [विधि = विधाता वीर विधु चन्द्रमा] के चलते सभी देवताओं के स्वामी स्थाणु [अपरिणामी या मूलभूत शिव] को भी यह दशा होती है कि डरावना नरकपाल उनका आभूषण है, परिजन [सेवक] हैं अंगभंग बाळे भृङ्गो, धन है केवल एक बैल और वह भी धीमी उमर का बूढ़ा; तब ये जो हम लोग हैं, हम क्या हैं ?

यहाँ ‘विधौ’ और ‘वक्’ शब्दों में श्लेष है और अप्राकरणिक शिववृत्तान्त से प्राकरण [अस्मदादि वृत्तान्तरूपी] अर्थ खिंच लाता है।’

विमर्शिनी

दण्डापिकेत्यादि। शठबधोक्तनां तावदाह—दण्डेत्यादि। इन्द्रसंज्ञकत्वाद्दश्यानेन बुद्ध्। शौष्योपाध्यायिकेतिवच। ननु चास्य अश्वो न्गितीति जिवाद् बुद्धिः किं न भवतीत्याशङ्कयाह—शपोदरेत्यादि। यथोपदिष्टमिस्थनेन हि शिष्टप्रयोगभाजां शब्दानां श्याकरणशास्त्रेण कोषागमवर्णविकारादि यद्विहितं सन्धति। लक्ष्यमूलत्वाद्भ्याकरणस्य। तेनात्राविहितोपि बृहत्समावोज्जेन सिद्धः। इतिशब्दो हेतौ। ‘अत इतिठयो’ इति ठम्।

एतच्च पञ्चमं सामान्येनैवाभिधत्ता ग्रन्थकृता स्वयमेवोपपन्नः पञ्च आश्रयणीय इति सूचितम्। तेनात्राप्य एव पञ्च आश्रयणीयः, एवान्तरयोरनुपपत्तेः। तथा चात्र ‘एकाश्राकृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ’ इत्याद्युक्त्या तस्य सप्तम्यर्थे नियिद्धत्वात् तदेष न भवति। अथापि विषयनियमार्थस्येतिकरणस्यात्रापि संबन्धादिहापि भवतीति चेत्। न। एतच्च नियतोदाहरणविषयम्। अन्यथा हि निषेधकत्वाकरणप्रसङ्ग एव स्यात्। अहमहमिकाशब्दस्य पुनरेतदस्यन्तमेवायुक्तम्। अदन्तात् प्रातिपदिकादुक्तो विहितत्वात्। कनोऽप्यत्र न प्राप्तिः। तस्य प्रतिकृतौ गन्थमानायाभिधायं वर्तमानात् प्रातिपदिकादुक्तत्वात्। अदन्तात् प्रातिपदिकादुक्तत्वात् प्रतिकृत्यभावाच्च कश्च भवति। अन्यथा हि शौरिय गवय इत्यत्रापि कनः प्रसङ्गः। तद्विद्यमाद्य एव पक्षो ज्ञायान्।

नन्वत्र किमर्थसिद्धया तत्सहभाविनोऽर्थस्य कस्यापत्तनं स्थितं चेनेह दृष्टान्तवेम
दर्शनमित्याशङ्क्याह—अत्रेत्यादि । एतदेव प्रकृते योजयति—तत्तथेत्यादिना । समानन्यापरव-
द्वृत्तादिति । येनैव न्यायेनैकस्यार्थसिद्धिरस्तेनैवान्यस्यार्थस्येत्यर्थः । नन्वर्थादर्थान्तर-
प्रतीतिः किमयमनुमानमेव न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेदमित्यादि । सन्धरूपत्वमावादिति ।
दण्डमचणे ह्यपूपमचण समानन्यायत्वाद्बुद्धितमपि न निश्चितमेव । दण्डमचणेऽपि
पृथक्प्रदेशावस्थानादिना केनापि निमित्तेनापूपानाममचणस्यापि भावात् । अनुमानं पुन-
र्नियतमेवार्थादर्थान्तरस्यापत्तनमित्यस्याः पृथग्भावः । इहंति । वाक्यन्यायमूलाङ्कार-
प्रस्तावे । द्विविधेयनेनापत्ततोऽर्थान्तरस्य साम्यादिना बहुप्रकारत्वं न तथा बोधव्यावह-
मिति सूचितम् । आपाततः पुनरर्थान्तरस्योपादानानुपादानाभ्यां संभवत्यस्या वैचिष्यम् ।
तत्रोपादाने ग्रन्थकृतेवोदाहृतम् । अनुपादाने यथा—

‘श्रीशारदापादरजःपवित्रः दृष्टः समन्ताद्धिमवन्मदङ्घ्रिः ।

यत्रोत्ससिद्धिर्भरशाघगर्भसद्भासगः सन्त्यपि गर्भरूपाः ॥’

तत्र गर्भरूपेऽर्थोऽभेद्यः कः त्वात्संभारपत्तदर्थान्तरमनुपात्तम् । इत्येवेति । इत्येवमूलपाति-
घाघोक्तयेत्यर्थः ।

‘दण्डापूर्विकया’—इत्यादि । पहले दण्डश्रुत्यपि वृत्ताते है—दण्ड इत्यादि । यह
दण्डसंबन्ध है इसलिये इस दण्ड से ‘पुनः’ ठीक बेस ही जैसे ‘शब्दोपाध्यायिका’ में । [शब्दा]
तो इसमें ‘अत्रा स्थिति’ [न् और ण् का जोप ही तो उपान्य अ, इ, उ, ए, ये में वृद्धि होती है]
इस [५०७ ५१२५] सूत्र से वृद्धि क्यों नहीं हुई क्योंकि यहाँ ‘न्’ का जोप है, [अत्र में]
कहते हैं—पुषोदर = इत्यादि । [पुषोदरादानि यथोपदिष्टम् ७३१२०९ सूत्र में] ‘जैसा बोला
गया है ।’ यह कहकर यह वक्तव्य कि व्याकरण शास्त्र से जिन दण्डों में जोप, आगम, वर्णविकार
आदि नहीं होते और वे शिष्ट पुत्रों द्वारा बोले जाते हैं वो उन्हें विदित ही मान लेना चाहिए ।
क्योंकि व्याकरण तो लक्ष्य के अनुसार चलता है । इस प्रकार यहाँ [‘दण्डापूर्विका’ में] वृद्धि का
अभाव व्याकरणविदित न होने पर भी सिद्ध ही मानना चाहिए । [‘इवे प्रतिवृत्तौ इति’ इसमें
भाषा] इति दण्ड हेतुवर्धक है अर्थात् इन सूत्र के द्वारा ठन् हुआ ‘अत इतिठनी’ सूत्र से ।

ये जो तीन पक्ष हैं इन्हें समान रूपसे प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने यह सूचित किया कि
इनमें से जो पक्ष शास्त्रसम्मत हो उसे स्वयं ही अपना लिया जाए । यहाँ प्रथम पक्ष ही अपनाया
जा सकता है, क्योंकि अन्य दो पक्ष शास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं होते । इसमें प्रमाण है—‘एकाधरात्’
[५०७ १२५-काशिका] इत्यादि वचन । इसका अर्थ है—

[छ, ख आदि] एक अक्षर वाले दण्डों, [धारक आदि] कृत् प्रत्यय वाले दण्डों, [ब्याज
आदि] जाति दण्डों तथा सप्तमीविभक्ति के अर्थ से युक्त [जेमे जिममें दण्ड है ऐसी शाला-
दण्डवत्ती-आदि] दण्डों से ये दोनों [इति और ठन्] प्रत्यय नहीं होते । इन वचनों । से ठन्
प्रत्यय सप्तमी विभक्ति में युक्त अर्थ [नीती] में निषिद्ध है । अतः ठन् होगा ही नहीं । यदि कहें
कि [माप्यकार द्वारा ही] निषेध वैकल्पिक माना गया है, अतः यहाँ यह प्रत्यय सम्भव है तो
यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह विकल्प कुछ ही गिने चुने प्रयोगों के लिए है, प्रत्येक
प्रयोग के लिए नहीं । यदि ऐसा न हो तो निषेध करना निरर्थक सिद्ध होगा । अहमहमिका
दण्ड में तो यह एकदम ही अयुक्त है । क्योंकि ‘ठन्’ का वियान [‘अत इतिठनी’ सूत्र के द्वारा]
इस अकार से युक्त प्रातिपदिक दण्ड से किया गया है [अतः कि अहम् दण्ड मकारान्त दण्ड है ।
भानुनिर्दाशित ने इसमें ‘श्रीसाधिम्यश्च’ ५१२१२६, सूत्र से ठन् माना है । जीसादि में ‘अत इति-

ठनी' से 'अताः' की अनुवृत्ति नहीं होती यद्यपि त्रीणादिगण में अहमहम् शब्द नहीं मिलता] यहाँ कन् प्रत्यय की भी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वह साहचर्यार्थक प्रातिपदिक से तब होता है जब प्रतिकृति रूपी अर्थ गम्य हो । यह भी अदन्त प्रातिपदिक से विहित होता बतलाया गया है । प्रतिकृति रूपी अर्थ का अभाव होने से भी कन् नहीं हो सकता । नहीं तो 'गौरिव गवयः' = 'गवय नामक वन्य पशु वैल जैसा होता है' यहाँ भी कन् प्रत्यय होने लगेगा [यहाँ उपमेयरूप प्रतिकृति = गवय शब्दतः कथित है, गम्य नहीं] तो इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्ति ही मान्य है ।

[शंका] सिद्धि यहाँ किस अर्थ की होती है और आक्षेप उसके साथी किस अर्थ का जिसके लिए इसे दृष्टान्त रूपसे बतलाया गया है । इस पर उत्तर देने हैं—अन्न । प्रकृत में इसी अर्थ की योजना करते हुए लिखते हैं—ततश्च । समानन्यायरदलघुणात् = स्थितिसाम्य के कारण = अर्थात् जिस हेतु से एक अर्थ की सिद्धि होती है उसी से इस अन्य अर्थ की भी सिद्धि हो जाती है । [शंका] 'एक अर्थ से अन्य अर्थ का ज्ञान होने के कारण इसे अनुमान रूप ही क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका उत्तर कहते हैं—नचेदस्य० । सम्बन्धरूपत्वाभावात् = सम्बन्धरूप न होने से = अर्थात् दण्ड का भक्षण होने पर अपूप का भक्षण स्थितिसाम्य के कारण उचित तो है किन्तु निश्चित नहीं है । क्योंकि यदि अपूप किसी अन्य स्थान पर रख दिए गए हों या ऐसा ही कोई अन्य कारण हो तो दण्ड का भक्षण हो जाने पर भी अपूप का भक्षण भी संभव होता है ।

जहाँ तक अनुमान का सम्बन्ध है उसमें एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान नियमतः होता ही है । इस कारण यह [अर्थापत्ति] उससे पृथक् है । इह = यहाँ = वाक्यन्यायमूलक अलंकारों के प्रकरण में । द्विविध = दो प्रकार की = इत्यादि कहकर यह सूचित किया कि अन्य अर्थ [रत्नाकर में प्रतिपादित] साम्य आदि के आधार पर अनेक प्रकार का हो सकता है [और रत्नाकरकार ने इसे २४ प्रकार का बतलाया भी है] तथापि उसमें उतना चमत्कार नहीं रहता । किन्तु आपाततः इसमें अन्य अर्थ के उपादान और अनुपादान के आधार पर चमत्कारगत वैशिष्ट्य माना जा सकता है । इनमें से उपादान का उदाहरण तो स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है [यथा 'पशुपति०' पद्य में अवश शब्द द्वारा तथा 'धृतधनुषि' पद्य में 'रियु०' शब्द के द्वारा] अनुपादान का उदाहरण यह है—

'जहाँ हिमवान् की श्रीशारदा की चरणरज से पवित्र द्रवाओं से सृष्ट बरुचे भी शाकों के भीतरी रहस्यों पर पर्याप्त सन्दर्भ [ग्रन्थ] रचा करते हैं ।' यहाँ अर्थ निकलता है कि बच्चों के अतिरिक्त व्यक्तियों [बयस्कों] की बात ही क्या । यह यहाँ शब्दतः कथित नहीं है । श्लेषेण = श्लेष के द्वारा = अर्थात् श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के द्वारा ।

अर्थापत्ति अलंकार का इतिहास—

अर्थापत्ति अलंकारसर्वस्वकार की ही देन है । भामह से लेकर मम्मट तक के ग्रन्थों में यह नहीं मिलता । परवर्ती भाचार्यों में—

रत्नाकरकार ने इस दिशा में सर्वस्वकार को बहुत दूर तक अनुसरण किया है । उनका अर्थापत्ति लक्षण इस प्रकार है—

'दण्डापूपिकाऽऽपत्तनमर्थापत्तिः' ॥ ८१ ॥

दण्डापूपिका का स्पष्टीकरण एक पंक्ति में इन्होंने इस प्रकार किया है—

'मूपभैदण्डानां मक्षणेऽपूपमक्षणमर्थात् सिद्धमिति न्यायो दण्डापूपिका । अनेन न्यायेन कस्यचि-
दर्थस्य निष्पत्तावर्थादव्यान्तरस्यापत्तिरिति ।'

‘चूँहों द्वारा दण्डों का मझुण हो जाने पर अपूर्णों का मझुण अपने आप सिद्ध है’—यह उपमा वाक्य है दण्डापूर्णाः । ‘इसके द्वारा किमी अर्थ की निष्पत्ति होने पर किसी अन्य अर्थ की अपने आप आपत्ति को अर्थापत्ति कहा जाता है।’ भेदगणना में रत्नाकरकार ने अति कर दी है। उन्होंने इसके २४ भेद माने हैं। प्रकृत से प्रकृत, अप्रकृत से अप्रकृत, प्रकृत से अप्रकृत तथा अप्रकृत से प्रकृत अर्थ का आपादन होने से भेदों की संख्या प्रथमतः चार हुई। तदनन्तर दोनों अर्थों का सादृश्य कहीं बराबर होगा कहीं न्यूनता होगी, कहीं अधिकता। फलतः उक्त चार भेद १२ हो जायेंगे। पुनः ये ही भेद समव अर्थ से संभव अर्थ की निष्पत्ति में होंगे और असंभव अर्थ से असंभव अर्थ की निष्पत्ति में फलतः २४ हो जायेंगे। इसके पश्चात् अन्य अर्थ या साम्य कहीं शब्द होगा और कहीं अर्थ, अतः ये ही २४ भेद ४८ हो जायेंगे।

अनुमान से अर्थापत्ति को अलग करते हुए रत्नाकरकार ने भी वही तर्क दिया है जो सर्वस्व में मिलता है—

‘दण्डावृपनयेन वस्त्वनुमितिः सामर्थ्येनो आपते
नान्तर्भावसौ प्रयात्यनुमितौ यत्सम्भवात्मा ततः ।
अर्थापत्तिरलङ्कृतिः पृथगियं नो लक्षणीयेत्यस्य
तर्कोऽङ्ग यदयं तुषैरनुमितेः सम्भावनात्पोदितः ॥

दण्डापूर्णीति से वस्तु की अनुमिति अपने आप हो जाती है अतः क्योंकि संभावनात्मक होती है [निश्चयात्मक नहीं, अतः अनुमान में अन्तर्गूत नहीं होती। इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार को स्वतन्त्र रूप से नहीं बतलाना चाहिये यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह जो संभावनात्मक तर्क है इसे विद्वानों ने अनुमिति का अंग माना है [अनुमिति नहीं]। यह कारिका अभिव्यक्ति की दृष्टि से बटिक हो गई है किन्तु रत्ना अर्थ तो इससे निकल ही जाता है कि अर्थापत्ति में दोनों अर्थों का संबंध संभावनात्मक रहता है जब कि अनुमिति में निश्चयात्मक।

अप्ययदीक्षित = और पण्डितराज ने भी इस अलंकार को अलंकार मान लिया है। अप्ययदीक्षित ने इसका लक्षण इस प्रकार बनाया है—

‘कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते । उदा० स नितरस्त्वमुष्येनेन्दु’ का वातां सरसीरुहाम्’ ॥

‘कैमुत्य [इसकी तो बात ही क्या] के द्वारा अर्थ की संसिद्धि काव्यार्थापत्ति मानी जाती है।’ यथा नेरे मुग्ध ने तो वह चन्द्रमा भी भीत लिया, कमलों की तो बात ही क्या है [जिन्हें चन्द्रमा भी निष्प्रभ बना देता है]। अप्ययदीक्षित ने अर्थापत्ति में काव्यशब्द का प्रयोग ठीक वही अभिप्राय से किया है जिसमें काव्यालिंग में काव्यशब्द का प्रयोग किया गया है।

पण्डितराज = अगन्नाय ने दण्डापूर्णाः को लक्षण से हटा दिया है। उसके स्थान पर तुष्यन्यायत्व शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने सूत्र यह बनाया—

‘देनचिदर्थेन तुष्यन्यायत्वादर्शान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः ।’

—‘कारणसाम्य के आधार पर किमी अर्थ से किमी अन्य अर्थ की स्वतः प्राप्ति अर्थापत्ति—कही जाती है।’ न्यायः कारणम् = न्याय का अर्थ है कारण। भेदसंख्या रत्नाकरकार के ही समान पण्डितराज ने भी चौबीस ही मानी है। अन्तर रत्ना है कि बारह भेदों को रत्नाकरकार ने संभव और असंभव अर्थों के वर्गों द्वारा दिगुण माना है जबकि पण्डितराज ने साव और अभाव के द्वारा।

अन्य अलंकारों से इसका अन्तर बतलाने हुए पण्डितराज ने लिखा—

अनुमान में निश्चयात्मक बोध होता है जब कि अर्थापत्ति में संभावनात्मक, अर्थात् अनुमान में

बोध होता है कि—'ऐसा होता ही है' जबकि अर्थापत्ति में 'ऐसा हो सकता है' ऐसा । यद्यपि-शयोक्ति में वाक्यार्थ का पर्यवसान विपरीत अर्थ में होता है जबकि अर्थापत्ति में समान अर्थ में ।

पण्डितराज ने अर्थापत्ति अलंकार को अल्पवदीक्षित के समान वाक्यार्थापत्ति तो नहीं कहा किन्तु मीमांसकों को अर्थापत्ति से उसका अन्तर उन्होंने अवश्य दिखलाया—

मीमांसकों को अर्थापत्ति में पूर्व अर्थ की सिद्धि अपर अर्थ के बिना नहीं होती, पूर्व अर्थ अर्थान्तर के प्रति सापेक्ष रहता है । इस अर्थापत्ति में ऐसी विवशता नहीं रहती । इसमें द्वितीय अर्थ के समर्थन में प्रथमार्थ इष्टान्त का कार्य करता है ।

पण्डितराज ने अपरार्थ का कविकल्पित होना आवश्यक बतलाया है और इसीलिए सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'पशुपति०' तथा 'अवत्येवं०' पद्य में अपरार्थ अकल्पित मान इन्हें अच्छा उदाहरण नहीं माना । द्वितीय पद्य में चमत्कार का कारण 'विधौ'—इस दिष्ट पद्य में ही अथवा शिव की विषम स्थिति के प्रति वक्र चन्द्रामिन्न वाम विधि को हेतुरूप से प्रस्तुत करने में । प्रथम पद्य में यदि कैमुतिक न्याय की स्थिति लौकिक है और चमत्कारशून्य है तो उपमा में भी दो लौकिक अर्थों के उपादान में अलंकारत्व नहीं मानना होगा । 'सुख कमल के समान है' इस वाक्य में सुख, कमल और दोनों का साम्य ये तीनों तत्त्व लोकसिद्ध हैं । यदि साम्यदर्शन प्रातिम है तो कैमुतिकन्याययोजना में भी प्रातिमत्व माना जा सकता है ।

विश्वेश्वर ने अर्थापत्ति नामक कोई अलंकार नहीं माना । वे मग्गट के जो अनुयायी ठहरे । चक्रवर्ती की निष्कृतार्थ कारिका—

'अर्थापत्तिस्तु वैस्तुत्येऽन्यार्थापत्तिरिष्यते ।
प्रकृताप्रकृतापातादिव्यं च द्विविधा गता ॥'

कैमुतिकन्याय के द्वारा अन्य अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति नामक अलंकार मानी जाती है । यह प्रकृत और अप्रकृत की सिद्धि के कारण दो प्रकार की होती है ।

दण्डापूप—पूप, कढ़ाह में से, सोंक में छेद छेद कर निकाले जाते हैं और धी नितारने के लिए वन्हीं सोंकों को दीवाल आदि में खोस दिया जाता है । वहाँ चूहा हो और वह सोंक को ही कुतर खाए और यदि पूरे गिने हुए न हों तो सोचा जाएगा कि उसने पूरे भी खाए ही होंगे । सबसे कठिनतम कार्य कर लेने पर सरलतम कार्य करने की शक्यता चोतित होती है ।

यही बात 'किमुत' = अला कया इन दो अव्ययों द्वारा कही जाती है । इस प्रकार इन दृष्टान्तों को दण्डापूपिका और कैमुतिक न्याय कहते हैं ।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६५] तुल्यबलविरोधो विकल्पः ।

विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वात्तुल्यबल्योरेकत्र युगपत्प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव यौगपद्यासंभवे विकल्पः । औपम्यगर्भत्वाच्चान्न चास्तत्वम् । यथा—

'नमन्तु शिरांसि घनूंषि वा, कर्णपूरीक्रियन्तामाहा मौर्व्यो वा'
इत्यादि । अत्र प्रतिराजकार्ये नमने शिरसां घनूपां च तुल्यप्रमाणाश्लिष्टत्वम् । संधिविग्रहौ चात्र क्रमेण तुल्यप्रमाणे, प्रतिराजविषयत्वेन स्पर्धया द्वयोरपि संभाव्यमानत्वात् । द्वौ चेमौ विरुद्धाविति नास्ति तयोर्युग-

पत्रप्रवृत्तिः । प्राप्नुवतश्चात्र युगपत्प्रकारान्तरस्यानाशङ्क्यत्वात् । ततश्च
न्यायप्राप्तौ विकल्पः । नमनकृतं च तयोः सादृश्यमित्यलङ्कारता । एवं
कर्णपूरीक्रियन्तामित्यादौ योजनीयम् । औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चादृत्वम् ।

क्वचिच्छ्लेषावष्टम्भेनाप्ययं दृश्यते । यथा—

‘भक्तिप्रद्विलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नति दितप्राप्तये ।
स्त्रायण्यस्य महागिधी रसिकतां लक्ष्मीदशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः ॥’

अत्र नेत्रे तनुर्वेति विकल्पः । उक्तमत्वाच्च तुल्यप्रमाणं शिल्पत्वम् । न
चात्र समुच्चये चाशङ्कः । संभवन्त्यामपि गतौ महाकविभ्यघद्वारे तथा
प्रयोगमावात् । ननु विरोधनिमित्तो विकल्पः । कथं चात्र विरोधः । नैतत् ।
तनुमप्ये नेत्रयोः प्रविष्टत्वात्तयोः पृथगभिधानमेष न कार्यम् । कृतं च
तरुस्पर्धिभायं गमयति । स्पर्धिभावाच्च विरुद्धत्वम् । नेत्रे अथवा समस्तमेघ
शरीरमित्यर्थावगमे विरोधस्य सुप्रत्येयत्वात् । स चात्र श्लेषाच्छ्लेषः ।
लिङ्गश्लेषस्य घचनश्लेषस्य चात्र दृष्टेः । तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो
विकल्पाद्ययोऽलङ्कारः पूर्वैरकृतविधेकोऽत्र दर्शित इत्ययगन्तव्यम् ।

[सू० १५] समान वदवाले पदार्थों का विरोध विकल्प [नामक अलङ्कार
बहुलाता है] ।

[सू०] दो विरोधी पदार्थ समान प्रमाण से युक्त होने के कारण बल में समान हों और एक ही
स्थान में एक साथ प्राप्त हों, किन्तु विरुद्ध होने के कारण उनका साथ बनता न हो तो [अलङ्कार
का नाम] विकल्प होता है । इसमें सादृश्य छिपा रहता है अतः चारुता चली जाती है ।
उदाहरण यथा—

‘नमै सिर वा धनुष, करनफूल बनाई जाई आशर्ये वा प्रत्येचाई [इर्ष्यरित-६, सू० १९४]
रथादि ।

यहाँ शत्रुराजा द्वारा करणीय रूप में कथित जो नमनकार्य है उसमें सिर और धनुष समान
प्रमाणों से युक्त हैं । ये प्रमाण हैं यहाँ : क्रम से सन्धि और विग्रह, क्योंकि शत्रुराजा के साथ
स्पर्धा होने से दोनों ही सम्भावित हैं । ये दोनों [सन्धि विग्रह] परस्पर में विरुद्ध हैं इसलिए
इनकी एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु हो रहे हैं प्रकृत यहाँ दोनों ही एक साथ; क्योंकि
अन्य कोई प्रकार यहाँ सोचा नहीं जा सकता । इस प्रकार यहाँ विकल्प हेतुत्व सिद्ध है । उन
[धनुष और सिर] दोनों में नमन को लेकर सादृश्य है, इसलिए [यह विकल्प] यहाँ अलङ्कार
है । इसी प्रकार ‘करनफूल बनाए जायें’ इत्यादि वाक्य में योजना की जानी चाहिये । इनमें
चारुत्व सादृश्यगर्भा के कारण ही है ।

कहाँ यह [विकल्प] श्लेष से भी होता है । यथा—

‘भगवान् विष्णु के नेत्र था उनकी काया आवकी भवन्वाधि नष्ट करें जो भक्ति प्रद विलोकन
प्रणयिनी [नेत्र = भक्ति से नेत्र जनों को देखने का प्रणय = प्रेम लिये दृष्टे, तनु = काया = भक्ति से

नम्र जनों का जिसके दर्शन में प्रणय = प्रीति तथा याचना है], नीलकमल से स्पर्धा रखने वाले, समानि में उगे व्यक्तियों द्वारा ईदित या हित को प्राप्ति के लिए ध्यानास्पद बनाए हुये, लवण्य को महान् निधि तथा लक्ष्मी जी के नेत्रों के लिए रसिकता देने वाले हैं । यहाँ 'नेत्र' या 'तनु' इस प्रकार विकल्प किया गया है । दोनों ही पदार्थ उत्तम हैं इसलिये दोनों की श्लिष्टता में प्रमाण सामग्री समान है । यहाँ जो 'वा' = 'वा' शब्द आया है इसे समुच्चयवाचक नहीं मानना चाहिए [वित्तसे अर्थ निकलेगा 'नेत्र तथा शरीर दोनों' और अलंकार होगा समुच्चय] क्योंकि 'वा' का अर्थ समुच्चय संभव होने पर भी महाकवियों के व्यवहार में वैसा प्रयोग नहीं देखा जाता । शंका होती है कि [सूत्र के अनुसार] विकल्प तो विरोधमूलक होता है, यहाँ विरोध कैसे सिद्ध होगा ? ऐसा नहीं, नेत्र [जो हैं वे] तो शरीर के बीच प्रविष्ट हैं अतः उनका अलग से कथन ही नहीं किया जाना चाहिए । क्योंकि वह किया गया है अतः उन [नेत्रों] में स्पर्धिता व्यक्त करते हैं, और स्पर्धिता से इनमें विरोध है । यहाँ 'नेत्र' अथवा पूर्ण शरीर [महात्ति शान्त करें]' इस प्रकार [के अर्थ से] विरोध सूत्रपूर्वक जाना जा सकता है । वह [विकल्प, श्लेष से हुआ है अतः श्लिष्ट है । क्योंकि यहाँ [तनु में स्त्रीलिंग तथा नेत्र में नपुंसकलिंग होने के कारण] लिंगश्लेष तथा [नेत्र में दिवचन तथा तनु में एकवचन होने से] वचनश्लेष दिखाई देता है । इस कारण विकल्प नामक यह अलंकार समुच्चय नामक अलंकार का उलटा अलंकार है । इस प्रकार ध्यान देने की बात है कि पूर्ववर्ती आचार्य इसका अन्तर नहीं कर पाए थे । यहाँ इसका अन्तर कर दिया गया है ॥'

विमर्शिनी

तुल्येत्यादि । एतदेव व्यापष्टे—विरुद्धयोरित्यादिना । तुल्यबलत्वादेवैकस्यापि बाधा-
भावान्नैकतरग्रहणम् । तच्च द्वयोरपि युगपत्प्राप्तिः । न च विरुद्धयोरेतद्युग्यते द्वयत्रै-
कस्यापि साधकवाचकप्रमाणाभावादनियतयत्कतरावलम्बनेन पाश्चिकी प्राप्तिः ।
अत एव नियतोभयपक्षावलम्बी विकल्पः । ननु च 'यत्रैवौहिभिर्वा यजेत' इति वास्त-
ववाहिकवपादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—औपम्येत्यादि । औपम्यं साधारणधर्म-
निबन्धनमिति तस्याप्यत्र त्रैचम् । एवं च यत्रैवौपम्यगर्भस्व तत्रैवाथमलंकारो न स्वन्य-
थेति भावः । यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः परापततु राक्षसु वा यथेष्टम् ।

अथैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यास्यथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥'

अत्रौपम्यगर्भत्वाभावाहिकवपमाश्रयम् । विकल्पवृत्तं चात्र दर्शयति—अत्रेत्यादिना ।
क्रमेणेति । शिरोनमने संघिर्धनुर्ममने विग्रहरथेति । स्पर्धयेत्यनेन विरुद्धस्वमेवोद्धलितम् ।
द्वौ चेमाविति । संघिविग्रहौ । अत्रयोर्विरुद्धत्वादेतत्कार्ययोरपि शिरोधनुर्मनयोर्विरुद्ध-
त्वम् । तयोरिति । शिरोधनुर्मनयोः । प्रकारान्तरस्येति । यत्र शिरसां धनुषां च युगपदा-
मनं न संभवेत् । ततश्चेति । विरुद्धयोर्युगपत्प्रवृत्त्यसंभवात् । न्याय्यप्राप्तत्वेनास्यानुन्मूल्य-
त्वमुक्तम् । अत एव चैतदभाववादिनामन्यायवादिस्वमपि सूचितम् । अत्रौपम्यकृतमेवा-
लंकारत्वमित्याह—नमनेत्यादि । तेनात्र नमनास्यस्य समानधर्मस्यानुगामितयैवैतत्स्वरूपेण
निर्देशः । वस्तुप्रतिवस्तुभावस्तु यथा—

'अष्टं विधातुश्चितं मुस्रमेव चञ्चद्भ्रुकं नतभ्रु तव कान्तिविलोकितेषु ।

पणाङ्गविम्बमथ वां चिवल्लकल्लहमेकं, न यद्विहित एव जगत्प्रकाशः ? ॥'

अत्र चञ्चद्विवल्लययोः शुद्धसामान्यरूपत्वं अकल्लहयोर्विम्बप्रतिविम्बभावः । उत्तम-
त्वादिति । द्वयोरपि भगवत्संबन्धित्वेन भवार्तिशमनकरणसामर्थ्येन समरथात् ।

ननु च नेत्रे च तनुश्रेयस्य समुच्चय एव किं न भवतीत्यादाह—न चात्रेत्यादि । गताविति । चाशब्दस्य समुच्चयार्थलक्षणायां । तथेति । समुच्चयार्थपरत्वेत्यर्थः । न ह्यत्र समुच्चयार्थो विवक्षितः । एवमत्र विरोधाभावात्कथं विकल्पोऽपि भवतीत्याह—नन्वित्यादि । न कार्यमिति । तन्वभिधानेनैव नेत्रयोः स्वीकृतत्वात् । कृतमिति । अन्यथा हि पृथगभिधानं निःप्रयोजनं स्यात् । स्पष्टिमावादिति । तुष्यन्त्वात् । सुप्रत्येयत्वादिति । सुष्टुश्वेन विरुद्धस्य कष्टकल्पनानिरासः कृतः । स इति । विकल्पः । एतदेवोपमं इति—तस्मादित्यादिना । समुच्चये द्वयोरपि युगपद्वस्थानम्, इह त्वन्ययेत्यस्य तत्प्रतिपक्षभूतावम् । अनेनास्य ग्रन्थरूपपञ्जरमेव दर्शितम् ।

सुख्य इत्यादि । रसी को न्यास्या करते हैं—विरुद्धयोः इत्यादि के द्वारा । क्योंकि दोनों अर्थ समान बल के होते हैं इसलिए किमी एक का बाध नहीं होता और न किमी एक का ग्रहण । वस [विरुद्धत्व या समबलत्व] का स्वरूप है दोनों पक्षों को एक ही स्थान पर प्राप्ति । किन्तु विरुद्ध पक्षों में यह सम्भव नहीं होता । फलतः यहाँ न किमी एक पक्ष का माधक हो सकता और न बाधक ही । निदान यहाँ अनिश्चय रहता है । परिणामतः यहाँ किसी भी एक का अवलम्बन संभव नहीं होता । इस प्रकार यहाँ पादिक [वैकल्पिक] स्थिति रहती है । रसी कारण इसे विकल्प कहा जाता है, जिसमें नियमतः दोनों पक्षों का अवलम्बन किया जाता है । शका होती है कि 'ओ या बाधक [किसी] से यह कते'—इस वास्तविक विरुद्ध में इस विकल्प का क्या अन्तर है, इस पर उत्तर देते हैं—'औपम्य' इत्यादि । औपम्य साधारण धर्म पर निर्भर रहता है अतः वह [औपम्य] भी यहाँ तीन प्रकार का होगा [क्योंकि साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है] निष्कर्ष यह कि यह विकल्प वहाँ अलंकार होगा नहीं यह औपम्यगमिन होंगे, नहीं तो नहीं । [औपम्यरहित होने में जहाँ यह अलंकार नहीं बनता तबका उदाहरण] यथा—

'नीति निपुण लोम निन्द्रा करें या प्रज्ञसा, लक्ष्मी बरमती चली आप भयवा जहाँ चाहे चली जाए, आम ही मर जाना पड़े या युगांतर में [किन्तु] धीर पुत्र्य नीति पथ से अलग दग नहीं रखते ।'

यहाँ औपम्यगमत्व न होने में विकल्प में केवल विकल्पत्व है [रग्नकारकार द्वारा स्वीकृत अलंकारत्व नहीं । नमन्तु आदि में] विकल्प की स्थिति बनाने में कुछ लिखने हैं अत्र । क्रमेण = क्रम में अर्थात् सिर झुकाने में सन्धि प्रमाण है और धनुष झुकाने में विग्रह = युद्ध । स्पर्धया = स्पर्धा बनलाकर यहाँ विरोध का ही समर्थन दिया । द्वी वैमौ = ये दोनों अर्थात् मन्धि और विग्रह । ये दोनों विरुद्ध हैं इसलिए इनके कार्य शिरोनमन तथा धनुर्नमन भी विरुद्ध हैं । सप्तो = उनका अर्थात् शिरोनमन और धनुर्नमन का । प्रकारान्तर = अन्य प्रकार = देना कोई प्रकार जिसमें सिर और धनुष का नमन साथ न हो सके । ननुश्च = इस कारण = विरुद्धों की प्रवृत्ति एक स्थान पर एक साथ न होने के कारण । न्यायप्राप्त कहकर यह बतलाया कि यह अलंकार कदा नहीं आ सकता । और रसी से यह भी बतला दिया कि इसे न मानने वालों का कथन न्यायगुन्य है । यहाँ सादृश्य से ही समन्कार होना है रसी को दुहराने हैं—'नमन' । इस उदाहरण के द्वारा यहाँ नमनरूपी साधारण धर्म अनुगामी रूप से एक बतलाया गया । वस्तु-प्रतिवस्तुभाव वा उदाहरण यह है—

कान्ति देखनी थी तो विधाता को केवल तुम्हारा चञ्चल भीरो वाला मुख ही बनाया चाहिय था, या तो स्फुरित कल्क से युक्त मन्दबिम्ब ही अवेला । क्या इन [दोनों] में ही जगत् में प्रकाश [भी] नहीं कर रहा है ?

यहाँ 'चञ्चलता और स्फुरण' शुद्ध सामान्यरूप में साधारण धर्म रूप है और मींद तथा कल्क

विन्वप्रतिविन्वभाव से युक्त होकर । उच्यते = क्योंकि दोनों ही भगवत्संबन्धी होने के कारण भवार्तिशमन के सामर्थ्य में समान हैं ।

शंका होती है—'यहाँ नेत्र और तनु' इस प्रकार समुच्चय ही क्यों न मान लिया जाए' इस पर उत्तर देते हैं—न चान्न । गतौ = 'वा'-शब्द का जो समुच्चयरूपी अर्थ है तदरूपी गति । तथा = समुच्चयार्थपरक । यहाँ समुच्चयरूपी अर्थ विवक्षित भी नहीं है । [शंका] यहाँ विरोध का अभाव है अतः विकल्प भी कैसे होगा' यही कहते हैं—ननु । न कार्यम् = केवल तनु का कथन करने से ही नेत्रों का भी संग्रह संभव होने से । कृतम् = पृथक् अभिधान । स्पर्धिभाव = नहीं तो पृथक् अभिधान निष्प्रयोजन हो जाता । स्पर्धिभावात् = स्पर्धिता = तुल्यता के कारण । सुप्रयेय = सुख पूर्वक जानने योग = इस प्रकार 'सुखपूर्वकता वतलाकर विरोध को छिष्ट कल्पना द्वारा सिद्ध होने का चिराकरण किया । स = वह = विकल्प । इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—तस्मात्० । समुच्चय में दोनों पक्ष एक साथ प्राप्त रहते हैं, जब कि यहाँ [विकल्प में] उसके विपरीत अलग अलग, इस कारण वह उस [समुच्चय] से उल्टा है । ऐसा कहकर यह वतलाया कि यह अलंकार प्रथमतः ग्रन्थकार को ही कल्पना है ॥'

विमर्श—परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार, दोस्रित जी और पण्डितराज ने विकल्प को अलंकार मान लिया है । इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

रत्नाकरकार = सू० 'विरुद्धयोस्तुल्यरत्ने पाक्षिकत्वं विकल्पः ॥ ८८ ॥

कृ० 'यत्र द्वयोरर्थयोर्विरुद्धत्वात् समुच्चयभावेन तुल्यवत्त्वान्च एकस्य

वायाभावाद् अनियतैकतावलम्बनेन पाक्षिकत्वं स विकल्पः ।'

'दो विरुद्धों की समानता होने पर जो पाक्षिकता भाती है वही विकल्प कहलाती है ।' जहाँ दो अर्थ विरुद्ध हों अतः जिनका समुच्चय न हो सक रहा हो साथ ही बल में समान होने से जिनमें से किसी एक का वाच भी न हो रहा हो अतः किसी एक के पक्ष का अपनाया जाना संभव न होकर पाक्षिक हो तो यहाँ विकल्प को अलंकार माना जाता है । विमर्शिनोकार की 'साधकवाचकप्रमाणभावादनियतैकतरत्वालम्बनेन पाक्षिकी प्राप्तिः'—रत्नाकर की उक्त पंक्ति का ही परिष्कार है ।

रत्नाकरकार ने 'निन्दन्तु नीति०' पद्य में विकल्प माना है । रूपक आदि के समान उन्होंने औपम्य को यहाँ भी आवश्यक नहीं माना है । 'निन्दन्तु०' पद्य में चमत्कार है और विकल्पमूलक ही चमत्कार है अतः विमर्शिनोकार का यहाँ केवल लौकिक विकल्प' मानना हृदयसंवाद के विपरीत है ।

अप्यदीक्षित = 'विरोधे तुल्यवलयोर्विकल्पालङ्कृतिर्गता'

—'तुल्यवलयों के [परस्पर] विरोध में विकल्पालंकार माना गया है'—इस प्रकार पाक्षिकत्व को लक्षण में स्थान नहीं देते । उनका बदाहरण हर्षचरित के 'नमन्तु शिरांसि०' का ही पद्यरूप यह है—'सयः शिरांसि चापान् वा नमयन्तु महीसुजः ।'

यद्यपि दीक्षित जो ने यहाँ सादृश्य को कोई चर्चा नहीं की है । तथापि उन्होंने उदाहरण सादृश्यव्योजना के ही दिए हैं ।

पण्डितराज ने 'विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः'—इस प्रकार 'विरुद्ध अर्थों की वैकल्पिक प्राप्ति में विकल्प माना है । उन्होंने औपम्य को भी आवश्यक वतलाया है । उनका कहना है कि औपम्यरहित विकल्प में केवल विकल्पत्व होगा अलंकारत्व नहीं । इस प्रकार पण्डितराज ने सर्वस्व और विमर्शिनो का इस दिशा में अनुगमन किया है ।

‘मक्तिप्रह—’ पद्य पर विचार करते हुए पण्डितराव ने कहा है यहाँ ‘वा’ का अर्थ = तनु के समान नेत्र’ इस प्रकार सादृश्य है। संस्कृतकोषों में वा का अर्थ उपमा मान्य भी है— ‘वा स्याद् विकल्पोपमयो ।’ सर्वस्वकार के द्वारा प्रतिपादित विरोध पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि विकल्प में वास्तविक विरोध ही कारण बनता है, कल्पित नहीं। ‘मक्तिप्रह’ पद्य में सर्वस्वकार द्वारा प्रतिपादित विरोध कल्पित विरोध है। वस्तुतः ‘वा’ शब्द का प्रयोग उपमा अर्थ में भी ‘पद्मिनी वान्स्वरूपाम्’ [मेघदूत] इत्यादि स्थलों में क्वचित् ही पाया जाता है। प्रसिद्धि उसकी ‘विकल्प’ अर्थ में ही है। अतः ‘मक्तिप्रह’ पद्य में विकल्प मानने पर पूर्वकथित विशेषणों की उमगवान्वयिता पर ध्यान आता है।

विदग्ध वस्तुओं के विकल्प में चमत्कारमात्रा अवश्य ही अधिक रहती है तथापि अविदग्ध वस्तुओं में भी विकल्प का चमत्कार नहीं रहता ऐसा नहीं है। सच्च यह है कि विकल्प-भूमिका पर आरुढ़ होते ही अविकल्पो में भी विरोध चल आता है। एककथा के सहाध्यायीमित्रा का एक ही पद के लिए नियुक्ति में विकल्प होते ही विरोध देखा भी गया है। सर्वस्वकार के स्वर्पातस्व की ओर ध्यान ले जाने का अभिप्राय यही दिखाई देता है।

चक्रवर्ती ने इस विषय का संक्षेप इस प्रकार किया है—

‘विरोधे तु रूपवलयोर्विकल्पः सज्जिपातिनोः ।

अदलेपदलेपमिच्छित्वाद् दिषायमुपपन्न्यर्थं ॥’

समानवलय वाले तथा एक ही स्वान पर प्राप्त दो अर्थों का विरोध होने पर विकल्पालंकार होता है। यह श्लेषमूलक होता है और श्लेषरहित [शुद्ध], अतः दो प्रकार का होता है।

[सर्वस्व]

[सू० ६६] गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः ।

गुणानां धैमल्यादीनां यौगपद्येनावस्थानम्, तथैव क्रियाणां च समुच्चयोऽलंकारः । विकल्पप्रतिपक्षेणास्य स्थितिः । क्रमेण यथा—

‘विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमवदाशु विमलं च ।

प्रबलमुजानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि ॥’

‘अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतोऽतिदुःसहो मे ।

नयवारिधरोदयादहोभिर्भवितन्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥’

एतद्विमिश्रयिषयत्वेनोदाहरणद्वयम् । एकाधिकरणत्वेनाप्यथमलंकारो दृश्यते । यथा—

‘विधाणा हृदये त्वया विनिहितं प्रेमामिधानं नवं

शल्यं यद्विधाति सा विधुरिता साधो तदाकर्ण्यताम् ।

शोते शुष्यति ताम्यति प्रलपति प्रमथायति भ्राम्यति

प्रेहत्युल्लिखति प्रणश्यति वलत्युन्मूर्च्छति क्रुत्यति ॥’

एवं गुणसमुच्चयेऽप्युदाहार्यम् ।

केचित्पुनर्न केवलं गुणक्रियायां व्यस्तत्वेन समुच्चयो यावत्समस्तत्वे-
नापि भवतीति वर्णयन्ति । उदाहरन्ति च—

‘न्यञ्चत्कुञ्चितमुन्मुखं हसितवत्साकूतमाकेकरं
व्यावृत्तं प्रसरत्प्रसादि मुकुलं सप्रेमकम्पं स्थिरम् ।
उद्भ्रान्तमपाङ्गश्रुति विकचं मज्जत्तरद्भोत्तरं
चक्षुः सासु च वर्तते रसवशादेकैकमन्यक्रियम् ॥’

अत्राकेकरादयो गुणशब्दा न्यञ्चदित्यादयः क्रियाशब्दा इति सामस्त्येन
गुणक्रियायौगपद्यम् । प्रसादिसप्रेमेत्यादीनां समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभि-
धानमिति संयन्धस्य वाच्यत्वात्, तस्य च सिद्धरूपत्वेन गुणत्वाद् गुण-
शब्दत्वेन गुणयौगपद्यमिति द्रष्टव्यम् । एवमयं त्रिधा समुच्चयः ।

[सू० १६] गुण और क्रियाओं की एकत्र स्थिति समुच्चय [नामक अलंकार
कहालाता है] ॥

[वृ०] मिलता आदि गुणों का एकत्रित होना और इसी प्रकार क्रियाओं का एकत्रित होना
समुच्चय नामक अलंकार कहालाता है । यहाँ जो इसे रखा गया है यह इसलिये कि यह विकल्प
का विरोधी है । क्रम से उदाहरण—

[गुणसमुच्चय]—

‘आपकी यह सेना सम्पूर्ण शत्रुकुल को दलित कर सन्धलता को प्राप्त हुई और दुष्टों के वे
चेहरे मलिन हो गए ।

[क्रियासमुच्चय]—

‘एकापक उस प्रिया से मेरा यह अति दुःसह वियोग अभी-अभी सुप्त पर आ पड़ा तो क्या
इसी समय इन दिनों को नवीन मेघों के उदय से निरातप और रम्य होना चाहिए था ।

ये देते उदाहरण हैं जिसमें अधिकरणगत भेद है । यह अधिकरणगत एकता में भी दिखाई देता
है । यथा—

‘तुम्हारे द्वारा मिहित प्रेमनामक नवीन शस्य हृदय में धारण की हुई वह विचारी जो-जो
करती हैं, साधो ! उसे सुनो, सोती है, सूझती है, व्यथित होती हैं, प्रलाप करती है [कुछ भी
बकती है], कुम्हलाती जाती है, चक्कर खाती है, डोलती है, रंगीटे बनाती [कुरेदती] है, छिपती
जाती है [जोसल होती जाती है], गहरी भूच्छा में पड़ जाती है [और] दृष्टी जाती है ।’
इसी प्रकार गुणों के समुच्चय का भी उदाहरण दिया जा सकता है [आगे विमर्शिनोकार ने
दिया भी है] ।

कुछ [आचार्य] केवल व्यस्तरूप से [अलग-अलग करके] ही गुण और क्रियाओं का समुच्चय
नहीं मानते समस्तरूप में [दोनों के मिलित रूप में] भी मानते हैं । उदाहरण भी देते हैं—

‘इस समय किसी [भीतरी] रस के कारण प्रत्येक चेज अलग-अलग ब्यापार में लग्न है,
कोई तिरछा है तो कोई सिङ्गड़ा, कोई उन्मुख है तो कोई हँसीलिय, कोई मान-गरा है तो कोई
आकेकर [मदमरा], कोई व्यावृत्त [लीटा हुआ] है तो कोई फौलत हुआ, कोई प्रसादपूर्ण है तो
कोई मुकुलित, कोई प्रेमपूर्ण कम्पन लिए है तो कोई स्थिर; कोई मौंह चढ़ाए है तो कोई कनखी

पर टिका, कोरं खिण्ड हुआ है तो कोरं हुआ हुआ, इसी प्रकार कोरं संगायित है तो कोरं साङ्ग ।'

यहाँ आशेकर आदि शुभ्द गुणवाचक शुभ्द है और 'न्यन्त्वत्' आदि क्रियाशुभ्द । इस प्रकार यहाँ मिश्रितरूप में गुण और क्रिया का एकत्रीकरण है । 'प्रसादि' और 'संप्रेम' शुभ्द, 'समास, कृदन्त तथा तद्धित में सक्न्व का अभिधान होता है' इस वचन के अनुसार, सम्बन्ध के वाचक है, यह सक्न्व भी यहाँ सिद्ध है अतः गुण है, इस प्रकार इन शब्दों में गुणशुभ्दत्व है । इस प्रकार यहाँ गुणों का एकत्रीकरण माना जा सकता है । इस प्रकार यह समुच्चय तीन प्रकार का हुआ ।

विमर्शिनी

गुणक्रियैर्यादि । तयैवेति । यौगपद्यावस्थानेनेत्यर्थः अनेनैव चारथ गुणक्रियाणां युगपद्-
वस्थितेर्भेदद्वयमप्युक्तम् । नैमंश्यमालिम्बद्योगुणयोरुपनमनमयनयोश्च क्रिययोर्यौगपद्येना-
वस्थानम् । विभिन्नविषयत्वेनेति । गुणादीनां बलमुत्पादिविषयगतत्वात् । अतश्च भिन्नाधि-
करणोऽयं समुच्चयः । एतेत्यादि । यद्यत्रत्र ज्ञानादीनां शोषणादीनां च क्रियाणामुपन-
मनमवनाद्विषयकालान्तरभावित्वाच्च यौगपद्येनावस्थानम् , तथापि तन्नैरन्तर्येण ज्ञेयम् ।
एवमिति । यत्रैवात्रैकविषयत्वेन ज्ञायभाषाः क्रिया इत्यर्थः । तसु चया—

'सितं उदोरसनाभालेरुगरचि सप्याकरभरै-

स्तमस्तोमेः श्यामच्छुवि भपटलैः पीतमपि च ।

नमो नीलीनीलं रतिरमणलीलाविहरणे

स्थली घात्रा चित्रं चतुरमधुना चित्रितमदः ॥'

अत्र सितादीनां गुणानामेकाधिकरणत्वेन युगपद्वस्थानम् । मनु च केकरादयो
न्यन्त्वद्विर्यादयश्च पक्षि गुणक्रियासाङ्गतास्तत्प्रसादीत्याहुः पुनः किंशब्दा इत्यासाङ्गताह—
प्रसादीत्यादि । तस्येति । संबन्धस्य । पुतदुपसंहरति—एवमित्यादिना । त्रिधेति । गुणानां
क्रियाणां गुणक्रियाणां च यौगपद्येनावस्थानम् । मिथ्याभिन्नाधिकरणत्वेन यो विशेषः स
पृथाप्रपञ्च एवेति न पृथगिहोपात्त' ।

गुणक्रिया । इत्यादि । तयैव = इसी प्रकार = एकत्रित होकर एक अणु रहना । ऐसा कहकर
गुण और क्रिया में से एक-एक के एकत्रीकरण को लेकर संभावित दो भेद सूचिा किए । [विदलित०
पद्य में] निर्मलता या उज्ज्वलता और मलिनता रूपी दो गुणों का एक साथ रहना बतलाया गया
है और [अदनेकपदे० पद्य में] उपनमन = भा पटना और होना क्रिया का एक साथ रहना
बतलाया गया है । विभिन्नविषयत्व = भिन्न भिन्न अधिकरणों में = क्योंकि गुण आदि सेना और
मुख आदि अलग अलग पदार्थों में विद्यमान बतलाए गए हैं । इसीलिए यह समुच्चय मिन्नाधिक-
रण समुच्चय हुआ । एक = इत्यादि । यद्यपि ['विज्ञाणा०' पद्य में] सोना = सूखना आदि क्रियाएँ
भिन्न भिन्न समय में होती हैं । अतः इनका ऐसा एक साथ रहना नहीं है जैसा ऊपर कथित
'आ पटना' और 'होना' क्रियाओं का, तथापि बीच में अन्तर न पटने के कारण ऐसा माना जा
सकता है । एवम् = जिस प्रकार यहाँ ['ज्ञेने शुभ्यति'—पद्य में] ज्ञयन आदि क्रियाएँ एक विषय
में हैं वसी प्रकार वह [गुणों का एक विषय में रहना] भी इस उदाहरण में देखा जा सकता है—

'चन्द्ररश्मियों से सफेद, सौंझ की किरणों से लाल, बन्धकारपटल से सौंझला, नक्षत्रों से पीला
और खय नीली के समान नील वर्णः वा यह आकाश विधाता ने बटा हों कीशुलपूर्ण चित्र बनाया
है जो इस समय काम, के लीलाविहार की स्थली है ।'

यहाँ सफेदी आदि गुणों का [आकाशरूपी] एक ही अधिकरण में एक साथ रहना बतलाया गया है। शंका होती है कि यदि 'केकर' आदि और 'न्यञ्जत्' आदि शब्द गुणवाचक और क्रियावाचक शब्द हैं तो 'प्रसादि' आदि शब्द कैसे शब्द हैं' इस पर लिखते हैं—'प्रसादि' इत्यादि। तस्य उत्सका सन्नन्ध । इस प्रकार का उपसंहार करते हैं 'यत्रम्' इत्यादि के द्वारा। त्रिधा = तीन प्रकार का = इसलिये, गुण किया, तथा गुणकिया दोनों का एक साथ समुच्चय रहता है। मित्र या अमित्र अधिकरण को लेकर जो विशेषता आती है वह इन्हीं भेदों का विस्तार है इसलिये उन्हें यहाँ पृथक् रूप से नहीं अपनाया ॥'

विमर्श—'न्यञ्जत्' इत्यादि पक्ष का प्रत्येक विशेषण सरतविधा में प्रसिद्ध नेत्रचेष्टाओं ही विशेष मुद्राओं के लिए प्रयुक्त है। संजीविनीकार ने उनमें से प्रत्येक का स्पष्टीकरण स्वनिर्मित श्लेषों द्वारा इस प्रकार किया है—

न्यञ्जित = स्यान्न्यञ्जितं न्यञ्जदपाङ्गभागम्
 कुञ्जित = अपाङ्गसद्गोचि तु कुञ्जितं स्यात् ।
 उन्मुख = उद्यञ्जितं तूर्ध्वमपाङ्गसङ्घि
 हसित = निमेषशून्योच्छसितं विहासि ॥ २ ॥
 साकृत = साकृतमाकाङ्क्षितभाषणभम्
 आकेकर = आकेकरं तिर्यगराजत्तारम् ।
 न्यावृत्त = तिर्यङ् निवृत्तं चलितं विलोक्य
 प्रसरत् = प्रेम्णा सुदूरं परिवर्षगदुक्तम् ॥ २ ॥
 प्रसादि = सभ्रूविलासं स्मयते प्रसन्नम्
 मुकुल = सम्प्रीक्ष्यमानं मुकुलं वदन्ति ।
 सप्रेम = स्यात् प्रेमगर्भं मनसो द्रव्याय
 कम्प = उत्कम्पमुत्कम्पितपक्ष्मत्तारम् ॥ ३ ॥
 स्थिर = स्थिरं विदूरान्तरितार्थनिष्ठम्
 उदञ्जु = उद्यञ्जितं तूर्ध्वं विकम्पितम् ।
 भ्रान्त = विज्ञान्तरकतं मदमन्थरं स्यात्
 अपाङ्गवृत्ति = विक्षेपि पाद्वे यदपाङ्गवृत्ति ॥ ४ ॥
 विकच = विकासि दृढये सविशेषलक्षं
 मञ्जत् = नासाग्रनिष्ठं ॥ निहञ्जितं स्यात् ।
 तरङ्गोत्तर = तरङ्गितं यद् वृत्तिरुर्मिकल्पा
 सास = उत्कण्ठितं रागनिबद्धवापम् ॥ ५ ॥

[सर्वस्व]

एकं समुच्चयं त्रिप्रकारमिन्नं लक्षयित्वा द्वितीयं लक्षयति—

[सू० ६७] एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्कारत्वं च ।

समुच्चय इत्येष । यत्रैकः कस्यचित्कार्यस्य सिद्धिहेतुत्वेन प्रक्रान्तस्तत्रान्योऽपि यदि तत्स्पर्धया तत्सिद्धिं करोति तदायमपरः समुच्चयः । न चार्थं समाध्यलंकारेऽन्तर्भवति । यत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वं, अन्य-

स्तु सौकर्याय फाकतालीयेनापतति, तत्र समाधिर्वक्ष्यते । यत्र तु खलेक-
पोतिकया वह्ननामचतारस्तत्रायं समुच्चयः । अतः सुमहान्भेदोऽनयोः ।

स एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च भवतीति त्रिधा
मिद्यते । सतः शोभनस्य सता शोभनेन समुच्चयीयमानेन योगे यथा—

‘कुलममलिनं मद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजवलमलं स्फीता लक्ष्मी प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा एते भावा अमीभिरयं जने
व्रजति नितरां दर्पं राजस्त एव तवाङ्कुशाः ॥’

अप्रामाळिन्येन शोभनस्य कुलस्य मूर्यादिभिः शोभनैः समुच्चयः ।
एकैकं च दर्पहेतुतायोग्यं तत्स्पर्श्या नियद्धम् । असतोऽशोभनस्यासता
समुच्चयीयमानेन योगे यथा—

‘दुर्घाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽस्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं घयोऽतिकठिना प्राणाः कुलं निर्मलम् ।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् फाल कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यध्वजतुराः कथं नु विरहः सोढय इत्यं शठः ॥’

अत्र दुर्घारत्वेनाशोभनानां स्मरमार्गणानां तादृशीरेव प्रियतमदूरत्वादिभिः
समुच्चयः । नववयःप्रभृतीनां च यद्यपि स्वतः शोभनत्वम्, तथापि विरह-
विषयत्वेनात्राशोभनत्वं हेयम् ।

सदसतः शोभनाशोभनस्य तादृशेन सदसता समुच्चयीयमानेन योगो
यथा—

‘शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतचारिजं मुखमनक्षरं स्थाकृतेः ।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सञ्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सत शन्यानि मे ॥’

अत्र शशिनः स्वतः शोभनस्यापि दिवसधूसरत्वाद्शोभनत्वेन सदसत-
स्तादृशीरेव कामिनीप्रभृतिभिः समुच्चयः । नत्वत्र कश्चित्समुच्चयीयमानः
शोभनः । अन्यस्त्वशोभन इति सदसद्योगो ध्याव्येयः । ननु नृपाङ्गणगतः
खल इत्यशोभनोऽन्ये तु शोभना इति कथं न समुच्चयीयमानस्य सतस्तादृशे-
नासता योगः । नैतन् । ‘नृपाङ्गणगतः खलः’ इति प्रत्युत प्रक्रमभङ्गाद् दुष्ट-
मेव । न तु सौन्दर्यनिमित्तमित्युपेक्ष्यमेवैतत् । अत एवान्यैरेवमादौ सद्वच-
रभिन्नोऽर्थ इति दुष्ट एवेत्युक्तम् । प्रकृते तु नृपाङ्गणगतत्वेन शोभनत्वं खल-
त्वेनाशोभनत्वमिति समर्थनीयम् । एवमपि विशेष्यस्य शोभनत्वं प्रका-
न्तम्, विशेषणस्य त्वशोभनत्वम्, इह त्वन्यथेति न सर्पथा निरवद्यम् ।

ननु 'दुर्वाराः स्मरमार्गणा' इत्यत्रोक्तोदाहरणवत् कथं न सदसद्योगः । नैतत् । इह शोभनस्य सतोऽशोभनत्वमिति विवक्षा । तत्र त्वशोभनमेवैतदिति विवक्षितमित्यस्त्यनयोर्भेदः । अत एवैकत्रोपसंहृतं 'मनसि सतशल्यानि' इति सुन्दरत्वेनान्तःप्रविष्टानामपि व्यथादेतुत्वात् ; अपरत्र तु 'कथं सोढव्यः' इति सर्वथा दुष्टत्वाभिप्रायेण । तस्मादस्ति प्रकारत्रयस्य विविक्तविषयत्वम् ।

तीन प्रकारों में विभक्त एक समुच्चय का लक्षण कर दूसरे समुच्चय का लक्षण करते हैं—

[सू० ६७] एक को [किसी कार्य की] सिद्धि का हेतु बतलाया जा रहा हो उसी समय उसी [कार्य की] सिद्धि के अन्य हेतु का प्रतिपादन भी [समुच्चय नामक अलंकार कहलाता है] ।

[वृ०] समुच्चय यह पूर्ववर्ती सूत्र से यहाँ प्राप्त ही है । जहाँ किसी कार्य की सिद्धि का कोई एक हेतु बतलाया जा रहा हो वहाँ अन्य कोई भी पूर्ववर्ती कारण के साथ स्पर्श कर उसी कार्य की सिद्धि करता हुआ बतलाया जाय वहाँ यह एक दूसरे प्रकार का समुच्चय माना जाता है । यह समाधिनामक अलंकार में अन्तर्भूत नहीं होता । जहाँ कार्य के प्रति एक भी कारण पूर्ण रूप से सिद्धिकारक रहता है, दूसरा कारण केवल सौकर्य के लिए काकतालीय न्याय से आ पहुँचता है । वहाँ समाधि नामक अलंकार बतलाया जाएगा । इसके विरुद्ध खल्लेकपोत न्याय से जहाँ अनेक कारण एक साथ आ पहुँचते हैं वहाँ यह समुच्चय होता है । अतः इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है ।

यह समुच्चय तीन प्रकार से होता है [१] सत् सत् के योग में [२] असत् असत् के योग में तथा [३] सत् और असत् के योग में । सत् अर्थात् शोभन का सत् अर्थात् शोभन के साथ योग, यथा—

'कुलममलिनम्' [प्रथम व्याघात की विमर्शिनी में अनूदित] यहाँ कुल को अमालिन्य के कारण शोभन है, का मूर्त्ति आदि शोभन पदार्थों के ही साथ समुच्चय है । इनमें से प्रत्येक दर्प में हेतु बनने योग्य है और वस [कुल] के साथ स्पर्श लिए हुए उपनिबद्ध है ।

असत् = अशोभन का असत् = अशोभन के साथ योग, यथा—

'काम के दुर्वार वाण चल रहे हैं, प्रियतम दूर है, मन अति उत्कण्ठित है, प्रेम गाढ है, चप नवीन है, प्राण बड़े कठिन हैं, कुल निर्मल है, खीत्व धीरज का विरोधी ठहरा, समय काम के मित्र [वसन्त] का है, माग्य भी उलटा है, चतुर सखियाँ भी नहीं है । अब यह शठ विरह कैसे सहा जाय ।'

इनमें दुर्वारत्व के कारण काम वाण अशोभन बतलाए गए हैं उनका उन्हीं जैसे 'प्रियतम की दूरस्थिति आदि अर्थों के साथ समुच्चय है । यद्यपि नवीन वय आदि स्वतः तो शोभन हैं तथापि यहाँ वे विरह के विषय होने से अशोभन हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

सत् और असत् अर्थात् शोभनत्व और अशोभनत्व दोनों से युक्त किसी एक का उसी प्रकार के किसी सत् और असत् के साथ योग, यथा—

'चन्द्र, जो दिन से घूसर हो गया हो; कामिनी जिसका यौवन निकल चुका हो; तालाव जो कमलरहित हो गया हो; अच्छी आकृति के व्यक्ति का मुख जो निरक्षर हो; मनु, जो धन-संग्रही हो; सत्पुरुष, जो सदा ही दुर्गति में पड़ा रहता हो तथा खल, जो राजा के अंगने में पहुँच रखता हो, वे सात व्यक्ति मेरे चित्त के शल्य हैं ।'

यहाँ चन्द्रमा स्वयं शोभन है, तथापि दिवाकालिक वसमें धूसरता के कारण अशोभनता या जाती है। इस प्रकार वह सत् भी है और असत् भी। उसका वैसे ही कामिनी आदि सत् और असत् पदार्थों के साथ समुच्चय है। सदसदयोग शब्द की ब्याख्या यहाँ ऐसी नहीं की जानी चाहिए कि जिन जिन पदार्थों का समुच्चय किया जा रहा है उनमें से एक करं शोभन माना जाए और उससे भिन्न करे अन्य अशोभन, और उनका योग सदसदयोग। शका होती है कि 'राजा के अंगने तक पहुँच रखने वाञ्छा खल' तो केवल अशोभन ही है, जब कि शेष सब शोभन है। इस प्रकार इनके योग को लेकर ही यहाँ सत् के साथ असत् का योग क्यों न मान लिया जाय? ऐसा नहीं। 'राजा' के अंगने तक पहुँच रखने वाला 'खल' इन अंश के कथन से तो यहाँ उल्टे प्रकार मंग होता है। अतः यह तो सदोप है, न कि सौन्दर्य का हेतु। इसलिये यह अंश उपेक्षणीय ही है। इसीलिये [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों ने इसे सहचरभिन्न अर्थ मानकर सदोप ही बतलाया है। यहाँ खल को 'नृपांगगणतत्त्व'—राजा के अंगने तक पहुँचने के कारण शोभन तथा त्वत्त्व. खल रूप से अशोभन मान कर समर्थन करना चाहिए। परन्तु ऐसा मानने पर भी दोष का सर्वथा निरास नहीं होता क्योंकि आरम्भ किया गया है विशेष्य की शोभनता और विशेष्य को अशोभनता से और यहाँ की स्थिति भिन्न है [यहाँ विशेष्यगत शोभनत्व पहले और विशेष्यगत अशोभनत्व बाद में कथित है]। शका होती है 'दुर्वारा. स्मरमाण्डा' इस पद्य में भी अभी कहे [शशी दिवसपूर्वः] उदाहरण के ही समान सदसदयोग क्यों न माना जाए [केवल असदयोग ही क्यों माना जाए क्योंकि यहाँ भी स्मरणमार्ग स्वतः शोभन है उनमें दुर्वारत्व के कारण अशोभनता है]। ऐसा नहीं। यहाँ [शशी दिवस० पद्य में] विवक्षा यह है कि शोभन होते हुए भी पदार्थविशेष में अशोभनता है, जब कि यहाँ [दुर्वारा.० पद्य में] 'यह सर्वथा अशोभन ही है' यह विवक्षा है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है। इसीलिये एक में उपसंहार किया गया है 'मेरे मन में साठ शक्य है' इस वक्ति से, क्योंकि ये पदार्थ सुन्दर होने से विच में प्रवेश पा लेते हैं उन व्ययजनक सिद्ध होकर अशोभन सिद्ध होते हैं। दूसरे पद्य में इसके विरुद्ध 'कैसे महा जाए' इस प्रकार उपसंहार किया गया है यह इसी अभिप्राय से कि ये पदार्थ सर्वथा दुष्ट हैं। इस कारण [समुच्चय] तीनों प्रकारों के श्रेय भिन्न हैं ॥'

विमर्शिनी

लघुपतीति । एकस्यैवादिना । एक कल्पविरिति । यत्र यादसो विवक्षितस्य । स्पर्धयेति । प्रक्रान्तस्य हेतोः । तस्मिन्निमित्ति । कार्यनिष्पत्तिम् । अपर इति । पूर्वसमुच्चयात् । मिश्रलक्षणत्वात् । ननु यद्येवं तत्कथं तदधमाणलक्षण समाधिरेवायं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेति । पूर्णमिति । अग्निरपेक्षमित्यर्थ । आकस्मिकमापततो हि कारणान्तरस्य सौकर्येण मुक्तेन स्वरूपोपचयाघातित्वेन सुष्ठुकार्यनिष्पत्तिः प्रयोजनम् । समुच्चये पुनः स्पर्धयेव उद्दानामेककार्यकारित्वम् । अत एवात्र खलेकपोतिकथेति निदर्शनीयम् । पृथक्—

'सोपानारोहणपरिरसमेण कीस्तवि जे विनिस्तरिआ ।

ते त्विअहरिदं सनवइजरेणे रसासा ण चाच्छिण्णाः ॥'

इत्यादीं समुच्चय एव । सोपानारोहणपरिधमस्पर्धयैव हरिदर्शनरूपस्थापि कारणान्तरस्य तद्बन्धनस्यैव निषेधमुखेन आसकारित्वोपनिघन्धात् । अत एवात्र न समाधिः । तस्य हि काकतालीयेनापतना कारणान्तरात् कार्यसौकर्यं लक्षणम् । न चात्रैतत्संभवति । न ह्यत्र काकतालीयेन हरिदर्शनरूपस्य कारणान्तरस्थापतनम् । तदर्थमेव सोपानारोहणस्याप-

क्रान्तत्वात् । नापि तद्योगाकार्यस्योपोद्बलनात्मकं सौकर्यं, हरिदर्शनस्यापि सोपानारोहण-परिश्रमस्पर्धितया तत्कारित्वभात्रस्यैव विवक्षितत्वात् । अत एव 'ज बोवास्त्रिङ्गणा' इत्यु-क्तम् । शोभनैरिति । भद्रत्वादिति योगात् । ननु दूरनिवासितत्वादिना प्रियादीनां यद्य-शोभनत्वं तत्कथं न नववचः प्रमृतीनामपीत्याशङ्क्याह—नवेत्यादि । तादृशीरेवेति । सद्-सद्भिः । कामिन्यादीनां स्वतः शोभनानामपि गलितयौवनत्वादेरशोभनत्वात् । अन्यथा पुनरत्र सदसद्योगो व्याख्येय इत्याशङ्क्याह—नन्वित्यादि । तादृशेनेति । समुच्चयमाने-नेत्यर्थः । प्रक्रमभेदादिति । शोभनानामुपक्रमेऽप्यशोभनस्य निर्देशात् । अत एवेति । सौन्दर्यनिमित्तत्वाभावात् । अन्यैरिति । काव्यप्रकाशकारादिभिः । तत्तु यथा—

'श्रुतेन बुद्धिर्भ्रमसनेन भूर्लता मदेन नारी सलिलेन निम्बगा ।

निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना मयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता ॥'

अत्र श्रुतिधृतिबुद्ध्यादिभ्य उरुकृष्टेभ्यः सहचरेभ्यो व्यसमभूर्लतयोर्निकृष्टयोर्मिलित्वन् । एवमपीति । सत्यामप्यस्यां समर्थनायाम् । न सर्वथेति । अनेनापि भार्गव क्रमभेदोपपत्तेः । सदसद्योगासदसद्योगी भेदयति-नन्वित्यादिना । इहेति । प्रकृते सदसद्योगोदाहरणे । तत्रेति । असद्योगोदाहरणे । अत एवेति । शोभनस्य सतोऽशोभनत्वेन विवक्षणात् । सोऽद्य इति, उपसंहृतमित्यत्रापि संयन्धनीयम् । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना । प्रकारत्रयस्येति । प्रकारद्वयस्य तावज्जेद् उक्तस्तद्वचनादेव पारिशेष्यात्तृतीयस्यापि प्रकारभेदः प्रतिपादितो भवतीत्येतदुक्तम् ।

लक्षयति = लक्षण करते हैं—एकस्य इत्यादि के द्वारा । एकः कस्यचित् = एक कोई अर्थात् जहाँ जैसा विवक्षित हो उसका । स्पर्धया = स्पर्धा लिए हुए = अर्थात् मिसका वर्गन शुरू हुआ हो उस हेतु के साथ स्पर्धा । तस्मिन्निष्पत्तिः = कार्यनिष्पत्ति । अपर = दूसरा अन्य, अर्थात् पूर्व कथित समुच्चय से, कारण कि इन दोनों के लक्षण मिश्र हैं । यदि ऐसा है तो इसे समाधि-अलंकार ही क्यों नहीं मान लेते, जिसका लक्षण आप बतलाने वाले हैं?—ऐसी आशंका पर लिखते हैं—न च । पूर्णम् = अन्यनिरपेक्ष । यदि कोई अन्य कारण एकाएक आ पड़ता है तो उसका प्रयोजन सुकरता के द्वारा और स्वरूप में अतिशय जाने के कारण कार्य की और अच्छी तरह से निष्पत्ति होती है । जब कि समुच्चय में बहुत से कारण स्पर्धा के साथ एक कार्य करते हैं । इसीलिए यहाँ 'खलेकपोतिका' यह इच्छान्त दिया गया है [जैसे खलिहान में कबूतर अनेक संख्या में एक साथ उतरते हैं वैसे] । इस प्रकार—[रत्नाकरकारद्वारा समाधि के उदाहरण के रूप में उद्धृत]

'सोपानारोहपरिश्रमेण क्त्वा अपि ये विनिःश्रुताः ।

त एव हरिदर्शनव्यतिकरेण श्वासा न विच्छिन्नाः ॥'

'सोपी चढ़ने के परिश्रम से किसी सुन्दरी को जो साँसें चली रीं वे हरिदर्शन के कारण विच्छिन्न नहीं हुई ।'—इस स्थल में समुच्चय ही मानना चाहिए । क्योंकि यहाँ जो हरिदर्शन-रूपी दूसरा कारण है उसमें श्वासें के व्यवच्छेद के निषेध के प्रति कारणत्व न बतलाकर श्वास के प्रति कारणत्व बतलाया गया है और यह श्वास के सोपानारोहणपरिश्रमरूपी प्रथम कारण के साथ स्पर्धा लिए हुए है । इसीलिए यहाँ समाधि नहीं है । उसका लक्षण तो 'काकतालीचन्याय से एकाएक आ पहुँचे अन्य कारण द्वारा कार्य की निष्पत्ति में सुकरता' है । वह यहाँ संभव नहीं है । यहाँ हरिदर्शनरूपी अन्य कारण का आना काकतालीच न्याय से नहीं हुआ है । वह तो-सोपानारोहण का उद्देश्य ही था । ऐसा भी नहीं कि उस [हरिदर्शनरूपी कारणान्तर] के आ-

जाने से कार्य को सिद्धि में सहायता पहुँचा कर सुकरता ला दी हो, क्योंकि यहाँ हरिदर्शन को भी सोपानारोहण परिषय के साथ स्वर्ण छिपे हुए कारण के रूप में श्वासजनकरूप से ही बतलाना अभीष्ट है। इसीलिए 'विच्छिन्न नहीं हुए' यह कहा भी। शोभनैः = शोभन = भद्रत्व आदि के योग में। शंका होती है कि यदि 'दूरस्थित होने आदि के कारण प्रिय आदि में अशोभनता चली जाती है तो 'नवीन वय' आदि में क्यों नहीं आती। इस पर उत्तर देने हुए लिखते हैं—'नव०'। तादृशैः = नैसे ही = सदसत्त्व से युक्त। कामिनी आदि स्वतः शोभन हैं तथापि उनमें गलित-यौवनत्व आदि अशोभन हैं। 'यहाँ दूसरे प्रकार से भी सदसद्व्योग की भ्याख्या की जा सकती है क्या' इस शंका पर कहते हैं—'ननु०'। तादृशैः = समुच्चयमान। प्रक्रमभेदात् = प्रक्रमभेद क्योंकि शोभन से आरम्भ है और छा बिठाया अशोभन को। अत एव = इसीलिए = सौन्दर्य का निमित्त न बनने के कारण। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि। [काव्यप्रकाश में] इस [सहचरमित्यत्र] का उदाहरण यह है—

'बुद्धि विद्या से अलङ्कृत होती है, मूर्खता भ्रमण से, नारी मद से, नदी पानी में, राव चन्द्रमा से, धैर्य समाधान से और राजत्व नीति में।'

यहाँ विद्या धैर्य और बुद्धि आदि जो वरकृत सहचर हैं उनसे भ्रमण और मूर्खता भिन्न हैं। क्योंकि वे निरुद्ध हैं। एवमपि = ऐसा होने पर भी—इस प्रकार का समर्पण किए जाने पर भी। न सर्वथा = क्योंकि यह माँ: अपनाते पर भी क्रमभेद बना हो रहता है। असद्व्योग और सदसद्व्योग का अन्तर करते हैं—'ननु' इत्यादि द्वारा। इह = यहाँ प्रकृत को सदसद्व्योग का उदाहरण है इसमें। तत्र = वहाँ असद्व्योग के उदाहरण में। अत एव = शोभन अर्थात् सत् की अशोभनरूप से विवक्षा होने के कारण। सोऽप्य = इसके साथ भी पूर्वोक्त 'वपमहात्' = वपमहात् किया यह क्रियापद लगाना चाहिए। अत एव इसी का उपसहार करते हैं—तस्मात् = इत्यादि के द्वारा। प्रकारप्रयस्य = तीनों प्रकार का = इनमें दो प्रकारों का भेद पहले ही बतला दिया है। वससे बचे हुए तुनीय प्रकार का भी भेद प्रतिपादित हो जाता है ॥'

विमर्श इतिहास—समुच्चयार्थकार रुद्रट की देन है। दण्डी से लेकर उद्भट तक यह नहीं मिलता। इस विषय में रुद्रट का बहुमुखी विवेचन इस प्रकार है—

[१] यत्रैकत्रानिकं वस्तुपर स्यात् सुखावहावेव ।

शेषः समुच्चयोऽसौ त्रेषान्य. सदसतोर्षोः ॥ ७१९ ॥

[२] व्यधिकरणे वा वस्त्रिण् शुण्क्रिये चैककाल्येकरिभन् ।

वपमायेते देशे समुच्चय. स्यात् तदन्योऽपि ॥ ७२७ ॥

जहाँ एक ही जगद अन्य अनेक वस्तुएँ आ जाती हैं या वे सुखावद् हो जाती हैं [या दुःखावद् ही] वहाँ समुच्चय होता है। यहाँ समुच्चय एक प्रकारका और होता है जिसमें सत् और असत् का सम्बन्ध रहता है। इसी प्रकार वहाँ [अनेक] गुण और क्रियाएँ एक ही काल और एक ही समय में अलग-अलग बनलाई जाएँ तो वह भी एक अन्य प्रकार का समुच्चय होता है। इस प्रकार वस्तुतः रुद्रट ने तीन प्रकार के समुच्चयों की रूपना की है। इन सभी के उदाहरण भी उन्होंने दिए हैं।

इन कारिकाओं में से प्रथम का अर्थ नमिसाधु ने ऐसा कुठ किया है जिससे विदित होता है कि प्रथम कारिका प्रथम समुच्चय के लिए है और द्वितीय दूसरे के लिए तथा रुद्रट को समुच्चय केवल दो ही प्रकार मान्य है। वस्तुतः इन कारिकाओं से जो स्वामाविक अर्थ निकलता उसके

अनुसार प्रथम कारिका तीन प्रकार का समुच्चय प्रस्तुत करती है और दूसरी कारिका केवल एक प्रकार का। फलतः रुद्रट के मत में समुच्चय चार प्रकार का मान्य है। कारिकाओं का अर्थ यह है—

[१] '[१] जहाँ एक ही स्थान पर अन्य अनेक वस्तुएं दिखलाई जाएं [२] या जहाँ से ये वस्तुएं झुलावह आदि प्रतिपादित हों वह समुच्चय कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है [एक] अन्य [तीसरा] भेद है दो सदस्य वस्तुओं का योग ॥ ७।१९ ॥

[२] इसके अतिरिक्त जहाँ भिन्न भिन्न स्थानों पर रहने वाले गुण और क्रिया एक ही समय में एक ही स्थान पर होते हुए बतलाए जाते हैं वह भी एक समुच्चय होता है जो उपर्युक्त प्रकारों से भिन्न होता है ॥ ७।२७ ॥

नमि साधु ने प्रथम कारिका में आए 'पर-' शब्द का अर्थ वक्तृष्ट किया है और वक्तृष्ट का अर्थ शोभन। रुद्रट द्वारा प्रदत्त प्रथम अंश के उदाहरण में शोभनत्व का कोई संकेत नहीं है। उभर सदस्यद्वय से शोभनत्व गतार्थ है अतः यहाँ परशब्द का अर्थ शोभन करना अनावश्यक है। नमिसाधु को शोभनत्व और उसके साथ अशोभनत्व के उदाहरण अपनी ओर से देने पड़े हैं। 'त्रेधा'—विशेषण को भी नमिसाधु ने 'सदस्योयोगः' में अन्वित माना है। फलतः 'सदस्योः' इस द्विवचन का समाधान उनसे बन नहीं पड़ा। उन्होंने 'सत् और असत्' योग से होने वाले तृतीय भेद में 'सदस्योः' इस द्विवचन को उपपत्ति के लिए 'केवल एक सत् और एक ही असत्' का योग स्वीकार किया है अर्थात् इस तृतीय भेद में एकाधिक सत् का एकाधिक असत् से योग नहीं हो सकता।

रुद्रट ने उपर्युक्त प्रथम तीन भेदों के उदाहरण अलग अलग दिए हैं उन्हें उनके कान्यालंकार से ही देख लेना चाहिए। परवर्षी आचार्यों में रुद्रट के तुरन्त बाद आने वाले भम्मत ने ही रुद्रट की इस मान्यता को केवल 'सदस्ययोग' तक सीमित कर दिया।

द्वितीय भेद में 'विदलितसकला०' तथा 'दैवादहमय०' पद्य रुद्रट के ही पद्य हैं जिन्हें उन्होंने यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया था।

भग्मत = ने समुच्चय को वादमें सर्वस्वकार द्वारा स्वीकार किए गए दो ही भेदों तक सीमित रखा था। इनका विवेचन है—

[१] तरितद्विद्वेतावेकस्मिन् यत्रान्यत्र तरकरं भवेत् समुच्चयोऽस्ती

[२] स त्वन्यो युगपद या गुणक्रियाः ॥'

[१] 'किसी कार्य की सिद्धि के लिए सक्षम किसी एक हेतु के उपस्थित रहने पर यदि उसी कार्य को करने में सक्षम कोई दूसरा हेतु चला आए तो एक प्रकार का समुच्चय होता है और

[२] गुण, क्रिया तथा गुणक्रियाओं का संग्रह दूसरे प्रकार का समुच्चय होता है।

इन भेदों के जो उदाहरण भग्मत ने दिए थे सर्वस्वकार ने उन सब को उन्हीं भेदों के लिए यहाँ अपना लिया है।

रुद्रट ने गुण और क्रिया में समुच्चय के पूर्व अधिकरणगत भेद रहना आवश्यक माना था। भग्मत ने उसको अमान्य ठहराते हुए उदाहरण दिया—'धुनोति चासि तनुते च कोचिम्' आप तलवार चलाते हैं और कोसि फैलाते हैं'। यहाँ 'चलाना और फैलाना दोनों क्रियाएँ भिन्न-भिन्न

अधिकरण में प्रसिद्ध नहीं हैं और उनका एक ही वर्ण व्यक्ति में समुच्चय किया जा रहा है। इसी प्रकार रुद्र के विशेषण 'एक ही स्थान में'—पर भी मम्मट ने यह विरोधी उदाहरण दिया 'रूपागपाणिश्च भवान् रणक्षिणी ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' = युद्धस्थल में आप रूपागपाणि होते हैं और देवता लोग स्वर्ग में ससाधुवाद। यहाँ समुच्चय विषयोभूत राजा और देवताओं के स्थान मिला है। सर्वस्वकार ने मम्मट के इस सुझाव का उचित उदाहरणों द्वारा अनुमोदन किया है।

सर्वस्वकार को जो कल्पना सदसदयोग के तुनीय भेद के विषय में है उसे काव्यप्रकाश की 'शशी दिवस०' पद्य की वृत्ति से अपुष्ट समर्थन मिलता है। वृत्ति इस प्रकार है—'अत्र शशिनि धूसरे शब्दे शब्दान्तरागोति 'शोभनाशोभनयोग'। इसका अर्थ उद्योत और प्रभा में बही किया गया है जो सर्वस्व में करना अशोभ बतलाया गया है। रसगमापरकार ने भी इसे श्लोकार किया है। इन नवमें दोष भी बहो सहचरभिन्नात् हो दिया गया है। वस्तुतः इस प्रकार की व्याख्या में चमत्कार का कारण समुच्चय सिद्ध न होकर वैषम्य सिद्ध होता है। 'कहाँ चन्द्र जैसा कान्तिमान्, हृष, सुन्दर पदार्थ और कहीं धूसरता' इस प्रकार का अर्थ निकलने पर ही तो यहाँ चमत्कार होता है। इस अर्थ में विषमत्व के अनिश्चित यदि समुच्चय भी है तो विषम के सभी उदाहरणों में समुच्चय ही माना जा सकता है, अन्तर यह रहेगा कि यहाँ वैषम्य गुण—क्रियागत होगा जब कि विषम के उदाहरणों में वह द्रव्यादिगत रहता है। इनके अनिश्चित 'शशी दिवसधूसर' इन अन्त तक ही समुच्चय को सीमित माना जाए तो इस पूर्ण पद्य में माला-समुच्चय मानना होगा। तब यह सोचना होगा कि क्या केवल 'शशी जो दिन में मलिन हो मेरे मन में शब्द है' इतना ही कहने पर समुच्चयजन चमत्कार होता है। फिर इन प्रकार के समुच्चय को सदा ही अवाच्य मानना होगा क्योंकि इनमें उसके वाचक व आदि पदों का प्रयोग कभी न होगा। साथ ही यह मानना इतनी पत्रेणी कि एक में अनेक शोभनाशोभन का योग हो, क्योंकि 'शशी' में चमत्कार रूपी अशोभनत्व तो कविता है, शोभनत्व कविता नहीं है। तो क्या अनुक्त का भी समुच्चय होता है? उधर शशी स्वयं कोई गुण नहीं है। और यदि वह शोभन भी है तो अधिकरण है, न कि आधेय। अधिकरण और आधेय का तो समुच्चय, लक्षण में एक है नहीं। शशी शब्द को शशिव्य आदि का वाचक माना जाए तो योग होगा गुण और आदि का, गुण गुण का नहीं। यदि गुण का अर्थ धर्म करें तो क्रिया का दृषक् कहना अनानुसंगिक सिद्ध होगा क्योंकि क्रिया भी एक यन्तुधर्म है। रसगमापरकार ने ऐसा किया है उन्होंने लक्षण में गुण या क्रिया शब्द न देकर धर्म शब्द ही दिया है।

यहाँ तक सहचरभिन्नात् की बात है वह 'शुनेन बुद्धि०' पद्य में अवश्य है क्योंकि वहाँ एकत्रिय क्रिय अर्थों में साम्य विवक्षित नहीं है जैसा पाणिनि के सूत्र 'द्वयुवमधोनामतदिते' में फलतः वहाँ की प्रत्येक इकार स्वतन्त्र है, जब कि 'शशी दिवस' पद्य में 'शब्दस्वतेन' सब समुच्चयीयमानों में साम्य है, अतः यहाँ 'शब्दस्वतेन' होने में सभी सहचर हैं। ऐसा कुछ ज्यादा है कि 'शशी दिवसधूसर०' पद्य की पूर्ण अभिव्यक्ति दो इकारों में विभक्त है, एक समुच्चय और धूसरो श्लोक। राजप्रसाद में बटे रहने वाले किमी चुगलखोर को लक्ष्य करके यह बात कही गई है। चूँकि ऐसा व्यक्ति अप्रिय होता है अतः कवि ने यहाँ अप्राकारिक अन्य अप्रिय वस्तुओं का जमाव करना चाहा है, और इसीलिए चन्द्रमा को धूसर रूप में और वामिनी आदि को गलितयौवन रूप में रखा है। इन रूपों में ये सब अप्रिय ही होने हैं। इसी प्रकार यहाँ केवल अशोभन अशोभन का योग सिद्ध होगा। किन्तु शब्द तो शोभन होता नहीं है और जब सभी शब्द हैं तो सभी अशोभन हैं। समुच्चय भी अपने आप में प्रकृत न होकर दोषक का अंग बनता है और तब चमत्कार छाता है।

यदि यहाँ समुच्चय भी मान लिया जाए तो गम्भट की उपयुक्त पंक्ति का हुकाव सर्वत्व-द्वारा प्रस्तुत पक्ष के विरुद्ध जाता है। इसके अनुसार उक्त पंक्ति में 'श्लथान्तराणि' अंश व्यर्थ होगा। इस प्रकार का अर्थ मानने पर 'दुवाराः०' पद्य से भी अन्तर करने की विपत्ति टल जाती है। सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकार = ने दोनों समुच्चयों को मिथ्य दिया है और उनका एक अभिन्न लक्षण इस प्रकार बताया है—

'धर्मयोगपथमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चयः।'

'धर्मगत योगपथ और अन्य का भी वही कार्य का करना समुच्चय।'

धर्म में गुण और क्रिया का ही नहीं उनके अभावों का संग्रह भी रत्नाकरकार को मान्य है। सदसदयोग को अमान्य ठहराते हुए उन्होंने लिखा है—

'न चास्य सदयोगासदयोगसदसदयोगैर्भेदो गणनीयः, आद्ययोः समसंकीर्णत्वात्; उत्तरस्य विषमगर्भत्वात्, अन्ययान्यालंकारसंकीर्णतया भेदगणनाप्रसङ्गात्।'

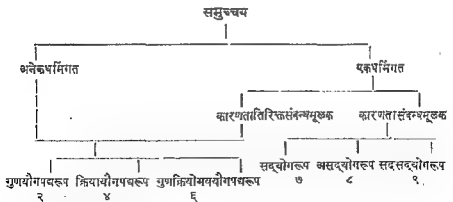
इसमें सदयोग, असदयोग तथा सदसदयोग के आधार पर भेदगणना नहीं माननी चाहिए, क्योंकि इनमें से प्रथम भेद में समालंकार का संकर मात्र है, और शेष दो में विषमालंकार का। यदि अन्य अलंकार के संकर से भेद गणना करेंगे तो अन्य अलंकारों के संकर से होने वाले भेद भी गिनने होंगे।' पण्डितराज अगलाश्रय ने रत्नाकर की इस स्वप्नना का उनके नान का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है।

पण्डितराज—ने दोनों समुच्चयों का समन्वय एक ही लक्षण में इस प्रकार दिखलाया है—

'शुभपत्पदार्यानामन्वयः समुच्चयः।'

'अनेक पदार्थों का एक साथ अन्वय समुच्चय कहलाता है।'

उनकी भेदगणना इस प्रकार है—



जैसा कि कहा जा चुका है सदसदुभययोग की अर्थयोजना पण्डितराज ने बड़ी मानी है जो सर्वस्वकार ने मानी थी। उनके—

'जीवितं मृत्युनालीढं संपदः श्वासविभ्रमाः।

रामाः क्षणप्रसारामाः श्लथान्येतानि देहिनाम् ॥'

—'जीवन, जो मृत्यु से प्राप्त हो, संपत्तियों जो श्वात के समान अस्थिर हों, त्रियों जो विजली के समान अस्थिर हों, प्राणियों के लिए शून्य है।' इस स्थल में उन्होंने एक ही जीवन में स्वतः शोभनत्व और मृत्युपरतत्व के कारण अशोभनत्व माना है। यदि इन भाचार्यों के समग्र—

‘शुद्धमाविलम्बरियत चळं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।

सर्वमेव तमसाऽरितं साम्प्रत वीतभेदमयि मत्तनाशिनि ॥’

ऐसा कोई पद्य होता तो इन्हें शोभनाशोभनयोग की उपयुक्त कल्पना न सताती। इस पद्य में उज्ज्वल तथा मलिन चंचल तथा स्थिर वक्र तथा ऋजु पदार्थों का विरोध शोभनत्व और अशोभनत्व पर ही आधित है तथा यहाँ एक ‘वीतभेदत्व’ में उनका समुच्चय भी है। कार्यकारणभाव के लिए उच्चारण में—‘सर्वमेव तमसा समीकृतं शीपयत्यसमस्यार्थकं समम्’।—इस प्रकार की योजना की जा सकती है। इसमें ‘सर्व’ शब्द से पूर्वार्धप्रोक्त पदार्थों को शोभनाशोभनता व्यक्त है।

विश्वेश्वर—ने सम्प्रत के ही समान दोनों समुच्चयों को धृक् माना है और उनके लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

(१) ‘एकस्मिन् सति द्वौ वैकन्तरगी समुच्चयः कृपितः ।

सदसदसद्योगे ।

(२) गुणक्रियाबीगपवेज्यम् ॥

सदसद्योग शब्द पर इन्होंने कोई छोदक्षेप नहीं बठाया। सजीविनीकर भीषिषाचक्रवर्ती की निष्कर्षार्थकारिका समुच्चय पर इस प्रकार है—

एकक्रियायामन्यस्य क्रिया स्वन्यः समुच्चयः ।

सदसदसद्वैपयोगेन स त्रिषा संव्यवस्थितः ॥

पाठान्तर—प्रथम समुच्चय के अन्त अन्त में आया ‘गुणशब्दत्वेन’ शब्द सभी प्रतियों में ‘गुणशब्देन’ इसी प्रकार छपा है। ‘समासकृतदिनेषु गुणशब्दत्वेन’—ऐसा अन्य मान स्वरूपना से हमने ‘गुणशब्दत्वेन’ पाठ बनाना ही उचित समझा है।

द्वितीय समुच्चय में सौकर्याय के स्थान पर निर्णय सागरीय प्रति तथा बा० राघवन् की प्रति में कार्यय तथा बा० द्विवेदी वाली प्रति में ‘तत्कार्यसौकर्याय’ पाठ है। इसके पहले भाष्य यत्र के स्थान पर भी इन सब प्रतियों में ‘तत्र’ छपा है।

[सर्वस्व]

[सू० ६८] कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः ।

केनचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात् सौकर्यं यत्, स सम्य-
गायानात्समाधिः । समुच्चयसादृश्यात्तदनन्तरमुपक्षेपः । तद्वैलक्षण्यं तु
प्राक्प्रतिपादितमेव । उदाहरणम्—

‘मानभस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।

उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं धनगर्जितम् ॥’

माननिराकरणे कार्ये पादपतनं हेतुः । तत्सौकर्यार्थं धनगर्जितस्य कार-
णान्तरस्य प्रक्षेपः । सौकर्यं चोपकारायेति पदेन प्रकाशितम् ।

[सूत्र ६८] अन्य कारण के योग से कार्य का सुकरतापूर्वक निष्पन्न होना समाधि [अलंकार कहलाता है] ॥

[६०] किसी एक कारण के द्वारा शुरू किए गए कार्य का अन्य किसी कारण के सहयोग से जो सरलतापूर्वक निष्पन्न होना वह सम्बन्ध = मली मीति, आधान = निष्पत्ति इस व्युत्पत्ति के आधार पर समाधि [नामक अलंकार कहलाएगा] । समुच्चय के साथ सादृश्य होने से इसे उसके बाद प्रस्तुत किया जा रहा है । इससे इसका अन्तर पहले ही बतला दिया गया है ।
उदाहरण—

'इस [रुठी प्रिया] का मान दूर करने के लिए इसके पैरों पहना चाहता था कि मेरे उपकार के लिए भाग्य से यह बाधल गरज उठा ।'

यहाँ मान का निराकरण कार्य है । इसमें हेतु है पैरों पर पहना । उसको और सरलतापूर्वक निष्पत्ति के लिए बाधल की गडगड़ाहट रूपी अन्य कारण प्रस्तुत किया गया । सुखपूर्वक निष्पत्ति को यहाँ 'उपकार'— पद से स्पष्ट की गई है ॥

विमर्शिनी

कारणेश्यादिना । एतदेव श्याच्छे—केनचिदित्यादिना । सीकर्यमिति । कार्यस्य सुखेना-
नायासमेव प्रकृतकारणघटनेन निष्पन्नत्वेऽपि स्वरूपोपचयाधायकत्वेनाकृच्छ्रायंस्योपलक्षण-
परत्वेन विषचित्तवासुष्ठु वा करणमित्यर्थः । अत एव कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुखेन
सुष्ठु वा करणस्य भेदद्वयमपि ज्ञेयम् । प्रागिति समुच्चये । हेतुरिति । प्रकृतः । तत्सौकर्यार्थ-
मिति । सुखेन कार्यनिष्पत्त्यर्थमित्यर्थः । यथाकस्मिन्कथनराजितयोगो न स्यात्तदा निरा-
यासमाननिराकारणं न सिद्धयेत् । एतच्च प्रथमप्रकारस्योदाहरणम् । द्वितीयस्य यथा—

क्षेत्रं लीलाभरणममितकोटयित्वा ध्रमाग्भा-

शक्त्या पत्रात्रलिप्तृगमदव्यक्षितरमशुद्धेहः ।

देलिचोभः कुवलयहशां मान्मथे कार्यभावे

पुंवाङ्गां घटितममितः पारिवृण्यै निनाय ॥'

अत्र स्वेदादिना घटितस्यापि पुंवाङ्गावस्य देलिचोभाख्येन कारणान्तरेण क्षेत्राभरण-
घोटनादिना स्वरूपोपचयाधायनासमाधिः । एवमेवमादावप्रापकमेतल्लक्षणमिति यद्दम्पै-
रुक्तं, तत्सेपामेतल्लक्षणस्वरूपानवधारणमेवेत्यलं बहूना ।

कारण इत्यादि । इती की व्याख्या करते हैं—'केनचित्' इत्यादि के द्वारा । सौकर्यम् =
कार्य, प्रकृत कारण के ही द्वारा सुखपूर्वक निष्पन्न हो सकता है तथापि कार्य शरीर में और अधिक
विशेषता लाने, सरलता, अथवा सुष्ठु प्रकार से कार्य निष्पत्ति करने के अभिप्राय से सौकर्य
शब्द का प्रयोग किया गया । इसीलिए अन्य कारण के योग से कार्य का, 'सुखपूर्वक अथवा
मलीमीति', इस प्रकार ओ दो प्रकार से किया जाता है इन दोनों को इसके दो प्रकार समझना
चाहिए । प्राक् = पहले = समुच्चय प्रदर्शन में । हेतुः = हेतु अर्थात् प्रकृत हेतु । तत्सौकर्यार्थम् =
उसके सौकर्य के लिए—अर्थात् सुखपूर्वक कार्य निष्पत्ति के लिए । यदि आकस्मिक धनगर्जना
न होती तो मान का अनायास निवारण न होता । यह [उक्त प्रकारों में से] प्रथम प्रकार का
उदाहरण हुआ । द्वितीय [मलीमीति निष्पत्ति] का उदाहरण [रत्नाकरकर द्वारा ही उद्धृत]
यह पद्य है—

'कामदेव ज्ञा कार्ये अब होने लगा तब नीलकण्ठ ॥ नेत्रों वाली सुन्दरियों ने [विपरीत रति में] जो पुष्पकार्य अपनाया उसे केलिशोभ ने पूरी तरह पूर्णता को प्राप्त करा दिया क्योंकि उसने अग प्रदर्यंग के स्त्रियोचित लोलाभरण तोड़ डाले और पमीने में बड़े पत्रावली के मृगमद से दाढ़ी मूछ बना दी ।'

यहाँ पत्तीना निकलने से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों का पुरुषायित पूरा हो चुका था किन्तु केलिशोभ रूपी अन्य कारण ने स्त्रियोचित लोलाभरण तोड़ने आदि के द्वारा उसी पुष्पायित के स्वरूप को धीरे बढ़ा दिया, इसलिए यहाँ समाधि का दूसरा भेद हुआ । इस प्रकार अन्य आचार्य [रत्नाकरकार] ने [समाधिप्रकरण के उदाहरण १९८ की वृत्ति में] जो यह कहा है कि 'इस प्रकार के स्थलों में यह [सर्वस्वकार का] लक्षण लागू नहीं हो पाता' वह इस लक्षण के विषय में उनका अज्ञान ही है । इस विषय में अधिक कुछ न कहकर इतना ही कहना पड़ता है ॥'

विमर्श—रत्नाकरकार ने समुच्चय प्रकरण की विमर्शनी में उद्धृत 'सोपानारोहण' पद्य में समाधि मानते हुए लिखा था कि यहाँ सोपानारोहणपरिषम ॥ इवासरूपी कार्य की उत्पत्ति हो चुकी है, हरिदर्शन उसमें विच्छिन्नता भर नहीं आने देता, इस प्रकार हरिदर्शन इवासरूपी कार्य की निष्पत्ति में नहीं, स्थिति में कारण है, फलतः वह कार्य का उपोद्बलक है । सर्वस्वकार ने समाधि के लक्षण में जो सौकर्य शब्द दिया था रत्नाकरकार ने उसका एक ही अर्थ रखाया 'उत्पत्ति' में सहायता करना, जिसमें कार्य सरलता और सुख से निष्पन्न हो जावे । इस अर्थ के अनुसार 'शान्त'—रूपी कार्य का लेकर बतलाए गए उपर्युक्त समाधिस्थल में यह लक्षण लागू नहीं होता । विमर्शनीकार ने 'सोपानारोहण' पद्य में जो समुच्चय सिद्ध कर दिया, और सौकर्य शब्द का उपोद्बलन अर्थ कर रत्नाकरकार के आश्रय का भी निराकरण कर दिया ।

इतिहास—

दण्डी—समाधि की करपना प्रथमतः दण्डी ने की है । उन्होंने इसे समाहित नाम दिया है । उनका निरूपण—'किंचिदारममागस्य कार्ये देववशात् पुनः ।

ससंभनसमापत्तिर्वा तदाहुः समाहितम्' । २ । २९८ ॥

कोई कार्य आरम्भ कर रहे व्यक्ति के पास भाग्यवशात् अन्य साधन की पहुँच समाहित कहलाती है । उदाहरण के रूप में 'मानमत्या' पद्य ही दण्डी ने दिया है । भाग्य ने भी इसी भाग्य में समाहिता अकार माना है किन्तु उसका कोई लक्षण उनमें नहीं मिलता । ज्ञानन ने खोनी जा रही वस्तु के समान वस्तु को समाहित कहा है—'यत्सादृश्यं तत्सपत्तिः समाहितम् । और उदाहरण के रूप में विक्रमोदंशीय का 'तन्वी शेष' पद्य दिया है । यह वही कता है जिसे पुरुरवा उर्वशी समझता है और वह उर्वशी रूप में परिणत भी हो जाती है । उद्भट में समाहित नामक अलंकार तो है परन्तु वह रसवत्तादि के वर्ग का है । समाधि नाम में इसमें कोई अलंकार नहीं मिलता । उद्भट में समाहित या समाधि दोनों ही नाम नहीं मिलने । हमसे विदित होता है कि इस अलंकार को समाधि सज्ञा प्रथमतः भग्मत ने दी है । उनका लक्षण यह है—

भग्मत—'समाधि- सुकर कार्ये कारणान्तरयोगत ।'-अन्य कारण के सहयोग से कार्य की सुरुचना-समाधि' । उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मानमत्या' पद्य ही दिया है ।

रत्नाकरकार—शोभाकर ने केवल 'उपोद्बलन समाधि' = बढ़ावा समाधि कहलाता है-इतना ही लक्षण किया है । उन्होंने कारणों में दो कोटियाँ की भी खोज की है-स्वयं और

आगन्तुक । इनमें से दोनों में दोनों का सङ्योग उन्हें विवक्षित है । 'मानमत्याः०' पद्य को उन्होंने भी उदाहरणरूप से उद्धृत किया है ।

अप्यवदीक्षित—ने रत्नाकरकार का संज्ञोपन अस्वीकार कर सर्वस्वकार का ही अनुसरण किया है और समाधि का यह लक्षण दिया है—

'समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरयोगतः ।'

उदा०—'उत्कण्ठिता च तत्तुगी जगामास्तां च भानुमान् ॥'

अन्य कारण के योग से कार्यसौकर्य समाधि कहलाता है । उदा० इधर तो तत्तुगी उत्कण्ठित हुई और उधर सूर्य अस्त हो गया ।'

समाधि से समुच्चय का अन्तर अप्यवदीक्षित ने कारण की आकस्मिकता और अनेकता द्वारा किया है । समाधि में कारणान्तर आकस्मिक होता है जब कि समुच्चय में कारणान्तरों की भरमार रहती है । इसी भरमार का नाम समुच्चय है ।

पण्डितराज—अगत्राय ने सर्वस्वकार का ही लक्षण अपनाया है । उनका परिष्कृत लक्षण यह है—

'एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानादितिसौकर्यं समाधिः ॥'

'एक किसी कारण से उत्पन्न हो सकने योग्य कार्य में किसी अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से जो सौकर्य आता है वही समाधि है ।'

पण्डितराज ने विमर्शिनीकार के द्वारा उद्धृत गये सौकर्यशब्द के दोनों अर्थ भी मान लिए हैं उन्होंने लिखा है—

'तच्च सौकर्यं कार्यत्वानायासेन सिद्धया साङ्गसिद्धया च' । वह सौकर्य दो प्रकार से होता है कार्य की बिना आपास के हुई सिद्धि से तथा साङ्गोपाङ्ग सिद्धि से ।

बिदवेश्वर—ने भी सौकर्य को स्थान देते हुए समाधिलक्षण इस प्रकार बनाया है—

'मयति समाधिः सुकरे हेत्वन्तरसमवधानतः कार्ये ।' 'चिकीर्षितस्य कार्यस्य सिद्धयर्थमभिमतो यो हेतुस्तदतिरिक्तहेतुना कार्यस्य सौकर्यं समाधिः, समाधीयते कार्यमनेनेति व्युत्पत्तेः ।'

अर्थात् कार्य की सिद्धि के लिए माना हुआ जो हेतु उससे भिन्न हेतु के द्वारा जो कार्य का सौकर्य वही समाधि, समाहित किया जाता है कार्य इससे इस व्युत्पत्ति के आधार पर' ।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका समाधि पर इस प्रकार है—

'समाधिः सम्यग्वाधानं कारणान्तरयोगतः ।' अन्य कारण के सङ्योग से ठीक से कार्य की निष्पत्ति समाधि सौकर्य को समाधि कहना लाक्षणिक प्रयोग है । वस्तुतः 'सम्यक् वाधान' ही समाधि का स्वरूप है ।

पाठान्तर—समाधि की अन्तिम पंक्ति में 'पदेन' के स्थान पर निर्णयसामरौघ प्रति में पदे छपा है । डॉ० रायवन् के संस्करण में केवल 'उपकारार्थेति प्रकाशितम्' ही पाठ है ।

विमर्शिनी

पुतद्रुपसंहारन्नन्यदवतारयति—स्वमित्वादिना ।

इस प्रकारण का उपसंहार कर अन्य प्रकारण की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

[सर्वस्व]

एवं वान्यन्यायाश्रयिणोऽलंकारान्प्रतिपाद्याधुना लोकन्यायाश्रयिणोऽ-
लंकारा उच्यन्ते । तत्र—

[सू० ६९] प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः
प्रत्यनीकम् ।

यत्र बलवतः प्रतिपक्षस्य दुर्बलेन प्रतिपक्षेण प्रतीकारः कर्तुं न शक्यत
इति तत्संबन्धिना दुर्बलस्य तं बाधितुं तिरस्कारः क्रियते तत्प्रत्यनीकम् ।
अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकमुच्यते । तत्तुल्यत्वादिश्चमपि प्रत्य-
नीकमुच्यते । यथानीकेऽभियोक्तव्ये तत्रासामर्थ्यात्तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभि-
युज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विजेये तदीयस्य दुर्बलस्य तिरस्कारमिति स्वार्थः ।
प्रतिपक्षगतत्वेन बलवत्त्वस्यापनं प्रयोजनम् । यथा—

‘यस्य किञ्चिदपरकर्तुमश्रम कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।

कान्तघटप्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते ॥’

अत्र राहोः सफाशाद्भगवान्बलवान्विपक्षः । तदीयः पुनर्वैश्वानरसाहृदय
मुखेन दुर्बलश्चन्द्रमा । तत्तिरस्काराद्भगवतः प्रकर्षावगतिः ।

इस प्रकार वाक्य—[मीमांसाभित]—न्याय पर निर्भर अलंकारों का प्रतिपादन किया,
अब लोह—[गठ]—न्याय पर आभित अलंकारों का निरूपण करने हैं ।

[सू० ६९] विरोधी का तिरस्कार करने की शक्ती के अभाव में उससे संबन्धित
का तिरस्कार प्रत्यनीक [कहलाता है] ॥

[सू०] जहाँ बलवान् विरोधी का दुर्बल विरोधी द्वारा प्रतीकार करना समभव नहीं होना
अतः उससे सम्बन्ध किसी दुर्बल का प्रतीकार उसे धोटा पहुँचाने के लिए किया जाता है वह सेना का
प्रत्यनीक कहलाता है । अनीक अर्थात् सेना समक प्रतिनिधि प्रत्यनीक कहलाता है । उसके समान
होने से यह भी प्रत्यनीक कहा जाता है । अर्थ यह कि जिस प्रकार युद्ध करना होता है सेना से, किन्तु
बैसा करने की शक्ति न रहने पर उसके प्रतिनिधिभूत अन्य किसी से युद्ध किया जाता है वही
प्रकार यहाँ भीतना तो अभीष्ट रहता है शत्रु को, किन्तु निरस्कार किया जाता है उसके किसी दुर्बल
सम्बन्धी का । इसका प्रयोग होता है विरोधी की बलवत्तरता व्यक्त करना । उदाहरण यथा—

‘शरीर के निग्रह [काट कर दो खण्ड कर देने] से लड़ाई ठान बैठा राहु जिस [मगवान्
विष्णु] का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उसी के कान्तिमान् मुखविम्ब के समान
आकृति के चन्द्र को अभी तक बाधा पहुँचाना है ।’

यहाँ राहु की अपेशा मगवान् बलवत्तर शत्रु हैं, चन्द्रमा मुखविम्ब के साहृदय के
कारण उनसे सम्बन्धित है किन्तु दुर्बल है । उसके तिरस्कार से मगवान् के प्रकर्ष का शान
होता है ॥’

चिमर्शिनी

तत्रेति निर्धारणे । प्रतिपक्षेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—यथेत्यादिना । बलवत् इति दुर्बलेनेति च प्रतीकाराकरणे विशेषणद्वारेण हेतुद्वयोपन्यासः । तत्सम्बन्धिन इति । बल-वत्प्रतिपचारमकस्य । तत्सम्बन्धित्वं च सादृश्यादिसम्बन्धमूलम् । दुर्बलत्वेति । तस्यापि हि बलवत्त्वे दुर्बलेन प्रतिषेधेण प्रतिकारः कर्तुं न शक्येत इति भावः । तमिति । सबलं प्रतिपद्यम् । बाधितुमिति । अन्यथा हि निष्प्रयोजनस्तदीयतिरस्कारः स्यात् । क्रियते इति । दुर्बलेन प्रतिपक्षेण नैतत्संज्ञमात्रमित्याशङ्क्याह—अनीकत्वम्यादि । तुल्यत्वमेव दर्शयति—यथेत्यादि । किं चात्र प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—प्रतिपक्षेत्यादि । बलवत्त्वाख्यापनमिति । अप्रतीकार्यत्वात् । अत्रेत्यादि । च तत्रसादृश्यमुखेन तदीय इति सम्बन्धः । तत्तिरस्कारादिति । न पुनस्तन्धीकारात् । बाधत इत्युक्तेस्तिरस्कारस्यैव साक्षाद्वाप्यर्थत्वात् । अत एव परै-रपि 'तत्सम्बन्धितिरस्कारद्वारा तस्यैव बाधनादि'—शुक्तम् । प्रकर्षोऽप्रतीकार्यत्वम् । एतेन चास्य प्रयोजनं दर्शितम् । अत्र अतिरस्कार्यतिरस्कारणकर्तृनिन्दाद्वारेण बलवत्तः प्रति-पक्षस्याप्रतीकार्यत्वास्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम् ।

तत्र = यह निर्धारणार्थक । प्रतिपक्षेत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—यत्र इत्यादि के द्वारा । बलवान् और दुर्बल इन दोनों विशेषणों द्वारा प्रतीकार न कर सकने में दो हेतु उपस्थित किए । तत्सम्बन्धिनः = उसके सम्बन्धी अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के । उससे सम्बन्ध होगा सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर । दुर्बलस्य = दुर्बल = यदि वह सम्बन्धी भी बलवान् हो तो दुर्बल विरोधी द्वारा उसका भी प्रतीकार नहीं हो सकेगा । तत्र = उस = सबल शत्रु को । बाधितुम् = बाध = पीड़ा पहुँचाने के लिए । नहीं तो उससे सम्बन्धित का तिरस्कार निष्प्रयोजन ठहरेगा । क्रियते = किया जाता है = अर्थात् दुर्बल विरोधी के द्वारा । [प्रत्यनीक] केवल संशामात्र नहीं हैं ऐसी शंका कर लिखते हैं—अनीकस्य । तुल्यता ही दिखलाते हैं—यथा इत्यादि के द्वारा । 'तत्र यहाँ प्रयोजन क्या है' ऐसी शंका सोचकर लिखते हैं - प्रतिपक्ष इत्यादि । बलवत्त्वाख्यापन = प्रतीकार्य न होने के कारण । अत्र इत्यादि = मुख के सादृश्य के द्वारा उससे सम्बन्धित' इससे भी सम्बन्धित है । तत्तिरस्कारात् = उसका तिरस्कार = न कि उसका अंगीकार [वैसे कि रत्नाकरकार ने माना है] । बाधते = बाधा = पीड़ा पहुँचाना = ' इस कथन से तात्पर्य यह निकला कि यहाँ तिरस्कार ही प्रमुख अर्थ रहता है । इसीलिए अन्य [रत्नाकरकार] ने भी कहा है—'उसके सम्बन्धी के तिरस्कार के द्वारा उसी को पीड़ा पहुँचाने से०' । प्रकर्ष = अप्रतीकार्यता । इसके द्वारा इसका प्रयोजन बतलाया । यहाँ अतिरस्कार्य का तिरस्कार करने से तिरस्कार करने वाले की निन्दा व्यक्त होती है । उसके द्वारा बलवान् शत्रु को अप्रतीकार्यता बतलाई जाती है । इससे जो उसकी प्रशंसा होती है तात्पर्य उसी के प्रतिपादन में रहता है ।'

चिमर्श—इतिहास—

प्रत्यनीक रद्रट की ही देन है । उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र ।

तस्य विरोधीस्तुक्त्वा कल्पेत् प्रत्यनीकं तत् ॥' ८।१.२॥

—'जहाँ उपमेय को उत्तम बतलाने के लिए उपमान को उसे जीतने के लिए उक्तिपूर्वक विरोधी बतलाया जाए तो वह प्रत्यनीक होता है ।' उदाहरण—

'यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम् ।

मम तत्र किमापतिर्त्तं तपसि सितांशो यदेवं माम् ॥'

हे चन्द्र तुम उस सुन्दरी को भीतना चाहते थे और यदि उसी ने तुम्हारा कान्तिमान् मुक्त छीन लिया तो इसमें तुम्हारा मैंने क्या किया जो तुम मुझे इस प्रकार उषा रहे हो ।'

मसमत = 'प्रतिपक्षमज्ञानेन प्रतिकर्तुं तिरस्त्रिया ।

या तदोयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीक तदुच्यते ॥'

शु०—न्यक्कृतिपरमपि विपक्ष साक्षात्प्रतिपक्षज्ञानेन केनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितुं तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तद् अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते । यथा अनीके अभि-
योज्ये तत्प्रतिनिधीभूतमपर भूदतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विज्ञेये तदोयोज्यो विधीयते इत्यर्थः ।

'विरोधी का प्रतिकार करने में असमर्थ व्यक्ति द्वारा जो उससे सम्बन्धित व्यक्ति का उसी विरोधी को स्तुति कराने वाला जो तिरस्कार वह प्रत्यनीक कहलाता है ।

—विरोधी अपमान करता चला जा रहा हो और उसका निराकरण साक्षात् न किया जा सकता हो अतः कोई उसी विरोधी का उत्कर्ष प्रतिपादित करने वाला उसके आश्रित का तिरस्कार करे, तो वह सेना के प्रतिनिधिभूत व्यक्ति के समान होने से प्रत्यनीक कहा जाता है । जैसे सेना से लड़ना हो किन्तु मूढतावश उनके प्रतिनिधिभूत व्यक्ति से कोई लड़ता है उसी प्रकार यहाँ भी जीतना होता है विरोधी को किन्तु जीता जाता है उसका सबन्धी कोई अन्य व्यक्ति ।'

उदाहरण, यही—'यस्य किंचिदपकर्तुम्' पद्य ।

रनाकरकार ने अन्य अलंकारों के ही समान इस अलंकार में भी अपनी भाववित्री प्रतिभा को उभरता दिखलाई है । उन्होंने विरोधिसबन्धी का तिरस्कार तो प्रत्यनीक में गिना ही है विरोधि के विरोधी का अंगीकार भी भाँति भाँति के उदाहरणों द्वारा प्रत्यनीक के भेद के रूप गिनाया है । साथ ही न केवल विरोधी अपि तु सद्दश पदार्थ के सबन्धी के भी अभिलषणीय और परिहरणीय रूप से अंगीकार में प्रत्यनीक माना है । उनका विवेचन इस प्रकार है—

[सू०] 'प्रतिपक्षादिसम्बन्धिस्वीकारः प्रत्यनीकम् ॥ ४० ॥

[श्रु०] बलवत् प्रतिपक्षस्य तिरस्काराशक्तौ नरमम्बन्धिनो दुर्बलस्य बाध्यतया स्वीकारमुत्तेन तिरस्कर्तुं निन्दाद्वारा बलवत् स्तुतिप्रतिपादनरूपमेक प्रत्यनीकम् । ००० । तथा प्रतिपक्षसम्बन्धि-
मथ प्रतिपक्षस्य तद्बाधकतया स्वीकारस्तथैव द्वितीयम् । आदिशब्देन प्रतिपक्षादन्यस्य सद्दशादि-
रूपस्य सम्बन्धिनोऽभिलषणीयत्वेन परिहरणीयत्वेन वा स्वीकारस्तुतीयम् ।'

विरोधी के विरोधी के अपनाए जाने का उदाहरण—

'इदं मद् अन्द्रमत्तस्समन्तादरमात्मपत्नस्य हरिष्यतीति ।

यस्मिन् पुरन्धीवदनस्य लक्ष्मी निजा व्यधुः प्रागुत्तमम्बुवामि ॥'

—'हमारे शत्रु चन्द्रमा का मद यह [सुन्दरीमुख] पूरी तरह हरण कर लेगा यह सोचकर जिस नगर की सुन्दरियों के मुखों को कान्ति को कमलों ने अपना उपहार बना लिया ।'

सद्दशसम्बन्धी गुण का स्पष्टणीय रूप में अंगीकार इस पवरत्न में दिखलाया है—

'पुष्पाणामेव निन्दाभवकमत गुणान् पल्लवानामगृह्यात्
स्तुत्यां सक्त्वा पिक्वानामवदन्नयद् राजहसेषु दोषान् ।

मर्कटं ध्यानज सान्द्रं शृगमदतिलके चान्दने नाङ्गरागे

ध्वान्तं तुष्टाव तुष्टं न तु मिहिरमहः कृष्णलोमा हि राधा ॥'

'राधा कृष्ण के अनुराग में पुष्पों की ही निन्दा करती है और पत्तों के ही गुणों को चाहती है, कोयलों की ही स्तुति में आसक्त रहती थी, राजहंसों में दोष देखती थी, कस्तूरी के गहन तिलक में ही शक्ति व्यक्त करती थी, चन्द्रन के अंगराग में नहीं और अंधेरे की ही स्तुति करती थी सूर्यप्रकाश की नहीं।' पल्लव आदि कृष्ण सद्गुण वर्ण के हैं, अतः कृष्णानुरक्त राधा उनके सामान्यतः अत्यृद्दणीय गुणों को नो स्तुति करती दिखलाई गई है।

सद्गुण नन्दन्यो गुण का परिहरणोयत्वेन अंगोकार के लिए उदाहरण—

'नोरागा नृगलान्छने मुखमपि त्वं दर्पणे नेशते।'।

चन्द्रना पर विरक्त होकर वह प्रेमनिर्भर नायिका दर्पण में भी अपना मुख नहीं देखती।

विमर्शिनोकार ने रत्नाकरकार के इस 'स्वीकारपक्ष' पर कटाक्ष तो किया है किन्तु वे अधिक कुछ कहने का भी साहस न कर सके। यहाँ 'मुखमहो नो दर्पणेऽपीक्षते' ऐसी योजना चाहिए।

अप्यपदीक्षित—'प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।'।

'बलवान् शत्रु के पक्ष वाले व्यक्ति पर पराक्रम प्रत्यनीक।'। निश्चित ही दीक्षित जी ने लक्षण-निर्माण के साथ ही प्रत्यनीक शब्द की निरुक्ति भी बढ़ी ही तर्फार्थ के साथ इस वाक्य में छा दी है। रत्नाकर की नवीनकल्पनाओं के प्रति दीक्षित जी यौन हैं।

पण्डितराज = रत्नाकर के नवीन पक्षों को छोड़ कर पण्डितराज ने प्रत्यनीक का निरूपण तो किया किन्तु वे तर्कधुरा पर इतने आरुढ़ हो गए कि इस पूरे ही अर्थकार को प्रतीयमान हेतुप्रेक्षा ले गतार्थ बता बैठे। उनका निरूपण इस प्रकार है—

'प्रतिपक्षतन्वन्धिनस्तिरस्तृतिः प्रत्यनीकम्।'।

—'शुशुप्तमन्धी का तिरस्कार प्रत्यनीक।'।

अपने उदाहरणों में गम्य हेतुप्रेक्षा की सिद्धि कर पण्डितराज ने मम्मट और सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'यस्य किञ्चित्' पद्य में भी उसे इत प्रकार बतलाया—

'यस्य किञ्चित्० [पूर्ण पद्य] इत्यलंकारसर्वस्वकृतोदाहृतो प्राचीनपद्येषु भगवद्भैरवानुबन्धादिव भगवद्भक्तप्रसङ्गमिन्द्रं राहुर्वापत इति प्रतीतेरुत्प्रेक्षैव गम्यमाना।'।

'अर्थकारसर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'यस्य किञ्चित्०' इस प्राचीन [मम्मटोदाहृत] पद्य में भी गम्य हेतुप्रेक्षा है क्योंकि यहाँ भी यह प्रतीति होती है कि 'राहु चन्द्रमा को मानो इसलिय दुःख देता कि वह भगवान् के मुख के समान है।'। प्रत्यनीक में प्रतिपक्ष में दुर्बलता तथा वर्ण-वस्तु में प्रबलता भी शब्दतः प्रतिपादित रहती है जो हेतुप्रेक्षा में नहीं रहती, अतः इतने अंश में इन दोषों का अन्तर हो सकता था किन्तु पण्डितराज ने इससे प्रत्यनीक को उपप्रेक्षा का एक नवीन भेद मानना अधिक उचित माना, स्वतन्त्र अर्थकार नहीं।

विश्वेश्वर—ने पण्डितराज के इस क्राञ्चिपूर्ण विचार को प्रतिगामी तर्कों द्वारा काटते हुए प्रत्यनीक और हेतुप्रेक्षा में एक भेदक और सुझाया। उन्होंने कहा कि प्रत्यनीक में दो कारण प्रतिपादित रहते हैं जब कि हेतुप्रेक्षा में केवल एक। दोनों कारणों में प्रथम कारण द्वितीय कारण के प्रति कारण रहना है और उन दोनों का कार्यकारणभाव निर्णीत रहता है। 'यस्य किञ्चित्०' पद्य में चन्द्रवाधा के प्रति कारण है विष्णु के साथ बैर और उसमें कारण है कायनिग्रह। विश्वेश्वर की पंक्ति है—

'अत्र [प्रत्यनीके] किञ्चिच्छिष्टकार्यताप्रतियोगिक [चन्द्रवाधारूपकार्यनिष्ठकार्यतानिरूपकं] यत् [चन्द्रसद्गुणविष्णुवैररूपं] कारणमुत्प्रेक्ष्यते तत्रिष्टकार्यतानिरूपितकारणस्य [काय-

त्रिप्रद्वयस्य] अप्यभिधानेन [कायनिप्रद्वयपदाभिधानेन] पूर्वकारणनिर्णयः, उपदेशायां च तदभावात् तत्रिण्य इति वैषम्य स्पष्टमेव ।' वस्तुतः विद्वेश्वर के इस तर्क में कोई विनिगमकता नहीं है। इतना होने पर भी प्रत्यनीक को उपदेश का एक विशिष्ट भेद मानना अयुक्त नहीं ठहरता।

चरुवर्ती को निष्कृष्टार्थकारिका प्रत्यनीक पर यह है—

'तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकमशक्तिः ।'

पाठान्तर—प्रत्यनीकमृत् में प्रथम तिरस्कार शब्द के स्थान पर डा० द्विवेदी ने मूल तथा उनके मञ्जीविनीसंस्करण में 'प्रतीकार'-शब्द दिया है। कु० वानकी के मञ्जीविनी संस्करण में तिरस्कारपाठ ही है। स्वयं द्विवेदीसंस्करण में मञ्जीविनीकार ने इस रूप की व्याख्या में तिरस्कार शब्द को दो दो बार पढ़ा है और वही स्वामाविक है। पाठान्तर का मूल मम्मट का 'प्रतिकृतुं तिरस्किवा' पाठ है। परवर्ती आचार्यों के सूत्रों में तिरस्कार शब्द ही मिलता है।

[सर्थस्व]

[सू ७०] उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम् ।

उपमेयस्यैवोपमानभारोद्धहनसामर्थ्यादुपमानस्य यत् कैमर्यक्येताक्षेप आलोचनं क्रियते, तदेकं प्रतीपम् । उपमानप्रतिकूलत्वादुपमेयस्य प्रतीपमिति स्वपदेशः । यद्युपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतितिष्ठापयिषयानादरणा-
र्थमुपमेयस्य कल्प्यते, तत् पूर्वोक्तगत्या द्वितीयं प्रतीपम् । क्रमेण यथा—

'यत्र च प्रमदानां चञ्चुरेय सहजं मुण्डमालामण्डनं भारन्तु कुचलयदल-
मालयानि' इत्यादि । यथा या—

'लावण्यीकसि सप्रतापगरिमण्यप्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा ।
इन्दुः किं घटितः किमेव विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्षमाभृतः ॥'

अत्र यथासंध्यमध्यस्तीति शार्क प्रतिपादितम् ।

'ए पद्मि दाव सुंदरि कर्णं क्षाऊण सुणसु यशणिज्जं ।
तुज्झ मुहेण किसोभरि चंदो उभमिज्जइ जणेण ॥'

अत्रोपमानत्वेन प्रसिद्धस्य चन्द्रमसो निरूपार्थमुपमेयत्वं कल्पितम् ।
यदनस्य चोपमानत्वविवक्षात्र प्रयोजिका ।

क्वचित्पुनर्निष्पन्नमेवौपम्यमनादरकारणम् । यथा—

'गर्धमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे ।
सन्तीदृशानि दिशि दिशि सर सु ननु नीलनलिनानि ।'

अत्रोत्कर्षमात्रं उपमानस्य प्रादुर्भाव एव न्यक्कारकारणम् । यनेन

न्यायेनोत्कृष्टगुणत्वाद् यदुपमानभावमपि न सहते तस्योपमानं त्व-
कल्पितं प्रतीपमेव । यथा—

‘अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मा म्म दृष्यः ।

ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम् ॥’

अत्र हालाहलत्वं प्रकृष्टदोषत्वादसंभाव्यमानोपमानभावमप्युपमानत्वेन
निवृत्तम् ।

[सू० ७०] उपमान का अपमान अथवा उपमेयता प्रतीप [कहलाती है] ॥

[वृ०] उपमेय के ही उपमान का संपूर्ण मार देने में समर्थ होने से उपमान का ‘इससे क्या
छाम’ इस प्रकार जो आक्षेप अर्थात् आलोचन [अपमान] किया जाता है वह एक प्रकार का
प्रतीप होता है । उपमान के प्रसिद्ध होने से उपमेय को ‘प्रतीप’ शब्द से पुकारा गया है ।
इसके अतिरिक्त यदि अन्य किसी उपमान को उपस्थित करने की इच्छा से उपमान रूप से
प्रसिद्ध वस्तु को उसका अनादर करने के लिए उपमेयरूप से प्रस्तुत किया जाय तो वह भी
पूर्वोक्त रीति से [विरोध के कारण] एक दूसरे प्रकार का प्रतीप होता है ।

क्रम से उदाहरण—

‘जिस [श्रीकण्ठजनपद] में प्रमदाओं के नेत्र ही मुण्डमाला [सिर पर से कर्णमूल तक
लटकें] आभूषण थे, नील कमलों की मालाएँ तो केवल मार-थीं । [वर्णचरित पृ० १८, ७० इ]

और जैसे—लावण्यौकसि [यथासंख्यालंकार में आनुका] पद्य । यहाँ यथासंख्य भी है
ऐसा पहले [यथासंख्य प्रकरण में] बतलाया जा चुका है ।

‘य एहि तावत् सुन्दरि ! कर्णं दत्त्वा शृणुष्व वचनीयम् ।

तव मुखेन कृशोदरि ! चन्द्र उपमीयते जनेन ॥’

‘अरी सुन्दरि ? इधर आ पहले, और काम देकर बदनामी सुन । अरी कृशोदरि ! लोग
तेरे मुख से चन्द्रमा को उपमा दे रहे हैं ।

यहाँ उपमानरूप से प्रसिद्ध चन्द्रमा को उसके अपकर्ष के लिए उपमेय रूप में कल्पित किया
गया है । इसमें कारण है मुख की उपमेय रूप से विवक्षा । कहीं कहीं तो उपमा निष्पन्न हो
जाती है और तब वह अनादर का कारण बनती है, यथा—

‘भद्रे ! आँखों की जोड़ी में इतना डोते नहीं एम रहा गर्व क्यों भरे हुए है । इस
प्रकार के नीलकमल स्थान स्थान पर बहुत मिलते हैं ।’ यहाँ उत्कर्षयुक्त वस्तु को उपमान की
कल्पना ही [उसके प्रति] अपमान का कारण है ।

इसी प्रकार गुणोत्कर्ष के कारण जो वस्तु उपमान बनना भी नहीं सहती उसको उपमान रूप
में प्रतिपादित करना भी प्रतीप ही है । यथा—

‘हे हालाहल ! अत्यन्त दारुण पदार्थों में मैं ही सब से बड़ा हूँ यह सोचकर तुम दर्प धारण
न करना, तुम्हारे जैसे दुर्जनों के वचन इस संसार में बहुत मिलते हैं ।

यहाँ हालाहल में दोष का इतना उत्कर्ष है कि उसमें उपमानता संभव नहीं है, इतने पर भी
उसे उपमान रूप से बतला दिया गया ॥’

विमर्शिनो

उपमानस्येत्यादि । कैर्मर्त्येनेत्यादि । तद्वापारस्योपमेयैव कृतत्वाद्नुपयोगेनेत्यर्थः । उपमानान्तरेति । उपमानानां मध्ये । अनादरणार्थमिति । उपमानत्वेन नैतद्योग्यमिति यावत् । पूर्वोक्तगत्वेति । उपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वात् । अनेनोभयप्रापि नैतत्संज्ञामाप्रमित्युक्तम् । एकं द्वितीयमित्यभिदधता ग्रन्थकृता प्रतीशास्यमलंकारद्वयम्, न पुनः सामान्यलक्षणाभावादेकमेव द्विप्रकारमित्युक्तम् । उपमाप्रकाररवं चानयोर्न वाच्यम्, उपमानस्याच्चेपादुपमेयकरूपनाच्च । न हि तत्र तदस्तीति ततोऽनयोः सुप्रत्यय एव भेदः । अनयोः पुनः साधर्म्यंजीवितत्वात्साधारणलक्षणांमस्ति त्रैविध्यम् । एवमौपम्यमन्तरेण नैतदलङ्कारद्वयं भवतीत्यवगन्तव्यम् । तेन—

'जिह्वश्चिञ्च वद्विञ्च किं किरक देवआहि अण्णाहि ।

जिह्व पसाएण पिओ लघइ दूरेवि णिवसंतो ॥'

इत्यत्रापि प्रतिपालकारत्वं न वाच्यम् । अत्र हि देवतान्तराणां तथा सामर्थ्यादर्शनात्तदाक्षेपेण स्वप्नकाले त्रियोपलब्धिदायिण्यां जिह्वाया विरहिणीकर्तृकं वास्तवमेव वक्ष्यत्वम् । वस्तु च बालकार इति निर्विवादम् । कुचलयदलदाग्नामाक्षेपश्चक्षुषामरयन्तमेव तासाधर्म्यप्रतिपादनार्थः । अन्वया हि तदाक्षेपो निरर्थकः स्यात् । एवं—

'किं कर्णपूरैर्यदि साधुवादा मुक्ताफलैः किं यदि वाग्बिलासाः ।

किं चणुंयोगैर्यदि रूपसोभा छात्रप्यमास्ते यदि चन्दनैः किम् ॥'

इत्यत्रापि त्रैयम् । अत्र हि यथा कर्णपूरादिभिः श्रोत्रशोभा क्रियते तथैव साधुवादादिभिरिति साधुवादादिभिरेव तत्कार्यकरणकर्णपूरादीनामाक्षेपः । तस्य च साधुवादादीनामत्यन्तमेव नस्तसाधर्म्यप्रतिपादन फलम् । एवं—

'खेल्मतीनां सुरपतिपुरीवारवाराङ्गनाना

यन्मञ्जीरध्वनितसुभगो रीति कोलाहलोऽयम् ।

तेनैवास्ते मदननृपतेमोङ्गलियये प्रबोधे

मोघायगते पयि पयि गिरः कच्छुपारावतानाम् ॥'

इत्यत्रापि त्रैयम् । वस्तुनरान्त्वैरुपमानोपमेयत्वाव्याविषयितारवमुक्तम्, तत्तेषां तत्स्वरूपानभिज्ञत्वम् ।

लावण्यादिधर्मश्चात्र नृपचन्द्रयोरनुगामितया निर्दिष्टः । तथा वा—

'तस्याख्येन्मुखमस्ति सौम्य सुभगं किं पार्वणेनेन्दुना

सौन्दर्यस्य पद दशौ यदि च ते किं नाम नीलोत्पलैः ।

किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राचरे

ही घातुः पुनरुक्त्वस्तुरचनारगमेष्वपूर्वो ग्रहः ॥'

इत्यत्र सौम्यसुभगावादि सकृद्विदिष्टम् । असकृद्विद्वेशस्तु यथा—

'यद्यस्ति तस्याः स्मरशाङ्गमद्विविलासवेच्छद्गु सुतं नताङ्गया ।

तदिन्दुना किं विहित विघात्रा सृष्टेन वक्ष्यन्मृगशावकेन ॥'

अत्र घेखलङ्कारत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वं मृगशावकोस्तु विभ्रप्रतिश्रिम्भनावः ।

निकर्षार्थमिति । अन्यथा चन्द्रस्योपमेयत्वकल्पनं निरर्थकं स्यात् । प्रयोजिकेति । उत्कर्ष-
प्रतिपादनात् । अत्रापि साधारणधर्मस्वानुगामितया यथा—

‘मुखेन सखि पीयूषपेलेवेन निशासु ते ।
उपमानतया चन्द्रः प्रियेणाक्षिप्यते ध्रुवम् ॥’

अत्र पीयूषपेलेवत्वमनुगामितयोपात्तम् । असकृद्विदेशस्तु यथा—

‘पौलस्त्य विस्तृतविवेकपूर्ववमुर्कूर्च्छुटाप्रकटितं सृजताण च त्वाम् ।
नीतोऽअनादिरुपमेयधुरां विधात्रा प्रोक्तुश्चन्द्रविवलत्पृथुदाववह्निः ॥’

अत्र वेहद्विवलत्वयोः शुद्धसामान्यरूपस्त्वम्, कूर्च्छदावयोस्तु विषयप्रतिविम्बभावः ।
अस्य हि विच्छिन्नरूपान्तरं दर्शयति क्वचिदित्यादिना । निष्पन्नमिति । सिद्धत्वेनोक्तेः ।
उत्कर्षमात्र इति । अर्थान्नेप्रयुगलस्य । प्रादुर्भाव इति । उपमानस्वाभूतस्योरपत्तिः । अतएव
एवर्थावन्धभाजः परस्योत्पादान्धकारः । अनेन न्यायेनेति । अत्र यथोपमानत्वप्रादुर्भावो
न्यकारकारणं तथैवेत्यर्थः । अतश्च पूर्वस्या एव विच्छिन्नेरिदं विमजनं न पुनर्विच्छिन्न-
न्तरमिति भावः । प्रतीपमिति । उपमानमात्रं यो न सहते भाग्यं न्यूनगुणेन चोपमेयेन,
तथापीदृशप्रकृष्टगुणत्वं विवक्षितं यदपेक्षया न्यूनगुणमप्युपमेयं न संभवतीत्यत्र पिण्डार्थः ।

‘वैकुण्ठाय श्रियमभिनवां शीतमानुं भवाय
प्रादाहुरुच्चैःश्रवसमपि चा बन्निने तरु गण्यम् ।
तृष्णाताय स्वमपि मुनये यद्दाति स्म देहं
कोऽन्यस्तरमाप्तवति भुवने वारिधेर्वोचिसस्वः ॥’

इत्यत्र पुनरन्यमतेऽपि न प्रतीपम् । लक्षयादेरधिकगुणस्य न्यूनगुणेनावरत्वापाद-
नाभावात् । अत्र हि लक्षयादिदानाद् देहदानस्याधिकगुणत्वं विवक्षितम् । अत एवा-
श्रुतेः स्वेदहदानसुश्रेष्ठ्य को नाम लक्षयादिदानोरुत्कर्ष इत्यत्र वाक्यार्थः । एतच्च वस्तुवति
नालंकार इत्यलमतिविस्तरेण ।

उपमानस्य ह्यस्यादि । कैमर्धवयेन—किस लाभ के लिए = उसका कार्य उपमेय के द्वारा
कर दिए जाने से निरूपयोग होने के कारण । उपमानान्तर-अनेक उपमानों के बीच अनादर-
णार्थम् = अनादर के लिए = अर्थात् यह उपमान के रूप में फयता नहीं है इस रूप से । पूर्वोक्त-
शरया = पूर्वोक्त रीति = उपमेय के उपमान से प्रतिकूल होने के कारण इससे यह बतलाया कि
दोनों भेदों में यह केवल नाम मात्र नहीं है, [यह सार्थक भी है] । ‘एक’ और ‘दूसरा’ ऐसा
कहकर अन्धकार ने बतलाया कि प्रतीप इस एक ही नाम के वे दो अलंकार हैं । दोनों का कोई
सामान्य लक्षण नहीं है अतः वे दोनों एक ही समुच्चय के दो प्रकार नहीं हैं । इन्हें [दण्डों के
अनुसार] उपमा का प्रकार नहीं मानना चाहिए क्योंकि यहाँ उपमान का अपमान रहता है
और उसे उपमेय भी बना दिया जाता है । उपमा में ऐसा नहीं होता, अतः इनका अन्तर सुखपूर्वक
जाना जा सकता है । वे दोनों प्रतीप सादृश्य पर निर्भर रहते हैं अतः इनमें साधारणधर्म के
तीनों भेद मिलते हैं । इसी प्रकार यह भी ज्ञान लेना चाहिए कि यह अलंकार विना सादृश्य
के नहीं हो सकता । इस कारण [रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में प्रदत्त]—

‘निद्रेव न्यते किं क्रियते देवताभिरन्याभिः ।

यस्याः प्रसादेन प्रियो लभ्यते दूरेऽपि निवसन् ॥’

'[हम तो] निद्रा की ही बन्दना करते हैं, अन्य देवनाओं से करना ही क्या है, जिस [निद्रा] के प्रमाद से दूर गया भी प्रिय प्राप्त हो जाता है।' इस स्थल में भी प्रतीपासंकरता नहीं माननी चाहिए।

अन्य देवनाओं से वैसा सामर्थ्य नहीं है अब कि निद्रा में स्वप्न में प्रिय समागम कराने की क्षमता है। अतः निद्रा में विराहिणी द्वारा की जाने वाली बन्दना की पात्रता वास्तविक पात्रता है और हममें कोई विवाद नहीं कि वास्तविक वस्तु अलंकार नहीं होती। [यत्र प्रमदानाम् स्थल में] नीलकमलों का जो आशेष है उमका लक्ष्य जेशों के साथ उनका अत्यन्त साम्य प्रतिपादित करना है। नहीं तो उन [नीलकमलों] का आशेष निरर्थक ठहरेगा। इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उद्धृत]—

'करनफूलों से क्या, यदि साधुवाद है, मुक्ताफूलों से क्या, यदि वाग्विलास है, चूर्ण योगों [Powders] से क्या यदि रूपशोभा है और चन्दन से क्या यदि आरग्य है।' इस पद्यार्थ में भी जानना चाहिए। यहाँ भी कर्ण आदि की शोभा जिस प्रकार करनफूल आदि के द्वारा होती है वही प्रकार साधुवाद आदि के द्वारा भी। इसीलिए साधुवाद आदि के द्वारा नेत्रशोभा का कार्य हो जाने पर करनफूल आदि का आशेष किया गया है। इस [आशेष] का प्रयोजन साधुवाद आदि का अत्यन्त सामर्थ्य प्रतिपादित करना ही है। इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उद्धृत]—

'देख रही अप्सराओं का, नूपुर की ध्वनि से सुन्दर जो यह झोलाहल मचा हुआ है, वसीते मदन नृपति का मांगलिक प्रबोध = [जागरण] हो जाता है अतः मार्ग मार्ग में जो कण्ठ के पारावत [कपोता] की वाणी है वह निरर्थक पक जाती है।'

इस पद्य में भी [आशेष को साम्यमूलक ही] जानना चाहिए।

इस कारण [रत्नाकरकार ने पूर्वोक्त 'कि कर्णपूरः०' पद्य का स्पष्टीकरण करते हुए] भी यह कहा है [कि जहाँ उपमान प्रसिद्ध रहते हैं वहाँ प्रतीप द्वारा उनका तिरस्कार होता है किन्तु 'कि कर्णः' आदि पद्यों से जहाँ साधुवाद आदि उपमान प्रसिद्ध नहीं हैं वहाँ तिरस्कार के बाद उनका सामर्थ्यमूलक उपमानत्व सिद्ध होता है अतः आशेष या प्रतीप के लिए] 'यहाँ उपमानोप-मेयभाव की कोई विषया नहीं है' वह उन [उपमानोपमेयों] का स्वरूप ल आगने के ही कारण।

यहाँ राजा और चन्द्र के बीच लावण्य आदि धर्म अनुगामी धर्म के रूप में शुभ्रतः कथित है।

दूसरा उदाहरण यथा—

'उसका सौम्य सुभ्रग मुख है तो पूर्णचन्द्र से क्या, यदि सौन्दर्य की घर के आँखें हैं तो नील कमलों से क्या; उस अक्षर के रहते हुए कोमल कान्ति वाले किसलयों की आवश्यकता ही क्या है। छंद है कि विधाता को दोहरी और व्यर्थ वस्तुएँ बनाने का विचित्र आग्रह है।'

इत्यादि में सौम्यसुमगल आदि धर्म एक वार निर्दिष्ट [कहे गए] हैं।

अनेक वार निर्देशका उदाहरण—

'यदि उम सुन्दरी का काम के धनुष की बनावट से विलास से फरकती भीड़ों वाला चेहरा है तो विधाता द्वारा बनाए स्फुरित भ्रमशावक से युक्त चन्द्रमा के क्या ?

यहाँ वेच्छा = परकता और द्रुमा बलात् = स्फुरित होवा हुआ इन शब्दों से प्रतिपादित धर्म शुद्ध सामान्यरूप धर्म हैं और भीह तथा मृग विन्मप्रतिविम्बमावापत्र धर्म हैं।

निष्कर्षार्थ—अपकर्ष के लिए, नहीं तो चन्द्र का उपमेय रूप में चित्रण निरर्थक हो जायगा। प्रयोजिका = कारण = उत्कर्ष का प्रतिपादन करने से। यहाँ भी साधारण की अनुगामीता का उदाहरण यह है—

‘सखि ! तेरा प्रिय रात्रि के समय निश्चित ही तेरे अनृतसुन्दर मुख के साथ उपमानभाव लिए रहने के कारण चन्द्रमा को चाहा करता है।’

यहाँ अनृतसुन्दरता अनुगामी धर्म है।

अनेक वार निर्देश के लिए—

‘हे पीलस्य [रावण] ! तुम्हें काफी विस्तृत और हिलती पिशंग वर्ण की अशुभ डाढ़ी से युक्त बना कर विधाता ने उस अंजनादि को उपमेय बना दिया जिसके पर्याप्त उच्च शृंग पर दौड़ती भयंकर द्वार लगी हो।’

यहाँ बेवल्ग तथा विकल्ग पद से प्रतिपादित हिलना और दौड़ना शुद्ध सामान्य धर्म है, तथा डाढ़ी और द्वार में विभ्रप्रतिविम्बभाव है।

इसी [प्रतीप] का एक विशिष्ट प्रकार बतलाने हेतु लिखते हैं—कश्चित् । निष्पन्न = सिद्ध रूप में कथन होने से। उत्कर्षभाजः—उत्कर्षयुक्त = अर्थात् नेत्र युगल। प्रादुर्भाव = पहले से अधिकमान उपमान की उत्पत्ति। इसीलिए अन्य किसी स्पर्धायुक्त वस्तु का अस्तित्व बतलाने से यहाँ अपमान व्यक्त हुआ। अनेन न्यायेन = इसी प्रकार = जिस प्रकार यहाँ उपमानत्व की स्थापना से अपमान हुआ उसी प्रकार। इसीलिए यह पूर्वोक्त प्रकार का ही विभाग है न कि अन्य कोई स्वतन्त्र प्रकार। प्रतीप = जो कभी भी किसी के प्रति उपमान बनना बरदास्त नहीं करता उसका उपमानत्व सिद्ध करने से इसमें [प्रतीपता = अर्थात्] प्रतिकूलता जो कभी आती है। आशय यह है कि यद्यपि उचित यह है कि जो अधिक गुणवाला हो वह उपमान बनाया जाए और जो न्यून गुण वाला हो वह उपमेय, तब भी यहाँ गुणों में इस प्रकार का प्रकर्ष ही दिखलाया जाता है जिससे न्यून गुण वाली वस्तु भी उपमेय बन सके। [रत्नाकरकार ने जो प्रतीप की न्यूनताप्रतिपादक विधा के लिए निम्नलिखित —]

‘विष्णु को अभिनव लक्ष्मी, शिव को चन्द्रमा और इन्द्र को जो उच्चैःश्रवा [कान ऊँचे रखने वाला अत एव तन्नाम का] अश्व दिया इसका तो गणना ही कहाँ ? पिपासा से आतुर [अगस्त] ऋषि को जिसने अपना शरीर ही [समुद्र ने] दे डाला उस समुद्र से भिन्न बोधिसत्व संसार में कौन हो सकता ?’

पद्य [उद्धृत किया है इस] में अन्य [रत्नाकरकार] के मत के अनुसार भी प्रतीप नहीं सिद्ध होता, क्योंकि यहाँ जो अधिक गुण वाले लक्ष्मी आदि पदार्थ हैं इनमें कम गुण वाले किसी पदार्थ से न्यूनता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। यहाँ तो लक्ष्मी आदि के दान की अपेक्षा देह के दान में अधिक गुणत्व = उत्कृष्टत्व मात्र प्रतिपादित है। इसीलिए समुद्र के स्वदेहदान की अपेक्षा करके यहाँ यह वाक्यार्थ प्रतिपादित करना चाहा है कि लक्ष्मी आदि के दान से समुद्र का उत्कर्ष ही क्या ?

यह तो केवल वस्तुस्थिति मात्र है, अलंकार नहीं। अस्तु जने भी दिया जाए। अधिक विस्तार से क्या ? ॥

विमर्श—इतिहास—

प्रतीपालंकार का पूर्वरूप प्रथमतः दण्डी की विपर्यासोपमा में मिलता है। काव्यादर्श में उन्होंने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

‘वदाननमिवोत्रिद्रमरविन्दममूदिनि । सा प्रतिद्विविपर्यासाद् विपर्यासोपमा मता ॥’ २११७ ॥

‘खिला अरविन्द तुम्हारे मुख के समान है—’ यह जो उपमा है इसमें प्रतिदि का विपर्यास है अतः यह विपर्यासोपमा है। प्रतिदि तो उपमान रूप में चन्द्र को है, मुख की नहीं। यहाँ इसे उलट दिया गया है। यही उलटाने विपर्यास है। मामद, वामन और उद्भट में इसे हम नहीं पाने। उद्भट ने इसे अपनाया है और स्वतन्त्र अलंकार के रूप में इसे प्रस्तुत किया है—

रुद्रट—‘यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निम्नने वापि ।

उपमेयमति स्तोतु दुरवस्थमिति प्रतीप स्यात् ॥’

मिस [अलंकार] में उद्देश्य होता है उपमेय की अधिक प्रशंसा, और तर्क या तो उस पर जनकांशं प्राप्ती है कृपा, या की चानी है उसकी निन्दा, और इन दोनों का उपाय रहना है यह बतलाना कि उपमेय तुलना में किसी के समान है, वह अलंकार प्रतीप कहलाएगा, इसलिए कि इस प्रकार की वृत्ति में दुरवस्थता अर्थात् वास्तविक स्थिति के विपरीत स्थिति रहती है।

[१] प्रथम का उदाहरण—

‘वदनमिदं सममिन्दोः सुन्दरमपि ते कथं चिरं न भवेत् ।

मलिनयनि यत् कपोली लोचनसलिलं हि कञ्जलवत् ॥

प्रिये ! तेरा मुख केवल सुन्दर [कान्तिमान्] है तो क्या ? यह मदा के लिए चन्द्रमा के समान क्यों नहीं होगा [कर्क का प्रातिनिध्य करने के लिए] हमने कपोलों को कञ्जल मिश्रित आँसू मलिन भी जो बना रहे हैं जो। यहाँ मुख की अधिक प्रशंसा उद्देश्य है। वही के लिए चन्द्र को उपमान रूप में प्रस्तुत किया गया है। वास्तविकता के विपरीत होने से इसे प्रतीप नाम दिया गया।

[२] उपमान योजना द्वारा निन्दा के माध्यम से उपमेय की भुक्ति का उदाहरण रुद्रट में ‘गर्वमसंवाक्ष०’ पद्य ही है। हममें उपमानयोजना द्वारा निन्दा करने का अर्थ उपमेय की वास्तविक स्थिति को उपमान की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट, अनुपम, अश्रुतिव, अनुपमेय वा अद्वितीय बतलाना है। मम्मट और सर्वस्वकार ने रुद्रट की इस स्थापना को इसी रूप में स्वीकार कर लिया है।

प्रथम प्रतीप रुद्रट तक ही सीमित रहा। न तो मम्मट और सर्वस्वकार ने ही इसे स्वीकार किया और न रत्नाकराकार आदि ने। परवर्ती अन्य आचार्यों ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है।

मम्मट—‘आश्लेष उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।

उत्प्रेयं यदि च कस्यापि तिरस्कारनिवन्धनम् ॥’

उपमान पर निरर्कता का आश्लेष अथवा उसी उपमान को अपमानित करने के लिए उपमेय बतलाना प्रतीप कहलाता है।

उदाहरण के रूप में मम्मट ने लावण्योक्ति, ए यदि दाव, गर्वमसंवाक्ष० तथा ‘अहमेव गुण०’ पद्य प्रस्तुत किए जिन्हें सर्वस्वकार ने भी उद्धृत कर दिया है। इतना ही नहीं उन्होंने इन उदाहरणों में की विशेषताएँ मानी थीं वे भी सर्वस्वकार ने ज्यों की त्यों मान ली हैं। वस्तुतः सर्वस्व के प्रतीप का प्रायः अश्रु अश्रु काव्यप्रकाश के प्रतीप से मिलता है। इस प्रकार प्रतीप को प्रस्तुत रूप में जाने का पूरा श्रेय मम्मट को है, यद्यपि उसके पृथक् अलंकारत्व पर उनके पहले

रुद्र को दृष्टि जा चुकी थी और 'गर्वमसंवाद्यं' में रुद्र की मान्यता को मम्मट ने भी वर्गीकार कर लिया था। सर्वस्वकार प्रतीप के लिए मम्मट के ऋणी हैं।

रत्नाकर—होशंगाबाद की नर्मदा जी के समान विमर्शिनी का जो पाठ यहाँ चौड़ा हो गया है उसका कारण उसमें तना के समान रत्नाकर का मिलना है। रत्नाकरकार, जैसा कि कहा जा चुका है अप्रसिद्ध उपमान वाले स्थल में उपमानोपमेयभाव की निष्पत्ति प्रतीप की निष्पत्ति के बाद मानते हैं अतः उन्होंने प्रतीप लक्षण में उपमान को स्थान नहीं दिया है। उसके स्थान पर उन्होंने अधिकगुण शब्द रत्ना है। इसी प्रकार उपमान के आक्षेप और उपमेयता को भी उन्होंने एक 'अनादर'-शब्द में संगृहीत कर दिया है। उनका लक्षण यह है—

'अधिकगुणस्यानादरः प्रतीपन्' ॥ २० ॥

'अधिक गुण वाले पदार्थ का अनादर प्रतीप कहलाता है।' विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार के प्रथम संशोधन [उपमान के स्थान पर अधिकगुणशब्द के प्रयोग] पर तो आपत्ति की है किन्तु द्वितीय संशोधन पर वे मौन हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने ग्रन्थकार की ओर से यह स्फार्प दी है कि वे दोनों प्रतीपों को दो स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं, इसीलिए उन्होंने दोनों का समन्वय नहीं किया। सर्वस्वकार ने जहाँ एक ही नाम से अनेक अलंकारों का निरूपण किया है वहाँ उन्होंने उन्हें पृथक्-पृथक् सूत्रों में रखा है। व्याघात, समुच्चय आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। पर्याय को एक सूत्र में रखा है। उससे लगता है कि वे उसके दोनों भेदों को स्वतन्त्र दो अलंकार नहीं मानना चाहते। यहाँ सर्वस्वकार ने दोनों प्रतीपों को भी एक ही सूत्र में रखा है। वे निश्चित ही दोनों को एक ही मानते हैं। मम्मट ने भी ऐसा ही माना है। विमर्शिनीकार का जो यह कहना है कि दोनों प्रतीपों में कोई सामान्य लक्षण नहीं है उसका उत्तर रत्नाकर के सूत्र से मिल जाता है। एक ही सूत्र में एक ही अलंकार के दो प्रकारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख यदि इस कवचना का पोषक है कि सूत्रकार दोनों प्रकारों को दो स्वतन्त्र अलंकार मानना चाहता है तो कार्यकारणभावमूल अतिशयोक्ति [पृ० ४४] और उसके पूर्व व्याजस्तुति [पृ० १८] के सूत्र में निर्दिष्ट प्रकारों को भी स्वतन्त्र अलंकार मानना होगा सर्वथा यहाँ रत्नाकर का पक्ष प्रबल है।

रत्नाकरकार ने प्रतीप में अन्य विचित्रियों का भी अनुसन्धान किया है। विमर्शिनीकार उस पर भी मौन हैं। अधिकगुण के अनादर के ही समान न्यूनगुण का आदर भी एक ऐसी ही विचित्रिणी है। उसका उदाहरण 'मणमुग्रं' गाथा से दिया है—अिसकी संस्कृत छाया यह है—

'स्तनभुजमूलनितम्बान् प्रियाया नीर्णाम्बरायाः प्रेक्षमाणः ।

मुसले व्यापृताया बहु मन्यते रोरम् ॥'

'गरीब गृहिणी मुसल चला रही है। उसकी साड़ी जगह जगह से फट चुकी है। हाथ उठाने में उसके स्तन, भुजमूल तथा नितम्ब उससे बाहर साफ दिखाई देते हैं। उसे इस स्थिति में देख उसका प्रिय दारिद्र्य को ही बहुत आदर दे रहा है।'

यहाँ आर रोर शब्द का अर्थ दारिद्र्य है। सर्वस्वकार मंथ के ही श्लोकांतरित में इस शब्द का इसी अर्थ में इस प्रकार प्रयोग मिलता है—

'विभृष्वता सौरम-रोर-दोषं वन्दित्रतं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः ।

विकारवरे कस्य न कर्णिकारे प्रापेन दृष्टेर्वृषे विरोधः ॥'

प्रीभ में कर्णिकार [अमलनास] फूटा तो दर्शक की दृष्टि से नासिका की झटप हो गई । दृष्टि हमने सुनी वरु को प्रशंसा करती थी और नासिका जमे सुगन्ध में रोर = दरिद बनलानी थी । [६।१३ श्रीकण्ठचरित] ।

उपपद्यद्वाचित—ने दोनों प्रतीपों के लिए दो पृथक् लक्षण बनाए हैं—

[१] प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।

[२] अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यत्वानादरस्य तत् ॥

उपमान को उपमेय बतलाना प्रतीप तथा अन्य उपमेय का मिलना दिखलाकर वर्णनीय का अनादर भी । उन्होंने उदाहरण के रूप में प्रथम के लिए 'यत्त्वन्नेत्र०' पद्य दिया है जो काव्यक्रिया के उदाहरण के रूप में सर्वस्व में भी आया है तथा द्वितीय के लिए उद्धृत का ही सर्व सम्मानित 'गर्वममवाह्यम्०' पद्य उद्धृत किया है ।

पण्डितराज—प्रतीप के विवेचन में दोलार्यित चिह्न के दिखाई देने हैं । उन्होंने उपमा भकरण में उपमेयोपमा के ही समान प्रतीप को भी उपमा का ही रूपान्तर मान लिया है । प्रतीप भकरण में भी वे विद्युद विवेचन करने के पश्चात् उसी स्वर को और सबलता के साथ पुरराने दिखाई देने हैं । उन्होंने प्रतीप के दोष भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं—

[१] प्रसिद्धोपमानवैपरित्येन वर्ण्यमानस्योपमेयैक प्रतीपम्—

प्रसिद्ध उपमान के विपरीत बर्णित किया जा रहा सादृश्य एक प्रकार का प्रतीप होता है ।

[२-३] उपमानोपमेयोरन्यतरस्य किञ्चिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयतोत्कर्ष परिदत्तुं द्वितीयप्रदर्शनो-
ल्लास्यमान सादृश्यमपर द्विविधम् ।

उपमान और उपमेय में से किसी एक का किसी गुण को लेकर अद्वितीयत्व प्रकाशित करने से निकल रहा सादृश्य दूसरे तथा तीसरे प्रकार का प्रतीप होता है ।

[४] उपमानस्य कैमर्ष्यं चतुर्थम् ।

उपमान की निरर्थकता चौथा प्रतीप होता है तथा—

[५] सादृश्यविघटन पञ्चम्—

सादृश्य का विघटन पाँचवाँ ।

इनके उदाहरण—

[१] 'किं जल्पसि सुगन्धया हन्त ममाङ्गं सुवर्णवर्णमिति ।

तद् यदि पतति हुताग्निं नदा हनाग्ने तवाद्गवर्णं स्यात् ॥'

अग्नि हुताग्ने ! भोलैयन में यह कहती है कि मेरा भाँव सोने से रंग का है । वही भाँव के के रंग का हो सरेगा यदि त्वाग में तपे ।' यह उपमान की उपमेयता से होने वाला भेद ही है । 'यदि तदा' से यह अनिश्चयोक्तिगमिन हो गया है ।

[२] उपमान की अद्वितीयता के परिहार का उदाहरण—पण्डितराज के मत में भी 'अहमेव गुरु' पद्य माना जा सकता है ।

[३] उनके मत में उपमेय की अद्वितीयता के परिहार का उदाहरण भी 'गर्वममवाह्यम्०' पद्य माना जा सकता है । इसी प्रकार

[४] उपमान की निरर्थकता के लिए 'रावण्यौकसि०' तथा

[५] सादृश्य विघटन के लिए 'ए एहि किमपि०' ।

पण्डितराज ने इनमें से प्रथम तीन में उपमा ही माना उचित माना है, चतुर्थ को आक्षेपालंकार और पंचम को अनुक्त्यमक व्यतिरेक। समर्थन में उनके तर्क हैं कि प्रथम तीन में सादृश्य को निष्पत्ति ठीक उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार उपमा से। जहाँ तक प्रसिद्धिविपरीतता का प्रश्न है—उससे उपमा में ही एक विच्छिन्न का समर्थन करना अधिक उचित है न कि स्वतन्त्र अलंकारता का। [दण्डी ने ऐसा किया भी है। उन्होंने इसे विपर्यायोपमा नाम दिया है]। उनका यह उद्घाटन इस विषय में उल्लेखनीय है—‘न हि द्राक्षा माधुर्यातिशयेन पार्थिवान्तराद् विलक्षणमिति अपार्थिवी भवति’—द्राक्षा अतिशय माधुर्य के कारण अन्य पार्थिव पदार्थों से विलक्षण होती है इसका अर्थ नहीं होता कि वह अपार्थिव हो जाती है। विपरीत उपमा, उपमान, या उपमेय की अद्वितीयता का परिहार उपमा को अनुपमा या उपमेतर नहीं बना सकता, उसमें अतिशय भर ला सकता है। पण्डितराज कल्पना के धनी हैं। उन्होंने उपमानोपमेय के तिरस्कार के ही समान पुरस्कार में भी एक छोटे प्रकार का प्रतीप मानने की आपत्ति प्रस्तुत की है और उसके लिए एक स्वनिर्मित उदाहरण भी दे दिया है।—वस्तुतः पण्डितराज भूल गए कि अलंकारों का भेदक तत्त्व वस्तुभेद या योजनाभेद नहीं, चमत्कारभेद है। प्रतीप में चमत्कार सादृश्य से नहीं विपरीत्य से होता है। यह तथ्य स्वयं पण्डितराज ही अनेक बार दुहराते, बतलाते और जतलाते आए हैं। अन्य भेदों में भी यह तर्क लागू हो सकता है। उपमालंकार के प्रकरण में नागेश ने गुरुमर्मप्रकाश में पण्डितराज को आड़े हाथों लिया भी है।

विश्वेश्वर ने प्रतीप के दो ही भेद माने हैं—उपमान की निरर्थकता तथा उपमेयता—

‘उपमानानर्थक्यं प्रतीपमस्योपमेयत्वम् ।’

इनका अनुगत सामान्य उन्होंने इस प्रकार बतलाया है—‘सामान्यलक्षणं तु यन्निष्ठसादृश्य-प्रतियोगितानामयत्वाभिमतोपमानकत्वं [तत्त्वं प्रतीपत्वम्]। अर्थात् उपमान में जिसका सादृश्य अस्वीकार किया जाय वह उपमेय प्रतीप। अस्वीकृति त्वयं उपमान में भी बतलाई जा सकती है और अन्य किसी में भी। पण्डितराज द्वारा बतलाए समस्त भेद उन्होंने सांकेतिक रूप से उक्त दो भेदों में ही अन्तर्भूत मान लिए हैं, यद्यपि उनके प्रतीपविरोधी स्वर पर विश्वेश्वर का पुराणवादी समीक्षक चुप है।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्पकारिका प्रतीप पर यह है—

‘उपमानस्य वैमर्थ्यादुपमेयत्वकल्पनम् ।

द्विषा प्रतीपं काव्येतदुपमानत्वतोऽपि च ॥’

[सर्वस्व]

[सू० ७१] वस्तुना वस्तुन्तरनिगूहनं मीलितम् ।

सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्वयार्थभिधानं मीलितम् । न चायं सामान्यालंकारः, तस्य हि साधारण-गुणयोगान्नेदानुपलक्षणं रूपम् । अस्य तूत्कृष्टगुणेन निष्कृष्टगुणस्य तिरोधान-मिति महाननयोर्विशेषः । सहजेन यथा—

‘अपाङ्गतरले दशौ मधुरवक्रवर्णा गियो

विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम् ।

इति स्फुरितमङ्गके सृगदृशां स्वतो लीलया

यदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते ॥’

अत्र दृक्कारख्यादिना स्वामाचिकेन लक्ष्मणा मद्बोद्धकृतं दृक्कारख्यादि
तिरोधीयते । आगन्तुकेन यथा—

‘ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे
रुचन्पातशङ्कितधियो विचक्षा द्विपस्ते ।

अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्धृतां सरुम्पं

तेषामहो वत भियां न बुधोऽप्यमिदः ।’

अत्र हिमाद्रिकन्दरानिवाससामर्थ्यप्रतिपक्षेन शैत्येन समुद्भावितावाग-
न्तुकौ कम्परोमाञ्चौ भयकृतयोस्त्रयोस्त्रिरोऽयकौ । तिरोधायकत्वाद्देश घ
मीलितव्यपदेशः ।

[सू० ७१] एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का [तिरोधान मीलित नामक अलंकार]
कहलाता है ॥

[६०] सद्गान अथवा कर से आए किमी धर्म के द्वारा किमी भिन्न वस्तु के द्वारा जो
किमी भिन्न वस्तु का [निगूरन अर्थात्] तिरोधान वह ‘मीलित’ इस अर्थानुरूप नाम से पुकारा
जाता है । यह सामान्यालंकार नहीं है, उसका स्वरूप साधारण गुणों के कारण भेद का समझ में
न आता है । इसके विरुद्ध इस [मीलित] का स्वरूप है उत्कृष्ट गुणों वाली वस्तु के द्वारा निकृष्ट
गुणों वाली वस्तु का तिरोधान । इस प्रकार इन दोनों में मद्बोद्ध भेद है ।

सद्गान धर्म के द्वारा, यथा—

‘अपाग सक धूमनी दृष्टि, अधुर किन्तु वक्र गगो वाली बोली, विज्ञान के भार ने धीमी चाक,
अनीव कान्त मुख, यह सब तो उस मृगनयनी के भाँग में अपने आप स्फुरित है, अतः [मधुरान
अनित] नशा आत्राने पर भी दिखाई नहीं पक रहा है ।

—यहाँ दृष्टिवाञ्छस्य आदि धर्म स्वामात्रिक धर्म हैं । इनके द्वारा नये से उत्पन्न दृष्टिवाञ्छस्य
आदि छिपा दिए गए हैं ।

कर से आए धर्म के द्वारा, यथा—

‘घुम्हारे जो शत्रु तुम्हारे दूर पडने की शका से हिमाद्रि की गुफाओं में विचरनापूर्वक सदा
ही समाद रहते हैं, उनके द्वारा रोमांचित और कम्पित होने रहते हैं तब भी उनके भय का
धान चतुरवर्गों को भी नहीं होता ।’

—यहाँ हिमाद्रि [वक्रोंके पर्वत = हिमाचल] की गुफाओं में विकास के कारण प्राप्त ठंड के
कारण उत्पन्न अतएव ऊपरी धर्मरूप जो कम्प और रोमांच हैं वे भय से उत्पन्न नहीं [कम्प
और रोमांच रूपी धर्मों] के तिरोभावक हैं । और तिरोभावकता के कारण ही मीलित यह नाम
भी पडा है ॥

विमर्श—

रत्नाकरकार मीलित से सामान्य को पृथक् नहीं मानने । वे सर्वस्वकार की स्थापनाओं का
उत्तर देते हुए लिखते हैं—

‘पृथक् सामान्यमीलितबोल्डगं न कार्यम्, भेदाभावात् । तथा हि यत्र सामान्य भवतिरिच्यते
तत्र यस्य भेदानवगमस्तस्य किं स्वरूपमवगम्यते न वा । आद्ये षट्पदयोः पदयोरेव वा यथा निजनि-
वरूपप्रतीत्याऽऽस्येव भेदप्रतीति, तथेहापि स्वादिति न मीलितम्, नापि सामान्यम् । द्वितीये

निगमस्वरूपस्यानवगमेऽधिकशुणेनाच्छादनमेव निमित्तम्, न समानशुणत्वम् । तथास्वे लताज्यो-
त्तनाद्रेरपि समानशुणत्वसम्भवात् कथं नु निजतयानवगमः । च च स्वरूपाच्छादनेऽपि सहजागन्तु-
यत्वाद् विशेषादलङ्कारभेदो युक्तः, प्रतीतिसाम्येनैकस्यैवालङ्कारस्य भेदप्रभेदाभिधानोपपत्तेः परिवृ-
त्त्यादिवत् । ००० नापि शुणसाम्यविवक्षया भेदस्यावगमेऽप्यनवगमाभिधानं सामान्यस्य मीलिताद्
विशेषः, मदकृतस्याप्यपाक्षतरत्वादेर्भेदावगमसम्भवात् । तेनोदाहरणेषु समःनामिहारनिमित्तस्य
स्वरूपावगमस्य संभवादेक एवालङ्कारो वाच्यः, स च मीलितनामैव, वस्त्वन्तरेणावच्छादनात् —

भेदेनानुपलम्भस्य वलवद्गुणसङ्गतिः ।

सामान्ये मीलिते तुक्यो हेतुस्तेन न भिजता' ॥

सामान्य और मीलित के लक्षण पृथक्-पृथक् नहीं किए जाने चाहिए, क्योंकि इनमें कोई भेद
नहीं है । यह इस प्रकार कि आप [स्वयंस्वकार] जहाँ सामान्य मानते हैं वहाँ जिसके भेद का ज्ञान
नहीं होता उसके स्वरूप का ज्ञान होता है या नहीं । होता है तो जैसे घट और पट या पट और
पट का अपने अपने रूप के ज्ञान से भेद प्रतीत होता है, वैसे ही यहाँ भी भेद प्रतीत होगा, तब
न तो मीलित ही होगा और न सामान्य ही । स्वरूपज्ञान नहीं होने का पक्ष माना जाय तो
निगमस्वरूप के ज्ञान न होने में कारण अधिक शुण वालो वस्तु के द्वारा आच्छादन ही माना
जायगा, शुणसाम्य नहीं, क्योंकि तब [विमर्शिनी में आगे आने वाले पथ अभेदमूढ० में] लता
[तथा सामान्यालंकार के उदाहरण के रूप में सर्वस्व में आने वाले पथ 'मलयजरस०' में]
ज्योत्सना आदि में भी निगमस्वरूप का ज्ञानामात्र क्यों नहीं रहता [अर्थात् उनके स्वरूप का ज्ञान
क्यों होता है] क्योंकि शुणसाम्य तो उनमें भी है । जहाँ तक [हमारे द्वारा स्वीकार किए गए]
स्वरूपाच्छादन रूपी कारण का संबन्ध है उसमें यद्यपि 'सहजातता और जागन्तुकता' ये दो
विशेषताएँ रहती हैं किन्तु उनके आधार पर अलंकार भेद नहीं माना जा सकता, परिदृष्टि आदि
के समान एक ही अलंकार में दो प्रकारों की कथना भर की जा सकती है क्योंकि प्रतीति दोनों में
एक सी ही रहती है । ०००० । यह भी नहीं कहा जा सकता कि शुणगत साम्य की विवक्षा से,
भेद का ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञान न होने का कथन मीलित से सामान्य का भेदक है, क्योंकि
[मीलित में उदाहरण अर्थांग० में आप] नदी से उत्पन्न नेत्रचांचक्य का भी भेद प्रतीत होना
संभव है । इस कारण [मीलित और सामान्य दोनों के] उदाहरणों में जब स्वरूपज्ञान संभव है
जिसके आधार पर दोनों का एक ही लक्षण [समानामिहार०] बनाया जा सकता है तब अलंकार
एक ही बतलाया जाना चाहिए और उसका नाम मीलित ही होना चाहिए क्योंकि इसमें अन्य
वस्तु का मीलन = आच्छादन रहता है । निष्कर्ष यह कि —

[सामान्य और मीलित से वस्तु का] ज्ञान भेदपूर्वक जो नहीं होता उसका सामान्य और
मीलित [दोनों] में एक ही हेतु है 'अधिक शुण वालो वस्तु की सन्निधि' । अतः इन दोनों में
भिन्नता नहीं है ।

इस पूरे प्रघट्टक का निष्कर्ष यह हुआ कि मीलित के ही समान सामान्य में भी वस्तुस्वरूप
का तिरोधान रहता है तथा सामान्य के समान मीलित में भी वस्तुस्वरूप में भेदरोध । वीचगत
तरतमभाव या मात्राभेद को लेकर एक ही वृत्तिप्रकार को दो अलंकारों में विभक्त करने की
अपेक्षा, दो प्रकारों में विभक्त करना अधिक उचित है और उन दोनों प्रकारों को एक ही
अलंकार मानना । 'इस अलंकार को नाम कौनसा दिया जाए मीलित या सामान्य' इस पर
रत्नाकरकार का कहना है कि दोनों में चमत्कार का कारण एक ही है—'वस्तुस्वरूप का
तिरोधान', अतः मीलित नाम देना ही उचित है । विमर्शिनीकार रत्नाकरकार की इस मूल

स्थापना का निराकरण नहीं कर पाए हैं। वे रत्नाकरकार के भवान्तर विकल्पों पर सर्वस्वकार का पञ्च स्पष्ट करने तक मीमित हैं। यह तथ्य उनकी इस विमर्शिनी से स्पष्ट है—

विमर्शिनी

वस्तुनेति । लक्ष्मणेति । चिह्नरूपेण धर्मोपसर्गः । तस्य हि सहभागान्तुकरत्वेन द्विवि-
घवाद्वाप्यपि द्विप्रकारवमत्तोपसर्गनेनोक्तम् । ननु वस्तुवन्तरस्य वस्तुवन्तरेण निगूहितत्वे-
नैकारयोपनिबन्धात्मिकमयं सामान्यालङ्कार एव न भवतीत्यथाशङ्क्याह—न चावभिरयादि ।
साधारणगुणयोगादिति । यद्वाहः—

‘प्रस्तुतस्य यदभ्येन गुणसाध्यविवचया ।

देकारभं यत्पते योगात्तरामामान्यमिति स्मृतम् ॥’

भेदानुपलब्धामिति । प्रस्तुताप्रस्तुताभिनवः महदास्य वस्तुद्वयस्यासामान्याकारतया पृथ-
गवगतस्याप्येकनरविशेषस्मरणादुभयविशेषाप्रहणाच्चेकतरत्वेनैव निश्चयोपादानाद्दृढपट-
वदभेदेन प्रातिस्विक्केन रूपेणानुपलक्षण यथावगमनमभ्यवसाय इत्यर्थः । यथा—राज-
गङ्गादी शुक्तिकारजतयोः सनिकर्षेणासामान्याकारतया पृथगवगमनेऽप्येकतरविशेषस्मरणा-
दुभयप्र विशेषाप्रहणाकस्यचिदेकतरत्वेनैव निश्चयो जायते तथैवेहापि ज्ञेयम् । मीलिते
पुनर्न्यूनगुणस्याधिकगुणेन तिरोहितरथासामान्याकारकस्येनाप्युभयावगमो न, न्यून-
गुणाच्छादकतया तद्देहावष्टम्भेनाधिकगुणस्यैव प्रतिभासनात् । अत एवात्र मदीदृश्यकृतस्य
इत्यतएवादेर्भावगममाश्रं, तस्य मदीदृश्यापूर्वमपि तथैवावस्थानात् धलयता स्वाभाविकेन
इत्यतएवादिनाच्छादितत्वात् । सामान्ये पुनः—

‘अभेदमूढस्तवकाभिरागता छताभिरौपश्लुलितालिपकृत्किभिः ।

इयं पुरोमादनमतितालका न लक्षयते व्यक्तमवात्मनस्तनी ॥’

ह्यादादीं निकुञ्जमभ्यगताया घोषितं पृथग्देहावष्टम्भेनासामान्याकारतयावगमनेऽपि
साधारणगुणयोगाल्लताभ्यो भेदेनानभ्यवसायः । अत एव ‘न लक्षयते व्यक्तम्’ ह्यादा-
पुक्तम् । अतश्च स्वरूपेणावगतस्यापि भेदानभ्यवसायः सामान्यं, यद्यत्ता तिरोहितत्वात्-
स्वरूपानवगमो मीलितमिति स्थितम् । अत एवाह—यदाननयोर्विशेष इति । एवं तर्हि समा-
नगुणत्वस्यावितोपाद्वैयम्यमागोदाहरणाद्वावभिसारिकादिवज्जयोस्नादेरपि भेदानुपलक्षणं
किं न स्यात् । ननूक्त एवात्र परिहारो यत्सामानगुणस्येऽप्येकतरविशेषस्मरणादुभयविशेषा-
प्रहणाच्चेति । एवमपि कथमिति चेत्, कस्यार्थं पर्यनुयोगः, किं ज्ञातुस्त ज्ञेयस्य वा ।
पृथग्व्यवस्तुत्वान्नेहास्माभिरुक्तम् । इह च प्रस्तुतस्यैवाप्रस्तुताभेदेनानुपलक्षणं विवचि-
तम् । तदुतत्वेनैवाभेदद्वारेण नरमादरस्यस्य प्रतिविपाद्विपितत्वात् । न चरमप्यन्यस्यान्य-
तया प्रतीतिरस्य भ्रान्तिमत्स्यन्तर्भावां धाच्यः । तस्य हि प्रकृतवस्त्वाच्छादकत्वेनैव प्रतीति-
लक्षणम् । इह तु तथैवेऽपि वस्तुवन्तरस्य पृथग्व्यवस्तुत्वस्य प्रतिविपाद्विपितत्वात् । न चास्य संज्ञा-
मात्रमेतद्विश्याह—तिरोपायकत्वादिति । अतश्च पूर्वं ‘तदन्वयार्थाभिधान मीलितमित्युक्तं
निर्वाहितम् ॥

वस्तुना । लक्ष्मणा = चिह्नरूप धर्म से । वह दो प्रकार का होता है सद्ब तथा आगन्तुक जनः
यह अलङ्कार भी दो प्रकार का होता है यह बतलाया । ‘अन्य वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का
जो छिपाया जाना है वह सामान्यालङ्कार में भी होता है, जन’ दोनों में एकरूपता रहने से
यह सामान्यलङ्कारस्वरूप ही क्यों नहीं माना जाता—येसी शक्य ठाकर कहते हैं—‘न चायम् ॥
साधारणगुणयोगात् = गुण साम्य = जैसा कि [मम्मट ने] कहा है—

‘गुणसाम्य वतलाने के लिए, प्रस्तुत का, अन्य के साथ, सादृश्य संबन्ध के आधार पर, अभेद वतलाया जाता है वह [सामान्य नामक अलंकार कहलाता है, काव्यप्रकाश] ।

भेदानुपलक्षणार्थ = भेद समझ में न आना = यद्यपि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो समान वस्तुओं का आकार सामान्य = [एक समान या अभिन्न] नहीं होने से पृथक्-पृथक् ज्ञान तो होता है तथापि इस ज्ञान में या तो किसी एक के विशेष का बोध नहीं हो पाता या फिर दोनों के विशेषों का; फलतः इस ज्ञान से जो निश्चय होता है उसमें दोनों वस्तुएँ किसी एक रूप में ही विदित होती हैं, इस प्रकार इसमें दोनों वस्तुओं का भेद घट और पट के समान स्वरूपगतरूप से विदित नहीं होता फलतः जैसा प्रारम्भिक बोध होता है वैसा ही अन्तिम निश्चय भी । उदाहरणार्थ जैसे राजगंज [कदाचित् रायल मार्केट Royal market] आदि में जहाँ चाँदी और सीप के ढेर लगे रहते हैं और दूर से दो दिखाई देने पर भी उनमें चाँदी का ढेर कौनसा है और सीप का ढेर कौनसा यह अन्तर प्रतीत नहीं होता । सीप और चाँदी पास पास रहती है । इनके आकार अलग-अलग रहते हैं अतः उनका बोध अलग-अलग होता है तथापि किसी एक का विशेषता का स्मरण न होने या दोनों की विशेषताओं का भान न होने से किसी व्यक्ति को दोनों का निश्चय एक ही रूप में होता है वसी प्रकार यहाँ [समुच्चय में] समझना चाहिए । [राजगंज कदाचित् रायलमार्केट है वा राजा की मंडी, जहाँ चाँदी और छिपिनियों के अलग-अलग ढेर लगे रहते होंगे । दूर से दो दिखाई देने पर भी उनमें, चाँदी का ढेर कौन है और सीप का कौन यह अन्तर प्रतीत नहीं होगा] इसके विपरीत मीळित में दोनों का ज्ञान सामान्यरूप से भी होता हो ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें अधिक गुणवाला पदार्थ कम गुण वाले पदार्थ को छिपा देता है और [क्योंकि कम गुण वाले पदार्थ को अधिक गुण वाले पदार्थ दबा देता है] इसलिये कम गुण वाले पदार्थ के स्थान पर भी एकमात्र अधिक गुणवाले पदार्थ का ही भान होता है । इसलिये इस [मीळित के उदाहरण ‘अपाङ्गतरले०’-पद्य] में नशे से उत्पन्न नेत्रचाञ्चल्य आदि का ज्ञान एकदम नहीं होता क्योंकि वे [नेत्रचाञ्चल्य आदि] नशे के पहले से उसी रूप में विद्यमान रहते हैं और उनसे अधिक बलवान् स्वामाविक नेत्रचाञ्चल्य आदि से वे दबा दिए गए हैं । इसके विरुद्ध सामान्य के—

सामने की दबा से नचाए गए अलकों तथा अधामन [बड़े-बड़े] स्तनों वाली यह सुन्दरी—
किञ्चित् हिलती भ्रमराणी से युक्त तथा स्तवकों से लदी लताओं से इस प्रकार अभेद को प्राप्त हो गई है कि स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रही है ।’

इत्यादि [उन] स्थलों में [जिनमें रत्नाकरकार ने मीळितालंकार माना है] निजुंज के बीच स्थित स्त्री का भिन्नरूप में निश्चय नहीं हो पा रहा है, इसमें कारण है साधारणगुणों का योग, यद्यपि पहले नहीं की अन्य स्थान पर अपने असामान्य रूप में विदित होती है । इसलिये ‘स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती’ यह कहा गया है । इस कारण सिद्धान्त यह ग्रन्थ हुआ कि ‘आरम्भ में स्वरूपतः घात पदार्थ का भी अन्त में भिन्न रूप में निश्चय न होना सामान्य कहलाता है तथा बलवान् के द्वारा छिपा दिए जाने से आरम्भ में भी स्वरूप का ज्ञान न होना मीळित’ । इसलिये कहा—‘महाननयोर्विशेषः’ = इनमें महान् अन्तर है । [रत्नाकरकार द्वारा शंका उठाई गई है कि] उक्त क्रम से जब दोनों में समानगुणों का महत्त्व समानरूप से स्वीकार किया जा रहा है तब आगे [सामान्यप्रकरण] कड़े घाने वाले [मलयबरस आदि] उदाहरणों में अभिसारिका आदि के समान ज्योत्सना [चाँदीनी] आदि का भी भेद क्यों नहीं छिप जाता ? इसका तो उत्तर दिया ही जा चुका है कि—‘या तो यहाँ किसी एक की ही विशेषता का ज्ञान होता है

या फिर दोनों की ही विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता। यदि पूछें— 'येता भी क्यों होता है ?' [तो बतलाए कि] यह [जो समानगुणत्वबोध है यह] विनिष्ठ है छात्तुनिष्ठ या हेयनिष्ठ ? [निश्चिन् ही शात्तुनिष्ठ है और हमलिय क्रियस्थिति जो भी हो, महत्त्व ज्ञानस्थिति को ही दिया जाएगा, और ज्ञान यहाँ वैसा ही होता है जैसा हम बता आए हैं] यह विचार अप्रासंगिक है, इसलिए हमने इस पर यहाँ कुछ नहीं कहा। वस्तुतः यहाँ [सामान्य में] केवल प्रस्तुत का ही अप्रस्तुत से भेद प्रतीत न होना विवक्षित रहता है [अप्रस्तुत का प्रस्तुत से नहीं] क्योंकि [केवल] उस [प्रस्तुत] के विषय में ही हुए अभेद बोध के द्वारा यहाँ उस [अप्रस्तुत] का सादृश्य प्रतिपादित करना अभ्येष्ट होता है। [अतः अप्राकारणिक ज्योत्स्ना आदि का भेद छिपना, सामान्य में, आवश्यक नहीं] ऐसा मानने पर, अन्य का अन्यरूप से ज्ञान [भ्रान्तिमान् में भी रहता है अतः उस] के आधार पर इसका भ्रान्तिमान् में भी अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस [भ्रान्तिमान्] में प्रतीतिस्वरूप वस्तु के आच्छादन तक सीमित रहता है जब कि यहाँ [मौलिक में] वैसा तो होता ही है, अन्य वस्तु का पृथक् रूप से भी बोध होता है। अस्तु, रहने भी दिया जाए अधिक विस्तार से कोई लाभ नहीं। सितोषावध्यात् = इत्यादि द्वारा यह बतलाते हैं कि इस [मौलिक] की यह संका केवल सदा ही नहीं है। [यह सार्थक भी है]। इस प्रकार पहले जो 'तदन्वर्थाविधानं मौलिकम्' = कहा या इसका अन्त तक निर्वाह कर दिया।

विमर्श—इतिहास—

मौलिक की कथना पहले यह कहते हैं कि है। उन्होंने इसके सहजपरममूलक और आगन्तुकपरममूलक दोनों भेद भी बतलाए हैं—

'तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नेन हर्षकोपादि ।

अपरेण तिरस्कृत्यते निश्चेनागन्तुकेनापि ॥ ७१०६ ॥

यह अलङ्कार मौलिक कहलाता है जिसमें किसी सरस या आगन्तुक समान चिह्न के माध्यम से किसी अन्य पदार्थ के द्वारा हर्ष कोप आदि छिपा दिए जाते हैं ॥

सदृश धर्म—

त्रिपर्यवेक्षणतरले ह्यस्मिन्ने च स्वभाववस्तुस्थाः ।

अनुरागो नयनयुगे सद्यपि केनोपलक्ष्यते ॥ ७१०७ ॥

उसके दोनों नेत्र विरह देखते और अक्षर रहते हैं। उनमें स्नेह भी है। अतः उनमें अनुराग रहने पर भी उसे कौन जान सकता है।

आगन्तुक =

मदिरामदमरपाटल-कपोल-तललोचनेषु बदनेषु ।

कोपो मनस्विनीनां च लक्ष्यते कामिभिः प्रभवत् ॥

'मदिरा के मद में लाल कपोल तथा नेत्र वाले मनस्विनीयों के चेहरों पर कोप आता है पर कामियों को समझ में नहीं आता।' यहाँ मदिरामद की लाली आगन्तुक लक्ष्य है। उसमें कोप की लक्ष्मी का छिपना प्रतिपादित है।

सम्भट = ने कहते हैं ही अनुसरण इस प्रकार किया है—

'समेत लक्षणा वस्तु वस्तुना यथिगूहने ।

निश्चेनागन्तुभा वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥

उदाहरण भी मम्मट ने रुद्रट से मिलते जुलते दिए हैं। उन्हीं को सर्वस्वकार ने भी उद्धृत कर लिया है।

रत्नाकर—रत्नाकर मीलित और सामान्य को एक ही अलंकार के दो प्रकार मानते हैं, जैसा कि अभी अभी बतलाया गया है। तदनुसार उन्हींने दोनों में अनुगत एक लक्षण मीलित नाम से ही इस प्रकार बनाया है—

‘धर्मसाम्याद् भेदाप्रतीतिर्मीलितम् ।’

—‘धर्मगत समानता के कारण भेद की प्रतीति न होना मीलित कहलाता है।’ विमर्शिन कार ने जिस ‘अभेदम्’ पद्य में सामान्यालंकार माना है, रत्नाकरकार ने मीलित के उदाहरण के रूप में यही पद्य पहले उद्धृत किया है। कान्यप्रकाशकार तथा सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत ‘मलयजरत्न’ पद्य में सामान्यालंकार तथा ‘अपाङ्गतरले’ पद्य एवं ‘वे कन्दरासु’ पद्य में मीलितालंकार की धृक् रूपना पूर्वपक्ष के रूप में रत्नाकरकार ने भी प्रस्तुत की है किन्तु उन्होंने उपयुक्त तर्कों द्वारा इस पार्थक्य का निराकरण भी कर दिया है।

अप्यद्दीक्षित—‘मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते ।

उदा०—‘रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजासुगे ।’

‘सादृश्य के कारण यदि भेद ही न दिखाई दे तो मीलित नामक अलंकार होगा। उदा० यथा—सहज अरण चरण में लाक्षा का रस दिखाई नहीं दिया।’

पण्डितराज = ‘स्फुटसुषुप्तम्यमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिहैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणं वतावन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम् ।

भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिहैः प्रत्यक्षवस्तुनः । अग्रकाशे ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तत्रिमीलितम् ॥’

‘स्पष्ट रूप से समझ पड़ रही किसी वस्तु के चिह्नों के साथ अत्यन्त सादृश्य के कारण, अन्य वस्तु के चिह्नों का भिन्न रूप से गृहीत न होकर अपनी आधार भूत अन्य वस्तु का अनुमान न करा पाना मीलित कहलाता है।’

प्रत्यक्ष वस्तु के चिह्नों के साथ अपने चिह्नों का भेद गृहीत न होने के कारण अप्रत्यक्ष वस्तु का जो अंशान वही मीलित है।

इन लक्षणों के विशेषणों का प्रयोजन बतलाते हुए स्वयं पण्डितराज ने कहा है ‘अनध्यक्षी वस्तुनः = अप्रत्यक्षवस्तु’ अर्थात् वस्तुनः = अप्रत्यक्षता। इसका उद्देश्य सामान्य का निवारण है। सामान्य में दोनों ही वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता रहता है।

चिह्नगत सहजत्व और आयन्तुकत्व को पण्डितराज ने लक्षण में तो स्थान नहीं दिया किन्तु उन्हें उन्हींने उदाहरणों में अवश्य ही अपना लिया है। ‘अपाङ्गतरले’ तथा ‘वे कन्दरासु’ की अभिव्यक्तियों द्वारा पण्डितराज के उदाहरणों की अभिव्यक्ति गतार्थ है।

विश्वेश्वर—‘सहजनिमित्तवधर्मात् सदृशान्वेन वस्तुना वस्तु ।

अपिधीयते यदेतन्मीलितमाहुर्विशेषज्ञाः ॥

संजीविनीकार—चक्रवर्ती की मीलितकारिका—

‘निजेसागन्तुना वापि लक्षणेनान्यगोपनम् । निमीलिताख्यालङ्कारो द्विप्रकारः प्रकाशितः ॥

पाठांतर = विमर्शनी की कुछ पंक्तियाँ चिर्बसागर संस्करण में हमारी दृष्टि से अशुद्ध टपी हैं। प्रमुख स्थल यथा—

[१] 'पटपटवद्भेदेन०' [पृ० ६२८ प० २२] के स्थान पर घटपटवद्भेदेन । रत्नाकर के पूना संस्करण में ऊपर उद्धृत सप्रहकारिका का प्रथम पद भी 'भेदेन' के स्थान पर 'भेदोन'—इसी प्रकार म्पा है ।

[२] 'सन्निकर्षेणासामान्य०' [पृ० ६२८ प० १४] के स्थान पर 'सन्निकर्षेण सामान्य०' तथा

[३] 'उभयावगमो न' [पृ० ६२८ प० १६] के स्थान पर 'उभयावगमो' मात्र छपा है ।

[४] 'वृषदेहावष्टम्भेनासामा०' [पृ० ६२८ प० -] के स्थान पर 'वृषदेहावष्टम्भेन सामा० ।

[५] 'यत् समानगुणः' [पृ० ६२८ प० २७] के स्थान पर 'यत् समानगुण०' ।

मूल में भी 'अदागनरले०' पद्य का पाठ काव्यप्रकाश तथा रत्नाकर में भाष्य इसी पद्य के पाठ में मिल है । उनमें जहाँ 'अयके' है वहाँ निर्गय० प्रति में 'अङ्गकैः' है और उनमें जहाँ तदत्र है वहाँ निगय० प्रति में यदत्र । अर्थसंगति की दृष्टि से काव्यप्रकाश और रत्नाकर का ही पाठ अधिक उद्युक्त है । कु० जानकी की प्रति में अङ्गके तो अङ्गके ही छापा गया है किन्तु यदत्र तदत्र नहीं । इसी प्रकार रत्न० द्विवेदी की प्रति में यदत्र के स्थान पर तदत्र तो छापा गया है किन्तु 'अङ्गकैः' के स्थान पर 'अङ्गकें' नहीं ।

मीलित और सामान्य के भेद पर कुछ विचार तो मीलित को ही इस प्रकरण में हो गया है कुछ भागें भारद्वाजे सामान्य के प्रकरण में होंगी ।

भोज ने आगामी सामान्य को पिहित कहा है और जमे तथा तद्गुण एवं अतद्गुण को मीलित के ही प्रकार के रूप में स्वीकार किया है [६० स० कण्ठा० श५१]

[सर्वस्व]

[सू० ७२] प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकार्त्थ्यं सामान्यम् ।

यत्र प्रस्तुतस्य चस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकार्त्थ्यं भेदानध्य-
यसायादैकरूपत्वं नियध्यते तत्समानगुणयोगात्सामान्यम् । न चैयमपह्नुतिः ।
किञ्चिन्निषिध्य करवचिदप्रतिष्ठापनात् । यथा—

'मलयजरसविलिप्ततन्धो नवहारलताविभूषिताः

सिततरदम्तपत्रकनधनत्ररुचो रुचिरामलांशुकाः ।

शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाष्यतां गता

मियवसति प्रयागति सुधमेघ निरस्तमियोऽभिसारिका ॥'

अत्र मलयजरसविलेपनादीनां चन्द्रप्रमया सह 'अविभाष्यतां गताः'
इत्यभेदप्रतीतिर्दर्शिता ।

[सू० ७२] गुणगत साम्य के आधार पर प्रस्तुत की तद्विध [अप्रस्तुत] के साथ एकरूपता सामान्य [नामक अलङ्कार कहलाता है] ॥

[६०] भिस [अलङ्कार] में प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत वस्तु के साथ साधारणगुणों के आधार पर ऐकात्मता अर्थात् भेद की प्रतीति न होने से एकरूपता बतलाई जाती है वह समान गुणों के संग्रह के कारण सामान्य कहलाता है । यह अपह्नुति नहीं है, क्योंकि [यहाँ] किसी का निषेध कर किसी का प्रतिष्ठापन नहीं रहता । उदाहरण, यथा—

सफेद चन्दन के रस [जिसे हुए सफेद चन्दन] से विलिप्त शरीर वाली, नवीन मीक्तिक्रमाला पहने हुई, खूब सफेद हाथी दाँत की पत्रावली से मुक्त की उज्ज्वल कान्ति बढ़ाए हुई और सुन्दर धवल अंगुली पहने हुई [शुक्ल] अभिसारिकाएँ उस समय सूझ नहीं पड़ती जिस समय चन्द्रमा अपनी किरणें विलेर कर धरापृष्ठ को सफेदी से रंगता है, और वे प्रिय गृह तक निर्भीक होकर सुख-पूर्वक पहुँच जाया करती हैं ।'

यहाँ चन्दनरस के विलेपन आदि के चन्द्रप्रभा के साथ अभेद का ज्ञान 'सूझ नहीं पड़ती' इस प्रकार बतलाया गया है ॥

चिमर्शिनी

प्रस्तुतस्येत्यादि । प्रस्तुतस्येति उपमेयस्य । अप्रस्तुतेनेति उपमानेन । साधारणगुणानां च त्रिरूपत्वमत्रार्थसिद्धम् । तेन साधारणगुणस्यानुगामितया यथा—

'मध्ये जानपदछौणमुखानाममलखिपाम् ।

राहोरलक्ष्यतामेति यत्र पूर्णेन्दुमण्डलम् ॥'

अत्रामलकान्तिवमनुगामितया सकृच्चिर्दिष्टम् । असकृच्चिर्दिष्टस्तु यथा—अभेदमित्यादी । अत्र स्तवकस्तनयोर्धिग्घप्रतिविम्बभावः । लुलितत्वनतितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । ननु चात्र प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेनापहवः क्रियत इति किमयमपह्नवतिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह—न चैमित्यादि । 'अविभाष्यतां गताः' इति, अर्थाद्भुक्तेः ॥

प्रस्तुतस्य इत्यादि । प्रस्तुतस्य = प्रस्तुत = उपमेय । अप्रस्तुतेन = अप्रस्तुत = उपमान । साधारणगुणों की मिलनता यहाँ स्वतः सिद्ध है । साधारण गुणों की अनुगामिता का उदाहरण यह है—

'गाँवों की महिलाओं के निर्मल कान्ति वाले मुखों के बीच चन्द्र का पूर्ण मण्डल जहाँ राहु को दिखाई नहीं पड़ता ।'

यहाँ 'निर्मलकान्तिव' धर्म उभयानुगत रूप से एक बार कहा गया । अलग-अलग कथन का उदाहरण यथा—[पूर्वोक्त] 'अभेदमूढः' पद्य । इसमें स्तवक और स्तनों में विम्बप्रतिविम्बभाव है तथा लुलितत्व और नतितत्व में शुद्धसामान्यधर्मत्व । [शंका] यदि यहाँ प्रस्तुत को अप्रस्तुत के द्वारा छिपाया जाता है तो इसे अपह्नव अलंकार ही क्यों न मान लिया जाता 'ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—न च इत्यादि । 'अविभाष्यतां गताः'—सूझ नहीं पड़ती = अर्थात् इस प्रकार अभेद का ज्ञान शब्द से ही करा दिया गया है ।

चिमर्श—इतिहास—

इस अलंकार को सामान्य नाम तो मम्मट की देन है किन्तु यह अलंकार अपने आप में कल्पना है रुद्रट की । रुद्रट ने इसे तद्गुण का एक भेद माना है । उनका एतत्संबन्धी विवेचन इस प्रकार है—

'परिमन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।

संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥ १ । २२ ॥

जहाँ एक ही गुण वाले पदार्थों का संबन्ध होने पर स्वरूप तो दिखाई दे, पर उनका पार्थक्य प्रतीत न हो तो वह तद्गुण कहलाता है । उदाहरण—

'नवधौतधवलवसनाच्चन्द्रिकया सान्द्रया तिरोगमितः ।

रमणभवनान्यशङ्कं सर्पन्त्यभिसारिकाः सपदि ॥ १।२३ ॥

‘नवीन धुने धवल् बख पहिने और सान्द्र चोंदनी में छिरी अभिसारिकाएँ निशुंक होकर अपने प्रिय के पर झटिति पहुँच जाती हैं।’ निश्चिन्त ही रुद्रट को वामन द्वारा अतिशयोक्ति के लिए उदाहरण पद्य ‘मलयज्वरम०’ से यह तद्गुण सूत्रा होता। मम्मट ने रुद्रट के उदाहरण से उमका मूलभूत पद्य ‘मलयज्व०’ तां शोधनिकायां किन्तु उससे सूत्रे अलङ्कार को तद्गुण से अभिन्न मानना उचित नहीं समझा। उन्होंने रुद्रट के ही मीलितालंकार की कल्पना से मिलनी जुलनी सामान्य को कल्पना की और उसका स्वच्छ लक्षण बनाया। विमर्शनीकार ने मीलित-प्रकरण के आरम्भ में उमे उद्धृत कर दिया है। किन्तु रुद्रट जैसी सूक्ष्मेकिका उनके लक्षण से प्रकट नहीं होगी। रुद्रट का यह कहना एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यहाँ वस्तु-स्वरूप तो प्रतीत होता है, वस्तुगत नानात्व नहीं। कदाचित् विमर्शनीकार को इसीसे प्रेरणा मिली है और उन्होंने रत्नाकरकार के सण्डन में कुछ ऐसी ही तर्कप्रणाली अर्नाई है। सर्वस्वकार का विवेचन मम्मट को सामान्यकारिका पर प्राप्त वृत्ति से काफी प्रभावित है। मम्मट ने वृत्ति में लिखा है—

‘अतादृशमपि सादृशतया विचक्षितुं यद् अस्तुवाथैनं सद्रूपपरित्यक्तनिवृत्तगुणमेव तदेकारम-
तया निवृत्त्यै तद् सामान्यगुणनिवृत्त्यनात् सामान्यम् ।

— जो प्रस्तुत वस्तु जिसके समान नहीं है उसे उसके समान बनाने के लिए अप्रस्तुत वस्तु के साथ उसका अपना स्वरूप बिना छुड़ाए एक रूप बनलाया जाता है वह सामान्य गुणों का उल्लेख होने के कारण सामान्य कहलाता है। यहाँ अपरित्यक्त निवृत्तरूप = अपना स्वरूप बिना छोड़ें पद्य मीलित से सामान्य का अन्तर करने के लिए ही दिया गया है। मीलित में वस्तु का स्वरूप भी निरोद्धित ही जाता है। उदाहरण के रूप में ‘मलयज्वरसविलिप्त०’ पद्य ही मम्मट ने दिया था।

रत्नाकरकार का दृष्टिकोण इस विषय में स्पष्ट ही है। वे इसे मीलित की ही एक विशद मानते हैं। मीलितप्रकरण में उनका मत दिया जा चुका है।

अप्ययदीक्षित = ‘सामान्य यदि सादृश्याद् विशेषो नोपलक्ष्यते ।

पद्याकरमविधानां मुख नाच्छिद्मं भ्रुवाम् ॥’

सादृश्य के कारण यदि भेद दृष्टिगोचर न हो तो सामान्य। उदा० कमलसमूह से मरे तालाव में प्रविष्ट हृन्दरियों के मुख दिखाई नहीं पड़े।’

पण्डितराज—‘प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्प्रमातीवप्रशङ्कत तदिमत्रवेनाप्रार्णं सामान्यम् ॥’

प्रत्यक्ष दिखाई देती वस्तु का बलवत्तर सजातीय के ज्ञान के कारण वसते भिन्न रूप से ज्ञान न होना सामान्य कहलाती है।’

विश्वेश्वर = स्वगुणमजातीय गुणप्रयैकरूप्यं तु सामान्यम्। अपने गुणों के समान गुण वाले के साथ एकरूपता सामान्य कहलाती है।

मीलित और सामान्य का अन्तर मुख्यतः प्रस्तुत के स्वरूप के बोध पर निर्भर है। मीलित में वह अप्रस्तुत के स्वरूप के रूप में ही भासित होता है जब कि सामान्य में स्वरूप में ही। मीलित में प्रस्तुत के स्वरूप का बोध न होने का अभिप्राय विमर्शनीकार के अनुसार प्रस्तुत के विशिष्ट रूप का बोध न होना है। सामान्य रूप में तो उसके स्वरूप का बोध होता ही है। रुद्रट के विवेचन से यह तथ्य बहुत ही स्पष्ट है। रत्नाकरकार, अप्ययदीक्षित, पण्डितराज और विश्वेश्वर पण्डित के उम्मे उम्मे विमर्शों का तात्पर्य केवल इतना ही है।

यहाँ चक्रवर्ती की सामान्यकारिका इस प्रकार है—

‘प्रस्तुतस्यान्यतादात्म्यं सामान्यं गुणसाम्यतः ।

गुणसाम्य के आधार पर प्रस्तुत का अप्रस्तुततादात्म्य सामान्य कहलाता है ।

[सर्वस्व]

[सू० ७३] स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः ।

यत्र परिमितगुणस्य वस्तुनः समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः । तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा । न चेदं मीलितम् । तत्र हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितत्वेन प्रतीयते । इह त्वनपहृतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः ।

यथा —

‘विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।

रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे घंशकरीरनीलैः ॥’

अत्र रविरथाश्वानामरुणवर्णस्वीकारः, तस्यापि गारुत्मतमणिप्रभास्वीकार इति तद्गुणत्वम् ।

[सूत्र ७३] अपने गुण के त्याग से अत्युत्कृष्ट वस्तु के गुण का स्वीकार तद्गुण [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

[सू०] ‘जिस [अलंकार] में न्यून गुण वाली वस्तु समीपस्थ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण अपनाए वह तद्गुण कहलाता है, ‘तद् वानी उस उत्कृष्ट के गुण हैं इसमें’—इस श्युरपत्ति के आधार पर । यह मीलित नहीं है । वहाँ प्रकृत वस्तु अन्य = अप्रकृत वस्तु के द्वारा ढंकी हुई प्रतीत होती है, यहाँ उसके विपरीत प्रकृत का स्वरूप प्रकट ही रहता है । केवल वह अन्य वस्तु के गुणों से रंगी भर प्रतीत होती है । इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है । उदाहरण, यथा—

‘जिस [गिरनार पर्वत] पर अरुण की ललेंदें से अन्य वर्ण के हुए सूर्याश्व बाँस की पीर के समान धरे कण्ठ रत्नों द्वारा चारों ओर बिखरती प्रभा से पुनः अपने [धरे] वर्ण को प्राप्त करा दिए गए थे [माघकान्य] ।

यहाँ सूर्य के अश्व पहले अरुण का वर्ण स्वीकार करते हैं और वह [अरुण] भी गारुत्मत [मरकत] मणि की प्रभा स्वीकार करता है । इसलिए यहाँ तद्गुण हुआ ॥’

विमर्शिनी

स्वगुणेत्यादि । परिमितेति । स्वीक्रियमाणस्य गुणस्याभावात् । तत्संभवादेव चान्यथे प्रकृष्टगुणत्वम् । समीपवर्तित्यनेन गुणग्रहणे योग्यत्वमुक्तम् । अस्मिन्निति । परिमितगुणे प्रकृते । अतश्च नैतासंज्ञामात्रम् । ननु च प्रकृष्टगुणेन परिमितगुणस्य तिरोधानान्मीलितमेवायं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेत्यादि । आच्छादितत्वेनेति । अपहृतस्वरूपत्वेनेत्यर्थः । उपरक्तयेति । विशिष्टत्वेनेत्यर्थः । तस्येति । अरुणवर्णस्य । अपिः समुच्चये । यथा वा—

'इन्द्रद्वयशब्दनिन्दुषवप्रा चैशस्तवेरथादिसहायसंपत् ।
यद्युद्य शृङ्गारमय म मन्ये संतापकरावं हरयद्वियोगात् ॥'

अत्र हरयद्विगुणस्य संतापकरवक्ष्य रतीकारः ॥

हरगुण हरयादि । परिमित०—जिस गुण को अपनाया जा रहा है उसका अपनाये वाली वस्तु में अभाव होने से । और उसी के सम्भाव से अन्य वस्तु भी प्रकृत गुणवाली हुई । समीप वर्त्ती करके गुण अपनाने की योग्यता बनलाई ।

अरिमन् = रसमें = परिमित = न्यून गुण वाली वस्तु में । इस कारण वह देवक सहायक नहीं है । प्रकृत गुणवाली वस्तु से न्यून गुण वाली वस्तु का तिरोधान होने से यह मौल्य हो क्यों नहीं माना जाना—[जैसा कि सरस्वती कण्ठाभरण में महाराज भोज ने माना है] ऐसी शका उठाकर कहते हैं—न च शयादि । आच्छादितत्वेन आच्छादितरूप से जो कि अपहृति का स्वरूप है । उपरच्छमया = रगे हुए रूप में = उससे विशिष्ट रूप में । सस्य उमका = अरुण ॥ ।

अपि = जो यहाँ समुच्चय अर्थ में है । दूसरा उदाहरण यह है—

हे काम । अन्द्रोदय, अन्दन, अन्द्रमुखी, रैत्र शयादि गुम्हारी सहायक सामग्री है और गुम्हारा स्वयं का शरीर शृङ्गारमय है । ऐसे तुम जो स्ताप पहुँचाते हो वह कदाचिद् शिव की नेत्राग्नि के संपर्क से । [रत्नाकरकार द्वारा तद्गुण के लिए उद्धृत] ॥

यहाँ शिवनेत्राग्नि का संतापकावक्षी गुण अपनाया गया ॥

विमर्श—इतिहास—

पहले कहा जा चुका है कि तद्गुण के प्रथमभेद के रूप में रुद्र ने जिस अभिव्यक्ति का संग्रह किया था उसे मग्मट ने सामान्य नाम दिया है । रुद्र ने तद्गुण का जो दूसरा भेद लोमा था उसे मग्मट आदि ने तद्गुण नाम से ही अपनाया । दूसरा भेद यह है—

'असमानगुण दरिमन्निवहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।

संघर्षं तद्गुणतां धत्तेऽप्यस्तद्गुणं स इति ॥' १।२४ ॥

—जिस [अलंकार] में असमान गुण वाली वस्तु अधिकगुण वाली वस्तु से मिलकर उसी का गुण अपना ले वह दूसरा तद्गुण कहलाता है । उदाहरण—

'कुञ्जकमालापि कृता कार्तस्वरमाखरे स्वया कण्ठे ।

एतत्तमानुलिता कल्पकदाममम कुरुते ॥ १।२५ ॥

—प्रिये ! तूने सीने से जयकीले गले में जो माला पहनी है वह कुञ्जक माला होने पर भी उस [गले] की प्रभा से लित होकर कल्पक माला का भ्रम करा रही है ।

उदाहरण से स्पष्ट है कि रुद्र का तद्गुणसम्बन्धी सस्कार बहुत ही स्पष्ट और पूर्ण है ।

मग्मट = 'स्वमुत्सृभ्य गुणं योगादस्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।

वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥

अधिक उज्ज्वल गुण वाले पदार्थ के संपर्क से जहाँ कोई वस्तु अपना गुण छोड़कर उसी के गुण से युक्त हो जाती है उसे तद्गुण कहते हैं । उदाहरण—'विभिन्नवर्णाः' पद्य ही । इस उदाहरण में गुणों के त्याग और परिग्रह की घटना दो बार आई है अब कि रुद्र के उदाहरण में केवल एक बार । किन्तु रुद्र के पद्य में शुद्ध तद्गुण है । मग्मट द्वारा उद्धृत पद्य में गिरिनार की ऊँचाई अतिशयोक्ति लिए है । सर्वस्वकार का इस पद्य की उभयति में रत्नों को गारुमतमणि के समान बतलाना असंगत है । गारुमतमणि का वर्ण लाल माना जाता है, हरा नहीं । बॉस की पीर और सूर्य के अश्व हरे रंग के लिए ही प्रसिद्ध हैं । सूर्य को हरिदश्व, श्वंस्व कहा जाता है । भले ही

यहाँ हरे का अर्थ नीला ही जैसा कि संस्कृत कवियों में देखा जाता है, परन्तु लाल नहीं हो सकता । संजीविनीकार ने भी यास्मत्त के स्थान पर मरकत पाठ माना है ।

रत्नाकरकार ने न केवल रंग को ही, अन्य गुणों के सर्वस्वकार में भी तद्गुण माना है । यह वनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है । उनका लक्षण है—

‘अन्यधर्मस्वीकारस्तद्गुणः ॥ ९७ ॥

अन्य के धर्म का स्वीकार करना तद्गुण ॥’ उनसे स्पष्ट किया है कि यह तमी संभव है जब अपने गुण का त्याग किया जाए, अन्यथा दोनों के विरोधी गुणों में विरोध उत्पन्न होगा । इस प्रकार स्वगुणत्याग को लक्षण में स्थान न देने से भी रत्नाकरकार का वैदग्ध्य व्यक्त है । उदाहरण के रूप में उन्होंने ‘विभिन्नवर्गाः’ से ही मिलता माघ का ही ४२६ पद्य भी उद्धृत किया है यद्यपि उसमें पदार्थनिदर्शना प्रबल है, और विमर्शिनो में गृहीत ‘इन्दूदय’ पद्य भी ।

अप्यदीक्षित

‘तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः ।

पथरागायते नात्तमौक्तिकं तेष्वरत्विषा ॥’

अपने गुण का त्याग कर अन्य के गुण का ग्रहण तद्गुण कहलाता है । यथा— तुम्हारे अथर की कान्ति से नाक का मोती पथराम का कार्य कर रहा है ।

पण्डितराज = ‘स्वगुणत्यागापूर्वकं स्वसन्निहितवस्तुन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः ॥’

अपना गुण त्याग कर अपने पास के किसी अन्य पदार्थ के गुणों का ग्रहण तद्गुण कहलाता है ।

विश्वेश्वर = ‘परकीयगुणतिरोहितगुणस्य मानं तु तद्गुणः प्रोक्तः ॥

अन्य के गुणों से छिपे गुणों वाले पदार्थ का ज्ञान तद्गुण कहा गया है । उदाहरण के रूप में एक रंग से दूसरे रंग के रंजित होने की घटना से युक्त पद्य ही विश्वेश्वर ने दिया ही है, इसके अतिरिक्त रत्नाकरकार द्वारा अन्यगुणों के ग्रहण करने का उदाहरण भी उन्होंने दिया है ।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

—‘तद्गुणः स्वगुणत्यागादुत्कृष्टत्व गुणग्रहः ॥’

[सर्वस्व]

[सू० ७४] सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः ।

तद्गुणप्रस्तावात्तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते । इह न्यूनगुणस्य विशिष्टगुणपदार्थधर्मस्वीकारः प्रत्यासत्त्या न्याय्यः । यद्वा पुनस्तत्कृष्टगुणपदार्थसन्निधानाख्ये हेतौ सत्यपि तद्रूपस्योत्कृष्टगुणस्याननुहरणं न्यूनगुणेनाननुवर्तनं भवति सोऽतद्गुणः । तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन्गुणा न सन्तीति । यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यनुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः । तस्याप्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति कृत्वा । क्रमेण यथा —

‘धवलौ सि जह वि सुन्दर तह वि तुप मज्ज रंजिअं हि अथं ।

राअभरिण वि हिअण सुहअ णिहिस्सो ण रत्तो सि ।’

‘गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मल्लजतः ।

राजहंस तव सैप शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ।’

पूर्वप्रातिरक्तहृदयसंपर्कप्रायकस्य धवलशब्दवाच्यस्य प्राप्तमपि रक्तत्वं न निष्पन्नमित्यतद्गुणः । उत्तरप्राप्रकृतस्य गाङ्गयामुनजलस्य संपर्केऽपि न तथारूपव्यमित्ययमप्यतद्गुण एव । ['धवलोऽसी'ति यत् तत् तद्गुण एव —] कार्यकारणभावस्य चात्राविवक्षणात् विशेषोक्त्यलंकारावकाशः ।

[सू० ७४] कारण विद्यमान रहने पर भी उसके गुण का अनुकरण न होना [अतद्गुण [अलंकार कहलाता है] ॥

[६०] तद्गुण का प्रयोग चल रहा या अतः उसका उलटा अतद्गुण उसी के बाद बतलाया जा रहा है । सामान्यतः कम गुण वाले पदार्थ के द्वारा विशिष्ट गुण वाले पदार्थ का संपर्क होने पर उसके धर्म अपनाए ही जाते हैं, किन्तु अब उल्टे गुण वाले पदार्थ के सन्निधानरूपी हेतु के रहने पर भी कम [हेतुरूप उल्टे गुण वाले पदार्थ] के उल्टे गुणों का न्यून गुण वाले पदार्थ के द्वारा अनुकरण नहीं किया जाता तब उससे युक्त उक्ति को अतद्गुण कहा जाता है । यह नाम इसलिए कि इसमें वह व्युत्पत्ति अन्विता होती है—'तव उम = उल्टे गुण वाले पदार्थ के गुण इस [न्यूनगुण पदार्थ] में नहीं है ।' इसकी दूसरी व्याख्या यह हो सकती है—'उस अप्रकृत वस्तु के रूप का अनुकरणहेतु विद्यमान रहने पर भी अननुकरण जिसमें हो वह [प्रकृत पदार्थ] अतद्गुण ।' इन पक्ष में व्युत्पत्ति होगी 'तव = उस अप्रकृत वस्तु के गुण हममें नहीं हैं [ऐसी प्रकृत वस्तु] । दोनों के क्रमशः उदाहरण =

'धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रजित हृदयम् ।
रागमरितेऽपि हृदये शुभग निहितो न रजोऽसि ॥'

हे सुन्दर ! तुम धवल वर्ण के हो तथापि तुमने मेरा हृदय रक्त [काल और अनुरागयुक्त] कर दिया है । तुम स्वयं मेरे रागपूर्ण हृदय में निहित हो तब भी रक्त नहीं हो ।'

हे त्रिवेणी के राजहंस ! गङ्गा का अल सफेद है यमुना कज्जलाभ श्याम ! तुम दोनों में मोता लगाने हो, परन्तु तुम्हारी तुम्हारा नहीं की वही है, न वह बदरी न घटती ।'

[इन उदाहरणों में] प्रथम में अत्यन्त रक्त हृदय के संपर्क से धवलशब्द से कविग नायक में रक्तता आनी चाहिए परन्तु वह न आ सकी अतः अतद्गुण हुआ और दूसरे में गंगा यमुना में अल रूपी अप्राकृतिक पदार्थ के संपर्क रहने पर भी उनका सार रूप [इस में] नहीं बतलाया गया अतः यह भी अतद्गुण ही हुआ । 'धवलोऽसि'—यह जो कथन है वह तद्गुण—रूप ही है । यहाँ कार्यकारणभाव की विवक्षा नहीं रहनी अतः विशेषोक्ति [और विपमाकार—] की प्राप्ति यहाँ समभव नहीं है ॥'

चिमर्शिनी

सतीत्यादि । तदिपयैवेति । तत्र हि प्रथ्यामत्यान्यगुणग्रहणमुक्तम् । इह तु योग्यताया-मपि न यद्ग्रहणम् । प्रथ्यामत्येति । विप्रकृतस्य ह्यन्यगुणस्वीकारानुपपत्तिः । यथा त्वेतन्न भवति तदायमलंकार इत्याह—यदेत्यादि । उल्टे गुणस्योप्यनेन व्याख्यान्तरे द्वयोरपि गुणत्वं सूचितम् । एवं च प्राप्तेऽप्यन्यगुणस्वीकारे तद्भावोऽयमलंकारः । यदुक्तम्—'तद्गुणाननुहारश्चेदस्य तस्यादतद्गुणः' इति । अस्मिन्निति । न्यूनगुणे । यद्वेति पदान्तरे । अप्रकृतस्येति । अननुहरणीयगुणस्यान्यस्य । तदेवं व्याख्यानद्वयेनास्य प्रकारद्वयं दर्शितम्, अननुहरणावयव सामान्यस्यानुगमात् । अतिरिक्त्येनायुल्टेगुणत्वं हृदयस्य दर्शितम् ।

अयमपीति । समानगुणत्वेनापीत्यर्थः । 'ध्वलोत्तीत तत्तद्गुण' एवेति ग्रन्थकदेशान्तु कचि-
ल्लेखकैः कल्पित इत्युपेक्ष्य एव पुस्तकान्तरेष्वस्यादृष्टे । न च गाथाव्याख्यानं प्रस्तुतं
येनात्रालङ्कारान्तरस्यापि व्याख्यानं स्यात् । नाप्यत्र तद्गुणः । तस्य हि स्वगुणस्याने-
नाप्यन्यगुणरवीकारो लक्षणम् । न चात्र स्वगुणस्यागो नाप्यन्यगुणरवीकारः । तस्य
ध्वलत्वव्यभिचारात् । किं त्वत्र कारणाभावेऽपि कार्योत्पादनादिभावना, न तु विरूप-
कार्योत्पत्त्या विषमालङ्कारः । सत्र हि कार्यकारणयोर्विरूपत्वेऽप्यव्याख्यानतया प्रतीतिः ।
इह श्लोकस्य व्याख्याननयेति महाननयोर्मदः । नन्वत्र सत्यपि कारणतामत्रेऽन्यगुण-
सुहाहरग्रहणस्य कार्यभ्यानुत्पत्तेः किमयं विशेषोक्तिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह—कार्योत्पादि ।
अविवक्षणादिति । वस्तुतस्तु संभवस्येव कार्यकारणभावः । अत एवालङ्कारसारकृता विशेषो-
क्तौ व्यक्तभावं एवोक्तः । ग्रन्थकृता तु प्राच्यानुरोधाल्लक्षितः । 'विषमालङ्कार—' इति
पाठस्तु पुस्तकान्तरेषु स्थितोऽप्यत्रायुक्तः । न हि कार्यकारणभावविषयमात्रेणात्र तत्त्वं
स्याद्वयेन लक्षणेन तस्यानवकाशः । तस्य हि विरूपस्य कार्यस्थानर्थस्थोपलक्षणं लक्षणम् ।

सतीत्यादि । तद्विपर्ययेति—उस तद्गुण का उलटा = उसमें सन्निध्य के कारण अन्य के
गुण का ग्रहण बतलाया गया है, जब कि यहाँ योग्यता रहने पर भी उसके [अन्य के] गुण का
ग्रहण नहीं बतलाया जाता । प्रत्यासत्या = सन्निति = जो दूरवर्ती होगा उसके गुण का ग्रहण
संभव नहीं होगा । 'जब यह [अन्य के गुण का ग्रहण] नहीं होता तब वह अलंकार होता है'
यह बतलाते हैं—श्रद्धा० । उत्कृष्टगुणस्य इसकी दूसरी व्याख्या में दोनों का गुणत्व [अप्रधानत्व
और केवल गुणों का प्रधानत्व] बतलाया । इस प्रकार अन्य के गुण का स्वीकार करना प्राप्त
होने पर भी वैसा न होना यह अलंकार है । जैसा कि [मम्मट ने] कहा है—'इस [प्रस्तुत] के
द्वारा उस [अप्रस्तुत] के गुण का अनुकरण न हो तो अतद्गुण' । अस्मिन् = इसमें अर्थात्
न्यूनगुणवाले पदार्थ में । श्रद्धा = यह अन्य पक्ष उपस्थित करने के लिये कहा । अग्रकृतस्य =
जिसके गुणों का अनुकरण नहीं करना होता उस अन्य वस्तु का । इस प्रकार दो व्याख्याओं
द्वारा इस अलंकार के दो भेद दिखलाए । इन दोनों में अननुहरणीयतारूपी गुण समानरूप से
रहता है । अतिरिक्त बतलाकर हृदय में उत्कृष्टगुणत्व बतलाया । अयमपि = यह भी गुणगत
समानता के आधार पर भी । 'ध्वलोत्तिसि यह भी तद्गुण ही है' यह जो अंश है इसे लिपिकारों
ने कहीं-कहीं जोड़ दिया है, यह सर्वथा त्याग्य है, क्योंकि अन्य प्रतिबोधों में यह नहीं मिलता ।
यहाँ इस गाथा की व्याख्या तो की जा नहीं रही कि उसमें अन्य अलंकार भी व्याख्या की जाए ।
किर यहाँ तद्गुण है भी नहीं । उसका तो लक्षण 'अपना गुण त्याग कर अन्य के गुण को
अपनाना' है । और यहाँ न तो अपने गुण का त्याग है और न अन्य के गुण का अपनाना ।
वैसा होता तो नायक में ध्वलत्व न रहता । यहाँ तो कारण का अभाव रहने पर भी कार्य की
व्यपत्ति दिखलाने से विभावना है, न कि विपरीत रूप वाले कार्य की व्यपत्ति [ध्वल से रक्तत्व की
व्यपत्ति] के कारण विषमालङ्कार । उसमें तो कार्य और कारण में रूपगत विपरीतता रहने पर
भी उन दोनों की प्रतीति अत्रापि रूप से ही होती रहती है । जबकि यहाँ एक वाचित रूप से
प्रतीत होता है । इस प्रकार इन दोनों [विषम और विभावना] में महान् अन्तर है । 'यदि यहाँ
सारे कारण उपस्थित रहने पर भी अन्य के गुण का अनुकरणरूपी कार्य उत्पन्न नहीं होता तो इसे
विशेषोक्ति क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—'कार्य'—इत्यादि ।
अविवक्षणात् = विवक्षा भर नहीं रहती, वस्तुतः तो कार्यकारणभाव रहता ही है । इसीलिए
अलंकारसारकार ने इसका विशेषोक्ति में अन्तर्भाव ही दिखलाया है । ग्रन्थकार ने प्राचीन

आलंकारिकों [मम्मट] के अनुरोध पर हमे अल्प दिखलाया है । [विशेषोक्त्यलङ्कार] के स्थान पर] 'विषमालङ्कार' यह पाठ तो, अन्य पुस्तकों में मिलने पर भी यहाँ गलत है । कार्यकारणभाव की विवक्षाभाव से यहाँ विषमालङ्कारत्व नहीं हो सकता जिससे कि उस [कार्यकारणभाव] के निषेध से उस [विषम] को स्थान न मिले । उसका अग्र्य तो 'विपरीत रूप वाले कार्य की और अनर्थ की उत्पत्ति अग्र्य है '

विमर्श—प्रथ समाप्ति के समीप है अतः कदाचित् टीकाकार भी छूट गए हैं और सपादक भी । टीकाकार अतद्गुण को दो व्याख्याओं में भेद बिना दिखलाए आगे बट जाते हैं, और विषमालङ्कार पाठ को प्रीतिवाद द्वारा असंगत बतला विशेषोक्ति पाठ का समर्थन करने हैं । संवादन में भी यहाँ अनुद्धियों की भरमार है । दोनों प्रकारों का अन्तर पण्डितराज जनन्याय ने इस प्रकार बतलाया है—

'अत्र गुणाप्रादिकापेक्षया सन्निहितस्य गुणवत्त्वं उत्कृष्टत्व-समत्वाभ्यां द्वैविध्यम्' इति सर्वथकारः । तस्यापमाशय अपकृष्ट-सम्बन्धिन-गुणग्रहणस्य साहचिकत्वेन वैचित्र्यानापायकरत्वादनलङ्कारत-वेत्यपकृष्टत्वेन दुर्नीयविषा तु न समवति ।

'गुण ग्रहण न करने वाले पदार्थ की अपेक्षा सन्निहित पदार्थ में उत्कृष्टता और समता को लेकर अतद्गुण में दो भेद होने हैं । अपकृष्ट के गुण का ग्रहण न करना तो लौकिक तथ्य है अतः उसमें विचित्रता न रहने से यह अलंकारत्वमुक्त ही है अतः अपकृष्ट के गुण के अग्रहण में सीसरा प्रकार नहीं माना जा सकता । 'धवलोलसि'-गाथा में हृदय राग को लेकर उत्कृष्ट है, अथ कि 'गाङ्गमधु' पद्य में राजहम गङ्गानल को लेकर समान ।

विशेषोक्ति में अतद्गुण के अन्तर्भाव का जो कथन विमर्शनीकार ने उपस्थित किया है । उनके पूर्व रत्नाकरकार ने उसी को सिद्धान्त माना था । उन्होंने लिखा था—

'हेर्ना सत्यपि नान्धस्य गुणानुहरणं यदि ।

विशेषोक्तिरसाविष्टा न वाच्योऽपि स्यादगुणः ॥ [तद्गुणान्त]

हेतु के रहने पर भी यदि अन्य के गुण का अनुहरण नहीं रहता तो यह विशेषोक्ति होगी । अतः [सामान्य के समान] अतद्गुण को भी अलंकार नहीं मानना चाहिए । रत्नाकरकार ने अतद्गुण का कोई उल्लेख नहीं भी किया । पण्डितराज ने भी हमे विशेषोक्ति में अन्तर्भूत मानने की शक्यता का दूरगामी समर्थन कर दिया है । यह विकल्प विश्वेश्वर की पुराणप्रथा से भी टकराया है ।

विमर्शनीकार ने यहाँ विभावना की पुनर्जोर पहल की है । मूँ तो विशेषोक्ति की पहल भी की जा सकती है, क्योंकि ये दोनों अलंकार एक दूसरे के द्वारा स्वयं होने हैं । जहाँ विभावना बाध्य होती है वहाँ विशेषोक्ति व्यङ्ग्य होती है और जहाँ वह बाध्य होती है वहाँ विभावना । विमर्शनीकार ने यहाँ विषमालङ्कार की भी चर्चा की है और अन्ततः यह कहा है कि हमके स्थान पर विशेषोक्ति पाठ होना चाहिए । समीचिनीकार ने भी विशेषोक्ति ही पाठ माना है । वस्तुतः विशेषोक्ति पाठ ही उचित है, क्योंकि यह समग्र अतद्गुण के लिए उठाई गई आपत्ति है अतः अधिक व्यापक और आवश्यक है । विषमालङ्कार का प्रश्न केवल 'धवलोलसि' पद्य के पूर्वार्धगत सीमित है । हममें कारण धवल है और कार्य रक्त अतः 'सध'करस्पर्श' के समान विषम हा है । यद्यपि इसके स्पष्टन के लिए विमर्शनीकार ने जो तर्क दिया है वह अशुद्ध है । विषम के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि केवल कार्यगत गुणविपरीतता से ही विषमत्व निष्पन्न नहीं हो जाता उसके कार्यकारणमान की भी विवक्षा अपेक्षित है जो इस पूर्वार्ध में नहीं है । वस्तुतः

विषम का यह विचार यहाँ अनावश्यक है क्योंकि इसका संबन्ध पूर्वार्ध से है, उत्तरार्ध से नहीं, जब कि यहाँ अतद्गुण के लिए 'धवलोऽसि' गायी का उत्तरार्ध ही उदाहरण माना गया है। मम्मट ने भी इसके उत्तरार्ध को ही उदाहरण माना है।

इतिहास—अतद्गुण की कल्पना मम्मट ने ही की है। उनका लक्षण विमर्शनीकार ने दे दिया है और उदाहरण सर्वस्वकार ने ही उद्धृत कर दिए हैं। रत्नाकरकार का मत दिया ही जा चुका है।

अप्यदीक्षित—'संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।

चिरं रागिणि मन्विचे निहितोऽपि न रञ्जसि ॥'

अन्य सम्बन्ध के गुण का अंगीकार न करने को अतद्गुण कहा है। उदाहरण, मेरे रागपूर्ण चित्त में चिरकाल तक निहित रहकर भी तुम रक्त नहीं हुए।' अप्यदीक्षित ने भी दवे स्वर में अतद्गुण को विशेषोक्ति रूप मान लिया है।

पण्डितराज—स्वगुणस्यागपूर्वकं त्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः, तद्विपर्ययो—
ऽतद्गुणः। = 'तद्गुण का उलटा अतद्गुण।' इस प्रकार अतद्गुण का लक्षण कर इसे विशेषोक्ति में अन्तर्भूत मानने की संभावना पर विचार करते हैं और कोई समर्थक समाधान नहीं दे पाते। उनका कहना है कि अतद्गुण में भी कार्यकारणभाव की विवक्षा रहती है इसका प्रमाण है इसके लक्षण में 'अपि = भी' शब्द, जो विरोध का धारक है। बिना कार्यकारणभाव के विरोध संभव नहीं।

विश्वेश्वर = 'अन्यगुणासम्बन्धे प्रकृतस्यातद्गुणः प्रोक्तः।'

अन्य के गुण का प्रकृत के साथ सम्बन्ध न बतलाने में अतद्गुण होता है। इसी को वे वृत्ति के रूप में इस प्रकार कहते हैं—'स्वनिष्ठगुणस्यान्यगुणनिष्ठप्रतिबन्धकत्वानिरूपितप्रतिषेधत्वा—
नाशयत्वेऽतद्गुणः।'

विश्वेश्वर पण्डितराज के उक्त शर्क का समाधान इस प्रकार देते हैं—कारणसत्त्वे कार्यानु-
त्पत्तिसाम्येऽपि यथाभावप्रतियोगितावच्छेदकस्य तदधर्मावच्छिन्न-कारणतावच्छेदक-प्रतियोगि-
कार्यतावच्छेदकत्वं विवक्षितं तत्र विशेषोक्तिः, यत्र त्वभावप्रतियोगिनस्तन्निष्कारणतानिरूपित-
कार्यताशालित्वं, तत्रातद्गुण इति विभागात्।'

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका अतद्गुण पर इस प्रकार है—

'तद्द्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः।'

पाठान्तर—'धवलोऽसीति तत्तद्गुण एव' इस पंक्ति को विमर्शनीकार प्रक्षिप्त मानते हैं। संजीविनीकार इसे 'धवलोऽसीत्वतद्गुणः' इस रूप में पढ़ते हैं। वस्तुतः यह अनावश्यक ही है। इस पर संजीविनीकार के तर्क मान्य हैं।

[सर्वस्व]

[सू० ७५] उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्।

यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यामानाहुत्तरादुन्नीयते, तदे-
कमुत्तरम्। न चेदमनुमानम्। पक्षधर्मतादेरनुद्देशात्। यत्र च प्रश्न-
पूर्वकमसंभावनीयमुत्तरं, तच्च न सकृत् तावन्मात्रेण चास्तत्त्वाप्रतीतिः। अत-

ध्यासकृत्रियग्धे द्वितीयमुत्तरम् । न चेयं परिसंख्या व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदक-
परत्वाभावात् । क्रमेण यथा—

‘एकाकिनी यदवला तरुणी तथाह
मस्मद्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम् ।

कं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रुर्ममान्धयविरा ननु मूढ पान्य ॥’

‘का विसमा देवगई किं लब्धं जं जणो गुणग्गाही ।
किं सोख्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोमो ।’

पूर्यत्र मम वासो दीयतामिति प्रश्न उत्तरादुत्तरीयते । उत्तरत्र दैव-
गत्यादिनिगूढत्वात्संभाव्यमसकृत्प्रश्नपूर्वकमुत्तरं निबद्धम् ।

[सूत्र ७५] उत्तर से प्रश्न की कल्पना तथा असमान्य अनेक उत्तर उत्तर [नामक
अलङ्कार कहलाते हैं] ॥

[वृत्ति] जिस [प्रकार] में प्रश्न कहा तो नहीं आज परन्तु कहे गए उत्तर में उसकी
कल्पना कर ली जाती है यह एक प्रकार का उत्तरात्कार हुआ । यह अनुमान नहीं होता क्योंकि
हममें [अनुमान के लिए अपेक्षित] पद्यवर्माता आदि [अनुमाननामग्री] नहीं रहती ।
इसी प्रकार प्रश्न करते हुए उसका अममान्य उत्तर दिया जाता है, किन्तु केवल एक बार नहीं,
क्योंकि उनसे से धारता निश्चय नहीं होती, अतः अनेक बार बैसा किया जाता है तो वह उत्तरा-
त्कार का दूसरा प्रकार होता है । यह परिसंख्या नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदक
भाव में तारपर्यं नहीं रहता । क्रम से उदाहरण, यथा—[प्रश्न से उत्तर की कल्पना]

‘मैं घर में अकेली हूँ, अकेली हूँ और नहीं उमर की हूँ । घरवाला विदेश चला गया है ।
यह बिचारी सात बन्धी और बढ़री है । अन्नः निवास की याचना किससे कर रहे हो । पथिक तुम
कहे नासमझ हो ।’

‘का विषमा दैवगतिः किं लभ्य यज्जनो गुणग्राही ।

किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत् खलो लोक’ ॥

— ‘विषम क्या है, दैवगति, प्राप्त करने योग्य वस्तु क्या है, गुणगरी जन; सौख्य क्या है,
शोभन पत्नी, दुःख क्या है, खल लोग ।’

हममें से प्रथम में ‘मुझे रहने का स्थान दो’ यह प्रश्न उत्तरवाच्य से निकलता है । दूसरे
में दैवगति आदि उत्तर, जो निगूढ होने के कारण अममान्य है, प्रश्नपूर्वक अनेक बार उपनिबद्ध
किया गया है ॥’

विमर्शिनी

उत्तरादिर्यादि । उत्तरीयत इति । प्रश्नरूपत्वेन संभाव्यत इत्यर्थः । ननु ध्याप्रतीतरय
प्रत्यायनारिकमिदमनुमान न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेदमित्यादि । असंभावनीयमिति ।
कविप्रतिमानिचर्तितमित्यर्थः । तदिति । प्रश्नपूर्वकमुत्तरम् । एवं प्रश्नस्याप्यसकृद्देवोप-
निबन्धो न्यायः । अत्रचेति । सकृदुत्तरस्य चास्त्वाप्रतीतेः । एवं समानन्यापरत्वात्पूर्वत्रा-
प्यनुपनिबध्यमानप्रश्नागूरकमुत्तरं न सकृत्, तावन्मात्रेण चास्त्वाप्रतीतेरित्याश्रय-
णीयम् । ननु च प्रश्नोत्तररूपत्वादिभ्यं परिसंख्यैव किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेप-
मित्यादि ।

एतच्चोत्तराख्यमलंकारद्वयम् । न पुनरेकः, सामान्यलक्षणयोगात् । एतच्चोदाहरण-
द्वयं ग्रन्थकृता प्राग्धमतानुरोधेन दत्तम् । वस्तुतस्तत्र नास्त्येतदलंकारद्वयम् । अत एवैता-
वतालंकारसारकारादिभिरेतदलंकारद्वयमपास्तम् । न च तद्युक्तम्, लक्षणदोषाभावात् ।
उदाहरणान्तरेष्वस्य प्रतिष्ठानात् । तत्तु यथा—

'भिद्यो कन्था श्लया किं ननु शफरवधे जालिकैपासि भरस्यान्
मध्येमद्यावदंशं पिचसि मधु समं वेश्यया यासि वेश्याम् ।
हरवारीन्किं करिष्ये कति तव रिपवः संधिमेतास्मि येषां
चोरस्त्वं षुत्तहेतोः कथमसि कितवो येन भिद्युर्नमस्ते ॥'

अत्र हि शफरवन्धजालिकैपेत्युत्तरान्भरस्यादनरूपस्य प्रश्नस्त्योन्नयनम् । एवमन्यदपि
ज्ञेयम् । 'येन दासीसुतोऽस्मि' इति पुनः पाठो ग्राह्यः । दासीसुतत्वे कितवस्य निमित्तावा-
नावात् । प्रश्नोत्तरोन्नयनस्यासमाप्तेः साकाङ्क्षवाद्वाक्यार्थस्याविभ्राम्भेः । द्वितीयो यथा—

'पुंसः संयोजनं किं विदधति करिणां के हृद्योऽग्नेमिपर्विक
का शून्या ते रिपूणां नरवर नरकं कोऽवधीःश्रीडनं किम् ।
के वा वप्रांसु न स्युस्तृणमिव हरिणा किं नद्याग्नेर्विभ्रिगं
विन्ध्याद्गौ पर्यट्को विघटयति तनूर्नर्मदावारिपूरः ॥'

'नर्मदावारिपूरः' इति सभङ्गासभङ्गत्वेन त्रिरुत्तरम् । अत्र च यथोक्तमनुमानपरिसंख्या-
वैलक्षण्यं सुस्पष्टमेवेति ग्रन्थविस्तरमयाकोक्तमिति ॥

उत्तरात् शर्यादि । उच्योयते = कल्पना = प्रवृत्तरूप से संभावित किया जाता है । 'अज्ञात
का ज्ञान कराने से यह अनुमान क्यों नहीं मान लिया जाता'—ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—
'नचेदम्' शर्यादि । असंभवनीयम् = असंभान्य = कविप्रतिभाप्रसूत । तत् = वह = प्रवृत्तपूर्वक
उत्तर । इस प्रकार प्रवृत्त भी अनेक बार उपस्थित करने होंगे । अतएव = एक बार उत्तर में
बावता की प्रतीति न होने से । इसी प्रकार प्रथम प्रकार में भी जिसमें अनुपनिबद्ध प्रश्न की
कल्पना रहती है, यह मान लेना चाहिए कि उत्तर एक ही बार नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ
भी इतने भर से चार्ता की प्रतीति नहीं होती । [यह विमर्शिनोकार का अपना प्रौढवाद है,
मन्मथ आदि ऐसा नहीं मानते, न तो स्वयं सर्वस्वकार की ही वैसी कोई मान्यता है] । यहाँ
'प्रवृत्त और उत्तर रहते हैं अतः इत्ते परिसंख्या क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका उठाकर
कहते हैं—न चेयम् ० ।

उत्तरनामक ये दो अलंकार हैं, एक नहीं, क्योंकि इनमें कोई सामान्य लक्षण नहीं बनता ।
ये जो दो उदाहरण ग्रन्थकार ने दिए हैं वे भी प्राचीन भाचार्यों के अनुरोध से दिए हैं । वस्तुतः
इनमें ये दोनों उत्तर अलंकार नहीं हैं । इसीलिए अलंकारसारकार आदि ने इन दोनों अलंकारों को
हटा दिया है । किन्तु उनका ऐसा करना ठीक नहीं है क्योंकि एक तो इनके लक्षणों में कोई दोष
नहीं है दूसरे अन्य उदाहरणों में ये स्पष्ट प्रतिष्ठित मिलते हैं । अन्य उदाहरण, यथा—

भिद्यो ! तुम्हारी कपड़ी चिन्वकचिन्वा क्यों हो गई ? यह तो मछली मारने का जाल है ।
हँ, मछली खाते हो ! हाँ हाँ मध के बीच खारे जमकीन के रूप में । मधु भी पीते हो ? हाँ हाँ
वेद्याओं के साथ । अरे वेद्या के पास भी जाते हो ? शत्रुओं को मारकर और कल्ला ही क्या ?
कितने है तुम्हारे शत्रु ? वे सब जिनके घर में मैंने सेंप लगाई हैं । तुम चोर भी हो ? जूरे के
लिए । क्यों जो तुम जुवाड़ी भी हो । इसी से तो भिद्युं हूँ । तुम्हें नमस्कार है ।'

यहाँ 'यह मछली मारने का जाल है' इस प्रकार के उचर से 'मछली खाते हो'—इस प्रकार का प्रदन निकलता है। इसी प्रकार आगे भी [अन्य उचरों से असंभावित प्रदन निकलते हैं]। यहाँ [चतुर्थ चरण के अन्त में] 'देन दासीसुतोऽस्मि' = क्योंकि वेदयापुत्र हूँ [दासी = वेदया या चेटी] यह पाठ अपनाना चाहिए, क्योंकि वेदयापुत्रत्व के प्रति जुआढीपने में कारणता नहीं है। साथ ही इस पाठ से प्रदन और उचरकल्पना समाप्तिपर्यन्त बने रहते हैं अतः वाक्यार्थ बैठ नहीं पाता [अर्थात् 'क्या तेरा बाप भी वेदयागामी था' यह प्रश्न इस पाठ से जागना है और वहाँ वाक्य समाप्त हो जाता है फलतः उसका उचर नहीं मिलता]। दूसरे का उदाहरण, यथा—

प्रश्न

उचर

पुरुष का संशोधन क्या है	[नः = नृशब्द का संशोधन]
हाथियों की शोभा कौन उत्पन्न करते हैं	[मदाः = मदजल]
अग्नि का वैद्य कौन	[वारि = जल]
हे नरभेष्ट आपके शत्रुओं की क्या चीज खाधी है	[पू = नगरी]
नरकासुर को किसने मारा था	[अ = विष्णु]
कीटन क्या है	[नर्म = ईसी मग्नक]
बर्षा में क्या नहीं होते	[दावाः = दानजल]
[नृसिंहावतारी] विष्णु ने नलामों ने तृणवत् किने फाड़ डाला	[रिपूरः = शत्रु = द्विरप्यकशिपु का वध]

विष्वादि में घूमता हुआ कौन

अपना शरीर छिन्न भिन्न करता है

[नर्मदावारिपूरः = नर्मदाजी का प्रवाह]

इसमें 'नर्मदावारिपूर' शब्द ही समग्र और असमग्र रूप में [उपर्युक्त क्रम से] तीन बार उचर बनता है। [इस पद्य में कुछ विद्वान् 'मिपक' के स्थान पर 'विप' पाठ मानना चाहते हैं, वृद्धस्य चरणी विषम्' के समान] ग्रन्थकार ने अनुमान और परिसंख्या से उचरालंकार का जो भेद बताया है वह वक्त स्थलों में भी स्पष्ट ही है। हम उसे ग्रन्थवित्तराम्य से पुनः नहीं कह रहे हैं ॥

इतिहास—उचरालंकार की दोनों विधाओं की खोज प्रथमतः रुद्रट ने की है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

रुद्रट—'उचरवचनश्रवणादुत्पन्न वच पूर्ववचनानाम् ।

क्रियते तदुचर स्यात् प्रश्नादप्युचरं यत्र ॥ ७।१३ ॥

जिसमें उचर सुन कर प्रश्न की कल्पना की जाए, वह अलंकार उचर नाम से पुकारा जाता है इसी प्रकार जिसमें प्रश्न से उचर निकलता है वह भी ॥

'एकाकिनी यदवला०' पद्य में रुद्रट ने आवालंकार माना है। उचर के लिए उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं—

प्रथम का उदाहरण = 'अण मानमन्यथा में भ्रुकृति मौनं विधातुमहमसहा ।

शक्नोमि तस्य पुरतः सखि न खड्ग पराङ्मुखीमवित्तुम्' ॥

सखि ! मुझे मान का उपदेश दे । वैसे तो मैं भी को मौन रखने में असमर्थ हूँ । सखि ! मैं उसके सामने पराङ्मुख हो नहीं पाती हूँ ॥'

द्वितीय का उदाहरण = 'किं स्वर्गादधिकसुरा बन्धुसुहृद्व्यपिठिते समं लक्ष्मी ।

सौराज्यमदुमिश्र सत्कान्यरसावृत्तत्वादः' ॥

स्वर्ग से अधिक मुख की वस्तु क्या है ? बन्धुबान्धव, मित्र तथा पण्डितों के साथ साथ धन, दुर्मिश्ररहित सौराज्य क्या है ? उत्तम काव्य के रसरूपी अमृत का आस्वाद ।।’

रुद्रट ने द्वितीय उदाहरण में उत्तरगत असंभाव्यता को स्थान नहीं दिया था, साथ ही प्रद्वनगत अनेकता को भी । मम्मट ने असंभाव्यता को स्थान दिया है—

- [१] ‘उत्तरश्रुतिमात्रतः, प्रश्नस्योक्तयनं यत्र क्रियते,
[२] तत्र वा सति, असकृद् यदसंभाव्यमुत्तरं स्यात् तदुत्तरम् ।
[३] केवल उत्तर सुनकर जहाँ प्रश्न की कल्पना की जाए,

[१] अथवा प्रश्न रहे परन्तु उसके अनेक असंभाव्य उत्तर प्रस्तुत किए जाएं तो वह अलंकार उत्तर कहलाता है । प्रथम का जो उदाहरण मम्मट ने दिया है ‘वाणिजक हस्तिदन्ताः०’ उसकी अभिव्यक्ति रुद्रट के प्रथम उदाहरण से यतार्थ है । द्वितीय के उत्तर में अन्तर है । इसके लिए रुद्रट के उदाहरण में प्रश्न केवल एक ही बार आया था । मम्मट ने इसका ऐसा उदाहरण दिया जिसमें प्रश्न भी अनेक बार आता है यद्यपि उन्होंने प्रश्नगत अनेकता को कारिका में ठीक वैसे ही स्थान नहीं दिया है जैसे उनके अनुयायी सर्वस्वकार ने । इस द्वितीय उत्तर के लिए मम्मट का उदाहरण ‘का विपमा०’ ही है । विमर्शिनीकार ने इस उदाहरण को रुद्रट के उदाहरण से तुलना करके ही कहा कि यह पक्ष प्रस्तुत किया है कि द्वितीय उत्तर में प्रश्न भी अनेक होने चाहिए । यद्यपि विमर्शिनीकार की यह कल्पना अधिक उत्तम नहीं है कि उत्तर के प्रथम प्रकार में भी प्रश्न की कल्पना कराने वाला उत्तर एक ही नहीं होता चाहिए । यह मान्यता उनके अपने उदाहरण [भिक्षो कन्याः] के लिए ही उपयुक्त है, जो अवश्यमैव आदरणीय है ।

रत्नाकरकार—‘विमर्शिनी के अनुसार अलंकारसारकार ने उत्तरालंकार को अलंकार नहीं माना है । अलंकाररत्नाकरकार भी इसे अलंकार नहीं मानते । नियमनामक एक स्वतन्त्र अलंकार परिसंख्या के प्रकरण में मानकर उन्होंने उत्तरालंकार को उसी में अन्तर्भूत बतलाया है । परिसंख्याप्रकरण में नियम के विषय में बतलाया जा चुका है कि इसमें किसी भी वस्तु का निर्धारणात्मक शापन रहता है । ‘श्रीहीनवहन्ति’ = धान कूटता है, में अन्य प्रकार से चावल निकालने का निराकरण कर केवल ‘कूटने’ के द्वारा ही चावल निकालने का निर्धारण करना है । रत्नाकरकार ‘का विपमा देवगतिः’—पथ में दैवगतिमत्त्वेन विपमत्व का निर्धारण मानते हैं और उत्तरालंकार के स्थान पर नियमालंकार को ही मान लेना पर्याप्त बतलाते हैं । मम्मट द्वारा प्रदत्त ‘वाणिजक हस्ति०’ पद्य में वे अलंकारत्व ही नहीं मानते । अलंकाररत्नाकर में उनका कहना है—

अवश्यवाक्ये नियमे प्रश्नपूर्वकमुत्तरम् ।
अन्तर्भूतमतो शब्द वक्तव्यं न तदुत्तरम् ॥
शातशापनरूपा वा परिसंख्येति तत्र न ।
प्रश्नपूर्वकता युक्ता तेनात्र नियमः स्फुटः ॥’

जब नियमालंकार को मानना आवश्यक है तब उत्तर को पृथक् अलंकार नहीं कहना चाहिए । प्रश्नपूर्वक उत्तर का अन्तर्भाव इसी में हो जाता है । नियम को परिसंख्या से अलग मानना इस लिए आवश्यक है कि परिसंख्या का जो शातशापन रूप है उसमें प्रश्न का कथन अनिवाय नहीं रहता ।

जो आचार्य प्रश्नपूर्वक परिसंख्या को परिसंख्या ही मानते हैं नियम नहीं उनके मत में इसका अन्तर्भाव परिसंख्या में बतलाया जा सकता है । सर्वस्वकार का उत्तर है कि परिसंख्या में तारपर्यं अन्यव्यपोह में रहता है और प्रश्नपूर्वक उत्तर में अन्यव्यपोह नहीं रहता । नियम में

भी अन्यव्यपोह नहीं रहता । नियम में भी अन्यव्यपोह आवश्यक होता है यद्यपि इसमें तारपर्यं केवल अन्यव्यपोह में ही नहीं रहता, अतः सर्वव्यकार के अनुसार नियम में भी उच्चर का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता । विमर्शिनीकार ने नए उदाहरण देकर इस प्रकार की शंकाओं का कोरं स्थान नहीं रहने दिया ।

अप्ययदोषित—विमर्शिनीकार की नवीन स्थापना का प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर पटा । अप्ययदोषित ने उन दोनों भेदों को अपना लिया किन्तु रुद्रट और मम्मट द्वारा प्रतिपादित उच्चर से प्रश्न की कल्पना के प्रथम भेद को वे छोड़ नहीं सके जबकि विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार और अलंकारसारकार के ही समान उसके मोह का सवरण कर लिया था । अप्ययदोषित का उच्चरालंकारनिरूपण इस प्रकार है—

[१] 'किञ्चिदाकूनसहित स्वादगूढोच्चरमुच्चरम् ।

यत्रासौ वेनसी पान्थ तत्रासौ सुनरा सरिच ॥'

'किसी अमिषाय को छिपाकर भाष किसी गूढ उच्चर को उच्चरालंकार कहते हैं । उदा० पान्थ ! नदी मुखपूर्वक वहाँ पार की जा सकती है जहाँ वेतसीकुंड है । स्वच्छन्दतापूर्वक रमणस्थल को मन में रखकर यह उच्चर दिया गया है । इससे पान्थ का प्रश्न भी निकल आता है । विमर्शिनीकार ने 'मिथो कन्या०' पद्य द्वारा उच्चर से प्रश्न की उत्पत्ति और उसी की गूढता का पक्ष प्रस्तुत किया था वही सन्दर्भ में अप्ययदोषित ने एक मनोरम पद्य भी यहाँ उद्धृत किया—

'कुशल तस्या ? जीवति, कुशलं पृच्छामि, जीवतीत्युक्तम् ।

पुनरपि तदेव कथयसि, मृतां नु कथयामि वा वसिति ॥'

इसका मान से सतस नायिका की अपने पास आई दूती और नायक के बीच प्रश्नोत्तर—'बह कुशल तो है ? जीवति है । मैं कुशल पृष्ठ रहा हूँ ? कहा तो कि जीवति है । फिर वही कह रही है ? तो क्या मरी बनला हूँ अभी जिसकी सोच चल रही है । उसी कहना चाहती है कि 'बिना मरे उस विचारों की कुशलता कैसी' । इसे अप्ययदोषित ने निबद्ध प्रश्नोत्तर नाम दिया है । विमर्शिनीकार के द्वितीय उदाहरण में भी समझ श्लेष की शर्चा है और जो एक शब्द समुदाय के अंश अंश पर प्रश्न योजना मिलती है अप्ययदोषित ने उसे चित्रोत्तर नामक भेद माना है । विप्र इसलिये कि इसमें शब्द श्लेष रहता है । इसके लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द में इस प्रकार है—

प्रश्नोत्तरान्तरामिश्रमुत्तर चित्रमुच्यते ।

केदारपोषणरता, के श्लेषाः किं थल वयः ॥'

अहाँ उच्चर या तो प्रश्न से ही अभिन्न हो या अन्य किसी उच्चर से = उसे चित्रोत्तर कहते हैं । पद्या—के दारपोषणरता में प्रश्न = के = कौन है क्या ? दारपोषण रत = श्री वर्यों के पोषण में लगे —उच्चर है केदार-पोषणरताः = न्यायियों पोषण में लगे अर्थात् किसान । यहाँ प्रश्न और उच्चर के शब्द अभिन्न हैं । एक उच्चर के दूसरे उच्चर से अभिन्न होने का उदाहरण है—'के श्लेषा' = कौन है आकाश में घूमने वाले, किं चलम् = क्या है चल ? इन दो प्रश्नों का उच्चर एक ही है वयः = पक्षी और उमर । पक्षी आकाश में अटन करते हैं और उमर चल होती है । यहाँ 'वयः' इस उच्चर के भीतर एक उच्चर और छिपा है । अप्ययदोषित का कहना है ऐसे उदाहरण विदग्धमुख-मण्डन में अनेक हैं । 'कसप्रधान कृष्ण., का शीतलवाहिनी गङ्गा' आदि ऐसे ही वाक्य हैं ।

पण्डितरात्र—जगन्नाथ ने भी उपर्युक्त सभी विधाओं को स्थान दिया है और उच्चरालंकार का विवेचन अप्ययदोषित तथा विमर्शिनीकार के ही अनुसार किया है । उनका सूत्र है ।

'प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽयं उच्चरम् ।'

‘जिसके ज्ञान से जिज्ञासा शान्त हो वह अर्थ उत्तर कहलाता है।’ जिज्ञासा और प्रश्न एक ही वस्तु हैं। जिज्ञासा ज्ञानविषयक इच्छा को कहते हैं। इच्छा वस्तुज्ञान के विना नहीं होती। यह ज्ञान सामान्यात्मक होता है। इच्छा जिस ज्ञान के अर्जन के लिए होती है वह विशेषरूप होता है। इस प्रकार सामान्यतः ज्ञात वस्तु को विशेषतः जानने के लिए हुई इच्छा, जिसे प्रश्न कहते हैं, वस्तुनिष्ठ विशेष के ज्ञान से शान्त होती है। उत्तर द्वारा इसी विशेष का ज्ञापन कराया जाता है। उदाहरणार्थ यदि जिज्ञासा यह हो कि ‘संसार में प्रधान देवता कौन है और उत्तर हो शिव’ तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिज्ञाता के समय शिव का ज्ञान देवता रूप में ही था जिन रूप में नहीं, अथवा प्रधानता का ज्ञान देवत्व के साथ था शिवत्व के साथ नहीं। उत्तर से वह शिवरूप से विदित हो जाता है या प्रधानत्व शिवत्व के साथ विदित हो जाता है।

पण्डितराज ने प्रथम उत्तर को उचीत प्रश्न और द्वितीय को निबद्धप्रश्न नाम दिए हैं। उनके अनुसार दोनों में प्रश्न और दोनों या दोनों में से एक, सामिप्राय या निरभिप्राय होते हैं, इस प्रकार इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद हो जाते हैं। विमर्शिनीकार का मत प्रयक् रूप से उपस्थित करते हुए उन्होंने ‘भिक्षो कन्याः’ पद्य के अनुकरण पर अहाँगीर की स्तुति में ‘न्यायं यज्ञोपवीतं किमिति०’ पद्य बना दिया है। उन्होंने प्रश्नोत्तर की अनेकता वहीं आवश्यक बतलाई है जहाँ के सामिप्राय न हों। चित्रोत्तर के लिए श्री पण्डितराज ने अनेक प्रकारों की कल्पना की और उत्तरगमित प्रश्न का धामन के समान यह त्रिपाद्य उदाहरण बनाकर रस-गंगाधर के ही समान अपना जीवन भी कदाचित् समाप्त कर दिया—

‘किं कुर्वते दरिद्राः कासारवती वरा मनोशतरा ।

कोपावनस्त्रिलोक्याम् ॥’

‘दरिद्र क्या करते हैं किं कुर्वते = किंकरता = सेवा करते हैं। कौन भूमि सारवती और मनो शतर होती है = कासार = तालाव वाली? त्रिलोकी में कौन अपावन है जो क्षेप को रक्षा करता है। इस पद्य का द्वितीय चरण यदि पण्डितराज के जीवन का अन्तिम शिष्य है तो वह बड़ी दुःख की बात है, क्योंकि यह चरण अर्थ की दृष्टि से दरिद्र है। पदार्थ देखिये सामरिका ६।४ में प्रकाशित हमारा ‘पण्डितराज-पद्यपूर्तिसंशोधनम्’ नामक लेख।

विश्वेश्वर = ‘उत्तर माश्राष्ट्र प्रश्नोत्तरयने स्यादुत्तरं नाम ।

प्रश्ने लोकाविदितोत्तरस्य तच्चासकृत्य प्रोक्ती ॥’

‘उत्तर से प्रश्न की कल्पना तथा प्रश्न करने पर अप्रसिद्ध अनेक उत्तर उत्तरालंकार।’ इस प्रकार उत्तर के लिए विश्वेश्वर मम्मट के ही अनुयायी हैं। यहाँ चक्रवर्ती की तिष्ठुष्टाधैकारिका यह है—

‘प्रश्नोद् उत्तरं तस्याद् गूढं चासकृत्युत्तरम् ।’

विमर्शिनी

अधुनालंकारान्तराणां लक्षणं कर्तुमुपक्रमते—इत इत्यादि ।

अब अन्य अलंकारों का लक्षण करना आरम्भ करते हैं—

[सर्वम्ब]

इतः प्रभृति गूढार्थप्रतीतिपरालंकारलक्षणम्—

[सू० ७६] संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम् ।

इह सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यो चोऽर्थः, स यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गि-

ताकाराभ्यां संलक्ष्यते तदा तस्य संलक्षिनस्य विद्ग्धं प्रति प्रकाशनं सूक्ष्म-
मलंकारः । तत्रेङ्गिताद् यथा—

‘संकेतकालमनसं विटं घात्या चिद्ग्धया ।

हसन्नेत्रार्पिताकृतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥’

अत्र संकेतकालामिप्रायो विटसंबन्धिना भ्रूक्षेपादिना इङ्गितेन लक्षितः
रजनिकालमाचिना लीलापद्मनिमीलनेन प्रकाशितः । आकाराद् यथा—

‘चन्द्रस्यन्दिस्वेदचिन्दुप्रयन्वेर्दृष्ट्या मिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।

पुंस्त्वं तन्वया इयञ्जयन्तो वयस्या स्मिन्वया पाणौ यद्ग्लेखां लिलेख ॥’

अत्र स्वेदचिन्दुकृतकुङ्कुममेदरूपेणाकारेण संलक्षिनं पुरुपायितं पाणौ
पुरुपोषितक्षड्गधारालेखनेन प्रकाशितम् ।

यहाँ से गूढार्थ धान परक अलंकारों के उद्योग करते हैं—

[सू० ७६] ताड लिपि गए सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म [अलंकार कहलाता है] ।

[सू०] यहाँ जो पदार्थ सूक्ष्म अर्थात् स्थूलमति वाले व्यक्तियों द्वारा न जाना जाने योग्य
रहता है, वने अब कुद्यामृदि वाले व्यक्ति चेष्टा और आकार के आधार पर गूढ लेने हैं, तब
उस ताड लिपि गए अर्थ का किसी चतुर व्यक्ति के प्रति जो प्रकाशन होना है उसीको सूक्ष्म नामक
अलंकार कहा जाता है । इनमें से चेष्टा से ताडने का उदाहरण—

‘चतुर वनिता ने विट को संकेत जानने के लिए उत्सुक देखा तो मुनकुराती आँखों में चाह
मर कर अपना लीलाकमल मूढ़ दिया है ।’ यहाँ संकेतकाल का अभिप्राय विट की भ्रूक्षेप
आदि चेष्टाओं से ताड लिया गया है और रात्रिकाल में होने वाले लीलापद्मनिमीलन से उसे
प्रकाशित कर दिया गया है । आकार से ताडने का उदाहरण—

‘किसी सखी ने चेहरे पर नै लगाना वह रहे पसीने से कण्ठ का कुंकुम फैला हुआ देखा
तो तन्वी के पुरुपायित [विपरीत रमण] को व्यक्त करते हुए मुसकुरा कर हाथ पर खड्ग का
चित्र बना दिया ।

यहाँ स्वेदचिन्दु द्वारा उत्पन्न कुंकुम के फैलाव रूपी आकार से विदित हुए पुरुपायित हाथ
पर खड्ग बनाने के द्वारा प्रकाशित किया गया है, क्योंकि खड्ग पुरुपोषित वस्तु है ॥

विमर्शिनी

पुत्रदेव व्याचष्टे—इदेषादि । इङ्गिताकाराभ्यां सूक्ष्मार्थसंलक्षणादस्य भेदद्वयमप्युक्तम् ।
एव संलक्षितस्वार्थस्य प्रकाशनमयमलंकार इत्यत्र तात्पर्यम् । [यदाहुः]

‘कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाशयते ।

धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचष्टते ॥’

किं च—‘यत्र कर्णोत्पलन्यस्तहस्ता दीपावलोकिनी ।

इष्ट्वा वधू प्रियोपान्ते मल्लीभिः प्रतिमुष्यते ॥’

इत्येतद्ग्रन्थप्रक्रिययालंकारोदाहरणभावं कुर्वतात्पलकारभाव्यकृता सूक्ष्मालंकारे यत्-
पुनगुणमदाइतं तत्रायमाशय—‘यत्सूक्ष्मार्थस्य संलक्षणमात्रं प्रकाशनमात्रं वाच्यमेवा-
लंकार इति । अत एवात्र सखीभिः सुरतोःसुकव्य संलक्षितम् कर्णोत्पलन्यस्तन्यासादिना

प्रकाशितमिरयुभयार्थसहितवम् । तदेवमादौ सूक्ष्मालंकार एव वाच्यः । सूक्ष्मस्यैवार्थस्य संलक्षयमाणत्वादिनावस्थानात् ॥

इसी सूत्र की व्याख्या करते हैं—इह इत्यादि । चेष्टा और आकार इन दो हेतुओं द्वारा सूक्ष्म अर्थ के जानने से इस अलंकार के दो भेद भी बतलाए । इस प्रकार तात्पर्य यह निकाल कि 'जाने हुए अर्थ का प्रकाशन ही इस अलंकार का स्वरूप है [जैसा कि मम्मट ने कहा है—]

'जिसमें, सूक्ष्म होने पर भी किसी भी कारण से जान लिया गया कोई अर्थ किसी धर्म के द्वारा किसी अन्य को बतलाया जाता है उसे सूक्ष्म कहते हैं ।' और [अन्यत्र] इसी [सर्वस्व] ग्रन्थ के अनुसार अलंकारों के उदाहरण देते हुए भी सूक्ष्मालंकार के प्रकरण में अलंकार भाष्यकार [तथा रत्नाकरकार] ने जो—

'यहाँ सखियों कपोल पर हाथ रखकर दीप निहारती देख, वधु को प्रिय के पास छोड़ जाती है ।' यह उनको अपनी मान्यता के अनुरूप उदाहरण दिया है उससे उनका तात्पर्य यह है कि 'सूक्ष्म अर्थ का केवल जान लेना, या केवल प्रकाशित करना भी यही अलंकार है' । इसीलिए यहाँ जो सखियों द्वारा सुरसोत्सुकता जान ली गई है और जो कर्णोत्पल पर हाथ रखने आदि से उसे [वधु द्वारा सखियों के प्रति] प्रकाशित किया गया है इससे यहाँ दोनों प्रकार के अर्थ का होना बतलाया गया । इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में सूक्ष्मालंकार ही माना जाना चाहिए । क्योंकि इन सब में जान लिए गए रूप में सूक्ष्म अर्थ ही विद्यमान है । [अलंकारभाष्य के उपलक्ष्य न होने से मम्मटकारिका के बाद का यह टिप्पण हमने जोड़ तोड़कर ही अनूदित किया है] ।

विमर्श—अलंकारभाष्य में कदाचिद्वेबल जान लेने को भी सूत्र का अर्थ माना गया था । मम्मट, सर्वस्व और विमर्शिनी उससे विपरीत जाने गए अर्थ के प्रकाशन तक सूक्ष्म की व्याप्ति मानते हैं ।

इतिहास = सूक्ष्मालंकार को जो रूप मम्मट की विमर्शिनी में उद्धृत कारिका तथा सर्वस्व में मिलता है उसकी खोज का श्रेय दण्डी को है । उन्होंने सूक्ष्म का जो लक्षण किया था मम्मट आदि ने उसी की पदावली पर अपना विवेचन खड़ा किया है । दण्डी का सूक्ष्म-विवेचन इस प्रकार है—

दण्डी = 'शक्तिकारलक्ष्योऽर्थः सीक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः ।
 कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकीर्णं वक्तुमक्षमम् ।
 अवेत्य कान्तमबला लीलापद्यं न्यमीलयत् ॥
 पद्मलंमीलनादत्र सूचितो निशि संगमः ।
 आभासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गलपीडितम् ॥
 मदीपितदृशस्तस्या गीतगोष्ठयामवर्षत् ।
 उद्गमरागतरेखा छाया कापि मुष्मानुजे ॥
 इत्यनुङ्गिन्नरूपत्वाद् रत्युत्सवमनोरयः ।
 अनुलक्ष्यैव सूक्ष्मत्वमसूदत्र व्यवस्थितः ॥

—[काव्यादर्श २।२६०-६४।]

इंगित या आकार से लक्षणीय अर्थ सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म माना गया है । उदा० 'जनसंशुल स्थान में प्रिय को 'हम दोनों का मिलन कब होगा' यह जोर से पूछने में असमर्थ जानकर अबला ने 'लीलापद्य मूँद दिया ।' यहाँ कामपीडित प्रिय को आभासन देने के लिए रात्रिकाल में मिलन की सूचना पद्मनिमीलनद्वारा दी गई है । [पुनः उदाहरण—] 'संगीतगोष्ठी में उस सुन्दरी

की दृष्टि मुझ ही पर टिकी रही और मुझकमल पर उदाहरण रक्तिमा से तरह एक विचित्र कान्ति दिखाई दी ।' यहाँ पर भी रत्युत्सव की लालसा छिपी हुई होने के कारण सूक्ष्मता को बिना खोए व्यक्त हुई है ॥'

हेत्वल्कार के प्रकरण में दण्डीद्वारा प्रतिपादित लेख, सूक्ष्म आदि अलंकारों का मामह द्वारा खण्डन उद्धृत किया जा चुका है। उससे स्पष्ट है कि मामह सूक्ष्म को अलंकार नहीं मानते। मामह का अनुकरण करते हुए वामन और उदुट ने भी इस नाम का कोई अलंकार नहीं बतलाया है।

शब्द—शब्द के काम्यालङ्कार में सूक्ष्मनामक अलंकार तो है, किन्तु उसका स्वरूप और उदाहरण दण्डी और मम्मट के उपर्युक्त सूक्ष्म से भिन्न एक दूसरे ही प्रकार का है। वह यह है—

'यथायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजायंभवकम् ।

अर्थात्तरमुपपत्तमदिति तत् संजायते सूक्ष्मम् ॥' ७१८।

जिसमें अयुक्त अर्थ का शब्द अपने अर्थ से सम्बन्धित किसी युक्ति-युक्त अर्थ का ध्यान कराए वह सूक्ष्म नामक अलंकार होता है।

यथा—'भाद्री पश्यति बुद्धिर्व्यवसायोऽङ्गालहीनमारमते ।

धैर्यं श्यूढमहामरमुत्साहः साधवारवर्धम् ॥

'आरम्भ में देखा करती है बुद्धि, व्यवसाय समय गँवाए दिन धैर्य आरम्भ कर देता है, धैर्य महान् भार को ढोए रहता है, उत्साह कार्य सिद्ध करता है।' यहाँ ये सब कार्य तद्वान् प्राणी करता है। वह यहाँ निगूढ है अतः उसका बोध होने से यहाँ अलंकार भी सूक्ष्म नामक ही है। वस्तुतः ये लक्ष्यगिक प्रयोग मान हैं।

मम्मट—'कुतोऽपि लक्षिणः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽयमै प्रकाशयते ।

धर्मैः केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते ॥'

अर्थ अभी अभी विमतिनी ने किया जा चुका है। इसकी पदावली से स्पष्ट है कि इस अलंकार के रूपनिर्माण में मम्मट अक्षर अक्षर के लिए दण्डी के ऋणो है। ठीक इसी प्रकार सर्वस्वकार भी अपने विवेचन और उदाहरणों के लिए मम्मट के ऋणी हैं। दोनों की पदावली प्रायः एक है, उदाहरण तो एक है ही। मम्मट की पदावली यह है—'वक्त्रस्यन्दि०' अत्राकृति-मवलीक्य केनापि वितर्कितं पुरुषावितम् अतिरक्ताकेखनेन वेदग्भ्यादभिव्यक्तिमुपनीतम्, पुस्तानि वृषागपाणिपायोऽग्व्यात् । यथा वा 'सकेनकालमनसम्०' अत्र जिज्ञासितः संकेनकाः कर्पाचिद् इत्तिमात्रेण विदितो निशासमयदासिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः ॥

शोभाकर—रत्नाकरकर शोभाकर ने ज तो अलंकारभाष्य के समान 'ज्ञान' और 'प्रकाशन' की दोनों इकाइयों को सूक्ष्म के लिए स्वतन्त्र और पर्याप्त ही माना है और ज मम्मट तथा सर्वस्वकार के समान दोनों की एकत्र अनिवार्यता ही मानी है। उन्होंने केवल प्रकाशन को सूक्ष्म के लिए पर्याप्त माना है, ज्ञान को उसका वैकल्पिक सदयोगीमात्र माना है। उनका उद्देश्य यह है—

'सूक्ष्मार्थस्य सूचनं सूक्ष्मम्' ॥ १०३ ॥

'सूक्ष्म अर्थ की सूचना सूक्ष्म' नामक अलंकार होगी। रत्नाकरकर ने सूचना का माध्यम आकार और चेष्टा ही नहीं वाच्य को भी माना है। उसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

'रथ्याभ्रमणशूलं जार तरुणी दृष्ट्वा मक्यर्पात सखीम् ।

रदानां चर खड्ग मूर्धः सरितं सन्ध्यायां तद् वाम- १'

यार को गली में धूम रहा देव तरुणी सखी से कहती है—'सूर्यं द्रुव रहा है, सखि ! चल नदी चलें !'

यहाँ नदी को संकेत स्थान बतलाया जा रहा है। 'यत्र कर्णोत्पलन्यस्त०' पद्य में वधू का आँसुक्य किसी अन्य के द्वारा नहीं जाता आता, न कोई अन्य ही किसी अन्य के प्रति उसे व्यक्त करता। रत्नाकरकार ने इसमें भी सूक्ष्म को अलंकार माना है। 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य भी उन्होंने सूक्ष्म के लिए उद्धृत कर दिया है। इस प्रकार सूक्ष्म को अनेक नवीन परिस्थितियों में देवकार रत्नाकरकार ने अपनी भावक प्रतिमा की उर्वरता का परिचय दिया है। 'ज्ञान और प्रकाशन' दोनों को अनिवार्य इकार मानने के पक्ष पर वे स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रतिवाद प्रस्तुत करते हैं—

'वक्त्रस्यन्दि०' अत्र चाकारेणेकित्तन वा संलक्षितस्यार्थस्य परं प्रति प्रकाशनम् इति द्विभेदरत्नं न वाच्यम्, संलक्षितस्य प्रकाशनाभावेऽपि निःशक्तिप्रकाशनेऽपि संभवतीति 'संलक्षितस्य सूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्' इति लक्षणमव्यापकम्, यथात्रैव 'यत्र कर्णोत्पलन्यस्त०' हायादौ ।'

'प्रकाशन के प्रति केवल आकार और शक्ति को ही ज्ञान का साधन मानकर सूक्ष्म को दो भेदों तक सीमित नहीं रखना चाहिए क्योंकि कहीं कहीं अन्य के द्वारा ज्ञान और अन्य के द्वारा ही प्रकाशन की अभाव में स्वयं प्रकाशन होने पर भी यह अलंकार देखा जाता है। इसलिये [सर्वत्वकार] 'संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म है' इस प्रकार का जो लक्षण बनाया है वह सभी स्थलों में लागू नहीं होता यथा इसी 'यत्र कर्णोत्पल०' पद्य में।

अप्यपदीक्षित ने 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य में पिहितनामक अलंकार मान सूक्ष्म को 'संकेतकालमनसं' तक सीमित रखा है।

अप्यपदीक्षित = 'सूक्ष्मं पराश्रयाभिज्ञोत्तरं साकृतचेष्टितम् ।'

मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमाधुणोव ॥

—दूसरे का आश्रय जान रहे व्यक्ति दूसरे के प्रति अभिप्राय चेष्टा सूक्ष्म कहलाती है। उदा० 'मैं देख रहा था जो उसने कालों से अपनी माँग की मणि बँक ली।' यहाँ मयि सूर्य का प्रतीक है। उससे सन्ध्याकाल के संकेतकाल होने की सूचना दी गई। अन्य में अप्यपदीक्षित ने 'संकेतकालमनसं' पद्य भी उद्धृतकर दिया है। पिहित का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

'पिहितं परवृत्तान्तशातुः साकृतचेष्टितम् ।

प्रिये गृहगतं प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ॥'

दूसरे की स्थिति जानने वाले की साभिप्राय या ब्यंग्यपूर्ण चेष्टा पिहित कहलाती है। उदा० 'प्रिय प्रातःकाल सपत्नी के पास से लौट तो नायिका ने उसके लिए विछौना बिछवा दिया।' दूसरा उदाहरण 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य ही दिया है। चन्द्रिकाकार ने सूक्ष्म और पिहित का अन्तर बतलाते हुए लिखा है—'सूक्ष्म में दूसरे का अभिप्राय जानकर अपनी ओर से उत्तर भी दिया जाता है, और इस उत्तर में वक्ता अपना गूढ़ अभिप्राय व्यक्त करता है, जब कि पिहित में दूसरे की गूढ़ स्थिति को जान लेने की सूचना दी जाती है। अर्थ यह कि सूक्ष्म वक्ता को स्वगत सूक्ष्म या निगूढ़ भाव के स्वयं निवेदन में होगा और पिहित किसी के द्वारा अपने गूढ़ भाव के छिपाने में, यद्यपि इसमें छिपाए भाव का प्रकाशन भी रहेगा, क्योंकि उसके बिना उस छिपे भाव का अस्तित्व ही प्रकट न होगा और पाठक को चेतना पर उसका प्रभाव न पड़ेगा। उद्योतकार आदि ने इस पार्थक्य का प्रत्याख्यान कर दोनों विधाओं को प्राचीन आचार्यों के समान अवान्तरभेद के रूप में एक 'सूक्ष्म' शीर्षक में ही गिनना उचित बतलाया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगावर में सूक्ष्म अलङ्कार नहीं आ पाया है।

विश्वेश्वर ने अपना सूक्ष्मालङ्कार मम्मट के ही लक्षण पर निर्भर रख इस प्रकार बनाया है—

प्रतिभाविशयाद् ज्ञातो वषाकारेक्षितार्थः ।

विशुद्धीक्रियतेऽन्यस्मै तथैव तत्र सूक्ष्ममिस्त्युक्तम् ॥

रसनाकरकार और अपरवदोषित की नवीन उद्भावनाओं पर चुर है। इस अलङ्कार पर चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

‘सूक्ष्मं तु सूक्ष्म मन्वस्य विदग्धेषु प्रकाशनम् ।

शक्तिताकारतः सूक्ष्मसंश्लेषमिति दिवा ॥’

शक्ति और आकार का अन्तर श्रीचक्रवर्ती ने इन प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया है—

शक्ति = भासूनभ्यजिताद्येष्टा शक्ति बुद्धिकारिता ।

आकार = आकार. पुनराग्नातस्वा स्वाबुद्धिकारिता ॥

तथा—

शक्ति = ‘तारापुदभृष्टभादेविकारानिश्चित विदुः ।

आकार = आकारा. सरवजा भावा भाषा बुद्ध्या परेऽन्यथा ॥

—जो चेटाएँ भावाभिव्यक्ति के लिये जानबूझकर की जाती हैं उन्हें शक्ति कहा जाता है, वे ही चेटाएँ यदि जानबूझकर न की जाए अपितु स्वभावतः निष्पन्न हो जाए तो आकार मानी जाती है।

—पलक, भ्रुकुटि और दृष्टि के विकार शक्ति होते हैं जब कि आकार चित्तस्थिति की घोटक मुद्राएँ। इनमें से प्रथम जानबूझ कर किए जाते हैं और द्वितीय स्वभावतः निष्पन्न होते हैं।

[सर्वस्व]

[सू० ७७] उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः ।

यत्र निगूढं वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुद्भिन्नं प्रकटतां प्राप्तं सद् वस्तुवन्तर-
प्रक्षेपेण निगूह्यते अपलप्यते, सा वस्तुवन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य घचनाद्
व्याजोक्तिः । यथा—

‘शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-

द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविविधव्यासङ्गमङ्गाकुलः ।

हा शैत्यं तुहिनावलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं

शैलान्तःपुरमात्मण्डलगणैर्दृष्टोऽघताद् व. शिवः ॥’

अत्र रोमाञ्चादिनोद्भिन्नो रतिभावः शैत्यप्रक्षेपणेनापलपितः । यद्यप्यप-
हृतोऽपि सस्मितत्वव्यापनेन पुनरभ्युद्भिन्नत्वेन प्रकाशितः, तथाप्यपलाप-
मात्रचिन्तयास्यालङ्कारस्योल्लेखः ।

नन्वपहृतिग्रन्थे ‘यथा सादृश्याय याऽपहृतिः, तथापहृत्वायापि यस्ता-
दृश्यं साप्यपहृतिः’ इति स्थापितम्, व्याजोक्तौ चोत्तरप्रकारो विद्यते तत्कथ-
मियमलङ्कारान्तरे[ररूपे]ण कथ्यते । सत्यम् । उद्भटसिद्धान्ताश्रयेण तत्

तत्रो तन्मते व्याजोक्त्याख्यमलंकरणमस्ति । इह तु तस्य संभवात् तद्व्यतिरिक्तापद्धतिरिति पृथग्यमलंकारो निदिष्टः ।

[सूत्र ७७] प्रकट वस्तु का छिपाया जाना व्याजोक्ति [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

जिसमें कोई निगूढ वस्तु किसी भी कारण वद्भिन्न अर्थात् प्रकटता को प्राप्त हो जाती है । अतः वसे अन्य कोई वस्तु बीच में लाकर निगूहित किया जाता अर्थात् छिपाया जाता है, वह अन्य वस्तु के बीच में खालने रूप व्याज का कथन होने से व्याजोक्ति मानी जाती है । यथा—

'पर्वतराज हिमाचल द्वारा सीपों जा रहे पार्यंती जी के हाथ के स्पर्श से हुए रोमांच आदि के कारण अस्तव्यस्त हुए समस्त कार्य कलाप में रूकावट आ जाने से घनराप, अतएव 'आह कितने ठंडे हैं हिमाचल के हाथ' इस प्रकार बोल बैठे और पर्वतराज के अन्तःपुर, ब्राह्मी आदि माताओं तथा प्रथमगणों द्वारा मुसुकुरा मुसुकुराकर देखे जा रहे शिव आपकी हमारी रक्षा करें ।'

यहाँ रोमांच आदि द्वारा प्रकट हुई रतिरूपी विचवृत्ति शीतलता को बीच में लाकर छिपाई गई । यद्यपि छिपाव जाने पर भी मुसुकुराइट के उल्लेख के द्वारा उसे पुनः प्रकट बतलाया गया, तथापि छिपानेमात्र पर ध्यान जाने से इस अलंकार का अनुभव होता है [चमत्कार प्रतीत होता है] तथा इसे नाम दिया जाता है ।

शंका होती है कि अपहृति [श्लेष] प्रकरण के ग्रन्थ में यह बतलाया है कि 'जिस प्रकार जो छिपाव सादृश्य शापन के लिए होता है वह अपहृति होता है, उसी प्रकार जो सादृश्य छिपाव बतलाने के लिए होता है वह भी अपहृति होता है ।' इनमें से जो द्वितीय प्रकार है वह व्याजोक्ति में विद्यमान है, तब इसे मित्र अलंकार क्यों बतलाया जा रहा है । [उत्तर] ठीक है । [अपहृति का] वह [रूप] उद्भट के सिद्धान्त के अनुसार वहाँ बतलाया गया है । उनके मत में व्याजोक्ति कोई अलग अलंकार नहीं है । इस [ग्रन्थकार के मत] में वह संभव है, अतः [इस मत में] उस [द्वितीय प्रकार] से क्या हुआ भेद ही अपहृति का विषय होगा । इस कारण यहाँ यह अलंकार पृथक् बतलाया गया है ।

विमर्शिनी

उद्भिन्नेत्यादि । निगूढमिति । वस्तुतः । वस्त्वन्तरप्रक्षेपेणेति । निमित्तान्तरकथनेनेत्यर्थः । रतिभाव इति । स्थायी । अपहृतोऽपीति । व्याजोक्तेः प्ररोहात् । अपलापमात्रचिन्तयेति । तावन्मात्रस्यैव तल्लक्षणत्वात् । अस्याश्रापहृतेर्भेदं दर्शयितुमुपक्रमते—तन्नित्यादिना । स्थापितमिति । श्लेषग्रन्थे यदुक्तम् । 'सादृश्यव्यक्तये यत्रापहृवोऽसावपहृतिः' इति । एवमपहृत्वग्रन्थ इति पूर्ववाक्य एषं संवन्धनीयम् । उत्तरः प्रकार इति । अपहृत्वाय सादृश्यम् तदिति । उत्तरेणैव प्रकारेण व्यासत्वात् । कथमिति । निष्प्रयोजकत्वात् । एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—तत्प्रमित्यादिना । तदिति अपहृत्वाय सादृश्यम् । तत्रेति । श्लेषे । तन्मत इति । उद्भटमते । तस्येति । व्याजोक्त्याख्यमलंकारस्य । तदर्थतिरिक्तेति । अपहृतौ हि प्रकृतमेवोत्कर्षयितुमप्रकृतस्योपादानम् । इह उद्भिन्नं सव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाप्रकृतेन निगूढते इत्यनयोर्महान्भेदः । एवं 'आहृष्यादौ' इत्यादौ च चोलाकारमवस्त्वन्तरप्रक्षेपेणोद्भिन्नप्रियनिगूढनस्यैव वाच्यार्थत्वाद्ब्याजोक्तिरेव न पुनरपहृतिः । अत एव च नात्र वक्रोक्तिः । तस्य यथायोजनमात्रं लक्षणम् ।

उद्भिन्न इत्यादि । निगूढ अर्थात् वस्तुतः निगूढ । वस्त्वन्तरप्रक्षेपेण दूसरी वस्तु को बीच में खाने से = अन्य कोई कारण बतलाने से । रतिभावः = स्थायित्वरूप रति । अपहृतोपि =

छिपाव जाने पर भी = अर्थात् व्याजोक्ति के जम जाने के कारण । अपलापमाप्रविन्नया = छिपाव मात्र के ध्यान से = क्योंकि व्याजोक्ति का लक्षण ही केवल वह (छिपाव) है । हम [व्याजोक्ति] का अपहृति से भेद बनाना आरम्भ करते हैं—ननु० । स्थापित । जैसा कि श्लेष प्रकरण [के अन्त] में कहा है—‘सादृश्य की व्यक्ति के लिए जहाँ छिपाव होता है उसे अपहृति कहा जाना है’ = श्यादि । इस प्रकार ‘अपहृत् प्रत्य’ इसका अर्थ ‘पूर्व वाक्य लगाना चाहिए । उत्तरः प्रकारः = दूसरा प्रकार = ‘सादृश्य छिपाव बनाने के लिए’ । तत् = इस कारण = दूसरे प्रकार में ही चले आने में । कथम् = क्यों = कोई प्रयोजन न होने से । स्वीकारकर इसी का खण्डन करते हैं—मत्स्यम् श्यादि के द्वारा । तत् = सादृश्य छिपाव के लिए । तत्र = वहाँ श्लेषप्रकरण में । तत्रमत = उनके मत में = उद्भट के मत में । तस्य = उमका व्याजोक्ति नामक अलङ्कार का । तद् व्यतिरिक्त = उमने बचे = अपहृति में तो अपहृत् का उपादान प्रकृत के उरुर्क के लिए ही होता है, जब कि हम व्याजोक्ति में अपहृत् वस्तु प्रकृत दुर्ग प्रकृत वस्तु को छिपाया करती है । इस प्रकार इन दोनों में बहुत बड़ा भेद है । इस प्रकार [श्लेष प्रकरण में उद्भट] ‘आहुपादावमन्द०’ श्यादि [पद्य] में ‘चोली’ रूप अन्व वस्तु को बीच में लाकर प्रकृत दुर्ग प्रियरूपी अर्थ का छिपाना ही वाक्यार्थ स्वरूप है, अत्र वहाँ व्याजोक्ति ही है, अपहृति नहीं । अत्र प्य यहाँ [अगले सूत्र द्वारा प्रतिपादित] वक्रोक्ति भी नहीं है क्योंकि उमका स्वरूप ‘दूसरे प्रकार से योजना करना’ है ॥

विमर्श—वृत्तिका ने श्लेषप्रकरण के अन्त में अपहृति के दो भेद इस कारिका द्वारा बनाए थे—

‘सादृश्यव्यक्तये यत्रापहृतोऽनावपहृतिः ।

अपहृत्वाय सादृश्यं यत्राप्येषापहृतिः ॥’

इसके पूर्व वृत्ति में वहाँ लिखा था—‘उभयथाप्यपहृतिप्रकृतौ सादृश्यपर्यवसायिना वापहृत्वेन, अपहृत्पर्यवसायिना वा सादृश्येन, भूतार्थापहृत्पर्यवसायिना विद्यमानत्वात् [वृ० १७३] यहाँ ‘अपहृतिप्रत्ये’ लिखने का अर्थ विमर्शनीकार ने अपहृतिविषयक पूर्व चर्चा किया है । संजीविनीकार इस पर चुप है । वस्तुतः अपहृतिप्रकरण में भी इसने मिलती जुलती निम्नलिखित बात आई है—‘अपहृत्पूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वक अपहृत् ।’ आरोप सादृश्यमूलक होता है । प्रथम भेद में अपहृत् उसका निष्पादक होगा । फलतः वहाँ अपहृत् सादृश्य के लिए होगा । द्वितीय में उसके विपरीत ‘सादृश्य अपहृत् के लिए’ होगा । इसमें प्रकृत प्रत्य का संबन्ध जोड़ा जा सकता है ।

इतिहास—व्याजोक्ति नामन की देन है । उनका सूत्र है—‘व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः ।’ व्याजपूर्ण वस्तु का सत्य वस्तु के साथ सादृश्य व्याजोक्ति कहलाती है । इसे नामन ने मादोक्ति भी कहा गया बतलाया है । उदाहरण—‘काण्डपुष्पलवनेन्दं साधुपातं मुखं मम’ मेरा मुख आँसू युक्त इसलिए है कि इसमें कामपुष्प का टुकड़ा भर गया है । यहाँ सात्त्विकभाव से जनित अश्रु को काण्डपुष्प के बहाने छिपाया गया है उद्भट और उद्भट के काव्यालंकारों में यह अलङ्कार नहीं मिलता ।

मम्मट—ने ‘शैलेन्द्रप्रति०’ पद्य का ही उदाहरण देते हुए व्याजोक्ति का विवेचन इस प्रकार किया था—

[सू०] ‘व्याजोक्तिच्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्’ ।

[वृ०] निगूहनमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रमित्तं केनापि व्यपदेशेन यदपहृत्ते सा व्याजोक्तिः । न चैवापहृतिः प्रकृतप्रकृतोभयविद्यस्य साम्यस्येहासमवात् । उदा० ‘शैलेन्द्र०’ । अत्र पुलकनेपयु-सात्त्विकरूपतया प्रसूतो नैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपो व्याजोक्तिं प्रयोजयत् ।’

प्रकट द्रुप वस्तुरूप को षल द्वारा छिपाना व्याजोक्ति । वस्तु का रूप छिपा देने पर किसी प्रकार प्रकट हो गया हो तो किसी भी बढ़ाने से उसे जो छिपाया जाता है वह व्याजोक्ति कहलाता है । यह अपपद्धति नहीं है क्योंकि यहाँ प्रकृत और अप्रकृत के बीच साम्य की विवक्षा नहीं है । 'उदा० शैलेन्द्रप्रति०' में रोमांच और कम्प सात्त्विकरूप में प्रकट है और शैत्यजनित वतलाकर उनकी वास्तविकता छिपाई गई । स्पष्ट है कि सर्वस्वकार का विवेचन मम्मट के विवेचन पर आश्रित है ।

रत्नाकरकार—ने व्याजोक्ति को न्याय के लिए वाक्यप्रयोग तक सीमित नहीं रखा, उसे चेट्टा आदि द्वारा भी संभव बतलाया है । इसी प्रकार उद्भेद = प्रकाशन को भी दो प्रकार का माना है आशंक्यमान तथा उत्पन्न । इस प्रकार उन्होंने इसे चार प्रकार का माना है । चेट्टा आदि को उक्तिस्वरूप मानने के लिये उन्हें लक्षणा का सद्दारा लेना पड़ा है । उनका लक्षण केवल—

'उद्भेदप्रच्छादनं व्याजोक्तिः ॥ १०४ ॥'

'उद्भेद = प्रकाशन को छिपाना = ढँकना व्याजोक्ति'—इतना ही है । इनका आशंक्यमान उद्भेद का उदाहरण अप्ययदीक्षित के उदाहरण से गतार्थ है । उत्पन्न उद्भेद के लिए उन्होंने 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान०' पद्य का ही उदाहरण दिया है ।

मौलिक और व्याजोक्ति का अन्तर करते द्रुप उन्होंने लिखा है—

'उद्भेदस्य निरूपणं स्वरसतो हेऽन्तराच्चेद भवेत्
प्रसूदः समधर्मकोरकटगुणाप्रच्छादनान्मीलितम् ।
व्याजोक्तोरभिसन्धिपूर्वकतया चेष्टादिनोक्त्याऽथवा
व्याजेन प्रतिभेदगूहनमतो युक्तं विविक्तं वपुः ॥'

मौलिक और व्याजोक्ति दोनों में उद्भेद तो स्वतः होता है किन्तु प्रच्छादन के हेतु में अन्तर रहता है । मौलिक में प्रच्छादन नमान धर्म वाले पदार्थ के उत्कृष्ट गुणों से होता है, जब कि व्याजोक्ति में चेट्टा आदि के द्वारा अथवा वाक्य द्वारा प्रच्छादन जानबूझ कर किया जाता है ।

अप्ययदीक्षित = 'व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् ।

सखि । पश्य गृहारामपरागैरस्मि भूसरा ॥'

'कोई अन्य हेतु देकर आकार का छिपाना व्याजोक्ति कहलाता है । यह—'हे सखि ! देख मैं घर के बगीचे के पराग से भूसरित हो गई हूँ ।' यहाँ धूल में पड़ कर की गई चौंरंति किसी के द्वारा जानने के पहले ही छिपाई गई है । न केवल वाक्य ही अपितु चेट्टादि अन्य हेतुओं को भी अप्ययदीक्षित ने रत्नाकरकार के ही समान प्रच्छादनहेतु माना है । जैसे कोई नायिका अपने अनुरागजनित रोमांच को प्रणाम के बढ़ाने छिपाती है ।'

पण्डितराज के रसगंगाधर में यह अलंकार नहीं मिलता ।

विश्वेश्वर—ने भी वाक्य और चेट्टा दोनों के द्वारा प्रकट भाव के छिपाव में व्याजोक्ति मानी है—

'व्याजोक्तिर्विशदीभवदर्थस्यापहृतिभिषतः ।'

अप्रकारस्यत्यार्थस्य कथञ्चिद् विभावनप्रसङ्गे सति केनचित् कौतवेन तदपहृत्वो व्याजोक्तिरित्यर्थः ।

अप्रकाशनीय अर्थ का किसी भी प्रकार से प्रकाशन का प्रसंग आ जाने पर किसी भी बढ़ाने उसे छिपाने को व्याजोक्ति कहा जाता है ।'

वाक्यातिरिक्त लपाय का उदाहरण उन्होंने 'दम्पत्योर्निश्चि०' पद्य दिया है जिसकी भावयोजना यह है—'रात की मानचीत जब शुक सवेरे सखियों के सामने बोलने लया तो चतुरा ने बनार का दाना देकर उसकी चोंच बन्द कर दी।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टायंकारिका इस अलङ्कार पर यह है—

'व्याजोक्तिव्याजवचनेनाद्विप्रस्य निगूहनम् ।

अपह्णताय सादृश्ये दृष्टा नापद्वृत्तियंत- ॥'

प्रकट अर्थ का व्याजवचन के द्वारा छिपाना व्याजोक्ति कहलाता है। यह अपद्वृत्ति नहीं है क्योंकि वह सादृश्यमूलक अपह्वव [छिपाव] में होती है।'

[सर्वस्व]

[सू० ७८] अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाम्यान्यथा योजनं वक्रोक्तिः ।

उक्तिव्यपदेशसाम्याद् व्याजोदत्यमन्तरमस्या लक्षणम् । यद्वाक्यं केन-
चिद्व्यथामिप्रायेणोक्तं सद्यपरेण यद्वा काकुप्रयोगेण श्लेषप्रयोगेण वान्यथा-
न्यार्थघटनया योजयते तदुक्तिः वक्रोक्तिः । काकुप्रयोगेण यथा—

'गुरुपरतन्त्रतया यत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।

अलिकुलकोकिलललिने नैप्यति सपि सुरमिसमयेऽसौ ॥'

अत्रैतद्वाक्यं नायिकया आगमननिषेधपरत्वेनोक्तम् । तत्सदृश्या काकु-
प्रयोगेण विधिपरतां प्रापितम् । काकुवशाद्विधिविधयोर्विपरीतार्थ-
संक्रान्तिः ।

तत्र श्लेषोऽभङ्गसभङ्गत्वेनोभयमयत्वेन त्रिविधः । तत्राभङ्गश्लेषमुत्पेन
यथा—

'अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता ।

त्रिगुणा ध्रुयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित् ॥'

अत्र दारुणेति प्रथमान्तं प्रक्रान्तं श्लेषभङ्गया तृतीयान्ततया संपादि-
तम् ।

सभङ्गश्लेषमुत्पेन यथा—

'त्यं हालाहलमृत्करोपि मनसो मूच्छां समालिङ्गितो

हालां नैव विमर्षि नैव च हलं मुग्धे कथं हालिकः ।

सत्यं हालिकतैव ते समुचिता सकस्य गोवाहने

वक्रोम्येति जितो हिमाद्रिसुतया स्मेरोऽवताद् यः शिवः ॥'

उभयमुखेन यथा—

'विजये कुशलस्त्र्यक्षो न क्रीडितुमहमनेन सह शक्ता ।

विजये कुशलोऽस्मि न तु त्र्यक्षोऽक्षद्वयमिदं पाणी ॥

किं मे दुरोदरेण प्रयातु यदि गणपतिर्न तेऽभिमतः ।
 कः प्रद्वेष्टि विनायकमद्विलोकं किं न जानासि ॥
 चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे किं प्रतारयस्येवम् ।
 देव्यै यदि रुचितमिदं नन्दिनाहूयतां राहुः ॥
 हा राहौ शितदंष्ट्रे भयकृति निकटस्थिते रतिः कस्य ।
 यदि नेच्छसि संत्यक्तः संप्रत्येपैव हाराहिः ॥
 वसुरहितेन क्रीडा भवता सह कीदृशी न जिह्वेपि ।
 किं वसुभिर्नमतोऽमून्सुरासुरान्नेव पश्यसि पुरः ॥
 आरोपयसि मुधा किं नाहमभिज्ञा किल त्वदङ्गस्य ।
 दिव्यं घर्षसहस्रं स्थित्वेति न युक्तमभिधातुम् ॥
 इति कृतपशुपतिपेलवपाशकलीलाप्रयुक्तवक्रोक्ति ।
 हर्षवशतरलतारकमाननमग्न्याद् भवान्या वः ॥

वक्रोक्तिशब्दश्चालंकारसामान्यवचनोऽपीद्वालंकारविशेषे संक्षिप्तः ।

[सूत्र ७८] अन्यथा कथित वाक्य की काकु और श्लेष के द्वारा अन्यथा योजना [हो तो अलंकार को] वक्रोक्ति [कहा जाता है]

[वृत्ति] इसका लक्षण वक्ति में छल की समानता को लेकर न्यायोक्ति के दाद किया जा रहा है । जो वाक्य किसी [अन्य] के द्वारा अन्यथा अर्थात् अन्य अभिप्राय से कहा गया हो और अन्य के द्वारा काकुप्रयोग किंवा श्लेषप्रयोग के आधार पर, अन्यथा अर्थात् अन्य अर्थ में उगाया जाता है उस [वाक्य] की वक्ति वक्रोक्ति कहलाती है ।

काकु प्रयोग से, यथा—

‘वहों के अधीन होने से दूरतर देश जाने को उचित यह इन्त, अतिकूल और कोकिल से ललित सुरभिसमय में नहीं आया’ । इस वाक्य को नायिका ने भागमन के निषेध [नहीं हो आया — इस] के अभिप्राय से कहा, [अतः इसमें वत या इन्त का अर्थ खेद हुआ किन्तु] उसकी सखी ने [नहीं आया क्या ? इस प्रकार] काकुप्रयोग से [अवश्य आया इस अर्थ में] विभिन्नरूप बना दिया । [अतः इस अर्थ में वत या इन्त का अर्थ हर्ष हुआ] निषेधरूपी अर्थ की विभिरूप अर्थ में जो संक्रान्ति हुई उसका कारण काकु प्रयोग है ।

श्लेष अमङ्गरूप समङ्गरूप, तथा उभयरूप से तीन प्रकार का होता है । इनमें से—

अमङ्गरश्लेष से [वक्रोक्ति] यथा—

‘अहो ! किस दारुण ने तुम्हारी इस प्रकार की खुद्वि बनाई है । खुद्वि तो तीन गुणों [सख, रजस् तथा तमस्] से बनी सुनी जाती है, दारु से बनी तो कहीं नहीं ।

[दारुणा = दारुण शब्द का खोलिंग प्रथमैकवचन तथा ‘दारु’ शब्द का वृत्तीयैकवचन । दोनों पक्षों में शब्द एक ही बना, अर्थवेद के साथ उसमें भङ्ग नहीं हुआ अतः यह अमङ्गरश्लेष का उदाहरण हुआ] ।

समङ्गरश्लेष से [वक्रोक्ति] यथा—

[पार्वती] ‘तुम हाहाहलधारी [हाहाहल = विष तथा हाहा = वारुणी और हल को धारण करने वाले हो, अतः आलिङ्गन करते ही मन को मूर्च्छित कर देते हो । [शिव]

न मैं हाथ ही भारण करता और हल ही, अरी मोली, मैं क्या हाथिक [किसान] हूँ । [पार्वती] तुम्हें (सचमुच) हाथिक कहा जा सकता है क्योंकि तुम गोवाहन [गो = नन्दी वृष, तद्रूपी वाहन तथा गो = बैल को हँकने] में जो लगे रहते हो । इस प्रकार बकौकि में पार्वती जी द्वारा जीत लिए गए अत एव मुसकुराते हुए भगवान् आपकी हमारी रक्षा करें ।

उभयदलेष से [बकौकि], यथा—[उमामहेश्वरसंवाद—[पार्वती] [सधि] विजये, [विजया का सम्बोधन तथा विजय शब्द का ससम्बन्धवचन] ये त्र्यश [तीन अश = अश्वि = नेत्र तथा अश्व = पासे वाले] बड़े कुशल हैं । मैं इनके साथ चलक्रीडा नहीं कर सकती । [शिव] विजय में तो कुशल हूँ परन्तु त्र्यश [तीन पासे वाला] नहीं हूँ, मेरे हाथ में पासे केवल दो ही हैं ॥

[पार्वती] मैतुरीदर [मे = मुझे दुरीदर = घन तथा मैतुर + दरदर वाला मैतुरीदर = गणेश] नहीं माता । [शिव] यदि तुम्हें नहीं माता तो गणेश चला आ० । [पार्वती] विनायक [विनायक = गणपति तथा वि = पक्षी उनका नायक = गकड] से किसको देव है, [शिव] तुम्हें क्या अद्विलोक [सर्पों] का ज्ञान नहीं है [ओ गकड से टपे करते हैं] ॥

[पार्वती] मैं चन्द्रग्रहण [चन्द्र को वासी तथा चन्द्रग्रहण राहूपराग] के विना नहीं देखती यूँ ही क्यों मुझे छल रहे हो । [शिव] नन्दिन् ! देवी को यदि यही प्रिय है तो बुलाओ राहु को ॥

[पार्वती] हा राही [हा, राही = राहु पर, हार + अहौ = हार के सर्व पर] जो तीखो डाढ वाला और डरावना है, पास आये तो किसे प्रेम होगा । [शिव] यह हाराहि [हारभूत सर्प] तुम्हें पसन्द नहीं तो जो इसे अभी हाल छोड़े देता हूँ ॥

[पार्वती] तुम ठहरे वसु [धन तथा आठ वसु]—रहित । तुम्हारे साथ कैसा जुभा, काज नहीं आती । [शिव] सामने [आठों] वस्तुओं के साथ प्रणाम कर रहे हूँ देव और दानकों को देख नहीं रही हो क्या ! [हम आर्वा का 'सह वसु—पश्यसि किम् ? ऐसा पाठ अधिक अच्छा होता] ॥

[पार्वती] बेकाम क्यों आरोपसि [आरोप लगा रहे, उठा रहे हो] मैं तुम्हारे अङ्क [दोषा रोपण तथा गोद] से अनभिज्ञ हूँ । [शिव] हजारों दिव्य बसों तक [गोद में] बैठकर भी इस प्रकार कहना ठीक नहीं ॥'

—इस प्रकार शिव के साथ घृत की ललित क्रीडा में प्रयुक्त की गई बकौकि की प्रसन्नता से खंचल तारा वाला पार्वती का मुखमण्डल आप हमारी रक्षा करे ॥

[यहाँ—विजये, त्र्यश, विनायक, ग्रहण, वसु, आरोप तथा अश्व शब्द में छेद नहीं होती अतः ये अमङ्गल श्लेष के उदाहरण हैं, मैतुरीदर तथा हाराही शब्द में वह होती है अतः समङ्गल श्लेष है । पूरा सन्दर्भ एक वाक्यवाच्य है अतः यहाँ आरम्भ ॥ अन्त तक एक बकौकि मानी जायगी] ।

बकौकि शब्द अलंकारमात्र का वाचक है तथापि यहाँ एक विशिष्ट अलंकार के लिये प्रयोग में लाया गया है ॥

विमर्शनी

अन्यथेत्यादि । पृतदेव व्याख्ये—यद्वाक्यमिति । अन्याभिप्रायेणेति । विवक्षितार्थपरतये-
रत्यर्थः । काकुः च्चनिविरोधः । यदुक्तम्—

'वाक्येऽभिधीयमानोऽर्थो यैवान्यः प्रतिपद्यते ।

भिन्नकण्ठश्चनिर्घातैः स काङ्करिति कथ्यते ॥'

अन्यार्थवदनयेति । प्रकान्तादन्यस्य व्यतिरिक्तस्यार्थस्य घटनयोश्चेत्तन्नेत्यर्थः । येनकेन-
चिद्वक्त्राभिप्रेतार्थस्य प्रतिपिपाद्यविययोक्तस्य वाक्यस्यान्येन विघाताय प्रहेलिकामाश्राय

‘नवकम्बलकोऽयं माणवकः’ इत्यादिना वाक्छलेनान्यथायोजनमाप्रमयमलंकार इति पिण्डार्थः । अत एव द्वितीयो व्याघातो नास्या भेदतया वाच्यः । न हि तत्र वचनविघाता-
यैवान्यथा योजनम् । तत्र हि ‘वाल इति सुतरामपरिस्थायोऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुज-
पञ्जरं रथास्थानम्’ इत्यादौ बालत्वादिकं प्रस्थाननिषेधकतया राशयवर्धनेन संभावितं श्रीहर्षेण
पुनरन्वया प्रस्थाननिमित्ततया योजितम् । अतश्चान्यान्यथा योजनस्य प्रस्तुतवस्तुव्याह-
तिनिवन्धनत्वेऽपि प्रस्थानविधौ तात्पर्यम् । चतु तद्विघातमात्रेणास्य वक्रोक्तावन्तर्भाव
इति चेत् तर्हि साधर्म्यविशेषाद्भुजपमादीनामप्युपमायामन्तर्भावः किं न स्यात् ।
अथात्र फलभेदोऽस्तीति कथमेतदिति चेत्, एवमिहापि फलभेदस्य विद्यमानत्वात्कथम-
स्यान्तर्भावः स्यात् । तथाह्यन्यथा योजनस्य क्वचिद्वचनविघातमात्रं फलं क्वचिच्च संभाष्य-
मानस्याहतिनिवन्धनत्वेऽप्यर्थान्तरे तात्पर्यम् । फलभेदश्चालंकारभेदनिमित्तमित्यविधादः ।
तेन पूर्वत्र वक्रोक्तिरपरत्र व्याघात इति यथोक्त एवालंकारभेदो न्यायः । एवं फलान्तरे-
ष्वपि ज्ञेयम् । तस्मात्

‘एष श्रीकण्ठकण्ठच्छविरनभिमतो राजहंसप्रजानां

सद्यस्तापं प्रजानां प्रशममुपनयन्नच्छुधाराच्छलेन ।

कुर्वन्दिपक्षकवालाक्रमणमुद्यते देव को वारिवाहो

मा मैवं मालवेन्दो परिमल कतरस्तर्हि राजजसिस्ते ॥’

इत्यत्र श्रोत्रा संभावितस्यान्यथा सद्भवेन योजनं, तस्य तस्यादृश्यप्रतीत्यर्थ-
मित्यङ्गभूतोत्तरमार्थमौषम्यं यस्तुविंचितम् । ‘वाक्छलमुपचारच्छलम्, तद्विशेषा-
दि’ति वाक्छलेनैवास्य संप्रहादुपचारच्छलात्मकम् । ‘क्वचिद्वचनविघाते प्रद्योते
मुत्तमार्थापादनमिति भेदान्तरमप्यस्या न चाप्यम् । यस्तु तदर्थान्तराभावादिति
न्यायाद्वागुपचारच्छलयोर्विशेष उक्तः, स नैयायिकानामुपयुक्तो नालंकारिकाणाम् ।
तथावेमाभ्यथायोजनस्य वैकिस्यान्तराभावात् । यद्वा मुखौपचारिकार्थद्वयस्यैकवृत्त-
गतफलद्वयन्यायेन षड्व्यष्टिश्वादेश्य श्लेषवक्रोक्तावन्तर्भावः स्यात् । उभयमुखेनेति ।
सभङ्गात्मभङ्गरक्षेपद्वारेण । विजय इति श्लेषस्यासभङ्गत्वम् । मेदुरोदरेणेति सभङ्ग-
त्वम् । ‘स्मेरोऽवताहः शिवः’ तथा ‘प्रयुक्तवक्रोक्ति’ इत्यादिना वचनविघातमात्र-
प्रयोजनस्यान्यथा योजनस्य प्रहेलिकाप्रायस्त्वमेव प्रकाशितम् । ननु ‘सैपा सर्वैव वक्रोक्तिः
कोऽलंकारोऽनया विना’ इति नीत्या समग्र एवालंकारवर्गो वक्रोक्तिरूप इति कथ-
मयमेव तथावेन निर्दिष्ट इत्याशङ्क्याह—वक्रोक्तीत्यादि । इहेति । वाक्छलात्मकत्वेनोक्तेः
कौटिल्यात् ।

अन्यथेत्यादि । इती की व्याख्या करते हैं—यद् वाक्यम्० । अन्याभिप्रायेण = अन्य अर्थ
के अभिप्राय से = अर्थात् विवक्षित अर्थ के अभिप्राय से । काकु = स्वरविशेष । जैसा कि कहा है—

‘एक प्रकार की असाधारण वा विशेष प्रकार की उस कण्ठध्वनि को काकु कहा जाता है
जिससे [सामान्य] वाक्य में कहा जा रहा अर्थ अन्यरूप में समझा जाता है ।

अन्यार्थघटनया = प्राकरणिक अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की घटना = उल्लेख = समझ से ।
निष्कर्ष यह कि किसी वक्ता के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ के प्रतिपादन के लिए कहे गए वाक्य
की योजना का, उस अर्थ को काट कर पहेली के समान ‘नवकम्बलकोऽयं माणवकः’ (न्यायदर्शन
सूत्रभाष्य १।२।१२) इत्यादि ।

वाक्छल के मध्यम से दूसरे रूप में किया जाना ही इस अलंकार का स्वरूप है । इसीलिए
[रत्नाकरकार को] द्वितीय व्याघात को इसका भेद नहीं बतलाना चाहिये । उसमें अर्थ की जो भिन्न

रूप में योजना होती है वह केवल किसी के वचन को काटने के लिए नहीं। उसमें तो 'वाल हूँ तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आप का ही मुजपजर है' इत्यादि स्थलों में राज्यवर्धन बालत्वादि को प्रस्थाननिवारक समझना है, अर्थात् उन्हें प्रस्थाननिमित्त के रूप में बतलाते हैं। [अर्थात् यहाँ विधातक को साधक बनाया जाना है जब कि वक्रोक्ति में साधक को विधातक रूप में लिया जाता है]। इसीलिये = यहाँ 'अन्यथा योजना' = दूसरे प्रकार से लगाने में, प्रस्तुत अर्थ का विधान तो होता है परन्तु, तात्पर्य प्रस्थानविधि में ही रहता है। केवल उस [प्रस्तुत अर्थ] के विधान मात्र को लेकर इस [व्याधात के द्वितीय भेद] का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव करेंगे तो सब में साधक्य की स्थिति समान देखाकर उपमेयोपमा आदि का भी उपमा में ही अन्तर्भाव करना होगा। यदि कहें कि यहाँ [उपमा और उपमेयोपमा आदि में] फल मित्र होता है। [उपमा में केवल सादृश्य उपमेयोपमा में द्वितीयसदृश व्यवच्छेद] अतः यह कैसे समभव है [कि उपमेयोपमा आदि का उपमा में अन्तर्भाव किया जाए] तो इस [व्याधात] का अन्तर्भाव भी कैसे किया जा सकता है; फल में मित्रता यहाँ भी विद्यमान है। यह इस प्रकार कि कहीं तो 'अन्यथा योजना' का फल केवल वचनविधात ही होता है और कहीं होता है अन्य किसी अर्थ का प्रतिपादन, यद्यपि इस दूसरे प्रकार में अन्य अर्थ का विधान भी रहता है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि अलंकार का भेदक तत्त्व फलभेद ही है। इसलिये प्रथम स्थल में वक्रोक्ति और द्वितीय में व्याधात मानना उचित है। अतः इन अलंकारों में [सर्वस्वकार ने] जो भेद बतलाया है उसे [रत्नाकरकार को भी] उसी रूप में स्वीकार करना उचित है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों में भी जानना चाहिए नहीं अन्य फल निकालने हैं। इस कारण—[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा वक्रोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत]।

'[कवि] है देव, वह उदित हो रहा है, जिसकी छवि नीलकण्ठ (भगवान् शिव) के कण्ठ के समान है, राजहंसों को अभिय है, स्वच्छ धारा के जल से प्रजा बर्ग का स्नाय तत्काल दान्त करता है, जो दिशाभों पर आक्रमण करता है, [राजा] कौन, मेघ ? [कवि] नहीं मालवचन्द्र ! ऐसा नहीं, [राजा] तब कौन है ऐसा, [परिमलकवि] राजन् आपका स्वर्ग !'

इस पद्य में छन्दने वाले [राजा माहसांक] के द्वारा समाहित मेघरूपी अर्थ की योजना खड्गरूप में की गई है, ऐसा उस [उद्भूत] से उस [मेघ] के सादृश्य का ज्ञान कराने के लिए किया गया है। इस कारण यहाँ वक्र का विवाञ्छित अर्थ सादृश्य ही है, जिसमें यहाँ उपचरालंकार की अंग बनाया गया है। 'उपचारच्छल को वाक्य ही क्यों न मान लिया जाए, क्योंकि उसमें इसका कोई अन्तर नहीं है, [न्यायदर्शन १।२।१५ द्वारा प्रतिपादित] इस वाक्य के द्वारा ही इस [रत्नाकरकार द्वारा कथित उपचारवक्रोक्ति नामक वक्रोक्ति के नवीन भेद] का समग्र हो जाना है, अतः [रत्नाकरकार ने जो] उपचारच्छलात्मक भेद यह कहते हुए माना था कि 'प्रयोग कहीं औपचारिक होगा और यहाँ मुख्यार्थ को छपर से छाना पटना है', वह भेद भी इस [वक्रोक्ति] में नहीं बतलाया जाना चाहिए। [न जाने किसने और कहीं] जो 'उन में अर्थान्तर का अभाव रहता है' यह तर्क देकर वागुपचार और वाक्य का अन्तर किया है वह न्यायशास्त्रियों के लिए उपयुक्त है, अलंकारियों के लिए नहीं। अथवा मुख्य और औपचारिक दोनों अर्थों का एकद्वन्द्वत दो फलों के समान शब्द के साथ चिपके रहने से इसका अन्तर्भाव श्लेषवक्रोक्ति में हो सकता है। उभयमुखेन = समग्र तथा अतमग्र दोनों श्लेषों के द्वारा 'विजये'—इसमें श्लेष असमग्र है तथा 'भेदुरोदरेण' में समग्र। 'उत्कुराते शिव आपकी और हमारी रक्षा करें तथा 'वक्रोक्ति के प्रयोग से' इत्यादि के द्वारा यही सूचित किया कि 'अन्य प्रकार से योजना करने का' उद्देश्य केवल वचनविधात ही रहता है, अतः यह पहेली जैसी ही रहती है।

'यद् तव वक्रोक्ति ही है इसके बिना कौन सा अलंकार निष्पन्न हो सकता है' इस प्रकार [मामद् आदि आचार्यों ने] सभी अलंकारों को वक्रोक्तिरूप ही बतलाया है। तब यहाँ इसी अलंकार को वक्रोक्तिरूप क्यों कहा 'ऐसी शंका उठाकर उत्तर देते हैं—वक्रोक्ति०। इह—यहाँ अर्थात् क्योंकि इस अलंकार में वाक्यरूप से बोझ जाता है अतः इसमें कुटिलता रहती है अतः इसे 'वक्र'—उक्ति कहा।'

विमर्श—द्वितीय व्याघात का 'वाल इति०' इत्यादि जो उदाहरण हर्मचरित से दिया गया है उसमें रत्नाकरकार ने अर्थवक्रोक्ति मानी थी। उनके अनुसार वक्रोक्ति केवल शब्द का ही अलंकार नहीं है। विमर्शिनीकार ने उनका खण्डन और सर्वस्वकार का समर्थन करते हुए व्याघात के द्वितीय भेद और वक्रोक्ति में अन्तर स्पष्ट किया है। उनके कथनानुसार इनका अन्तर फलगत भेद पर निर्भर है। वक्रोक्ति का उद्देश्य या फल केवल वचनविघात अर्थात् दूसरे के कहे शब्दों की तोड़ मरोड़, अथवा वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ को बदलना होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति का चमत्कार अभाव या निराकरण पर ही निर्भर रहता है। व्याघात के द्वितीय भेद में न तो वक्ता के शब्दों की तोड़ मरोड़ ही रहती, और न उनका पूर्वामित्त अर्थ ही बदला जाता, केवल उसकी अप्राप्तता सिद्ध की जाती है; किन्तु इसका उद्देश्य केवल यही नहीं रहता। इसमें द्वितीय अर्थ की स्थापना भी की जाती है और यही मुख्यवाच्यव्यवस्थायीभूत अर्थ होता है। न्याय की भाषा में यहाँ—'पूर्वप्रतिपादितकारणतानिरूपितप्रतियोगिता को पूर्वप्रतिपादित कार्य से हटाने मात्र में तात्पर्य नहीं है अपितु उसे तद्विरुद्ध कार्य में नियोजित करने में तात्पर्य रहता है।' इस प्रकार इस अलंकार का चमत्कार अभाव पर नहीं विधि पर, और निराकरण पर नहीं स्थापना पर निर्भर रहता है।

इतिहास :—वक्रोक्ति एक विशिष्ट अलंकार—

वक्रोक्ति नाम तो वामन में भी मिलता है किन्तु यहाँ इसका स्वरूप भिन्न है। उनका सूत्र है—

वामन—'साद्गुण्यलक्षणा वक्रोक्तिः'। अर्थात् गौणी लक्षणा वक्रोक्ति है।

उदाहरण के लिये 'अम्मिल कमल सरसीनाम्'।

'तल्लियों के कमल खुल गए।' यहाँ उन्मीलन पर खुलना धर्म नेत्र का है, उसे विकासरूपी साधन्य के आधार पर कमल में अन्वित कर दिया गया है। इस प्रकार वामन की वक्रोक्ति औपचारिक वाक्यप्रयोग है।

रुद्रट—इसका वह जो रूप सर्वस्वकार ने दिया है प्रथमतः रुद्रट में मिलता है। उन्होंने इसे शब्दालंकारों के प्रकरण में गिना है और इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

'वक्त्रा यदन्ययोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।

वचनं तत्पदमश्लेष्ये सा श्लेषवक्रोक्तिः ॥२१४॥

वक्ता द्वारा अन्य अभिप्राय से कथित वाक्य की व्याख्या उत्तरदाता के द्वारा पदों को तोड़ मरोड़ कर अन्य प्रकार से की जाय तो वह अलंकार श्लेषवक्रोक्ति कहलाता है। उदाहरण—

किं गौरि मां प्रतिरूपा ननु गौरि किम् ? शिवजी ने कहा 'गौरि मां प्रति = हे गौरी ! मेरे प्रति रोष क्यों। पार्वतीजी ने अर्थ लिया 'गौः इमां प्रति' अर्थात् 'हे गौ, इसके प्रति रोष क्यों, और उत्तर दिया कि 'क्या मैं गौ हूँ।' इसी प्रकार रुद्रट ने काकुनक्रोक्ति का भी एक स्वतन्त्र लक्षण और स्वतन्त्र उदाहरण दिया है।

मम्मट—ने रुद्र का पूर्णतः अनुसरण किया। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालङ्कार प्रकरण में ही नवम उल्लास में प्रथम अलङ्कार के रूप में गिनाया। उनका विवेचन—

‘यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।

श्लेषेण काक्य वा श्रेया सा वक्रोक्तिरुपमा द्विधा ॥’

जहाँ दूसरे के द्वारा अन्य प्रकार से कथित वाक्य अन्य के द्वारा श्लेष या काकु के द्वारा अन्य प्रकार से योजित किया जाता है वह दो प्रकार की वक्रोक्ति जाननी चाहिये। स्पष्टतः रुद्र से आगे बढकर मम्मट ने वक्रोक्ति में अर्थभेद के कारणों का भी निवेश किया। उन्होंने श्लेष के दोनों प्रकार भी इसमें अपनाए अमङ्ग और समङ्ग। इनमें से अमङ्गश्लेष के लिए जो उदाहरण सर्व स्वकार ने दिया है वह मम्मट से ही लिया गया है। समङ्गश्लेष के लिए उनका उदाहरण है ‘नारीणां प्रतिहूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो वामाना प्रियमादधाति’।

यदि तुम नारीणाम् [नारी स्त्री, न अरि = शत्रुओं के प्रतिकूल] आचरण करते हो तो विद्राव हो। कौन चेनन ऐसा होगा जो वामाना [वाम = प्रतिकूल = शत्रु, वामा = सुन्दरी का] प्रिय कार्य करता हो’।

काकु के लिए भी सर्वस्वकार ने मम्मट का ही उदाहरण उद्धृत कर दिया है। सर्वस्वकार का वक्रोक्ति का आधार स्पष्टतः मम्मट का वक्रोक्तिविवेचन है।

शोभाकर—परवर्ती भावायों में रत्नाकरकार शोभाकर ने वक्रोक्ति को, जैसा कि कहा जा चुका है शब्द और अर्थ इन दोनों में माना है। उनका उद्युग इस प्रकार है—

[सू०] ‘अन्यथा संभावितयोः शब्दार्थयोरन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

[सू०] वक्रता शोभा वा शब्दस्याभेदं वा अन्यथा संभावितस्य प्रकारान्तरेण योजनं वक्रोक्तिः।

[सू०] ‘अन्यथा संभावितं शब्दं और अर्थं की अन्यथा योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

[सू०] वक्रता वा शोभा द्वारा अन्यरूप में संभावित शब्द वा अर्थ की अन्य प्रकार से योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

इस अन्यथायोजना के उपायों में रत्नाकरकार ने काकु और श्लेष के अतिरिक्त धर्मसामान्य को भी गिना है।

‘एष श्रीकण्ठकण्ठ०’ पद्य में धर्मसाम्यमूलक वक्रोक्ति मानते हुए रत्नाकरकार ने लिखा है—

‘‘‘‘‘कालत्वादिधर्माणां वारिवाद्गतत्वेन शोभा संभावितानां वक्रता खल्व्गतत्वेन योजना कृतीति धर्मसान्याद् वक्रोक्तिः’।

यहाँ श्यामत्वादि जिन धर्मों की संभावना शोभा द्वारा श्लेष में की गई थी वक्रता ने उन्हें खल्व्गत् में अन्विष्ट किया, इस प्रकार यहाँ साधारण धर्म के आधार पर वक्रोक्ति हुई। सर्वस्वकार द्वारा श्लेष के प्रकरण में जिस ‘आकृष्य०’ आदि पद्य में अपभ्रुति माना है, रत्नाकरकार ने उसमें भी वक्रोक्ति को ही उक्त विधा त्वीकार की है—

‘अत्र कान्तस्य सम्बन्धिभिः अलङ्कारिकवर्णनादिधर्मस्य चोत्कृष्टेऽपि योगाद् पूर्ववद् वक्रोक्तिः। यहाँ प्रिय से सम्बन्धित अलङ्कारिकवर्णनप्रकृति के द्वारा चोत्कृष्ट में भी साधारणधर्म की योजना हो जाती है अतः यहाँ भी पूर्ववद् [एष श्रीकण्ठ० पद्य के ही समान] वक्रोक्ति है।

अर्थगत वक्रोक्ति के सुन्दर में ‘बाल इति०’ स्थल पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

‘अत्र बालत्वादिकं प्रस्थाननिषेधकतया राज्यवर्धने संभावितम्, योद्धर्षण प्रस्थाननिमित्तकतया योजितमित्यर्थवक्रोक्तिरेव।’

यहाँ बालत्वादि को राज्यवर्षन ने प्रस्थाननिषेधक समझा। उन्हीं को श्रीहर्ष ने प्रस्थान-निमित्त सिद्ध कर दिया। अतः यहाँ अर्थ चक्रोक्ति ही है।

अप्ययदीक्षित से अर्थचक्रोक्ति को समर्थन मिलता है। उन्हींने शब्दश्लेष को भी चक्रोक्ति का उपाय बतलाते हुए यह उदाहरण दिया है—

लक्ष्मीजी पार्वतीजी से कहती हैं—

‘भिक्षार्थी त क यातः सुतनु’ ! वह भिखारी कहाँ गया सुन्दरी ! पार्वती जी उत्तर देती हैं—

‘बलिमुखे’—बलि के यज्ञ में। चागनावतार में विष्णु भगवान् ने भी बलि से याचना की थी। यहाँ ‘भिक्षार्थी’ शब्द के स्थान पर ‘याचक’ शब्द दिया जा सकता है, किन्तु ‘याचना’-अर्थ नहीं बदला जा सकता, अतः श्लेष अर्थ गत ही है। विमर्शिणीकार के अनुसार यहाँ पूर्वप्रतिपादित अर्थ के काटने में चमत्कार है अतः अलंकार चक्रोक्ति नाम से ही पुकारा जाएगा। श्याघात का चमत्कार पूर्वप्रतिपादित अर्थ को विरुद्धफलक सिद्ध करने में होता है, उसकी काट में नहीं। अतः अर्थचक्रोक्ति मानने पर भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिटता।

अप्ययदीक्षित ने काकु तथा शब्दश्लेष के दोनों प्रकारों को भी चक्रोक्ति का उपाय माना है और उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण दिए हैं। अमङ्गलश्लेषमूलक चक्रोक्ति का उदाहरण तो ‘अहो कैनेदृशी०’ पद्य ही दिया है। दोनों प्रकार को चक्रोक्तियों को दीक्षितजी ने एक ही अलंकार माना है और उनका लक्षण इस प्रकार बनाया है—

‘चक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकाशनम् ।’

श्लेष और काकु के द्वारा अन्य अर्थ का प्रकाशन चक्रोक्ति माना जाता है। जयदेव ने इसी लक्षण में ‘अपरार्थ०’ शब्द के स्थान पर ‘वाच्यार्थ०’ शब्द रखा था।

पण्डितराज जगन्नाथ के रससंग्राहक की अपूर्णता यहाँ भी खलती है। उसके उपलब्ध अंश में यह अलंकार नहीं है। विद्वेषर के अलंकारकौस्तुभ में केवल अर्थालंकारों का ही निरूपण है। उनमें चक्रोक्ति नहीं मिलती। वे कदाचित् इसे मम्मट के ही समान केवल शब्दालंकार मानते हैं। श्रीमिधाचरुवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर इस प्रकार है—

‘अन्यथायोजनं वाक्ये चक्रोक्तिरभिधीयते ।

द्विप्रकारा च विशेषेण काकुश्लेषसमाश्रयात् ॥’

२. चक्रोक्ति अलङ्कारसामान्य—

अलंकार मात्र को चक्रोक्ति मानने की जो चर्चा सर्वत्र में आई है उसका मूल भाग्य की की निम्नलिखित घोषणा है—

‘सैषा सर्वेषु चक्रोक्तिरनयार्थो विमान्यते ।

यत्कोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो नया विना ॥’

[कान्यालं० २।८५]

‘अतिशयपूर्ण उक्ति ही चक्रोक्ति होती है। इसीसे कान्यालं में विशेषता आती है। कवि को इसके लिये यत्नशील रहना चाहिए। इसके बिना कौन अलंकार अलंकार बन सकता है। अतिशयोक्ति को काव्य का सामान्य अलंकार दण्डी ने बतलाया था उन्हींने अतिशयोक्ति प्रकरण के अन्त में लिखा था—

‘अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वाग्योशमहितासुक्तिमिमामतिशयाह्वयान् ॥’ २।२२० ॥

मामह ने यद्यपि अतिशयतत्त्व को ही महत्त्व दिया था किन्तु उक्त उक्ति की तुला बकता की ओर अधिक झुक गई। मामह ने इसके पूर्व भी अवक्रोक्ति [१।३४] काव्य को अच्छा काव्य नहीं कहा था। अलंकारसामान्य का लक्षण करते हुए भी उन्होंने लिखा था—'वक्राभिप्रेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचाम-लक्ष्णः [१।३६]' इमें अर्थ और शब्द की बकतापूर्ण उक्ति ही काव्य का अलंकार मान्य है। दण्डी के अतिशयतत्त्व में निश्चिन् ही मामह ने बकतातत्त्व खोज निकाला था। और उसे अपेक्षा-कृत अधिक महत्त्व दिया था। इसी कारण उनकी उपर्युक्त—'सैषा सर्वैव०' कारिका आनन्दवर्धन और मम्मट ने भी प्रमाणभूत कारिका या सिद्धान्तवचन के रूप में स्वीकार कर ली है। आनन्दवर्धन और मम्मट के बीच हुए कुन्तकाचार्य ने तो वक्रोक्ति को ही काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार कर लिया था। सर्वस्वकार ने आरम्भिक भूमिका में उनका उल्लेख भी किया है। उनका मत है—

'शभावैतावशकार्यो तयो. पुनरलङ्कृतिः ।

वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यमहोमणितिरिभ्यसे ॥'

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं और उनका अलङ्कार है वक्रोक्ति। जिसका स्वरूप है वैदग्ध्य-पूर्वक विचित्रता के साथ कही उक्ति ॥

मूल ने श्लोकचरित में वक्रोक्ति को चन्द्रकण के बौद्धपने के समान सर्वांगिक आवर्जक तत्त्व माना है—

'कलंकशून्यापि रसप्रवाहमपि स्रवन्ती विनुषेकमोग्ध्यम् ।

वाणी किमेर्गाककलेव वपे टङ्गं विना वक्तिमविभ्रमेण ॥' [२।११]

[सर्वस्व]

[सू० ७९] सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावर्णनं स्वभावोक्तिः ।

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः । तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलंकारि स्यात् । न हि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम् । तदर्थं सूक्ष्म-प्रहणम् । सूक्ष्मः कवित्वमात्रस्य गम्यः । अत एव तस्मिन्मिदं एव यो वस्तु-भाषस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः । उक्ति-षाचोयुक्तिप्रस्तावादिह लक्षणम् । भाविकरसवदलंकाराभ्यामस्य भेदो भाविकप्रसङ्गे निर्णेष्यते । यथा—

'हुङ्कारो नक्षकोटिचञ्चुपुटकव्याघट्टनोदृङ्कित-

स्तन्व्याः कुन्तलक्रीतुकव्यतिकरे सीत्कारसीमन्तितः ।

पृष्ठशिल्प्यदवामनस्तनमरोत्सेव्याङ्कपालीसुधा-

सेकाकेकरलोचनस्य कृतिनः कर्णावतंसीमवेत् ॥'

[सूत्र ७९] वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति [नामक अलंकार कहलाता] है ॥

[पृ०] यहाँ [काव्य में] वस्तु के वेवळ स्वभाव [स्वरूप] का वर्णन अलंकार नहीं होता, वैसा होने पर सभी काव्य अलंकार युक्त हो जायेंगे। क्योंकि ऐसा कोई काव्य नहीं जिसमें वस्तु के स्वभाव [स्वरूप] का वर्णन न हो। इस हेतु [लक्षण में] सूक्ष्म शब्द का

ग्रहण किया। सूक्ष्म का अर्थ है एकमात्र कवित्व [कविप्रतियया] का विषय। इस प्रकार वस्तु का जो स्वभाव [स्वरूप] उस [कविप्रतिभारूप कवित्व] के द्वारा निष्पन्न होता है उसको [यथावत्] जैसा का तैसा अर्थात् उसका कोई अंश छोड़े या उसमें कोई अंश जोड़े बिना हुआ वर्णन स्वभावोक्ति नामक अलंकार होता है। [व्यावोक्ति, वक्रोक्ति इस प्रकार] उक्ति शब्दान्त अलंकारों का प्रकरण होने से इसका लक्षण यहाँ किया गया। भाविक और रसवद् अलंकारों से इसका अन्तर भाविक के प्रकरण में तय किया जाएगा। उदाहरण, यथा—

[नायिका ने अपनी पीवर छाती नायक की पीठ में सटा दी, नायक की आँखें काम के नशे में चूर हो गईं। उसने नायिका को नखों से कुरेदा और काष्ठागत कामवेश में अब वेश पकड़ कर रतिक्रिया करना आरम्भ किया तो नायिका ने पहले सीत्कार करना शुरू किया अन्त में कृतकृत्य हो जाने से अर्धशकाम नायक के निवारण लिए 'हुँ हुँ' करना आरम्भ किया। पूर्वभूमिका से लेकर दर्पशमन तक हुई इस रमण किया को कवि यथावत् प्रस्तुत करते हुए कहता है—]

[नायिकादारा] 'पीठे से आकर चिपकर जा रहे, अवामन और विशाल स्तनों के उमार की गोद में भरी सुधा के सेक से आकेकर [शृंगारभावपूर्ण] नेत्र वाला कोई ही ऐसा दृग्भागी होता है जिसे नखों की चिमवी की कुरेद से उभड़ा और केशकौतुक आरम्भ करने पर सीत्कार से चढ़ा-दड़ा हुंकार कर्णावतंस बनाने का अवसर मिलता है ॥'

विमर्शिनी

सूक्ष्मेत्यादि। ननु कथं वस्तुवर्णनमात्रमलंकार इत्याह—इत्येत्यादि। 'सद्गतिशयहेतवः स्ववर्लंकाराः' इति नीरया वस्वतिशयदायिनां धर्माणामलंकारस्वाकथं वस्तुमात्रस्यैवालंकारत्वं स्यादिति भावः। ननु कथमेतसूक्ष्ममात्रग्रहणेनैव समाहितमित्याशङ्क्याह—सूक्ष्म इत्यादि। कवित्वमात्रस्येति। कुशाग्रीयधिपणत्वात्। एवं स्थूलमतीनामकवीनां कुकधीनां तस्याद्यगमेऽपि तथा विकल्पारोही न भवेदिति भावः। अत एवेति। कविरवमात्रगम्यत्वात्। तन्निर्मित एवेति। अन्येषां तथात्वेन वस्तुमशक्यत्वात्। तद्वस्तुगतस्यासाधारणस्य फलक्रियादेः संभवतः स्वभावस्य शब्देः प्रतिपादनमात्रस्वात्तन्निर्मित एवेत्युक्तम्। अन्यूनानतिरिक्तत्वेनेति। यथा वस्तुनि संभवतीत्यर्थः। अत एव सचेतसां वस्तुगतस्य सूक्ष्मसुभगस्य वस्तुनो वर्णनेन हृदयसंवादाच्च किमयं रसवदलंकारो वा न भवतीत्याशङ्क्याह—भाविकेत्यादि। तत्र निर्णेष्यमाणस्यैतद्भेदस्य—

'वस्तुनश्चित्तवृत्तेषु संवादः स्फुटता प्रया।

स्वभावोक्ते रसवतो भाविकस्य च लक्षणम् ॥'

इत्ययं संक्षेपः।

सूक्ष्म इत्यादि। मलय 'वस्तुवर्णनमात्र अलंकार कैसे हो सकता है' ऐसी शंका उठा लिखते हैं—'हृ०। अर्थ यह कि [वामन की] 'अलंकार वे होते हैं जो उस [शब्दार्थ रूप] काव्य में अतिशय लाते हैं' इस उक्ति के अनुसार वस्तु में अतिशय लाने वाले धर्मों को अलंकार कहा जाता है, अतः केवल वस्तुमात्र को अलंकार कैसे माना जा सकता है। मला 'सूक्ष्मशब्दमात्र के ग्रहण से इसका समाधान कैसे हो जाता है, ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—सूक्ष्म इत्यादि। कविस्व-मात्रस्य = कविप्रतिभामात्र क्योंकि कवि कुश के अग्रयाग के समान पैनी बुद्धि वाला होता है। इसका अर्थ यह कि स्थूलबुद्धि वाले अकवि या कुकवि उठे [वस्तु को लौकिक भूमिका पर]

ज्ञान भी लें तो उनमें [उनको बुद्धि में वैसा विकल्प नहीं उठता । अतः पद्य = इस कारण = क्योंकि वह केवल कवित्व [प्रतिमा] मात्र का विषय होता है इस कारण । तत्रिमित पद्य = क्योंकि अन्य वस्तुओं को तद्रूप नहीं बतलाया जा सकता । इस प्रकार वस्तु में जो फल कियादि रूप असाधारण स्वभाव (स्वरूप) रहता है उसका शब्द से प्रतिपादन करने मात्र के कारण 'तत्रिमित पद्य = उसमें निष्पादित ही' कहा । अन्युजान्ततिरिचखे = कुछ छोटे या कुछ बड़े बिना अर्थात् वस्तु में वैसा जैसा स्वरूप समव होता है । वस्तुस्वरूप में स्थित सूक्ष्म और सुन्दर वस्तु का वर्णन होने से यहाँ सद्दियों का हृदयसन्नाद रहता है । इस कारण इसे रसवदलंकार क्यों न माना जाय' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'भाविक०' इत्यादि । इसका भी भेद वहाँ स्थिर किया जाने चा० है उसका संक्षेप यह है—'वस्तुनाश्चित्तवृत्तेश्च०' अर्थात् वस्तु और चित्तवृत्ति के सवाद में स्वभावोक्ति, स्पुदता में रसवद् तथा प्रथा में भाविक अलंकार होते हैं ॥'

विमर्श—

हृतिहास—स्वभावोक्ति को दण्डी ने सभी अलंकारों में प्रथम स्थान दिया था । अलंकारों के नाम गिनाते हुए उन्होंने लिखा था—

दण्डी—स्वभावाख्यानमुपमा रूपक दीपकावृत्ती । २।४। स्वभावाख्यान को जाते वे स्वभावोक्ति और जाति नाम से पुकारने और उपमा के पहले उसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

'नानावस्थ पदार्थानां रूप साक्षाद् विदुष्वती ।

स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सात्त्विकवृत्तिर्यथा ॥'

जो अलंकार पदार्थों के नाना प्रकार के रूप का मानों साक्षात्कार करता है वह स्वभावोक्ति या जाति कहलाता है । यह प्रथम अलंकार है । पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के रूप में विभक्त होने से दण्डी ने स्वभावोक्ति के भी चार उदाहरण दिए हैं । उनमें जाति का उदाहरण निम्नलिखित है—

सुण्हेरानाम्रकुटिलैः पत्रैर्हरितकोमलैः ।

शिवगंगाजिभि कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥ २ । ९ ॥

लाज और टेढ़ी बोंब, हरे और क्रोमल पल तथा तिरंगी धारियों के कण्ठ से युक्त ये शुक बड़ी ही मीठी बोली बोलते हैं । अन्त में उन्होंने लिखा है—

'स्वभावाख्यानमीदृशम् । शाले त्वरेव साम्राज्ये काव्ये स्वस्येतदीप्सितम् ॥'

यह जो जार्यादि भेद से उपयुक्त चतुर्विध आख्यान है, शाकों में तो इसी का साम्राज्य है ही, कान्यों में भी यह कवियों को अभीष्ट है ।' निश्चित ही स्वभावोक्ति की स्थापना का श्रेय दण्डी को है ।

मामह का स्वर स्वभावोक्ति के विषय में मन्द है । द्वितीय परिच्छेद के अन्त में वे लिखते हैं—

'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते ।

अर्थस्य तदवस्थस्व स्वभावोऽभिहितो यथा ॥ २ । ९३ ॥

आक्रोशान्नाहपश्वानानापावन् मण्डलै रुदन् ।

मा वारयति दण्डेन हिम्भः सत्यावतारणो ।

समासेनोदितमिदं धोत्रेद्रायैव विस्तर ॥' २ । ९४ ।

'कुछ आचार्य स्वभावोक्ति को भी अलंकार बतलाते हैं । अर्थ की उदवस्थना [लोकवद् काव्य-स्थिति] स्वभाव कहलाता है । उदाहरण -- 'स्वयं चिन्मता, दूसरों को पुकारता गोरू गोल घूमता और रोता हुआ किसान-बालक दण्डे से सत्य [कन्धी कसल, दृष्टम्य डॉ० अग्रवाल का पाणिनि-कालीन भारतवर्ष] में उतरी गाय भगा रहा है ।

इमने इसे संशेष में बतलाया, क्योंकि इसका विस्तार बुद्धिन्यायाम मात्र है । २।१३, १४ ॥
स्पष्ट ही मामद् का कटाक्ष दण्डी की स्वभावोक्तिसंक्न्धी महत्त्वबुद्धि पर है ।

वामन तो मामद् के ही अनुयायी उदरे । उन्होंने सचमुच स्वभावोक्ति को अनलङ्कार मान
छोड़ दिया ।

उद्भट—ने इसे महत्त्व दिया । उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार बनाया—

‘क्रियायां संप्रवृत्तस्य देवाकानां निबन्धनम् ।

कस्यचिन्मृगडिम्मादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता ॥’ ३ । ५ ॥

‘कुछ कर रहे मृग या बच्चों आदि की चेष्टाओं का शब्द द्वारा चित्रण स्वभावोक्ति कहीं गई
है ।’ यथा—

‘क्षणं नङ्घार्धवलितः शुद्धेणाग्रे क्षणं नुदन् ।

लोलीकरोति प्रणयादिमामेप नृगार्मकः ॥’

‘भगवती पार्वती को यह’ मृगशाब्द जरा एक छिपकर, आधा घूमकर, सामने सींग से धकाकर
स्नेहवश चंचल बना देता है ।’ अवश्य ही उद्भट का स्वभावोक्तिभिरूपण वाञ्छित सन्धुक्ति से रहित
और कदाचित् स्वभावोक्ति में अलंकारत्व की पुनः प्रतिष्ठा तक सीमित है ।

रुद्रट—रुद्रट ने इसे जाति नाम से अलंकारों के वास्तवनामक प्रथम वर्ग में गिना है । उनका
निरूपण—

‘संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य सादृशं भवति ।

लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः ॥’ ७।३० ॥

‘लोक में जिसकी भावति, स्थिति, क्रिया आदि चिरकाल से जैसी प्रसिद्ध हो उनका अन-
न्यथा = जैसा का तैसा कथन जाति कहलाता है ।’ अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—

‘शिशु-सुग्धयुवति-कातरतिर्यक्-संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।

सा कालावस्वोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥’ ३ । ३१ ॥

शिशु, भोली युवति, कातर तिर्यक्, भीत अधम पात्रों की समय और अवस्था के अनुरूप
चेष्टाओं में वह अधिक खुलती है । कातर और संभ्रान्त को तिर्यक् और पात्रों का विशेषण न मान
स्वतन्त्र भी माना जा सकता है । नमि साधु वे माना भी है । उदाहरणार्थ शिशुवर्णन, यथा—

‘धूलीधूसरतनत्रो राज्यस्थितिरचनकल्पिकैकनृपाः ।

कृतमुखवाचविकाराः क्रीदन्ति मुनिमरं डिम्भाः ॥’

‘बच्चे खूब खेल रहे हैं । उनके शरीर धूलीधूसर है, खेल-खेल में राज्य बनाकर उन्होंने किसी
को राजा बना रखा है, वे मुख से बाने बजा रहे हैं । एक अन्य उदाहरण द्वारा उन्होंने सुग्धयुवति
का चित्र भी प्रस्तुत किया है । स्पष्ट है कि रुद्रट ने स्वभावोक्ति को उचित महत्त्व दिया ।

भग्मट—

‘स्वभावोक्तिस्तु डिम्मादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ।’

बच्चों आदि की अपनी क्रिया, उनके रूप अर्थात् रंग और शरीर का वर्णन स्वभावोक्ति
कहाता है । उदाहरण के रूप में उन्होंने हर्षचरित का यह अश्ववर्णन प्रस्तुत किया है—

‘पश्चादकञ्ची प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्रावयित्वाङ्गमुच्चै-

रासज्यामुग्गकण्ठो मुखमुरसि सर्या धूलिधूत्रां विधूय ।

घासघ्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोष्ठुण्डस्तुरतो

मन्दं शब्दायमानो विखिलति शयनादुत्थितः क्ष्मां सुरेण ॥’

'सोकर उठे घोड़े ने पिछड़ी टाप पीछे फैलार् और पीठ को झुकाते हुए शरीर को लम्बा किया, उसने धूलिधूसर सटा को हिलाकर मरदन टेढ़ी की और मुँह पेट में निपकाया। घोंस के कौर की श्छा से उसके युधने निरन्तर फटफटा रहे हैं और वह धीमे-धीमे कुछ शब्द कर रहा है।'

मम्मट के लक्षण तक 'दिम्भ या शिनु' का जो अस्तिव चला आया उससे इस अलंकार की मामू से आगे बड़ी सुदीर्घ परम्परा आ आभास मिलता है।

उद्भट और मम्मट के बीच स्वभावोक्ति को लेकर एक बहुत ही गम्भीर विवाद भी उठा था। कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का बड़ी ही दृढ़ता और तर्ककेंद्रता के साथ खण्डन किया और उसका दतनी ही विदग्धना के साथ व्यक्तिविवेककार राजानक महिममट्ट ने समर्थन-वकीलि-कीवित में कुन्तक का स्वभावोक्ति सम्बन्धी विवेचन इन प्रकार है—

'अलंकारकृता येषा स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते ।
वस्तु तद्दर्हिणं यस्मात्त्रिरुपास्यं प्रसज्यते ॥ १ । २२ ॥
शरीरं चेदलंकारः किमलङ्कुरने परम् ।
आरमेव नारमनं शब्दं क्विदप्यधितोहति ॥ १ । २३ ॥
भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे ।
भेदावबोधं प्रकटस्नयोरप्रकटोऽधवा ॥ १ । २४ ॥
स्पष्टे सर्वत्र ससृष्टिरस्पष्टे सञ्चरतनम् ।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावतिष्ठते ॥ १ । २५ ॥

'अलंकार ग्रन्थ बनाने वाले जिन भाषायों को स्वभावोक्ति अलंकाररूप में मान्य है उनके यहाँ अलंकार्यरूप में क्या शेष रहना है जो उस [स्वभाव] से भिन्न हो। कारण कि स्वभाव को छोड़ कर तो कुछ भी बोलना संभव नहीं होता। उससे रहित वस्तु अगोचर अवर्णनीय हो जाती है। यदि शरीर ही अलंकार है तो फिर उससे भिन्न ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे वह अलंकार करता है, स्वयं अपने ही कन्धे पर स्वयं कदापि नहीं चढ़ सकता। यदि स्वभाव अलंकार है तो अन्य अलंकार आने पर दोनों में भिन्नता प्रतीत होगी या नहीं। यदि होगी तो प्रत्येक काव्य में ससृष्टि ही अलंकार होगी, यदि नहीं तो केवल सत्तर। इन प्रकार अन्य अलंकारों के लिए कोई स्थान ही शेष नहीं रहेगा।'

स्वभाव शब्द की व्याख्या भी, कुन्तक ने, इन प्रकार की थी—'स्वभावस्य पदार्थभेदलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा' = स्वभाव अर्थात् पदार्थ का धर्म जो इन्द्रियगोचर होता है उसकी उक्ति अभिधा'।

महिममट्ट ने व्यक्तिविवेक में इसका बहुत ही दार्शनिक उत्तर दिया है। उन्होंने अवाच्यवचन नामक दोष के निरूपण में स्वरूपानुवादमात्र परक विशेषण को निरर्थक और घोषा कहकर स्याज्य बनलाया है और किया है—

यत् स्वरूपानुवादकपलं फस्यु विशेषणम् ।
अप्रत्यक्षायमागार्थं स्पृष्टमप्रनिर्गोचरम् ॥
तदवाच्यमिति शैवं वचन तस्य दूषणम् ।
तद् वृत्तपूर्णायेव न क्वित्वाय कल्पते ॥ [पृ० १५१ चौखंडा संस्करण २]

—‘जो विशेषण केवल स्वरूप मात्र का अनुवादक होता है, फलतः निःसार और संप्रेषणीयता-शून्य होता है, इसीलिए जो प्रतिभाशून्यता का परिचायक होता है, वह विशेषण अवाच्य कहलाता है। उसका वचन-कथन अवाच्यवचन दोष होता है। ऐसा विशेषण केवल छन्दःसूचिकारक होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।’ इसी प्रकार के विशेषणों को अपुष्टार्थ विशेषण माना जाता है। उदाहरणार्थ ‘कुश शत्रुओं का अंकुशवस्तु या [रघु० १६] यहाँ अंकुश के साथ वस्तु शब्द निरर्थक ही है।

इस पर स्वभावोक्ति की चर्चा चलाते हुए महिमाचार्य ने लिखा—

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमिष्यते ।

न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः ॥ [६० ४५२-वही]

तब स्वभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जाता है। स्वभावमात्र की उक्ति और इस अवाच्य-वचन में अन्तर ही क्या है। इस पर उत्तर देते हुए लिखा ।

‘उच्यते, वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।

तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विद्वेषैकगोचरः ॥

स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः ।

अत एवाभिप्रेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ॥

विशिष्टमस्य यद् रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः ।

स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥

अर्थस्वभावस्योक्तिर्वा सालङ्कारतया यता ।

यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थः प्रतिभापिताः ॥’

[व्यक्तिविवेक शौ० सं० पृ० ४५२-५३]

उत्तर यह है कि वस्तु के दो रूप होते हैं। एक सामान्यरूप, जो विकल्प [भविष्यत्त ज्ञान] का विषय रहता है। सब के सब शब्द उसी का ज्ञान कराते हैं। इसीलिए वे सामान्यात्मक अभिप्रेय [अर्थ] का ज्ञान कराते हैं। इसके अतिरिक्त इनका जो विशिष्ट रूप होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण का विषय होता है। किन्तु सत्कवि की प्रतिभाप्रसूत वाणी इसी विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत किया करती है। इस प्रकार अर्थ के इस विशिष्ट स्वभाव की जो उक्ति होती है इसे अलंकार स्वीकार किया गया है। क्योंकि इस उक्ति में प्रतिभा द्वारा अपिप्त सभी पदार्थ ऐसे दिखाई देते हैं जैसे उनका ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से हो रहा हो।’

अन्य अलंकारों के विषय में उन्होंने लिखा कि—

‘सामान्यस्तु स्वभावो यः सौज्यालङ्कारगोचरः ॥’ [पृ० ४५५ वही]

[स्वभावोक्ति में आए विशिष्ट वस्तुस्वभाव के अतिरिक्त जो] वस्तु का सामान्य स्वभाव है वह अन्य अलंकारों का विषय बनता है।

इस प्रकार स्वभावोक्ति तब अलंकार मानी जाती है जब वस्तु का विषय प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर देती है। ऊपर आए अश्वदि के वर्णन ऐसे ही है। सर्वस्वकार ने सूत्र में सूक्ष्म शब्द और वृत्ति में कविव्यक्तित्व को स्थान देकर महिममठ की स्थापना यथावत् अंगीकार करली है। अन्यकार ने यहाँ इस प्रकार के विशेष स्वभाव को प्रतिभानिमित्त कह दिया है। द्रोपान्तरादि के अप्रत्यक्ष पदार्थ यदि प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत हों तो उन्हें प्रतिभैकप्रसूत माना ही जाएगा। कवित्वसु-पाल्दि और शब्दापिप्तता इन दो तत्त्वों का महत्त्व इस प्रसंग में जानना आवश्यक है। कवि के मानस में चित्रित वस्तुविषय प्रतिभा पर आच्छेद होने के बाद जब कला के कविकर्म पर जमाया

आता है तभी वह वर्णनशब्द का विषय बनता है। इस प्रकार वर्णनतत्त्व कला या शिल्प की परिधि का घोटक शब्द है। स्वभाव स्वयं में अलङ्कार नहीं होता जबतक वह शिल्प की इस भूमिका पर प्रतिष्ठापित न हो। अतः उसकी उक्ति ही अलङ्कार बनती है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से कला की मोमासा करने पर स्वभावोक्ति को उक्त बोधप्रक्रिया मनोवैज्ञानिक और अनुभवसिद्ध प्रक्रिया सिद्ध होती है।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने

शोभाकर—स्वभावोक्ति का निरूपण अलङ्कारसर्वस्वकार की ही शैली पर किया है—

[सू०] सम्यक् स्वभाववर्णनं स्वभावोक्ति ॥ १०६ ॥

‘स्वभाव का सम्यक् वर्णन स्वभावोक्ति।’

इसकी व्याख्या करते हुए रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार की सभी माध्यमों को भीरु भी विरुद्ध कर दिया है—

‘द्विविधो वस्तुन स्वभाव स्थूल, सूक्ष्मश्च तत्र कविनृमावगाचर स्थूलः, तस्य वर्णने न कश्चिदलङ्कारः, सर्वस्य काव्यस्य स्वभावोक्तिप्रसङ्गात्। सम्यक् वर्ण्यमानस्तु स्वभावः सूक्ष्मः। स तु महाकविगोचरः। तस्य सम्यक् वर्ण्यमानस्याभ्युत्थानतिरिक्तत्वेन स्वभावोक्तिः। न तु साधारणस्य रूपकियादेरस्तत्कालादिगतस्य शब्देन प्रतिपादनम्, अपितु यथैव वस्तु तथैव प्रतिपादनमिति वस्तुवादिना यत्र शब्दात् प्रतिपत्तिर्भवति तत्रैवालङ्कारः।’

—‘वस्तु का स्वभाव दो प्रकार का होता है—स्थूल तथा सूक्ष्म। इनमें स्थूल सभी कवियों का विषय होता है, उनके वर्णन में कोई अलङ्कार नहीं होता, अन्यथा सभी काव्यों में स्वभावोक्ति माननी पड़ जाएगी। जो स्वभाव सम्यक् वर्णित होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। वह केवल महाकवि का विषय होता है। उस सम्यक् वर्णित स्वभाव का अभ्युत्थानतिरिक्त रूप से कथन स्वभावोक्ति [अलङ्कार] कहलाता है। न कि बालक आदि के साधारण से रूप और चित्रों का शब्द से प्रतिपादन। इस प्रकार नहीं शब्द से हुआ बोध वस्तुस्वरूप से मिलता होता है, वही इसे अलङ्कार माना जाता है। वहाँ स्वभावगत सूक्ष्मत्व को रत्नाकर ने भीरु भी सूक्ष्म कर कवि ने महाकवि तक सीमित दिया है।

अन्य अलङ्कारों में वस्तु के जिस स्वभाव की चर्चा महिममट्ट में मिलती है उसी ओर लक्ष्यकर रत्नाकरकार ने भी स्वभावोक्ति का अन्य अलङ्कारों से अन्तर इस प्रकार बतलाया है—

‘अन्दाङ्कारससर्गं स्वभावोक्त्यादि यद्यपि।

वाक्यार्थीभावविरहादङ्गमेव तथापि तु ॥

यत्रोक्ततया भाति तत्राङ्गित्वेन युज्यते।

स्वभावोक्त्याप्यलङ्कारस्तस्मादन्यत्र संकरः ॥

अन्य अलङ्कार में भी जहाँ स्वभावोक्ति मिलती है वहाँ वह अप्रधान रहती है, किन्तु जहाँ वह प्रधान रूप से प्रनीत होती है, वहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार कहलाती है। अन्य अलङ्कार प्रधान होते हैं तो अलङ्कार का नाम उनके नाम से लिया जाता है, और जहाँ मिश्रण की स्थिति रहती है वहाँ संकर [संछिन्नी]। स्पष्टतः महिममट्ट से आगे बढ़कर रत्नाकरकार ने अन्य अलङ्कारों में भी वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

अप्ययदीचिन्त—ने स्वभावोक्ति पर आचार्यों की सिद्ध मान्यतामात्र इस प्रकार प्रस्तुत कर दी है—‘स्वभावोक्तिः स्वभावस्य आत्मादिस्थस्य वर्णनम्।’ ‘वच्चो आदि के भाति आदि रूप

स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है । स्पष्ट ही अप्ययदीक्षित स्वभावोक्ति की छकड़ी खींचते दीख पड़ते हैं ।

विश्वेश्वर—‘यो वस्तुनः स्वभावस्तस्य निरुक्तिः स्वभावोक्तिः ।’

तज्जातीय—नियत-धर्मवर्णनं स्वभावोक्तिः ।

वस्तु का जो स्वभाव होता है उसका निर्वचन स्वभावोक्ति होगा । अर्थात् व्यक्तिविशेष के अपने असाधारण धर्म का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाएगा । विश्वेश्वर ने स्वभाव को दो प्रकार का बतलाया—‘साधारण तथा प्रातिरिक्तिक । इनमें से प्रातिरिक्तिक स्वभाव को वे भी प्रतिमामात्र का विषय बतलाते प्रतीत होते हैं ।

इस पर विपाचकवर्णों की निष्कृद्धार्यकारिका यह है—

‘स्वभावोक्तिर्बुधोन्नेयवस्तुस्वामाभ्यवर्णनम् ।’

वस्तु के धर्मियों द्वारा कल्पना द्वारा विहित स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है ।

पाठान्तर—सूत्र में ‘स्वभावत्व’ इस प्रकार व्यस्त पद भी मिलता है किन्तु वृत्ति में बार-बार ‘वस्तुस्वभाववर्णन’ शब्द आने से हमने समस्त पाठ ही ठीक माना है । वृत्ति में कवित्वमात्रत्व गोचरः की जगह ‘कवित्वमात्र गोचर’ तथा ‘कविमात्रगोचर’ पाठ भी है ।

[सर्चस्य]

[सूत्र ८०] अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।

अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्त-सम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् । कथिगतो भाव आशयः श्रोतरि प्रतिदिग्धत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चे-तसि निवेशनम्, सोऽत्रास्तीति ।

न चेयं भ्रान्तिः । भूतभाविनो भूतभावितयैव प्रकाशनात् । नापि रामोऽभूदितिबद् वस्तुमात्रम् । भूतभाविगतस्य प्रत्यक्षत्वाख्यस्य धर्मस्य स्फुट-स्याधिकस्य प्रतिलम्भात् । नापीयमंतिशयोक्तिः । अन्यस्यान्यतयाध्यक्ष-सायाभावात् । नहि भूतभाव्यभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि, प्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन ।

न हि प्रत्यक्षत्वं केवलं वस्तुधर्मः । प्रतिपत्त्यपेक्षयैव वस्तुनि तथा भावात् । यदाहुः—‘तत्र यो ज्ञानप्रतिभासमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावबुकार-यति स प्रत्यक्षः’ इति । केवलं वस्तुप्रत्यक्षत्वे प्रतिपत्तुः सामग्री उपयुज्यते । सा च लोकयात्रायां चञ्चुरादीन्द्रियस्वभावायोगिनामतीन्द्रियार्थदर्शनै भाव-नारूपा, कान्यार्थविदां च भावनस्वभावैव । सा च भावना वस्तुगत्यात्य-द्भुतत्वप्रयुक्ता । अत्यद्भुतानां च वस्तुनामादरप्रत्ययेन हृदि संधार्य-माणत्वात् ।

[सू० ८०] अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष जैसा बोध भाविक [नामक अलंकार कहलाता] है ॥

[५०] अतीत और अनागत अर्थात् भूत और भावी पदार्थ का प्रत्यक्ष जैसा बोध भाविक कहलाता है। यह बोध उन पदार्थों की लोकोत्तरता, अदम्यता और ऐसे शब्दसंदर्भ द्वारा उपस्थिति से होता है जिस [के अर्थ] का सव्य विस्तर नहीं रहता [अर्थात् जिनमें कोई संशय नहीं रहती। यह [भाविक नाम देने] इस कारण [दिया जाता है] कि इसमें कवि का आशय अतीत में प्रतिबिम्बित होता है, अथवा [इस कारण कि इसमें] याव अर्थात् भावना अर्थात् चित्त में पुनः पुनः निवेशन रहता है।

यह [प्रत्यक्ष जैसा बोध] भ्रान्ति नहीं है, क्योंकि इसमें भूत और भावी का ज्ञान भूत और भावी के रूप में ही होता है। यह 'राम या' इस प्रकार का वस्तुमात्र भी नहीं है [जिसमें अलंकार न हो], क्योंकि इसमें भूत और भावी पदार्थों के भीतर एक अतिरिक्त और स्पष्ट प्रत्यक्षत्व नामक धर्म भी मिलना है। यह अतिशयोक्ति भी नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य का अन्य रूप में अप्यवसान [निगणारमक बोध] नहीं होता।

ऐसा नहीं है कि यहाँ भूत और भावी [तद्विरुद्ध] अभूत और अभावी रूप से अप्यवसित होने हों अथवा अभूत और अभावी [तद्विपरीत] भूत और भावी रूप में, अथवा प्रत्यक्ष अभ्युपगम रूप में या अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष रूप में प्रत्यक्षत्व केवल [श्रेयभूत] वस्तु में रहने वाला धर्म नहीं होता, वस्तु में रहता है वह ज्ञान को लेकर। जैसा कि कहा है—'कोई भी पदार्थ तब प्रत्यक्ष कहलाता है जब कि वह अपने अन्वयव्यतिरेक का ज्ञानप्रतिभास [के अन्वयव्यतिरेक] से अनुकरण करता है। इतना अवश्य है कि वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए छाता हो [सहायक] सामग्री की आवश्यकता होती है। और वह सप्ता में चक्षुरादि इन्द्रियरूप होती है, योगियों को [धर्मलक्ष्य आदि] अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष हेतु वह भावनारूप होती है, और काव्य में भी वह भावनारूप ही होती है। वह भावना वास्तविकरूप में [काव्यवस्तुनिष्ठ] अत्यदम्यता से निष्पन्न होती है। क्योंकि जो पदार्थ अत्यन्त अदम्य होने हैं उन्हें आदरभाव के साथ अपनाया जाता है।

धिमर्शिनी

अतीतानागतचौरित्यादि। एतदेव न्यायश्चे—अतीतेत्यादि। अलौकिकाद्येनेत्यनेन तत्रा-
यंघानार्हस्वमुक्तम्। न्यस्नेति। यद्यपि वाचामनाकुल्यर्थं सर्वत्रैव वर्जनीय तथापि तत्तत्र
सैपन्येनार्थाविशेषाप्रतीतेर्विग्रमाश्रयणम्। इह तु तदाकुल्येनातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमा-
णत्वमेव न स्यादिति प्राधान्येनैतदुक्तम्। एवमनेन हेतुद्वयेनास्वाङ्कारस्वमुक्तम्। इह
वाच्यवाचकयो रामणीयकमित्युक्तम्। अत एवैकस्यापि रामणीयकहानौ भास्वाङ्कार-
स्वम्। इह हि केचिदर्थः कविवचसि सुस्पष्टमधिरूढा अपि विज्ञप्तीभाषयाभावात् कृणु-
र्कारात् सद्भवमानामवज्ञास्पन्दना नावधानार्हः। केचिच्च सुमगा अपि दुर्भगाशब्दोपरो-
हितया सद्भवानामनावर्जका एवेत्युभयमपीहावश्यमाश्रयणीयम्। यदाहुः—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था हरयन्ते भूतभाविनः।

आयद्भुताः स्यात् तद् वाचामनाकुल्येन भाविकश्च ॥' इति।

वाशब्द. पचान्तरशोक्तः। ननु प्रत्यक्षाणां भूतभावितानां प्रत्यक्षेणोपनिघन्धाद्
भ्रान्तिमानेवार्थं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चैवमित्यादिना। ननु यदि भूतभावितयैव
प्रतीयते तदेतद् वस्तुवै किं नेत्याशङ्क्याह—नापीति। भविकश्चेति। वस्तुवृत्ते तस्यासंभवात्।
अत एवास्य ततो व्यतिरेकः नन्वन्यस्यान्यतयावसायारिकं नायमतिज्ञयोनि रित्याशङ्क्याह—
नापीमित्यादि। भूतभावितो भूतभावितर्थास्फुटतयावगमात्। नन्वप्राप्रत्यक्षमेव प्रत्य-

योग किं नाभ्यवसितमित्याशङ्क्याह—नहीत्यादि । तच्चाप्रस्तुतत्वाद्ग्रहणात्तच्च नेह प्रप-
क्षितम् । ननु यद्येवं तत्प्रमातुः सदैव समस्तवाक्यवस्त्ववगमः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—
केवलमित्यादि । भावनारूपेति । तत्रेन्द्रियादीनामन्यापारणात् । एवं योगिनां भावनाबलाद्
भूतभावितयैव प्रत्यक्षत्वमास इति भावः । यदाह—‘अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षात्
विशिष्यते’ इति । चः समुच्चये । तेन योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने यथा भावना निमित्तं
तथैव काव्यार्थविदामपीत्यर्थः । तस्याश्च निमित्तमाह—सा चेत्यादि । वस्तुनोऽप्यद्भुत-
त्वमाक्षरे निमित्तम् । आदराच्च वस्तुनो हृदि संचारणम् । तच्च तदेकतानतया प्ररुद्धं
सद्भावनात्वमुपयातीति काव्यार्थविदां योगिनामिव भावनाबलात् स्वकालावच्छेदेनैव भूत-
भाविवस्तु प्रत्यक्षतया भासत इति प्रत्यक्षतयाप्यवसायः ।

अतीतानागतयोः इत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—अतीत इत्यादि । ‘अलौकिकत्व =
लौकोत्तरता’ यह कहकर यह बतलाया कि यह सहृदयों के ध्यान देने योग्य वस्तु है । अस्त =
[भावना और उद्भूत ने यहाँ शब्दसन्दर्भ के लिए ‘अनाकुल’ विशेषण दिया था, उसका अर्थ
प्रतीहारैन्दुराज आदि ने व्यस्तसम्बन्धरहितत्व ही किया था । ग्रन्थकार ने यहाँ उसी को अपनाया,
टीकाकार उसका मूलशब्द अनाकुलत्व चित्त में रखकर व्याख्या करते हैं] यद्यपि शब्दों की
आकुलता [उलझे अर्थ से युक्त होना] सभी अलंकारों में व्याप्य है तथापि उनमें आकुलता
से प्रतीति में विषमता उत्पन्न होता है, क्योंकि आकुलता से विषमता उत्पन्न होती है और अर्थ के
ज्ञान में स्पष्टता नहीं आ पाती [किन्तु ऐसा नहीं कि अलंकार की प्रतीति हो न होती हो]
यहाँ [भाषिक में] तो उस [शब्दसम्बन्ध] की आकुलता होने पर अतीत और अनागत का प्रत्यक्षा-
यमाणत्व [प्रत्यक्ष जैसा बोध] ही नहीं बनता [अतः वहाँ उसे प्रचानरूप से अपनाया गया]
इस प्रकार इन दो हेतुओं के द्वारा इसका अलंकारत्व बतलाया ।

यहाँ [भाषिक में] अर्थ और शब्द दोनों की सुन्दरता अपेक्षित है ऐसा [सभी आचार्यों ने]
कहा है । इस कारण किसी एक की भी सुन्दरता समाप्त होने पर यह अलंकार नहीं बन
पाता । स्थिति यह है कि इस अलंकार में कुछ अर्थ कवि की पदावली में स्पष्ट रूप से अचिरुद्ध
होकर भी अपने आप में सुन्दर न होने के कारण तृणशर्करा के समान सहृदयों के लिए अपेक्षणीय
होते हैं, ध्यान देने योग्य नहीं बन पाते । इसके विरुद्ध कुछ अर्थ अपने आप में सुन्दर होकर भी
दुर्भग पदावली से आहित रहते हैं, अतः वे भी सहृदयों को आकुल नहीं कर पाते । इसलिये
कवि को यहाँ दोनों ही पर आवश्यक रूप से ध्यान देना चाहिए । जैसा कि [उद्भवाचार्य ने]
कहा है—

‘भूत और भावी पदार्थ जिसमें शब्दों की अनाकुलता के कारण अत्यद्भुत और प्रत्यक्ष
जैसे दिखाई देते हैं उसे भाषिक कहते हैं ।’ [का० सा० सं० १६] ॥

‘वा’ = अथवा शब्द पक्षान्तर का शोचक है ।

‘भूत और भावी अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षरूप से कथन होने के कारण इस
[भाषिक] को भ्रान्तिमान् ही क्यों नहीं मान लिया जाता’ ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—‘न
चेद्यम्’ । ‘यदि यहाँ पदार्थ भूत और भावी रूप में ही प्रतीत होते हैं तो यह वस्तुमात्र ही क्यों
नहीं मान ली जाती’—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—‘नापि’ इत्यादि । अचिक्रम्य=अतिरिक्त =
वास्तविक लौकिक स्थिति से उसके न होने से । इसी कारण इस [भाषिक की प्रत्यक्षायमाणता]
का उस [वस्तुस्थिति] से अन्तर है । ‘इसमें अन्य [भूतभावी] वस्तु अन्य [प्रत्यक्ष] रूप से
विदित होती है, तो यह अतिशयोक्ति ही क्यों नहीं मान ली जाती’—ऐसी शंका का उत्तर देते

है—'नापीयम्' इत्यादि । अतिशयोक्ति इसलिए नहीं कि इसमें भूत और भावी पदार्थों का भूत और भावी रूप में ही ज्ञान होता रहता है । 'यहाँ अप्रत्यक्ष प्रत्यक्षरूप से अध्यवसित क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका कर उत्तर देने हैं—'न हि' इत्यादि । यह विषय एक तो अप्रासङ्गिक है और दूसरे अति गम्भीर इसलिए यहाँ इसका विस्तार नहीं करते ।

'यदि ऐसा है [अर्थात् वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञानप्रतिभास साधित है] तो बाध वस्तुओं का ज्ञान सदा ही क्यों नहीं होता रहता'—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं केवलम् । भावनारूपा = क्योंकि उन [अतीन्द्रिय पदार्थों] में इन्द्रियों को पहुँच नहीं होनी । भाव यह कि योगियों को भावना के बल पर ही भूतभावीरूप में प्रत्यक्षप्रतीति होती है । जैसा कि कहा है—'मतीत और अनागत का ज्ञान प्रायश्च से विन्न नहीं होता ।' च = समुच्चयार्थक है । इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन में योगियों के लिए भावना ही कारण बनती है उसी प्रकार भूत और भावी पदार्थों के प्रत्यक्षदर्शन में काम्यार्थवेष्टाओं [कवियों] के लिए भी [भावना ही कारण बनती है] । इस भावना का कारण बनाने हैं—सा च । वस्तु की अस्पन्दप्रकृता [वस्तु के] आदर में निमित्त बनती है और इस आदर से वस्तु हृदय में धारण की जाती है । और वह जो हृदय में धारण करना है, वस्तु स्वरूप के प्रति एकतागतता के रूप में प्रकृत ही भावनात्मक को प्राप्त होता है । इस प्रकार भावना के बल से काम्यार्थवेष्टा [कवियों और सहृदयों] को भी योगियों के ही समान भूत और भावी वस्तु अपने अपने समय में ही प्रत्यक्षरूप से भासित होती है । इस प्रकार यहाँ अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षरूप से अध्यवसान नहीं होता ।

[सर्वस्य]

नापि भूतभाविनामप्रत्यक्षाणां प्रत्यक्षतथैव प्रतीतेरिद्यार्थगर्भीकारेणैयं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, तस्या अभिमानरूपाध्यवसायस्वभावस्यात् । न ह्यप्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वेनाध्यवसायते, किं तर्हि काम्यार्थविद्भिः प्रत्यक्षत्वेन दृश्यते इति । नापि वस्तुगता इषार्या उत्प्रेक्षाप्रयोजकाः । तस्या अभिमानरूपायाः प्रतिपत्तृधर्मत्वात् । यदाहुः—'अभिमाने च सा योज्या ज्ञानधर्मे सुखाविवत्' इति । काव्यविषये च प्रयोक्तापि प्रतिपत्तैव । नाप्यद्भुतदर्शनादतीतानागतयोः प्रत्यक्षत्वप्रतीतेः काव्यलिङ्गमिदम्, लिङ्गलिङ्गभावेन प्रतीत्यभावात्, योगिवत् प्रत्यक्षतया प्रतीतेः ।

'इसमें अप्रत्यक्ष भूत भावी पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षरूप से होता है, अतः इसे इवार्थगर्भित ['मानों' आदि शब्दों का अर्थ छिपाए रखने वाली अवयव] प्रतीयमान [कहलाने वाली उत्प्रेक्षा ही मान लिया जाए यह संभव नहीं, क्योंकि वह मान्यता [अभिमान] रूप [जो] अध्यवसाय—[तत्] स्वरूप होती है ।

[यहाँ] अप्रत्यक्ष वस्तु प्रत्यक्षरूप से [अतिशयोक्ति के समान] अध्यवसित नहीं होती, अपि तु काम्यार्थवेष्टाओं द्वारा प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है । ऐसा भी नहीं है कि उत्प्रेक्षा में 'इव = मानों' आदि शब्दों के अर्थ उत्प्रेक्ष्यमाण वस्तु में रहकर उत्प्रेक्षा को निम्नत्र करते हैं, क्योंकि वह तो मान्यतास्वरूप है अतः शाश्वतधर्म है । जैसा कि कहा है—'और उसे सुखादि के समान ज्ञानधर्मरूप अभिमान [मान्यता] में अवस्थित समझना चाहिए ।' यहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है इसमें कवि [प्रयोक्ता] भी साता ही होता है ।

अतीत और अनागत पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान अत्यद्भुतत्व रूपी कारण से होते हैं, अतः यदि इसे काव्यलिङ्ग कहा जाए तो यह संभव नहीं है; क्योंकि इसमें जो प्रतीति होती है उसमें लिङ्ग-लिङ्गि भाव का अभाव रहता है। यहाँ तो प्रत्यक्षता की प्रतीति वैसी रहती है जैसी योगियों की हुमा करती है।

विमर्शिनी

ननु यद्यपि योयिवद् भूतभाविनो भावाः स्वकालावच्छेदेनैव सचेतसः प्रत्यक्षतयैव [पतीताः तथापि] तदभावात्[सं]भावनं युक्तमित्येतत्प्रतीयमानोत्प्रेक्षैव किं नेत्याशङ्क्याह—नापीत्यादि । किं तर्हीति । प्रतिपत्तेवेति । बह्वजानतः कञ्चित्तुः प्रयोक्तृत्वं भवतीति भावः । नन्वस्यद्भुतपदार्थप्रत्यक्षप्रतीत्योर्गन्धगमकभावार्थिक नेदमनुमानमित्याशङ्क्याह—नापीत्यादि । एवं रसबदलंकारादस्य भेदं दर्शयति—नाप्ययमित्यादिना ।

‘यद्यपि अतीत और अनागत पदार्थ उसी काल के पदार्थों के रूप में सङ्घर्षों को भी योगियों के ही समान प्रत्यक्षरूप से ही भासित होते हैं तथापि यहाँ उन [अतीत और अनागत पदार्थों] के अभाव की संभावना मानना ठीक है अतः यहाँ प्रतीयमान उपप्रेक्षा ही क्यों नहीं मानी जाती’ ऐसी शंका उठाकर उत्तर में कहते हैं ‘नापि०’ । किं तर्ही = अपि तु अर्थात् यहाँ अथर्वसाय है नहीं । प्रतिपत्तैव = ज्ञाता ही अर्थात् कश्चि पदार्थ को बिना जाने प्रयोग में नहीं लाता । ‘पदार्थ की अत्यन्त अद्भुतता और प्रत्यक्ष प्रतीति के बीच गन्धगमकभाव होने से क्या यह [उद्भूत के अनुसार] अनुमान [रूप से स्वीकृत] काव्यलिङ्ग नहीं हो सकता’ ऐसी शंका कर कहते हैं—नापि इत्यादि ।

अब इस [भाविक] का रसबदलंकार से भेद बतलाते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

नाप्ययं पुरःस्फुरद्रूपतया सबमत्कारं प्रतीते रसबदलंकारः । रत्यादि-चित्तवृत्तीनां तदनुपकृतया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदयसंवाधितया परमाद्वैतिज्ञानवत् प्रतीतौ तस्य भावात् । इह तु तादस्थेन भूतभाविनां स्फुटत्वेन भिन्नसर्वज्ञघत् प्रतीतेः । स्फुटप्रतीत्युत्तरकालं तु साधारण्य-प्रतीतौ स्फुटप्रतीतिनिमित्तक औत्तरकालिको रसबदलंकारः स्यात् ।

इस [अलंकार] में जो प्रतीति होती है उसमें पदार्थ सामने उपस्थित से और चमत्कार पूर्ण प्रतीत होते हैं इस [सामान्य धर्म के] आधार पर इसे रसबदलंकार से अभिन्न कहा जाए, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें जो प्रतीति होती है उसमें रत्यादि चित्तवृत्तियों उनसे सम्बद्ध विभावादि इस प्रकार साधारण और हृदयसंवाधमय भासित होते हैं जैसे परम अद्वैती के ज्ञान में भासित हो रहे हों । इसके विपरीत यहाँ [भाविकालंकार में] भूत और भावी पदार्थ उस प्रकार [तादस्थ्य =] वाष्प वस्तु के रूप से अलग अलग [स्वकालावच्छेदेन] और स्पष्ट भासित होते हैं, जैसे दैतयुद्धि वाले सर्वज्ञ [सांख्य सिद्ध या शैव विद्येश्वर] की प्रतीति में भासित हो रहे हों । [उक्त] स्फुटप्रतीति के पश्चात् ये पदार्थ यदि साधारण रूप में प्रतीत हो जाएं तो वहाँ भी रसबदलंकार हो सकता है । यद्यपि यह स्फुट प्रतीति के पश्चात् होगा क्योंकि यह वही प्रतीति से निष्पन्न होगा ।

विमर्शिनी

पुर.स्फुरद्रूपतयोर्यादिनामयोरभेदनिमित्तमुक्तम् । परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृ-
त्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसंवादः । तस्य च स्वपरविभागाभावाद् देशकालाभावाच्च व्यापक-
त्वेन प्रतीतेः साधारण्यम् । अत एव परमाद्भूत[ति]ज्ञानतुल्यत्वम् । तस्य दृष्यमित्येव
परामर्शः । तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्यासंभवात् । तात्स्थ्येनेति । इदमहं जानामीति असामाना-
धिकरण्येन प्रतीत्येत्पर्यः । अत एव विशेषतादितुल्यम् । ननु भाविकप्रतीत्यनन्तरं यत्र
रसवदलंकारः प्रतीयते तत्र किं प्रतिपक्षमभिरथाज्ञान्याह—स्फुटेश्चादि । पृथग्प्रानयोरङ्गा-
ङ्गितया समावेश इति तात्पर्यायः । तत्तु यथा—

‘वनाम्तरादुपायुत्तैः स्कन्धासक्तपमित्कृतौ ।

अग्निधरयुद्धमायुत्तैः पूयमाणं तपस्विभिः ॥’

अत्र तपस्विनां स्फुटप्रतीतिं धान्ताख्यरसोदयाङ्गमिति न तयोरैकार्यम् । एवं
च सुन्दरस्य वानुनो यथावर्णनायशारप्रत्ययायमाणरसस्य स्वरूपमिति तात्पर्यम् । ननु
पद्येव तत्किमिदं स्वभावोक्तिरेवेत्याज्ञान्याह—नारीयमित्यादि ।

पुर.स्फुरद् इत्यादि के द्वारा इन दोनों [रसवदलंकार और भाविक] के अभेदका निमित्त
बतलाया । हृदयसंवाद का अर्थ है परकीय चित्तवृत्ति का अपनी चित्तवृत्ति से अभेद पूर्वक बोध ।
अतः [हृदयसंवादात्मक बोध] में स्वपर का भेद नहीं रहता न तो देश काल का ही मान
रहता, अतः अतः ही प्रतीति में व्यापकता रहनी है फलन साधारण्य भी रहना है । इसी कारण
अतः ही तुलना परम अद्वैतो के ज्ञान से की गई है । उसे अहम् इतना ही बोध होगा है । क्योंकि
अतः ही अन्त अन्य कोई संभव नहीं है ।

ताटस्थ्येभ = ‘मैं [से जानता हूँ] इस प्रकार असामानाधिकरण्य [भिन्नता] की प्रतीति
के कारण । इसीलिए इसकी तुलना ‘वियेधर =’ आदि से की गई है । ‘जहाँ भाविक की प्रतीति के
बाद रसवदलंकार की प्रतीति होती है वही क्या मानना होगा’—ऐसी शंका कर कहते हैं—
स्फुट इत्यादि । इस प्रकार तात्पर्य यह कि इन दोनों का समावेश अंग और अंगी के रूप में
होगा । इसका उदाहरण यह है—

‘वनमध्य से लौटे, कंधे पर सविषा और कुण्ड लिए, अग्नि का प्रसुद्धगमन करने से
पवित्र तपस्वियों द्वारा मरा हुआ आश्रम ॥’ [रघुवंश-२१२९ से तुलनीय] ॥

यहाँ तपस्वियों की प्रतीति स्फुट रूप से होती है । वह ज्ञान रस का अंग है, अतः दोनों
में अभेद है । इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि यथावत् वर्णन के आधार पर सुन्दर वस्तु का
प्रत्यक्ष तुल्य ज्ञान इस [भाविक] का स्वरूप है । ‘यदि ऐसा है तो फिर इसे स्वभावोक्ति ही
क्यों नहीं माना जाता’ ऐसी शंका कर लिखते हैं—

[सर्वस्व]

नारीयं सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः । यस्यां लौकिक-
वस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसंवादसंभवात् । इह च
लोकोत्तराणां वस्तूनां स्फुटतया ताटस्थ्येन प्रतीतेः । क्वचित्तु लौकिका-
नामपि वस्तूनां स्फुटत्वेन प्रतीतौ भाविकस्वभावोक्तयोः समावेशः

स्यात् । न च हृदयसंवादमात्रेण स्वभावोक्तिरसवदलंकारयोरभेदः । वस्तुसंवादरूपत्वात् स्वभावोक्तेः । चित्तवृत्तिसमाधिरूपत्वाच्च रसवदलंकारस्य । उभयसंवाददर्शनेऽपि समावेशोऽपि घटते । यत्र वस्तुगत-सूक्ष्मधर्मवर्णनं स्यात् तत्र स्वभावोक्तिः, अन्यत्र तु रसवदलंकार एव ।

नाप्ययं शब्दानाकुलत्वहेतुकाञ्जगित्यर्थसमर्पणात् प्रसादाख्यो गुणः । तस्य हि स्फुटास्फुटोभयवाच्यगतत्वेन झटिति समर्पणं रूपम् । अस्य तु झटिति समर्पितस्य सतः स्फुटत्वेन प्रतीतौ स्वरूपप्रतिलम्भः । तस्मादयं सर्वोत्तीर्णं पद्यालंकारः ।

‘इसमें वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव [स्वरूप] का वर्णन रहता है इसलिये इसे स्वभावोक्ति से अभिन्न मानने का प्रश्न उठाया जा सकता है किन्तु वह संभव नहीं है, क्योंकि लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का वर्णन रहता है और उसकी प्रतीति साधारण रूप से दीती है तथा हृदय संवाद रहता है । जब कि इस [भाविक] में लोकोत्तर वस्तुओं की प्रतीति बाह्य वस्तु के रूप में स्फुट [परस्पर भिन्न] रूप में होती है । कहीं लौकिक वस्तुएं भी स्फुट रूप में प्रतीत हो सकती हैं । वहाँ भाविक तथा स्वभावोक्ति का एकत्र समावेश माना जा सकता है [न कि किसी का किसी में अन्तर्भाव] ।

‘हृदयसंवाद की समानता को छेड़कर स्वभावोक्ति और रसवदलंकार में भी भेद नहीं माना जा सकता । क्योंकि स्वभावोक्ति का स्वरूप है वस्तुसंवाद जबकि रसवदलंकार का स्वरूप है चित्तवृत्तिसंवाद । कहीं यदि दोनों प्रकार के संवाद मिल जायें तो इन दोनों का एकत्र समावेश भी संभव है । वहाँ जितने अंश में वस्तु के सूक्ष्म धर्म का वर्णन होगा उतने में स्वभावोक्ति माना जायगी, किन्तु शेष में रसवदलंकार ॥’

‘शब्दों की अभाकुलता [स्पष्टार्थता] रूपों हेतु से अर्थ का ज्ञान अतिशीघ्र कराने के कारण इस [भाविक] को प्रसाद गुण से अभिन्न मानने की बात उठायी जा सकती है, किन्तु वह भी संभव नहीं है । इस [प्रसाद गुण] का स्वरूप है स्फुट या अस्फुट दोनों प्रकार के वाच्यार्थ की शीघ्र प्रतीति कराना जबकि इस [भाविक] को स्वरूप लाभ होता है तब जब पहले से शीघ्रतया विदित वस्तु का स्फुट [परस्पर में भिन्न और स्पष्ट] रूप से बोध होता है । इस प्रकार वह सब अलंकारों से पुष्कल अलंकार है ।

विमर्शिनी

ईदृगिदं वस्तिव्यत्र हृदयसंवादः । स च यथा—

‘यत्र स्तनन्धयान् हस्ते रत्नदीपाग्निवृषतः ।

दृष्ट्वा हा हेति संभ्रान्ता घात्री चेटेर्विहस्यते ॥’

अत्र घात्रीणामीदृगर्थं स्वभाव इति वस्तुनिष्ठो हृदयसंवादः । यथा चा—

‘यदास्वाचं सीवा वितरति तदग्रे स्वगृहिणे

सुमित्रापुत्राय प्रणिहितविशेषं तदनु च ।

यदामं यत् चामं यदनतिरसं यच्च विरसं

फलं वा मूलं वा रचयति तु तेन स्वमशनम् ॥’

‘जहाँ ररनदीपों को हाथ में लेने जा रहे हैं दुषयुद्धों को देखकर घबराई और ‘हा हा’ करती धाई पर चेतलोग ईसा करते हैं।’ यहाँ ‘धाई’ की यह चेष्टा ऐसी ही होती है। इस प्रकार का हृदयसंवाद = अनुभूतिगत मेल रहता है। यह संवाद वस्तुविषयक रहता है। दूसरा उदाहरण यथा—

‘जो कोई फल या कन्द स्वादु होता उसे सीता जी ‘पहले अपने गृहपति [भगवान् राम] को परोसतीं, उसके पश्चात् बचे फल या कन्द में से जिसे अच्छा समझतीं उसे सुमित्रापुत्र [लक्ष्मण जी] को परोसतीं। इसके पश्चात् फल या कन्दों में जो कोई कच्चा जो सूखा, जो कम स्वादु या जो मोरस बच जाता उससे अपना मोजन पूरा करतीं।’

यहाँ सामाजिक को भी यही प्रतीत होता है कि गृहिणियों का स्वभाव ऐसा ही रहता है। स्फुटतया स्फुटरूप से = पुरःस्फुरद् = सामने झिलमिलते रूप है। इस प्रतीति का उदाहरण यह है—

‘जहाँ भावित चित्तवाले भक्तों द्वारा भगवान् मृत्युञ्जय के, निर्मोक्षित पूर्णन्दु की द्रुधा से सिक्त अंगुली वाले चरण सामने उपस्थित से देखे जाते रहते हैं।’

दूसरा उदाहरण यथा—

‘वह शकुन्तला कुछ ही दग चली और अस्थान पर ही जहाँ कुछ नहीं थे वही ‘कुशाङ्कुर से पॉव गायल हो गया’ ऐसा कह ठहर गईं। पास के पेड़ों की शाखाओं में नहीं उलझा वक्तल भी रह [मेरी ओर] मुँह घुमा खोलने लगती थी’। [शकुन्तल]

इस [दोनों पद्यों] में चरण तथा शकुन्तला की शुद्ध रूप में ही प्रत्यक्ष रूप से प्रतीति हो रही है।

‘जहाँ स्वभावोक्ति में भी [पदार्थों की] प्रतीति प्रत्यक्ष जैसी ही होती है वहाँ कौन सा मलंकार होता है? ऐसा प्रश्न कर उत्तर देते हैं—‘छचित्’ इत्यादि।

समावेश = संसृष्टिरूप में समावेश या संकररूप में। इसका उदाहरण यह है—

‘हरि [सिंह या चूहे] पर सवारी करने वाले होने पर भी गणेश जी जब गला लुभलाने लगते हैं तो शिवजी का नन्दीवृष पूँछ डुमाने लगता और रीथना बंद कर देता है। वह सुख का इतना अनुभव करता है कि उसमें उसकी आँखें मुँद जाती हैं, [विसंस्थुल] बेडौल सास्ना दिखने लगती है, गरदन नीची कँची करने लगती है और कान निश्चल हो जाते हैं।’

इस पद्य में बैल का पूँछ घुमाना आदि जो धर्म हैं उसका सूक्ष्म वर्णन होने से स्वभावोक्ति है और उसका प्रत्यक्ष जैसा अनुभव होने से भाविक। इस प्रकार यहाँ इन्हीं दोनों का समावेश है।

इसी प्रसंग में रसवदलंकार से स्वभावोक्ति का अन्तर भी दिखलाते हैं—‘ज च’ इत्यादि के द्वारा। हृदयसंवाद को है यह दो प्रकार का होता है वस्तुगत और चित्तवृत्तिगत। दोनों में से स्वभावोक्ति में वस्तुसंवाद होता है जो उपयुक्त पद्यों द्वारा बतलाया जा चुका है। चित्तवृत्ति-संवाद का उदाहरण यह है—

‘जहाँ, चन्द्ररश्मियों से सुसज्जुराती यन्मिच्छ मखिलका [लूड़े में छेने मोंगरे के पुष्प] वाली रामाओं के प्रियजन के लिए गाए गए गानों का अमरों द्वारा अनुवाद किया जाता है।’

यहाँ नायिका की प्रियामिलावरूपी विसृष्टि सहृदयों को अपनी चित्तवृत्ति के साथ यन्मिच्छ-रूप में प्रतीत होती है, अतः यहाँ चित्तवृत्तिसंवाद हुआ।

‘अहां दोनों ही प्रकार का संवाद हो रहा। क्या समझना चाहिए?’ इस प्रश्न पर कहते हैं—
‘उभय’ इत्यादि। इस समावेश का उदाहरण यह है—

‘यद् कपोतो [कनूरी] सोकर जाग उठी है। इसकी आँखें विधिव-कुचिन-चुनु-सुम्बन-
मुख से स्फुरित हो गई हैं। नींद के पथान् उदित चाह चाटुकारी द्वारा अपना चित्त अर्पित
करती हुई यह बार बार गुडर गुडर कर रही है और उसने अपना एक पल पैलाकर कपोत का
आलिंगन कर रखा है। इस प्रकार यह समीपवर्ती, लीलालस और प्रिय कपोत का सेवन कर
रही है।’

यहाँ कपोत कपोती के मुख्य धर्म का मुख्य वर्णन है, अतः स्वभावोक्ति है, और चित्तवृत्ति-
विशेष [रति] के कारण रसवदलंकार है। इस प्रकार इन दोनों का एकत्र समावेश है।
अन्यत्र = अहाँ वस्तु का सूत्रवर्णन नहीं। इस विवेचन के द्वारा ग्रन्थकार ने पहले [स्वभावोक्ति-
प्रकरण] में जो यह कहा था कि ‘भाविक तथा रसवदलंकार से इसका अन्तर भाविकाणकार के
प्रकरण में तय किया जाएगा’ उसे पूरा कर दिया। अब प्रकृत विषय आरम्भ करते हैं—**नाप्ययम्**
इत्यादि। अर्थ का शीघ्र ज्ञान कराना है प्रसाद, और भाविक है ज्ञान पदार्थ का स्फुट रूप से
ज्ञान। इस प्रकार इन दोनों में महान् अन्तर है। इसीका उपमहार करते हुए लिखते हैं—
तस्मात् ७।

यह बतलाने हुए कि हमने यह विवेचन निरावार नहीं किया है आगे लिखते हैं—

[सर्वस्व]

लक्ष्ये चायं प्रचुरप्रयोगो दृश्यते। यथा—

मुनिर्जयति योगीश्रो महात्मा कुम्भसम्भवा।

येनैकशुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥’

यथा वा—हर्षधरितप्रारम्भे ब्रह्मसदसि वेदम्यरूपवर्णने। तत्र हि
प्रत्यक्षमेव स्फुटत्वेन तदीयं रूपं दृश्यते। एयं तत्रेय मुनिकोधवर्णने,
पुलिम्बवर्णनादी शेषम्।

अयं त्वत्र विचारलेखः संभवति—इह क्वचिद्वर्णनीयस्य वर्णनाद्यशादेव
प्रत्यक्षायमाणत्वम्। क्वचित्प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम्। आद्यो यथोदाहृतं
प्राक्। द्वितीयो यथा—

‘अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो धृतः।

अचामरोऽप्येव सदैव धीम्यते विलामवालाभ्यजनेन कोऽप्ययम् ॥’ इति।

अत्र प्रथमप्रकारविषयोऽयमलंकारो न प्रकारान्तरगोचरः, क्वचित्तम-
पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्। न हिमांशुलावण्यादीनामिव यन्तुसन्नि-
वेदिनाम्। अपि च ‘शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुप्रचक्षते’ इति भाम-
ह्वीये, ‘याचामनाकुलत्वेनापि भाविकम्’ इति चौद्गतलक्षणे व्यस्तसंयन्ध-
रहितशब्दसंदर्भसमर्पितत्वं प्रत्यक्षायमाणत्वप्रतिपादकं कथं प्रयोजकीमवेत्,
यदि यन्तुसन्निवेशधर्मिगन्तव्येनापि भाविकं स्यात्। तस्माद् वास्तव-

मेव महत्त्वमुत्तरप्रकारविषये वर्णितमिति नायमलंकारः । यदि तु वास्त-
मेवात्र सौन्दर्यं कविनिबद्धं कविनिबद्धवक्तृनिबद्धं वा सकलवक्तृगोचरी-
भूतं स्वभावोक्तिवदलंकारतया वर्ण्यते; तदायमपि प्रकारो नातीव दुः-
श्लिष्टः । अत एव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्थाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद्भाषिकम्'
इत्येतावदेवान्यैर्भाषिकालक्षणमकारि । स्वभावोक्त्या किञ्चित्सादृश्यात्तद-
नन्तरमस्य लक्षणं कृतम् ।

लक्ष्य [काव्य] में इसका प्रयोग प्रचुरमात्रा में मिलता है । जैसे—

'महात्मा और योगिराज मुनि अगस्त्य सर्वात्कृष्ट हैं किन्हींने [समुद्रपान के समय] एक
ही तुल्य में वे दोनों दिव्य [विष्णु के अवतारभूत] भरतस्य और कच्छप देहे ।' और जैसे—
हर्षचरित के आरम्भ में मञ्जात्री की समा के बीच वेद के स्वरूप के वर्णन में । वहाँ प्रत्यक्षरूप
से उस [वेद] का स्वरूप स्पष्टतया दिखाई देने लगता है । इसी प्रकार उसी प्रसंग में मुनि के
कोप के वर्णन, और [अष्टम उच्छ्वास के आरम्भ में] पुलिन्द के वर्णन आदि में जाना जा
सकता है ।

यहाँ थोड़ा सा यह विचार किया जा सकता है—यहाँ [काव्यों] में कहीं तो वर्णनीय
पदार्थ की प्रत्यक्षवत् प्रतीति वर्णना के कारण ही होती है और कहीं प्रत्यक्षवत् प्रतीति की
वर्णना होती है । इनमें प्रथम का उदाहरण पहले ही [मुनिर्वयति०] दिया जा चुका द्वितीय
का उदाहरण यह है—

'यह कोई ऐसा व्यक्ति है जो आतपत्ररहित होने पर भी चहुँभोर से धवल आतपकों से
घिरा प्रतीत होता है और चामर रहित होने पर भी विलासरूपी बालव्यजन से इस पर सदा ही
हवा होती रहती है ।'

[हमारी दृष्टि में] इन दोनों में से यह [भाषिक] अलंकार केवल प्रथम प्रकार तक सीमित
है, दूसरे प्रकार में यह नहीं होता । क्योंकि जो धर्म कविद्वारा समर्पित होते हैं वे ही
अलंकार माने जाते हैं, न कि वे धर्म जो वस्तुनिष्ठ होते हैं, जैसे चन्द्रमा आदि में रहने वाले
आद आदि । और इसीलिए एक कठिनार्थ यह भी आती है कि वस्तुनिष्ठ धर्मों में भी भाषिक
मान लिया जाए तो प्रत्यक्षवत् प्रतीति के प्रति व्यस्त सम्बन्धरहित शब्द सन्दर्भ द्वारा [इह]
उपस्थिति को जो मामूह के लक्षण में 'और शब्दों की अनजुलता उसके हेतु बतलाए जाते हैं'—
इस प्रकार तथा उद्भट के लक्षण में 'शब्दों की अनुकूलता में भाषिक होता है' इस प्रकार निष्पादक
के रूप में स्वीकार किया गया है यह निष्पादक कैसे सिद्ध होगी । इस कारण द्वितीय प्रकार में
वास्तविक महत्त्व ही वर्णित किया गया है फलतः वहाँ यह अलंकार नहीं है । हाँ, यदि वास्तविक
सौन्दर्य की कवि के द्वारा उपनिबद्ध हो अथवा कविद्वारा प्रस्तुत पात्र द्वारा, साथ ही सभी पाठकों
के प्रत्यक्ष का विषय हो और स्वभावोक्ति के समान अलंकार रूप से प्रस्तुत किया जाए, तो यह
[द्वितीय] प्रकार भी अधिक महत्त्वपूर्ण न होगा । इसीलिए अन्य [मम्मट] आचार्य ने भी
भाषिक का लक्षण 'जहाँ भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष सा किया जाता है उसे 'भाषिक
कहा जाता है' इतना ही किया है । इसका स्वभावोक्ति के साथ कुछ सादृश्य है इस कारण इसका
लक्षण स्वभावोक्ति के बाद रखा गया है ।'

विमर्शिनी

तत्रैवेति । हर्षचरिते । तत्र ज्ञोघमुनिवर्णनं आरम्भ एव स्थितम् । पुलिन्दवर्णनं पुन-
रष्टमोच्छ्वासारम्भे स्थितमिति तत एव स्वयमवधारयम् । इह तु ग्रन्थविस्तरभयात्

लिखितम् । अतीतानागतयोः सूत्रितेऽपि प्रत्यक्षमाणात्वे देशादिविप्रकृतानां प्रत्यक्षमाणात्त्वमुदाहरता ग्रन्थकृतातीतानागतत्वस्य विप्रकर्षमात्रसारत्वं सूचितम् । तच्च देशकालत्वभावविप्रकृतानामविशिष्टमित्येतदुदाहृतम् । तत्रागतस्यमुनेर्दक्षविप्रकृतत्वम् ।

अनागतस्य तु यथा—

'चित्तोरिचसाखिलसुरपुटाहन्यमानाद्रिरीश-

ध्वानत्रयस्यसुरवरनभस्कारवाग्दत्तकर्णम् ।

पारिणस्पशाद्ब्रह्मनतुरग प्रेरयन् श्लेच्छज्जालि

जेत्यायेष त्रिभुवनविभुः कर्किरूपेण विष्णुः ॥'

एवं चिरंतनोक्तनीत्या विचारायं पुनरपि स्वोपज्ञं कचिद्विचारमाह—अयमित्यादिना । संभवतीति । न पुनः केनापि इष्ट इति भावः । यथोदाहृतमिति । मुनिर्जयतीत्यादिना । प्रथमेति । यत्र वर्णनावशात्प्रत्यक्षमाणात्त्वम् । अत एव कविसमर्पितधर्माणां न वस्तुसन्निवेशिनां धर्माणामलंकारत्वादिति सम्बन्धः । न हि वस्तुमात्रवर्णने कविकौशलं किंचिदिति भावः । अपि चेति । निपातसमुदायः समुच्चयार्थः अत्रैव वाक्यगत्या हेरवन्तरस्य समुच्चयमानत्वात् । कथमिति । वस्तुमात्रवर्णने शब्दानामानुक्तताया अनाकुलतायाश्चाविशेषात् । वचनप्रकारेति । अनागतयोऽपीत्यादी । अत्रापि प्रकारान्तरेणालंकारत्वं योजयति—यदि रित्यादिना । सकलवस्तुगोचरीभूतमिति । कविमात्रगम्यत्वात् । अत एव प्रत्यक्षमाणात्त्वस्य लक्षिततायमानत्वं स्यात् । सकलवस्तुगोचरीभूतत्वे पुनर्यथोक्तं वास्तवत्वमेवेति भावः । नापीवेति । न पुनः प्रकारवत् सुरिल्ल इति यावत् । अन एवेति । वास्तवस्यापि सौन्दर्यस्थाप्रालंकारतया वर्णनात् । एतावदेवेति । न पुनः शब्दानाकुलत्वादि वस्तुनि सत्याविशेषात् । अन्यैरिति । काव्यप्रकाशकारादिभिः ।

सत्रैव = यहीं हर्षविरित में ही । वहाँ क्रोधमुनि=दुर्गाता का वर्णन आरम्भ [प्रथम उच्छ्वास] में ही है, और पुलिन्दवर्णन अष्टम उच्छ्वास में है । तबे वहाँमे समस्त छेना चाहिये । यहाँ ग्रन्थ के विस्तार के मय से उते उद्भूत नहीं किया । यद्यपि सूत्र में अन्वकार ने केवल अतीत और अनागत की प्रत्यक्षमाणाता का उल्लेख किया है किन्तु श्रुति में उदाहरण दिए हैं दूर देश और भिन्न काल में स्थित [अत एव अतीत और अनागत के ही समान अग्रस्यश्च] वस्तुओं के, इससे यह सूचित किया गया कि अतीत और अनागत में भी सारभूत तत्त्व [भाविक में अलंकारत्व का कारण] विप्रकर्षमात्र [दूरी] है । इनमें से अग्रस्यमुनि की दूरदेश स्थिति का उदाहरण दे दिया गया है [मुनिर्जयति० श्वादि] अनागत का उदाहरण यह है—

'तीनों लोकों के स्वामी भगवान् विष्णु कर्किरूप में अपने वाहन उस अश्व को देख लगाते हुए श्लेच्छज्जालियों को जीतेके जो [अश्व] सुरपुत्रों से आहत और क्षिप्त शरिश्चस सभी पर्वतों की रीद ध्वनि से डरे देवताओं द्वारा उच्छ्वारित नमस्कार शब्दों पर कान दिए हुए होगा ।'

इस प्रकार प्राचीन भाषाओं की दृष्टि से विचार कर अब अपनी ओर से भी कुछ विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'अयम्' इत्यादि । संभवतीति=किया जा सकता है अर्थात् यह विचार अभी तक किसी ने देखा नहीं है । यथोदाहृतम्='मुनिर्जयति०' इत्यादि द्वारा उदाहृतम् । प्रथम = यहाँ वर्णना के कारण प्रत्यक्षमाणाता जाती है । इसीलिए इसका सम्बन्ध देखा होगा—'कविसमर्पित धर्मों में ही, न कि वस्तुनिष्ठ धर्मों में, अलंकारत्व होने से' भाव यह कि केवल वस्तुमात्र के वर्णन में कोई कविकौशल नहीं रहता । अपि च = यह निपातसमुदाय समुच्चयार्थक है क्योंकि यहीं [अगले] वाक्य के द्वारा एक अन्य हेतु का भी समुच्चय किया जा

रहा है। कथम् = कैसे = क्योंकि वस्तुमात्र के वर्णन में शब्दों की आकुलता हो या अनाकुलता दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। उत्तरप्रकार = परवर्ती दूसरे में अर्थात् 'अनातपत्रोऽपि' इत्यादि द्वारा प्रदर्शित प्रकार में।

अब यहाँ भी अन्य प्रकार से अलंकारत्व की सिद्धि करते हैं—यदि तु। सकलवस्तुगोचरी-भूतम् = सभी पाठकों के अनुभव में आने वाला = क्योंकि वह भी कविमात्र का विषय रहता है। इसीलिए प्रत्यक्षायमाणता भी तन्निमित्तायमानता = [कविद्वारा निर्मित होना] ही होगी। नवीन = अधिक दिल्लभ—न कि इसके प्रकार के समान सुदिल्लभ। अतएव = वास्तविक सौन्दर्य को भी अलंकार रूप में बतलाए जाने से। पृतावदेव = इतना ही न कि [मामह और उद्भट के समान] शब्दानाकुलत्व भी उसमें जोड़ा है क्योंकि वह तो वास्तविक वस्तु के कथन में भी समान रूप से रहता है। अन्यैः = अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि ने ॥

विमर्श—विदेशर—

‘आणव-कामं मलद्वन्द्वहीना मायामलान्विताः।

सर्वशाः सर्वकर्तारो मता विघेश्वराश्च ते ॥ —पूर्णताप्रत्यभिज्ञा उच० ५०४।

अर्थात् शिव, मन्त्रमहेश्वर तथा मन्त्रेश्वर नामक प्रमाता जब अभिलाष या अपूर्णत्वामिमानरूपी आणव मल तथा धर्माधर्म-वासना-रूपी कामं मल से रहित और वेध वस्तु के प्रति स्वभिन्नतानोष रूपी मायिक मल से युक्त रहते हैं तो विघेश्वर कहलाते हैं। ये सर्वेश और सर्वकर्ता होते हैं। मायामल का लक्षण पूर्णताप्रत्यभिज्ञा में ही इस प्रकार दिया गया है—

‘मायवान्धीकृतो वेधं भिन्नं पश्येत्सु पाशितः। [उ० ४९७ का०]

विमर्शिनी में ‘विघेश्वर आदि’ इस प्रकार जो आदि शब्द दिया गया है उसका संकेत विशानाकल आदि की ओर है। इन्हें शेषदर्शन से समझ लेना चाहिए।

हृतिहास—भाविकालंकार सर्वमान्य अलंकार है। इसका सूत्रपात

दण्डी—के काव्यादर्श में इस प्रकार मिलता है—

‘तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। भावः कवेरभिप्रायः काव्येऽव्यासिद्धिसंस्थितः ॥ २।३६४

परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुवर्णनम्। विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥ ३६५

व्यक्तित्त्तिक्रमबलाद् गभीरस्यापि वस्तुनः। भावावचमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ ३६६ ॥

भाविक प्रबन्ध विषयक धर्म है। क्योंकि काव्य में कवि का अभिप्रायरूपी भाव भासमाप्ति स्थित रहता है। इसमें कथावस्तु के सभी पक्ष परस्पर में उपकारी होते हैं। व्यर्थ विशेषणों का इसमें अभाव रहता है। इसमें स्थानों की वर्णना तथा लक्षण के बल पर गम्भीर वस्तु की भी अभिव्यक्ति रहती है। यह सर्वभाववच रहता है अतः भाविक कहलाता है [काव्यादर्श २।३-६४-६] दण्डी के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि हर्षचरित के ब्रह्मसभा आदि के वर्णन में भाविक मानने की प्रेरणा सर्वरत्नकार को दण्डी से ही मिली है। स्फुट पद्यार्थ में भी भाविक का अस्तित्व दण्डी को मान्य है ऐसा उनके ऊपर दिए विवेचन से प्रतीत नहीं होता।

मामह—का भाविकलक्षण आंशिक रूप से वृत्तिकार ने उद्धृत कर दिया है। दण्डी की अनुकृति पर इन्होंने भाविक का पूरा विवेचन इस प्रकार किया है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतमाविनः ॥३।५३॥

चित्रोदात्तादनुत्तार्थत्वं कथायाः स्वभिनीयता। शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥३।५४॥

भाविकत्व एक ऐसा गुण है जो प्रबन्ध में रहता है। हमने भूतमावी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखाई देते हैं। इससे हेतु बतलाए जाते हैं (१) कथानक के वैविध्य, उदाहरण तथा अद्भुतत्व, (२) अमिनयकला का ठोक अनुगम तथा (३) शब्दों की अनाकुलता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूतमावी पदार्थों की प्रत्यक्षप्रमाणता को मामह ने ही भाविक में स्थान दिया है। इसी प्रकार बहुचर्चित शब्दानानुलता भी भाविकरत्नग में मामह से ही आती है।

अन्य विषयों में इन दोनों आचार्यों की मान्यताएँ प्रायः समान हैं। उन्होंने भाविक की प्रबन्धगत अलङ्कार माना है अत उदाहरण के रूप में कोई पद्य नहीं दिया है।

वामन भाविक के विषय में जुग है। किन्तु

उद्भट ने इसे मुक्तक गुण भी मान लिया है। उन्होंने मामह द्वारा प्रस्तुत हेतुओं में से केवल शब्दसन्दर्भ की अनाकुलता को अपनाया है। मामह की शेष सभी स्थापनाएँ स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—

‘प्रत्यक्षा इव यत्रार्था वृद्ध्यन्ते भूतमाविनः। अत्यद्भुताः स्यात् तद्वाच्यमानाकुल्येन भाविकम्’ ॥१६॥

जिनमें अत्यन्त अद्भुत भूत और मावी पदार्थ उक्ति की अनाकुलता के कारण प्रत्यक्ष जैसे दिखाई देते हैं वह भाविक कहलाता है। उद्भट ने मुक्तक गुण के रूप में कहा यह उदाहरण दिया है—

‘नाना प्रकार के आमरणों की शोभा देखने योग्य इन आकृति से अजन दृश्य नेत्रों वाली जुग [पार्वती] पीठा और प्रीति दोनों दे रही हो।’

यहाँ पार्वतीजी के अङ्गों पर तप के पूर्व को अलङ्कारभी शोभा दे रही होगी और तप के पश्चात् को भूषणभी होगी अतः प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। इसीलिए उसके अभाव में दुःख व्यक्त किया जा रहा है। इस प्रकार भाविक का प्रबन्ध से मुक्तक तक सीमित करने का ठरकम उद्भट से आरम्भ होता है।

उद्भट में भाविक का विवेचन नहीं मिलता।

मम्मट ने उद्भट के लक्षण को और भी संक्षिप्त किया और उसमें से पदार्थगत अद्भुतता तथा अकल्पित अनाकुलता दोनों को हटाकर अतः रूप केवल शृंगारा ही रहने दिया—

‘प्रत्यक्षा इव यत्रार्था. क्रियन्ते भूतमाविन, तद्भाविकम्’।

सर्वस्वकार ने इसे उद्भूत भी किया है। मम्मट की दृष्टि वस्तुपरक न होकर आत्मपरक है। इसीलिए उन्होंने वृद्ध्यन्ते क्रियापद के स्थान पर क्रियन्ते क्रियापद अपनाया। ‘दिखाई देना’ श्रेयगत वैशिष्ट्य है जबकि देखना हातुगत। निश्चिन ही मम्मट के अनुसार काव्यशिल्प और वस्तुगत अद्भुतता से भी बड़ी वस्तु है शाश्वत मातृकता। भाविकशब्द की व्युत्पत्ति उन्होंने दण्डी की मानी है—‘भाव’ कवेरमिप्रायोऽप्रास्तीति।’ सर्वस्वकार ने एक तवीन विरूप के साथ इसी को अपना लिया। मम्मट ने भाविक को मुक्तकगत बनाया है प्रबन्धगत मानने के विषय में वे मौन हैं। उनका उदाहरण है—

‘आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।

भाविभूषणसंमारां साश्राव कुर्वे तवाकृतिम् ॥

हे सुन्दरि ! तुम्हारे इन नेत्रों में अजन या ऐसा देल रहा हूँ और तुम्हारी आगे भूषणसंमार से उत्पन्न श्री वान्नी आकृति का भी साश्रवकार कर रहा हूँ। यहाँ पूर्वार्ध में भूतविषयक तथा अन्तरार्ध में भाविविषयक प्रत्यक्ष का वर्णन है।

इस पूर्वकथा से स्पष्ट है कि भाविक का जो रूप मम्मट तक लिखरा था सर्वव्यकार ने उसी को अपना लिया है।

रत्नाकरकार = विमर्शिनोकार ने जो वस्तुगत विप्रकर्ष को महत्त्व दिया था, उसके पीछे रत्नाकर का निम्नलिखित भाविकसूत्र छिपा था—

[सू.] 'विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम् ।'

[वृ०] 'देशकालान्यां स्वभावेन वाविप्रकृष्टस्यार्थस्य साक्षाद्ग्रहणयोग्यस्यापि सामग्रीबलेन प्रत्यक्षायमाणत्वं स्फुटतया पुर.स्फुरदरूपत्वेनैव प्रतीतिर्भाविकम् ।

देश, काल या स्वभावतः विप्रकृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा जानने के अयोग्य वस्तु का भी सामग्री के आधार पर प्रत्यक्षायमाणत्व अर्थात् सामने खड़े से रूप में ज्ञान भाविक कहलाता है ।' आगे रत्नाकरकार ने यह भी लिखा है कि भाविक में यद्यपि सभी पदार्थ शब्द से ही प्रतीत होते हैं तथापि होता है उनका ज्ञान, प्रत्यक्षवत् ही । सामग्री की व्याख्या में उन्होंने दण्डी और मानह द्वारा गिनाए सभी हेतुओं को अपना लिया है। 'वस्तु की अद्भुतता, शब्दों की झटिति अर्थसमर्पकता, वाक्य का सरल अन्वय, कवि का कुशल कविकर्म—इत्यादि सभी के योग से चिरानुभूत वस्तु भी चित्तभित्ति पर प्रतिफलित हो जाती है। प्रतिफलित होकर वह निबिडता धारण करती है। फलस्वरूप ज्ञातृचेतना उसी पर पकाम हो जाती है। इस स्थिति में ज्ञाता वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान चिरकाल तक करता रहता है। यही भावना है। भावना के बल से सदृश्य दूरस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष भी उसी प्रकार करता रहता है जिस प्रकार योगी किया करता है।' इन शब्दों में रत्नाकरकार ने सर्वस्व के विरतृत दार्शनिक विवेचन का ही संक्षेप कर दिया है। उदाहरण द्वारा अपनी मान्यता स्पष्ट कर उन्होंने अन्त में स्वभावोक्ति और भाविक के अन्तर पर यह पक्ष भी बना दिया है—

'सूक्ष्मस्वभावकथनेन विनापि साक्षादर्थप्रतीतिरिह केवलभाविकाद्ग्रह ।

शुद्धस्वभावजनतानुभवप्रसिद्धसम्बन्धस्वभावमणितौ तु भवेत् स्वभावः ॥

भाविक में केवल साक्षात् अर्थ प्रतीति रहती है, इसमें [स्वभावोक्ति के समान] सूक्ष्म-स्वभाव का कथन नहीं रहता। शुद्ध स्वभावोक्ति वहाँ होती है जहाँ सभी जोगों के अनुभव में आने वाले अत्यन्त प्रसिद्ध स्वभाव की सम्यक् उक्ति रहती है ।'

अप्यदीक्षित ने भाविकालंकार भावकता की जिस अतिभूमि से उदित हुआ था उसे अत्यन्त क्षीण रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'भाविकं भूतमाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम् ।'

भूत और भावी अर्थ के साक्षात्कार का वर्णन भाविक ।

उदा० 'अहं विशोकयेऽद्यापि शुष्यन्तेऽत्र सुरासुराः ।'

मैं देख रहा हूँ कि सुर और असुर आज भी लड़ रहे हैं। न तो इसमें वस्तुगत अद्भुतता है, न कविकर्म की सूक्ष्मगति। लयता है मम्मट से भाविक की ओर जो दुर्लभ्य होना आरम्भ हुआ था अप्यदीक्षित में उसकी परा काढा हो गई है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगद्गाधर में भाविक का संग्रह नहीं हो पाया था, किन्तु विश्वेश्वर पण्डित ने उसकी आंशिक पूर्ति कर दी है। उन्होंने—

'भाविकमध्यक्षं स्यात् प्रध्वंसप्रागभावानाम् ।'

प्रध्वंस तथा प्रागभाव वाले पदार्थों का प्रत्यक्ष भाविक कहलाता है। प्रध्वंस से अतीत तथा प्रागभाव का संग्रह कर विश्वेश्वर ने भाविक पर मम्मट का लक्षण डूहरा दिया है। मम्मट ने

‘प्रत्यक्ष जेते’ लिखा था विवश्वेश्वर ने ‘प्रत्यक्ष’ ही लिख दिया। वस्तुतः मानस साक्षात्कार यहाँ होता ही है।

भाविक की श्रुतपत्ति पर सर्वस्वकार का खण्डन करते हुए विश्वेश्वर ने कहा है कि ‘भाव-कवेरभिप्रायोऽस्त्यस्मिन्’ यह श्रुतपत्ति माण्यविरुद्ध है। क्योंकि [अर्थापत्ति प्रकरण की विधिज्ञानी में उद्धृत] ‘सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ’ इस माण्यवचन द्वारा निषेध हो जाने से ठन् प्रत्यक्ष सप्तमी अर्थ में नहीं होगा। यहाँ ठन् प्रत्यक्ष मत्वर्थाय होगा अतः श्रुतपत्ति होगी—‘भाव-कवेरभिप्रायोऽस्त्यस्मिन्’ = जिसका विषय भाव = कवि का अभिप्राय होता है वह भाविक। विश्वेश्वर के अनुसार यौ भूत और भावी पदार्थों के प्रत्यक्ष में अपेक्षित सन्निकर्ण वस्तुगत अद्भुतता से निष्पन्न हो जाना है।

श्रीविद्याचरुवर्षी की निष्कृष्टार्थकारिका भाविक पर इस प्रकार है—

‘अथ प्रतीतिवैचित्र्यतारतम्यनिरूपणैः ।
भाविक दूरदुर्लभ व्यक्त स्यात्क्रियतेतमान् ॥
योऽयं प्रत्यक्षवद् भावस्त्वनीतानामनार्थयोः ।
तद्भावविश्वनाम्बिचिंते विनिवेशान्च भाविकम् ॥
नाविपर्ययतो भाग्निः साक्षात्त्वान्नेतिवृत्तकम् ।
अन्यादानाम्यवसिनेने चाशानिश्चयौकिता ॥
न परं वर्तमानार्थभनं प्रत्यक्षतेष्वथे ।
प्रतिपरत्रनपेक्षार्या प्रत्यक्षस्वपरारक्षमाय ॥
प्रत्यक्षत्वे च सामग्री भावनादनुनवस्तुजा ।
प्रत्यक्षत्व न सामान्यमिह नोत्प्रेक्षण ततः ॥
अलिङ्गलिङ्गिभावान्च काम्यलिङ्गं न चेष्यते ।
सादरध्याय स्फुटसंविष्टेन तदा रसवदभ्रमः ॥

पश्चात् साधारणभावो रसवास्तवमिच्छकः। स्फुटस्वात्र स्वभावोक्तिर्लोकोत्तीर्णस्य वस्तुनः ॥ स्वभावोक्ते रसवतो भेदः सनादभेदतः। न प्रसादगुणश्चैवद् वरनादोत्तरकाविकम् ॥ वास्तवेषु च सौन्दर्ये योग्यत्वादस्य समवः। चिरन्तनानुरोधात्तु तथा व्यक्त न कौचितम् ॥ भाविके बुद्धिसंवादी मया स्याद् यदि कश्चचित्। न्यालयाद्यिस्वस्थनिकां स मे योमान् भावियति ॥’

[स्वभावोक्ति के पश्चात्] अद् भाविक को अत्यन्त कठिनार्थ से जाना जा सकता है प्रतीति-गत वैचित्र्य तथा तारतम्य का अनेकधा निरूपण कर आत्मने स्पष्टता के साथ बतकाया जा रहा है। अतीत और अनागत पदार्थों का जो विषय पर यह प्रत्यक्ष तुल्य भाव = प्रतिबिम्ब पड़ता है यह, भाव के विम्वन तथा विषय में विनिवेशन के कारण भाविक कहलाता है। इसमें विपर्यय नहीं होता इसलिए यह आन्तिस्वरूप नहीं है। वस्तु साक्षात्कार के कारण यह इतिवृत्तमात्र नहीं है। अन्य अण्ववसान न होने से यह अतिशयोक्ति भी नहीं है। केवल वर्तमान पदार्थ का धर्म ही प्रत्यक्षता नहीं मानी जाती। क्योंकि यदि ज्ञाता न रहे तो प्रत्यक्षता भी नहीं रहती। प्रत्यक्षता में कारण होती है अद्भुतवस्तु की भावना। यहाँ प्रत्यक्षता समावनात्मक नहीं रहती अतः इसे उपप्रेक्षा नहीं माना जा सकता। और लिङ्गलिङ्गभाव के न होने से इसे काम्यलिङ्ग भी नहीं कहा जा सकता। इसमें तटस्थता और स्फुटता का ध्यान रहता है अतः इसमें रसवदलंकार का भ्रम नहीं हो सकता। बाद में अब साधारण भाव होता है तब भाविक से रसवदलंकार की निष्पत्ति होती है। यहाँ लोकोत्तर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है अतः यह स्वभावोक्ति रूप नहीं होता। स्वभावो-

क्ति और रसवदलंकार में भी संवादगत भेद के कारण भेद रहता है। यह प्रसाद गुण भी नहीं है क्योंकि यह प्रसादनन्वित स्पष्ट प्रतीति के पक्षार्थ की वस्तु है।

यह वारतविक वस्तुओं के सौन्दर्य में भी होने की योग्यता रखता है किन्तु प्राचीन भावार्थों के अनुरोध से ग्रन्थकार ने उसे स्पष्ट रूप से भाविक नहीं कहा।

भाविक के विषय में मेरे साथ यदि किसी का मुक्ति संवाद हो तो वही मुक्तिमान् व्यक्ति मेरे हस्त व्याख्याशिल्पर की कसौटी होगा।

चक्रवर्ती की संजीविनी भाविक के कुछ कठिन अंशों पर उल्लेखनीय प्रकाश डालती है। ऐसे कुछ अंश इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिपत्त्रपेक्षयैव वस्तुनस्तथाभावात्=प्रतिपत्त्रपेक्षयैव प्रत्यक्षत्वस्य वस्तुधर्मता। न हि प्रतिपत्त्रमनपेक्ष्य वस्तुनि प्रत्यक्षता नाम काचित् ।

(२) तत्र यो ज्ञानप्रतिभास० = यो क्षणः स्वमाहकं प्रतिपत्तुर्ज्ञानप्रकाशं स्वान्वयव्यतिरेका-
वस्तुकारयति, स्वयमस्ति चेद् ज्ञानप्रतिभासोऽस्ति नास्ति चेन्नास्तीति व्यवस्थापयति स प्रत्यक्ष इत्यर्थः ।

(३) परमाद्वैतज्ञानिवत् = ०० न भाविकरसवतोरभेदः। कुतः? रति-हासादिचित्तवृत्तीनां तदनुरक्षितत्वेन विभावानुभावव्यभिचारिणां च यदा परमाद्वैतज्ञानिवद् ममैव शत्रोरेवेत्यादिविशेष-
परिहारात् साधारण्येन हृदयसंवादिनी प्रतीतिस्तदैव रसवतो भावः। ००। इह तु भूतभावितानां प्रतीतिर्न साधारण्येन, अपितु प्रतिपत्तुस्तादस्थेन, स्फुटतया तादस्थं हि भेदः। यदा सांख्यादि-
सिद्धानां भेदेन सर्वं ज्ञानतां प्रतीतिः।

पाठान्तर = मिश्रणसागरीय प्रति के मूल तथा टीका दोनों के पाठ अष्टाद्विबहुल है। अतः यहाँ हमने अन्य संस्करणों की सहायता तथा रत्नाकर और अपनी कल्पना के आधार पर पाठसंशोधन किया है। अर्थात् 'परमाद्वैतज्ञानिवत्' के स्थान पर संजीविनी में परमाद्वैत-
ज्ञानिवत् पाठ है। विमर्शिनी से परमाद्वैत ज्ञान पाठ का ही संश्लेष समर्थन होता है। इनमें से कोई भी पाठ मानने पर अपेक्षित अर्थ निकल ही आता है।

[सर्वस्व]

[सू० ८१] समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम् ।

स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम् । तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तु-
वर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः । तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं
कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणमुदात्तम् । यथा—

'मुक्ताः केलिविसूत्रद्वारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः

प्रातः प्राङ्गणसीमिन् मन्थरचलद्वालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः ।

दूराद् दाडिमवीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका

यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम् ॥'

[सू० ८१] समृद्धिवाली पदार्थ का वर्णन उदात्त [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

[वृ०] स्वभावोक्ति और भाविक वस्तु का यथावद् [जैसा का जैसा] वर्णन होता है। उदात्त कहलाता है आरोपित वस्तु का वर्णन। अतः यह उनके विरुद्ध है। शर्लियिप इते यहाँ

प्रथमतः इत्था लक्षण समग्र लेना चादिप । उक्तं सूत्रं के संदर्भ में वह यह है—'असंभाव्य विभूति से युक्त वस्तु का वर्णन कविप्रतिभा से कल्पित अतः ऐश्वर्यस्वरूप होने से उदात्त कहलाना है । उदाहरण, यथा—

'विद्वानो ये घर में [रात को] खेलेखल में टूटे द्वारों में गिरे, प्रातः भांगन के एक कोने में झाड़ू से बरीर दिए गए और मन्दगति से घूमती बालाओं के चरणलकक से लाल हो गए मोतियों को दूर से अनार के दाने समझ केही शुक जो खींचते हैं वह भावराज के रथांग की लीला है ।'

विमर्शिनी

समृद्धिमदिरयादि । तद्विषयवेनेति । अश्वत्थस्तुवर्णनयोर्विहङ्गत्वात् । तत्रैति । पूर्वमवसरे सतीरवर्षाः । असंभाव्यमानेति । संभाव्यमानविभूतियुक्तस्य तु वर्णनं नैतदङ्गमिति भावः । यथा—

'प्रातश्चकासति गृहेश्वरकुट्टिमाप्रविच्छिरानकुसुमप्रकरायकीर्णः ।

अभ्युद्गताकणकराहतिपाशमाननसप्रराशिशावला ह्य वस्र रथ्याः ॥'

अत्र हि भगवत्समर्षा वस्तुत एव संभवति रत्नविशेषः । अत एवाद्य कश्चिन्मि-
भोत्यापित्तवस्तुक्तम् । एवं चार्य नामापि सार्पकश्च । अलङ्कारसारकृता पुनरश्रातिशयोक्ति-
प्रकारकत्वमुक्तम् ।

समृद्धिमदिरयादि । तद्विषयवेनेन उक्तके विहङ्ग, इसलिय कि वस्तु और अवस्तु के वर्णन परस्पर विहङ्ग होते हैं । अत्र इस प्रकार अवसर होने पर । असंभाव्यमान = मान यह कि संभाव्यमान विभूति से युक्त वस्तु के वर्णन में वह अलङ्कार नहीं होता । यथा—

[हरविजयमहाकाव्य के प्रथमसर्ग में भगवत्पुरी का वर्णन]

'जिस [ज्योत्स्नलवनी] नगरी में प्रासादों के भीतरी फलों के अग्रभाग से फेंके रत्न तथा पुष्पों के पुञ्ज से छाईं सड़के प्रातःकाल के समय उदित बालसूर्य की किरणों के आघात से गिरी नक्षत्राग्नियों से क्षणभङ्गित सी लगती हैं ।' [२।१२]

इस पद्य में वर्णित रत्नों का फेंका जाना वास्तविक और संभव है क्योंकि यह नगरी भगवान् की नगरी है । इसीलिय इस प्रकार शक्य नाम भी सार्पक है । अलङ्कारसारकार ने इसके विहङ्ग इसे अतिशयोक्ति का भेद बतकाया था ।

[सर्वस्य]

[सू० ८२] अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च ।

उदात्तशब्दसाम्यादिद्वाभिधानम् । महापुरुषाणामुदात्तचरितानामङ्गि-
भूतवस्तुन्तराङ्गभावेनोपनिबध्दमानं चरितं बोधात्तम् । महापुरुषचरितस्यो-
दात्तत्वात् । यथा—

'तद्विद्मरण्यां यस्मिन् वशरथवचनानुपालनम्यसनी ।

निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥'

अध्वारण्ये वर्णनीये रामचरितमङ्गलेन सर्गिण्य ।

[सू० ८२] [किसी के प्रति] अंगभूत महापुरुष चरित भी [उदात्त कहलाता है] ।

[सू०] उदात्त शब्द के साम्य के कारण इसे यहाँ बतलाया जा रहा है । उदात्तचरित वाले महापुरुषों का चरित, अंगीभूत किसी अन्य वस्तु के अंग के रूप में उपनिबद्ध हो तो वह भी उदात्त [नामक एक अन्य अलंकार] होता है । [उदात्त] इसलिये कि महापुरुष का चरित उदात्त होता है । यथा—

‘यद् यद् वन है जिसमें दशरथ के वचन का पालन करने में निरत राम ने जिन के सहायक केवल उन्हीं के भुजदण्ड थे राक्षसों का क्षय किया था ।’

यहाँ वर्णन करना है वन है । उसमें राम का चरित अंगरूप में वर्णित किया गया ।

विमर्शिनी

अङ्गभूतस्यादि । एतदेव व्याचष्टे—महापुरुषाणामित्यादिना । अङ्गभूतस्य वस्तुनो महापुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषयाङ्गतयोपनिबध्यमानमेतदलंकाराङ्गम् । न ह्युपलक्षणमात्रपरतयोपात्तमिति तात्पर्यार्थः । तच्च यथोदाहृतम् ।

‘कश्चिकान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः

दापेनास्तंगमितमहिमा चर्षभोग्येण भर्तुः ।

यत्तत्रक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु

स्निग्धच्छायातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥’

अप्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिदर्शनायमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषया रामसीतादिचरितमुपलक्षणपरम्, तदत्र नायमलंकारः । यथा—

‘गोदावर्याः करिकुलमदृशोददृशोदकायाः

पारे पारे वत घत पराभृशयतामृष्यमूकः ।

कंकालाक्षी पिहितगगने दुन्दुभेर्यत्र रामः

पादाङ्गुष्ठं निजमपि भवद्दैवतं निर्ममेऽस्तम् ॥’

अत्र पदार्थ प्रति विद्योगिन्या उक्तौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम्, न अङ्गभूतेनाङ्गिनः कश्चिद्विशेषो विवक्षितः ।

‘अत्रासीत्फणिपाशयन्धनविधिः क्षयस्या भवद्दैवरे

गाढं वचसि ताडिते हनुमता श्रोणाद्रिरश्राहतः ।

दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणक्षरैर्लोकान्तरं प्रापित-

स्तस्याप्यथ मृगासि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥’

इत्यत्र तु रामस्य सीतां प्रत्युक्ताखुपलक्षणीभूतदेशविशेषे पाशवन्धनाद्येव साक्षाद् विवक्षितमिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलंकारः ।

अंगभूतस्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—‘महापुरुषाणाम्’ इत्यादि के द्वारा । तात्पर्य यह कि अंगी वस्तु के उत्कर्ष के प्रतिपादन हेतु अंगरूप में, न कि उपलक्षण मात्र के रूप में उपनिबध्यमान महापुरुष चरित इस अलंकार का निष्पादक होता है । इसका उदाहरण [तदिदमरण्यं] दिया जा चुका है । [रत्नाकरकाश द्वारा उदात्त के लिए उदाहृत]

‘अपने अधिकार में असावधान अतथ स्वामी के वर्ष भर के कान्ताविरह संवन्धी अत्यन्त गुरु क्षाप से महिमाशून्य किसी एक यक्ष ने रामगिरि के, सीताजी के स्नान से पवित्र बल वाले तथा घनी छाया वाले नमेश वृक्षों से सुन्दर आश्रमों में डेरा डाला ॥’

इस पद्य में अही है गिरिविशेष । उसमें निवास करने की योग्यता दिखलाने के लिए उसका एकपद इतलाना आवश्यक है । तदर्थ रामसौत्रा आदि का चरित अपनाया गया है । यह पदा उपलक्षणमात्रपरक है, अतः यहाँ यह [उदात्त-२] अलङ्कार नहीं है ।

'दावियों के मद्रचूणों से तिक जलवाली गोदावरी के किनारे, आ हाहा, इस श्रुभ्यमूकपर्वत को देखो, जहाँ रामने कुन्दुभिनामक दैत्य के ककाळरूपों आकाशरोधी पर्वत पर अपने पैर के अंगुठे और तुम्हारे दैवत को भी अस्त [क्षिप्त] कर दिया था (?) ।'

पवन के प्रति वियोगिनी को इस ठक में राम का चरित उपलक्षणमात्र है, क्योंकि वह अंगभूत तो है परन्तु उसमें अगी का कोई वैशिष्ट्य कवि को विवक्षित नहीं है । [रत्नाकरकार द्वारा उदात्त के लिए उदाहरण]—

'यहाँ नागपाश का बन्धन हुआ था, तुम्हारे देवर [उल्सन] को बध्तरथल में शक्ति लगने पर हनुमान् ने श्लोणगिरि यहाँ ला पहुँचाया था । यहाँ लक्ष्मण के दिव्यशरी ने इन्द्रनिन्द [मेघनाद] को दूसरे लोक भेज दिया था, अरे इस राक्षसपति [रावण] की भी कण्ठाटवी यहाँ कटी थी' ।

सीता के प्रति राम की इस उक्ति में उन उन उपलक्षणीभूत स्थानों में पाशबन्धन आदि ही साक्षात् विवक्षित है, इसलिये महाप्रसन्नचरित अन्य वस्तु के प्रति अंग नहीं है इसलिये यहाँ भी यह अलङ्कार नहीं है ।

विमर्श—

इतिहास—दोनों ही उदात्त प्रथमतः दण्डी में ही मिल जाते हैं ।

दण्डी—उन्होंने दोनों उदात्तों को एक ही अलङ्कार के दो भेद माना है । उनका लक्षण इसमें प्रमाण है—'आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुपपन्नम् ।

उदात्तं नाम त प्राहुरलङ्कारं मनीषिणः ॥२॥३००॥

आशय [चित्त] या नेमव का जो सर्वोत्तम महत्त्व उसे विद्वज्जन उदात्त नामक अलङ्कार करते हैं । दण्डी के दोनों उदाहरण सर्वस्वकार के दोनों उदाहरणों से गतार्थ है । दोनों की अभिव्यक्तियाँ बिलकुल एक सी हैं ।

भामह—का उदात्तविवेचन दण्डी की ही अनुकृति है । इन्होंने माने तो दोनों ही उदात्त हैं किन्तु लक्षण केवल प्रथम का ही दिया है—

'नानारत्नादिशुक्तं यद्यद्य किञ्चोदात्तमुच्यते ।'

जो नाना रत्न आदि से युक्त होता है उसे उदात्त कहते हैं ।' दोनों के उदाहरण दण्डी के उदाहरणों के ही भावानुकरण हैं । सर्वथा उदात्त के विषय में भामह दण्डी से उपकृत हैं । इस विषय में वामन चुप है ।

उद्भट ने भी दण्डी के ही समाज दोनों उदात्तों को एक ही लक्षण में गूँथ डाला है । उनका लक्षण है—

'उदात्तशृङ्गिमद् वस्तु चरितं च महारमनाम् ।

उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥ ४ । ८ ॥

संपत्तिशाली वस्तु उदात्त कहलाती है और महारमणों का उपलक्षणता को प्राप्त चरित, किन्तु इतिवृत्तात्मकता को प्राप्त चरित नहीं । यहाँ यह ध्यान लेना आवश्यक है कि उद्भट का उपलक्षणशब्द सर्वस्वकार के अंग शब्द का ही समानार्थी शब्द है । विमर्शिनिकार जिस उपल-

क्षणत्व का खण्डन कर रहे हैं वह वस्तुतः उस अर्थ के लिये प्रयुक्त शब्द है जिसके लिए उद्धृत ने 'इतिवृत्त'—शब्द दिया है। यह चनके उदाहरणों से स्पष्ट है।

रुद्रट—वामन के ही समान रुद्रट के कान्यालंकार में भी उदात्तालंकार नहीं मिलता। वक्रोक्ति-जीवितकार उदात्त को अलंकार नहीं मानते। इनके अनुसार वह वस्तुत्वभाव से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

मम्मट—ने दोनों उदात्तों के दो अलग लक्षण किए हैं। वे ये हैं—

(१) 'उदात्तं वस्तुनः संपद, उदा० मुक्ताः केलि०

(२) 'महतां चोपलक्षणम्। उदा० तदिदमरण्यम्०।

मम्मट के उपलक्षण शब्द का अर्थ भी उंगता ही है। क्योंकि उन्हींने उदाहरण अंगता का ही दिया है।

रत्नाकरकार—ने उदात्त का द्वितीयरूप ही उदात्त नाम से स्वीकार किया है। प्रथम को वे 'असंख्य में संवत्सुपी अतिशयोक्ति से गतार्थ मानते हैं। 'मुक्ताः केलि०' पद्य उद्धृत कर वे उसमें उदात्तालंकार का निराकरण और उक्त अतिशयोक्ति भेद की स्थापना करते हैं। उनका उदात्तसूत्र यह है—

'उदारचरिताङ्गत्वमुदात्तम्' ॥ १०८ ॥

उदार व्यक्ति के चरित का अंग बनना उदात्त कहलाता है। इसके लिए इन्होंने कश्चित् कात्याविरह०' पद्य उदाहरण रूप से उद्धृत किया था और लिखा था कि 'यहां देश विशेष— [पर्वत]—रूपी अर्थ प्रधान है, उसमें उदारचरित व्यक्ति जानकी आदि का चरित अंग रूप से उपनिबद्ध है।' विमर्शिनोकार इसे अंगत्व नहीं उपलक्षणत्व मानते हैं। उपलक्षण का अर्थ वे 'मुख्यतः वर्णनविषयीभूत न होना करते हैं। यहाँ अक्षर ही सीताचरित मुख्यतः वर्णन विषयीभूत नहीं है। किन्तु जानकी सम्बन्ध से उस आत्म की उदात्तता का मान भी नहीं मेटा जा सकता। इसी प्रकार रत्नाकरकार ने 'अत्रासीत् फणि०' पद्य में भी उदात्तलंकार माना है।

अप्यक्षरीश्चित = दोनों ही प्रकार का उदात्तालंकार स्वीकार करते हैं और लक्षण में अंग-शब्द के स्थान पर उपलक्षण शब्द ही रखते हैं—

'उदात्तमृद्धेश्वरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।'

अदि का चरित और श्लाघ्यतापूर्ण उपलक्षणभूत चरित उदात्त अलंकार माने जाते हैं।

विश्वेश्वर = "वस्तुप्रचय उदात्तं महतामङ्गस्ववचनं वा।'

संपदादिवरत्तितिशयवर्णनमुदात्तम्, उच्छृष्टानां वर्णनीयनिष्ठाङ्गित्वप्रतियोगित्वं च यत्रोच्यते तदपीति।

जहाँ संपत्ति आदि वस्तुओं का अतिशय वर्णित हो उसे उदात्त कहते हैं तथा उच्छृष्ट वस्तु का अंगी वर्णनीय में अंग बनाना भी।' इस प्रकार विश्वेश्वर दोनों ही उदात्त को मम्मट के ही स्वर में स्वीकार करते हैं किन्तु वे उपलक्षणशब्द के स्थान पर अंग शब्द ही अपनाते हैं।'

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर इस प्रकार की है—

[१] उदात्तं ॥ समृद्धस्य वस्तुनः कविवर्णनम्।

[२] अङ्गधन्तरेऽङ्गतापक्षं महचरितलक्षणम्।

द्वितीयोदात्तविषयो न्यासो रसवदादिभिः ॥

—[१] समृद्ध वस्तु का कविद्वारा वर्णन उदात्तालंकार कहलाता है ।

[२] अन्य किमीअगी में महापुरुष के चरित का अंगना को प्राप्त होना भी उदात्तालंकार कहलाता है । इस द्वितीय उदात्त के क्षेत्र में प्रायः रमवदादि अलंकार व्याप्त रहते हैं ।

[सर्धम्भ]

[सू० ८३] रमभावतदाभागतन्प्रशमानां निबन्धनेन रसगन्धैय-
ऊर्जस्विसमाहितानि ।

उदात्ते महापुरुषचरितभ्य चित्तवृत्तिरूपत्वाच्चित्तवृत्तिविशेषभ्यभाष-
त्वाच्च रसादीनामिद्व तद्वदलंकाराणां प्रस्तावः । अत एव चत्वारोऽलंकारा
युगपल्लक्षिता । तत्र विभावानुभावभ्यभिचारिभि प्रकाशितो रत्यादिशिवत्त-
वृत्तिविशेषो रस । भावो विभावानुभावान्गा सूचितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रि-
शब्दभेद । देवादिविषयश्च रत्यादिर्भाव ।

तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च । आभासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौ-
चित्यम् तत्प्रशम उक्तप्रकाराणां नियतमानत्वेन प्रशाम्यदचस्था । तत्रापि
रसस्य परविधान्तरूपत्वान्त्वा न संभवति इति पणिश्लिष्टभेदविषयो द्रष्टव्यः ।
एवानुपनिबन्धे क्रमेण रसत्रयादयोऽलंकाराः । रसो विद्यते यत्र निबन्धने
व्यापाररत्मनि तद् रसवत् । प्रियतरं प्रेषो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम् । एवमूर्जो
घर्लं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव । अनौचित्यप्रवृत्तत्वाद् यत्र यत्प्रयोगः ।
समाहितं परिहारः । स च प्रकृतत्वादुक्तभेदविषय प्रशमापरपर्यायः । तत्र
यस्मिन्दर्शनै चाफ्यार्थीभूता रसाद्यो रसयदायलंकाराः, तत्राङ्गभूतरसादि-
विषये द्वितीय उदात्तालंकारः । यस्मिन् रसभूते रसादिविषये रसयदाय-
लंकाराः अभ्यस्य रसादिष्यनिना व्याप्तत्वात् तत्रोदात्तालंकारभ्य विषयो
नावशिष्यते, तद्विषयभ्य रसयदादिना व्याप्तत्वात् ।

[सू० ८६] रस, भाव इव [दोनों] के आभास तथा इव [भावों] के प्रशम का
उपनिबन्ध हो तो { अलंकारों के नाम } रमवत् प्रेषस् ऊर्जस्वित् तथा
समाहित [होते हैं] ॥

[वृत्ति] उदात्त में महापुरुष का चरित चित्तवृत्तिरूप होता है, और रसादि भी चित्तवृत्ति-
विशेषरूप होते हैं इसलिये उनसे युक्त [रसवदादि] अलंकारों का निरूपण इस स्थान पर किया
जा रहा है । इसीलिये चार अलंकारों के लक्षण एक साथ किए । दोनों में [जो] रस [है वह]
है विभाव, अनुभाव तथा न्यभिचारियों के द्वारा अपने साथ प्रकाशित रत्यादिनामक विशिष्ट चित्त-
वृत्ति । भाव नाम है विभाव और अनुभाव से सूचित निर्वेद आदि तीसरी चित्तवृत्तियों का । देव आदि
विषयक रत्यादि भी भाव ही होते हैं ।

तदाभास का अर्थ है रसाभास तथा भावाभास । आभासत्व है अविषय में [जहाँ प्रवृत्ति नहीं
होनी चाहिए वहाँ] प्रवृत्ति से उत्पन्न अनौचित्य । उनका प्रशम करने से अर्थ निकलता है पूर्वाक
[= तव] भेदों की निवृत्तिमूलक शान्ति । किन्तु उक्त उक्तों में से जो रस है वह पर विधान्तिरूप
होता है, अतः उसमें वह [शान्ति] संभव नहीं होती, फलतः उस (शान्ति) का विषय वचे हुए

भेद ही जानने चाहिए । इनका जब कान्य में गुंफन होता है तब रसवदादि भलङ्कार होते हैं । 'रस है गुंफन रूपी व्यापार में जहाँ वह रसवत्' । प्रेय अर्थात् प्रियता, इसे भी गुंफन ही मानना चाहिए । इसी प्रकार ऊर्जस का अर्थ है बल वद, जिसमें रहता है वद [ऊर्जस्वत्], वह भी गुंफन रूप ही होगा । क्योंकि इसमें द्रष्टृति अर्जाचित्यमूलक होगी इसलिए इसके साथ बल शब्द जोड़ा गया । समाहित का अर्थ है परिहार वह इस प्रसंग में वक्त भेद विषयक ही शोभासिका दूसरा पर्याय प्रयोग होगा । यहाँ [आनन्दवर्धन के पूर्व के दण्डी मामद आदि] जिन आचार्यों के मत में वाक्यार्थोभूत रस आदि ही रसनदलङ्कार हैं, वहाँ अंगभूत रसादि के अंश में उदात्तालङ्कार माना जाएगा । किन्तु 'जिन [आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट] के मत में अंगभूत रस आदि को ही रसवदादि भलङ्कार माना जाता है वहाँ अन्य [वाक्यार्थो भूत रसादि] रस आदि की ध्वनि में चला आता है, अतः उदात्तालङ्कार के लिए कोई स्थान नहीं रहता । वह जहाँ हो सकता था वहाँ रस-वदादि को ही जाते हैं ।

विमर्शिनी

रसमविति । अत एवेति । चतुर्णामपि चित्तवृत्तिविशेषस्वभावात् । तत्रेति । युगपत्प्रणये स्थिते सतीत्यर्थः । विभावा ललनोद्यानभद्रयः आलम्बनोद्दीपनकारणानि अनुभावाः कटाक्ष-मुजलेपादयः कार्यः । व्यभिचारिणो निर्वेदादयः सहकारिणः । प्रकाशित इति । व्यञ्जितः । यदुक्तम्—'विभावानुभावस्य विचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति । रस्यादीत्यादिशब्देन हातादीनां स्थायिनां ग्रहणम् । निर्वेदादिरिति । यदुक्तम्—

'निर्वेदश्लानिवाङ्गुखास्तयासूयामदधमाः ।
आलस्यं चैव द्वैभ्यं च विष्ठा मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥'
श्रीढा चपलता हर्षं भावेगो जडता तथा ।
गर्वो विपाद औरसुषयं निद्राऽपस्मार एव च ॥
सुप्तं वियोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमधोप्रता ।
मतिभ्यांविस्तयोश्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्रेय त्रितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
व्यस्त्रिशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥' इति ।

वैभवादिविषयाणामानन्दवादानेकप्रकारत्वेऽप्येकप्रकार एव रस्यास्मा भावः । अत एव रस्यादिरित्यादिशब्दः प्रकारे । सः समुच्चये । यदुक्तम्—'रतिर्वेदादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः' इति, तथा 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः' इति । प्रदान्यद-वस्थेति । न तु ध्वंसरुपा प्रशान्तावस्थेत्यर्थः । तथात्वे हि सर्वत्रैव कस्यचिदप्रकृतत्वे सर्वे-पामन्यैर्पां प्रशान्तरवादेवंभावः स्यात् । ननूक्तप्रकारत्वेन परामृष्टस्य रसस्यापि कथं प्रशान्त्यदवस्था संगच्छत हस्याशङ्क्याह—तत्रापीत्यादि । परिशिष्टेति । भावउदाभास-तत्प्रशमविषय एवेत्यर्थः । एवामिति । रसभावतद्भासत्तरप्रशमानाम् । बलयोग इति । अनुचितेन चलाकारेणैव प्रवृत्तिः । प्रकृतत्वादिति । तेनात्र वस्वन्तरं प्रकृतमिति भावः । ननु च परविश्रान्तिरूपस्य काभ्यामनोऽलङ्कार्यस्य रसस्य कथमलङ्कारत्वं संगच्छत हस्याशङ्क्याह—तत्रैत्यादि । यस्मिन्दर्शन इति । ध्वन्यभाववादिनां मत इत्यर्थः । द्वितीय इति । ऐश्वर्यलक्षणात् । अन्यस्येति । यत्र वाक्यार्थोभूतो रसः । एवं ध्वन्यभाववादिसत्तं विषयद्वयस्य दृष्टान्तीकृत्य रसरसवदलङ्कारयोरनेन विषयविभागः कृतः ।

अङ्गभूतस्य रसादेश्चालंकारत्वं युक्तम् । तथा च यावन्नोपमादीनां सर्वालंकाराणां प्रकृतवस्तुपरञ्जकारवमलंकारात्वे निबन्धनम् अङ्गभूतेनापि रमेन तस्मिन्प्रकृत एव, प्रकृतस्य रसादेश्चालंकारत्वेन भावात्, अतश्चोपमादीनामलंकारात्वे चादृश्येव यार्ता तारस्येव रसादीनाम् । यद्यपि चोपमाद्योऽर्थालंकाराः, तथापि नस्य वाच्यार्थस्य विभावादिरूपता-पर्ययसाधिवत्त्वेनेति काव्यारमणो ष्यङ्गवस्य रसादेरेव तदलंकार्यत्वम् । किं पुनरतस्य शब्द-मुख्येनोपस्कारकाः शब्दालंकाराः, अर्थमुख्येन त्वर्थालंकाराः । तत्तद्व्ययवगतैरपि हि कट-कादिभिरचेतन आत्मैव तत्तत्त्वृत्तविवेचोपीचिरसूचनारमणयार्थालंक्रियते । तथा द्यचे-तनं शब्दशरीरादिकं कटकाद्येतेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् । अतश्च देहद्वारेण सर्वप्रारम्भैवालंकार्यः । परमस्यापि शब्दार्थशरीरशक्तन्मुख्येनैवालंकार्यत्वम् । तेन—

‘रसभावादितार रयंभाधिरप विनियेशनम् ।
अलंक्रुतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥’

इति हता रसाद्याधरेणैवालंकाराणां विनियेशनं ज्ञोवितम् । अतरहेहापि प्रकृतस्य वाच्यार्थोभूतत्वेन प्रधानस्य रसादेश्चालंकार्यस्याङ्गभावेन रसादेरलंकारत्वं युक्तम् । यदाहुः—

‘प्रधानतां यत्र रसाद्यो गता रसो रसादिष्वनिगोचरो भवेत् ।
भवन्ति ते यत्र रसादिपोपका रसाद्यलंकारदशा हि सा पृथक् ॥’ इति ।

अनु निर्वेदादीनां भावानां गर्भदासवरकदाचिदपि स्वप्राधान्याभावात्सर्वदा रसा-द्यङ्गत्व एव चरनिदेश्यमिति प्रधानेतरकदाद्याभावादेतेषां भावस्वियुद्धसन्निधावलता-प्रधानात्मतया कथमलंकारत्व वाच्यम् । तथात्वे द्यभिधीयमाने चरनिदेश्यमेवां न स्यात् । असदेतत् । इह हि निर्वेदादीनां प्रयी गतिः । तत्र ‘व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्यायी भावो रसः स्मृतः’ इति नीत्या विभावाज्जुभावस्पर्षयेषां रसस्यञ्जकारवमेका गतिः । तत्र च रसस्यैव प्राधान्याधिरतिदायप्रीतिकारित्येन फलवत्त्वात् फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्’ इति नीत्या रसस्यञ्जकारवमात्रेणैव कृतार्थधात्वात्सर्वेषां रसव्यक्तित्यतिरेकिकिञ्चित्प्रयोजनान्तरम् ।

‘नायं कञ्चुलिकाविमोक्षसमयः स्फुटो न काञ्चीगुणः
प्रकान्ता न मया विपर्वयतरतारम्भाय वा प्रार्थना ।
न श्वरकृतं कर्मथामि निविडं शोष्कन्दलीरन्धनं
तस्मिन्कारणमेव बालकवल्लीवह्नीव किं वेपसे ॥’

अत्रालम्बनविभाव उपा, वेपनादिरनुभावः, वितर्कश्च व्यभिचारिभावः । पूर्वां चात्र समस्पर्धितया रसस्यञ्जकारवमात्रमेव प्रयोजनम् । व्यक्तश्च रसः सचेतसां दत्तकत्र इति नैषां किञ्चिदन्तरम् । अत एव रसाद्यङ्गभूतस्य व्यभिचारिणः स्थिरयाधात्मचरनिप्रका-रत्वं भवतीति न वाच्यम् । तथात्वे चाभिधीयमाने निर्वेदादेः प्राधान्याभावात् चरनिष-पदेश एव न युक्तः । अप्रधानस्य प्रधानत्वाभिधाने विरोधात् । एवं च गुणीभूतव्यङ्ग्यस्या-पि चरनिष्यपदेश, केन प्रयुक्तः । क्वचिदपि ‘मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन’ इति नीत्या राजानुगतविवाहप्रवृत्तमृत्त्यवद्विभावव्यञ्जितानां रसगुणीभावेनैषामेव प्राधा-न्यम् । यथा—

‘इतश्चाद्रेमप्रगणसुकुमारा वरवधू
रितः श्वेच्छालम्भानुपमफन्मूला वनमही ।
इतो मीर्वाणादोन्मुखनिश्चलसैन्यो रणविधिः
क्व नामार्थं तादृकरलहृदयो रज्यतु जनः ॥’

‘अत्र विभावानुभावार्था व्यञ्जितः शृङ्गारादीनां रसानामप्रकृत्येन विघ्नान्तेच्छिन्ता-
ग्रयो व्यभिचारिभावः प्रधानम् । अत एवात्र भावस्थितेर्ध्वनिभेदत्वम् । एवं चात्र
चिन्तायाः शृङ्गारादीन् प्रति तदङ्गत्वाभावात् गुणीभावः । अत एव चात्र तत्परिपोषकत्व-
स्यात्, तदीयकार्याकरणात्, रसं प्रति गुणीभावाभावात् स्वेनैव च निरतिशयप्रीति-
कारिभवेन सचेतसां वृत्तफल्स्वात् निजप्रयोजनसांपादकत्वविरहात् राजानुगतविवाह-
प्रवृत्तभृत्यवन्मुश्यानापि रसाननादस्य चिन्ताया एव वाक्यतात्पर्यविषयत्वेन प्राधान्यात्-
अङ्गत्वम् । अत एव च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्न कश्चिद्विषय उपन्यासः । वक्षुश्चात्र सरल-
दृश्यत्वेनैकत्र तारपर्येच्छुभावान्तेकतरपञ्चाध्रयमिति न कथञ्चिदपि रसस्य प्राधान्यम् ।
नाप्येषां परस्परविरोधसंपिरेरिति व्यभिचारिभावस्यैव प्राधान्यम् । एवं च निर्वेदा-
दीनां गर्भदासप्रकृदादिपि प्राधान्यं [न] मषतीग्यपर्यालोचिताभिधाम् । गर्भदासस्या-
पि कदाचिदन्ततो गर्भदासीं प्रवृत्तिं प्राधान्यम् । प्रधानाप्रधानभावस्यापेक्षिकत्वात् ।
‘स्वपिदस्यपरस्याङ्गम्’ इति नीत्येषामङ्गत्वे प्राधान्याभावाद्लंकारत्वम् । यथा—

‘कचकुचचिनुकाग्रे पाणिषु ग्यापृतेषु प्रथमजलधिपुत्रीसंगमेऽनङ्गघानि ।

निचिदनिचिदनीवीप्रन्धिविचं सनेच्छोऽतुरन्धिककरासा शार्ङ्गिणो व । पुनातु ॥’

अत्र शृङ्गाररसस्याप्रकृतत्वात् गुणीभावेन वाक्यतात्पर्यविषयत्वेनोनिषद्मन्प्यासुस्यं
पशाङ्गिर्विषयां रतिं प्रति अङ्गमिति प्रयोऽलंकारः ।

ननु च यद्यपि परस्याङ्गत्वे सत्येषामलंकारत्वं तद् रसाङ्गभूत्वादेयां सर्वत्रैव तत्त्वं
स्यादिति चेत्, नैतत् । यस्मान्निमित्तान्तरेभ्यो लब्धसत्ताकस्याङ्गित्वस्य वस्तुन उपस्कार-
धायकतयाङ्गतामुपगच्छतामेयामलंकारत्वम् उपकार्यो परस्कारकवनिघनघनतयालंकार्या-
लंकरणभावस्योक्तत्वात् । रसादेः पुनः स्वरूपनिर्वृतये निर्वेदाद्योऽङ्गतामुपयान्तीति तत्रैवा
रसोपसर्जनीभूतत्वात् तद्व्यञ्जनमात्रमेव फलम् । अत एव तत्रैव पूर्वोक्तनीत्या न ध्वनि-
त्वम्, नाप्यलंकारत्वम् । रसव्यक्तिव्यतिरेकिप्रयोजनान्तरनिष्पावनत्वायोगात् । एवं
निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अङ्गत्वे ध्वनित्वम्, अङ्गत्वे चालंकारत्वमिति विष-
यविभागः । तस्मात्—

‘निर्वेदादीनां सर्वदैवाङ्गभावात् प्रयोऽलंकारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्यः ।

तस्मादेतेषां व्यङ्ग्यतायां ध्वनित्वं न प्राधान्यं क्वापि यस्माद्भजते ॥

पृथेन भावप्रशमादयोऽपि व्यङ्ग्यताः सद्ब ध्वनितो प्रयान्ति ।

ध्वनित्वमिदं यदि तर्हि तेषु न लक्षणीयस्तु समहितादिः ॥’

इत्यादि यद्भन्वेत्सर्वं तदुपेक्ष्यम् ॥

रसभाव इत्यादि । अतएव = क्योंकि चारों ही विचष्टितिविशेषरूप हैं । तत्र = अर्थात्

अत्र इन तदका लक्षण साध-साध करना है । विभाव ललना आदि आलम्बन कारण तथा प्रधान
आदि वर्दीपन कारण । अनुभाव कटाक्ष, भुजक्षेप आदि कार्य । व्यभिचारी = निर्वेद आदि
सहकारी । प्रकाशितः व्यञ्जित । जैसा कि [भरतमुनि ने] कहा है = ‘विभावानुभाव—व्यभि-
चारी-संयोग से रसनियमित [होती है]’ । इत्यादि = यहाँ आदि पद से दास आदि स्याधि-
भावों का ग्रहण होता है । निर्वेदादि, जैसा कि [भरतमुनि तथा लहरीं को कारिकाएँ उद्धृत कर
मन्मट ने] कहा है—‘निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, शय, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह,
स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेध, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार,
निद्रा, पवोध, अमर्ष, अवहित्य, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, प्रास तथा वितर्क’—ये
तेँतीस व्यभिचारी भाव हैं जिन्हें नामोल्लेखपूर्वक गिना दिया गया ।’ देवता आदि विषय अनन्त

हे अतः तद्विषयक रतिभाव अनेक प्रकार के हैं, फलतः उसका रतिरूप भाव के रूप में एक ही भेद गिना गया है। इसीलिए 'रत्यादि' = शब्द के साथ आया आदिशब्द प्रकार वाचक है। 'य'—समुच्चयार्थक है। जैसा कि [मग्गटमट्ट ने इसे इसी रूप में गिनाते हुए] कहा है—
'देवादि—विषयक रति तथा व्यञ्जित व्यञ्जिचारी भाव वहम्पना है' तथा 'उनके अभास होते हैं दण, जब वे अनेकत्व में निम्न होते हैं।' प्रशास्यद्वयव्या शा-त हो रही स्थिति, न कि ध्वसत्त्व प्रशान्त हो चुकी स्थिति। वैसा मानने पर वहाँ, जहाँ कोई एक भाव वर्णन हो जिन, शेष सब भावों का अभाव रहेगा उनको भावशान्ति माननी पढ़ जायगी। रम जिसका स्वरूप ऊपर बतलाया जा चुका है उस में भी क्या शान्तिस्थिति लागू होती है?—ऐसी शक कर उत्तर देते हैं 'नरापि०'। परिशिष्टेति = शेष भेदों के विषय में = भाव, रसभावभास तथा भावप्रशम के विषय में। पृथाम् = रस, भाव, दोनों के आभास तथा भावप्रशम के घटयोग = अनुचिन्नाकार द्वारा प्रवृत्ति। प्रकृतत्वात् = इनमें भाव यह निश्चय कि यहाँ अन्य कोई वस्तु प्रकृत रहती है। 'रस जो परविशान्तिस्वरूप है [जिसको प्रतीति के आगे कोई प्रतीति नहीं रहती] उसका अलङ्काररम सम कहें' ऐसी शक कर उत्तर देते हैं—'तत्र' इत्यादि। यस्मिन् दृष्टान्ते = जिस मत या सिद्धान्त में = ध्वनि न मानने वाले [दण्डी और चन्द्र] के सिद्धान्त में। द्वितीय = ऐश्वर्यस्वरूप। अम्यदय = अन्य अर्थात् उस पक्ष में अन्य जिसमें रस वाक्याधीभूत रहता है। इस प्रकार ध्वनि न मानने वालों के मत को दोनों विषयों का वृष्टान्त बनाकर इसके द्वारा रस और रमवदलकार का क्षेत्र विभक्त किया।

जो रस आदि अंगभूत होते हैं उनमें अलङ्कारता मानना उचित ही है, क्योंकि उपमा आदि सभी अलङ्कारों में प्रकृत वस्तु को शोभा बढ़ाने से ही अलङ्कारता आती है, और क्योंकि अंगभूत रस के द्वारा भी यह कार्य किया ही जागा है इसलिए कि उसके साथ प्रकृत रस [उपस्कार्य] अलङ्कार्य रूप से विद्यमान रहता है, अतः उपमादि में अलङ्कारत्व आने पर जैसी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति रसादि में है [अतः वे भी अलङ्कार कहे जा सकते हैं]। यद्यपि उपमा आदि अर्थ के अलङ्कार होते हैं [अतः अर्थ को ही उनका अलङ्कार्य मानना चाहिए] तथापि क्योंकि वह वाच्य अर्थ विभाव आदि के रूप में उपस्थित होता है अतः काव्य की आत्मा और अर्थ रूप से उपस्थित रसादि ही उस [उपमा आदि] का अलङ्कार्य ठहरता है। यहाँ तक कि शब्दालङ्कार भी शब्द के माध्यम से उठी [रसादि ध्वन्य काव्यारम्भ] के अलङ्कार होते हैं, इसी प्रकार अर्थ के माध्यम से अर्थालङ्कार भी। ठीक भी है। लोक में भी करक आदि रहते तो वन वन अवयवों में ही हैं, किन्तु वे उन उन विशिष्ट चित्तस्थितियों की सूचना देते और उसके द्वारा चेतन आत्मा को ही अलङ्कृत करते हैं। शब्द शरीर आदि अचेतन वस्तु कटक आदि से युक्त होकर भी अच्छे नहीं लगते, इसलिए कि उनमें अलङ्कार्य का अभाव रहता है। इस प्रकार सर्वत्र ही देह के द्वारा आत्मा का ही अलङ्कार किया जाता है। यहाँ [काव्यस्थल में] यह जो रसादि रूप आत्मा है, शब्द और अर्थ उसके शरीर होने हैं अतः उसका इनके द्वारा ही अलङ्कृत किया जाना उचित ठहरता है। इस प्रकार—

'सभी अलङ्कारों के अलङ्कारत्व का साधक है उनका प्रधानभूत रसभाव आदि की दृष्टि से उन्निवेश ॥ [ध्वन्यालोक २१५ संग्रहकारिका]

इस दृष्टि से रस आदि को लेकर ही किया गया निवेश अलङ्कारों का प्राण है। इसीलिए यहाँ भी रस आदि में अलङ्कारत्व तभी ठीक होगा जब प्रकृत और वाक्याधीभूत होने से प्रधान रस आदि अलङ्कार्य के प्रति अंग हों। जैसा कि [रत्नाकरकार ने भी] कहा है—

'जहाँ रस आदि प्रधान रहते हैं वहाँ रस रसादिध्वनि का विषय बनता है। किन्तु वे ही जहाँ रसादि के बोधक बनते हैं वहाँ रसादि [रसवदादि] अलंकार बन जाते हैं। उनकी यह एक भिन्न ही दृष्टा है ॥ [सू० १०९ कारिका] ॥

[रसनाकरकार का कहना है कि—] 'निर्वेद आदि [संचारी] भाव सदा रस आदि के अंग और ध्वनि के भेद के रूप में ही रहते हैं, क्योंकि उनकी अपनी प्रधानता उसी प्रकार कभी भी नहीं रहती जिस प्रकार यमदास [दासी ने गर्भ से उत्पन्न होने आदि के कारण जन्मतः दास] को इस प्रकार उनमें प्रधानता और अप्रधानता की दो कक्षार्थ ही नहीं बनती [एकमात्र अप्रधानता ही रहती है] सब [सर्वस्वकार द्वारा अगले सूत्र में] इन्हें भावस्मि, भावोदय, भावसन्धि, भावज्वला तथा भावप्रथम के रूप में अलंकार वैसे कहा जा रहा है [ये तो रस-ध्वनि के अवयव हैं अतः ध्वनि रूप ही हैं] वैसा मानने पर ये ध्वनिभेद सिद्ध नहीं हो सकेंगे। [द्रष्टव्य रसनाकर, रसवदलंकार श्रुति पं० १०-१५ पूजा संस्करण]। यह कथन ठीक नहीं है। स्थिति यह है कि निर्वेद आदि की तीन दृष्टाएँ होती हैं [अर्थात् ये तीन प्रकार के होते हैं] इनमें [मम्मटाचार्य के] 'उन विभाव आदि के द्वारा व्यक्त वह स्थायी भाव रस माना गया है' [काव्यप्रकाश-२ नृणास] इस वचन के अनुसार विभाव और अनुभाव के समान रस को व्यक्त करना इसकी एक दृष्टा है। यहाँ प्रधान रहना है रस ही, क्योंकि वही निरतिशय प्रीति उत्पन्न करता है अतः वही फलवान् [प्रीतिरूपो फल से युक्त] होता है। इस प्रकार 'फलवान का साथ होने से फलहीन उस फलवान् का अंग बन जाता है' इस नीति के अनुसार इन भावों का कोई ऐसा प्रयोजन नहीं रहता जो रस के प्रयोजन से भिन्न हो, इसकी इतिवर्तयता तो रसव्यञ्जना तक ही सीमित है, अर्थात् ये रस की व्यञ्जना कराने के उद्देश्य ही होते हैं। उदाहरणार्थ—

'अभी चोली हटाने का अवसर आया नहीं, करवनी छूट नहीं, मैंने विपरीत रति के लिए ही आग्रह किया नहीं, न तो यही चाह कि तुम अपनी सुखलता द्वारा मुझे धोओ, तो भी अकारण ही तुम बाललवलीवल्ली के समान काँप रही हो क्यों।'

इस पदार्थ में आरम्भन विभाव है तथा, कम्पन आदि अनुभाव हैं और विलकै है व्यभिचारी भाव। इन तीनों का प्रयोजन एकमात्र समान रूप से रस को व्यञ्जना करना है। रस स्थिति हो जाता है तो वही सहृदयों को [प्रीतिरूप] फल दे देता है, अतः इन विभावों का अन्य कोई फल नहीं रहता। इसलिए [रसनाकरकार को] यह नहीं कहना चाहिए कि ये संचारी भाव रसादि का अंग होते हैं और वे अपनी स्थिति आदि रूपध्वनिका प्रकार बनते हैं। [३० रसनाकर सू० १०९ पं० १६] यदि उन्हें अंग मतलबा आता है तो उनमें प्रधानता नहीं रहेगी और तब उन्हें ध्वनि कहना उचित न होगा। क्योंकि अप्रधान को प्रधान मतलबा विरुद्ध होगा। और यदि ऐसा है [अर्थात् अंगमूल संचारी को ध्वनि कहा जा सकता है] तो गुणोभूत व्यंग्य को ध्वनि कहने का निषेध क्यों किया ? [गुणोभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ शुभोभूत या अप्रधान रहता है इसीलिए उसे ध्वनि नहीं कहा जाता, क्योंकि ध्वनि में व्यंग्य अनिवाच्यतः प्रधान रहता है। यदि अप्रधान को भी ध्वनि मानना आरम्भ कर दिया जाए तो गुणोभूत व्यंग्य को भी ध्वनि मानना होगा]।

[निर्वेदादि की दूसरी दृष्टा वह होती है जहाँ] जहाँ ये [मम्मटाचार्य] की 'मुख्य तो रस ही होता है तथापि कभी कभी ये भी मुख्य बन जाते हैं'— [काव्यप्रकाश भा३ सू० ५१] इस वक्ति के अनुसार विभावानुभावों से व्यञ्जित होते और ठीक वैसे ही रसको अप्रधान बनाकर स्वयं प्रधान बन जाते हैं जिस प्रकार विवाह में दूधदा बना राजा का सौकर, राजा स्वयं जिसको पीछे चलता है। इसका उदाहरण है—

‘इष्ट प्रशयवाचना कर रही सुन्दर और सुकुमार वषू दे, और इष्ट वनभूमि है जिसमें अनुपम फल और मूल स्वेच्छालम्ब्य है और इस ओर प्रत्यञ्चा की गदगदाहृष्ट के लिए उद्यत सेना का युद्धकार्य है। अब उनमें अधिक चञ्चल चित्त का यह जन किसे चारे।’

यहाँ शृंगार आदि रस प्रकृत हो जाने नहीं, अतः वे अप्रधान है और प्रधान है विभाव तथा अनुभावों से व्यञ्जित चिन्तानामक व्यभिचारी भाव, क्योंकि उसी में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होती है और वही वाक्य का तात्पर्यविषय है। इसीलिये यहाँ जो भावस्थिति है वह ध्वनि है। इन प्रकार यहाँ चिन्ता गुणीभूत नहीं है। क्योंकि वह शृंगारादि रस के प्रति अग नहीं है और इसीलिये [रत्नाकरकार ने भावों के लिये जो कहा था कि वे] रस आदि की परिपोषकता कभी नहीं छोड़ने, सदा उन्हीं [रसादि] का कार्य करते हैं, रस के प्रति गुणीभूत रहते हैं, अपने आप कोई निरतिशयानन्द नहीं देते, अतः सहृदयों के लिए वे स्वयं फलदायक नहीं होते, वे उनका कोई अपना प्रयोजन निष्पन्न नहीं करते, [द्र० रत्नाकर सू १०९ पं० १५-२०] इन सबका [उपर्युक्त पद्य में आई] चिन्ता में अभाव है [अर्थात् रस की पोषकता का वसमें अभाव है, रस का कार्य वह नहीं कर रही, रसके प्रति वह गुणीभूत भी नहीं है, उसके लक्ष्य के द्वारा वह निरतिशय प्रीति दे रही है, अतः सहृदयों के लिए वह स्वयं फलप्रद है और इसीलिये उसका अपना स्वयं का प्रयोजन भी है] और इसीलिये वह [अन्यत्र] मुख्य माने जाने वाले रसों की भी अनाहत कर वाक्य का तात्पर्य विषय बन कर ठीक जैसे ही प्रधान और ततः अगो है जैसे विवाह में दूहा बना ऐसा सेवक जिसका स्वामी राजा होते हुए भी उसके पीछे चल रहा हो। और इसीलिये [विवाहप्रवृत्तभृत् के] इष्टान्त तथा दार्शनिक में [रत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित, (आगे दिया जा रहा)] कोई भी वैषम्य नहीं है। इस [पद्य इत्यादि] में वक्ता सरल हृदय का व्यक्ति है अतः उसका तात्पर्य किसी एक अर्थ में नहीं है, फलतः कोई एक पक्ष यहाँ नहीं अपनाया जा सकता, इसलिये [इसमें शृंगारादि] रस की किसी भी प्रकार की प्रधानता नहीं है। न तो इनमें [तीनों रसों की] सन्धि ही है क्योंकि वे परस्पर विरुद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ [चिन्तारूपी] व्यभिचारी भाव की ही प्रधानता है। [“ध्वनिकार आदि के रस कथन में कि भाव अब व्यक्त वाक्य के प्रति प्रधान और रस के प्रति अप्रधान होता है तब वह भावध्वनि ही कहलाता है जैसे विवाहप्रवृत्त भृत्” इन कथन में इष्टान्त और दार्शनिक में यह वैषम्य है कि दार्शनिक में तो भाव रस के प्रति गुणीभूत रहता है पर इष्टान्त-में भृत् विवाह के समय किसी के भी प्रति अप्रधान नहीं रहता। अतः] गर्मदास के समान निर्बेदादि भाव कभी भी प्रधान होते ही नहीं” [इस प्रकार रत्नाकरकार ने जो इष्टान्त-वैषम्य की मिथि के हेतु गर्मदास की ऐकान्तिक अप्रधानता का तर्क प्रस्तुत किया है] यह भी विचारणीय लक्ष्य है। गर्मदास भी कभी, अन्ततः गर्मदासों के प्रति ही प्रधान होता ही है। प्रधानत्व अप्रधानत्व तो सापेक्ष तत्त्व हैं।

[निर्बेदादि की तीसरी दशा वह है] जब ये कभी ‘कहीं ये दूसरे के अंग बन जाते हैं’ इन रीति से जब ये अग बन जाते हैं तो वे प्रधान नहीं रहने। फलतः अलङ्कार हो जाते हैं। इसका उदाहरण यह है—

‘समुद्र की पुत्री [लक्ष्मी] के प्रथम भ्रमागम, जो काम का धाम था, में केश, दोनों कुल तथा चिद्रुक (डुडू) के अग्रभाग में चारों हाव लग जाने पर, अत्यन्त निश्चिन्त नौवीं खोलने के इच्छुक विष्णु भगवान् की चार से अधिक हाथों की इच्छा भाव इय सबको पवित्र करे।’

इस पद्य में प्रयोज्यकार है क्योंकि इसमें शृंगाररस प्रकृत हो नहीं पाता, फलतः वह अप्रधान

रहता है, साथ ही वाक्य के तात्पर्यविषय के रूप में प्रस्तुत [अतः प्रधान] होने पर भी औत्सुक्य विष्णुविषयक रसि के प्रति अंग [अतः अप्रधान] है ।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यदि ये भाव दूसरे के अंग होने से अलंकारत्व को प्राप्त होते हैं तो ये सर्वत्र ही वहाँ [अलंकार] होंगे क्योंकि रस के अंग तो ये सदा ही होते हैं ।

[अर्थात् विभाव और अनुभाव के समान संचारी भाव भी रसव्यक्ति के लिए भावव्यक्त होते हैं अतः ये रस के कारण होकर सदा ही रस के अंग बने रहते हैं] ।

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ये तब अलंकार कहलाते हैं जब ये ऐसे किसी प्रधान तत्त्व का उपस्कार करते हैं, जो पहले से हो किन्हीं अन्य निमित्तों से निष्पन्न हो चुका हो । ऐसा इसलिए कि अलंकार्यालंकरणभाव उपस्कार्यापस्कारकभाव [उपस्कार्य = शोभनीय, उपस्कारक = शोभाजनक] पर निर्भर है जैसा कि बतलाया जा चुका है । अहाँ निर्वेद आदि रसादि के स्वरूप को निष्पत्ति में कारण बनते हैं वहाँ इनका फल केवल वन [रसादि] की व्यञ्जना ही होता है, क्योंकि ये रस के प्रति समर्पित अतः उपसर्जनीभूत अर्थात् अप्रधान या गौण रहते हैं । और इसी कारण ये न तो वहाँ ध्वनि होते और अलंकार ही [हाय पैर आदि शरीर के निष्पादक अंग हैं अतः न वे आत्मा के समान प्रधान हैं और कटक कुण्डल आदि के समान अलंकार ही ।] इसलिए कि इस स्थिति में ये रस की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रयोजन के निष्पादक बन नहीं पाते ।

इस प्रकार निर्वेद आदि रस की अभिव्यक्ति में होते हैं सहकारी, प्रधान होने पर होते हैं ध्वनि और अंग होने पर होते हैं अलंकार । यह है भावकी इन दोनों स्थितियों का अन्तर । इस कारण अन्य भाचार्य ने [रत्नाकरकार ने रसवदादि के ही प्रकरण में] जो—

‘निर्वेद आदि सदा ही अंग रहते हैं, अतः उन्हें लेकर प्रेय को अलंकार नहीं मानना चाहिए । इसलिये तब वे व्यंग्य होते हैं तो ध्वनि ही होते हैं क्योंकि इनमें कमी कहीं भी प्राधान्य नहीं रहता ।

‘इस कारण भावप्रशम आदि भी व्यंग्य होते हैं तो सदा ध्वनि ही हुआ करते हैं । और यदि इनमें ध्वनित्व मान्य है तो समाहित आदि को अलंकार नहीं कहना चाहिए ॥’ यह सब कहा है वह उपेक्ष्य ही है ।

विमर्श—रत्नाकरकार ने प्रेयोऽलंकार के लिए भाव की अंगता तो स्वीकार की है किन्तु उनके भाव का अर्थ है रत्यादि स्थायीभाव, संचारीभाव नहीं, जब कि ध्वनिवादी भाचार्य चिन्ता आदि की अंगभूत व्यंग्यस्थिति में प्रेयोऽलंकार मानते हैं । संचारीभावों को प्रेयोऽलंकार न मानने के लिए उन्होंने प्रधानरूप से यह तर्क प्रस्तुत किया है कि संचारीभाव रस को छोड़कर कमी नहीं रहते, अतः वे सदा ही इसके अंग रहते हैं । साथ ही वे रसके व्यञ्जक होते हैं और रसानुभूति में भी लूटते नहीं । पानकरसन्धाय से उनका भी अस्तित्व वहाँ रहता है अतः ये ध्वनिरूप रस से अभिन्न होने के कारण स्वयं भी ध्वनि हैं । इस स्थापना के आधारपर वे मम्मट और उनके अनुयायी सर्वस्वकार का खण्डन करते और कहते हैं कि उन्हें माबोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता तथा भाव को अलंकार नहीं मानना चाहिए । ये सब ध्वनियाँ ही हैं । उनका अन्य है—

‘भावस्य देवविषयस्य रथादेः स्थायिनः प्राधान्ये भावध्वनिः, रसाधत्तवे तु प्रेयोऽलंकारः ।
०० व्यभिचारिभूतस्य निर्वेदादेर्भावस्य गर्भदासवद्य कदाचिदपि स्वप्राधान्याभावात् सर्वदा

रसालङ्कारवेदमिषीयमाने भावस्थित्युदयसन्धिद्वयलताप्रशमास्फुटानां ध्वनिभेदानामभावः प्रसज्यते, तेषां भावस्थित्युदयादीनां ध्वनिस्त्वमेव । तस्माद् व्यभिचारिभावापेक्षया प्रियकर्तृत्वसमाहित-
माधोदयसन्धिद्वयलतानि न पृथगलङ्काराणि ।

इष्टान्तराष्टोन्निक की विषमता पर रत्नाकर की पत्तियों ऊपर उद्भूत पत्तियों के दो अचिह्नन सातत्य में थे हैं—

‘यद्युक्त यत्र वाक्यार्थोभूतानां रसादीनामुपस्कारका निर्देशादयस्तत्र प्रिय प्रभृतयोऽलङ्काराः, यत्र
॥ रसाद्युपसर्जनीभूतानामपि भावस्थित्युदयादीनां वाक्यतात्पर्येण राजानुगतविवाहप्रवृत्तभूत्पवनं माधान्यं
सत्र मावादिध्वनिरिति, तदस्य, निषमोपन्यामाव । तथा हि विवाहसमये निजप्रयोजनसंपादनार्थं
प्रवृत्तस्य भूयस्य न राजान प्रति गुणवत्, तस्योयानां तदोपकार्यकरणत् । प्रत्युत राजैव विवाह-
शोभोद्बलकनया स प्रति शुभोभूत्- । इह तु वाक्यतात्पर्यव्यवस्थेन प्राधान्येऽपि भावस्थित्यादे
रसादिपरिपोषकत्वात्प्राधान्यं निजप्रयोजनान्तरसंपादकत्वविरहाच्च न रसासपेक्षया प्राधान्यम् ।’

रत्नाकरकार ने एक पूर्वपक्ष और प्रस्तुत किया है तथा उसमें निर्देशादि की भी लेकर प्रयोऽलङ्कार की निष्पत्ति पर बल दिया है । वह यह है—

‘अथ प्रधानभूतरसाङ्कारवे भावस्थित्यादिध्वनिः, अन्याद्भूतरसादिपरिपोषकत्वे प्रिय प्रमुखा
अलङ्कारा इति चेत्, न, रसादेरेव हि प्रधानेतरभावे विशेषः, न तदुपकरणीभूतस्य भावादेः । न
ह्यन्योपमर्शनं स्वतन्त्रं वा स्वामिन प्रति पारतन्त्र्ये गर्भदास्य विशेषः कश्चिद् ।’

‘यदि माय प्रधान रसादि के अंग होने पर ध्वनि होते हैं तो अप्रधान भूत रसादि के अंग होने पर प्रिय, आदि अलङ्कार क्यों न मान लिए जायें । ‘अन्तर = प्रधानेतरभाव रसादि में ही विशेषना जाना है, न कि उसके साधनभूत भावादि में नहीं । किसी अन्य के प्रति समर्पित हो या न हो, उससे अपने मासिक के प्रति महा परतन्त्र गर्भदास में कोई अन्तर नहीं आता ।’ इस विषय का सारलक्ष्य करते हुए रत्नाकरकार ने योंव परिकरश्लोक बनाए हैं । इनमें से तीन तो विमर्शिनोकारने ही उद्भूत कर दिए हैं । उपर्युक्त विवेचन से सम्बन्ध एक पक्ष यह है—

‘रसादिगुणभूतयोरिव च वत्सवलङ्कारयो—

यथा ध्वनिरुपेयते न तु कदाप्यलङ्कारता ।

तमेव परिगृह्यतामिह च भावगान्ध्यादिपु

रपुटा तदवधारणामिति रसादिभेदस्थितिः ॥’

जिस प्रकार रस आदि के प्रति शुभोभूत वस्तु और अलङ्कार को ध्वनि ही माना जाता है, कभी भी अलङ्कार नहीं, इसी प्रकार यहाँ भावाभ्यादि में जानना चाहिए । अतः उन्हें रसादि से भिन्न मानने की स्थिति छोड़ दी जानी चाहिए । विमर्शिनोकार ध्वनिधात्री आचार्यों का समर्पण करते और कहते हैं कि पानकरसभ्याय से जहाँ भाव भी रसमौल रहते हैं वहाँ के अवश्य ही ध्वनिरूप रहते हैं तथापि वहाँ कहीं उनमें अद्विकता चलो आती है, जैसे पानकरस में ही कालीमिर्चया चीनी आदि की वहाँ वे रसरूपता का अचिह्नन कर आस्वाद वृत्त्या की अपनी दिशा में बहा ले जाने और स्वयं ही प्रधान हो जाते हैं । उनके उदाहरण भी हमके समर्पण प्रमाण हैं ।

[सर्वस्व]

तत्र रसघन उदाहरणम्—

‘किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुन प्राप्तश्चिराद्दर्शनं

केयं निष्करण प्रयासरचिता केनासि दूरीकृतः ।

स्वप्नान्तेष्विति वो घदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुबलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥'

एतन्मतद्वयेऽप्युदाहरणम् । वाक्यार्थाभूतोऽत्र कश्चो रसः । अङ्गभूत-
स्तु विप्रलम्भशृङ्गारः । एवं रसान्तरेऽप्युदाहार्यम् । प्रेयोऽलंकारादौ वि-
शेषमनपेक्ष्योदाह्रियते । प्रेयोऽलंकारो यथा —

'गाढालिङ्गनधामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमघ्नितग्धाम्भरा ।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र नायिकायां हर्षाख्यो व्यभिचारिभावः । यथा वा—

'स्वद्वक्त्राभृतपानदुर्ललितया दृष्टया क विश्रम्यतां
स्वद्वाक्यश्रवणाभियोगपरयोः श्राव्यं कुतः कर्णयोः ।
एभिस्तत्परिरम्भनिर्भरभरैरङ्गैः कथं स्थीयतां
कष्टं तद्विरहेण संप्रति धयं कृच्छ्रामवस्थां गताः ॥'

अत्र चिन्ताख्यो व्यभिचारिभावः । एष एव च भावालंकारः । भावस्य
चात्र स्थितिरूपतया घर्षणम् शास्त्युदयावस्थे तु वक्ष्येते ।
ऊर्जस्थी यथा—

'दुराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना ।
एतैराकुलितस्य विक्षततरैरङ्गैरनङ्गातुरैः
संपद्येत कदा तदासिसुखमित्येतन्न वेधि स्फुटम् ॥'

अत्र रावणस्याभिलापको विप्रलम्भशृङ्गार औत्सुक्यं च व्यभिचारि-
भावोऽनौचित्येन प्रवृत्तौ । समाहितं यथा—

'अक्षणोः स्फुटाक्षकलुपोऽक्षणिमा निलीनः
शान्तं च सार्धमधरस्फुरणं भ्रुकुट्या ।
भावान्तरस्य तव चण्डि गतोऽपि रोपो
नोद्गाढवासनतया प्रसरं ददाति ॥'

अत्र कोपस्य प्रशमः । एवमन्यत्राप्युदाहार्यम् ।

इतनें से रसवदलंकार का उदाहरण, यथा—

'ईंसी से क्या । बहुत दिनों के बाद दिखाई दिए तुम पुनः नहीं दिखाई दोगे । हे निष्करण,
यह कैसी प्रवासकचि, तुम्हें दूर किसने कर दिया —' सपनेमें प्रियतम के गले हाथ डालकर इस
प्रकार बात करती मापके शत्रुओं को धियाँ बागने पर अपना वाइयाश रिक्त देखती और
पुक्का फादकर रोती है ।'

यह दोनों ही मनों में उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ प्रधान है करुण रस और अङ्ग-भूत है विप्रलम्भ शृङ्गार। इसी प्रकार अन्य रमों में भी जानना चाहिए। प्रयोऽलंकार आदि में [दोनों मनों को] विशेषता की ओर ध्यान न देकर ही उदाहरण दिए जा रहे हैं।

प्रयोऽलंकार का उदाहरण, यथा—

‘यादृ भाङ्गिण से अब स्नन सिक्कूट गए और रॉम खिच उठे तो मिश्रिततम स्नेह और आनन्द के अतिरेक से जिसके सुन्दर निगमों का वस्त्र खिसल गया था ऐसी यह, ‘नहीं नहीं, अरे मानमजकू मेरे साथ अति न कर’ इस प्रकार लडखडाने अक्षर बोल रही यह सो गई है क्या, कहीं चञ्च तो नहीं बनी, मेरे मन में तो कही लीन विचोर्न नहीं हो गई है’।

यहाँ नायिका में हर्षनामक व्यभिचार भाव [समोग शृङ्गार का अङ्ग] है। और जैसे—

उसके वक्रामृत के पान की दुलारी यह दृष्टि कहीं टिकारें जाय, उसके वाक्य सुनने के लिए अभिनिवेशपरायण वे मेरे कान सुनने योग्य वस्तु कहीं से पाएँ, उसके भाङ्गिण से प्रकाम आध्यायिन वे मेरे अंग कहीं ठहरें। ओह! उसके विरह से हम बड़ी ही कठिन स्थिति में पहुँच गए हैं।

यहाँ विन्गा नामक व्यभिचारिभाव [विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग] और यहाँ है भावालंकार। इन उदाहरणों में भाव का वर्णन अस्तिस्वयुक्त रूप में है। शान्ति तथा उदय की अवस्था आगे बतलारें जाएंगी।

ऊर्जस्वी का उदाहरण यथा—

‘दूर से खींच लाने वाले मोहमन्त्र जैसा उसका नाम कान में आते ही चिप उसके बिना एक पल भी टिकता नहीं। मुझे यह सूझ नहीं पड़ रहा कि इन कामातुर और घायल अंगों से आहुत मुझे उसकी प्राप्ति का सुख कब मिलेगा।’

यहाँ [सींग के लिए] रावण को निम्न अभिभाषा से निष्पन्न विप्रलम्भ शृंगार तथा औरस्य नामक संचारीभाव अनौचित्य पूर्वक आगे बढ़े हैं।

समाहित का उदाहरण यथा—

आँखों में धूँट पड़े आँसुओं से मिश्रित अरुणिमा विहीन हो गई। मृदुली के साथ अपर की फड़क भी शान्त हो गई है। इस प्रकार हे कोपने! तेरा रोष इट गया है तब भी अन्य भाव को उदात्त वासनापूर्वक बढने का अवसर नहीं दे रहा। यहाँ कोप का प्रथम [शृंगार का अंग] है। इसी प्रकार अन्य [भावों] के उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

चिमांशिनी

पतन्मतद्रय इति। ध्वन्यभाववादिनां ध्वनिभाववादिनां च। तत्र ध्वन्यभाववादिमते कण्ठापेक्षया रसवदलंकारः, शृङ्गारापेक्षया तूदात्तम्। मतान्तरेण तु कण्ठाभिप्रायेण रसम्भ्रन्ति; शृङ्गारापेक्षया स्वयमलंकारः। अत्र यद्यपि राजविषयाया रतेरद्विवात्करुणोऽपि तद्वद्भव, तथापि तस्य शृङ्गारापेक्षयाङ्गित्वमाश्रित्यैतदुच्यते। करुणञ्च शृङ्गारोपशृङ्गतः प्रसी-पत इति तस्यालंकारत्वम्। प्वमिति। यथा मतद्रयमपि संगच्छत इत्यर्थः। तसु यथा—

‘का एवं रक्तपटावगुण्ठितमुखी मुग्धे तत्राहं सती

किं शून्यौकसि केवला निवससि स्वामागतान्नेषितुम्।

पतद्रयप्रमुदघ्नेति कथयन्त्यालोष्य कूर्चं ततः

पारयुः स्मेरमुक्तामृजस्य तरुणी ज्ञाता विलचेरिमता ॥’

अत्र वाक्यार्थभूतः शृङ्गारः, अङ्गभूतस्तु हासः । एवमिति सामान्येनाप्युदाहरणश्या-
तिपरं व्याख्येयम् । यथा—

‘पार्वत्या रचितं कपालिवृषभारुढं विलासाङ्गद-
ग्रन्थिवलान्तमहाहिलोषनलसञ्ज्वालं पिभाकाङ्कितम् ।
कन्दर्पापितदासनं कविवल्लोककालमर्धेन्दुमद-
भस्माङ्कं च पुनातु वो नवरसान् पुष्पवत् पुरारेवंपुः ॥’

अत्र भगवद्विषयाया रतेर्नैव रसा अङ्गम् । विशेषमिति । अङ्गाङ्गित्वेन । तेन ध्वन्यभा-
ववादिमतेनाङ्गाङ्गित्वमेवैवामाश्रित्योदाह्रियत इति तारपर्यम् । भावालंकारा इति । निर्वेदा-
हीनां भावानां । रस्ययात्मकतयोपनिषयमानत्वात् । कान्त्युदयावस्थेति भावस्यैवत्रापि
संपन्नधीयम् । अनेन चास्य समाहितादिभ्यो वैलक्षण्यं द्योतितम् । तेन यत्र भावस्य
द्वियतिस्तत्रापमलंकारः, अन्यथा स्वल्पेऽलंकारा इति । एवमिति । यद्येतद्बुदाहृतमित्यर्थः ।
अस्यत्रेति । अश्रित्यादिमते पृथामङ्गत्व इत्यमरः । तत्र प्रयोऽलंकारः ‘कथञ्च-’ इत्यादिना
व्यभिचारिभावापेक्षयोदाहृतः । देवताविषयस्यात्मभावोपनिबन्धे पुनर्यथा—

‘कण्ठेऽर्पयत्युरगपाशमसूयथा मे यामिन्यचीतसिद्ध यत्समये कृतान्तः ।
नूनं तदा सुहृरूपैमि ऋणीन्द्रहार स्वत्तुक्त्यतामिति भजे मरणेऽपि हर्षम् ॥’

अत्र भवद्विषयाया रतेर्मरणविषया इतिरङ्गमिति प्रयोऽलंकारः । ऊर्जस्वी यथा—

‘वन्दीकृत्य नृप द्विपां भृगुदशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रगमन्ति लाम्बित परितश्चुग्धन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुहृदैर्दृशां निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विश्वरता विपदोऽस्त्रिळास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥’

अत्र राजविषयस्य भावस्य प्रथमद्वितीयाधर्षघोरौ रसाभासभावाभासावङ्गम् । व्यभि-
चारिभावापेक्षया पुनरर्थं यथा—

‘द्विपां सवारण्यनिवासमीयुपां नितग्विनीनां निकुरग्यकं नृप ।
सुहृद्दुःखस्यध्रवलहिलांचनं न केन पृथ्वीपतिना निरोक्षितम् ॥’

अत्र सारवराणां परदारविषयमौस्तुव्यमनौचित्येन प्रवृत्तमिति भावाभासो राजविषयं
इति प्रत्यङ्गम् । समाहितं यथा—

‘अविरलकरवालकम्पनेभ्रुकुटीतजैनगर्जनेमुहुः ।
दृष्ट्वा तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेघने चणात् ॥’

अत्र राजविषयाया रतेरङ्गभूतस्य राजविषयस्य मदस्य प्रशमः । देवताद्विविषयस्या-
त्मभावापेक्षया पुनरर्थं यथा—

‘आयुधाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तयाम्भोधय-
स्तानेतानपि विभ्रती किमपि न कलान्तासि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण सुहृर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव-
स्तावद्विआदिमो स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥’

अत्र राजविषयाया रतेरङ्गभूतस्य भूविषयस्य रस्यास्यभावस्य प्रशाम्यत्वम् । अत एव
च समाहितं यदन्वैर्न लक्षितं तदत्यन्तमेवायुक्तम् । तन्मतेऽपि प्रयोऽलंकारवदस्याभावा-

वेद्ययास्य लक्ष्यमितुं युक्तवात् । अविचारिमावापेक्षया हि भवद्भिः प्रेषः प्रमृतीनामलंकार-
त्वं निरस्तम् । अदुष्कम्—‘तस्माद्भवमिचारापेक्षया प्रेषजर्जरिवममाहितमापोदयसंधि-
दाघलरवानि न नृयगलकाराणि चाप्यानि’ इति । तस्मान्नयन्मतेऽपि समाहिताशीनां लक्ष-
णीयत्व युक्तम् ।

एतन्मनद्वय = इन दोनों मतों में = अर्थात् ध्वनि न मानने वालों तथा ध्वनि मानने वालों
के मन में । इनमें ध्वनि न मानने वालों के मन में रसवदलकार करण को लेकर है और शृंगार
को लेकर उदात्त । अन्य मन में (ध्वनिमन में) इसके विरुद्ध करण को लेकर है रसध्वनि और
शृंगार को लेकर है अलङ्कार । यद्यपि इस पद्य में अगी है रात्रिविषयक रति, मन-करण भी उसके
प्रति भग ही है तथापि इसे शृंगार की अपेक्षा अगी मानकर ऐसा कहा गया है । करण जो है वह
शृंगार के द्वारा उपभूक्त होकर प्रतीत हो रहा है अतः वह [शृंगार] यहाँ अलङ्कार ही है ।
एवम् इती प्रकार = अर्थात् इन प्रकार दोनों ही मन उसमें लागू हो सके । इसका उदाहरण
यह है—

‘लाळ घूषट में मुँह छिपाए सुम कौन हो ? अथि सुत्थे ‘मैं तेरी सखी हूँ । ॥॥ लाळी मकान में
अकेली क्यों बैठी है ? तुझे खोजने आरंभ हूँ । यह मुँह तो (ऊँचा कर या) खोल !’—ऐसा कहकर
सुमकुटारने पति का दाढीमूँठ से चुक चेहरा देख कोई तरंगी अत्रिजत और मस्मित हो गई ।’

यहाँ प्रधान शृंगार है और हाम अग (अग्रधान) है । ‘एवम् = इस प्रकार = इसकी
अपेक्षा सामान्यरूप से भी की जानी चाहिए जिससे अन्य उदाहरणों में भा इसकी व्याप्ति हो सके ।
अन्य उदाहरण यथा—

‘मगन न् शिव का वह शरीर आप हम सबकी रक्षा करे, जो नवों रस को पुष्ट करता है क्यों-
कि [शृंगार के लिए] जो गोद में पार्वती जो को लिए है, [हास्य के लिए] घुपम पर आहट है,
[करण के लिए] जो विष्णुसाहज के रूप में गाँठ बाँधकर कम देने से बलन्त भुमगराज से युक्त
है, [रौर के लिए] जिसके कपाळनेत्र से उवाला निकल रहा है, [बोर के लिए] जो पिनाक
धनुष लिए हुए है, [मवानक के लिए] जिसकी आवा मानकर काम भाग रहा है [वीरमन के लिए]
जो [क =] सिर पर ककाल [नरकपाल] धारण किए हैं [अद्युत के लिए] जो चन्द्रमा की
कला लिए हुए है [तथा शान्त के लिए] जो मरम रमाए हुए है ।’

यहाँ नौ के नौ रस ॥॥ मगवान् शिव [के विषय] की रति के प्रति अगमूत है ।

विशेषम् = अज्ञातभाव । अभिप्राय यह कि इन्हीं उदाहरणों को ध्वनिविरोधियों के मन में
अगमिभाव के आधार पर घटाया जाता है ।

मावालङ्कार = क्योंकि इन पद्यों में निर्देह आदि भाव स्थितिगुक्त भावों के रूप में प्रस्तुत
किए गए हैं । ‘शान्ति अवस्था और उदवावस्था’—इसका मन्व अनन्तरोक्त भाव के साथ करना
चाहिए अर्थात् भाव की शान्ति और भाव का ही उदय । ऐसा कहकर समाहित आदि से मावालंकार
का अन्तर स्पष्ट कर दिया । फलतः जहाँ भाव की स्थिति रहेगी वहाँ यह अलङ्कार [मावालंकार]
होगा और अन्यत्र [भावप्रशमननित समाहित आदि] अन्य अलंकार ।

एवम् = इसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार उदयुक्त उदाहरण दिए गए हैं । अन्यत्र—अन्य
भावों के अर्थात् ध्वनिवादियों के मन में जहाँ ये अगमूत रहने हैं वहाँ । इस मन में प्रेषोऽलंकार
का उदाहरण ‘कवकुवचिज्जुकाप्रे०’ पद्य के द्वारा जो उदाहरण दिया ॥ वह व्यभिचारी भाव को
लेकर दिया था । देवविषयक रतिरूपी भाव को लेकर [जैसा कि रत्नाकरदार को मान्य है]
इसका उदाहरण यह होगा—

‘भगवन् शिव ! आप शोभ (असूया) में आकर [मुझे मार डालने के लिए] मेरे गले में अपना साँप बाँध रहे हैं जब कि मृत्यु आपका आशाकारी है, तब निश्चित ही हे फणीन्द्रहार ! मैं आपकी समता को प्राप्त होने वा रहा हूँ । और इसलिए मुझे मरने से भी हर्ष है ।

इस पद्यार्थ में मरणविषयकरति [या मरणेच्छा] मगवदिषयक रति के प्रति अंग है । अतः प्रेयोऽलंकार है ।

कर्जस्वी यथा—

‘आपके सैनिक’ शत्रुसुन्दरियों को बन्दी बनाते और उनके प्रियतमों के देखते-देखते उनका आलिंगन करते हैं, उन्हें [रतिलालसा से] प्रणाम करते हैं, पकड़ते हैं और हर कहीं चूमते भी हैं । इस बीच में आप अब पहुँच जाते हैं तो शत्रु लोग आपको स्तुति करते हैं—‘हे औचित्य के समुद्र, आप हमारे भान्य से हमारी आँखों के सामने आप, अब हमारी सारी विपत्तियों [आँखों के सामने अपनी स्थियों की दुर्दशा] नष्ट हो गईं !’

इस पद्य में प्रथमार्थ से व्यक्त रसभास तथा द्वितीयार्थ से न्यक्त भावभास [कविनिष्ठ] राजविषयक रति के अंग हैं ।

व्यभिचारिभाव को लेकर इस [कर्जस्वी] का उदाहरण यह है—

‘बनों में पड़े हुए आपके शत्रुओं की झुण्ड को झुण्ड स्त्रियों को बार-बार कनकली के पास घुमा-घुमाकर किस पस्कीपति [भोलों के गाँव के स्वामी] से नहीं देखा ।’

यहाँ शपथों में परस्त्री विषयक औत्सुक्य अनुचित है । अतः यह भावभासरूप है । वह राजविषयक [कविनिष्ठ] रति का अंग है ।

समाहित का उदाहरण, यथा—

‘बार बार तलवार घुमाने, मीँहें टेढ़ी करने और गरबने से आप के शत्रुओं में जो मद दिखाई दिया था वह आपके दिखाई देते ही क्षणभर में कहीं तो भी चला गया ।’

यहाँ राजविषयक [कविनिष्ठ] रति के प्रति अंगभूत अनुचित मद का प्रशमन बतलाया गया है । देवताविषयक रतिरूपी भाव को लेकर इस [समाहित] का उदाहरण यह है—

‘देवि ! पृथ्वि ! जो ये अस्यन्त लँचे पर्वत चारों ओर दिखाई दे रहे हैं, इसी प्रकार जो ये विशाल समुद्र हैं, इस प्रकार के इन्हें भी तुम धारण किए हुए हो और तनिक भी यकती नहीं,’ इस आश्चर्य के साथ जब तक मैं पृथ्वी की स्तुति करता हूँ तभी तक इसको भी धारण किए हुए आपके मुजदण्ड का स्मरण हो जाता है और सब वाणी अवरुद्ध हो जाती है ।’

इस पद्य में पृथ्वीविषयक रतिभाव राजविषयक रतिभाव का अंग है, और उसकी प्रशमावस्था घोषित की है । इसलिए समाहित का जो लक्षण अन्य भावार्थ [रत्नाकरकार] ने किया है वह सर्वथा अयुक्त है । [रत्नाकरकार ने समाहित को ध्वनिरूप ही माना है । जैसा कि ऊपर दिए उन्हीं के उद्धरण से स्पष्ट है] क्योंकि उन्हीं के मत में जो प्रेयोऽलंकार है जिसमें वे रतिभाव को अंग मानते हैं उसी के अनुसार यहाँ भी समाहित को अलंकार बतलाया जा सकता है । आपने तो प्रेय आदि में अलंकारत्व का निराकरण केवल व्यभिचारी भावों को लेकर किया है जैसा कि आपने ही कहा है—‘इस कारण व्यभिचारी भाव को लेकर प्रेय, कर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता को पृथक् अलंकार नहीं बतलाया जाना चाहिए’ [रत्नाकर सूत्र १०९ वृत्ति] । इस प्रकार उस पद्य [अत्युत्साः०] के अनुसार आपके मत में भी समाहित आदि में अलंकारत्व बतलाना उचित सिद्ध हो जाता है [अतः सर्वत्वकार का मत भान्य सिद्ध होता है और उस पर आपका खण्डन ही भवान्य] ।

विमर्दा—मर्वस्वकार, रत्नाकरकार और विमर्दिनीकार का परस्पर संपर्क रसवद्रादि के विषय में काफी स्पष्टता ला चुका है। सर्वस्वकार और रत्नाकरकार का भ्रमभेद केवल इतने ही अंश में है कि मर्वस्वकार केवल रसवत् को छोड़ प्रयोल्कार से लेकर भावशुभ्रता तक के इन सभी अल्कारों में भावशब्द से स्थायीभाव के ही समान संचारीभाव को भी अपनाते हैं, जब कि रत्नाकरकार इनके केवल रत्नादि स्थायी भावों तक सीमित रखते हैं। संचारी भावों को वे सदा ही अप्रधान और रसाग मानते और इसलिए उनमें अल्कारत्व स्वीकार नहीं करते। उनका एतद्विषयक विवेचन पहले दिया जा चुका है। विमर्दिनीकार सर्वस्वकार का समर्थन करते और संचारी भावों में भी आपेक्षिक प्रधानता स्वीकार करते हैं। संचारीभावों का उपमान गर्भदास रत्नाकर के मन में कभी भी प्रभाव नहीं होता, विमर्दिनीकार उसे गर्भदासी अर्थात् उसकी स्त्री के प्रति प्रधान बना देते हैं। रत्नाकरकार ने भी विवाहप्रभृत् श्रृंखला के दृष्टान्त में विषमता का दोष देते हुए कहा था कि मृत्यु जब दृष्टा बना रहता है और उसका स्वामी उसके पीछे चलता है तब वह केवल प्रधान ही रहता है। मृत्यु का अर्थ है अन्य किसी की भाषा मानने और उसका कार्य करने वाला। दृष्टा बना मृत्यु किसी की भाषा का पालन नहीं करता अतः उसमें प्रधानतामात्र रहती है अप्रधानता नहीं। विमर्दिनीकार की गर्भदासी और रत्नाकरकार का दृष्टा दृष्टान्तपक्ष में आपेक्षिक प्रधानता सिद्ध कर दार्ष्टान्तिक संचारों में भी आपेक्षिक प्रधानता [विमर्दिनी और रत्नाकर दोनों के आचार्यों के मत में] समान रूप से सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार प्रयोल्कार आदि में संचारी भावों का समग्र भी समर्थन पा जाता है।

हनिहाम—रसवद्रादि अल्कारों का इतिहास एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। संक्षेप में इसका इतिहास कला और अनुभूति के दो पक्षों में विभक्त मिलता है। प्रथम पक्ष की धारा कर्णों से आरम्भ होती और भाग्य के मध्यविन्दु से आगे बढ़ उन्नत तक पहुँचती है। इनके अनुसार रसवत् का स्वरूप इस प्रकार है—

[१] कला या वस्तुवादी आचार्य—

दण्डी—प्रेमं प्रियताख्यान रसवत् रसपेक्षम् ।

कर्णैश्च स्वरान्कार सुकोरुर्हर्ष च तद् जयम् ॥२१२७५॥

प्रियतर कथन [स्पष्टता चाहू या मति] प्रेम, रस से सुन्दर कथन रसवत्, रूढ अङ्कार से युक्त कथन कर्णैस्वी कहलाता है। इन तीनों में [वाच्यशोभास्वरूप] उरुर्हर्ष रहता है [अतः ये तीनों अलङ्कार कहे जा सकते हैं]। उदाहरण—

प्रेम—‘अथ वा मम गोविन्द जाता स्वधि गृहागते ।

काष्ठेनैव भवेत् प्रीतिस्तथैवागमनात् पुनः ॥

इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी भृतिः ।

प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेम इत्यवगम्यताम् ॥ २१२७६-७॥

मगवान् कृष्ण के पर आने पर विदुर ने उनसे कहा—‘हे गोविन्द आपके पधारने से जो आनन्द मुझे आज भाया है यह आनन्द मुझे दूसरी बार तभी प्राप्त होगा जब आप ही पुनः कभी पधारेंगे।’ यह कथन अपने प्रतिपाद्य के प्रतिपादन में सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि अन्य किसी प्रकार से ऐसी [भृति] चित्तवृत्ति व्यक्त नहीं हो सकती। क्योंकि इस कथन में प्रीति का प्रकाशन है अतः इसे ‘प्रेम’ नाम से पुकारा जा सकता है।

दण्डी ने प्रेम का ही एक उदाहरण और दिया है, जिसमें मगवान् अष्टमूर्ति की राजा रति-वर्मा ने स्तुति की है। कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग में ऋद्धदेव तथा बह सर्ग में शक्य मगवान्

शंकर की देवकृत स्तुतियाँ इसका वैसा ही अन्य उदाहरण है, जयका रघुवंश के दशम सर्ग में विष्णु भगवान् की स्तुति । स्पष्ट रूप से इस प्रकार के संदर्भ रतिभाव के व्यंजक हैं । जो रति कान्ताविषयक नहीं होती उसे प्रीति कहा भी जाता है । ध्वनिवादी आचार्यों ने इन संदर्भों को उद्धृत किया है, और इसमें भावध्वनि का अप्राञ्जल रूप स्वीकार किया है ।

रसवद = के लिए दण्डी ने अनेक उदाहरण दिए हैं । उन्होंने रस को ही रसवद माना है । शृंगार, रौद्र, वीर, करुण, भोमत्स, अद्भुत, हास्य तथा भयानक के उदाहरण प्रस्तुत कर वे उनमें से प्रत्येक के व्यंजक वाक्यसन्दर्भों को रसवद कहते गए हैं । उदाहरणार्थ शृंगार की रसवदा—

‘मृतेति प्रेम्ण संगन्तुं यथा मे मरणं मत्तम् ।

सैवावन्ती मया लब्धा कथमनैव अन्मनि ॥

सैवं रतिः शृंगारतां गता ।

रूपवाङ्मययोगेन तद्विदं रसवद् वचः ॥ २।२८०-२ ॥

उदयन वासवदत्ता के पुनः मिल जाने पर कहता है—‘मृत जान जिससे मिलने के लिए मैंने मरना ही एकमात्र उपाय माना था वही आवन्ती [वासवदत्ता] इसी जन्म में मिल गई यह आश्चर्य है । इस कथन में वासवदत्ताविषयक उदयननिष्ठ रति पुष्ट होकर शृंगार बन गई है । अतः यह कथन रसवद घटन है । इसके अनेक रूप होते हैं यथा—रौद्र, वीर, आदि । दण्डी के इस प्रकारण में केवल आठ ही रसों के नाम मिलते हैं । शान्त का नहीं । स्पष्ट है कि दण्डी सामाजिकनिष्ठ रसानुभूति को ही रस मानते हैं । उनकी स्थापना में नवीनता केवल इतनी है कि वे इसको भी काव्य का अलंकार मानते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि रसामिव्यक्ति की सामग्री प्रस्तुत करने पर भी काव्य में असामान्य विशेषता जैसे ही चली आती है जैसे उपमा आदि की सामग्री प्रस्तुत करने पर । इस विषय पर हमने अपना दृष्टिकोण अपने व्यक्तिविषय के हिन्दी-भाष्य की भूमिका तथा साहित्यतत्त्वविमर्श नामक एक संस्कृत शोधपत्र में स्पष्ट कर दिया है ।

ऊर्जस्वी = ‘अपकर्णाहमस्मीति इति ते मात्म भूद् भवन् ।

विमुक्षेषु न मे खट्वः प्रहर्तुं आतु वाञ्छति ॥

इति युक्तः परो युद्धे निरुद्धां दर्पशालिना ।

पुच्छे केनापि तच्छ्रेयमूर्त्स्वीत्येवमादिकम् ॥’

‘मैं तेरा अहित करूँगा देता मय तेरे मन में न आए मेरा उक्त युद्धपराङ्मुख पर नहीं चलना चाहता’—देता कह कर किसी दर्पशाली ने शत्रु को छोड़ दिया अतः यह ऊर्जस्वी कथन है ।

भामह = ने दण्डी के ही अनुकरण पर अभिव्यञ्जक सामग्री से युक्त शब्दार्थ को रसवदादि माना है । दण्डी की पदावली में ही रसवदादि का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा—

प्रेयः—‘प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा ।

अथ या मम—पुनः ॥ २५ ॥’

रसवद् = ‘रसवद् दक्षितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा ।

देवी समागमद् धर्ममस्करिष्यतिरोहिता ॥’ ३।६ ॥

वद् कथन जिसमें शृंगारादि रस स्पष्टरूप से दिखलाए गए हों । यथा देवी पार्वती व्यक्तरूप से ब्रह्मचारी वेपथारी शिव से मिल गई ।

ऊर्जस्वी = 'ऊर्जस्वि कर्णेन यथा' पापोय पुनरागतः ।

दिः स-दधाति किं कर्णं शक्ये'-त्यदिरपाकृत- ॥'

शाब्दबदाह द्वारा सर्वनाञ्ज करने वाले अर्जुन से बरका लेने के लिये कर्ण के बाण में प्रविष्ट और बाण के साथ अर्जुन पर छूटे किन्तु भीष्मण द्वारा अर्जुन की रक्षा कर लेने पर विफल होकर वापस लौटे सर्प के कर्ण से पुनः बाण चलाने का शक्यानुमोदित आग्रह करने पर कर्ण का यह कथन—'मैं एक बाण दूसरी बार नहीं चलाना'—ऊर्जस्वी है । स्पष्ट ही गर्वोक्ति ही इन आचार्यों के ऊर्जस्वी कथन है ।

आग्रह ने प्रेय और ऊर्जस्वी के लक्षण नहीं दिए क्योंकि इनका सकेत दण्डी ने कर दिया था, किन्तु रसवत् पर दण्डी ने जो आलंकारिक सकेत दिया था = 'रसपेशक', आग्रह ने उसे अवश्य ही स्पष्ट कर दिया है । उदाहरण भी उन्होंने दण्डी से लपटे दिए हैं । दण्डी के उदाहरणों में अभिव्यक्ति अधिक दिखीं थी । आग्रह के उदाहरणों में यह कसी डर, सक्षिप्त तथा सारपूर्ण है ।

वामन की काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में ये अलंकार नहीं मिलते ।

उद्धट = ने प्रेय, रसवत् और ऊर्जस्वी इन तीनों के लक्षण अधिक स्पष्टता के साथ दिए । इन लक्षणों की विशेषता यह है कि ये परवर्ती ध्वनिवत् से भी नहीं कटते । उनके विवेचन इस प्रकार हैं—

प्रेयः = 'ररपादिकानां भाषानामनुभावाद्सूचनेः ।

यद्य काव्य कथ्यते सङ्गिरतय प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥'

'रति आदि मार्यों के अनुभाव आदि की सूचना द्वारा जो काव्य प्रयित होता है वने विद्वज्जन प्रेयस्वत् कहते हैं ।' उदाहरण—

'इयं च सुनवाञ्जम्याङ्गिर्विदोषस्वहावनी ।

चत्वार्यप्यनुभावात्वा कुरवेर्म क्रोध आशयः ॥'

'पार्वती जी शृगपोत को अपनी गोद में लेकर पुत्रकारने लगीं, उनका प्रेम उसके प्रति पुनः प्रेम से कम नहीं था । लघुवृत्ति के अनुसार यहाँ 'गोद में लेने रूपी भांगिक अभिनय तथा पुत्रकारने रूपी वाचिक अभिनय'—इन दो अनुभावों, शृगपोत रूपी आलम्बनविभाव तथा औरस्तु क्यरूपी संचारी भाव से वारसत्पररूपी रतिभाव की प्रधानरूप से अभिव्यक्ति होती है । इस रति का वाचक 'स्वहा'-शब्द भी इस पद्य में आया हुआ है । अतः यह उक्ति प्रेयस्वत् से युक्त है । यहाँ प्रेय का अर्थ अधिक प्रियता ही है जिसे दण्डी ने प्रीति कहा है ।

रसवत् = 'रसवद्द्रवितस्वद्व्यङ्गारादिरसाद्यम् ।

स्वशब्दस्यायिसचारिविभावामिनयास्यदम् ॥'

—'द्व्यङ्गार आदि रसों के स्पष्ट प्रतिपादन से यह अलंकार रसवत् कहलाता है । इसमें रसका स्ववाचक शब्द स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव तथा अभिनयात्मक अनुभाव रहते हैं ।'

उद्धट की यह उक्ति केवल एक लक्ष्य को लेकर ध्वनिवादी आचार्यों की रसलक्षणकारिका से मिल्न है । वह है रसवाचक शब्द का कथन । ध्वनिवादियों ने इसे अनावश्यक ही नहीं रसा-पदबंध दोष भी माना है । उद्धट ने इसका जो उदाहरण दिया है उससे 'स्वशब्द' का अर्थ रति

या शृङ्गार आदि शब्द नहीं, अपि तु काम, कन्दर्प, मन्मथ, कामप्रिया आदि शब्द भी हैं। ये शब्द शृङ्गारप्रसङ्ग में कहाँ नहीं आते। उद्भट का उदाहरण यह है—

'इति भावयत्तत्स्य समस्तान् पार्वतीगुणान् ।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत् ॥
स्वियतापि च गात्रेण वभार पुलकोत्करम् ।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोत्करम् ॥'
क्षणमौरमुवयगमिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम् ।
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत ॥'

पार्वती के सभी गुणों पर ध्यान देते ही भगवान् शिव का अनल्प संकल्पों से समृद्ध कन्दर्प प्रबल हो उठा। उनके शरीर में स्वेद और रोमांच जैसे ही होने लगे जैसे कदम्ब की कली के कोश में केसर प्रकर। उनका चेहरा क्षण भर के लिए औरस्तुन्यमयी, क्षणभर के लिए चिन्तानिश्चल तथा क्षण भर के लिए प्रमोद से अलसाई दृष्टि से भुषित हो उठा। उद्भट के कुमार-संभव का यह स्थल रस की प्रबन्धसंगंधताके लिए ठीक उतना ही महत्वपूर्ण स्थल है जितना महत्वपूर्ण कालिदास के कुमारसंभव के तृतीय सर्ग का 'अदृश्यत स्यावरराजकन्या'—से लेकर 'इरस्तु किंचित्'—तक का स्थल, जिसे ध्वनिकार आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने ही नहीं, अनुमितिवादी महिमनट्ट ने भी समान रूप से रसयिच्छल तथा रस की सन्पूर्ण सामग्री से युक्त एक आदर्श स्थल माना है। रसनिष्पत्तिप्रक्रिया के इतिहास में उद्भट का यह निरूपण अत्यन्त महत्त्व रखता है। इससे स्पष्ट है कि रस की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित सामग्री और उसके अनुरूप काव्यशिल्प का जो रूप आनन्दवर्धन आदि पर्वती ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रस्तुत किया था वह उनके द्वारा समाहृत और उनके पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट में ही उसी रूप में उतनी ही पुष्कलता और उतनी ही समग्रता के साथ स्थापित और स्पष्ट हो चुका था। उद्भट ने उस रसवदविशेष के पश्चात् नवों रसों को भी गिनाया है—

'रसवद् ००० स्पष्टम् [७०८ ५०] ।
शृङ्गारहास्यकरुणरीद्रवीरभयानकाः ।
बीमासादमुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥'

इसमें एक विशेषता यह भी है कि यहाँ दण्डी द्वारा परित्यक्त शान्त का संग्रह भी समान रूप से एक साथ हो गया है। ऐसा कार्य मम्मट भी नहीं कर पाए हैं। उन्होंने शान्त को अलग रखकर पहले आठ रस गिनाए हैं। पश्चात् शान्त का समर्पण दबे स्वर में किया है। तथापि नाट्य में तो उसकी पुष्टि वे स्वीकार नहीं ही कर पाए।

ऊर्जस्वी = के विषय में भी उद्भट की स्थापना ही वह वेदिका है जिसे मम्मट आदि ने अपना आधार बनाया है। उन्होंने ऊर्जस्विता के लिए अनौचित्य को आवश्यक माना था। उद्भट ने इसे उनके पूर्व ही इस प्रकार स्पष्ट रूप से उपस्थित कर दिया था—

'अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात् ।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥'

'काम या क्रोध आदि के कारण उमड़े और आगे बढ़े भाव तथा रसों का कान्योपादान ही ऊर्जस्वी कहलाता है।'

ऊर्जस्वी पर दण्डी और मामह की दृष्टि अधिक न्यायक थी। कर्ण आदि की गर्भोक्तियों भी ऊर्जस्वी कथन ही हैं यद्यपि उनमें अनौचित्य नहीं है। अहंकार अवश्य है। अनौचित्य अहंकार

का कादाचित्क फल हो सकता है सार्वदिक और ऐकान्तिक फल नहीं। सीता जी की प्रणय-मिलु रावण के प्रति यह उक्ति—

‘वरणेनापि सन्धेन न स्पृशेयं निशाचरम् ।

राव० किं पुनरह कामयेयं निशाचरम् ॥’

‘तुझ निशाचर रावण को मैं चाहूँगी तो क्या ! मैं तुझ निशाचर को चापे पैर से भी छू तक नहीं सकती,’ कर्जस्वी उक्ति नहीं है, येसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि हम उक्ति में कोई अनौचित्य नहीं है। हमारी दृष्टि में तो वस्तुन ऐसे कथन ही कर्जस्वी के उदाहरण हो सकते हैं, मम्मट आदि द्वारा उद्धृत रावण आदि का सीता आदि के प्रति प्रेमयाचना का कथन तो एक प्रकार से कर्जस्वित्वाद्यन्त और विपरोन कथन है। कर्क का अर्थ सर्वस्वकार ने बल किया है। अहंकार अपनी बलवत्ता का अभिमान ही है। अपना अभिमान जतलाना अच्छा मले ही न माना जा सके, परन्तु अनुचित भी नहीं माना जा सकता। अतः अनुचित भाव तक ही कर्जस्वी को सीमित रखना परकीय और युक्तिशून्य भी है।

समाहित = के विषय में दृष्टी, मामूह और वामन के मत समाधि अलङ्कार के प्रकरण में दिए जा चुके हैं। इनके समाहित का भावप्रथम से कोई संबंध नहीं है। उसका स्वरूप हममें वही है जो मम्मट और सर्वस्वकार के मत में समाधिनामक अलङ्कार का। समाहित का जो स्वरूप मम्मट के अर्थप्रकाश और यहाँ सर्वस्व में मिलता है उसका पूर्वरूप उद्धृत ने ही स्थापित कर दिया था। इनके काव्यालंकारसाररुमह में इसका विवेचन हम प्रकार है—

‘रसमाधतदामासृष्टेः

प्रथमबन्धवम् ।

अन्यानुभावनिश्चयस्य च तद् समाहितम् ॥’

—‘रस, भाव तथा इन दोनों के आभास का प्रथम बतलाना समाहितालंकार कहलाता है क्योंकि इसमें अन्य रस आदि के अनुभाव का सर्वथा अभाव रहता है।’ लघुवृत्तिकारने इसका सापेक्षवाक्य इस प्रकार बनाया है—

‘यत्र पूर्वेषां रसादीनां वासनाया दादयेन तेषुपशान्तेष्वपि रसापन्तराणां न स्वरूपमाविर्भवति आविर्भवदपि वा कार्यवशेन वेनचित्तिरोधीयते तत्र समाहितालङ्कारो भवति ।’

—‘जहाँ पूर्ववर्ती रस आदि की वासना दृष्ट होने से उनके शान्त हो जाने पर भी अन्य रसों का स्वरूप आविर्भूत नहीं हो पाया, अथवा आविर्भूत होता हुआ भी कार्यवशात् किसी के द्वारा तिरोहित कर दिया जाता है उसे समाहित नामक अलङ्कार माना जाना है।

उदाहरण—‘अप्य क्षान्तां दृश दृष्ट्वा विभ्रमाश्व भ्रमे भ्रुवो ।

स्मरन्वरप्रदीप्तानि सर्वाङ्गानि समादधत् ॥’

भगवती पार्वती की कान्तिमती दृष्टि तथा विभ्रमवशात् धूमती भीहे देखकर शिवजी स्मरन्वरप्रदीप्त सभी अङ्गों को शान्त करते हुए पार्वतीजी के समीप पहुँचे। यहाँ लघुवृत्तिकार के अनुसार शिवजी द्वारा अपनी विचष्टि का छिपाया जाना प्रतिपादित है। वस्तुतः उद्धृत के इस विवेचन से भावदाग्नि का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, किन्तु इससे समाहित सामान्य अलङ्कारोंसे निकलकर रसवदादिके वर्ग में अवश्य ही चला जाता है। परवर्ती आचार्यों ने सचारी भावों की ही शान्ति मानी है, रसदि की नहीं। उद्धृत के पदवात् इस विषय में जिस आचार्य को स्थान दिया जाना चाहिये वे हैं आचार्य आनन्दवर्धन। इनसे वस्तुवादी या कथावादी दृष्टिकोण को

अनुभूतिवादी दृष्टिकोण का रूपान्तर प्राप्त होता है। ये रसवत् शब्द के स्थान पर रसालंकार शब्द ही देते हैं।

[२] अनुभूतिवादो व्याचार्य—

आनन्दवर्धन—‘प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राहं तु रसादयः।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥’ ध्वन्या० २५॥

‘जहाँ प्रधान कोर्ष और तत्त्व हो और रसादि हों अहं, हमारे मत में रसादि उसी काव्य में अलंकार होते हैं।’ आनन्दवर्धन की इस स्थापना से रसवदलंकार के क्षेत्र में प्रधानता और अप्रधानता का अध्याय जुड़ा। रस जब अनुभूतिरूप है और विश्रान्तिरूप भी, तब रस के आगे कुछ भी शेष नहीं रहता, फलतः रस किसी के अलंकार नहीं बनते। अतः अहंभूत रस की उपर्युक्त चर्चा में रस शब्द का अर्थ अहंभूत स्थायिभाव रखा जाता है। स्थायी भी आत्वाद के कारण रस के समान ही होता है अतः उन्हें भी रस कह दिया जाऊँ—

रसनाद् रसत्वमेवां माधुर्यादीनामिषोक्तमाचार्यैः ।

निर्वेदादिष्वपि तच्च प्रकानमस्तीति तेष्वपि रसाः ॥

इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त में रस कभी भी अलंकार नहीं बनता। दण्डी से लेकर सङ्घट्ट के सिद्धान्त में काव्य की उपादेयता में उपमा आदि के ही समान रस भी कारण है, अतः वह भी काव्य को अलं = पर्याप्त समृद्ध करने वाला होने से अलंकार है। रस और सौन्दर्य को व्यक्तिविवेककार ने अभिन्न माना है, अतः वाग्य के प्रसिद्ध सिद्धान्त ‘काव्यं प्राधान्यमलङ्काराद्, सौन्दर्यमलंकारः’ के अनुसार काव्य की प्राधान्यता का कारण बनने से सौन्दर्यरूप रस भी अलंकार बन सकता है। इस प्रकार ध्वनिवादी अनुभूति की भूमिका से निर्णय लेता है और ध्वनिपूर्ववर्ती आचायक व्यवहार की भूमिका से। हम नहीं समझते कि ये दोनों मत किसी भी प्रकार परस्पर विरोधी हो सकते हैं। भरे हुए शरीर में खादी भी शोभा पाती है और सूखे हाड़ पर उलम क्षीम भी फीका लगता है। सच यह है कि अलंकार्य भी अलंकार का अलंकारक होकर उसके प्रति अलंकार रहता है। कालिदास का उर्वशी के विषय में यह कथन कि वह ‘आभरणस्याभरणम्’ है तथा बहकलधारिणी शकुन्तला के लिए यह कथन कि ‘किमिव हि मधुराणां मण्डनं माहृतीनाम्’ इसी ओर संकेत देता है। नेपथ्यकार का ‘तरुणीस्तन एव शोभते मणिहारवलिदान्गीयकम्’ वाक्य तो इस तथ्यको अभिधा में ला उतारता है। अतः इन सापेक्ष तथ्यों पर स्याद्वादी दृष्टिकोण से अनेकान्ती समझीता ही ठीक होगा, ऐकान्तिक इदमित्थंभाव नहीं। कुन्तक अभिनवगुप्त और मम्मट ने ध्वनिकार के ही सिद्धान्त का समर्थन किया है। कुन्तक ने बकोक्तिजीवित के पृथीय लभेप में रसवत् पर अति विस्तीर्ण शास्त्रार्थ खड़ा किया है और अन्त में ध्वनिकार का मत स्वीकार कर लिया है। उनका सारा पौरुष ‘रसवत्’ शब्द की व्युत्पत्ति में लगा प्रतीत होता है। कभी वे दण्डी के ‘रसपेशल’ शब्द को अभिप्राय को खोजते हैं और कभी ‘रसवत् रससंश्रयात्’ वचन के। अन्त में वे ‘रसवत्’ में मत्तुप् न मानकर तुत्यार्थक वतिप्रत्यय मानते हैं और वे इसे इस प्रकार स्वीकार करते हैं—

‘रसेन वृत्तं तुल्यं रसवत्त्ववियानतः।

योऽलङ्कारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिमित्तः ॥ ३१५ ॥

—‘जो अलंकार काव्य में रसयुक्तता लाने से रसतुल्य प्रतीत होता है वह रसवत् कहलाता है। अलंकार इसलिए कि वह उसके वेत्ता को आनन्द देता है।’

इस वक्ति में 'रसवत्त्वविधान = काव्य में रसयुक्तता जाना' कहकर कुत्तक ने प्राचीन भाषाओं पर उठाए तर्कों के विरुद्ध आलङ्कार को स्वयमेव धराशायी कर दिया। इसी प्रकार पहले पहल तो कुत्तक ने ऊर्ध्वस्वी, प्रेषान् और समाहित में भी अलङ्कारत्व नहीं माना है, किन्तु बाद में उन्होंने 'रसवत्' के विषय में जो ग़ोह लिया है उससे उनके मतमें ये भी अलङ्कार सिद्ध हो जाते हैं। समाहितका जो उदाहरण सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किया है वह उन्होंने वक्त्रोक्तिजीवितकार से ही लिया है। ले दे कर वक्त्रोक्तिजीवित का रसवदादिसंग्रहण उनको विभिन्न व्याख्याओं का संग्रहण है, मूल मान्यताओं का नहीं।

समग्र—असलङ्कारकमन्यग्यच्चनि गिनाते इव लिखते है—

'रसमवितदाभासभावशान्त्यादिरकमः ।

भिल्लो रसापत्कारादलङ्कार्यतया स्थित ॥ ४१२ ॥

असलङ्कारकमन्यग्यच्चनि में रस, भाव, इन दोनों के आभास तथा भावशान्ति आदि आते हैं, किन्तु तब जब वे रसादि अलङ्कार से भिन्न हों और अलङ्कार्यरूप से स्थित हों। इसी कारिका को व्याख्या में देखें लिखते हैं—

प्रधानतया यन्त्र स्थितो रसादिस्त्रयालङ्कार्यैः '००' मन्वन्तु प्रथमे वाक्यार्थे यत्राज्ञभूतो रसादिस्त्रय गुणीभूतस्य लक्ष्ये रसवत्प्रयोजकैरिव समाहिताद्योऽलङ्काराः ।'

इसके उदाहरण उन्होंने पंचम उल्कास के गुणीभूतस्य लक्ष्य के प्रकरण में दिए हैं। क्योंकि ध्वनिवादी भाषार्थ रसवदापत्कारों को गुणीभूतस्य लक्ष्य मानते हैं।

रत्नाकरकार = वे समाहित से लेकर उल्लङ्घिता तक शेष सभी अलङ्कारों को ध्वन्यंग मान केवल रस, भाव और दोनों के आभासों को अलङ्कार माना है। उनका सूत्र है—

'रसभावतदाभासानी रसापत्कारे रसवत्प्रयोजकवैस्वीनि ॥ १०९ ॥

इसी को लम्बी व्याख्या, जिसके मुख्य अंश उद्धृत किए जा चुके हैं, के पश्चात् रत्नाकरकार ने जो पाँच समग्रलोक बनाए थे उनमें से चार उद्धृत किए जा चुके हैं शेष पाँचवाँ यह है—

'रसादेरङ्गित्वे ध्वनिरथ रसादीन् प्रति यदि
गुणत्व तदि त्वाद् रसवदनुगोऽलङ्कृतिगणः ।
गुणत्व काव्येर्ज्ञे ममति यदि बोदारचरितं
तद्योदासं भावस्थितिश्चलताद्यो ध्वनिरिति ॥'

रस आदि यदि, अगो हाँ तो ध्वनि और यदि रस आदि के प्रति अंग हों तो रसवदादि अलङ्कार होते हैं। यदि उदार पुरुषों के चरित वाच्य अर्थ में अंग बनें तो उदात्तालङ्कार होना है। भावस्थितिश्चलता आदि सदा ही ध्वनिरूप रहते हैं।

सम्पद्यदीपित—ने रसवत् आदि के समान भावश्चलता आदि सभी को अलङ्कार माना है, किन्तु उनके लक्षण नहीं बनाए हैं। केवल उदाहरणों द्वारा ही उन्हें स्पष्ट कर दिया है।

पण्डितराज—ने रसवदादि अलङ्कारों का स्ववन्त्ररूप से विवेचन नहीं किया किन्तु उनके द्वारा रसविषयक उदाहरणों के प्रसंग में स्पष्टीकरण के लिए दिए गए प्रत्युदाहरण पद्यों से यह तथ्य स्पष्ट है कि वे राजा भास्त्रि की स्तुति में रस आदि को अंग मानते हैं।

विरवेश्वर—ने अलङ्कारकौस्तुभ में केवल अर्थालङ्कारों का ही विवेचन किया है तथापि उन्होंने रसवदादि अलङ्कार भी इन्हीं अलङ्कारों में गिन लिए हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

'रसभावतदाभासे रसवत्प्रयोजकवैस्वी ।

शमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्व ज्वलन्ते ॥'

इसकी वृत्ति से स्पष्ट है कि ये अंगभूत रसको रसवत्, अंगभूत भाव को प्रेय, अंगभूत आभासों को ऊर्जन्वी तथा भावप्रशम को समाहित मानते हैं। साथ ही शबलता आदि को उर्ध्वी नामों से अलंकार रूप हो स्वीकार करते हैं। संज्ञोविज्ञोकार विधाचक्रवर्त्तों को निम्नकृष्टार्थकारिका इस पर वे हैं -

‘रसभावगुणीभावादनौचित्यप्रवृत्तिः ।
रसवत्प्रेयस्त्वस्विसमाहितचतुष्टयम् ॥
रसवत्त्वप्रियत्वाम्यामूर्जेः प्रशमयोगिनः ।
निबन्धनं रसवदाद्याख्यां संप्रतिपद्यते ॥’

[सर्वस्व]

[सू० ८४] भावोदयो भावसंधिभावशबलता च पृथगलंकाराः ।

भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, संधिः द्वयोर्विद्वयोः स्पर्धित्वे-
नोपनिबन्धः, शबलता च वहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनियन्धः । एते च
पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्ना अलंकाराः । एतत्प्रतिपादनं चोद्भटादिभिरेषां पृथ-
गलंकारत्वेनानिर्दिष्टत्वात् । अथ च संकरसंसृष्टिवैलक्षण्येनैते सर्वालंकाराः
पृथक्केवलत्वेनालंकारा इति सर्वालंकारशेषत्वेनोक्तम् । संसृष्टिसंकरयोर्हि
संपृक्ततयालंकाराणां स्थितिस्तद्वैलक्षण्यप्रतिपादनमेतत् ।

[सू० ८४] भावोदय, भावसन्धि तथा शबलता पृथक् अलंकार हैं ।

[सू०] भाव, जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है उसका उदय है उद्गमावस्था [उसकी]
सन्धि है दो विरोधियों का परस्पर स्पर्धी के रूप में उपनिबन्ध, तथा [उसकी] शबलता है
अनेकों का पूर्वपूर्ववर्त्तों को दबाते हुए रूप में उपनिबन्ध । ये पृथक् अर्थात् रसवत् आदि से भिन्न
अलंकार हैं । यह इसलिये कहा जा रहा है कि उद्भट आदि आचार्यों ने इन्हें पृथक् अलंकार के रूप
में नहीं बतलाया था [भावोदय आदि तीनों दण्ठी से लेकर उद्भट तक के ग्रन्थों में नहीं मिलते] ।
इसी प्रकार इन सभी [भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता] अलंकारों में संकर और संसृष्टि नहीं
होते, किन्तु ये अन्य अलंकारों के समान अपने आप में भी स्वतन्त्र रूप से पृथक् अलंकार होते हैं ।
इसलिये इन्हें [संकर और संसृष्टि के पहले और] अन्य सब अलंकारों के अन्त में रखा गया है ।
संसृष्टि और संकर में तां अलंकार मिलित स्थिति में रहते हैं । उनसे इनकी विलक्षणता [भिन्नता]
बतलाने के लिए यह कहा गया ।

विमर्शिनी

भावेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—भावस्येत्यादि । उक्तरूपस्येति । व्यभिचारिदेवादिरतिवेन
द्विप्रकारस्यैत्यर्थः । उद्गमावस्थेति । उद्गमावस्था न पुनरुदितेत्यर्थः । उदितायां हि भावस्य
स्त्रियायाःसकृदाप्रेयोऽलंकार एव स्यात् । एते इति । भावोदयभावसंधिभावशबलतास्त्रयोऽ-
लंकाराः । ननु च लक्षणस्य भिन्नत्वादेवैषां पृथक्त्वावगम इति किं तद्ग्रहणेनेत्याशङ्क्याह—
एतदित्यादि । अथ चेति पक्षान्तरे । सर्वालंकारा इति । पुनरुक्तवदाभासादिभावशबलान्ताः ।
केवलत्वेनेति । तस्यैवैकस्य वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात् । तस्मात् [केवलः,] अङ्गभूतैरलंकारा-
न्तरैरुपस्क्रियमाणो वा य एव यत्र वाक्यात् तात्पर्यविषयत्वेन प्रतीयते स एव तत्र
साक्षादलंकार इति भावः । अत एवात्र न संघटसंकरभ्यपदेशः । यतस्तयोरलंका-
राणां भिन्नत्वेनावस्थानं लक्षणम् । तदेवाह—संसृष्टीत्यादि । यत्तु पूर्वत्र कुत्रचिद्गुदाहरणेषु

संकराद्यलङ्कारवमस्ति, तच्चत्र संभवमात्रेण निर्देशनीकृतम् । न ॥ साक्षादलङ्कारवम् ।
तत्तत्र तथाविधस्योद्गाहरणस्य स्वयमेव लक्षणादग्युहः कार्यः ।

भाव इत्यादि । इसी की व्याख्या करने हैं—'भावस्य' इत्यादि । उक्तस्वरूप = जिसका स्वरूप बननाया वा चुकना है अर्थात् व्यभिचारिरूप तथा देवतारनिरूप से दो भेदों में । उद्गमावस्था = उद्गमावस्था, त कि उदित हो चुकना । उदित हो चुकने की स्थिति में तो ये स्थित्यात्मक होकर प्रयोञ्जकार होंगे । एते = ये भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशुद्धता नामक अलङ्कार । 'लक्षण अलग करने से ही इनकी पृथक्ता सिद्ध थी तब पृथक् शब्द देने की आवश्यकता क्या थी'—ऐसी शंका कर कहते हैं—'एतद्'—इत्यादि । अथ च = यह अन्य पक्ष प्रस्तुत करने हेतु कहते हैं । सर्वालङ्कारा = सब अलङ्कार = पुनश्चलक्षणापाठ से लेकर भावशुद्धता पर्यन्त [हमारी व्याख्या इससे भिन्न है] । केवलरवेण = अपने आप में—क्योंकि इनमें से अवेला एक ही अलङ्कार वाक्यार्थरूप में प्रकृत हो जाता है । इसका अभिप्राय यह कि जहाँ कहीं कोई अलङ्कार अगभूत अन्य अलङ्कारों से उपरकृत होकर भी वाक्य से उसके तारपर्यं विषय के रूप में प्रतीत होता है वहाँ वही अलङ्कार साक्षात् अलङ्कार माना जाता है । इसीलिए यहाँ मसृष्टि और सकर नाम नहीं चलते हैं, क्योंकि उनका लक्षण है अलङ्कारों की मिश्रित स्थिति । इसी लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'संसृष्टि' इत्यादि । पहले दिए [यथामस्य आदि अन्य अलङ्कारों के] उदाहरणों में जो कहीं सकर आदि अलङ्कार बतलाए गए हैं, वह उन [यथामस्य आदि] की समाधानामात्र बतलाने के लिए । वहाँ वे [यथामस्य आदि] साक्षात् अलङ्कार नहीं हैं । इसीलिए वहाँ स कर प्रकार के [साक्षात् अलङ्कारत्व के] उदाहरण लक्ष्य को देकर स्वयं ही खोज लेने चाहिए ।

विमर्श—पृथगलङ्कारत्वेनानिदिष्टत्वात् = के स्थान पर सभी प्रनियों में 'पृथगलङ्कारत्वेन निदिष्टत्वात्' पाठ मिलता है । उद्गत आदि में भावोदय आदि तीनों अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण नहीं मिलते । केवल रमय प्रेय और कर्जस्वी के ही मिलते हैं । यदि उन्होंने लक्षण दिए होते तो विमर्शनीकार भी उन्हें उद्धृत करते । मग्ग ने अवश्य उन्हें माना है और रस-वदादि से भिन्न ही माना है । मग्ग ने भी इन अलङ्कारों को अलङ्कार प्रकरण में न रख, गुणी-भूतव्यग्य प्रकरण में रखा था । 'धूमक' - शब्द इनकी स्वतन्त्र अलङ्कारता और उनकी अलङ्कारों में गणना की और संकेत करता है । इन तीन अलङ्कार को प्रथम बार सर्वस्व में ही अलङ्कार प्रकरण में पाया गया है ।

'अथ च—वैलक्षण्यप्रतिपादनमेतत्'—का अभिप्राय भी विमर्शनी में कुछ और है । संजीवितो में भी वैसी ही व्याख्या मिलती है । हमारी श्रुति में इन व्याख्यायों के अनुसार इस ग्रन्थांश को भावोदय आदि के उदाहरण के बाद रखा जाना उचित है । वस्तुतः यह ग्रन्थांश यह बतलाने के लिए कहा गया है कि इन अलङ्कारों को सभी अलङ्कारों के पश्चात् और सकर मसृष्टि के पूर्व क्यों रखा गया । अलङ्कारों के क्रम का निर्धारण ग्रन्थकार जिस हेतु से करते आए हैं उसका उल्लेख वे प्रायः प्रत्येक अलङ्कार में करते रहे हैं । यहाँ, यदि उक्त अंश का अर्थ विमर्शनी ने जता रखा लिया जाय तो, वैसा कोई हेतु नहीं रहना ।

[सर्वस्व]

तत्र भावोदयो यथा—

'एकस्मिञ्छयने विपक्षरमणीनामग्गहे मृग्धया

सगः कोपपरिपद्मभ्रपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।

आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूर्णो स्थितस्तत्क्षणा-
न्मा भूत् सुप्त इवेत्यमन्दचलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥'

अत्रौत्सुक्यस्योदयः । भावसंघिर्यथा—

'वामेन नारीनयनासुधारां कृपाणधारामथ दक्षिणेन ।
उत्पुंसयश्रेकतरः करेण कर्तव्यमूढः सुमतो बभूव ॥'

अत्र स्नेहास्थिरतिभावरणौत्सुक्ययोः संधिः । भावशबलता यथा—

'काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥'

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां भावानां शबलता ।
तदेते चित्तवृत्तिगतत्वेनालंकारा दर्शिताः ।

इनमें से भावोदय यथा—

'एक ही पलंग पर सोते समय सौत का नाम ले लेने से तुरन्त कोपन्कान मुग्धा ने प्रसन्न करने में लगे हुए प्रियतम को आवेग में आकर दुतकार दिया तो अब वह चुपचाप लेटा रहा तो उसे नायिका ने 'कहीं सो तो नहीं गया'— इस विकल्पसे बार बार प्रीति मोड़, मोड़ कर देखा ।'

यहाँ औत्सुक्य का उदय अनुभव में आता है ।

भावसन्धि [का उदाहरण], यथा—

'एक कोई सुमत वारं हाथ से प्रिया की आँसों की अश्रुधारा और दाहिने हाथ से कृपाण की धारा पोछते हुए कर्तव्य विमूढ़ था ।'

यहाँ स्नेहनामक रतिभाव और सुहोत्सुकता की सन्धि है ।

भावशबलता, यथा —

कहाँ अनुचित कार्य और कहीं चन्द्रवंश [वितर्क] वह पुनः एकवार दृष्टिगोचर होता [औरद्वन्द्व] दोषों को दवाने के लिए मैंने विद्याभ्यास किया है [मति], ओहो उसका मुखमण्डल कोप में भी कामितमान् रहता था [स्मरण] । निष्कलंक धीर पुरुष (मुक्षते) क्या कहेंगे [शङ्का] । वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई [दैन्य] । चित्त स्वस्थ हो जा [धृति], कौन होगा वह चन्य युवक जो उसका अधरपान करेगा [चिन्ता] ॥'

यहाँ वितर्क, औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति तथा चिन्ता [नामक संचारी भावों] की शबलता है ।

इस प्रकार ये चित्तवृत्तिगत अलंकार बतलाए गए ॥

विमर्शिनी

एतदुदाहरणत्रयं ध्वन्यभाववादिमतेन ग्रन्थकृतोपात्तम् । ध्वनिवादिमतेन पुनरुदा-
ह्रियते । तत्र भावोदयो यथा—

'साकं कुरङ्गकदशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि च प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थान् ॥'

संघटनाकृतं चास्तवान्तरं जायते, तद्वत् प्रकृतालंकाराणामपि संयोजने चास्तवान्तरमुपलभ्यते । तेनालंकारान्तरप्रादुर्भावो न पृथक्पर्यवसानमिति निर्णयः । अलंकारान्तरत्वेऽपि च संयोगन्यायेन भ्रुटावगमो भेदः, समवायन्यायेन चाभ्रुटस्त्वावगम इति द्वैधम् । पूर्वत्र संसृष्टिः, उत्तरत्र संकरः । अत एव तिलतण्डुलन्याय, क्षीरनीरन्यायश्च तयोर्यथार्थतामवगमयतः ।

अब इन सब अलंकारों के संदेह से निष्पन्न होने वाले दो अलङ्कार बन गए जा रहे हैं । इनमें संदेह दो प्रकार का होता है संयोग जैसा और समवाय जैसा । संयोग जैसा वह जिसमें भेद स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है । यही भेद जहाँ स्वरूप से विद्यमान नहीं रहता वह समवाय जैसा होता है । इनमें से उस भेदों के स्पष्टरूप से विद्यमान रहने पर [संदेह की] स्थिति तिलतण्डुल जैसी रहती है और दूसरे में क्षीरनीर जैसी । कम से इनके लक्षण बन गए जा रहे हैं—

[सू० ८५] इन [अलंकारों] का तिलतण्डुल जैसा मिश्रण संसृष्टि [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

[८०] उक्त अलंकारों [में से किन्हीं] का यदि कहीं किसी प्रकार एक साथ संयोजन हो जाए तो यह विचार उपस्थित होता है कि क्या वहाँ वे अलंकार अलग अलग स्वरूप रूप में अलंकाररूप में अनुभव में आने हैं अथवा वहाँ कोई मिश्र ही अलंकार होगा है । इस पर निर्णय यह होता है कि किस प्रकार सुवर्ण या मणि के बने हुए बाण [कौटिक] अलंकार स्वरूपरूप से पृथक् अलंकार होने हैं तथापि उनकी संघटना से एक अलग ही जामा होगी है वसी प्रकार इन अलंकारों के संयोजन में भी एक अलग ही चारणा उपलब्ध होगी है । इस कारण वहाँ मिश्र ही अलंकार का प्रादुर्भाव होता है, एक-एक अलंकार का स्वरूप अनुभव नहीं । मिश्र अलंकार मानने पर भी यों संयोग के समान [निश्चित अलंकारों में से प्रत्येक का] ज्ञान स्पष्टरूप से होता है, या समवाय के समान अस्पष्ट रूप से । इस कारण उनके भी दो भेद ही जाते हैं । इनमें से प्रथम में संसृष्टि और द्वितीय में संकर होता है । इसीलिए इन्हें [कमशः] तिलतण्डुल [चावल के मिश्रण] की उपमा और नीर क्षीर [के मिश्रण] की उपमा दी जाती है, इससे इनके नाम यथार्थ प्रतीत होने हैं ।

विमर्शिणी

अधुनेति माहावसरम् । एवामिति पूर्वोद्दिष्टानाम् । तदेति । अलंकारद्वये । तदेवेति । भेदश्च । स्फुटावगमस्फुटार्थं च सुस्पष्टमेव । अत एव तिलतण्डुलन्यायः, क्षीरनीरन्यायश्चेत्युक्तम् । एवामित्यादि । पत्रद्वेषोपशब्दयितुमुपक्रमते—उक्तैत्यादिना । तदेतत्पद्यमस्याद्दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेणांकारान्तरत्वमेव सिद्धान्तयितुमाह—तदेत्यादिना । संघटनाकृतमिति । एकत्रैव द्वयोर्यद्वानां अलंकाराणां युगपद्विनियोजनं संघटना, तथा कृतम् । तदुपस्थापितमित्यर्थः । चास्तवान्तरमिति । एकैकालंकारनिबन्धनात् प्रकृताचारवाङ्मयात् सातिशयमिति यावत् । उपलभ्यते—एवसंविधिसद्वत्तया साधारण्येन इत्यर्थः । तदेति । चास्तवान्तरोपलभ्येन । नहि विषयभूतालंकारातिशयमन्तरेणोपलभ्येतिशयो भवितुमर्हतीति भावः ।

ननु—शब्दायां अलंकाराणां संघटनामात्रेणैव कथमलंकारान्तरत्वमुक्तम् । सिद्धकथयत्वे- नैवामेकद्वयुपासरोहासंभवाच्चास्तवान्तरमावात् । तेषां हि संघटितत्वेऽपि—

‘अलंकारेषु चाशयं तद्बुद्धिं विमिश्रते ।

यस्य साधु मधुर्धमिष्ठुषीरगुदादिषु ॥’

इति नीरया भेदत्वेनैव चारुत्वावगमाद्भिन्नत्वमेव न्याय्यम् । नापि लौकिकालंकार-
वदेतेषां संघटनाकृतं चारुत्वान्तरमुपलभ्यते । नहि मौक्तिकपञ्चराशेन्द्रनोलादिबन्धु सचेतसः
कस्यचिदनुप्रासोपमादीनां परस्परं परमागो भासते । शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन
भिन्नजानीयत्वात् ।

असदेतत् । तथाहि खलु यथा पृथगवस्थितेषु न्यासीजलज्वलनरत(स ?)तण्डुलादिषु
च समताप्रत्ययः, समुदितेषु तु भवति, समग्रसंनिधानाद्व्यस्य धर्मस्य प्रत्यक्ष मुपा-
लम्भात्, तथैव भिन्नकषयाणामलंकाराणां संघटनावनेन पूर्वापरंकीकारेणैकबुद्ध-
धियोद्वाद्दुपलभ्यत एव कश्चन संसर्गो नाम यस्य संस्पृष्टसंकरव्यपदेशार्हत्वम् । अपि च
रूपभेदेऽप्यविच्छेदादेकत्वम्, 'चित्रपत्रक' इत्यादिनीत्या चित्रास्तरणादौ यथा स्व-
रूपस्य रूपान्तराद्वाद्वात्तत्वेऽपि विच्छेदावभासोदकघटशिलष्टाकारप्रत्ययः, चित्ररूपम-
प्येकमेव वस्तुरूपं भासते तथैव भिन्नकषयाणामलंकाराणां संघटमानत्वेन प्रतीतावे-
कतावसाय इति युक्तमेव संस्पृष्टाद्यलंकारान्तरत्वम् । इत्थादीनां च माधुर्यस्य भेदेऽपि
समीलनायां पानकादिसंनिष्पत्तादुपलभ्यत एव कश्चिद्भिन्निव्यातिशयः, तद्भेदेपामपीति
युक्तमलंकारान्तरत्वम् । न चास्य चास्ततिशयस्य शपथप्रत्येयत्वं वाच्यम् । एकग्रंथेकस्य
द्वयं'वहूनां घालंकाराणामवगमे यथायथमतिशयोक्त्यस्य स्वसंविश्लेषिकत्वेन वेद्य-
मानत्वात् ।

संघटमानत्वेन च प्रतिपत्तिरलंकाराणामेकरिमन्त्राद्ये तत्तच्छब्दसि वा भवति, न तु
कुलकादौ, विदूरतया तस्याभूतावस्थाः प्ररोहासंभवात् । यदाहुः—'वाक्यार्थभेदेऽप्येक-
श्लोकान्तरगतत्वेनालंकारस्यालंकारान्तरमाहित्यं प्रतिभास्येव । अविदूरत्वाद् विभिन्न
श्लोकगतत्वेन वाक्यभेदे व्यबहितत्वाच्च भवति संस्पृष्टः ।' इति ।

कुलकादावप्यलंकाराणां वाक्यैकवाच्यतया यद्यविच्छेदेन प्रतिपत्तिप्ररोहः स्यात् तदा-
त्रापि संस्पृष्टाद्युपगमने न कश्चिद् दोषः ।

ननु, समग्रताप्रत्यये चित्रज्ञाने वा स्याद्व्यादीनां चेन्द्रियग्राह्यत्वेन समानजातीय-
नामेकबुद्धधधिरुहादुपपद्यत एव सामग्रयादेरेकस्य वस्तुनोऽवगमः । इह तु भिन्नेन्द्रिय-
ग्राह्यत्वेन भिन्नजातीययोः शब्दार्थयोरेकबुद्धधधिरुहाभावात्तदलंकाराणां युगप्रतीतिरेव
नास्तीति कथमेकस्य संसर्गादेर्वस्तुनोऽवभासो यस्यापि संस्पृष्टाद्यलंकारान्तरव्यपदेश-
ार्हत्वं स्यात् । अत्रोच्यते—धोत्रकरणत्वाच्छब्दवावगमस्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्तदलंकारयोः सजा-
तीयत्वे तावदविवादः । अत एव च तयोरेकबुद्धधधिरुहाद् युगप्रतीतेः संसर्गावगमः ।
सति च संचये चास्ततिशयोपसर्जन इत्यत्र संस्पृष्टाद्यलंकारत्वम् । एवमर्थावगमस्यापि
शब्दकरणत्वात्समानजातीययोः संस्पृष्टत्वेन प्रतीयमानयोरेककारयोरपि ज्ञेयम् । शब्दा-
र्थयोः पुनरुपायभेदेऽपि तदलंकाराणां सुगन्धिवन्धूकबोधन्यायेन [मानसबोधन्यायेन]
मानसज्ञानविषयत्वाद्युपपद्वभासः सिद्धयतीति लौकिकालंकारवदेव शब्दार्थोभ्या-
लंकाराणांसंसर्गो लब्धपरभागत्वावभासत् एव चारुत्वान्तरमिति न्यायप्राप्तमेव संस्पृष्टा-
द्यलंकारत्वम् । यत्पुनरभ्यैः शब्दार्थयोर्भिन्नजातीयत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वं निमित्तमुक्तं
तदुपेयमेव । शब्दार्थशरीरे काव्ये शब्दप्रतिपाद्यैवार्थस्याद्भवात्तच्चरुिन्द्रियग्रा-
ह्यस्य ग्राह्यस्यानौपयिकत्वात् ।

यद्येवं पूर्वलक्षितानामनुप्रासोपमादीनामभावः स्यात्, असंकीर्णानामलंकाराणाम-

संभवात्सर्वत्र संसृष्टिसंकरयोरेव भावादीनां विषयापहारत् । नैतत् । असंकीर्णानामलंकाराणां सहस्रसो दर्शनाय । तथाहि—

‘यशोवर्माणमुकलंघ्य हिमाद्रिमिव आहूवी ।
 मुखेन प्राविशत्तस्य घाहिनी पूर्वसागरम् ॥ ४११४६ ॥
 उत्तराः कुरवोऽविष्टुस्तज्ञयाचन्द्रपादपान् ।
 वरयान्तकमप्रासाद्विलानीव महोरगा ॥ ४११४५ ॥
 जयार्द्रितघनः सोऽथ प्रविवेश स्वमण्डलम् ।
 भिन्नेभमीत्तिकापूर्णपाणिं सिद्ध इवाचलम् ॥ ४११४९ ॥
 राजतान्कापि सौवर्णान्कापि देवान्विनिर्ममे ।
 पारवेषु सुख्यदेवानां पार्थिवो घनदोषम ॥ ४१२०५ ॥
 तु त्तरश्चक्रुणक्षके स्वनामाह्विहारकृत् ।
 मूपचित्तोपमं स्तूपं भिन्नान् हेममयीस्तथा ॥ ४१२११ ॥
 ईशानदेश्या तपरन्या स्नाताम्बुप्रतिपादितम् ।
 सुधारममिव स्वच्छमारोग्यादायि रोगिणाम् ॥ ४१२१२ ॥
 संज्ञप्राह ह देशेभ्यस्ताम्नानन्तरविजनान् ।
 विष्टधान्युमनःस्नोमान्पादपेभ्य इवानिलः ॥ ४१२२५ ॥
 भनेघसारे मयि तु वयक्तमेवविष्टोऽपि ते ।
 प्रपामः कुण्ठतां यातो ओह वज्रमणाविव ॥ ४१२९८ ॥
 निदेशेनैव सपरय पच. सूतेऽथ मेदिनी ।
 रसितेनाम्बुषाहस्य ररन वैहृयंभूरिव ॥ ४१३०० ॥
 इत्युशवा सोऽभ्यु निष्कटं कुन्तेनोर्वामदारयत् ।
 वज्रिह्रीर्धुर्वितस्ताम्नः शूलेनेव त्रिष्टोचनः ॥ ४१३०१ ॥
 श्रुते प्रणष्टे नगरे निःशोकोभूममहीपतिः ।
 स्वप्नाभ्रहृरिते पुत्रे प्रबुद्धोऽप्र इवोचते ॥ ४१३१९ ॥
 जग्रथैः सर्वदा रथयः स्वभेदः प्रमविष्णुभिः ।
 चावाकाणामिवैषां हि भयं न परलोकतः ॥ ४१३४५ ॥

हरयादि राजतरङ्गिण्यां ललिताविरयवर्णने उपमायाः शुद्धमुदाहरणजातम् । एवमत्रै-
 वाद्यराजवर्णने प्रथमघान्तरेषु वा शुद्धाया उपमायाः क्रियान्विषय इति को नाम
 दर्शयितुमलम् । उपमैत्र चानेकालकारधीजमूलेति तद्विदर्शनमेव कृतम् । एवमन्या-
 छकाराणामपि सः स्रजश्रात्रोदाहरणत्वं ममघदपि ग्रन्थविस्तरमयाश्च दर्शितम् । तस्मादे-
 पामविषयार्थं प्रविरलविषयत्वं च न वाच्यम् । प्रविरलविषयत्वेऽप्युपमादीनां संसृष्टिसक-
 रयोरेव छपणीयतया प्राप्तिस्तावन्मात्रविषयस्वीकारावाप्येषां पृथग्लक्षयितुमुचितत्वात् ।
 एवं च ‘न संसृष्टिः’ । पूर्वहानाच्च चादत्वाभावाच्चेत्याद्युक्तमयुक्तम् । अत एव च
 ‘तस्मात्समस्तविषयप्रतिबन्धकारे संसृष्टसकरयुगे दलिते विद्वरम् ।

प्राधान्यतः स्वविषयं सुविशालमाप्य सर्वोऽप्यलंकारान्तराणां रमतां चिराय ॥’

हरयाशीर्वचनसूक्तमपि निष्प्रयोजनम् ।

नन्वेवं पणलकारान्तरत्वं युक्तं तदेक एव संसृष्टिः संकरो वास्तु, किं द्वाभ्यामिरयाश-
 ह्याह—[मलकारान्तरत्वेऽपि चेति ।] ध्योभोजदेवेन पुनर्भेदस्य स्फुटारस्फुटारवमाश्रित्य नाना-
 लंकारसंकरः संसृष्टिरिति संकीर्णमाश्रयिमायेण संसृष्टवाच्य एव एवालंकार उक्तः ।

अधुना = अब = अबसर जाने पर । एषाम् = इनके = पूर्वकथितों के । तत्र = उनमें = दोनों अलंकारों में । तस्यैव = उसके = भेद के । स्फुटत्व और अस्फुटत्व स्पष्ट ही हैं । इसीलिए तिलतण्डुलन्याय और क्षीरनीरन्याय प्रस्तुत किए गए । एषाम् = इत्यादि [सूत्र] । इसी का उपपादन करने का उपक्रम करते हैं—'उक्त'—इत्यादि द्वारा । इन दोनों पक्षों में से 'मित्र अलंकार' का पक्ष ही दृष्टान्त द्वारा सिद्धान्तपक्ष सिद्ध करने हेतु कहते हैं—तद्य इत्यादि ।

संघटनाकृतम् = संघटना से निष्पन्न—संघटना का अर्थ है दो या दो से अधिक अलंकारों का एक ही स्थान पर विनिवेश । उससे निष्पन्न अर्थात् उससे उत्पन्न । चारुत्वान्तर = एक एक अलंकार के निवेश से होने वाले चारुत्व से मित्र सातिशय चारुत्व । उपलभ्यते = उपलब्ध होती है = स्वसंविधि अपनी स्वयं की बुद्धि से प्रमाणित वस्तु के रूप में साक्षात्कार का विषय बनती है । तेन = इस कारण = मित्र चारुत्व के उपलब्ध होने के कारण । अभिप्राय यह कि यदि विषयभूत अलंकार में अतिशय न हो तो उसकी उपलब्धि में अतिशय नहीं आ सकता ।

शंका होती है कि—'शब्द और अर्थ के अलंकारों की संघटनामात्र को लेकर अलंकार में मिन्नता कैसे बतलाई गई, क्योंकि इनका ज्ञान मिन्न-मिन्न समय में होता है [साथ नहीं, परिणामतः] ये एक ज्ञान का विषय नहीं बन पाते, [परिणामतः] इनमें कोई मिन्न चारुत्व नहीं रहता । यदि इनमें संघटना मान भी ली जाए तो—

'अलंकार में चारुत्व, संविधिभूमिका पर उसी प्रकार सर्वथा मिन्न सिद्ध होता है जिस प्रकार श्लु, द्रुप, गुड आदि में माधुर्य ।'

इस बचन के अनुसार चारुत्वबोध मिन्नतापूर्वक ही होता है, फलतः [अलंकारों में] मिन्नता मानना ही उचित है । इसके अतिरिक्त इन [अलंकारों] में उस प्रकार संघटनाजनित मिन्न चारुत्व भी नहीं मिलता जिस प्रकार लौकिक अलंकारों में मिलता है । [जैसा कि ररनाकरकारने कहा है—] ऐसा नहीं है कि [सफेद] मोती, [लाल] पथराग और [नीले] इन्द्रनील आदि [की संघटना] के समान अनुप्रास [आदि शब्दालंकार तथा] उपमा आदि [अर्थात् अलंकारों] [की संघटना] में परस्पर में कोई परभाग [गुणोत्कृष्ट, मिन्न रंगों के मिश्रण से उत्पन्न विशिष्ट छवि] भासित नहीं होता । यह इसलिए कि शब्द जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है अर्थ उस इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता, फलतः दोनों विजातीय हैं ।'

[समाधान] यह [शंका] असत् = ठीक नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार स्याली [बटलोई], जल, अग्नि, रत (स) तथा चावल आदि जब अलग अलग रहते हैं तब उनमें समत्वबोध नहीं होता क्योंकि उनमें समग्रसन्निधान [अपेक्षित सभी पदार्थों का जुट जाना] नामक धर्म का स्वतन्त्र रूप से बोध होता है, किन्तु जब ये एकत्रित हो जाते हैं तब होने लगता है, उसी प्रकार अलंकार भी भले ही मिन्न मिन्न समय में प्रतीत होते हों, संघटनाशक्ति इनमें विद्यमान पूर्वापर भाव [आगे पीछे करके मिन्न मिन्न समय में प्रतीत होने लूपी धर्मों को] अभिन्न बना देती है । तब वे एक ही ज्ञान के विषय बनते हैं । इस प्रकार उनमें परस्पर संबन्ध भासित होता ही है जिसे संस्पृष्ट और संकर नाम से पुकारा जा सकता है । इसके अतिरिक्त रूप में भेद होने पर भी संबन्ध न टूटने से एकरूपता आ जाती है । जैसे 'चित्र-पत्रक' [विविध रंगों के बेलवर्तों से सुसज्जित फलक या काळीन] में । जिस प्रकार चित्रास्तरण [उपर्युक्त प्रकार के फलक या काळीन या रंगवल्ली जैसे मंडन] आदि में [रने] अन्य पदार्थों के आकारों से [उसका] अपना आकार मिन्न रहता है तथापि मिन्नता का भान नहीं होता, फलतः उदकघट [पूर्णकुम्भ] आदि से चित्रित रूप में हुए [चित्रास्तरण] का बोध होता है, [अर्थात्] वस्तु का रूप अनेक प्रकार का [चित्ररूप] होते हुए भी एक ही प्रकार का भासित

होता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होने वाले अलंकारों में भी संघटितरूप से प्रतीत होने पर एकरूपता का बोध होता है। इस प्रकार उनमें मंसृष्टि आदि को भिन्न अलंकार मानना ठीक ही है। जहाँ तक श्रुति आदि का सम्बन्ध है उनमें से प्रत्येक की मिठास अवश्य ही भिन्न रहती है तथापि सबके भिन्न होने पर पात्रकरण आदि नामक अन्य ही पदार्थ बन जाते हैं और भाग्यद भी नहीं ही होता है, उसी प्रकार इन अलंकारों में भी। इस प्रकार [सृष्टि स्रष्टा की] भिन्न अलंकार मानना उचित ही है। इनमें जो एक अतिशयोक्ति सौन्दर्य प्रतीत होता है उसको श्रुत्यप्रसंगे अर्थात्—'तुम्हें कमम है यदि तुम यद न करो कि मुझे हम वस्तु का ज्ञान हो रहा है—' इस प्रकार कमम लेकर सिद्ध की जाती वस्तु न मानें, क्योंकि जहाँ कहीं एक, दो या अनेक अलंकारों का ज्ञान होता है वहाँ सौन्दर्य बढ़ता हुआ अनुभव में आता है, इस प्रकार उनमें होने वाला सौन्दर्योत्प्रेक्ष्य स्वानुभवसिद्ध है।

अलंकारों में जो सघटना प्रतीत होती है वह एक ही वाक्य तक सीमित रहती है अथवा किसी भी एक छन्द तक, कुछक [अनेक पद्यभ्यां एव वाक्य] आदि तक व्याप्त नहीं, क्योंकि वहाँ प्रथम और अन्तिम ज्ञान में आयुष्म दूरी हो जाने से वह सघटना कम नहीं पाती। जैसा कि कहा है—'वाक्यार्थ में भेद हो जाने पर भी यदि श्लोक एक रहता है तो उसमें एक अलंकार का अन्य अलंकार के साथ सहभाव भासित होता है, क्योंकि वे दोनों दूर नहीं पड़ते, [किन्तु] श्लोक भी यदि भिन्न हो जाते हैं तो भिन्न वाक्य में रहने वाले अलंकारों का सहभाव नहीं रह पाता क्योंकि वे व्यवहित हो जाते हैं। फलतः वहाँ सृष्टि नहीं होती। [इससे निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि] यदि कुछक आदि में भी वाक्य एक ही रहे [बदले नहीं] और उसके बोध में अलंकार रहें तो वहाँ भी मंसृष्टि आदि स्वीकार करने में कोई दोष नहीं।

[पुनः] शंका होती है कि [उपलब्ध] सम्यग्ज्ञान या चित्रज्ञान में बटोरे आदि सभी पदार्थ एक ही इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते हैं, अतः वे समानभावीय हो जाते हैं, फलतः वे एक ज्ञान का विषय बन जाते हैं, और इसलिये उनमें समग्रता आदि एक भिन्न वस्तु का ज्ञान होना संभव है। [जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है] यहाँ दो शब्द और अर्थ भिन्न भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं अतः विजातीय होते हैं, अतः वे एक ज्ञान का विषय नहीं बन पाते, अतः एव इनके अलंकारों का भी एक साथ ज्ञान होना संभव नहीं होता। इस प्रकार इनमें [संसृष्टि =] समग्र आदि एक किसी [भिन्न] वस्तु का ज्ञान ही कैसे माना जा सकता है जिसे संसृष्टि आदि भिन्न अलंकार के नामसे पुकारने योग्य कहा जा सके। इस [शंका] पर [हमारा] उत्तर यह है—'जहाँ तक केवल शब्द के अलंकारों का सम्बन्ध है उनके आधारभूत सभी शब्द एक ही श्रोत्र इन्द्रिय से जाते जाते हैं। इस कारण इनके अलंकारों का ज्ञान भी एक ही इन्द्रिय से हो सकता है फलतः इनकी सजातीयता में तो कोई विवाद = मतभेद नहीं हो सकता। और इसीलिये कि इन अलंकारों का ज्ञान एक रूप होता है और इनकी प्रतीति एक साथ होता है इनमें संसर्ग नामक अतिरिक्त वस्तु का बोध भी माना जा सकता है। इसी प्रकार इन अलंकारों का 'संघट' = एकजानविषयत्व मान लेने पर इनमें सौन्दर्योत्प्रेक्ष्य [एक अतिरिक्त सौन्दर्य] भी व्यक्त होता माना जा सकता है, और इसलिये यहाँ संसृष्टि आदि अलंकार माने जा सकते हैं। इसी प्रकार अर्थ का ज्ञान भी शब्द के द्वारा होता है अतः उनके अलंकार भी सजातीय होकर संसृष्ट रूप से प्रतीत होने हैं फलतः उनमें भी संसृष्टि आदि अलंकार माने जा सकते हैं। जहाँ तक शब्द और अर्थ इन दोनों के सहबोध का सम्बन्ध है इनमें से प्रत्येक का ज्ञान तथापि भिन्न भिन्न उपायों [श्रोत्रेन्द्रिय तथा मन] से होता है [अतः ये अवश्य ही विजातीय हैं] तथापि उनके अलंकारों का ज्ञान ठीक उसी प्रकार एक साथ होना संभव है जिस प्रकार सुवर्ण वस्तु के ज्ञान में [सुगन्ध का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से

तथा पुष्प का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से होने पर भी क्योंकि इन्द्रियों मन से अधिष्ठित होकर विषय का ज्ञान करती हैं अतः] जो मानस ज्ञान होता है उसमें मन का विषय दोनों ही समान रूप से बनते हैं फलतः दोनों पदार्थों का बोध एक साथ हो जाता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के संसर्ग में लौकिक अलंकारों के ही समान विशेषता का लाभ होता ही है अतः उनमें एक भिन्न चरित्र का बोध भी होता ही है, और इसीलिए इनका संस्पृष्टि आदि नामक अलंकारत्व भी युक्तियुक्त है और [रत्नाकरकार आदि अन्य आचार्यों ने शब्द और अर्थ को विज्ञानीय बतलाते हुए यह हेतु दिया था कि दोनों का ज्ञान भिन्न भिन्न इन्द्रियों से होता है वह भी उपेक्षणीय है, क्योंकि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ के युग्म से जो बना हुआ माना जाता है। उसमें अर्थ शब्द से प्रतिपादित होकर ही अङ्ग बनता है। इसलिये अर्थ के उस रूप का काव्य में कोई उपयोग नहीं रहता जो बाह्य [अर्थात् अबीद] और [इसीलिए] चक्षुरिन्द्रियमाद्य होता है।

[रत्नाकरकार ने जो यह कहा है कि] यदि ऐसा है [अर्थात् उपर्युक्त क्रम से संस्पृष्टि और संकर को भिन्न अलंकार मान लिया जाता है] तो पूर्वलक्षित अनुप्रास और उपमा आदि का अभाव ही जायगा, क्योंकि ऐसा एक भी अलंकार न होगा जो असंकीर्ण हो, फलतः सर्वत्र संस्पृष्टि और संकर ही अलंकार मान लिए जायेंगे और उन [अनुप्रास उपमा आदि] का कोई स्थान ही न रहेगा—

यह ठीक नहीं, क्योंकि असंकीर्ण अलंकारों के सदृशों उदाहरण देखे जाते हैं और दिए जा चुके हैं। उदाहरणार्थ—

‘वस [ललितादित्य] की सेना यशोधर्मा को लौंकर पूर्वसागर में बैसे ही सुखपूर्वक जा बैसी जिस प्रकार हिमाचल को लौंकर गंगा ॥ रा० ० ४।१४६ ॥

उत्तर कुंज अनन्द के निवासी उसके भय से जन्म [जन्तु] पादपों [जन्तुपादप = केवडों में] उसी प्रकार जा घुमे जिस प्रकार गरुड के त्रास से बड़े बड़े सर्प बिल में ॥ ४।१७५ ॥

इसके पश्चात् जय से घन अंकित कर जुष्ण यह अपने राज्य में पहुँचा, जैसे विदारित गजों के भौक्तिकों से भरे हुए पंजे वाला सिंह पर्वत में पहुँचता है ॥ ४।१७६ ॥

तत्पश्चात् कुवेरतुल्य उस राजा ने कहीं चाँदी और कहीं सोने की देवप्रतिमाएँ मुख्य देव प्रतिमाओं के पार्श्व भागों में स्थापित कराई ॥ ४।२०५ ॥

सुःखार देश के निवासी चहुण ने, जिसने अपने नाम से अंकित [चहुणनाम का] विहार बनवाया था, राजा [ललितादित्य] के चित्त जैसे [सुविशाल] स्तूप और बैसी ही सुवर्ण की जिन प्रतिमाएँ बनवाई ॥ ४।२११ ॥

उस [ललितादित्य] की पटरानी ईशान देवी ने सुभारस के समान स्वच्छ तथा रंगियों को आरोग्य प्रदान करने वाला खाताम्बु [खोदे हुए तालाब आदि के जल] की व्यवस्था की ॥ ४।२१२ ॥

उसने उन उन देशों से उन्नती भीतरी विशेषता जानने वाले व्यक्तियों का संग्रह किया जैसे वृक्षों से खिले पुष्पपुञ्ज का संग्रह बायु करता है ॥ ४।२४५ ॥

[हे शङ्खमन्त्रिन् निर्बल मरुपय में प्रवेश कराकर एमें सेनासहित नष्ट करने का] तुम्हारा यह इस प्रकार का [स्वर्ग के नाक कान कटवाकर मेरे प्रिय बनने और अपने राजा के लिए मुझको ही मरुपय में भटकाने का धोखे का] प्रयास भी मुझ अग्नेषसार पर उसी प्रकार कुण्ठित हो गया है जिस प्रकार वज्रमणि [हीरे] पर लौह ॥ ४।२९८ ॥

देख, केवल भाषामान से [यही] पृथ्वी वैसे ही पानी पैदा कर देगी जैसे मेषजर्जन से वैदूर्य भूमि रत्न पैदा कर देती है ॥ ४।३०० ॥

[तुलनीय—'विदूरभूमिर्नैवैवशब्दादुद्भिन्नाया रत्नशुभाकयेव' कुमारसंभव—१] ॥

ऐसा कहकर पानी निकालने के लिए बाले से बसने पृथ्वी को उसी प्रकार विदारित किया जिस प्रकार बल निकालने के लिए शिवजी ने विनस्ता को शूल से विदारित किया था ॥ ४।३०१ ॥

[मदिरामद में ललितादाय ने प्रवरपुर को सुन्दरता पर श्रेष्ठी कर उसे बला डालने की आज्ञा मन्त्रियों को दी । मन्त्रियों ने उस नगर के पास फूम में आग लगाकर प्रासाद के ऊपर बैठकर देख रहे ललितादित्य को धूठा नगरदाह दिखला दिया । नष्टा बतारने पर दुःखी हो रहे सबसे मन्त्रियों ने प्रवरपुर के सुरक्षित रहने की वाग कही सी—] उस नगर को रक्षित सुनकर रामा का शोक हट गया, जैसे रवन् में पुत्र के अपहरण का शोक जागने पर उसे सामने खड़ा देख हट जाता है ॥ ४।३११ ॥

[वचरापय के विषय के छिप बहुत दिनों से निकले राजा ललितादित्य का उसके पास भेजे दूत के द्वारा मन्त्रियों को उसकी अनुपस्थिति में राष्ट्ररा के लिए सुझाया गया मन्त्र—] आप लोग यहाँ के राजाओं से अपना भेद रक्षित रखें । बाबाओं के समान उन्हें परलोक [शुश्रुष में पर = शत्रु, लोक = लोग] से मय नहीं है ॥ ४।३५५ ॥

श्यादि राजतरङ्गिणी में ललितादित्य के वर्णन में उपमा के शुद्ध [अलङ्कारान्तर ॥ अलंकार] उदाहरण है [अन्तिम पद्य में परलोकपद स्थित है तथापि वह उपमा का अंग है, स्वयं अलंकार नहीं] । इसी प्रकार इसी [राजतरङ्गिणी] में अन्य राजाओं के वर्णन के प्रसंग में अपवा अन्य ग्रन्थों में शुद्ध उपमा का क्षेत्र कितना व्यापक है हमें कौन दिखला सकता है । उपमा ही अन्य अलंकारों का बीज है इसलिये उसीके उदाहरण दिखलाए । इसी प्रकार अन्य अलंकारों के भी सहस्रो उदाहरण यहाँ बतलाए जा सकते हैं तथापि ग्रन्थगीरव के भय से उन्हें नहीं दिखलाया गया । इसलिये [अलंकाररत्नाकरकार आदि को] इन अलंकारों का अभाव या इनकी कमी की बात नहीं छठानी चाहिए । इसी प्रकार यदि उपमा आदि के स्पष्ट बहुत कम भी हो तब भी केवल संसृष्टि और संकर के ही उल्लेख करने की आवश्यक नहीं पड़ती, क्योंकि यदि इन [उपमा आदि] का क्षेत्र उतना कम भी मान लिया जाय तब इनका प्रत्येक उल्लेख तो बनाना ही होगा । इस प्रकार [अ० रत्नाकरकार ने]—'संसृष्टि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि हमें जानने पर पूर्वप्रतिपादित अलंकारों का अभाव मानना होगा और उसमें कोई प्रत्येक सौन्दर्य का भी अनुमन नहीं होता—' [सूत्र = १११] श्यादि जो कुछ करा या वह युक्तिहीन और अमान्य है । और इसलिये [अ० रत्नाकरकार का] संसृष्टि और संकर का खण्डन करने के पश्चात् बनाया गया जो]—

—'इस कारण सभी अलंकारों का अभाव कर देने वाले 'संसृष्टि और संकर'—इन दोनों का जब महीमति निराकरण कर दिया गया तब अब अपना-अपना विशाल क्षेत्र प्राप्त कर और उसमें प्रधानरूप से विद्यमान रहकर सभी अलंकार सदा के लिए आनन्द करें ।'

यह आशीर्वादात्मक पद्य है यह भी निम्नप्रयोजन सिद्ध होता है ।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपयुक्त क्रम से [अलंकारों के योग में] मित्र ही अलंकार मानना है तो 'संसृष्टि या संकर'—इन दोनों में से कोई एक ही अलंकार मान लिया जाय, दोनों क्यों माने जाते हैं । इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं—अलंकारान्तरत्वेऽपि च । यद्यपि महारान भोज ने [सरस्वतीकण्ठामरण ४।८८—९० में] नाना अलंकारों का स्फुटत और

अस्फुटव रस प्रकार दो भेदों से युक्त संकर ही संस्पृष्टि है—

[संस्पृष्टिरिति विशेषा नानालंकारसंकरः ।

सा तु व्यक्ता तथाऽन्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा ॥

तिलतण्डुलवद् व्यक्ता छायादर्शवदेव च ।

अन्यक्ता क्षीरजलवत् पांसुपानीयवन्च सा ॥

अव्यक्ता च संस्पृष्टिरनैरसिद्धवदिष्यते ।

मिश्रवर्णवदन्यस्मिन् नानालंकारसंकरे ॥ स० क० ४।८८-९० ॥

अर्थात्—'नाना अलंकारों का संकर संस्पृष्टि नामक अलंकार जानना चाहिए । यह संस्पृष्टि व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त इस प्रकार से तीन प्रकार की होती है । इनमें तिलतण्डुल सा संकर व्यक्त संस्पृष्टि कहलाता है अथवा दर्पण और प्रतिबिम्ब का । नीरक्षीर और मिट्टी पानी का सा संकर अव्यक्त संस्पृष्टि कहलाता है तथा नरसिंह या विश्रवर्ण के समान संकर व्यक्ताव्यक्त]— इस प्रकार संक्षीणतामात्र को लेकर संस्पृष्टि नामक केवल एक ही अलंकार बतलाया है ।

[सर्वस्व]

तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संस्पृष्टिस्त्रिधा । शब्दालंकारगतत्वेन, अर्थालंकारगतत्वेन, उभयालंकारगतत्वेन च । तत्र शब्दालंकारसंस्पृष्टिर्यथा—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया ।

चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोललक्ष्म्या ॥

अत्रानुप्रासयमकयोर्विजातीययोः संस्पृष्टिः । अत्रैव 'अलकलोलकलोल' इति, तथा 'कलोलकलोल' इति सजातीययोर्यमकयोः संस्पृष्टिः । अर्थालंकार-संस्पृष्टिर्यथा—

'देवि क्षपा गलति चक्षुरमन्दतार-

सुष्मीलयाशु नलिनीव सभृङ्गमञ्जम् ।

एष त्वदाननरुचेव विलुण्ठ्यमानः

पद्माम्बरं त्यजति निष्प्रतिभः शशाङ्कः ॥'

अत्र विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोः संस्पृष्टिः ।

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि धरतीवाखनं नभः ।

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलां गता ॥'

अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोर्विजातीययोश्च संस्पृष्टिः ।

उभयसंस्पृष्टिर्यथा—

'आनन्दमन्थरपुरन्दरमुकमाल्यं

मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य ।

पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु-

मञ्जीरशिक्षितमनोहरमम्बिकायाः ॥'

अत्रोपमानुप्रासयोः संस्पृष्टिः । पादाम्बुजमित्यत्र ह्यपमाया मञ्जीर-

शिक्षितयोगो व्यवस्थापकं प्रमाणम् । स हि रूपके प्रतिकूलः पारिवो-
प्यादुपमां प्रसाधयति । तदेवं संसृष्टिस्त्रिधा निर्णीता ।

दोनों में तिलतण्डुल के मिश्रण के समान होने वाली संसृष्टि तीन प्रकार की होती है—
शब्दालंकारगत, अर्थालंकारगत तथा उभयालंकारगत । इनमें शब्दालंकारगत संसृष्टि यथा वदन-
सौरभलोम इत्यादि पद्य [इसका अर्थ है]

—'मुख की सुगन्धि के लोम से घूमते झमर के भय से अधिक सुगोमिग हो रही अलकों के
साथ चंचल चितवन वाली अन्य किसी चंचल सुन्दरी ने सुन्दर मेखला का कलकल रव किया ।'
इस पद्य में [वदनसौरभलोम आदि पूर्वाध में] अनुप्रास और ['लकलोलकलो'—में उत्तरार्धगत]
यमक की संसृष्टि है जो दोनों मिश्र दो अलंकार हैं । इसी पद्य में 'अलकलोलकलो' में ['लकलो
लकलो'—यह] तथा 'कलोलकलोल' में दो यमकों की संसृष्टि है जो दोनों सजातीय हैं [अर्थात्
दोनों के लक्षण एक हैं] । अर्थालंकारसंसृष्टि जैसे—

'देवि । रात टल रही है, चंचल तारा वाली माँछ छोले जैसे नखिनी मँरे वाला कमल
छोल रही है । देखो यह शशाङ्क मानो तुम्हारे मुख की कान्ति से डूट कर निष्प्रभ होकर आकाश
छोड़ रहा है ।'—

यहाँ उपमा और उपमेधा की संसृष्टि है जो दोनों मिश्र मिश्र अलंकार हैं ।

'अन्वकार अगों को शीप सा रहा है, आकाश काबल बरसा सा रहा है । इष्टि असत्पुरुष
की सेवा की मूर्ति विफल हो गई है ।'—

[पूर्वाध में 'लिन्यतीव' तथा 'वर्षतीव' इन] दो उपमेधाओं की संसृष्टि है जो दोनों सजातीय हैं
[अर्थात् जिनके लक्षण अभिन्न हैं] साथ ही उपमा और उपमेधा की भी संसृष्टि है जो दोनों
विजातीय [परस्पर में] मिश्र अलंकार हैं दोनों [शब्दालंकार तथा अर्थालंकार] की
संसृष्टि, यथा—

'अम्बिका का, आनन्द से मन्थर पुरन्दर द्वारा पुष्पों से पूजित, महिषासुर के सिर पर बलात्
निहित तथा मज्जु मञ्जीर के शिबित से मनोहर पादाम्बुज हमारे लिए विजयप्रद हो ।'

यहाँ उपमा और अनुप्रास की संसृष्टि है । पादाम्बुज में [उपमितसमास के द्वारा 'पाद
अम्बुज के तुल्य' इस प्रकार] उपमा है, इसका निर्णायक प्रमाण है यञ्जीरशिक्षित का मंत्रण
[जो पाद में ही सम्भव है अम्बुज में नहीं, और पाद उपमितसमास में ही प्रधान हो सकता है,
विशेषणसमास मानकर रूपक मानने पर प्रधान होगा अम्बुजपदार्थ] जिसमें यञ्जीररत्न सम्भव
नहीं होगा । इस प्रकार] वह रूपक के प्रतिकूल है फलतः शेष बची उपमा की सिद्धि कराता है ।
इस प्रकार संसृष्टि तीन प्रकार की होती है यह निश्चित रहा ।

विमर्शनी

विजातीययोरिति । यमकानुप्रासयोर्मिथ्यलक्षणत्वात् । अत्र च प्रधानस्यानुप्रासस्य परि-
पोषकत्वेनाङ्गयमकमिति संकरोदाहरणं न वाच्यम् । अथ हि यमकसर्गस्योपक्रान्तात्वात्
तत्रैव कवित्तु, संरम्भातिशयाद्यमकस्य प्राधान्यमित्यनुप्रासस्य यमक प्रति परमद्भार्य युक्तं,
न पुनर्विपर्ययः । सकलवाक्यव्यापिनोऽप्यनुप्रासस्य प्राधान्येनाविध्वज्यात् । नाप्यत्र पर-
स्परमद्भाङ्गिभावो युक्तः । इह हि निमित्तनिमित्तिभावेनोपकार्योपकारकभावेन चेति
द्विधाद्भाङ्गिभावः । तत्राद्यो द्विधा । सार्वत्रिकः, प्रादेशिकश्चेति । तत्र सार्वत्रिको यथा
विभावनातिशयोक्तयोः । 'आरिष्टातिशयोक्तिस्तु सर्वत्रैव विभावना' इति इत्यादि विम ।

चनायाः सर्वत्रैवातिशयोक्त्यपेक्षत्वात् । प्रादेशिको यथा, श्लेषातिशयोक्तयोः । 'रजनीमु-
खम्' इत्यादौ स्वचिदेव श्लेषवशेनातिशयोक्तेरस्थानात्, 'कमलमनम्भसि' इत्यादौ श्लेष-
मन्तरेणापि तस्याः संभवात् । एतद्भेदहृत्वं च न संकरस्य विषयः । तस्य स्वहेतुबलाद्बन्ध-
सत्ताकानामलंकाराणां संसर्गे नवयमाणत्वात् । द्वितीयो यथा—'अङ्गुलीमिरिव' इत्यादौ ।
अत्र हि स्वस्वहेतुबलेन लक्ष्यसत्ताकानामुपमादीनां परस्परमुपकार्योपकारकत्वमात्रं येनाङ्ग-
ङ्गिभावः । न ह्यत्रोपमयोः परस्परं स्वरूपनिष्पत्तादपेक्षा काचिद् । एकतराभावेऽप्येकस्याः
स्वरूपोत्थानात् । एवमुपमाद्वयपरिहारेण केवलप्युत्प्रेक्षा स्यात् । स्थितानां पुनरेपामियं
चिन्ता यद्युभये केशप्रहणादेरुचितत्वाद्दुपमाद्युपकारकमुख्येष्वा चोपकार्या येनाङ्गङ्गिभावः ।
एवं च—'तेन प्रधानतायामुपमादीनां निर्जं निर्जं नाम ।

अत्राखे पुनरेपां संकरधीनाङ्गिभावेऽपी'त्याद्यन्वैरयुक्तमेवोक्तम् ।

इह पुनर्थमकानुप्रासयोर्न निमित्तनिमित्तिभावः । सर्वत्रैवानयोः स्वरूपनिष्पत्तावन्धो-
न्यानेपेक्षत्वात् । तत्त्वेऽपि समनन्तरौक्तयुक्त्या संकरायोगात् । न च स्वहेतुम्यो लक्ष्यसत्ता-
कयोरेष्यनयोः परस्परमङ्गङ्गिभावः, शब्दालंकारयोः शब्दबहुपकारकाभावात् । अयं
वर्णसावर्ष्येण वैचिन्त्यातिशयाभावात्त्वेनानयोपकार्योपकारकभाव इति चेत्, न ।
इयमेव हि संस्पृष्टिर्द्व द्वयोर्वहूनां बालंकाराणां परस्परनिरपेक्षानामपि संसर्गे सति चारु-
त्तातिशयप्रतिपत्तिः ।

एवमर्थालंकारसंस्पृष्टावपि संकरोदाहरणत्वं न वाच्यम् । न हि तत्रोपमोत्प्रेक्षयोः पर-
स्परमुपकार्योपकारकनावाद्यात्माङ्गङ्गिभावः । यद्येवं वृशदादिमादिवाचपवदनयोरसंयन्-
त्वं स्यादिति चेत्, न । चक्षुरुन्मीलनात्मके एतस्मिन्नेव प्रधानेऽर्थे द्वयोरपि संयन्त्वात् ।
न च पाकलक्षणमेकमेवार्थमुरोक्त्यथ व्यवस्थितानां त्याग्यादीनामप्यन्यः कश्चिसंबन्धः ।
अथोपमाङ्गिङ्गितम्य चक्षुरुन्मीलनस्योत्प्रेक्षारिलपः क्षणाङ्गान्वरत्यागः पारम्पर्येण हेतुत्वेनो-
पनिबद्ध इति स्वाश्रयभूतार्थवदनयोरप्यङ्गङ्गिभावोऽस्तीति चेत्, नैतत्, उपमाद्यङ्गि-
ङ्गानाभावेऽपि चक्षुरुन्मीलनादेर्हेतुहेतुमद्भावानतिपातात् अवस्थितये वा तचोरुक्तयुक्त्या
परस्परं सम्बन्धाभावात् । नाप्यत्रोपमाया वाक्यार्थत्वम् । तस्या अप्युत्प्रेक्षादिवचक्षुरु-
न्मीलनाङ्गत्वेनाश्वस्थानात् । अत्र हि चक्षुरुन्मीलनस्यैव वाक्यार्थत्वम् । क्षणाङ्गान्वरत्यागोप-
पादितस्य चापागलनस्य तं प्रत्येव हेतुत्वेनोपनिबन्धात् । एवं परं प्रत्युपसर्जनीभूतयोरवा-
न्तरसंयन्धाभावेऽप्युपमोत्प्रेक्षयोः संसर्गे सति चारुत्वातिशय इति पयोक्तमेव संस्पृष्ट-
दाहरणत्वं युक्तम् । एवम्—

'अभ्योभ्यसंतन्धविवर्जितानामलंकृतीनां विनिवेशनं चेत् ।

अनन्वितरवाद्दशदादिमादिवाक्यादिचद् दूषणमेव तर्हि ॥

अथान्वयोऽस्त्येव परस्परं तदगुणप्रधानत्वमवश्यमेप्यम् ।

तदा न संस्पृष्टिकया गुणस्य पराङ्गतायां सल्लु संकरः स्यात् ॥

एकत्र चेदङ्गिनि संगतं स्याद् हृत्वं तदन्योन्यसमीकनेन ।

न संकरोऽन्यापि नवा गुणत्वे कार्यान्तरोत्पादनशक्तिभङ्गात् ॥

इत्याद्यपेक्षणीयमेव । न चात्रोभयमप्यलंकार इत्याद्योऽलंकारसमुच्चय इति
वाच्यम्, 'धर्मयोगपद्यमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चय' इत्युक्त्यां भवन्मतेऽ-
प्यलंकारयोगपद्यस्य तल्लक्षणत्वाभावात् । तथात्वाम्भुपगमे चायं नाग्नि विवादः ।
एवं हि संस्पृष्ट्या किमपराद्धम् । अत्र 'चोद्यं करिष्यामि' इत्याशयेन 'सजातीय-
योऽपमयोः संस्पृष्टिरित्यशुद्धं पठित्वा यदन्यैस्त्वत् तदुपेक्षयमेव । अत्र हि

विजातीययोरुपमोत्प्रेचयोः ससृष्टिरिति सर्वत्रैव सुस्पष्टः पाठः । उत्प्रेक्षयोरिति । प्रथमार्धगतयोः । यद्यपि चानयोर्द्वितीयाध्वगतयाभ्युपमया संसर्गं ससृष्टिरेव, तथापि विजातीययोरुपमोत्प्रेचयोरुदाहृतत्वात् सजातीयमिप्रायेणैवमुक्तम् । नाप्यत्रोत्प्रेचाद्भ्य-
मुपमाहेतुभूतमिति वाच्यम्, त्रयाणामप्यलंकाराणां चात्रयार्थाभूतं तमोवाद्भ्यं प्रयङ्गत्वात् । अथससृष्टिरिति । अनुप्रासोपमयोः द्वाद्वार्पालंकारत्वात् । व्यवस्थापकमिति । भञ्जीरनिञ्जितयोगस्य पादगतत्वेनौचिण्यात् । प्रतिक्रम इति । अनुप्रासस्य भञ्जीरनिञ्जिता-
योगात् । पारिशेष्यादिति । उपमारूपकाम्यामन्यस्याभाप्तेः । एतदेवोपमंहरति—तदेव-
मित्यादि । विधेति । यद्यपि सजातीयविजातीयत्वेनान्यद्व्यवस्थाः संभवति भेदद्वयम्, तथा-
पि तदुद्दिष्टव्यंवान्तर्भवतीति यद्योक्त एवायमुपमहाराः ॥

विजातीय = क्योंकि यमक और अनुप्रास के लक्षण भिन्न भिन्न हैं । [रत्नाकरकार ने इस 'वदनसौरम' पद्य में संकरालंकार मानते हुए कहा है कि] 'यहाँ अनुप्रास प्रधान है और यमक उसका परिपोषक है अतः उसका अंग है अतः यहाँ संकर है'—येसा [उन्हें] नहीं करना चाहिए । यहाँ तो यमक ही का उपक्रम है, क्योंकि कवि का अतिशय सरम्म लती पर है । अतः यमक ही प्रधान है । इस कारण [अंगाङ्गिभाव ही बतलाना है तो] अनुप्रास को ही यमक का अंग बतलाना उचित होता, तद्विपरीत [यमक को अनुप्रास का अंग बतलाना] नहीं । क्योंकि अनुप्रास यद्यपि पूरे वाक्य में व्याप्त है तथापि उसमें प्रधानता की विवक्षा नहीं है । यहाँ परस्पर में भी अंगाङ्गिभाव मानना ठीक नहीं होगा । क्योंकि यहाँ अंगाङ्गिभाव दो प्रकार का होता है एक तो निमित्तनिमित्तिभावजनित और दूसरा उपकार्योपकारकभावजनित । दोनों में प्रधान दो प्रकार का होता है सार्वत्रिक तथा प्रादेशिक । उनमें सार्वत्रिक जैसे विभावना और अतिशयोक्ति में । क्योंकि 'विभावना सदा ही अतिशयोक्ति से आदिष्ट रहती है'—इस लक्ष्मि के अनुसार विभावना सदा ही अतिशयोक्ति की अपेक्षा रखती है । प्रादेशिक, जैसे श्लेष और अतिशयोक्ति का । क्योंकि रजनीमुख [रजनीरूपी नायिका का मुख और रात्रि का आरम्भ] इत्यादि स्थलों में कहीं कहीं ही अतिशयोक्ति श्लेष के एक पर खड़ी होती है, क्योंकि 'कमलम-
नम्मसि'—इत्यादि स्थलों में वह श्लेषनिरपेक्ष होकर भी निष्पन्न होती दिखाई देती है । ये दोनों ही भेद संकर के विषय नहीं हैं । क्योंकि वह, जैसा कि आगे कहा जाने बाका है, अपने अपने कारणों से निष्पन्न हो चुके अलंकारों के ही संसर्ग में माना जाता है । दूसरा [उपकार्योपकार-
कभावजनित अंगाङ्गिभाव] का उदाहरण है—'अगुलीनिरिव०' इत्यादि [आगे आरहा पद्य] । हममें उपमा आदि अलंकार अपने अपने हेतुओं के आधार पर निष्पन्न हो जाने हैं । तदनन्तर उनमें केवल उपकार्योपकारकभावमान आता है जिससे उनमें अंगाङ्गिभाव बनता है । यहाँ जो उपमाएँ हैं वे अपने स्वरूप की निष्पत्ति के लिए एक दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं रखतीं । क्योंकि उनमें से किसी भी एक के बिना किसी भी अन्य उपमा की निष्पत्ति संभव है । इसी प्रकार यहाँ दोनों उपमाओं के बिना केवल उत्प्रेक्षा भी निष्पन्न हो सकती है । एक साथ आ जाने पर इनके विषय में यह विमर्श होता है कि चुम्बन में केश ग्रहण आदि [अपेक्षित] होते ही हैं, अतः यह यहाँ उपमा आदि उपकारक है और उत्प्रेक्षा उपकार्य है और इससे इनमें अंगाङ्गिभाव चला आता है । और इस प्रकार अन्य आचार्य [रत्नाकरकार] ने—

'इम कारण उपमा आदि की प्रधानता रहने पर उन्हें अपने अपने नामों से पुकारा जाता है, इनमें संकर तब माना जाता है जब [अप्रधानता या] अगता रहती है, ऐसा नहीं कि अंगी [प्रधान] होने पर भी यह [संकर] माना जाय ।' [रत्नाकर-११२ सू० ५० पक्ति ८] इत्यादि गलत ही कहा था ।

इस [वदनसौरभ० पद्य] में यमक और अनुप्रास में निमित्तनिमित्तिभाव संबन्ध नहीं है क्योंकि अपने स्वरूप की निष्पत्ति में वे एक दूसरे की अपेक्षा सर्वत्र ही नहीं रखते। रत्नों भी तो अभी-अभी बतलाई [पूर्वसिद्धि के योग में संकर होने की] युक्ति से उनमें संकर मानना संभव न होगा। न तो अपने-अपने हेतुओं से निष्पन्न हो चुके इन अलंकारों में अङ्गाङ्गिभाव ही संभव है क्योंकि शब्दगत अलंकारों में शब्द के साथ जैसे उपकार्योपकारकभाव रहता है जैसे आपस में नहीं रहता। यदि कहें कि वहाँ में साम्य निष्पन्न करने और चमत्कार में अधिकता लाने से इनमें उपकार्योपकारक भाव माना जा सकता है, तो वह भी अमान्य है [क्योंकि इस हेतु से तो यह संकर संसृष्टि ही सिद्ध होता है] क्योंकि इसी का नाम न संसृष्टि है कि दो या दो से अधिक अलंकारों का परस्पर निरपेक्ष रहते हुए भी संबन्ध हो जाने पर अतिशयित चमत्कार का निष्पन्न होना।

[रत्नाकरकार को] इसी प्रकार अर्थालंकार संसृष्टि के उदाहरणों को भी संकर के उदाहरण नहीं कहना चाहिये [रत्ना० पृ० १९७] क्योंकि उन उदाहरणों में जो उपमा और उपप्रेक्षा हैं उनमें आपस में उपकार्योपकारकभावात्मक अङ्गाङ्गिभाव नहीं है। [शंका, रत्ना० पृ० १९७] यदि ऐसा है तो ये दोनों [अलंकार] 'दशदाडिम' आदि वाक्य के समान असंबद्ध हो जायेंगे। [उत्तर] नहीं। क्योंकि ['देवि क्षपा' इत्यादि पद्यों] एक जो चक्षुरन्मीलन रूप प्रधान अर्थ है उसमें [उपमा तथा उपप्रेक्षा] दोनों ही संबद्ध हैं। पाक रूपी एक ही अर्थ के लिए यथाशक्ति बटोई आदि का भी कोई अन्य संबन्ध नहीं होता। यदि कहें कि चन्द्रकृत उपप्रेक्षायुक्त भाकाशत्याग-रूपी अर्थ उपमायुक्त चक्षुरन्मीलन रूपी अर्थ के प्रति परस्परया हेतु है, [इस प्रकार इन दोनों अर्थों में परस्पर में अङ्गाङ्गिभाव है] फलतः अपने आशयभूत अर्थों के समान ही इन [अलंकारों] में भी [हेतुहेतुमद्भाव रूपी संबन्ध अर्थात्] अङ्गाङ्गिभाव माना जा सकता है, तो यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि चक्षुरन्मीलन आदि [उपयुक्त अर्थों] में जो हेतु-हेतुमद्भाव है वह उपमा आदि के न रहने पर भी विगड़ता नहीं है, रहने पर भी उनमें उक्त युक्ति [दो अप्रधानों का संबन्ध संभव न होने] से संबन्ध नहीं बन पाता। न तो यहाँ उपमा में वाक्यार्थता [प्रधानता] ही है। क्योंकि वह भी उसी प्रकार चक्षुरन्मीलन आदि के प्रति अंग बनकर उपस्थित है जिस प्रकार उपप्रेक्षा आदि। यहाँ जो है सो चक्षुरन्मीलन में ही वाक्यार्थता [प्रधानता] है, क्योंकि चन्द्रमा द्वारा आकाश के त्याग के द्वारा संपन्न निशावसान उसी [चक्षुरन्मीलन] के प्रति हेतुरूप से उपस्थापित है। इस प्रकार माना कि अप्रधानों का परस्पर में संबन्ध नहीं होता तथापि उपमा और उपप्रेक्षा के बीच, उनके अन्य के प्रति अंग और अप्रधान होने पर भी संबन्ध है, और उसके कारण [वाक्यार्थ में] अतिशय चारुत्व भी चला आता है, फलतः [सर्वस्वकार ने] जो [उपयुक्त देवि क्षपा० आदि पद्योंको] संसृष्टि का उदाहरण बतलाया वे उसी के उदाहरण के रूप में मान्य हैं। इस प्रकार—

[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा संसृष्टिविवेचन का उपसंहार करते हुए]

यदि अलंकारों का निवेश परस्पर में असम्बद्ध रूप से माना जाय तो यह संबन्धभाव के कारण [अलंकार न होकर] 'दशदाडिम' आदि वाक्यों के समान दोष ही होगा।

और यदि परस्पर में [अन्वय] संबन्ध हो ही तो उनमें प्रधानता अप्रधानता भी अवश्य ही माननी होगी। और तब संसृष्टि की बात समाप्त हो जायगी क्योंकि जो अप्रधान होगा वह दूसरे [प्रधान] के प्रति अंग होगा, अतः वहाँ [अङ्गाङ्गिभाव मूलक] संकर माना जायगा।

यदि दोनों [अलंकारों] को किसी एक अंगी में अन्वित माना जाय तो वहाँ दोनों का [अंगी में] समीलन [एक साथ तिरोभाव] हो जाने से न तो संकर होगा, न अन्य

प्रसंगात् । शब्दार्थालंकाराणां हि प्रायशो व्यस्तसमस्तत्वेन स्थितिः, तत्र संस्पृष्टरलंकारत्वान्भ्युपगमेऽनुप्रासोपमादीनां विषयापहारो भवेत् । ००००० अलंकारशून्यताया असंकीर्णालंकारत्वस्य चासंभवात् संस्पृष्टिसंकरावेव ह्यवलंकारी लक्षणीयतया प्राप्नोति । यदि च कश्चित् अलंकारान्तरविविक्तमुदाहरणं क्रियते प्रदर्श्यते वा तत्रापि ००००० प्रविरलविषयत्वमुपमादीनां स्यात् । ०००००

किं च न संस्पृष्टत्वेन कश्चिच्चारुतातिशयः प्रतिभासते येनालंकारान्तरं कथ्यते । ननु मौक्तिकपञ्चरागेन्द्रनीलादीनां संसर्गे लम्बपरम्पगतया भासत एव चारुत्वान्तरम्, तदवद् इहापि स्वादिति चैत्र, अनुप्रासादिना, उपमादिना तस्य वा घेन सचेतसः कस्यचिन्न हि परमागोऽवभासते, भिन्नवातीयत्वात् । समानवातीयानां हि अनुभूततयाऽन्यथा वाऽनुगतमुद्दिवेशेन परमागो जायते, न तु शब्दार्थयोः, भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् । शब्दार्थालंकारसंसर्गे चावतातिशयत्वात्सामिः संवेदानान्नेदमिति चैन्न, छपयप्रस्थेयत्वात् ।

विमर्शिनोकार ने रत्नाकर को इस उपस्थापना का प्रतिपद खण्डन भी सर्वस्वकार को स्थापनाओं का समर्थन किया है ।

'देवि क्षपा०' तथा 'लिम्पतीव०' पदों में सर्वस्वकार ने संस्पृष्टि मानी है । रत्नाकरकार ने इनमें भी संकर सिद्ध करते हुए लिखा है—

'लिम्पतीत्यादाद्युपमोऽप्रेक्षादीनां ०००० मौक्तिकादिवत् परस्परं शोभातिशयहेतुत्वे वाङ्माङ्गिमाषसंकर एव स्यात्, न संस्पृष्टिः । न तावदयःश्लोकाकस्या अलंकारा एकस्मिन् वाक्ये भवन्ति, दृष्टाद्विभाविकाक्यवदसम्बन्धप्रलापितापत्तेः । सम्बन्धवाभ्युपगम्यमानो गुणप्रधानत्वात्वेनाभ्युपगन्तव्यः, द्वयोः प्रधानयोरप्रधानयोः संकषासंभवात् गुणप्रधानभावेन चालंकाराणां सम्बन्धेऽङ्गमाङ्गिमाषस्या संकर एव स्यात् । तथा च 'देवि क्षपा०' इत्यत्रोपमालिङ्गितस्य चक्षुरन्मीलितस्य वाक्यार्थोभूतस्य हेतुत्वेनोपात्तश्लोकागच्छनोपपादकत्वेनोपनिबद्ध उल्लेखादिल्लः शशाङ्कान्तरयाग इत्युत्प्रेक्षयोः पारम्पर्येणोपमापोषकत्वेन तदङ्गता, उपमा तु अर्थान्तराङ्गत्वागमनादपरिभ्रान्ता वाक्यार्थतामुपयातीति संकर एव, न तु संस्पृष्टिः । एवं 'लिम्पतीव'—इत्यादौ उपप्रेक्षाद्वयमसत्पुरुषसेवेव वृष्टिविफलता गतेत्युपमाया वाक्यार्थोभूताया हेतुत्वेन गतम् इत्यङ्गत्वेन संकर एव । एवमुदाहरणान्तरेषु विवेच्यम् । परं प्रत्युपसर्जनीभूतयोस्त्वलंकारयोः अगान्तरसम्बन्धभावे च संकरो न संस्पृष्टिर्न चा [न्योऽ] लंकारः कश्चित् । 'अन्योन्यसम्बन्ध—०००—शक्तिमद्गात्' । इति संग्रहः ।

यदि चायमलंकारः प्रधानमलंकारान्तरं प्रवक्ष्यभूतः तदाऽस्त्येव सम्बन्धः, तदापि चादेः समुच्चयप्रतिपादकस्यानुपादानात् अलंकारसमुच्चय आर्थो भवेत्, न तु संस्पृष्टिः ।

पाठान्तरं को जो बात विमर्शिनोकार ने उठाई है वसुका मूल रत्नाकरकार का निम्नलिखित ग्रन्थांश है—

'१५ त्वदानरुचे'—इत्यादौ सुस्पष्टेऽन्युत्प्रेक्षाविषये यैरुपमाभिहिता तेषां भवतामेवमादावत्यन्तातीन्द्रियार्थदर्शनाय केन योगोचरेण चक्षुरपिंतमिति न जानीमः । लिम्पतीत्यादाद्युपमोऽप्रेक्षादीनां सजातीयत्वेन युक्त [एव ऊपर उद्धृत] ०० ।'

पहले भी ऐसे अनेक स्थल आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि सर्वस्व को जो प्रतिपत्ति रत्नाकरकार तथा सर्वस्वकार को मिली थी वे पाठवृष्टि से बहुत भिन्न थीं । संजीविनोकार ने भी 'देवि क्षपा०' तथा 'लिम्पतीव' पदों की वृष्टि में 'विजातीययोः' के स्थाव पर 'सजातीययोः' शब्द की ही अपनाया है । कदाचित् उन्हें प्राप्त प्रति में भी वही पाठ रहा होगा जो रत्नाकरकार को प्राप्त प्रति में रहा है । संजीविनोकार ने 'त्वदानरुचेव' में उपमा वतलाई है । निश्चित ही इसमें मूल प्रति ही कारण है । रत्नाकरकार ने भी यहाँ 'उपमा' बतलाने वाली प्रति ही पाई थी । रत्ना-

करकार ने जो 'दिग्बन्धु'—की बात कहकर सर्वस्वकार पर चोट की थी उसीसे विचलित हो विमर्शिनीकार ने भी वन पर 'बोध करिष्यामी'—त्याग्येन—इत्यादि प्रतिशेष किया । वस्तुतः उन्हें प्रति ही वैसी मिठी थी । 'त्वदाननवचेन' में वपना बतलाने पर कोई भी विद्युत् व्यक्ति रत्नाकरकारके समान ही झल्लाए बिना न रहेगा ! अतः यहाँ विमर्शिनीकार ही असहिष्णु सिद्ध होते हैं ।

विमर्शिनीकार ने समुच्चवाङ्मयकार का जो प्रश्न उपस्थित किया है उसकी भाषा अत्यन्त सश्लिष्ट है । निश्चिन्त ही वह रत्नाकर के निम्नलिखित अंश का सार है—

'यदि चायमलङ्कार' प्रधानमलङ्कारान्तर प्रति अयभूतस्तदास्येय सम्भवं, तदापि चादेः समुच्चयप्रतिपारकस्यानुपादानादलङ्कारसमुच्चय भाषो भवेत् न ॥ संसृष्टिः ।'

[पृ० १९८, संसृष्टि प्रकरण का अन्त] ।

संसृष्टि का इतिहास :—

संकरप्रकरण के अन्त में देखिए, क्योंकि संस्कृतकान्धशास्त्र में ये दोनों अलङ्कार पहले अभिन्न और बाद में भिन्न माने गए हैं ।

विमर्शिनी

इदानीं संकरमवतारयति—अधुनेत्यादि ।

अथ संकर की अवतरणिका रचने हैं ।

[सर्वस्व]

अधुना क्षीरनीरन्यायेन संकर उच्यते—

[सू० ८६] क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः ।

मिथस्त्य इत्येष । अनुत्कटभेदमिथस्त्ये संकरः । तस्य मिथस्त्यमङ्गाङ्गिभायेन, संशयेन, एकवाक्यानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् संकरं त्रिभेदमुत्थापयति । क्रमेण यथा—

'अङ्गुलीभिरिध केशसंभयं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः ।

कुङ्कुमीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥'

अङ्गुलीभिरित्युपमा । सैव सरोजलोचनमित्यस्या उपमायाः प्रसाधिका । रजनीमुखमिति श्लेषमूलातिशयोक्तिः, प्रारम्भवदनाख्ययोर्मुह्ययोरभेदातिशयात् । अत एव तयोरङ्गाङ्गिभावः । एषं च चाक्योक्तसमासोक्तोपमे श्लेषानुगृहीता चातिशयोक्तिरुत्प्रेक्षायाः 'चुम्बतीव' इति प्रकाशिताया अनुमाहिकाः । तद्वल्लेन तस्याः समुत्थानात् । सा च समुत्थापिता समुत्थापकानां चमत्कारितानिवन्धनमित्यस्त्यङ्गाङ्गिभावः । यथा या—

'प्रथीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद् वारुणो प्रत्यगमद् विद्यस्वान् ।

नन्येऽस्तशैलात्पतितोऽत एव विवेश शुद्धैश्च दहवाग्निमध्यम् ॥'

अत्र प्रथमाद्यं विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः । दर्शनान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वायलंकारौ तदनुगृहीता द्वितीयेऽर्धे मन्वेषदप्रकाशितोत्प्रेक्षा । अतश्चाङ्गाङ्गिभावः ।

तथाह्यत्र यत् कारणमुत्प्रेक्ष्यते तत्र विरोधश्लेषानुप्रवेशः । यच्चात्र कार्यमुत्प्रेक्षानिमिषं तत्र पतितत्वाग्निप्रवेशौ वस्तुस्थित्या अन्यथास्थिता-
वपि अन्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसितौ ज्ञेयौ, तेनात्राङ्गाङ्गिभाव-
संकरः । न च विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतौ श्लेषे श्लेषस्य विरोधेन सहाङ्गाङ्गि-
भावः संकरः, उत्प्रेक्षाया वा निमित्तगतातिशयोक्त्या सहायं संकरः, ताभ्यां
विना तयोरनुत्थानात् । अतश्च निरवकाशत्वाद् बाधकत्वम् । न च मन्तव्यं
विरोधमन्तरेणापि श्लेषो दृश्यत इति श्लेषस्य सावकाशत्वमिति । यतो न
द्रूमो विरोधमन्तरेणापि श्लेषो न भवतीति, किं तर्ह्यलंकारान्तरविविक्तो
विषयः श्लेषस्य नास्तीति निरवकाशत्वात् तेषां बाधः । तन्मध्ये च
विरोधोऽनुप्रविष्ट इति सोऽपि तेन याध्यत इति न कश्चिद् दोषः । एवमर्थ-
लंकारसंकर उक्तः ।

[६०] एक क्षीरनीर के समान [अलंकारों के मिश्रण से] होने वाला संकर [नामक
अलंकार] बतलाया जा रहा है—

[सू० ८६] तथा क्षीर नीर जैसा संकर ।

[६०] 'मिश्रत्व' यह [पूर्वसूत्र से प्राप्त] है ही [सूत्र का अर्थ यह हुआ कि] मिश्रण में यदि
भेद स्पष्ट न हो तो [अलंकार] संकर [कहलाता है] । और वह मिश्रण (१) अंगगिभाव
(२) संशय तथा (३) एकवाचकानुप्रवेश इन तीन स्थितियों में तीन प्रकार का होकर तीन
ही प्रकार के संकर को जन्म देता है ।

इनके उदाहरण, क्रमशः— [अंगगिभावसंकर—]

अंगुलियों के समान किरणों से केशपाश के समान अंधेरा बयोर कर मुखिलकमलनेत्र वाले
रजनीमुख को शशी चूम सा रहा है ।'

यहाँ 'अंगुलियों के समान'—यह उपमा है । वही 'कमलनेत्र'—पद में [कमल नेत्र के समान
इस प्रकार] आदि उपमा में साधक है । रजनीमुख में [एक ही मुख शब्द का अर्थ आरम्भ और
चैहरा दोनों होने से] श्लेषमूलक अतिशयोक्ति है, क्योंकि इसमें 'आरम्भ' और 'चैहरा' इन
दोनों मुख्य अर्थों में [एक ही मुख शब्द से कथित होने के कारण] अभेद सिद्ध होता है । इस
प्रकार ['अंगुलियों के समान किरणों से'—इस] वाक्यसे कथित तथा ['सरोजलोचन—' इस]
समास से कथित दो उपमाएं और ['मुख' शब्द के] श्लेष से अनुगृहीत [आरम्भ तथा चैहरा-
इन दो अर्थों की] अतिशयोक्ति 'चूम सा रहा है'—इस पद से प्रकाशित उपप्रेक्षा की अनुधाहिका
है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति वन्हीं के बल पर होती है । निष्पन्न होकर वह अपने निष्पादकों में
चमत्कारकता का कारण बनती है । इस प्रकार इनमें अंगगिभाव है । दूसरा उदाहरण यथा—

'सभी लोकों में [वेद—] त्रयीमय होने के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी सूर्य जो वारुणी [पश्चिम
दिशा तथा सुरा] की ओर बढ़ा, मानो इलीलिय यह अस्ताचल से गिरा और शुद्धि के लिए बल-
वाग्नि में प्रविष्ट हो गया ।'

इस पद्य के पूर्वार्धमें [उद्धट के मत में] विरोध को बाधकर श्लेष अलंकार बनता है ।
अन्य मत में विरोध और श्लेष दोनों ही अलंकार हैं । उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा है जो 'मानो'—शब्द से
कथित है और उक्त अलंकारों से अनुगृहीत है । अतः इनमें अंगगिभाव है ।

स्पर्शोक्ति के लिए यहाँ [वेदस्वरूप होते हुए भी वाक्यीगमनरूपी जिस कारण की उत्प्रेक्षा की जा रही है उसमें विरोध [बाधक] श्लेष [अथवा विरोध और श्लेष दोनों] का अनुप्रवेश है। और [उसका] जो कार्य [बढवाभिनप्रवेश की] उत्प्रेक्षा का निमित्त है उसमें पक्षितत्व और अभिनप्रवेश का वास्तविक रूप भिन्न है। किन्तु वे अभिन्न रूप से अध्ययसित होकर विदिन होते हैं। इसलिये यहाँ अगागिमाव सकर है [श्लेष अग है और हेतु तथा फल को उत्प्रेक्षार्थ अगो है]। यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ श्लेष विरोध का निष्पादक है अतः श्लेष का विरोध के साथ अगागिमाव सकर है अथवा उत्प्रेक्षा का [उसके] निमित्त [पान आदि] में शिव्य अतिशयोक्ति के साथ यह सकर है, क्योंकि उनके बिना वे निष्पन्न नहीं होने। और इसीलिए वे निरवकाश होकर बाधक बनते हैं। यह नहीं मानना चाहिए कि श्लेष विरोध के बिना भी दिस्तार देता है, इसलिये श्लेष [निरवकाश नहीं] सावध्य हो है, क्योंकि हम यह नहीं कहते कि श्लेष विरोध को छोड़कर नहीं होता। हमारा कहना है कि श्लेष कहीं भी अन्व किसी अलङ्कार के बिना नहीं मिलता, अतः वह निरवकाश है और उन [अन्य अलङ्कारों] का बाधक है और उनमें विरोध चला ही जाता है, इसलिये वह विरोधी भी उस [श्लेष] के द्वारा बाधित किया जाता है। इस प्रकार यहाँ कोई दोष नहीं जाता इस प्रकार अर्थात्कारों का सकर उदाहरणों द्वारा समझाया गया।

चिमर्शिनी

तदेवाह—छीरेत्यादि। तदिति। यथोक्तस्यम्। त्रिभेदमिति। अङ्गाङ्गिमावादिना। प्रसाधिकेति। आनुगुण्यकारित्वेनाङ्गमिषयर्थं। श्लेषमूलेति। श्लेषहेतुकेत्यर्थं। अत्र च न पयाङ्गाङ्गितया संकरस्तथा। पूर्वमेवोक्तम्। अत एवोपमाङ्गपापेयैव तयोरङ्गाङ्गिमाव ह्ययुपसंहारः। श्लेषानुगृहीतेति। श्लेषमन्तरेणास्या अनुस्थानात्। तद्वलेनेति। तेषामुपमाङ्गिनीनां बलेनोपकारकत्वेनेत्यर्थं। समुस्थानादिति। उपकार्यत्वेन। उदाहरणान्तरोपादानं तावद् व्याप्तिप्रदर्शनपरम्। श्लेष इति। अङ्गानामिति दोषः। दावलंकाराविति। हेतुहेतुमद्भावावित्यर्थं। श्लेषमन्तरेण विरोधस्यानुस्थानात्। तदनुगृहीतेति। श्लेषमूलविरोधोपकृत्येत्यर्थं। अङ्गाङ्गिभावमेव त्रिभेदमिति—उपा श्लेषादिना। कार्यमिति। पक्षितत्वाभिनप्रवेशालङ्कारम्। पक्षितोत्प्रेक्षानुगुण्येन प्रसङ्गादिहोक्तम्। तेनेति। उत्प्रेक्षाविरोधोपकृतत्वेन। मनु विरोधोत्प्रेक्षार्थहेतुङ्गाङ्गिभावेन संकरस्तद्वदतिशयोक्त्यापि सह तस्या विरोधश्लेषयोश्च किं संकर उत नैवासाङ्गवाह—न चित्यादि। एतच्चोद्भटमनानुसारश्लेषस्य प्राधान्याभिप्रायेणोक्तम्। स्वपक्षभिप्रायेण तु विरोधस्याप्येतदेव द्रष्टव्यम्। अत्र च यथा न सकरालंकारस्तथा पूर्वमेवोपपादितम्। अत्र ह्यभयथाप्येक एवालंकारः। न चैकस्य संकरो युक्तः। तस्य द्विप्रमृतीनामलंकाराणां मिश्रत्वे सम्भवात्। अत्रथेति। विरोधगुणीभावेन श्लेषस्यैव समुस्थानात्। यत् प्रत्यङ्गना स्वमताश्रयेणैतदपि नोक्तम्। तत्राप्यसादयः—यावता हि यत्रालंकारान्तरस्वरूपनिष्पादने हेतुत्वं भजते तत्र नायमलंकार इति प्रतिपाद्यम्, तत्संबन्धमपि सिद्धयतीति तन्मतेनाप्येतत्साधनं चिरन्तनाभ्युपगमात्साध्यनुष्ठानात्समप्रयोजनम्। उन्मथ्य इति। श्लेषाद्व्यतिरिक्तानामप्येवामलंकाराणां मध्य ह्यर्थः। दोष इति। सावकाशरत्नरत्नरूपः।

यही बतलाने है—“छीरे” इत्यादि। तद् = जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है। त्रिभेदम् = तीन भेदों से युक्त संकर अर्थात् अगागिमाव आदि से। श्लेषमूल = श्लेष हेतु। यहाँ अगागिमाव मूलक संकर जिस प्रकार नहीं है वह [संसृष्टि प्रकरण में ‘बदनसौरभ’ पद्य को व्याख्या के समय बतलाया ही जा चुका है। अतः यहाँ दोनों उपमाओं के ही परस्पर अगागिमाव को

लेकर 'तयोर्गामिभावः' यह उपसंहार किया गया माना जाना चाहिए। श्लेषानुगृहीत = श्लेष के बिना इसकी निष्पत्ति न होने से। तद्बलेन = उनके बल से = उन उपमा आदि के बल से अर्थात् उपकारकत्व से। समुत्थान = अर्थात् उपकार्य रूप से। दूसरा जो उदाहरण दिया गया है वह व्यापकता बतलाने के लिए। श्लेष = अर्थात् उद्भूतपन्थियों के मत में। हावलंकारौ = दो अलंकार अर्थात् हेतुहेतुमदरूप, क्योंकि विरोध श्लेष के दिना बनता ही नहीं। तदनुगृहीता = उससे अनुगृहीत अर्थात् श्लेषमूलक विरोध से उपकृत। अंगंगिभाव का ही विभाग करते हुए लिखते हैं—'तथा हि' इत्यादि। कार्यम् = कार्य = पतितत्व रूप और अग्निप्रवेश रूप। यह तो प्रसंगवशात् यहाँ कह दिया गया, क्योंकि यह उत्प्रेक्षा के अनुकूल है। तेन = उत्प्रेक्षाविरोध से उपकृत होने से शंका होती है कि—'जिस प्रकार विरोध और उत्प्रेक्षा में अंगंगिभावमूलक संकर है उसी प्रकार उस [उत्प्रेक्षा] का अतिशयोक्ति के साथ तथा विरोध और श्लेष का भी संकर होगा अथवा नहीं—'इस पर उत्तर देते हैं—न च इत्यादि। यह सब उद्भूत के मत के अनुसार श्लेष को प्रधान मानकर कहा। अपने पक्ष के अनुसार तो विरोध में भी यही [प्रधानत्व] मानना चाहिए। और यहाँ संकालंकार जिस प्रकार यहाँ होता है वह पहले [संसृष्टि प्रकरण में 'वदनसौरम'-पद्य की विमर्शिनो में] ही सिद्ध कर दिया है। यहाँ दोनों ही प्रकार से अलंकार एक ही रहता है। एक में संकर होता नहीं, क्योंकि वह तो दो तीन आदि अलंकारों के मिश्रण में संभव होता है। अतश्च अर्थात् विरोध को अप्रधान बनाकर श्लेष का ही प्रधान रूप से उद्धान होने से। अन्यकार ने इस विषय पर भी अपना मत नहीं अपनाया इसका आशय यह है उनका तो प्रतिपाद्य यही है कि जहाँ कहीं कोई अलंकार किसी अन्य अलंकार की निष्पत्ति में हेतु बनता है वहाँ वह [संकर] अलंकार नहीं होता। और यह इस प्रकार भी सिद्ध हो जाता है। इसका प्रयोजन है उनके मत से भी [अपनी] इस [मान्यता] की सिद्धि करना। यह प्रयोजन सिद्ध करता है कि अन्यकार यह बतलाना चाहता है कि प्राचीन आलंकारिकों को भी संकर का अलंकारत्व मान्य था। तन्मन्था = एव = उन्हीं के बीच = अर्थात् श्लेष से भिन्न अन्य अलंकारों के बीच। द्वेष = तावकाशय की जो आपत्ति तद्रूपी दीव।

[सर्वस्व]

शब्दालंकारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा—

'राजति तटीयमभिहतदानधरासातिपातिसारावनदा ।

गजता च यूथमविरतदानधरा सातिपाति सारा चनदा ॥'

अत्र यमकानुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालंकारयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गिभावसंकर इति। पतच्च न सम्यगावर्जकम्। शब्दालंकारयोः शब्दबहुपकार्योपकारकत्वाभावेनाङ्गिभावामात्रात्। शब्दालंकारसंसृष्टिस्त्वत्र श्रेयसी। यथोदाहृतं पूर्वम्। यद्वा अत्र शब्दालंकारद्वयमेकवाचकानुप्रविष्टमिति तृतीयः संकरो ज्ञेयः। एवमेकः प्रकारो दर्शितः।

शब्दालंकारों के संकर का उदाहरण किन्हीं आचार्यों [भग्मत] ने यह दिया है—'राजति तटीय' इत्यादि। [इसका अर्थ यह है—]

हे दानवीं का रास समाप्त कर देने वाले भगवान् शिव ! मन्दराचल की यह उपत्यका सुदानवीं लग रही है। इस पर वेगपूर्वक गिर रहे नदी का धर्षण नाद छाया हुआ है। और अविरत मद-

अलङ्कारे सुन्दर बलवती तथा वनों का विनाश करने वाली गनपति भी अपने यून का रक्षण मलीमति कर रही है [इरविजय ५।२२७] ।

[उन आचार्य का कहना है कि] 'इस पद्य में ['दानवरा—नदा'—पद की पूर्वा तथा उत्तरार्ध दोनों में समान आनुपूर्वी में आवृत्ति होने तथा उनके अर्थ में अन्तर होने से पादान्त] यमक है तथा ['दानवरा—नदा' = पद को उल्टा पढ़ने पर भी वर्णक्रम के बैसे ही बने रहने के कारण जैसा वह सीधा पढ़ने पर रहता है] यहाँ अनुलोमप्रतिलोम नामक चित्रालङ्कार भी है । ये दोनों शब्द के अलङ्कार हैं और परस्पर में एक दूसरे के प्रति सापेक्ष हैं । इसलिए यहाँ अगागिमावमूलक संकरालङ्कार है । किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दालङ्कारों में शब्द के समान परस्पर में बदकार्योपकारकभाव नहीं होता । फलतः उनमें अगागिभाव भी नहीं बनता । यहाँ मानना अधिक उपयुक्त है शब्दालङ्कारों की समष्टि । जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है । अथवा यहाँ दो शब्दालङ्कार एक ही वाचकशब्द [दानवरा०] इत्यादि] में आ गए हैं अथ तीसरा [एक वाचकानुप्रवेश] स्वर जानना चाहिए । इस प्रकार स्वर का एक प्रकार बतला दिया गया ।

विमर्शिनी

कैश्चिदिति । काव्यप्रकाशकारादिभिः । उदाहणमिति । कुतुमसौरभोग्यादिना । पदेति । पद्यान्तरे । एकवाचकेति । य एव साह्य यमकस्य वाचकात्स एव विप्रश्पेति ।

कैश्चिद्य—कुछ आचार्यों द्वारा = काव्यप्रकाशकार आदि द्वारा [काव्यप्रकाश में मम्मट ने इस पद्य को उद्धृत कर लिखा है—'अथ यमकम् अनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पदद्वयगते परस्पर-पेक्षे'] उदाहृतम्=उदाहरण दिया जा चुका है—'कुतुमसौरभ०' इत्यादि पद्य द्वारा । अथवा = अन्य पद्य प्रस्तुत करने हेतु कथित अन्वय । एकवाचकम्=जो शब्द यमक के वाचक हैं वे ही चित्र के भी ।

[सर्वस्व]

द्वितीयः प्रकारस्तु संदेहसंकराख्यः । यथान्यतरपरिग्रहे साधकं प्रमाणं नास्ति याधकं वा प्रमाणं न विद्यते तत्र न्यायप्राप्तः संशय इति संदेहसंकर-स्तत्र विद्येयः । यथा—

'यः कौमारहरः स एव हि धरस्ता एव चैत्रक्षपा-

स्ते शोभीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः ।

सा चैयास्मि तथापि धौर्यसुरतस्यापारल्लीलाविधौ

रेयारोषसि घेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥'

अत्र विमायनाविशेषोक्तयोः संदेहसंकरः । तथाह्युत्कण्ठाकारणमाद्ये उत्कण्ठाया उत्पत्तौ विमायना । स च कारणामावो 'यः कौमारहरः' इत्यादिना कारणविरुद्धमुखेन प्रतिपादितः । तथा च 'य कौमारहरः' इत्याद्य-नुत्कण्ठाकारणसद्भावेऽपि अनुत्कण्ठाया अनुत्पत्तौ विशेषोक्तिः । सा चानुत्पत्तिः 'समुत्कण्ठने' इति विरोधोत्पत्तिमुखेनोक्ता । अत एव द्वयोर-प्यस्फुटत्वमन्यत्रोक्तम् । न चानयोः प्रत्येकं साधकसाधकप्रमाणयोग इति संदेहसंकरोऽयम् । यथा वा—

'यद्वक्त्रचन्द्रे नवयौवनेन श्मश्रुच्छलादुल्लिखितश्चकास्ति ।

उद्दामरामाहवमानमुद्राविद्रावणो मन्त्र इव स्मरस्थ ॥'

अत्र वक्त्रं चन्द्र इवेति किमुपमा, उत वक्त्रमेव चन्द्र इति रूपकमिति संशयः । उभयथापि समासस्य भावात् । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्युपमासमासः, व्याघ्रादीनामाकृतिगणत्वात् । मयूरव्यंसकादित्वाद् रूपकसमासः, मयूरव्यंसकादीनामाकृतिगणत्वात् । न चात्र क्वचित्साधकबाधकप्रमाणसद्भाव इति संदेहसंकरः ।

[संकर का] दूसरा प्रकार है संदेहसंकर नामक, जिसमें न तो किसी एक को अपनाते में साधक प्रमाण मिलता और न बाधक ही रहता, वह संशय स्वतः सिद्ध है, इसलिये उसे संदेहसंकर मानना चाहिये । उदाहरण यथा [पूर्वानूदित] 'यः कौमारहरः' पद्य [का अर्थ] । यहाँ विभावना और विशेषोक्ति का संदेहसंकर है । यह इस प्रकार कि उत्कण्ठा के कारण [अननुभूतत्व] को न रहने पर भी यहाँ उत्कण्ठा की उत्पत्ति बतलाई जा रही है, अतः विभावना हुई । यह जो कारणभाव है वह 'यः कौमारहरः' इत्यादि द्वारा कारण के विरुद्ध जो पदार्थ उसके कथन के द्वारा प्रतिपादित किया गया है । इसी प्रकार 'यः कौमारहरः' इत्यादि पदार्थ कारण हैं अनुत्कण्ठा के, किन्तु उन सबके रहने पर भी अनुत्कण्ठा की उत्पत्ति नहीं हो रही, अतः यहाँ विशेषोक्ति है । यह जो अनुत्पत्ति है वह भी 'समुत्कण्ठते' = 'उत्कण्ठित हो रहा है' इस प्रकार विरोधी [उत्कण्ठा] की उत्पत्ति द्वारा कही गई है । इसलिये यहाँ दोनों ही अस्फुट हैं ऐसा अन्यत्र [काव्यप्रकाश में] कहा गया है । इनमें से किसी के भी प्रति न कोई साधक प्रमाण है और न कोई बाधक । अतः यह संदेह संकर हुआ । दूसरा उदाहरण यथा—

'जिसके मुखचन्द्र में दाढ़ी मूळ के नहाने नवीन यौवन ने उद्दाम रामाओं के इष्ट नाम की मुद्रा का विद्रावण [विनाश] करने वाला काम का मन्त्र सा लिखित दिखाई देता है ।'

यहाँ 'मुख चन्द्र के समान इस प्रकार उपमा मानी जाय वा 'मुख ही चन्द्र' इस प्रकार रूपक माना जाय यह संदेह है । क्योंकि यहाँ समास दोनों ही प्रकार का हो सकता है । 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' [पा० सू०] से उपमासमास हो सकता है क्योंकि व्याघ्रादि आकृतिगण है । रूपकसमास हो सकता है मयूरव्यंसकादि से क्योंकि मयूरव्यंसकादि भी आकृतिगण हैं । यहाँ किसी का साधक या बाधक प्रमाण भी नहीं है । इसलिये संदेहसंकर ही है ।

विमर्शिनी

द्वितीय इत्यङ्गाङ्गिभावात् । साधकमिति । अनुकूलम् । न्यायप्राप्त इति । साधकबाधकप्रमाणाभावादेकस्यानिश्चयात् । संदेहमेवोपपादयति— तथाहीत्यादिना । उत्कण्ठाकारणभाव इति । कौमारहरवराहसंनिधानरूपस्य कारणस्याभाव इत्यर्थः । विरुद्धमुखेनेति । ससंज्ञिधानह्वारेणेत्यर्थः । अत एवेति । द्वयोरपि विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात् । अन्यत्रेति । काव्यप्रकाशादौ । उभयथेति । उपमारूपकत्वेनेत्यर्थः । चन्द्रशब्दस्याकृतिगणत्वाद्गणह्वयेनापि हि स्वीकृतत्वमिति भावः । क्वचिदिति । उपमायां रूपके वा ।

॥ चैतदलंकारसारकारादीनां मतम्, अलंकाराणां संदेहायोगात् । तथाहि स्याशुव पुरुषो वेति संदेहः कस्यचिदेव कदाचिद्भवति, न तु सर्वदैव सर्वेषाम्, संनिष्ठानां तदैव, अनन्तरं स्वल्पेणामपि निश्चयोत्पादनात् । सर्वदा सर्वत्र सर्वान्प्रति चालंकारलक्षणं प्रणयनम् । तथारथे च संदेहोऽयुक्तः, तस्य नियतदेशकालप्रमातृगतत्वात् । संदेहेऽपि पर्यवसानेऽवश्यमेकतरपक्षाश्रयणम्, उत्तरकालं बाधकप्रत्ययोह्यासात् । इह च संदेहः-

पुत्रकालं यद्येकतरालंकाराभ्रयणं तस्य पत्रालंकारः स्यात्, तस्यैव वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात् । वाक्यार्थमात्र एव स्वलंकाराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । न चोभयोरपि वाक्यार्थभावो, विप्रतिषेधात् । संदिग्धश्च वाक्यार्थो दोष इत्यविवादः । न च लक्ष्येऽपि तथाभावः, तथा द्वाघोदाहरणे विभावनाया एव निश्चयः । विरुद्धमुखेनोत्कण्ठाकारणाभावेऽपि प्रतिपन्ने 'तथापि चेत्तः समुत्कण्ठते' इत्युत्कण्ठोदयस्यैव कार्यस्य वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात् । अतः पत्रानुत्कण्ठोत्पत्तिरिविचक्षितेति विशेषोक्तेर्बाध इति विभावनाया एव वाक्यार्थभावः । उत्तरोदाहरणे रूपकस्यैव निश्चयः । यतोऽग्रान्यप्रयोजनघोर्द्धयोः समासयोरेकत्र युगपत्प्राप्तेरनुबन्धबलाद्द्विप्रतिषेधः । ततश्च 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति परत्वाद्गुणकसमासप्रवृत्तिः । अतदेव रूपकस्य साधने प्रमाणम् । अतः पत्राय यदन्यैः 'अबाधेन गतौ समबन्धा बाधगतिरप्रामाणिकी' इति न्यायाल्लक्षणामकस्यैव समासबाधकतथाप्रयामिने उपमासमासस्य प्रवृत्तिरित्युपमायाः साधकप्रमाणसद्भावोऽस्तीत्युक्तम्, तदुक्तम् । अत्रप्रते च समासार्था प्रायशो लक्षणपरत्वाद्गुणसमासमासस्यापि लक्षणारम्भकत्वमित्यबाधेन गतेरसंबन्धानुपमाया अपि नास्ति बाधकप्रमाणसद्भावः । अथोपमायां लक्षणा, रूपकं तु लक्षितलक्षणेति न द्वयोः पद्योस्तुल्यत्वमिति चेत्, नैतत् । पद्यमप्यबाधेन गतेरसमबन्धस्य सादृश्यस्यात् । अर्थं हि बाधगतेरेव प्रतीयते, तत्र तत्समास एव कार्यं इत्याह—यत्र तिवत्वादि ।

द्वितीयं = अर्थागिमाव के बाद आने वाला उसने भिन्न । साधक = अनुक्तम् । न्यायप्राप्त = क्योंकि साधक या वाक्य दोनों में से किसी को प्रमाण के न रहने से किसी एक का निश्चय नहीं रहता । संदेह का ही और प्रतिपादन करते हैं—तथाहि = इत्यादि द्वारा । उत्कण्ठाकारणाभाव = अर्थात् कौमारहारी वर आदि के असन्निधानरूपी कारण का अभाव । विरुद्धमुखे = विरुद्ध पदार्थ के कथन के द्वारा = उन [कौमारहारी वरादि] के सन्निधान के कथन के द्वारा । अतएव = क्योंकि दोनों ही ही योजना विरुद्ध पदार्थ के कथन के द्वारा की गई है इसलिये । अन्यत्र = काव्यप्रकाश आदि में [काव्यप्रकाश के टीकाकार रामानुजकोकरने इसका टिप्पणी द्वारा खण्डन किया है जो अलग है] । उभयथा = दोनों ही प्रकार से = उपमारूप में और रूपक रूप से भी । अर्थ यह कि चन्द्रशब्द आकृतिगण में चला आता है अतः [न्यायादि तथा मयूरस्यैवसादि दोनों गणों द्वारा उसका समर्थ किया जा सकता है ।

—कश्चिद् = कहीं = उपमा में या रूपक में ।

[सकर का] यह [भेद] अलंकारसार आदि को मान्य नहीं है । उनका कहना है [जैसा कि रत्नाकरकार ने लिखा है—२० सकर प्रकरण] कि अलंकारों में संदेह बन नहीं सकता । संदेह को है वह 'यह स्थाणु [टूँठ] है या आदमी' इस प्रकार का होता है और किसी को ही कभी ही होता है, सभी को सदा नहीं, क्योंकि पास के व्यक्तियों को उसी समय और अन्य व्यक्तियों को बाद में [यह क्या है ऐसा] निश्चयामक श्रान हो जाता है । हमके विरुद्ध अलंकार का जो लक्षण है वह प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए बनाया जाता है । ऐसी स्थिति में [उन अलंकारों में] संदेह हो नहीं सकता, क्योंकि वह [संदेह] किसी निश्चित ही देश, निश्चित ही समय तथा निश्चित ही व्यक्ति में रहता है । इसके अतिरिक्त संदेह में भी अन्त में किसी एक पक्ष का भाग्य लेना ही होता है क्योंकि उचर काल में वाक्य श्रान हो जाता है । इस प्रकार यहाँ [अलंकारों में] यदि संदेह हो भी तो यहाँ उचर काल में निश्च अलंकार का निश्चय होगा वही प्रधान अलंकार बन जाएगा, क्योंकि वही वाक्यार्थरूप से विदित होगा । और वाक्यार्थत्व ही वह तत्त्व है जो अलंकारों के स्वरूप का निर्धारक प्रमाण है । यह कहा नहीं जा

सकता कि [संदेह में] वाक्यार्थत्व दोनों में ही रहता है क्योंकि यह परस्पर में विरुद्ध बात है । और वाक्यार्थ का संदिग्ध होना दोष माना जाता है । इस प्रकार संदेह का विवाद उठता ही नहीं है । उदाहरणों में भी ऐसी स्थिति नहीं है, क्योंकि ['यः कौमारहरः'—इस] प्रथम उदाहरण में विभावना का ही निश्चय होता है क्योंकि उत्कण्ठा के कारण का अमान्य उसके विरुद्ध पदार्थ के [कथन के] द्वारा विदित होने पर भी 'तव भी चित्त उत्कण्ठित ही हो रहा है' यह जो उत्कण्ठा-रूपीकार्य का उदय है, अन्त में यही वाक्यार्थरूप से प्रसूद्ध होता है । और इसीलिए 'अनुरक्तता की वरपत्ति' यहाँ प्रतिपाद्य ही नहीं है अतः विशेषोक्ति बाधित हो जाती है, फलतः केवल विभावना ही प्रवान रूप से प्रतीत होती है । दूसरे उदाहरण ['त्वद्वक्त्रचन्द्रे०] में रूपक ही निश्चित होता है । क्योंकि यहाँ दोनों ही समास बन्धप्रयोजनक हैं और दोनों ही एक ही स्थान पर एक साथ उपस्थित हैं । फलतः दोनों समान बलवाले हैं । अतः [यही व्याकरणशास्त्र की भाषा में] उनका विप्रतिपेध हुआ । और विप्रतिपेध में [तुल्यबलवाले नियमों की एक साथ एकत्र जहाँ प्राप्ति हो वहाँ] परवर्ती नियम को मानना चाहिए' इस नियम के अनुसार रूपक समास ही यहाँ हो पाता है, क्योंकि वही परवर्ती है [अर्थात् उसीका प्रतिपादक मयूरग्वंसकादि० सूत्र परवर्ती है] यही यहाँ रूपक के प्रति साधक प्रमाण है । इसलिए यहाँ किसी ने जो 'विना बाध के कार्य संभव हो तो बाधयुक्त क्रम अपमाना अमान्य होता है'—इस नियम के अनुसार लक्षण—स्वरूप रूपक समास का बाध करके यहाँ आश्रयस्वरूप उपमित समास ही प्रवृत्त होता है, अतः यहाँ उपमा का ही साधक प्रमाण है' यह कहा था वह गलत था क्योंकि आपके मत में समास प्रायः लक्षणपरक होते हैं, अतः उपमित समास भी लक्षणपरक ही सिद्ध होता है अतः उसका बाध नहीं होता फलतः उपमा के प्रति भी यहाँ कोई बाधक प्रमाण उपस्थित नहीं है । यदि कहें कि उपमा में केवल लक्षणा होती है और रूपक में लक्षितलक्षणा, इसलिए दोनों पक्ष समान नहीं हैं । [अतः विप्रतिपेध का प्रश्न नहीं उठता] तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर भी पूर्ववत् विना बाध के काम चलना संभव नहीं होगा । क्योंकि यह [उपमित समास] तो बाधपूर्ण क्रम से ही प्रतीत होता है अतः वहाँ [त्वद्वक्त्रचन्द्रे में] वही [रूपक समास ही] मानना चाहिए । [सर्वस्वकार] यही कहते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

यत्र तु कस्यचित्परिग्रहे साधकं बाधकं वा प्रमाणं विद्यते, तत्र नियतपरिग्रहः । तत्रानुकूल्यं साधकम्, प्रातिकूल्यं बाधकम् । तत्र साधकं यथा—

'प्रसरद्विन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने ।
नमोऽनन्तप्रकाशाय शंकरक्षीरसिन्धवे ॥'

अत्र शंकर एव क्षीरसिन्धुरिति रूपकस्यामृतमयत्वं साधकम् । तस्य शंकरापेक्षया क्षीरसिन्धावनुकूलत्वात् । उपमायास्तु न बाधकम् । शंकरेऽपि तस्योपचरितस्य संभवात् । यथा वा—

'पतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापत्तिपाण्डुराणि ।
संग्रह्यहं पश्यत दिग्बधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि ॥'

अप्रावतंसनं प्रसूनैश्चनुगुणमिति रूपकपरिग्रहेण साधकं प्रमाणम् ।
याधकं यथा—

‘शरदीच प्रसर्पन्त्यां तस्य कोदण्डटंकृतौ ।

विनिद्रजृम्भितहरिर्विन्ध्योदधिरजायत ॥’

अत्र विन्ध्य उदधिरिवेत्युपमापरिग्रहे विनिद्रजृम्भितहरिरिति साधारणं विशेषणं याधकं प्रमाणम् । ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ (पा० सू०) इति घचनादुपमासमासे प्रतिकूलत्वात् । यतश्च पारिशेष्याद् रूपकपरिग्रहः । न तु शरदीचेत्युपमाधोपमासाधकत्वेन विज्ञेया । न ह्यौपम्येन कदाचिद्व्यसिद्धिः । [नहि घापेण पंचाशत्सिद्धिः ।] नह्येकेनालंकारेणोपक्रान्तेन निर्वाहः कर्तव्य इति राजाह्वेपा । नापि धर्मसूत्रकारघचनम् । नाप्येव न्यायः । उत्तरोत्तरसाम्यप्रकर्षविचक्षणे प्रकाशतोपमापरित्यागेन रूपकनिर्घोहस्वोचितत्वात् । चिपर्ययस्तु दुष्ट एव । यथा - ‘येनेन्दुर्दहनो चिपं मलयजं द्वारः कुठारायते’ इति । तस्मात् प्रकृते सामान्यप्रयोग उपमापरिग्रहे याधक इति मयूरव्यंसकपादेराकृतिगणत्वाद् रूपकसमासाधयेण रूपकमेव योद्धव्यम् । एवं ‘भाष्याब्धिः फ्यातिगम्भीरः’ इत्यादौ द्रष्टव्यम् । साधक-याधकामाये तु संद्वेहसंकरः । यथोदाहृतम् ।

किन्तु यहाँ किसी एक [अलंकार] को अपनाने में साधक या बाधक प्रमाण रहता है वहाँ एक किसी को अपना लिया जाता है । यहाँ साधक का अर्थ है आनुकूल्य और बाधक का प्रातिकूल्य । इनमें से साधक यथा—

‘भित्तमें विन्दु और नाद का प्रसार हो रहा है भित्तका स्वरूप शुद्ध अमृतमय है और जो अनन्त प्रकाशमय है ऐसे शिवक्षीरसागर को प्रमाण है ।’

यहाँ ‘शिव ही क्षीरसागर’—इस प्रकार के रूपक के प्रति ‘अमृतमयता’ साधक है । क्योंकि उसकी स्थिति शिव ही अपेक्षा क्षीरसागर में ही [प्रसिद्धिबशात्] अनुकूल है, किन्तु वह उपमा का बाधक नहीं है, क्योंकि लक्षणा द्वारा उसका अस्तित्व शिव में भी माना जा सकता है । दूसरा उदाहरण, यथा—

‘मैं, अवन्नितान पारिजात से लवण, चन्द्रगौर, यश-प्रसूनो को, देखो, दिग्बनिताओं का अवर्तल बनाए देता हूँ ।’ नवसाहस्रानुचरित १।२६] ।

यहाँ अवतल बनाना प्रसूनो में ही उचित पद्यता है इसलिए रूपक मानने में यह प्रमाण साधक प्रमाण हुआ ।

बाधक प्रमाण का उदाहरण, यथा—

‘उमके वज्रुष की टकार जब शरद वेममान फैलने लगे तो विन्ध्योदधि हरि [विष्णु और सिद्ध] की नींद टूट गई । वे अँभाइयाँ लेने लगे ।’ [नवसाहस्रानुचरित २।२६] ।

यहाँ ‘विन्ध्य उदधि के समान’ इस प्रकार उपमा मानने में ‘विनिद्रजृम्भित हरि’ यह उमय साधारण विशेषण बाधक है क्योंकि वह ‘साधारण धर्म’ का प्रयोग न हो तो उपमित बाधक पद से समाप्त होता है—इस नियम के अनुसार प्रतिकूल है । इस कारण वचे हुए रूपक को ही अपना लेना पद्यता है । यहाँ जो ‘शरद के समान’ यह उपमा है वह उपमा के प्रति साधक नहीं

मानना चादिय । ऐसा भोड़े ही है कि केवल साम्यमात्र से किसी वस्तु की सिद्धि हो जाए [चाप चाश की उच्चारणसमता मात्र से] चाप से पंचाशत् की सिद्धि नहीं होती । 'जी कोई अलंकार आरम्भ में दिया हो स्वसंहार भी उसी है किया जाए' ऐसी कोई न तो राजाशा है और न धर्मसूत्रकारों का वचन । न तो यह उचित ही है । यहां साम्य में उत्तरोत्तर उत्कर्ष की विवक्षा है अतः यहां आरम्भ में धार्ड्य उपमा को छोड़ रूपक को अपनाना ही उचित है । विपरीत क्रम सदीप ही होगा । उदाहरणार्थ—'भिससे चन्द्रमा अग्नि है चन्दन विप है और हार कुठार सा लगता है' यह त्यल [लें] यहां रूपक से आरम्भ कर अन्त उपमा से किया गया है, जो साम्योत्कर्षविवक्षा के विपरीत है] । इसलिये प्रकृत ['शरदोव'० पथ] में सामान्य-धर्मवाचक शब्द का प्रयोग उपमा में वाधक है अतः मयूरव्यंसकादिगण के आकृतिगण होने से रूपक समाप्त मानते हुए रूपक [को] ही [अलंकार] जानना चाहिए । इसी प्रकार 'कहाँ अतिगम्भीर भाष्याब्धि' इत्यादि में समझना चाहिए । [यहाँ भी गंभीरता रूपी सामान्यधर्म का वाचक 'अतिगम्भीर' शब्द है, अतः रूपकसमाप्त ही प्राण है] ।

[जहाँ] साधक और वाधक [दोनों ही] प्रमाण न हों [वहाँ संकर] संदेहसंकर होता है, जैसा कि [यः कोमारहरः] उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है ।

विमर्शिनी

एतदेव दर्शयति—तत्रेत्यादिना । न वाधकमिति । न पुनः साधकमदीश्वर्यः । वाधकावा-
भावमात्रेण साधकत्वानुपपत्तेः । तथात्वे ह्यत्रापि संदेहसंकरः स्वादिति भावः । यथा
वेति । पूर्वत्र शंकरेऽप्युपचरितस्यामृतमयवस्य संभवात्संदेहभ्रमः कस्यचित्स्यादिरसस्यो-
दाहरणस्य पुनरुपादानम् । साधारणमिति । सामान्यप्रयोगे हि विन्ध्य उद्धिरिवैरसमाप्त
एव स्यात्, यथा—'पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूर' इति । अतश्चेति । उपमाया वाधकप्रमाण-
संभवाद्प्रवृत्तेः । पारिशेष्यादिति । न पुनः साधकप्रमाणसंभवादिरस्यर्थः । उचितत्वादिति ।
रूपनिर्वाहेण साम्यस्याधिक्वेन प्रवृत्तिः । विपर्यय इति । रूपकोपक्रमेणोपमानिर्वाहः द्रष्ट
इति साम्यस्य लाघवेन प्रतीतेः । 'स्वेच्छाचारिणि यत्पुरा प्रियसखीवाचस्त्वया नाहता
परकव्याणपरालमुक्ति प्रियतमः पादानतो नेक्षितः । तस्येदं हरिणाचि कुनंचतरोरथापि
खालं फलम्' इति चास्य पादत्रयी । एवं चाधिकप्रकर्षालंकारोपक्रमेण तत्रप्रकर्षालंकारै-
र्निर्वाहो न कार्य इत्यप्यनेन सर्वालंकारशेषत्वेनोक्तम् । प्रकृत इति । शरदीवेश्यादी ।
द्रष्टव्यमिति । उपमाया वाधकत्वम्, अतिगम्भीरत्वस्य सामान्यस्य हि प्रयोगे उपमासमाप्ते
वाधक इति रूपकपरिग्रह एव युक्तः । उदाहृतमिति । 'यः कोमारहरः' इत्यादिना ।

इसीकी दिखलते हुए लिखते हैं—तत्र इत्यादि । न वाधकम् = वाधक नहीं, अर्थात् साधक
भी नहीं । क्योंकि केवल वाधकत्व के अभाव से साधकत्व सिद्ध नहीं होता । ऐसा होने पर यहाँ
भी संदेहसंकर होता । यथावा—प्रथम उदाहरण में शंकर में औपचारिक अमृतमयवस्य का रहना
संभव है अतः वह किसी को संदेहसंकर का भ्रम हो सकता है, इसलिये इसका उदाहरण पुनः दिया ।
साधारणम् = साधारणधर्म का प्रयोग करने पर [यदि उपमा की विवक्षा रहती तो] 'विन्ध्य
उदधि के समान इस प्रकार समासरहित वाक्य ही बोला जाता, जैसे—'यह पुरुष व्याघ्र के समान
शूर है' यह वाक्य । अतश्च = और इसलिये—अर्थात् वाधक प्रमाण के रहने से उपमा की प्रवृत्ति
न होने से । पारिशेष्यात् = शेष बचने से = न कि साधकप्रमाण के सङ्गत् से । उचितत्वात् =
उचित होने से = रूपक से वाक्यसमाप्ति करने पर साम्य की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में होती है इस

कारण । विपर्यय = विपरीत क्रम में = रूपक से आरम्भ कर उपमा से वाक्य समाप्त करना ।
 ॥ = सदोष क्योंकि उसमें साम्य की प्रतीति कम मात्रा में होती है । ['येनेन्दुर्दानः] इस पद्य
 के तीन चरण ये हैं—'स्वेच्छाचारिणि' [मूल टीका में प्रदत्त, अर्थात्]

अथ स्वेच्छाचारिणी, श्रियसखियों की बात जो तुने पहले ही नहीं मानी और अथ कव्याण-
 विमुखे, पैर पद रङ्गे श्रियतम पर तुने जो दृष्टि तक न डाली, वसी गलतीरूपी पृथ का, हे मृगाक्षि,
 यह फल है, जो अभी तो बाल [लया] ही है ।

इस प्रकार सभी अलङ्कारों के विषय में ग्रन्थकार ने यह नियम बतलाया कि यदि
 आरम्भ किसी प्रकृत अलङ्कार से किया गया हो तो अवसान उससे प्रकृत अलङ्कारों से नहीं करना
 चाहिए । प्रकृत = 'शरदोव'० इत्यादि पद्य में । द्रष्टव्यम् = जानना चाहिए = अर्थात् उपमा के
 प्रति बाधकता । 'अतिगम्भीरत्व'—रूपो सामान्य धर्म का प्रयोग उपमासमास का बाधक है इसलिये
 यहाँ रूपक अपनाना ही उचित है । उदाहरण = उदाहरण दिया जा चुका है अर्थात् 'यः
 कौमारहर'० इस पद्य के द्वारा ।

[सर्वस्व]

तृतीयस्तु प्रकार एकवाचकानुप्रवेशलक्षणः, यत्रैकस्मिन्वाचकेऽनेकालं-
 कारानुप्रवेशः, न च संदेहः । यथा—

'मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी ।

तथापि मूर्ध्नि गङ्गे चक्रधारा पतिष्यति ॥'

अथ मुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनी-
 ति श्लेषविशेषणसमुत्पन्नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्दे-
 ऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात् ।

अथ यथार्थश्लेषेण महोपमायाः संकरस्तथा शब्दश्लेषेणापि सद्दृश्यते ।
 यथा—

'सत्पुष्करद्योतितरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये ।

उद्यानवापीपयसी च यस्यामेणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते ॥'

अथ 'पयसी च नाट्यगृहे रमन्ते' इत्येताद्यतैव समुच्चितोपमा निष्पन्ना
 सत्पुष्करद्योतितरङ्ग इति शब्दश्लेषेण सदैकस्मिन्नेव शब्दे सङ्कीर्णा ।

शब्दालंकारयोः पुनरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः पूर्ध्वमुदाहृतो 'राजति
 तट्टीयम्' इत्यादिना । एकवाचकानुप्रवेशेनैव चात्र संकीर्णत्वम् । अत एव
 व्यवस्थितत्वमन्यानुमापितमप्रयोजनकम्, तुल्यजातीयोरप्यलंकारयोरे-
 कवाचकानुप्रवेशसंभवात् ।

शब्दार्थवर्त्यलंकारसंकरस्तु भट्टोजनप्रकाशितः संघृष्टायन्तर्भावित
 इति त्रिप्रकार पद्य संकर इह प्रदर्शित ।

[संकर का] तृतीय जो भेद है उसकी संज्ञा है 'एकवाचकानुप्रवेश [संकर]' जिसमें एक ही
 वाचक में अनेक अलंकारों का समावेश रहता है, किन्तु संदेह नहीं रहता । यथा—

'विष्णुनिर्गतं तथा नरक [नरकासुर तथा रौरव आदि नरक]—नाशक [अतएव] गंगाजी
 वैसी वक्रधारा इन्द्रादे सिंहर पर भी पड़ेगी ।'

यहाँ 'विष्णुनिर्मत' इस साधारणविशेषण से [गंगोपमानक तथा वक्रधारोपमेयक] उपमा सिद्ध होती है। साथ ही 'नरकनाशक' इस विलिप्त विशेषण से उल्थापित श्लेष भी ['नरक'-पद में] है जो उपमा का वाचक है। इस प्रकार ये दोनों [उपमा तथा श्लेष] एक ही [नरक] शब्द में समाविष्ट हैं, क्योंकि वह [नरक शब्द उपमा तथा श्लेष] दोनों का ही उपकार करता है [इस पद्य पर प्रतीहारन्दुराज की विवृति द्रष्टव्य है—कान्यालंकारसारसंग्रह ५।११]

यहाँ [उपशुक्त पद्य में] जैसे अर्थश्लेष के साथ उपमा का संकर है वैसे शब्दश्लेष के साथ भी होता है। यथा—

जहाँ मृगाक्षीजन स्रग्पुष्करघोषि सरङ्ग से शोभित तथा जोरों से पीटे जाते मृदंग वाद्य से युक्त बापीजल के ही समान नाटयगृह में रमा करती हैं। [बापीपक्ष = स्रग् पुष्कर = कमल, से खोती उज्ज्वल तरंग ॥ शोभित, मृदंगवाद्य = पानी को हाथों से पीट पीट कर बजाया जा रहा जलास्फालनरूपी मृदंगवाद्य; नाटयगृहपक्ष = स्रग् पुष्कर = एक प्रकार का मगडा अर्थात् नान्दी, घसते घोतित = प्राणवान् है रंग नाटयारम्भ जिसमें, मृदङ्ग = एक भिन्न प्रकार का नगाड़ा तद्रूपी वाद्य बजाया जाता रहता है जिसमें, नवसाहस्राक्षरित २।५४]

इस पद्य में 'जल के समान नाटयगृह में रमा करते हैं'—इतने से ही समुचित [पूर्ण] उपमा निष्पन्न हो जाती है। वह 'स्रग्पुष्करघोषितरङ्ग' इस एक शब्द में शब्दश्लेष के साथ संकीर्ण कर दी गई है।

केवल शब्दालंकारों के एकवाचकानुप्रवेश संकर का उदाहरण 'राजति तटीयम०' इस पद्य के द्वारा पहले ही दिया जा चुका है। इस पद्य में एकवाचकानुप्रवेश के कारण ही संकर है [न कि मन्मथ के कथनानुसार अंगभिभाव के कारण]। इसी लिए अन्य आचार्य [मन्मथ] द्वारा जो यहाँ [विमर्शिनी में उद्धृत कारिका में] 'व्यवस्थितता' की बात कही गई है वह निरर्थक है।' क्योंकि एकजातीय अलंकारों का भी समावेश एक वाचक में संभव ही है।

'द्वन्द्वने [शब्दार्थव्यत्ययलंकार नाम से] जो शब्द और अर्थ के अलंकारों का परस्पर में संकर बतलाया है उसे संसृष्टि में अन्तर त कर दिया गया है। इस प्रकार संकरकेवल तीन ही प्रकार का बतलाया गया।

विमर्शिनी

न च संदेह इति । संदेहसंकरे यद्यप्येकवाचकत्वमस्ति, तथापि तत्र संविद्यमानत्वेन चक्रकारोऽस्तीति ततोऽस्य वैलक्षण्यम् । इह श्लोकानुप्रविष्टयोरलंकारयोर्निश्चितत्वेन निवन्धनम् । एकवाचकानुप्रविष्टत्वेन चालंकारयोः संसृष्टत्वेन चारुतातिशयोपजन इति नैवैकहेतुकत्वेन संकरोपमयोरिवेत्युक्त्या नास्याभावो वाच्यः । न हि यमकयोः संसृष्टत्वेनैवावभासोऽस्तीति यथोक्तमेव युक्तम् । अर्थश्लेषेणेति । नरकशब्दस्य दानवनिर्धार्यकत्वात् । घोषितरङ्गेति शब्दस्य स्रग्पुष्करश्लेषः ।

न चास्योदाहरणद्वयमेतद्यत्नम् । उपमाप्रतिमोत्पत्तिहेतुकस्य श्लेषस्यैवात्रालंकारत्वात् । उपमा हि श्लेषस्य हेतुत्वेनैवागता । तां विना तस्यानुष्ठानात् । अतश्च श्लेष एवात्र प्राधान्येनालंकारः । एवं न संकरः, एकस्यैवात्रालंकारस्य स्थितेः । तस्य च द्विप्रभृतीनां संसृष्टतायामुक्तत्वात् । उदाहरणान्तरं यथा—

'अष्टे न्यस्योत्तमार्ङ्गं प्लवगवलयपतेः पादमचस्य हन्तुः'

कृश्वोरसङ्गे सलीलं रवचि कनकसृगत्याङ्गमाघाय शेषम् ।

वाणं रचःकुलध्वं प्रगुणितमनुजेनादरात् तीक्ष्णमधगः

कोणेनैवैवमाणस्वदनुजवचने दत्तकर्णाऽयमास्ते ॥'

अत्रेहतीश्वराणां स्वभाव इति स्वभावोक्तिः, दादारथेश्च प्रायसाथमाणत्वमिति भाविक-
मित्येकस्मिन्नेव वाचकेऽलंकारद्वयमनुप्रविष्टमित्ययं संकरः । अत्र च भाविकस्वभावोपरयो-
रूपकार्योपकारकभावेनाङ्गान्निवेश्येकवाचकानुप्रवेशकृतो वैचिन्त्यातिशयः प्रधानस्या प्रती-
यत इत्येतद्बुदाहरणम् । अङ्गान्निभावश्च मिश्रवाचकालंकारगतत्वेन लघ्वावकाशोऽस्ति ।
अतो 'राजति तटीयम्' इत्यादावेकवाचकानुप्रवेशोऽपि निरवकाश इति ततोऽस्य पृथ-
ग्भावः । अत एवेति । शब्दालंकारधोरेकवाचकानुप्रवेशात् । अन्येति । अन्यैः काव्यप्रकाश-
कारादिभिः । यदुक्तम्—'स्पृष्टमेकत्र विषयं शब्दार्थालंङ्कितद्वयम् । स्पष्टमितं च' इति ।
अप्रयोजनकमिति । तथानुभाषणं पुनर्न कश्चिद् दोष इति भावः । मुरारिनिरगतेत्यादीं छर्पा-
लंकारवाच्य सनातीययोरुपमाश्लेषयोः पूर्वोक्तनीत्या मिश्रविपर्ययेनाप्येकवाचकानुप्रवेशो-
ऽस्तीत्यर्थः । एवं शब्दाश्रयःशब्दार्थोपर्यवाच्य सुव्यञ्जनीयानामलंकाराणामङ्गान्निभाषा-
दिना संकर उक्तः । शब्दार्थवर्तिनामलंकाराणां पुनः ससर्गणायमलंकार इत्याह—शब्दार्थ-
स्यादि । न केवलं काव्यप्रकाशकारेण शब्दार्थवर्तिनोरलंकारयोः संकर उक्तो यावदनेना-
पीति भावः । तदुक्तम्—'शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाच्य एकत्र भासिना, संकरः' इति ।
संश्लेषमिति । अनयोर्द्वयभेदात् तिलतण्डुलन्यायेन स्पष्ट एव भेदादगम इत्यथैवान्त-
र्भावो युक्तः । विपर्यय इति । अङ्गान्निभावसंश्लेषेकवाचकानुप्रवेशेन । यदुक्तम्—

'तेनासौ त्रिरूप. परिकीर्तितः' इति ।

एवं संदेहसंकरस्यानुपपत्तावपि चिरंतनोच्छ्वादेवाप्य ग्रन्थकृता विप्रकाररथमेवोक्तम् ॥'

न च संदेह. = संदेह न हो, = यद्यपि संदेह संकर में भी एकवाचकत्व रहता है, तब भी वहाँ
चमत्कार संदेह के कारण होता है, अतः उससे इसमें अन्तर रहता है । इस [संकर] में जो दो
अलंकार एक वाचक में प्रविष्ट रहते हैं उन दोनों का निश्चवारमक ज्ञान होता रहता है । 'एक
वाचक में प्रविष्ट अलंकारों में चाइतातिशय संसृष्टिस्व सवन्ध से होता है'—ऐसा मानकर
'नैवैकश्रेतुकत्वेन संकरोपमयोरिव' इस शक्तिद्वारा [संकर का] यह [एकवाचकानुप्र०]
भेद नहीं होता' ऐसा नहीं कहना चाहिए । समक जो है, वे संसृष्टरूप से भासित नहीं होते,
अतः जैसा सर्वस्वकार ने कहा है जैसा ही मान लेना ठीक है । अर्थश्लेषेण = अर्थश्लेष से क्योंकि
नरक शब्द दानव और निरय इन दो अर्थों का वाचक है । च्योतितरङ्ग शब्द ['च्योति तरङ्ग' तथा
'च्योतिव रङ्ग' इस प्रकार] समङ्ग शब्द है, इसलिये यहाँ शब्दश्लेष है ।

इस [ग्रन्थकार = सर्वस्वकार] के जो जो दो उदाहरण हैं—['मुरारिनिरगता' तथा 'सस्यु-
पकरयो'] ये ठीक नहीं हैं । क्योंकि इनमें [उद्धृत के अनुसार] उपमा को वाचक श्लेष ही
[प्रधानरूप से] अलंकार बनता है । उपमा जो है वह तो यहाँ श्लेष का हेतु बन कर आरंभ है
क्योंकि उस [उपमा] के बिना उस [श्लेष] की निष्पत्ति ही नहीं होती । इसलिये यहाँ श्लेष ही
प्रधानरूप से अलंकार है । इस प्रकार यहाँ संकर नहीं है क्योंकि यहाँ केवल एक ही अलंकार की
स्थिति है । वह [संकर] तो दो तीन आदि के संसृष्ट होने पर बतलाया गया है । इसका अन्य
उदाहरण यह होगा—

'यदाश्वि रावण का शूराचर राम के विषय में उससे कह रहा है कि] यह [राम] इस
समय वानर सेनापति [सुग्रीव या अंगर] की गोद में चिर, बछकुमार के इन्ता [इन्तुमात्]
की गोद में पैर और शेषशरीर कनकमृग की छाछ पर रखकर, लक्ष्मण द्वारा तेज किय गय अतएव
अनेक राक्षसों के घातक बाण की आँस के कने से सादर देख रहा और छोटे मार के कपन पर
कान लगाय हुए है ।

इस पद्य में एक तो स्वभावोक्ति है, क्योंकि मालिक लोगों का स्वभाव ऐसा ही होता है और दूसरे यहाँ भाविकालंकार भी है क्योंकि यहाँ शीराग प्रत्यक्ष से दिखाई पढ़ने लगते हैं। इस प्रकार एक ही वाचक [पदावली] में दो अलंकार अनुप्रविष्ट हैं। इसलिए यहाँ यह [एकवाचकानुप्रवेशनामक] संकर है। यहाँ यद्यपि भाविक और स्वभावोक्ति में परस्पर में उपकार्योपकारकभाव संयन्ध भी है [अतः यहाँ अंगांगिभावमूलक संकर भी संभव है] तथापि [यहाँ एकवाचकानुप्रवेश से उत्पन्न चमत्कार प्रधानरूप से प्रतीत होता है, इसलिए यह उदाहरण इसी [एकवाचक संकर] के लिए दिया। अंगांगिभावसंकर उन अलंकारों में भी हो सकता है जहाँ वाचक भिन्न होते हैं। इसलिए 'राजति तदीयम्' पद्य में [सर्वैस्वकार द्वारा प्रस्तावित] एकवाचकानुप्रवेश भी नहीं होता [क्योंकि यहाँ वाचक शब्द समप्रत्यय द्वारा बदल जाते हैं] इस प्रकार [संकर का] यह [एकवाचकानुप्रवेशनामक] प्रकार इस [अंगांगिभाव नामक प्रकार] से पृथक् है। अतएव = शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के एक वाचक में अनुप्रवेश के कारण। अन्य = कान्यप्रकाशकार आदि, जैसा कि उन्होंने [काव्यप्रकाश में एकवाचकानुप्रवेशसंकरके लक्षण में] कहा है—'और एक ही स्थान पर शब्द और अर्थ के अलंकार व्यवस्थित रहते हैं।' अप्रयोजनकम् = निरर्थक = अर्थ यह है कि वैसा बोलना कोई दोष नहीं। 'सुरारिनिर्गतां' इत्यादि पद्यों में, जो है सो, उपमा और श्लेष दोनों ही अर्थालंकार हैं अतः दोनों सजातीय हैं और अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं, किन्तु यहाँ वे एक ही वाचक में अनुप्रविष्ट होकर गए हैं। इस प्रकार केवल शब्दाभित होने अथवा केवल अर्थाभित होने से जो समानजातीय होते हैं ऐसा अलंकारों का अंगांगिभाव आदि से होने वाला संकर बतलाया जा चुका है। अब 'शब्द और अर्थ में रहने वाले अलंकारों के संसर्ग से भी यह अलंकार उत्पन्न होता है—यह बतलाने के लिए लिखते हैं—'शब्दार्थ', इत्यादि अर्थ यह कि शब्द और अर्थ के अलंकारों का संकर केवल कान्यप्रकाशकार ने ही नहीं बतलाया, उस [उद्धृत] ने भी इसे बतलाया है। जैसा कि [उद्धृत ने] कहा है—

'एक ही वाक्य में भासित होने वाले शब्द तथा अर्थ के अलंकार संकर [कहलाते हैं]।'

[उद्धृत ने शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के एक साथ एक वाक्य में आने पर शब्दार्थ वक्ष्यलंकारसंकर माना है और वाक्यांश में आने पर भी। मम्मट ने केवल वाक्यांश में आने पर ही यह भेद स्वीकार किया है। सर्वरक्षकार केवल वाक्यगत भेद का खण्डन कर रहे हैं अतः इसे केवल उद्धृत का खण्डन मानना चाहिए, मम्मट का नहीं]

संसृष्टी = संसृष्टि में, इन दोनों [अलंकारों] में तिल और तण्डुल [चावल] के समान भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें आशय (शब्द और अर्थ) में भेद रहता है। इसलिए इनका अन्तर्भाव इसी [संसृष्टि] में मानना ठीक है। त्रिप्रकारः = तीन प्रकार का = (१) अंगांगिभाव (२) संश्लेष तथा (३) एकवाचकानुप्रवेश इन तीन भेदों के आधार पर। जैसा कि [मम्मट ने भी] कहा है—'इस कारण यह तीन प्रकार का बतलाया गया है'। इस प्रकार संदिहसंकर के सिद्ध न होने पर भी अन्यकार ने इसके जो तीन भेद बतलाए हैं वह केवल प्राचीनतर [उद्धृत, मम्मट] आलंकारिक आचार्यों के द्वारा वैसा बतलाए जाने के कारण ही ॥

विमर्श—संसृष्टि का पूर्वतिहास :—

संस्कृत काव्यशास्त्र में संकर तथा संसृष्टि का इतिहास अतीव विकासपूर्ण है। दण्डी, मामद तथा वामन ने इन दोनों को एक ही शीर्षक में रखा था। और उसे संसृष्टि नाम दिया था। उद्धृत ने दोनों को पहली बार पृथक् प्रतिपादित किया और संकर को पंचम वर्ग में रखकर संसृष्टि

वृष वर्ग में गिनाया। वह भी अन्त और आरम्भ के सातत्य में नहीं, अपितु अनेक अलङ्कार बीच में देकर। परवर्ती रुद्र ने इन दोनों को पुनः अभिन्न माना और जहाँ पूर्वाचार्यों ने अभिन्न मानने हुए संसृष्टि नाम दिया या वहाँ रुद्र ने इन्हें छंकर नाम दिया। मम्मट ने रुद्र का अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के दो वर्ग बन आते हैं अभेदवादी तथा भेदवादी। क्रमशः सोद्धारण विवेचन—

[क] अभेदवादी आचार्यों में संसृष्टिवादी आचार्य—

[१] दण्डी = 'नानालङ्कारसंसृष्टि' संसृष्टिस्तु निगद्यते ॥ २।३५९ ॥

अंगागिमावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता ।

इत्यलङ्कारमसृष्टेऽलङ्कणीया द्वयी मतिः ॥ २।३६० ॥

उदाहरण = 'आधिपनयरविन्दामि मुग्धे तव मुञ्चमिवम् ।

कोशदण्डसमप्राणा किमेषामस्ति दुष्करम् ॥ २।३६१ ॥

किम्पतीव तमोज्ञानि [इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्य]। अर्थात् = अनेक अलङ्कारों की जो संसृष्टि [संसर्ग] वही संसृष्टि कहलाती है।

अंगागिमावपूर्वक स्थिति तथा सबकी समकक्षता इस प्रकार अलङ्कार संसृष्टि दो प्रकार की होती है ॥

[उदाहरणार्थ = अंगागिमाव संसृष्टि के लिए—] हे मुग्धे कमल तेरे मुख की शोभा हर रहे है। कोश [कमलकोश तथा खजाना] तथा दण्ड [कमलनाल तथा सेना] से समकक्ष व्यक्तियों के लिए मका दुष्कर ही क्या। [इस पद्य में पूर्वार्थ में उपमा अथवा प्रतीप है और उत्तरार्थ में श्लेष तथा अर्थान्तरन्यास। दोनों अर्थों के प्रत्येक अलङ्कारयुग्म में अंगागिमाव है और उनमें जो दो प्रधान अलङ्कार निष्पन्न होते है उनमें भी अंगागिमाव है। पूर्वार्थ में प्रतीप प्रधान है और उत्तरार्थ में अर्थान्तरन्यास। इनमें अर्थान्तरन्यास प्रतीप का समर्थक है, अतः अंग है]। 'किम्पतीव तमोज्ञानि'-स्वयं ग्रन्थकार ने ही अपना किया है। इस प्रकार दण्डी के संसृष्टि विवेचन में छंकर का स्वरूप स्पष्ट है। किन्तु इसमें छंकर का केवल एक ही भेद आ पाया है— अंगागिमाव। वस्तुतः प्रथम पद्य के पूर्वार्थ में संदिह संकर और उत्तरार्थ के 'कोशदण्ड' पद में एकवाचकानुप्रवेश संकर के बीच भी निहित है।

[२] भामह 'वरा विभूषा मसृष्टिर्बहुलङ्कारयोगतः ।

रचिना रत्नमालेन सा चैवमुदिता यथा ॥ १।४९ ॥

उदा० = गाम्भीर्यलावण्यवलयुर्वयो. प्राण्यरत्नयो. ।

सुखतेभ्यो जनानां स्वं दुष्टमाहोऽम्भसा पतिः ॥ १।५० ॥

अनलकृतकान्तं ये वदन वनञ्जपति ।

निशाकृतः प्रकृत्यैव चारोः का वास्त्यलङ्कृतिः ॥ ३।५१ ॥

अन्येषामपि कष्टंभ्या संसृष्टिरनया दिशा ॥

संसृष्टि एक उत्तम अलङ्कार है जो अनेक रत्नों के योग से उसी भाँति बनता है जिस भाँति अनेक रत्नों के योग से रत्नमाला नामक उत्तम अलङ्कार। वह इस प्रकार बतलारं गई है, जैसे—

गाम्भीर्य, [गम्भीरता, गहराई] लावण्य [सौन्दर्य खारापन] तथा प्रभूत रत्नों से आप दोनों ही युक्त है, किन्तु गुण ही व्यक्तियों के लिए सुख सेम्य जबकि समुद्र है दुष्टमाह [दुष्ट माह = पटियाळ ॥ युक्त अथवा दुष्ट दोषयुक्त है प्राह जिसका तथा दुष्ट व्यक्तियों द्वारा विरा]। [यहाँ पूर्वार्थ में श्लेष है और उत्तरार्थ में व्यतिरेक]

कमल सो कान्ति वाला तुम्हारा मुसमण्डल विना ही अलंकार के सुन्दर है। स्वभाव सुन्दर चन्द्रमा के लिए अलंकार की आवश्यकता ही क्या ? [यहाँ पूर्वार्ध में कमल की उपमा है। उससे युक्त पूर्व वाक्यार्ध उत्तरार्ध में आप इष्टान्तालंकार से परिपुष्ट हो रहा है]।

इसी प्रकार अन्य अलंकारों की भी संसृष्टि बनाई जानी चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन में मामह दण्डी के समान यह तो स्पष्ट नहीं कहते कि संसृष्टि में आप अलंकारों में अंगागिभाव तथा समकक्षता रहती है, किन्तु उन्होंने जो ये उदाहरण दिए इनमें यह अभिप्राय निहित है। प्रथम पद्य में श्लेष से व्यतिरेक निष्पन्न होता है। अतः यहाँ अंगागिभाव संभव है। द्वितीय पद्य में उपमा और व्यतिरेक परस्पर निरपेक्ष हैं। किन्तु मामह के विवेचन में संदेह और एकवाचकानुपवेश संकर की ओर दण्डी जैसा कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

मामह ने उपमारूपक और उत्प्रेक्षावचन नामक दो स्वतन्त्र अलंकारों की कल्पना की थी और दण्डी ने उन्हें रूपक तथा उत्प्रेक्षा में ही अन्तर्भूत माना था। वामन ने इन्हें संसृष्टि का अंग माना और संसृष्टि का विवेचन नवीन रूप में इस प्रकार किया—

सू० = 'अलंकारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः ॥ ४।३।३० ॥

संसृष्टिः संसर्गः

सू० = तद्भेदशुभमारूपकोत्प्रेक्षावचनौ ॥ ४।३।३१ ॥

सू० = उपमानान्यं रूपकमुपमारूपकम् ॥ ४।३।३२ ॥ यथा—

०० "कूर्ममूर्च्छिर्नयति चतुर्दश्लोकवल्लीकन्दः ।

उत्प्रेक्षाहेतुत्प्रेक्षावचनः ॥ ४।३।३३ ॥ यथा—

'अंगुलीभिरिव०' पद्य ।

अर्थात्—अलंकार का अलंकारयोनित्वं संसृष्टि कहलाता है। [अलंकारयोनित्वं = अलंकार है योनि = कारण जिसका, अलंकार का योनि = कारण] संसृष्टि का अर्थ है संसर्ग।

इसके भेद हैं उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावचन। उपमारूपक है उपमानान्य रूपक। यथा—

कूर्म रूपी मगवान् जो चतुर्दश लोकवल्ली के कन्द है, सर्वोत्कृष्ट है। [यहाँ यदि लोक को इस्ली के समान इतलाकर तन्निमित्त कूर्मावतारी भगवान् पर कन्द का आरोप किया जाय जो संभव नहीं है तो उपमारूपक हो सकता है।

उत्प्रेक्षा का उदाहरण हेतु उत्प्रेक्षाहेतु होगा।

यथा—सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत अंगुलीभिः पद्य।

वामन के अनुसार इन पद्यों में दो दो अलंकार हैं और दोनों में अंगागिभाव है। इस प्रकार वामन की संसृष्टि परवर्ती आचार्यों की भाषा में संकर ही कही जा सकती है। उसमें आप अलंकारों में अन्योन्यनिरपेक्षता नहीं है। अस्तुतः वामन ने जिसे उपमारूपक कहा है वह नवीन आचार्यों की भाषा में परम्परितरूपक है।

[ख] भवेदवादी आचार्यों में संकरवादी आचार्यों।

रुद्रट—रुद्रट ने संकर और संसृष्टि दोनों को एक ही मिश्र अलंकार के दो भेद के रूप में स्वीकार किया और उन्हें एक संकर नाम दिया।

दण्डी ने जो अंगागिभाव तथा समकक्षता के दो भेदक विन्दु प्रस्तुत किए उनके लिए रुद्रट ने ही पहले पहल तिलतण्डुल तथा नीरक्षोर के दो इष्टान्त दिए जिन्हें परवर्ती आचार्यों ने इन्हें नामों से अपना लिया। रुद्रट ने अलंकारों को चार (१) वास्तव्य (२) औपन्य (३) अतिशय

और (४) श्लेष इन चार वर्गों में बाँट और उनका प्रतिपादन कर अन्त में उनकी मिश्रित अवस्था का निरूपण करते ॥ लिखा था—

‘एषां तु चतुर्णांमपि संकीर्णानां स्युरगणिता भेदाः ।

तन्नामानस्तेषां लक्षणमशेषं मयोन्यम् ॥ १०१४ ॥

वास्तव आदि उपचारों भेदों के संकीर्ण होने पर अलङ्कारों के उन्हीं नामों से प्रचलित अगणित भेद हो सकते हैं। इनके लक्षण उन उन अशों में मिश्रकर देखना चाहिए। आगे भेद करते हुए वद्वट ने लिखा—

‘योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धवच्च ।

व्यक्त्याम्यक्तांशवार् सकर लक्षणैरे देषा ॥ १०१५ ॥

इनके तिलतण्डुल और दुग्धवच्च के समान संयोग से दो प्रकार का संकर निष्पन्न होगा है [प्रथम में] व्यक्त तथा [द्वितीय में] अम्यक्त ।’

यहाँ यह स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि वद्वट ने जो तिलतण्डुल की उपमा दी है उसका तदर्थ दिए उदाहरणों में ठीक साम्य नहीं बैठता। तदर्थ दिए उदाहरण की अभिव्यक्ति ठीक नहीं है जो सर्वस्वकार द्वारा एकवाचकानुप्रवेशसंकर के लिए दिए ‘सुरारिनिर्माणं’ तथा ‘सगुणकरघो’ इन पदों की है, जिन्हें विमिश्रितीकार ने सर्वस्वकार के विषय असंगत उदाहरण बनलाया है।

इनमें जैसे श्लेष और उपमा स्पष्ट है वैसे ही वद्वट द्वारा दिए उदाहरणों में और जैसे इनमें श्लेष उपमा का निष्पादक है वैसे ही वद्वट के उदाहरण में भी। सर्वथा ये उदाहरण अलङ्कारों में निरपेक्षता नहीं रखते। इस प्रकार मार्य तो यह है कि वद्वट के उदाहरणों से परवर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित संसृष्टि का स्वरूप नहीं निकलता फलतः तिलतण्डुलन्याय केवल व्यक्तनामाश के साम्य पर निर्भर है। रत्नाकरकार ने जो संसृष्टि का खण्डन किया है उसका मूल कदाचित् वद्वट का यही विवेचन है।

मिश्रतावादी आचार्य—

[१] वद्वट = संकर और संसृष्टि का जो स्वरूप परवर्ती आचार्य मगमत और सर्वस्वकार में मिलता है उसको इस रूप में लाने का श्रेय प्रथमतः वद्वट को है। उन्होंने पहले संकर का विवेचन किया है, संसृष्टि का बाद में। उनके विवेचन क्रमशः इस प्रकार है—

संकर—

सर्वेहसकर ॥ ‘अनेकालक्षिकयोश्चैरे सम तद्वृत्त्यसंप्रदे ।

एकस्य च प्राये न्यायशेषमादे च संकरः ॥ ५१११ ॥

अहाँ अनेक अलङ्कार समझ पक रहे हों, परन्तु उनसे चमत्कार निष्पत्ति एक साथ न होती हो और उनमें से किसी एक के अपनाने अथवा छोड़ने का कोई हेतु न हो तो उसे [संदिह] संकर कहते हैं। उदाहरण—

‘यद्यप्यत्यन्तमुचितो वरेन्दुस्ते न लभ्यते ।’

यद्यपि तुम्हारे अत्यन्त अनुरूप वरेन्दु नहीं मिल रहा है।

यहाँ ‘वर ही वरेन्दु’ इस प्रकार रूपक को माना जा सकता है और ‘वर वरेन्दु के समान’ इस प्रकार उपमा भी। अतः वद्वट और उनके टीकाकार प्रतिहारवरेन्दुराज के अनुसार यहाँ संदिह संकर है। वस्तुतः यहाँ उपमा ही मान्य है क्योंकि कन्या के लिए वन्द्या को खोज नहीं होगी, तत्सदृश

वर की खोज होती है। रूपक मानने पर चन्द्रमा ही प्रधान हो जायगा। छाम क्रिया में वसी का प्रधान रूप से अन्वय होगा जो अनुपशुक्त होगा।

शब्दार्थालंकार संकर = शब्दार्थवर्त्यलंकार। वाक्य एकत्र भासिनः।

संकरो वै—

एकवाचकानुप्रवेशसंकर = क्वाक्यांशप्रवेशाद् वाभिधीयते ॥ ५१२२ ॥

शब्द और अर्थ दोनों के अलंकार जहाँ एक साथ व एक वाक्य में चले आँ वह भी संकर होता है जहाँ एक ही वाक्यांश में [अनेक अलंकारों का] प्रवेश हो जाता है।

इसमें से प्रथम शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर का उदाहरण उद्भट ने जो दिया है, सर्वस्वकार द्वारा उद्भूत समयालंकारसंसृष्टि का उदाहरण उसके लिए अधिक उपयुक्त है। अतएव सर्वस्वकार ने इस भेद को संसृष्टि से गतार्थ मान लिया है। द्वितीय का उदाहरण [७५२ पृष्ठ पर] विमर्शिनी में उद्धृत है— 'मैवमैवास्व' इत्यादि पद्य। 'मुरारिनिर्गता' पद्य के समान यहाँ भी प्रतीहारन्दुराज के अनुसार एक ही 'इव-शब्दरूपी वाक्यांश में उपमा और श्लेष में दो अलंकार आ समाए हैं। वस्तुतः यह उसी प्रकार अमान्य है जिस प्रकार सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत 'एकवाचकानुप्रवेश' के उदाहरण।

अनुप्राशाप्राहकसंकर = परस्पररोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।

स्वातन्त्र्येणास्मलाभं चो लभन्ते सोऽपि संकरः ॥'

जहाँ अनेक अलंकार एक दूसरे का उपकार करते हुए उपस्थित हों और स्वतन्त्ररूप से निष्पन्न न हो पाते हों वह भी संकर होता है। उदाहरण, 'त्रयीमयोऽपि०' पद्य की उद्भट को पतदर्थ अमान्य न होगा।

इस प्रकार उद्भट ने संकर के चार भेद माने हैं। तीन तो वे ही जो सर्वस्वकार ने बतलाए हैं और एक वह जिसे शब्दार्थवर्त्यलंकार कह। गया है जिसे सर्वस्वकार ने उभयसंसृष्टि माना है।

संसृष्टि—

अलंकृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।

एकत्र निरपेक्षानां मियः संसृष्टिरुच्यते ॥'

जहाँ परस्पर निरपेक्ष अनेक अथवा दो अलंकार एक ही स्थल में आ जायें वहाँ संसृष्टि होती है।

उदा० = त्वाकृते सोऽपि वैकुण्ठो शश्वीनोपसि चन्द्रिकाम्।

अप्यभारं सुभाषुष्टि मन्वे त्यजति तां शिष्यम् ॥'

हे पार्वति ! तपः के लिए चन्द्रिका को अन्द्र के समान तेरे लिए तो वह विष्णु उस श्री को भी जो धारारहित अमृतशृष्टि है तुरन्त छोड़ देगा।

यहाँ एक ही चन्द्रिका तथा श्री, तथा तथा पार्वती एवं चन्द्र तथा विष्णु में उपमा० है, दूसरे श्री पर सुभाषुष्टि का आरोप होने से रूपक है। और दोनों ही परस्पर निरपेक्ष हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट एक संसृष्टि तथा संकर का सर्वांगीण निर्धारण व्यक्ततम रूप में सामने आ चुका था। परवर्ती उद्भट ने इसकी उपेक्षा की जैसा कि ऊपर अभेदवादी आचार्यों में दिए उनके मत से स्पष्ट है।

मम्मट = मम्मट ने उद्भट का अनुसरण किया और इन दोनों अलंकारों का स्वरूप विवेचन इस प्रकार किया—

संसृष्टि = 'श्लेषा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।

—'एन अलंकारों को भेदपूर्वक जो एकत्र स्थिति वह संसृष्टि मानी जाती है।' भेद का अर्थ मम्मट ने ही अन्योन्यनिरपेक्षता किया है। उनके अनुसार यह केवल शब्द और केवल अर्थ में भी हो सकती है। इनमें केवल शब्दालंकारों तथा केवल अर्थालंकार को संसृष्टि के लिए जो उदाहरण मम्मट ने दिए वे सर्वस्वकार ने ऊँहीं को अपना लिया है। उभयालंकार संसृष्टि के लिए मम्मट ने अनुप्रास और रूपक से युक्त एक गाथा 'सो णत्वि' दी है। एतदर्थ सर्वस्वका 'आनन्दमन्यर'-पद्य ही अधिक उत्तम है।

संकर =

अंगांगिभावसंकर = 'अविमान्तिजुषामारमन्यगागित्वं तु संकरः।

सदेहसंकर = 'एकस्य च ग्रहे न्यायद्रोषामानादविद्वय'।'

एकवाचकानु० = स्फुटमेकत्रविषये [विमर्शिनी में उद्धृत पृ० ७४४ पर]।

इनमें द्वितीय तथा तृतीय का अर्थ उदमट के पूर्व उद्धृत ग्रन्थ में तथा विमर्शिनी में स्पष्ट है। प्रथम का अर्थ है—'अपने आप में अविमान्ति अलंकारों का अंगांगिभाव हो तो अंगांगिभाव नामक संकर होता है। उदाहरण मम्मट के अधिक अच्छे हैं। साधकवाचक प्रमाणों का विवेचन सर्वस्वकार ने मम्मट से ही लिया है। किन्तु सर्वस्वकार के विवेचन से स्पष्ट है कि वे उदमट के व्यक्ताभ्यन्तता हेतु दिए तिष्ठनपुत्रुल्याय तथा क्षीरनीरन्याय को बराबर बनाकर उदमटनुयायी मम्मट की मान्यताओं पर चले हैं किन्तु अपनी मति से।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर = ने संसृष्टि को उदमट के ही समान अलंकार नहीं माना। उनके तर्क मूल रूप में संसृष्टि प्रकरण के अन्त में और उसी प्रकरण की विमर्शिनी में उद्धृत हैं। संकर के विषय में उनकी मान्यता है कि एकवाचकानुपवेश तथा सदेह नामक संकर के भेद भी अमान्य हैं। इस विषय के तर्क विमर्शिनी में आ लुके हैं। वे केवल अंगांगिभाव संकर को ही संकर मानते हैं। इनका मूल विवेचन इस प्रकार है—

सु० अगत्वे संकरः । ११२ ।

अन्यालंकारोपस्कारकत्वेनाज्ञता दुर्बलत्वं च संकरालंकारः ।

दु० 'हरथं साधकमानसंभवत्वात् सदेहसंभावना

नालङ्कारगता कदाचिदपि यत्राङ्गाङ्गिभावात् क्वचित् ।

सर्वेषां विषयापहारकरणात्रेकामिधानस्थितिः

संसृष्टदुक्तनयात्र तापरिमितो युक्तविधा संकरः ॥'

अर्थात् = अलंकार यदि किसी अन्य अलंकार का उपस्कारक अर्थात् शोभावर्यक होकर उसका अंग बने और उससे दुर्बल हो तो वहाँ संकर अलंकार माना जाता है।

प्रत्येक प्रधान अलंकार का साधक प्रमाण वाक्यार्थ में रहता ही है, अतः अलंकारों में संदेह की कमी भी समावना होती ही नहीं। और क्योंकि सदेह को यह समावना अंगांगिभाव से भी कमी संभव नहीं है; इसी प्रकार सभी अलंकारों के लक्षित होने के भय से संसृष्टि के समान एकाभिधानानुपवेशसंकर भी संभव नहीं है, अतः इनके आधार पर संकर तीन प्रकार का नहीं हो सकता।

अप्ययदीक्षित—सर्वस्वकार के ही समान तिष्ठनपुत्रु के समान संसृष्टि और नीरक्षीर के समान संकर मानते हैं। इनके कुवलयानन्द में संसृष्टि के वे ही भेद दिए गए हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। संकर के भेदों में ऊँहोंने दो नए भेद मिलाए हैं एक समप्रधान्य संकर और दूसरा

संकर-संकर । इनमें से प्रथम के लिए उन्होंने उदाहरण के रूप में 'अंगुलीभिरिव०' पद्य दिया है । उन्होंने यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा में प्राधान्य की समानता बतलाई है । संकर-संकर के लिए उन्होंने मम्मट द्वारा प्रथम उदात्तालंकार के लिए उदाहृत 'मुक्ताः केलि वि०' पद्य दिया है और इसमें उदात्त, तदगुण, पदार्थहेतु कान्यलिङ्गालंकार का एक वाचकानुप्रवेश माना है । आगे उसके आधार पर भ्रान्तिमान् और उसके आधार पर उदात्त की पुष्टि मान अंगानिमाव माना गया है । इन दो संकरो का यहाँ संकर माना गया है । इससे अतिरिक्त इस पद्य में दोक्षित नौ ने और भी अनेक अलंकारों की कल्पना की है । शेष भेदों पर अप्ययदोक्षित की भान्यतायै परम्परागत मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं ।

विश्वेश्वर = विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में मम्मट की परम्परा का अनुसरण कर संसृष्टि और संकर को पृथक् पृथक् माना है । इनका निरूपण इस प्रकार है—

संसृष्टि—संसृष्टिस्तु परस्परमनपेक्ष्यस्थितिरनेकस्य ।

अनेक अलंकारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति संसृष्टि ।

संकर—अगांगिमाव० = 'एकमपेक्ष्यान्यास्य प्रादुर्भावे तु संकरः प्रोक्तः ।

एक के बल पर दूसरे की निष्पत्ति हो तो संकर ।

संदेहसंकर = 'सपकवाचकमानामावच्छेकस्य निर्णयमावे ।'

सावक वाचक प्रमाण के अभाव में एक का निर्णय न होने पर [संदेह] संकरः ।

एकवाचका० = 'एकपदाच्छब्दार्थालंकारयोरवगतावन्यः ।'

शब्द और अर्थ के अलंकारों का एक ही पद से ज्ञान होने पर एक अन्य संकर होता है ।

विमर्शिनी

अधुनैतेपामलंकाराणामुपसंहारं कर्तुमुपक्रमते—शदानीमित्यादिना ।

अब इन अलंकारों का उपसंहार करने का उपक्रम करते हैं—

[सर्वस्व]

शदानीमुपसंहारसूत्रम्—

[सू० ८७] एवमेते शब्दार्थोभयालंकाराः संक्षेपतः सूत्रिताः ।

एवमिति पूर्वोक्तप्रकारपरामर्शः । एते इति प्रकान्तस्वरूपनिर्देशः । सूत्रिता अलंकारसूत्रैः सूचिताः संक्षेपतः प्रकाशिताः ।

तत्र शब्दालंकारा यमकादयः । अर्थालंकारा उपमादयः । उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः । संसृष्टिसंकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्द्रूपत्वात् ।

'लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम् । अन्यव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ, न तदलंकारत्वे । तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात् । तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरंतनमतानुसृतिरिति

संपूर्णमिदलंकारसर्वस्वम् ॥



अथ उपसर्गसूत्र वनाते है—

[सू० ८०] इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा दोनों के ये अलंकार संघेप में सूत्र द्वारा प्रस्तुत कर दिए गए ।

[वृ०] 'एवम् = इस प्रकार' = यह पूर्वोक्त का परामर्शक है । 'एने = ये' = यह कह प्रक्रान्तर का निर्देश किया । सूत्रिताः = अलंकारसूत्रों द्वारा सूचित किए गए और संघेप में प्रस्तुत किए गए ।

इनमें शब्द के अलंकार हैं यमक आदि । अर्थ के अलंकार हैं उपमा आदि और दोनों के अलंकार समयालंकार] हैं लाटानुप्रास आदि । ससृष्टि और सकर के भी कुछ प्रकार जैसे [समयालंकार] ही होते हैं ।

उनमें जो तदलंकारत्व आता है उसका कारण लोक के समान आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध है । अन्यथ स्थितिरैक तो तत्कार्यत्व [की सिद्धि] में कारण होते हैं । तदलंकारत्व [की सिद्धि] में नहीं । उन्हें यदि तदलंकारत्व का नियामक माना जाए तो शैली उपमा आदि में भी शब्दालंकारत्व प्राप्त होगा । इस कारण आश्रयाश्रयिभाव से ही प्राचीन [भाषाओं के] मन का अनुसरण हो पाता है ।

इस प्रकार यह अलंकारसंघेस्व पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार अलंकारसंघेस्व का मध्यप्रदेशस्थ सीहोरमण्डलान्तर्गत नादनेर—निवासी स्व०
प० श्री० नर्मदाप्रसाद द्विवेदी के पुत्र साहित्यशास्त्राचार्य, एच. ए., पीएच्. डी०,
प्रा० प० रेवाप्रसादद्विवेदी कृत सविमर्श हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।

धिमर्शिनी

इदानीमिति । प्राज्ञावसरमिति [भावः] । यथातत्त्वं सर्वेषामलंकाराणां निर्णीतत्वात् । तद्देवाह—एवमित्यादि । एतदेव व्यासधे—एवमित्यादिना । संघेपेणेति । ग्रन्थस्य, न पुनरर्थस्य । तस्य हि तथावक्यने तेषां स्वरूपमेव कथितं न स्यात् । एवं ग्रन्थसंघेपेणापि सर्वेषामलंकाराणां विस्तरत एव यथासंभवि स्वरूपमुक्तमिति प्राप्यालंकारग्रन्थेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमपि च्यवितम् । तत्र ग्रन्थविस्तरेणाप्येतरस्वरूपस्यावधानिघःनात् । अत एव ग्रन्थकारेण प्रयोजनमपि च्यवितम् । के ते शब्दार्थोभयालंकारा इत्यादाह—तत्रेत्यादि । आदिग्रहणादनुप्रासान्वयरलेपादीनां ग्रहणम् । ननु च लाटानुप्रासरलेपयोरेवोभयालंकारत्वं पूर्वमुक्त्वा उभयालंकारा इति बहुवचननिर्देशं कथं संयच्छते इत्यादाह—संसृष्टीत्यादि । तत्र संसृष्टेकभयालंकारत्वं यथा—'आनन्दमन्थर-' इत्यादि । संकरस्य यथा—

'मैवमेवास्व सच्छायकर्णिका आहवर्णिका ।

अमोत्रिनीव चित्रस्था नेत्रमात्रसुस्रवा ॥'

अत्र शब्दार्थालंकारमंसर्गादुभयालंकारत्वम् । सकरस्य चैतदुभयालंकारत्वमौद्धतमत् एवावसेयम् । ग्रन्थकृता ह्यस्य समनन्तरमेव संसृष्टावन्तर्भाव उक्तः । अतश्च ग्रन्थकृन्मते लाटानुप्राससंसृष्टिरलेपाणामेवोभयालंकारत्वम् ।

ननु तुवपत्वेऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य कश्चिदुभयस्येति कुतः पुनरर्थं प्रतिनियम इत्यादाह—लोकवदित्यादि । लोकेहि योऽलंकारो

यदाश्रितः स तदलंकारतयोपपत्ते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः । एवमिहापि शब्दाद्याश्रितस्तदलंकार इति सिद्ध एव विषयविभागरूपः प्रतिनियमः । यत्त्वन्वैरन्वय-व्यतिरेकौ तदलंकारनियन्धनस्वेनोक्तौ तदयुक्तमेवेत्याह—अन्वयेत्यादि । एवं हि श्रौतो-पमायामिवादिशब्दान्वयव्यतिरेकानुवर्तनात्तत्कार्यत्वमेव न पुनस्तदलंकारत्वम् । तस्या-विशेषात् । अर्थस्य पुनरलंकारत्वात् तदलंकारत्वमेव युक्तमिति तात्पर्यार्थः । एतच्चोद्भूतविधेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चयुक्तमिति ग्रन्थविस्तारमथान्नेहास्माभिः प्रपञ्चितम् । एतदेवोप-संहरति—तदमादित्यादि । आशयाश्रयिभावेनेति । उपसर्कार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः । तेन योऽ-लंकारो यदुपस्कारकः सः तदलंकार इति पिण्डार्थः । धिरंजनेति । अनेनास्माभिः सर्वत्रैव तन्मतानुवृत्तिरेव हृतेर्याऽभिपयमनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति शिवम् ॥

राजराज इति भ्रूसुजामभूदग्रणीर्गुणिराणश्रयः परम् ।

तां सतीसरसि राजहंसतामासनोव क्लिप्तघनागमेऽपि यः ॥

दाकाधिकश्रयस्तस्य श्रीशृङ्गार इति श्रुतः ।

गुणातिक्रान्तधिपगो मन्त्रिणामप्रणीरभूत् ॥

तदारमजन्मा वैदग्ध्यचम्पुर्जयरयाभिधः ।

व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम् ॥

यज्ञाम किञ्चिद्दिह सम्यगथान्यथा वा साषादलंकृतनयोचितमेतदुक्तम् ।

विद्वेषरोपमपसार्थं बुधैः क्षणस्य तत्रावधेयमियतैव वयं कृतार्थाः ॥

इति श्रीजयरथविरचितालंकारविमर्शिनी संपूर्णा ॥



[इदानीम् = अब =] अबसर आने पर । क्योंकि सभी अलंकारों का निर्णय प्रत्येक तत्त्व के षोडशकण के साथ करा दिया गया है । यही कहते हैं—एवम् इत्यादि सूत्र के द्वारा । इसी की व्याख्या करते हैं 'एवम्' इत्यादि द्वारा । संक्षेपेण = संक्षेप में; अर्थात् ग्रन्थगत संक्षेप में, न कि वस्तुगत संक्षेप में । वस्तु में संक्षिप्तता कहना अभीष्ट होता तो अलंकारों का स्वरूप ही न कहा जा सकता । इस प्रकार 'ग्रन्थ का संक्षेप रखते हुए भी सबके सब अलंकारों का विस्तारपूर्वक, जैसा संभव था, वैसा स्वरूप बतलाया' ऐसा कहकर प्राचीन अलंकार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ की विलक्षणता [विशिष्टता] को भी ध्वनित कर दिया । उन ग्रन्थों में जो ग्रन्थविस्तार रहने पर भी इन [अलंकारों] के स्वरूप ठीक से प्रतिपादित नहीं हो पाए हैं । इसीसे ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी बतलाया । शब्द, अर्थ और दोनों के ते अलंकार कौन हैं इस प्रकार की शंका उठाकर कहते हैं—'तत्र' इत्यादि । 'वादि-' शब्द देकर अनुप्रास अनन्वय और श्लेष आदि का भी संग्रह किया । शंका होती है कि पहले [ग्रन्थारम्भ में] तो लाटानुप्रास तथा श्लेष इन दो अलंकारों की ही उभयालंकार बतलाया है, अब यहाँ 'उभयालंकाराः' इस प्रकार जो बहुवचन का प्रयोग किया इसमें संगति कैसे बैठेगी ? इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं 'सृष्टि'-इत्यादि । इनमें सृष्टि का उभयालंकारत्व 'मानन्दमन्थर०' [इत्यादि पूर्वोद्धृत] पद्य में है ही, संकर का उभयालंकारत्व [लट्ट के] 'मैवमेवा०' इस पद्य में मिलता है इसका अर्थ है—

'इसी प्रकार मत बैठे । सृष्ट्यायकणिका तथा चारुवणिका वह [पार्वती] चित्ररथ अम्भोजिनी के समान केवल नेत्रमालासुखप्रदा है ।' [पार्वती पद्य = 'सृष्ट्याय०' = सुन्दर कान्ति वाले हैं कान

जिसके, 'चाहूँ' = सुन्दर है वर्ण = गौरत्व जिसका, नेत्र० = आँखों को० कमलिनीपत्र = सृष्टाय० = सुन्दर है कर्णिका पुष्पमध्यभाग जिसका, 'चाहूँ' = सुन्दर है वर्ण = राजहंसादि पक्षी जिसमें, नेत्रमात्र = नेत्र कमल की नाल या मृगाल [जब, द्र० इपंचरित में नवजात राश्यश्री के लिए प्रयुक्त 'दीर्घरक्तनेत्राम्' विशेषण द्वारा उसकी अम्बोजिनी के साथ उपमा] इन पद्य में [अनुप्रासरूपी] शब्दालंकार तथा [उपमा रूपी] अर्थालंकार का संसर्ग है, अतः यह [सत्कर] समयालंकार है। सत्कर का यह जो समयालंकारत्व यहाँ बतलाया गया है यह केवल उद्भट के ही मन के अनुसार बतलाया गया समझना चाहिये। स्वयं ग्रन्थकार तो इसका अग्रे अग्रे सृष्टि में अन्तर्भाव बतला भाव हैं। इसलिये इस पद्य में ग्रन्थकार के अनुभार एतानुप्रास सृष्टि है। इसी प्रकार सभी श्लेष समयालंकार होने हैं।

प्रश्न उठता है कि अलंकार वह धर्म कहलाना है जो 'काव्य शोभाकारी' होता है और यह गुण सभी अलंकारों में समान रूप से रहता है, नव यह नियम क्यों कि कोई अलंकार केवल शब्द का कोई केवल अर्थ का और कोई दोनों का।' इस पर उत्तर देने हैं—लोकयत् = इत्यादि। लोक में जो अलंकार जिम अर्थ में पहना जाता है वह उसी का अलंकार माना जाता है जैसे कुण्डल आदि कान आदि में पहना जाता है अथ. उन्हीं का अलंकार कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी शब्द आदि में आश्रित उपमादि अलंकार उन्हीं के अलंकार माने जाते हैं। इस प्रकार विषयभेदरूपी प्रतिनियम वाचक सिद्ध होता है। 'अन्य आचार्य [मम्मट] ने अन्वयव्यतिरेक को भी उदालकारना का नियामक माना है वह अयुक्त ही है'—यदी बतलाने हुए कहा—अन्वय इत्यादि। तात्पर्य यह कि इस नियम के अनुसार तो योही उपमा में [उपमा अपने वाचक] 'इव'—शब्द के अन्वयव्यतिरेक का अनुवर्तन करनी है [इनके रहने पर रहती है और न रहने पर नहीं] अत उपमा उन वाचक शब्दों का कार्य है न कि उनका अलंकार, क्योंकि [उपमा आदि से] उन [वाचक इव आदि शब्द] में कोई विशेषता नहीं आनी। जहाँ तक अर्थ का सम्बन्ध है वह उससे [उपमा आदि] अङ्कुर [शोभायुक्त] हो जाता है, अत [उपमा आदि] का उसी का अलंकार होना शकित है। यह सब उद्भटविशेष में राजानक तिलक ने विस्तारपूर्वक बतला दिया है इसलिये ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ हमने उमे नहीं फैलाया। इसी का उपसहार करते हुए लिखते हैं—समात् इत्यादि। आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से = उपस्कार्यो-पकारकभाव से। अथ. विष्णुार्थ यह कि जो अलंकार जिसका उपस्कारक होता है वह उसी का अलंकार कहलाना है। शिरंतन = इसमें यह बतलाया गया कि हमने सर्वत्र उन [प्राचीन आचार्यों] के मत का ही अनुसरण किया है जिससे ग्रन्थकार की अपनी अनुदत्तता = शालीनता भी प्रकट होती है। इति शिवम् ॥

'राजराज नामक राजा गुणी जनों के उत्कृष्ट आश्रय और राजाओं के अग्रणी हुए हैं, जो सतीसर में वनगम्य [वर्षाकाल तथा पत्र = बहने आगम्य = द्वाज] में भी 'उस [मसिद्ध] राजहंसना [राजहंस = लाल चोंच तथा लाल चरणों वाला धवल हंस, तथा राजा रूपी हंस = विद्वान्] को प्रकाशित करते थे।

इन्द्र से भी अधिक शीवाले उमी राजा के, गुणों में वृद्धस्वप्ति से भी बड़े धीशृंगार नाम से विदित भी प्रधान मन्त्री हैं—

उनके जयरथनामक विदग्ध पुत्र ने अच्छे विद्वानों के श्वर्गों का यह असामान्य आमरण बनाया।

अलंकार शास्त्र के अनुरूप ठीक था गलत यह जो मो कुछ कहा गया है इस पर विद्वेष और रोष दूर कर विद्वान् क्षमभर के लिए ध्यान दें । इतने से ही इम स्वयं को कुत्रार्थ समझेंगे ॥

इस प्रकार श्री जयरामविरचित अलंकारविमर्शिनी पूर्ण हुई ।

इस प्रकार अलंकारविमर्शिनी का मध्यप्रदेशस्थ सीदोरमण्डलान्तर्गत नादनेरग्रामनिवासी

स्व० पं० श्रीनर्मदाप्रसादजी द्विवेदी के आत्मन साहित्यशास्त्राचार्य

१५. १, पीएच. डी., प्रा० पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा कृत

विमर्श सहित हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ ।

रेवाया उत्तरे तीरे नादनेरेति विद्वृतः ।

ग्रामो मध्यप्रदेशाङ्गेशयो यस्तन्निवासिनः ॥

श्रीनर्मदाप्रसादस्य काश्यपस्य द्विवेदिनः ।

आत्मजेन मया रेवाप्रसादेन द्विवेदिना ॥

काव्येऽलङ्कारवत् काव्यालङ्कारे जीविनांपमम् ।

अदोऽलङ्कारसर्वस्वं विमर्शिन्या विभासितम् ॥

सविमर्शेन हिन्दीभाषानुवादेन सम्प्रतम् ।

यथावथं विशोष्याहप्रबोः संदिग्धानुनिधायते ॥

नास्ति काचन विदां विमानना तन्मतं यदि विदूष्यते परैः ।

अज्ञानेन खलु तेन लोचनं संविदो निपुणमुपकाशते ॥

नास्ति काचन विदां समाजना तन्मतं यदि समर्थ्यते परैः ।

सारकैरनुसृतं न मण्डलं किं दिभोर्मजति लक्ष्यलक्ष्मताम् ॥

साटस्थ्यमात्रमुपजीव्य ततो विपश्चिद् बीक्षेन शास्त्रकृति वर्त्मनयेन शुद्धम् ।

स्वान्वीक्षिकी हि निखिलागमगङ्गरेषु दीपायितं शयति तत्तत्तद्विशोधनायाम् ॥

॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् ॥



परिशिष्टम् (१)

श्रीराजानकरुच्यकप्रणीता

सहृदयलीला

अथ गुणोल्लेखः ॥ १ ॥

श्रीमतामुत्कर्षपरिज्ञानाद् वैदग्ध्येन सहृदयत्वासागरकतासिद्धिः । युवत्यादीनामुत्कर्षो
देहे गुणालंकारजीवितपरिकरेभ्यः । तत्र शोभाविधायिनो धर्मा गुणाः ।

रूपं वर्णः प्रभा राग आभिजात्यं चिलासिता ।

लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः ॥

अवयवानां रेखास्पाद्यं रूपम् । गौरतादिधर्मविशेषो वर्णः । काचकश्यरूपा रवि-
वत्कान्तिः प्रभा । नैसर्गिकस्मेरस्वमुखप्रसादादिः सर्वेषामेव चन्द्रवन्धको धर्मो रागः ।
कुसुमधर्मो मार्दवादिर्लाटनादिरूपः स्पर्शविशेषः पेशलताख्य आभिजात्यम् । अङ्गो-
पाङ्गानां यौवनोद्भेदी मन्मथयासनाप्रयुक्तः कटाक्षादिवद् विभ्रमाख्यश्रेष्ठाविशेषो चिलासिता ।
तरङ्गिद्रवस्वभावान्प्रायिनेन्नपेयभ्यापित्तिग्धमधुर इव पीतिसोत्कर्षेकसार इव पूर्णेन्दुवदा-
ह्यादको धर्मः संस्थानमुनिग्धमभ्यङ्ग्यो लावण्यम् । अङ्गोपाङ्गनामसाधारणशोभाप्राशस्त्य-
हेतुरौचित्यात्ता स्मयो धर्मो लक्षणम् । तस्य युक्तप्रमाणता-दोष(१) वा)स्पर्श-जिग्धवक्रनिय-
तलोमा-ङ्गसुष्ठिर्दलघानताऽऽनाहपरिणाहौचित्य-चक्रपद्मादिलेखाङ्गनायोगेभ्यः प्रसिद्धाङ्ग-
पूर्णतादोषवैकल्य-धर्म(१)सौन्दर्य-प्रमाणौचित्य-लोका(१) क)प्रसिद्धविशिष्टाङ्गयोगाख्याः क्रमेण
पङ् भेदाः । अग्राम्यतया षड्भिन्नत्वख्यापिनी ताम्बूलपरिधानवृत्तभणितिसम्भवादिस्थानकेषु
सूक्ष्मा भङ्गिरुद्धाया । स्फुरत्पद्म्युपभोगपरिमलादिगम्योऽन्तःसारो रत्नकतया बशीकर्ता
सहृदयसंवेद्यधर्मभेदश्च सौभाग्यम् । तत्राद्ये स्मरमदपुलकादयो भेदाः । अन्ये तु
मणित-रूपपरिभोगाऽधरास्वाद्-सौरभादिभिर्युगपद्रसवत्वात् पञ्चेन्द्रियनुखलाभः ॥

इति राजानकश्रीरुच्यकविरचितायां सहृदयलीलायां गुणोल्लेखः प्रथमः ॥

अथ अलङ्कारोद्धेखः ॥ २ ॥

रत्नं हेमाङ्गुके भार्यं मण्डनद्रव्ययोजने ।

प्रकीर्णं चेत्यलङ्काराः सप्तैवैते मया मताः ॥

तत्र वज्रमुक्तापद्मरावमरकतेन्द्रनीलवैद्युत्पुष्परामरकैर्तर्नपुलककृधिरात्तमीम्सफटिक्-
प्रवालरूपाणि त्रयोदश रत्नानि । हेम नवधा । जाम्बूनदन्तातकीम्म हाटक-वैश्व-शुक्लीशुक्तिज-
जातरूप-रत्नविद्वाऽऽरुद्रोद्गतमेदात् । चतुर्धा रत्नहेममयः । आवेष्य-निवन्धनीय-प्रक्षेप्या-रोप्य-
भेदात् । नप ताहीकुण्डलश्रयणयालिकादिरावेष्यः । अद्भुत-शोणीसूत्र-मूर्धमणि-शिखादृष्टिका-
दिनिवन्धनीयः । उर्मिकाकटकमञ्जीरसरदा. प्रक्षेप्यः । प्रालम्ब्य-मालिना-हार-नक्षत्रमाला-
प्रभृतिरारोप्य । चतुर्धाङ्गुलमयः । स्वकलक्रिमिरोमज्जवाङ्गमेण क्षीमकार्पांसकीशेयराङ्ग-
वादिभेदात् । पुनस्त्रिधा । निवन्धनीयप्रक्षेप्यारोप्यवैचिन्यात् । तत्र निवन्धनीयः शिख-
दाटकजघनवमनादि । प्रक्षेप्य कञ्जालिकादि । आरोप्य उत्तरीयपटादि । सर्वस्यान्वयाने-
विषयव चर्गाविच्छिन्नानानात्वात् । अचिताप्रथितवनाद् द्विविधः सन्नष्टधा मास्यमयः ।
वेष्टितवितनसंघात्वमन्वियमदपलम्ब्यमुष्ककमञ्जीरान्तबकलक्षणमास्यभेदेन । तत्रोद्धतितं
वेष्टितम् । पार्श्वतो विस्तारित वितनम् । बहुभिः पुष्पैः ममूहेन रचितं संघायम् । अन्त-
राग्नरा विषम अभियमत् । स्पष्टोग्मितमवलम्बम् । केवलं मुक्तरुः । अनेरुपुष्पमयी लता
मञ्जरी । कुसुमगुच्छं स्तवकः । तस्यावेभ्यादयोर्ऽपि चत्वारो भेदाः । कस्तूरीकुङ्कुमचन्दन-
कूर्पूरगुग्गुलुकदन्तममपटवामसहकारतैरुगाम्यलालककाजनगोरोचनादिनिर्वृत्तो मण्डन-
द्रव्यमयः । अघटनालकरघनाधमिसल्लवन्थादिव्योजनामयः । द्विधा प्रकीर्णमयः । जन्य-
निवेशमेदेन । अमज्जलमधुमदादिर्जन्यः । दूर्वाशोकपल्लवपवाङ्गुररत्नतत्रपुष्पाद्दुतालदल-
दन्तप्रभिकामृणालबल्लयकरश्रीहृणकदिनिवेशयः । एतत्समवायो वेप । स च दंशरालप्रहृ-
त्यवस्थामात्प्येन । एतेषांविच्छिन्नायथास्थाननियेष्ठनपरभायलाभाद् रामणीयरुशुद्धिः ॥

इति राजानरुश्रीरुद्रयकविरचितायो सद्दयलीलायामलङ्कारोद्धेखो द्वितीयः ॥

१. कर्केतन— किम्बा विमुक्ता समरागिः अथ आपीनवर्णा सुरतो विचित्रा ।
शाम-व्रज-न्याधि विवर्जिताश्च कर्केतनास्ते परम पवित्राः ॥
वर्णेन नद् रधिरसोममधुप्रकाशमानाप्रपीतदहनोऽन्वलिपि विमानि ।
नोल पुन सन्सिन परूप विमिन्न न्याऽयादिदोषकरणेन न तद् विमानि ॥
पुलकन्— मन्वर्ववहिरुदलोत्तद्वावामाया ॥ युजाजनश्रीद्रव्यगालवर्गा ॥
घनाब्जमृदार्धविचित्रमद्वा एते प्रदास्ता- पुष्पाः प्रगृताः ॥
रधिराशुन्— तत्रेन्द्रगोषकल्पिते शुकवत्प्रवर्णा सस्यानत प्रकटपीपुसमानमानम् ।
नानाप्रकारविहित रुधिराभ्यरत्नम् ॥—शब्दकल्पद्रुमे गद्दपुराणवचनानि ।
मीमन्— शुक्लवर्णा प्रस्तरविशेष —शुद्धार्थचिन्ताप्रति

अथ जीवितोल्लेखः ॥ ३ ॥

शोभाया अनुप्राणकं यौवनाख्यं जीवितम् । चालयानन्तरं गात्राणां वंपुत्र्यसौष्टव-
विभक्तताविधायी स्फुटितदाडिमोपमः स्मरवसतिरवस्थामेदो यौवनम् । तस्य वयःसंधिरा-
रम्भः । मध्यं तु प्रौढिकालः । प्रथमे धर्मिष्ठरचत्तालकसङ्गनीवीनहनदन्तपरिकर्मपरिष्क-
रणदर्पणेषुपोच्यमात्योगभनजलक्रीडाद्युताश्लोल्बुद्धेकभणित्यनिमित्तलज्जानुभावशृङ्गार-
शिक्षादय आवर्तमानाश्चेष्टाः । अन्त्ये तु शृङ्गारानुभावतारतम्यं श्रेयः ॥

इति राजानकश्रीस्यकविरचितायां सहृदयलीलायां जीवितोल्लेखस्तृतीयः ॥

अथ परिकरोल्लेखः ॥ ४ ॥

शोभाया आराहुपकारकत्वाद् व्यञ्जकः परिकरः । तस्य चेतनाचेतनयोः 'स्थाणुचलयोः
प्रायेकं श्लिष्टसंनिहितमात्ररूपत्वेनाष्टविधत्वम् । उत्सङ्गोपासीनकान्तहृषपरिवारवातायन-
वितान-नौ-लृक्षादीनि दर्शनानि । तानि द्विधा व्यस्तसमस्तभेदात् । एवं शोभासमुत्पादक-
समुद्दीपकानुप्राणकव्यञ्जकाः क्रमाद् गुणालंकारजीवितपरिकराः । एवं परस्परोपकारकत्वा-
दितरेतरानुप्राहकत्वं सिद्धम् ॥

इति राजानकश्रीस्यकविरचितायां सहृदयलीलायां परिकरोल्लेखश्चतुर्थः ॥

समाप्तेयं सहृदयलीला



१. (क) पिशेलसंपादितायाः सहृदयलीलायाः पुष्पिका सर्वस्वस्य भूमिकाया ७ पृष्ठे दृश्या ।
अस्माकमाधारो निर्णयसागरीयः कश्मीरदेशीयमुस्तकद्वयाधितः पाठः । तत्रापि
पाठान्तरे साऽस्त्येव [काव्यमाला-५] ।
(ख) चतुर्णामध्येतेषां गुणालङ्कारजीवितपरिकराणां लक्षणान्तराणि रसागर्वसुधाकर-
भावप्रकाशनादिषु निबन्धेषु, निदर्शनानि च कुमारसंभवकादम्बरीनैषधादिषु शृङ्गार-
प्रबन्धेषु सुलभानि ।

परिशिष्टम्

अलङ्कारसर्वस्वोदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

	पृ०		पृ०
अद्यगोः स्फुटान्त	७०१	आकृष्टिवेग	३३९
अङ्गलेखाम्	४६५	आकृष्यादा	३७३
अङ्गुलीभिरिव	७३२	आटोपेन	६२
अर्णं लडह	२२५	आनन्दमन्यर	७२५
अतिशयित	१०८	आमाति ते	१२३
अत्रानुरोद्धं	१०९	आरोपयति	६५७
अथ पक्विन्नता	१३६	आहृतोऽपि	४७६
अथोपगूढे	३३९		
अनन्तरत्न	४००	इति कृतपशुपति	६५७
अनन्यसामान्य	२०१	इन्द्रः किं	१४२
अनानपत्रो	६८०	इन्दुर्लिस	३८४
अन्तश्छिद्राणि	३९१	इन्दोर्लक्ष्म	४२१
अपाङ्गनरले	६२५	उत्कोपे त्वयि	२७७
अधिर्लक्षित	२६३	उत्सितं सह	३०१
अमुष्मिन्नावण्या	१६९	उद्भ्रान्तोद्धित	१६९
अर्थं मार्तण्डः किं	१४२	उद्यत्यै नमति	४९८
अर्थं वारामेको	४५३	उपोढरामेण	३१५
अयमेकपदे	५९३	उरो दत्त्वा	५७१
अरण्यरुदितम्	२७७		
अरण्यानी	४८९	ए एहि दात्र	६१६
अलङ्कारः शङ्का	५८६	एकस्मिन्द्वयने	७१४
अचिरल	२२८	एकाकिनी	६४२
अव्यासस बो	२६९	एतत्तस्य	३८४
असमाप्त	३३९	एतान्यवन्ती	७३९
असंभृतं	४६५		
अस्याः सर्गविधौ	२२५	ऐन्द्रं धनुः	३३५
अहमेव गुरुः	६१७		
अहीनभुजगा	४७	जोष्टे विम्बफला	१५१
अहो केनेदृशी	६५६		
अहो कोपेऽपि	१११	कञ्जलहिम	५५७
अहो हि मे	४०२	कण्ठस्य तस्याः	५०५
		कपोलफलका	१९७

	पृ०		पृ०
कमलमनश्भसि	२२४	चित्रं चित्रं	४९५
कर्पूर इव	४७६	चूडामणिपदे	२६९
कम्पूरीतिलक	२०१	चोलस्य यद्गीति	१९८
कस्व भो.	३९१	जये धरिभ्याः	५३३
का विसमा	६४२	जितेन्द्रियत्वं	५२३
कादाः काशा-	७२	ज्योस्सनात्म	४३०
किं तारुण्यतरो	२४२	ज्योस्सना अस्म	१६९
किं नाम दहुर	६०	णाराभणो सि	१५९
किं पद्मस्य	१२३	तण्णारियिर्णिपि	३८३
किं भूषण	५७७	तन्निन्दमरणं	६८८
किं मे दूरोदरे	६५७	तन्वी मनोरमा	३१५
किं वृत्तान्तै.	४२१	तस्य च प्रवयसौ	५७१
किं हास्येन न	७००	नाम्ना जायन्ति	७१
किंमामेव्य	५७७	तीर्त्वा भूतेषु	१३५
किमित्यपास्या	५७१	तीर्थान्तरेषु	४८९
किङ्करीण	२४५	त्रयीमयोऽपि	३६६
कुशेरजुष्टा	१९७	त्वं ह्याहाहल	६५६, ७३२
कुमुदवनै	३००	स्वत्पादनरा	२७३
कुलममलिन	६००	स्वदद्रमार्द्यं	२३६
कृतं च गर्वा	२६३	स्वद्वक्त्राभृतपान	७०१
कौटिल्य कष	५७७	स्वमेवंसौन्दर्या	४९४
काकाय	७१५	दृष्ट्वा दर्शन	५६१
कीर्णः कीर्णोऽपि	२८६	द्वन्तप्रभापुष्प	३१७
रामिश्च जलं	१०३	दामोदरकरा	१५१
राक्ष्ण राक्षसि	४४०	दारणः काष्ठतो	४७
राणिकासु विधेयो	४३८	दासे कृतागमि	१२३
राण्डान्तं मद्	३२७	दाहोऽम्भः	२२६
रातासु तीर	२०३	दित्तव पञ्च	२८६
राधममयाद्य	६१६	दिवमप्युष	५०८
राङ्गमग्न्यु	६३७	दुर्वारा स्मर	६००
राट्टालिङ्गन	७०१	दूराकूपण	७०१
गुरुररतन्त्र	६५२	दृशा दग्धं	५१५
गृह्णन्तु सर्वे	४३६	देया शिलापट्ट	७३६
घेतुं मुच्यह	४९८	देवि क्षपा	७२५
चकीर्य एव	२५५	दोर्दण्डाद्वित	५०१
चक्राभिघात	३८६	घामालिङ्ग	३२७
चन्द्रग्रहणेन	६५७	युज्जनी मृशुना	३०१

	पृ०		पृ०
द्वारत्र कचिदाधिता	५०१	प्रासादे सा	
धन्याः खलु	३९१	बाणेन हृत्वा	४३६
धवलोऽसि	६३७	बालभणार्हं	४३०
धावन्नदध	२३६	विभ्राना हृदये	५९६
धृतधनुषि	५८६	ब्रूमः किञ्चन	७१
न तज्जलं	५२८	भक्तिप्रह्वविलो	५९२
नन्वाधयस्थिति	५६८	भक्तिर्भवे	५७७
निमेषमपि	५०९	भवदपराधैः	२९८
निरर्थकं जन्म	३०८	भासते प्रतिभा	७७
निरीचय विद्वन्मयनैः	३१७	भुजङ्गकुण्डली	४७
निर्लानान्यलकानि	३२६	भ्रमिमरति	१३०
निद्रास्तु भास्वत्	५६५	मगिजलद्वमिस	२५५
नीतानामाकुली	३५२	मदनगणना	३१७
नेत्रैरिचोःपलैः	३३५	मनीषिताः सन्ति	५३९
नो किञ्चित् कथय	४४०	मन्दमग्नि	३२७
न्यञ्जत्कुञ्चित	५९७	मलयजरस	६३२
पथि पथि	४८३	महिलासहस्र	१९८
परदिभर्ष	४८९	मानमस्या	६०८
परिच्छेदातीतः	४५३	मुक्ताः केलि	६८७
पर्यङ्को राज	१२४	मुण्डसिरे	२७६
पशुपतिरपि	५८५	मुनिर्जयति	६८०
पश्यत्सुहृत्	४८३	मुरारिनिर्गता	७४२
पश्यन्ती न्रपपेव	३३४	मृगलोचनया	३०९
पश्यामः किमिधं	३८४	मृगयश्च	५३८
पाण्ड्योऽचमंसा	८१		
पातालमेत	१९६	यः कौमारहरः	४७६, ७३६
पीयूषप्रसृतिः	१२३	यस्वक्षेत्रसमान	५३८
पुराणि यस्यां	५२८	यश्रैता लहरी	५५०
पुष्पं प्रनालोप	२२६	यश्रैव मुग्धेति	५६५
पूर्णन्दोः परिपोष	१६८	यथा रन्ध्रं	५५०
पृथ्वि स्थिरा भव	४००	यदेतच्चन्द्रा	१६८
प्रभामहत्या	८०	यद्भवच्चन्द्रे	७३६
प्रसरद्विन्दु	७३९	यद्वा मृषा	४३६
प्रसर्पन्ताप्यै	३२७	यद्विस्मयस्ति	५३९
प्रसीदेति	४३०	यस्य किञ्चिदप	६९२
प्राप्याभिपेक	२०६	यान्त्या मुहु	८१
प्रायः पथ्य	४८५	यामि मनो वा	१२४

	पृ०		पृ०
सुखेऽर्जुनो	९८	विस्तृष्टाया	५६५
ये कन्दरासु	६२६	विस्तारशालिनि	१२३
येन ध्वस्तम	३०२	वृत्तपुङ्ख	४७
येन लम्बालकः	३८६	शरदीव	७४०
येरेकरूप	३२७	नाशी दिवस	६००
वेदेषोऽमि	१११	शुद्धान्तदुर्लभ	२०३
योगपद्मे	२३६	शैलेन्द्रप्रतिपाद्य	६५२
वी थ. पश्यति	६७	मकेनकाल	६४८
रुद्रच्छद्रार्थ	३५२	संग्रामाङ्गण	५३१
रजिता नु	१४२	सचारपूतानि	२४५
रथस्थितानां	२०१	स पृच्छीणि	४३६
राजति तटीय	७३५	मच्छायाभोज	१०३
राजन् राजसुता	३८७	मज्ञातपत्र	२३६
राजो मान	३४४	मपुच्छरोघोति	७४२
राज्ये सारं	५३३	सद्यः करस्पर्श	४८८
रेदद् मिहिरेण	२४५	मद्य कौतिक	३७०
लावण्यद्रविण	२२५	म व. पायादिन्दुः	१९४
लावण्यौकसि	५५७, ६१६	स वक्ष्मरितिलान्	४३८
लिम्पनीव	१९५, ७२५	सहसा विद्रधीत	४००
लोकोत्तरं	४००	सद्याः पन्नग	६२
वक्त्रस्यन्दि	६४८	साधूनामुपकृतं	२४५
वदनसौरभं	७२५	सा शाला वय	४८५
वसुरहितेन	६५७	साहित्यपायो	४३६
वामेन नारी	७१५	सीमान न	३९७
विजये बुधाल	६५६	सुदृश	४३०
विदलितसकला	५९३	सेवा स्थली	१९५
विद्वन्मानम	१२३	सौजन्याश्रु	१३०
विनयेन विना	३०६	स्पृष्टास्ता नन्दने	४११
विमिश्रणार्	६३५	स्वपञ्चलीला	३२७
वियोगे गौड	२७५	स्वेच्छोपजात	३५२
चित् द्वयन्ति	५७७	हा राहौ	६५७
विलसद्मर	१९८	हुङ्गारो नय	६६४
विलिपति	३२६	हृदयमधि	२२७
		हे हेलाजित	४२०

विमर्शिनीटीकोदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

	पृ०		पृ०
अद्वै न्यस्त्योत्तमाङ्गं	७४३	इन्दूदय	६३६
अद्भानि चन्दन	५१०	इष्टिणं पदुणो	८
अद्भेषु सान्द्र	५१०	ईर्ष्याविकाराव	२३७
अतन्द्राचन्द्राभ	३७२	उज्ज्वलः प्रोहस	४२
अतसीकुसुमप्रभं	५३४	उहसरसदं	२७८
अत्रासीत् फणि	६८९	एजसंभवज	२२८
अत्युष्माः परितः	७०३	एकस्मिन्कृत्यने	४१
अत्युष्मास्तरवः	५३४	एकान्तजाड्ये	५४१
अनेन सार्धं सरयू	३८५	एकाकिनीयद्	१२
अनेनमूढस्तव	६२८	एतत्तर्क्य कै	१४५
अमृतकथलः	११८	एष चारीदजन्मा	४३३
अयं सुरेन्द्रोप	१७८	एष धीकण्ठकण्ठ	६५९
अयमहिमत्	१५३	कट्टु क्षणन्तो म	८२
अयि प्रमत्ते	५४१	कन्दर्पद्विपक	११८
अलमसिरोम	४१	कमलदलेर	९२
अलौकिकमहा	१२७	कमलदलाः क	६३
अवरयं तरहो	५५८	कमलेषु मति	१०५
अवापसः प्रागल्भ्यं	१५	कलाभिस्तृपयर्थ	१७९
अचिरलकर	७०३	कलिमियाशश्व	१२९
असोहा तत्काल	७१६	कश्चित् कान्ता	६८९
अहं सज्जगण	४२०	का त्वं रक्तपटा	७०२
आज्ञाधरः पञ्च	२७४	कान्ताननस्य क	१०४
आलिङ्गितुवाशि	२४६	कामशोकभयो	१५२
आर्वाजिता किञ्चि	९३	किं कर्णपूर्वैर्वदि	६१८
आवाहृद्रुतम	३५०	किञ्चित्कुञ्चित	६७८
आस्तां बालस्य सं	२३८	किं छत्रं किन्सु	५३४
आस्तामस्तमयो	५५८	किं पङ्कजं किमु	१४३
आहादिचन्द्रव	३२०	किं भणिमो भण्ण	८
इच्छन्तौ चिबुका	३५४	किंभानुः किमु	१६४
इत्तश्चाश्रेम	६९५	किमिदमसिता	१४३
इत्तिभमेतुमि	१००	कुचकुचचिबुका	६९५
		कुचेः कोटर एव	५३४

कुमुदिन्य प्रमो
 कु वल्लभलिनं
 कृच्छ्रेणोरुयुगं
 निवन्वचिन्त्यानि
 चित्तोन्निह
 होरचालितश्च
 रौलम्नीनां सुरपति
 शाटकान्तदशन
 गन्धेन विन्दुर
 तत्रणं च मत्त
 गोदात्रयाः करि
 इत्यमरात्प्रमितौ
 प्रामतहणं न
 गिज्जते मगल
 गुणानामेव
 गीर सुपीवरा
 गृह्णन्ति परया
 गृहीतप्रियह.
 घनोद्यानरुद्राया
 चकारदुर्बला
 चन्द्राशुभरे
 चोरि भरमणा
 द्विग्याद्दयार्तित
 जगद्द्विभ्रवि
 जनविग्धाः कुला
 जयति तित्तिर
 जाग्रत कमला
 जानेत्रोपपरा
 ण भद्रवं ण ल
 तं वीर्य वेपथु
 तत सोममिते
 तत्रुम्ति तेषां
 तन्वी मनोरमा
 तद्वक्तुनादुरा

पृ०
 २०८ तरुगतमाल
 ५१५ तस्मात् समस्त
 १० तस्या शै यविना
 २३८ तस्याज्ञयैर प
 ६८२ तस्याश्रेन्मृगमस्ति
 २११ तरयास्तीरेरुचि
 ६१८ तं णमहणादि
 तं ताग मिरित
 ५१६ त्वद्वनत्रलावण्य
 १०० त्वासाहित्यप्रण
 २३ तिष्ठेकोपव
 ६८९ तुरीयो ह्येपने
 १०० तुरीयोह्येप मे
 १२ तुहिनचितिशृ
 १९९ तं गच्छन्नि महा
 ४१२ त्पाशो नैप शिष्टः
 ८३ त्रिलोक्यं रत्नम्
 २११ त्रिभङ्गोः परिपूर्णां
 ९४ दन्तचानि क
 ८६ दानुं वाञ्छति द
 २४८ द्विगुणितारुप
 ६७८ दितभ्ररभर
 ५१० दर्भाहुरेण चरण
 ६८ दीवयोत्तरीयशृ
 कीटादीनां दशै
 ४२ दृतरनिव
 ८८ धलीलासु समी
 १९३ दुर्जनदूषित
 २७४ दूरपवासे
 ४० देवि तद्भरणा
 ४६६ द्वाकाफलानि
 ४५१ द्विपां तचारण्य
 ६३ द्वेष्योऽपि मंमत
 ५१२ धम्मज्जणेगहा
 ३२० धर्मायैवविद
 १०५ न ज्योत्स्नाभरणं